पूज्य जयमलजी महाराज का जीवनचरित्र

ग्रंथ में योगदान

ग्रंथनिर्माण

* आद्य प्रेरक
शांतमूर्ति स्वाध्याय प्रेमी स्वामी
स्व० श्री चांदमलजी महाराज

* दिग्दर्शन
काव्यतीर्थ सूरि श्री जीतमलजी महाराज

* ग्रंथ-निर्देशन-संकलन
पंडित रत्न श्री लालचंदजी महाराज

* वस्तु संकलन सहायक
श्री शुभमुनिजी
श्री पारसमुनिजी

ग्रंथप्रकाशन

* आद्य प्रेरक
श्री लालचंदजी मलेचा
श्री सुगनचंदजी प्रेमचंदजी श्रीश्रीमाल

* मुद्रण व्यवस्था
श्री भंवरलालजी गोठी

* चित्र सहयोग
श्री शशि शंकर
श्री अनंत विजयन
श्री किशोर कुमार

लेखक
श्री गुलाबचंद नानचंद सेठ (गुलाबचंद जैन)

प्रकाशक
श्री जयध्वज प्रकाशन समिति
९८ मिण्ट स्ट्रीट, मद्रास-१

जयध्वज

पूज्य आचार्य जयमलजी
महाराज का जीवन चरित्र

प्रकाशन विवरण

लेखक :
श्री गुलाबचंद नानचंद सेठ (जैन)
८/५८ वरकिट रोड
मद्रास-१७

प्रकाशक :
श्री जयध्वज प्रकाशन समिति
९८ मिण्ट स्ट्रीट
मद्रास-१

मुद्रक :
श्री अमरचंद डागा
जोडियाक् प्रेस
अरुणाचल स्ट्रीट
पेरियमेट, मद्रास-३

मूल्य रु. ५६-००

प्रथम आवृत्ति :
प्रति १०००
जून १९७०
वि. सं. २०२६

प्राप्तिस्थान

श्री जयध्वज प्रकाशन समिति
९८ मिण्ट स्ट्रीट
मद्रास

शांतिलाल एल. गोसलिया
२, वृन्दावन, ५१, वी. नवें रोड
विलेपार्ले (पश्चिम) बम्बई-५६

श्री जयमल ज्ञानभंडार
पीपाड
(राजस्थान)

जिनकी आद्य एवं अदम्य प्रेरणा से
इतने बड़े विशाल ग्रंथ का निर्माण हुआ

एवं

जिनकी यह ग्रंथ प्रकाशन की
आत्म भावना मन में रह गई

उन स्व० श्रद्धेय पूज्य शांतमूर्ति
स्वाध्याय प्रेमी स्वामी श्री चांदमलजीमहाराज को
एक विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में यह ग्रंथ समर्पित है

जयध्वज प्रकाशन समिति के संरक्षक
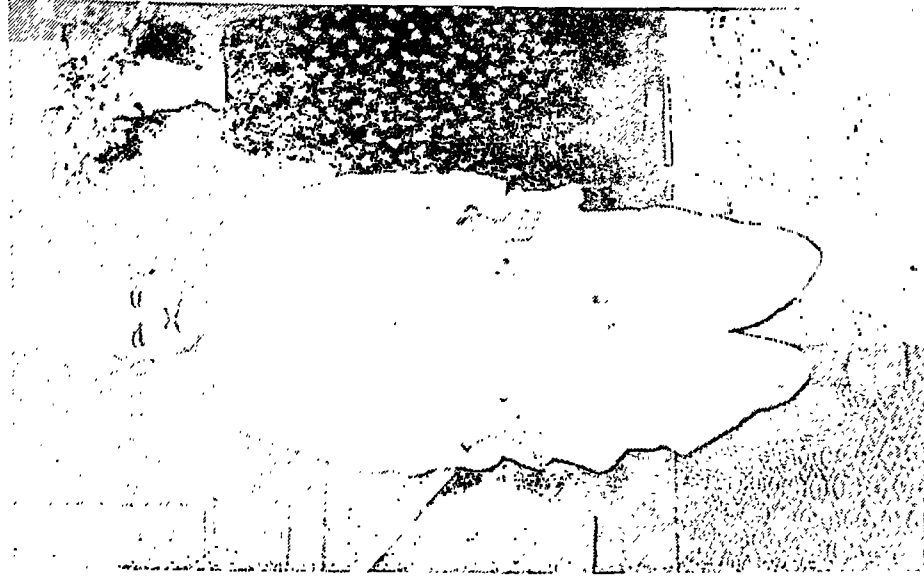
स्व० श्रीमान् सुगनचंदजी श्रीश्रीमाल

आपने सर्वप्रथम जयध्वज प्रकाशन की प्रेरणा दी।

श्रीमान् प्रेमचंदजी श्रीश्रीमाल, रायपुर

आप अपने पूज्य पिताजी की इच्छानुसार रु. ७५०१) देकर संरक्षक बने हैं।

अयोग्य पर श्रद्धा जो रखी जाती है वह वास्तव में श्रद्धा नहीं है; प्रत्युत मूर्खता है। स्वार्थान्ध व्यक्ति इस मूर्खता के पग पग पर शिकार होते रहते हैं। वैसे तथाकथित श्रद्धेय और श्रद्धालु एक दूसरे से ठगाये जाते रहते हैं। अर्थ व्यय कर अपनी यशोगाथाएँ लिखवाई जाती हैं या पत्थरों पर नाम अंकित किया जाता है। ऐसे यश पैदा करनेवाले और यश पैदा करानेवालों के लिये किसी कवि ने ठीक कहा है:—

केवल यश से कर्म नहीं नापा जाता है................

आज के इस मिथ्या प्रवंचना के युग में सर्व प्रथम तो श्रद्धा का तत्त्व उत्पन्न होना ही कठिनतर है। अगर है तो श्रद्धेयों के प्रति उसका मोड़ कम है। ऐसी स्थिति में अल्प संख्यक श्रद्धावाले ही सत्य के गवेषक होकर श्रद्धेय पुरुषों के जीवन की तरफ़ रुचि प्रकट करते हैं और अनेकानेक ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर उसे बाहर रखने का प्रयास करते हैं, तो हो सकता है इसमें अनुमान से भी अधिक समय लग जाय। क्योंकि संशोधनात्मक सामग्री तैयार करने में समय लगता ही है; क्योंकि यह अनेक वस्तुओं की अपेक्षा रखता है और स्मृतिग्रंथों से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। फलतः बड़े-बड़े विशाल यश अभिनंदन-स्मृति ग्रंथ तो फौरन निकाले जाते हैं; किन्तु अपनी श्रद्धा के प्रतीक सम अपने ही पूर्वाचार्यों के संबंध में संशोधात्मक शृंखलात्मक ढंग से ग्रंथ बहुत ही कम निकलते हैं। इतना ही नहीं, यह सुविज्ञों को सोचने का विषय है कि श्रमणसंघ बन जाने पर भी आज तक प्रमाणित शृंखलाबद्ध अपना इतिहास प्रकाशित नहीं हुआ है और न आत्मोत्सर्ग करनेवालों के भव्य प्रेरक चरित्र ही प्रगट हुए हैं।

ऐसा एक ग्रंथ अपनी श्रद्धा के पुरुष संत पूज्य श्री जयमलजी के सम्बंध में प्रकाश में आये, ऐसी अनेकों की इच्छा थी जिससे इस दिशा में संशोधात्मक प्रयासों को साकार किया गया।

आत्म निवेदन

अनंत विश्व जिस केवल ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित है वह ज्ञान भी परमात्मा के एक अनंतवें भाग में सामान्य रूप से रहा हुआ है। उस परमात्म पद को आत्मसात् करने का शुद्ध संकल्प लेकर उठ खड़े होनेवाले सामान्यतर मनुष्य को देखकर आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। मन में विचार हो उठता है कि इस विनाशी देहधारक मनुष्य को अपनी जिन्दगी का भी कोई भरोसा नहीं है कि यह पानी के बुलबुले की तरह उठकर क्षणभर में विलीन हो जायगी? फिर भी मनुष्य आगे कदम बढ़ाता ही जा रहा है।

अगम्य को गम्य, अलभ्य को लभ्य और अप्राप्य को प्राप्य करानेवाली आखिर ऐसी शक्ति इस विश्व में है कौन-सी है जिससे दूरतम पदार्थ में भी अपने को तद्रूप तदाकृतिमय बनाया जा सकता है और आत्मभूत बने हुए अनभिलषणीय पदार्थ को भी दूरातिदूर फेंका जा सकता है। मालूम होता है उसी महाशक्ति के आधार पर इस विश्व-जीवन का सारा तंत्र चल रहा है। उसके नाम अनेक हो सकते हैं; किन्तु यहाँ पर उसके सिर्फ़ एक नाम को ही हृदयंगम किया जायगा—वह है श्रद्धा।

"श्रद्धा" इस शब्द को सभी जानते हैं, पहचानते हैं। क्योंकि श्रद्धा ही एक व्यक्ति को दूसरे से जोड़ती है और अश्रद्धा ही जुड़े हुओं को तोड़ती हैं। श्रद्धा पुरुष-शक्ति की प्रतीक है। एक आर्ष वाक्य प्रसिद्ध है कि:—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः"

पुरुष श्रद्धा का अवतार है। पुरुष के रूप में श्रद्धा अपना विशद रूप सर्व साधारण को दिखा रही है। श्रद्धा अर्थात् श्रत्=श्रेष्ठ प्रकार से; धा-धारण करना। किसी भी पदार्थ को उसके यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने हृदय में धारण करना और उसपर अचल एवं अटल रहना यही श्रद्धा है। यही सम्यग्दर्शन है। जिस पुरुष को श्रद्धा का अवतार बताया है उसको श्रद्धा जिन-जिन पुरुषार्थो की ओर अग्रसर करती है वह इस प्रकार है:—

1. पतन से ऊपर उठने की ओर श्रद्धापूर्वक प्रवृति करना धर्माचरण है।

2. तृष्णा का त्याग कर संतोष को अपनाये वह अर्थोपार्जन है।

3. विषय भोग से हटकर आत्म प्रकृति के योग में रहना सकाम (निर्जरा) साधना है।

4. राग-द्वेष के बंधनों को तोड़ अपने को सर्व बंधनों से मुक्त करे वह मोक्ष है। इस प्रकार उत्तरोत्तर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनों में पुरुषार्थ करनेवाला, पौरुष दिखानेवाला पुरुष ही साक्षात् श्रद्धा का अवतार माना जाता है।

ऐसे पुरुषों के लिए श्रद्धा होना और तदनुसार अपना विकास करना मानव जीवन का एक अंग है। वह श्रद्धा सार्थक भी है।

अयोग्य पर श्रद्धा जो रखी जाती है वह वास्तव में श्रद्धा नहीं है; प्रत्युत मूर्खता है। स्वार्थान्ध व्यक्ति इस मूर्खता के पग पग पर शिकार होते रहते हैं। वैसे तथाकथित श्रद्धेय और श्रद्धालु एक दूसरे से ठगाये जाते रहते हैं। अर्थ व्यय कर अपनी यशोगाथाएँ लिखवाई जाती हैं या पत्थरों पर नाम अंकित किया जाता है। ऐसे यश पैदा करनेवाले और यश पैदा करानेवालों के लिये किसी कवि ने ठीक कहा है:—

केवल यश से कर्म नहीं नापा जाता है...............

आज के इस मिथ्या प्रवंचना के युग में सर्व प्रथम तो श्रद्धा का तत्त्व उत्पन्न होना ही कठिनतर है। अगर है तो श्रद्धेयों के प्रति उसका मोड़ कम है। ऐसी स्थिति में अल्प संख्यक श्रद्धावाले ही सत्य के गवेषक होकर श्रद्धेय पुरुषों के जीवन की तरफ़ रुचि प्रकट करते हैं और अनेकानेक ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर उसे बाहर रखने का प्रयास करते हैं, तो हो सकता है इसमें अनुमान से भी अधिक समय लग जाय। क्योंकि संशोधनात्मक सामग्री तैयार करने में समय लगता ही है; क्योंकि यह अनेक वस्तुओं की अपेक्षा रखता है और स्मृतिग्रंथों से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। फलतः बड़े-बड़े विशाल यश अभिनंदन-स्मृति ग्रंथ तो फौरन निकाले जाते हैं; किन्तु अपनी श्रद्धा के प्रतीक सम अपने ही पूर्वाचार्यों के संबंध में संशोधात्मक शृंखलात्मक ढंग से ग्रंथ बहुत ही कम निकलते हैं। इतना ही नहीं, यह सुविज्ञों को सोचने का विषय है कि श्रमणसंघ बन जाने पर भी आज तक प्रमाणित शृंखलाबद्ध अपना इतिहास प्रकाशित नहीं हुआ है और न आत्मोत्सर्ग करनेवालों के भव्य प्रेरक चरित्र ही प्रगट हुए हैं।

ऐसा एक ग्रंथ अपनी श्रद्धा के पुरुष संत पूज्य श्री जयमलजी के सम्बंध में प्रकाश में आये, ऐसी अनेकों की इच्छा थी जिससे इस दिशा में संशोधात्मक प्रयासों को साकार किया गया।

लिखने का तात्पर्य है कि पूज्य श्री जयमलजी महाराज के जीवन चरित्र को हिन्दी भाषा में हो ऐसी भावना जिस व्यक्ति ने उनके बारे में थोड़ा-बहुत भी सुना उसी ने अपने मन में पैदा की। मारवाड़ में पैदा होनेवाले उस महापुरुष ने मेवाड़, मारवाड़, ढूंडाड़, उत्तर प्रदेश आदि अनेक प्रांतों में विचरण करके भावुक लोकों में धर्म के बीज बोये। आडम्बर को हटाकर उसमें होनेवाली आत्म प्रवंचना को नष्ट करने का सफल प्रयास किया। उन महापुरुष का ऐतिहासिक जीवन जनता के सामने आये यह अत्यन्त अभिष्ट भी था।

यों तो पहले पहले शान्त मूर्ति शास्त्र विशारद स्वामीजी श्री चौथमलजी महाराज समय-समय पर मारवाड़ की जनता को पूज्यश्री का जीवन पीयूष पिलाते ही रहते थे। उन्होंने संवत् 2009 में, राजस्थान, महाराष्ट्र और पंजाब में विचरण करनेवाली प्रायः सभी सम्प्रदायों को मिलाकर एक श्रमण संघ की स्थापना कराके, अपनी सम्प्रदायों का उसमें विलीनी-करण कराके संगठन की एक विशाल भूमिका का जो निर्माण किया, उसका आनंदोल्लास अनुभव

करके उसी वर्ष जोधपुर में आषाढ़ सुदी 3 को तेरह दिनों को संथारे से समाधिमरण प्राप्त किया। उनके पश्चात् उन्हीं के लघु गुरु भ्राता सेवाभावी विनयमूर्ति स्वामीजी श्री बख्तावरमलजी महाराज चार साल तक मारवाड़ में विचरण करके पूज्य श्री जयमलजी का जीवन गीत सुनाते रहे। उन्होंने संवत 2012 के किशनगढ़ चातुर्मास में भाद्र सुद द्वितीया दशमी रविवार को समाधिमरण की आराधना कर ली। उनके बाद स्वाध्यायप्रेमी स्वामीजी श्री चान्दमलजी महाराज साहब पूज्यश्री जयमलजी की जय गाथा सुनाते रहे। आपने मारवाड़ के बाहर रहनेवाले मारवाड़ी प्रमुख श्रावक श्रविकाओं के आग्रह को मान देकर देढ़ वर्ष में मारवाड़ के क्षेत्रों को स्पर्श कर बम्बई, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, आन्ध्र तमिलनाड और कर्नाटक में करीब तेरह वर्षों तक खूब उग्र विहार किया। उसमें उन्होंने साधुता के आदर्श के रूप में सरलता, सादगी, शास्त्र प्रेम और निराडम्बरता का पूर्ण परिचय दिया। उन्होंने पूज्य श्री जयमलजी महाराज के अनेक प्रसंग गुणज्ञों के सामने रखे। लोगों का कहना रहा कि आचार्य श्री जयमलजी महाराज एक सच्चे क्रान्तिकार थे। उस समय प्रचलित अनेक मान्यताओं के विषय में नये संशोधन और परिवद्र्धन देकर मूलभूत वस्तु को सुरक्षित रख के उसमें आयी हुई विकृतियों को उन्होंने नष्ट कर दिया। विकृति को नष्ट कर प्रकृति की और जीवन को मोडना ही क्रांति है; किन्तु यह कार्य अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह रचनात्मक कार्य है।

कुछ नया ही करना ही क्रांति नहीं है; क्योंकि ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ हैं जिससे समाज जीवन में विकृति आती है। उसे क्रांति नहीं कहा जा सकता। जैसे बहुत-से निषेधात्मक ग्रंथ या शृंगारत्मक साहित्य जिनसे जीवन में विकृति ही फैलती है उनका प्रकाशन कर अर्थ पैदा करना क्रांति नहीं है। वह अत्यंत हीन प्रकार की स्वार्थ साधना है जिसके फलस्वरूप समाज में विकृति फैलती है। इसके विपरीत सच्चे सूत्र ज्ञान जिससे किसी भी प्रकार के आत्म पतन का संभव नहीं है उसके प्रचार के लिए पुरुषार्थ कर लोगों का ज्ञान मार्ग प्रशस्त करना सच्ची क्रांति है। पूज्यश्री जयमलजी म. सा. ऐसे ही क्रांतिकार थे।

पूज्यश्री जयमलजी म. सा. के पूर्ववर्ती समय में राग रागिणियों में कविता बनाई जाती थी उसमें तात्कालीन वातावरण के अनुसार शृंगार रस और वीर रस की प्रचुरता रहती थी। जिससे आर्तध्यान और रौद्रध्यान की वृद्धि होती थी और जनमानस को अपने मनुष्य जन्म के मूल्य समझने का कोई कारण ही नहीं रह जाता था। इसलिये कम से कम स्थानकवासी साधुमार्गी परंपरा का कोई सदस्य कविता जोड़ कला नहीं करे यह मान्यता चली आ रही थी और उसपर सभी सन्त दृढ़ थे। पूज्यश्री जयमलजी म. सा. ने एक विचार क्रान्ति की कि जब अनुयोगद्वार, ठाणांग आदि आगमों में स्वर साधना का और काव्य-कविता का वर्णन समुपलब्ध है तो क्यों न शांतरस प्रधान जोड़ कला की जाय? उन्होंने इस दिशा में क्रांति की।

अयोग्य पर श्रद्धा जो रखी जाती है वह वास्तव में श्रद्धा नहीं है; प्रत्युत मूर्खता है। स्वार्थान्ध व्यक्ति इस मूर्खता के पग पग पर शिकार होते रहते हैं। वैसे तथाकथित श्रद्धेय और श्रद्धालु एक दूसरे से ठगाये जाते रहते हैं। अर्थ व्यय कर अपनी यशोगाथाएँ लिखवाई जाती हैं या पत्थरों पर नाम अंकित किया जाता है। ऐसे यश पैदा करनेवाले और यश पैदा करानेवालों के लिये किसी कवि ने ठीक कहा है:—

केवल यश से कर्म नहीं नापा जाता है................

आज के इस मिथ्या प्रवंचना के युग में सर्व प्रथम तो श्रद्धा का तत्त्व उत्पन्न होना ही कठिनतर है। अगर है तो श्रद्धेयों के प्रति उसका मोड़ कम है। ऐसी स्थिति में अल्प संख्यक श्रद्धावाले ही सत्य के गवेषक होकर श्रद्धेय पुरुषों के जीवन की तरफ़ रुचि प्रकट करते हैं और अनेकानेक ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर उसे बाहर रखने का प्रयास करते हैं, तो हो सकता है इसमें अनुमान से भी अधिक समय लग जाय। क्योंकि संशोधनात्मक सामग्री तैयार करने में समय लगता ही है; क्योंकि यह अनेक वस्तुओं की अपेक्षा रखता है और स्मृतिग्रंथों से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। फलतः बड़े-बड़े विशाल यश अभिनंदन-स्मृति ग्रंथ तो फौरन निकाले जाते हैं; किन्तु अपनी श्रद्धा के प्रतीक सम अपने ही पूर्वाचार्यों के संबंध में संशोधात्मक शृंखलात्मक ढंग से ग्रंथ बहुत ही कम निकलते हैं। इतना ही नहीं, यह मुविज्ञों को सोचने का विषय है कि श्रमणसंघ बन जाने पर भी आज तक प्रमाणित शृंखलाबद्ध अपना इतिहास प्रकाशित नहीं हुआ है और न आत्मोत्सर्ग करनेवालों के भव्य प्रेरक चरित्र ही प्रगट हुए हैं।

करके उसी वर्ष जोधपुर में आषाढ़ सुदी ३ को तेरह दिनों को संथारे से समाधिमरण प्राप्त किया। उनके पश्चात् उन्हीं के लघु गुरु भ्राता सेवाभावी विनयमूर्ति स्वामीजी श्री बख्तावरमलजी महाराज चार साल तक मारवाड़ में विचरण करके पूज्य श्री जयमलजी का जीवन गीत सुनाते रहे। उन्होंने संवत 2012 के किशनगढ़ चातुर्मास में भाद्र सुद द्वितीया दशमी रविवार को समाधिमरण की आराधना कर ली। उनके बाद स्वाध्यायप्रेमी स्वामीजी श्री चान्दमलजी महाराज साहब पूज्यश्री जयमलजी की जय गाथा सुनाते रहे। आपने मारवाड़ के बाहर रहनेवाले मारवाड़ी प्रमुख श्रावक श्रविकाओं के आग्रह को मान देकर देढ़ वर्ष में मारवाड़ के क्षेत्रों को स्पर्श कर बम्बई, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, आन्ध्र तमिलनाड और कर्नाटक में करीब तेरह वर्षों तक खूब उग्र विहार किया। उसमें उन्होंने साधुता के आदर्श के रूप में सरलता, सादगी, शास्त्र प्रेम और निराडम्बरता का पूर्ण परिचय दिया। उन्होंने पूज्य श्री जयमलजी महाराज के अनेक प्रसंग गुणज्ञों के सामने रखे। लोगों का कहना रहा कि आचार्य श्री जयमलजी महाराज एक सच्चे क्रान्तिकार थे। उस समय प्रचलित अनेक मान्यताओं के विषय में नये संशोधन और परिवर्द्धन देकर मूलभूत वस्तु को सुरक्षित रख के उसमें आयी हुई विकृतियों को उन्होंने नष्ट कर दिया। विकृति को नष्ट कर प्रकृति की ओर जीवन को मोडना ही क्रांति है; किन्तु यह कार्य अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह रचनात्मक कार्य है।

कुछ नया ही करना ही क्रांति नहीं है; क्योंकि ऐसी अनेक प्रवृत्तियां हैं जिससे समाज जीवन में विकृति आती है। उसे क्रांति नहीं कहा जा सकता। जैसे बहुत-से निषेधात्मक ग्रंथ या शृंगारत्मक साहित्य जिनसे जीवन में विकृति ही फैलती है उनका प्रकाशन कर अर्थ पैदा करना क्रांति नहीं है। वह अत्यंत हीन प्रकार की स्वार्थ साधना है जिसके फलस्वरूप समाज में विकृति फैलती है। इसके विपरीत सच्चे सूत्र ज्ञान जिससे किसी भी प्रकार के आत्म पतन का संभव नहीं है उसके प्रचार के लिए पुरुषार्थ कर लोगों का ज्ञान मार्ग प्रशस्त करना सच्ची क्रांति है। पूज्यश्री जयमलजी म. सा. ऐसे ही क्रांतिकार थे।

पूज्यश्री जयमलजी म. सा. के पूर्ववर्ती समय में राग रागिणियों में कविता बनाई जाती थी उसमें तात्कालीन वातावरण के अनुसार शृंगार रस और वीर रस की प्रचुरता रहती थी। जिससे आर्तध्यान और रौद्रध्यान की वृद्धि होती थी और जनमानस को अपने मनुष्य जन्म के मूल्य समझने का कोई कारण ही नहीं रह जाता था। इसलिये कम से कम स्थानक-वासी साधुमार्गी परंपरा का कोई सदस्य कविता जोड़ कला नहीं करे यह मान्यता चली आ रही थी और उसपर सभी सन्त दृढ़ थे। पूज्यश्री जयमलजी म. सा. ने एक विचार क्रान्ति की कि जब अनुयोगद्वार, ठाणांग आदि आगमों में स्वर साधना का और काव्य-कविता का वर्णन समुपलब्ध है तो क्यों न शांतरस प्रधान जोड़ कला की जाय? उन्होंने इस दिशा में क्रांति की।

जयध्वज प्रकाशन समिति के संरक्षक

स्व० श्रीमान् वृद्धिचंदजी मर्लेचा

आपके सुपुत्र ने आपकी स्मृति में रु. ५००१) दिये।

श्रीमान् लालचंदजी मर्लेचा, मद्रास

आप संरक्षक के साथ जयध्वज प्रकाशन समिति के सभापति भी हैं।

जयध्वज

पूज्य जयमलजी महाराज का जीवनचरित्र

निर्माण एवं प्रकाशन की पृष्ठ भूमिका

लगभग सत्ताइस वर्ष पूर्व की बात है।

शांतमूर्ति स्वामीजी महाराज श्री चौथमलजी म. सा. जोधपुर के मंडी के स्थानक में विराजमान थे। आपने पूज्य श्री जयमल जी म. सा. का जीवन चरित्र मारवाड़ी-लोक भाषा एवं रागों पर बनाया था जिसे जनता पसंद करती थी। प्रसंगवश ब्यावर निवासी श्रीमान गुलाबचंदजी साहब मूणोत का वहाँ पर दर्शनार्थ आना हुआ। कथानक के ढंग में बनी इस पूज्य गुणमाला को सुनकर वे प्रभावित हुए और कहा कि "जिस प्रकार पूज्य गुणमाला के नाम से पूज्य श्री जयमलजी महाराज का मारवाड़ी रागरागिणियों में लोकप्रिय चरित्र स्वामीजी महाराज ने बनाया है वैसा ही हिन्दी-भाषा में आज के औपन्यासिक शैली से यह जीवन चरित्र लिखा जाय तो धर्म-प्रेमी जनता पर बड़ा उपकार होगा।"

उनका सुझाव सुंदर था किन्तु उसको कार्यान्वित करना, उस समय के साधनों को देखकर अत्यंत ही कठिन था। ठोस एवं ऐतिहासिक साहित्य के निर्माण की ओर क़दम बढ़ाना था अत: अनेक साधनों की अपेक्षा थी। एतदर्थ प्रयास साहित्य-सामग्री जूटाने और संकलन की दिशा में किये गये। उस समय सांप्रदायिक शक्तियाँ अलग-अलग रूप से अपनी प्रवृतियों में लगी हुई थीं और जिनके पास जो भी ऐतिहासिक आधार थे वे दिखाना भी नहीं चाहते थे।

एक आवाज़ उठी और पूज्य जयमल श्रमणसंघ प्रस्थापित हुआ। फिर श्रमणसंघ भी इकठ्ठा हुआ। उसके आचार्य भी नियुक्त हुए और कार्य आगे बढ़ेगा ऐसी आशा बंधी। किन्तु कुछ ही समय पश्चात् बड़े पैमाने पर साधु सम्मेलन और स्थानकवासी जैन साधु समाज को सभी संप्रदायों का विलीनीकरण हो, एक विशाल श्रमण संघ एवं एक आचार्य की योजनाएँ सामने आई। उनका स्वागत किया गया और बहुत-सी सांप्रदायिक इकाइयाँ मिटकर एक विशाल श्रमण संघ एवं एक आचार्य की योजना ने मूर्त रूप धारणकर सुंदर आदर्श उपस्थित किया।

सादडी के श्रमण सम्मेलन में अन्य संप्रदायों के विलीनीकरण के साथ श्री जयमलजी म. सा. की संप्रदाय ने भी एतदर्थ सर्वस्व त्यागकर उसमें पूर्ण सहयोग दिया। स्वामीश्रीजी

म. सा का एक ध्येय था—एक श्रमण संगठन—वह पूर्ण हुआ। उनका स्वास्थ्य बराबर नहीं रहता था। अतः उन्होंने समाधि मरण की आराधना शुरू की और तेरह दिन के संथारे के बाद वे दिवंगत हुए। उनके प्रयासों से विगत 15 वर्षों से जोधपुर श्री संघ जो छिन्न-भिन्न अवस्था में था वह एक और अभिन्न हृदय हो गया।

श्रमण संघ और एक आचार्य के नये जोश में उस समय अपने पूर्वज आचार्य या संप्रदाय का परिचय देना सांप्रदायिकता का प्रचार माना जाने लगा। हालांकि यह आशा सभी संप्रदायों ने रखी थी कि उस श्रमण संगठन में जो संप्रदायें सम्मलित हुई हैं और जिन्हें सम्मिलित करने का प्रयत्न करना था, (कच्छ सौराष्ट्र-गुजरात और राजस्थान की कुछ संप्रदायें श्रमण संघ में नहीं मिली थीं) उन सभी संप्रदायों को पूर्व आचार्य परंपरा या ऐतिहासिक तत्व सुरक्षित करके ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रकाशित किये जायेंगे-किन्तु वैसा नहीं हुआ। फिर भी लोगों में यह आवाज उठी कि जिस संप्रदाय में ऐसे स्वामीजी सरीखे मुनि रत्न हुए हैं उन पूज्य जयमलजी म. सा. की जीवनी बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाशित होनी चाहिये और उस काल में उन्होंने श्रमण-एकता के लिये जो ज्वलंत उदाहरण रखा था उसे प्रकाशित किया जाना चाहिये। खेद है कि अनेकानेक कारणों से इसका शुभारंभ नहीं हो सका।

सं. 2012 में किशनगढ़ में सरल स्वभावी स्वामीजी श्री बख्तावर मलजी महाराज का प्रथम भाद्रपद में संघ की वैधानिक सांवत्सरिक पर्वाराधना के पश्चात् समाधि मरण हुआ।

भीनासर के श्रमण सम्मेलन में स्वाध्याय प्रेमी स्वामी श्री चांदमलजी महाराज, काव्यतीर्थ तर्क मनीषी पं. मुनिश्री जोतमलजी म., काव्यतीर्थ साहित्य सूरि मुनिश्री लालचंदजी म. ठा. 3 ने भाग लिया। किन्तु जीवनी प्रकाशित करने के संबंध में कोई गतिविधि नहीं हुई। वहां से संतों का विहार हुआ और हरसोलाव में मुनिश्री शुभचंदजी म. की दीक्षा हुई। गढ़ सीवाणा में चातुर्मास करके बम्बई की ओर संतों ने विहार किया। इन चातुर्मासों में सभी ने पूज्य जयमलजी म. सा. के अद्भूत जीवन चरित्र को विस्तार से प्रकट करने का आग्रह किया।

बम्बई में विलेपारले, कांदावाडी और कोट यों तीन चातुर्मास हुए। उस समय यहां की जनताने पूज्य श्री जयमलजी म. के. जीवन चरित्र को प्रकट करने की भावना प्रकट की। फलस्वरूप उत्साही कार्यकर श्री जयंतिलालभाई मश्करियाने पूज्य गुणमाला के आधार पर गुजराती भाषा में अनुवाद किया। विशाल हिन्दी भाषा भाषी जनता को वह उतना उपकारक न हो सकेगा इसलिये प्रथम हिन्दी में प्रकाशित होकर फिर गुजराती में प्रकाशित हो इस विचार से वह प्रकाशित नहीं हुआ।

संतो का विहार विदर्भ की ओर हुआ और अमरावती चातुर्मास के बाद कटंगी में मुनिश्री पारसमलजी की दीक्षा हुई। वहाँ से नागपुर और राजनंदगांव चातुर्मास हुए। पूज्य श्री जयमलजी म. सा. के जीवन चरित्र को हिन्दी में तैयार करने की मांग बढ़ती गई।

अगले रायपुर चातुर्मास में मद्रास संघ का शिष्ट मंडल आया जिसमें करीब 40 श्रावक-श्राविका थे। उनकी अत्यंत आग्रहपूर्ण विनति को मान्यकर-मद्रास की ओर विहार किया गया। हिंगणघाट-चांदा, वणी, सिकंद्राबाद आदि के खूब आग्रह होने पर भी चातुर्मास मद्रास में हुआ। दूसरा चातुर्मास मैलापुर मद्रास में हुआ। उस समय पूर्वज जैनाचार्यों के जीवन ऐतिहासिक ढंग पर अवश्य तैयार होने चाहिये ऐसी लोगों ने सामूहिक रूप से भावना व्यक्त की कि पहले तो संप्रदाय के साथ नाम जुडा होने से पूर्वाचार्यों के नाम बारबार लिये जाते थे और उनके संबंध में ऐतिहासिक सामग्री का प्रकाशन होगा किन्तु उस दिशा में कोई भी गतिविधि अब तक न होने से धीरे-धीरे उनके नाम भी भूला दिये जायेंगे। उधर बालोतरा चातुर्मास में उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म. ने भी इतिहास के निर्माण की आवाज उठाई।

फलत: कई दानदाता इसके प्रकाशन में द्रव्य सहायक के रूप में आगे गये। श्रीमान स्व. सुगनचंद जी श्री श्रीमाल ने और उनके सुपुत्र श्री प्रेमचंद जी श्रीश्रीमाल ने रु. 7502 और श्रीमान लालचंद जी मर्लेचा ने रू. 5001 दिये। फलस्वरूप जयध्वज प्रकाशन समिति का गठन कर उसे पंजीकृत (रजिस्टर्ड) कराई गई।

उस समय श्री गुलाबचंद नानचंद शेठ (गुलाबचंद जैन) जो कि ब्यावर जैन गुरुकुल के स्नातक, श्वे. स्था. जैन कान्फरेंस के भू. पू. मेनेजर एवं जैन प्रकाश के भू. पू. संपादक, सामाजिक कार्यकर एवं स्थानकवासी साहित्य के द्रढ़ श्रद्धालु और जानकार हैं; उनसे पूज्य श्री जयमलजी म. सा. के ऐतिहासिक जीवन चरित्र के लेखन का कार्य कराया जाने लगा।

यद्यपि श्री गुलाबचंदजी की साहित्यिक योग्यता निर्विवाद है फिर भी अनेक समस्याओं में घिरे रहने के कारण एवं परामर्शदाता, स्वाध्याय प्रेमी स्वामीजी म. सा. ठाणे 6 का वहाँ से विहार हो जाने के कारण अनिवार्य विलंब होता रहा। किन्तु सुखकी बात यह थी कि समिति का सुव्यवस्थित गठन हो गया है और भविष्य में अनेकानेक ग्रंथ नियमित रूप से प्रकाशित हो सकेंगे।

पांच वर्षों के सतत प्रयास और संशोधन के बाद इस ग्रंथ का आलेखन पूर्ण हुआ है। यह श्री गुलाबचंद जी की एक ऊंची साधना और लगन का फल है। अन्यान्य लेखों एवं अनेक लेखकों के लेख से परिपुष्ट बडे दलदार ग्रंथ निकल जाना बड़ी बात नहीं है किन्तु उनका

ऐतिहासिकता एवं अन्य दृष्टि से संशोधन ग्रंथ के रूप में विशेष महत्व नहीं है। सीमित साधनों के आधार पर इतना विशाल ग्रंथ एक ही व्यक्ति के द्वारा लिखा जाना, श्री गुलाबचंदजी की महती तपस्या है।

ऐसे ग्रंथ के प्रकाशन में हमें जितना आनंद और हर्ष है वह उतना ही अधिक बढ़ जाता यदि इस ग्रंथ के निर्माण के आद्य महान प्रेरक स्वाध्याय प्रेमी स्वामीजी श्री चांदमलजी म. सा. की अमृतमयी दृष्टि इस पर पड़ती। स्वामी श्री शांतिमूर्ति चांदमलजी महाराज ने अल्पकालीन अस्वस्थता के बाद सं. 2025 के कार्तिक शुक्ल 8 मंगलवार दिनांक 29-10-68 को समाधिमरण की आराधना कर ली। उनकी दिवंगत आत्मा जहां पर भी होगी वहां से अपनी दिव्य दृष्टि का प्रकाश इस ग्रंथ पर फैलायेगी ऐसी हमें श्रद्धा है। इसलिए उनकी स्मृति की श्रद्धांजलि के रूप में यह ग्रंथ उन्हें समर्पित करके हम ने उनके प्रति कृतज्ञता का भाव अल्पांश में व्यक्त किया गया है।

संशोधन का विषय ऐसा है कि यह भविष्य के लिए हमेशा नई अपेक्षाएँ रखता है। इस ग्रंथ के विषय के संदर्भ में और कोई सत्य या तथ्य विद्वान पाठक प्रकाश में और हमारे ध्यान में लायेंगे तो भविष्य के संस्करण में उसका यथायोग्य ध्यान रखा जायेगा।

यह ग्रंथ सामान्य जनता के लिये पठनीय, मननीय और संग्रहणीय बनेगा तो इसका प्रकाशन सफल हुआ है ऐसा प्रकाशक समिति विनम्र भाव से मानेगी।

सभापति
जयध्वज प्रकाशन समिति

मंत्री
जयध्वज प्रकाशन समिति

अपनी बात

बचपन में "बड़ी साधु वंदना" के पद याद किये थे। इसका प्रचार भारत की समस्त साधु-मार्गीय संप्रदायों में है। तब, यह विचार आया नहीं था कि कभी इसके रचयिता के भव्य जीवन चरित्र को मैं लिखूंगा।

आचार्य पूज्य जयमलजी महाराज का जीवन अपनी ऐसा विशेषता को लिये हुए है कि वह मानव मात्र के हृदय को छू लेता है। आज से पांच वर्ष पूर्व मद्रास (मैलापुर) के चातुर्मास के समय शांतमूर्ति स्वामी श्री चांदमलजी महाराज (स्व.), कवि हृदय श्री जीतमलजी महाराज, पं. रत्न श्री लालचन्दजी महाराज आदि संतों के संसर्ग में आने से वह जीवन चरित्र विस्तार से जानने को मिला, और उसे लिखने की उत्कंठा हुई। थोड़े प्रकरण लिखे गये, और उसके प्रकाशन की तुरंत व्यवस्था की गयी।

यह कार्य शीघ्र संपूर्ण होगा ऐसा सोचा था। लेकिन जीवन चरित्र की विशालता और विराट स्वरूप का ख्याल लिखते-लिखते ही आया। अधिकारपूर्ण लेखन कार्य के लिए संशोधन काफी करना पड़ा और लेखन कार्य में धारणा से अधिक समय लगा।

इतने बड़े ग्रंथ को लिखने की शक्ति केवल पूज्य संतों की सतत प्रेरणा, मार्गदर्शन और दृढ़ संकल्प के बिना मुझमें नहीं आती। प्रारंभ में लिखित सामग्री को सुनना और बाद में उसका अभ्यासपूर्वक अवलोकन करके मेरा मार्गदर्शन वे करते रहे। उनके संपूर्ण उत्साहपूर्ण योग के बिना इसका लेखन पूर्ण नहीं होता यह निस्संदेह है। मैं उनका सदैव ऋणी रहूँगा।

इस ग्रंथ में जो विशेषतायें हैं वे ग्रंथ नायक आचार्य पूज्य श्री जयमलजी महाराज की स्वयं की हैं। उपसर्ग और परिषह से भरपूर जनपदों को साधु मार्गीय संतों के विहार के योग्य बनाना, राजा महाराजाओं पर प्रभाव डालना, जहां उनके संत जीवन के अद्भुत साहस को प्रकट करते हैं, वहां संघ एकता के लिए उनका अपूर्व त्याग उनकी पदनिर्लेप उज्जवलता का परिचय देते हुए एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करता है। मानवीय भावनाओं से ओतप्रोत 60 हज़ार से ऊपर पदों की रचना करनेवाला उनका कोमल कवि हृदय मानवीय भावनाओं का प्रखर प्रतिनिधित्व करता है तो उनकी 60 वर्ष से ऊपर जीवन भर आडे आसन नहीं लेटने की भीष्म प्रतिज्ञा उनके दृढ संयमी मनोबल को प्रकट करती है। अन्यों को जीत लेनेवाला मधुर स्वभाव, ओजस्वी प्रवचन, मधुर कंठ और सहृदयता बरबस ही उनके प्रति लेखक को नतमस्तक कर देती है।

फिर भी बाल मुग्ध भाव से, जो कुछ विशेषता ग्रंथ लेखन में आई है यह ग्रंथ-नायक के महान जीवन का प्रताप ही है ; और जो कोई त्रुटि-क्षति है तो वह मेरी शक्ति की अल्पता का प्रमाण है।

मेरे इस बाल लेखन कार्य पर अपनी विद्वतापूर्ण प्रस्तावना लिखकर पंडित मुनि श्री देवेंद्रकुमारजी ने इसका मूल्यांकन बढ़ाया है जिसके लिये मैं अत्यंत आभारी हूँ।

चित्रकार श्री शशिशंकर, श्री अनंतविजयन, श्री किशोरकुमार (मुखपृष्ठ) ने ग्रंथ के सुशोभन में अपनी चित्रकला से वृद्धि की है। मुद्रक श्री डागावंधु एवं प्रेस कर्मचारीगण, विशेष रूप से श्री रुद्रमूर्ति (कंपाजिटर) का सहयोग रहा है। इन सबका आभार मानता हूँ।

सभी साहित्य और साहित्यकार, जिनका आधार इसके लेखन के लिए लिया गया है। उनका आभार मानना मेरा पवित्र कर्तव्य है।

जयध्वज प्रकाशन समिति का मैं सविशेष आभारी हूँ जिसने इस ग्रंथ प्रकाशन को बड़ी धैर्यता के साथ किया है।

सहृदयी पाठकगण इसे पढ़कर भाव विभोर होंगे तो मेरा यह प्रयास सार्थक हुआ है ऐसा मैं मानूंगा।

विनीत,

गुलाबचन्द

प्रस्तावना

समाज के विकास के लिए, कल्याण के लिए, समय-समय पर किसी न किसी युग-पुरुष का जन्म होता है जो अपने जीवन की पवित्रता, दिव्यता और महानता से जन-जीवन को सही दिशा-दर्शन देता है। वह अपने पवित्र आचार और विचार से अन्ध विश्वासों को, अन्ध परम्पराओं को एवं दृढ़तापूर्ण रूढ़िवाद को उखाड़कर फेंक देता है। जब तक उसके तन में प्राण-शक्ति है, मन में तेज है और वाणी में ओज है, वहाँ तक वह संस्कृति के नाम पर पनपनेवाली विकृति से लड़ता है, धर्म के नाम पर पनपनेवाले अधर्म से जूझता है। वह शूलों के कंटकाकीर्ण मार्ग को भी फूलों की शय्या समझकर आगे बढ़ता है। जग जीता है बढ़नेवालों ने—यह उसके जीवन का मूलमंत्र है, महान आदर्श है। वह शेर की तरह गंभीर गर्जना करता हुआ आगे बढ़ता है। विरोधी उसके मार्ग में बाधक बनते हैं; किन्तु वह अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा और सहिष्णुता के कारण उन्हें साधक बना देता है। विरोधी विरोध से विस्मृत होकर एक दिन उसके चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं और वे उसका अनुकरण व अनुगमन करने लगते हैं, क्योंकि उसके विचारों में युग के विचार झंकृत होते हैं, उसकी वाणी में युग की वाणी मुखरित होती है। उसके आचरण में युग का आचरण क्रियाशील होता है। उसका सोचना, बोलना और करना स्वहिताय के साथ ही सर्वजन-हिताय, सर्वजन-सुखाय होता है। वह अपमान के ज़हर के प्याले को स्वयं पीकर दूसरों को सन्मान का अमृत बांटता है। कवि दिनकर के शब्दों में युग-पुरुष की परिभाषा यह है—

> सब की पीड़ा के साथ व्यथा
> अपने मन की जो जोड़ सके।
> मुड़ सके जहाँ तक समय उसे
> निर्दिष्ट दिशा में मोड़ सके।
> युग पुरुष वही सारे समाज का
> निहित धर्म गुरु होता है
> सब के मन का जो अंधकार
> अपने प्रकाश से धोता है।

यह पूर्ण सत्य-तथ्य है कि युग-पुरुष बनाया नहीं जाता, किन्तु स्वयं ही बन जाता है। युग पुरुष अपने युग का प्रबल प्रतिनिधित्व करता है। युग की जनता को सही दिशा में गति करने की प्रेरणा देता है। भूलेभटके जीवन के राहियों को पथ प्रदर्शन करता है और उनको यह आगाह करता है कि तेरा मार्ग यह नहीं है जिसपर तू मुस्तैदी क़दम बढ़ा रहा है, अंध श्रद्धा से उत्प्रेरित होकर चला जा रहा है, ज़रा संभल, विवेक के विमल प्रकाश में चल। इस प्रकार वह अपने युग की भावुक जनता को—श्रद्धालु भक्तों को—श्रद्धा, भक्ति और अर्पण का पुनीत पाठ पढ़ाता है। सत्यं शिवं सुन्दरम् से उनके जीवन को चमकाता है।

आचार्य प्रवर परम श्रद्धेय जयमल्लजी महाराज को मैं एक निश्चित अर्थ में युग-पुरुष मानता हूँ। जो युग पुरुष होता है वह युग द्रष्टा भी होता है। जीवन का व्यापक और उदार दृष्टिकोण ही युग पुरुष और युग द्रष्टा की सच्ची कसौटी है। इस कसौटी पर जब हम आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व और कृतित्व को कसते हैं तो वह पूर्ण रूप से खरा उतरता है। वे एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे जिन्होंने जनजीवन को नया विचार, नयी वाणी और नया कर्म दिया, भोग मार्ग से हटाकर योग मार्ग की ओर बढ़ने को उत्प्रेरित किया। जन-जन के मन में से अज्ञान-अंधकार को हटाकर ज्ञान की दिव्य ज्योति जगायी।

आचार्य प्रवर का जन्म विक्रम संवत 1765 भादवासुदी 13 को जोधपुर राज्यान्तर्गत लाम्बिया गांव में हुआ था। उनके पिता का नाम मोहनदास जी और माता का नाम महिमादेवी था। ये समदडिया महता गोत्रोय वीसा ओसवाल थे। इनके पिता कामदार थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम रीडमलजी था। इनका बाल्यकाल सुखद और शान्त था। माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह और अपने ज्येष्ठ भ्राता का प्रेम इन्हें खूब मिला था। इन की तेजस्विता, बुद्धि की विलक्षणता से ग्राम के अन्य लोग भी इनकी अत्यधिक प्रशंसा करते थे। सहृदयता, नियमबद्धता, परदुःखकातरता, सरलता और सौजन्यता आदि ऐसे विशिष्ट गुण थे जिनके कारण ये सभी के विशेष रूप से आदर-पात्र थे। बाल्यकाल में वे अपने हम-जोली संगी-साथियों के साथ खेलते-कूदते भी थे, नाचते-गाते भी थे, हँसते-हँसाते भी थे, रूठते मचलते भी थे। इस प्रकार बाल्य-सुलभ सभी कार्य करने पर भी उनके स्वभाव की गंभीरता, चिन्तन की महानता आदि प्रत्येक कार्य में झलक पड़ती थी। उनकी वैराग्य भावना सहज स्फूर्त थी।

बाईस वर्ष की अवस्था में माता पिता के स्नेह भरे आग्रह को सम्मान देकर रीयां के शिवकरणजी भूथा की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ पाणिग्रहण किया और व्यापारी बनकर व्यापार क्षेत्र में भी उतरे, किन्तु वह उनके जीवन का लक्ष्य नहीं था। उनका मन का पंछी उसमें रम नहीं रहा था। वह तो साधना के अनन्त गगन में विचरण करना चाहता था। संयोग से अपने साथियों के साथ व्यापार हेतु मेडता गये। वहाँ पर बाजार बन्द देखा। आचार्य भूधर जी महाराज की सेवा में उपस्थित हुए। उनके वैराग्य से छलछलाते हुए पावन प्रवचन को श्रवण कर मन में वैराग्य भावना अठ-खेलियाँ करने लगी। उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर एक महान् साधक का आदर्श उपस्थित किया। ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लेने मात्र से ही उन्हें सन्तोष कहाँ था? वे तो एक विशिष्ट अध्यात्म योगी बनना चाहते थे, परन्तु उसके लिए बाधक थी माँ की ममता, पिता का प्यार, और नव-परिणीता का अपार नेह। किन्तु कोई भी उन्हें अपने लक्ष्य से विचलित न कर सका। क्या कभी-गजराज कलमनाल के कोमल तंतुओं से बंधा है! एक ओर पत्नी द्विरागमन की अपलक

प्रतीक्षा कर रही थी, मन में रंग-बिरंगे सपने संजो रही थी, किन्तु दूसरी ओर आचार्य श्री के प्रवचन से पति शिव सुन्दरी को वरण करने के लिए, श्रमण बन जाता है और ऐसा आदर्श श्रमण बनता है कि जिसकी तुलना अन्य साधारण श्रमणों से नहीं की जा सकती। श्रमण बनते ही सोलह वर्ष तक निरन्तर एकान्तर तप का आचरण किया। जिसमें एक दिन का उपवास और एक दिन का आहार ग्रहण करने का क्रम चलता रहा। यहां तक कि आचार्य भूधर जी के स्वर्गारोहण के दिन से लेकर पचास वर्ष तक कभी लेटकर नहीं सोये। कितनी गजब की थी उनकी आध्यात्मिक साधना! आज का साधक धुंआधार प्रचार तो करना चाहता है, पर जीवन में क्रिया का तेज नहीं है। बिना तेल की बत्ती बताइये! कब तक प्रकाश दे सकती है? आचार हीन विचार कल्चर मोती है जिसकी चमक और दमक कृत्रिम और अस्थायी है।

हैं। उस पन्ने में दोनों महापुरुषों के हस्ताक्षर भी हैं। मैं समझता हूँ उन महापुरुषों ने जो स्नेह का, सद्भावना का बीज वपन किया वह आज भी पल्लवित, पुष्पित है।

आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज ने सतत जागरूकता एवं उग्र साधना से न केवल अपने अखण्ड ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप का विकास ही किया, किन्तु आत्म-विकासी उपदेश एवं काव्य रचना द्वारा साहित्य की जो श्रीवृद्धि की वह अपूर्व है, अनूठी है।

हिन्दी साहित्य की दृष्टि से आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज रीतिकाल में हुए हैं जिस युग में कविगण विलास-वैभव एंव सामाजिक जीवन को महत्व देकर पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन कर रहे थे; किन्तु आप उस रीतिकाल की बंधी बंधाई सड़क पर नहीं चले। उन्होंने रीतिकालीन उद्दाम वासनात्मक शृंगारधारा को भक्तिकालीन प्रशान्त साधनात्मक धारा की ओर मोड़ा। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि पद्माकर भी आपके ही समकालीन थे। जो 'नैन नचाय कह्यो मुसकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी' का निमंत्रण दे रहे थे। कविवर नागरीदास और हितवृन्दावनलाल भी इसी प्रकार श्री कृष्ण और राधा का श्रृंगारिक चित्रण कर रहे थे। दूसरी ओर ठाकुर और बोधा विशुद्ध और सात्विक प्रेम का निरूपण कर रहे थे। कविवर गिरधर भी नीति का उपदेश देने के लिए कुंडलियाँ बना रहे थे। इधर श्रमण संस्कृति के जगमगाते नक्षत्र आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज अन्तःस्थ सौन्दर्य को निखारने के लिए तीर्थंकर, विहरमान, सतियाँ और व्रतीय श्रावकों के गुणों का उत्कीर्तन कर रहे थे।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि रीतिकाल के प्रायः सभी कवि किसी न किसीके आश्रित रहे हैं। अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने हेतु वे विकार वर्द्धक शृंगारिक चित्रण करते थे। किन्तु आचार्य श्री जयमल्लजी किसीके भी आश्रित कवि नहीं थे। किसीको प्रसन्न करना उनके काव्य-रचना का उद्देश्य नहीं था। वे तो स्वान्तः सुखाय रचना करते थे। अतः उनके काव्य में विलास भावनाओं का पूर्ण अभाव है। रीतिकाल का कवि काव्य रचना के साथ ही काव्यगत सिद्धांतों का विश्लेषण कर आचार्य बनता था। किन्तु आचार्य जयमल्लजी म. ने लक्षण शास्त्र का निर्माण कर आचार्य पद प्राप्त नहीं किया, अपितु आचार्य धर्म का पालन कर वे आचार्य बने। उनका व्यक्तित्व उस युग के कवियों से सर्वथा पृथक है। सूरदास के काव्य में सौन्दर्य की प्रधानता है। तुलसीदास के काव्य में शक्ति की प्रतिष्ठा है। बिहारी आदि के काव्य में शृंगार की प्रधानता है। भूषण आदि के काव्य में वीरत्व का निरूपण है। वहाँ आचार्य जयमल्लजी म. के काव्य में शील का विश्लेषण है। शील का वर्णन कर उन्होंने उस युग के राष्ट्रीय चरित्र को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उनके काव्य में अध्यात्मवाद की प्रधानता है, तदपि उसमें जीवन के हर पहलुओं की व्याख्या भी बड़े रोचक ढंग से मिलती है।

आचार्य श्री जयमल्लजी म. की उपलब्ध कुछ रचनाओं का संकलन-आकलन जयवाणी ग्रन्थ में किया गया है। जो (1) स्तुति (2) सज्झाय (3) उपदेशीपद (4) चरित्र, चर्चा दोहावली के रूप में चार खण्डों में विभक्त है। उनके अतिरिक्त पूज्य श्री जयमल ज्ञान भंडार पीपाड और श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार जयपुर से अनेक अप्रकाशित रचनाएँ प्राप्त हुई हैं और भी भण्डारों की अन्वेषणा-गवेषणा करने से बहुत-सी रचनाओं के मिलने की आशा है। अतः विद्वानों को इधर प्रयास करना चाहिए। अस्तु।

जैन आगम साहित्य द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग और चरणकरणानुयोग के रूप में चार भागों में विभक्त है। आचार्य श्री जयमल्लजी म. ने द्रव्यानुयोग के सम्बन्ध में स्वतंत्र न लिखकर कथा के माध्यम से यत्र-तत्र उसका निरूपण किया है। सम्यक्त्व, गुणस्थान, दण्डक, पाप, कर्म और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में उनकी स्फुट रचनाएँ भी मिलती हैं।

चरणकरणानुयोग के सम्बन्ध में कवि ने अनेक रचनाएँ बनाई हैं। सज्झाय, स्तवन' चोवीसी आदि। धर्मकथानुयोग तो आचार्य श्री को अत्यधिक प्रिय रहा है। कथाओं के माध्यम से आध्यात्मिक, सामाजिक, दार्शनिक आदि बातों का जितना सुन्दर चित्रण हो सकता है उतना अन्य माध्यम से नहीं। कहानी ही विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी है। कथा के प्रति मानव का सहज आकर्षण है। उसमें जीवन की मधुरिमा अभिव्यंजित होती है।

आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज ने महाकाव्य की रचना नहीं की है। कथाओं की रचना में इतिवृत्त की प्रमुखता है। उन्होंने अपने कथा-काव्य को अध्याय और सर्गों में विभक्त न कर ढालों में विभक्त किया है। आगमिक कथाओं को ही उन्होंने अपने काव्य में प्रमुखता दी है। काव्य कथा के मुख्य पात्र प्रायः राजघराने के, सामन्त व श्रेष्ठीजन हैं। जो मोह-पाश के बंधन को तोड़कर साधना के महामार्ग पर बढ़ते हैं। बढ़ते समय अनेक परिषह आते हैं, पर जो परिषहों को जीतकर वीर योद्धा की तरह आगे बढ़ता है वही अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

कर्मवाद जैन दर्शन की आधारशिला है। कर्मवाद का प्ररूपण करने के लिए पूर्वजन्म का निरूपण किया गया है। वर्तमान में जो सुख-दुःख उपलब्ध होते हैं उसका मुख्य कारण कर्म ही है। कर्म के कारण ही प्रतिनायक बनकर नायक से बदला लेता है। पर नायक क्षमा का वह आदर्श उपस्थित करता है जिसके कारण भव परम्परा का अन्त हो जाता है।

आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज श्रमण संस्कृति के सन्त हैं। अतः उनके काव्य में लौकिक सुख की प्रमुखता नहीं। किन्तु आध्यात्मिक आनन्द की प्रमुखता है। उन्होंने संसार के ऐश्वर्य का नहीं, किन्तु संसार की नश्वरता का वर्णन बड़ा ही सुन्दर किया है।

भृगु पुरोहित के चरित्र में महारानी कमलावती सम्राट से कहती है, "राजन्! रत्न-जड़ित पिंजड़े में तोते को आप भले ही बन्द कर दें, परन्तु वह उसे बन्धन ही समझता है। रहने को बढ़िया स्थान है, खाने को पकवान है और पीने को दूध है पर स्वतन्त्रता का आनन्द वहाँ कहाँ है? यही स्थिति मेरी भी है। ये विराट् राजमहल, भौतिक वैभव मेरे लिए बंधन स्वरूप हैं, एक क्षण के लिए भी मुझे इनमें आनन्द की उपलब्धि नहीं हो रही है—

"रत्न जड़ित हो राजाजी पिंजरो, सुवो तो जाणे है फंद
इसड़ी पण हूं थांरां राज में, रति न पाऊँ आणन्द"

आनन्द तभी मिलेगा जब हम कर्म बंधन को तोड़कर संयम को ग्रहण करेंगे—

हस्ती जिम बंधन तोड़ने, आपणे वन में सुखे जाय।
ज्यूं कर्म बंधन तोड़ी संजम ग्रहीं, होस्यां ज्यूं सुखी मुगत मांय॥

संयम का मार्ग कोई सरल मार्ग नहीं है, वह कंटकाकीर्ण पथ है। उसपर चलना कितना कठिन है। देखिए आचार्य जयमल्लजी महाराज ने श्रमण जीवन की कठोर चर्या का कितना सजीव वर्णन किया है:—

मुनिवर मोटा अणगार, करता उग्र विहार,
पड़ रही तावड़े री भोट, तिरसा सूं सूखा होट।
कठिन परिसो साधनो ए॥
तालवे कोइ नहीं थूक, जीभ गई ज्यांरी सूख
होटो रे आई खरपटी ए॥

भगवान् नेमिनाथ पाणि-ग्रहण के लिए जाते हैं। उस समय बन्दी पशुओं के करुण-क्रन्दन को श्रवण कर उनका हृदय करुणा से आप्लावित हो जाता है। उनके हृद्तंत्री के सुकुमार तार झनझना उठते हैं:—

परणी जण में पापज मोटो, जीव हिंसा से सहज खोटो।
ए तो दीसे परतख तोटो, तो लेऊं दयाधर्म रो ओटो॥

भ. नेमीश्वर उसी क्षण बन्दी पशुओं को मुक्त कर स्वयं श्रमण बनने की तैयारी करते हैं। मुक्त पशुओं के अन्तरहृदय से आशिर्वचन निकलते हैं:—

गगन जातां जीव देवे आसीस के, पशु ने पंखिया जगदीश,
जादव हिवे चिरंजीव हो, बलिहारी तुम बाप ने माय के।

पुत्र रतन जिन जनमियो, स्वामी थे सारिया, अम्ह तणा काज के
तीन भवन रो पायजो राज के, शील अखंडित पालजो ॥

आचार्य श्री जयमल्लजी म. के काव्य में वैराग्य-रस को प्रधान होने पर भी शृंगार रस के संयोग-वियोग का सुन्दर चित्रण उनके काव्य में हुआ है। संयोग का चित्रण संयम लेने के पूर्व नायक सांसारिक विषयों में आसक्त होता है—उस समय का है :—

"चन्द्र वदन मृग-लोयणी जी, चपल-लोचनी बाल।
हरीलंकी मृदु भाषिणीजी, इन्द्राणी-सी रुप रसाल॥
प्रीतवती मुख आगलेजी, मुलकंती मोहन वेल॥
चतुरांना मन मोहतीजी, हँस-गमणी सूं करता बहुकेल॥

भगवान् अरिष्टनेमि संयम ग्रहण कर लेते हैं। राजमती उनकी अपलक प्रतीक्षा करती है। उनके दर्शन के लिए उसकी आँखें तरस रही हैं। वह प्रिय दर्शन के लिए आतुर है। वह अपनी प्रिय सखियों को उनका पत्र लाने और उपालंभ भेजने के लिए कहती है।

"तरसत अखियां हुई द्रुम-पखियां, जाय मिलो पिवसूं सखियां।
यदुनाथजी रे हाथ री ल्यावे कोई पतियां, नेमनाथजी-दीनानाथजी॥

राजमती अपने प्रियतम को उपालंभ देती है कि तुम मुझे छोड़कर साधु क्यों बन गये। वह अपनी दासियों से कहती है कि तुम यदि उनका सन्देश लाओगी तो मैं तुम्हें विविध आभूषणों से लाद दूंगी।

जाकूं दूंगी जरावरो गजरो, कानन कूं चूनी मोतिया।
अंगुरी कूं मूंदडी, ओढण कूं फमडी, पेरण कूं रेशमी धोतिया॥

प्रियतम के अभाव में महल भी जेल के समान है और चारु चन्द्र की चंचल किरणें भी तन को दग्ध करनेवाली है :—

महल अटारी, भए कटारी, चंद-किरण तनूं दाझतिया॥

तड़ाक से तूटी कस कंचू तणी रे, थण रे तो छूटी दूधाधार रे
हिवड़ा माहे हर्ष मावे नहीं रे, जाणे के मिलियो मुझ करतार रे ॥

रोम-रोम विकस्या, तन-मन ऊलस्या रे, नयणे तो छूटी आंसू धार रे
झिलिया तो बांहा माहे मावे नहीं रे, जाणे तूट्यो मोत्यां रो हार रे ॥

वियोग वात्सल्य का वर्णन भी दर्शनीय है। माता देवकी के सात-सात पुत्र हुए, प
उसने किसीका भी लाड़-प्यार नहीं किया, खिलाया, पिलाया नहीं, एतदर्थ उसका मातृ हृ
पश्चाताप के आग में झुलस रहा है। वह अपने आँखों के तारे, नयनों के सितारे श्री कृ
से कहती है—

संसाड़ा करंता रे, सुर शेष धरंता रे
दश दिन का भूखा रे, खावण ने ढूका रे।
कूकारे पाडे-कहे देव छोडाव जो रे॥

सांभल वहु धाया रे, दोडी ने धाया रे
दांतां सूं काटे रे, वेर आगला बाढ़े रे
कुण काढे - ए नर बलवंत इसो रे॥

पुण्य और पाप के फल संसार में प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होते हैं, उसके लिए आगम आदि प्रमाणों की भी अवश्यकता नहीं है। पुण्यवानी की प्रबलता से जीव सुख के सागर पर तैरता है और पाप की अधिकता से दुःखाग्नि में झुलसता है। देखिए कवि ने लिखा है:—

एक चढे छे पालखी रे वोहला चाले छे जी लार।
एकण रे सिर पोटली जी, पगां नहीं पैजार रे,
रे प्राणी पाप पुण्य फल जोय॥

(1) 'आयु घटती जाय छे, जिम अंजली नो पाणी'

(2) नेम कंवर रथ बैठां छाजे ग्रह नक्षत्र में जिम चन्द्र विराजे ।।

(3) अथिर ज जाणो रे थारों आउखो जियम पाको पीपल पान ।।

(4) चार गतिनां रे दुःख कह्या जीवे अनंति अनंति वार लह्या
पची रह्यो जिम तेल बड़ो श्री शांति जिनेश्वर शान्ति करो ।।

(5) काल खड़ो थारे बारणे जिम तोरण आयो बीन्द ।।

जय-काव्य में रूपक का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। मुख्य रूप से कवि ने सांग रूपक का प्रयोग दिया है। क्षमा-गढ़ में प्रविष्ट होने के लिए द्वादश भावना रूपी नाल की चढ़ाई आठ कर्म रूपी किंवाड़ों को तोड़ने का वर्णन कवि इस प्रकार कर रहा है—

म्हारे क्षमागढ़-माँय, फोजां रहसी चढी री माई
बारे भेदे तप तणी, चोको खडी
वारे भावना नाल, चढ़ाऊँ कांगरे-री माई
तोड़ूं आठे कर्म, सफल कार्य सरे ।।

कवि आध्यात्मिक दीवाली का वर्णन करता हुआ कहता है कि काया की हवेली को तप से उज्जवल करना है, क्षमा के खाजे, वैराग्य के घेवर तथा उपशम के मोवण से मोतीचूर बनाने हैं—

काया रूपी हवेलियाँ तपस्या करने रेल
सूंस वरत कर मांडणो, विनय भाव वर वेल ।।
क्षमा रूप खाजा करो, वैराग्य घृतज पूर
उपशम मोवण घालने, मदवो मोतीचूर ।।

आत्मा एक बार कर्मों से मुक्त हो जाता है तो फिर वह कभी कर्म बद्ध नहीं होता। क्योंकि उस समय कर्मवंध के कारणों का सर्वथा अभाव हो जाता है जैसे बीज के जल जाने पर पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। वैसे ही कर्मरूपी बीज के सम्पूर्ण जल जाने पर संसार रूपी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती—

दग्धे वीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः
कर्म वीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुर ।।

तत्वार्थ भाष्यगत अन्तिम कारिका का आचार्य श्री जयमल्लजी म. ने अपनी भाषा में इस प्रकार अनुवाद किया है—

दग्ध बीज जिम धरती म्हायां, नहिं मेले अंकुर जी,
तिम हीज सिध्दजी, जन्म मरण री करदी उत्पत्ति दूर जी

छन्द विधान की दृष्टि से जैन कवि बड़े उदार रहे हैं। शास्त्रीय छन्दों की अपेक्षा लौकिक छन्दों के विविध प्रयोग बड़ी दक्षता के साथ किये गये हैं। आचार्य श्री जयमल्लजी म. ने दोहा, सोरठा, ढाल आदि में अपनी रचनाएँ लिखी हैं। संगीत तत्त्व इनकी कविता की एक विशेषता है। उनकी सभी रचनाएँ गेय हैं। ढालों को भी विभिन्न राग-रागिणियों में लिखा है।

आचार्य श्री जयमल्लजी म. की भाषा राजस्थानी है। उसपर कवि का पूर्ण अधिकार है। भाषा भावों के अनुकूल चलती है। उसमें प्रवाह है, माधुर्य है, ओज है, सरलता व सरसता है। उसमें पारिभाषिक शब्दों की बहुलता है।

वस्तुतः आचार्य श्री जयमल्लजी म. की रचनाएँ हिन्दी साहित्य भण्डार की अनमोल निधि हैं। आपकी बहुमूल्य समस्त रचनाएँ उपलब्ध होने पर निश्चय ही भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि होगी। व्रज, भोजपुरी, अवधि, प्रभृति भाषा के साहित्य की अपेक्षा राजस्थानी साहित्य अधिक समृद्ध है। किन्तु परिताप का विषय है कि आज भी अधिकांश राजस्थानी साहित्य अभी तक अप्रकाशित है। भण्डारों की चार दीवारों में वन्द होने के कारण विज्ञों के लिए अनुपलब्ध है। आशा है, आचार्य श्री जयमल्लजी म. का सम्पूर्ण-साहित्य उनके उत्तराधिकारी मुनिवर शीघ्र ही प्रकाश में लायेंगे तो साहित्य की महान् सेवा होगी।

संक्षेप में आचार्य श्री जयमल्लजी म. का व्यक्तित्व जितना मधुर, आकर्षक एवं गंभीर था कृतित्व भी उतना ही तेजस्वी, बहुमुखी और गौरव पूर्ण था। मैं प्रबुद्ध पाठकों से साग्रह अनुरोध करता हूँ कि आचार्य प्रवर के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व को जानने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का पारायण करें।

आचार्य श्री के सम्वन्ध में इतने विस्तार के साथ प्रथम वार ही लिखा जा रहा है। लेखक की भाषा सरस, सरल और प्रवाहपूर्ण है। शैली मनमोहक है। भाषा की प्राञ्जलता, भावों की गंभीरता को निहार कर ऐसा लगता है कि 'काग़ज़ पे रख दिया है, कलेजा निकाल के।" पुस्तक का विषय एक व्यक्तिविशेष का होते हुए भी धर्म, दर्शन, इतिहास-संस्कृति का समग्र संस्पर्श इसमें है। पढ़ते पढ़ते विचार व चिन्तन के नये उन्मेष जागृत होने से लगते हैं।

ग्रन्थ अनेक खण्डों में विभक्त है (1) गृहस्थ जीवन (२) साधु चर्या, (४) धर्म प्रचार (५) उग्र विहार आदि। प्रत्येक खण्ड अपने आप में पूर्ण है। इन खण्डों में बहिरंग और अन्तरंग व्यक्तित्व को वड़ी कुशलता के साथ उभारा गया है। विचार स्फुरणा की दृष्टि से सामग्री बहुत ही रोचक व प्रेरणादायी है।

इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का सम्पूर्ण श्रेय स्वर्गीय परम श्रद्धेय स्वाध्याय प्रेमी पं. रत्न श्री चान्दमलजी म., पण्डित प्रवर तर्कमनीषी, न्याय काव्य तीर्थ जीतमलजी म. एवं साहित्य सूरि प्रसिद्ध वक्ता श्री लालचन्द्रजी म. को है। मैं समझता हूँ, उक्त मुनिवरों के अतिरिक्त आचार्य श्री के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व के चित्रण में अन्य कोई भी व्यक्ति इतना सफल भी नहीं हो पाता।

मैं आशा करता हूँ कि श्रद्धालु भक्तगण प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न का ललक कर हृदय से स्वागत करेंगें।

जैन धर्म स्थानक, रविवार पेठ
नासिक सिटी दि. 23-1-69

देवेन्द्रमुनि

प्रातः स्मर्णिय, बाल ब्रह्मचारी, सम्यक दर्शी पण्डित रत्न, तल स्पर्शी शास्त्रज्ञ, उच्च कोटी के विवेचनार्थी, महा महीम जैनाचार्य पूज्य श्री श्री १००८ श्री हस्तीमलजी महाराज साहब की प्रेर्णा से राजस्थान प्रान्त, नागोर परगना, अलाय ग्राम की परम्परा वाले, मद्रास प्रान्त के दीर्घ निवासी जौहरी इंद्रचंद ताराचन्द बोथरा की तरफ से जैपुर, लाल भवन, जैन स्थानक स्थित श्री विनय ज्ञान भंडार को जैन संघ के सदुपयोगार्थ "जैन ध्वज" नामक ग्रंथ की सहर्ष सप्रेम भेंट। दि॰ २२-७-७३।

10.	1001	लालचंदजी डागा, C/o. सागरमल डागा एण्ड कम्पनी, 278, टी. एच. रोड़, टण्डीयारपेट, मद्रास-21.	81881
11.	1001	भँवरलालजी गोठी, C/o. के. जी. कोठारी एंड कंपनी, 98, मिण्ट स्ट्रीट, मद्रास-9.	92414
12.	1001	रिधकरणजी बेताला, 1/80, वीरप्पन स्ट्रीट, मद्रास-1.	84162
13.	1001	पुखराजजी मीठालालजी वोहरा, 26, बाज़ार स्ट्रीट, पेरम्बूर, मद्रास-11.	68013
14.	1001	मोहनलालजी चोरड़िया, C/o. जेवंतराजजी मोहनलालजी चोरड़िया, 7, बाज़ार रोड़, मैलापुर, मद्रास-4.	72431
15.	1001	भँवरलालजी विनायकिया, C/o. अमोलकचंदजी भँवरलालजी विनायकिया, 169, माउण्ट रोड़, मद्रास-6.	88298
16.	1001	गजराजजी मूथा, 53, अजीज मुल्क, रवी गली, थौजण्ड लाइट्स, मद्रास-6.	82782
17.	1001	फूलचंदजी खारीवाल, 10/99 बी, थौजण्ड लाइट्स, मद्रास-6.	86423
18.	1001	राजमलजी मरलेचा, 38, बाज़ार रोड़, रेडहिल्स, मद्रास.	67203
19.	1001	कपूरचंद भाई, C/o. के. एन. सुतारिया, श्रवण मुदलियार स्ट्रीट, टी. नगर, मद्रास-17.	441516

20. 1001 सोनराजजी सम्पतराजजी सिंघवी,
गुढिहारी, रायपुर (एम.पी.) 782

21. 1001 हीराचंदजी फतेचंदजी कटारिया,
C/o. धनराजी हीराचंदजी,
219, केवलरी रोड़, बेंगलोर-1. 24758

22. 1001 भँवरलालजी मांगीलालजी डूंगरवाल,
65, थाना स्ट्रीट, मद्रास-7.

23. 1001 पारसमलजी सांखला,
108, मैसोर रोड़ सर्कल, बेंगलोर-18. 72820

24. 1001 मोडूलालजी नेमीचंदजी खीचा,
1-जी, नं. 1, 10-वीं गली, अलसूर, बेंगलोर-8.

25. 1001 जँवरीलालजी मोतीलालजी मूथा,
18-जी. स्ट्रीट, अलसूर, बेंगलोर-8. 24751

26. 1001 जुगराजजी, खीवराजजी केवलचंदजी बरमेचा,
C/o. जैन टेक्सटाईल
न. 97, गोडाऊन स्ट्रीट, मद्रास-1. 28445

27. 1001 नथमलजी गुलाबचंदजी सिंगवी
829, ट्रिप्लीकेन हाइरोड, मद्रास-5. 81280

28. 1001 धनराजजी केवलचंदजी बाफना
5, पुदुपेट स्ट्रीट, आलन्दूर, मद्रास-16. 80086

29. 1001 गणेशमलजी सिंगवी
C/o. जी. देवीचंद, साउकार
180, कोण्डामापुरम् स्ट्रीट, त्रिवेल्लूर (चेंगलपेट जिला)

30. 1001 विजराजजी शांतिलालजी वोहरा
चेट्टी स्ट्रीट, त्रिवेल्लूर, जिला चेंगलपेट. 72

31. 1001 मोहनलालजी कोठारी
विरंजीपुरम्, (एन. ए. डीटी.) 22

32. 1001 जैवंतराजजी खिवसरा
नागलापुरम् (चित्तूर), आन्ध्र प्रदेश

33. 1001 पिस्ताबाई,
C/o. मुलतानमलजी वोहरा
साण्डिया वाया. सोजतरोड, जि. पाली (राजस्थान)

34. 1001 भानीरामजी सिंगवी,
कोण्डामापुरम् स्ट्रीट, त्रिवेल्लूर, जि. चेंगलपेट.

35. 1001 चांदमलजी कोठारी
99. अलसूर, बाज़ार स्ट्रीट, बेंगलोर-8.

36. 1001 धनराजजी मदनलालजी वोहरा
103. अलसूर, बाज़ार स्ट्रीट, बेंगलोर-8.

37. 1001 मिश्रीमलजी भँवर लालजी भलगट
C/o. किशनदासजी, मिश्रीमलजी,
मैन रोड, भण्डारा (महाराष्ट्र). 20

38. 1001 जंगलीमलजी शशिकान्तजी भलगट,
C/o. किशनदसजी, जंगलीमलजी,
मैनरोड, भण्डारा (महाराष्ट्र) 241

39. 1001 झूमरमलजी कल्याणमलजी भलगट,
लक्ष्मी मेटल इण्डस्ट्रीज, स्टेशन रोड,
भंडारा महाराष्ट्र. 212.

40. 1001 हस्तीमलजी चांदमलजी वाणिगोतादासपांवाला,
C/o. मुलतानमल हस्तिमल एण्ड सन्स,
मामुलपेट, बेंगलोर-2. 2212

41. 1001 सागरमलजी भीखमचंदजी गादिया,
111, चेट्टी स्ट्रीट, त्रिवेल्लूर, जि. चेंगलपेट.

42.	1001	रंगलालजी रांका, बाजार रोड़, पट्टाभिराम, मद्रास.	
43.	1001	प्राणजीवनलाल जूठालाल शाह, C/o. मे शाह ब्रदर्स, 31/43, चकला स्ट्रीट, बंबई-3.	573241
44.	1001	रसिकलाल चमनलाल चौधरी, 11, शंकर महाल, विलेपारले वेस्ट, बंबई-56.	573885
45.	1001	शान्तिलाल केशवलाल शाह, नं. 1, महन्त रोड़ जेठवा निवास दूसरा माळा, विलेपारले ईस्ट, बंबई-57.	352557
46.	1001	जवाहरमलजी लालचंदजी जैन, आंजरला, जि. रत्नगिरि (महाराष्ट्र)	
47.	1001	धूलचंदजी तेजराजजी धोका, सैदापुर, नारायणपेट रोड़ स्टेशन, जि. गुलबर्गा	
48.	1001	रजनीकांत वाडीलाल शाह, प्रभुनिवास, लजपतराय रोड़, विलेपारले वेस्ट, बंबई-56.	819561
49.	1001	हीरालालजी पन्नालालजी वोहरा, सूरज ट्रेडिंग कंपनी, पो. बॉ. नं. 4, रॉबर्टसनपेट, के. जी. एफ.	
50.	1001	मिश्रीमलजी जेवंतराजजी लूणिया, चंडावल, जि. पाली राजस्थान.	
50.	1001	जवरचंदजी रतनचंदजी वोहरा, 1-35, जनरल मुथिआ मुदलियार स्ट्रीट, मद्रास-1.	
52.	1001	जवरचंदजी बोकडिया, 37, कालाथी पिल्ले स्ट्रीट, साउकारपेट, मद्रास-1.	

जाप जपो

पूज्य जयमल जी हुआ अवतारीज्यांरा नामतणी महिमा मारी।
कष्ट टले मिटे ताव तपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो ॥ १ ॥

पूज्य नामे सव कष्ट टले, वलि भूत प्रेत पिण नांय छले।
मिले न चोर हुवे गुप चुपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो ॥ २ ॥

लक्ष्मी दिन दिन वढ जावे, वलि दुख नेडो ही नहि आवे।
व्यापार में होवे वहुत नफो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो ॥ ३ ॥

अड़यो काम तो हुये जावे, वलि विगडयो काम भी वण जावे।
भूल चूक नहि खाय डफो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो ॥ ४ ॥

राज काज में तेज रहे, वलि खमा खमा सव लोक कहे।
आछी जागा जाय रूपो पूज्य जयमल जी रो जाप जपो ॥ ५ ॥

पूज्य नाम तणो जो लियो ओठो, ज्यारे कदे नहीं आवे टोटो।
घर घर वारणे कांय तपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो ॥ ६ ॥

एक माला नित नियम रखो, किणी वात तणो नहि होय धको।
खाली विमाण अरु टले जी सपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो ॥ ७ ॥

स्व भक्ततणी प्रतिपाल करे, मुनि "राम" सदा तुम ध्यान धरे।
कोइ प्रत्यक्ष वातमती उथपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो ॥ ८ ॥

पूज्य नाम प्रताप इसो जवरो, दुःख रोग कष्ट जावे सवरो।
कोइ भवांरा करम खपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो ॥ ९ ॥
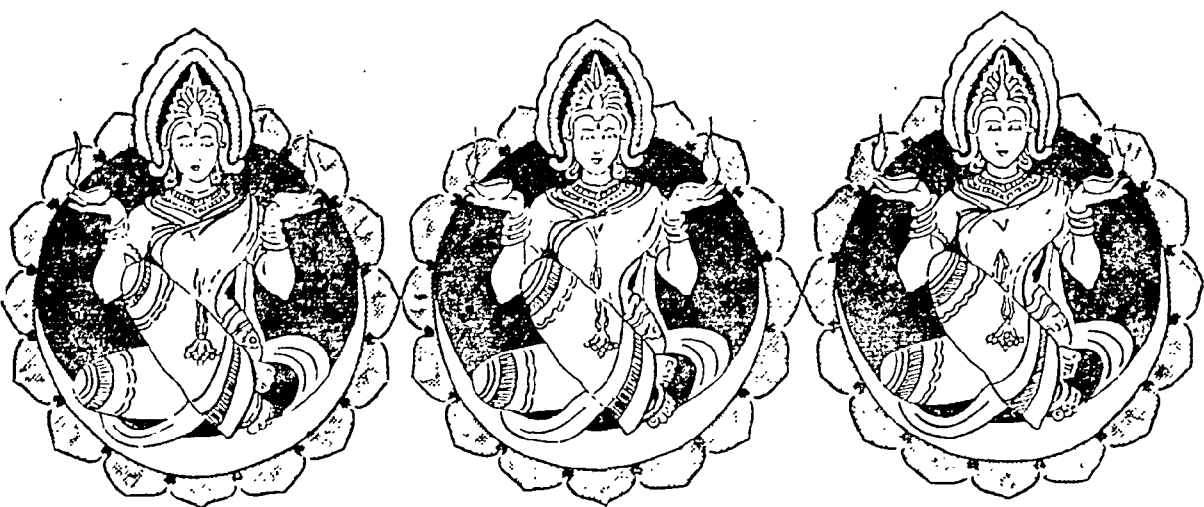
• इतिहास – विषय प्रवेश •

इतिहास के लिये सन् १७०८ (A. D.) का समय बहुत ही परिवर्तन लिये हुये है। वह इसलिये नहीं कि औरंगज़ेब की मृत्यु हो गई थी किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष के अन्दर नये हिन्द का परिवर्तन शुरू हो गया था।

जो अकबर ने प्रेम से जीता था, वह लोगों का प्यार औरंगज़ेब ने कटुता से मिटा दिया था। यहाँ तक कि उसके आसपास के लोग भी उसकी शंका से बाहर न थे। ज़िन्दगी जब घुट के मर रही थी तभी औरंगज़ेब की मृत्यु से उसने आज़ादी की साँस ली....!

लड़ाइयाँ.... गदर.... अत्याचार से धरती त्रसित हो चुकी थी और उसके निर्माता औरंगज़ेब के जाते ही लोग प्रेम, शांति और सुख की चाहना करते थे। औरंगज़ेब के दूसरे बेटे बहादुर शाह (मुअज़म) ने गुज़रा दौर देखा था और उसने मुगल-ए-आज़म अकबर की तारीफें भी सुनी थीं। वह चाहता था कि वह भी उस मुगल शहेन्शाह की तरह सब से मेल-जोल बना कर काम निकाले....!

उसने कला-संगीत और कविता के ऊपर लगे प्रतिबन्ध हटा दिये। जोधपुर और जयपुर के राजाओं के साथ सुलह कर ली, मराठा राजाओं को छोड़ दिया — उसने सभी मज़हबवालों को अपने-अपने मज़हब से चलने की आज़ादी दी। जैनों के पास वह जाता था; सिक्खों से उसने संधि कर ली; झगड़ा किसलिये....!

मगर वह जो चाहता था उतना सरल नहीं था। जिसको जगाने में अकबर बादशाह को पचास वर्ष लगे थे और जिसको बिगाड़ने में औरंगज़ेब को पचास वर्ष लगे थे

और जो कडुआपन जिन्दगी में भर गया था, उसे वह एक-दो साल में मिटाना चाहे तो कैसे हो सकता था ? मगर वह शांति चाहता था, सुख चाहता था, प्रेम चाहता था और औरंगज़ेब के ज़ोर जुल्म के लम्बे ज़माने के बाद एक मुगल बादशाह ऐसा चाहे, तो उसे कौन मानने को तैयार हो सकता था ? दिल्ली के अमीर लोग नहीं चाहते थे — मगर उसने अपनी मनमानी की और वह दीवाना बादशाह करार दे दिया गया, बहुत ही कम, यानी पाँच वर्ष के शासन के पश्चात् वह मर गया !

इस और राजस्थान में भी औरंगज़ेब के मरते ही मनमानी शुरू हो गई। जिसके हाथ जितने गाँव लगे, उतने गाँव, छोटे-छोटे ज़मीनदारों ने अपने बना लिये। उनकी अपनी अपनी छोटी रियासतें और राज्य-तन्त्र चलने लगे। उस समय जोधपुर के दीवान खींवशीजी भण्डारी जैसे बहुत ही विचक्षण बुद्धि के व्यक्ति ने अपना प्रभाव जोधपुर एवं दिल्ली की सल्तनत पर भी जमाया था। उनके प्रयत्नों से और बहादुर शाह (मुअज़म) बादशाह के फरमान से जैन साधु-मार्ग के संतों का विशेष प्रभाव पड़ा था।

किन्तु जहाँ छोटे-छोटे गाँवों का प्रश्न था, जैन समाज की आंतरिक दशा नई क्राँति के मूल्यों को अपना कर भी उसका पूरा फल नही पा सकी थी।

१५ वीं शताब्दी में न केवल भारत में, बल्कि सारे युरोप में भी मन्दिर-प्रतिमा और उसकी ओट में चलती पोप-लीलाओं (अनाचार) का प्रबल विरोध हुआ। यहाँ पर भी कई हिन्दु संतों ने भी जड-साधना का मार्ग छोड चैतन्य की साधना का आह्वान किया और बाह्य-मन्दिर-तीर्थ के स्थान पर देह में 'आत्मा' में रहे सच्चे परमात्मा तत्त्व को पहचानने के लिये उन्होंने आह्वान किया। वैसी संत-वाणी भी चल पड़ी।

जैन समाज में लोंकाशाह ने यह क्राँति की और उन्होंने शास्त्र और अन्य आचार्यों के अवतरणों के साथ स्पष्ट शब्दों में कहा कि धर्म के नाम पर मन्दिर-मूर्ति के

साधनों को साध्य मानकर यह ढोंग चल रहा है। साधुता के नाम शिथिलाचार फैल रहा है और भोले लोगों की श्रद्धा के नाम भयंकर स्वार्थ का खिलवाड़ हो रहा है।

मगर जैसा प्रत्येक क्राँति के वाद होता आया है वैसे कुछ स्वार्थी तत्त्वों ने उनके रास्ते पर चलने के वजाय, उनको ही देवत्व प्रदान कर उनकी पूजा और आडम्बर आदि के नाम पर फिर शिथिलाचार फैलाना शुरू किया। अंध-श्रद्धा, भय और वहम का उन्होंने अनुचित (नाजायज) फायदा उठाना शुरू किया। उन्होंने लोंकाशाह को अधिष्ठाता-देव वना दिया और पुनः शिथिलाचार चल पड़ा।

कुछ वर्ष पूर्व ही ५० वर्षों के सतत परिश्रम से जैनाचार्य पू० धर्मदास जी म. सा. ने अपने ज्ञान-तप और संयम से एवं अन्य जैन संतों ने भी शुद्ध चारित्र्य से जैन साधु-मार्ग की महिमा वढ़ाई थी। उसमें भी पू. धर्मदास जी म. सा. का भव्य वलिदान * निरर्थक नहीं गया था। उनके संत लोग भी मारवाड़ में प्रचार कर रहे थे और पूज्य धनाजी आदि उनके ९९ संतों ने राजस्थान, मालवा, मध्य भारत, सौराष्ट्र, कच्छ, गुजरात में नई जागृति फैलाई थी। उस समय दिल्ही के वादशाह पर पू. अमरसिंह जी म. सा. का विशेष प्रभाव पड़ा था और इधर उनके भक्त जोधपुर के भंडारी जी श्री खींवशीजी के बड़े आग्रह से पू. अमरसिंह जी म. सा. ने भी दिल्ही से राजस्थान में आकर नई चेतना को विशेष रूप से जागृत की। विरोधियों ने उनको परिषह देने में फिर भी कोई कमी नहीं की थी। कहीं भूतिये स्थान पर ठहराना, कहीं गोचरी में वाधा डालना, तो कहीं प्रत्यक्ष विरोध सामान्य वात थी!

राजस्थान के इस काल में मेडता से थोड़ी दूर लांविया गाँव था। वहाँ के ठाकुर थे और उनकी ज़मीन्दारी में वारह गाँव लगते थे। ठाकुर के मन्त्री कामदार महेता

---

* पूरा प्रसंग 'जय संत वलिदानी प्रकरण' में है।
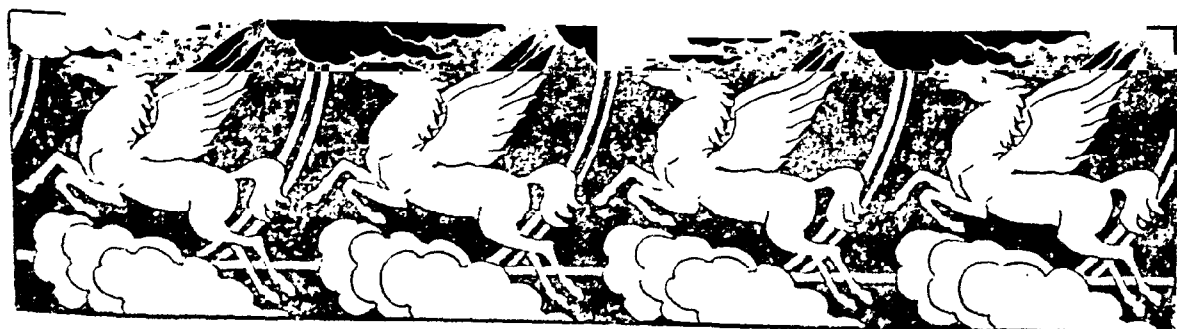
मोहनदास जी ओसवाल वंश के थे। वैसे कामदार, कोठारी भंडारी जाति के ओसवाल कुल वंशज अधिकतर इन छोटी-बड़ी रियासतों का तन्त्र सम्हाले हुए थे। यहाँ से यदि पश्चिम में गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ की ओर चले तो भी वहाँ पर उन्होंने अपनी कार्य-कुशलता एवं राजकीय सूझ-बूझ का अच्छा परिचय दिया था। ये धर्म पूर्वक, न्याय-नीति से राज्य-शासन चलाते थे; इतना ही नहीं, वक्त आने पर हाथ में तलवार लेने से भी नहीं डरते थे।

औरंगजेब की मृत्यु के पहले राजस्थान में जोधपुर राज्य को खालसा (बिन वारिस) करने की दुष्ट नीति के परिणाम से राजस्थान के राजपूत, ठाकुर, जमींदार भड़के हुए थे। उन्होंने समय आने पर जोधपुर का साथ देने का वचन तो दिया किन्तु सभी अपनी-अपनी छोटी रियासत बनाकर पैर मजबूत करना चाहते थे। आये दिन गाँवों की ठकुराई बदल जाती थी। वैसे ही इन परिस्थितियों का फायदा उचक्के-लुटेरे आदि भी ले लेते थे। गाँवों में डाका आदि पड़ना भी मामूली बात थी। और उस समय इन दीवान कामदारों को बहादुरी का परिचय भी देना पड़ता था।

लाँबिया ठाकुर के पास बारह गाँव थे और चूँकि जोधपुर का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और दीवान खींवसीजी भंडारी का महत्व भी बढ़ता जा रहा था; लाँबिया ठाकुर की यही इच्छा थी कि उनकी ठकुराई के बारह गाँवों की स्वीकृति, जोधपुर से मिल जाय, क्योंकि पास में मेड़ता के ठाकुर की नज़र उनके गाँवों पर लगी थी।

महेता जी मोहनदास जी — प्यार से जिन्हें मोहन जी या महेता जी कहा जाता था उन पर लाँबिया ठाकुर का विशेष दबाव था कि वे स्वयं जोधपुर जायें और भंडारी जी खींवसीजी से मिलकर यह स्वीकृति पा लें। महेता जी के मन में कुछ और विचार था!

•

जयध्वज

खंड - 1

बचप
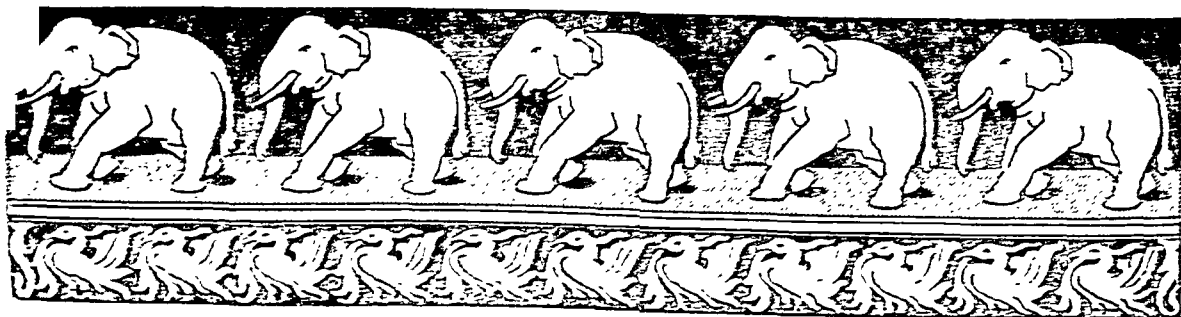
१

जय - विजय

"महेता जी डाका पड़ा है!" दूर से गाँववालों की पुकार हुई।

लाँबिया गाँव पर पास के डाकुओं ने हमला किया था। उन्होंने गुजरवाड़े की ओर घेरा डाला था। उनका इरादा गुजरों की गायें चुराकर ले जाने का था।

भादों का शुक्ल पक्ष था; किन्तु प्रारम्भ के दिन थे। चन्द्र छुप गया था और रात काली हो चली थी। काली रात्रि के मध्य में चेहरे पर बुकानी डाले डाकुओं के चेहरे अधिक भयानक मालूम हो रहे थे। वे कुकृत्य करने पर तुले हुए थे।

वैसे तो वे लाँबिया गाँव पर डाका डालने की हिम्मत नहीं कर सकते थे क्योंकि गाँव के महेता मोहनदास जी के होते हुए कोई इस गाँव पर आँख भी नहीं उठा सकता था। मोहनदास जी हालाँकि लाँबिया ठाकुर के प्रधान कामदार थे और उनका कार्य राजकाज में सलाह-मशविरा देने का था फिर भी जिन्होंने उनके हाथ में चमकती तलवार देखी थी वे जानते थे कि साक्षात् कराल-काल घूमता है।

ऐसा लगता था कि किसी जान-भेदिये ने डाकुओं को समाचार पहुँचाये थे कि आज मोहनदास जी घर नहीं छोड़ सकेंगे क्योंकि उनके यहाँ प्रसव होनेवाला था। बात सत्य भी थी।
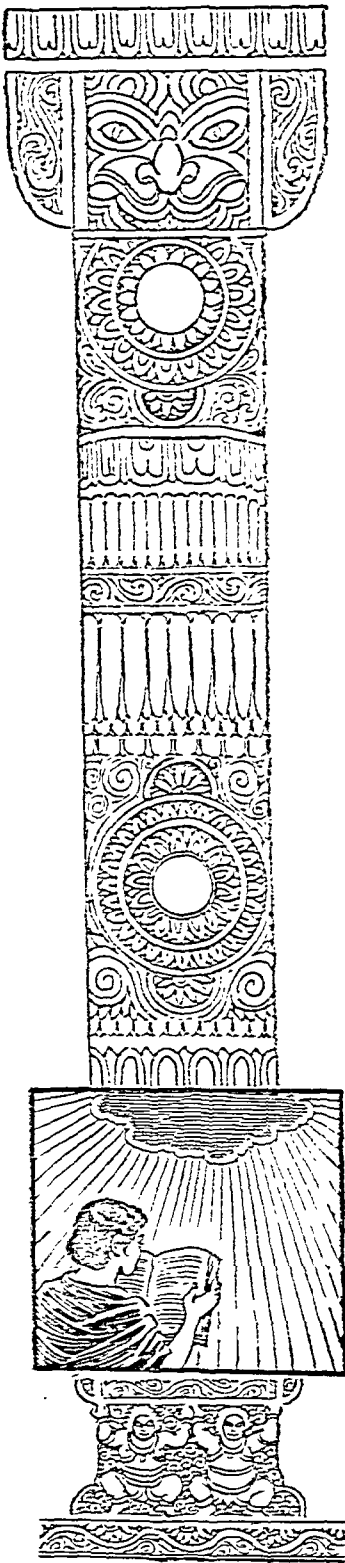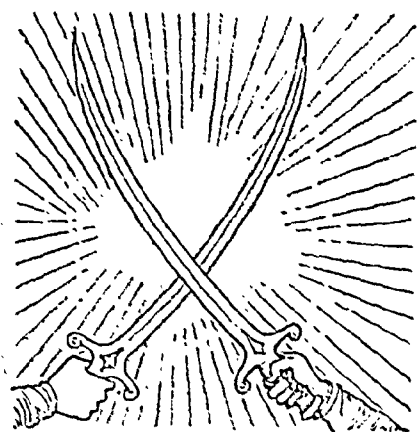
लाँबिया गाँव के दूर कोने में खड़ी उनकी दुमंजिली हवेली पर वे चिंतातुर अवस्था में घूम रहे थे। उनकी पत्नी महिमा देवी प्रसव कष्ट से पीडित थी और उसी समय उनके नाम की पुकार हुई। उन्होंने एक क्षण विचार किया और उनके व्याकुल हाथों ने दीवार पर लटकती हुई तलवार खींच ली। कम्मर पर उन्होंने पट्टा बाँधा और जाने को तैयार हुए। लेकिन पैर पास के खण्ड के द्वार पर जाकर ही रुक रहे थे।

पहले भी धाडे पडे थे। हर समय वे अपनी पत्नी से विदाय लेकर ही जाते थे किन्तु पत्नी की आज की अवस्था में....!

"यदि खुद को कुछ हो गया तो....!" मोहनदास जी पल भर के लिये पत्थर से खड़े हो गये थे।

"आपके पैर क्यों रुक गये?" अन्दर से महिमा देवी ने पूछा। हालाँकि उसे बहुत कष्ट था; फिर भी संकट के समय उसके पति पैर बाँध कर खड़े रह जांय ये उससे सहा नहीं जाता था।

"देवी....!" मेहता जी आगे न बोल सके।

"स्वामी, आप सिधारिये। मैं भी वीर की पत्नी हूँ। वीरों की तरह हमेशा सिधारते हैं वैसे वीर की तरह आगे बढ़िये। मैं आपके विजय की कामना करती हूँ!"

रुके हुए पदचाप को दूर जाते सुन महिमा देवी का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा; मगर रुका हुआ कष्ट फिर से शुरू हुआ। परन्तु उसे संतोष था कि "उसके कारण पति ने घर पकड़ा!" — यह लांछन उसके सर नहीं लगेगा।

* * *

लोगों ने डाकुओं के सामने हाका शुरू कर दिया था। लेकिन विना महेता जी के उनकी स्थिति विना सेनापति की सेना जैसी थी। दूर से महेता जी आते नजर आये।

"लो, महेता जी आ पहुँचे!" — किसी ने कहा।

"इस समय, घर की इस परिस्थिति में भी वे आ गये, सच यह उनके ही वश की बात है!" — दूसरे ने कहा।

सब में नया जोश आ गया। डाकुओं ने भी यह सुना। उनके होश भागने शुरू हुए। महेता जी विजली की तरह आगे लपक गये। उनके पीछे गाँव के पूरे आदमी अपने अपने शस्त्र-अस्त्र व साधन लेकर लड़ने को दौड़ पड़े।

महेता जी की तलवार काली की जीभ की तरह फिर रही थी। उनके तन में न जाने कहाँ से अद्भुत जोश आ गया था! गाँववाले भी दूने जोश में आये। डाकूओं ने भी परिस्थिति भांप ली! वे अपनी जान वचाने की फिक्र में अपने साधन-शस्त्र छोड़कर भाग खड़े हुए। सभी ने महेता जी का जयजयकार किया।

गुजर लोगों ने आकर उनको वहुत धन्यवाद दिया और वे उन्हें आभार से लाद देना चाहते थे। गुजरों के मुखिया ने कहा :—"महेता जी! ऐसा लग रहा था कि आज चांपा जी आपके शरीर में आ गये थे। आज आप नहीं होते तो डाकू लोग गायें ले जाते और भादों सुद ग्यारस को हुआ चांपा जी का मेला फीका ही रह जाता!"

चांपा जी का नाम आते ही सब के हृदय में उस वीर पराक्रमी शींदल राठौड़ राजपूत के प्रति अपार श्रद्धा भर गई। वे पराक्रमी सच्चरित्र पुरुष थे। लाँविया गाँव की कीर्ति उन्होंने वीरगति पाकर राजस्थान में फैला दी थी। यवनों से मोर्चा लड़ते-लड़ते उन्होंने इतना जोश दिखाया था कि शत्रु सेना चकित रह गई थी। कई शत्रुओं को यम-द्वार पहुँचाने पर जब पचासों शत्रुओं की तलवार उनका शीश काट सकी तो धड में इतना जोश वाकी था वह तलवार के साथ शत्रुओं के बीच लड़ते लड़ते चार कोस दूर धनेरिया गाँव में पहुँचे थे।

"हमने चांपा जी को तो देखा नहीं था, मगर आज महेता जी को देखकर लग रहा था कि चांपा जी प्रगट होकर लड़ रहे थे।" — एक वृद्ध ने कहा।

सभी ने उसकी बात का समर्थन किया।

"चांपा जी जैसे हम भी वीर बनें!" — महेता जी ने विनम्र होकर कहा।

चांपा जी का मेला भादों सूद ग्यारस को लगा था। राज्य की ओर से उसकी व्यवस्था हुई थी। उसमें बैल, ऊंट, पुरुष आदि, कितनी ही प्रतियोगितायें हुई थीं। महेता जी ने आज अपने को, वैसा ही गाँववालों की नजर में पाकर प्रसन्नता प्रगट की। वे सब का आभार स्वीकार करके अपनी हवेली की ओर चले। उन्होंने जाते जाते राज-सैनिकों का सशस्त्र प्रबन्ध और भी मजबूत किया।

* * *

महेता जी जब हवेली को लौटे तो सामने से आते हुए सेवक से आँखें मिलते ही जान गये कि जिस अतिथि के आगमन की उन्हें बेचैनी है, वह अभी तक नहीं आया है।

रात ढलने जा रही थी। महेता जी की आँखें बोझल होने लगीं। वे चारपाई पर बैठ गये। उनकी आँखों के आगे गत नव मास के कई दृश्य स्वप्न जैसे उभरने लगे....!

नव मास पहले की बात थी —

मागशीर्ष की शीतल ठंडी के दिन थे; प्रातःकाल था। महिमा देवी उन्हें दूध का प्याला देने आई थी तब उसके चेहरे पर अद्भुत आनन्द छाया हुआ था। महेता जी उसके बदन को गौर से देखने लगे तो उन्हें एक विचित्र-सी आभा बदन पर झलकती दिखाई दी। और वे पूछ बैठे :—"देवी! आज इतनी प्रसन्नता?"

"मैं ही आपको कहनेवाली थी; मगर सोचा कि आप दूध पी लें, बाद में कहूँगी! किन्तु आपने पहले ही मेरे मन की बात जान ली!" महिमा देवी ने कहा।
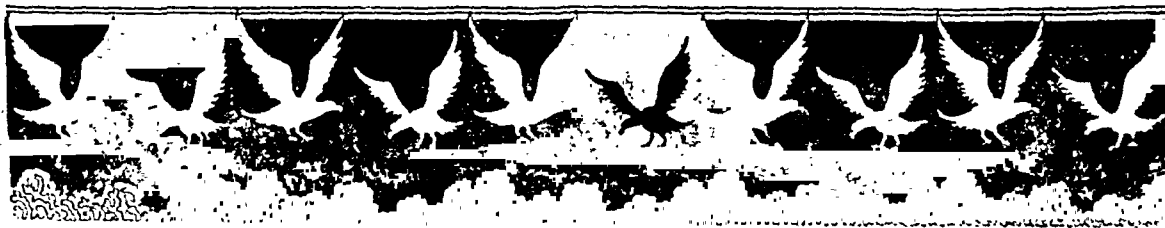
महेता जी के चेहरे पर मुस्कान दौड़ गई। उन्होंने जल्दी ही दूध का प्याला गटगटा लिया। फिर हँसकर बोले :—"लो, तुम्हारी बात भी रह गई! कहो, क्या बात है?"

"नाथ, रात को मैंने एक अद्भुत स्वप्न देखा। जैसे....!" महिमा देवी कहती चली गई :—"कल रात को मैं जब सुख निद्रा में मग्न थी तब अचानक मेरी आँखें पीछली रात को खुल-सी गईं। खिड़की के बहार जैसे चन्द्रमा मेरी ओर हँस रहा था! मैं उसे गौर से देखती रही तो मुझे एक दिव्य आकृति दिखाई दी। मैं उसे देखती ही रही। उसे देखकर मुझमें अद्भुत वात्सल्य भाव जगा। किन्तु मैंने देखा कि मैं अकेली ही उसको नहीं देख रही थी। मानव मेदनी सागर की लहरों की तरह बढ़ रही थी। लोग उसकी जय जयकार बुला रहे थे। राजा महाराज भी उसको प्रणाम कर रहे थे। मैं एक ओर खड़ी खड़ी उसे देखती थी कि वह दिव्य आकृति मेरी ओर बढ़ती गई, बढ़ती गई और मैं कुछ जान सकूं उसके पहले वह आकृति एक चन्दा किरन बनकर मेरे मुख में प्रवेश कर गई! मैं जाग गई; फिर न सो सकी। मगर तभी से मुझे ऐसा चेतन और आनन्द प्राप्त हुआ है कि वह छुपाये छुपता नहीं है!"

महिमा देवी ने बात पूरी की तो उसके वदन पर आनन्द फूट रहा था और इधर मोहनदास जी का मन भी अद्भुत आनन्द से व्याप्त हो रहा था।

"स्वप्न तो सुन्दर था। कोई पुण्यशाली जीव माँ की कोख में आता है तो उसकी माता ऐसा सुन्दर स्वप्न देखती है!" — मोहनदास जी ने कहा।

उसकी आँखों में आनंद नाच उठा। अधरों पर मुस्कान दौड़ गई। महिमा देवी जब उठ रही थी तब उसे लगा कि उसका अंग भारी हो रहा है।

दिन बीतते चले....! थोड़े ही दिनों में मोहनदास जी को ऐसा लगा कि वे जिस कार्य में हाथ डालते थे उसमें उनकी विजय होती थी। क्या राज-काज में, क्या व्यापार में और क्या आसपास के वातावरण में सर्वत्र उनका जय होता था।

मोहनदास जी यूं तो राज-दरबार में कामदार थे, किन्तु उनका स्थान धीमे धीमे राजा के मुख्य मन्त्री जैसा बन गया था। लाँबिया ठाकुर फतेहसिंह जी हर बात में उनकी सलाह लेकर ही चलते थे। उनकी सलाह से लाँबिया की प्रगति होती थी और फतेहसिंह जी की भी कीर्ति बढ़ती थी। ठाकुर के राणीवास में भी मोहनदास जी विशेष रूप से मार्ग-दर्शन के लिये बुलाये जाते थे।

चैत आ गया....!

महिमा देवी को एक दोहला (दोहद) जगा। उसको इच्छा हुई कि नदी में स्नान करे और पास के वन उपवन में विचरण करे। उसने मोहनदास जी से कहा।

हालाँकि वसंत अभी ही आई थी और वृक्षों पर नये पल्लव खिल रहे थे, किन्तु लाँबिया की नदी में पानी नहीं था। पत्नी का दोहद कैसे पूरा हो उस विचार में महेता जी डूबे थे कि उनको पास के गाँव से आये लोगों ने कहा :—"महेता जी तपधारी में बाढ़ आई है!"

तपधारी नदी के नाम से जोजरी नाम की छोटी नदी मेडता के पास बहती थी। उसमें वर्ष में केवल एक बार पूर आता था और वह भी चैत मास में। मोहनदास जी ने विचारा कि समर्थ जीव जब माँ की कोख में होता है तो उसकी माता की इच्छा अपूर्ण नहीं रहती।

उन्होंने तुरन्त ही अन्दर जाकर महिमा देवी से कहा :—"प्रिये! हम आज ही मेडता चलेंगे और तुम्हारा नदी स्नान का दोहला पूर्ण होगा!"

महिमा देवी बहुत ही प्रसन्न हुई। स्त्री के लिये दोहद पूर्ण होना सुमंगल है। मोहनदास जी सपरिवार मेडता को रवाना हुए।

वर्षों के बाद मेडता की भूमि में इन दिनों इतनी बरसात हुई थी कि धरती जल-मग्न हो गई थी। नदी, नाले, पर नाले सभी पानी से वह भर गये थे। सूकी सूकी ज़मीन हरी दिखने लगी थी। पवन में शीतलता आ गई थी।

मेडता में जैसे मेले और उत्सवों की बाढ़ आई हो वैसा अनोखा दृश्य उपस्थित हुआ था। लोग रंग-बिरंगे कपड़ों में घूम रहे थे। औरतें भी अलंकार सजाकर प्राकृतिक महिमा की शोभा बढ़ा रही थीं। लोग बड़े उत्साह से बाग और खेतों की ओर जाते थे। गुजर जाट युवकों के टोले कहीं कही चंग लेकर 'रामदेव' गा रहे थे। उनकी 'तेजो-धोलो....'' के आलाप की तान दूर दूर तक गूँज रही थी।

तपधारीं में बाढ़ आई कि आसपास के गाँवों के लोग गाड़ियों में बैठे यहाँ आ रहे थे। बैलों की दौड़ भी देखते ही बन पड़ती थी। लोगों का आपस में परिचय होता था और सभी नये उमंग में आ जाते थे।

लाँबिया से भी महेता जी मोहनदास जी की बैल गाड़ियाँ भी मेडता आ पहुँची। यहाँ का वातावरण देखकर महिमा देवी का चित्त प्रसन्न हुआ। उसने बहुत ही भक्ति के साथ तपधारी में स्नान किया। आसपास में कई बाग-बगियाँ थीं। महिमा देवी प्रसन्न चित्त से वहाँ घूमती रही। साथ में मोहनदास जी भी रहते ही थे। उनकी आँखें बार-बार यह प्रश्न करती थीं कि "प्रिये! क्या मन का दोहद पूर्ण हुआ?"

—और प्रसन्नतावश महिमा देवी की आँखें स्वीकृति सूचक नज़रों के साथ टकरा जाती थी। उसकी इच्छानुसार महेता जी ने बहुत ही दान-पुण्य किया। जब से शिशु माँ की कोख में आकार ले रहा था तब से महिमा देवी द्वारा दान-सहायता एवं अन्य शुभ-कार्य चालु ही थे। मेडता से सारे परिवार के लोग बहुत ही आनन्द और प्रसन्नता से वापस लौटे।

अक्षय तृतीया आई....!

इसी दिन आदि जैन तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभदेव स्वामी को उनके प्रपौत्र श्रेयांसकुमार ने इक्षुरस का पारणा कराया था। बारह मास तक लोगों को संयम दान

और भिक्षा का महत्व स्वतः समझाने के लिए भगवान ऋषभदेव ने उपवास में ही दिन बिताये थे।

लोगों को समझ में नहीं आता था कि ऋषभदेव को क्या चाहिये? वे अप्रसन्न क्यों दिखते हैं? अरे, घर घर के द्वार जाकर वापस लौट जाते हैं! क्यों? क्या हमसे कोई अपराध हुआ है? उन्हें कैसे प्रसन्न किया जाय?

कोई कन्या लेकर दौड़ता है.... "प्रभु स्वीकार करो! आपकी सेवा करेगी?"

कोई गाय लेकर आता है और कहता है—"महाराज! ये गाय देखो, कामधेनु से भी बढ़कर है!"

तो कोई सम्पत्ति लेकर आगे आता है :—"लो प्रभु! ये धन... अब तो मान जाओ, कुछ तो बोलो!"

ऋषभदेव कुछ नहीं बोलते.... मौन से चल देते हैं। उन्हें न धन चाहिये, न भवन चाहिये—उन्हें चाहिये केवल प्रासुक (निर्दोष) आहार। लोग ये नहीं समझते थे कि क्या इसीलिये वे इस प्रकार घूमते हैं? नहीं.... कुछ और ही बात है।

—और प्रभु वचन से नहीं मगर तप से, संयम से, मन से लोगों को समझाना चाहते थे। अंत में श्रेयांसकुमार ने इक्षु रस का पारणा कराया और तीनों लोक धन्य हो गये।

तप - दान और शुभ भाव के रूप में आज भी जैन समाज में लोग यह वर्षी तप करते हैं और अक्षय तृतीया के दिन पारणा करके अपने को धन्य समझते हैं।

महिमा देवी के मन में भी नाना नाना प्रकार के तप करने का भाव जगा। किन्तु गर्भावस्था के शिशु का विचार करके भविष्य में अनेक प्रकार के तप करने का उसने निर्णय किया। उसे भी वर्षी तप करने की प्रबल इच्छा हुई। जिसमें एक दिन उपवास और पारणा यूं एकांतर में उपवास, वर्ष भर करने पड़ते हैं।

जो धार्मिक संस्कार महिमा देवी के जीवन में उस समय अपने आप प्रगट हो रहे थे उससे उसको स्वयं सानंदाश्चर्य तो होता ही था; महेता जी भी चकित रह जाते थे।

उसमें भी जहाँ कई पास में मुनिवर पधारने का और विराजने का समाचार उसे मिलता वह दर्शन और व्याख्यान का लाभ लेने से नहीं चूकती थी।

और यूँही तो दिन निकलते गये। ग्रीष्म समाप्त हुआ और वर्षा आई; वर्षा उतरी और शरद का प्रारम्भ हुआ। भाद्रपद की उजली रातें आ गई थीं और जिस अतिथि के आने की राह देखी जा रही थी, वह रात भी आ पहुँची थी। साथ ही डाकुओं की टोली भी। महेता जी ने उन्हें अभी मार भगाया था।

ये सब दृश्य उनकी आँखों के आगे से गुज़र चुके। राजकाज में उनका सन्मान बढ़ता जा रहा था। कई बातें वे सुलझा चुके थे और कई सुलझानी थीं।

इसी विचार में प्रातःकाल हो चला...! सूरज की पहली किरणों ने धरती को भी प्रकाशित कर दिया। मोहन जी की नज़र ऊपर की मंजिल पर आये महिमा देवी के खंड की ओर गई। उन्हें सहसा लगा कि वह खंड आलोक से भर रहा है।

वे उठे; उनके मन में शुभ अभिलाषाएँ उठ खड़ी हुईं। उनकी बाँई आँख फडकने लगी। सामने से दाई आ रही थी। दोनों की आँखें मिलीं और दाई ने झुक कर कहा—"महेता जी! बधाई...!"

"बधाई....! बोलो....!!

"कंवर साहब पधारे हैं।" दाई ने हंस कर पुत्र जन्म का निवेदन किया।

महेता जी का चहेरा प्रसन्नता से खिल उठा। उनका हाथ गले पर गया। हार उतार कर उन्होंने उसे पुरस्कार स्वरूप दिया। दाई ने चोकीदार को आवाज़ दी:—"अरे! चुपचाप क्यों खड़ा है? जा, थाल बजाकर खबर कर कि महेता जी के यहाँ कंवर साहब जन्मे हैं!"

थोड़ी देर में लाँबिया गाँव में यह समाचार फैल गया। लोग बधाई देने और मुँह मीठा करने महेता जी की हवेली पर आने लगे। ऐसा लग रहा था कि गाँव में कोई नया उत्सव मनाया जा रहा है। सारा गाँव प्रसन्न था।

२
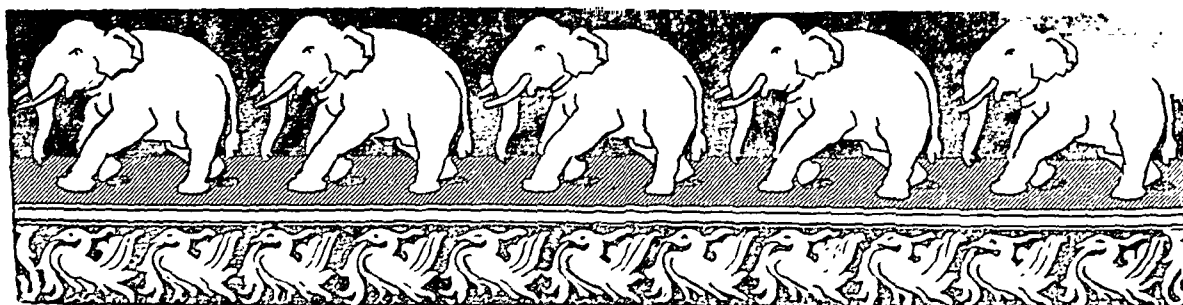
जय - जन्मभूमि

मोहनदासजी सभी बधाई देनेवालों की वधाई स्वीकार कर लेने के बाद विचार में पड़ गये। उनके सिर पर राजकाज का असाधारण भार था। राजकारण की गतिविधियाँ बड़ी टेढ़ी होती हैं। उसमें भी राजा को सही मार्ग - दर्शन कराना और राजा भी उसे स्वीकार करे यही समर्थ राज - नीति थी।

महेता जी के आगे लाँबिया रियासत का पूरा इतिहास पड़ा था। वे कैसे - कैसे उन्नति करते हुए इस पद पर पहुँचे थे ये भी उनके सामने स्पष्ट चित्रों में अंकित था।

ये लाँबिया गाँव भी एक छोटी - सी रियासत ही थी। भले ही उसकी रियासत में गिनती के बारह गाँव ही लगे थे। किन्तु एक समय था जब इसके साथ कुछ ही गाँव लगते थे। तेरहवीं शताब्दी के अंत में कहा जाता है कि राजपूत लंबसिंह ने लाँबिया गाँव का पुनरूद्धार किया था। उसने ही इसे छोटी - सी रियासत का रूप दिया था। उसके पूर्व ये आलंबिका नगरी के नाम से प्रसिद्ध रही हो यह भी किंवदंती है।

आज जहाँ मरूभूमि है वहाँ पर कभी सागर था। सिंधु नदी की धारा इसमें आकर पड़ती थी और यहाँ पर आर्य संस्कृति का पूर्ण प्रचार रहा होगा। कब भयंकर भूकम्प हुआ और कब सिंधु की धारा बदल गई एवं जो सागर था यह पलट गया इसकी निश्चित कहानी कोई नहीं कह सकता था, किन्तु जहाँ पानी का सागर लहराता था, वहाँ पर रेत का सागर, रेगिस्तान हो गया।

पर लोगों में संस्कृति का वह प्रवाह बहता ही रहा।

लोग पुनः वहाँ आने शुरू हुए। उजड़े हुए रेगिस्तान में पुनः जीवन लहालहाना शुरू हुआ। लेकिन उनका जीवन सोचते थे उतना सरल नहीं था। उन्हें कई ओर से विडम्बनायें भी सहनी पड़ती थीं। प्रकृति तो उनके प्रतिकूल ही थी। साथ ही राज - काज में

पानी की कोई कमी नहीं थी। पास ही आधे कोस पर लूणी नदी बहती है। हालाँकि वर्ष के छ मास तक ये सूखी रहती है, फिर भी इसके किनारों के पास के कुँए - बावड़ी वगैरे में जल सरलता से मिलता है और कई बाग - बगीचे देखकर शायद आज भी कोई मुश्किल से ऐसा समझे कि वह रेगिस्तान या मरूभूमि में खड़ा है।

लूणी नदी ही आगे जाकर मारवाड़ को सिंध से अलग करती है। इधर वह गुजरात की सीमा बनाती है और कच्छ के रण तक चली जाती है। नदी के उस किनारे एक कोस की दूरी पर बंजर भूमि है जहाँ वर्षा के दिनों में केवल घास दिखाई देती है और लाँबिया के गूज़र लोग वहाँ अपने पशु चराते हुए दिख पड़ते है।

लाँबिया से थोड़ी दूर पर ही अरावली पहाड़ जो कि राजस्थानी भाषा में प्यार से "आडावलो पार" के नाम से पुकारा जाता है, खड़ा दिखाई देता है, ऐसा मालूम होता है कि पुष्कर (अजमेर) से लेकर आबु तक यह पहाड़ियों की कतारें, आवली बनकर सुन्दर प्रकृति का सौंदर्य छुपाये वन - सुन्दरी की भाँति खड़ी खड़ी अजान ही आगंतुकों का मन आकर्षती है।

लाँबिया भी अपना अलग महत्व लिये इस अरावली की गोद में बसा हुआ था मेड़ता का राज्य हालाँकि मारवाड़ में बड़ा माना जाता था फिर भी लाँबिया का उसमें अपना महत्व था। लोग परिश्रमी थे और राजाओं को अपनी नगरी का विकास प्रिय था। लाँबिया रियासत इसलिये धन - धान्य से सदा परिपूर्ण रहती थी। ज्वार, बाजरा, मकई, मिर्ची तिल, मूँगफली, मूंग, चवला आदि के खेत वर्षा आने पर और भी हरे हो जाते थे। रियासत की प्रमुख नगरी होने से, व्यापारिक मंडी बन गई थी और इससे मेडता के आसपास के लोग अपना व्यापारिक संबंध इस से बनाये रखते थे।

लोग अच्छी तरह जानते थे कि लाँबिया के इस विकास में ठाकुर फतेहसिंह और मानसिंह के साथ साथ महेता, समदडिया कामदारजी का भी बड़ा हाथ है। उनके सुमधुर भाषण और व्यापार संबंधी सुविधायें एवं सुप्रबंध के कारण व्यापारी गण इसकी ओर अधिक आकर्षित होते थे।

अच्छी परम्परा जब बिगड़ती है तो कोई न कोई महापुरुष प्रगट होता है और वह नई स्वस्थ परम्परा देता है। आचार्य श्री रत्नप्रभसूरीश्वर जी ने ओसवाल जाति के रूप में पुनः जैन संगठन किया। एक ओर से अहिंसा के उपासक, और आवश्यकता पड़ने पर तलवार भी हाथ में लेकर मैदान में कूद पड़नेवाले, इस ओसवाल कुल के बुद्धिमान नायकों से बड़े - बड़े राजा - महाराजा भी कतराते थे। विमलशाह ने युद्ध खेला, भामाशाह ने सर्वस्व अर्पण किया और जगड़ूशाह ने अकाल के बारह बारह वर्ष तक किसी को कमी नहीं आने दी। ऐसे थे ये वीर, त्यागी और दानी! तभी इनको शाह जी की उपाधि दिल्ही के बादशाहों ने दी और अपने आपको इनके बाद - शाह, यानी बादशाह कहलाना योग्य समझा।

श्रेष्ठि परम्परा सिर्फ परिग्रह की परम्परा न थी किन्तु भव्य समाजवाद या आदर्श समानवाद उसमें भरा था। कहा जाता है कि उनका एक ऐसा नगर था जिसमें एक लाख श्रेष्ठि रहते थे। और वहाँ पर जो नया आता था उसको प्रत्येक एक मुद्रा और एक ईंट देता था। फल स्वरूप यह भी लखपति बन जाता था और उसका भी लाख ईंटों से भवन बन जाता था।

ये पवित्र और पुनीत विचारधारा मगध बिहार से बहती हुई राजस्थान, मध्य प्रदेश और अरावली की पहाड़ियाँ उतर कर सुराष्ट्र (सौराष्ट्र), कच्छप (कच्छ) और भृगुकच्छ (गुजरात भडोंच) तक पहुँच चुकी थी। वहाँ पर जीवन में नये संस्कार आकार ले रहे थे। गुर्जर लोग भी भृगुकच्छ के आसपास अपनी बस्ती बढ़ा रहे थे और इधर लोगों में जैनाचार्य अपने पूर्ण प्रभाव से नये विचार भरते जाते थे।

ओसियाँ में हुए उस विशाल जैन संगठन का पूरा लाभ मिला जोधपुर, मेडता और अरावली के साथ साथ पाटण, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ को। बदलती हुई परिस्थितियों के बीच भी धर्म पर दृढ़ रहकर राष्ट्र - भक्ति दिखाने में, इनका कोई सानी न था।

ये लौंद्रिया रियासत बनी और अब तक भी टिकी रही उसके पीछे भी ओसवालों की सौदागरी ही मुख्य रूप से थी। वैसे लौंद्रिया रेगिस्तान के किनारे था किन्तु यहां पर

पानी की कोई कमी नहीं थी। पास ही आधे कोस पर लूणी नदी बहती है। हालाँकि वर्ष के छ मास तक ये सूखी रहती है, फिर भी इसके किनारों के पास के कुँए-बावड़ी वगेरे में जल सरलता से मिलता है और कई बाग-बगीचे देखकर शायद आज भी कोई मुश्किल से ऐसा समझे कि वह रेगिस्तान या मरूभूमि में खड़ा है।

लूणी नदी ही आगे जाकर मारवाड़ को सिंध से अलग करती है। इधर वह गुजरात की सीमा बनाती है और कच्छ के रण तक चली जाती है। नदी के उस किनारे एक कोस की दूरी पर बंजर भूमि है जहाँ वर्षा के दिनों में केवल घास दिखाई देती है और लाँबिया के गूज़र लोग वहाँ अपने पशु चराते हुए दिख पड़ते है।

लाँबिया से थोड़ी दूर पर ही अरावली पहाड़ जो कि राजस्थानी भाषा में प्यार से "आडावलो पार" के नाम से पुकारा जाता है, खड़ा दिखाई देता है, ऐसा मालूम होता है कि पुष्कर (अजमेर) से लेकर आबु तक यह पहाड़ियों की कतारें, आवली बनकर सुन्दर प्रकृति का सौंदर्य छुपाये वन-सुन्दरी की भाँति खड़ी खड़ी अजान ही आगंतुकों का मन आकर्षती है।

लाँबिया भी अपना अलग महत्व लिये इस अरावली की गोद में बसा हुआ था मेड़ता का राज्य हालाँकि मारवाड़ में बड़ा माना जाता था फिर भी लाँबिया का उसमें अपना महत्व था। लोग परिश्रमी थे और राजाओं को अपनी नगरी का विकास प्रिय था। लाँबिया रियासत इसलिये धन-धान्य से सदा परिपूर्ण रहती थी। ज्वार, बाजरा, मकई, मिर्ची तिल, मूँगफली, मूंग, चवला आदि के खेत वर्षा आने पर और भी हरे हो जाते थे। रियासत की प्रमुख नगरी होने से, व्यापारिक मंडी बन गई थी और इससे मेडता के आसपास के लोग अपना व्यापारिक संबंध इस से बनाये रखते थे।

लोग अच्छी तरह जानते थे कि लाँबिया के इस विकास में ठाकुर फतेहसिंह और मानसिंह के साथ साथ महेता, समदडिया कामदारजी का भी बड़ा हाथ है। उनके सुमधुर भाषण और व्यापार संबंधी सुविधायें एवं सुप्रबंध के कारण व्यापारी गण इसकी ओर अधिक आकर्षित होते थे।

उन दिनों व्यापार की आय नगर की चूँगी (कर) हुआ करती थी और जितना अधिक मूल्य का व्यापार हुआ उतना ही राज्य को लाभ पहुँचता था। बढ़ते हुए राज्यकोष को देखकर लाँबिया के ठाकुर ने महेता जी को अपना प्रधान मंत्री जैसा बना दिया था।

ये ठाकुर भी विचित्र प्रकृति और धुन के होते थे। कब उनको आवेश आ जाये और कब क्या कर बैठे ये बड़ा ही जटिल प्रश्न था। और इन महेता जी कामदारों की सूक्ष्म बुद्धि का परिणाम था कि वे उन्हें कभी भी गलत मार्ग लेने नहीं देते थे।

वैसे लाँबिया नगरी और वहाँ के शासकों का और भी एक महत्वपूर्ण कार्य था। मारवाड - राजस्थान की सीमा से लगने के कारण यवनों के आक्रमण के सामने ये नगरी चौकी का काम करती थी। प्रारंभ में तो यवन आक्रमणकारी कुछेक बार यहाँ आकर चले गये थे क्योंकि उन्हें यहाँ मुँहकी खानी पड़ी थी। चाँपासिंह जूझार ने अपने पराक्रम से यवनों में वह धाक जमा दी थी कि वे इस ओर मुड़कर आना चाहते नहीं थे।

उसके पराक्रम के बारे में यवन सैनिक और सिपहसालारों में अक्सर ये बात सुनाई देती थी :—"या खुदा! वह इन्सान है या शैतान! सर कट गया तो क्या? धड चार कोस तक लड़ता रहा....! बाप रे बाप!"

ये थे शांदल राजपूत जो कि तेरहवीं सदी तक यहाँ पर कायम रहे। यवनों के अक्रमण इस ओर कम होते जा रहे थे। फलतः गाँवों का और लोगों का बराबर विकास होता चला गया था। किन्तु पीछे के राजपूत नायक कमज़ोर पड़ने से मेड़ता के राव-राजाओं ने इसे अपनी रियासत में मिला लिया।

इस बीच सारे भारतवर्ष पर कई नई - नई घटनायें घट चुकी थीं। यवन लोग अब सिर्फ आक्रमणकारी नहीं रह गये थे; उन्होंने अपने वतन से इस भूमि पर अधिक सुख - वैभव का अनुभव किया। साथ ही इस्लाम के नाम पर वे अत्याचार करके यहां अपनी सल्तनत जमाना चाहते थे। वे लोग उत्तर से दक्षिण में उतर कर सिंधु, गंगा की घाटियों में आगे बढ़ रहे थे। और अब यह निश्चय हो चुका था कि वे लोग यहां पर अपनी हुकूमत चलायेंगे।

इस समय राजस्थान में बहुत कुछ परिवर्तन हो रहा था। कई छोटी-छोटी रियासतें पैदा हो गई थीं। इनका विस्तार मुश्किल से कहीं कहीं पर सौ कोस भी नहीं था। छोटे-छोटे गाँवों के ठाकुर मौका मिलते ही राजा बन जाते थे और यह क्रम चलता रहा।

किन्तु दिल्ही और आगरा में मुगलों के जमने पर यहाँ कि रियासतों में पुनः खलबली मच गई। गुजरात तक मालवा के रास्ते से जानेवाले यवनों का खतरा मेड़ता, जोधपुर, जेसलमेर की ओर कम था; किन्तु अकबर के आने पर नई संस्कृति शुरू हो गई। सिर्फ मेवाड़ के राणा प्रताप को छोड़कर राजा महाराजा सभी उसके शरण में चले गये। राणा प्रताप के इस अदम्य साहस के कारण राजपूतों में पुनः जागृति का दौर आया।

उसके पूर्व अनेक राजपूत एवं हिन्दु लोग भय से या राज्य-पद के लोभ से मुसलमान बन चूके थे। बाहर से आनेवाले मुसलमानों से अधिक इन नये मुसलमानों से लोगों को डर था।

इस बीच धार्मिक ज़ुल्म और कट्टरता का दौर खतम हो रहा था और एक सदी तक दिल्ही के बादशाहों का सभी जाति धर्म के प्रति समान आदर होने से लोग उनका सन्मान करने लगे थे।

किन्तु ये परिस्थिति सुधरी नहीं और औरंगज़ेब के गद्दी पर बैठने के साथ सारी कट्टरता फिर शुरू हुई। परिणाम स्वरूप जो मुगल साम्राज्य राजपूतों की मदद से एकत्र हुआ था उसमें विघटन, विद्रोह और असन्तोष फैलना शुरू हुआ।

रेगिस्तान के किनारे पर आई हुई इन रियासतों में जो समझदार राजा लोग थे, उन्होंने अपने अपने पैर जमाने शुरू किये। लाँबिया की रियासत दो सौ वर्ष से करीब मेड़तियों के अधीन रहने के पश्चात् उदावतों के हाथ आ गई। उनके अधीन बारह गाँव थे।

उदावतों में लाँविया की रियासत पुनः जमानेवाले ठाकुर मानसिंह थे। ठाकुर ज़माना देख चुके थे और समय को परखनेवाले थे। उन्होंने ये भी सुन रखा था कि जैन ओसवाल लोगों में महेता, भंडारी व कोठारी कुल के लोग न केवल बुद्धि में कुशल होते हैं किन्तु समय आने पर तलवार भी पकड़ सकते हैं। ये जहाँ भी रहते हैं वहाँ पर जैन संतों के आवागमन से साहित्य संस्कृति कला का विकास होता है। विमलशाह, वस्तुपाल, तेजपाल, भामाशाह, जगडूशाह, उदामन्त्री आदि की वीरगाथायें भाट चारण लोग गाते थकते नहीं थे। ठाकुर मानसिंह ने इससे प्रेरित होकर अपनी नज़र दौड़ाई और समदडिया कर्णराजजी पर इनकी दृष्टि जम गई। उन्होंने उनको बुलाकर रियासत का "महत्ता"-पद दिया। यही सामान्य भाषा में महेता, और राजस्थानी रंग लगने से मुथा भी वन गया। मन्त्री-पद के साथ इनको ठाकुर ने राज का कोष भी सौंप दिया। कर्णराज जी के आने के वाद रियासत का विकास ही होता चला।

महेता कर्णराज जी के भाई मोहनदास थे। हालाँकि कर्णराज जी उनसे वहुत वड़े थे और कर्णराज जी के पुत्र होने पर भी वे मोहन जी को ही साथ रखते थे। मगर जैसा अवसर आता था वैसे उनसे वड़े प्रेम से कहते :—"क्यों भाई! वात कुछ समझ में आई?"

मोहन जी हमेशा जिज्ञासा-भाव से उनकी वात को विस्तार से समझते थे और कर्णराज जी के जीमने हाथ जैसे वन गये थे। दोनों भाइयों का और उनकी पत्नियों का रणवास में जाना आना होता था। उनकी पत्नियाँ हालाँकि ओसवाल कन्यायें थीं; किन्तु लोग उन्हें भी राजपूती गौरव प्रदान करते थे। जिसमें मोहन जी की पत्नी महिमा देवी को तो सभी महिमादे के नाम से ही पुकारते थे।

कर्णराज जी के द्वारा मोहन जी को अच्छी तरह मालूम हो गया था कि मुगल सल्तनत के दिन लद रहे हैं और दिल्ली वादशाह कुछ भी करें लेकिन अव इन हिन्दु और राजपूत राजाओं को वह वश में नहीं रख सकता था। इस काल के वीच कर्णराज जी ने

बड़ी ही बुद्धिमत्ता व सूझबूझ से लाँबिया रियासत की सत्ता बढ़ा ली थी और अक्सर भाट चारण उनकी स्तुति में ये दोहा ललकार दिया करते थे :—

तारा वारा ताहरा, लाँचिया तणी मुजलाज ।
थाने मूया मानिया मानसिंह महाराज ॥

जब उत्तर अवस्था में वे निवृत्त होने लगे तब ठाकुर मानसिंह ने पूछा कि :— "मुझे और लाँबिया को किसको सौंप के जा रहे हो ?"

बड़े ही विनम्र-भाव से कर्णराज जी ने कहा :—"महाराज ! मैं तो हूँ ही.... लाँबिया नहीं छोड़ रहा हूँ ; मगर आपको मेरा "मोहन" सौंप रहा हूँ !"

राजा मानसिंह ने मोहन जी से प्रश्न किया :—"क्या मैं विश्वास कर सकता हूँ ?"

मोहन जी ने बड़े ही विनम्र-भाव से उत्तर दिया :—"महाराज ! मैं आपके और बड़े भाई साहब की आशा के अनुरूप बन सकूँ !—यही इच्छा है। पूज्य का मार्ग-दर्शन और आपका सहारा दोनों ही मुझे शायद इस लायक बना सके ! बाकी आप तो जानते हैं कि हमारा समदड़ियों का रिवाज़ तो, यही है कि धर्म, जाति व राष्ट्र के लिये खप जाना। जय जन्मभूमि !....यही हमारा आदर्श है !"

मोहन जी महेता बने तभी से निरंतर इस बुद्धि व बल से कार्य करने लगे कि थोड़े दिनों में उनका नाम मेड़ता और जोधपुर तक फैल गया।

* * *

मोहन जी की आँखों के आगे लाँबिया का ये इतिहास, अपना ये विकास सभी दृश्यों के रूप में खड़ा हो गया। उन्हें याद आया कि ठाकुर साहब का उनको बुलावा आया था। वे कुछ गम्भीर राजकारण सम्बन्ध में महेता जी से सलाह-मशविरा करना चाहते थे।

वह बात क्या हो सकती थी...?

३
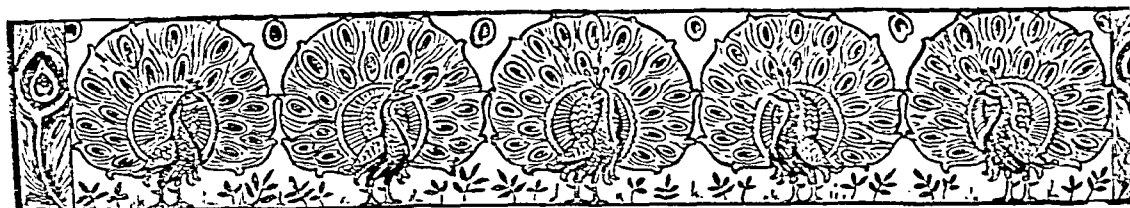
जय - जयमल

मोहनदास जी के पैर राज - महल की ओर बढ़ रहे थे। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि ठाकुर का ये बुलावा किसलिये था?

उन्हें अपने घर की चिंता नहीं थी। कुटुम्बीजन तो थे ही और अपनी पत्नी पर उन्हें विश्वास था कि वह कठिन से कठिन परिस्थिति में से भी गुज़र सकती है।

महिमा देवी का यथा नाम तथा गुण था। और महेता जी को यह भी अच्छी तरह खबर थी कि जब से महिमा के चरण इस हवेली में आये थे तब से उनकी महिमा दिनों दिन बढ़ रही थी। यह पूर्व जन्म की पुण्याई का ही प्रताप था।

जब इनके यहाँ प्रथम पुत्र हुआ तब उन्हें लगा कि उनके यहाँ कि ऋद्धि - सिद्धि में वृद्धि हो रही है। ऐसे सुपुत्र का आवागमन भी पुण्यों का प्रताप ही था। तभी उन्होंने उस बालक का नाम "रीडमल" (रिद्धमल का अपभ्रंश) रखा था। बालक अपने आप में शांत और रिद्धिशालीन था।

अब इस द्वितीय - पुत्र के आने से पूर्व उन्हें जहाँ कहीं भी कार्य करना पड़ा, विजय ही मालूम होती थी। उस दिन की ही बात ले लें जब कि डाकूओं ने डाका डाला था। एक और लोग "चाँपा जी" के मेले से निवृत्त हुए थे और यहाँ महेता जी के घर प्रसव समय था, फिर भी मोहन जी में जो अपूर्व साहस आ गया था उसने सब को चकित कर दिया था।

रात की बात राजमहल तक फैल चुकी थी। ठाकुर की इच्छा यह थी कि मोहन जी को किसी भी तरह इस बहाने प्रसन्न कर अपने मन की बातों में हां करा ली जाये। वे जानते थे कि यह बड़ा ही मुश्किल कार्य था।

इस में भी प्रातःकाल उनके यहाँ पुत्र - रत्न के जन्म का समाचार सुनकर ठाकुर साहब ने एक नई ही योजना बना ली थी और भरे दरबार में ही सब के बीच उनसे हाँ करवा लेनी थी।

जब महेता जी राज-दरबार में पहुँचे तो वहाँ का वातावरण देखकर उन्हें कुछ आश्चर्य का अनुभव तो हुआ; लेकिन राज-काज में रहकर वे एक बात सीख गये थे कि जब तक सामनेवाला बोल न ले अपनी ओर से बात ही न छेड़ी जाय। प्रत्येक बात पर उनकी मुस्कान और नज़र का एक झटका, ये उनके ऐसे अमोघ साधन थे कि सामनेवाले को यह अनुभव होने लगता था कि महेता जी को पूरी बात बताये बिना उनका उत्तर पाना मुश्किल है। जब वह पूरी बात लम्बे रूप से कह जाता तो बहुत ही छोटे से वाक्य से महेता जी उसका वह जवाब देते थे कि बड़े-बड़े राज-नीतिज्ञ भी चुप हो जाते थे। इसी कारण से मेड़ता, जोधपुर, जालोर, बाडमेर, जेसलमेर तक उनका नाम फैला हुआ था।

दरबार में जाते ही उन्होंने ठाकुर सा० को मुजरा किया और वे अपने स्थान पर बैठ गये। एक नज़र उन्होंने सारे दरबारियों पर डाल दी। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि इस दरबार में जो कुछ होनेवाला है उसका हाल सब जानते थे; केवल वे ही नहीं जानते थे। वे सध गये।

ठाकुर साहब उनकी ओर नज़र डाल कर, सारे दरबार की ओर देखकर बोले—"महेता जी, हमारी भी बधाई स्वीकार करो!"

उन्होंने इशारा किया और अनुचर एक थाल में ज़री का साफा-तल्वार और थैली लेकर हाजिर हुआ। ठाकुर ने पुरोहित को कहा :—"महाराज! महेता जी का विधिपूर्वक तिलक करो और इनको अपनी ओर से अर्पण करो!"

पुरोहित जी उठनेवाले ही थे कि मोहनदास जी ने कहा :—"महाराज! सेवक का इतना सन्मान क्यों?"

"क्योंकि आप इसके लायक हैं। कल आपने लाँबिया गाँव की आबरू बचा ली थी। हम पहुँचे, उसके पहले तो लुटेरों को आपने वह चमत्कार दिखा दिया था कि उनको सब छोड़कर भाग जाना पड़ा था!" ठाकुर ने कहा।
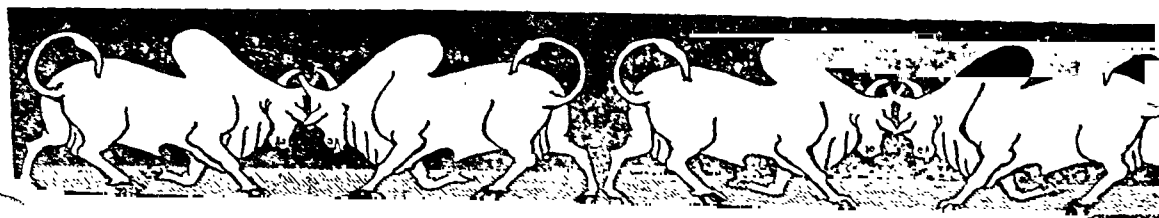
"ठाकुर सा० ! मैंने तो अपना कर्त्तव्य बजाया था !" महेता जी ने कहा।

"ऐसे ही सब कर्त्तव्य बजानेवाले हो जाँये तो लाँबिया निहाल हो जाये !" ठाकुर ने कहा।

पुरोहित जी ने कुंकुम लगाकर थाल आगे किया तो ठाकुर ने अपने हाथों से उनको साफा बँधवाया और कमर में तल्वार लटकवा दी।

महेता जी ठाकुर के इस अभिवादन के लिये तैयार न थे। वे गद्गद् हो गये !

उन्होंने कहा :—"महाराज ! जब तक इस तन में साँस है, मैं लाँबिया की और आपकी हर प्रकार की सेवा करता ही रहूँगा। इतना ही नहीं, मेरा परिवार भी आपकी सेवा में उपस्थित रहेगा।"

"महेता जी ! आपसे यही आशा है !" ठाकुर ने कहा।

पश्चात् राजकारण की बातें चल पड़ीं।

अचानक ठाकुर को याद आया हो, वैसे उन्होंने कहा :—"आपने ये शुभ-समाचार तो नहीं सुनाया कि आपके यहाँ पुत्र हुआ है।"

महेता जी बोले :—"महाराज ! हम लोग किस मुँह से बोले कि हमारे यहाँ पुत्र हुआ है ? ये तो आप तक अपने आप ही समाचार पहुँच जाता है।"

"नहीं, नहीं ! ठाकुर के महेताओं के यहाँ पुत्र-जन्म भी ठाट-माट से उत्सव के रूप में मनाया जाना चाहिये।" ठाकुर ने कहा।

"ठीक है ठाकुर साहब ! आप सही फरमाते हैं, मगर ये तो मेरा पहला पुत्र नहीं है !" महेता जी ने कहा।

"लेकिन जिस पुत्र के आगमन के साथ विजय होती हो उसका उत्सव जरूर मनाना चाहिये। ये आपका नहीं, लाँबिया गाँव का उत्सव होगा !" ठाकुर ने कहा।

उनके इशारे पर एक और थाल लेकर सैनिक आया। उसमें छोटे से शि
योग्य वस्त्र आभूषण वगैरह थे और साथ साथ मिठाईयाँ, फल, मेवा वगैरे के थाल भी

"ये हमारे रनिवास की ओर से!"

मोहन जी आनन्द से देखते रहे। इतने में ठाकुर ने कहा :—"हमने उ
मनाने का आदेश दे दिया है!"

"ठाकुर साहब! आप हमारे परिवार को उपकार के भार के नीचे दबाये जा
हैं।" मोहन जी ने कहा।

"लाँबिया के ठाकुरों को आपसे और भी आशायें हैं। आप हमारे साथ रहें
आप ने हामी भर दीं तो बस अभी मेडता व जोधपुर से निपट सकते हैं।" ठाकुर
जिस उद्देश्य से महेता जी को बुलाया था वह स्पष्ट कहा।

मोहन जी ताड़ गये कि ठाकुर के इतने प्रेम-भाव के पीछे क्या उद्देश्य था?

ठाकुर एक ओर जोधपुर के दीवान खींवशी जी भंडारी से लाँबिया गाँव के
बारह गाँवों की स्वीकृति, मोहन जी को भेजकर करवाना चाहते थे वहाँ दूसरी ओर कुछ
भी गाँव हड़प कर रियासत को फैलाना चाहते थे। महेता जी यह जानते थे, अतः उन्हो
कहा :—"महाराज! अभी समय नहीं आया है!"

"आप बुज़दिली की बातें कर रहे है! दिल्ही के बादशाह की सल्तनत
बगावतें हो रही हैं और यही समय है कि जिन्होंने हमारे गाँव पहले हथिया लिये
उनसे निपट लिया जाय।"

"नहीं महाराज! यह वख्त नहीं है। दिल्ही में भले बादशाह का नहीं चलता
हो; मगर उसकी हालत का सभी फायदा उठाना ही चाहेंगे और इसीलिये यहाँ पर लड़ाई
मोल लेना ठीक नहीं रहेगा।"

"क्या आप हमको कमज़ोर मानते हैं!"

"ठाकुर के भुज-बल का अपमान मैं कैसे कर सकता हूँ? मगर जैसे आप अपनी रियासत को ठीक करने पर तुले हैं, वैसे क्या मेडता के राव और अन्य राजा भी दिल्ही की ढीली नीति और बगावत की स्थिति का फायदा नहीं लेंगे?"

"यानी आप कहना चाहते हैं कि....!"

"....कि जैसे आप पूरी तैयारी कर रहे हैं वैसे वे भी अभी तैयार ही होंगे और इस समय आपको एक से नहीं, दो से निपटना होगा!"

ठाकुर साहब को लग रहा था कि वे नितांत सत्य, मगर उसका कड़ुवा घूँट गले के नीचे उतार रहे थे।

उसी समय उन्होंने महेता जी के मुँह से दीर्घ-दर्शिता का बात भी सुनी :—"ये थोड़े ही समय रहेगा; फिर ये राव-राजा मोज शोख में उतरेंगे तब एक के बाद एक से निपट लिया जायेगा। रही जोधपुर की स्वीकृति की बात! सो समय आने पर ले लेंगे।"

ठाकुर को उनकी बात की दाद देनी पड़ी। मेहता जी जब विदाई लेकर जाने लगे तब ठाकुर ने स्वयं चलकर उनको विदाई दी।

ये महेता जी की नई विजय थी।

गाँव में इस पुत्र-जन्म का उत्सव धूम-धाम से मनाया गया और पुरोहित जी से राशि देखकर नाम ढूँढने को कहा गया तो उन्होंने महेता जी को यही कहा :—"जयमल.... जयराज.... जयसिंह.... जय पर ही उसका नाम निकलता है।"

महेता जी को वर्तमान विजय के वातावरण में "जयमल" ही नाम जँचा और बालक का नामकरण "जयमल" कर दिया गया।

●

४

जय - गुरु ज्ञानदाता
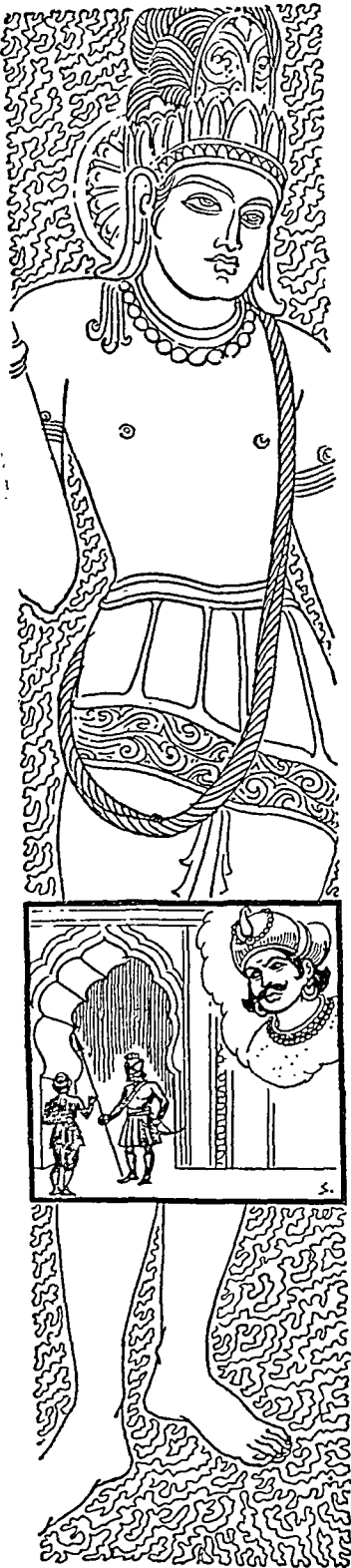
जयमल "यथा नाम तथा गुण" वाली बात को सार्थक करते थे। "बच्चे के लक्षण पालने में" इस कहावत के अनुसार बालक जयमल का सुन्दर मुख, ऊंचा भाल और चमकता हुआ कपाल, बड़ी - बड़ी सुन्दर चंचल मृग - सी आँखें, दीर्घ नासिका और विशाल दृढ़ एवं हृष्ट - पुष्ट शरीर देखकर ही जो भी आते थे वे बालक को अपनी गोद में ले लेने की इच्छा करते थे। जितने भी शुभ लक्षण माने जाँये उतने उसमें दिखते थे। जब वह खिल - खिलाकर हँसता था तब सारे विश्व को अपने मुक्त - हास्य से भर देना चाहता हो, ऐसा मालूम होता था।

बालक तो पवित्रता की मूर्ति होता है। उसे भगवान का दूसरा रूप ही समझा जाता है। वह प्रेम का आदान - प्रदान करनेवाला होता है। माता उस नये जीवन को साँचे में ढालने के लिये न जाने कितने प्रयत्न करती रहती है!

महिमा देवी भी बाल जयमल का इतना ही ध्यान रखती थी। उसको निरख - निरख कर उसके हृदय में ऐसा होता था कि ये बालक आगे जाकर महान बनेगा। वह कभी कभी अपने बालक से बातें करती हुईं जन्म - दिन की रात्रि की याद दिलाकर कह बैठती :—"तू भी अपने बाप के समान पराक्रमी बनेगा न....?"

बालक उसकी ओर देखता रहता....

तभी फिर महिमा देवी बोल उठती : "तू उनके जैसा नहीं, उनसे सवाया बनेगा नहीं ?"

और बालक भी अपने स्मित से सम्मति देता तो महिमा देवी निहाल हो जाती थी।

मारवाड़, मेवाड़ और राजस्थान की नारियों के लिये तो उन दिनों में एक और भी कर्त्तव्य आ पड़ा था। रणबाँके पतिदेव रण-मैदान सिधारते और पीछे, इन्हें न केवल, घर, गाँव और परिवार की इज्जत बचानी पड़ती थी; किन्तु अपने शील-धर्म का रक्षण भी करना पड़ता था। कितनी सती स्त्रियाँ उन दिनों जौहर करके ज़िंदा चिता में जल गई थी कि हमलावर यवनों को भी दाँतों तले अँगुली चबा जाना पड़ता था।

इसलिये मारवाड़, राजस्थान की प्रत्येक स्त्री अपने बच्चे को बचपन से ही वीरता की कहानियाँ सुनाकर देश-प्रेम भरती थी। जिससे आगे जाकर वे बच्चे भी वीर बहादुर बनते थे और देश के लिये मर मिटते थे।

महिमा देवी भी अपने बालक जयमल को ऐसी ही कहानियाँ सुनाया करती थी। कभी-कभी जब बालक जयमल को हाथ ऊँचे कर बन्द मुट्ठियों को ऊपर करता था तब वह बोल उठतीं :—"तू भी राणा प्रताप बनेगा न ?"

और बालक हँस देता तो वह उसे प्यार के चुम्बनों से नहला देती थी। शाम को महेता जी लौटते तब महिमा देवी उनसे हँसकर कहती :—"सुना! अपना लाडला जयमल राणा प्रताप बनेगा!"

महेता जी भी उसे हाथ में लेकर कहते :—"क्यों? क्या बनेगा....?"

और फिर थोड़ी देर उसे देखकर बोल उठते :—"राणा प्रताप को मदद कौन करेगा....भाभाशाह! अब बोल तू क्या बनेगा ?"

महिमा देवी भी गौर से सुनती कि बीच में उनका बड़ा पुत्र रिडमल भी अपना हक्क बताने के लिये आ टपकता और बोल देता :—"पिताजी! ये प्रताप बनेगा और मैं भामाशा बनूँगा।"

"फिर तो जरूर अपने देश का उद्धार हो जायेगा!" महेता जी कहते और रिडमल को भी गले लगा लेते। महिमा देवी ये दृश्य देखकर फूली नही समाती।

कभी-कभी पति-पत्नी के बीच मधुर वार्तालाप भी छिड़ जाता। महेता जी बोल देते :—"देवी! तुम्हारे चरण इस घर में आने पर ही ये सब हुआ!"

महिमा देवी बात काट कर बोलती :—"ऐसी क्या बात है! क्या आपका स्थान पहले ही ऊँचा न था? यह तो लता को ऊँचे पेड़ का सहारा मिल गया....!"

"कुछ भी कहो; तुम्हारे नाम के साथ महिमा धाम में आई!"

"आपको बातों में तो कोई नहीं पहुँच सकता....!"

"तुम तो मुझे पहुँच चुकी हो न? हम तो तुम्हारे ही हो लिये!" महेता जी बोलते।

कभी-कभी महिमा देवी कह बैठती :—"आपको दोनों पुत्र में कौन-सा प्यारा लगता है?"

"दोंनों ही प्यारे लगते हैं; जैसे एक तन की दो आँखें हों! दोनों ही पुण्यवान हैं।"

"बराबर है! यह रिडमल आया तो संपत्ति बढ़ने लगी और जयमल के आने से सभी जगह आपका जयजयकार हो रहा है!"

"हाँ! पुण्यवान जीवों का प्रभाव ऐसा ही होता है।" महेता जी कहते।

इस प्रकार माँ-बाप और बड़े भाई रिडमल से प्यार पाकर बालक जयमल बड़ा होने लगा। वह घुटनों के बल रेंगने लगे और नाना प्रकार की चेष्टायें करके सब का मन प्रसन्न करने लगा।

कभी - कभी रिडमल माँ को आवाज़ देता :—" माँ ! माँ ! देख तो, जय क्या कर रहा है ? "

महिमा देवी बाहर आती और देखती रह जाती कि घुटनों के बल बैठा जयमल खम्भा पकड़ कर उठने की कोशिश कर रहा है। और उसकी बाल बुद्धि और बल के अनुसार वह धीरे - धीरे खड़ा हो रहा है। महिमा देवी उसे उठा लेती और गले लगा लेती—" मेरे लाल....! "

कभी कभी सायंकाल देहली पर महेता जी जयमल को खिलाते बैठे रहते। बाहर की भीतों पर शेर, बाघ, हाथी के चित्र को बालक पकड़ने की चेष्टा करता। कभी ऐसा जान पड़ता था कि जैसे छोटा - सा बालक उन हिंसक पशुओं से प्यार से खेल रहा हो।

ऐसे में महिमा देवी आ जाती और इशारे से महेता जी को वह दृश्य दिखाती। दोनों देखकर आनन्द विभोर हो जाते। महेता जी बोलते :—" क्या, शेर से लड़ाई करेगा ? "

" उसको हराकर काबू में करना — जैसे तुम्हारे पिताजी बड़े - बड़े ठाकुरों को वश में रखते हैं। " महिमा देवी बोलती और महेता जी की ओर देखती। जब बालक दोनों को देखकर हँसता तो उन्हें अनुभव होता कि संसार का सुख यहीं पर समा गया है।

देखते - देखते बालक के दाँत निकलने लगे। गले में और कमर में बँधे कंदोरे छोटे पड़ने लगे और छोटे बालक की छोटी - सी जीभ से जब प्रथम बार महिमा देवी ने स्पष्ट सुना :—" माँ ! " तो वह फूली न समाई।

माता की पाठशाला का कार्य शुरू हुआ :—" बोल.... मा ! हाँ.... हाँ.... मामा ! हाँ.... भा.... हाँ.... भाई ! हाँ पा.... पापा.... पिता....! "

बालक जयमल भी बहुत शीघ्र ही नये - नये शब्द बोलकर सब का मन प्रसन्न करने लगा। माँ ने उसे धीमे - धीमे एक कव्वल से लेकर वस्तुयें खाना सिखाना शुरू किया। बालक खाना खाना सीखने लगा। बैठना, उठना, दो कदम चलना, आँगन पार

करना — सभी बातें धीमे-धीमे बालक को आ गई और अपने नन्हें से पैरों को अपनी बाल-गति में तेजी लाकर वह माँ के गले लिपटता तो माँ उसे अपने आँचल में छुपा लेती।

तीन-चार वर्ष का होने पर जयमल के कदम घर में रहते ही नहीं थे। महिमा देवी चिंता करके थक जाती और वह किसी पड़ोसी के घर में ही बैठा मिलता।

महिमा देवी गुस्सा करने जाती तभी पड़ोसिन कह बैठती :—"वह तो कभी का घर जाने की जिद्द पकड़े बैठा था। कहता था, माता को चिंता होगी मगर मैंने ही बिठा रखा था। सोचा कहीं अकेला जायेगा तो....!"

"तो क्या होता? जैसा अकेला आ गया वैसा चला भी जाता!" महिमा कहती।

"नहीं, महिमा दे....! तुझे डर नहीं लगता; मुझे तो डर लगता है कि कोई इसे उठा जायेगा तो....?"

"कहाँ जायेगा.... वापस मेरे पास ही आ जायेगा!" यों कहकर उसका हाथ पकड़कर महिमा देवी घर को लौटती।

बालक जयमल पाठशाला जाने की उम्र का होने आया।

* * *

राजस्थान और राजपूती रियासतों में उन दिनों एक बात और भी अच्छी तरह देखी जाती थी; वह थी गुरु-शाला या "गुरां सा० की पौशाला = पाठशाला"। जैन साधक वर्ग में एक वर्ग ऐसी भी मान्यता रखता था कि एक जगह स्थिर होकर, यतिवेश में पाठशाला चलाई जाये। कब से ये मान्यता चली आ रही थी ये तो कह नहीं सकते किन्तु करीब-करीब प्रत्येक बड़े नगर में ये "गुरां सा०" की पाठशाला होती थी। वे व्यवहारिक ज्ञान के साथ-साथ धर्म का ज्ञान भी प्रदान करते थे। इनकी एक और भी प्रवृत्ति होती थी रोग का निदान करने की। अतः ये पाठशाला के साथ-साथ औषधशाला भी चलाते थे
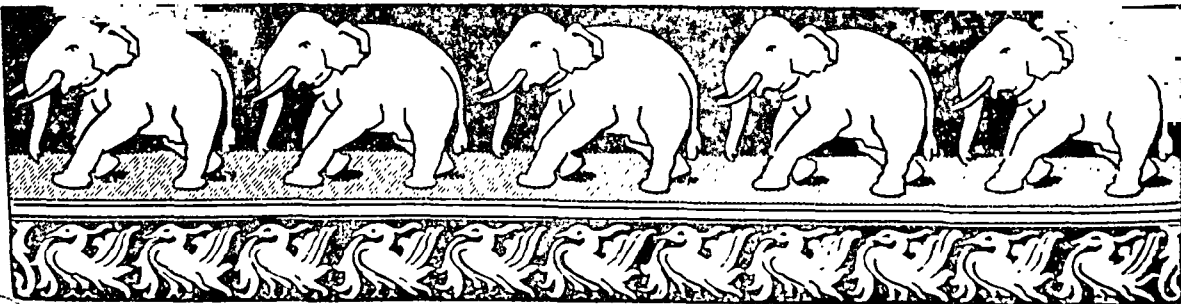
"जयमल....!"

"अच्छा, तो आज अंक शुरू करो ! ये देखो, एक एकम एक....!"

"गुरुजी ! ये तो मुझे आता है, बोलूँ....!"

बालक जयमल ने एक से लेकर ढँचा और उँठा तक के सभी पहाड़े बोलकर सब को दंग कर दिया । गुरुजी ने प्रसन्न होकर बालक को उठा लिया और बोले :—"ये सब तूने कहाँ सीखा ?"

"गुरुजी ! रिड भैया यहाँ पढ़कर घर पर याद करते हैं न, तब मैं सुनता था और मुझे याद हो गया !" बालक जयमल ने कहा ।

गुरुजी ने कहा कि "कल पट्टी और खड़ी मिट्टी लेकर आना । अब लिखना सीख जाओ, तो बस !"

बालक जयमल ने भी सम्मति सूचक मस्तक हिला दिया । जब जयमल के माँ-बाप को इस बात का पता चला तो उनके आनन्द का पारावार न रहा ।

दूसरे ही दिन उसके दूसरे साथी तो मिट्टी में अँगुली से अक्षर-ज्ञान करते थे किन्तु जयमल ने पट्टी पर अक्षर-ज्ञान प्रारंभ किया ।

पाठशाला में उसके कई सहपाठियों में उसकी मित्रता सूरतराम से हो गई । सूरतराम भी पढ़ने में चतुर था और स्वभाव से भी जयमल से उसकी पटती थी । दोनों की बुद्धि के आगे गुरां सा० की पाठशाला के अन्य छात्र फीके पड़ जाते थे ।

दोनों साथी कई बार गुरां सा० की अनुपस्थिति में अन्य बालकों को पाठ पढ़ाते थे और पाठशाला सम्हालते थे । सूरतराम के साथ रहकर बालक जयमल ने और भी कई बातें सीखीं । दोनों ही मित्र जब नदी में पानी रहता तो जाते और वहाँ तैरना सीख गये । नदी की रेत में दोनों अखाड़ा लड़ते और यूँ मल्ल-विद्या भी सीख ली ।

दोनों की मित्रता आगे जाकर भी दृढ़ रही । गुरां सा० भी ऐसे शिष्य को पाकर धन्य हो गये थे ।

५
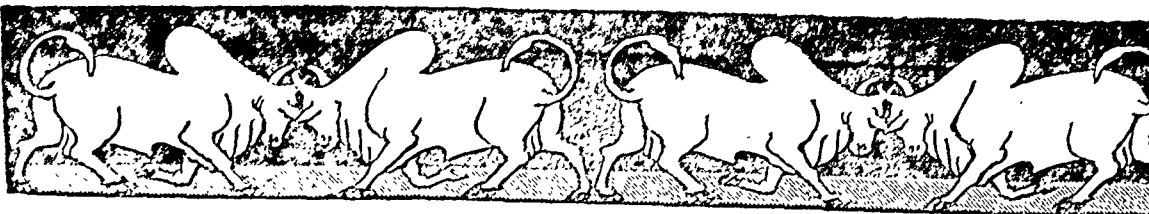
जय - सिद्ध अनंता ज्ञानी

गुरां सा० ने जब देखा कि बालक की बुद्धि इतनी सूक्ष्म और तीव्र है तो उन्होंने उसे उसी भाँति पढ़ाना शुरू किया। महाजनी और व्यापारिक गणित के बड़े-बड़े गुर (रहस्य) उन्होंने बताये।

बालक जयमल सभी ज्ञान को अति शीघ्र ग्रहण करता था। सूरतराम भी उसके साथ-साथ चलता था किन्तु जब गहन विषयों का अध्ययन शुरू हुआ तो वह पीछे रह गया। किन्तु जयमल से उसकी दोस्ती कम न हुई।

आर्थिक और व्यवहारिक अभ्यास के बाद जयमल को राज-नीति और उसके संबन्ध की कहानियाँ गुरां सा० ने सिखाईं। जयमल इन सब बातों को ध्यान से सुनता। कई बार घर में कोई राज-काज की बात आती तो जयमल उस ज्ञान का तुलनात्मक ढँग से अध्ययन करता। महेता जी ठाकुर के दरबार में जाते ही थे। कभी कभी इस जयमल को भी साथ ले जाते थे। जयमल को उससे दरबार और ठाकुरवास की बहुत-सी बातें मालूम हुईं।

वह गुरां सा० से भी दरबार की बातों की चर्चा करके अनेक प्रश्न पूछता। गुरां सा० भी उसे संतोषकारक खुलासा देते।

कई बार गुरां सा० बालक जयमल की ओर इस प्रकार देखते जैसे उन्हें कोई प्रश्न बालक से ही पूछना हो!

जयमल ने उन्हें एक बार कहा भी :—"गुरुजी! आप मुझे इस तरह क्यों देखते हैं?"

गुरां सा० ने कहा :—"जयमल! मैं विचारता हूँ कि तुझे मैं एक और विद्या सिखाऊँ।"

"वह कौन-सी विद्या है....?"

"अध्यात्म विद्या....!"

"वह सिखाइये न!" जयमल ने आग्रह किया।

गुरां सा० ने रुककर कहा :—"मगर एक शंका है कि उसे पढ़कर तूने दीक्षा ले ली तो महेता जी मुझे क्या कहेंगे?"

"क्या वह विद्या ऐसी होती है....?"

"हाँ...!"

"तो मुझे सिखाईये न....!"

"एक वचन दो कि उसे पढ़ोगे लेकिन घर के व्यवहार में भी पूरा ध्यान दोगे — केवल चिंतन-मनन में ही नहीं खो जाओगे!"

"वचन देता हूँ!" जयमल ने वचन दिया।

गुरां सा० ने उस दिन से उसे अध्यात्म विद्या के अंक का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा :—"बेटा! एक एकम एक यानी सभी आत्मा एक-सी हैं।"

"यानी सभी जीवात्मा में जो आत्म तत्त्व है वह एक है! क्यों न गुरुजी?" जयमल ने विश्लेषण करते कहा।

"हाँ! सभी में आत्मा समान है; इसलिये जैसे हमें अपना जीवन पसंद है वैसे ही दूसरों को भी पसंद है। उसे भी अपनी आत्मा से जानो और किसी को दु:ख पहुँचे वैसा काम न करो।" गुरां सा० ने उसे विस्तार से आत्मा, परमात्मा, कर्म आदि का लेखा-जोखा बताया।

अध्यात्म विद्या का अंक दो आया। गुरां सा० ने कहा :—"इन जीवों की अवस्था दो हैं। इस पर से दो का अंक बना कि दो एका दो — यानी अवस्था दो हैं। एक तो संसार की अवस्था और दूसरी सिद्ध अवस्था। जीव के भी दो भेद हैं — त्रस और

स्थावर। चर और अचर। जीव के शत्रु दो हैं — राग और द्वेष। दोनों के अन्त से जीव सिद्ध बन जाता है।"

गुरां सा० ने विस्तार से जीव-विज्ञान जयमल को समझाया। बालक को इसमें रस आता देखकर उन्होंने अपने अध्यापन में यही क्रम चालु रखा। उन्होंने दो के अंक में जीवों के दो प्रकार के भेदों को और भी विस्तार से प्रकाश डाला कि जीवों में पर्याप्त (पूर्णांग) और अपर्याप्त (अपूर्णांग) के भी भेद हैं। इतना ही नहीं, मन और बिना मन के दो भेद "संज्ञी" और "असंज्ञी" भी हैं।

बालक जयमल को भी ये ज्ञान प्राप्ति करने में उसकी जिज्ञासा वुद्धि बहुत ही सहायक होती थी। वह गुरुजी से सवाल करके और भी विस्तार से बात समझता।

तीन का आँक आने पर गुरुजी ने "ज्ञान-दर्शन-चारित्र" रूपी साधना की त्रिपुटि पर प्रकाश डाला। साथ ही "देव-गुरु-धर्म" रूपी जगत संरक्षक अध्यात्म त्रिपुटि पर भी विस्तार से विवेचन किया। जीव विज्ञान में तीन का अंक बताते हुए कहा कि जीव का जन्म तीन प्रकार से होता है, गर्भज समूर्छिम और औपपातिक। इसमें भी, तीन वेद के अनुसार स्त्री-वेद, पुरुष-वेद, और नपुंसक-वेद का भी विवेचन किया।

चार के आँक का और भी पृथक्करण किया गया। जीवों की गति चार हैं — मनुष्य, देव, तिर्यंच, और नारकी। नारकी दुःख ही दुःख और देव सुख ही सुख में रहने से मुक्त नहीं हो सकते। तिर्यंच अवस्था अज्ञान या सीमित ज्ञान की अवस्था है। केवल मानव ही मुक्ति का अधिकारी है; क्योंकि वही चिंतन, मनन और साधना कर सकता है। अतः मानव-जन्म श्रेष्ठ है उसे व्यर्थ नहीं गँवाना।

बालक जयमल के हृदय में "मानव जन्म श्रेष्ठ है उसे व्यर्थ नहीं गँवाना!" यह वाक्य ऐसा जमा कि वह पल-पल किस प्रकार अच्छी तरह बीते, इसी विचार में वह रहने लगा।

गुरुजी ने चार के अंक में और भी बातें बताईं। कषाय चार हैं — क्रोध, मान, माया और लोभ; और ये चार संसार की गति में फिराते हैं तो चार शरण जीव को तारते हैं — अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली का धर्म। इसे धारणा करने के चार उपाय हैं — दान, शील, तप और भाव।

पाँच के अंक में तो और भी कई बातें बताने के साथ पाँच इन्द्रियवाले जीवों का विवरण चला। एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय; उसमें पंचेन्द्रिय अवस्था श्रेष्ठ है। पाँच प्रकार के शरीर और पाँच इन्द्रियों का भी विवरण पूर्वक गुरुजी ने ज्ञान दिया। श्रेष्ठ मानव जन्म, पंचेन्द्रिय शरीर को पाँच आचार से शोभायमान करना चाहिये। ये हैं — ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और वीर्य।

छठे अंक में छ काय का, छ द्रव्य का, साथ ही छ संठाण का और सातवें अंक में सात नय का ज्ञान कराया गया। आठ अंक से आठ कर्म और ९ अंक से नव तत्त्व का सम्पूर्ण ज्ञान दिया गया।

यूं अध्यात्म अंकों की पढ़ाई सम्पूर्ण हुई कि गुरां सा० ने उन्हें महामन्त्र पढ़ाया :—

॥ ॐ नमः सिद्धं ॥

जयमल जान गये थे कि बिना बड़े अर्थ के गुरां सा० कभी उन्हें ऐसा सादा श्लोक-सूत्र नहीं पढ़ने को कहेंगे। उसने वह पढ़ा और प्रश्नार्थक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

गुरां सा० ने कहा, इसके प्रत्येक चिह्न और वर्ण से बड़ी गहरी बात निकलती है। उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया :—

॥ = **बे (दो) लीटी (लकीरें) :** जीव की दो राशि हैं; सिद्ध और संसारी। सिद्ध निष्कर्मी है, संसारी सकर्मी है।

ॐ = **भले :** हे जीव तू! सिद्ध की राशि में मिलने की इच्छा रखना।

० = **मींडु :** शून्य यानी संसार गोलाकार शून्य जैसा ऊँडा कुँआ हैं। उसमें से निकलने का छिद्र है। जो उसमें से निकलेगा तो सिद्ध में मिलेगा।

॥ = **बिलाडी :** जैसे कुँए में पड़ी हुई वस्तु को निकालने के लिये लोह की बिलाई होती है वैसे ही संसार रूपी कुँए से जीव को निकलने के लिये दो बिलाईयाँ है — एक है, देशविरति यानी श्रावक धर्म और दूसरी है सर्व विरति अर्थात् साधु धर्म।

ॐ = **ओगण चोटियो माथे पोटियो :** चौदह राजू लोक प्रमाण में एक अधो - लोक, दूसरा मध्य - लोक और तीसरा उर्ध्व - लोक ऐसे तीन लोक हैं। उनमें उर्ध्व - लोक के चोटी के स्थान पर पैंतालिस लाख योजन के विस्तारवाली ईषत्प्राग्भारा नाम की पृथ्वी है; इसको सिद्धशिला भी कहते हैं। वहाँ एक योजन के चौवीशवें भाग में ३३३ धनुष्य एक बतीस अँगुल जितने विस्तार में लोक के मस्तक पर अलोक को स्पर्श करके है जिसमें सिद्ध के जीव रहते हैं।

न = **ननो वीटालो :** हे जीव! तुझे वहाँ जाना है; [illegible] में मग्न होकर रह रहा है — उससे नीची गति प्राप्त करेगा।

म = **ममो माउलो :** ये संसार जीव का अनादि काल से [illegible] मोह नाम का मामा (मोसालिया) है।

: = **ममा हाथ वे लाड्डा :** पहले कहे गये मोह राजा [illegible] लाड़ू (लड्डू) — काम और भोग हैं। [illegible] भूलावा देकर संसार में से निकलने नहीं देते।

सि = **सेरीराणी चोकडी :** सिद्ध रूप राणी [illegible] लिए चार कषाय की चोकी रखी हुई है। [illegible] चढ़े तो सिद्धि राणी को पा सके; [illegible]

$\overset{v}{\Lambda}$ = **पाछी चार कुंडावली :** अग्यार में पगथियें (ग्यारवें गुण स्थान तक) पर भी पहुँच कर ये धक्का देकर फिर से चार गति की कुण्डावली में (संसार में) डालती है।

ढं = **ढाऊं ढाऊं ढोकलो माथे छोकरो :** हे जीव! तू संसार में हाय-हाय कर गर्भावास में पड़ेगा। वहाँ ढोकले की तरह सीझेगा और छोकरे तेरे सर पर विटंबना करेंगे।

इसलिये यदि तुझे धर्म चक्रवर्ती महाराज की मुक्ति नगरी देखनी है तो सर्व प्रथम तू भी समकितजी नाम के उनके महामन्त्रीश्वर है, उनसे मिल। वे तुझे धर्म महाराज से मिला देंगे।

मगर श्री समकितजी मन्त्रीश्वर के घर जाते रास्ते में घाट आते हैं। वहाँ डाकू रहते हैं—उनके निवारण का उपाय इस प्रकार है।

* * *

गुरां सा० के पास से इस महत्व-पूर्ण सूत्र का इतना विशद् विवेचन पढ़कर जयमल की अन्तर की आँखें खुल गईं।

उसने कहा :—"गुरुजी! आपने मुझे बहुत ही गहरी बात बताई है और मुझे भी लगन लगी है कि मैं जान सकूँ कि आगे क्या रहस्य है?"

गुरां सा० ने कहा :—"पुत्र! तू योग्य है इसलिये तुझे मैं यह ज्ञान दे रहा हूँ। वरना ये ज्ञान हम पीढ़ी दर पीढ़ी अपने उत्तराधिकारी को ही देते हैं। ऐसा लगता है कि हम तो स्वार्थ वश इस ज्ञान का प्रचार करते थे। तू सचमुच ही प्रचार करेगा ऐसी मेरी आशा है!"

गुरां सा० की उम्र हो चली थी और उनको अनुभवी नज़रों में इस बालक जयमल के लक्षण से उनके मन में एक बात प्रश्न कर बैठती थी :—"ये धुरंधर तो होगा ही—

मगर राज - धुरंधर होगा या धर्म - धुरंधर....? राज - धुरंधर होगा तो भी ये ज्ञान रहेगा तो एक दिन धर्म - धुरंधर भी बन सकेगा।"

उनको जयमल पर अनुराग बढ़ता ही जाता था और उन्होंने अध्यात्म पोथी की वर्णमाला का गहरा ज्ञान जयमल को इस प्रकार देना प्रारम्भ किया :—

अ = **आईडा दो भाइडा, बडो भाई कानो :** राग, द्वेष रूप दोनों भाई बड़े डाकू हैं। उनको तुझे पछाड़ना है, इसलिये तुझे सर्व प्रथम मिथ्यात्व रूपी गांठ को भांगना पड़ेगा एतदर्थ —

आ - ा = **आ का काना :** अर्थात् धर्म - कथा रूप यथा प्रवृत्तिकरण करके तुझे अपूर्वकरण के शुभ परिणाम स्वरूप लकड़ी अर्थात् महामुग्दर को हाथ में लेना पड़ेगा। इससे मिथ्यात्व की गाँठ भांग कर, राग द्वेष रूप दोनों डाकुओं को पछाड़ कर और सात प्रकृत्ति रूप क्रियाओं में पराक्रम दिखाकर चोरों को भगा कर तू आगे बढ़ेगा। वहाँ श्री सम्यक्त्वजी नाम के महामन्त्रीश्वर पाँच [1] रूप करके रहे हुए हैं। उनके तू दर्शन करेगा — उनकी तू सेवा - उपासना करेगा। मन्त्रीश्वर प्रसन्न होकर तुझे योग्य जानकर धर्म चक्रवर्ती से मिला देंगे।

इ - ई = **इडि केवली ईडि डकास :** धर्म चक्रवर्ती की सेवा करने से उनकी दो लड़कियाँ हैं। देश विरती छोटी और सर्व विरती बड़ी है। उससे तेरा व्याह कर देंगे।

उ - ऊ = **आऊ आऊ अंकोडा बडे आंकड फांकोडा :** मगर वहाँ पर शंका आदि पाँच [2] आंकडे फांकडे बड़े हैं। वे बड़े रंग रंगीले हैं और तेरा ध्यान सेवा से हटायेंगे। उनकी संगति करेगा तो समकित मन्त्री के चित्त में भ्रम पड़ेगा तो वे तेरे साथ कठोर बनेंगे।

---

1. उपशम, क्षायिक, क्षयोपशम, वेदक और सास्वादन
2. शंका, काकांक्षा, विचिकित्सा, परपाषंड प्रशंसा और परपाषंड संस्तव
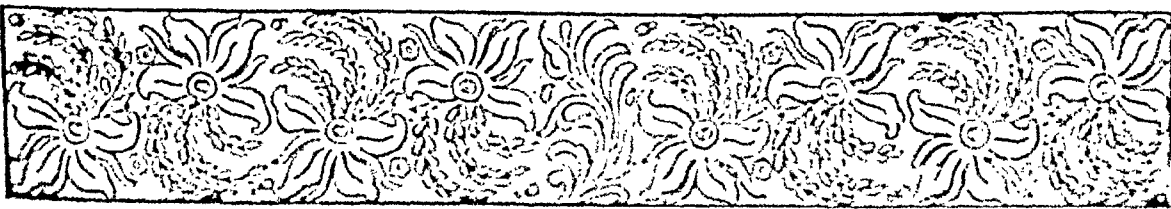
छ = **छछा बँधिया पोटला :** और सिद्धपुर के रास्ते में जिसकी आवश्यकता है वह श्रुत ज्ञान, अंग उपाँग आदि ज्ञान की पोट (गाठरी) बाँधना ।

ज = **जजो जेसल वाणियो :** संसार के जो शल्य (काँटे) चुभे हैं उनको निकालने का वाणिज्य (व्यापार) करना ।

झ = **झझो झारी सारखो :** झारी के जैसा स्वभाव रखना कि मुँह तो छोटा यानी — बात कम करना और पेट बड़ा यानी — कभी दोष प्रगट मत करना ।

ञ = **ञञो खांडो चांद :** खांडा चन्द्रमा के आकार की सिद्ध-शिला है ; वहाँ जाने का साधन रखना ।

ट = **टटा पोलि खांडपु :** अपने नियमों को खंडित मत करना । पच्चक्खाण की पोळ मज़बूत रखना ।

ठ = **ठठा ठोवर गाडुओ :** फूटे घड़े की तरह मत बनना । गुरु के ज्ञान रूपी दिये वरदान को हृदय रूपी घड़े में संचित रखना ।

ड = **डडा डामर गांठे :** बाह्य आडम्बर के द्वारा आभ्यंतरिक कर्मों की गांठ में बँधना मत ।

ढ = **ढढा ढूणो पूंछे :** श्वान की पूंछ के समान वक्र स्वभाव मत रखना, सरल स्वभाव रखना ।

ण = **णाणा ताणा नेले :** मुझे मोह राजा से युद्ध करना है — अतः ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप या तीन गुप्ति रूप सेना (फ़ौज, भाला) साथ में रखना ।

न = **नन्नो नावे नेले :** तप में तत्पर रहना । मगर तपे हुए तेल की तरह मत तपना ।

थ = **थथा थे रखवाली :** मन वश में न होवे तो भी वचन और काया को तो वश में रखना ।

व = ववा मांहे चांदणूं : बोध बीज की वृद्धि करना —
रूप चन्द्र प्रगट होगा।

भ = भभा भारी भेंसको : भैंस की तरह सब कुछ (सूख,
अनन्त काय) खाकर पेट भारी मत करना।

भभियो भाट चूले तरो : भट्टी अथवा चूले की तरह स
मत बनना — शाँति रखना।

म = ममिया मोचक : आठ कर्मों का मोचन करना — मोक्ष

य = ययो यमरा पेटको : यम का पेट बड़ा है — उसका
आलसी मत बनना।

र = रायरोक टार मल्ल : राग द्वेष रूप दो मल्ल हैं; प्रशस्त और अ
दोनों को जीतना पड़ेगा।

ल = लला घोडो लातवा : लोभ रूप घोड़े की लात से दूर रहना।

व = **ववा विंगण वास दे :** कामादिक विहंगों को मन रूपी बाग में घुसने मत देना। वे आत्म - फल चुरा लेंगे।

श = **शशा कोरा मरडिया :** शशांक (ससला) कर्ण न्याय से मत रहना। काल रूप शिकारी गला मोड देगा।

ष = **षषा खूणे फाडिया :** खरा बोलना, खोटा मत बोलना। असावधानी से दर्शन रूपी खुणे फट जायेंगे तो पोटले में से सत्य - शील आदि वस्तु धीरे - धीरे निकल पड़ेगी। खूणे में बैठकर भी पाप करेगा तो उदय - काल में फूटेगा।

स = **सारसे दंती लोक :** मोह राजा से संग्राम करे तब दंती (हाथी) के समान धीर - साहसी रहना। दाँतों से गढ - कोट भाँग (तोड़) देना।

ह = **हा होलो हरिणे कलो :** हरिण के समान श्रोत्रेन्द्रिय में सुख मत मानना— नहीं तो मोह पारधि जाल में फँसा लेगा। तू फाल (छलाँग) मारके भाग जाना।

ल = **लावे लच्छी दो पणिहार :** तब द्रव्य लक्ष्मी —— भाव लक्ष्मी तेरे यहाँ पानी भरेगी। अर्थात् या तो तू अनुत्तर वैमानिक देव बनेगा या धर्म चक्रवर्ती तीर्थंकर बनेगा।

खडीया खाटक मोर पाले बांध्या बे चोर : संसार में षट्कायिक जीवों के आत्मा के जो ज्ञानादिक गुण हैं उनको लूटने के लिये राग द्वेष रूप दो चोर खड़े हैं। उनको पकड़ के, बाँध के कर्म रूप बीज मात्र को नष्ट कर देना। जिससे संसार रूप वृक्ष की वृद्धि न हो। इससे घाती कर्म नष्ट होंगे, केवल ज्ञान प्राप्त होगा। योग - निरोध करके, शैलेशीकरण करके, शुक्ल ध्यान के चौथे पाये, कार्मण शरीर का छेदन करके, क्रिया रहित होकर, तू सिद्ध नगर जायेगा और अनंत सिद्धों में मिलेगा।

मंगल महाश्री दे विद्या परमेश्वरी : वहां पर तू मंगल रूप महा लक्ष्मी (भाव लक्ष्मी) प्राप्त करेगा।

जयमल को ये सिद्धेश्वरी वर्णमाला पढ़ने में बहुत ही आनन्द आता था। गुरां सा० भी उसे एक एक बात का अर्थ और भी खोल कर बताते थे।

जयमल बालक से किशोर और किशोर अवस्था से तरुण अवस्था में आ रहे थे। किन्तु उनका मन एक विचित्र प्रकार के भावावेश में रहता था।

अपने बालक में उम्मर के अनुसार होनेवाले परिवर्तन को महेता जी देख रहे थे। किन्तु विगत कुछ महीनों से बालक की साधक-सी अवस्था उन्हें चिंतित कर रही थी। जिसमें उस किशोर जयमल ने सिद्ध, मुक्ति आदि शब्दों का उच्चारण शुरू किया था। उन्होंने जानना चाहा कि जयमल को क्या पढ़ाया जा रहा है?

वे एक दिन गुरां सा० की पाठशाला में पहुँच गये। गुरु और शिष्य की मुक्त-चर्चा और वह भी अध्यात्म जैसे विषय पर! वे सुन कर मुग्ध हो गये। किन्तु अगले क्षण उन्हें विचार आया कि वे किसलिये आये हैं?

उन्होंने गुरां सा० को दो कर जोड़ प्रणाम किया। गुरां सा ने आशीर्वाद दिया। महेता जी की नज़र को समझ कर गुरां सा ने जयमल को जाने के लिये कहा।

"कैसे पधारना हुआ महेता जी का?"

"वैसे ही। जयमल की पढ़ाई कैसी चल रही है, जानने के लिये।"

"बड़ा ही होनहार है; महेता जी आप के वंश को उज्ज्वल करेगा....!"

"वह तो ठीक है — किन्तु उसे तो शायद आप साधु ही बनाकर छोड़ेंगे?"

गुरां सा० कुछ न बोले....! महेता जी ने कहा:—"आप तो जानते ही हैं गुरां सा० कि मुझे रिडमल से तो अधिक आशा नहीं है — मगर जयमल मेरे बाद महेता बने यह मेरी इच्छा है। आप उसे राजकाज की बातें सिखायें।"

"जैसा आप कहते हैं वैसा ही होगा....!" गुरां सा० ने कहा और महेता जी प्रणाम करके वहाँ से चल दिये। गुरां सा० दुविधा में बैठे ही रह गये।

६
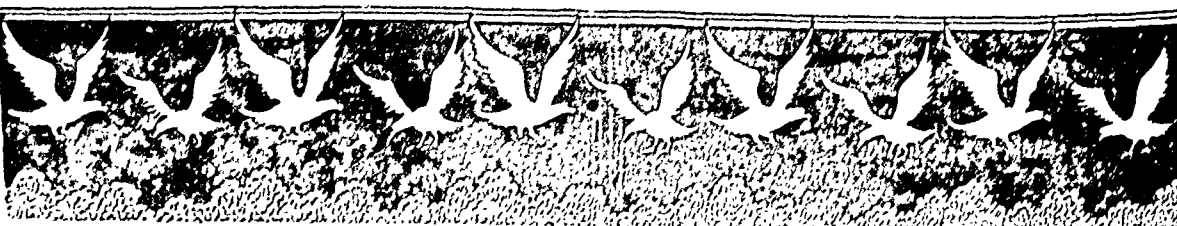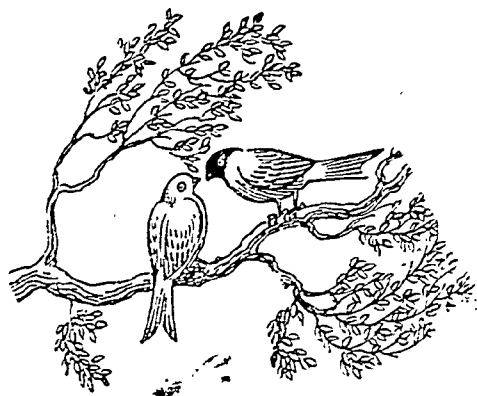
जय - गृहस्थ - धर्म

महेता जी ने अब अपने साथ - साथ जयमल को राज दरबार में ले जाना प्रारम्भ किया। वहाँ के रीत - रिवाज़, भाषा और राज - काज के गहरे दाव पेंचों से वे जयमल को परिचित कराने लगे। जयमल का ज्ञान - पीपासु मन नई - नई बातें ग्रहण करने के लिये आतुर था। उसको इतने रस से राज - काज की बातों में भाग लेते देख महेता जी का मन में कुछ भरोसा था — फिर भी एक आशंका उनके मन को हमेशा कुरेदती थी। गुरां सा० का स्पष्ट संकेत था कि जयमल इस संसार के बन्धन में नहीं रहेगा। महेता जी ये नहीं होने देना चाहते थे।

उन्होंने जो भी प्रसंग मिला उससे जयमल का मन संसार में रंगे वैसा प्रयत्न किया। उनके बड़े पुत्र रिडमल की सगाई हो चुकी थी और अब जितने भी संसारी - कर्म कराने के थे उसमें जयमल को ही प्रधान रखते थे। अपनी पुत्र - वधु को गहने चढ़ाना, साता भेजना, मिठाई भेजना आदि सभी कार्यों में उन्होंने उसको भेजा।

रिडमल के लग्न में भी जयमल को ही सभी बातों में अगुआ किया। जयमल ने भी पूरी लगन से उन सब बातों में अपना कर्तव्य अच्छी तरह निभाया। लग्न धाम - धूम से हुए और रिडमल की पत्नी विनयदेवी घर में आई। उसके आते ही घर में विनय का प्यारा वातावरण आ गया।

विनयदेवी भी नाम के अनुसार गुणवाली थी। वह अपनी सास महिमादेवी की प्रत्येक आज्ञा का पालन करती थी और उसने उसका प्रेम जीत लिया। मर्यादा, शील और विनय - पूर्ण वर्ताव से उसने सब का मन जीत लिया था। जयमल को तो भाभी पर बहुत ही अनुराग था। वह उसे अपनी बहन जैसा ही समझता था।

कभी - कभी देवर भोजाई में मीठा मज़ाक भी छिड़ जाता :—"भाभी! तुम कितनीं अच्छी हो?"

"तो आपको भी मेरे जैसी अच्छी बहू ला दूँ....!"—विनयदेवी उत्तर देकर हँस देती। जयमल भी शरमा जाता था।

महेता जी जयमल के इस परिवर्तन को ध्यान से देखते थे। उनकी इच्छा थी कि जयमल को और भी जवाबदारी सौंप दूँ तो वह घर में ही रम जायेगा।

उन्होंने एक दिन रिडमल और जयमल दोनों को बुलाकर कहा :—"तुम दोनों से एक बात कहनी है!"

दोनों हाथ जोड़ कर पिता की बात सुनने तैयार हुए। महेता जी ने कहा :— "बेटों! तुम तो जानते ही हो कि राज-काज का मामला तो सीधा चलता ही है—मगर ये हमेशा सीधा चले इसका भरोसा नहीं है। कभी राजा की नाराजगी भी हो सकती है इसलिये मैंने लम्बे सोच-विचार के बाद यह निर्णय किया है कि हम व्यापार शुरू करें।

महेता जी ने दोनों पुत्रों की ओर देखा। रिडमल जी बोले :—"आप हमा सब कुछ हैं। आप जो कुछ सोचते हैं, वह ठीक ही है!"

महेता जी बोले :—"वैसे राज-काज में कुटुम्ब के तीनों व्यक्ति फँसे रहे य भी उचित नहीं है। अतः व्यापार हमारा वंश परंपरागत का व्यवसाय है वह हम पुनः शुरू करेंगे। यहाँ दुकान डालेंगे और रिडमल उसे सम्हालेगा, जयमल मदद करेगा!" उन्होंने जयमल की ओर देखा।

जयमल ने कहा :—"जैसा आप उचित समझते हैं वैसा मैं करूँगा। रिड भैया को पूरी सहायता करूँगा!"

महेता जी ने फिर कहा :—"साथ साथ राज-काज में भी तुम्हें मेरी मदद करनी पड़ेगी! व्यापार के लिये, खरीदी के लिये तो जाना ही पड़ेगा। आसपास के मंडी के मथकों पर जाना और साथ ही वहाँ की राजकीय बातों को भी सुनकर आना पड़ेगा।"

जयमल ने विनम्र होकर अपनी स्वीकृति दी। फलतः महेता जी ने दूकान शुरू की और रिडमल उसका कार्य सम्हाल ने लगा। जयमल उसको पूरी मदद देने लगा।

* * *

दिन बीतते चले। दुकान अच्छी चलने लगी थी। रिडमल की मधुर बोली, प्रामाणिकता और कार्य - कुशलता आदि से ग्राहकी बढ़ने लगी। सौदाबाजी करने में और खरीदी करने में जयमल ने भी कुशलता प्राप्त कर ली थी।

महेता जी का अनुभवी दिल अनुभव कर रहा था कि जयमल के मन से अध्यात्म आदि का रंग लगभग धुलने आ रहा है। जयमल भी पूरी लगन से व्यापार में लगा हुआ था।

उसका साथी सूरतरान तो था ही, व्यापार में और भी उसके मित्र बन गये थे। शाम होते ही व्यापार आदि से निपट कर किसी के घर की देहली के बाहर के चबूतरे पर मित्र - गण के साथ जयमल बैठ जाता था। और व्यापार से लेकर राज - नीति और धर्म से लेकर संन्यास तक की चर्चायें होती रहती थी।

व्यापार की रुख परखने में जयमल का कोई सानी नहीं था। फलतः बड़े - बड़े व्यापारी भी उसकी सलाह लेने आते थे कि :—"क्या जय जी! आपकी क्या धारणा है!"

और उनके जय जी की धारणा बहुत - कुछ खरी ही उतरती थी। जयमल का नाम अब आदर से जयमल जी करके लिया जाता था। मेड़ता और आसपास के गांवों में जब वे खरीदी पर जाते थे तो आसपास के गांवों की खरीदीवाले उनसे सलाह लेते थे।

उनका नाम प्रसिद्धि में आने लगा। एक दिन जब वे दूसरे गांव खरीदी पर गये थे कि रियां गांव के भी कुछ बेपारी वहां पर आये। यह रियां शेरसिंह की रियां के नाम से सुप्रसिद्ध है। उन्होंने जयमल का नाम सुना था, किन्तु वे इतने नवयुवक और इतने सुन्दर हैं ऐसा उन्हें ख्याल नहीं था। उनकी धारणा थी कि 'जय जी' — यानी कोई पहुँचा हुआ अधेड़ वय का आदमी होगा। मगर इतने युवक जय जी से मिलकर उन्हें बहुत ही आनन्द हुआ।

उस परिचय का शुभ परिणाम निकला। [illegible] के वे व्यापारी गांव को वापस आये। उन्होंने गांव के बड़े सेठ और [illegible] जी को [illegible] सुनाई।

महेता जी ने वह चिट्ठी ली। उसे खोले बिना ही वे आगंतुकों के चेहरे से ही सब कुछ समझना चाहते थे और उन्हें लगा भी कि वह शुभ-संदेश ही था।

उन्होंने चिट्ठी खोली और पढ़ते-पढ़ते उनके वदन पर प्रसन्नता बढ़ती गई। उन्होंने आगंतुकों से कहा :—“आप आज यहीं पर रहिये। मुझे भी घर में जरा पूछना पड़ेगा और बाद में मैं उत्तर भिजवा दूँगा।”

चिट्ठी में शिवकरण जी ने अपनी लड़की की सगाई उनके चि०[1] कुंवर जयमल जी से हो ऐसी विनति की थी। महेता जी घर के अन्दर गये और उन्होंने महिमादेवी को अलग बुलाकर सभी बात कही। ऐसे अच्छे घर की कन्या के लिये मंगनी की चिट्ठी आई है यह जान कर वह भी प्रसन्न हुई — उसने स्वीकृति दे दी।

महेता जी भी इस कार्य में विलम्ब करना नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि जयमल पर जैसे ही गृहस्थी का भार पड़ेगा वह अपने आप उसमें रम जायेगा और उसके लिये अन्यत्र जाने की आशंका भी नहीं रहेगी।

उन्होंने आगंतुकों को सन्मान के साथ विदाई दी और कुछ दिन बाद दोनों की कुण्डली का मिलान करके उन्होंने स्वीकृति सूचक-पत्र एवं सगाई के पक्के अक्षर लिखने, एक शुभ-दिन आने के लिये लिखा। शिवकरण जी वह पत्र पाकर आनन्दित हुए। वे भी तैयारी में लग गये।

यह खबर शिवकरणजी की हवेली पर पहुँच गई थी। लक्ष्मीदेवी (लाछाँ दे) को भी उसकी सखियाँ गोख से कुंवर साहब को दिखाने ला रही थीं। वह बार-बार ना कहती थी वैसे उसकी सखियाँ उसे गोख के पास खींच रही थीं।

लक्ष्मी का मन उपर उपर से भले ना करता था; मगर मन में कोई उसे कह रहा था : "पगली! देख ले....पिया तोरे द्वार आये हैं!"

ना-ना करके भी उसे गोख के पास सखियों ने लाकर खड़ा कर दिया। उसने बड़ी ही शरम से नैन खोले — नीचे राज-मार्ग पर कुंवर जयमलजी अश्व पर बैठे दिखाई दिये। वह उसे निहारती ही रह गई....!

एकटक उसके देखते रहने पर किसी ने टोका :—"देखा न! मैं कहती थी कि देख लेगी तो बस....!"

"कुंवर साहब ने तो दूर से ही जादू कर दिया है अपनी सखी पर! क्यों लाछाँ....?" दूसरी बोली।

"चलो, हटो री....!" लाछाँ लाड़ करके बोली।

"अब तो यही कहेगी; हम थोड़े ही सुहायेंगे!" तीसरी सखी ने मज़ाक किया।

"हमारी लक्ष्मी तो सचमुच ही भगवान विष्णु को पा गई है!" एक ने कहा।

"वाह यों क्यों नहीं कहती कि भगवान विष्णु ने तप किया तो उन्हें हमारी लक्ष्मी मिलनेवाली है!" दूसरी ने स्वर पिरोया।

तीसरी ने कविता की तुक मिलाते कहा :—

मिली है ये सुन्दर जोडी···
जैसे ये हों शंकर-गोरी!
या हो चन्द्र-चकोरी···!!

और सभी खिल-खिलाट करके हँस पड़ी। बरात उतारे पर चल पड़ी थी और लक्ष्मीदेवी भी सखियों के साथ अपने खण्ड में गई। उसे जयमल भाये थे; सुहाये थे और

मन ही मन उसका रोम - रोम पुकार रहा था कि :—" अरी पगली ! ये तो जनम - जनम की प्रीत के मीत तुझे मिले हैं....!"

वह रात उसकी करवटों में और सपनों में बीती !

*   *   *

आज परिणय का शुभ - दिवस था।

सवेरे से लक्ष्मी देवी का शृंगार हो रहा था। लग्न - मण्डप ऐसा सजाया था जैसे इन्द्र भवन हो ? वहाँ पर जयमल इन्द्र जैसे लग रहे थे ; पास ही बैठी लाँछा दे भी इन्द्राणी जैसी लग रही थी। रह - रह कर उसके मन में तरंगे उठ रही थीं।

पुरोहित मन्त्र पढ़ता जा रहा था।

अन्त में उन्होंने लग्न के मंगल फेरे फिरने शुरू किये। फेरे फिर लिये गये और सभी नारियों ने सुमधुर स्वर में जोर से मंगल - गीत शुरू किये।

लग्न - विधियाँ चलती रहीं। रियाँ गाँव में उत्सव - सा छा गया था। शिवकरणजी के यहाँ तीन दिन तक जिमन चलते रहे — पूरे गाँववालों को उनका न्योता था।

अन्त में पहेरावणी दी गई और शिवकरणजी ने आँखों में आँसू के साथ अपनी कन्या को विदाय दी। विदाय वेला दुखदायी होती है ; मगर सभी दिल थामे बरात की वापसी में लगे थे।

बरात लौटकर लांबिया पहुँची।

पालकी से उतरकर जब लक्ष्मी देवी ने महिमा देवी के चरण छुए तो महिमा देवी ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा :—" मेरे घर बहु नहीं आई है ; लक्ष्मी आई है ! दूधों नहाओ — पूतों फलो !"

लक्ष्मी देवी ने अपनी जेठानी विनय देवी के पैर छुए। उसने आशीर्वाद दिये और कहा :—" हम देवरानी — जेठानी नहीं रहेंगी ; मगर सगी बहन - सी रहेंगी।"

लक्ष्मीदेवी भी इतना प्रेम देखकर आनन्द से भर गई। उसे ऐसा लग रहा था जैसे वह श्वसुर गृह नहीं आई थी मगर अपने ही परिवार में आ गई थी। और वह भी परिवार का अंग बन गई।

जयमल भी अपनी संस्कारी पत्नी को पाकर प्रसन्न थे। लक्ष्मीदेवी तो ऐसे स्वामी को पाकर धन्य हो गई थी।

वह अक्सर स्वामी के चरणों में बैठकर कहती :—"मैंने गत जन्म में पुण्य किये हैं; सो आपको पाया है स्वामी!"

"लाँछा! मैंने भी पुण्य कम नहीं किये होंगे कि तुझ-सी पत्नी मुझे मिली है!" जयमल प्यार से कहते।

"नाथ! आपको जब पहली बार गोख से देखा था तब मेरे मन में क्या आया था जानते हैं?" लक्ष्मीदेवी कहती।

"जानता हूँ देवी....! तुम्हें देखकर पहली बार मुझे जो हुआ था वही कि.... हम....भव भव के साथी हैं!" जयमल ने जवाब दिया।

"तो स्वामी! एक वचन दीजिये....!" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"क्या....?"

"यही कि आप मुझे छोड़कर कभी कहीं नहीं जायेंगे!" लक्ष्मी ने कहा।

"अरे, तुझे छोड़कर कहाँ जाऊँगा; तभी तो लग्न-बँधन में बाँधकर लाया हूँ!"

"फिर भी कभी ऐसा होगा तो जहाँ आप चलेंगे वहीं मैं भी चलूँगी; आपका साथ न छोडूँगी — आप ना नहीं कहेंगे!"

"देवी, ऐसा ही होगा!"

ऐसे प्रेम भरे दो दिलों की बातें सुनकर चन्द्रमा भी खिल उठता था।

●

७

संयम व्यापार
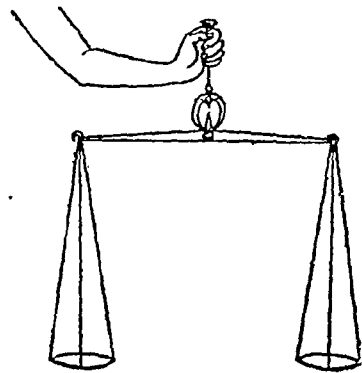
जेठ उतरने आया और आषाढ़ का कृष्ण-पक्ष समाप्त होकर शुक्ल-पक्ष का प्रारम्भ हुआ था। बरसात के बादल मँडराते रहते थे। कभी-कभी उसमें से आकाश को प्रकाशित करता चन्द्रमा निकलता था।

इतने थोड़े दिनों में लाँछा देवी ने सब का मन वश में कर लिया था। उसके प्रीतम की तो वह प्राण-प्यारी थी। किन्तु निकट ही उसके वियोग का समय आनेवाला था।

पहले सावन और भादों में ब्याहिता पति और श्वसुर के साथ न रहे, ऐसा सामाजिक विधान था। कहते थे कि ऐसा होने पर घर में क्लेश पैदा होता था।

किन्तु वास्तविक बात तो यह थी कि उक्त सामाजिक विधान के पीछे एक और परस्पर का प्रेम बना रहे यह भावना थी और नई ब्याहिता को भी न लगे कि उसे पिहर से बिल्कुल हटाया गया है। साथ ही पति-पत्नी कुछ समय अलग रहने से संयम भी रह सकता था जो आदर्श गृहस्थाश्रम के लिये उपयोगी था। बाद में भी बहू को लिवा लाने के लिये पति को ही जाना पड़ता था; और यदि इस बीच कोई प्रकार का अन्तर पति-पत्नी के जीवन में आया हो तो उसे पाटा जाता था।

रियां के महेता, कामदार के यहाँ से स्वजन लाछाँ दे को लिवाने आये थे। महेता जी ने यथेष्ट स्वागत-सत्कार किया और आग्रह पूर्वक ठहराया। फिर सम्पूर्ण तैयारी करके विदाई देने का मुहूर्त देखकर बहू को उनके साथ रवाना की।

विदाई होने के पहले, अगले रात को पति-पत्नी मिले। लाछाँ दे की आँखों में आँसू थे; और जयमल उसे साँत्वना दे रहे थे।

लाछाँ दे का मन रह-रहकर कुछ अनिष्ठ की शंका कर रहा था। जयमल समझा रहे थे कि ये तो सामाजिक रीति-रिवाज़ हैं और फिर वे थोड़े ही हमेशा के लिये न्यारे हो रहे हैं?

लाछाँ दे कह रही थी :—"नाथ! न जाने आज पिहर जाते समय मेरा मन आनन्द से झूमने की जगह आशंकाओं के बीच क्यों गोते खा रहा है ?"

जयमल समझा रहे थे :—"तूने यहाँ सब से जो लगन बाँध दी है! फिर सावन भादों तो यों ही निकल जायेंगे और तुम्हारे यहाँ से समाचार आते ही मैं तुम्हें लिवाने आ जाऊँगा!"

फिर भी लाछाँ दे का मन नहीं मानता था। उसने बहुत ही कड़ा मन करके महिमा देवी के चरण छुए और विदाई माँगी। विनय देवी के भी पैर पड़ी और जाते समय उसकी आँखों से आँसू की धारा बह चली। सब ने कड़ा मन करके विदाय दी....! गाड़ी दिखाई दी तब तक सब देखते रहे।

* * *

सावन बीत गया; भादों बीत गया।

जयमल दुकान को सम्हालते हुए पूरा काम-काज देखते थे। दुकान की खरीदी करीब-करीब उनके हाथों में ही थी। बड़े भैया रिडमल जैसा कहते वैसा वे करते। दोनों भाइयों के मधुर व्यवहार और प्रामाणिकता के कारण व्यापारी लोग और ग्राहक दोनों ही उनसे प्रसन्न थे।

नियम पूर्वक व्यापार करके शाम का भोजन करके इनके मित्रों की एक टोली चबूतरे पर बैठती। उसमें जयमल, रिडमल — दोनों भाईयों के साथ बैठनेवालों में सूरतराम, अमरसिंह, किशनमल, भंवरमल वगैरे मुख्य थे। बात-बात में सब की अपनी, परिवार की सभी बातें निकलतीं। कहीं कुछ तो, कहीं कुछ घर की खटपट रहती थीं; किन्तु महेता जी के परिवार का आपस का प्रेम, बाप-बेटों का प्रेम, माँ और बहुओं का प्रेम एवं आपस में भाइओं और उनकी पत्नियों के प्रेम-पूर्ण व्यवहार की सभी सराहना करते थे। सूरतराम तो हँसते-हँसते यह भी कह देता था कि "स्वर्ग का सुख है तो महेता जी के घर में है!"

इसमें कोई शक नहीं था कि इस परिवार के सभी व्यक्ति आसपास के लोगों की सुख-सुविधा का ध्यान रखना चूकते नहीं थे और सब के आदर-पात्र बने थे।

दिवाली के दिन बीत गये और थोड़े दिनों बाद महेता जी अपनी हवेली के सुसज्जित खण्ड में बैठे थे और आवश्यक पत्रादि देख रहे थे तभी उन्हें खबर हुई कि रियाँ से कोई समाचार लेकर आये हैं।

उन्होंने बड़े ही प्रेम से आगंतुक को बिठाया और क्षेम-कुशल समाचार पूछे; फिर यहाँ पर विशेष आने का कारण पूछा।

आगंतुक ने महेता शिवकरणजी की चिट्ठी दी। इसमें लिखा था कि "अब कुंवर साहब को यहाँ मुकलावे पर भेजें। यहाँ थोड़े दिन हमें भी उनके गाढ परिचय में आने का और उनकी सेवा का लाभ मिले। फिर अपनी पत्नी को साथ ले जावें!"

महेता जी ने आगंतुक की आवभगत की और उसे प्रेम से विदाई करते हुए कहा :—"शिवकरण जी से कहिये कि जैसा वे चाहते हैं वैसा होगा!" उन्होंने तदनुसार चिट्ठी लिखकर भी उसे दी थी।

जब रिडमल घर आया तब उन्होंने उसे अलग बुलाकर वह पत्र पढ़ाया और कहा कि जयमल को भेजने का प्रबन्ध करो। इधर घर के अन्दर महिमा देवी को भी उन्होंने इस बात की खबर कर दी थी।

रिडमल ने जयमल को पिता जी की बात कहकर कहा :—"तुम्हें रियां जाना है और हो सकता है वे तुम्हें पंदरह-बीस दिन रोक रखें। इस बीच दुकान की व्यवस्था देख लो कि किस वस्तु की आवश्यकता है! मेड़ता जाकर खरीदी कर आओ! फिर सुख-पूर्वक रियां चले जाओ!"

जयमल बोले :—"भाई साहब! आप ठीक कहते हैं। पिता जी और आप के कहे पर मुझे चलना ही चाहिये; दुकान के लिये क्या-क्या खरीदी करनी होगी?"
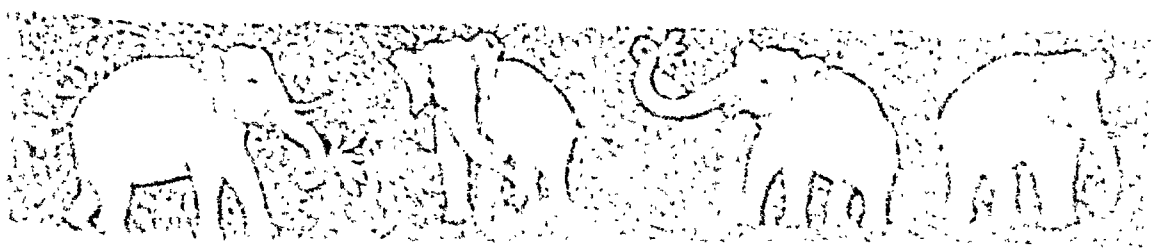
"तुम दुकान में देख लो ; बहुत ही ज़रूरी वस्तुओं की सूची बनाकर उसे मेड़ता से ले आओ।" रिडमल ने कहा।

इधर जयमल ने बाज़ार में जाकर अपने मित्रों से कहा कि मैं खरीदी पर जा रहा हूँ। जो चलने को तैयार हों, वे चलें! उसके मित्र-गण सूरतराम, अमरसिंह आदि जाने के लिये तैयार हो गये। तय हुआ कि दूसरे दिन प्रातःकाल रवाना हुआ जाय और मेड़ता धूप चढ़े उसके पहले पहुँचा जाये। वहाँ से सामान खरीद कर शाम को वापसी हो और गोधूलि के पहले वापस आया जाये।

हालाँकि जयमल सिर्फ खरीदी की ही बात करता था किन्तु उससे मन की प्रफुल्लता प्रगट होती थी और मित्रों को ताड़ने में देर न लगी कि बात कुछ और भी है।

घर में जब जयमल आया तो विनय देवी ने देवर की मीठी मज़ाकें शुरू कीं। इधर-उधर की बातों की चुटकियों में उसे यह भी समझा दिया कि प्रथम बार ससुराल जा रहे हो तो फतेह करके आना....!

महिमा देवी का भी हर्ष समाता न था। विनय देवी से वह आमोद-प्रमोद की बातें करते हुए उन्हें क्या-क्या करना होगा ये भी समझा रही थीं।

विनय देवी कह रही थी :—"लक्ष्मी सचमुच ही लक्ष्मी है ; आते ही सब का मन जीत लिया था!"

"मेरी तो दोनों बहुएँ साक्षात् देवियाँ हैं! जैसे ऋद्धि और सिद्धि दोनों ने इस भवन में प्रवेश किया है!" महिमा देवी कहती।

उसी समय सकुचाये से जयमल को देखकर विनय देवी चुटकी लेती हुई कहती :—"माता जी! बहु को जल्दी बुला लो ; देवर जी बिचारे दुबले हुए जा रहे हैं!"

"भाभी....!" मीठा गुस्सा लाते जयमल बोलते कि महिमादेवी हँसकर कहती :—"उस पर क्यों गुस्सा करता है? वह तो तेरे मन की बात कह रही है। अच्छा यह तो कह कि जाने का कब रखा है?"

"माँ....! कल सवेरे मेड़ता जाकर खरीदी करके आना है; फिर शुभ घड़ी में तुम्हारा आशीर्वाद लेकर जाऊँगा!" जयमल ने कहा।

"मेड़ता की खरीदी बाद में नहीं हो सकती?" माँ ने पूछा।

"भैया का कहना है कि वहाँ पर पाँच-दस दिन अधिक भी लग जायें, तो खरीदी करके रखना अच्छा है!" जयमल ने जवाब दिया।

"तो रिडमल को ही जाने को कहें। जब पहला बुलावा आवे तो उसके बाद कहीं जाना ठीक नहीं मानते!" महिमादेवी ने कहा।

"माँ! भाई साहब का आग्रह है कि मैं ही जाऊँ — क्योंकि खरीदी आदि का कार्य मैं ही करता रहा हूँ....!"

"अच्छा, अच्छा! मगर जल्दी ही लौट आना; तुम्हें बहु को लिवा लाने का है!" महिमादेवी बोली।

जयमल वहाँ से उठे और विनयदेवी ने पीछे से आकर कहा :—"देवर जी! यूं क्यों नहीं कहते कि विन्दनी को रिझाने का माल लेने जा रहे हैं!"

जयमल कब चूकनेवाले थे। उन्होंने तुरन्त ही जवाब दिया : "भाभी! तुम्हें तो अनुभव हो गया है नहीं....!"

"और भी अधिक अनुभव की बातें सुनते जाओ; ससुराल जीतने पहली बार जा रहे हो तो सब विद्या आनी चाहिये!" विनयदेवी ने कहा।

देवर-भाभी में बहुत-सी बातें होती रहीं। विनयदेवी ने कहा :—"जय जी! लक्ष्मी को जल्दी ही आने को कहना; न माने तो मेरी कसम देना....!"

"भाभी! तुम्हारी सब तरकीबें आजमाऊँगा और उसे जल्दी ले आऊँगा; बस....!"

यों कहकर जयमल बाहर गये।

*　　*　　*

दूसरे दिन प्रातःकाल अभी पहो फटने की देर थी कि जयमल अपने मित्रों के साथ गाड़ी पर बैठे मेड़ता के लिये रवाना हो गये।

पूनम की उजली रात थीं। खेतों में अभी बाजरा और ज्वार की बालियाँ झूम रही थीं। ठण्डी-ठण्डी पवन की लहरें ताजगी ला रही थीं। एक साथ सभी बेल गाड़ियाँ रास्ते पर आगे बढ़ रही थीं।

जयमल के मित्र-गण ये जान गये थे कि इस खरीदी के बाद जयमल पहली बार ससुराल जायेंगे और पत्नी को लिवा लायेंगे। उन्होंने छेडछाड और मज़ाक शुरू कर दिया था। जयमल भी खुल कर सभी आनन्द में भाग ले रहे थे।

"सच्चा लक्ष्मीपति तो वह होता है जो लक्ष्मी को अपनी दासी गिने और जब चाहे तब दान कर सके!" सूरतराम ने कहा।

अमरसिंह ने बीच में कहा :—"भाई, लक्ष्मी तो अपने जयमल के हाथ लगी है। अब देखें, वह कैसे दान करता है?"

सभी ज़ोर से हँस पड़े।

किशनलाल ने समर्थन किया :—"भाई! ये लक्ष्मी जैसी तैसी नहीं है। रियाँवाले सेठ — नहीं यार, महेता जी की लक्ष्मी है; सचमुच ही भगवान को ही लक्ष्मी मिलती है!"

"मगर यह तो कहना पड़ेगा कि यह रूप, यह जवानी, यह धन और उस पर ऐसा ससुराल और ऐसी देवी जैसी पत्नी पाकर भी जयमल को गर्व नहीं चढ़ा है!" सूरतराम ने कहा।

"देखें, अब के ससुराल से लौटकर जयमल का क्या रंग रहेगा?" अमरसिंह ने चुटकी ली।

"हमारा तो विचार है कि इस पर जो रंग चढ़ने थे सब चढ़ चुके हैं — ये हमारा साथ तो नहीं छोड़ेगा। क्यों जयमल?" एक और साथी भंवरलाल ने कहा।
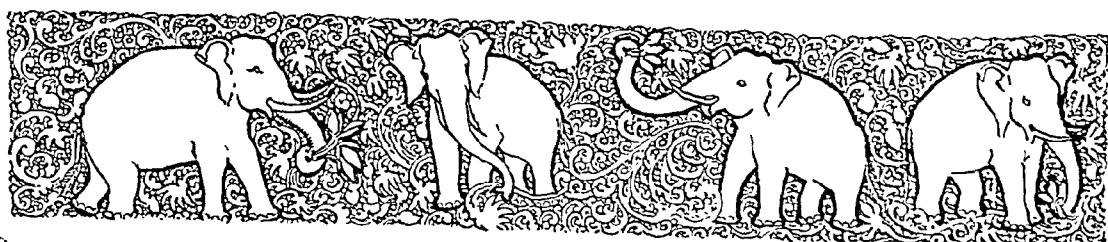
उनके साथ के एक और सन्त थिरपालजी ने ३ ठाणे से गगराणा में चातुर्मास किया था। गगराणा की भूमि ऐतिहासिक थी। यहाँ पर ही सिर्फ ५००० सरदारों के साथ कुछ वर्ष पूर्व महाराजा बख्तसिंह ने जयपुर की लाखों की सेना को हराया था।

बडलू में बख्तावरमलजी का चातुर्मास भी ३ ठाणे से था।

सं० १८११ का चातुर्मास पीपाड़ में सानन्द सम्पूर्ण हुआ। सर्वत्र साधु सम्मेलन और सन्तों के एक होने की बातें चल रही थीं। सभी को सन्तोष हुआ था कि इस प्रकार शासन एकता बनी रहने से, इस कलिकाल में संगठन बल सच्चे जैन-धर्म के प्रचार में बड़ी मदद देगा। पूज्यश्री जयमलजी ने इस सम्मेलन को सफल करने के लिये जो प्रयास किये थे उसकी लोग काफी प्रशंसा कर रहे थे। आहार आदि के बारे में तो कठिनाई थी, पानी के बारे में और भी विशेष कठिनाई थी। फिर भी सम्मेलन में सर्व मान्य समाचारी के लिये उन्होंने हालाँकि मर्यादा के बोलों में न था; फिर भी रस चलित आहार सम्बन्धी "शंकित-दोष" की अपेक्षा से उसे अमान्य रखा था और वैसा आदेश अपने सन्तों को दिया था।

ढाल सज्झाई रचने के सम्बन्ध में उन्होंने प्रचलित पाठ जिसका हवाला दिया जाता था उसे शुद्ध करवाया था। वह इस प्रकार था:—

अभिण्ण दस पुव्वि　　　　ग परं भिन्नेसु भयणा।

र्यंत सम्यक् श्रुत चौदह पूर्वधारी अपितु
परिणत होते हैं यह नियमा (निश्चय) है
त के रूप में भी परिणित हो सकती है।

आगम-सूत्र, अर्थ और उभय उसकी विचारणा
थे आगम को क्षेत्र-काल की भाषा में प्रचारित
सम्बन्ध में कई भ्रांतियां फैल सकने की आशंका
ाव में क्रियायें शुद्ध होना कठिन सी थी। [illegible]

क्षमागणि तक एक पूर्व का ज्ञान ही रहा था। फिर भी आगम लिपिबद्ध होकर मान्य हुए थे तब सज्झायों का विरोध न होना चाहिये।

फिर भी श्रमण-संघ की एकता के निमित्त आगे से विशेष ढालें, सज्झायें नहीं रचने के बारे में एक मर्यादा के रूप में उन्होंने स्वीकार किया था। वे नहीं चाहते थे कि उनके बारे में लोग इस भ्रम में रहे कि "सिर्फ कवितायें, जोड़ कर लोगों को वश में कर लेते थे।" उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी रत्न त्रय भी उतने ही उज्जवल थे और समर्थ आत्म-बल अपने आप प्रगट होता है यह उनका दृढ़ विश्वास था।

पीपाड़ चातुर्मास में मेवाड़ के कुछ धर्म-प्रेमी बन्धु दर्शनार्थ आये। मेड़ता में हुए साधु सम्मेलन की बातें उन्होंने सुनी थीं और इतने सारे सन्तों के दर्शन का लाभ मिलेगा ऐसा विचार कर वे लम्बा सफर कर मारवाड़ आये थे। उन्होंने पूज्यश्री जयमलजी में अनोखी प्रतिभा के दर्शन हुए और उन्होंने सविनय विनति की :—"आप जैसे सन्त मेवाड़ पधारे तो लोगों में बहुत धर्म जागृति होगी और अनेक आत्माओं का कल्याण होगा।"

पूज्यश्री ने कहा :—"आपकी श्रद्धा है तो वैसे आत्म भाव होंगे और पुद्गल स्पर्शना हो सकी तो जैसा आप चाहते हैं वैसा होगा।"

उन्होंने बड़े अनुनय के साथ कहा :—"हम आप से बड़ी आशा लेकर जाते हैं, आप हमारी विनति को मान्य कर हमें उपकृत करेंगे ऐसी आशा है।"

पूज्यश्री ने उन्हें धर्म ध्यान करने को कहा। वे वन्दन करके गये। उनकी भावना सफल हुई और पीपाड़ में चौमासे के बाद जब सभी सन्त मिले तो पूज्यश्री ने विहार का कार्य-क्रम सिरीयारी-मेवाड़ का बनाया।

*　　　　*　　　　*

सं. १८१२ में राजकीय परिस्थिति ने भारतवर्ष में नया मोड ले लिया था। दिल्ही की सल्तनत का शहन्शाह आलमगीर था। किन्तु वह नाममात्र का था। उसका
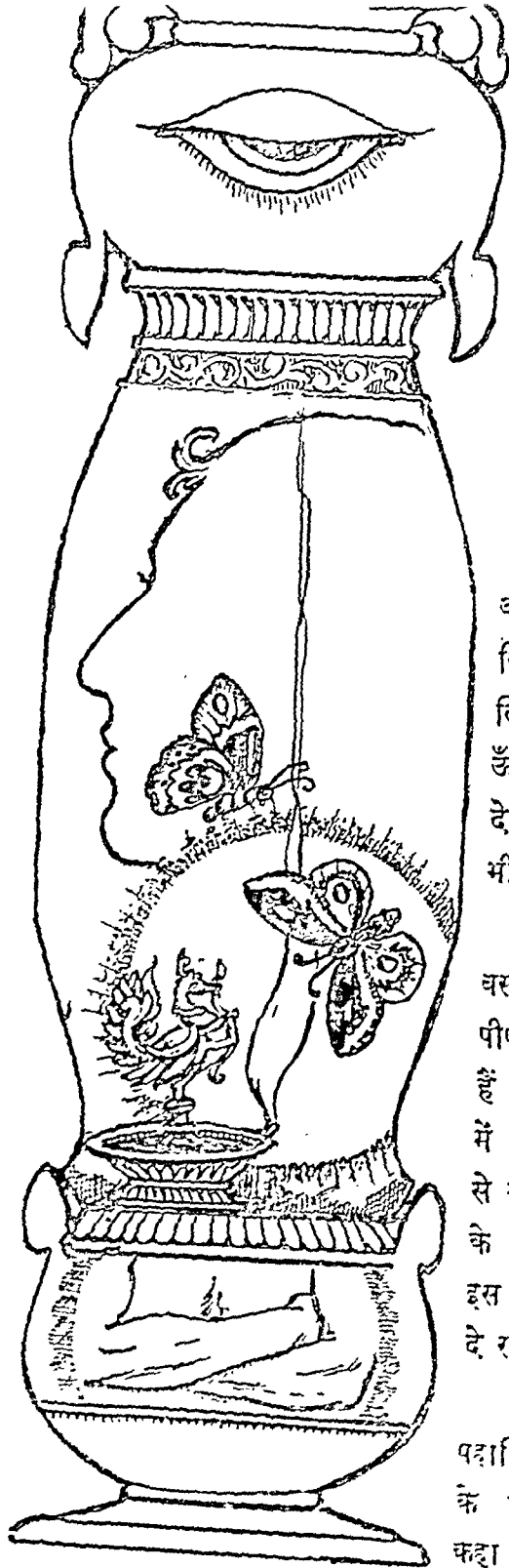
५४

जय - सिरियारी संत

अन्त में विहार का दिन आ गया।

सिरियारी के लोग दूर-दूर तक पहुँचा आये। कुछ लोग उत्साह में सन्तों के साथ सिरियारी की इस घाटी को पार करने साथ हो लिये। जैसे भारत की सरहद पर खैबर घाटी, ऊँची ऊँची पहाड़ियों के बीच है और भारत को अन्य देशों से अलग करती है वैसे सिरियारी का ये पहाड़ भी दो प्रान्तों को अलग करता है।

इस ओर मरुधरा में आया सिरियारी नगर बसा था तो दूसरी ओर तलहटी में मेवाड़ का पीपली गाँव बसने से इसे पीपली का घाटा भी कहते हैं। हालाँकि ये पहाड़ दो-तीन कोश की लम्बाई में फैला हुआ है; किन्तु रास्ता पत्थर और चट्टानों से भरा पगदंडी सा था। घुमाव फिराव और झाड़ियों के कारण वह और भी भयंकर सा दिखता था। इस भयंकरता में भी प्रकृति ने अपना सौन्दर्य दे रखा था।

पगदंडी सा रास्ता कभी तो दो ऊँची ऊँची पहाड़ियों के बीच जाता था। कभी-कभी चट्टानों के ऊपर गुफा सी दिखाई देती थी। [illegible] कहा जाता था कि इस पहाड़ी घाट [illegible]

जंगली हिंसक पशुओं का निवास रहता था। शेर, चिते और वनपशु का यहाँ निवास स्थान था।

सुनसान रस्ते पर चलते-चलते कभी थोड़ी सी आहट पाकर सभी चौंक उठे। यह स्वाभाविक था और कभी कहीं दूर से गर्जन सुन कर सभी सहम जाते थे। कोई कह बैठता था कि :—"बापजी! यहाँ सिंह रहते हैं....!"

पहाड़ी से सट कर, रास्ते में वृक्ष, लता आदि थे। चौमासा उतरने के कारण अभी वे हरे-भरे और फल-फूलों से लदे सुहाने लगते थे।

अब्दाली को हराने भेजा। रास्ते में उसे मल्हारराव होल्कर मिला और दत्ताजी सिंधिया को उसने दक्षिण में बुलाया। पूरी मराठा सेना दिल्ही की ओर कूच कर रही थी।

इधर मारवाड - राजस्थान में भी आपसी युद्ध शुरू हो गया था। बख्तसिंह की सेना को देखकर मराठा सेना एक बार तो भाग गई थी, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद रामसिंह ने पुनः राज्य प्राप्त करने का विचार किया। वह जयपुर के राजा माधवसिंह के यहां था। वहीं उसने विजयसिंह के अभिषेक और अन्यान्य राजाओं की स्वीकृति के समाचार भी प्राप्त किये। एक मात्र जयपुर की सहायता से उसे कुछ भी करना असंभव सा लगा। इसलिये उसने जयअप्पा सिंधिया की मराठी सेना से सहायता चाही।

मराठी सेना की सहायता मिलते ही रामसिंह ने जयपुर की सेना के साथ मारवाड की ओर प्रस्थान किया। मराठी सेना के दो उद्देश्य थे। एक तो पूर्व हार का बदला और दूसरा मारवाड को लूटना। जयपुर के राजा की वर्षों से मारवाड को जीतने की इच्छा वंशपरंपरा से थी, जिसकी पूर्ति होते दिखती थी।

यह समाचार जोधपुर में मिलते ही राठौर सरदारों के आगे महाराज विजयसिंह ने कहा :—"मराठाओं के आते ही, हमारा देश पुनः बर्बाद हो जायेगा। अतः इन लूटेरों को पहले भगा देना चाहिये ओर अपने बल के बूते पर उन्हें दिखा देना चाहिये कि मारवाड का राज्य सस्ते में नहीं है।"

पुनः मेड़ता में राठौर सेनायें इकट्ठी होने लगीं।

मेड़ता का भाग्य ही कुछ ऐसा था कि जहाँ पूर्व काल में सन्तों का सम्मेलन हुआ था, वहाँ पर फिर शस्त्रों के साथ सेनायें इकट्ठी होने लगी थीं। सैनिक गतिविधि से हालाँकि व्यापारिक प्रवृतियाँ बढ़ जाती थीं; किन्तु सुरक्षा के ख्याल से लोगों में घबराहट भी बढ़ जाती थी और बहुत से अपने कुटुम्बी जनों को सुरक्षित स्थान में पहुँचाते थे।

रामसिंह ने महाराष्ट्रीय सेना के साथ पुष्कर तीर्थ में आकर विजयसिंह को सन्देशा भिजवाया :—"मारवाड़ का सिंहासन सौंप दो या अपना विनाश बुला लो।"

महाराजा विजयसिंह ने यह आदेश पत्र पढ़ा जिसे सुनते ही राठौर वीर उत्तेजित हो गये और उन्होंने युद्ध का निर्णय जाहिर किया। विजयसिंह ने उत्तर भिजवाया :—"सिंहासन माँगने से नहीं मिलते।"

युद्ध आरम्भ हो गया। राठौर सेना ने पूरा पराक्रम दिखाया और रामसिंह की हार पास में ही थी; किन्तु दो घटनाओं ने सारा मामला बदल दिया।

एक तो यह हुआ कि एक राठौर सेना विजय करके लौट रही थी, उसे शत्रु सेना समझ कर दूसरी राठौर सेना ने हमला किया और बाण एवं तोप के गोलों से उसका नाश किया।

दूसरा प्रसंग यह हुआ कि रूप नगर का राज्य किशनगढ़ के राजा ने ले लिया था और राजा सामन्तसिंह वैराग्य प्राप्त कर वृन्दावन में हरिकीर्तन करता था। बार-बार पुत्र के कहने पर भी उसे राज्य सुख की कतई इच्छा नहीं होती थी। अत: रूप नगर के राजकुमार ने रामसिंह के साथ मिल कर अपना भाग्य आजमाना चाहा।

हार निश्चित थी; तब सिंधिया ने उसे बुला कर कहा :—"अब हमें जाना पड़ेगा। किन्तु आपका कुछ उपकार कर सके तो कहिये।"

रूप नगर के राजकुमार ने सिंधिया को थोड़ा ठहरने के लिये कहा और युक्ति प्रयुक्ति कर उसने अपने आदमी को राठौर सेनापति महनोत सामन्त के पास अश्व पर भेजा। उसने जाकर तुरंत से कहा :—"अब क्यों लड़ाई? विजयसिंह लड़ते-लड़ते घायल हो गये हैं!"

उसने उस बात को सत्य मानी और युद्ध बन्ध करवा दिया : "विजयसिंह मर गये।" समाचार फैल गया। सामन्त गण भागने लगे। एक लाख की सेना होते हुए विजयसिंह देखते रह गये और आगे क्या करना....? उन्हें सूझा नहीं। वे नागौर की ओर चल दिये।

बीकानेर और किशनगढ़ के राजा भी अपनी सेना के साथ भाग गये। सिंधिया की सेना ने लूट मचानी शुरू कर दी।

"जैसे गुरुदेव मुझे कह रहे हैं तू चेत सके तो चेत! और मैं जीवन को उत्सर्ग मार्ग पर लगा देना चाहता हूँ! यहीं पर आत्म समाधि में बैठ जाना चाहता हूँ।" उदय मुनि ने कहा।

"तुम्हारी बातें सुन कर मेरी आत्मा भी उन्हीं भावों में लीन होती जा रही है। हम दोनों साथ खेलें, साथ बड़े हुए और साथ ही संयम लिया और साथ ही आत्म उत्सर्ग करेंगे।" केशव मुनि ने कहा।

"फिर विलम्ब क्यों! बस, चेत सके तो चेत!" उदय मुनि ने कहा :—
"यही क्षेत्र उत्तम दीखता है और यहीं पर पृथ्वी से संथारा पचक्ख कर आत्म उत्सर्ग कर लेंगे।"

"मैं भी यहीं संथारा करूँगा; साथ संथारे में भी निभावेंगे।" उदय मुनि ने कहा।

विजयसिंह ने एक बार राजा को समझाने और मराठाओं से लड़ने का विचार कर जयपुर की ओर प्रस्थान किया। किन्तु वहाँ पर उनकी हत्या का षड़यन्त्र रचा गया है यह जान कर वे वापस नागौर आये जहाँ पर मराठाओं ने घेरा डाला।

विजयसिंह हालाँकि घेरे में था; फिर भी कहा जाता है कि एक अफघान सरदार ने एक षड़यन्त्र रच कर जयअप्पा को कत्ल करने की चाल बताई। जयअप्पा इसी समय बीमार पड़ गया था और विजयसिंह से अपने वैद्य सूर्यमल से उसका इलाज करवा के ठीक करवाया था। अतः जयअप्पा को कुछ विश्वास सा बैठ गया था। इसी विश्वास के अनुरूप तीन अफघानों ने उसके खेमे में जाकर जयअप्पा को छुरी से मार दिया।

इससे उत्तेजित होकर मराठा सेना ने बदला लेने भयंकर संहार प्रारम्भ किया और लूट मार चला कर उन्होंने विजयसिंह को अठार मास बाद सन्धि करने पर विवश किया। जिसके परिणाम स्वरूप अजमेर मराठाओं के हाथ गया और वहाँ के आसपास के बहुत सा भाग भी गया। मारवाड़ में चौथ वसूली का हक़ भी उन्हें मिला। उन्होंने रामसिंह को थोड़ा सा प्रांत दिलवाया; किन्तु वह उस पर बहुत दिन तक अपना प्रभाव न जमा सका। मराठा अजमेर में अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे कि अब्दाली के आक्रमण के कारण सारी मराठी सेना उत्तर की ओर गई। रामसिंह को अन्त में विजयसिंह की दया पर रहना पड़ा जिसने उसे सांभर का परगना दिया और जयपुर के राजा ने भी अपने अधिकार का सांभर का हिस्सा दिया। यहीं पर उसने जीवन का शेष काल अच्छी तरह बिताया।

इस युद्ध काल में जीवन अस्थिर सा हो गया था। वैसे तो सारे भारत में उथल-पुथल मची हुई थी; किन्तु मेड़ता-नागौर आदि मारवाड़ में प्रचण्ड युद्धाग्नि के शिकार से बने हुए थे।

पूज्यश्री जयमलजी आदि सन्तों का सं० १८११ का चातुर्मास पीपाड़ था और उन्होंने वहाँ से पूर्व विचार के अनुसार मेवाड़ की ओर विहार करने के लिये प्रस्थान किया।

जोधपुर से पूज्यश्री रुघनाथजी ने विहार किया और उन्होंने सोजत की ओर प्रस्थान किया। अगला वर्षावास उनका सोजत ही था। पं० श्री कुशलजी म० सा० का चातुर्मास
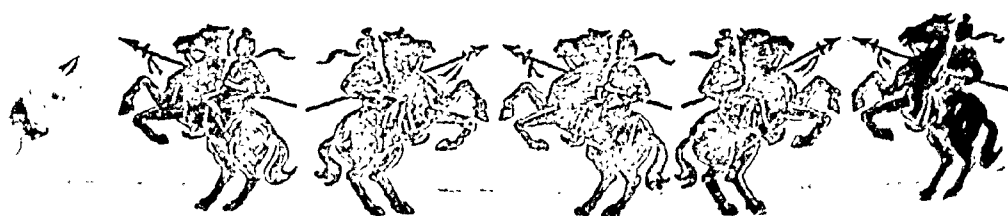
पूज्यश्री ने उनसे कहा :—"क्या वास्तव में ऐसा निश्चय कर लिया है ?"

दोनों ने संमति बताते हुए कहा : "हमारी आत्मायें ऐसे भावों में विचरण कर रही हैं कि सांसारिक आहार - पानी आदि की कामनायें नहीं हो रही हैं। अद्‌भूत आनंद, उल्लास ओर आत्मभाव जग रहे हैं। यह स्थान, आप जैसे गुरु ओर जीवन का उत्कर्ष यहीं साधना चाहते हैं।"

पूज्यश्री ने दोनों के चहेरे पर द्रष्टि डाली ओर उन्हें लगा कि संत जो कह रहे हैं इसके पीछे आत्मा की श्रद्धा है। फिर भी वे मौन रहे।

दोनों संतों ने कहा :—"आपने 'चेत सके तो चेत' से हमारी आत्माओं में चेतना भरी है ओर आपके सानिध्य में वे उत्सर्ग मार्ग पर अग्रसर होना चाहती हैं।"

पूज्यश्री ने उनकी द्रढ़ता देखकर संथारा पच्छक्खा दिया। ओर संतों को दोनों ओर सिरीयारी और पीपली भेज कर श्री संघों को सूचित कर दिया। अन्य संत भी उनकी सेवा में विराजमान हो गये।

मुनिश्री उदयजी और केशवमुनिजी का संथारा प्रारंभ हो गया। सिरीयारी, पीपली एवं अन्य निकटवर्ती गांवों के श्रावक जन एकत्रित होने लगे। पूज्यश्री भी उनको विविध धर्म प्रवचन सुनाने लगे। मृत्यु महोत्सव, समाधिमरण, भक्त प्रत्याख्यान, संथारग्रहण्णा आदि दोनों संतोंने सुना। अंतिम समय तक उनकी समाधि अवस्था में आत्म तेज बढ़ता ही गया था।

मुनिश्री केशवजी का संथारा नव दिन में सिद्ध हुआ। जिस शिलाको विलोक कर उन्होंने आत्म उत्सर्ग का संकल्प किया था, वह वहीं पर अब भी खडी थी। पुद्‌गल दोनों थे किन्तु एक अभी तक जड के समान खडी थी जब कि अन्यने आत्मा का उत्सर्ग कर दिया था। शायद केशव मुनिने यही अनुभूति की होगी कि "यदि मनुष्य देह प्राप्त कर,

सिरीधारी था और पू० श्री जयमलजी आदि का उधर ही विहार होने से वे आसपास के प्रदेशों में विचरण करने लगे।

मेवाड की ओर विहार करने के पूर्व पूज्य जयमलजी और पू. रघुनाथजी के संतों का पुनः मिलन हुआ। पुनः साधु संमेलन आदि की चर्चायें हुई और अनेक विषयों की चर्चायें चलीं। मेडता के पास पुनः युद्ध शुरू होनेवाला है, यह भी समाचार मिले और मराठा सेनायें अजमेर के पास इकट्ठीं हो रही हैं। उनके साथ जयपुर की भी सेनायें हैं यह भी समाचार मिले।

संतों ने इससे घबराये लोगों को स्वस्थता और सांत्वना देने का उपदेश दिया।

इन्हीं दिनों पूज्य अमरसिंहजी म. कालधर्म प्राप्त हुए (सं. १८१२) ऐसे समाचार प्राप्त हुए। सभी संतों ने समाचार मिलते ही चतुर्विंशति स्तव का पाठ किया।

सभी ने उनके यशस्वी संत जीवन को याद किया। २४ वर्ष की युवान अवस्था में, परिणिता को त्याग कर आपने पूज्य लालचन्दजी म. सा. के पास संयम लिया था।

आपका जन्म दिल्ही में सं. १७१९ में हुआ था। माता का नाम कमलादेवी और पिता को नाम देवीसिंहजी था। आपका व्याह हुआ किन्तु वैराग्य में मन रंगा और चोवीश वर्ष में आपने गृह संसार त्याग दिया।

सं. १८६१ में आपको आचार्य पद दिया गया और भंडारी खींवशीजी के आग्रह पर आप मारवाड पधारे। वहां पर यति वर्ग द्वारा दिये गये परिषहों को सहने के उपरांत विजयी हुए और सच्चे जैनत्व का आपने प्रचार किया।

पंजाव, दिल्ही, आग्रा, दोआब भरतपुर आदि आपके विहार के मुख्य क्षेत्र रहे। वहां के अगिनित लोगों को आपने जैन बनाये और जैन-धर्म का प्रभाव फैलाया।

चार पांच वर्ष पूर्व दिल्ही की राजनैतिक परिस्थिति बिगड़ने पर आपके परामर्श पर उस तरफ विचरण करनेवाले वहुत से पूज्य आचार्य और संत सतियों का विहार राजस्थान की ओर हुआ और सं. १८१० एवं ११ में दो बार साधु सम्मेलन करा कर जैन श्रमण एकता बनाने एवं साधुमार्ग की समाचारी की एकता बनाने में ९० वर्ष की उपर की वृद्धावस्था होते हुए भी आपने प्रबल योगदान किया।

ऐसे संतों के उपकार से श्री संघ में नई एकता की चेतना आ गई थी। उनके जीवन के प्रभाव की कई बातें लंबे समय तक याद रहेगी।

* * *

पूज्य जयमलजी आदि संतो ने वगड़ी, सहवाज, गोडांगिरि, गुडा और सारण आदि गाँवों में विचरण किया वे सिरीयारी पहुँचना चाहते थे।

सिरीयारी बहुत प्राचीन गांव माना जाता है। उसका प्राचीन नाम श्रीपुर था ऐसा बहुत से मानते हैं। यहां से दो कोश की दूरी पर अरावली पर्वत की वह विशाल चौडी पहाड़ों की कतार है जिसने स्वतः मारवाड-मेवाड की प्रादेशिक सीमायें बना ली हैं।

सिरीयारी उन दिनों वडा व्यापारिक केंद्र वन गया था। सिरीयारी पहाड की गोद में लंबे में वसा हुआ था और वैसे तीन प्रदेशो के नाके-चौकी जैसा था। मेवाड-मारवाड के साथ वह गोड़वाड में प्रवेश करने का मुख भी माना जाता था। वर्तमान राजकीय लडाइयों के वीच यह प्रदेश बिल्कुल अछुता सा था और समृद्ध होता जा रहा था। वहां ओसवाल बंधुओं के वहुत से घर थे।
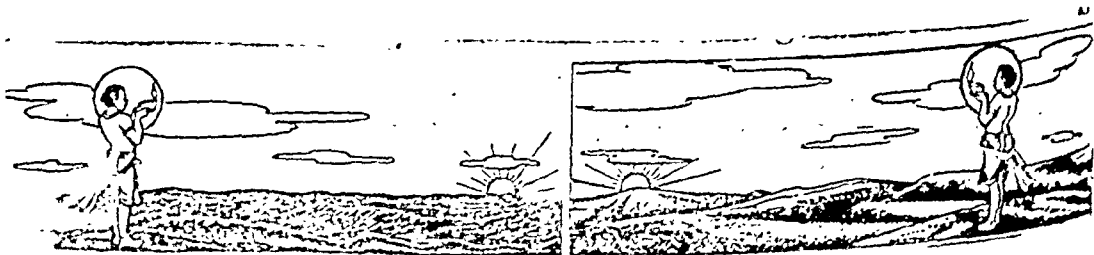
वे अत्यंत सीधी सादी भाषा में कहते थे :—

मात पिता सुत बांधवारे, सुजन त्रिया परिवार ।
आये कोई आवे नहीं, जब पडसी नरक मझार-रे ॥

तिहा ऊठे जमनी धाड रे ।
छेदन, भेदन ताड रे ॥

जिहां बूम पुकारा पाड रे ।
तांबो करि रातो ताड रे ॥

तने पावसी मूंडो फाड रे ।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया ॥ १ ॥

विषय नजर भर लग रह्यो रे, पर रमणी ने लार ।
दुःख पावे जीव नरक में, करि अग्नि जलंती नार रे ॥

थारे चोडसी[1] छातीने बार रे ।
तब रोवसी हेला पार रे ॥

देह छडकेला तेलने खार रे ।
पल सागर लगरी मार रे ॥

थोडी तोहि वर्ष दस हजार रे ।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया ॥ २ ॥

दासी दास ने दोस्त रे, कोई न थारो एह ।
जब स्वारथ नहीं पहुँचसी तो तुरत दिखाये छेह रे ॥

---

(१) चिचकाता ।
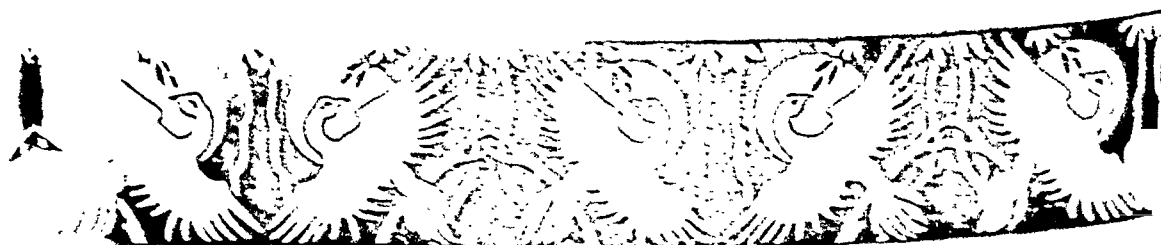
एतो तृणां उपर लो तेह रे,[२] ।
तडके तोडे नेह रे, ॥

तूं तज जासी निज देह रे ।
चलि माल कुंडुंब ने गेह रे ॥

राख धर्मकी रेह रे[३] ।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया ॥ ३ ॥

लोगों को उस समय की देश की परिस्थिति में संतों के आगमन से बड़ा आश्वसान मिलता था। वे उनके पास अपने दुःख दर्द प्रस्तुत करते थे और उनसे धर्म का मार्गदर्शन मिलने पर बडे प्रसन्न होते थे।

संतों का मेवाड की ओर यह पहलाही विचरण था। वे जनता के लिये नये थे और जनता उनके लिये नई थी फिर भी पूज्यश्री के दर्शन करते ही लोग ऐसा अनुभव करते थे जैसे उनका परिचय पुराना हो। उनकी मृदु मुसकान, सहज सौम्य चहेरा और मीठी वाणी, बरबस ही लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। एक बार जो उनके दर्शन कर लेता वह उनका हो जाता और पूज्यश्री की स्मृति से वह बाहर नहीं जाता।

राजस्थान में मेवाड की अपनी निराली आनि थी, शान थी, और उन वीरों की जान में स्वमान कूट-कूट कर भरा था। महाराणा प्रतापने यहीं पर जन्मे लिया था और वन - वन पहाडों में भटकना स्वीकार किया था किन्तु मुसलमानों के आगे झुकना पसंद नहीं किया था। यहीं के भील सरदारने अपने लोगों के साथ राणा का साथ दिया था और यहीं के ओसवाल जैनों ने राणा को स्वतंत्रता युद्ध में सक्रिय सहयोग दिया था। भामाशाह जिस के ज्वलंत उदाहरण थे।

स्वतंत्रता का मूल्य मेवाड को बड़ी कीमत से चुकाना पड़ा था और मुगल सल्तनत के सभी बादशाहों ने यहां लडाई करीब - करीब चालु ही रखी थीं। औरंगजेब ने भी

(२) ओसकाबिंदु (३) रेखा ॥
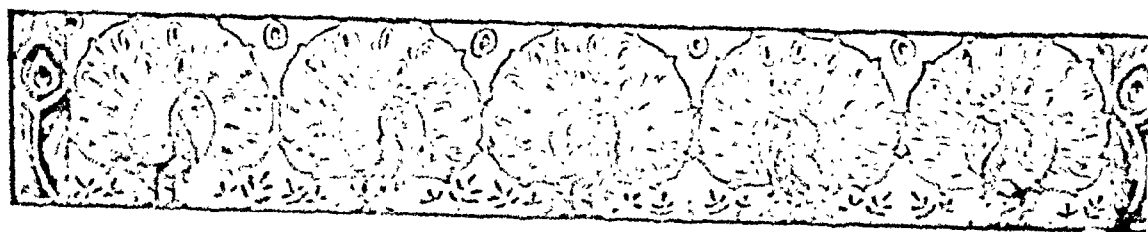
तूं तो राख धर्म सु हेत रे।
तूने सुगुरु सिखामण देत रे॥
थारे काल लपेटा लेत रे।
थारा केश हुआ श्वेत रे॥
आ देह मिली गिली[2] रे ते रे।
तूं तो चेत रे प्राणिया॥१॥

तन धन जोबन अथिर छे, मूरख मत कर मान।
उपमा दीजे एहवी, जेहवो संझानो वान रे॥
पाको पीपलनो पान रे।
जेहवो कुंजरनो कान रे॥
डाभ आणि बिंदु समान रे।
पाणी लहर प्रमाण रे॥
एहवो आउखो तू जान रे।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया॥२॥

सडण विध्वंस देहडी रे, जीवडो मांडे[3] मंड[4]।
बिगडतां विरिया नहीं, जेहवी माटीनो भंड रे॥
ज्यूं जूना कपडानो खंड रे।
अस्थिर तृणनो दंड रे॥

---

2. भीगी रेती 3. जवरन प्रारम्भ करना 4. सुशोभन करना

"हाय कंगन को आरसी की क्या ज़रूरत?" सूरतराम ने कहा :—"यह ससुराल से लौटे तब देख लेना कि किसका है?"

"भाई, वह लक्ष्मी जी की सेवा में लग गया तो उसे फिर कहाँ से देखेंगे?" अमरसिंह ने कहा।

जयमल इन सभी की बातें सुनकर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे और सब बातों के जवाब रूप उनके चेहरे पर मुस्कान दौड़ जाती थी। चौदश की रात थी। रात ढलने में देर थी; और बात करते-करते गाड़ी में मित्र-गण झोंके खाने लगे। जयमल और सूरतराम दोनों सजग थे। सभी सो जांये तो जोखिम साथ में थी उसको कौन सम्हाले....?

थोड़ी देर तो सूरतराम के साथ जयमल जगते रहे—फिर उसने कहा :—"भाई, सूरतराम! मैं थोड़ी-सी झपकी ले लूँ; अभी तो मेड़ता पहुँचने में देर लगेगी—तुम जगते हो न....?"

"हाँ....!" सूरतराम का उत्तर सुनकर जयमल ने गाड़ी में सिरहाना करके पैर लम्बे किये। उसे कब नींद आ गई और कब प्रातःकाल हो चला ये भी पता नहीं रहा।

वह जब जगा तो उसके पहले एक मधुर स्वप्न देख रहा था कि कोई विमल महापुरुष की श्वेत आकृति उसे दिखाई दे रही थी। दूर चन्द्रमा जैसा चमकता शांत उनका स्वरूप था और उनमें वह आकर्षण था कि वे देखनेवालों को अपनी ओर खींच सकता था। जयमल भी उनकी ओर खिंचा जा रहा था....! खिंचा जा रहा था....!!

"अरे, जयमल! यह तो ऐसा सोया कि बस, उठने का नाम नहीं लेता!" अमरसिंह का वाक्य कान पर पड़ा; जयमल चौंक कर खड़ा हो गया।

आँखें मल कर वह जगा तो प्रातःकाल हो चला था और सभी तपधारी नदी के इस पार थे। सामने मेड़ता के बाग-बगीचे और भवन दिखाई दे रहे थे। सभी ने तय किया कि यहां निपटा जाये और प्रातःकाल का शिरावण * करके आगे चला जाय।

---

* कलेवा

दैनिक क्रियाओं से निपट कर सभी मित्र - गण शिरावण करने बैठे; लेकिन जयमल का मन पुलकित - सा जान पड़ता था। उसकी आँखों के आगे से वह श्वेत आकृति का चन्द्रमा - सा शीतल रूप हटता नहीं था।

मित्रों ने पूछा :—"आखिर क्या बात है?"

जयमल ने उस स्वप्न की बात कही।

भंवरलाल ने कहा :—"पिछली रात को आनेवाला स्वप्न सच होता है। सफेद, चन्द्रमा — यानी सफेद वस्तुओं में तेजी होगी; यानी रूई, चाँदी के सौदे में लाभ होगा।

मित्र - गण और भी तर्क करते रहे; शिरावण पूरा हो गया। गाड़ियाँ जोती गईं; और आगे हाँकी गईं। सामने से पनिहारियाँ पानी का कलश लेकर उनके आगे से गुजरीं।

सभी ने इसे भी शुभ - शकुन माना; और भी नये शकुन की चर्चा करते मित्र - गण गप्पें हाँक रहे थे।

सूरतराम से छिपा नहीं था कि जयमल के मन में कुछ और है। उसने पूछा :—"क्या बात है?"

जयमल बोले :—"यह स्वप्न असाधारण - सा था; और मुझे ऐसा दिखता है कि साधारण धन लाभ से कुछ अधिक ही मुझे लाभ होनेवाला है!"

"वह तो मैं कह ही रहा था कि आज जयमल की चाँदी ही चाँदी है....!" भंवरलाल ने मज़ाक किया।

इधर गाड़ियाँ बाज़ार के रास्ते मूड़ी थीं और सब को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आज बाज़ार क्यों बन्द है? आशकरण तो सहज जी चुटकी बजाता बोला :—"लो, भाई! चाँदी ही चाँदी है — बाज़ार बन्द है....! क्या कोई राज - परिवार में गुज़र गया है या बाज़ार में कोई बड़ा व्यापारी दिवंगत हुआ है?"

सभी मित्र - गण विचार में पड़ गये। इतने शकुन अच्छे होने पर भी क्या उनका दिन बिगड़नेवाला है....?

उपर की बड़ी रकम चुकानी पड़ी ओर बड़ा प्रांत रामपुरा - भानुपुरा देना पड़ा जिस की आय ९०००० की थी।

परिणाम स्वरूप मेवाड राज्य की परिस्थिति ओर भी कमजोर हो गई। प्रजा के साथ - साथ राज्य की भी आर्थिक स्थिति विशेष कमज़ोर हो गई। ऐसा भी कहा जाता था कि वर्तमान महाराणा रायसिंह की गरीबी इस प्रकार बढ़ गई थी कि उसको अपने विवाह के लिये मंत्री से धन लेना पड़ा था।

राणा रायसिंह मेवाड के अधिपति थे किन्तु मेवाड राज्य मुख्यतः सोलह प्रधान सरदारों से चलता था। इस में चूडावत और शक्तावत सरदार थे। एक प्रकार से ये मेवाड राजकुल के ही थे। राणा चंड से चूडावत - चंडावत और राणा शक्तिसिंह से शक्तावत सरदार थे। साथ झाला सरदारों का भी अपना प्रभाव था। हल्दीघाटी में इन्हीं झाला सरदार ने राणा प्रताप का वेश ले लिया था। उनके वंशज झालावत या झाला सरदार कहलाते थे।

बिजौली, अमाइत, गानौरा (घाणेरा) बिदनोर, भींडर, आदि चूडावतों के हाथ थे। देवगढ़, सादडी, गोगूडा, देलवारा, वेदला, कोटरियां, कानोड आदि में शक्तावत सरदार थे। देवगढ़ के राव यशवर्तसिंह का अपना प्रभुत्व था और सादडी के रावराजा रघुरणदेव का भी अपना महत्व था।

छोटे - छोटे सामन्त गण की स्थिति अच्छी थी किन्तु उनका पूरा सहयोग राज्य को मिलना चाहिये वह न था। एक तो राणा जगतसिंह ने चुपके से जयपुर राज्य के झगडे में भाग लिया था वैसा वे मानते थे दूसरा जब राणा अशक्त होता है तो सभी सामंत अपनी - अपनी शक्ति बढ़ाते थे।

सतत युद्धों के कारण जहाँ गरीबी बढ़ती है, वहां कुछ अंश में विलासिता भी बढ़ती है। विशेष रूपसे इन सरदारों सामंतों में कसूंबा[1] केशर के बहाने अफीम का सेवन

[1] कसूंबा - अफीम केशर ओर अन्य उत्तेजक मादका पदार्थों का घोल (घोवन) ठंडाई जैसा दरबारी पेय था।

बढ़ता था। इसकी खपत अधिक थी ओर आमदनी भी अधिक होती थी अतः लोगों में अनाज के खेत के साथ अफीम (पोस्त) के डोडे बौने का रिवाज अधिक था। खडे-खडे खेतों के धान, सेनायें जाने से बिगड जाते थे तब भी लोग उसकी परवाह नहीं करते थे, किन्तु एक छोटे से कौने में उगाये अफीम की अधिक परवाह करते थे।

फलतः राज्य में अनाज की कमी अत्यधिक मालुम होती थी। अतः सेर अनाज के लिये या दो रोटी पाने के लिये भी सामान्य लोगों को बहुत जूझना पड़ता था।

पूज्यश्री आदि संत विहार करते करते आगे बढ़ रहे थे। लोगों में स्वमान भरपूर था ओर वे अपनी गरीबी प्रगट नहीं होने देना चाहते थे। पूज्यश्री की द्रष्टि और बुद्धि से यह बात छिपती न थी। किन्तु वे कभी उन बातों का सीधा उल्लेख नहीं करते थे। समस्याओं का निराकरण आध्यात्मिक ढंग से इस प्रकार करते थे कि लोग उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहते थे।

लोगों की ऐसी परिस्थिति में पूज्यश्री के उपदेशों को प्रभाव अच्छा पडता था। उन्हें सांत्वना मिलती थी। वे अलग तरीके से लोगों को समझाते थे कि यह सभी तो मोह माया में फँस कर जीव करता है। उसकी दशा कुटुम्ब के मजदूर सी है, जो कुटुम्ब का बोझा अकेला सहता है, किन्तु उसका फल भोगने में; कर्म का बोझा ढोने में कौन काम आयेगा?

वे कहते :—

माया में मोहयो फिरे रे, कुटुम्ब तणो बन्यो मजुर रे।
धंधो करे जब लग घरतणो, तब लग सब रहे हजुर रे* ॥
ए तो दुःख में जासे दूर रे।
प्राणी पाप करण में शूर रे॥

* अन्यत्र गुजरात-कच्छ में इस रूप में रचना मिलती है :—
मोह ममता में मोहयो बहु रे। कुटुम्ब तणो बन्यो मजुर रे॥
सुखना वेली मल्या सहु रे। दुःखमां जाशे दूर रे॥

भगवान से श्रावक के बारह‡ व्रत स्वीकार करके सुबाहु कुमार लौटे किन्तु गुरु गौतम को उनका रूप सौंदर्य देखकर यह जानने की ईच्छा हुई कि उसने कौन से कर्म बांधे थे कि उसने यह सब पाया है।

भगवान महावीर ने उसके पूर्व जन्म की कथा इस प्रकार कही। जो सब ध्यान से सुने !

इस प्रकार दूसरी ढाल १३ पंच पदी और २ दोहे के साथ कुल ६९ पंक्ति में पूर्ण हुई।

* * *

आगे तीसरी ढाल में सुबाहु कुमार के पूर्व जन्म का वृतांत भगवन महावीरने इस प्रकार फर्माया :—

तिणकाले ने तिण समे, जंबुद्वीपे भरतक्षेत्र मांय ।
हस्तिनापुर नगर हुंतो, धन धाने समृद्ध कहाय ॥
वीर कहे सुण गोयमा, भय नहीं हो पर चक्र†नो कोय ।
तिहां 'सुमुख' गाथापति, एहुंतो सिद्धि वंतो सोय ॥

उस समय, उस काल में जंबुद्वीप के भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नामका नगर था। वहां पर सुमुख नामका गाथापति रहता था। एक समय धर्मघोष नाम के मुनि पांच सौ शिष्यों के साथ सहस्राम्र नाम के उपवन में पधारे।

‡ पीछे बारह व्रतों का वर्णन आया है।

† चक्र भय दो प्रकार :—

(१) स्वचक्र भय :- अपना राजा अन्यायी होना।

(२) परचक्र भय :- पर राजा की ओर का दुःख होना।

अपना राजा न्यायी एवं बलवान् हो तो स्वचक्र और पर चक्र दोनों का भय नहीं होता।

तूं तो घणो केलवे कूर रे।
तू तो संचे पापनो पूर रे॥
पण, नर के होसी चक चूर रे।
तू तो चेत चेत रे प्राणिया ॥ १ ॥

तुं एक कमाई लावतो रे, घणा जणांरो सीर।
दोरी वेला जीवडा, कोण वंधासी धीर रे॥
थारी कुण भाजेला भीड रे।
वलि कोई न वंटावे पीड रे॥
थारे चालेला कुण तीर रे।
धर्म कर लेनी हुय धीर रे॥
रहे सैंठो थको शूरवीर रे।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया ॥ २ ॥

लोग कहते हैं कि संसार में पड़े हैं। घर के लिये कमाना पड़ता है, किन्तु जव बूरा दिन आता है तव न कमाने वाले को कौन पूछता है? जव तंगाई आती है तो कौन दूर करेगा, व्याधि - पीडा आने पर कौन हरेगा? और जव तू यहां से प्रस्थान करेगा तो उस पार तेरे साथ कौन चलेगा? इसी लिये ज्ञानी कहते हैं कि तू अव विना विलंव धर्म का आचरण करके धीरता प्राप्त कर वही अपने दुखः में, पीडा में, इस भव में, परभव में शूरवीर के शस्त्र जैसे काम आयेगा।

इस प्रकार चेतना का उपदेश देते वे एक गांव में समझा रहे थे :—

अनंतकाल भमतां थकां रे, अवसर लाधो आज।
पुण्य जोगे सद्गुरु मिल्या रे, तारण तरण जहाज रे॥

उनके एक अंतेवासी साधु सुदत्त अनगार थे। उन्होंने घोर तप करके तेजो-लेश्या प्राप्त की थी। वे मास मास के उपवास का पारणा का उग्र तप करते थे। उनका मास खमण के उपवास का पारणा का दिन आया।

उन्होंने पहले प्रहर सज्झाय की, दूसरा पहर ध्यान में बिताया और तीसरे प्रहर गुरु धर्म घोष की आज्ञा लेकर वे गौचरी को चले। ऊंच नीच कुल देखते वे सुमुख गाथापति के घर पधारे।

मुनि को सन्मुख आता देख, अपनी पगडी और जूते उतार कर सुमुख गाथापति हर्षविव्ह में आकर सामने गया और बडी विनंति कर सुदत्त मुनि को गौचरी वहराने घर में लाया। उतने ही शुद्ध भाव से उसने आहार पानी आदि वहराये। मुनिश्री के पधारने पर उसे, मैं आज धन्य हुआ, ऐसा मन में संतोष हुआ। वास्तव में वह धन्य हो गया था। उस समय पंच दिव्य दृष्टि हुई और लोगो में "धन्य सुमुख!" ऐसी वातें होने लगीं।

वही सुमुख गाथापति आयुष्य पूर्ण करके सुवाहुकुमार के रूप में पैदा हुआ और पूर्व भव के पुण्य से अगणित ऋद्धि और सुखका स्वामी बना है।

तृतीय ढाल १८ गाथा और ४ दोहे में संपूर्ण हुई।

चौथी ढाल में सुवाहुकुमार को दायजे (दहेज) में क्या क्या मिला उसका वर्णन पूज्यश्रीने लोगों को कह सुनाया कि बहुत से लोगों के मन में सच्चे संतों को वहराने की भावना प्रबल होने लगी। ३१ गाथा और ४ दोहे में यह वर्णन उन्होंने पूर्ण किया।

ढाल पांच वीं में पूज्यश्री ने बताया कि "सुबाहुकुमार श्रावक धर्म का पालन करने लगा। जीव-अजीव के भेद समझने लगा। और चौदह प्रकार के दान करने लगा। एक बार अट्ठम तप करके जब सुबाहुकुमार पौषधशाला में बैठे थे तब उनके मन के अध्यव्यवसाय उपर उठने लगे और वे विचारने लगे :—

जिके गाम नगरादिक धन अछे।
जठे विचरे छे जिनरायो ॥

ज्यां रे शील संजम दया लाज रे ।
ए तो मोटा मुनि ऋषि राज रे॥
तो ने देशे धर्म नो साज रे ।
भव जीवांरा सारे काज रे॥
ज्युं मिल मुगति रो राज रे ।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया ॥ ३ ॥

उनका सचोट उपदेश सुनकर दो बन्धु खडे हुए और उन्होंने कहा:— "पूज्यश्री! आपके उपदेश का हमारे पर ऐसा प्रभाव पड़ा है कि अब हम आपकी शरण में आना चाहते हैं। ओर हमें अपने साथ ले चलें।"

सभी लोगों को आश्चर्य हुआ। किन्तु उनके भाव दृढ़ थे और उनके परिवारवालों ने भी उनके भाव जानकर उन्हें पूज्यश्री के साथ विचरण करके संयम मार्ग की पूर्व तैयारी के लिये अनुमति दे दी।

पूज्यश्री ने वहां से आगे विहार किया।

संतों के आगमन के समाचार सुनकर लोग बड़े आनंदित होते थे। प्रत्येक गांव में उन्हें अधिक से अधिक ठहराने का लोग प्रयत्न करते थे। जब संत वहां ठहर जाते तो आगे के गांववाले निराश हो जाते थे किन्तु संतों को वहां एक-दो दिन बाद आते देख प्रसन्न हो जाते थे।

जीवन में अस्थिरता ओर असंतोष जहां दिखती थी वहाँ पूज्यश्री के पदार्पण से लोगों में स्थिरता आती। उनके प्रवचन सुनकर लोग मानसिक शांति अनुभव करते और व्रत नियम ग्रहण कर जीवन में किये कार्य की सफलता का संतोष अनुभव करते थे।

बड़े-बड़े नगरों में वहाँ के ठाकुर (छोटे राजा) भी आते और पूज्यश्री के प्रवचनों को सुनकर अधिकाधिक व्यसनों का त्याग करते थे। उनका प्रभाव सुनकर मेवाड़ नरेश* भी उनके दर्शनार्थ आये। उनके प्रवचनों से मुग्ध होकर उन्होंने अपने अभिमान को छोड़कर पूज्यश्री की कई बातों को आदर्श शिक्षा के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने संतों से उदयपुर पधारने की विनति की।

पूज्यश्री ने उन्हें गूढार्थ में जो कहा उसका सार इतना ही था भगवान महावीर ने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिये बहुत बड़ा मंत्र दिया है। बाहर से मदद क्यों चाहते हो? अपने अंदर ढूंढो! अपनी आत्मा ही आप की बड़ी मदद करेगी। वही आपकी सब से बड़ी मित्र है और वही आप की शत्रु है।"

उनका इशारा उस समय के राजनैतिक वातावरण में, देशों द्वारा विदेशी (मराठा) की सहायता की ओर था। जिस से राजस्थान के उस समय के सारे रजवाडे और भी दरिद्र होते जा रहे थे। मेवाड़ मारवाड में इस समय वह बात प्रत्यक्ष हो रही थी।

पूज्यश्री का मेवाड़ पदार्पण सार्थक हुआ था और उनके साथ दो वैरागी-दीक्षा के भाव से साथ चल रहे थे। गांव-गांव में विचरण करते संत विजयनगर पहुँचे। वहां पर प्रवचनों का लाभ लोग लेने लगे।

विजयनगर श्री संघ ने वैरागियों को देखा और पूज्यश्री से उनके भाव दृढ़ जान कर अपने नगर में दीक्षा समारोह मनाने की विनति की। पूज्यश्री ने संमति दी तब बड़ा आनंद छा गया।

---

* उस समय राणा राजसिंह मेवाड़ के राणा थे। उनका प्रथम दर्शन करने का पूज्य गुण माला में उल्लेख मिलता है किन्तु स्थान नहीं लिखा है। अगले वर्ष मेवाड़ नरेश उदयपुर में दर्शनार्थ आये ऐसा उल्लेख है।

लोगों को सब से अधिक आनंद ढाल छट्ठी में आया जहाँ माता और पुत्र के संवाद हुए। माता कहती :—

जाया ! बोलो बोल विचार .... !

लागे घणो तूं सुहामणो रे, रत्नकरंड समाण ।
उंमर फूल तणी परे रे, दुर्लभ देखवो जाण रे ॥

*   *   *

रहे तूं म्हारा जीवां जिठते रे, कर जावां जब काल ।
बेटा पोता वधारने रे, दीक्षा लीजे सुविशाल रे ॥

और उसके उत्तर में सुबाहुकुमारजी कहते हैं :—

हे मायडी ! संजम सुख अपार .... !

अध्रुव अनित्य आशस्वतारे, उपद्रव लगा अनेक ।
वीजल अवकानी परे रे, जल परपोटो लेख ॥
डाभ अणि जल बिंदुवो ए जैसो संझानो राग ।
सुपन दर्शननी ओपमाए, सडन पडन ए लाग ॥

पेली पछे देह छोडनी ए, कुण जाणे मा, चाल ।
मा बेटां खबरा नहीं ए, कुण कर जाये काल ॥

इस प्रकार मा, पुत्र में अनेक विध चर्चायें चलीं। माता ने स्त्री, पुत्र, धन आदि का सुख भोगकर, अपनी मृत्यु के बाद दीक्षा लेने का आग्रह किया किन्तु सुबाहुकुमार पर तो वैराग्य का रंग चढा हुआ था उन्होंने प्रत्येक बात की अनित्यता, अस्थिरता बताते हुए दीक्षा लेने के ही उत्कृष्ट प्रगट किये।

ढाल ६ का वर्णन ३२ पद और ३ दुहे में चला। पूज्यश्री ने शास्त्रों के उद्धरण के साथ उसका जो वर्णन किया उससे बहुतसों के मन में वैराग्य की भावना द्रढ़ हुई।

विजयनगर उन दिनों प्रसिद्धि में था। नदी के किनारे वसा हुआ कई राज्यों की सीमा का नगर जैसा होने से वह व्यापार की बडी मंडी था। सामान्यतः मालवासे आनेवाली मराठा एवं मुगल सेनायें और मेवाड़ की सेनाओं का वहां से जाना-आना होता था। अतः वहाँ पर संतों का आवागमन उन दिनों कम होता था।

अतः पूज्यश्री जयमलजी आदि संतो का पदार्पण होने से वहां का श्रीसंघ बड़ा उत्साह में आ गया था। ओर उसी उत्साह के अनुरूप जब दो दीक्षायें उसके प्रांगण में हुई तो वह धन्य हो गया ओर बडे ठाठ-माठ से दीक्षा समारोह संपन्न हुआ। लोगों ने उसकी पूर्णाहूति के रूप में कई प्रकार के व्रत पच्छक्खाण लिये।

संतों की संख्या सिरियारी से चले उतनी पुनः हो गई। वे दोनों भी पूज्यश्री जैसे गुरु को पाकर अपना जीवन सफल हुआ ऐसा मानकर उनकी सेवा में लगे रहते थे। पूज्यश्री उन्हें ज्ञानोपार्जन कराके शुद्ध चारित्र के संस्कार देने लगे।

विजयनगर से संतों का विहार हुआ तो लोगों ने उन्हें पुनः पुनः पधारने की वार वार विनति की ओर वे संतों को दूर दूर-दूर तक पहुँचाने गये।

●

सुबाहुकुमार को जब भोगविलास से विरक्त देखा तब माताने उसे संयम की कठिनाई का ऐसा वर्णन किया कि सामान्य मानव उसे लेने के पूर्व विचार करे। माता ने कहा कि हे पुत्र संयम लेना सरल नहीं है। कहा है :—

दीक्षा छे पुत्र दोहिली, तोने कहुं छु जताय ।
मेण दांत लोहना चणा कुण सकेला चाय ॥

वेलू रेतना कवल ज्युं संजम छे निस्वाद ।
गंगानी धार सामो चालवो, मारग एह अगाध ॥

हे पुत्र संयम बडा कठिन है। ये तो लोहे के चने हैं जिसे कौन चबा सकेगा? जैसे बालु रेत के कँवल खाने से स्वाद नहीं आता वैसा संयम निस्वाद है। और तेज गंगा की धार के विरूद्ध चलना है। ऐसा यह मार्ग बहुत ही अगाध (गहरा) है। और भी कहा है :—

महासमुद्र तिरणो भुजा, दोहिलो तूं जाण ।
तीखा भाला उपर चालवो, सुलभ नहीं रे सयाण ॥

लांबी शिला अतिक्रमवो, चलवो खडग तिख धार ।
तिम ए संजम दोहिलो, करवी करम सूं राड ॥

अपनी भूजा से जैसे सागर पार करना दुर्गम हैं, तीक्ष्ण भाले की नोक पर चलना सुलभ नहीं है, लंबी शिलायें पार करना कठिन है वैसे संयम तो खांडे (तलवार) की तीक्ष्ण धार पर चलने जैसा मुश्किल है। अपने कर्मों के सामने संग्राम करने जैसा है।

माता ने पुत्र को आहार, पाणी, स्थान आदि के २२ परिषद का उल्लेख करते हुए कहा कि पुत्र पीछे सुख-भोग की याद आये उससे तो अच्छा है कि :—

तिण कारण सुत समझले, विलसो काम ने भोग ।
तेहपाछे पछे श्री वीर पे पुत्र लेहजो जइने जोग ॥

५५
जय - मेवाड़ विहार
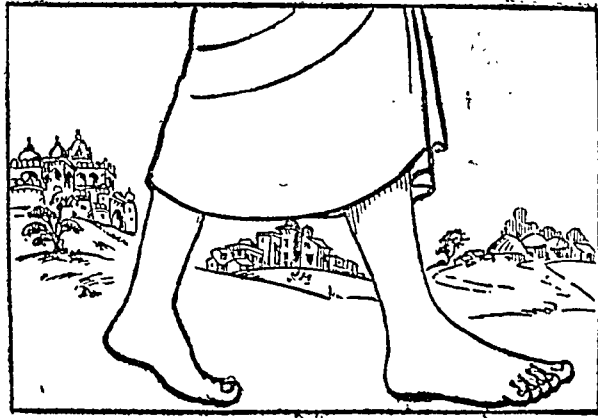
विजयनगर से पूज्यश्री आदि संतों का विहार भीलवाडे की ओर हुआ। उनके साथ दो नये संत थे। जहाँ - जहाँ वे पहुँचते थे वहाँ - वहाँ लोगों में आनंद छा जाता था।

"चेत सके तो चेत।" का आध्यात्मिक संदेश गुंजाते वे आगे बढ़ रहे थे। मेवाड़ की भूमि और जनता दोनों आपके पवित्र चरणों से पावन हो रहे थे।

छोटे बड़े गांवों में स्पर्श करते हुए वे भीलवाडे के पास मांडलगढ़ में पहुँचे। यहां के सारे प्रदेश ऐतिहासक महत्व लिये हुए थे। मांडल गढ़ का भी एक समय अपना प्रभाव था। आज वह खंडहर सा दिखता था।

जीवन का भी ऐसा ही है जो यौवन पर आकर भव्य सुंदर लगता है वह वृद्धा - वस्था में जीर्ण शीर्ण सा लगता है किन्तु जैसे मकानों की मरम्मत की जाय वैसे जीवन को उपयोगी बना लिया जाय तो वृद्धावस्था भी शोभित हो जाती है।

मांडल से विहार के बाद पूज्यश्री संतों के साथ भीलवाडा पहुँचे। उधर संत कुशलचन्दजी म. सा. के उदयपुर चातुर्मास के समाचार मिले। वे गत वर्ष सिरीयारी थे और वहां से विहार कर उदयपुर पधारे थे।

पूज्यश्री जयमलजी के साथ श्री टीकमजी, श्री नथमलजी म., श्री गोवर्धनजी म., ओर विजयनगर के नये दीक्षित संत थे। पूज्यश्री का यह विचार रहता था कि जिन संतों में ज्ञानमार्ग अधिक प्रशस्त करना हो तो उन्हें साथ रखकर वे विद्याध्ययन कराते। कुछ तपस्वी संत थे, उन्हें तपोमार्ग की ओर अग्रसर करते थे और कुछ सेवा वैयावृत्य मार्ग में रुचि लेनेवाले संतों को उसका अवसर देते थे। प्राथमिक ओर आवश्यक ज्ञान के रूप में दशवेकालिक, आचारांग, सूत्रकृतांग और भगवती सूत्र का वे अध्ययन कराते। इस से संतों को सूत्रों का अच्छा ज्ञान होता और वे अपनी क्रियाओं में पक्के रहते।

माता की ये बातें सुन कर पुत्र का मन विचलित नहीं हुआ। सुबाहुकुमार ने माता पिता को कहा :– "माता! तू जो कहती है वह बिल्कुल सच ही है।"

कहा है :––

माता पिता कहतां प्रते, बोल्या एम कुमार।
थे साधपणो दुकर कयो, तिणमें फेर न फार॥

साधपणो तिण ने दुकर, मारग प्रवचन सार।
किरपण कायर पुरुष ने दुख सुख वंछण हार॥

उपरांठो परलोक सूं, ऐ लोक सुखनी चाय।
अर्थी, पापी मनुजने, दुकर है यह माय॥

सूरबीर ने धीर नर, सतवादी सतधार।
पराक्रमवंतां माता जी, दुकर नहीं लगार॥

ये संयम जो कृपण कायर पुरुष हैं उनके लिये कठिन है। अर्थी, पापी मनुष्य ओर लौकिक सुख भोगनेवालों को भी दुष्कर है किन्तु जो शूरवीर है, धीर हैं, सत्यवादी हैं, पराक्रमी हैं उनके लिये बिल्कुल ही दुष्कर नहीं है। अतः हे माता। मुझे आप आज्ञा दें।

अंत में मा-बापने उसका द्रढ मन देखकर इतना ही कहा :– "पुत्री, एक दिन तू सिंहासन पर बैठ और हमारी आशा पूर्ण कर।"

सुबाहुकुमार उसके लिये मान गया। इस प्रकार ढाल ७ में १२ पद और ७ दोहों में पूज्यश्री ने बडे भावपूर्ण ढंग से उसका विवेचन किया।

जिस प्रकार ज्ञाता धर्म सुत्र में मेघकुमार का जिस प्रकार राज सिंहासन पर बैठ ने का महगेसव किया गया उसी प्रकार सुबाहुकुमार का किया गया। खूब ऋद्धि और वैभव के साथ यह उत्सव संपन्न हुआ।
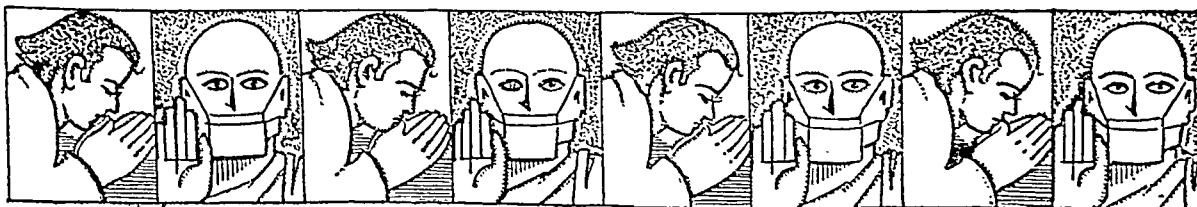
पूज्यश्री के साथ पहले संत थिरपालजी साथ विचरण करते थे। किन्तु अब वे कुछ संतों के साथ अलग विचरण कर रहे थे। घवराणे के बाद उस वर्ष उनका चातुर्मास ठाणे ३ से हरसोर था।

भीलवाडे में चातुर्मास में उन्होंने विशेष रूप से कर्म वंधन का स्वरूप विस्तार से समझाया। शास्त्रों में वर्णित कर्म वंधन का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है :—

जैसे तपे हुए लोहे में अग्नि, दूध में पानी, मेघ में बिजली मिले हुए हैं उसी प्रकार जीव के साथ कर्म लगे हुए हैं। कर्म हालांकि अजीव हैं, पुद्‌गल स्वरूप हैं और जीव के आगे उसकी सत्ता नगण्य है फिर भी जब कर्म बलवान हो जाते हैं, तो वह जीव के शुद्ध चैतन्य स्वरूप को मलिन कर देता है।

सूर्य तो प्रकाशमान है किन्तु बादल का आवरण आने से वह ढंक जाता है, तुम्ब तो तैर सकता है किन्तु उसको पत्थर के साथ बांधने से वह जल के तले में बैठ जाता है वैसा प्रभाव जीव के साथ कर्मों का है।

किसी बालक का बड़ा सुंदर चहेरा होता है किन्तु जब वह कीचड़ में गिर जाता है तो उसका चहेरा बिगड़ जाता है। उसी प्रकार कर्म रूपी कीचड से आत्मा रूपी चहेरा बिगड जाता है। किन्तु जैसे जल, उबटन आदि से धोके उसे साफ किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा के उपर का कर्म रूपी रजमेल, तप रूपी जल से धोया जा सकता है।

पूज्यश्री ने तपों पर विशेष भार अपने प्रवचनों में देना शुरू किया था। उनके साथ संत श्री लालजी म. स. ने तप प्रारंभ किया। पूज्यश्री और टीकमजी म. ने पांच-पांच के उपवास प्रारंभ किये थे। इसका प्रभाव स्थानिक जनता पर बहुत पड़ा ओर काफी धर्म-ध्यान आदि की वृद्धि हुई।

इन्हीं दिनों पूज्यश्री ने शास्त्र के अनुसार "सुबाहुकुमार की ढाल" की रचना प्रारंभ की। वैसे छोटे-छोटे पद, दोहे, पच्चीसी, बत्तीसी, छत्तीसी आदि की रचना तो उन्हें सरस्वती का वरदान हो वैसे हो जाती थीं।

सुबाहुकुमार ने भी उनमें दानादि अधिक दिया क्यों कि वह समझ गये थे कि यह मेरे पूर्व जन्म के दान के प्रभाव के कारण है। कहा भी है :—

दान तणी ए महिमा जाणो, तिणथी सूत्र लिखाणो जी।
उतम मन में कुलसज आणो, शंका मूल न जाणो जी॥
श्री वीरजी दीधो संजम भासे, जनम हुओ अणगारोजी।
पाले आठ प्रवचन सारो, गुप्त ब्रह्मचर्य धारो जी॥

सुबाहुकुमार को प्रभुजी ने संयम दिया और वे अंग उपांग सूत्र पढने लगे। छठ आदि तप कर के उन्होंने बहुत वर्षों तक संयम पालन किया और अंत में एक मास के संथारे के बाद वे प्रथम देवलोक गये। वहां से मानव भव प्राप्त करेंगे ओर संयम लेकर पांचवें देवलोक जायेंगे। फिर मानव भव, फिर सप्तम देवलोक, मानवभव, नवम देवलोक, मानवभव, ग्यारवें देवलोक, मानवभव ओर सर्वार्थसिद्ध विमान देवलोक जायेंगे। वहां से महविदेह क्षेत्र में मनुष्य बनकर सिद्ध बुद्ध और मुक्त होंगे। इसी प्रकार अन्य नव आचार्य जिन्होंने पांच सो नारियों का त्याग किया वे भी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होंगे।

जुदाजुदा नाम, नगरज भाख्या, सूत्रविपा के आख्याजी।
"ऋषि जयमल" जोड़कर भाख्या, सांभल चित्त में राख्याजी॥
अधिको ओछो विपरीत होई, ते मिच्छामि दुक्कड मोई जी।
गुण लेजो खिजमत हम जोई, सांभलजो भद्र कोई जी॥
अठारे से वायेडोत्तर वासी, कार्तिक पूरणमासी जी।
नगर "भिलाड़ो" एम विमासी, ए चरित्र कयो रे दुलासी जी॥

पूज्यश्री ने इस प्रकार मधुर कंठ से यह सुबाहु चरित्र भीलवाडा चातुर्मास पूर्ण होने के साथ किया। लोगों में अत्यन्त आनन्द छा गया और वे अधिक से अधिक और भी लाभ लेना चाहते थे किन्तु पूज्यश्री को और भी क्षेत्र स्पर्शने थे। अतः उन्होंने दूसरे दिन वहां से विहार करने का निर्णय जाहिर किया।

सुख विपाक सूत्र में अध्ययन में सुबाहुकुमार का वर्णन आता है।

उपवास के दिनों में व्याख्यान के बाद पूज्यश्री सुखविपाक सूत्र का अध्ययन अपने शिष्यों को कराते थे और साथ - साथ जोड भी करते जाते थे। अत्यंत सरल भाषा में जब वे लोगों के सामने मधुरकंठ से गाते तो लोग भी भाव - विभोर हो जाते।

इस चरित का प्रारंभ इस प्रकार किया गया :—

दोहा :

नमूं वीर शासन धणी, सब हित बंधक खाम।
मुक्ति नगरना दायका, मंगलिक तासु नाम ॥ १ ॥
कुंवर सुबाहुनो चरित बोल्यो सुख विपाक।
सुधर्म जंबु ने कह्यो अंग इग्यारमा साख ॥ २ ॥
किण कुल ने किण नगरी ए, हुवो सुबाहु कुमार।
श्री जिणंद गौतम भणी, मांड कह्यो विस्तार ॥ ३ ॥

आगम वाणी में ग्यारह * अंग बताये गये हैं; बारहवाँ दृष्टिवाद नाम के अंग का विच्छेद हुआ है।

इन आगमों को भगवान महावीर ने गुरु गौतम स्वामी को जैसे बताये वैसे ही श्री सुधर्मा स्वामी से जम्बू स्वामी से सुने। जब ज्ञान प्राप्त करना हो तो कितने विनय से रहना चाहिये? इसका आदर्श जम्बु स्वामी प्रस्तुत करते हैं।

शीश झुका कर जम्बु स्वामी ने भगवन् सुधर्मा स्वामी से पूछा :—"भन्ते! सुख विपाक सूत्र के अध्ययन कितने हैं?"

सुधर्मा स्वामी ने कहा :—"हे जम्बू! सुख विपाक के दश अध्ययन हैं। सुबाहु कुमार, भद्रनन्दी चरित्र, सुजात, सुवास, जिनदास, धनपति, महब्बल, भद्रनन्दी, महचन्द और वरदत्त।"

---

* अंगों के नाम अन्यत्र दिये गये हैं।

विहार का दिन आ गया। धर्म स्थानक से पूज्यश्री आदि संतों को पहुँचाने लोग वाडी संख्या में आ पहुँचे। सभी के मन में उनकी विदाई का दुःख था किन्तु पूज्यश्री ने उन्हें संबोधते हुए कहा कि "स्व ओर पर कल्याण के लिये सन्तों को विहार करना ही पडता है। अतः वे स्वयं जागृत रहते हैं, विस्मृति की निद्रा उनको खलती नहीं और दूसरों को भी जागृति का संदेश देते चलते जाते हैं। आप सब में हमारे जाने के बाद भी धर्म के संस्कार वैसे ही जागृत रहें तो हमारा चातुर्मास करना सफल माना जायेगा ओर आप उसे सफल बनायेंगे ऐसी आशा है।"

पूज्यश्री ने मांगलिक सुनाया और वहां से आगे की ओर विहार किया। उनका विहार चितौड गढ़ की ओर हो रहा था। वैसे रास्ता समतल था किन्तु अरावली की पहाडियाँ यहां पर भी फैली हुई थी। उसके उपर कहीं कहीं द्रढ दुर्ग बंधे दिखते थे—नीचे तालाव ओर उससे सटकर हरीभरी खेतियाँ यहां के लोक जीवन का दर्शन कराती थीं। खेतों में चना, मक्का के साथ साथ अफीम के पोस्त के फूल भी दिखाई देते थे। गेहूँ और जवार की बालियाँ भी झूम उठती थीं।

हमीरगढ़ आया। राजपूती वीरों में हमीर हठ अति प्रसिद्ध है। उसकी द्रढ हठ जितना ही मजबूत किला उस वीर की याद लिये खडा था।

पूज्यश्री का विहार आगे हो रहा था। गांव गांव में वे धर्मका झंडा लहराते आगे बढ़ रहे थे। मेवाड़ के अनेक वीरों ने यहां वीरता और पराक्रम के झंडे लहराये होंगे लेकिन जैन धर्म का ज्वलंत ध्वज फरकाते संत गण भी आगे बढ़ रहे थे।

शूर तो प्रताप शूर और सब शूरैया है।
गढ़ तो चितौड़ गढ़ और सब गढैयाँ हैं॥

वैसी अपनी ख्याति को फैलानेवाला चितौड का किला कई मीलों दूर से भी दिखाई देता था। यहां पर मेवाड़ के वीरपुरुषों की अनेक कहानियाँ बिखरी पडी थीं और साथ ही मेवाड़ की वीरांगना स्त्रियों के जौहर की अमर निशानियाँ भी आज मौजुद थीं।

सुखविपाक सूत्र का जैसा अधिकार चला, वैसा ही पूज्यश्री जयमलजी ने उस समय की राजस्थानी लोक भाषा चारणी में उसे काव्य के रूप में रचना प्रारंभ किया :—

विनय करी 'सुधर्म' ने वाय ।
'जंबू' पूछे सीस नमाय ॥
सुख विपाक ना अध्ययन केता ।
'सुधर्म' कहे जम्बू सुण जेता ॥
दश अध्ययन कहया तिण मांहे ।
जुदा जुदा नाम दिया जताए ॥
'सुबाहु' 'भद्रनन्दी' कुमार ।
'सुजात', 'सुवास' जिणदास विचार ॥
धनपति महब्बल भद्रनंदी ताम ।
महचन्द वरदत्त ए दश नाम ॥
दशेही मांही पहलाना भाव ।
जंबू पूछे धर कर चाव ॥
चलता कई सुधर्म स्याम ।
सांभल जंबू तेह अभिराम ॥
तिण अवसर नगर सोहतो ।
हस्तीशीर्ष इसो नाम हुतो ॥

इस प्रकार उन्होंने सुबाहुकुमार की कथा बड़े सीधे सादे शब्दो में रचकर लोगों को सुनाई :—

हस्तिशीर्ष नगर में अदीनशत्रु नाम का राजा था। उस नगर में धन-धान्य और रिद्धि से भरपूर बहुत से भवन थे। उसके इशान कोने में पुष्पकरंड नाम का बाग था, जहां

पूज्यश्री जयमलजी को इसे देखते ही अनेक जैन महापुरुषों की कहानियाँ आंखों के आगे झलकने लगीं। यही चित्रकुट था जहाँ पर महान आर्या याकिनी महत्तरा ने प्रखर पंडित आचार्य हरिभद्र को जैन धर्म के संस्कारों की ओर आकर्षित किया था। जैन इतिहास के लिये एक समय यही चित्रकूट बड़ा धाम था। मालवा मेवाड़ में अनेक जैनाचार्यों ने जैन धर्म के संस्कार लोगों में भरे थे।

पूज्यश्री आदि संतो ने चितौड में पदार्पण किया। लोग बडे उत्साह से सामने आये। पूज्यश्री का यश इन दिनों सर्वत्र फैल गया था ओर लोग उनके दर्शन को आतुर रहते थे।

उनका जीवनक्रम बडा नियमित था। प्रवचन के बाद वे रचना का आलेखन करते। गौचरी आदि के बाद वे अपने शिष्य संतों को पढाते और शेष समय उनका आलेखन कार्य चलता ही रहता था।

नये नये संत बढ़ रहे थे और सभी के पठन पाठन के लिये सूत्र सज्झाय आदि चाहिये। उसके आलेखन में वे अपनी आत्माको लगाये रखते थे। बिना सूत्र के संतों का ज्ञान मार्ग प्रशस्त कैसे हो सकता था। अतः वे उसे अपना पवित्र कर्तव्य समझ कर निभाते थे।

चितौड आने पर पूज्यश्री संतो के साथ किले में भी गये। वहाँ पर बने कीर्तिस्तंभ और अन्यान्य भवन उन्होंने देखे। मेवाड़ के राणाओं के सन्मान के समान चितौड का किला भी स्वमान से खडा था।

उनके हृदय में एक अंतरेच्छा थी कि चितौड में वह स्थानक देखने को मिलेगा जहाँ याकिनी महत्तरा से हरिभद्रसूरि प्रभावित हुए थे। किन्तु वहाँ पर बहुत से मंदिर होते हुए भी उस स्थान के बारे में कोई स्पष्ट कुछ भी नहीं कह सकता था।

चितौड़ से संतोका विहार मेवाड़ की पहाडियों में होता हुआ मावली की पहाडियों की ओर हुआ। संत कुशलजी का चातुर्मास उदयपुर था और वे उनसे मिलने आ रहे थे। उनका अगला वर्षावास लांबिया (मेवाड़) में होनेवाला था। पूज्यश्री ओर वे, एवं अन्यान्य संत बडे प्रेम से मिले ओर पूज्यश्री विहार कर गांव गांव स्पर्शते हुए देवगढ़ पहूँच गये।

जयमल ने कहा कि "कोई सज्जन दिखाई दें; तो उनसे पूछ लें तो पता चलेगा।"

पास से ही एक सज्जन शीघ्र-गति से जा रहे थे। जयमल ने उन्हें रोक करके पूछा :—"क्यों, भाई साहेब! आज बाज़ार क्यों बन्द है? क्या कोई शोक समाचार है या कोई विशेष कारण है?"

"शोक तो नहीं है; किन्तु आज चौमासी पाखी है और महाराज साहब का व्याख्यान पूरा नहीं होगा तब तक बाज़ार नहीं खुलेगा?" उस सज्जन ने कहा।

"कौन से महाराज साहब विराजमान हैं?" जयमल ने पूछा।

"आचार्य भूधरजी महाराज हैं! आप नहीं जानते उन्हें? क्या वाणी है...! क्या प्रभाव है...!! मेड़ता नगर तो उनका चातुर्मास पाकर धन्य हो गया है!" उस सज्जन ने कहा। जयमल को मौन देखकर उसने कहा :—"मालूम होता है कि आप पहली बार मेड़ता पधारे हैं!"

"नहीं, यों तो माल खरीदने लाँबिया गाँव से आता ही रहता हूँ — किन्तु इस चातुर्मास में मेरा आना नहीं हुआ।" जयमल ने कहा।

"तब तो आपको उनके दर्शन-प्रवचन का अनायास ही लाभ मिला है; साथ ही उनके शिष्य रघुनाथजी म० सा० की उग्र तपस्या का भी आज पूर है। फिर तो विहार हो जायेगा!" सज्जन ने कहा।

जयमल थोड़ी देर सोच-विचार में पड़ा। इस जेठ सुदी में उसका व्याह हुआ था और उसके बाद इन चार मास में उसका मेड़ता आना जाना नहीं हुआ था। वैसे धर्म की चर्चा कई बार की थी; किन्तु किसी जैनाचार्य का प्रवचन सुनने का प्रसंग नहीं आया था। मन में एक तरह से द्वंद जगा था — जाऊँ या न जाऊँ....?

उस सज्जन ने कहा :—"आप चलते हैं तो चलें; वरना मुझे विलम्ब हो रहा है!"

जयमल के मित्र-गण बोले :—"क्या करेगा वहाँ जाकर?"

जयमल बोले :—"यहाँ पर समय बिगाड़ने से तो अच्छा है कि वहाँ जाकर प्रवचन का ही लाभ लिया जाये!"

उन दिनो देवगढ़ का स्थान मेवाड़ में प्रमुख था। शक्तावत सरदारों में देवगढ़ के राजा यशवंतसिंह का प्रमुख स्थान था। पूज्यश्री के प्रवचन नित्य होते थे और उसकी ख्याति राजा यशवंतसिंह के पास पहोंची। तब वे भी पूज्यश्री के दर्शन करने के लिये एक दिन पधारे। उनकी सवारी बडे ठाठपाट से पूज्यश्री के स्थानक के पास पहूँची। जब राजा दर्शन प्रवचन का लाभ लेने आये फिर सामान्य जनता का क्या पूछना? वह भी बडी संख्या में राजा के पीछे पीछे मुनिश्री के दर्शन प्रवचन के लिये आ गई।

पूज्यश्री का प्रवचन चल रहा था। राजा यशवंतसिंह ने सभास्थल में आते ही दो हाथ जोडकर वंदन किया और पूज्यश्री ने कहा :—"दया पालो! धर्म ध्यान करो!"

पूज्यश्री का तेजस्वी तन, देदीप्यमान वदन और मधुर वचन इन तीनों का राजा पर ऐसा प्रभाव पडा कि वे मुग्ध हो गये। वे वंदन करके मुनिश्री के समीप बैठ गये।

पूज्यश्री जैन धर्म के प्राणतत्त्व अहिंसा आदि पर प्रवचन कर रहे थे।

अहिंसा आत्मा का धर्म है। और आत्मा के धर्म के नाते समूह के रूप में वह समाज का भी धर्म है और समष्टि के नाते देशका भी धर्म है। सभी धर्मों ने इसे अपने अपने ढंग से अपने यहाँ प्रधान स्थान दिया है।

संसार में जो जीव दृष्टिगत होते हैं, वे छ प्रकार के हैं। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इन जीवों में मानव सर्व श्रेष्ठ जीव है। अतः उस पर आत्म धर्म पालन करने की जवाबदारी ज्यादा है। जीवको सताना नहीं, मारना नहीं यह आत्मधर्म की भूमिका है तो उसकी रक्षा करना उसका कर्तव्य है।

लोग ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा अजर अमर है वह तो मरती नहीं अतः हम तो शरीर का नाश करते हैं तो उसमें किसी की हिंसा कहाँ होती है। वास्तव में यह बात एक प्रकार का भ्रम है और जो कहते हैं उनको कोई सूई चुभा कर कहे कि भाई यह तो आत्मा को कहाँ लगती है? शरीर को ही लगती है? तो उन्हें कैसा लगेगा? वास्तव में वह उसकी वेदना को अनुभव तो करते ही हैं। वास्तव में जड बना हुआ मुर्दा कोई वेदना अनुभव नहीं करता किन्तु उसके अंदर रही आत्मा ही सुख दुःख का अनुभव करती है।
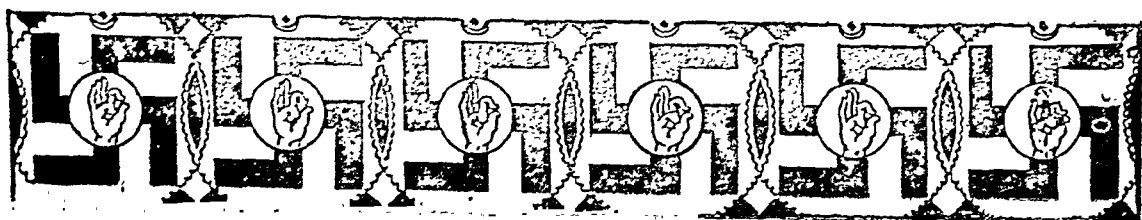
रघुनाथ राय ने फिर कहा :—"आप इतने दिन से मेरे गांव में पधारे और कोई सुविधा, प्रबन्ध, सवारी आदि की इत्तला नहीं भेजी !"

पूज्यश्री ने उन्हें जैन संतों के पैदल विहार और बाह्य आडंबर से दूर साधु-चर्याकी बातें कहीं। उन्होंने कहा :—"संसार छोडा, उसके साथ सारा बाह्य दिखावा आडंबर भी जैन संत छोडते हैं। कम से कम भार समाज पर डालते हैं और अधिक से अधिक जनकल्याण करने की भावना को कार्यान्वित करते हैं।"

राजा रघुनाथराय के मन में एक प्रबल इच्छा थी कि कैसे भी संत उनके महल में आने का अनुग्रह करें। लेकिन इनकी आवश्यकताओं की अल्पता और निस्पृहता की विशालता का वे अनुभव करने लगे कि शायद यह ईच्छा मन में रह जायेगी।

उन्होंने कहा :—"मैं आपकी कुछ सेवा कर सका तो अपने को धन्य समझूंगा।"

पूज्यश्री ने कहा :—"राजन ! स्वयं आप अपनी सेवा कर लें तो भी बडा कार्य होगा। एक राजा के नाते पहले तो आपको स्वयं सभी प्रकार की व्यसनों की गुलामी से दूर होना चाहिये और साथ ही आपकी जो अपनी प्रजा है, उसे आपके राज्य में सुखी करनी चाहिये।"

पूज्यश्री ने उन दिनों राजा महाराजाओं में अफीम सेवन की जो आदत थी उसकी विवशता का चित्रण प्रस्तुत किया। वास्तव में वह एक प्रकार का बन्धन है — गुलामी है। आत्मा स्वयं समर्थ होकर अफीम आदि के सेवन से अपने देह पर से नियन्त्रण खो बैठती है। जो देह पहले उसकी ईच्छानुसार चलती थी वह कसूंबे के सहारे चलती है। एक बार उसका सेवन नहीं किया तो शरीर दम तोडता हो वैसा मालूम होता है।

जब राजा आदि उस अफीम का सेवन करने लगते हैं तो लोग भी उनका अनुकरण करते हैं। फलतः उसका प्रचार बढ़ता है। पहले ज़माने में जब कोई राजा हार जाता था तो उसके सैनिक आदि बन्दी बनाकर गुलाम कर लिये जाते थे। किन्तु यह तो अपने आप गुलामी लादना है। अफीम सेवन करने वाले लोग कहते हैं कि हम अपने

उन अनुभवों की अभिव्यक्ति मानव ही सविशेष कर सकता है। अत: उससे आशा रखी जाती है कि "वह स्वयं जिसको नहीं चाहता, वैसा अन्य के साथ नहीं करे। वह खुद जीवन चाहता है तो अन्य को जीलाये। खुद मरण पसंद नहीं करता तो अन्य को न मारे बल्कि उसकी रक्षा करे।"

हम देखते हैं कि जब एक दूसरे की रक्षा जहाँ सब करने लगते हैं तब वहाँ शांति होती है। जीवन आनंदमय होता है। किन्तु रक्षण के स्थान पर जब भक्षण शुरु होता है, अपने स्वार्थवश लोग इस भावना को त्याग देते हैं, तो लड़ाई, झगडा और अशांति आते हैं। वहाँ पर तीसरा आकर अपना प्रभुत्व जमाता है और उनकी गुलामी स्वीकार करनी पडती है। वहां पर धीरे धीरे विनाश प्रारंभ होता है।

इसीलिये ज्ञानी पुरुष कह गये हैं कि जीवन जीना चाहते हो तो अन्य के जीवन की रक्षा चाहो, अपने आप वह शांति सुख और समृद्धि लाती है।

प्रवचन समाप्त होने पर राजा यशवंतसिंह ने खडे होकर बडे विनय के साथ कहा: "आपका नाम सुना था, आपके प्रवचनों की प्रशंसा सुनी थी किन्तु आज यथा नाम: तथा गुण: के अनुरूप आप को पाकर इतनाही दिल भाव विभोर होकर कहता है कि वास्तव में आप नाम के ही जयमल नहीं हैं किन्तु वास्तव में जयश्री आपको वरी हुई है। आपके प्रवचनों का लाभ मैं प्रतिदिन लेना चाहता हूँ अत: आप अधिक से अधिक ठहर कर मुझ पर वैसा अनुग्रह करें।"

उस दिन से राजा यशवंतसिंह नियमित रूप से व्याख्यानों में आने लगे। उनके साथ साथ अन्यान्य लोग भी आने लगे। सभी पर पूज्यश्री अपने प्रवचनों से प्रभाव जमाने लगे।

एक दिन प्रवचन संपूर्ण होने के बाद राजा यशवंतसिंह ने खडे होकर कहा:— "आप मुझे दया धर्म पालने की प्रतिज्ञा देवें। मैं आज से आखेट या खेल के रूप में कभी किसी प्राणीका शिकार नहीं करूँगा।"
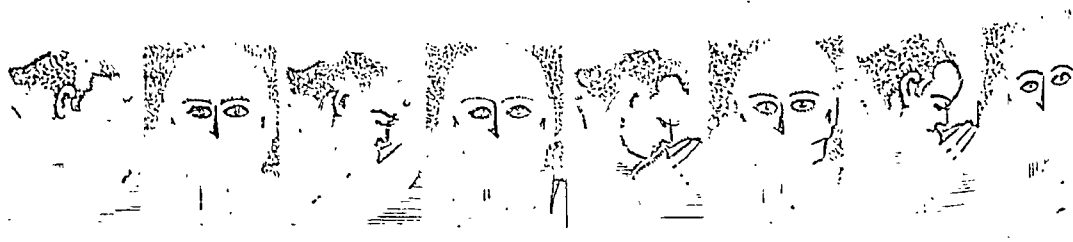
स्वामी हैं, उनसे पूछो कि फिर विना कसूंबा पीये उनका मन कहाँ रहता है? वास्तव में तो वे अफीम के दास हैं। इसका परिणाम धीरे धीरे यह आता है कि उसके विना नहीं चलता और उसका सेवन नहीं हो तब आलस्य रहता है। यह व्यसन बढ़ता ही जाता है और जीवन आलसी होता जाता है।

प्रजा में भी यह भावना आ जाती है कि वह भी अनाज की जगह अफीम की खेती पर ज्यादा ध्यान देती है। किन्तु पेट भरने के लिये तो अनाज चाहिये? फिर उसके लिये दूसरों का मुँह देखना पडता है। यह भी लाचारी है। सच्चे राजा को इन सब दासता - लाचारी आदि से उपर उठना चाहिये।

पूज्यश्री की बातों का राजा साहब पर ऐसा प्रभाव पडा कि राजा साहब उनके पास जब भी समय मिलता था तब आने लगे। एक बार पूज्यश्री राजा की विनति को मान्य कर महल में गये। वहां का वैभव उन्होंने देखा इधर प्रजा की गरीबी भी उन्होंने जान ली थी। जगह जगह बहुत से शिकार किये सिंह, हिरण आदि के मुखटे (कलेवर) लटक रहे थे। पूज्यश्री ने शिकार, मद्य-मांस आदि पर ऐसा सचोट प्रवचन राजा को दिया कि उन्होंने सातों व्यसनों का त्याग कर दिया।

पूज्यश्री ने यह भी स्पष्ट समझाया कि जिस राजा की प्रजा गरीब हो उस राजा का नाम नहीं होता। राजा रामचन्द्र से वीर विक्रम और महाराणा प्रताप से लेकर राणा जगतसिंह तक, उन्होंने अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके राजा रघुनाथ को सच्चे धर्म का ज्ञान कराया जिस में राजा का धर्म भी आ जाता था।

पूज्यश्री ने देलवाड़ा से विहार करने का निर्णय किया तब राजा रघुनाथराय के मन में बात खटकती रही कि मैंने इन संतों के पदार्पण का पूरा लाभ न लिया। पूज्यश्री आगे जिन गांवों में गये वे भी वहाँ पहुँचे और इस प्रकार उस कमी की उन्होंने पूर्ति की।

देलवाड़ा में भी उदयपुर के बडे-बडे श्रावकों ने आकर पुनः विनती की और अब पूज्यश्री का विहार मार्ग के गांव गांव विचरण करते उदयपुर चातुर्मास के लिये पहुँचने के लिये हुआ।

पूज्यश्री ने उन्हें पच्छक्खाण दिलाये। उनके साथ साथ अन्यान्य लोगों ने भी व्रत नियम लिये एवं पूज्यश्री को वहाँ विशेष ठहरने की विनति की जिसे पूज्यश्री टाल न सके।

देवगढ़ में धर्म प्रचार करके संत मेवाड़ के अन्यान्य गांवोको स्पर्शते हुए आगे बढ़ने लगे। पहाडियाँ, झील और हरे हरे खेतों के पास से संतों का रास्ता जाता था। झील में पडती पहाड की परछाईयाँ कई बार विचित्र द्रश्य उपस्थित करती थीं। कई कई जगह झील में कमल और वेल एवं पत्तों का जाल भी सुंदर बिछा हुआ दिखता था। साथ में चलनेवाले कई वार ऐसा भी बताते थे कि इन झीलों में कई जगह जल की वेलें नीचे ऐसी छाई रहती हैं कि कहीं तैरने वालों के पैर उस में फँस गये तो वह उसमें ही उलझ कर डूब जाता है।

देवगढ़ से, सरदारगढ़, कांकरोली और नाथद्वारा की ओर संत आगे बढ़ रहे थे। जहां जहां पर पूज्यश्री जाते थे वहाँ वहाँ पर लोग उनके प्रवचनों से प्रभावित होकर अत्यधिक संख्या में क्रमशः बढ़ते जाते थे। कांकरोली और नाथद्वारा वैष्णवों के पवित्र क्षेत्र हैं और वहाँ श्रीनाथ कृष्ण (विष्णू) को मानने वालों का ज़ोर था। पूज्यश्री के व्याख्यानों की और प्रवचनों की सर्व सामान्य शैली ऐसी होती थी कि वे अन्य लोगों के आगे उनकी ही बात जैन दर्शन के रंग में ऐसी रखते थे कि लोग मुग्ध हो जाते थे।

वे कहते थे कि श्रीकृष्ण के बारे में आप लोग जानते ही क्या हैं? लोग पूछते और कहते कि हम जानते हैं तो वे जैसा सूत्रों के अनुसार उसका वर्णन उस प्रकार करते थे कि सुनने वाला दंग रह जाता था।

नाथद्वारा में उनके प्रवचनों की धूम मच गई। जैसा अजैन सभी बडी संख्या में वहाँ आने लगे।
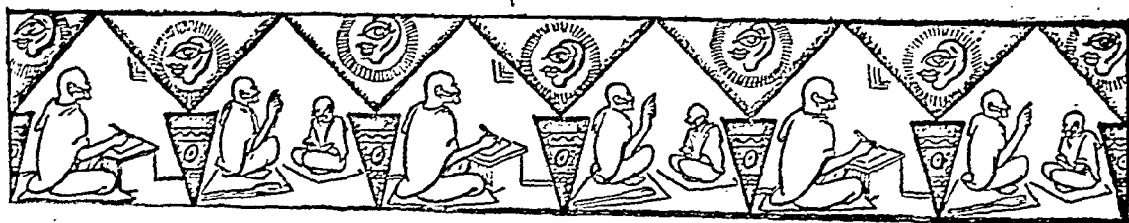
उन्ची उन्ची पहाडियों के पीछे उदयपुर वसा हुआ है। महाराणा उदयसिंह ने इसे वसाया था। वैसे मेवाड़ की राजधानी चितौड रहा था किन्तु उदयपुर वसने के वाद वही राजधानी वन गया था। सात झीलों के बीच में वसा हुआ यह शहर जैसे पहाडों का पुष्प हो वैसा शोभास्पद था। राणा के महल झील के किनारे लगे थे और वाजारों में वडी-वडी हवेलियाँ सामंत और वडे वडे सेठों की थी।

उदयपुर के लोग संतों के दर्शनों के लिये अधीर थे। उनके आगमन के समाचार सुनकर लोग वडी संख्या में सामने लेने गये। पूज्यश्री आदि संतों को देख कर दूर से ही लोगों ने जयजयकार किया। स्त्रियों ने मंगल-गीत गाने शुरू किये।

जेठ मास की अग्नि अभी तक छाई हुई थी। आषाड़ के दिन आ गये थे फिर भी लू और गरमी दोनों अपना प्रभाव जमाये हुए थे। किन्तु पूज्यश्री आदि संतों के पदार्पण के साथ लोगों ने अनुभव किया कि ठण्डी ठण्डी हवायें चलनी शुरु हो रहीं हैं। और पूज्यश्री आदि संत नौहरे में स्थानक तक पहुँचे तब तक काले काले जलधर आकाश में छा गये और वर्षा की पहली बौछार रिमझिम रिमझिम के गीत गाकर उनके आगमन का कल्याण-उत्सव मनाने लगी। लोगों में अपार हर्ष छा गया। उन्होंने पूज्यश्री के जयजयकार से थोडे क्षण वातावरण को गुंजा दिया।

सच्चे संतों के चरण जहाँ पडते हैं। वहाँ की भूमि पवित्र हो जाती है। वहाँ शांति प्रसर जाती है और अनोखा आनंद छा जाता है। किसी विद्वान ने सच कहा है:—

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थः, सद्यः साधुसमागम ॥[†]

साधु तीर्थ जैसे पवित्र होते हैं। उनके दर्शन से पुण्य मिलता है। तीर्थ यात्रा तो जब समय आता है तब फलवती होती है। किन्तु साधुओं का समागम तो तुरंत ही फलदायी होता है।

[†] सुभाषित रत्न भांडागार

श्रीनाथजी के मंदिर की समृद्धि के बारे में लोग बातें करते तब वे कहते कि वास्तव में श्रीकृष्ण के पास जो था उसके आगे यह किस विसात में हैं? द्वारिका नगरी का ही वर्णन वे पूरा कहां पर कर सकते हैं? द्वारिका नगरी तो ऐसी थी :—

द्वारिका नगरी तणो विस्तार ए ।
केतो सूत्र केतो परम्परा धार ए ॥

अडतालीस कोस में लांबी ने जाण जो ए ।
छत्तीश कोस में पहोली ते पिछाण जो ए ॥

सोनारो कोट ने रतननां कांगरा ए ।
हेठे तो पहोला वली उपर सांकरा ए ॥

सत्तरे गज ऊँचा, बारे गज नींव में ए ।
आठ गज चौडाई में, वीचली सीव में ए ॥

वहाँ की रिद्धि-सिद्धि का वर्णन करते हुए वे कहते :—

विरखा हुई दिन तीन मझार रे ।
सोनैया वर्षाने भरिया भंडार रे ॥

लोकांरा पुण्य दीसे घणा पूर ए ।
खावण ने अनाप मूंडे दीसे नूर ए ॥

वैश्रमण देवता एह रचना करी ।
प्रत्यक्ष जाणिये देवतानी नगरी ॥

वहाँ के मकान भवन कैसे थे? इसका भी वर्णन है कि :—

छिन्नु हजार आवास श्री कृष्णना ए ।
इकवीस भोमिया उंचा आकाशमां ए ॥
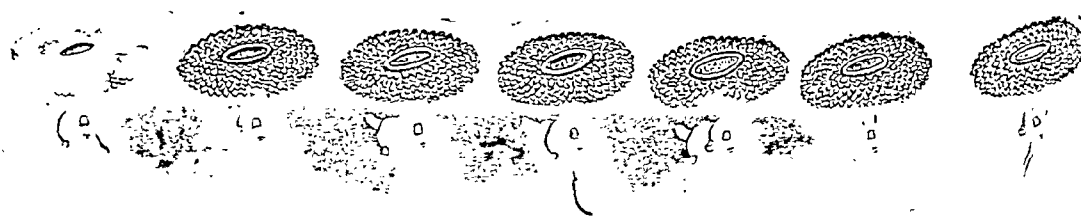
पूज्यश्री जयमलजी के लिये उदयपुर प्रवेश वैसा ही हुआ। लोगों ने उन्हें परम तीर्थ के समान समझा। उन्होंने जो प्रवचन किया उसे सुनकर लोग ऐसा अनुभव करने लगे कि जैसे अमृत की वर्षा हो रही है। उनके दर्शन करते जब लोगों की दृष्टि उनसे मिलती तो उन्हें यह अनुभव होता था कि जैसे अपार करूणा और वात्सल्य की वर्षा बरस रही है।

उन दिनों उदयपुर के तीनों बडे ओसवाल परिवार वाले राजदरबार में प्रमुख पद पर थे। महेता कुटुम्ब, शिशोदिया परिवार और बक्षीजी का परिवार संतों की सेवा में उपस्थित हुआ था।

महाराणा रायसिंह को पूज्यश्री के उदयपुर पदार्पण के समाचार मिल चुके थे। उन्होंने पहले भी पूज्यश्री के दर्शन किये थे और उनसे प्रभावित हुए थे। संतों के पदार्पण के साथ बरसात होने से उनका मन भी प्रसन्नता से भर गया था और उन्होंने भी अवकाश निकाल कर पूज्यश्री के दर्शन किये।

* * *

पूज्यश्री का सं. १८१३ का चातुर्मास उदयपुर था। उनके साथ श्री तेजसीजी म., श्री नथमलजी म., श्री प्रेमजी म., श्री गोवरधनजी म. थे। इस प्रकार पांच ठाणों का चातुर्मास था। पूज्यश्री रूघनाथजी म. सा. का चातुर्मास बगडी में था। श्री कुशलचन्जी म. सा. का चातुर्मास लांबा[‡] (मेवाड़) में था पूज्यश्री के अंतेवासी संत श्री थिरपालजी म. ठा. ४ से राजसागर चातुर्मास के लिये विराजित थे। श्री टीकमजी म. सा. आदि ठा. ३ से सादडी चातुर्मास में थे।

इस प्रकार पूज्य भूधरजी म. सा. के संतों के मेवाड़ में चातुर्मास थे। ऐसा मालूम हो रहा था कि मेवाड़ की वीर भूमि में धर्म के संस्कार भी उतनी ही दृढ़ता से भरे जा रहे थे जैसे पहले वीरत्व के थे।

---

‡ लांबा मेवाड़ के लांबिया - भीलवाडा के पास है मारवाड़ में भी २ है। १ तो पाली के पास में है। ४-५ कोस का अंतर है। २ रा "लांबा" "बाळा" नाम के दो गांव हैं। भावी विलाडा के पास में हैं। और लांबिया मारवाड पूज्य जयमलजी की जन्म स्थान भी है।
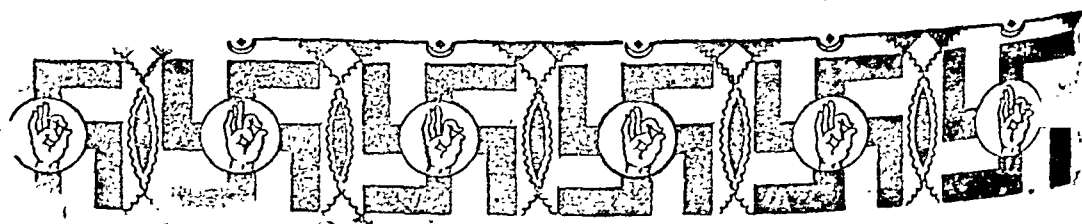
चौपन हजार आवास बलदेव रा ए।
भोम अठारे उंचा रह्या ऊपरा ए॥
बहोत्तर हजार आवास वसुदेवना।
दश भोमिया कह्यां दसे वसारना॥

इतनी विशाल द्वारिका नगरी में अन्य अनेक भवन थे। वे रंगविरंगे रंगों से, रंगे, चित्रों से सजे ओर राजमार्गो की शोभा बढ़ाते थे। समुद्रविजय, बलदेव, वीरसेन, उग्रसेन, महासेन आदि पराक्रमी वीर थे और प्रद्युम्न आदि कुमारों के निवास भी थे।

श्रीकृष्ण की राणियां और नगर की सुन्दरियों का वर्णन है कि :—

रुक्मणी आददे सहस बत्तीस ए।
राणियां हर्षधर पूरे जगीस ए॥
एक एक ने दोय वारांगना।
छिनु हजार गिनती करी आमना॥
एटला रूप श्रीकृष्ण वैक्रिय करी।
सुख संसारना भोगवे श्री हरी॥

इतनी सारी रिद्धि सिद्धि भुगतने पर भी श्रीकृष्ण जानते थे कि धर्म ही जगत में सारभूत है अतः वे धर्म की दलाली हमेशां करते थे। कहा भी है कि :—

धरम दलाली करी घणां ने तारिया।
दीक्षा दिलाय ने पार उतारिया॥
हिंसा में धर्म हिरदे नहीं आणता।
दया में धरम ते साचो कर जाणता॥
समकित दृढ़ तीर्थंकर पद लही।
मोक्ष विराजसी सिद्ध होसी सही॥

वैसे राणा प्रताप के समय, उसके पहले और बाद में भी ओसवाल जैन लोगों ने राज्य की बडी सेवा प्राप्त की थी। भामाशाह ने जिस प्रकार धन अर्पित किया था और अन्य ओसवाल वीरों ने मेवाड़ के लिये जिस प्रकार जीवन अर्पित किया था वह वहाँ के लोगों की ज़बान पर था।

महाराणा हमीरसिंह को चितौड़ का राज्य दिलाने में जिस प्रकार जालसी महेता ने मदद की थी वे राजवंशवाले भूले न थे। महाराणा उदयसिंह जब बालक थे तब पन्नादाई उसे बचाकर ले गई थी किन्तु उसको बनवीर के विरुद्ध आश्रय देने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी। वह कुम्भलमेरू के आशाशाह की मातेश्वरी ने सब संकट सामने होने पर भी अपने पुत्र को कहकर उसको शरण दी। उदयसिंह बडे होने पर, इसी आशाशाह ने कई सरदारों से मदद लेकर उन्हें राज सिंहासन दिलाया था। राणा उदयसिंह ने चितौड पर कब्जा पाया उसके पहले अरावली की पहाडियों में सुरक्षित नगर बसाया जो कि आज उदयपुर है। उदयसिंह के चितौड पर कब्जा कराने में अन्य एक ओसवाल मुत्सद्दी चीलजी महेता ने भी अपना सहयोग दिया था। उन्हीं दिनों अलवर से भारमलजी कावडिया आये जिन्होंने राणा उदयसिंह के शासन काल में रणथभोर के किलेदार से क्रमशः दीवान पद पाया। आपके ही सुपुत्र भामाशाह थे जिन्होंने महाराणा प्रताप को २५०० से सैनिकों को बारह वर्ष तक चले उतना धन अर्पण करते हुए कहा था :—"अन्नदाता। यह तन और यह धन देश की स्वतंत्रता के लिये काम न आये तो किस कामका? आप (देश) का ही धन है सो आप (देश) को दे रहा हूँ।" पश्चात न केवल धन देकर, किन्तु युद्धों में लडकर भी भामाशाह ने वह पराक्रम दिखाया कि मेवाड़ के शासकों ने उनका नाम ओसवान घरानों में सर्व प्रथम रखा जो सन्मान वर्षों तक चलता रहा।

मंत्री संघवी दयालदास ने महाराणा राजसिंह (प्रथम) के समय वह देश सेवा की कि महाराणा राजसिंह ने संवत १७४९ के महा सुदी ५ को एक फरमान प्रगट किया :—
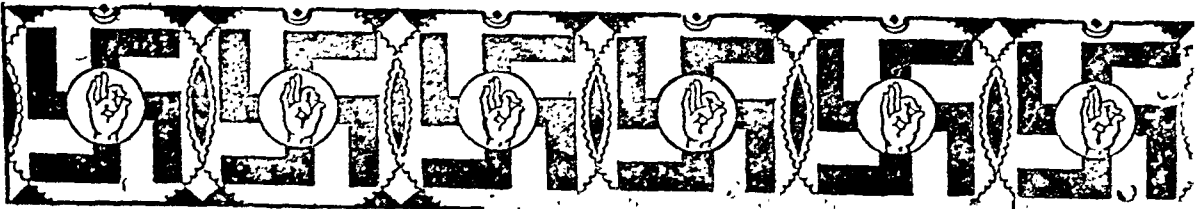
लेकिन जिस प्रकार सोने की लंका एकव्य सनसे जलकर नाश हुई उसी प्रकार मद्य पान के दूसरे व्यसनसे द्वारिका नगरी का भी नाश हुआ। समर्थ श्रीकृष्ण भी कुछ न कर सके।

सोदनी नगरी सूत्रनी साख ऐ।
ते पण बल जल हुय गई राखए॥
किसनजी को मनहुओ दिलगीरए।
कोई दिसे नहीं मेटि सके पीडए॥
जोड जादवां तणी सोहनी सूलए।
देखतां देखतां हुय गई धूलए॥

ऐसा कहा जाता है कि जब द्वारिका नगरी जलकर भस्म हो रही थी और सभी यादव स्त्रियों को सुरक्षित स्थान पर अर्जुन आदि पांडव ले जा रहे थे तब रास्ते में वनवासियों ने उन पर हुमला किया ओर उनको लूंटा। इसलिये यह सुप्रसिद्ध हुआ है कि:—

समय अति बलवान है, नाहीं पुरुष बलवान।
काबे अर्जुन लूटियो, याही धनुष याही बान॥ ‡

उस समय अर्जुन आदि का कुछ भी नहीं चला। इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि:—

एह संसार, प्रत्यक्ष असारए।
केहना माता पिता सुत दार (स्त्रियां) ए॥
एकलो आयो ने एकलो जावसी।
नहीं चेत्या तिके घणुं पछतावसी॥
एहवो जाण निरग्रंथ गुरु धारिये।
कुगुरु, कुदेव, कुधर्म निवारिये॥

---

‡ कहीं ऐसा भी उल्लेख मिलता है:—

तुलसी नरका कहां बडां समय बडी बलवान।
काबां लूटी गोपिका वे अर्जुन वे बान॥
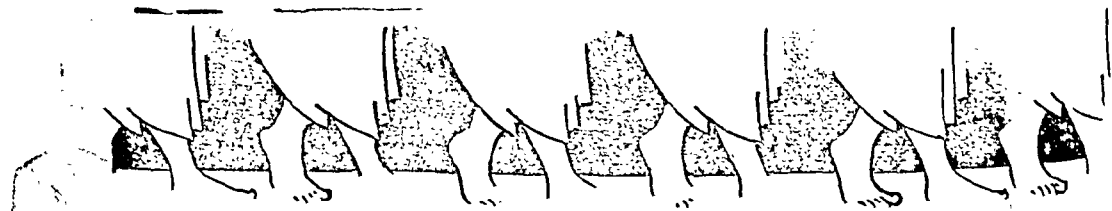
"महाराणा श्री राजसिंह मेवाड़ के दशहज़ार गावों के मालिक, अपने मंत्री और गांव के हाकिमों (मुखी) को आदेश देता है। सब अपने अपने पद के अनुसार पढ़ें:--

(१) प्राचीन काल से जैनियों के मंदिरों और स्थानों को जो अधिकार मिला हुआ है, इस कारण कोई मनुष्य उनकी सीमा में जीववध न करे। यह उनका पुराना हक़ है।

(२) जो जीव नर हो या मादा, वध होने के अभिप्राय से इनके स्थान से गुजरता है वह अमर (उसका वध नहीं होगा) हो जाता है।

(३) राजद्रोही, लुटेरे और कैद से भागे हुए महापराधी को भी जो जैनियों के उपाश्रय में शरण ग्रहण कर लेगा, उसको राजकर्मचारी नहीं पकड़ेंगे।

(४) फसल में कूँची (मुट्ठी) किराणे की मुट्ठी, दान की हुई भूमि, धरती और अन्य श्रावक एवं उनके 'अन्य बने हुए' उपासरे कायम रहेंगे।

इस फरमान को यतिमान की प्रार्थना पर राणा की ओर से मंत्री दयालशाह ने जाहिर किया था और जैनियों के हक़ कायम किये गये थे। उसका पालन करने हिन्दु को गौ की और मुसलमानों को सूवर की कसम दी गई थी।

वैसे मेवाड़ परम प्रतापी जैनाचार्यों का विहार, प्रचार और धर्म प्रसार का सदियों से क्षेत्र रहा था। एक समय मेवाड़ में चैत्यवासियों का ज़ोर था। जिस के विरूद्ध चितौड़ जाकर आचार्य जिनवल्लभसूरि ने सच्चे धर्म का प्रचार किया। यहां से आपने सच्चे धर्म की पताका पूर्व में धारा नगरी, उत्तर में नागौर और पश्चिम में बागड (कच्छ) तक फैलाई। इन्हीं के चरणों पर जिनदत्तसूरि जिनचन्द्रसूरि, जिनकुशलसूरि आदि वडे वडे आचार्यो ने अरावली की पहाडियों में वसे राजस्थान के समस्त प्रदेश आबु से अजमेर तक जैन धर्म का प्रचार किया। इतना ही नहीं उस समय जो अनेक जैन वनें और जैन ओसवाल जाति में संमिलित हुए उसमें कई जातियों का प्रारंभ इन आचार्यों के धर्म प्रचार का परिणाम था।

पूज्यश्री जयमलजी को जैन इतिहास की वहुत सी बातें सुविदित थी। लेकिन जहाँ एक समय चैत्यवासियों के विरूद्ध वडे वडे आचार्यो ने क्रियोद्धार किया था और स्वयं
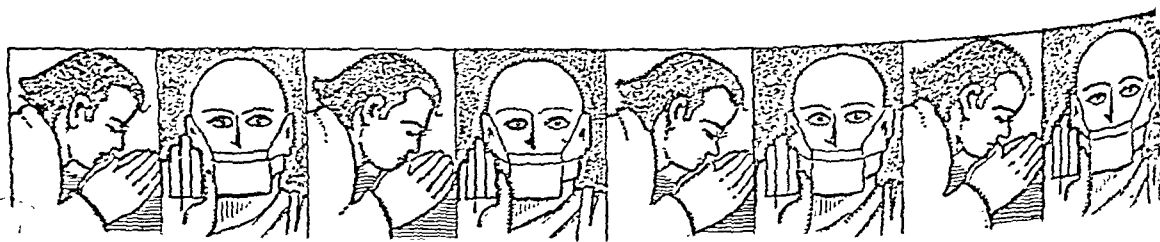
पूज्यश्रीजी जयमलजी साथ हमेशां चेतना का संदेश भरते ही थे। वे कहते :—

मोह कषाय ने छोडी काया कसो।
निडर नगरी मोक्ष मांहे बसो॥
सासता सुखां सू राखजो प्रेम ए।
सदा, वरते जठा कुशल क्षेम ए॥
निर्मल भावथी कीजो नित नेम ए।
रिखी जयमल कहे एम ए॥

पूज्य मुनिश्री के इन प्रेरक प्रवचनों से बहुतसों के मन वैराग्य से रंगने लगे। उनके प्रवचनों का आकर्षण इतना होता था कि लोग उदयपुर से नाथद्वारा तक प्रवचन सुनने आते थे।

वहीं पर उदयपुर के आये हुए भाइयों ने वडी भाव भरी बिनती की :— "हमारे अहोभाग्य से आपका मेवाड़ में आना हुआ है। इस के पूर्व उदयपुर में आपके ही संत कुशलचन्दजी म. सा. ने हमारे हृदय में सच्चे जैन धर्म के संस्कार भरे हैं। उनसे और अन्यों से हमने आपके महिमा पूर्ण चरित्र को जाना है। आप वहां पर पधारे ओर चातुर्मास कर हमारे मन में धर्म की श्रद्धा ओर भी स्थिर करें।" ‡

---

‡ पूज्यश्री जयमलजी महाराज उदयपुर आवजो . . . ३
म्हांरी अरजी करो मंजूर
हामल भरलो आप हजूर
उदयपुर नाही जादा दूर . . . " " ३

मोटो जनपद है मेवाड़
फरसो पूज्य आप पहुधार
होसी विना पार उपकार . . . " " ३

ध्यान में वन्सी वलवंतराय,
भेट्या जयमलजीरा पाय
शहर विनंति करने आय . . . " " ३
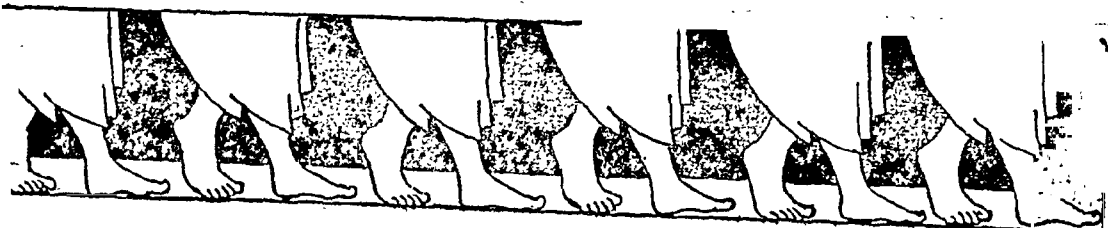
कडक कहलाये थे उन संप्रदायों में भी कुछ पुरानी चैत्यवासी प्रथायें चल पडीं थीं और आत्मानुलक्षी जैन धर्म पर जड-पूजा का रंग चढ़ाया जा रहा था।

इन सारी बातों को ध्यान में रखकर पूज्यश्री जयमलजी अपने प्रवचनों में लोगों को सच्चे देव, गुरु और धर्म की पहेचान करने के लिये कहते थे।

देव कौन हैं? जिन्होंने चौतीश अतिशय पाये हैं; पैंतीश प्रकार की वाणी का जो उच्चारण करते हैं।

कहते हैं कि:—

चौतीश अतिशय परिवर्यारे, वाणी गुण पैंतीश।
इसडा देव आराधले ज्यां जीत्या राग ने द्वेश॥
ज्यांरी करणी विसवासीसरे।
जिणने तुमे नामो शीशरे॥
पूरे मनकी सहु जगीशरे।
तुमे आठ कर्म द्यो पीसरे॥
पद पामो सिद्ध जगदीशरे।
तू तो चेत चेतरे प्राणिया॥

ऐसे देवका आराधन करो जिन्होंने रागद्वेश को जीत लिया है, जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं का नाश किया है। जिनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र विश्वास के योग्य है उनके आगे शीश झुकाओ कि तुम्हारे मनकी आशा पूर्ण होगी। उनका आराधन कर संयम मार्ग में आगे बढो! आठ कर्मों को नाश कर सकोगे और सिद्ध पद को पा सकोगे।

इन देव को बताने वाले गुरु कौन होने चाहिये? वे निर्ग्रंथ श्रमण हैं। जिन को संसार की कोई भी ग्रंथि, गांठ-सांठ लगी नहीं हुई है। जो पांच महाव्रत का पालन करते हैं। पांच इंद्रियों को जिन्होंने वश में रखा है, पांच आचार* का पालन करते हैं। नववाड विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

*ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य।

पूज्यश्री ने उन सभी की विनति को ध्यान में रखकर कहा :—"मेवाड़ आने का उद्देश्य यहाँ के लोगों में धर्म जागृति लाना है। संत कुशलचन्दजी का मेरे प्रति सदैव आत्मभाव रहा है और वे मेरे बारे में जो कुछ कहते हैं, उसके लायक हूँ या नहीं यह तो ज्ञानी जानते हैं। वैसा चारित्र उन्नत बनता जाय वैसा मेरा विनम्र प्रयास रहता है। उदयपुर के श्रावकों की भाव भरी विनति है तो पुद्‌गल स्पर्शना अनुकूल रहने पर वह पूरी होगी।"

उदयपुर के श्रावकों के मन प्रसन्नता से भर गये। उनके साथ आये कुछ सज्जनों के भाव चढ़ते थे और उन्होंने पूज्यश्री के साथ साथ रहने का निर्णय किया। वे पूज्यश्री के पास ही रहने लगे। साधुचर्या को वे जानने लगे, समझने लगे और पूज्यश्री की स्वीकृति से वे उस ओर अपने जीवन को मोडने लगे।

चातुर्मास को और भी दिन बाकी थे और पूज्यश्री ने इन दिनों में विशेष उग्र विहार कर आसपास के क्षेत्रों में विचरण किया।

उनका विहार का रास्ता मावली पर्वत की घाटियों के बीच होते हुए भीन्डर कानौड आदि की ओर जाता था। इसी रास्ते पर थोडे से अलग फटते हुए रास्ते में सुप्रसिद्ध हल्दी घाटी आती थी।

जैसा नाम था वैसी वहां पर हल्दीसी पीली रंग की मिट्टी चमक रही थी। किनने ही वीरों का शोणित रक्त पीकर इसका रंग और भी गहरा पीला एवं केशरिया सा हो गया था। राणा प्रताप, चेतक घोडा औ(वीर राजपूतों के स्वमान की यह मौन साक्षी सी थी। इसके साथ अनायास ही मुक्ति के लिये संग्राम करनेवाले लोगों के रास्ते कितने कठिन होते हैं यह बात स्वतः प्रगट होती थी।

संतों का भी ऐसा ही था। ये आत्मा की स्वतंत्रता के लिये घरबार छोडकर चल रहे हैं और संसार के प्रलोभनों से सदैव लडते रहते हैं। राणा प्रताप चाहते तो मुगलाई शहन्शाहत के गुलाम बन कर ऐश कर सकते थे किन्तु उन्होंने उससे अधिक मूल्य अपनी आज़ादी का आंका था। संत गण भी संसार के कर्मों की गुलामी स? भोग-विलास के बदले

कहते हैं कि :—

वांदो गुरु तुम एहवारे पंच महाव्रत धार रे।
बारह भेदे तपस्या तपे, पाले शील है नववाड रे॥
कही दुकर दुकर कार रे।
करे त्रस थावरनी सार रे॥
लेवे निर्दोपित आहार रे।
घणा जीवाने दिया तार रे॥
वां पुरुषोकी सेवा सार रे।
तूं तो चेत चेतरे प्राणिया॥

ऐसे गुरु - आचार्य जिन्होंने जिनेश्वर प्ररूपित धर्म का प्रकाश अनेक भवि जीवों के हृदय में किया है और उन्होंने भवसागर को पार किया है।

वह धर्म कैसा है? क्या बाह्य क्रियाकांडो और जडपूजा से उसकी प्राप्ति होती है? ज्ञानी कहते हैं कि अहिंसा, संयम, तप रूप धर्म ही सच्चा धर्म है और उसके पालन करने से ही मुक्ति मिल सकती है।

कहते हैं कि :—

मुक्ति नगरनो दायको रे, केवली भाषित धर्म।
साचे मन तुमे शरणलो, थांरी सद गुरु राखे शर्म॥
तमे मेटो[1] मन का भर्म रे[2]।
प्रकृतिने राखो नर्म रे॥
ज्यों टूटसी आठों कर्म रे।
थाने उपजसी सुख पर्म रे[3]॥

---

1 मिटाना 2 भ्रम 3 परम

आत्मा की मुक्ति को विशेष पसंद करते हैं और संयम रूपी तलवार से कर्म रूपी शत्रु का नाश करते रहते हैं।

ऐसे देशभक्त के युद्ध की सुप्रसिद्ध हल्दी घाटी देखकर संत आगे चल पड़े। छोटे बड़े गांवों को स्पर्श करते हुए वे देलवाडा पहुँचे। लोग उनके प्रवचनों का लाभ लेने लगे।

पूज्यश्री अपने प्रवचनों में व्यसन की गुलामी हटाने के संबंध में सविशेष विश्लेषण करते थे। मेवाड़ यात्रा में और इस ओर के विहार के अन्य क्षेत्रों में उन्हें एक बात जान कर बड़ा दुःख होता था कि बड़े-बड़े लोगों में कसूंबा-केशर का मादक सेवन, नाच मुजरा आदि का प्रचार है और छोटे-छोटे लोगों में हुक्का पानी के हिसाब से तंबाकु का अधिक सेवन प्रचलित है। उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था कि लोग अनाज उगाने की उतनी चिंता नहींकरते थे, जितनी वे अफीम के डोडे उगाने की करते थे।

उनका कहना था कि यह सारे के सारे शरीर की निकृष्ट गुलामी के बंधन हैं। यह भी क्या बात है कि बिना उसका सेवन किये शरीर में चेतन ही नहीं आता?

देलवाडा के राजा रघुरणदेव सिंह थे। लोग उन्हें राजा रघुनाथजी कहते थे। वे शक्तावत शाखा के मेवाड़ के सामंतों में से थे। वे अत्यंत व्यसन प्रिय व्यक्ति थे। कसूंबा-केशर के सेवन के बाद चेतना आती तो वे नाच-गान, मूजरा या शिकार में लग जाते थे। उसका भी उन्हें व्यसन था। इसके सिवाय उन्हें धार्मिक कार्यों में कोई रुचि हो ऐसा दिखता न था।

पूज्यश्री नगर में पधारे हैं और लोग बड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ उनके प्रवचनों का लाभ ले रहे हैं साथ ही व्यसन त्याग संबंध में द्रष्टांत सहित उनके प्रवचनों से अनेकानेक लोग प्रभावित हुए थे और उन्होंने व्यसन त्याग किये थे ऐसा उन्होंने भी सुना था। इन त्यागियों में एवं दरबारियों में बहुत से ऐसे थे जो नित्य पूज्यश्री के व्याख्यान का लाभ लेते थे। इसलिये राजा रघुनाथजी के हुजूर में हाज़री कम हो रही थी। उन्हें यह अनुभव हुआ कि हालांकि उनके दरबार में और हुजूर में सब मौज-शौख का प्रबंध होने पर भी
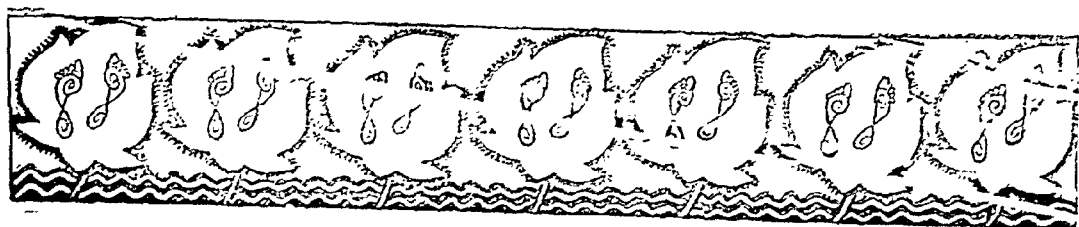
ओ समझोनी मांहिलो मर्म रे ।
तूं तो चेत चेतरे प्राणिया ॥

संसार में मुक्ति दिलानेवाला यही केवली प्ररूपित दयामय धर्म है । जो जीव सच्चे मनसे इसकी शरण जाता है उसका बेडा पार हो जाता है । सच्चे सद्गुरु ही जीवों को दुर्गति में पडते देख उनको उस हालत से बचाने, उनकी शर्म रखने आते हैं और इस धर्म का उपदेश देते हैं । अपने मन में सांसारिक सुख और सच्चे सुख के बीच जो भ्रम बांध रखे हैं उसे मिटाओ, अपनी प्रकृति हमेशां नरम रखो । उग्र प्रकृति के कारण-जीव अनेक कर्म बांधता है किन्तु नरम-प्रकृति भद्रस्वभाव के कारण नये कर्म बांधते हुए विचार करता है । और इस प्रकार जब आठों कर्म का नाश होता है तब परमसुख रूपी सिद्धत्व प्राप्त होता है । यही धर्म का सच्चा मर्म है जो प्रत्येक समझदार को समझना चाहिये ।

पूज्यश्री के उपदेशों का असर जनता पर अच्छा पडने लगा । लोगों ने संतों की तपस्याओं से प्रेरित होकर बहुत से व्रत तप किये । मुनिश्री नथमलजी म. सा. के ३५ दिन के उपवास का पारणा आया । उनके साथ बहुत से लोगोंने अठाइयाँ आदि कीं ।

उनके उपदेशों से प्रेरित होकर उदयपुर के जो पांचो वैरागी दीक्षा की तैयारी कर रहे थे उनकी दीक्षा का उत्सव उदयपुर में मनाने का निश्चित किया गया । उदयपुर श्री संघ की और से सभी जगह निमन्त्रण भेजे गये ।

नगर के बाहर वटवृक्ष के नीचे पूज्यश्री ने उन्हें दीक्षा दी । इस दीक्षा समारोह देखने जैनों के साथ अजैन भी बडी संख्या में उपस्थित हुए । बाहर गांव से भी बडी संख्या में लोग इस उत्सव में भाग लेने आये । उनके स्वागत-भोजन आदि का प्रबन्ध श्री संघ ने किया । दीक्षार्थियों के साथ बहुतसों ने व्रत नियम अंगीकार किये ।

हालांकि चातुर्मास के दिन थे और सूर्य अक्सर बादलों में छुप जाता था किन्तु पूज्यश्री अपने ज्ञान का प्रकाश विना अवरोध के फैला रहे थे । अत: लोगों के मुँह से कई बार ऐसा सुनाई देता था कि "चाहे, वह सूर्य बादलों में छुप जाता है किन्तु पूज्यश्री

लोग उसे छोडकर इन संतों के पास जो रहे थे। ऐसे प्रभावशाली संतों को देखने की उन्हें मन में ईच्छा हुई।

सामान्यतः हिन्दु धर्म के अन्य जो संत-महंत आते थे वे तो स्वयं दर्शन देने ओर नगर में राज्य प्रबंध पाने के लिये राजा के पास स्वयं जाते थे। किन्तु न तो इन जैन संतों ने कभी इधर आने की आवश्यकता समझी और न किसी के मारफत ही कोई विशेष प्रवन्ध की मांग की। उन्हें आश्चर्य हो रहा था ओर वहुत दिन वीतने पर उनसे रहा न गया और वे स्वयं कुतूहल वश पूज्यश्री आदि संतों को देखने चल पडे।

उस समय दुपहर ढलने लगी थी।

पूज्यश्री अपने शिष्यों को सूत्रों के पाठ समझा रहे थे। पास में वैठे अन्य वडे संत, अन्य छोटे संतों के पाठ सुन रहे थे एवं एक ओर संत लेखनी से लिख रहे थे।

सभी ज्ञानाभ्यास में लगे हुए थे। आस पास कुछ वैरागी वैठे-वैठे कुछ गाथायें कह रहे थे। कोई वेकार वैठा हो ऐसा नहीं मालूम होता था। इन सभी के वीच पूज्यश्री की प्रतिभा अलग ही दिखाई देती थी।

रघुनाथराय ने दूर से संतों को एक नजर डाल कर देख लिया। इस सादगी पर उन्हें अचंभा सा हो रहा था। न कोई सुशोभित, रंगीन या जवाहरों से जडित आसन था! न कोई वढ़िया मृगचर्म था! धरती से वेंतभर ऊँचे एक पाट पर सामान्य सफेद वस्त्रों का विछाया एक आसन था।

राजा रघुनाथ आगे वढ़े। किन्तु सभी ज्ञानाराधना में इतने व्यस्त थे कि उनके आगमन से कोई विचलित न हुए। वे भी शांति भंग न हो वैसे अपने जूते, आदि वाहर रखकर हल्के पैरों से पूज्यश्री के पास आये ओर हाथ जोड़कर खडे रहे।

पूज्यश्री ने "दया-पालो .... !" कहा! ओर राजा रघुनाथ उनके निकट वैठ गये। राजा ने उनसे कहा:—"आपके आसन, मृगचर्म आदि नही है?"

पूज्यश्री ने जैन संतों के आचार विचार की मर्यादा वताई। इस वीच अन्य लोग भी आ गये थे और पूज्यश्री समझ गये कि यह स्वयं राजा रघुनाथ हैं।
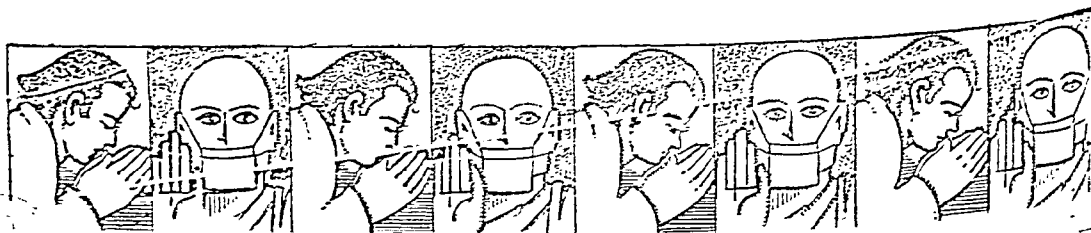
जयमलजी रूपी दूसरा सूर्य चमक रहा है और ज्ञानका प्रकाश फैल रहा है अज्ञान रूपी अंधेरा दूर हो रहा है।

वास्तव में उदयपुर में दूसरा सूर्य चमक उठा था। चातुर्मास भर में उनके द्वारा ज्ञान का प्रकाश पडने से अनेक आत्माओं में प्रकाश छा गया था और वे ज्ञान-दर्शन चारित्र तप की आराधना करके जीवन को शुद्ध संस्कारी बना रहे थे।

महाराणा रायसिंह ने भी उनके उपदेशों से प्रेरित होकर प्रवचन सुनना प्रारंभ किया था। महाराणा स्वयं सूर्यवंशी थे। वे सूर्य के समान थे उनके सामने पूज्यश्री जयमलजी भी धर्म सूर्य के रूप में विराजमान होते थे। ऐसा मालूम होता था जैसे दो सूर्य का उदय हुआ हो; एक सांसारिक और दूसरा धार्मिक। ऐसा किसी ने सच कहा है:—

उदयपुर में उदय हुआ दोनों सूर्य महान

लेकिन धर्म-सूर्य का प्रकाश, संसार के सूर्य पर पडा और राणा रायसिंह ने भी व्यसन त्याग एवं अन्य व्रत ग्रहण किये। उनके साथ दरबार के अनेक उमराव और दरबारियों ने भी व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण किये।

इस प्रकार पूज्यश्री जयमलजी ने चातुर्मास भर में नई चेतना से परिपूर्ण प्रवचनों से लोगों को प्रभावित एवं प्रेरित कर उन्हें धर्म में अग्रसर करने लगे। उनके प्रभाव से उदयपुर में सच्चे धर्म के जो संस्कार दृढ़ हुए वे वर्षों तक कायम रहेंगे ऐसा प्रतीत होने लगा।

चातुर्मास पूर्ण होने पर पूज्यश्री ने सन्तों के साथ उदयपुर से विहार किया। लोग उन्हें दूर-दूर तक पहुँचाने गये। पूज्यश्री ने विदाई प्रवचन में धर्म-श्रद्धा मजबूत करने का सन्देश दिया जिसको उन्होंने आत्मसात किया। पूज्यश्री के विहार के बाद भी उदयपुर के स्थानक में सामायिक प्रतिक्रमण, पौषध आदि क्रियायें चालु रहीं।

पूज्यश्री के मेवाड़ विहार में सन्तों के लिये एक नया क्षेत्र खोल दिया था जिसकी साक्षी आनेवाली पीढ़ियों ने भी दी।†

† आज भी उदयपुर साधु मार्गीय सन्तों का बडा केन्द्र है। पूज्यश्री धर्मदासजी म० सा० के शिष्यों में से पू० पृथ्वीचन्द्रजी म० सा० की सम्प्रदायों के सन्तों ने आगे चल कर मेवाड को ही विहार-प्रदेश बना लिया और वे एकलिंगदासजी म० सा० की सम्प्रदाय से प्रख्यात हुए।

८

जय - गुरु प्रवचन

जयमल और उनके साथी खड़े थे कि कुछ लोगों की नज़र उनकी ओर गई। उन्होंने पहचान लिया कि ये तो लाँबिया के कामदार साहब के पुत्र हैं और साथ उनके साथी हैं।

उन दिनों में महेता, कामदार राज - काज में लगे रहने से और कुछेक उपर दवाव आने से, वे ओसवाल होने पर भी उनमें वैष्णव - संस्कार जम रहे थे। राजा - महाराजा के साथ रहने से वे वैष्णव - धर्म के पर्व और त्यौहार अधिक मनाते थे। राज - काज में दवे रहने से धार्मिक क्रिया - काँड़ों से भी दूर रहते थे।

इसके उपराँत भी उस समय " संशोधन करनेवाला " क्रियोद्धारक स्थानकवासी - मार्ग अभी अभी पृथक ही शुरू हुआ था। लोंकाशाह ने धर्म - क्राँति का मार्ग तो बता दिया था; किन्तु लोगों पर उसका पूरा प्रभाव नहीं पड़ा था। स्वयं लोंकागच्छ के अन्दर भी एक परिपाटी गद्दी, पालखी, आसन की चल पड़ी थी। वे चाहते थे जैसे वैष्णव - महंत ठाठ - पाट से रहते थे वैसे वे भी रहें और यन्त्र - तन्त्र - मन्त्र के नाम पर लोगों में अपना प्रभुत्व जमाये रहें। वे मानते थे कि लोंकाशाह ने ऐसा ही मार्ग चलाया था — इतना ही नहीं; कई यति, पोतियावन्ध गृहस्थवासी रहकर, लोंकाशाह के नाम पर जूठा प्रचार करते थे कि लोंकाशाह भी गृहस्थी थे और उन्होंने यही वेश हमें दिया है।

उसके विरोध में जव स्थानकवासी साधु लोग अलग हुए तो उन्होंने उन्हें ढूँढिया कहकर चिढ़ाना शुरू किया। इतना ही नहीं उन्होंने जहाँ - जहाँ अपना मठ, पाठशाला या गद्दी वना रखे थे वहाँ यह भी प्रचार करना शुरू कर दिया था कि " ये लोग तो जवान वच्चों को वहका कर ले जाते हैं; उनके परिवारवालों को भी ये पूछते नहीं और कितने ही माँ - वाप रोते रहते हैं। कितनी नारियाँ विलखती रहती हैं। " उनके विचारों की छाप भी वहुत से लोगों पर थी। इनमें से ये कामदार महेता या राज के कोठारी वर्ग पर इनकी छाप अधिक थी।

परिणाम स्वरूप ये राज-काजवाले ओसवाल कुल के व्यक्ति बहुत कम संतों के दर्शन प्रवचन को आते थे; जिसमें युवान-वर्ग का संपर्क बहुत कम रहता था।

अत: जब जयमल को कुछ लोगों ने पहचाना तो उन्होंने कहा :—"महेता जी, आगे आइये! आपके आने से औरों पर भी छाप पड़ती है!"

लेकिन जयमल और उनके साथी वहीं बैठ गये।

* * *

चातुर्मास का आज अंतिम दिन था। आचार्यश्री अपना प्रवचन दे रहे थे :—

"चार-चार मास से हम से बना उतना धर्म का उद्योत आपको करवाया; अब तो हमारा विहार होगा — किन्तु धर्म की आराधना वैसे ही करते रहना चाहिये। हमने तो धर्म-वृक्ष का बीज बो दिया है; उसको क्रिया-चारित्र्य के जल से सिंचकर, ज्ञान से रखवाली कर विकसित करना है। ये आपको ही करना पड़ेगा।

कोई कहते हैं और आग्रह भी करते हैं कि हम यहीं पर क्यों न ठहर जाँये। लोगों में और भी धर्म जागृति होगी। मगर साधु का मार्ग कठिन है। श्रमण भगवान महावीर ने तो साधु को निरंतर परिव्रज्या करने को कहा है। उसे तो पैदल विहार कर सभी क्षेत्रों को स्पर्शना है; एक स्थान पर बन्ध गये तो फिर साधु-संसारी में कौन-सा अंतर रहता है?

साधु जीवन तो बहता हुआ पानी है; बहेगा तब तक शुद्ध रहेगा और रुक गया, जम गया तो उसमें नाना प्रकार के कचरे और मैल आ जायेंगे! जो स्वयं मैला है तो वह कैसे दूसरों के पाप-मैल को धो सकेगा....?

आप सभी को मानव-जन्म मिला है? इस पर भी आपको जैन-कुल और धर्म का संस्कार मिला है और पूरे चार-चार मास तक धर्म की जागृति आपने की है, ये जागृति आपको चालु ही रखने की है।

५६
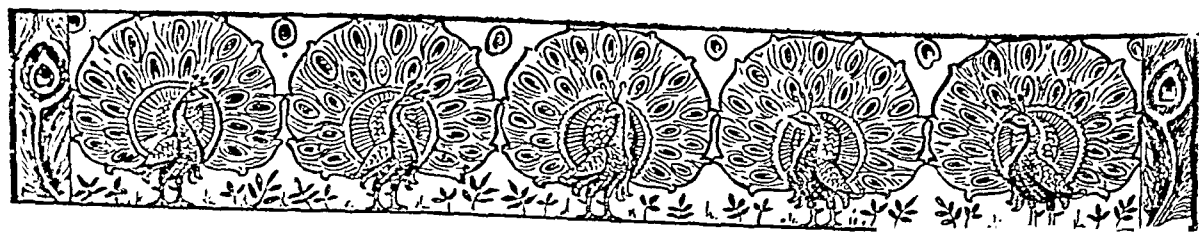
जय - रायचंद दीक्षा
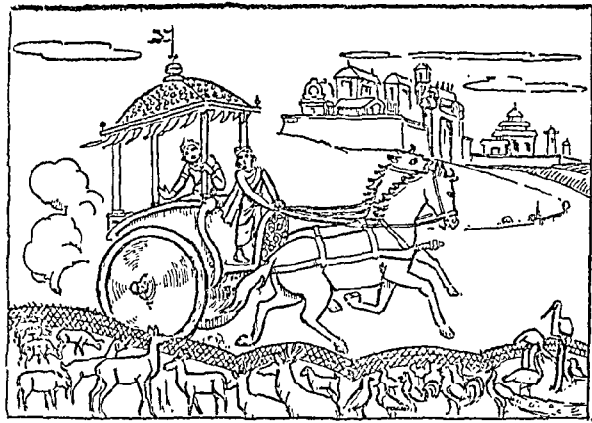
उदयपुर से विहार कर पूज्यश्री आदि संत मेवाड़ के अन्यान्य गांवों को स्पर्श करते हुए मारवाड़ की ओर चल पड़े। पूज्यश्री का प्रभाव फैल चुका था। अतः लोग बड़ी संख्या में उनको सामने लिवाने आते थे और उनके प्रवचनों का लाभ लेते थे।

लोगों में उनके प्रवचनों का अच्छा असर पड़ता था। आध्यात्मिकता का पुट लिये उनका प्रवचन संतप्त लोगों के मनको शांति पहुँचाता था। वे भौतिक सांसारिक सुखों का ऐसा खुलकर चित्रण करते थे कि लोगों को सच्चा सुख क्या है उसका अनुभव होता था। और लोगों में धर्म ध्यान का अच्छा प्रचार होने के साथ - साथ ज्ञान - ध्यान में लोग गहरे उतरते जाते थे।

मेवाड़ से गोडवाड़ होते हुए मारवाड का रास्ता पहाड़ियों का था। अरावली पर्वत की एक श्रृंखला इस मार्ग में खडी थी। पर्वतीय हरियाली अत्यंत सुंदर मालुम होती थी। जलाशय जल से भरपूर मालुम होते थे। और मकाई, ज्वार, बाजरा, चना, मूंग आदि के खेत हरे भरे दिखते थे।

मावली की घाटी उतर कर पुनः नाथ द्वारा आये। वहाँ से कांकरोली आये। यहाँ पर बना विशाल राजसागर एक बडी झील थीं वैष्णवों का यह भी बडा तीर्थ था। फिर भी पूज्यश्री के पास सभी प्रकार के लोग आते थे। उनका दृष्टिकोण हमेशा उदार रहता था और वे मानते थे कि साधु के मुख से कभी ऐसी कोई बात नहीं निकले जिस से किसी के हृदय को ठेस लगे। साधुका जीवन चरित्र इतना उन्नत होना चाहिये कि सब उसके पास आकर अभय का अनुभव करे और शांति को प्राप्त करे।

राजसागर से अन्य संतों का मिलन हुआ और अलग अलग विहार करते सभी बैट गये। पूज्यश्री के साथ नये दीक्षितों के साथ दश संत थे। सरदारगढ़, देवगढ़ होते हुए उन्होंने खामली घाट को पार किया और आगे बढ़ते हुए वे मारवाड़ - सादडी † नगर में पहुँच गये।

---

† मेवाड में भी छोटी सादडी एवं बडी सादडी दोनों है।

और लोग दूसरों को देख कर धर्म क्रियायें करने लग जाते थे; किन्तु आत्मा पर असर नहीं होता था। उनको वे चेतावनी देते थे :—

देखा देखी लोकने रे, माला झाली हाथ।
नाम उपर नेहचो नहीं, विच विच मांडे वात रे॥

वलि विषय नजरनी घात रे।
थारा यों ही जावे दिन रात रे॥

तूं तो डरपे नहीं तिल मात रे।
वण्यो पापमूर्ति साक्षात् रे॥

तूं लजावे मात ने तात रे।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया॥

अनन्त काल फिरता रहा है। अभी तक उसका अन्त आया नहीं है और न उससे आत्मा को मुक्ति मिली है। अतः ज्ञानी कहते हैं :—

भमतां भमतां नर भव तणो रे, नीठां मिल्यो छे तन्त।
धन परिजन मेलावडो, तने मिल्यो वार अनन्त रे॥

अजहुं न आव्यो अंत रे।
कोई सैंठा न मिलिया संत रे॥

ते सेव्या पाखंड मंत रे।
वलि धार्या नहि नव तंत रे।

किया मन्त्र जन्त्र ने तन्त्र रे।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया॥

इस प्रकार उपदेश देते हुए अन्त में वह दिन आ गया जब कि तीन भाव दीक्षित बनडे और चार भाव दीक्षित बहनों को दीक्षा दी जानेवाली थी।

वसन्त का प्रारम्भ था। नगर बाहर के उद्यान में वृक्ष के नीचे आसन पर पूज्यश्री आदि सन्त विराजित थे। इस प्रसंग के अनुकूल प्रकृति के सौन्दर्य से वातावरण को मधुर बना रही थी। नव पल्लव एवं नव मंजरियों से पेड़ सुशोभित हो रहा था। वातावरण जीवन की नव चेतना को याद दिला रहा था। वैसे सार्थक करते नव दीक्षित संयम मार्ग के लिये दीक्षित होने आगे बढ़ रहे थे। मधुर कंठों से मंगल गीत और जयजयकार के नारों से वातावरण उल्लसित हो रहा था।

पाली नगर में अन्यान्य गाँवों से अनेक लोग आये थे। आज पूरे नगर में उत्सव का वातावरण छा गया था। पूज्यश्री ने दीक्षा का महत्व समझाते हुए तीन नये भाव दीक्षितों को श्रमण दीक्षा से दीक्षित किया। पश्चात महासतियाँजी ने चार नई भाव दीक्षिताओं को पूज्यश्री की आज्ञा से दीक्षित की।

अन्यान्य सन्तों का समूह पहले भी था। महासतियाँजी भी थीं और नये सात दीक्षितों के साथ सन्त समुदाय विशाल मालूम होता था उसके बीच पूज्यश्री नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा के से चमक रहे थे। उपस्थित अपार जन मेदनी यह अनुभव कर रही थी कि पूज्यश्री का सन्त वृन्द बढ़ता जा रहा था।

धूमधाम से दीक्षा समारोह सम्पन्न हुआ। उस समय दीक्षार्थियों के सम्बन्धी गण एवं अन्य लोगों ने व्रत-पच्चक्खाण लिये। पाली श्रीसंघ ने बाहर गाँव से आनेवाले लोगों का सम्पूर्ण आदर सत्कार किया और स्वधर्मी वात्सल्य भाव दिखाया।

अगले दिन से सन्त गण अलग-अलग टोलों से पृथक्-पृथक् विहार करने लगे। पूज्यश्री ने भी पाली से विहार करने की बात प्रगट की तो लोगों में उदासीनता आ गई। वे पूज्यश्री का अधिक से अधिक लाभ लेना चाहते थे और पूज्यश्री के पास अन्योन्य गाँवों की विनति आ रही थी।
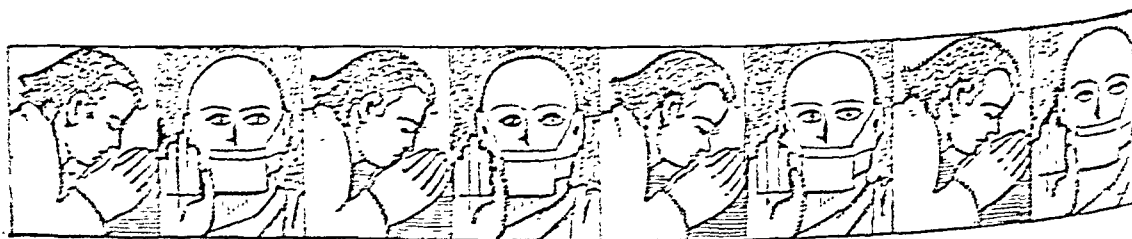
पाली जाने का एक विशेष प्रयोजन भी था। मेवाड़ विहार के वाद मारवाड राजस्थान में राजनैतिक गतिविधियों का ज़ोर रहा था।

महाराजा विजयसिंह बड़ी छोटी उमर में जोधपुर की गद्दी पर बैठ गये थे किन्तु जिन सामंतो ने उनकी मदद की थी वे लोग अपना प्रभाव जमाना चाहते थे। इससे भी आगे बढ़कर उनका प्रजा जीवन के साथ मनचाहा अत्याचार पूर्ण व्यवहार होता था। उन लोगों में शराब पीना और मांसाहार भी बढ़ रहा था।

लोगों की बढ़ती नाराजगी के कारण और अपने गुरु आत्मारामजी की और जैन मंत्रियों की सलाह से महाराजा विजयसिंह ने राज्य भर में मद्य मांस सेवन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। किन्तु इन सामंत राजाओं ने उसकी परवाह नहीं की। वे मनमानी करते हुए अपना प्रभुत्व दिखाना चाहते थे।

सामंतों के मिले हुए लोग प्रजा में अशांति मचाते थे। नागौर के उस पार पहाडियों के हुमले चालु हो गये थे। वे प्रजा में लूटमार मचाते थे। सामंतगण का सहारा पाकर कुछ लोगों का अत्याचार इतना बढ़ गया था कि धनमाल के साथ स्त्रियों के शील की रक्षा जटिल होती जा रही थी।

महाराजा विजयसिंह चिंतित थे। उनकी चिंता देखकर चंपावत सरदार पोकरण के देवीसिंहजी ने राजा को कह दिया:—"महाराज! आप चिंता न करें। मेरी म्यान में मारवाड़ का सिंहासन है।"

इसी चम्पावत सरदार का अपमान करने से रामसिंह को गद्दी से हाथ धोना पड़ा था। बख्तावरसिंहजी से युद्ध हुआ। और उसके बाद विजयसिंह गद्दी पर आये थे। [‡]

महाराजा विजयसिंह को इसमें अपना अपमान और बढ़ती सामन्तशाही का अभिमान लगा। किन्तु वे खुल्लमखुला वैर बढ़ाना नहीं चाहते थे। उनका एक धाई भाई जग्गुसिंह था। वह उस समय के राजकीय नियम के अनुसार दरबार में विशेष सन्मानवाला था और विजयसिंह उस पर अनन्य विश्वास करते थे। महाराजा ने उससे सारी बात कही।

‡ पूर्व वृत्तांत आगे आ गया है।

जोधपुर के श्रीसंघ का अत्याधिक आग्रह था कि पाली से पूज्यश्री का विहार वहाँ हो। उनकी ओर से बड़ी आग्रह भर विनती भी की गई थी। अतः पाली में तीन-चार दिन और ठहर कर धर्म जागृति करते हुए पूज्यश्री ने अपने सन्तों के साथ जोधपुर की ओर विहार किया।

छोटे-छोटे गाँव स्पर्शते हुए लूणी नदी के पास पहुँचे और वहाँ से आगे जोधपुर के लिये पूज्यश्री के चरण बढ़ चले। जोधपुर में लोग पूज्यश्री की बड़ी उत्कण्ठा से राह देख रहे थे। तीन वर्ष पूर्व पूज्यश्री ने यहाँ से मेवाड़ की ओर प्रस्थान किया था। तीन वर्ष में काफी परिवर्तन हो चुका था। पूज्यश्री का शिष्य समुदाय बढ़ गया था और इधर जोधपुर में भी एक नया युवक वर्ग तैयार हो गया था।

सन्तों के आवागमन के समाचार सुनकर सभी में आनन्द छा गया। आबाल वृद्ध, नर-नारी सभी उनको लिवाने सामने गये। सुमधुर गीतों से मंगल गान किया गया और जयजयकार के नारों के साथ पूज्यश्री ने जोधपुर नगर में प्रवेश किया।

भीलवाड़े चातुर्मास में पूज्यश्री ने आगामी चौवीशी की सज्झाय लिखी थी। उसमें श्री कृष्णजी ऋद्धि सिद्धि का वर्णन की भी आगे सज्झाय रची थी। श्रीकृष्ण के साथ नेमिनाथ भगवान का जीवन चरित्र लिखने की ओर उनकी प्रवृति हो यह स्वाभाविक था।

पूज्यश्री की रचनायें शास्त्र के आधार पर ही होती थी और वे यथाशक्य उसका उल्लेख भी करते थे। भविष्य के तीर्थंकर की सज्झाय के ये पद उस बात की साक्षी देते हैं :—

एह आवती चौवीसी नाम ए।
दाखिया भगवन्त आगूंच नाम ए।

भाखिया केइक प्रसिद्ध केइक अप्रसिद्ध कह्या।
उत्तम प्राणी तहत्ती[1] कर सरद्या ॥

1 तथा-इति = "जो कहा सो सही है" के अर्थ में प्रचलित शब्द है।

दीवान फतेहसिंहजी ने भी मंत्रणा में भाग लिया और यह तय किया गया कि सामन्तशाही को तोड़ने के लिये एक सेना राज्य की ओर से अलग बननी चाहिये।

राजपूतों में कसूंबे की आदत बढ़ने के कारण शस्त्रों से युद्ध करने की प्रवृति मंद होती जा रही थी। इसका लाभ लेकर जग्गु ने सामन्तों को आराम से निश्चिन्त रहने के लिये राजी किया और उस समय उदयपुर, जयपुर में जैसे राज्य की सेना रहती थी वैसी सेना का प्रबन्ध किया। इसमें राजपूत, सिंधी, जाट, अरब आदि सभी प्रकार के लोग थे। वे पाश्चात्य ढंग से शस्त्र संचालन की शिक्षा पाये हुए थे।

सामन्तों ने इसकी ओर पहले तो ध्यान न दिया; किन्तु सभी बातों में राजा की सेना का प्रभुत्व देख कर उनके मन में शंका होने लगीं।

उस समय एक बात और हुई कि सेना को वेतन चुकाने के लिये राजा के पास खज़ाना खाली हो गया। उस समय जग्गु ने अपनी माँ से (धाई माँ) रु. पचास हज़ार मांगे और नहीं मिले तो आत्मघात करना पड़ेगा ऐसा स्पष्ट कहा। वह सहायता मिली और जग्गु ने राज्य की सेना के साथ सर्व प्रथम पहाड़ियों के दमन के लिये नागौर की ओर प्रस्थान किया। घोड़ों की इतनी कमी आ गई थी कि सेना गाड़ियों में गई।

नागौर से तोपें लेकर सेना ने आगे प्रस्थान किया और पहाड़ियों का दमन कर थली प्रांत पर कब्जा कर लिया। उस समय सर्व प्रथम सामन्तों को अनुभव हुआ कि यह तो हमारी शक्ति को रोकने के लिये हैं।

इससे चम्पावत, कुम्पावत और उदावत सामन्त सरदार सभी मिले और विजयसिंह की शान ठिकाने लाने, सभी ने मंत्रणा करके जोधपुर से दश कोश पूर्व विशालपुर में पड़ाव डाला।

जग्गू और फतेहसिंहजी दूर थे अतः महाराजा विजयसिंह ने अपने पिताजी बख्तावर सिंहजी के सलाहकार श्री गोवरधनजी को बुलाया और सारी परिस्थिति से उन्हें परिचित कराया। गोवरधनजी खींची ने उनकी सारी बातें सुन कर महाराजा विजयसिंह को सलाह दी कि डरने से काम नहीं चलेगा।

ऐसी जाणने दया धर्म पाल जो।
शंका कंखा ने कुसंग टाल जो।

सूत्र "समवयांग" मांहे निचोड ए।
तिण अनुसारे रिख जयमल कीनी जोड ए ॥[†]

भगवान नेमिनाथजी का चरित्र अपने आप में काफी उपदेश लिये हुए था। जोधपुर में चेतावनी, उपदेशी सज्झायों के साथ नव रचित नेमिनाथ जीवन चरित्र की चौपाई ढाल का प्रवचन में समावेश होता था।

पूज्यश्री के प्रवचनों का लाभ जैन - अजैन सभी ले रहे थे; क्योंकि उनके प्रवचन में वे सभी धर्मों के सार रूपी बातें बताते जाते थे। मानव जीवन को सुसंस्कारी बनाने के जितने अच्छे सद्गुण हैं उस पर वे बड़ा ज़ोर देते थे। व्यसन - त्याग पर वे ज्यादा भार डालते थे। जीवन को जो मुक्ति के मार्ग पर ले जाना चाहते हैं उनके लिये ये शारीरिक गुलामियाँ कतई श्रेयस्कर नहीं है।

दीवान फतेहसिंहजी सिंघवी का प्रभाव बढ़ रहा था। वे पूज्यश्री के परम भक्त थे। और उनके साथ अन्यान्य दरबारी लोग भी आते थे।

महाराजा विजयसिंह ने भी उनके आगमन के समाचार सुने थे। वे पूज्यश्री का प्रभाव जानते थे। अपने पिताजी बख्तावर सिंहजी को पूज्यश्री से धर्म उपदेश सुनते और कुछ व्यसनों का त्याग भी करते हुए उन्होंने देखा था। इसके पूर्व उनके चाचा अभयसिंहजी भी पूज्यश्री की सेवा में उपदेश सुनने आते थे यह भी वे जानते थे। वे स्वयं भी सं. १८१० के चातुर्मास में पूज्यश्री के उपदेश सुनने आये थे।

पश्चात् परिस्थितियाँ बदल गई थीं। राजाशाही और शासन के अन्तर्गत कठोर होकर उन्हें कई अभिमानी सामन्तों को कुचलना पड़ा था फिर भी वे चाहते थे कि प्रजा में शांति बनी रहे और साथ उन्हें भी मानसिक शांति मिले।

---

† जयवाणी — पृ. १०८

गोवरधनजी की सलाह के अनुसार महाराजा विजयसिंह विना किसी सेना के सामन्तों के डेरों के पास गये। गोवरधनजी ने आगे जाकर इसकी सूचना दी; पर कोई असर न पड़ा। अतः महाराजा विजयसिंह स्वयं चम्पावत सरदार आउवा के ठाकुर जेतसिंह के डेरे में गये। उन्हें स्वयं अकेला आया देख कर जेतसिंह ने अन्य सभी सामन्तों को बुलाया।

महाराजा ने इस तरह डेरे डालने का कारण पूछा और सामन्तों ने भी अपने प्रभुत्व की बात रखी। चतुर विजयसिंह ने समय को मान देकर उनके तीनों प्रस्ताव स्वीकृत किये :—

१. सेना बरखास्त की जाय।

२. राज्य की पट्टावही सामन्तों के हाथ में दी जाय।

३. किले के बदले नगर में राजकाज नगर से किया जाय।

सामन्त लोगों की बातें मान ली गईं अतः वे प्रसन्न होकर गये। किन्तु महाराजा विजयसिंह अन्दर से प्रसन्न न थे। उन दिनों उनके गुरु आत्मरामजी का अन्त काल पास में आया और मरते समय उन्होंने महाराजा को बुला कर कहा :—"मेरे मरण के बाद तुम्हारा उद्धार हो जायेगा।"

आत्मारामजी गुरु का स्वर्गवास हो गया। चालाक जग्गु ने उस बात से राजा के लिये उपयोग करके एक योजना बनाई। तदनुसार यह प्रकट किया गया कि "गुरुदेव की अन्तिम इच्छा के अनुसार उनकी अन्त्येष्टि क्रिया किले में होगी और सभी सामन्त गण भाग लें।"

ऐसा कहा जाता है कि आउवा के ठाकुर जेतसिंह (कहीं शेरसिंह भी उल्लेख मिलता है) और बुधसिंह दोनों सामन्त बन्धुओं में मद्य मांस सेवन का बड़ा कुव्यसन था। उन्हें पहले पाली में हाकिमने और आगे चल कर रोहठ ठाकुर के प्रधानजी ने मद्यमांस सेवन उनकी सीमा में करने से रोका किन्तु वे नहीं माने।

महाराजा विजयसिंह भी दीवान फतेहसिंहजी और अन्य राज्य कर्मचारियों के साथ प्रवचनों में आने लगे। पूज्यश्री के प्रवचनों का उन पर प्रभाव बढ़ता गया और एक दिन प्रवचन के बाद हाथ जोड़ कर उन्होंने कहा :—"बापजी! आत्मशांति का उपाय बताइये!"

पूज्यश्री ने कहा :—"महाराज! जो शांति हम चाहते हैं वह दूसरों को देने का प्रयत्न करें तो आत्म शांति मिलती है। राजा का धर्म है कि उसके राज्य में सभी निर्भय बन कर फिरें। जब राज्य की ओर से यह अभय पद दिया जायेगा तो स्वयं सारी प्रजा की — मनुष्य, पशु, पंखी आदि सब की सुख शांति राजा के लिये आत्मशांति बन जाती है।

महाराजा विजयसिंह ने उस पर से सार ग्रहण किया और कहा :—"आज से मेरे राज्य में सब को अभय रहेगा। कोई किसी को हैरान नहीं करेगा, किसी पक्षी, पशु का शिकार न होगा!"

"यही सच्ची शांति का उपाय है!" पूज्यश्री ने कहा।

पश्चात् महाराजा विजयसिंह ने अपने राज्य में "अमारि-पडह" बजवाया। उनके राज्य में मांस-शिकार आदि सभी बन्द हो गये। उसकी प्रशंसा करते हुए राठौर कवियों ने लिखा है कि :—"इससे ऐसी शांति से संयोग होने लगा जिससे मालूम होता था कि शेर-बकरी एक घाट पर जल पीने लगे थे।

पूज्यश्री जयमल जी के प्रवचनों की यह विशेषता थी कि वे सच्चा राजधर्म राजा को बताते थे जिससे राज्य में न्याय, नीति और शांति बनी रहे। लोगों में वे ऐसे धर्म संस्कार भरते थे कि वे सद्गुणों के विकास के लिये अग्रसर होते थे।

उन दिनों नेमि चरित्र[1] का आलेखन प्रारम्भ हुआ था और प्रवचनों में वे उसका उल्लेख करते थे।

---

[1] भगवान नेमिनाथ चरित — जयवाणी पृ. २१७ से २३५ तक।

दीवान फतेहसिंहजी ने भी मंत्रणा में भाग लिया और यह तय किया गया कि सामन्तशाही को तोड़ने के लिये एक सेना राज्य की ओर से अलग बननी चाहिये।

राजपूतों में कसूंबे की आदत बढ़ने के कारण शस्त्रों से युद्ध करने की प्रवृति मंद होती जा रही थी। इसका लाभ लेकर जग्गु ने सामन्तों को आराम से निश्चिन्त रहने के लिये राजी किया और उस समय उदयपुर, जयपुर में जैसे राज्य की सेना रहती थी वैसी सेना का प्रबन्ध किया। इसमें राजपूत, सिंधी, जाट, अरब आदि सभी प्रकार के लोग थे। वे पाश्चात्य ढंग से शस्त्र संचालन की शिक्षा पाये हुए थे।

सामन्तों ने इसकी ओर पहले तो ध्यान न दिया; किन्तु सभी बातों में राजा की सेना का प्रभुत्व देख कर उनके मन में शंका होने लगीं।

उस समय एक बात और हुई कि सेना को वेतन चुकाने के लिये राजा के पास खज़ाना खाली हो गया। उस समय जग्गु ने अपनी माँ से (धाई माँ) रु. पचास हजार मांगे और नहीं मिले तो आत्मघात करना पड़ेगा ऐसा स्पष्ट कहा। वह सहायता मिली और जग्गु ने राज्य की सेना के साथ सर्व प्रथम पहाड़ियों के दमन के लिये नागौर की ओर प्रस्थान किया। घोड़ों की इतनी कमी आ गई थी कि सेना गाड़ियों में गई।

नागौर से तोपें लेकर सेना ने आगे प्रस्थान किया और पहाड़ियों का दमन कर थली प्रांत पर कब्जा कर लिया। उस समय सर्व प्रथम सामन्तों को अनुभव हुआ कि यह तो हमारी शक्ति को रोकने के लिये हैं।

इससे चम्पावत, कुम्पावत और उदावत सामन्त सरदार सभी मिले और विजयसिंह की शान ठिकाने लाने, सभी ने मंत्रणा करके जोधपुर से दश कोश पूर्व विशालपुर में पड़ाव डाला।

जग्गू और फतेहसिंहजी दूर थे अत: महाराजा विजयसिंह ने अपने पिताजी बख्तावर सिंहजी के सलाहकार श्री गोवरधनजी को बुलाया और सारी परिस्थिति से उन्हें परिचित कराया। गोवरधनजी खींची ने उनकी सारी बातें सुन कर महाराजा विजयसिंह को सलाह दी कि डरने से काम नहीं चलेगा।

शंख राजा ने यशोमती रानी।
जिण साधां ने वैरायो दाखांरो पानी ॥
हुआ नेम कुंवर राजुल नारो।
सुध दान थकी खेवो पारो ॥

* * *

श्री कृष्ण का पांच जन्य शंख नेमिनाथ भगवान ने बजाया। वासुदेव का शंख कोई अन्य बजा नहीं सकता किन्तु यह तो नेमिनाथ भगवान के अखन्ड ब्रह्मचर्य का बल था। श्रीकृष्ण को मालूम हुआ तो उन्होंने उनके बल की परीक्षा की। जिसमें श्रीकृष्ण को हारना पडा तब उन्होंने यही सोचा कि इनका विवाह कर दिया जाय तो अपने आप उनकी शक्ति कम हो जायेगी। उन्होंने रास क्रीड़ा के बहाने अपनी रानियों के साथ नेमिनाथजी को बुलाया।

वहाँ पर अनेक भावों से, ऋतु-शृंगार से भी नेमिनाथ नहीं विचलित हुए तब रुक्मणि आदि ने हँस-हँस के ताने मारे।

कहा है कि :—

देवरने 'रुक्मण' हसे हरि निभावे अनेको रे।
भाई तूं निभावी न सके तिणरूं डरता न परणे एको रे।
भाई ब्यांव मनावे नेम को ॥
बलती दूसरी इम कहे इणरा मन में धाको रे।
तोरण आयां करे आरती टीको काढ़ने सासू खींचे नाको रे।
बाइ इम डरतो परणे नहीं ॥
वली तीसरी इम कहे, तोने वात कहूं विचारो रे।
बाई चित करने चंवरी चढे, तीने फेरा लेणा पडे लारो रे।
बाई सांवलियो इम परणे नहीं।

गोवरधनजी की सलाह के अनुसार महाराजा विजयसिंह विना किसी सेना के सामन्तों के डेरों के पास गये। गोवरधनजी ने आगे जाकर इसकी सूचना दी; पर कोई असर न पड़ा। अतः महाराजा विजयसिंह स्वयं चम्पावत सरदार आउवा के ठाकुर जेतसिंह के डेरे में गये। उन्हें स्वयं अकेला आया देख कर जेतसिंह ने अन्य सभी सामन्तों को वुलाया।

महाराजा ने इस तरह डेरे डालने का कारण पूछा और सामन्तों ने भी अपने प्रभुत्व की बात रखी। चतुर विजयसिंह ने समय को मान देकर उनके तीनों प्रस्ताव स्वीकृत किये :—

१. सेना बरखास्त की जाय।

२. राज्य की पट्टावही सामन्तों के हाथ में दी जाय।

३. किले के वदले नगर में राजकाज नगर से किया जाय।

सामन्त लोगों की बातें मान ली गई अतः वे प्रसन्न होकर गये। किन्तु महाराजा विजयसिंह अन्दर से प्रसन्न न थे। उन दिनों उनके गुरु आत्मरामजी का अन्त काल पास में आया और मरते समय उन्होंने महाराजा को वुला कर कहा :—"मेरे मरण के बाद तुम्हारा उद्धार हो जायेगा।"

आत्मारामजी गुरु का स्वर्गवास हो गया। चालाक जग्गु ने उस बात से राजा के लिये उपयोग करके एक योजना वनाई। तदनुसार यह प्रकट किया गया कि "गुरुदेव की अन्तिम इच्छा के अनुसार उनकी अन्त्येष्टि क्रिया किले में होगी और सभी सामन्त गण भाग लें।"

ऐसा कहा जाता है कि आउवा के ठाकुर जेतसिंह (कहीं शेरसिंह भी उल्लेख मिलता है) और वुधसिंह दोनों सामन्त वन्धुओं में मद्य मांस सेवन का वड़ा कुव्यसन था। उन्हें पहले पाली में हाकिमने और आगे चल कर रोहठ ठाकुर के प्रधानजी ने मद्यमांस सेवन उनकी सीमा में करने से रोका किन्तु वे नहीं माने।

पूज्यश्री फरमा रहे थे कि :—"संसार में विवाह बड़ी वस्तु मानी जाती है। लोग ब्याहते हैं, सोचते हैं कि संसार के कितने ही गढ़ फतह करके आये हैं क्योंकि कितने रीति रिवाज़ उनको पालने पड़ते हैं। लोग ऐसा मानते हैं कि आज हमारा ब्याह है ऐसा समझ लोग आनन्द में फिरते हैं। सास से नाक खिंचवाने भी तैयार हो जाते हैं और मन में आनन्द पाते हैं। भगवान नेमिनाथ को ब्याह के लिये मनवाने रुक्मणि आदि रानियों ने भी ऐसे ही ताने मारे।

किसी ने कहा :—"देखो! श्रीकृष्ण अनेक स्त्रियों को निभा रहे हैं। नेमिनाथ एक को भी निभाने से डरता है अतः ब्याह नहीं करता।

दूसरी ने कहा :—"अरे....रे! इसके मन में तो धोखा हुआ है कि जब घोड़े चढ़ कर तोरण द्वार पर जाऊँगा। उस समय सास मेरी आरती उतारेगी और कहीं मेरा नाक खींच लेगी तो?"

तीसरी ने कहा :—"नहीं सखी! इनके मन में यह है कि जब चौरी (चवरी) को चक्कर फिरना पड़ता है तो मुझे तीन चक्र पीछे फिरने पडेंगे।"

चौथी ने कहा :—"मैं तो ऐसा मानती हूँ कि ये विचारते हैं कि पीछे जुआ खेलना पड़ेगा और मैं हार जाऊँगा तो?"

पाँचवीं ने कहा :—"बात कुछ और ही है सखी! कांकण का दोरा अकेले हाथ से खोलना पड़ेगा। ये सोचते हैं मैं खोल सकूँगा या नहीं....?"

मगर रुक्मणिजी ने सब की बातों को गौण करते हुए कहा :—"हम सभी भाभी कैसी हैं कि तीन सौ बरस के नेमिनाथजी कंवारे फिर रहे हैं और हम उनके लिये कन्या भी नहीं ढूँढ पाये! अपने लिये यह शरम की बात है!"

नेमिनाथजी जब नहीं माने तो कृष्णजी की रानियों ने उन्हें समझाया :— "देवरजी! संसार का सेहरा नारी है।"

उस समय के गिर्दीकोट कर (आज का सुमेर कोट) में उन्होंने डेरा डाला। और सारे बाज़ार पखाल में से मद्यपान करते-करते वे किले की ओर गये।

सभी सामन्त किले में गये और कुछ यह अनुभव करने लगे कि जरूर कुछ गड़बड़ी है। उसी समय किले का नक्कारखाने का दरवाज़ा बन्द कर दिया गया।

सामन्तों में तलवारें खींच लीं किन्तु संख्या में कम होने से बहुत से काम आये बाकी के कैद कर लिये गये। पोकरण के चम्पावत देवीसिंहजी, आसोप के उदावत छतरसिंहजी (चरणसिंह) रास के केसरीसिंहजी और निमाज़ के दौलतसिंहजी कैद किये गये। ‡

देवीसिंहजी ने यही चाहा कि उनको विदेशी वेतन भोगी सेना के द्वारा न मारा जाय। तदनुसार सभी को कैद में रखा गया। निमाज़ के ठाकुर दौलतसिंहजी को छोड़ दिया गया। रास के सामन्त तीन वर्ष बाद मर गये, आसोप के चरणसिंहजी एक साल में गुज़रे लेकिन सब से विचित्र मृत्यु चम्पावत सरदार देवीसिंह की हुई।

उन्हें ज़हर मिला कसूंबा भर कर एक पात्र भेजा गया और राजा की आज्ञा से पी जाने के लिये कहा गया। देवीसिंह ने कहा :—"हमारी रगों में भी राठौडों का रक्त है। सोने के पात्र में ले आओ; हम पी जायेंगे....!"

ऐसा कह उन्होंने मिट्टी के पात्र को तोड़ दिया और दीवार से सर पटक कर अपने प्राण दे दिये। उस समय किसी ने व्यंग किया :—"सामन्तजी! वह तलवार किधर है जिससे मारवाड़ का सिंहासन सुरक्षित है।"

देवीसिंह ने कहा :—"मेरे पुत्र सबलसिंह के हाथ में है!"

---

‡ अन्यत्र उल्लेख में चम्पावत सरदारों में आउवा के जगतसिंह, पोकरण के देवीसिंहजी, हरसोल के सामन्तकुमार, कुम्पावत सरदारों में नेता चन्द्रसिंहजी, चन्द्रायण के केशरीसिंहजी, निमाज के दौलतसिंहजी, रास के केसरीसिंहजी बन्दी हुए थे।
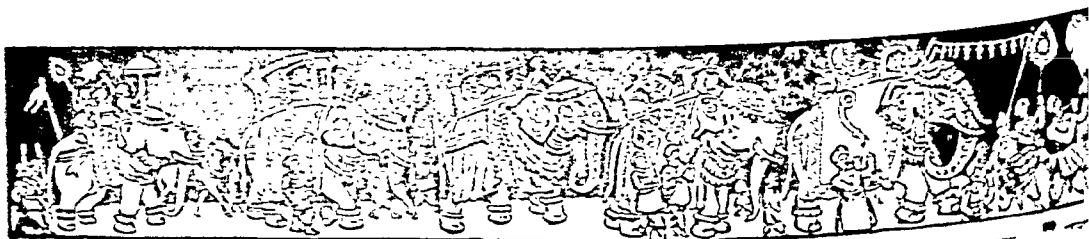
कहा भी है :—

नारी घररो सेहरो, नारी सूं वाजे घरवार रे,
जिन घर में नारी नहीं, ते घर गिणती में गिणे नहीं संसार के।
थे क्यूं परणो नी देवर नेमजी ॥

हींवडां तो खबर नहीं पड़े, बुढ़ापो थाने घेरसी आयके,
कुण करसी थारी चाकरी, जोवोनी देवर हिरदा मांय के।
थे क्यूं परणो नी देवर नेमजी ॥

पुत्र बिना सजसी नहीं, कुण राखेला थांरो कुल व्यवहार के।
पुत्र विना प्रभुता किसी, पुत्र बिना नहीं बधे परिवार के।
थे क्यूं परणो नी देवर नेमजी ॥

एक नारी को कांई ढावणो, नारी होवे घर को सिणगार के,
नारी विना मंदिर किसो, कृष्णजी परण्या बत्तीस हजार के।
थे क्यूं परणो नी देवर नेमजी ॥

राणियों ने मिलकर नेमिनाथ भगवान को मनाया किन्तु वे नहीं माने। अतः जलक्रीड़ा करने उन्हें ले गये उन पर पानी उछाला गया और नेमिनाथजी ने इन्कार नहीं किया अतः स्वीकृति मान उग्रसेन राजा की कन्या राजीमती के साथ उनकी सगाई की गई।"

पूज्यश्री ने नेमिनाथजी की बारात का वडा काव्य पूर्ण वर्णन किया कि :—

महाराज चडे, गजरथ तुरियाँ,
हय, गय, रथ पायक सुखदायक
नयन कमल हसत ठरियां ....
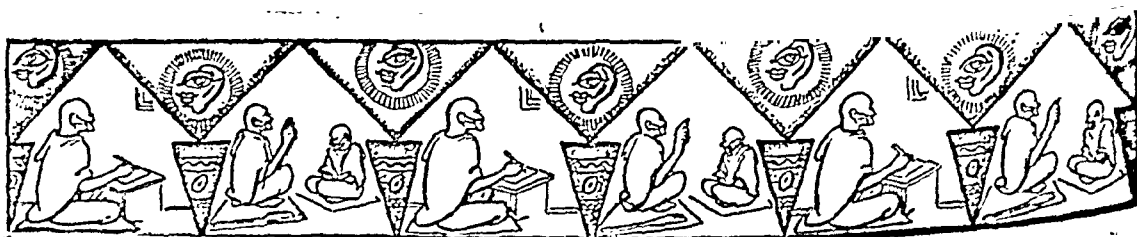
उसका कहना सत्य निकला और देवीसिंह के पुत्र सबलसिंह ने प्रबल वेग से आक्रमण किया। उसने पाली को लूटा - खून खराबी से हाहाकार मचाया।† वहाँ से आगे बीलाडे की ओर बढ़ा जहाँ तोप के गोले से उसकी मृत्यु हुई।

आउवा के ठाकुरों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे लोग जब किले तक पहुँचे, दरवाज़ा बन्ध हो गया था। तब मद्यपान के नशे में चूर दोनों ने मखमल के थान सर पर बाँध कर हाथी की तरह अपने सर से हवेली द्वार पर प्रहार किया। पोल का छोटा द्वार तो खुल गया लेकिन छोटा ठाकुर काम आ गया।

वड़े ठाकुर ने जाकर बिना नमस्कार किये पूछा :—"क्यों बुलाया था?"

उनसे कहा गया :—"पहले अदब के साथ महाराजा को नमस्कार करो!"

गोवरधनजी को देख कर ठाकुर ने कहा :—"यह गोवरधन खींची वर्ण शंकर है; उसे दूर करो तो नमस्कार करूँगा!"

वड़े ठाकुर ने वहुत बकवास किया तो उस पर अनेक कटारोंवाला जामा (वस्त्र) डाला गया और उन्हें मारा गया।

बाहर लोगों में यह बात फैल गई कि मद्यपान और माँससेवन आदि आज्ञा का सामन्तों ने उलंघन किया और किले में भी जाकर मद्य पीकर मर्यादा न रखी तो उनको बुलवा कर दारू में ज़हर मिला कर पी जाने की आज्ञा दी गई :—"दारू पीकर प्रजा पर जुल्म करना पसन्द है तो यह पी लो – वरना दारू छोड़ो!"

सामन्तों को शराब पिलवाई गई और इस तरह शराब में सामन्त शाही का नाश हुआ। प्रजा ने इन सामन्तों के साथ किये गये महाराजा विजयसिंह के बर्ताव को ठीक ही माना। क्योंकि उसके बाद सामन्त या हाकिम कभी खुले आम शराब पीकर प्रजा पर अत्याचार न कर सके। महाराजा विजयसिंह के कडक न्याय की प्रशंसा होने लगी।

---

† कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि पाली लूटने के लिये घेरा डाला था।

खूब बरात बनी ब्यावन की
घोर घटा उमटी झरियां ....
लाल गुलाब अबीर अबारचो
चउँ दिस नाच रही परियाँ

इस नेमिनाथ चरित्र के साथ उनके चेतावनी एवं उपदेशी पद भी सुनकर लोग जागृत होते थे। इनमें एक युवान भी था जिसकी सगाई हो गई थी और शादी होने वाली थी। उसे लग रहा था कि नेमिनाथ चरित्र उस पर ही घटित हो रहा है।

यह नगर के सुप्रसिद्ध सेठ श्री विजयराजजी धाड़ीवाल का सुपुत्र था। रायचंद इसका नाम था। उसकी उम्र अठारह वर्ष की थी। अब विवाह की तैयारियां घर में चल रही थीं।

रायचंद पूज्यश्री के प्रवचन में नित्य आने लगा था। उसका कण्ठ स्वयं मधुर था और अच्छे अच्छे गीत गाने का भी उसे शौक था। जब उसने पूज्यश्री जयमलजी के मधुर कंठ से गीत सुने तो वह प्रभावित हुआ। पूज्यश्री के प्रवचनों का तो असर पड़ता ही था किन्तु 'चेत चेत रे प्राणियां' और नेमिनाथ चरित्र की ढालें उसे बडी सुहाती थीं। पूज्यश्री के साथ अन्य छोटे संतों को देखकर उसके मन में कुछ अनोखी भावना जगती थी। वह पूज्यश्री का संपर्क बढ़ाना चाहता था मगर मौका नहीं मिला था।

नेमि चरित्र में बारात चली तक वर्णन आया था। एक दिन दुपहर में पिताजी की आज्ञा लेकर रायचंद पूज्यश्री के पास पहुँचा। हाथ जोडकर वन्दना की और खडा हो गया।

पास में विराजित संत जो ज्ञान ध्यान में लीन थे उनकी बातें देखने लगा। पूज्यश्री के कुछ संत, नये संतों को सूत्र समझा रहे थे, कोई गाथा याद कर रहे थे, तो कोई पन्ना पर लिख रहे थे। पूज्यश्री जयमलजी कुछ रचना जोड रहे थे।

थोडी देर बाद पूज्यश्री के ध्यान में आया कि युवान अभी तक खडा है अतः उन्होंने "दया पालो" कह कर पास में बैठने का संकेत किया। रायचंद वहां बैठ गया।

थोड़े ही दिनों में चतुर महाराजा विजयसिंह ने कुछ सामन्तों को माफी देकर अपना बना लिया और अपने व्यवहार से सामन्त एवं प्रजा दोनों में शांति ला दी।

*   *   *

पूज्यश्री जयमलजी को ये समाचार पहले मिल चुके थे। पाली जैसे नगर में जाकर वहाँ की प्रजा को धैर्य बन्धवाना और धर्म जागृति करना, वे अपना कर्तव्य समझते थे। इस पर पाली नगर की बिनति आने से उन्होंने पाली की ओर विहार किया। उनकी 'चेत सके तो चेत प्राणिया' की चेतावनी चालु ही थी।

जब पूज्यश्री अपने शिष्यों के साथ पाली पधारे तो वहाँ पर उन्हें सामने लिवा कर ले जाने लोग बड़ी संख्या में उपस्थित हुए। महासतियांजी भी आई हुई थीं।

जैन धर्म के जयजयकार के नारों के साथ पूज्यश्री ने पाली में पदार्पण किया। पूज्य पदवी पाने के बाद उनका पहली बार ही पदार्पण हो रहा था। लोगों में आनन्द छा गया था।

पूज्यश्री अपने प्रवचनों से लोगों में श्रद्धा के भाव भरते जाते थे। उनके मधुर पद लोगों के दिल को छू लेते थे। पूज्यश्री कहते थे :—

इण संसार में देख लो, जनम मरण री झोड़।
बालाग्र मात्र जिती कांई, ठाली राखी न ठोड रे॥

जीव बांधे पापनो मोड[1] रे।
राखे टसक बहु चोड रे।
नहीं दीसे खुद री खोड रे॥
मुंडो दूजो पर दे मचकोड रे।
आडखो डागला[2] री दोड रे।
तू तो चेत चेत रे प्राणिया॥

(१) मुकुट (२) अगासी (छत)

पूज्यश्री ने उसका नाम, ठिकाना और गोत्र आदि पूछे। रायचंद ने योग्य उत्तर दिया। पास जोड लिखने के पन्ने पडे थे उसे देख उसने पूछा :—" फिर नेमिनाथजी का विवाह कैसे हुआ ? "

" वह नहीं हुआ ....।" और पूज्यश्री ने सारा प्रसंग कह सुनाया। यह सुन कर पूज्यश्री से उसने पूछा :—" आखिर उन्होंने विवाह क्यों नहीं किया ? जब कि सभी उसे सुख मानते हैं।"

" विवाह के पहले और बाद में जीवन एक प्रकार से पाप की माया जाल में फँसता जाता है। अतः बहुत से तो उसके पहले ही छूटना चाहते हैं और बहुत से विवाह के बाद संसार की वासनाओं को असार समझ कर उसे छोडकर आगे बढ़ते हैं। बहुत से नेमिनाथजी जैसे अपने पीछे अपनी धर्मपत्नी को भी आत्म जागृति कराके उसे भी संयम की ओर बढ़ने की प्रेरणा देते हैं।" पूज्यश्री ने कहा।

" विवाह के पूर्व यह जाल कैसे है ? " रायचंद ने पूछा।

" यह तो आजकल सर्वत्र होता है, दुल्हा समझता है कि सब मंगल हो रहा है किन्तु वास्तव में तो उसे फसाने की सारी चाले हैं ! जब दुल्हा तोरण द्वार पर जाता है तो उसे लकडी की बनी हुई चिडियों पर प्रहार करना पडता है। फिर सास तिलक करने आती है तो सर झुकाना पड़ता है; किन्तु नाक बचानी पड़ती है। इसके बाद मुट्ठी भर थूला उपर फेंका जाता है। बाद जहाँ माया की स्थापना होती है वहाँ पर दुल्हा - दुल्हन का हस्त मिलन होता है। दोनों के कपड़ों में गांठ मारी जाती है। वहाँ से चोरी में प्रवेश कराया जाता है जहाँ होम - हवन पूजा आदि होते हैं। तीन फैरों में पीछे रह कर चौथा फैरा दुल्हा आगे चलता है। उस समय तल्वारें सटा कर उपर रखी जाती हैं। वर - वधु को सामने बिठा कर दोनों पक्ष के सभी कुटुम्बी जन अपने - अपने सम्बन्धों के अनुसार दान करते हैं। दूसरे दिन जुआ खेलना और औरत के द्वारा कपड़े की गांठ की मार खाने का नियम भी है।" पूज्यश्री ने कहा।

" ये सारी बातें नई सी किन्तु अच्छी ही लगती हैं !" रायचन्द ने कहा।
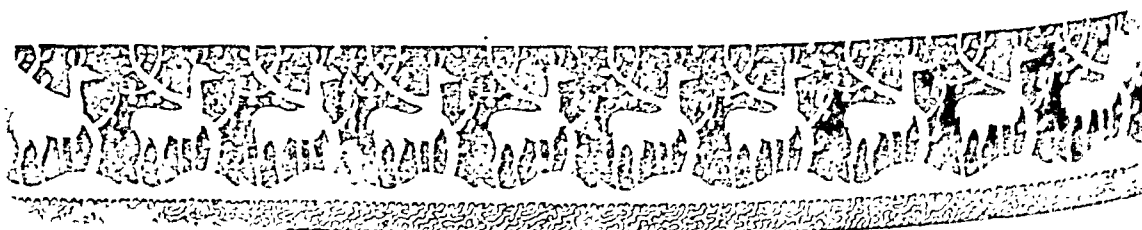
शास्त्रकार फरमाते हैं कि :

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं

उत्तराध्ययन सूत्र की इस गाथा में शास्त्रकार कहते हैं कि संसार में फिरनेवाले जीवों के लिये चार अंगों की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है, वे चार अंग कौन से हैं? सर्व प्रथम तो मनुष्यत्व यानी यह मानव - जन्म पाना मुश्किल है। जीव अनेक प्रकार के सुकृत्य करता हुआ सुकर्मों की उत्कृष्टता से ही मानव तन पाता है।

यह मानव तन श्रेष्ठ क्यों कहा गया है? चार गतियाँ हैं — देव, नारकी, तिर्यंच, और मनुष्य। उसमें मनुष्य को ही श्रेष्ठ इसलिये माना गया है कि मनुष्य ही अपने कर्मों का लेखा - जोखा करके धर्म पर दृढ़ हो सकता है और कर्म क्षय करता हुआ मोक्ष पहुँच सकता है। क्योंकि वह चिंतन कर सकता हैं; मनन कर सकता है और अपने भावों को उच्च बना सकता है। देवता यह नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें असीम सुख है; सुख ही सुख है! और जब सुख ही सुख में जीव मग्न होता है तो उसके भोगने में उसे याद ही नहीं रहता कि मैं कब आत्म चिंतन करूँ? इसके विरुद्ध नरक के जीवों को इतना दुःख रहता है कि उसके कष्ट सहते - सहते उनका आयुष्य बीत जाता है; उन्हें कहाँ से धर्म करना याद आये? नारकी जीवों को घोर दुःख सहने पड़ते हैं — किन्तु उनकी आत्मा ऐसे कषायों से भरी रहती है कि वे हिंसा, प्रति - हिंसा में ही लगे रहते हैं।

कहते हैं कि कषाय आत्म - घात कराते हैं। वे आत्मा को हानि पहुँचाते हैं। इसलिये उन्हें आत्मा के हत्यारे भी कहा जाता हैं — ये क्रोध, मान, माया, लोभ हैं।

संसार में यह देखा जाता है कि कषायों की तीव्रता से जीव, नाना प्रकार के कर्मों को बाँधता रहता है और वे मंदतम, मंदतर, मंद, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होते हैं। जब ये आत्मा पर आघात करते हैं तो सर्व प्रथम आत्मा की विवेक शक्ति का ही नाश करते हैं। फलतः अच्छे से अच्छे आदमी भी वे कार्य कर बैठते हैं कि पीछे उन्हें पछताना पड़ता है।
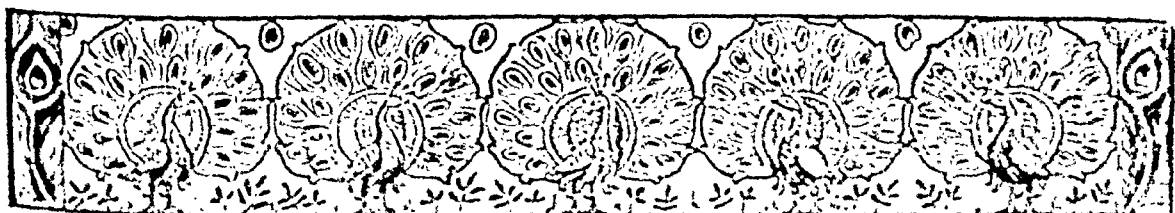
एक प्रसंग याद आता है कि एक बनजारा था। उसके पास एक बहुत ही बढ़िया श्वान-कुत्ता था। उसे एक बार कुछ धन की आवश्यकता पड़ी। उसने पास के नगर जाकर एक जाने-पहचाने सेठ से रुपये लिये और बंधक के रूप में उस कुत्ते को वहाँ रखा। उसे वह कुत्ता पुत्र से भी प्यारा था और कुत्ते को अपने मालिक पर असीम प्रेम था।

बेचारा पशु बोल तो नहीं सकता था किन्तु मालिक की इच्छानुसार सेठ के यहाँ रहा। चार-पाँच दिन बाद सेठ के यहाँ चोर आये। उन्होंने सेंध लगाई और माल की गठरी बाँध कर चलते बने।

वह कुत्ता यह सब देखता रहा और दबे पाँव चोरों के पीछे चला। चोरों ने नगर बाहर तालाब के किनारे वह माल गाड़ दिया। कुत्ते ने यह देख लिया और अपनी जगह आकर वह सो गया।

सुबह होते ही सेठ जगा और उसने देखा कि चोर चोरी कर गये हैं। वह तो सिर पकड़ कर बैठ गया। इतने में वह कुत्ता आया और उसे मुँह से उठने के लिये जोर देने लगा। सेठ खड़ा हुआ तो उसकी धोती पकड़ कर उसको साथ चलने का ईशारा करने लगा। सेठ को समझ में आया कि कुत्ता उसे अपने साथ जाने के लिये कह रहा है। वह चल दिया।

कुत्ता उसको उस जगह ले गया जहाँ गहने और माल की गठरी गाड़ी गई थी। वहाँ उसने ज़मीन सूँघ कर भौंकना शुरू किया। सेठ ने देखा कि ज़मीन अभी खुदी-सी दिखती है। उसने वहाँ से मिट्टी हटाना शुरू किया। थोड़े ही क्षण में उसने वह गठरी देखी — खोली तो उसमें चोरी गया सारा माल था।

उसने कुत्ते को प्रसन्नता से गले लगा लिया। घर जाकर एक चिट्ठी बनजारे को लिखी और कुत्ते के गले में बाँध कर उसे स्वतन्त्र करते हुए कहा कि "तू अपने मालिक के पास जा!"

"जब तक जीव समझता नहीं है तब तक तो यह सभी अच्छा ही मालुम होता है; किन्तु उसका वास्तविक अर्थ ज्ञानी कहते हैं तभी समझदार लोग समझ जाते हैं कि उसका वास्तविक अर्थ क्या होता है?" पूज्यश्री ने कहा।

"क्या अर्थ होता है?" रायचन्द ने पूछा।

"हमारे पूज्य गुरुदेव भूधरजी और नारायणदासजी आदि ने इसका जो अर्थ बताया है वह हम तुम्हें बता देते हैं। वैसे स्त्री अपना जीवन पुरुष को सामान्यतः अर्पण नहीं कर देती। वह कई तरह विचार करती है। जैसे चिडीमार प्रलोभनों से चिड़िया को अपने जाल में फसाता है वैसे लकड़ी की चिड़िया दिखा कर साधुजी पुरुष रूपी चिड़े को बुलाती है। लेकिन चिड़ा रूपी पुरुष तलवार का प्रहार करता है तो स्वागत करती है; किन्तु फिर भी उसकी नाक पकड़ कर खींचना चाहती है। वहाँ बचता है तो धूला उड़ा कर उसे फिर बुलाया जाता है और माया के पास उसे खींचते लाया जाता है। इसका अ[र्थ] यह है कि चिडीमार साधु ने उसे स्त्री रूपी माया जाल के पास लाकर धर दिया। कई धर्म, स्त्री को माया मानते हैं। इस स्त्री रूपी मोह-माया के पास जीव आता है और दोनों का गठ बन्धन ऐसा होता है चौराशी की चारगति की चौरी को वह चक्कर काटता रहता है। चौरी के पास होम-हवन जलता रहता है उसके अनुसार काम-भोग की ज्वाला जलती रहती है। दोनों जुआँ खेलते हैं जैसे जीव कर्मों के साथ खेलता रहता है और जैसे कभी पुरुष जीतता है और कभी स्त्री जीतती है वैसे कभी जीव जीतता है तो कभी कर्म उसे पछाड़ते हैं। वह गठ बन्धन वह अकेला छोड़ना चाहता है; किन्तु गांठ ऐसी बन्ध जाती है कि वह छूटती नहीं है और कपड़े के गट्ठर की मार का अर्थ यही है कि संसार में इसी तरह कर्म की माया जीव को मारती रहेगी।" पूज्यश्री ने कहा।

"फिर भी बहुत से शादी करके सुख मानते हैं, ऐसा क्यों?" रायचन्द ने पूछा।

"विवाह के बाद विषय-सुख अच्छे लगते हैं। कंचन कामिनी के क्षणिक वैभव पर लोग इठलाते हैं; किन्तु जैसे जैसे वह उलझता जाता है उसे मालूम होता है कि
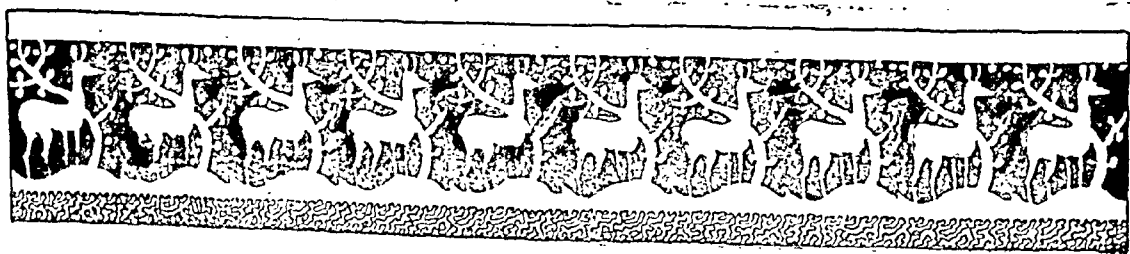
उन्होंने विचार कर अपनी भाभी से कहा: "रायचंद ने मेरी आत्मा को जगा दी है। सार उसमें है कि मैं पहले दीक्षा लूँ!"

पति के वियोग से वैसे ही उस नारी का जीवन धर्म ध्यान में बीतता था। उसने कहा: "मैं तो आप दोनों के लिये ठहरी थी-मेरा अब पीछे क्या है? मैं भी आगे चल कर दीक्षा लूँगी।"

विजयराजजी ने कहा: "फिर विलंब क्यों?"

"मेरी ओर से तो नहीं है!" भाभी ने कहा।

दोनों मुनिश्री गोवरधनजी के पास खड़े हो गये। श्रीसंघ के नेता भी उपस्थित थे। मुनिश्री ने पूछा: "क्या विचारा?"

"विचारा तो बहुत उंचा है बापजी! रायचंद ने सचमुच ही अपनी आत्मा में संयम का दीप जलाया है किन्तु उसने हमारे हृदय में भी संयम की ज्योति जला दी है। बेटा आगे जाय और-बाप पीछे रहे यह वैसे हो सकता है?" विजयराज ने कहा।

"विजयराजजी आप क्या कहते हैं? पीपाड के श्रीसंघ के संघपति ने पूछा!

"आप ठीक ही सोचते हैं-मैं भी दीक्षा ले रहा हूँ?" विजयराज ने कहा।

"और मैं भी!" उनकी भाभी ने कहा।

"यह तो हमारा अहोभाग्य है कि हमारे श्रीसंघ को तीन दीक्षाओं के उसव का लाभ मिलेगा!" संघपति ने कहा!

सभी-आनंद और आश्चर्य में डूब गये। केवल "धन्य धन्य!" इतना ही सबके मुंह पर था। सभी दीक्षा उत्सव की तैयारी में लग गये।

यह पीपाड नगर कार वास्तव में सौभाग्य था कि एक के बदले तीन दीक्षा हो रही थी। इसको सफल बनाने वहाँ पर महासतियों के ठाणे भी आ पहुँचे थे। पीपाड़ नगर में धर्म का मेला लगा हो वैसा वातावरण छा गया था।

संसार में जिस सच्चे सुख की तलाश में वह है — वह उ
श्री नेमिनाथ प्रभु जैसे बहुत से कंचन कामिनी दोनों का त्या
समझते हैं कि क्षणिक संसार में केवल शुद्ध - बुद्ध और निरंज
उसकी आराधना ही मानव जीवन का परम कर्त्तव्य है। उ
होता है तो उसे जगत की माया अस्थिर लगती है जैसे वह बा
नहीं है। यह यौवन के सारे सुख, धन एवं माया ओस के
जानता है, उसके लिये तो जैसे नेमिनाथ भगवान प्राणियों की
कराने बिना ब्याह के निकल पड़े वैसे अहिंसा रूपी धर्म सहारा
मार्ग पर अग्रसर होता है!" पूज्यश्री ने कहा।

पूज्यश्री की बातों ने रायचन्द्र के हृदय में मंथन जगा दि
ऐसा है? फिर लोग शादी करके उसमें क्यों प्रवेश करते हैं? औ
सन्त संसार को छोड़ कर क्यों संयम लेते हैं? इस संयम मार्ग में
कठोर संयमी जीवन जीना पड़ता है! किन्तु वास्तव में यही जीवन त
क्या प्रजा? सभी तो इनके आगे सर झुकाते हैं, मैं भी क्यों इस मार्ग

रायचन्द्र ने पूज्यश्री से पूछा :—"क्या मैं दीक्षा ले सकता

पूज्यश्री ने आश्चर्य चकित होकर कहा :—"दीक्षा लेना —
जितना सरल कार्य नहीं है! क्या तुम्हें सामायिक प्रतिक्रमण आता है?"

"नहीं....!"

"तो दीक्षा लेने के पूर्व तो ये सारी बातें जान लेनी चाहिये
ने कहा।

"आप से सीख लूँगा!" रायचन्द्र ने कहा।

"मगर माता - पिता की आज्ञा बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती!"
ने कहा।

इधर जोधपुर और बुचकुला में रायचन्द की बड़ी खोज हो रही थी। विवाह के दिन पास थे। उसे घी पीलाना था। पीले चावल बाँटने थे और स्वयं वर राजा रायचन्द गायब था। बुचकुलावाले भी जोधपुर पहुँचे थे। वहाँ पर पीपाड़ की चिट्ठी लेकर कासिद श्री विजयराजजी के द्वार पर पहुँचा।

चिट्ठी पढ़ कर सब को शांति हुई कि रायचन्द सुरक्षित है और सन्तों के पास है और जैन साधुओं की आचार मर्यादा पर गौरव अनुभव हुआ कि उन्होंने गुप्त रूप से दीक्षित नहीं करके हम तक समाचार पहुँचवाये। विजयराजजी अपनी भाभी के साथ पीपाड़ पहुँचे। सभी ने रायचन्द को अलग-अलग समझाया; किन्तु रायचन्द ने तो दृढ़ता से एक ही बात कही :—"अमरपट्टा किसका लिखा है। बड़े पिताजी चले गये। माताजी भी चली गई। जाने का होता है तो वह शादी करके बुढ़ापा तक थोड़े ही रुकता है? इससे तो जब जगे तभी से तैयार होकर धर्म मार्ग में आगे बढ़ना चाहिये।"

भाभी ने कहा :—"तू दुल्हा बन तेरा बरघोड़ा[†] निकले वही अच्छा है।"

रायचन्द ने कहा :—"इधर भी बरघोड़ा निकलेगा ही। विवाह के बाद अपने कुल का नाम उज्जवल हो या न हो मगर संयम से तो कुल उज्जवल होगा ही!"

विजयराजजी कुछ कहने गये तो रायचंद ने कहा: "आपने तो कहा था कि ननिहाल जा कर के आ; दीक्षा ले लेना। मैंने आपके वचनका पालन किया - आप अपना वचन पालें!"

रायचंद ने थोड़े दिनों में जो आत्म ज्ञान और धर्म दर्शन पाया था और उसमें चारित्र मार्ग प्रशस्त करने की जो अभिलाषा थी उसका असर विजयराजजी पर पड़ा। वे सोचने लगे कि "मेरे, पुत्र की आत्मा जगी है फिर मेरी क्यों नहीं जगती! वह दीक्षा लेगा तो मेरा क्या है? मुझे भी उसकी तरह आगे बढ़ना चाहिये। सचमुच उसने मेरी आँखे खोल दी हैं।"

† बरात का जलुस।
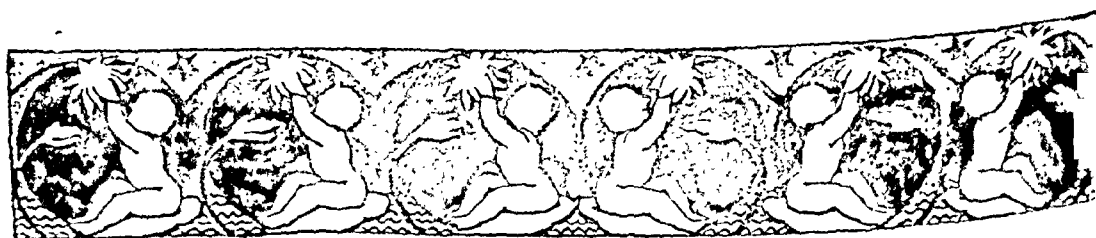
"तब मैं आज्ञा लेकर आता हूँ!" रायचन्द्र वन्दना करके वहाँ से घर गये। घर पर विवाह की सारी तैयारियाँ हो रही थीं। मौसाल से मामा आदि भी आये थे।

रायचन्द की हिम्मत न हुई कि पिता से कुछ कह सके। एक बार उसने कहा भी :—"पिताजी....!"

"क्या है?" बाप ने पूछा।

"पिताजी....! मैं पूज्यश्री जयमलजी के पास गया था!" रायचन्द बड़ी मुश्किल से बोल पाया।

"वह तो अच्छा कार्य है। उनके पास आना-जाना अच्छा है।" पिता विजयराज ने कहा।

उस दिन पिता-पुत्र में अधिक बातें न हुईं। उस दिन रात्रि में रायचन्द ने पूरा आत्म मन्थन किया। पिताजी विवाह शीघ्र करना चाहते थे और इधर "विवाह यानी माया में फँसना है!" आदि पूज्यश्री की सारी बातें उनको चेतावनी दे रही थी।

अन्य मनस्क होकर वह दूसरे दिन पूज्यश्री के पास गया। आज के प्रवचन में प्राणियों का आर्तनाद सुन कर नेमिनाथ भगवान वापस लौटते हैं उसका यथार्थ चित्रण पूज्यश्री ने किया। साथ उन्होंने चेतावनी के रूप में यह भी कहा कि "जिस यौवन पर लोग गर्व करते हैं वह कितना शीघ्र चला जाता है?"

कहा भी है :—

जोबन जाय उतावलो जैसे नदीनो वेग।
उतरतां वेला नहीं, तुमे आणो मन में संवेग रे।

तुम बांधो तपनी तेग रे।
मनमां न करो उद्वेग रे।

उन्होंने विचार कर अपनी भाभी से कहा : “रायचंद ने मेरी आत्मा को जगा दी है। सार उसमें है कि मैं पहले दीक्षा लूँ!”

पति के वियोग से वैसे ही उस नारी का जीवन धर्म ध्यान में बीतता था। उसने कहा : “मैं तो आप दोनों के लिये ठहरी थी - मेरा अब पीछे क्या है? मैं भी आगे चल कर दीक्षा लूँगी।”

विजयराजजी ने कहा : “फिर विलंब क्यों?”

“मेरी ओर से तो नहीं है!” भाभी ने कहा।

दोनों मुनिश्री गोवरधनजी के पास खड़े हो गये। श्रीसंघ के नेता भी उपस्थित थे। मुनिश्री ने पूछा : “क्या विचारा?”

“विचारा तो बहुत उंचा है बापजी! रायचंद ने सचमुच ही अपनी आत्मा में संयम का दीप जलाया है किन्तु उसने हमारे हृदय में भी संयम की ज्योति जला दी है। बेटा आगे जाय और - बाप पीछे रहे यह कैसे हो सकता है?” विजयराज ने कहा।

“विजयराजजी आप क्या कहते हैं? पीपाड के श्रीसंघ के संघपति ने पूछा!

“आप ठीक ही सोचते हैं - मैं भी दीक्षा ले रहा हूँ?” विजयराज ने कहा।

“और मैं भी!” उनकी भाभी ने कहा।

“यह तो हमारा अहोभाग्य है कि हमारे श्रीसंघ को तीन दीक्षाओं के उत्सव का लाभ मिलेगा!” संघपति ने कहा!

सभी - आनंद और आश्चर्य में डूब गये। केवल “धन्य धन्य!” इतना ही सबके मुंह पर था। सभी दीक्षा उत्सव की तैयारी में लग गये।

यह पीपाड नगर कार वास्तव में सौभाग्य था कि एक के बदले तीन दीक्षा हो रही थी। इसको सफल बनाने वहाँ पर महासतियों के ठाणे भी आ पहुँचे थे। पीपाड़ नगर में धर्म का मेला लगा हो वैसा वातावरण छा गया था।

क्यूं कर रहयो थागा थेग‡ रे।
कद पूरा होसी थारा नेग रे।

पर भव में जासी ऐग रे।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया...

लोग समझते हैं अभी यौवन है, किन्तु वह तो नदी के प्रवाह जैसा है, वह बहकर ही रह जायेगा — वापस नहीं आयेगा। इसी से ज्ञानी कहते हैं कि मन में संवेग लाकर, तप रूपी तलवार लेकर, संयम मार्ग में आगे बढ़ो और कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करो।

देव गुरु धर्म परखने रे, साची समकित धार।
तप जप किरिया आदरो, ज्यों पहुँचो मुक्ति मझार॥

जिहां रोग न, सोग न मार रे।
शासता सुख श्रीकार रे॥

ए करणीना फल सार रे।
तिहां दो उपयोग है लार रे॥

वांदीजे वारंवार रे।
तूं तो चेत चेत रे प्राणिया....

पूज्यश्री का प्रवचन पूरा होने के बाद बड़ी देर तक रायचन्द्र वहीं बैठा रहा। फिर पूज्यश्री के पास आकर उसने कहा :—"गुरुदेव! आपके प्रवचन सुन कर यह आत्मा जागृत हुई है और चाहता हूँ कि आप के पास रहूँ। आप मुझे अपना शिष्य बना लें!"

"वत्स! बिना माता-पिता की आज्ञा के दीक्षा नहीं दी जा सकती!" पूज्यश्री ने कहा। फिर याद आते ही उन्होंने कहा :—"क्या कल पिताजी से, पूछा न था....?"

—

‡ थागाथेग – रागद्वेष

रायचन्दजी की दीक्षा के समय सभी के मुँह पर एक ही वाक्य था :—"जिसने दीक्षा लेते समय अपने साथ परिवार का उद्धार किया है, वह आगे जाकर कितनी आत्माओं का कल्याण करेगा। वास्तव में समर्थ आत्माओं में ही यह गुण होता है।"

उनकी बात भविष्य के सत्य को छुपाये हुई थी यह भविष्य ने सिद्ध करके दिखाया था। पीपाड़ पूज्य रायचन्दजी की दीक्षा से वास्तव में धन्य हो गया था। *

* पू० रायचन्दजी आगे चल कर पू. जयमलजी म. सा. की पाट पर आये, इतना ही नहीं उन्होंने आशकरणजी आदि अनेक सन्तों को दीक्षित किया। जिसमें पू० आशकरणजी उनकी पाट पर पू० आचार्य बने। पू० जयमलजी की परम्परा में पू० रायचन्दजी ने भी अनेक सज्झाय ढालों की रचना कीं। उनके शिष्य पू० आशकरणजी की लघु साधु वन्दना "साधुजी ने वन्दना नित नित कीजे" आज भी समग्र जैन समाज में उतनी ही अत्यन्त लोकप्रिय है।
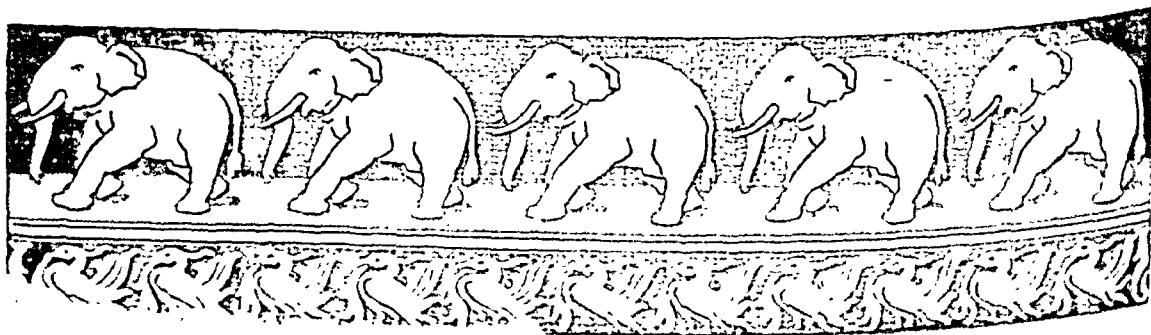
"नहीं ! मगर उन्होंने आपके पास जाने - आने को अच्छा कहा है, मैं आज्ञा मांगूगा तो वे अवश्य दे देंगे।" रायचन्द ने कहा।

रायचन्द वन्दना करके चला गया। पूज्यश्री उसके उत्साह को देखते रहे। पास ही मुनिश्री गोवरधनजी खड़े थे। उनको संकेत सा करते बोले :—"इसके बाह्य चिन्हों से मालूम होता है कि यदि इसने संयम लिया तो बड़ा नाम करेगा; किन्तु ऐसा नहीं लगता है कि उसे आज्ञा अभी अभी मिलेगी। किन्तु यह दीक्षा लेकर ही रहेगा।"

मुनिश्री गोवरधनजी पूज्यश्री की बातों को सुनते रहे। उनको भी इस युवान में अनोखी प्रतिभा दिखाई दे रही थी।

*　　　*　　　*

इधर रायचन्द घर पहुँचा। उसने रास्ते भर में दृढ़ता धारण कर ली थी। बड़ी हिम्मत के साथ वह पिताजी के पास पहुँचा जो कि विवाह के गहने, कपड़ो को देख रहे थे।

रायचन्द ने कहा :—"पिताजी ! मैं पूज्य जयमलजी को प्रवचन सुन कर आ गया हूँ।"

"अच्छा किया ! ऐसे पूज्यों के प्रवचनों का लाभ दुर्लभ ही होता है। उससे जीवन सफल बनता है।" विजयराज ने कहा।

"उनके प्रवचनों से मैं जीवन को सफल बनाने जा रहा हूँ। मुझे दीक्षा लेनी है और आत्म कल्याण करना है; अतः आप आज्ञा देवें।" रायचन्द ने कहा।

पिता विजयराज सुन कर आश्चर्य चकित से हो गये। एक और विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं और दूसरी और पुत्र रायचन्द क्या कह रहा है ?

"पिताजी ! आप ही तो कहते थे कि जीबन को सफल बनाना चाहिये। अब आप शुभ - संकल्प के लिये आज्ञा देने में क्या विचार कर रहे हैं ?" रायचन्द ने पूछा।

विजयराजजी सचमुच विचार में पड़ गये थे। परिवार में दो भाई थे। बड़े भाई निःसन्तान चल दिये थे। विधवा भौजाई घर में थी। अपनी पत्नी भी बालक रायचन्द को

८७

जय - मालवा विहार

पूज्यश्री जयमलजी के सहित दश सन्त जोधपुर से विहार कर सादडी होते हुए अमर - रायपुर [‡] के चातुर्मास के लिये प्रस्थान कर रहे थे। समय कम था और विहार में आते गाँवों को स्पर्शते हुए सभी आगे बढ़ रहे थे। सादड़ी में लोगों के अत्यधिक आग्रह से वे वहाँ कुछ दिन ठहरे। सादड़ी के लोगों का बड़ा आग्रह था कि उनके नगर को भी चौमासे का लाभ मिले। पूज्यश्री ने कहा कि भविष्य में उस पर अवश्य विचार किया जायेगा। वैसे गत वर्ष ही कुछ सन्तों का चातुर्मास वहाँ हुआ था; किन्तु बड़े सन्तों के चातुर्मास की बात भविष्य के विचार के लिये ध्यान में रखने का आश्वासन दिया।

छोटे - छोटे गाँवों में धर्म प्रचार अच्छा हो रहा था। लोग अधिक दिन ठहरने का आग्रह करते; किन्तु विहार लम्बा था और वहाँ पहुँचना आवश्यक था। वैसे मेवाड़ में अन्य सन्त भी विचरण करते थे, किन्तु पू. जयमलजी का अपना अलग प्रभाव था।

लांवा (मेवाड़) से विचरण करते हुए मुनिश्री कुशलचन्दजी म. सा. का चातुर्मास के पूर्व मिलन हुआ। उनका चातुर्मास इस वर्ष राजनगर में था। पूज्य जयमलजी और मुनिश्री कुशलचन्दजी का आपस में आत्म भाव ऐसा था कि दोनों का मिलन और प्रेम भाव देखते ही बनता था।

पूज्यश्री आदि सन्त विहार करते करते अमर रायपुर पहुँचे। इस नगर में पहली बार ही पूज्यश्री का चातुर्मास हो रहा था। उदयपुर से ही यहाँ के लोग नियमित विनति कर रहे थे अतः सं. १८१४ के चातुर्मास के लिये अमर रायपुर पूज्यश्री पधारे तो लोग बड़े उत्साह से पूज्यश्री को सामने लेने गये। नगर में पूज्यश्री के आगमन से नई जागृति की लहर दौड़ गई थी।

---

‡ आज यह बोराना रायपुर (मेवाड़) के नाम से प्रसिद्ध है।

छोड़ कर स्वर्गवासी हो गई थी। तब से भौजाईजी ने इसे बड़े
रायचन्द दीक्षा ले लेगा तो कुल का नाम कैसे रहेगा ?

पिताजी को विचार में पड़ा देख रायचन्द ने कहा .
विचार में पड़ गये हैं ?"

"यही विचार कर रहा हूँ कि तूने अभी दुनिया देखी
पाल सकेगा ? कच्ची उम्र में दीक्षा लेना सरल नहीं है।" विजयर

"आप चिंता न करें, मैं पाल लूँगा!"

"पुत्र! देख, अभी हमारी सब की आशा तू है। भौजाई
तेरा विवाह देखना चाहते हैं। तेरा संसार बसे, हमारे यहाँ पौत्र
लेना!" विजयराजजी ने कहा।

रायचन्द को पूज्यश्री की बातें याद आने लगीं। पूज्यश्री
"संसार स्वार्थ की माया है। सब अपने अपने स्वार्थ में लगे हुए हैं।
वश ही पुत्र का विवाह करते हैं। और पिताजी भी इसीलिये कर रहे है

उसने पूछा :—"पिताजी! विवाह करना क्या सचमुच सुख

"हाँ, पुत्र!"

"तब आप ने क्यों दूसरा विवाह नहीं किया?" रायचन्द ने पूछा

विजयराजजी के पास उत्तर न था।

रायचन्द ने फिर पूछा :—"विवाह में सुख हो तो बड़ी माताजी
हुई ? बड़े पिताजी क्यों चले गये ?"

"यह तो अपने अपने कर्म की बात है?" विजयराजजी ने कहा।

"और विवाह करके मुझे पुत्र होंगे ही इसका क्या विश्वास है? क्या
जल्दी मर नहीं सकता? फिर मेरी आत्मा का कल्याण कैसे होगा?" रायचन्द ने
की झडी लगा दी।

पूज्यश्री के प्रवचनों का लाभ लोग लेने लगे। आसपास के गाँववाले भी इनके प्रवचन सुनने बड़ी संख्या में आने लगे। जो उनका प्रवचन एक बार सुनता था वह नियमित आना शुरु करता था। कई लोगों ने तो नियमित रूपसे पूज्यश्री के सान्निध्य में रहने का संकल्प किया हो वैसा लगता था। वे प्रात:काल पूज्यश्री के पास रहकर प्रतिक्रमण करते - फिर, प्रवचन में सामायिक का लाभ लेते। मध्याह्न में पूज्यश्री से सूत्रपाठ आदि सीखते। उसी समय पूज्यश्री अपने संतों को स्वाध्याय - सूत्र पठन आदि कराते - उनके साथ ये श्रावक गण भी लाभ लेते थे। सांयंकाल होते दैवसिक प्रतिक्रमण एवं रात्रि को चर्चा आदि में भाग लेते थे। उस प्रकार ने पूज्यश्री के सान्निध्य का पूरा लाभ लेते थे।

प्रवचनों में पूज्यश्री जयमलजी का भगवान नेमिनाथ चरित्र चालु था। वे दिन में या रात में उसके पद अवकाश मिलने पर जोड़ते और दूसरे दिन व्याख्यान में उसको फरमाते। लोग नेमिनाथ भगवान से बड़े प्रभावित हो रहे थे।

भगवान नेमिनाथ की जान - बरात का वर्णन करते पूज्यश्री जयमलजी बरात में क्या क्या होता है उसका सजीव वर्णन करके रख देते थे। श्रीकृष्ण जिनके बड़े भाई हैं ऐसे नेमिनाथ की बारात में जाने इंद्र भी बिन बुलाये आये। और कहने लगे :—

इंद्र बोल्या बेउँ कृष्णने हो, लाया थे जान विसेखो।
नेम कुंवर परणे जिको हो मैं पिण लेसां लेखो॥

म्हैं पिण जोवां व्यावारी वाटी किम उतरे नेम पीली पाटी।
वाजा वाज रह्या गहगाटी पिण किण विध उतरेला पीली पाटी॥

इंद्र को शंका थी कि भले - बाजे - गाजे बजे, बारात सजे किन्तु भगवान नेमिनाथ हाथ व्याह के पीले रंग से कैसे रंगेंगे? श्रीकृष्ण व्याह करानेवाले थे और भगवान नेमिनाथ भी दुल्हा बन कर क्या सजे थे कि सब यह व्याह होकर ही रहेगा ऐसा मानते थे।
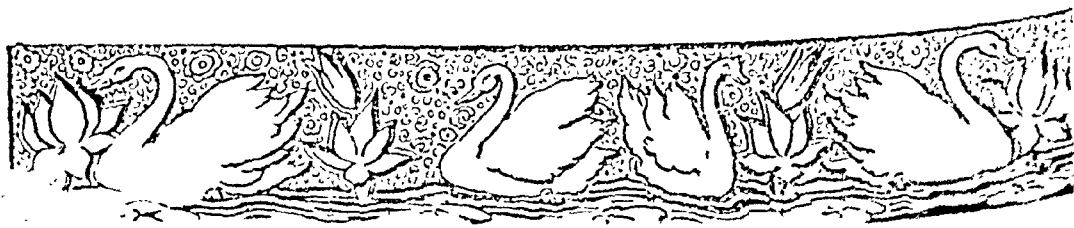
विजयराजजी ने थोड़ा सोच कर रायचन्द के उत्तेजित मन को अन्यत्र लगाने के लिये कहा :—"तू जैसा चाहेगा वैसा ही मैं करूँगा। हमारे लिये तेरी इच्छा से बढ़ कर और क्या चीज़ है? किन्तु तेरे ननिहाल से मामा आदि आये हैं, वहाँ पर सभी तुमसे मिलना चाहते हैं। उनसे मिल कर आ जा, फिर तू कहेगा वैसा करूँगा!"

रायचन्द ने पिताजी की आज्ञा मान ली। विजयराजजी ने उसे अपने साले के साथ, अपने ससुराल बुचकुला गाँव भेज दिया। साथ उन्होंने अलग से उसके मन के भावों के समाचार भिजवा दिये। उनका ख्याल था कि सन्त आदि पास में न रहेंगे तो रायचन्द पर चढ़ा हुआ यह प्रवचन-वैराग्य उतर जायेगा। उन्हें मालूम न था कि उनके पुत्र पर वैराग्य का पक्का रंग चढ़ चुका था।

* * *

पूज्यश्री को मेवाड़-अमर रायपुर चातुर्मास के लिये जाना था। अतः उन्होंने अलग-अलग सन्तों के ठाणे बाँट कर उन्हे चातुर्मास के लिये रवाना किये। मुनिश्री बख्तावरमलजी आदि ठाणे ३ का केलवा चातुर्मास था। मुनिश्री थीरपालजी आदि ठाणे ३ का देवसरी चातुर्मास था। मुनिश्री तेजसी आदि ठाणे ३ का चातुर्मास भीलवाडे था।

मुनिश्री गोवर्धनजी एवं मुनिश्री वृद्धिचन्दजी ठा. २ ने पूज्यश्री से विदाई लेकर पीपाड़ की ओर विहार किया। पूज्यश्री ने जोधपुर से विहार किया।

आचार्य रघुनाथजी का चौमासा जोधपुर था और वे बगडी से विहार करके आ रहे थे। विहार के मार्ग में दोनों आचार्यों का मिलन हुआ और नये सन्तों का परस्पर परिचय हुआ। पूज्यश्री जयमलजी वहाँ से अमर रायपुर की ओर बढ़ गये।

मुनिश्री गोवरधनजी और मुनिश्री वृद्धिचन्दजी कई गाँव विचरण करते हुए बुचकुला गाँव पहुँचे। यहाँ पर पूज्यश्री जयमलजी कुछ वर्ष पहले पधारे थे और यहाँ से कुछ भाविकों से दीक्षा भी ली थी। वैसे यहाँ के श्रावक पूज्यश्री के भक्त थे।

सन्तों का आगमन सुन कर लोगों ने बड़ी श्रद्धा के साथ उनके दर्शनों का और प्रवचनों का लाभ लिया। रायचन्द ने भी जब सन्तों की बात सुनी तो वह भी दर्शन

राजुल की सखियां भी उनका रूप देखकर कहती हैं :—

देखो सहियों बनडो है नेम कुंवार।
सांवल सूरत मोहिनी मूरत यादव कुल सिणगार ....
तीन भवन में नेहि कोई उपमा इंद्र तणो अणुहार ....
देखो सहियां ....

कानां कुंडल जडत छवि कंठ अमोलक हार ....
मुकुट छिव छापे सिर उपरे बरसे अमृत धार ....
देखो सहियां ....

सखियों ने आके राजुलसे भी वैसा वर्णन करके कहा :—

थारां मोटा भागो ए, अथागो ऐ
नेम सरीखो वर मिल्यो के सहियां ए ... !

किन्तु राजुल का जिमना (दायां) अंग फडकने लगा- मनमें शंका हुई और वह बोली :—

म्हारे जीवणो फरके गातो ए, जग-नाथो ए,
मिलसी के मिलसी नहीं के सहियां ए .... ।

सखियों ने उसे उलाहना देते कहा :—

बाई! बोलतां मती चूको ए; परो थू को ए .... ।
तोरणं उपर-आवियोक सहिया ए .... ।

मगर राजुल की शंका सच निकलनेवाली थी। नेमिनाथजी ने बारात के जीमन के लिये वाडे में बंध पशु-पक्षियों को देखा। उनका करूण कंदन उनकी आत्मा को छू रहा

करने गया। जोधपुर में तो बहुत से सन्त थे, किन्तु यहाँ तो सिर्फ दो ही सन्त देख कर रायचन्द को आश्चर्य हुआ। उसने मुनिश्री गोवरधनजी को पूछा :—"पूज्यश्री कहाँ गये?"

"वे तो मेवाड़ अमर रायपुर चातुर्मास के लिये गये हैं!"

"वे कब वापस मिलेंगे?"

"कह नहीं सकते? चातुर्मास के बाद इधर विहार हुआ तो यह सम्भव है!" मुनिश्री ने कहा।

रायचन्द बड़े असंजमस में पड़ गये।

"पिताजी ने तो कहा था कि ननिहाल से आने के बाद दीक्षा दिला दूँगा; किन्तु पूज्यश्री ने विहार कर दिया, अब क्या होगा? मैं कब दीक्षा ले सकूँगा? वास्तव में संसार में सब अपना ही स्वार्थ चाहते हैं। स्वार्थवश झूठ भी बोलते हैं, छल प्रपंच भी करते हैं। मुझे इसमें कतई नहीं रहना है....!" वह सोचता खड़ा रह गया। अचानक उसके मुँह से उद्गार निकल पड़ा :—"तब फिर क्या होगा?"

"क्यों क्या बात है? हम से कहो, हम भी पूज्यश्री के ही शिष्य हैं?" मुनिश्री गोवरधनजी ने कहा।

"मुझे उनसे दीक्षा लेनी थी....!"

"बिना माता-पिता की आज्ञा के दीक्षा नहीं दी जा सकती।" मुनिश्री ने कहा।

"पिताजी ने तो ननिहाल जाने के बाद दीक्षा देने की स्वीकृति दी थी....!" रायचन्द बोला।

"तो भी दीक्षा के लिये पूर्व तैयारी तो करनी पड़ती है — भावि दीक्षार्थी को संयम क्या है? इसका ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है!" मुनिश्री ने कहा।

"तो मैं भी आपके साथ चलूँगा! जब मैं योग्य बन जाऊँगा तो दीक्षा ले लूँगा!" रायचन्द ने कहा।
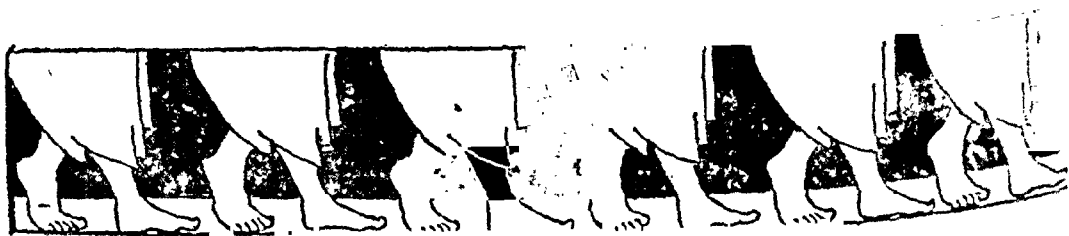
था। हरएक पशु पक्षी अपने से शिकायत कर रहा हो ऐसा नेमिनाथजी को लगा। मानों वे ऐसा रह रहे थे :—

जादव राय! तुम विन करूणा कुण करे!

हिरण्यो हिरणीने कहे, बाहिर रह गया बाल।
दयाल राय! चूगो पाणीने लेवा भणी, कुण करसी साल संभाल॥
जादवराय .... !

पूरे पासे पारेवडी, इम करे अरदास।
दयालराय! बंधन पड्या पग[1] माह रे,
ढीलो करे कोई[2] पास॥
जादवराय .... !

अशरण थका केई पंखिया, विल विल करे निरधार,
दयाल राय! छोडावण वालो कोई नहीं, छोडावे तो नेमकुमार॥
जादवराय .... !

नेमिनाथ ने सारथी से पूछा :—"ये किसके लिये हैं? क्या बात है?"

सारथीने कहा :—

सांभलजो महाराज कुमारो, व्याव मंडयो छे एह तुम्हारो।
यां जीवां रो होसी संहारो, पोखीजसी तुमरो परिवारो॥

इतने जीवोंका संहार मेरे व्याह में होगा - यह कैसा विवाह है? नेमिनाथजी विचारने लगे :—

परणी जण में पापज मोटो, जीव हिंसा से सहज खोटो।
ए तो दीसे परतख तोटो, तो लेऊँ दया धर्म को ओटो।

(१) कबुतरनी (२) अरजी
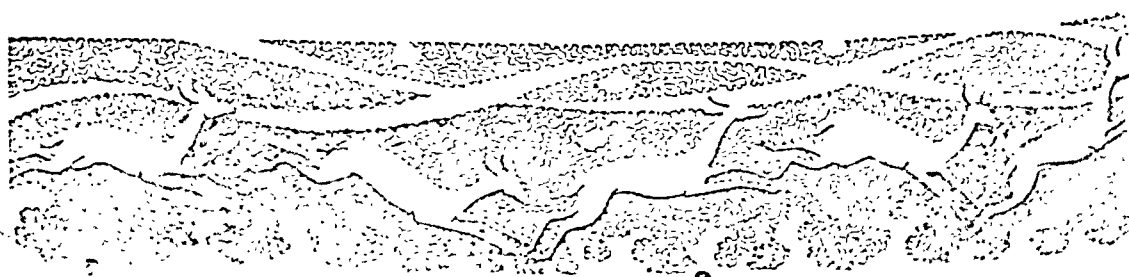
रायचन्द ने सन्तों के सामने अपने मनोभाव स्पष्ट रखे और अपनी दृढ़ता की साक्षी के स्वरूप जब सन्तों ने विहार किया तो वह भी उनके साथ हो गया।

मुनिश्री गोवरधनजी ने इस युवान की आंतरिक इच्छा जान कर उसे साथ रखा। रायचन्द ने बड़ी तन्मयता से **प्रतिक्रमण, सूत्र-पाठ,** एवं अन्य क्रियायें समझनी शुरू की। पूज्यश्री ने तो खड़े-खड़े एक ही दिन में पाँच सूत्र याद किये थे और छ मास की व्याहिता का एवं अपूर्व धन सम्पति आदि का त्याग किया था, यह सुन कर उसका उमंग और भी बढ़ा। मुनिश्री गोवरधनजी को भी उसकी स्मरणशक्ति, क्रियाओं के प्रति जागरूकता और संयम की पक्की लगन देख कर आश्चर्य हुआ। फिर भी उन्होंने अपनी ओर से परीक्षाणार्थ रायचन्द को घर जाने बहुत समझाया; किन्तु जिसका जीवन नई दिशा की ओर मोड ले ले रहा था उसे अब वह कैसे सुहाता?

सन्तों का विहार आगे होता गया वैसे-वैसे रायचन्द का मन और भी दृढ़ होता गया। थोड़े दिन बाद सन्त गण विहार करके पीपाड़ पहुँचे। उस समय तक रायचन्द का मन वैराग्य से पक्का हो गया था।

पीपाड़ के श्रीसंघवालों ने रायचन्द को देख कर मुनिश्री गोवरधनजी से पूछा। सन्तों ने सारी बात कह सुनाई। पीपाड़ में पूज्यश्री के भक्त श्रावक गण थे। उनको यह जान कर प्रसन्नता हुई कि रायचन्द के ऊँचे भाव हैं और पीपाड़ में दीक्षा हो तो श्रीसंघ का अहोभाग्य होगा। किन्तु नियमानुसार रायचन्द के माता-पिता को ज्ञात कराना आवश्यक था। इस प्रकार सन्तों के साथ अनिश्चित दशा में रायचन्द का रहना कतई ठीक नहीं था।

श्रीसंघ ने पूरी बात जान कर श्री विजयराजजी धाड़ीवाल के पत्ते पर जोधपुर एक चिट्ठी कासिद के साथ भिजवाई। उसमें सारा किस्सा लिख कर भेजा और कहलवाया :— "या तो आप पधार कर रायचन्द को दीक्षा के लिये आज्ञा दें और पीपाड़ श्रीसंघ को इस दीक्षा समारोह मनाने का सौभाग्य दें अथवा उसे समझा सकें तो वापस साथ ले जाँये।"
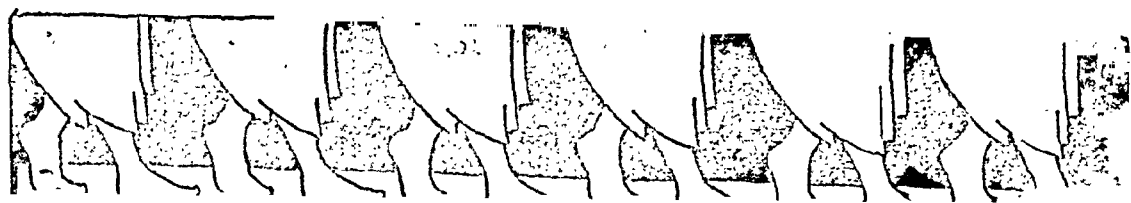
नेमिनाथजी-करुणासागर ने सारथी की बात सुन कर उसको बधाई के रूप में मुगट-गहने आदि दिने। सारथी से उन्होंने कहा :—"तुम को ये सारी वस्तुयें बधाई के रूप में देता हूँ :—

करुणा केरा सागर रे, जीवांरी करुणा कीधो।
माथारो मुगट वरजने रे, गेहणा बधाई में दीधो॥

गेहणा सब बधाई में दीधो।
नेम जिणंद समता रस पीधो॥

इसडो उत्तम कारज कीधो।
तीन लोक में हुआ प्रसिधो॥

जिसके कारण तीन लोग में प्रसिद्ध हुए वह थी उन जीवों पर आत्नभात्र से पूर्ण करुणा! उन्होंने उन जीवों पर करुणा की और आगे बढ़ कर उन्होंने सब के बन्धन तोड़े, पिंजर खोले और-जीवन को मुक्त पाकर पशु, दौड़ने लगे। ऐसा मालूम होता था :—

गगन जातां जीव देवे आसिस
के पशु ने पंखिया जगदीश॥

जादव हिवे चिरंजीव हो
बलिहारी तुम बाप ने माय॥
के पुत्र रतन जिन जनमियो।
जादव हिवे चिरंजीव जो।
स्वामी! थे सारिया अम्ह तणा काज के
तीन भवन रो पामजो राज के
शील अखंडित पाल जो

इधर जोधपुर और बुचकुला में रायचन्द की बड़ी खोज़ हो रही थी। विवाह के दिन पास थे। उसे घी पीलाना था। पीले चावल बाँटने थे और स्वयं वर राजा रायचन्द गायब था। बुचकुलावाले भी जोधपुर पहुँचे थे। वहाँ पर पीपाड़ की चिठ्ठी लेकर कासिद श्री विजयराजजी के द्वार पर पहुँचा।

चिठ्ठी पढ़ कर सब को शांति हुई कि रायचन्द सुरक्षित है और सन्तों के पास है और जैन साधुओं की आचार मर्यादा पर गौरव अनुभव हुआ कि उन्होंने गुप्त रूप से दीक्षित नहीं करके हम तक समाचार पहुँचवाये। विजयराजजी अपनी भाभी के साथ पीपाड़ पहुँचे। सभी ने रायचन्द को अलग-अलग समझाया; किन्तु रायचन्द ने तो दृढ़ता से एक ही बात कही :—"अमरपट्टा किसका लिखा है। बड़े पिताजी चले गये। माताजी भी चली गई। जाने का होता है तो वह शादी करके बुढ़ापा तक थोड़े ही रुकता है? इससे तो जब जगे तभी से तैयार होकर धर्म मार्ग में आगे बढ़ना चाहिये।"

भाभी ने कहा :—"तू दुल्हा बन तेरा बरघोड़ा[†] निकले यही अच्छा है।"

रायचन्द ने कहा :—"इधर भी बरघोड़ा निकलेगा ही। विवाह के बाद अपने कुल का नाम उज्जवल हो या न हो मगर संयम से तो कुल उज्जवल होगा ही!"

विजयराजजी कुछ कहने गये तो रायचंद ने कहा: "आपने तो कहा था कि ननिहाल जा कर के आ; दीक्षा ले लेना। मैंने आपके वचनका पालन किया - आप अपना वचन पालें!"

रायचंद ने थोड़े दिनों में जो आत्म ज्ञान और धर्म दर्शन पाया था और उसमें चारित्र मार्ग प्रशस्त करने की जो अभिलापा थी उसका असर विजयराजजी पर पड़ा। वे सोचने लगे कि "मेरे, पुत्र की आत्मा जगी है फिर मेरी क्यों नहीं जगती! यह दीक्षा लेगा तो मेरा क्या है? मुझे भी उसकी तरह आगे बढ़ना चाहिये। सचमुच उसने मेरी आँखे खोल दी हैं।"

† बरात का जलुस।

नेमिनाथजी तो तोरणद्वार से वापस लौटने लगे। श्री कृष्ण ने कारण पूछा तो उन्होंने कहा - मैं तो संयम लूँगा। वे कहने लगे :—

नेम कहे सुण बांधवा रे, ऐ संसार असारो।
कुटुम्ब कबीलो छोड़ने रे, हूं लेसूं संजम भारो....॥
हूँ लेसूं संजम भारो।
काम भोग जाण्या खारो॥
ए, नारी न लगाडे लारो।
मुक्ति रमणी सूं छे मने मारो॥

श्रीकृष्ण को यह बूरा लगा। उन्होंने कहा :—

जो थांरे मन में आ हुँती रे, हूँ नहीं परणू नारो।
तो इसडी जान जुलुस सु रे, मोने नहीं लावणा था लारो॥
मोने नहीं लावणा था लारो। जो मन चर्त्यो हो इम थांरो॥
हूं तो लेसुं संजन भारो। जो इतरो कांई कियो विस्तारो॥

मगर नेमिनाथजी के मनमें तो एक ही बात थी वे लौट गये और एक संवत्सर तक दान देकर उन्होंने एक हजार पुरूषों के साथ संयम ले लिया।

उधर राजुल की स्थिति क्या थी? वह तो मूर्छित हो गई। उसने सखी से सुना कि नेमिनाथ रथ को वापस ले गये हैं और :—

सखी-मुख सांभल्यो राजुल बाल।
नेम गया रथ पाछो वाल के॥
धरणी ढलीने लही मूरछा;
चंदन लागे छे जेम अंगार के॥
सखी मोने पवन म लावजो।
हिरदा में बसे नेम कुंवार के॥

कुत्ता आनन्द से दौड़ता हुआ बनजारे के पास पहुँचा। उसे दूर से ही देखते बनजारे ने सोचा कि "अरे! यह तो भाग कर चला आया है। अब सेठ को मैं कैसे रुपये दूँगा....? दगाबाज....! नमक हराम....!!"

बनजारे का गुस्सा बढ़ता गया — बढ़ता गया! उसने पास में पड़ा पत्थर उठाया; कुत्ता जैसे आनन्द से पास में आया कि उसने पत्थर मारकर उसका काम तमाम कर दिया।

बिचारा कुत्ता थोड़ी देर चिल्लाता मालिक के पैरों पर ही गिर कर मर गया। उसकी आँखें खुली थीं और मालिक को पूछ रही थीं कि "तूने ये क्या किया....?"

मालिक भी बहुत ही दुःखी हो रहा था। मरे हुए कुत्ते पर हाथ फिराते उसने उसके गले के पास एक बँधी चिट्ठी देखी। उसमें लिखा था :—"बनजारे! तुम्हारा कुत्ता सचमुच ही रत्न है। वह बड़ा स्वामी - भक्त है। आज उसने मेरा घर बर्बाद होने से बचा लिया है और इसके बदले में तुमको कर्ज़ से मुक्त करता हूँ और तुम्हारा कुत्ता तुम्हें वापस करता हूँ....!"

उस पर सेठ के दस्तखत थे। बनजारा फूट - फूटकर रोने लगा। मगर अब क्या होता है? "जब चिड़िया चुग गई खेत!" इस तरह जब सामान्य कषाय तीव्र होता है तो भी ज्ञान - विवेक नष्ट हो जाता है तो निरंतर सतत कषायों में रमण करनेवाले नारकी जीवों को ज्ञान होना कितना कठिन है? फिर वे मुक्ति तो कहाँ से पायेंगे?

तिर्यंच गति तो शेष सब जीवों की यानी तीनों गतियों को छोड़ करके जीवों की होती है। उनमें एकेंद्रिय से चतुरेंद्रिय जीव तो अपूर्ण हैं ही पंचेंद्रिय जीवों की दशा अज्ञानी जैसी होती है। बालक, अज्ञानी या मूर्ख को हम निरा "पशु" कहते हैं; यानी अज्ञानी कहते हैं। तिर्यंच - पशु अवस्था में धर्म बोध तो हो सकता है किन्तु मुक्ति नहीं हो सकती।

सब मुक्ति का अधिकारी केवल मानव को ही माना गया है अतः ये मानव - जन्म दुर्लभ कहा है। कहते हैं कि देवों को भी नर दुर्लभ है और देव भी मानव - जन्म लेने

तरसते हैं। अतः सब से पहले तो वह मानव-जन्म पाना बड़ा दुर्लभ है। दुर्लभ वस्तु को पाकर कोई भी खो देना नहीं चाहेगा।

इसके उपरांत शास्त्रकार कहते हैं कि दूसरी दुर्लभ वस्तु है "सुई" अर्थात् श्रुति। वीतराग की वाणी की श्रुति, वाणी को सुनना भी दुर्लभ है। दुनिया में नाना प्रकार के उपदेश, स्वार्थ साधना की बातें तो होती रहती हैं किन्तु वीतराग का वचन श्रवण करना बहुत ही दुर्लभ है।

वीतराग के वचन सुनकर कितने ही भव्य जीव संसार सागर तिर गये। भगवान महावीर के वचन सुनकर वह चोर भी बच गया और अन्त में उसने संयम लिया। उसके पिता ने मनाई की थी मगर काँटा लगा और कुछ वचन कान में पड़ गये कि "देवों के पैर पृथ्वी पर नहीं लगते नयन अनिमेष रहते, शरीर की छाया नहीं पड़ती और उनकी माला नहीं मुरझाती!" ज्यों ही उसे फँसाने का देव-लोक का नाटक हुआ और वह अपने आपको फँसाने चला था कि उसे वीर-प्रभु के वे वाक्य याद आ गये और वह समझ गया कि यह तो उसे फँसाने की माया-जाल है। वैसे चन्दनबाला, अर्जुनमाली, मेघकुमार; न जाने कितने ही भव्य जीव वीतराग की वाणी सुनकर तिर गये हैं।

आप लोगों को जैनी होने के नाते अनायास ही उसका लाभ मिला है तो उसका पूरा फायदा उठाना चाहिये। मानव-जन्म मिला हो, वीतराग की वाणी भी सुनने को मिलती हो किन्तु तीसरी वस्तु दुर्लभ है "श्रद्धा" करना। श्रद्धा रखने से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है और सच्चे चारित्र मार्ग की ओर बढ़ा जा सकता है। वीतराग का मार्ग त्याग का मार्ग है और उस मार्ग पर चलने के लिये शरीर तक का ममत्व छोड़ना पड़ता है। भोगोपभोग में मस्त इस संसार में तप त्याग करना बड़ा ही कठिन है। इसलिये "श्रद्धा" को भी दुर्लभ कहा गया है।

इस श्रद्धा में तो त्यागने का ही है। कोई लौकिक देवों की श्रद्धा मानते हैं और पुत्र की, सम्पत्ति की, स्त्री की, कुछ नहीं तो शत्रु के नाश की मानता करते हैं और वैसी श्रद्धा में चलते हैं। लेकिन यहाँ तो त्याग करने के लिये श्रद्धा रखनी आवश्यक मानी गई है और वह सचमुच ही दुर्लभ होती है।
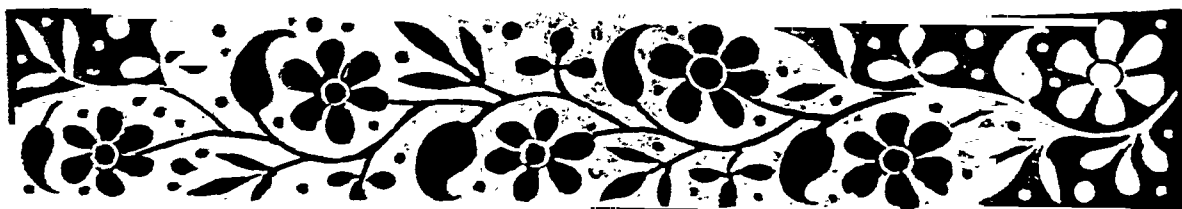
जब उसकी मूर्छा उत्तर गई और राजुल जगी तो बावरी बन उसके मुख पर एक ही बात थी :—

उभा रो'जी,[1] उभा रो' जी उभा रो जी !
सांवलिया साहब उभा रो' जी !
थे छो म्हांरा ठाकर उभा रो' जी ;
म्हां छां थांरा चाकर उभा रो'जी .... !
आठ भवां रो नेहज हुंतो, नव में दी छिटकाई ।
तुम सा पूत पनोता होय ने, जादव जान लजाई ॥
उभा रोजी .... ।
हरि हलधर सा जानी वणियो, तुम रे कुमि[2] य कांई ।
विन परमारथ छोड़ चल्या, सीख कहाँ सू पाई ॥
उभा रोजी ... ।

दिन बीतते चले ; राजुल के मन का संताप न मिटा । उसे धीरज बंधाती । अलग-अलग प्रकार से बहलाती ; किन्तु राजुल की स्थिति यही थी :—

तरसत अखियां, हुई द्रम पखियां ।
जाय मिलो पिवसूं सखियां ॥
यदुनाथजी के हाथ री ल्यावो कोई पतियाँ ।
नेमनाथजी ... दीनानाथजी ॥
जिणकूं ओलंभो एतो जाय कहणो ।
थे तज राजुल किम भये जतिया ॥
नेमनाथजी .... दीनानाथजी ॥

1. खड़े रहो जी—रुक जाओजी 2. कमी

उस समय अवंति का राजा चँद्रप्रद्योत था। महाराजा उदायन के पास वीतिमय आदि ३६३ आगर याने खान भी थे और अनेक प्राकार थे। उसके सोलह जनपद थे। उसने दशपुर नगर की रचना की थी क्योंकि उसके सामने दश बड़े मुकुटबद्ध राजा खडे रहते थे। जिन में महासेन आदि थे।

चंद्रप्रद्योतने राजा उदायन को नीचा दिखाने के लिले एकवार षडयंत्र रचा और उसके अंत:पुर से उसकी सुंदर दासी का अपहरण कर लिया। उसे अपना अपमान समझ राजा उदायनने चंद्रप्रद्योत पर चढ़ाई की और उसे हराकर बंदीवान वनाकर अपने साथ ले लिया।

राजा उदायन इसी दशपुर स्थान पर पहुँचे। वहीं पर पर्युषण के दिन प्रारंभ हुए। संवत्सरी आई और जैन होने के नाते राजा उदयनने जब सब जीवों की क्षमा याचना चाही तब चंद्रप्रद्योत के साथ भी उसने क्षमा याचना चाही और उसकी यथार्थता के रूप में उसे अपने संतुष्ट रूप से देश जाने दिया।

इस स्थान का महत्व बढ़ गया और यहाँ पर नया नगर वसा। राजा उदायन के आगे दशपुर के राजा यहीं मस्तक झुकाये खड़े थे अत: नगर के बाहर उनके भी दश-पुर अलग वसाये गये और यह दशपुर कें नाम से प्रसिध्द हुआ।

राजा उदायनने श्रमण भगवान महावीर वीतिभय में आये तब संयम लिया। उसने अपना राज्य पुत्र को न देकर अपने भतीजे केशीकुमार को दिया। उसे डर था कि उसका पुत्र अमितिकुमार राज्यसत्ता के योग से दुर्व्यसनी बन कहीं दुर्गति में न पड़े। अमितिकुमार नाराज़ हुआ और पिता से वैरभाव रखता हुआ चंपानगरी में मर गया।

उदायन राजा के शरीर में संयम लेने के बाद कोई व्याधि हुई और वैद्योंने उपचार के रूप में मात्र दही लेने को कहा। वे जब विहार करके वीतिभय पहुँचे तब केशीकुमार के मंत्रियोंने उसे भरमाया कि उदायन संयम से उब कर पुन: राज्य चाहता है अत: उसका नाश किया जाना चाहिये। कहते हैं कि किसी के हाथ से ज़हर मिश्रित आहार उन्हें वहरोया गया और उदायन राजा को अपना आत्मोसर्ग कर देना पड़ा।
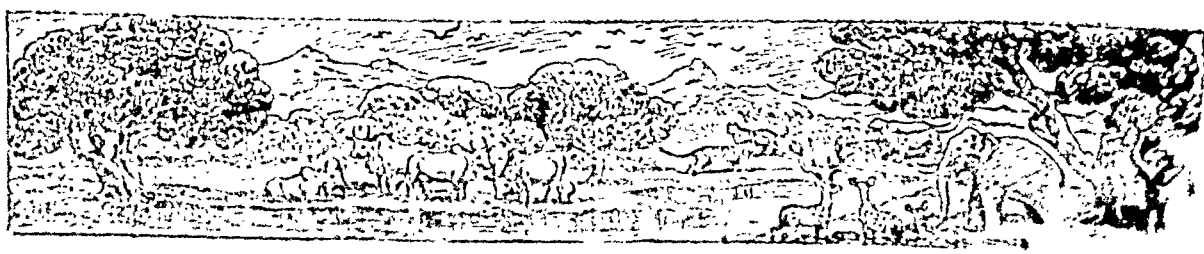
जांकूं दूंगी जरावरो गजरो।
कानन कूं चूनी मोतिया ॥

नेमनाथजी .... दीननाथजी ॥

उनसे जाकर इतना कहना कि राजुल के लिये तो :—

महल अटारी - भए कटारी ।
चंद किरण तनूं दाझतिया ॥

नेमनाथजी .... दीनानाथजी

क्या गिरनार के छाय रहे प्रभुजी।
वनचरनी करत थितिया ॥

नेमनाथजी .... दीनानाथजी ॥

सखियां जब पास न होती तब राजुल अपने आपसे बातें करती :—"क्या मुझमें कमी थी कि नेमिनाथजी मुझे छोड़ कर चल दिये। कितनी उम्मीदों सेमैंने वेश [illegible] था?" वह गुनगुनाती :—

म्हें चित उम्मेद पेर्यो चूडो ।
म्हांरे मेंदी रो, रंग आयो रूडो ॥

पिण सावारी वेला क्यूँ टली आगी ।
नेमीसर बनो भयो वैरागी ।

हूं शिवा के सासुरी वाजी रे बहू ।
मांने जग सगलों में जांणी ए सहू ॥

हूं नेमजी री राणीजी वाजी ।
नेमीसर बनो भयो वैरागी ॥

दशपुर नगर विद्या का भी बड़ा केंद्र रहा। उज्जैन-धारानगरी से भी पूर्व यह विद्या-कला का केंद्र रहा था। यहीं पर आचार्य रक्षित, आचार्य वज्रसेन, वाचनाचार्य नंदिलने आगमों की वाचना की थी। वैसे इसके पूर्व आचार्य वज्र ने यहीं पर आर्य भद्रगुप्त के पास दशपूर्व का अध्ययन किया था। उनके बाद कोई दशपूर्वधारी नहीं रहे थे।

पूज्यश्री जयमलजी के आगे जैन इतिहास की ये सारी बातें एक अध्याय की तरह खुलकर रह गई थी। मंदसौर-(दशपुर) जैसे धर्म के केंद्र में उन्होंने जो भविजीव आत्मउन्नति करना चाहते थे उनके लिये यही उपदेश दिया:—

चेतन चेतोरे मिनख जमारो पायोरे....

सूत्र सिद्धांतनी रहस्यसूंरे,
ए तो सतगुरु के उपदेशोरे

सुध समकित आदरो के, थारां—
कट जाय कर्म कलेसो रे....

चेतन.... !

मोटी पदवी पाय ने
परमाद में मत पडजो रे

मिथ्या सतने छोडने
शुद्ध दयाधर्म आदरजो रे....

चेतन.... !

देवगुरु ने धर्म री तुमे
सरी आसता आणो रे,

उत्तम आरज क्षेत्र नो
थांने नीढ मिलीयो छै टाणो रे....

चेतन.... !

कुण तांके तारोंने, छोड़ शशी ।
मांरे सांवरियां सरीखी सूरत किसी ॥
म्हें दूजा भरतारनी तृष्णा त्यागी ।
नेमीसर बनो भयो वैरागी ॥

पूज्यश्री की कहने की शैली और उस पर दिल को छू लेनेवाला विवेचन और राजुल के विलाप की करूण कथा सुनकर बहुत से श्रोताओं की आँखें सजल हो जाती थीं। उनकी प्रत्येक बात का विवरण इतना सचोट होता था कि वह हृदय को छुए बिना नहीं रहता था। चातुर्मास के दिन धर्म के वातावरण में व्यतीत होते थे।

पूज्यश्री कहते थे :....राजुल को सखियों ने समझाया, माता-पिता ने कहा कि दूसरा ब्याह कर देंगे, किन्तु राजुल को तो नेमिनाथ भगवान के पीछे चलना था। संयम मार्ग से प्रेम को प्रशस्त करना था। वह तो यही कहती थी :—

किनके सरणे जाऊँ,
नेम बिना, किनके सरणे जाऊँ ....?
इण जग मांय नहीं,
कोई मेरा, ताकि मैंज कहाऊँ....?

राजुल ने माता को स्पष्ट कह दिया :—

अरि, मेरा दुःख मत कर जननी,
म्हें जाऊँगी गिरनार, दीक्षा लेऊँगी मन तरणी।
मेरा दुःख मत कर जननी ॥

सखियों ने ताना मारा कि :—"नेमनाथ, नेमनाथ क्या कहती है? वह तो काला है—उसमें क्या है? किन्तु राजुल ने उनको यही कहा :—

काली घटा जलधार,
कालो हाथी है सहियाँ, सोहे राजकुंवार।
जिम काला नेम कुंवार ॥

सच्चे संत तो यही कहेंगे :—"भाई धर्म कर ! यह मनुष्य जन्म मिला है उसे सार्थक कर। और इसके लिये सर्व प्रथम आवश्यक है धर्म की आराधना करना।

यह धर्म है अहिंसा-संयम और तपरूप। इसे ही शास्त्रकारोंने उत्तम मंगल कहा है और उससे इसलोक परलोक के सारे गुण प्राप्त होते हैं :—

धम्मो मंगल महिमा नीलो धर्में नवनिध होय।
धर्में दुःख दोहग टले रोग सोग नहीं कोय।

धर्म रूपी मंगल की महिमा अपरंपार है। उसकी शरण में चले जाने से उसकी आराधना करने से क्या नहीं मिलता ? उससे ही नव प्रकार की निधि प्राप्त होती है। उससे बड़े बड़े दुःख दूर होते हैं और जब धर्म का लोग आराधना करते हैं तो कोई रोग और शोक बाकी नहीं रहता।

पूज्यश्री जयमलजी के नवीन पद "चेतन चेतो" "शिक्षा-पद" आदि लोगों की आत्मा को छू लेते थे।

मंदसौर विराजने पर उनके पास रतलाम, इंदौर, उज्जैन आदि नगरों में श्रीसंघ विनति करने आये। पूज्यश्रीने फरमाया :—मालवा जैन धर्म का बड़ा क्षेत्र रहा है, उस क्षेत्र को बड़े बड़े जैनाचार्योंने अपने ज्ञान-दर्शन चारित्र्य से पावन किया है। अतः जहाँ जहाँ पुद्गल स्पर्शना हो सकेगी वहाँ विचरण करने के भाव हैं।!!

पूज्यश्री जयमलजी के वचन सुनकर श्रीसंघवाले बड़े प्रसन्न हुए। थोडे ही दिनों में वे मरुधरा के महान संत के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। किन्तु पूज्यश्री जयमलजी को यह भेदभाव पसंद न था। वे तो स्पष्ट कहते :—"संत किसी प्रांत या प्रदेश के नहीं हैं, न किसी जाति या वर्ग के हैं। वे तो सभी के हैं। हमारे पूर्वजोंने सारे भारत में धर्म प्रचार किया था। पूज्य धर्मदासजी म. सा. ने ही यहाँ धर्म प्रचार किया, उनके ही एक टोले- पूज्य धनाजी म. सा. ने मारवाड़ क्षेत्र को धर्म से सिंचित किया। संतों का कार्य ही धर्म सिंचन करना है। देखा जाये तो जैनी कहीं भी हो जैनी है। जैन धर्म सबके लिये जैन धम है।

काली हुए किस्तुरडी
काली की की है सहियां सोहे आंख मंझार।
जिम काला नेम कुंवार ॥

राजुल घरबार, माता-पिता को छोड़ गिरनार पर्वत पर प्रभु नेमिनाथजी को वंदना करने चली। बीच में वर्षा की झड़ी आई। कपड़े भीग गये; सो पास में आई एक गुफ़ा में जाकर उसने वस्त्र उतार कर निचोड़ने शुरू किये। वह समझती थी कि वह अकेली है; किन्तु बिजली चमकी और देखा सामने कोई मुनि खड़े हैं! राजुल उस मुनि को नहीं जानती थी। किन्तु मुनि रथनेमि उसे जानते थे और उसका अद्भुत रूप देख कर मोहित हो पड़े और कहने लगे कि :—"नेमिनाथ तुम्हें छोड़ कर गया; किन्तु देवी! तुम चाहो तो मैं तुमसे ब्याह करूँ—अपना संसार सफल होगा!"

राजुल ने उसे समझाते हुए कहा :—

जातिवंत कुलवंत रहिजे, वमिया तूं मती रीझे।
खिण[1] सुख कारण बहु दुःख खामो, एहरो काम न कीजे॥

और आगे बड़े सुंदर शब्दों में राजुल ने कहा :—

सुगणा साधुजी हो मुनि!
थारां मनने पाछो घेर ॥

गज असवारी छोड़ने हो मुनिवर।
खर उपर मति बेस .... ॥

देव लोग रा सुख देखने हो मुनिवर।
पाताले मति पेस .... सुगुणा .... ॥

---

[1] क्षणिक

उनके इन वचनों से लोग उनकी आत्मा की विशालता का अंदाज लगाते थे। और यह विशालता सिर्फ दिखावे की न थी, उसके पीछे सच्ची आत्मीयता थी। मंदसौर से आगे विहार में जितने भी संतों से मिलन का प्रसंग रहा, उन्होंने हमेशा प्रेमभाव दिखाया और साधु-विनय के अनुसार उनका व्यवहार था।

मंदसौर से अन्यान्य गांव स्पर्श करते हुए पूज्यश्री आदि संत रतलाम पहुँचे। वहाँ पर भी श्रावकोंने बड़े उत्साह से मरुधरा के महान आचार्य जयमलजी का स्वागत किया।

उनके वदन पर निखरता चारित्र्य का पूंज, उनकी सहज-स्वाभाविक मृदु मुस्कान और धर्म से युक्त वचन सभी को अपना बना लेते थे। उनका "चेतन चेतोरे!! की चेतावनी बड़ी असर करती थी।

भगवान महावीरने इस जंबुद्वीप में बत्तीश हजार देश कहे हैं। किन्तु उसमें भरत-आर्य क्षेत्र के क्षेत्र सिर्फ साडे पच्चीस ही बताये हैं। इस में भी बिहार-मगध और यह मालवा प्रदेश तो भगवान के बाद जिन-शासन का प्रखर केंद्र रहा। यहाँ पर सभी सुविधायें मिली हैं। उसे पाकर मानव को अपना जीवन सफल बना लेना चाहिये।

इवा जंबुद्वीपना भरत में,
कहया देश बत्तीश हजारो रे।
आर्य साढ़ा पच्चीस छे
जटें जांवो धर्म सारो रे.... !!

चेतन चेतोरे .... !

सिर्फ साड़े पच्चीस ही क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ धर्म का सार लोक जानते हैं। संसार में मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ, उस में धर्म क्षेत्र सहित उत्तम कुल मिलना दुर्लभ है। फिर संतों का समागम होता है। यह पाकर भी जो जीवन सफल न बनावे उसे मूरख ही समझना चाहिये।

खीर खांड ने भोजन करी हो मुनिवर।
वमियो कर्दम बीच ॥

वमिया की वांछा करे, हो मुनिवर।
काग कुत्ता के नीच .... सुगुणा .... ॥

इण परिणामे थाह रो, हो मुनिवर।
संयम थिर नहीं होय ॥

गंधण कुल रा सर्प ज्यूं हो मुनिवर।
वमिया ने मत जोय .... सुगुणा .... ॥

हे मुनिवर! तुमने संयम लिया है। वह खीर-खांड (सक्कर) जैसा भोजन है उसको किस कीचड़ में छोड़ रहे हो! मैं तो तुम्हारे भाई नेमिनाथ की त्यागी हुई—वमन की, हुई स्त्री हूँ! जगत में वमन किये पदार्थ खानेवाले तीन ही प्राणी हैं—कौए हैं, कुत्ते हैं या नीच जाति के लोग हैं। मुनिवर! तुम्हारा संयम ऐसे विचारों से स्थिर कहाँ रहेगा? तुम तो उत्तम कुल के सर्प, जैसे जहर को (दंश द्वारा किसी दूसरे के शरीर में छोड़ दिया) जिसे छोड़ दिया उसे वापस लेने का मत देखो .... ।"

रथनेमि के हृदय में अंतर्द्वंद जग पड़ा। उसकी पतन की ओर अग्रसर हुई आत्मा उन्नति की ओर मुड़ी। उसने राजुल को धन्यवाद दिया और कहा :—

नरक पड़ंता राखियो, हे राजुल।
इम बोल्यो रहनेम ॥

मुझने थिरता कर दियो, हे राजुल।
वचन-अंकुश गज जेम ....॥ सुगुणा ॥

जैसे हाथी उपर अंकुश लगते ही वह स्थिर होकर, स्वस्थ गति से बढ़ता है उसी प्रकार हे राजुल देवी! आप ने वचन रूपी अंकुश से मेरी आत्मा को स्थिर कर दी है। मैं नरकगामी होते होते बच गया।

जोग मिल्यो साधां तणो,
वले लद्यो नीरोगो डीलो रे !
तो किरिया करतूत नी
भूल न करणी ढीलो रे .... !!

चेतन चेतोरे.... !

आर्य धर्म क्षेत्र, उत्तम कुल, संत समागम और उसके सात्र काया भी निरोग मिलती है। फिर भी लोग धर्म क्रिया करने की बात आती है तो उस में ढ़िले (कमज़ोर) पड जाते हैं। संत तो यही कहते हैं कि जो धर्म क्रिया करनी है उस में भूलकर भी ढील नहीं करनी चाचिये। संत उपदेश देकर चले जायेंगे किन्तु उसका असर अपने पर नहीं हुआ तो यह नरजध्म वृथा गँवानासा होगा।

वचन जाणो वीतरागना,
शुद्ध हियो में न धाल्या रे !
भूल्यो नरभव पायने,
ए तो ठाली होय कर चायारे.... !!

चेतन चेतोरे... !

पूज्यश्री अपनी आत्म-अहलक जगाते हुए आगे बढ़ रहे थे। रतलाम से वे धारानगरी की ओर बढ़ गये। यह सारा प्रदेश भी शस्य श्यामल खेती के साथ छोटे छोटे उपवनों से भरा हुआ था। गांव गांव समृद्ध से मालुम होते थे। वैसा लोगों के पहनावे से भी मालुम होता था। मेवाड़ की तरह यहाँ पर प्रजा गरीब न थी। फिर भी मेवाड़ जैसे इस प्रदेश से सेनायें अक्सर गुजरती थी। किन्तु यहाँ पर कोई उल्लेखनीय लडाई उन दिनों नही हुई थी। सैनिक गतिविधि से लोगों का व्यापार बढ़ताही जाता था।

छोटे मोटे गांवों को स्पर्श करते हुए वे धारानगरी पहुँचे। यह नगरी अपने प्राचीन वैभव को अपने में छुपाये हुए थी। राजा भोज और मूंज की यही नगरी थी। यही विद्या और कला का बड़ा केंद्र थी।
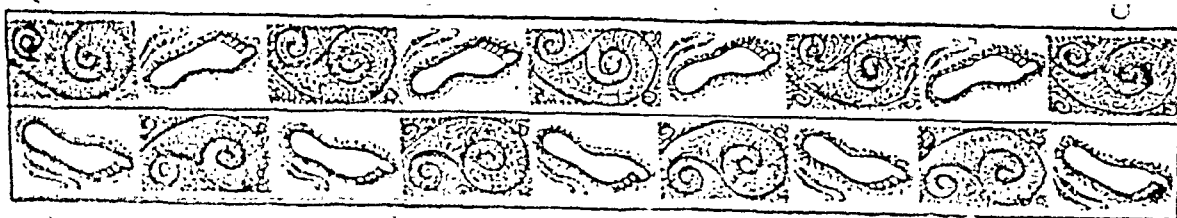
जैन-समाज में जो बड़े दार्शनिक संत हुए, उनमें श्री अभयदेव सुरि का उल्लेख विशेष सन्मान के साथ लिया जाता है। धारानगरी उनके चरणकमलों से पवित्र हुई थी। वैसे अन्यान्य अनेक ऐतिहासिक प्रसंगों में आचार्य अभयदेव सूरि के गुरु जिनेश्वर सूरि का धारानगरी को केंद्र बनाना, राजा मूंज पर जैनाचार्यों का प्रभाव और वहाँ के अनेक जैनाचार्यों की शासन सेवा का उल्लेख होता है। यहीं से उन्होंने जैन धर्म प्रचार मेवाड़, मारवाड़ गुजरात आदि क्षेत्रों में किया था।

सबसे सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना पू. धर्मदासजी म. सा. के आत्मोत्सर्ग की है जब कि एक शिष्य के संथारा छोड़ने पर उन्होंने उसके स्थान पर बैठकर अपनी आत्मा को उत्सर्ग मार्ग पर लगाकर ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया था। यहीं उनके अंतिम समय में उनके संतों को उन्होंने बाइस टोलों में विभक्त करके भारतवर्ष में जैन-धर्म का प्रचार करने भेज दिया था। आज भी धारानगरी में पूज्यश्री धर्मदासजीने जिस पाट पर बैठकर आत्मोत्सर्ग किया था, वह पुण्य तीर्थ माना जाता था, पूज्यश्री जयमलजी आदि संतों ने उस स्थान और पाट दोनों को बड़े भावसे देखा। उनके सामने पू. धर्मदासजी का अमर आत्म बलिदान याद आ गया। १

धारानगरी में पूज्यश्री जयमलजी संतों के साथ थोडे दिन रहकर, लोगों में धर्म-प्रचार करके आगे बढ़ गये।

* * *

अन्यान्य गांवों को स्पर्श करते हुए पूज्यश्री जयमलजी अपने संतों के साथ उज्जैन पहुँचे। संस्कृति के विकास में उज्जैन का अपना ऐतिहासिक महत्व है। क्षिप्रा नदी के किनारे विक्रम वेताल की कथाओं के स्थल आज भी रोमांचक लगते हैं। पूर्व में काशी तो मध्य में उज्जैनी हमेशां विद्या और कला का केंद्र रही थी। यहीं पर महाराजा सम्राट वीर विक्रम ने अपनी विजय के उपलक्ष में संवत चलाया था जो उन्नीस सदी से प्रचलित है और आगे भी प्रचलित रहेगा।

१. आगे विवरण आ चुका है।

रहकर आगे बढ़ना और बात है। इस में भी नारी होकर स्वयं दृढ़ होना और अन्यों को स्थिर करना राजुल सती के संयम - चारित्र की विशेषता है।

भगवान नेमिनाथ पुरुष थे, दृढ़ मनोबल के थे। वे तीर्थंकर भी हुए किन्तु राजुल तो सामान्य स्त्री थी। नेमिनाथजी बिना ब्याह किये वापस लौटे। फिर भी उसने अन्य पुरुष के साथ विवाह की कल्पना तक नहीं की और दूसरे की नहीं कहलाई। उसके हृदय की पवित्रता और संयम की दृढ़ता के कारण ही रथनेमि जैसों पर ऐसी छाप पड़ी कि उसे संयम मार्ग में स्थिर होना पड़ा और राजुल के गुण गाने पड़े कि :—

धन धन राजुल तूं सही,
हे राजुल धन थारो परिणाम ॥

वास्तव में ऐसी ही सती स्त्रियों के शील-चारित्र के कारण ही तीर्थ का महत्त्व है कि जहाँ जाके भव सागर तिरा जा सकता है।

संवत्सरी का उत्साह सभी के हृदय में था। लोगों ने बहुत सी तपस्यायें की थीं। मुनिश्री प्रेमजी म. के ३२ दिन के उपवास में भी अनेकों को तप करने की प्रेरणा दी और लोगों ने अलग-अलग प्रकार के तप किये। पर्यूषण पर्व बड़े उत्साह से पूर्ण हुए।

बाहर गांवसे लोग बड़ी संख्यामें आये। उदयपुर, भीलवाड़ा, सादडी, सोजत, सिरीयारी, अजमेर, विजयनगर, किशनगढ़ शाहपुरा आदि स्थानों के साथ इस बार मालवा से भी बड़ी संख्यामें लोग उपस्थित हुए थे। सबसे अधिक आग्रहभरी विनति किशनगढ़-वालों की थी। मालवा के लोगों का भी अत्यधिक आग्रह था।

पूज्यश्री ने पुद्गल स्पर्शना के अनुसार होगा ऐसा सूचित किया। मालवा में पूज्य रायचंदजी के संतों का विचरण था अतः वहां चातुर्मास न करके किशनगढ़ चातुर्मास किया जाय ऐसी उनकी इच्छा थी। अमर रायपुर के चातुर्मास के बाद मालवा की ओर विहार करने की उनकी प्रबल भावना थी।
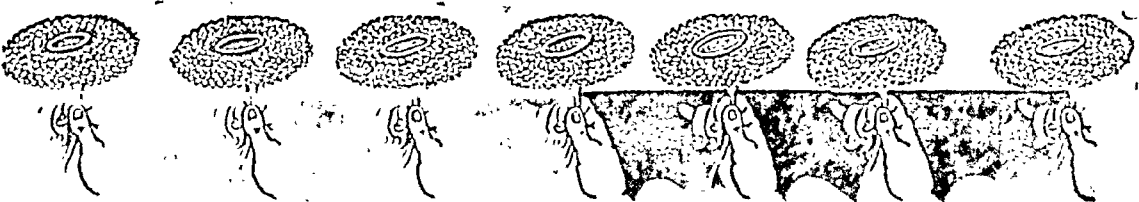
उज्जैनी कालिदास की कविता और वराह मंदिर के ज्योतिष ज्ञान आदि का क्षेत्र रही तो सर्वदर्शन के व्याख्याता सिद्ध सेन दिवाकर की दर्शन मीमांसा का भी क्षेत्र रही है। वर्षों बीत जाने पर भी, सदियां गुजर जाने पर भी उसने अपना महत्व बनाये रखा है।

इसी उज्जैनी नगरी में जैन-धर्म के महान क्रियोद्धारक पू: धर्मदासजी म. को सं. १७२१ में जिन शासन की पाट पर विठाया गया था। आगे के जैनाचार्योने जिस प्रकार धर्म प्रचार करके शासन की शोभा बढ़ाई थी वैसे उन्होंने सच्चे साधुमार्ग को प्रशस्त किया था। सिद्धसेन से लेकर धर्मदासजी तक जैन-धर्म का ज्वलंत इतिहास लिये यह नगरी अपने गौरव के साथ खड़ी थी। यहाँ पर कितनेही वाद-विवाद, शास्त्रार्थ हुए दे। आचार्य रामचंद्रजीने भी सं. १७८८ में सिंधियाकी राजमाता के आगे जैन-धर्म की गुणप्रधानता का पुनः आदर्श प्रस्तुत किया था।

सिद्धसेन दिवाकर का वैभव, आचार्य वृद्धवादी का दिग्दर्शन, ये सारी बाते याद आते ही, कविता की इस भूमि में पूज्यश्री जयमलजी के कविहृदय से यह बात काव्य रूप में निकल पड़ी :—

गज घोड़ा देख भुलाणोरे.... [२]
देव दानव ने चक्राहलधर
ब्रह्मा विष्णु वखणो रे .... !! गज .... !

थोडासा वैभव मिलकर, हाथी घोड़े की सवारी देखकर जीव तूं कहाँ भूला है? इससे भी बड़ा वैभव चक्रवर्तियों का था फिर भी उनका वैभव कहाँ काद आया?

सनतकुमार पिठा चौथे चक्री,
जाणे उगियो भांणोरे,
देवता रूप देखणने आयो,
पिण रोग थई कुमलाणोरे .... !! गज .... !!

२. विरक्ति पद जयवाणी पृ - ११४

जगत में सचमुच जो सतत प्राप्त करता है, जिसे पाने बाद गंवाना नहीं है वह है धर्म। उसीके सहारे तीन लोक में कर्मों पर विजय पार कर मुक्ति को प्राप्त होते हैं। बाकी तो भूमि जीतने चले और उनका नाश हुआ है।

संभूम नामे आठमो चक्री
नरनो इन्द्र कहाणो रे ....

सातमो खंड चल्या साधन ने,
पाणी में डुबकाणो रे ....!! गज घोडा ....!!

जिन्होंने खजाने भर लिये, कोठे-कोठी भर लिये पर क्या हुआ : धन जोडा तो भी क्या हुआ ? उनको भी खाली हाथ चलना पडा।

कोठा भरिया, खोडा भरिया,
अन्न बहु भेलो कराणो रे ....

छिन में छोड गया परभव में
साथ न चलियो दाणो रे ....!! गज घोडा ....!!

रात दिवस तूं धनने काजे
कर रयो बेजो ने ताणो रे,

जाडा पाप करी ने प्राणी
पेट भरीने अण खाणो रे ....!! गज घोडा ....!!

जीवन में एकही सत्य है कि आगे या पीछे एक दिन सभी को जाना है न्यात-जात कैसी भी हो, कहाँ भी हो, काल खींचकर ले जायेगा।

एक दिवस आगे ने पीछे,
है सगलां ने जाणो रे

न्यात जात सगलां के बीच में
कालज लेसी ताणो रे ....!! गज घोडा ....!!
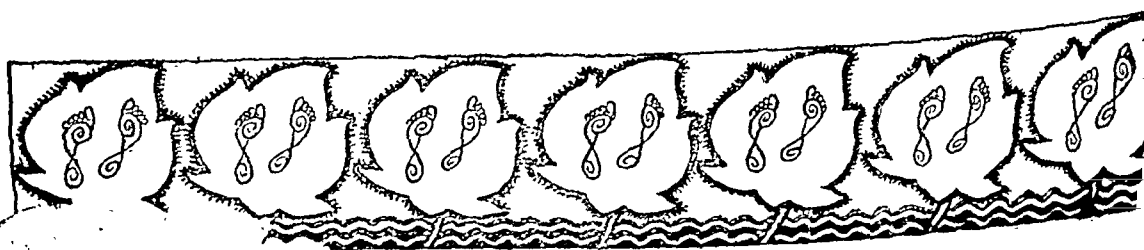
संतों के चातुर्मास पाकर जीवन में धर्म को स्थान दिया तो वह सफल होता है।" पूज्यश्री ने मांगलिक सुनाया और वे आगे के लिये विहार करने चल पड़े। संत लोग भी उनके पीछे पीछे चल पड़े।

*   *   *

मेवाड के अन्यान्य गांवों को स्पर्श करते हुए पूज्यश्री जयमलजी ने मालवा की भूमि में प्रवेश किया। मेवाड के अन्यान्य गांवों ने भी विनती की थी, अत: मावली की घाटियों के दक्षिण-पूर्व की ओर कानोड, सादडी होते हुए नीमच पहोंचे। नीमच उन दिनों मेवाड़ प्रांत में ही किनारे पर बसा हुआ था। वहाँ से जावरा आदि प्रदेश को स्पर्श करते हुए पूज्यश्री मंदसौर पहोंचे।[*]

मेवाड की पहाडियाँ चितौड से यहाँ तक थोड़े थोड़े अंशों में बिखरी पडी दिखाई देती थीं। कहीं पहाडियों के बीच सघन उपवन आते थे और कहीं पर झीलें सुंदर दृश्य उपस्थित करती थीं।

पूज्यश्री जयमलजी के चरण इस भूमि पर पडते ही उनके मस्तिष्क में जैन-शासन का भव्य पृष्ठ उभर आया। एक समय था जब कि चितौड से केवल उज्जैन तक का पूरा मेवाड़ - मालवा का प्रदेश जैन-संतों के पवित्र चरणों से पुनीत हो रहा था। सर्वत्र जैन-संस्कार भरे पड़े थे। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद तेरवीं सदी तक उसका वैसा ही प्रभाव था।

मालवा में पूज्य रामचंद्रजी (पू. धन्नाजी के गुरु भाई) के संतों का विचरण हो रहा था। अतः लोग संतों से परिचित थे। फिरभी पू. भूधरजी के नये सन्तों के लिए तो यह बिल्कुल ही नई भूमि थी।

इस ओर पूज्यश्री जयमलजी का पहली बार पदार्पण हो रहा था। मरूधरा (मारवाड) से अत्यंत विपरीत मालवा का प्रदेश था। सूके रेगिस्तान की बालु के बदले यहाँ पर जलागार, शस्य श्यामला भूमि और तरह तरह की धरती अपनापन लिये हुए थी।

* पहले नीमच-जावरा-मंदसौर आदि सारा प्रदेश मेवाड का गिना जाता था। सं. १८२४ के बाद हर्जाने के रूप में ये प्रांत सिंधिया को दे दिये गये।

ऐसो काल जोरावर जाणी
मन में समता आणो रे
ऐसी सीख दे ऋषि जयमल
पायो नर भव टाणो रे ....!! गज घोडा ....!!

उज्जैन श्रीसंघने पूज्यश्री के मुख से यहाँ के ऐतिहासिक गौरव की कथा के साथ उनकी "नरभव" सुधारने की बातों को हृदयगम किया और बहुतसोंने उनसे व्रत-नियम स्वीकार किये।

उज्जैन में पूज्यश्री जयमलजी के पास इन्जोर श्रीसंघ के भाई आये और उन्होंने इन्दोर पधारनेकी बड़ी भावभरी विनति की। पूज्यश्रीने स्वीकृति दी तो सबको बड़ा संतोष हुआ।

पूज्यश्री जयमलजी का विहार उज्जैन से इन्दौर के लिये हुआ। उनके प्रवचनों का लोगों पर अच्छा असर पड़ता था। हालांकि मालवा के उन प्रदेशों पर मराठाओं का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था और मराठा सेनायें उत्तर-दक्षिण एवं पूर्व-पश्चिम सभी जगह लडाई लड रही थीं फिर भी मालवा स्वयं लडाई से बचा हुआ था। लोग बड़े प्रेम से पूज्यश्री के विहार का लाभ लेते थे।

अनेक गांवों को स्पर्श करते हुए पूज्यश्री जयमलजी अपने संतों के साथ इन्दौर नगर के पास पहुँचे। लोगोंने बड़ी संख्या में आकर उनको लिवाने सामने गये। मंगल गीतों की ध्वनि और जयजयकार के साथ विशाल जुलुस में उन्होंने नगर में पदार्पण किया। उपाश्रय में उनका सागत किया गया।

पूज्यश्रीने भी अपने नगर प्रवेश और स्वागत के उत्तर में मालवा प्रदेश और यहाँ के लोगों के धर्मप्रेम की सराहना की। अपने संक्षिप्त प्रवचन में "धर्म क्या है?" उसका विशाल स्वरूप बताया और मालवामें हुए पूर्व जैनाचार्यों के, जिनमें सिद्धसेन, जिनेश्वर सूरि और पूज्य धर्मदासजी म. सा. के भव्य जीवन का उल्लेख किया। पूज्य धर्मदासजी म. सा. ने जैन श्रमण वर्ग में शिथिलता देखकर क्रियोद्धार किया और पू. धर्मसिंहजी म. सा. से

बाजरा-मकाई के बदले गेहूँ की बालियाँ उन्नत होकर हवा में झूमती पास के खेतों में संतों का स्वागत करती हो वैसा मालूम होता था। तालावों के किनारे और पास के खेतों में चने के छोटे छोटे पौधे भी ऐसा कहते थे कि हम भी छोटे से रूप में यहाँ पर हैं। तो खेतों में लंबे लंबे इक्षु के दंड अपना गौरव सूचित करते थे कि हम भी लंबे हैं—ताड जितने नहीं किन्तु पर्याप्त हैं और हमारे कण कण में मधुरता भरी पड़ी है। भगवान ऋषभ देव के पहले पारने का गौरव हम से ही हुआ था। कहीं कहीं काली मिट्टी के बीच हरे हरे पौधों पर सन (कपास) के पीले फूल और डोडों में फूटता हुआ सफेद कपास कह रहा था कि जीवन की संस्कृति को बनाये रखने में हमारा भी महत्व है, हम से वस्त्र बनते हैं जिसे पहिनकर लोग सभ्य कहलाते हैं। इस के बीच अफीम-पोशत के पचरंगे फूल एवं डोडे अपनी बाह्य सुंदरता दिखा रहे थे किन्तु अंदर कितना कडुवापन भरा था उसको सूचित कर रहे थे। सभ्यता के उन्माद में लोग ऐसा नशा भी करते हैं और उसके व्यसनी-आदी-गुलाम बनते हैं यह भी स्पष्ट था।

मंदसौर के श्रावकगण बडी भक्ति भावसे इनको सामने लेने आये। इनके चाहनेवाले कौन न थे? और उनके पास आनेपर सभी उनको चाहना शुरु कर देते थे। पूज्यश्री की प्रतिभाका कुछ ऐसा ही चमत्कार था। उनका ओजस्वी प्रवचन जहाँ विषय को स्पष्ट करता था वहाँ इनके मधुर राजस्थानी भाषा के पद और मृदुकंठ लोगों को मंत्र मुग्ध कर देता था।

मंदसौर का अपना प्राचीन महत्व था। वह प्राचीन काल में दशपुर के नाम से प्रसिद्ध था। भगवान महावीर के समय उसने अपने आंगन में सच्ची सांवत्सरिक क्षमा याचना का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया था।

वैशाली के महाराजा चेटक की एक पुत्री का नाम प्रभावती था। उस समय सिंधुसौवीर नाम के देश में वीतिभय नाम का नगर था, वहाँ उदायन राजा राज्य करता था। उसके रूप-गुण और वीरता से प्रभावित होकर प्रभावतीने उदायन से विवाह किया था।

* १ भगवती सूत्र और आवश्यकचूर्णि में इसका उल्लेख है।

* २ जयवाणी—पृ-१२९

मिले साधुवाद के स्वरूप उनका शिष्य परिवार ऐसा फैला कि मेवाड़, मालवा-मारवाड़, जयपुर, कोटा-बूंदी, बीकानेर, किशनगढ़, गोडवाड, गुजरात, सौराष्ट्र, सिंध.कच्छ और दक्षिण में सर्वत्र उनकी परंपरा के संत फैल गये हैं। जो सच्चे साधुमार्ग पर चलते हैं वे सभी संत हैं और उनका एकही कार्य है जीवन में धर्म की चेतना भरते जाना।

कुछ ही दिनों की स्थिरता के बाद पूज्यश्री ने अपने व्यक्तित्व की छाप जनमानस पर डाली। उनका सभी धर्मों का गहरा ज्ञान और तुलनात्मक दृष्टि से प्रत्येक बात का विवेचन उनके ज्ञान की गहराई की अमिट छाप डालता था। उनके प्रवचनों में जैन-अजैन सभी आते थे।

पूज्यश्री की विद्वत्ता और व्यक्तित्व तो प्रभावक थे ही किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली उनका संयमी जीवन था। उनका जीवन बड़ा सीधा सादा था। वे अक्सर एकांतर उपवास कर लेते थे। चार विगयों का त्याग चलता ही था, इस पर भी अखंड रात्रि आडे न लेटने की उनकी भीष्म-प्रतिज्ञा सहजही लोगों पर अमिट छाप डाले बिना नहीं रहती थी।

लोकचर्या के निरीक्षण के बाद उन समस्याओंका धार्मिक दृष्टिसे निराकरण, उनका रात्रि चिंतन था, इस चिंतन रूपी सिपियों में भावना रूपी जल के बिंदु, काव्य रूप मोती बनके रह जाते थे।

* * *

इन्दौर में उन दिनों श्री मल्हारराव होलकर पेशवा सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राजकाज सम्हालते थे। दिल्ही की पादशाही में राजकीय उथलपुथल हो गई थी। अहमदशाह अब्दाली के दूसरे आक्रमण के समय और उसके बाद दिल्ही की सल्तनतने फिर रंग बदलने शुरु किये थे। अब्दाली को बहुतसे प्रांत दे देने के कारण अहमदशाह को गद्दी से हाथ धोना पड़ा था। उस समय दिल्ही के गाज़ीउद्दीन को मल्हारराव की मदद थी और उसी के बल पर मुगल खानदान का दूसरा राजपुरुष आलमगीर के नाम से दिल्ही की गद्दी पर बैठा था।

यह श्रद्धा भी पैदा हो गई किन्तु इसके ऊपर "संजमम्मि य वीरियं" अर्थात् मार्ग में वीर्य-पराक्रम दिखाना यह अति दुर्लभ है। इस संयम मार्ग पर जो वीर दृढ़ मन, वचन और काया से आगे बढ़ते हैं, उनको ही मुक्ति मिलती है।

यह संयम मार्ग उन विरल आत्माओं के लिये खुला रहता है जो कि सच्चा धर्म जानते हैं। यह धर्म आत्मा का धर्म है; आत्मा से उसका सम्बन्ध है। वह जानता है कि संसार में आत्मा ही सत्य है। वह ज्ञान स्वरूप है, चैतन्य स्वरूप है और उसका सम्पूर्ण विकास करना ही आत्मा का चरम लक्ष्य है। आत्मा की इस अनन्त शक्ति को कर्मों ने रोक रखी है। इसलिये मानव को चाहिये कि वह सच्चा ज्ञान प्राप्त करे, सच्ची श्रद्धा करे और सच्चे चारित्र का पालन करे।

तत्त्वार्थ सूत्रकार कहते हैं :—

सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्गः

सम्यक् ज्ञान दर्शन, चारित्र रूपी धर्म ही आत्मा को मोक्ष-मार्ग की ओर ले जाता है। कई लोग यह भी पूछते हैं कि मुक्ति में जाने से क्या लाभ? मगर उनके हृदय से पूछा जाये कि पल पल पर कर्मों से पराधीन इस आत्मा की गुलाम दशा से क्या उसे सन्तोष है? जिस धन के पीछे वह पागल है, जिस परिवार का वह कायल है, जिस यशोगान व कीर्ति को अपनी समझता है; वह उसके आँख मूंदते ही कहाँ रह जाते हैं? वे उसके साथ क्यों नहीं चलते? अरे, यह शरीर जिसको वह प्रिय मानता था, वह भी यहीं पड़ा रह जाता है और आत्मा अन्य स्थान में चली जाती है। जो लोग उस आत्मा के रहते हुए शरीर को पूजते थे, पूछते थे—वे ही उसमें दुर्गंध आ जायेगी, भूत आ जायेगा और उसे निष्प्रयोजन जानकर काँध देकर मसाण में जाकर फूँक आते हैं।

तो, उस समय साथ एक ही वस्तु चलती है और वह है धर्म-आत्मा का धर्म जो आत्मा के साथ लगे, कर्म शरीर को भेदने पुनः जन्म लेता है और पुनः कर्मों के साथ वह लड़ता है।

शास्त्रकारों ने इस धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है :—

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। मंगल यानी पाप का नाश करनेवाला या कल्याण करनेवाला है। लोग कई तरह के कल्याण मनाते हैं किन्तु वे साँसारिक कल्याण के मार्ग हे; उसमें माना हुआ सुख मिल सकता है और नहीं भी। पुत्र जन्म होते लोग मानते हैं कि पुत्र कल्याण करेगा — किन्तु पुत्र कुपुत्र होते हैं तो लोग माथा ठोकते हैं। ऐसा भी होता है कि पुत्र उनके पहले ही मर भी जाता है। लग्न करके लोग कल्याण समझते हैं किन्तु परिवार बढ़ता जाता है और उसमें फँसा हुआ उसका जीवन समाप्त होता जाता है और मरण को पास देखकर वह अन्य से भीख माँगता है कि :—"भाई, मुझे धर्म सुनाओ!"

जीवन में हारकर भी अन्त में लोग जिसका शरण चाहते हैं वह धर्म है, श्रेष्ठ मंगल है।

इस धर्म को शास्त्रकारों ने तीन प्रकार कहा है। सर्व प्रथम अहिंसा, यानी किसी जीव की हिंसा न करो। जैसा हमें जीवन प्यारा है वैसा दूसरों को भी प्यारा है; अतः किसी को कष्ट न दो, न सताओ और जीवन रहित न करो। दूसरे शब्दों में जीवन को टिकाये रखने का विधान भी फलित होता है। यह बात सामान्य रूप से जानने में आती है अर्थात् अहिंसा ज्ञानदायक धर्म है।

मगर ये जान लेने के बाद तदनुसार क्रियायें नहीं की गई तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है, इसलिये अहिंसा के बाद संयम को रखा गया है। संयम से अपनी सभी प्रवृत्तियों को काबू में रखने का और जो व्रत नियम है उसे पालने का विधान है। अहिंसा ज्ञानदायक धर्म है तो संयम क्रियाकारक धर्म है; विना संयम पाले अहिंसा का पालन होना दुष्कर है।

उस संयम को भी विशेष उज्ज्वल बनाने के लिये धर्म का तीसरा स्वरूप तप है। सोना तो कीमती होता ही है किन्तु उसे खरा होने के लिये आग में तपना पड़ता है! उसी प्रकार संयम हो — किन्तु तप न हो तो वह उतना शोभायमान नहीं होगा जितना होना चाहिये। त्याग तो कर दिया किन्तु सामने देवों के सुखोपभोग हो, फिर भी तप में दृढ़ रहा जाये और संयम में खरा उतरा जाये यही सच्चा "संयम में पराक्रम" या संयम का तप है।

पदभ्रष्ट अहमदशाह को मदद करनेवाला सूरजमल जाट था। अतः उसे दबाने के लिये उसके किले कुम्हेर को होल्कर और सिंधिया की सेनाओंने घेरा। सूरजमल जाट ने इस समय पराक्रम दिखाया किन्तु मल्हारराव होल्कर का इकलौता पुत्र खंडेराव मारा गया। यही खंडेराव सुप्रसिद्ध मराठी वीरांगना अहल्याबाई का पति था।

पुत्र की मृत्यु से मल्हारराव को बड़ा शोक हुआ और उसने प्रतिज्ञा की कि "मैं सूरजमल जाट का सिर काटूँगा और कुम्हेर के किले की मिट्टी जमुना में मिलाउँगा तभी मेरे जीवन की सफलता होगी।" सूरजमल जाट मल्हारराव के पराक्रम और उसकी सैन्य शक्ति को जानता था। सूरजमल जाट घबराया और उसने एक उपाय सोचा। उसने जयअप्पा सिंधिया को शरण जाने का तय किया।

तदनुसार योजना बनाकर सूरजमल जाटने अपने दीवान के पुत्र तेजराम के साथ सिंधिया के पास अपनी पगडी भेजकर समाचार कहलवाया:—"आप मेरे बड़े भाई है, मैं आपका छोटा भाई हूँ। जैसे भी हो आप मेरी रक्षा करें!"

तेजरामने यह संदेश कहने के साथ साथ में लाई हुई जाट की पगडी सिंधिय के सर पर रखी और उनकी पगडी ले ली। शरणागत की रक्षा करना सिंधिया का काम था। अंत में ३० लाख रुपये लेकर मल्हाररावने सूरजमल से संधि कर ली।

हालांकि मल्हारराव होल्कर को मेवाड़ का एक प्रांत पहले सहायता के लिये मिल चुका था और उसकी खुद की शक्ति बड़ी मानी जाती थी किन्तु उसके लिये पुत्र शोक बड़त गहरा था। अक्सर वह उसके विचार में खो जाता था।

मरूधरा के महान संत पूज्य जयमलजी नगर में पधारे हैं और वे धर्म का उपदेश देते हैं ऐसा उसने सुना और वह भी अपने मन को शांति पाने के लिये पूज्यश्री के दर्शन करने आया।

पूज्यश्री को उसने दोनों हाथ जोड़कर उसने वंदन किये और प्रवचन सुनने बैठ गया। पूज्यश्री ने उसे दयाधर्म का उपदेश किया और कहा:—"राजा के लिये प्रजा संतना

आयस कनकड़ा गलसेला रे
    पहिया पिंडानाथ शिव-चेला रे।
गुदड़ भगति, कबीर दादूपंथी रे
    गले पहरी जरजर कंथी[1] ॥
निरंजनी रामानंदी रे,
    काशी गुरु गंगावंदी।
तालियां पीटी मृदंग बजाया रे
    लेह लेह ने भेख लजाया ॥

कितने कितने वेश किये संन्यासी बने, भगत बने, जंगम-जोगी बने। पंथ्या बने, पिंडानाथ बने या शिव चेला बने। गुदड़ भगत बने, कबीर पंथी और दादु पंथी बने। जरजर कंथी बने, गले में पहनी कंठी भी जरजर हो गई। निरंजनी, रामानंदी, काशीवादी गंगावंदी बने, तालियां पीटी, मृदंग बजाये, मगर धर्म प्राप्त हुआ? उस में धर्म का पालन कहाँ से होता है? यह तो बाह्य बातें हैं।

बहुतसे दरियाशाधीर को मानते हैं, बहुतसे रामसनेही हैं, तापस हैं, गुसाई बने हैं किन्तु जबतक धर्म का सत्य-समकित को नहीं पाया तो क्या फायदा? यज्ञ किया, होम किया, जपदान किया, क्रियायें कीं। कार्तिक महा स्नान आदि किये। जोगियों की जमातों में विचरण किया, बहुतसे तीर्थयात्री बने....मगर क्या फायदा हुआ?

गंगा गया काशी केदारो रे,
    प्रयाग पुष्कर ने हरद्वारो।
द्वारिका ने जगनाथो रे
    बद्रीनाथ हिमालय गलानो ॥

---

1. फटे कपड़े-चिथड़ों को जोड़ कर कंथा (गुदड़), बनाकर पहनते हैं, वे जर्जर कंथी कहे जाते हैं।

है। आपका प्रत्येक प्रजाजन आपकी संतान है, आप केवल पुत्र के शोक के चिंतन में अपने प्रजाजन की उपेक्षा न कर बैठो, ये आपके धर्म-पुत्र हैं। जैसे खेत की रक्षा करती है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। एतदर्थ राजा को प्रकार न्ययनीति से कार्य करना चाहिये कि लोग उसके राज्य को चाहने लगे। जब राम जंगल को चले तो प्रजा भी उनकेपीछे चलने लगी, ऐसा प्रजाका प्रेम राजा को संपा करना चाहिये।"

पूज्यश्री जयमलजी के राज्यधर्म पर के संक्षिप्त किन्तु दयाधर्म सहित कर्तव्य असरकारक प्रवचन से राजा मल्हारराव प्रभावित हुआ। उसके बाद नियमित रूप से उस प्रवचनों का लाभ लेना शुरु किया, इतनाही नहीं अवकाश के समय में भी वह पूज्यश्री के पास आता और सच्चे धर्म की बातें सुनकर उसको अपने मन में धीरज बंधाना था।

पूज्यश्री ने उनके हृदयों के भाव जाने और संयम मार्ग की कठिनाई भी प्रस्तुत की। मगर दोनों पर पक्का रंग चढ़ा चुका था और उनके परिवार की सम्मति से वे भाव दीक्षा की तैयारी कर रहे थे।

पूज्यश्री के प्रवचनों का लाभ सभी लोग ले रहे थे किन्तु उस में अमरचंद और धरमचंद नाम के दो सेठों के भाव कुछ ऊँचे हो रहे थे। पूज्यश्री के "चेतन चेतोरे" के पद पर से उनके दिल में जो वैराग्य था वह दृढ हुआ था।

पूज्यश्री के प्रवचनों में चेतना का उद्बोधन रहता था। वे कहते थे कि धर्म खुद तो नहीं करते-करते उनकी निंदा करते हैं, वे भले ही स्नान करे-कपड़े पहिने किन्तु धर्म बिना उनका जीवन नंगा है :—

समता संवर ना कियो
जिण मिनख जमायो पायोरे,
बैठ करता सेठनी तिके
हाथ घसता जायो रे .... !! **चेतन चेतोरे .... !**

जीव अडसठ तीरथ भेटयोरे,
पिण मनरा शल्य नहीं मेटयो !
जो जीवदया नहीं पाली रे,
तो यूंही भम्यो चकवाली रे ॥

अडसथ तीर्थ में जाकर भी यदि मन के शल्य नहीं मिटे तो क्या काम का ? जब जीवदया का पालन नहीं किया तब सारे संसार में यूंही चक्कर लगाता रहा। हिंसा से धर्म पालन नही होता।

यह अवस्था हिंदु लोगों की है ऐसा नहीं है। जैनों में भी न जाने सब क्या क्या बातें लेकर धर्म बताते हैं और धर्मगुरु बने फिरते हैं जब कि अहिंसा पालन की ओर ध्यान नहीं देते। धर्म का गलत रूप देकर फिरते रहते हैं।

श्रीपूज्य दिगंबर पंञ्या रे,
ज्यो के साथ रहे जल डंञ्या ॥
करे उच्छाह पगमंडा रे
चक्र संघ मिलते हैं तंडा।
बधाईदार बधाई पावे रे
हरसे करी पूज पधावे ॥
नाम यति महातमा सार्मा रे
घर रहित केई कामी।
किणही ओघो मुंखपति झाली रे
केई द्रव्य राखे केई खाली ॥
ए द्रव्य जैन धर्म पायो रे,
भाव बिना सिद्ध न कायो।

द्वेष धरे धर्मी थकी
पाप करणने आगारे, †
न्हाय धोय चंगा रहे ज्यांने
पहिरया हि कहिजे नागारे .... !! चेतन चेतोरे .... !

उच्च कुल-नीचकुल तो जैसा कर्म करता है उससे प्राप्त होता है। कहा है :—

उंचे कुले आये उपनारे,
ए तो हुआ वड भींचोरे
माठा करतब लंपटी अति घणा
ते तो लक्षण कहीजे नीचोरे .... !! चेतन चेतोरे .... !

नीच कुल आय उपना
पिण ज्ञान विवेक शुद्ध धारो रे,
तिका नीका ही उंचा कहया
शुद्ध-समकित पामी सारो रे .... !! चेतन चेतोरे ... !

उंचे कुल ब्रह्मदत्त हुओ,
नीचे कुल हरिकेशी रे
उ डूबो, उ तिर गयो,
जोईजो करणी री रेसीरे ... !! चेतन चेतोरे .... !

पूज्यश्री जयमलजी इन पदों के साथ जिन जिनके उदाहरण आते थे उनकी कथा भी बड़े रम्य ढंग से कहते थे जिससे लोगों के हृदय में उनके पद जम जाते थे। उनकी कल्पना, उपमा और काव्यालंकार सुनते बनते थे।

जैन कुल में पैदा हुए, अनायासही धर्म मिल गया है और मनुष्य जीवन भी मिला तो उसे मूर्ख की तरह गंवा देना कोई नहीं चाहेगा।

---

† अगुआ
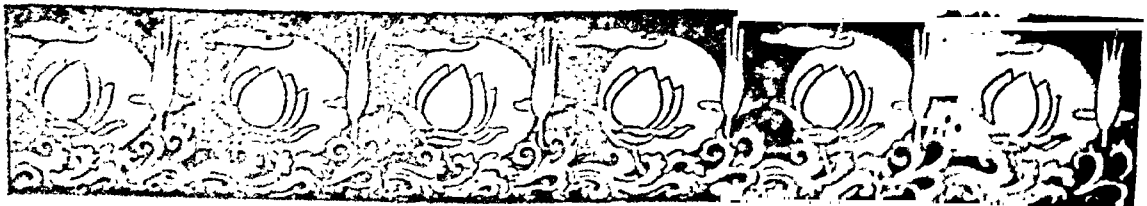
उन्होंने जात जात की बातों को धर्म का नाम दे दिया है जहाँ पर वे प्रत्येक कार्य में द्रव्य का उपयोग करते हैं। द्रव्य से उन्होंने वंशगत अवश्य जैन धर्म पाया है, उसका भेख लिया है किन्तु विना भाव के सिद्धि कहाँ होती है ?

सिर्फ हिंदुओं के लोग तीर्थ करके, आत्मा का मर्म समझे विना उद्धार होने के भ्रम में पडे हैं ऐसा नहीं है जैन लोग भी उसी का अनुकरण करने में कहाँ पीछे हैं। वे भी हिंसा करने में धर्म मानते हैं।

केई कुल जैनका तीरथ जाणी रे
हिंसा करी धर्म मन आणी।
आबू शत्रुंजय गिरनारो रे
चोथो समेत शिखर विचारो ॥
अष्टापद गिरने भेट्यो रे
अंतर मिथ्यात न मेट्यो।
माहितो नहीं जाण्यो मर्मो रे
तिणने असत न आयो धर्मो ॥

जैनी कहते हैं कि वे आबू गये, शत्रुन्जय गये, गिरनार गये, समेत शिखर गये। अष्टापद पर्वत को जाकर भेंट की किन्तु अंतर में जो मिथ्यात्व है वह नहीं मिटा तो तीर्थ करना क्या काम का ? आंतरिक जो मर्म है उसे नहीं जाना तो असल मर्म उसे कहाँ से प्राप्त हो सकेगा ?

असल धर्म तो यही है कि अहिंसा का पालन करना, एतदर्थ संयमयुक्त जीवन बनाना और तपसे वासनाओं पर विजय पाना है। संसार के जितने भी धर्म हैं उनका आधार अहिंसा है।

लोग कहते हैं कि मुसलमानों में तो हिंसा ही धर्म माना है किन्तु कुरान की कई आयातें और मुसलमान सूफी संत की बातें भी अहिंसा की ही दुहाई देते हैं।

रतन चिंतामणि धर्म छै,
थे पायो मनुष्य जमारो रे,
नव घाटी ते निकल्या
तो युंइ अहिले मति हारो रे .... !! चेतन चेतोरे .... !
पहले पोहर दीठा हुता
दूजे पहर आलमालो रे,
परभवनी खरची करो,
ए तो ले छे लपेटो कालो रे ... !! चेतन चेतोरे .... !
आजकाल धर्म आदर्श
वलो परंपरा इम जाणीरे,
आयु घटती जाय छे
जिम अंजलिनो पाणी रे .... !! चेतन चेतोरे .... !

आयुष्य उसी प्रकार घटता जा रहा है जैसे अंजलि में भरा हुआ पानी कम होता जाता है। यह समाप्त हो जाये उसके पूर्व इधर-उधर जडवाद-आर्थिकवाद के मतों में न पड कर सच्चे निग्रंथ गुरु की सेवा करनी चाहिए। मोह-माया के जडवाद में फसकर जीव अनंत काल तक भवभ्रमण करता रहता है।

घणूं भमाडे जीवने ए तो
तीनसे तेसठ मतो रे,
एहनी संगति वर्जजो
तुमे सेवो गुरु निग्रंथो रे .... !! चेतन चेतोरे .... !
नव तत्व हिरदे धारजो,
तुम सीखो बोलने चालो रे,
हीन दिल राखो मती
समकित में रहिजो लालो रे .... !! चेतन चेतोरे .... !

एक सूफी कवि ने तो जीवहिंसा से बचने के लिए नहीं चलने भी कहा है :—

अहिंसा खेरम, बल्कि मा खेरम
जेरे कदम तो हजार जां अस्त

अहिंसा से चल और वैसे नहीं चल सकता है तो चल ही नहीं, क्योंकि तेरे कदमों के नीचे हजार जां आकर मिट जायेंगी।

एक सूफी संत ने तो वनस्पतिकाय के जीवों की रक्षा के निमित्त और भी सुंदर बात कही है। एक बकरी की गरदन पर कसाई की छुरी उठती हैं कि बकरी कसाई से कहती है :—"ठहर जा!"

शुनीदा अम कि कस्साब गोस फंदे गुफत,
दारां जमां कि गिलुयश-ब-तेग तेज बुरीद;

"मैंने तो हरी घास और हरे पौधे के पत्ते ही खाये हैं और मुझे उसकी सजा मिल रही है कि तू मेरी गरदन छुरी से काटने वाला है, लेकिन ज़रा सोच तो सही मेरे मांस खानेवाले उस कातिल का क्या हाल होगा?"

जीवन में सभी को जीना है और जहाँ खुदका जीना है वहाँ दूसरों के जीवन की इच्छा-जिजीविषा को मान देना ही पडेगा, मैं भी जीऊँ और दूसरे भी जियें, यही अहिंसा है

हिंसा तभी होती है जब लोग हम दूसरों के जीने के अधिकार को मिटाने का प्रयत्न करते हैं, ज़रूरत से ज्यादा संग्रह करना शुरु करते हैं और अपनी इच्छाओं को अनियंत्रित बनाते हैं। इसीलिये अहिंसा के साथ संयय को जोडा है। यह संयम, स्वयं आना चाहिये।

स्व संयम के लिये तप से बढ़कर ओर कौनसा साधन हो सकता है। उपवास करके बैठ गये फिर क्या इच्छायें होंगी? दूसरों की सेवा करने लगे, विनय करने लगे कि इच्छायें एक और रह जाती हैं। अरे, इतनाही नहीं स्वाध्याय में मन लगाया कि इच्छायें कहाँ चली जाती हैं, पता ही नहीं चलता।

समता आण ने, छोड दो
　　　तुमे माया ममता ने माणो रे[1]

ऋषि जयमल इम कहे,
　　　थारे ए जीत्यां ना टाणो रे .... !!　　　चेतन चेतोरे .... !

वैरागियों ने उत्तम भाव और द्रढ संकल्प से दीक्षा की पूर्व तैयारी पूरी कर दी। इन दीक्षाओं के बारे में पूज्यश्री जयमलजी प्रायः तो वैरागी को अपने साथ लंबे समय तक रुकने के बाद दीक्षा देते थे किन्तु जिनकी उत्कटता और दृढता देखते थे तो उसे अल्प समय की तैयारी में भी दीक्षा देने में संकोच नहीं करते थे। उन्होंने स्वयं भी शीघ्र द्रढ संकल्प करके दीक्षा ली थी। साथ ही शास्त्रों में अनेक आदर्श पुरुषों के उदाहरण थे जिन्होंने प्रवचन सुन पूर्व जन्म के संस्कारों से प्रेरित होकर तुरंत ही दीक्षा ली थी।

वैरागियों का दीक्षा समारोह बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। जयजयकारों के नारों से, आकाश को गूंजता हुआ जुलुस नगर के पश्चिम की ओर के द्वार वहार के उपवन तक गया।

इन्दौर के राजा मल्हारराव होल्कर भी दीक्षा देखने अपने परिवार के साथ आये। उन्होंने लोगों के साथ दीक्षा की सारी विधि बड़ी जिज्ञासा और उत्सुकता के साथ देखी। हाथों से बालों का लोच देखकर वे विस्मित हुए और जैन साधु अवस्था की कठिनता का विचार कर सभी जैन संतों की प्रशंसा करने लगे।

पूज्यश्रीने इस प्रसंग पर प्रासंगिक प्रवचन दिया। जिससे प्रेरित होकर मराठा राजा होल्कर ने मद्यमांस त्याग, शिकार त्याग एवं अन्य व्यसनों के त्याग के प्रत्याख्यान लिये। अन्य लोगों ने भी रात्रि भोजन त्याग एवं पांचो तिथियों के खास व्रत लिये। होल्कर राजा ने इस प्रसंग के उपलक्ष में गरीबों भोजन कराया और दान दिया।

ये दीक्षायें पूज्यश्री जयमलजी के मालवा विहार की सफलता का सूचक थी। लोगों में इस प्रसंग से अपार उत्साह भर गया था और पूज्यश्री के प्रति उनका भक्तिभाव पहलेसे भी बढ़ गया था। ○

1. मान - अभिमान

ऐसे अहिंसा-संयम तप रूपी धर्म को ही उत्कृष्ट मंगल कहा है, और जो उसका आचरण करते हैं वे मुक्तिनगर जा सकते हैं और स्वर्ग के देवता भी उन्हें नमन करते हैं। धर्म पालन करनेवाले अनेकों की महिमा से आगम-पुराण शास्त्र उपनिषद भरे पडे हैं।

राजाओं के राजा, छ खंड के स्वामी चक्रवर्ती भी इसी धर्म के प्रताप से हुए। उन्होंने आरंभ परिग्रह का त्याग किया। श्री भरत चक्रवर्ती जैसे आदीश्वर भगवानसे धर्म का बोध पाकर मुक्ति गये।

"चक्रवर्ती दशे" हुआ धर्म तणो परताप।
आरंभ परिग्रह त्यागने मोख विराज्या आप ॥
'आदेशर' जी एडी कही 'भरतादिक' सो भाय!
धर्म तणे परभावसूं मुगत-विराज्या जाय ॥

इसी धर्म के प्रताप से परदेशी जैसे पापी अविनीत और अभिमानी राजा ने उंची गति पाई और अनाथी एवं नमिराय जैसे बड़े मुनिवरोंने भी इस मार्ग को अपना कर आत्म शांति पाई :—

'परदेशी'[1] नृप पापियो अविनीत ने अभिमान।
इण धर्म तणे प्रसादथी लहयो सूर्याम विमान ॥
'अनाथी' 'नमिराय' नी वेदना गई है दूर।
जिनवरजी ए धर्मथी सत्यवादी हुआ सूर ॥

प्रतिदिन छ २ जीवों की हत्या करनेवाले अर्जुनमाली ने इसी के शरण में आकर मोक्ष पाया और नंदन मणियार नाम के श्रेष्ठि के जीवने मेंढक बन के, इसी धर्म के कारण अपनी गति से उद्धार पाया।

---

[1] इनके चरित्र के लिये जयवाणी देखें।
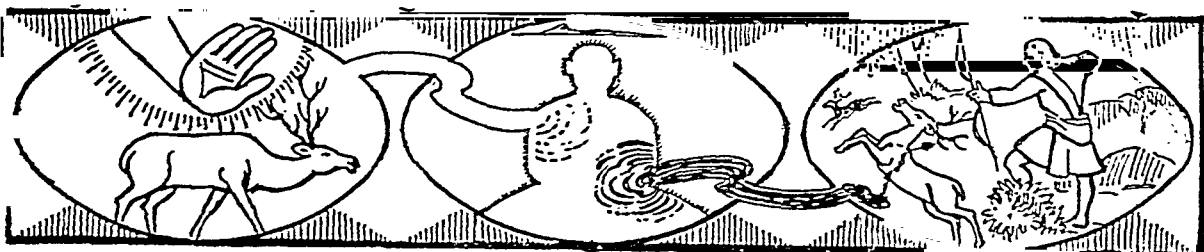
अर्जुन माली बहु कियो, नर मार्यांनो पाप ।
मोक्ष विराज्या जायने, धर्म तणो परताप ॥
नंदनरो जीव डेडको राखी समगतनी टेव ।
जिण धर्मना प्रसंगथी हुओ 'दर्दुर' देव ॥

पूज्यश्री अपने प्रवचन में इन २ लोगों के कथानक भी साथ २ सुनाते थे। उनके पद्यों की मधुरता के साथ इन कथानकों की सरसता का मिलन होते ही लोग बड़ी शांति से उनके प्रवचनों का लाभ लेते थे।

वे कहते थे कि जीव अनादि काल से अनेक प्रकार के दुःखों को सहता रहा सिर्फ दयामय धर्म ही ऐसा है जिसके सहारे अनेक भांव आत्माने निर्वाण पाया।

आदि अनादि जीवडो पाइ दुखारी खान ।
दयाधर्म छे ऐहवो पहुँचावे निर्वाण ॥
वीश बोल आराधनां टाले कर्मनी छोत ।
उत्कृष्टो रस उपजे बांधे तीर्थंकर गोत ॥

तीर्थंकर गोत्र बाँधने के और भी उपाय हैं। अरिहंत, सिद्ध के गुणगान करने के साथ पांच समिति, तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन माता की सच्ची आराधना करने से भी तीर्थंकर गोत्र बँधता है।

पांच समिति तीन गुप्ति ए, आठो 'प्रवचन' माय ।
साचे मन आराधने तीर्थंकर गोत्र उपाय ॥

धर्म की इन आठ माताओं के साथ सात प्रकार के विनय से भी धर्म की शोभा बढ़ती है :—

नाण, दर्शन चारित्र तणो, मन वचन ने काय ।
लोक व्यवहार वलि सातमो विनय मार्ग दीपाय ॥
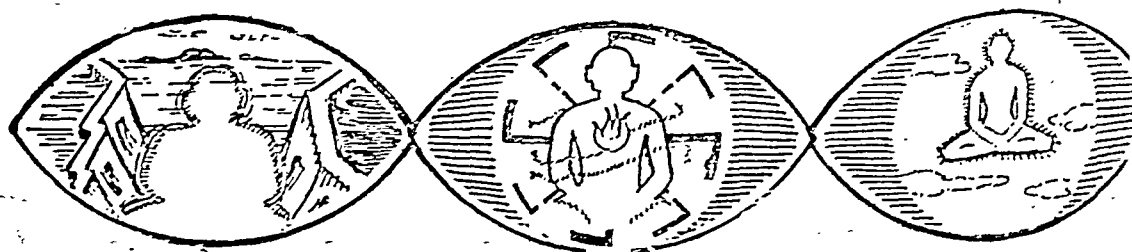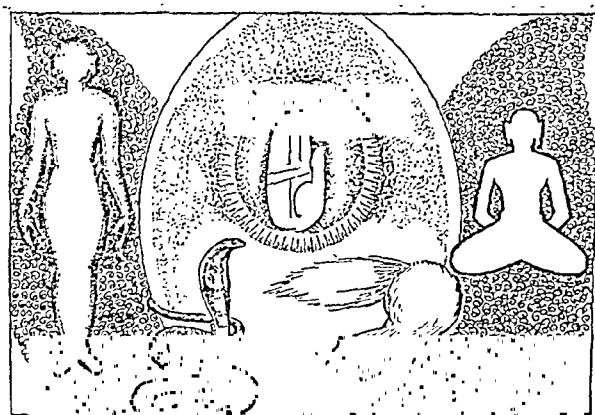
भीलवाड़ा से विजयनगर, अजमेर, किशनगढ़ आदि के श्रीसंघों ने आकर पूज्यश्री के चातुर्मास की विनति की। मेवाड़ की भी विनति थी।

किसनगढ़ के श्रावकों का विशेष आग्रह था कि पूज्यश्री ने कभी उनके नगर को लाभ नहीं दिया है अतः इस वर्ष के चातुर्मास का लाभ उनको दिया जाय।

उनकी भावभरी विनति को पूज्यश्री ने स्वीकृति दी और किशनगढ़ में आनंद छा गया। अलग अलग संत पहले से छोटे छोटे सिंघाड़ों में (टोले) अलग अलग स्थान पर चातुर्मास के लिए अलग हो गये थे। भीलवाडे के आगे उनके साथ सिर्फ तीन ही संत थे।

विहार कर पूज्यश्री विजयनगर को आये। यहाँ पर भी लोगों ने बड़े उत्साह से उनका स्वागत किया। यहाँ पर भी पूज्यश्री अपने रचित स्तवन सज्झाय आदि के साथ धर्म प्रभाव बढ़ाते हुए आगे बढ़े।

इन दिनों उन्होंने एक नई सज्झाय आरंभ की थी। धर्म का प्रभाव क्या है, सच्चा धर्म क्या है? आदि विषयों का उस में दिग्दर्शन कराते थे। उसके प्रत्येक बोल को वे विस्तार से समझाते थे।

उसका * प्रारंभ इस प्रकार होता था :—

देव, गुरु ने धर्मनी सरधा राखो ठीक।
मुक्ति मार्ग में जावतां मोटो एह मंगलिक॥
मंगल नाम कहिजे घणां, ए संसारने मांय।
मोटो मंगल धर्म है मुक्ति नगर ले जाय॥

* धर्म महिमा – जयवाणी पृ. ५८

विनय के साथ में दान, शील, तप और भावना ऐ चार भी धर्म के वे साधन हैं जिनसे मुक्ति के पथ पर अग्रसर हुआ जाता है और उनके सेवन से मोक्ष भी मिल सकता है।

दान शील तप भावना शिवपुर मारग चार।
साचे मन आराधतां पामीजे भव पार ॥

धर्म का आचरण करने के लिये दान-शील तप और भावना ये चार ऐसे मार्ग हैं जिसके द्वारा मोक्षनगरीं तक जा सकते हैं। जों जो उनकी आराधना सच्चे मन से करते हैं, वे भवसागर को अवश्य पार करते हैं।

शास्त्रों में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जिन में बताया गया है कि दान देने से मान-मर्यादा, रिद्धि-सिद्धि और मुक्ति भी दान के परिणाम स्वरूप मिलती है।

दान तणे परभावथी पाम्यो 'सुवाहु' मान !
सुमुखने भव साधुने दीधो उत्तम दान ॥
गवाल तणे भव साधुने दीधो खीरनो दान।
'शालिभद्र' नामे हुओ, 'श्रेणिक' दीधो मान ॥

सुबाहुकुमार ने जो रिद्धि सिद्धि पाई, जिसके लिये गौतमस्वामीने भी श्रमण भगवान महावीर स्वामी से पूछा था, उसका कारण पूर्वभव में सुमुख श्रेष्ठि के रूप में उसके द्वारा साधु को मास खमण के पारणे पर, बहोराना था।

इसी प्रकार गवाल के रूप में संत को शुद्धभाव से दान देने पर अगले भव में वही गवाला शालिभद्र हुआ जिसका श्रेणिक राजाने भी बहुमान किया क्योंकि उसके जैसी रिद्धि का स्वामी उस समय राजा श्रेणिक भी स्वयं न था।

चंदनबाला ने उदड के बाकले भगवान महावीर को बहराये। प्रभु का महान अभिग्रह पूर्ण हुआ। पंचवृष्टि हुई और आगे जाकर चंदनबाला महासती ने भगवान की पट्ट शिष्या बनकर मोक्ष प्राप्त किया।

दीधा उडदना बाकला वीर ने चंदनबाल ।
वृष्टि हुई सोवन तणी वरस्या मंगलमाल ॥
शास्त्र मांही इम कह्यो दश प्रकारनो दान ।
सघला मांही वखाणियो अभयदान परधान ॥

शास्त्रों में दश प्रकार के दान बताये गये हैं, उन सब में प्रधान अभयदान कहा गया है :—

दाणाण सेट्ठं अभय पहाणं

अभयदान यानी किसी जीव को मृत्यु आदि सारे भयों से मुक्त करना, यानी अहिंसा का पालन करना यह श्रेष्ठ दान है। इसीलिये सच्चे संत हमेशा यही धर्म वाक्य मुख में रखते हैं और कहते फिरते हैं :– "दया-पालो !"

दया पालना दान का श्रेष्ठ प्रकार है और धर्म का प्रथम चरण है।

जैसा दान धर्म का का मार्ग है वैसे शील भी है। शीयल पालना, ब्रह्मचर्य का पालन करना भी धर्म का अंग है। संसार में चारित्र्य पालनेवाले ब्रह्मचारियों का जितना मान है, जितनी उनकी शक्ति महान है उतनी औरों की नहीं होती।

शास्त्रों में आता है :—

'जंबूकुंवर' शील पालियो, छत्ता भोग संजोग।
आठ रमणी प्रतिबोधने छोड्यो संसारनो भोग ॥

"नहीं मिले नारी तो बाबा सहज ब्रह्मचारी।" यह प्रचलित है किन्तु वास्तव में ब्रह्मचर्य का मूल्यांकन तो यह है कि भोग-संभोग का योग है, आठ आठ नई परिणता नारियाँ हैं, उनको भी समझाकर उन्हें भी दीक्षा लेने तैयार करना ओर संसार के योगों को तिलांजलि देना यही विशेषता है। जंबुस्वामीजी ने अपने उस द्रष्टांत से कितना बडा ब्रम्हचर्य का आदर्श रखा है ?
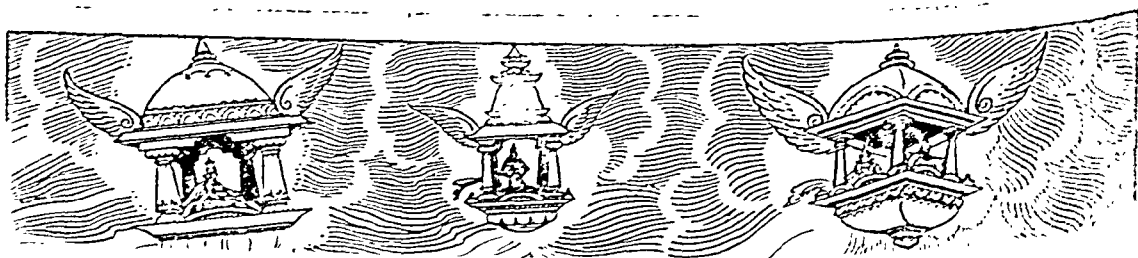
बहुत आते थे। पूज्यश्री के आगमन और प्रवचन का समाचार सुन किशनगढ़ नरेश भी उनके दर्शन-प्रवचन का लाभ लेने आने लगे। उनको भी लोगों की तरह इतना आनंद आने लगा कि वे भी उसका नियमित रूप से लाभ लेने लगे। राजा और प्रजा में पूज्यश्री की धर्म महिमा का प्रसार होने लगा।

वे कहते थे :—

मंगल नाम कहिजे घणा, ए संसार ने माय।
मोटो मंगल धर्म है मुक्ति नगर ले जाय॥

संसार में अनेक प्रकार के मंगल कहे गये हैं। लेकिन वास्तव में वही मंगल सच्चा है जो मुक्तिनगर तक ले जाता है और उसका नाम धर्म है।

जीव के साथ कर्म उसी प्रकार लगे हुए हैं जैसे कोशार नाम के रेशम के कीडे पर तन्तु। जीव उसी की तरह अपने आप कर्म का ताना बुना बनता हुआ अपने को ही लपेटता रहता है। रेशम का कीडा कोशार सहतूत को खाता है, लोग रेशम के लिये उसे पालते भी हैं। वह सहतूत खाकर एक लंबासा तन्तु छोडता है, वास्तव में तो उसे छोडने के स्थान पर वह उसे खुद अपने पर ही लपेटता जाता है। वह उस में बंधता चला जाता है। किन्तु जब पूरे रूप से बंध जाता है तभी असहाय अवस्था का अनुभव करता है और उस में रहता है। रेशम के बनाने के लिये जब उसे गरम पानी में डाला जाता है और उसे गरम जल का संपर्क होता है तब वह अपने सारे तारों को तोड़ता है और उस बन्धन से मुक्त होता है।

धर्म जिसे उत्कृष्ट मंगल कहा गया है उसका स्वरूप बताते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि वह अहिंसा, संयम और तप रूप है। उसी तप का प्रभाव है कि आत्मा कर्म रूपी बंधनों को तोड देती है। इसीलिए आत्मार्थी के लिये कहा गया है : —

सयं वोच्छिदयं कम्म संचयं
कोसार कीडेव जहाइ बंधणं *

* १ इसिभासियाई

ब्रम्हचर्य पालनेवालों के लिये अद्भुत परीक्षा भी आ जाती है, जैसे विजयसेठ, विजया सेठानी को आई थी। दोनों ने शीलव्रत लिया। एक ने शुक्ल पक्ष में और दूसरे ने कृष्ण पक्ष में। दोनों का विवाह हुआ और दोनों के नियम सामने आये। विवाहित युवावस्था होने पर भी, दोनों नैष्ठिक ब्रम्हचारी रहे जिसकी प्रशंसा आगमों में की गई।

सेठ सुदर्शन का शीलव्रत के लिये शूली पर चढ जाना और शूली का सिंहासन बनना ऐसा रोमांचक लगता है कि हमारी जैसी कई आत्मायें प्रभावित होकर संयम मार्ग पर अग्रसर होती हैं।*

अनेक संत सतियों के जीवन चरित्र इससे भरपुर हैं। राजीमती, चंदना, द्रौपदी, सीता आदि कितनी सतियां हैं जिनका नाम श्रद्धा से लिया जाता है, इन्होंने शीलव्रत का ही पालन किया था।

'विजयसेठ' 'विजयासती', "सेठ सुदर्शन" सार।
आपणी आतमा उद्धरी शील तणा उपकार॥
राजमती ने चंदना द्रौपदी ने वलि सीत।
जस फेल्यो संसार में शील तणी परतीत॥
चेडानी साते सती, वीर वखाणी आप।
जती सतीनो जस घणो, शील तणो परताप॥

इन सतियों का वखाण (प्रशंसा) श्रमण भगवान महावीरने स्वयं किया, यह उनकी स्वयंकी प्रशंसा नहीं किन्तु उनके शीलव्रत की थी। वैसे भगवान महावीरने तप की, तपस्वियों की भी प्रशंसा की है।

वेले वेले पारणो, आंबिल उज्झित आहार।
वीर जिणंद वखाणियो, 'धन धन्नो' अणगार॥
'खंदक' मुनिवर आपणी तप कर गाली देह।
अच्युत देवलोके उपना चव लेसी भव छेह॥

* पूज्य जयमलजीने पू. भूधरजीके प्रथम प्रवचन श्रवण से इनकी कथा सुनी थी।
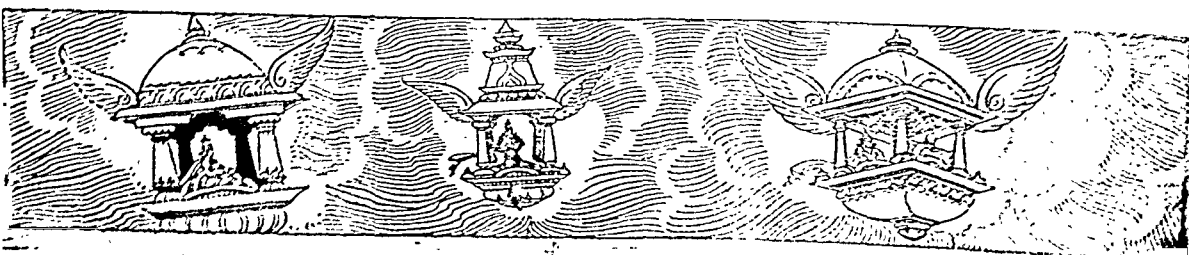
जिस प्रकार रेशम का कीडा अपने बंधन का छेद करता है उसी प्रकार मुमुक्षु का अपने संचित कर्मों का छेद स्वयं करता है। यह धर्म के कारण होता है।

धम्मो मंगल महिमा नीलो, धर्म नव निध होय,
धर्म दढ दोहद टले, रोग सोग नहीं कोय।
धर्म धर्म बहुला करे, धर्म तणो बहु भेद।
एक रूलावे संसार में एक मुक्ति उमेद ॥

संसार में धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जिसकी महिमा अपरंपार है। उसी से नव प्रकार की निधि प्राप्त होती है, दुःख दूर होता है, दोहद (मन की चिंता) टलती है और रोग शोक कुछ भी नहीं रहता।

धर्म की महिमा इतनी अधिक है कि सभी लोग, अधिकतर लोक यही कहते हैं कि हम धर्म करते हैं। धर्म के भी संसार में अनेक भेद हैं। कई बार धर्म के नाम पर ऐसे भी कार्य होते हैं जिस में धर्म तो नहीं होता किन्तु पाप होता है। ऐसे पाप कर्म की प्रधानता देनेवाले धर्म का आचरण करने से संसार में फिरना पडता है और एक ऐसा धर्म होता है, सच्चा धर्म होता है जिससे मुक्ति की उम्मीद की जा सकती है।

धर्म की एक ही व्याख्या है कि वह पापकर्मों का नाश करता है; वह उत्कृष्ट मंगल है और उसका स्वरूप प्रारंभ से अहिंसामय है। अहिंसा के बिना जितने भी धर्म हैं, वे धर्म नहीं हैं। चाहे कोई भी भेष ले लो, शिव का ले लो, जैन का ले लो किन्तु जहाँ अहिंसा है वहाँ धर्म है, जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं है। जबतक उसका पालन नहीं होता धर्म का पालन नहीं होता। चाहे कोई भी भेख ले लो, तीर्थ कर लो, सब व्यर्थ है।

शिव जैन तणा लिया भेखोरे, २*
तेहना भेद अनेको।
सिनासि भगत घर-भोगी रे
कालवेल्या जंगम जोगी ॥

* २. नसा जाइ तसा जाणो, [illegible] गोपृ ९०-९१
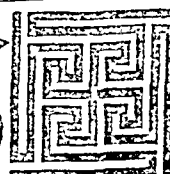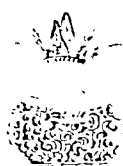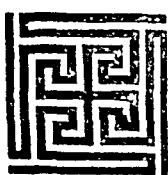
कोड भवांना संचिया, कटे कर्मोनां पाप ।
लब्धि अठाविस उपजे तपस्या तणो परताप ॥

धन्नासेठ ने शालिभद्र के साथ दीक्षा ली, अणगार बने और बेले बेले के पारणे के साथ आयंबिल का तप करने लगे जिसकी प्रशंसा वीर जिनेश्वरने भी की। स्कंधक मुनिवर ने भी तप करके अपनी काया को गला दिया। वे देवलोक गये वहाँ से च्यवके अगले भव में मुक्ति को पायेंगे। तप का प्रभाव ऐसा कहा गया है कि करोड़ों भवों के संचित कर्मों के पाप को तप का ताप जला देता है। यही तप है जिसके कारण अट्ठाइस प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

दान, शील, तप के साथ भावना भी उत्कृष्ट धर्म का मार्ग है। भावों की उच्चता पर पहुँच कर जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और जब उस में पतन होता है तब वह नरकगामी भी बनता है।

भावनायें बारह प्रकार की शास्त्रों में बताई गई है। उन भावनाओं से आत्मा की शुद्धि करके अनेक लोग मुक्ति को पहुँचे हैं।

भावना भावतां 'भरतजी' 'कंपिल' ब्राह्मण जाण।
केवल ज्ञान उपायने, पहुंता छै निर्वाण ॥

हाथी तणे होदे चढी, ऋषभ वांदणने जाय ।
भाव थकी मुगति गई धन मोरा देवी माय ॥

'खंदक' ऋषिने 'ढंढण' मुनि, उदाइ गजसुकुमाल ।
छेडे भाई भावना मुगत गया तत्काल ॥

भरत चक्रवर्तीने अनित्य भावना भाई-कपिल ब्राम्हण ने भी जाना कि संसार में लाभ से लोभ बढ़ता है। माता मरूदेवी ऋषभ प्रभु के वंदन करने गई और वहाँ उनकी भावना उन्नत होते हाथी के ओहदे पर ही उन्हें मोक्ष मिल गया। खंदक ऋषि, ढंढणमुनि, उदाईराजा, गजसुकुमार मुनि इन सभी ने भावनाओं की उच्चाई पर पहुँच कर सारे कर्मों का

कितने बड़े-बड़े श्रावक हो गये? उन्हें डिगाने के लिये देवों ने क्या-क्या प्रयत्न नहीं किये? कामदेव श्रावक को क्या लोभ दिखाया और क्या भय दिखाये? फिर भी वे दृढ़ रहे और वे अपना जीवन सुधार गये।

कई बन्धु यह बात पूछते हैं कि आप बिहार कर जायेंगे फिर हमें धर्म में कौन स्थिर करेगा? धर्म तो आपकी अपनी वस्तु है; वह तो किसी के देने से नहीं ली जाती और न किसी के जाने से चली जाती है। यह तो आत्मा का रंग है; उस पर अन्य रंग नहीं चढ़ता। आवश्यकता तो यही है कि आप ने जो इस वर्षावास में प्राप्त किया उसे दृढ़ता से अपने पास रखें। उसे कोई चोरी करनेवाला नहीं है; कोई लूटनेवाला नहीं है।

सुदर्शन सेठ को ही देखो! उनकी जब अग्नि-परीक्षा हुई और वह भी आज की चौमासी के दिन ही। तब उनके पास कौन-से संत विराजते थे? फिर भी उनका रंग धर्म में दृढ़ था। वे पक्के थे और इसलिये वे धर्म पर ही दृढ़ रहे; उनका जीवन-चरित्र सभी धर्म-प्रेमी श्रावकों को जानना चाहिये।

प्राचीन काल में अंगदेश में चंपापुरी नगरी थी। उसमें दधिवाहन राजा राज्य करता था। उसकी अभयावती नाम की रानी थी। उसी नगरी में सेठ सुदर्शन रहता था। उसकी पत्नी का नाम मनोरमा था। मनोरमा रूप में सुन्दर और गुण में उत्तम थी। सेठ सुदर्शन के पिता ऋषभदत्त श्रेष्ठि थे और सुदर्शन की माता का नाम अरहादासी था। पिताजी के स्वर्गवास होने पर सेठ सुदर्शन ही सारा कारोबार सम्हालते थे।

सुदर्शन का दरबार में भी आना जाना होता था। वह राजा की कृपा का पात्र था साथ ही उसने अपने मधुर व्यवहार से सब के दिल जीत लिये थे। राज-दरबार में उसकी मित्रता कपिल नाम के पुरोहित से हो गई थी। वह कई बार साथ-साथ दरबार में आते-जाते थे और कई विषयों पर परस्पर विचार विनिमय भी करते थे।

कपिल पुरोहित की कपिला नाम की स्त्री थी। कपिल बात-बात में सुदर्शन का नाम लेता और उसकी प्रशंसा करता था इसलिये उसे देखने की कपिला के मन में इच्छा थी।
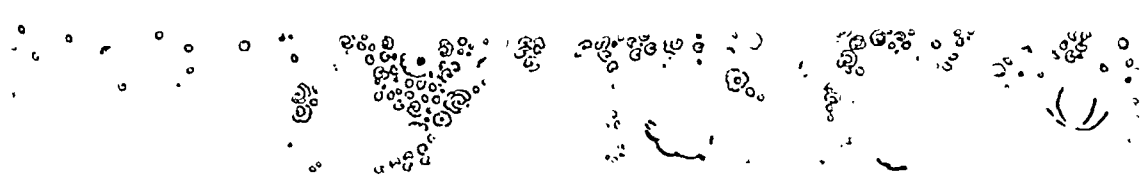
एक वार जव वह मकान की गोख में खड़ी थी तो उसने कपिल के साथ सुदर्शन को आते देखा। सुदर्शन सेठ का रूप देवांशी था। कपिला को उस पर मोह हो गया और उसके मन में ईच्छा हुई कि मैं सुदर्शन के साथ विषय सुख भोगूँ तभी मुझे शांति होगी।

एक दिन कपिल कारणवश वाहर गाँव गया था। यही अवसर हाथ आया है यह जान कर वह सुदर्शन सेठ की दुकान पर गई और उनसे कहा :—"आप के मित्र कपिल पुरोहित विपत्ति में फंस गये हैं! आप जल्दी चलिये!"

सुदर्शन सेठ ने पूछा :—"देवी! तुम कौन हो?"

कपिला ने कहा :—"मैं आप के मित्र कपिल की पत्नी हूँ!"

मित्र को विपत्ति में पड़ा सुनकर सुदर्शन सेठ तुरंत ही वहाँ से रवाना हुआ। दोनों घर पहुँचे वहाँ पर कपिला ने सुदर्शन को उपर भेजा और कहा कि कपिल उपर है।

सुदर्शन तो निष्कपट मन से उपर पहुँचा। वहाँ पर कोई नही था। उसने "कपिल! कपिल....!!" कहकर पुकारा मगर वहाँ कोई हो तो जवाव दे न?

इतने में कपिला सज-धज के सोलह शृंगार करके अपने अंग-अंग से मस्ती का प्रदर्शन करती हुई सामने आई और वोली—"कपिल नहीं, आपको इस कपिला ने वुलाया है! जिस दिन से आपको देखा है आपके विचारों में मन डूवा रहता है....ये नैन क्या मिले हैं; चैन चला गया है....!"

उसने नाना प्रकार के काम-विकार के भाव पैदा किये। किन्तु सुदर्शन सेठ निश्चल खड़े रहे। कपिला ने और भी भाव भर कर कहा :—"सेठ! यह घड़ी फिर नहीं आने की है....आज मेरा रूप प्यासा है; उसकी प्यास वुझाओ....!"

सुदर्शन ने उसे वहुत समझाया। कहा कि "यह मित्र-धर्म के विरुद्ध है। मैं परनारी को माता-वहन समझता हूँ"—किन्तु विकार में अंधी कपिला को कोई वात नहीं जंची।

नाश किया और वे तुरंत ही मुक्ति को प्राप्त हुए इसीलिए धर्म के ये चार बोल—दान, शील, तप और भावना को श्रेष्ठ मंगल कहा है जो पाप-कर्म का नाश करता है।

पूज्यश्री जयमलजी के असरकारी प्रवचनों को सुन कर चातुर्मास के चारों मास में धर्म के उन चार अंगो की बड़ी प्रभावना हुई। लोगों ने अनेक प्रकार के दान किये। बहुतोंने शील व्रत अंगीकार किये, तपस्या का तो ठाठ ही लग रहा था और लोगों की धर्म भावना उन्नत हुई और उन्होंने सामायिक, प्रतिक्रमण, पोषे आदि नित्य-नियम करने के व्रत लिये।

पूज्यश्री के प्रातःकाल के प्रवचन, मध्याह्न में सज्झाय चरित, और रात्रि को अनेक महापुरुषों एवं महासतियों के कथानकों को सुनने लोग नित्य आया करते थे। उनके हृदयों में धर्म के चार अंग दान, शील, तप और भावना की श्रेष्ठता स्थापित हो गई थी।

चातुर्मास - समाप्ति पास आ रही थी। पूज्यश्री जयमलजीने धर्म महिमा का अंतिम पद लिखाः—

ए चारूं मंगलिक छे, उत्तम चारूं ही जाण।
चारां तणो सरणो करो ज्यों पहोंचो निर्वाण॥

संसार में धर्म रूपी उत्तम मंगल के ये चारों अंग मंगल है। धर्म रूपी उत्तम वस्तु के ये चारों अंग उत्तम हैं—इन चारों की शरण यानी धर्म की शरण है जिसको स्वीकार करो तो निर्वाण पा सकोगे।

कार्तिक शुक्ला नवमी को उन्होंने इस सज्झाय का कलश चढाते लिखाः—

ए मंगल आराधिने अनंत जीव मुगते गया।
जाय ने जावसी, सूत्र कथा में इम कहया॥
अठारे से पिचडोतरे वर्षे काति शुद नवमी तणे।
पूज्य 'बुधरजी' गुरुप्रसादे रिख जयमल इण परमणे॥

पूज्यश्री जयमलजीने किशनगढ़ में जो धर्म महिमा फैलानी शुरु की उसका लाभ अन्यान्य क्षेत्रों ने लिया। जयपुर श्रीसंघवालों ने उन्हें वहाँ विचरण करने की प्रार्थना की
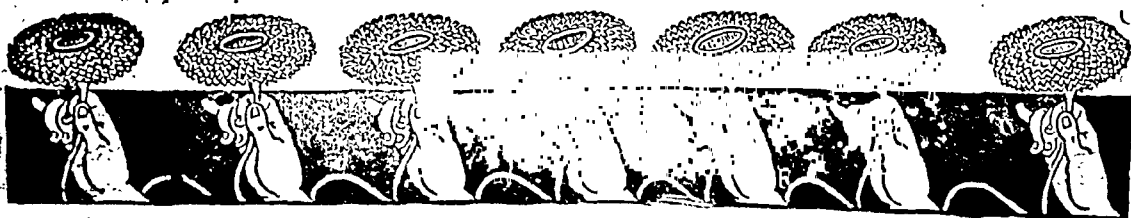
भीखणजी का मन अब शांत हो चुका था और आगे उन्होंने पुनः दया-दान संबंधी अपनी बातों को पूज्यश्री जयमलजी के आगे रखीं। उसे सुनकर पूज्यश्री जयमलजी चौंके और कहा कि "तुम्हारी ये मान्यतायें तो धर्म के विरुद्ध हैं। धर्म या मूलभूत सिद्धांत ही अहिंसा-दया है। उसके विपरीत यह मान्यता है।"

जैन धर्म के दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन में प्रथम गाथा स्पष्ट कहती है कि:—

धम्मो मंगल मुक्किठं अहिंसा संयमो तवो

इसीमें सर्व प्रथम अहिंसा को स्थान दिया गया है। अहिंसा का अर्थ जहाँ जीवकी हिंसा नहीं करना है वहाँ उसका विधेयात्मक रूप जीवको बचाना रूप "दया" भी है। ओर इसी 'दया' को श्रेष्ठ दान बताते हुऐ "दाणाण सेठ अभय पहाणं" कहा गया है। जीवों को अभयदान देना श्रेष्ठ दान कहा गया है।

सामान्य श्रावकों के लिये दया-दान आवश्यक गुण के रूप में माना गया है और साधुओं के लिये तो शास्त्रों में जगह २ छकायके पीहर, नाथ, रक्षक और मा-बाप आदि का प्रयोग किया गया है।

"पाणानुकम्पिए" "भूयानुकम्पिए"
"जीवनुकम्पिए" एवं "सत्तानुकम्पिए"

—अर्थात प्राणियों पर, सर्वभूतों पर, जीवों पर एवं सत्ता पर अनुकंपा करनेवाले साधु होते हैं।

तीर्थंकर भगवान भी इसी उद्देश्यसे दीक्षा लेते हैं और अपना प्रवचन करते हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र में स्पष्ट कहा है :—

सव्व जग जीव रक्खण दयठयाये
पापयणं भगवया सुकहियं

—अर्थात समस्त जगत के जीवों की रक्षा रूप दया के लिये ही भगवानने प्रवचन कहा है। यही बात उनके संसारकाल में भी फूट फूट कर मिलती है।
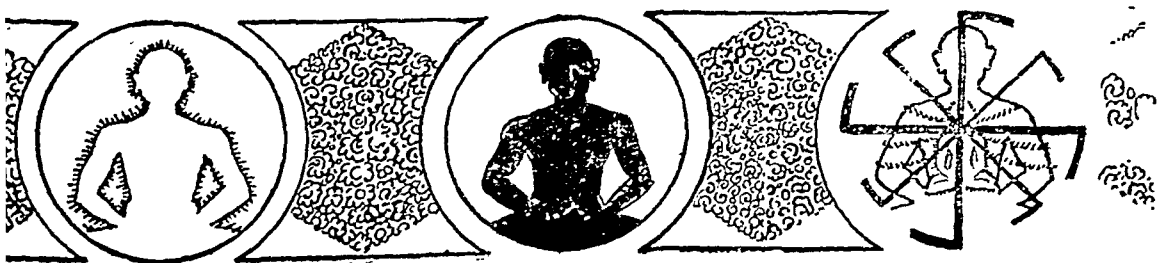
भगवान ऋषभदेव के कहने पर बैलों का मुंह बंधा रहा तब उन्हें १२ मास तक गोचरी नहीं मिली। भगवान शांतिनाथ के जीवने हौले को बचाने के लिये अपने शरीर को अर्पण कर दिया। भगवान नेमिनाथजीने प्राणी अनुकंपासे प्रेरित होकर शादी नही की और अपनी बरात को वापस लौटा ली। भगवान पार्श्वनाथने भी अनुकंपासे सर्पको बचाया था और इसी अनुकंपा से प्रेरित होकर भगवान महावीरने गौशालक की तेजोलेश्या निष्क्रय की थी।

यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक तीर्थंकरने दीक्षा लेने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन अपूर्व दान किया है। उस दान को पानेवाले सभी प्रकार के लोग थे—संयती भी असंयती भी।

भीखणजी को धर्म के इस मुख्य अंग दया-दान पर अविश्वास है तो तीर्थंकरों के प्रति सहज अश्रद्धा हो यह स्वाभाविक है। धर्म और धर्म के देवों पर अश्रद्धा हो चुकी है तो इन दोनों को बताने गुरु के प्रति अश्रद्धा हो वह सहज हो सकता है। इन तीनों के शरण में जानेवाला साधु संसारमें शरणरूप बनता है किन्तु उसी श्रद्धासे दूर हटे तो वह कैसे औरों के लिये शरणरूप बन सकता है?

सारी बातें समझकर पूज्यश्रीने कहा : "भीखणजी! संसारमें चार शरण हैं। उनमें देव, गुरु और धर्म की शरण तुम गये तब अपने आपके लिये शरणरूप बन चुके थे। एवं साधु के रूपमें तुम संसार के लिये शरणरूप बन गये थे। किन्तु अब देव, गुरु, धर्म पर तुम्हारी श्रद्धा उठ जाने से न तुम अपनी ही शरण बन सकोगे और न कोई तुम्हें शरण देगा। तुम्हें केवली प्ररूपित धर्म में और स्वयं तीर्थंकरों की बातों में शंका-कंखा आदि होने लगी है। जिस आधार पर तुम्हारी साधुता स्थिर है वही डिग गया है। अरिहंत के वचनों पर द्रढ नहीं रहने से तुम अपनी श्रद्धा गंवा बैठोगे तो कौन तुम्हें शरणभूत होगा?"

भीखणजी के हृदय में ये बातें बैठ गईं किन्तु वे अपना मत नहीं छोडना चाहते थे।

पूज्यश्री जयमलजीने कहा : "जरा मनको स्थिर रखके फिर आगम पाठ देखो और शांतिसे समझो।"

जैनी होकर, जैन कुल पाकर धर्म का आचरण नहीं करते तो वे लोक जिस घर में खाते है उसे ही ढा देते हैं। इसलिये ज्ञानी कहते हैं :—

दुनिया में बहुत दगाई रे... ।[१]

जेहना हुकम कथन नहीं लोपे जिण नो इज गायो गाई रे ।
जिण घरनो तूं टुकडो खावे सो घर नाखे ढाई रे — दुनिया में....

थोडे गुन्हे आपकी पगडी अपणे हाथ, वंगाई रे.... ।
पेलांने धन पात्र देखी, लांबा खडा लगाई रे....!! — दुनिया में....

लोग मुँहपर बडा मीठा बोलते हैं किन्तु उनके अंदर कपट रहता है। यहाँ आकर तो कह जाते हैं "बापजी ! सत बचन" किन्तु यहाँ से जाने के बाद तो जो करते हैं सोही करते हैं। यदि कहीं नाच-गान होता है, पैसा कमाना है तो लोग रात रात भर जगेंगे, नाटक तमाशा देखते उन्हें उबाई भी नहीं आयेगी किन्तु सामायिक भजन का नाम आते ही उन्हें उबाई आनी शुरु हो जाती है।

आरंभ पाप करणके तांई, आखी रात जगाई रे !
नाम भजन सामायिक वेलां, बेठो खाये बगाई रे !! — दुनिया में....

नाटक, गीत, और तमाशा आदि देखने बडे हर्ष के साथ लोग फौरन जाते हैं किन्तु धर्मकथा, साधुओं के दर्शन करने की बात आती है तो पैर लडखडाते हैं। वे संत दर्शन करें कथा श्रवण करें तो भी क्या फायदा है ? उससे कैसे सिद्धि मिल सकती है !

चेतना और शिक्षा के नये २ पदों के साथ लोगों पर उपकार करते हुए पूज्यश्री जयमलजीने अजमेर शहर में अपने प्रवचनों से धूम मचा दी। लोग नाटक-तमाशा छोडकर उनके प्रवचनों और कथानकों को सुनने आने लगे।

अजमेर में धर्म प्रचार करके वहाँ से विहार कर व्यावर होते हुए पूज्यश्री जयमलजी ने अपने संतों के साथ मरुधरा की ओर आगे कदम बढ़ाये।

●

[१] शिक्षाप्रद - जयवाणी पृ. १३९.

इस पर भीखणजी कुछ आवेश में आकर बोले ; "कहाँ से आगम पाठ देखूं ? भगवती सूत्र का मंथन करना चाहता था मगर वह भी गुरुदेवने ले लिया। आप जैसे शांति से समझाते हैं वैसे वे समझाते तो मैंने कब मनाई की थी ? मुझे तो बस अलग कर दिया !",

पूज्यश्री तो जान गये थे कि भीखणजी की यह बात अपना दोष दूसरों पर मढ़ने जैसी थी। फिर भी उन्होंने पूछा : "तुम्हारे दिल में गुरु के प्रति प्रेम है न ?"

"उनके प्रति मेरे हृदय में अपार प्रेम एवं श्रद्धा है। हमारे इस प्रेमपूर्ण आत्मभाव को कई लोग देख न सके। उन्होंने गुरुजी को न जाने क्या कह डाला कि शांति से समझाने के बदले, मुझसे सभी ग्रंथ लेकर मुझे पृथक कर दिया। उनके कैसे भी भाव मेरे प्रति क्यों न हों, मैं तो उन्हें ही अपना गुरु मानता हूँ।" भीखणजी बोले।

पूज्यश्रीने कहा : "तुम्हारी यह श्रद्धा तो धर्म और शासन के विरुद्ध है जिससे तुम पार नही उतर सकोगे। मगर जब तक तुम्हारे गुरु-समकित दाता पूज्य रघुनाथजी का नाम हृदयमें होगा तब तक तुम्हारी वृद्धि होती रहेगी। तुम उनके शरण में वापस जाओ। तुम्हारे कल्याण का यही मार्ग है।"

भीखणजी के हृदय में पूज्यश्री की बातें छू रही थी किन्तु अभी तक उस स्थिति में नहीं थे कि अपने मत को छोड सके।

पूज्यश्रीने कहा : "इस में विचार क्या है ? जिस गुरु से ज्ञान लिया—उसके आगे विनम्र होकर जाने में कोइ संकोच न होना चाहिये और सच्चे ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये। इतना ही नहीं कुमारिल भट्टाचार्य की तरह गुरुद्रोह का प्रायश्चित्त भी अवश्य करना चाहिये !"

जब जैन धर्म और बौद्ध धर्म का प्रचार सारे भारतवर्ष में फैला हुआ था तब कुमारिलने छुपे वेश में उनकी पाठशालाओं में जाकर अध्ययन किया। उसकी असलियत मालूम होने पर उन्हें अपनी एक आँख भी गंवानी पडीं। इससे उत्तेजित होकर उन्होंने शास्त्रार्थ कर बौद्ध व जैन पंडितों को हराना प्रारंभ किया। किन्तु अंतमें किसीने उन्हें वह वेदवाक्य दिखाया कि गुरुद्रोह करनेवाले को चावल की भूसी में जलकर प्रायश्चित्त करना चाहिये।

५९

जय - भीखण भ्रम भंजन

अजमेर से पूज्यश्री आदि संत छोटे मोटे गांवों में धर्म प्रचार करते हुए ब्यावर पहुँचे। काफी वर्षों के बाद पूज्यश्री के पदार्पण से लोगों में आनंद छा जाता था। ब्यावर और आगे के गांवों में कुछ ऐसी बात सुनाई पड रही थी कि पूज्यश्री रघुनाथजीने कुछ संतों को पृथक कर दिया है। कहीं ऐसा भी सुनाई देता था कि कुछ संत उनसे अलग हो गये हैं।

पूज्यश्री जयमलजी को यह बातें सुनकर कुछ खेद सा हुआ। वे जहाँ समाज संगठन की ओर ज़ोर देते थे वहाँ इस तरह विघटन बढ़ता जाये तो उनकी आत्मा को क्लेश पहुँचे यह स्वाभाविक था। विगत तीन वर्षों से उनका विचरण मालवा-मेवाड़ की ओर होने से उन्हें इस ओर की प्रवृतियों का परिचय नहींसा था।

विहार के साथ २ यह बात स्पष्ट हो गई थी कि पूज्यश्री रघुनाथजीने भीखणजी को संप्रदाय से अलग कर दिया है। भीखणजी पूज्यश्री रघुनाथजी के प्रिय शिष्य माने जाते थे और गत वर्ष ही उनकी योग्यता देखकर उनका भी एक सिंघाडा (टोला) बनाकर उन्हें राजनगर

कहा जाता है कि शं ाचार्य जब प्रयाग पहोंचे तब उन्होंने सर्वत्र कुमारिल की प्रशंसा सुनी थी और वे उनके पास ज्ञान बढाना जाहते थे। किन्तु दोनों का मिलन हुआ तब कुमारिल गुरुद्रोह के प्र .श्चित्त के रूप में धान की भूसी में जलने जा रहे थे।

शंकराचार्य को निराश देख कुमारिल ने परिचय पूछा। शंकराचार्य का नाम भी सुप्रसिद्ध हो चुका था। अतः कुमारिल ने कहा "मैं तुम्हें अपने एक योग्य शिष्य मंडन मिश्र के पास जाने के लिये कहूँगा। लेकिन विश्व को तुम यह अवश्य संदेश देना कि गुरुद्रोह से बढ़कर कोई पाप नहीं है!"

इतना कह कर जलती चिता में कुमारिल ने अपने को अर्पण कर दिया और गुरुद्रोह के प्रायश्चित्त की कथा जिन २ ने सुनी, उनमें उनके विरोधी भी उनके प्रायश्चित्त की भूरि भूरि प्रशंसा किये विना नहीं रह सके।

पूज्यश्री जयमलजी के कहने पर भीखणजीने कहा "आप मुझे अपना लीजिये। आज से आप मेरे गुरु हैं।"

"हम दोनो में क्या अंतर है? फिर शासन की मर्यादा से भी इस बात की स्वीकृति के लिये तुम्हें आचार्य रघुनाथजी के पास ही जाना चाहिये।"

पूज्यश्री जयमलजीने उन्हें बहुत समझाया। भीखणजीने कहा: "आप जो कहते हैं वह सही है किन्तु अभी मेरी अवस्था उत्तराध्ययन सूत्र के १३ वें अध्याय के ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह है। मैं सब कुछ समझकर भी जो धारणा बना चुका हूँ उसे छोड नहीं सकता। मेरा ब्रह्म-आत्मा कुछ व्यक्तियों को वह विचार सूत्र दे चुका है। हम सभी उसी रास्ते पर जाने के लिये वचन बद्ध हुए हैं। इधर गुरु ने छोड दिया है, उधर उनका साथ मैं छोड दूँगा तो कहीं का नही रहूँगा। मगर एक बात आपसे अंतरात्मा से कहता हूँ कि गुरु के प्रति मेरा अत्यंत प्रेमभाव है।"

पू. जयमलजीने तब भीखणजी को पुनः गुरु की शरण में जाकर सत्यधर्म को स्वीकार करने के लिये चित्तमुनि की तरह कहा।
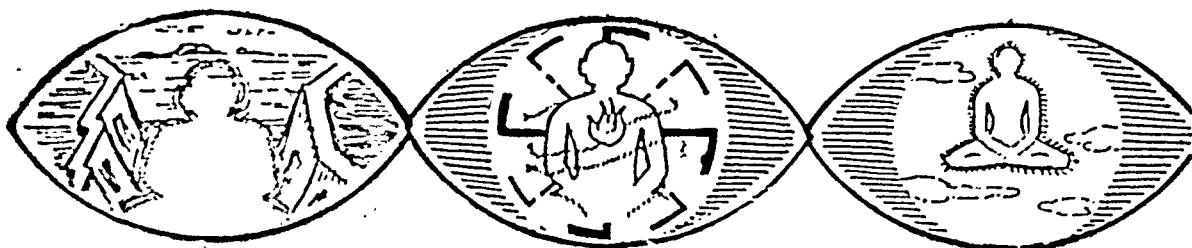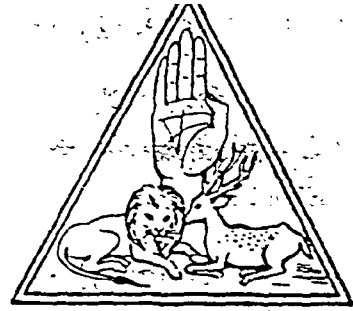
चातुर्मास के लिये भेजा गया था। वहाँ से लौटने के बाद पूज्यश्री रघुनाथजीने उनकी वन्दना स्वीकार नहीं की और काफी चर्चा विचारणा के बाद उन्हें संप्रदाय से पृथक कर दिया था।

श्रावक लोगों की आपस की बातों में यह भी बात आ रही थी कि भीखणजी दया-दान संबंधी श्रद्धा जैन-मार्ग से विपरीत होने से उन्हें पूज्यश्रीने पृथक कर दिया था।

कहीं २ श्रावक गणों में यह भी बात चलती थी कि:—"गत वर्ष राजनगर चातुर्मास के समय भीखणजी की असावधानीसे ठंडा करने के लिये रखे हुए खुले गरम पानी में बिछंदरी गिर कर मर गई थी। साथ के संतोंने उसे दोष माना और असावधानी के लिये प्रायश्चित करने के लिये कहा।

भीखणजी ने कहा : "मैंने उसे मारी नहीं है। वह अपने आप मर गई है, उसका प्रायश्चित्त कैसे?"

साथ के संतों के विशेष समझाने पर उन्होंने कहा : "असंवती के मरण का प्रायश्चित्त ही क्या हो सकता है? वह जिंदा रहती तो और कर्म बांधती, इस प्रकार हमें दोष लगता।"

साथ के संतों को उनका तर्क योग्य नहीं लगा। संतों में आपस में वाद विवाद बढ़ा और सारी बात राजनगर के ज्ञानी श्रावकों के पास पहोंची। श्रावकोंने सारी बात समझकर ऐसी असावधानी के लिये उलाहना दिया, इतना ही नहीं ऐसी और अनेक असावधानियों की ओर भीखणजी आदि संतों का ध्यान दिलाया; उन्होंने यतना के पूर्ण पालन पर ज़ोर दिया।

भीखणजी की गलती थी अत: उन्होंने श्रावकों को अपना बनाये रखने के लिये कहा : "श्रावकों! आप जो कहते हो सही है। हम साधुओं का आचार विचार आगमों अनुरूप नहीं रहा है।"

भीखणजी ने कहा "मैं विचारूँगा मगर अभी कोई निर्णय नहीं कर सकता।

पूज्यश्री जयमलजीने जाते जाते उसे पुनः गुरु शरण की याद दिलाई। भीखणजी ने वंदना की और पूज्यश्रीने संतगण के साथ आगे विहार किया।

भीखणजी के हृदय में था कि पूज्यश्री जयमलजी उन्हें अपने साथ ले लें किन्तु ऐसा शक्य न था अत: उन्होंने भी अलग दिशा में आगे कदम वढाया। [1] भीखणजी को गुरुप्रेम और गुरुद्रोह की की गई पूज्य जयमलजी की बातें जिंदगीभर याद रहीं ऐसा लोगों का मानना है [2] और तदनुसार जीवन के अंत में उन्होंने प्रायश्चित्त भी किया।

---

1 जब भीखणजी इसके वाद निराले गये तब लोगों में यह बात प्रचलित सी हो गई:—
रघुजीने विगडे को विगडी से निकाला
जयजीने झूंटे को झूंठे से निकाला।

2 पंडितरत्न लक्ष्मीचन्दजी म. सा. ने इस संबंध में पाली के भंडारागार से प्राप्त एक पत्र प्रकाश में लाया है। पत्र के लिपिकार का नाम है स्वामीश्री दीपचंदजी कने उतारिया मलुकचन्दजी कटारिया संवत १८ ने ६५ आपाढ सुद ५।

जिस प्रकार गौशालकने शासन और भगवान के विरुद्ध प्रचार किया उसी प्रकार भीखणजी कई वर्षों तक आचार्य (रघुनाथजी) एवं शासन के विरुद्ध में प्रचार करते रहे। किन्तु जिस प्रकार गौशालकने अंत में अपनी परम उपासिका हलाहल कुंभारिन के आगे प्रगट किया :—"मैं भगवान महावीर का विद्रोही रहा हूँ किन्तु भगवानमहावीर का सिद्धांत सत्य, तथ्य तथा पूर्ण है। मैं अपूर्ण और असर्वज्ञ हूँ। अतः मेरे मर जाने के वाद मेरे शव की विढंबना करना!"

वैसे ही भीखणजीने भी अंतिम समय में किया जो निम्न लिखित वाक्यों से स्वयं सिद्ध होता है:—

संवत (१८) अठारसो (६०) साठ समे भीखण अणसण लियो
भारमलने वुलाय इसढो वचन कियो।
भीखण करी आलोचणा भारमल तूं सुण,
पूज्यश्री रघपतजी मोटा पुरुष मैं नहीं किया गुण।
अपूरा अवगुण किया, वे तो नाणो रोकडो,
खोटो मार्ग थाप्यो जिणरो मारे मिछामी दोकडो।
सुण भारमलजी कालो थयो अवगुण वोल्यो संत,
सतगुरु कहो ज्युं करूं तो उठ जाय मारो मंत।

तेरापंथ के इतिहास में अंत में भिक्षु स्वामीजी क्या वोले उसे छुपाया गया है—वह यही वात थी कि भिक्षुजीने गुरुद्रोह की आलोचना की थी।
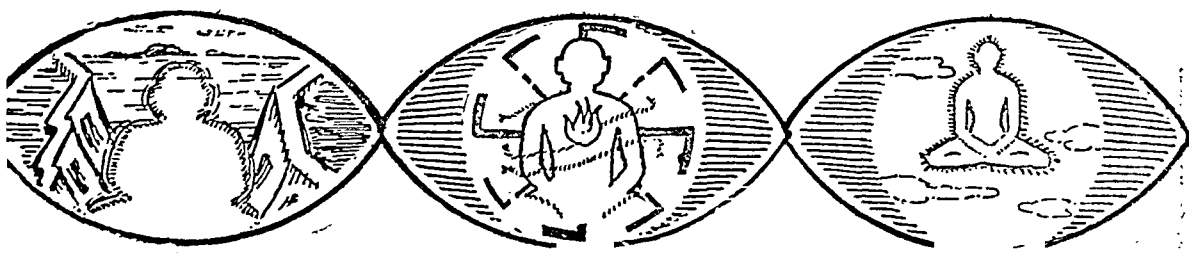
भीखणजी उस सिंघाडे के बडे थे किन्तु साथ के अन्य संतों को वह बात जंची नहीं कि अपनी गल्ती के लिये वे सारे संतों पर आचार शिथिलता की बात लागु करवायें रहे थे। उन्होंने इस बात का विरोध किया।

भीखणजी उन संतों के आगे अपने आपको उतरती श्रेणि का बताना नहीं चाहते थे, अतः विवाद बढ़ा तो उन्होंने संतों की इधर उधर कई बातें जो उन्हें भूल सी लगती थी उन्हें बताने लगे।

इसके साथ ही उनका मंथन एक पक्षीय चलने लगा कि असंयतीको जीवन दान या किसी भी प्रकार का दान देने से कोई धर्म नहीं होता। उन पर दया दिखाने से कोई धर्म नहीं होता। उल्टा साम्यक्त्व का खंडन होता है।[1] इस दिशा में उनका अपूर्ण ज्ञान और विपरीत भाव दोनों कार्य करने लगे और नयवाद की अपेक्षाओंको समझे बिना उन्होंने आगमों के अर्थ का संदर्भ अनर्थ से जोडना प्रारंभ किया।

साथ के संतों का ज्ञान इतना तो न था किन्तु उन्हें यह विचारधारा जैन धर्म से विपरीत लगने लगी। अतः चातुर्मास के बाद सारी बात पूज्यश्री रघुनाथजी म. सा. के पास रखने का तय किया गया।

चातुर्मास उतरने के पूर्व भीखणजीने सभी संतों को सूचना दी कि मैं सिंघाड़े का वडा हूँ, अतः मैं ही अपने ढंग से सारी बात उनके सामने रखूंगा। किन्तु वैसा नहीं हुआ और दो एक संत आगे चले गये और उनमें से एक वीरभाणजी ने स्पष्ट रूप से भीखणजी की गल्ती, वाद-विवाद, उनकी विचारधारा और श्रावकों के उलाहने की बात कही।

१ श्री रघुनाथ जीवन चरित्र पृष्ट ६६ के अनुसार 'जीवा जाति' नाम की पुस्तक का मिलान करने पर उनके हृदय में यह बात जंच गई कि असंयति को दान देने से समकित की हानि होती है।

२. ऐसा माना जाता है कि वीरभाणजी भीखणजी के साथ अलग होनेवाले संतों में से एक थे किन्तु आगे जाकर उन्हें भीखणजी के सिद्धांत आगम विपरीत लगने से उन्होंने उनका खुला विरोध किया और उन्होंने उनका साथ छोड दिया। ऐसा भी माना जाता है कि वीरभाणजी के साथ और भी कई संत और सतियाँ भीखणजी से पृथक हो गये थे।
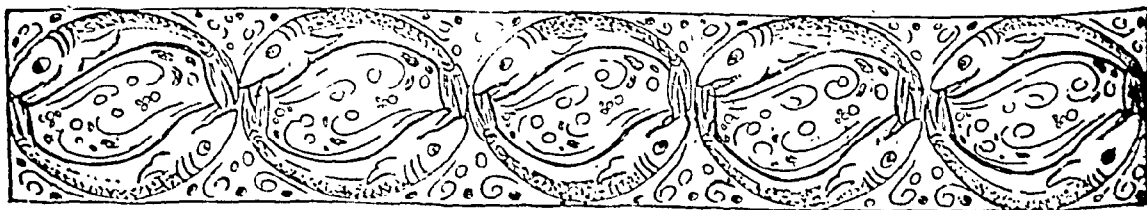
पूज्यश्री आदि संत विहार करते हुए बगडी पहुँचे। वहाँ पर आचार्य श्री रघुनाथजी के दर्शन किये। दोनों पूज्य मिले जैसे धरती पर दो सूर्य एक-साथ प्रकाशमान हुऐ हों।

परस्पर दोनों में वार्तालाप हुआ। भीखणजी के बारे में भी बात चली। पूज्यश्रीसे आचार्य श्री रघुनाथजी ने कहा : "मैंने उसे राजनगर भेजकर ठीक नहीं किया !"

पूज्यश्री जयमलजी ने पूरी बातें सुनीं। उन्होंने कहा : "भीखणजी को तो आपके प्रति अपार प्रेम है !"

आचार्य श्री रघुनाथजी ने कहा : "सभी जानते हैं कि मेरा उस पर कितना स्नेहभाव था ? इसकी बुद्धि सुधरेगी ऐसा विचार कर ज्ञान दिया मगर इसकी बुद्धि उल्टी दिशा में ही जाने लगी।

पूज्यश्री जयमलजी ने कहा : " मैंने उसे बहुत समझाया है और पुन: आपके पास आये तो एकबार और समझाके देखें—ज्ञान देकर सच्चे रास्ते पर लायें।"

आचार्य रघुनाथजीने कहा : "स्वयं पश्चातापके साथ वह आयेगा तो फिर एकबार सुधरने का अवसर और दूँगा, बना तो आपके पास भेज दूँगा !"

पूज्यश्री जयमलजीने कहा : "मुझे लगा कि उसका आपके प्रति अनन्य प्रेम है और वापस वह आपके पास आयेगा !"

पूज्यश्री जयमलजी कई दिनों तक आचार्यश्री की सेवा में रहे। फिर वहाँ से कांठे के प्रदेश में विचरण करके वे सांचोर पधारे और वहाँ से सेवाणची होते हुए जोधपुर की ओर अग्रसर हुए।

* * *

पूज्यश्री जयमलजी आदि संतों का संवत १८१६ का चातुर्मास जोधपुर के लिये तय हुआ। उसके पूर्व पूज्यश्री आदि संत कांठे के प्रदेश में विचरण कर रहे थे तभी एक गांव में समाचार मिले कि भीखणजी पुन: पूज्यश्री रघुनाथजी म. सा. के पास गये और अपनी करणी पर पश्चाताप प्रगट किया। उदार हृदय से पूज्यश्री रघुनाथजीने उन्हें माफी दी और साथ में

पूज्यश्री रघुनाथजी के पास सोजत में भीखणजी पहुँचे। उन्होंने वंदना की किन्तु पूज्यश्रीने न सुखशाता पूछी और कुछ भी न कहा, न सिर पर आशीर्वाद का हाथ फेरा।‡

भीखणजी की आँखों में आंसू भर आये और उन्होंने पूछा : "गुरुदेव ! आप मुझसे अप्रसन्न हैं। मैंने आपकी आज्ञा का खंडन नहीं किया है। मेरे साधुपन में भी कोई क्षति नहीं हुई है। फिर भी मुझसे आपके विचारानुसार कोई गल्ती हो भी गई हो तो अपना ही बालक जानकर मुझे अपनी शरण में लें। यदि मुझसे कोई भूल हो गई हो तो उसका मुझे दंड दें !"

तब पूज्यश्री रघुनाथजी म. सा. ने कहा : "तेरी श्रद्धा उल्टी हो गई है। उसको विमल-शुद्ध कर ले !"

भीखणजीने कहा : "मेरी तो श्रद्धा आप पर है और आपके बताये मार्ग पर दृढ है। कोई आकर मेरी चुगली करे उस पर आप ध्यान न दें। मेरे अवगुण कोई हों तो उस पर ध्यान न दें और मुझपर अपनी कृपा दूनी रखें !"

मगर पूज्यश्री रघुनाथजीने कहा : "मैंने सारी बातें सुनी हैं और तेरी धारणा सूत्रों के प्रतिकूल है !"

भीखणजीने कहा : "मेरी धारणा सूत्रों के अनुकूल ही है। उसको कोई झूठ कहे तो उसकी भूल है।"

पूज्यश्री रघुनाथजीने कहा : "दया ही धर्म का बीज है, वही सच्चा ज्ञान है। तू तो उसके विपरीत प्रतिपादन करता है ! उसको सूत्र के अनुकूल कैसे कहता है ? और तूने पढ २ के कितने सूत्र पढे हैं ? एवं परस्पर के संदर्भ एवं नय-उपनय का विचार किये बिना जो तू कहता है वह कहाँ तक ठीक है !"

भीखणजीने कहा : "शिष्य की गल्ती हो तो भी गुरु को बताने की कृपा करनी चाहिये।"

---

‡ पू० रघुनाथ चरित्र के अनुसार
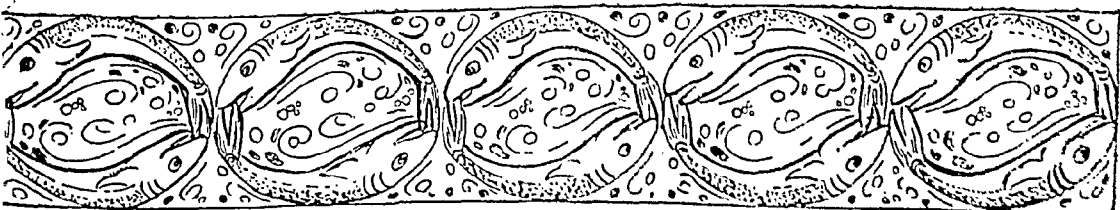
ले लिया। आचार्यश्री रघुनाथजीजी का चातुर्मास मेडते में था अतः बगडी के बाद सोजत से उन्होंने मेडता के लिये विहार किया था।

दो दो वर्ष अलग विचरण करने के बाद मुनिश्री गोवरधनजी, आदि ठाणे भी पूज्यश्री जयमलजी के दर्शन करने के लिये आसपास के गांवों में विचरण कर आके मिले।

सभी संतों में उस समय छोटेसे मुनि रायचन्दजीने वंदना की तभी पूज्यश्रीने अपना हाथ प्रेमसे रखते हुए कहा : "शासन का नाम खूब उज्जवल करो !"

मुनि श्री रायचन्दजी म. ने कहा : "आप तो मुझे छोडके चले गये थे किन्तु मैं आपको नहीं छोडूँगा—आपको ही मेरा विकास करने का है !"

पूज्यश्रीने कहा : "तुम्हें साथ लेने के लिये ही गोवरधनजी को रखा था न....!"

"आपका बडाही पुण्य प्रताप है !" मुनिश्री रायचन्दजीने कहा और उनके मुँहसे सरस्वती की धारा अनायास ही बहने लगी :—

पुनः जोगी ज्ञानी मोने मिलिया
म्हारा अज्ञान पडल अलग ढलिया
मैं चउगतिने जाणी चेरवाजी
म्हारा गुरु दीठांने दिल हुओ राजी....

जिम वछियाने गाय घणी वहाली
जिम चोलमजी ढरी चढी लाली
जिम पुत्रने पेरव हरके माजी
म्हरा गुरु दीठांने दिल हुओ राजी....

सभी उपस्थित संत एवं लोग भी मुनिश्री रायचन्दजी के कंठ से निकली मधुर कविता से प्रभावित हुए। पूज्यश्री जयमलजी को भी आनंद हुआ और उन्होंने साधुवाद देते हुए कहा : "कंठ मधुर है, और शब्द रचना भी सुंदर है। कैसे सीखा ?"

पूज्य रघुनाथजीने उन्हें विस्तृत रूपसे समझाया और भीखणजीने अपनी भूल का स्वीकार किया। एवं पूज्यश्रीने दंड देकर उन्हें फिर अपने साथ रखा। भीखणजीने गुरुजी के पैर पकड लिये। कुछ दिन बीत गये। भीखणजीने पूज्यश्री रघुनाथजी से पूछा : "आप आदेश दें कि मैं अब क्या करूँ?"

पूज्यश्री रघुनाथजी यह जान चुके थे कि भीखणजीने कुछ भोले लोगों में और संतों में गलत विचारणा का प्रचार किया है। अतः उन्होंने कहा : "अच्छा यह होगा कि राजनगर आदि जाकर जिन गलत बातों का तूने प्रचार किया है, उसे तू सुधार ले!"

भीखणजीने आदेश मान लिया। उन्होंने वहाँ से प्रस्थान किया। यह बड़ा कठिन कार्य था। उनका जिद्दी स्वभाव यह होने दे ऐसी संभावना न थी। अतः जैसे ही गुरुजीसे अलग हुए उनके पुराने विचार जगने लगे। उनको माननेवाले कुछ लोगों ने उनसे कहा कि ऐसा करेंगे तो आपकी प्रतिष्ठा कहाँ रहेगी?

अतः वे राजनगर नहीं गये और आधे रास्ते से वापस लौट आये।* वे स्वतंत्र विचरण करने लगे। पूज्यश्री रघुनाथजी म. सा. को ये समाचार मिला और पुनः जब सभी संत मिले तो उस समय भीखणजीने दुबारा क्षमा याचना चाहने पर फिर दंड दिया।

भीखणजीने दो बार स्वयं दंड स्वीकार किया था फिर भी वे अपने गलत विचारों का एवं दयादान विरोध का प्रचार करने लगे। अतः पूज्यश्री रघुनाथजीने उन्हें अपने से पृथक कर दिया और भीखणजी अलग विचरते थे।

---

* जिन राजनगर के श्रावकों ने भीखणजी को क्रांति करने की प्रेरणा दी, वे ही लोग पुनः चुप हो गये? तेरापंथी-इतिहासकार भी इस विषय में काफी संकोच विचार में पडे हुए हैं किन्तु यह स्पष्ट है कि वास्तव में राजनगर के क्रांतिकारी श्रावकों का जो नाम भीखणजी के अलग होने में जोडा जाता है वहाँ वास्तविक बात और थी जो कि परंपरा से सुनी जाती थी कि राजनगर के श्रावकों का विरोध भीखणजी की "असावधानी" से संबंधित था। राजनगर ने क्यों साथ नहीं दिया यह अपने आप में बहुत कुछ कहा जाता है। यह बडे आश्चर्य की बात है कि जिस राजनगर में भीखणजी की क्रांति करने की बात का डिंडिमघोष किया जाता है, वहाँ पर वे सिर्फ एक ही चातुर्मास कर पाये।

"आपको ही, देख देख, आपको सुन सुन मैंने जोडना शुरु किया, आपको स्मरण में रखा और जोड बनती गयी है, अभी बालक ही हूँ। कोई क्षति हो तो क्षमा करें और सुधारें।" मुनिश्री राजचन्दजीने कहा।

उस दिन पूज्यश्री जयमलजीने आत्मानुभव किया कि अवश्य यह मुनि रायचन्दजी आगे जाकर नाम उज्जवल करेंगे और लोगों को लगा की पूज्यश्री जयमलजी के परिपाटी में मुनिश्री रायचन्दजी का नाम अपने आप जूड रहा है।

संतों का विहार आगे हुआ। मुनिश्री रायचन्दजी भी साथ २ थोडे दिन विचरण करते रहे। पूज्यश्रीने उन्हें साहित्य की रचना, जोंड, पिंगल आदि बातों की शिक्षा दी और तदनुसार पूज्यश्रीने देखा कि मुनिश्री रायचन्दजी उसे न केवल सहज बुद्धिसे ग्रहण कर रहे थे किन्तु साथ २ उस में निपूणता भी प्राप्त कर रहे थे।

० ० ०

संतों का विचरण बिलाडे के आसपास हो रहा था। दर्शनार्थीगण का तांता बंधा रहता था। पूज्यश्रीने उनसे यह समाचार सुन लिये थे कि भीखणजी पुनः क्षमायाचना के साथ आचार्यश्री के साथ हो गये है।

इससे भी अधिक आश्चर्य और आनंद की बात यह थी कि एक दिन जब मध्याह्न में वे उपाश्रय में विराजमान थे कि उन्होंने भीखणजी एवं अन्य संतोंको उपाश्रय में आते देखा। आतेही उन्होंने साधु मर्यादा के अनुसार वंदना की और बादमें पूज्यश्री का आदेश मिलने पर वे अपने स्थान पर बैठे। भीखणजीने उनके आगे सारी बातें कही और कहा कि "आचार्यश्री के आदेश से आपके पास रहकर अपना ज्ञान-दर्शन चारित्र्य का विकास करने आया हूँ।"

पूज्यश्रीने उन्हें आश्वासन दिया और कहा कि सच्चा ज्ञान प्राप्त कर शासन की सेवा करो। भीखणजीने दो हाथ जोडकर शीश झुकाकर स्वीकृति दी।

पूज्यश्री का नित्य क्रम था कि प्रवचन आदि के बाद मध्यान्ह में वे संतों का ज्ञान मार्ग प्रशस्त करते थे। कोई संत सूत्र पढ़ते थे, कई सूत्र आलेखन करते थे, कई संत जोड

पूज्यश्री जयमलजीने सारी बातें सुनीं किन्तु वे किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहते थे। वे स्वयं पूज्यश्री रघुनाथजी से मिलना चाहते थे और सारी बातें जानना चाहते थे। भीखणजी पूज्यश्री रघुनाथजी के प्रिय शिष्यों में थे। जब इतने बडे शिष्य को दो बार गुरुने ही प्रायश्चित्त दिया था और बाद में पृथक करना पडा तब भीखणजी की कोई बडी गल्ती अवश्य होनी चाहिये।

पूज्यश्री जयमलजीने भीखणजी को देखा था। साधुसंमेलन के पूर्व के वर्षों में भीखणजी कई बार साथ भी रहे थे तब सज्झाय ढाल दोहा आदि काव्योंको जोड करना भी उन्होंने भीखणजी को बताया था और यह भी अनुभव किया था कि भीखणजी अच्छी जोडें कर सकेंगे। भीखणजी को भी पूज्यश्री जयमलजी के प्रति अपार श्रद्धा थी। भीखणजी उनके प्रति बडा आदर और विनय बताते थे। पूज्यश्री जयमलजी म. सा. की संयम साधना, संघ एकता की भावना और इसके उपरांत उनका गहन ज्ञान और सहजसाध्य काव्य रचना आदि से युक्त पूज्यश्री जयमलजी के तेजस्वी व्यक्तित्व की ओर भीखणजी आरभ से आकर्षित थे।

अतः सारी बातें सुनकर पूज्यश्री जयमलजी शीघ्र विहार कर सोजत पहुँचना चाहते थे। ब्यावर से वे विहार कर झूंठा-रायपुर पहुँचे। यहाँ पर भी उनके कानों में भीखणजी को निकाले जाने की बात पडी। पूज्यश्री रघुनाथजी सोजत विराजमान थे अतः उन्होंने झूंठे-रायपुर से प्रस्थान किया।

कई बार ऐसी भी बातें होती हैं जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। झूंठे से थोडे दूर ही पूज्यश्री आदि संतोंने विहार किया था कि सामने से कोई संत आते हों वैसा दिखाई दिया।

पास में आने पर सभी को विस्मय हुआ क्योंकि वे भीखणजी थे। उनका वदन म्लान हो रहा था। वे भी पूज्यश्री जयमलजी को देखकर चकित हुए किन्तु अगले क्षणही उन्होंने घूटने टेक पूज्यश्री को वंदना की। पूज्यश्रीने उन्हें उठा लिया।

भीखणजी की आँखे सजल हो गई और एक पल में उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। उनका गला भर आया था।

आदि करते थे। मुनिश्री रायचन्दजी सबसे छोटे थे फिर भी उनकी जोड करने की कला निखरती जाती थी। पूँज्यश्री ही नहीं अन्य संत एवं श्रावकगण भी उनकी जोडों की प्रशंसा करते थे।

भीखणजी भी पूज्यश्री के पास बैठते थे। रायचन्दजी की प्रगति देख उन्हें भी हुआ कि मैं भी इस कला का और विकास करूं। वे देखते थे कि पूज्यश्री सहजसुखाय अनायास ही जोड कर लेते थे और वह बडी भावपूर्ण होती थी।

उन दिनों पूज्यश्री एक उपदेशी जोड बना रहे थे :—

इम सदगुरु जीवने समझावे

भीखणजी इसे सुनते तो उन्हें लगता था कि जैसे उनके लिये ही यह पद रचा गया हो। वह उनके हृदय मंथन को जगाता था।

पूज्यश्रीने उनको जोड करने के साथ नयवाद की अपेक्षा से सूत्रों को समझाना शुरू किया। भीखणजी मुनिश्री रायचन्दजी की भी जोडे देखते थे और सहज सरस्वती के वरदान सी उन जोडों के आगे अपनी रचनाओं को बडी कच्चीसी समझते थे। उनके मन में न जाने क्यों मुनिश्री रायचन्दजी की इस प्रगति पर एक डाहसी बन जाती थी किन्तु जो जैसा था वैसा प्रत्यक्ष था। पूज्यश्री भीखणजी की जोडों को भी अच्छी बनाते, संशोधन परिवर्तन कराते थे और उनकी कला में भी निखार लाना चाहते थे। प्रयत्नों से भीखणजी की जोडकला भी अच्छी होने लगी।

०　　०　　०

पूज्यश्री का चातुर्मास सं. १८१६ में जोधपुर था। जोधपुर के श्रावक आग्रहभरी विनति करके गये थे। मुनिश्री रायचन्दजी को टीकुजी स्वामी के साथ ठाणे चारसे नागौर चातुर्मास के लिये जाना था। बडे ही प्रेमसे वंदना कर पूज्यश्री के आशीर्वाद के साथ उन्होंने विहार किया। पूज्यश्री की अनुभव पूर्ण आँखे और ज्ञानी आत्मा जान चुकी थी कि मुनिश्री रायचन्दजी की आत्मा होनहार है।

वहीं पर पूज्यश्री आदि संत स्थान देखकर आसन बिछाकर बैठ गये। भीखणजी भी पासमें बैठे। उनकी आँखों से अब भी आँसू बह रहे थे।

पूज्यश्रीने बडी सहानुभूतिपूर्ण स्वरों में कहा : "भीखणजी क्या बात है?"

भीखणजीने कहा : "बापजी! मैं आपकी ही शरण में अब हूँ। गुरुदेव रघुनाथजी म. सा. ने मुझे अपने से अलग कर दिया है। अब आप ही मुझे शरण दें! आप ही मेरे गुरु बनें!"

पूज्यश्रीने कहा : "सुना तो मैंने भी ऐसाही था! किन्तु तुम्हे अलग करने का कोई कारण तो होगा या तुम स्वयं उनसे पृथक हुए हो!"

"मैं स्वयं अलग नहीं हुआ हूँ....उन्होंने ही मुझे पृथक कर दिया है। मैं तो अब भी उन्हें उतनाही पूज्य मानता हूँ!" भीखणजीने कहा।

पूज्यश्रीने कहा : "आचार्य रघुनाथजी के तुम अनन्य स्नेहभाजन शिष्य हो। और ऐसा क्यों हुआ यह मेरी समझमें नहीं आता।"

भीखणजी बोले : "मेरे हृदय में गुरुदेव के प्रति अनन्य भाव है और वह हमेशा रहेगा।"

"तभी मैं कहता हूँ कि बिना किसी विशेष कारण के वे तुम्हें अलग कर नहीं सकते थे।" पूज्यश्री जयमलजीने कहा। भीखणजी सहमे से रहे।

पूज्यश्रीने कहा : "आखिर किस कारण तुम्हें टोलेसे अलग कर दिया है?"

भीखणजीने राजनगर चातुर्मास की बात बताकर कहा : "राजनगर के श्रावकों द्वारा हम साधुओं पर कही गई कुछ बातें मुझे सही मालूम हुई। इसलिये गुरुदेव से मेरा मतभेद हुआ और उनका मेरे प्रति रूख बदल गया है।"

पूज्यश्रीजीने पुनः उनसे पूरी बातें सुनीं और कहा : "शास्त्रों में कई बातें जिन-कल्पियों के लिये कही गई हैं और वर्तमान में उसका प्रचलन नहीं है।" पूज्यश्री जयमलजीने नयवाद की अपेक्षा से उन्हें सारी बातें समझाई जिसे भीखणजीने भी स्वीकार किया।

पूज्यश्री संतों के साथ जोधपुर चातुर्मास के लिये पधारे। भीखणजी भी उनके साथ थे। एक और पूज्यश्री के प्रवचन का ठाठ लगता था, वहाँ स्वाभाविक था कि दो दो वार अपनी मान्यताओं के कारण पृथक हुए भीखणजी के बारे में लोगों की जिज्ञासा हो। लोग जानना चाहते थे कि क्या उनकी विचारधारा में परिवर्तन हुआ है ? उन्होंने क्यों दया-दान के विरुद्ध प्रचार किया था ?

जोधपुर चातुर्मास के प्रारंभ में तो सभी प्रकार से धर्म ध्यान और प्रवचन का ठाठ लगता रहा। भीखणजी भी पूज्यश्री के साथ बडे विनम्र होकर रहे। उन्होंने सज्झायें जोडें करने की कला की सारी बातें पूज्यश्री जयमलजी से सीखीं। लोगों की बातें सुनकर कई बार भीखणजी का मन उद्वेग में आ जाता था किन्तु पूज्यश्री के समझाने पर वे शांत हो जाते थे।

चातुर्मास के समय आर्या सुजाणाजी आदि ठा. ६ का भी जोधपुर में चातुर्मास था। इसलिये श्रावक एवं श्राविकाओं में बडा धर्म ध्यान हुआ। संतों एवं महासतियों में बडे २ उपवास किये। पूज्यश्रीने एक मास के उपवास किये थे और श्रावक गण प्रेरित होकर तपस्या में वेले, तेले अठाई से लेकर मास २ उपवास कर रहे थे। एक भाई के ४१ दिन के उपवास थे।

पूज्यश्री के प्रवचनों का लाभ दीवान फतेहसिंहजी सिंघी और जोधपुर नरेश विजयसिंह ले रहे थे। उन दिनों बीकानेर नरेश भी जोधपुर नरेश के महेमान बनकर आये थे। उन्होंने पू. जयमलजी के चातुर्मास की बात सुनी तो वे भी प्रवचन में आने लगे और अंत में उन्होंने अपनी ओर से एवं बीकानेर के लोगों की ओर से बीकानेर को अगले चातुर्मास का लाभ देने की आग्रहभरी विनति की।

पूज्यश्रीने शरीर की अनुकूलता और पुद्गलस्पर्शना के अनुसार क्षेत्र स्पर्शने के भाव व्यक्त किये। चातुर्मास का समय यों बडे उत्साह से बीता।

चातुर्मास उतरते उन्होंने जोधपुर में कुछ ऐसी भ्रांति फैलती सुनी कि भीखणजी को लेकर पूज्यश्री अलग होना चाहते थे। साथ २ उन्होंने कुछ संतों से यह भी सुना था कि बिना कारण भीखणजी उनकी निंदा आलोचना करते थे और कहते सुनाते भी थे। अन्य

अन्त में उसने धमकी दी :—"आप मेरे साथ विषय-सुख नहीं भोगोगे तो मैं अभी लोगों को इकट्ठा करके कहूँगी कि देखो! तुम्हारा यह सेठ! अपने मित्र की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी की लाज लेने आया है!"

सुदर्शन जान गये कि यह विषयी-नारी सब कुछ कर सकती है। अन्त में उन्होंने दाव लगाया और कह दिया—"देवी! मैं तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं कर सकता; क्योंकि मैं 'पुरुष' में नहीं हूँ! मगर यह बात किसी और से मत कहना....!"

अब कपिला का मन घृणा से भर गया और उसने सुदर्शन को वहाँ से चले जाने के लिये कहा।

सुदर्शन का मन उस घटना से अत्यन्त क्षुब्ध हो गया। उन्होंने उसी दिन प्रतिज्ञा ले ली कि वे किसी के घर कभी भी नहीं जायेंगे।

चम्पा नगरी में कार्तिकी पूर्णिमा का मेला लगता था। यह उत्सव राज्य की ओर से मनाया जाता था और उसमें सभी नर-नारी, आबाल-वृद्ध भाग लेते थे। उस दिन कोई भी नगरी में नहीं रहता था और सभी नगरी के बहार उद्यान में जाते थे।

राजा ने यह ढिंढोरा पिटवा दिया और सभी नर-नारी अपने पुत्र-परिवार के साथ वस्त्र-आभूषण धारण करके नगरी के बाहर जाने लगे। सेठ सुदर्शन तो धर्मधारी थे। उन्होंने राजा से आज्ञा लेकर अट्ठम तप किया और वे पौषधशाला में बैठ गये। किन्तु उनकी पत्नी मनोरमा अपने पांचों पुत्रों के साथ सवारी में गई।

दूर से राजा की रानी अभया ने अपनी सवारी से उन्हें देखा। उसके साथ पुरोहित पत्नी कपिला भी थी। उसकी नजर मनोरमा और उसके पांच देव जैसे पुत्रों पर पड़ी। कुतूहल-वश उसने रानी से पूछा :—"महारानी जी! यह सौभाग्यवती स्त्री कौन है, जिसके देव जैसे सुन्दर पांच पुत्र हैं!"

अभया ने कहा :—"तू उसे नहीं जानती? वह तो अपने नगर-सेठ सुदर्शन की पत्नी है; नाम मनोरमा है। जैसा नाम है वैसी रूपवती, गुणवती और शीलवती भी है। सेठ के ये प्यारे पाँच पुत्र हैं, जो किसी के मन में बरबस ही बस जाते हैं। देख, कितने सुन्दर हैं....!"

यह सुनते-सुनते कपिला का मन विचारों में चढ़ गया। उसे सुदर्शन के साथ का वह प्रसंग याद आया और उसके मुंह से निकल गया :—"यह नहीं हो सकता....!"

फिर सम्हलकर वह हंस पड़ी।

रानी ने उसे पूछा :—"क्या नहीं हो सकता....?"

"ये पुत्र सुदर्शन सेठ के तो नहीं हैं और उसकी पत्नी मनोरमा भले ही उपर से सती शीलवती कहलाती हो; मगर वह तो अनेक भर्ता कर चुकी है!" कपिला बोली।

अभया ने कहा :—"अरे! तेरा सिर तो ठिकाने है कि नहीं? तू क्या बक रही है, यह भी तुझे मालूम है या नहीं....?"

"मैं सच कहती हूँ, आप स्त्री-चरित्र नहीं जानते! जो भोली-भाली दिखती है वही अन्दर से इतनी दुश्चरित्र और कुटिल होती है कि बस, वह तो परमात्मा ही जानता है....!" कपिला ने कहा।

रानी ने पूछा :—"मगर तुझे कैसे मालूम? क्या तूने मनोरमा को कहीं जाते देखा है?"

कपिला जोर से हँस पड़ी। रानी ने विस्मय भाव से उसे देखा तो कपिला ने उसके कान में धीरे से कहा :—"सेठ तो नपुँसक है....!" और वह जोर से खिल-खिला पड़ी।

मगर रानी उसके हास्य में भाग न ले सकी। उसने गंभीर होकर कहा :—"तुझे कैसे मालूम हुआ?"

बडे संत और स्वयं पूज्यश्री जयमलजी के होते हुए भीखणजी का यह व्यवहार ठीक नहीं था। पूज्यश्रीने सारी बातों की जांच की और पाया कि भीखणजीने ही अपनी ओर से लोगों में यह बात फैलाई है और साथ २ पूज्य रघुनाथजी के संतों ने कुछ आचार विरोध की कमी है इसका भी गलत प्रचार किया है।

पूज्यश्रीने भीखणजी को बुलाकर खुलासा पूछा। भीखणजी के पास कोई उत्तर न था। पूज्यश्रीने उन्हें फटकारते हुए कहा: "मैं तुम्हारी इन हरकतों से गले तक भर गया हूँ। तुम मेरे पास रहकर सुधरने के बदले गलत बात का प्रचार करते हो!"

"मैं तो आपको पूज्य मानता हूँ। दीक्षा मैंने जल्दी से भले रघुनाथजी से ली है पर मेरे गुरु तो आप हैं, मैंने यहाँ सब सुना है, आपही को आचार्य सभी बनाना चाहते हैं....आपको ही आचार्य बनना चाहिये।', भीखणजी कहते गये।

"भीखणजी!" पूज्यश्रीने बात काटते हुए स्पष्ट कर दिया: "तुम अपनी बात के लिये सब कुछ बदल सकते हो—आज गुरु बदलोगे, कल मुझे भी बदल दोगे— मगर मुझे तुम्हारा न गुरु बनना है और न मुझे अलगता लानी है। मैं स्वयं आचार्य पद पर हूँ और तुम्हारी हरकतें एवं बातें देखकर-सुनकर मैं तुम्हें अपने साथ रखना भी नहीं चाहता.... तुम वापस आचार्यश्री के पास चले जाओ!"

पूज्यश्री जयमलजीने भीखणजी के भ्रम को तोड दिया था और इतना स्पष्ट कह देने के बाद भीखणजी का उनके बारे में और बातें करने का—नई संप्रदायें रचने की झूठी बातें करने का क्रम आगे चल नहीं सकता था।

भीखणजीने उनके पैर पकडे और कहा: "बापजी! मुझे क्षमा करें। मेरे मन में न जाने क्या हो जाता है? मेरा उद्धार कैसे होगा?"

"अपना उद्धार दूसरों की निंदा करने से नहीं होता। स्वयं अपनी आत्मा को टटोलो तो बहुत कुछ सुधार हो जायेगा।"

"न जाने मेरी आत्मा में क्या हो जाता है? मुझे कुछ भी सूझता नहीं है।"
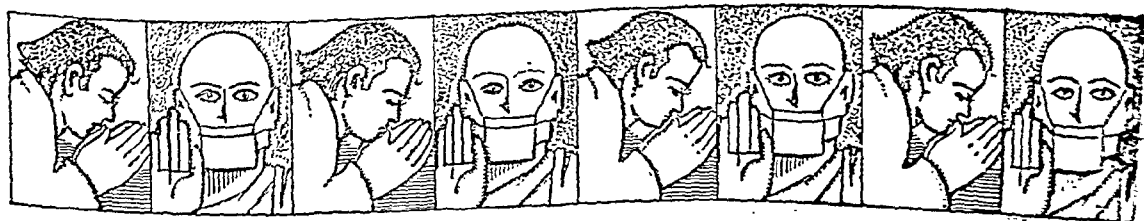
भीखणजी ने उस समय मिलनेवाले अन्य संतों को दया-दान विरोध की बात नहीं कही थी, गौचरी की कुछ बातों को लेकर बारह संतों को साथ किया था।

ऐसा माना जाता है कि वे सभी जोधपुर पहुँचे। किन्तु वहाँ के श्रीसंघने उनका न तो आदर किया और न उन्हें स्थानक में ठहरने दिया। फलतः वे सभी जोधपुर के बाजार में एक दुकान में ठहरे। उनको कहा जाता है कि सिर्फ तेरह श्रावकों का योग मिला जिनमें कुछ उनके संसार पक्ष के संबंधी थे।

उन्हीं दिनों में जोधपुर के दीवान सिंघी फतेहसिंहजी उस बाजार से अपने "सेवक" के साथ निकले। उन्होंने श्रावकों और साधुओं को पूछा कि क्या बात है ?

पूरी बातें जानकर उन्हें बडा खेद हुआ। उन्होने साधुओं को इस तरह अलग होकर अन्य साधुओं की निंदा और अपनी प्रशंसा करते देख उनकी बडी भर्त्सना की। श्रावकों को भी उन्होंने उपालंभ दिया कि जहाँ संघ एकता बनाये रखनी चाहिये वहाँ वे झूठे लोगों को, संघ-निंदकों को सहारा देकर अलगतावाद का तंत चला रहे हैं। उन्होंने उन साधुओं और श्रावकों की इस वृत्ति पर खेद प्रगट किया और कहा कि "साधु साधु का अवर्णवाद बोलेगा इससे बढ़कर अधर्म कौनसा होगा ?"

उनको इसका बडा दुःख हुआ जिससे विचलित होकर साथ के सेवक ने तुरंत एक दोहा गाया :—

"साध साधरो गिलो करे ते आप आपरो मंत। (मंत्र)
सुणज्यो रे शहररा लोको ए तेरापंथी तंत ॥ (तंत्र) †

सिंघीजी की सारी बातें सुनकर पुनः उन साधुओं को वहाँ ठहरना न हो सका। इतनाही नहीं वहाँसे शीघ्र प्रस्थान करने का भी कारण बना। आचार्यजी रूघनाथजी का चातुर्मास जोधपुर में तय हुआ था और वे स्वयं पधार रहे थे। अतः भीखणजी आदिने वहाँसे

---

† तेरापंथी इतिहासकार एक स्थान पर दोहा इसी समय सुनाया गया बताते हैं और नामकरण का संबंध भीखणजी के साथ बाद में ग्राह्य बताते हैं। यथार्थ में तेरह साधु सं. १८५३ तक उनके साथ कभी नहीं हो पाये थे। सिर्फ कहीं से कैसे मैल बिठाने के लिये लिख दिया गया ऐसा माना जा सकता है।
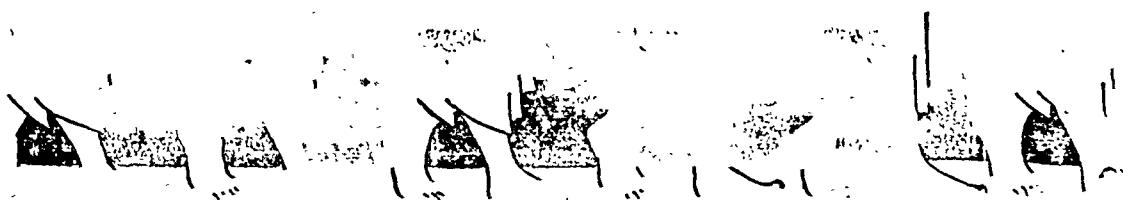
पूज्यश्री ने कहा :—"देव गुरु धर्म तीन का सहारा लेकर चले थे उस पर दृढ़ रहो, वे ही तुम्हारे मार्गदर्शक हैं !"

"मैं क्या करूं यही सूझता नहीं है !"

पूज्यश्रीने कहा : "गुरु पर श्रद्धा रखो—अपना चारित्र्य कुछ भी हो तब भी उन्नत रखो ओर इधर उधर अन्यों की निंदा किये विना खुद के दोष ढुंढो और उसे दूर करों इसी में तुम्हारा कल्याण है ।"

लोगोंने देखा कि दूसरे दिन भीखणजी अन्यत्र चले गये हैं। पूज्यश्रीने लोगों के आगे भीखणजी के बारे में स्पष्टीकरण किया। सभी ने पूज्यश्री की बातों से संतोष व्यक्त किया।

चातुर्मास पूर्ण होते पूज्यश्रीने नागौर की ओर विहार किया।

●
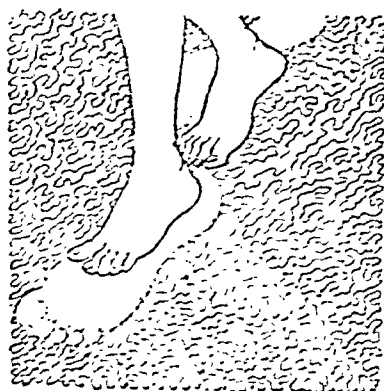
विहार कर देना ही उचित समझा। कुछ संतों की राय हुई कि कांठा के क्षेत्र की ओर विहार किया जाय और वहाँ अपना प्रभाव जमाया जाय।

किन्तु कुतंत्र से बना यह संघ लंबा नहीं चला। वखतोजी, गुलाबजी, द्वितीय भारमलजी, रूपचन्दजी और प्रेमजी ने उन्हें साथ देने से इन्कार कर दिया। थिरपालजी और फतेहचन्दजी (पिता-पुत्र) अन्यत्र चातुर्मास के लिये चले गये।

चातुर्मास का समय निकट होने से भीखणजी ने चातुर्मास बाद पुनः चर्चा और विचार करेंगे कह टोकरजी, हरनाथजी और प्रथम भारमलजी के साथ थिरपालजी के सुझाव पर मारवाड उतरकर मेवाड के सिरीयारी घाट पार कर कहीं पर चातुर्मास करने का विचार किया। वे अंत में केलवा पहुँचे। †

चातुर्मास के बाद वापस वे तेरह मिले। लोगों का अपनी और अनादर और गौचरी के संबंध में जो कठिनाइयाँ प्रत्यक्ष रूपसे व्यवहार में आती हैं इस बात का अनुभव करके वखतोजी और गुलाबजी उनसे अलग हो गये।

रूपचन्दजी ने भीखणजी के दया-दान संबंधी विचार सुनकर बडा आश्चर्य प्रगट किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा : "गौचरी के कुछ बातों का प्रश्न है वहाँ तक तो हम तुम्हारे साथ थे। हम विरोध करते हैं वैसा पाठ भी शास्त्रों में गौचरी संबंधी आता है। किन्तु दया-दान संबंधी तुम्हारी धारणायें गलत हैं।"

---

† उस समय तक भीखणजी थिरपालजी के साथ रहने से वहाँ के लोगों में यह भ्रम फैला रहा कि वे पू. जयमलजी के संत हो गये हैं। उस समय उनकी वेशभूषा स्थानकवासी साधुओं की थी। वर्तमान तेरापंथी वेशभूषा (लम्बी मुँहपत्ति) तीसरे या चौथे तेरापंथी पट्टाधिकारी के समयही परिवर्तित हुई है। राजनगर न पहुँचकर केलवा क्यों गये और वहाँ पर भी उन्हें क्यों उपाश्रय या स्थान नहीं मिला यह अपने आप बहुत कुछ स्पष्ट करता है। इतना ही नहीं राजनगर के श्रावकोंने कथित 'भिक्षु-निष्क्रमण' का स्वागत कर उन्हें क्यों विनति नहीं की इस पर से राजनगर के श्रावकों से भीखणजी को ज्ञान-बोध होने की बात कितनी विसंगत लगती है यह स्पष्ट है। साथ ही साधु श्रावकों से बोधि प्राप्त करे ऐसा भीखणजी को बताना स्वयं ही उनकी महत्ता तेरापंथी इतिहासकार कम करते हैं ऐसा स्पष्ट विदित होता है। लेकिन अपने पूर्वजों के बारे में तेरापंथी इतिहासकार के इस कथन में कोइ शंका नहीं हैं कि श्रावकों से भीखणजी को बोधि हुई किन्तु यह भी कडवा सत्य है कि उन श्रावकों को (गुरु) भी दान देना सावद्य (पापकारी) क्रिया है यही भीखणजीने कहा। वास्तव में उनसे और अधिक आशा रखना भी व्यर्थ है।

"सो कैसे ?" भीखणजी ने पूछा।

रूपचन्दजी ने कहा : "यदि दया करना सावद्य है तो भगवान महावीरने गोशालक पर फेंकी गई तेजो लेश्या का क्यों निराकरण किया और वे यह भी जानते थे कि गोशाला उनका विरोध करनेवाला है।"

"वे छदमस्थ थे।" भीखणजी ने कहा।

"छदमस्थ अवस्था में होते हुए भी साधु थे न और चार ज्ञान के संपूर्ण धारक थे।" रूपचन्दजी ने कहा।

"वे छदमस्थ थे, केवली नहीं थे अतः जानने पर भी चूक गये।" भीखणजी ने कहा।

रूपचन्दजी ने कहा "वे चार ज्ञान के धारक थे उनकी भूल हो गई ऐसा कहते हो, उन्हें छदमस्थ चुका हुआ वताते हो तो तुम कितने ज्ञान के धारक हो ?"

भीखणजी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। फिर भी वे अपने कुतर्क से वापस हटना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा : "वे उस समय केवली नहीं थे, छदमस्थ थे और उनसे चूक हो गइ ऐसा मैं मानता हूँ तो उस में क्या भूल है ?"

रूपचन्दजी ने प्रतिकार करते हुए कहा : "भीखणजी! तुम दो ज्ञान के अपूर्ण धारी होकर, संपूर्ण चार ज्ञानधारी की भूल-चूक निकालने बैठे हो, यह तुम्हारी भूल है।"

"मैं तो शास्त्रों की वात करता हूँ और केवली की वातों को छोडकर किसी भी वात को सत्य नहीं समझता!" भीखणजी ने कहा।

रूपचन्दजी ने कहा : "तो तुम भगवान महावीर को नहीं मानते।"

"उन्हें मानता हूँ लेकिन उनकी छदमस्थ अवस्था को छदमस्थ और केवली अवस्था को केवली अवस्था मानता हूँ। और गौशालक पर दया दिखाने में भगवान चूके ऐसा मैं मानता हूँ! [†] भीखणजी ने कहा।

---

† भीखणजी की परिपाटी में यह बात उनके सभी उत्तराधिकारी कहते आये हैं। वर्तमान में उनके श्री तुलसी आचार्य का संवत्सरी के दिन प्रवचन सुनने का हुआ, वहाँ पर ये भी "महावीर भगवान को चूका" वताने से नहीं चुके थे।
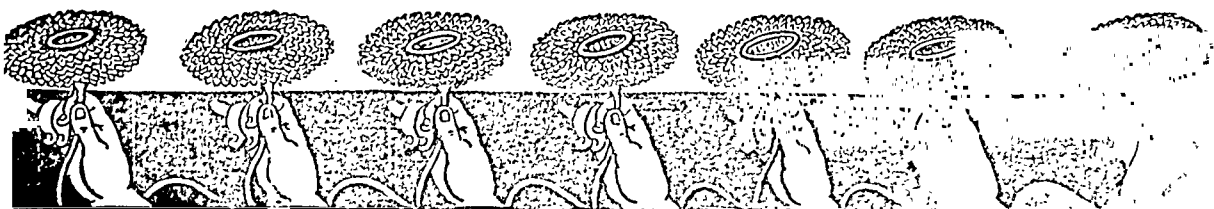
रूपचन्दजीने कहा : “ मैंने अधिक शास्त्र तो नहीं पढ़े हैं लेकिन तुम केवली की बातों को सत्य मानते हो तो भगवान महावीरने आचारांग सूत्र प्रथम के अध्ययन ९ उद्देश ४ और गाथा १५ में बताया है कि “हे गौतम ! मैंने दीक्षा लेने के बाद स्वयं पाप किया नहीं, औरोंसे पाप कराया नहीं और करते हुए को भला माना नहीं ! इससे तो भगवान की गोशालक पर की अनुकंपा को कैसे “चूक गये” बता सकते हो ? यदि किसी केवलीने अथवा भगवान महावीरने स्वयं केवली होने के बाद वह उनकी छद्मस्थ अवस्था की चूक हुई ऐसा कहते हो तो भी उपयुक्त माना जा सकता है। किन्तु वहाँ तो स्वयं भगवान महावीरने केवली बनने के बाद गौतमस्वामी को अपनी छद्मस्थ अवस्था को निष्पाप बताया है। तब तुम्हारे मत के अनुसार भगवान महावीर केवलीपने में भी चुक गये ऐसा सिद्ध होता है। यह तुम्हारा अज्ञान है और आगमो पर अश्रद्धा है।”

भीखणजी के पास उसका उत्तर न था। रूपचन्दजी ने कहा : “तुमने अपने गुरु की निंदा कर दोष किया है, तुम अपने देव भगवानों को भी चूके हुए बताते हो और साथ २ जिन आगमों ने दया-दान का सूक्ष्म वर्णन किया है उसका भी मनचाहा अर्थ बटाकर उनको भी अशुद्ध बताते हो, अतः तुम्हारा साथ मैं नहीं दे सकता। तुम जैसे अल्प ज्ञानी के कारण धर्म गुरु-देव की निंदा करनेवालों में मेरा भी नाम आयेगा अतः तुम जैसे के साथ रहने से मुझे जो दोष लगा है उसका आत्मसाक्षी से मैं पश्चाताप करता हूँ।”

ऐसा कहकर रूपचन्दजी, प्रेमजी, बड़े भारमलजी (द्वितीय) उनसे अलग हो गये। † [1] रूपचन्दजी उसके बाद गुजरात देशकी ओर गये। वहाँ उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया।

† ऐसी भी एक मान्यता है कि बखतोजी, गुलाबजी, भारमलजी बडे, रूपचन्दजी, और प्रेमजी कभी भीखणजी साथ नहीं रहे। तेरापंथ के शासन प्रभाकर ग्रंथ में भी वैसा उल्लेख है। रूपचन्दजीने सर्व प्रथम लोगों के आगे भीखणजी को स्पष्ट रूप से रखा कि वह “ तीर्थंकारों को 'चूका' कहनेवाला व्यक्ति है।” मुनिश्री रूपचन्दजीने गुजरात जाकर धर्म ग्रंथों का अभ्यास किया और उनके शिष्य मुनि जेठमलजीने तेरापंथ सिद्धांतो का भण्डाफोड करते हुए “समकित सार” ग्रन्थ लिखा। सन १८३७ में पूज्य रघुनाथजी पालनपुर पधारे उस समय मुनि रूपचन्दजी उनसे पुनः मिल गये।
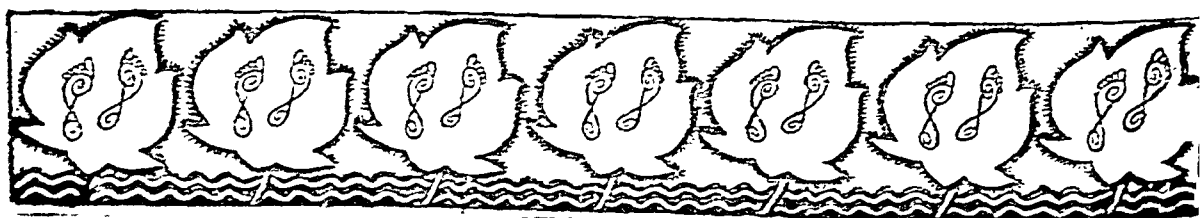
संत गण बताये हुए साधुमार्ग पर ही चलने का प्रयत्न करते हैं। कई बार अपवाद भी होते हैं और उस समय "गौचरी" ले लेना, या अन्य बातों में अपवाद का सहारा लेना शिथिलाचार नही कहलाता। यह अवश्य है कि वह अपवाद का ही मार्ग है, वह नित्य साधु जीवन का व्यवहार नहीं बनता।

आगमों में जहां स्थान २ पर हिंसा नहीं करने का विधान है वहां पर जीवरक्षा करने का उल्लेख है। प्रश्न व्याकरण सूत्रमें स्पष्ट कहा है कि भगवान महावीरने सब जीवों की रक्षा के लिये प्रवचन प्रगट किया। उनके प्रवचन सुनकर कई राजाओं ने अपने राज्य में जीव-हिंसा नहीं करने का पडह बजवा दिया।

उत्तराध्यन सूत्र के बाइसवें अध्ययन में कहा गया है कि असीम अनुकंपा के धारक नेमीनाथ भगवान परजीवितव्य के लिये (अपने विवाह में भोज के लिये जीवों की हिंसा न हो) एतदर्थ तोरण द्वारसे लौट गये।

उत्तराध्ययन सूत्र के १३ वें अध्याय में चितमुनि और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का अधिकार चलता है जिसमें चित्तमुनि राजाको कहते हैं कि : "यदि भोगों को सर्वथा छोडने में समर्थ न हो तो तू दया, प्रेम, उपकार आदि आर्य कर्म कर। धर्म में आत्मा को स्थापन कर जीवों की दया (रक्षा) कर, प्रजा पालन करेगा तो भी देवलोक में जायेगा।

भगवती सूत्र में भी पुण्यप्रकृति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की अनुकंपा (दया) करने से शातावेदनीय (पुण्यप्रकृति) का बंध होता है।

उत्तराध्यायन सूत्र के २१ वें अध्याय की १३ वी गाथा में भी भगवानने कहा है कि सर्व जीवों पर दया अनुकंपा करो।

इस दयामय प्रधान धर्म की निंदा करनेवाला अनार्य है ऐसा द्वीतिय सूयगडांग सूत्र के अध्ययन ६ की गाथा ४५ में कहा गया है।

जिनेश्वर भगवानने नवप्रकार से हिंसा नहीं करने का कहा है वैसे नवप्रकार से दया करने का भी विधान बताया है। उस दया को सावद्य बताना महा-मूर्खता है।
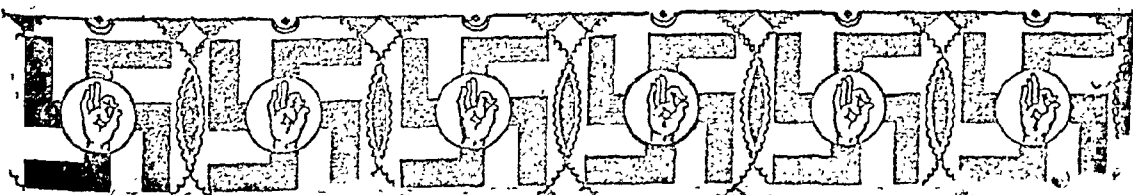
इधर इतनी सारी घटनायें हो चुकी थीं किन्तु उससे करीब २ अनभिज्ञसे पूज्यश्री जयमलजी म. सा. बीकानेर चातुर्मास में धर्मज्ञान का प्रचार करते हुए चातुर्मास में धर्म जागृति ला रहे थे।

इस बार लोग उनको सामने लिवाने आये थे। उनके बीकानेर क्षेत्र का रास्ता विहार के लिये चालु कर देने से उनके साथ मुनिश्री गोवरधनजी, मुनिश्री वीरजी, आदि कुल ठाणे ५ का बीकानेर को लाभ मिल रहा था। साथ २ आर्या सुजाणोजी आदि ठा. ६ का भी लाभ मिल रहा था।

इसवार दीवान बंधु, रामकुंवरबाई और बीकानेर नरेश के साथ लोगों के धर्मध्यान का उत्साह बडे ज़ोरों का रहा। संत-सतियों के चातुर्मास में ३०-३१ उपवास तक की तपस्यायें हुई।

चातुर्मास की सफलता स्वरूप पांच भाई और छ बहिनोंने भावसंयम लेने का निश्चय किया। बीकानेर नरेशने अपनी ओर से दीक्षा समारोह धूमधाम से मनाने का निर्णय जाहिर किया।

बाहरगांव के आसपास से कई श्रीसंघ आये और ११ जनों की दीक्षा धूमधाम से हुई। बीकानेर चातुर्मास की यह सफलता थी उससे अधिक उल्लेखनीय बात यह थी कि वहाँ के क्षेत्र में साधुमार्गीय धर्म के संस्कारों का गहरा सिंचन होता था।

चातुर्मास समाप्ति पर १० संत और १२ सतियों के विशाल संत समूहने विहार किया तो वह भी अपूर्व द्रश्य बन गया था।
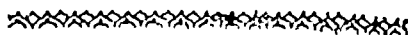
जिस प्रकार दया का शास्त्रों में उल्लेख आता है और मेघरथ राजा, धर्मरुचि अणगार, नेमिनाथ भगवान, पार्श्वनाथ भगवान आदि के द्रष्टांत मिलते हैं इसी प्रकार दान देने का उल्लेख भी मिलता है।

तीर्थंकरों के बारे में कहा गया है कि दीक्षा लेने के पूर्व वे एक वर्ष तक निरंतर दान देते रहते हैं। ठाणांग सूत्र में पुण्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि अन्न देने से, पानी पिलाने से, स्थान देने से, बिछौना देने से, वस्त्र देने से, मन से किसी का भला चाहने से, वचन हितकारी बोलने से, शरीरद्वारा परोपकार करने से, नम्रता भाव से सत्कार से पुण्य होता है।

सूयगडांग सूत्र प्रथम, अ. ११ गाथा २० में कहा गया है कि जो दान निषेध करता है वह वृति छेदक एवं पापी और अन्तराय कर्म का बांधनेवाला होता है।

तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन करते हुए भगवती सूत्र के २ शतक और उद्देश ५ में बताया गया है कि तुंगिया नगरी के श्रावकों ने दान देने के लिये घर के दरवाजे खुल्ले रखे थे।

प्रश्नव्याकरण सूत्र के आश्रवद्वार (२-३) के वर्णन में ऐसा कहा गया है कि "किसी की आजीविका का नाश करनेवाला और अमूक को एक ग्रास भी दान मत दो ऐसा कहनेवाला असत्यभासी और चोर है।"

इस प्रकार अनेकानेक सूत्रों के पाठ का हवाला देकर पूज्यश्री जयमलजी म. सा. दया-दान आदि के बारे में लोगों को स्पष्टीकरण करते थे। लोग सत्य समझकर भीखणजी के कुविचार और कुतर्कों के घातक परिणाम जानकर ऐसे संत सम्प्रदाय में रहे उसे उचित नहीं मानते थे।

पूज्यश्री जयमलजी का विचरण नागौर के आसपास के क्षेत्रों में होता रहा और चातुर्मास के बहुत दिन पूर्व उन्होंने बीकानेर क्षेत्र के अन्यान्य गांवों को लाभ देना शुरु किया। पीछली बार वे उन गांवों में कम ठहरे थे वहाँ उन्होंने अधिक समय ठहर कर लोगों में धर्म जागृति ला दी।

६०

जय - स्थली गुण धर्म प्रचार
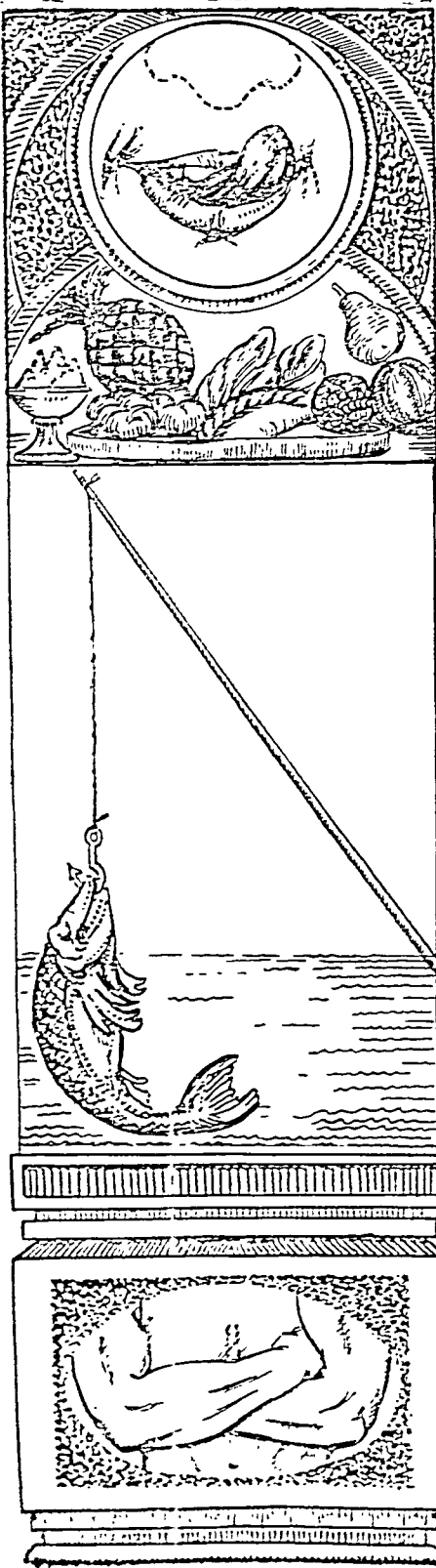
बीकानेर चातुर्मास के समय स्थली प्रदेश, चुरु फतेहनगर आदि प्रदेशों के लोगों का बडा आग्रह था कि इसबार तो कमसे कम उन प्रदेशों में पूज्यश्री अपने शिष्यों सहित पधारें और धर्म प्रचार करें। चुरु और स्थली का प्रदेश अलग पड जानेसे सामान्यत: वहाँ जैन संतों का आवागमन कम होता था। ऐसे प्रदेशों में जाकर धर्म प्रचार किया जाये ऐसी पूज्यश्री जयमलजी की हमेशा प्रबल भावना रहती थी।

उस समय वहाँ पर पूज्यश्री आदि दश संतों का विचरण हो रहा था और साध्वीश्री सुजाणाजी आदि बारह सतियों ने भी धर्म जागृति अच्छी की थी। संतों और सतियों के सिंघाडे अलग २ विचरण कर गांव २ और नगर २ में धर्म प्रचार कर रहे थे। कई ऐसे भी गांव थे जहाँ साधुमार्गीय जैन संतों का आवागमन वर्षों से नहीं हुआ था।

पूज्यश्री जयमलजी का यह ध्यान हरदम रहता था कि वहाँ के लोगों में स्थायी रूपसे धर्म संस्कार भर जाँय। इसलिये वे वहाँ के लोगों को सामायिक-संवर, प्रतिक्रमण व्रत उपवास पौषध आदि दैनिक धर्मकार्य के पीछे क्या आत्म जागृति होती है

पूज्यश्री जयमलजी आदि संतों का विचरण बीकानेर की ओर हुआ उसके बाद आचार्यश्री रघुनाथजी म. सा. का विहार सोजत की ओर हुआ। गांव २ में में लोगो को भीखणजी के कुतर्को और कुविचार धारा का विरोध किया और श्रीसंघ के लोगों का इतना दवाव आया कि आचार्यश्री को अब अंतिम निर्णय ले लेना था।

उन्होंने बगडी आकर भीखणजी से खुल्लमखुला चर्चा की और विस्तार से शास्त्रों के पाठों का उल्लेख करके अंतिम बार भीखणजी को समझाने का प्रयत्न किया। किन्तु भीखणजी अपने कुतर्कों पर कायम रहे। ‡1

आचार्यश्री ने जान लिया कि अब इसे सही ज्ञान हो नहीं सकता और इसका कहना समस्त संघ के लिये खतरनाक हो सकता है अतः उन्होंने आज्ञा दी कि : "आजसे तुम हमारे गच्छ के बाहिर हो !"

भीखणजी ने सोच रखा था कि जैसे पहले दो-चार बार प्रायश्चित्त-दंड दिया वैसे आचार्यश्री दे देंगे किन्तु उनके गच्छ-बहिष्कार करके निकाल देंगे ऐसी उन्हे कल्पना तक न थी।

वे वज्राघात हुआ हो वैसे किंकर्तव्य विमूढ से खडे रहे। कुछ देर बाद होश सम्हाल के उन्होंने आचार्यश्री के पैरों में पडकर विनति की : " नहीं, आप ऐसा नहीं करेंगे मैं गच्छ से निकलकर बाहिर जाऊंगा कहाँ ? मेरी कैसी गति होगी। आप सकल संघ के शिरोमणी हो, मुझे अपने चरणों में शरण दीजिये !"

आचार्यश्री रघुनाथजी चुप रहे।

तब भीखणजी ने फिर गदगद होकर कहा : "मैं पुनः कभी ऐसी प्ररूपणा नहीं करूंगा, सारे कुतर्क छोड दूँगा, मगर मुझे अपनेसे अलग न करें !"

आचार्यश्री ने कहा : "अब यह नहीं हो सकता ! तुम्हें दो दो बार दंड दिया, साथ में रहकर समझाया, जयमलजी के पास रखा फिर भी तुम्हारे विचार और तर्कों में कोई

---

1. इसका विस्तारसे वर्णन श्री रघुनाथ चरित्र में मिलता है।
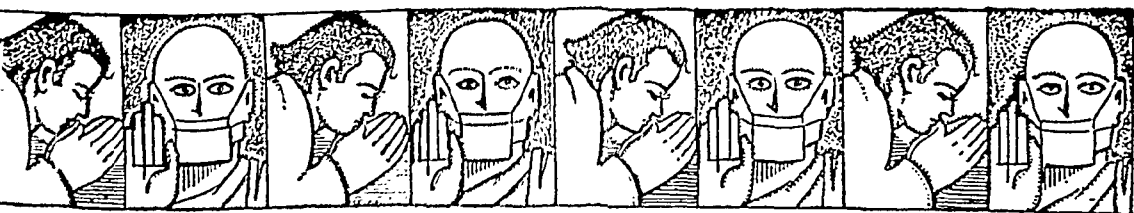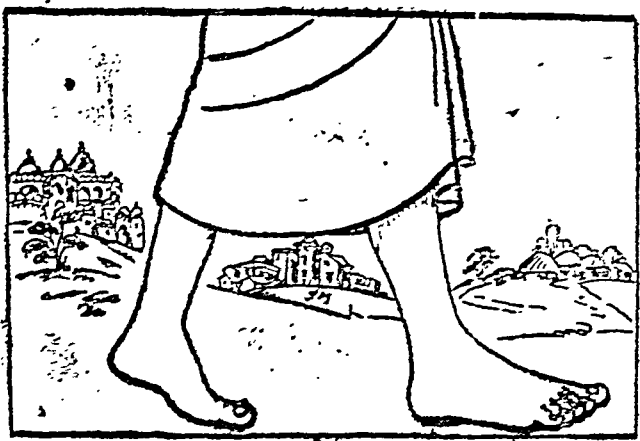
वह बताते थे। उनके साथ के संत और सतियों के सिंवाडों का भी यह क्रमसा बन गय था कि जो धर्म पाठ और धर्म क्रियायें चलती थीं उसे वे विकसितऔर स्थिर करें। स्थली के प्रदेश में उस समय धर्मकी लहर सी दौड गई थी। प्रातः प्रवचनों में पूज्यश्री मधुर धर्म वाक्यों से लोगों के हृदय में धर्म भावना भरते थे; मध्यान्ह में पठन-पाठन से अनेकों को धर्म पाठ पक्का कराते थे और रात्रि को धर्म कथायें सुनाकर धर्म के संस्कार और भी द्रढ करते थे। साधुमार्गीय जैन धर्म के नये श्रावकों संख्या बढ़ रही थी।

पूज्यश्री विचरण करते संतों के साथ चुरु पहुँचे। लोगों में अत्यंत आनंद छा गया। धर्मध्यान और धर्म प्रभावना बडे ज़ोरों से हुए। सप्ताह सानंद बीत गया और पूज्यश्रीने विहार करने की बात कही तो लोगों का मन उदास हुआ। उन्होंने पूज्यश्री को विशेष ठहरने के लिये साग्रह विनति की।

पूज्यश्रीने कहा :—"हम तो धर्म की भावना विशेष बढे तो और ठहर सकते हैं।"

फलस्वरूप बहुतसे नये जैन-साधुमार्गीय जैन श्रावक बने। उन्होंने आत्म पहेचान स्वरूप सम्यकत्व को धारण किया। बहुतोंने नियमित रूपसे सामायिक-प्रतिक्रमण एवं बारतिथि के अनुसार व्रत उपवास करने की प्रतिज्ञायें लीं।

इन दिनों उनके प्रवचनों में वे आत्मा के गुणस्थानकों का स्वरूप समझाते थे। आत्मा का क्रमशः कैसे विकास होता है उस पर प्रकाश डालते थे।

चौरासी लक्ष जीवयोनि में जीव की निकृष्टतम स्थिति निगोद अवस्था में होती है। जहाँ सतत जन्म-मरण की गति चलती रहती है। द्रव्य और भावसे आत्मा उसमे विकसित होती रहती है। आत्म गुणका विकास कर चौदह गुणस्थान पारकर जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है।

फर्क नहीं आया है। एक पान विगडता है तो पान की पूरी चोली बिगाड देता है वैसे तुम संतों के लिये हो पडोगे। अतः तुम्हें गच्छ बहार करना ही ठीक है!"

भीखणजी के नेत्रों से आँसू बहे जा रहे थे। इसे देख कुछ संतों ने आचार्यश्री से विनति की कि उन्हें पुनः रख लिया जाय किन्तु आचार्यश्री रघुनाथजी ने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा: "तुमको भी भीखणजी के साथ जाना हो तो तुम भी जा सकते हो!"

अब अन्य संत चुप हो गये। भीखणजी नत मस्तक होकर खडे हो गये। लोगों में यह बात फैल गई कि आचार्यश्री ने भीखणजी को अलग कर दिया है।

आचार्यश्री ने वहाँ से विहार किया और बगडी के बाहर चंदावत के मार्ग पर जाने के लिये अग्रसर हो रहे थे कि सहसा ज़ोर की आंधी चलने लगी। अतः सभी संतों के साथ वे जेतसिंहजी की छतरी थी वहाँ पर थोडी देर के लिये विराजे।

यहाँ पर पुनः भीखणजी ने आकर चरणों में गिरकर प्रार्थना की: "गुरुदेव! मुझे इस बार क्षमा कर दीजिये!"

आचार्यश्री ने कहा: "मैंने तुम्हें अलग कर दिया है अब वापस नहीं ले सकता। तुम सुधर सकोगे ऐसा मेरा विश्वास उठ गया है।"

भीखणजी ने इस बार कहा: "ऐसा न सोचें कि मैं अकेला हो जाऊंगा, मेरे साथ और भी अलग हो जायेंगे।

ऐसा कहकर उन्होंने उन संतों के नाम बताये जो उनके साथ होनेवाले थे।† आचार्यश्री ने बडी शांति से वे नाम सुने और उन्होंने कहा: "तुम्हारे साथ ये सभी संत हैं तो इन सबको मैं गच्छ से अलग करता हूँ। आज तक तो अलग टोले बनाने की बातें तुमने दूसरों के नाम से चलाई है किन्तु वास्तव में तुम ही अपनी अलगता बनाना चाहते हो

---

† उन दिनों में "वासी" और "कुह्य" गौचरी के लिये संतों में विवादसा था और कालवादी आहार के विरुद्ध भीखणजी के साथ कई संत साथ देने तैयार हुए थे किन्तु उन में से बहुतोंने उनको छोड दिया।

(२) **सास्वादन गुणस्थानक** :—आत्मदर्शन होने पर जीव चौथे अविरति स॰ द्रष्टि गुणस्थानक तक पहुँचे जाता है किन्तु उस में स्थिर हुए बिना जब वह वापस नं. उतरता है तो पुनः पहले गुणस्थान में पहुँचने के पहले उसे आत्मदर्शन का जो संक्षिप्त स्मर॰ रहता है उसे सास्वादन गुणस्थानक कहा जाता है। जैसे खीर खाकर वमन करने पर भी खीर का स्वाद रह जाता है वह अवस्था सास्वादन गुणस्थानक में जीव की होती है कि आत्मा को सम्यगदर्शन का आस्वाद एक समय से छ आवली तक अधिक से अधिक इस गुणस्थानक में रहता है।

(३) **मिश्र गुणस्थानक** :—जीव को आत्मदर्शन होता है फिर भी जीव उस पर स्थिर रहता नहीं और वापस लौटकर पहले गुणस्थानक में पहुँचता है। आत्मदर्शन होते जीव की स्थिति भ्रमित सी होती है वह आत्मा को मानता किन्तु अंत में शरीर को ही

यह स्पष्ट हो गया है। तुम सभी श्रमण संघ में रहने के लायक नहीं हो अतः तुम सबोंको मैं अलग करता हूँ !"

आचार्यश्री का द्रढ स्वर सुनकर भीखणजी स्तब्ध से खडे रह गये। आंधी रूक गई थी अतः आचार्यश्री रघुनाथजी ने वहाँ से विहार किया।

जैतसिंहजी की छतरी में भीखणजी के साथ जो संत ठहर गये वे थे टोकरजी, हरनाथजी, भारमलजी, और कृष्णोजी। कृणोजी भारमलजी के पिता (संसार पक्ष के) थे।[1] वे वृद्ध और अनुभवी थे। उन्होंने भीखणजी को उनके कुतर्कों के लिये उपालंभ दिया। उन्होंने वहाँ से पूज्य रूघनाथजी के पास चले जाने के लिये आग्रह भी किया किन्तु उनके पुत्र भारमलजी के कहने पर वे चुप रहे।

इधर छतरी में कई लोग देखने आये कि क्या हुआ है। उनकी ओर से भीखणजी का कोई मान-पान नहीं हुआ, न किसी ने कहा कि आप वापस स्थानक में पधारो। अतः भीखणजीने वहाँ से विहार किया।

उसी समय श्रीसंघ ने सर्वत्र यह समाचार भेज दिये कि "भीखणजी और उनके साथवाले अन्य संतो को आज्ञा के बाहिर कर दिया गया है। अतः उनको किसी भी स्थानक में ठहराना, व्याख्यान दिलाना आदि सेवायें सार्वजनिक रूप से श्रीसंघ न करें। व्यक्तिगत रूप से कोई अपने मकान में ठहरावें तो अलग बात है !"

भीखणजी ने रास्ते में मिले बहुतसे सतों के साथ "गौचरी" आदि के मतभेद को लेकर हम पूज्य जयमलजी को मानते हैं ऐसा प्रचार करना शुरु किया। किन्तु सर्वत्र उन्हें गच्छ बहार निकालने की बात फैल चुकी थीं इतना ही नहीं उनके दया-दान विरोधी विचार भी लोग जान चुके थे। अतः जहाँ २ वे जाते थे लोग उनका अनादर करते थे।

---

1 तेरापंथी इतिहास के अनुसार भीखणजी सहित पांच संत थे। लिखित चातुर्मासों की तालिक के अनुसार वीरभाणजी उस समय वहाँ नहीं थे। कृष्णोजी को आगे जाकर पूज्य जयमलजी के संतों सोंप ऐसा उल्लेख मिलता है अतः पांच संतों में कृष्णोजी का होना अधिक उपयुक्त है।
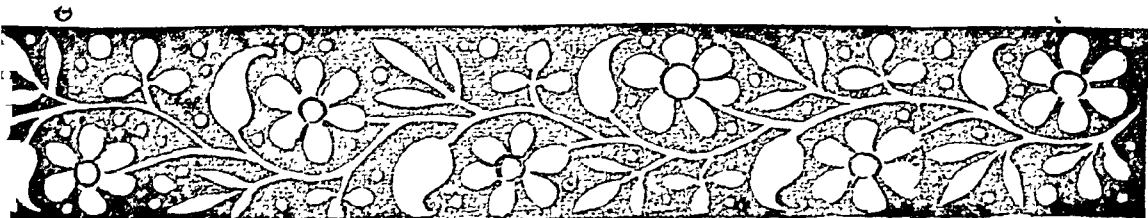
आत्मा मानता है। जीव और शरीर दोनों को समान स्वीकारने की यह स्थिति मिश्र गुणस्थानक है।

(४) अविरति सम्यक द्रष्टि गुणस्थानक :——जीव को इस गुणस्थानक में आने पर बोध होता है कि "आत्मा स्वतंत्र है, शरीर जडसे पृथक है।"

इस दशा में स्थिर होने के लिये जीव को दर्शन मोहनीय कर्म की (१) मिथ्यात्व (२) सम्यग् मिथ्यात्व (३) सम्यकत्व और चारित्र्य मोहनीय कर्म की अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सातों प्रकृतियों का उपशम करना पडता है।

इससे उसे प्रथम औपशमिक सम्यगदर्शन प्राप्त होता है। यह सम्यगदर्शन यानी आत्मा की अनुभूति उसे अन्तमुहूर्त के लिये होती है और पुनः तीसरे, दूसरे और पहले गुणस्थानक में जीव पहुँच जाता है।

मगर इस गुणस्थानक में एक बार आया हुआ जीव पुनः सम्यगदर्शन आत्मदर्शन पाने का प्रयत्न करता है। आत्मदर्शन पाता है और खोता है, यों इन सातों का क्षयोपक्षम चलता रहता है जिसकी स्थिति अन्तमुहूर्त से लेकर ६६ सागरोपम तक रहती है। इस में जीव देव और मनुष्य भव करता है।

जब इन सातों प्रकृतियों का क्षय हो जाता है तब जीव क्षायिक सम्यक द्रष्टि बन जाता है और उसके बाद चौथे भव में उसकी मुक्ति अवश्य हो जाती है।

प्रथम और चौथे गुणस्थानक में जीव की बाह्य क्रियाओं में समानता दिखने पर भी प्रथम में स्व-तत्त्व आत्मा की पहेचान नहीं होती और वहाँ जीव शरीर पुद्गल को ही सब कुछ मानता फिरता है तब चौथे गुणस्थानक में जीव के अंतरंग में स्पष्ट होता है कि आत्मा और शरीर पृथक हैं और जीव को अपनी उन्नति के लिये कुछ करना है।

चारित्र्य मोहनीय की तीव्रता के कारण जीव इस गुणस्थानक में कोई व्रत नियम नहीं कर पाता किन्तु अपनी कर्म पराधीन दशा का उसे स्पष्ट खयाल रहता है और वह उनसे ऊपर उठने का प्रयास करता है।

भीखणजी आदि संतों को उतरने के लिये स्थानक नहीं मिलने लगा। फलत; उन्होंने 'स्थानक' सदोषी है, साधुओं को उस में उतरना नहीं कल्पता और उस में ठहरते वे साधु नहीं हैं ऐसी प्ररूपणा वे करने लगे।

कृष्णोजी का हर बार उन्हें उपालंभ मिलता रहता था कि "तुम स्वयं डूबने जा रहे हो, मुझे और भारीमल को भी डूबाओगे।" भारीमलजी की उम्र उस समय अधिक न थी। कृष्णोजी की बातों का कड़वा सत्य भीखणजी को अखरता था।[1] उनसे कैसे भी पिंड छूटे यह उनके मन में था। कृष्णोजी अक्सर ऐसा कहा करते थे कि यदि पूज्य जयमलजी के संत मिल जाँये तो मैं उनके साथ हो जाऊँ।

भीखणजी का विहार जोधपुर की ओर हुआ। वहाँ आसपास के प्रदेशों में उनके साथ मिलनेवाले और भी विचरण करते थे। मार्ग में पूज्य जयमलजी म. सा. के संत मिले। कृष्णोजी ने भीखणजी को भलाबूरा सुना के उन संतों से आग्रह किया कि वे उनको अपने साथ रख ले। केवल अपने पुत्र भारीमल के किंचित मोह के कारण वे उनके साथ थे। उन्होंने भारीमल को भी बहुत समझाया कि जिसने गुरु से सही ज्ञान प्राप्त नहीं किया ऐसों के साथ जाने से दुःखी होगा। किन्तु भारीमल को भीखण के साथ ही रहते देख कृष्णोजी पुत्र मोह त्याग स्वयं उनसे अलग हो गये और पूज्य जयमलजी म. सा. के संतों के साथ हो लिये।[2]

---

1 इसीलिये उन्हें क्रोधी कहकर पूज्य जयमलजी के अन्य संतों को सोंप दिया गया था।

2 तेरा पंथी इतिहासकार ऐसा उल्लेख करते हैं कि भीखणजीने कृष्णोजी को पूज्य जयमलजी को सोंपा। किन्तु उस समय पूज्यश्री बीकानेर की ओर विचरण करते थे। पहले तो कहाँ से कृष्णोजी को लेने के लिये वहाँ रहना कालगणना से बैठता नहीं है जो मनगढंत है और दूसरा जब भीखणजी को संघ बहार किया गया फिर उनसे मिलना भी अशक्य है।

ऐसा माना जाता है कि सोजत से भीखणजी जोधपुर गये। उन्हें चै. शु. ९ को पृथक किया गया था। उस समय के पूर्व नागौर में संतों का संमेलन भी हुआ था। अतः बीकानेर के क्षेत्र की ओर पूज्य जयमलजी म. सा. का विहार हो चुका था। वहाँ से वे वापस आये भीखणजी उनसे मिले, उनको प्रभावित किया आदि सारी बातें कपोल कल्पित रूपसे तेरापंथी इतिहासकारने काल गणना, विहार क्षेत्र आदि का विचार किये विना रख दी है।

आत्म विकास का यही प्रथम सोपान है।

(५) देश विरति सम्यग् द्रष्टि गुणस्थानक :——आत्म द्रष्टि प्राप्त होने के बाद जीव अपनी विभाव दशा से अलग होने के लिने प्रयत्नशील बनता है। उसका चारित्रय मोहनीय कर्म का धीरे २ उपशम होता जाता है और वह अंशतः व्रतों को ग्रहण करता है, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का अधिक से अधिक पालन करता हुआ जीव तीन शुभ मनोरथों का चिंतन करता है कि (१) कब मैं सभी प्रकार के, नौ बाह्य और चौदह अभ्यंतर परिग्रह का त्याग करूँगा ? (२) कब मैं पंच महाव्रतधारी साधु बनूँगा ? और (३) कब मैं समाधिमरण को प्राप्त हूँगा !

(६) प्रमत्त संयति (साधु) गुणस्थानक :——देशव्रत का पालन करते हुए जीव उत्कट अनुभूति के साथ घरबार एवं संसार को आत्म साधना में बाधक समझता हुआ जब संयम लेकर पांच महाव्रतों का पालन करता है, पांच इंद्रियों को वश करता है, साधुता के सत्ताईस गुणो के अनुरूप बनने का प्रयत्न करता है इब वह इस गुणस्थानक में पहुँचता है।

किन्तु संयम लेने के बाद भी संज्वलन कषाय और नौ कषायों के उदय से पन्द्रह प्रकार के प्रमादों [१] के कारण उसको प्रमाद दशा रहती है — इसे प्रमत्त संयति दशा कही जाती है। जब जब भी प्रमाद सेवन साधु अवस्था में होता है तब जीव इस गुण स्थानक में रहता है।

(७) अप्रमत्त संयति (साधु) गुणस्थानक :——साधु अवस्था में पंद्रह प्रमादों से दूर रह कर आत्मचिंतन करते हुए जीव उनसे अलग होता है। साधु दिनचर्या में आहार पानी, कथा, निद्रा सेवन आदि बातें प्रमाद के कारण होती है उनसे जब हटा जाता है, जितने क्षण जीव हटता है तब वह इस सातवें गुणस्थानक में पहुँचता है।

(८) नियति बादर गुणस्थानक :——आत्मचिंतन करता हुआ जीव जब अपूर्व विशुद्धि करता है तब उसकी दो श्रेणी होती है :——(१) उपशम श्रेणी, जिसमें जीव क्रमशः

---

१ चार कषाय :- क्रोध, मान, माया और लोभ। चार विकथायें :- स्त्री कथा, देश कथा, भक्त कथा, राज कथा। पांच इन्द्रियों के विषय की और झुकाव (१४) राग भाव (१५) निद्रा।

कपिला पहले तो हिचकिचाई ; मगर वाद में रानी के डपटने पर उसने सारी बात कह दी।

अब रानी हँस पड़ी। उसने कहा :—"कपिला ! तू तो निरी मूर्खा है। ये श्रेष्ठि पुत्र बहुत ही चालाक होते हैं। उसने तुझे धोका देकर झूठ कहा है। बड़ी त्रिया चरित्र के गुण गा रही थी ; लेकिन खुद ही मात खा गई। न तो मनोरमा को कहीं जाते किसी ने देखा है और न ही सुदर्शन के घर कोई पर-पुरुष आता जाता है। फिर ये बच्चे भी तो बाप की ही आकृतिवाले हैं !"

कपिला से भी न रहा गया। उसने कहा :—"मैं तो मात खा गई ; लेकिन इसका अर्थ यह हुआ कि सेठ सुदर्शन को कोई स्त्री वश में नहीं कर सकती है !"

पुरुषों को वश में करना स्त्री के बाँये हाथ का खेल है।" रानी ने कहा।

"बातें तो सब कर सकते हैं ; मगर करके दिखाये तो ही जाने !" कपिला ने पासा फेंका।

"एक वर्ष के अंदर उसे वश में न करके दिखाऊँ तो मेरा नाम अभया नहीं !" रानी ने कहा। कपिला को हर्ष हुआ कि सेठ ने उसको बनाया था, उसका बदला लिया जायेगा।

संसार में विषय - कषाय कितने खराब हैं इससे स्पष्ट होगा। विषय की मारी कपिला ने सुदर्शन को फंसाना चाहा और जब उस में सफल न हुई तो रानी के अभिमान को भड़का कर बदला लेने का विचार करने लगी। यह कषाय जीव को कितना भड़काता है ? 'मान' को रखने के लिये नगर जनों की राज - माता जैसी रानी अपने शील को नष्ट करने के लिये भी तैयार हो गई।

उत्सव पूरा हो गया। नगर जन अपने अपने घरों को लौटे। रानी भी महल को लौट आई। उसने बात बात में प्रतिज्ञा तो कर ली थी मगर उसका पालन कैसे हो....? उस विचार से वह चिंता में पड़ गई। रानी की धायमाता बड़ी चालाक थी। उसने रानी से कारण पूछा और सब बात जानकर आश्वासन दिया कि वह उसका वचन पूरा करने में सहायता देगी।
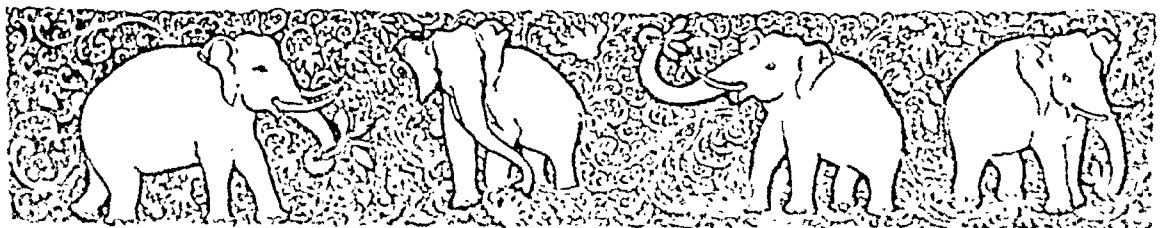
उसने राजा से जाकर कहा कि रानी के तन में ज्वर आया है और उसे कामदेव की पूजा करनी पड़ेगी। अतः पास के मंदिर से कामदेव की मूर्ति रोज लाई जाये। राजा ने आज्ञा दे दी। अब प्रतिदिन एक प्रतिमा आती थी। पहले तो द्वारपाल पूछताछ करते थे; किन्तु महारानी की पूजा के लिये है यह जानकर उन्होंने बाद में पूछना बंध किया। रानी उस प्रतिमा के बहाने सुदर्शन का ध्यान धरती थी।

एक वर्ष बीतने आया।

पुनः कार्तिकी पूनम का उत्सव आया। राजाज्ञानुसार सभी उसमें सम्मलित हुए। सेठ सुदर्शन राजा की आज्ञा लेकर धर्म साधना - करने पौषधशाला में अट्ठम तप करके बैठ गये।

रानी ने उत्सव में सेठ को नहीं देखा और वह जान गई कि सेठ एकांत में व्रत धर्म कर रहे हैं। अचानक ढोंग किया कि उसे कुछ हो रहा है। राजा घबराकर पास में आकर पूछने लगा कि "क्या हुआ.... ?"

रानी ने बनावटी दर्द से कराहते हुए कहा :—"मालूम होता है कि आज कामदेव की पूजा नहीं की है, अतः देव नाराज हो गये हैं।"

"तो वापस लौट कर पूजा कर शाता पाओ!" राजा ने कहा। रानी धाय माँ, दो चार दासी एवं अनुचरों के साथ महल में लौटी। धाय माँ ने छल करके सुदर्शन सेठ को पौषधशाला से उठवाया और कपडों में बंध प्रतिमा जैसे उसे महल में ले आई। अनुचरों के लिये यह प्रति दिन की बात थी अतः वे कुछ नहीं बोले।

इधर रानी अपने रूप सिंगार को स्नान करके सजा रही थी। कामोत्तेजक सुगंधी द्रव्य की महक फैल रही थी। उसका रूप चंद्रमा जैसा चमकता था और काले काले नयन बिजली की तरह चमकते थे। रानी को तो सेठ को जीतना था। इसलिये वह पूरे सिंगार के साथ सेठ के पास आई। उसने सुदर्शन को देखा। सचमुच ही कामदेव के समान रूप था।

रानी ने पास आकर कहा :—"नगर सेठ, आज सौभाग्य से हम मिले हैं! तुम मेरी बात मानोगे तो आजीवन सुख पाओगे। तुम बस, प्रसन्न हो जाओ और मेरे तन की प्यास बुझाओ!"

मोहनीय कर्मों का उपशमन करता है और वह नववें, दशवें और बारहवें गुणस्थानक तक पहुँचता है किन्तु कर्मों का नाश नहीं करने से वह वापस छट्ठे गुणस्थानक को लौट जाता है। (२) क्षपक श्रेणी, जिसमें जीव क्रमशः मोहनीय कर्मों का नाश करता हुआ बारहवें गुणस्थानक में पहुँच क्षायक समकित अवस्था को प्राप्त करता है।

इस गुणस्थानक में, जीव की मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम की पूर्व भूमिका तैयार होती है।

(९) अनियति बादर गुणस्थानक :——इस गुणस्थानक में जीव के परिणाम उंचे उठते हैं और उनमें निवृत्ति या विषमता नहीं पाई जाती। यहाँ पर पहुँचकर क्षपक श्रेणि सभी घाती कर्मों जीव की प्रकृतियों का खंडन करता है। उपशम श्रेणीवाला जीव इस गुणस्थानक में मोह कर्म की एक सूक्ष्म लोभ प्रकृति को छोडकर सभी घाती कर्म की प्रकृतियों का उपशमन करता है। इस में जीव के कर्मों की सिर्फ जो जघन्य स्थिति होती है, वही अंतिम दशा में होती है।

(१०) सूक्ष्म संपराय गुणस्थानक :——इस गुणस्थानक में पहुँचकर उपशम श्रेणी का जीव सूक्ष्म लोभ की जो प्रकृति रहती है उसे और भी क्षीण करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचता है और क्षपक श्रेणीवाला जीव उसका क्षय करता है और बारहवें गुणस्थानक में पहुँचता है।

(११) उपशांत मोहनीय गुणस्थानक :——अप्रमत्त संयती अवस्था के सातव गुणस्थान से उपशम श्रेणी का जीव क्रमशः विकास करता हुआ इसमें पहुँच जाता है। जैसे फिटकरी डालने से जलका कचरा बैठ जाता है उस प्रकार उपशम श्रेणी में शुक्लध्यान से एक अंतमुहूर्त के लिये मोहनीय कर्म के उपशांत हो जाने से जीव में वीतरागता आती है किन्तु इसकी स्थिति अंतमुहूर्त की होने से बाद में उपशम श्रेणीवाला जीव यहाँ से गिरकर पुनः प्रमत्त साधु अवस्था में पहुँच जाता है।

(१२) क्षीण मोहनीय गुणस्थानक :——क्षपक श्रेणीवाला जीव मोहनीय कर्म के सूक्ष्म लोभ का क्षय करके, शुक्लध्यान के दूसरे भेद को प्राप्त करता हुआ ज्ञानावरणीय, दर्शना-

तेसठ　बंध　तणो　रे　लाल
प्रत्याख्यानी　टल्या　चार　हो....भविकजन
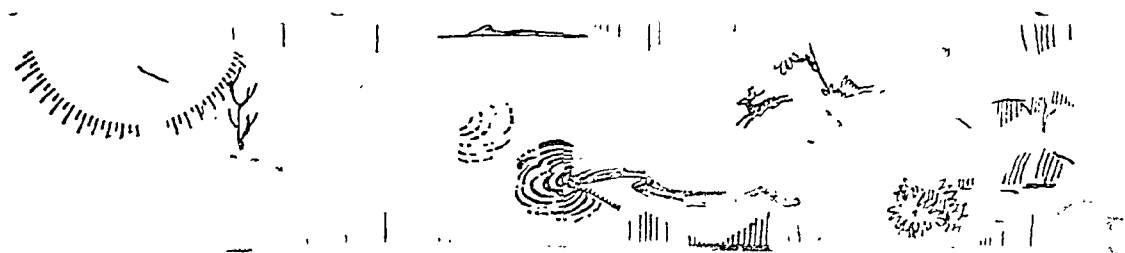
इक्यासीनी　उदय　उदीरणा　रे लाल
सित्यासी　माँ　सु　छे:　टाल हो....भविकजन

तिर्यंच　गतिनो　आउखो　रे　लाल
नीच　गोत्र　उद्योत　हो....भविकजन

प्रत्याखानी　चोकडी　रे　लाल
आहारक　अंगोपांग　होत　हो....भविकजन

वरणीय और अंतराय इन सभी घाती कर्मों का नाश करता है और उसे केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त होते हैं, वह केवली बनता है और साथ ही तेरहवें गुणस्थानक में पहुँच जाता है। उपशांत मोहनीय और क्षीण मोहनीय की स्थिति अंतमुहूर्त की होने से जीव एक में नीचे उतरता है और दूसरे में क्षीण मोहनीय में ऊपर के गुणस्थानक में पहुंच जाता है।

(१३) सयोगी केवली गुणस्थानक :—चार घनघाती कर्मों का नाश करने से जीव को अरिहंत-केवली की दशा प्राप्त होती है। जीव को तीर्थंकर नाम कर्म होने से वह तीर्थंकर भी कहलाता है। योग बना रहने से सयोगी अवस्था जीव की रहती है।

इस अवस्था में जीव को नव लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के नाश से अनंतज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के नाश से अनंत दर्शन, मोहनीय कर्म के नाश से अनन्त सुख और क्षायिक समकित एवं अन्तराय कर्म के नाश से अनंतदान, अनंतलाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग और अनंतवीर्य की प्राप्ति होती है।

कैवल्य प्राप्त होने से अष्ट महाप्रतिहार्य और समोवसरण रचना प्रगट होती है।

(१४) अयोगी केवली गुणस्थानक :——जब केवली भगवान की आयु अंत-मुहूर्त प्रमाण शेष रह जाती है और वे अ, इ, उ, ऋ, लृ इस प्रकार पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण जितने समय में शेष चार कर्मों की बाकी प्रकृतियों का क्षय करते हैं, तीर्थंकर होते हैं तो एक अधिक कर्म प्रकृति का क्षय करते हैं। इस अल्प समय को अयोगी केवली गुणस्थानक कहा गया है। पश्चात सभी कर्मों का नाश कर सारे योगों को त्याग कर केवली का जीव मुक्ति में पहुँच जाता है।

पूज्यश्रीने इस प्रकार गुणविकास और गुणस्थानक का विवरण बताते हुए लोगों को आत्म जागृति लाने के लिये प्रेरित किया।
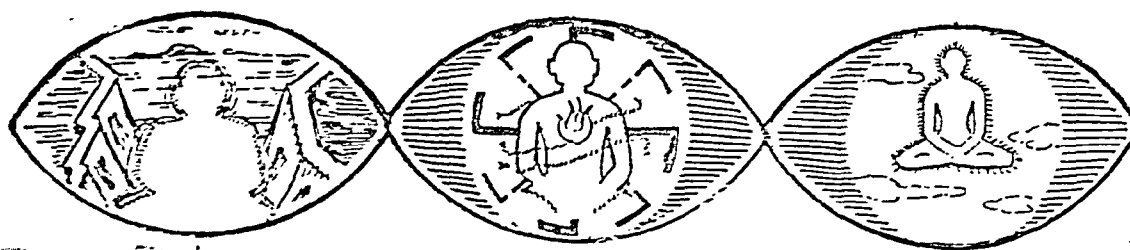
ये दोष माही मिल गया रे लाल
पाछली आठ घटाय हो....भविकजन

पाँचवा जिम सत्ता कही रे लाल
सात में गुणसठ बंधाय हो....भविकजन

शोक अरति अशुभ अस्थिरा रे लाल
अजस असाता टाल हो....भविकजन

तेसठ माँसु काढिये रे लाल
अहारक अंगोपाँग छाल हो....भविकजन

देवायु नहीं तो अठावन रे लाल
उदय छियोत्तर होय हो....भविकजन

साता असाता आयु काढिये रे लाल
सत्ता पूरवी रीत जोय हो....भविकजन

बंध :- सातवें अप्रमत्त संयत गुण स्थान में '५९ प्रकृतियोंका बंध होता है वह इस प्रकार है :- छट्ठे गुण स्थान में ६३ प्रकृतियो का जो बंध है उनमें से शोक मोहनीय, २ अविरति मोहनीय, ३ अस्थिर नाम, ४ अशुभ नाम, ५ अयश नाम, ६ असाता वेदनीय इन छः प्रकृतियों को कम करना तब बाकी रही ५७ उनमें आहारक शरीर नाम, २ अहारक अंगोपांग नाम इन दो प्रकृतियो को मिलाने से ५९ हुई इनका बंध होता है परन्तु सामान्य तथा इस गुण स्थान में किसी भी आयु य का बंध नहीं पड़ता यदि छट्ठे गुणस्थान में देव आयु के बंध की शुरुआत कर दी हो और बंध काल में सातवाँ गुण स्थान आय तो उस देवआयु का बंध यहाँ पूर्ण कर देता है इस रीति से इस गुण स्थान में देवआयु के बंध सहित ५९ प्रकृतियों का बंध है परन्तु जो देवआयु न बाँधे तो ५८ प्रकृतियों का बंध है।
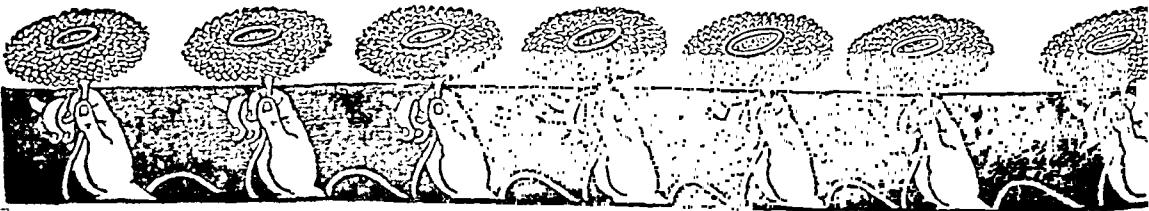
गुणस्थानक के साथ लगी कर्म बंधन की प्रकृतियाँ, उनका उदय, उदीरणा और सत्ता संबंध में विवरण [†] बताते हुए गुणस्थान विधि नाम की सज्झाय की रचना की। उसका प्रारंभ था :—

आठो ही कर्म तणी रे लाल
प्रकृति एक सो अडताल हो....भविकजन

[†] **ज्ञाना वरणीय कर्म की पांच प्रकृति :-** मति ज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञानावरणीय, अवधि ज्ञानावरणीय, मनः पर्यय ज्ञानावरणीय, केवल ज्ञानावरणीय। ५

दर्शनावरणीय की नौ प्रकृतियाँ :- चक्षु दर्शनावरणीय, अचक्षु दर्शनावरणीय, अवधि दर्शनावरणीय, केवल दर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, थीणाद्धी। १४

वेदनीय कर्म की २ प्रकृतियाँ :- साता वेदनीय, असाता वेदनीय। १६

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ :- सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया, अनन्तानुबंधी लोभ, अप्रत्याख्यानी क्रोध, अप्रत्याख्यानी मान, अप्रत्याख्यानी माया, अप्रत्याखानी लोभ प्रत्याख्यानी क्रोध, प्रत्याख्यानी मान, प्रत्याख्यानी माया, प्रत्याख्यानी लोभ, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया, संज्वलन लोभ, हास्य नोकषाय मोहनीय, रति नोकषाय मोहनीय, अरति नोकषाय मोहनीय, भय नोकषाय मोहनीय, शोक नोकषाय मोहनीय, जुगुप्सा नोकषाय मोहनीय, पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद। ४४

आयुष्य कर्म की ४ प्रकृति :- देव आयुष्य, मनुष्य आयुष्य, तिर्यंच आयुष्य, नरक आयुष्य। ४८

नाम कर्म की ९३ प्रकृतियाँ :- मनुष्य गति, तिर्यंच गति, देव गति, नरक गति, ऐकेंद्रिय जाति, दो-ईंद्रिय जाति, त्रि-ईंद्रिय जाति, चौ-ईंद्रिय जाति, पंच-ईंद्रिय जाति, औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तेजस शरीर, कार्मण शरीर, औदारिक

उदय :- इस गुण स्थान में उदय ७६ प्रकृतियों का है वह इस तरह है। छट्ठे गुण स्थान में ८१ प्रकृतियों का उदय है उनमें से १ निद्रा निद्रा दर्शना वरणीय, २ प्रचला प्रचला दर्शना वरणीय, ३ स्त्यानरधीं दर्शना वरणीय, ४ अहारक शरीर नाम, ५ अहारक अंगोपाँग नाम इन पाँच का विच्छेद हो जाने से बाकी ७६ प्रकृतियों का यहाँ उदय है।

सत्ता :- इस गुण स्थान १४६ प्रकृतियों की सत्ता है परन्तु क्षायक सम्यकद्रष्टि को १३९ प्रकृतियों की सत्ता है

सगले आगे तिहुं काढि रे लाल
सत्ता पूरवली रीत हो....भविकजन

आठ माना सात भांगा हुए रे लाल
निद्रा प्रचला टलि विदित हो....भविकजन

छ भांगा में दोय टली रे लाल
सात में भांगे टली बीस हो....भविकजन

छब्वीस प्रकृतिनो बंध है रे लाल
वहोत्तर उदये जगीश हो....भविकगजन

समकिते उदय मोहनीय रे लाल
अर्द्ध कील छेवट संघेण हो....भविकजन

गुणंत्तर नी 'उदीरणा रे लाल
सत्ता इन हीज़ लेण हो....भविकजन

अनन्तानुबन्धी चोकड़ी रे लाल
नरक तिर्यंच नो आवहो....भविकजन

ए छ सत्ता में टल गई रे लाल
तथा पूर्ववत चाव हो....भविकजन

गुण ठाण पर तेहनो रे लाल
बंध उदय सत्ता चाल हो...भविकजन

गुणस्थान विधि साँभलो रे लाल
ज्ञानी भाष्या भाव हो....भविकजन

समकिती मानस ने रूचे रे लाल
चतुर सुने धर चाव हो....भविकजन

शरीर अंगोपांग, वेक्रिय शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, औदारिक शरीर बंधन, वेक्रिय शरीर बंधन, आहारक शरीर बंधन, तेजस शरीर बंधन, कार्मण शरीर बंधन, औदारिक शरीर संघातन, वैक्रियक शरीर संघातन, आहारक शरीर संघातन, तेजस शरीर संघातन, कार्मण शरीर संघातन, व्रज ऋृषभनाराच संघयन, ऋषभ नाराच संघयन, नाराच संघयन, अर्ध नाराच संघयन, किलिका संघयन, छेवट्टु संघयन, सम-चतुरस्त्र संघयन, नागोध्र संघयन, सादी संघयन, वामन संघयन, कुब्ज संघयन, हुंडक संघयन, कृष्ण वर्ण, नील वर्ण, लोहित वर्ण, हारित् वर्ण, श्वेत वर्ण, सुरभि गंध, दुरभि गंध, तिकत रस, कटुक रस, कषाय रस, आमल रस मधुर रस, कर्कश स्पर्श, मृदु स्पर्श, गुरु स्पर्श, लघु स्पर्श, शीत स्पर्श, उष्ण स्पर्श, स्निग्ध स्पर्श, रुक्ष स्पर्श, नरकानूपूर्वी, तिर्यंचानूपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, शुभ निहायोगति, अशु, निहायोगति, पराघात, उछ्च्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्वाण, अपघात, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर नाम कर्म, शुभ नाम कर्म, सौभाग्य नाम कर्म, सुस्वर नाम कर्म, आदेय नाम कर्म, यशकीर्ति नाम कर्म, स्थावर नाम कर्म, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण अस्थिर, अशुम, दुर्भाग्य, दुःस्वर, अनादेय, अपयशोकीर्ति। १४१

गोत्र कर्म २ प्रकृति :— ऊँच गोत्र, नीच गोत्र। १४३

अन्तराय कर्म ५ प्रकृति :— दान-अंतराय, लाभ-अंतराय, भोग-अंतराय, उपभोग-अंतराय, वीर्य-अंतराय। १४८

मिथ्यात्व गुण ठाण ने विषे रे लाल
एक सौ सत्रह बंध होय हो....भविकजन

वण, गन्ध, रस, फरस नी रे लाल
सम मिश्र मोहनीय दोय हो....भविकजन

बंधन संघातन सुहु मिलि रे लाल
अठावीस बंधन होत हो...भविकजन

अहारक, द्वियक दोनों टल्या रे लाल
तीजो तीर्थंकर नाम गोत्र हो...भविकजन

ऊपर अठावीस प्रकृतियों का बंध नहीं होने का बताया है उनमें दो मोहनीय कर्म की (१) सम्यक्त्व मोहनीय (२) मिश्र मोहनीय, पांच शरीर के "बंधन" की ३ से लेकर ७ तक पांच शरीर के "संघातन" की (१२) पांच वर्ण में से किन्हीं चार वर्णों की १३ से १६ तक तथा दो गंध में से किसी एक गंध की (१७) पांच रस में से किन्हीं चार रस की (२१) आठ स्पर्श में से किन्हीं सात **स्पर्श** की (२८) इन अट्ठाईस का बंध नही पड़ता है।

नोट :— ऊपर फूटनोट १४८ प्रकृतियों का वर्णन है उसके अनुसार यदि गणना की जाय तो ३२ होती हैं परन्तु यहाँ उन चार (वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श) को कम कर दिया गया है क्योंकि किसी भी वस्तु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस, एक स्पर्श, का जो बंध पडता है वह सर्व साधारण के सामने ही रहता है परन्तु बाकी १६ जो गोण रूप में रहती है, उनका बंध नहीं होता।

बंध :—प्रथम गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का ऊपर की गाथा में बंध होना बताया है उस में १४८ में से २८ तो ऊपर की कम होती है और तीन (१) अहारक शरीर (२) अहारक अंगोपाँग (३) तीर्थंकर नाम, ये कम करने से शेष ११७ का बंध होता है। इन तीन का बंध मिथ्यात्वी को नहीं होता क्योकि तीर्थंकर नाम कर्म सम्यकत्व से बंधता है और अहारक की उपरोक्त दो प्रकृतियाँ अप्रमत्त चारित्र द्वारा बंधती हैं।
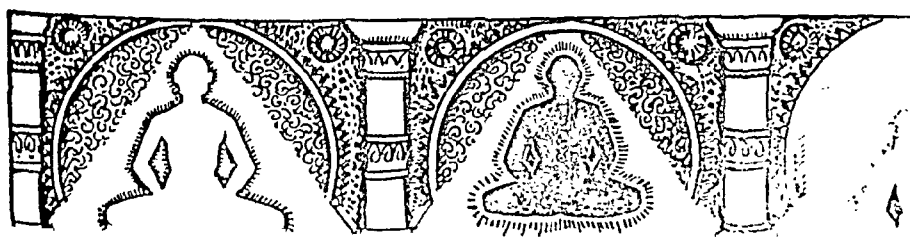
पांच भांगा छे नवमा तणारे लाल
पहले बँध बावीस हो भविकजन
हास्य रति दुगंछा भय टल्या रे लाल
पुरुप वेद दूजे दीस हो भविकजन ।। 26 ।।

क्रोध मान माया टल्यारे
भंगे बँध अठार हो भविकजन
छासठ प्रकृति उदय हुए रे लाल

तेसठ उदीरणा त्तार हो भविकजन ।। 27 ।।
हास्यादिक छहुँ काढिये रे लाल
सत्ता ना भाँगा आठ हो भविकजन

इस नव में गुणस्थानक के समय पांच भाग करने में आते हैं। उन पाँचों ही भागों में अलग अलग बंध होता है। आठवें गुणस्थान के अंतिम भाग में 26 कर्म प्रकृतियों का बंध होता है। उनमें से 1. हास्य, 2. रति, 3. भय, 4. जुगुप्सा—इनका विच्छेद होने से बाकी बावीस का पहला भाग में 1 पुरुषवेद के विच्छेद से 21, का दूसरे भाग में, संज्वलन क्रोध के विच्छेद से 20, तीसरे भाग में, संज्वलन मान के विच्छेद से 19, चौथे भाग में, संज्वलन माया के विच्छेद से 18 का पांच भाग में बंध होता है।

ऊपर मुजब उदय काल के भी पाँच भाग हैं।— पहले भाग में 66 का उदय: आठवें गुणस्थान में 72 का था उनमें से हास्यादिक 6 के विच्छेद हो जाने से 66, दूसरे में 64 का उदय श्रेणीगत आत्मा को जिस वेद का उदय हो उसके सिवा शेष दो वेद कम होने से 64। तीसरे भाग में 63 संज्वलन का क्रोध कम हुआ। चौथे भाग में 62 संज्वलन का मान गया। पाँचवें भाग में 61 संज्वलन की माया गई।

सत्ता: आठवें गुणस्थान की उपशम श्रेणीवाले उपशम सम्य, दृष्टि को 142 प्रकृतियों की क्षायक सम्य दृष्टि को 139 प्रकृतियों की और क्षपक श्रेणिवाले को 138 प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

दशमे प्रकृति सतरे बँधेरे लाल
ज्ञाणावरणी पूरो पाठ हो भविकजन ।। 28 ।।
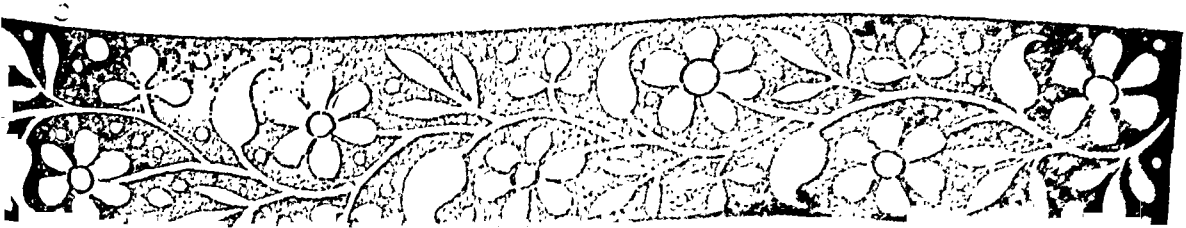
उदय :—उदय की प्रकृतियाँ १२२ है उनमें से मिथ्यादृष्टि को ऊपर की तीन प्रतियाँ तथा सम्यकत्व-मिथ्यत्व, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय मिलकर पाँच कम करते हुए बाकी ११७ का उदय होता है।

सत्ता :—मिथ्यादृष्टि जीव में १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इमहीं उदय ने उदीरणा रे लाल
सत्ता तो सगली होय हो....भविकजन

सास्वादन तणे विषे रे लाल
एक सो एक बंध जोय हो....भविकजन

त्रिक टल्यो छे नरक नो रे लाल
ऐकेन्द्रियादि चारों जाण हो....भविकजन

स्थावर सूक्ष्म अपर्याप्ता रे लाल
साधारण हुंडक संठाण हो....भविकजन

बंध :—दूसरे गुण स्थान में १०१ प्रकृतियों का बंध होता है। ऊपर पहले गुण, स्थान में जो ११७ प्रकृतियाँ बताई गई है उनमें से नीचे की १६ प्रकृतियाँ कम होती हैं :— (१) मिथ्यात्व मोहनीय (२) नरक गति नाम (३) बेइन्द्रिय जाति नाम (४) सूक्ष्म नाम (५) हुंडक संस्थान (६) नरकानुपूर्वी नाम (७) तेइंद्रिय जाति (८) आताप नाम (९) सेवार्त संघनन नाम (१०) नरक आयु (११) चौरिन्द्रिय जाति नाम (१२) अपर्याप्त नाम (१३) नपुंसक वेद मोहनीय (१४) ऐकेंद्रिय जाति नाम (१५) स्थावर नाम (१६) साधारण नाम

एक सो ग्यारह उदय हुये रे लाल
इमही उदीरणा जान हो....भविकजन
सत्ता में एक ही घटे रे लाल

दर्शनावरणीय दर्शन चार नीरे लाल
पांच वळी अंतराय हो भविकजन
वेदनीय में साता तणी रे लाल
जसकीर्ती उच्च गोत थाय हो भविकजन ॥ 29 ॥

दशवें गुणस्थान में 17 प्रकृतियों का बंध होता है: ज्ञानावरणीय कर्म की 5, दर्शनावरणीय की 4, अंतराय कर्म की 5, सातावेदनीय 1, यशकीर्ति 1, उच्च गोत्र 1—कुल 17।

साठ प्रकृतिनो उदय हुवे रे लाल
सत्तावननी उदीरणा होत तो भविकजन
सांभळने दीपावजो रे लाल
निर्मल समकित जोत रे भविकजन ॥ 30 ॥

संजल त्रिक टळियो सही रे लाल
तीनों ही वळि वेद हो भविकजन
छासठ मैं ए टळ गई रे लाल
ए उदय प्रकृति ना भेद ही भविकजन ॥ 31 ॥

उदय: इस दसवें गुणस्थान में 60 कर्म प्रकृतियों का उदय है। वह इस तरह है नौवें गुणस्थान में 66 कर्म प्रकृतियों का उदय है। उनमें से तीन 1-2-3 वेद मोहनीय तथा संज्वलन के क्रोध, मान, माया, इन छः प्रकृतियों के घटाने से बाकी 60 प्रकृतियों का उदय है।

सत्ता: इस दसवें गुणस्थान में नौवें गुणस्थान की तरह उपशम श्रेणीवाले उपसम सम्यक् दृष्टि को 142 प्रकृति तथा क्षायक समकिति की 139 प्रकृतियों की सत्ता है। क्षपक श्रेणीवाले को 9 वें गुणस्थान में 138 की सत्ता थी; उनमें से नीचे मुजब 36 की कमी होने पर बाकी 102 प्रकृतियों की सत्ता रहती है:— (1) त्रियंच गतिनाम (2) त्रियंच आनूपूर्वी नाम (3) 1, 2, 3 विकलत्रीक (बेईन्द्रय, तैरिन्द्रय, चौरिन्द्रय) (6) ऐकेन्द्रिय (7) नरकगति नाम (8) नरकानुपूर्वी (9) निद्रा 2 दर्शनावरणीय (10) प्रचला 2 दर्शनावरणीय (11) स्त्यार्नद्धिय दर्शनावरणीय (12) साधारण नाम (13) उद्योत नाम (14) आतप नाम (15) सूक्ष्म नाम (16) बादर नाम (17) अप्रत्याखानावरणीय चोक (17, 18, 19-20) (21) प्रत्याखाना वरणीय चोक (21-22-23-24) नो कषाय 25-26-27-28 29-30-31 32-33 संज्जवलन के तीन 34-35-36 क्रोध, मान, माया।

उदय :—पहले गुण स्थान में ११७ का उदय कहा है उनमें से इस दूसरे गुण स्थान में १११ का है। ये छः प्रकृतियाँ कम होती हैं :—(१) मिथ्यात्व मोहनीय (२) आताप नाम कर्म (३) सूक्ष्म नाम (४) अपर्याप्त नाम (५) साधारण नाम (६) नरकानुपूर्वी।

सत्त :—१४८ प्रकृति में से तीर्थंकर नाम प्रकृति की सत्ता नहीं होने से १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

नोट :— कितनेक आहारक शरीर तथा अहारक अंगोपांग इन दो की भी सत्ता नहीं मानते, उनके मत से १४५ की सत्ता होतो है।

चहोत्तर मिश्र गुण ठान हो....भविकजन

संघेण संठाण चारों वीचला रे लाल
उद्योत कुगति, स्त्री वेद, हो....भविकजन

मनुष्य देवनो आयुखो रे लाल
सत्तावीस बंध निखेद हो. ..भविकजन

अनन्तानुबंधी नी चोकड़ी रे लाल
थावर नाम चारों जात हो....भविकजन

तिर निर देवानुपूर्वी रे लाल
वारे उदय मिश्र दीजे घात हो....भविकजन

एक सौ नौ उदय उदीरणा रे लाल
हिवे सितम्बर नो अव्रतीने बंध हो....भविकजन

बंध :—तीसरे गुणस्थान में ७४ प्रकृतियो का बंध होता। है दूसरे गुण स्थान में बताई गई १०१ प्रकृतियों में से २५ प्रकृति नीचे मुजब कम होती हैं :—(१) तिर्यंच

ग्यारह में एक सत्ता बँधे रे लाल
उदय गुणसठ निहाल हो........भविकजन
छप्पननी उदीरना रे लाल

सत्ता एक सो बंयाल हो भविकजन ॥ 32 ॥
सत्ता प्रकृति सगली हुये रे लाल
तथा एक सो बंयाल 142 हो भविकजन
अथवा छै भांगा हुये रे लाल

बंध : इस ग्यारवें गुणस्थान में मात्र 1 साता वेदनीय का बंधा है।

उदय : इस ग्यारहवें गुणस्थान में 59 प्रकृतियों का उदय है वह दसवें गुणस्थान में थी। 60 में से संज्जवलन का लोभ इस 1 को कम करने से 59 का उदय होता है।

सत्ता : इस गुणस्थान में 142 तथा 139 प्रकृतियों की दसवें गुणस्थान के समान सत्ता रहती है।

बारहवें साता बंध लाल हो भविकजन ॥ 33 ॥
सत्तावन पचपनना उदय हवोरे लाल
संघेण दूजो तीजो टाल हो भविकजन
निद्रा-निद्रा निद्रा काढिये रे लाल
चरम समय उदय तीन काल हो भविकजन ॥ 34 ॥

चोपन वा बावनना उदीरणा रे लाल
सत्ता एक सोने एक हो भविकजन
निद्रा प्रचला छेहड़े टले रे लाल
निन्नाणु सत्ता विशेष हो भविकजन ॥ 35 ॥

बंध—इस गुणस्थान में एक मात्र साता वेदनीय का बंध होता है।

उदय—इस बारहवें गुणस्थान में 57 कर्म प्रकृतियों का उदय है वह इस तरह है—ग्यारहवें गुणस्थान में 59 प्रकृतियों का उदय है उनमें से व्रज नाराच और नाराच ये दो संघेण की प्रकृतियों कम होने से वाकी 57 प्रकृतियों का उदय होता है।
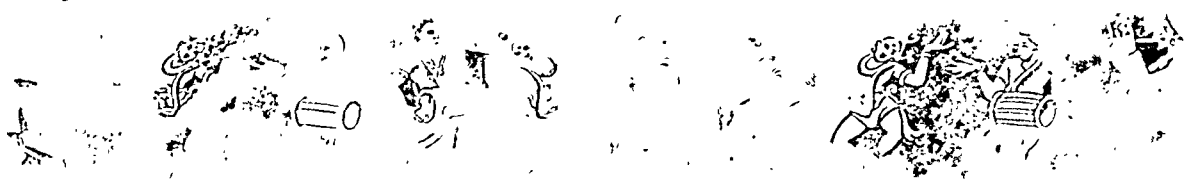
गतिनाम (२) तिर्यंच आनूपूर्वी नाम (३) तिर्यंच आयु (४) सत्यानर्धी दर्शनावरणीय (५) निद्रा निद्रा दर्शनावरणीय (६) प्रचला प्रचला दर्शनावरणीय (७) दुर्भग नाम (८) दुस्वर नाम (९) अनादेय नाम (१०) स्त्री वेद मोहनीय (११) नीच गोत्र (१२) उद्योत नाम (१३) (१४) (१५) (१६) अनन्तानुबन्धी चोक (१७) (१८) (१९) (२०) बीच के चार संठाण (२१) (२२) (२३) (२४) बीच के चार संघापन (२५) अशुभ विहायो गति नाम और २ में (२६) मनुष्य आयु (२७) देव आयु।

उदय :—दूसरे गुण स्थान में १०१ का उदय होता है उनमें से ये ९ प्रकृतियाँ कम होती हैं :—(१) (२) (३) (४) अनन्तानुबंधी चोक (५) (६) (७) विकलेंद्रिय त्रिक नाम (८) ऐकेंद्रिय नाम (९) स्थावर नाम तथा देव अनुपूर्वी, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी इन तीन का उदय नही होने से शेष ९९ रहीं इसमें मिश्र मोहनीय का उदय मिलाने से १०० हुई इन १०० का उदय होता है।

सत्ता :—तीर्थंकर नाम प्रकृति के सिवाय १४७ कर्म प्रकृतियों की सत्ता होती है।

हिवे सितंतर नो अव्रतीने बंध हो....भविकजन

बंधियो तीर्थंकर नाम हो रे लाल
देव, नर, आयुना प्रबंध हो....भविकजन

बंध :—इस गुण स्थान में ७७ प्रकृतियों का उदय होता है। तीसरे गुण स्थान में जिन ७४ प्रकृतियों का बंध होता है उनमें तीर्थंकर नाम कर्म, देव आयुष्य और मनुष्य आयुष्य इन तीन प्रकृतियों के मिलाने से इस गुण स्थान में ७७ प्रकृतियों का बंध होता है।

एक सो चार उदय हुये रे लाल
मिश्र दृष्टि दीजे टाल हो....भविकजन
सम दृष्टी अनुपूर्वी रे लाल
सहुनी उदीरण संभाल हो....भविकजन
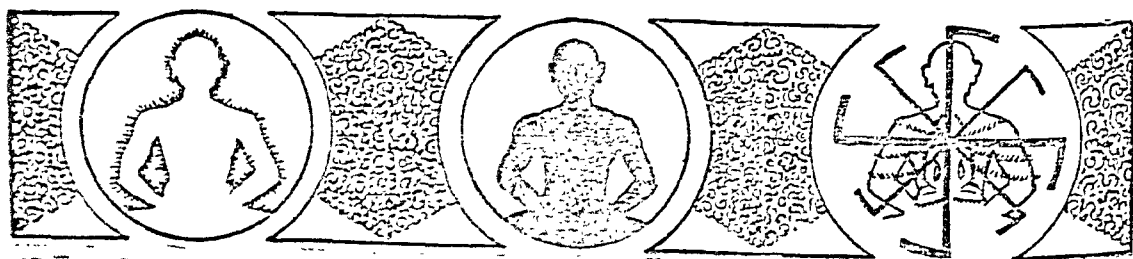
सत्ता—बारहवें गुणस्थान में 101 प्रकृतियों की सत्ता रहती वह इस तरह है दसवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणीवाले को 102 प्रकृतियों की सत्ता है उनमें संज्वलन लोभ के विच्छेद हो जाने से बाकी 101 प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

साता बंधे एक तेरमें रे लाल
उदय प्रकृति बंयाल हो....भविकजन
तीर्थंकर नाम मांहि घालिये रे लाल
ज्ञानादिक चव्वदे टाल हो भविकजन

गुण चालीस तणी उदीरणा रे लाल
सत्ता विच्चासी भाल हो भविकजन
ज्ञान दर्शन अंतराय नी रे लाल
ए चोवदे प्रकृति टाल हो भविकजन

बंध—तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में सिर्फ 1 साता वेदनीय का ही बंध होता है।

उदय—तेरहवें गुणस्थान में 42 कर्म प्रकृतियों का उदय है। वह इस तरह है—बारहवें गुणस्थान में जो सत्तावन प्रकृतियों का उदय बताया है उनमें से ज्ञानावरणीय के पांच, दर्शनावरणीय के चार, निद्रा, प्रचला और अंतराय की पांच ये 16 प्रकृतियां कम होने से बाकी की 41 प्रकृतियों का उदय है और तीर्थंकर की अपेक्षा से तीर्थंकर नाम प्रकृति मिलकर 42 प्रकृतियों का उदय है।

सत्ता—तेरहवें गुणस्थान में 85 प्रकृतियों की सत्ता है। वह इस तरह है—बारहवें गुणस्थान में 101 प्रकृति की सत्ता है उनमें ज्ञानावरणीय की पांच, दर्शनावरणीय की चार निद्रा व प्रचला और अंतराय की पांच मिलकर 16 प्रकृतियों के चले जाने पर बाकी 85 प्रकृतियों की सत्ता है।

चउदमो अयोगी अबंध छे रे लाल
बारह प्रकृति उदय होय हो....भविकजन
ते इन पर तुमे जानजो रे लाल
ज्ञानी भाख्यों सोय हो....भविकजन
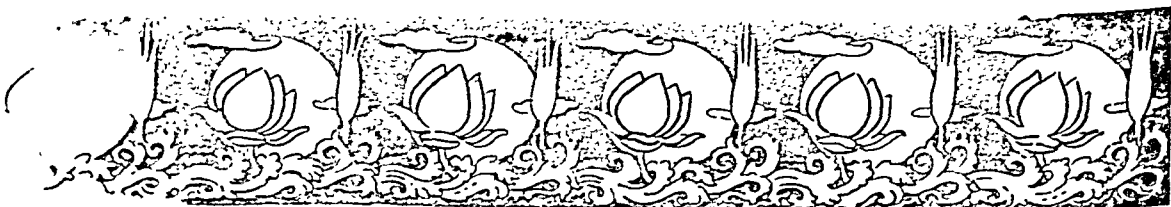
उदय :—तीसरे गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से मिश्र मोहनीय प्रकृति का विच्छेद होने से ९९ रहीं उनमें ४ अनूपूर्वी तथा सम्यक्त्व मोहनीय इन पाँच को मिलाने से कुल १०४ प्रकृति का उदय है।

एक सो इकताली सत्ता हुये रे लाल

सत्ता :—यहाँ से उपक्षमक ओर क्षायिक ऐसे दो जीव के भेद पड़ते हैं उपक्षमक को ४ से ११ वें तक १४८ कर्म प्रकृतियों की सत्ता होती है और क्षपक को प्रत्येक गुण स्थान में अलग सत्ता होती है चौथे गुणस्थान में क्षपक को नरक आयु का क्षय होता है उनसे उसे १४७ कर्म प्रकृतियों की सत्ता होती है।

देश विरती ने सिडसठ हो....भविकजन

पहला संघण, बीजी चोकड़ी रे लाल
नर त्रिक एह टली अठ हो....भविकजन

ओदारिक अंगोपांग घटाय रे लाल
ए दस टली ७७ सितंतर माय हो....भविकजन

सित्यासीनो उदय हुए रे लाल
इम ही उदीरणा थाय हो....भविकजन

अप्रत्याखानी चोकड़ी रे लाल
अनुपूर्वी चार हो....भविकजन

वेक्रिय अंगोपांग कहया रे लाल
देवगति आयुष्य विचार हो....भविकजन
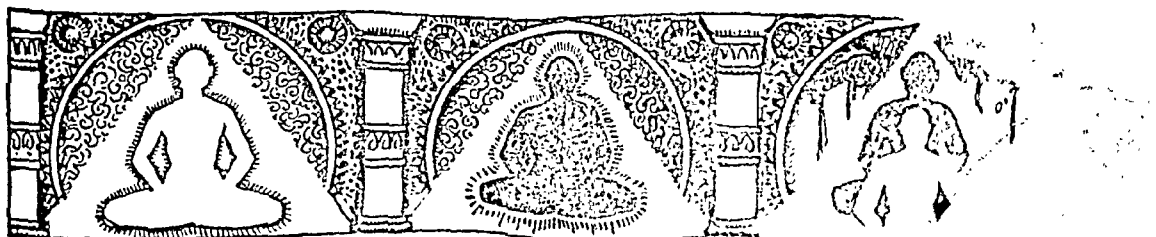
छेल्ले समय क्षय करे रे लाल
पछे जीव मुक्ति जाय हो....भविकजन
ग्रंथानुसारे ऋषि जयमल कहे रे लाल
भणियाँ, गुणीयाँ आनंद थाय हो....भविकजन

बंध—चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का बंध नहीं होता।

उदय—यहाँ केवली भगवान को 11 प्रकृतियों का उदय है वह इस तरह हैं—(1) वेदनीय (2) मनुष्य गति (3) मनुष्य आयु (4) पंचेन्द्रिय जाति (5) यश कीर्ति (6) सुभग (7) त्रस (8) बादर (9) पर्याप्त (10) आदेय (11) उच्च गोत्र और तीर्थंकर भगवान को तीर्थंकर नाम प्रकृति के मिलाने से 12 प्रकृति का उदय रहता है।

सत्ता: चौदहवें गुणस्थान में 13 वें गुणस्थान की तरह 85 प्रकृतियों की सत्ता रहती है; परन्तु द्वितीय चरम समय में 72 प्रकृतियों की ओर अंतिम समय में बाकी की 13 प्रकृतियों की सत्ता नष्ट हो जाती है; तब कर्म का अत्यन्त अभाव होने से अरिहंत परमेष्ठी में सिद्ध पर्याय प्रगट हो जाती है।

* * *

इस सज्झाय रचना के साथ पूज्य श्री ने गुणस्थानक के साथ कर्म बंधन उसकी प्रकृति आदि बातें लोगों को स्पष्ट समझाई। पूज्य श्री स्थली प्रांत में धर्म-ज्ञान गहराई से भरना चाहते थे। उनका संदेश था कि आत्मा को पहुँचाने और उस पर स्थिर होने के लिये सच्चे देव, गुरु और धर्म रूपी सम्यकत्व पर श्रद्धा दृढ़ रखो। उनके प्रवचनों से प्रेरित होकर बहुत-से अजैन भी जैनत्व अपना रहे थे।

स्थली प्रांत में उनके नाम का जयजयकार होने लगा और धर्म संस्कार लोक जीवन में उभरने लगे।

नरकगति नरकाउयो रे लाल
दुर्भग अनादे अयशकीर्ति होय हो....भविकजन
ऐ सत्तरे प्रकृति काढिये रे लाल
एक सो चार इण रीति हो....भविकजन
सत्ता प्रकृति पूरा हुआ रे लाल
तथा एक सो एक ताल हो....भविकजन
एक सो अडतीस पण हुये रे लाल
ऐ पंचम गुण ठाण नी चाल हो....भविकजन

वंध :- चौथे गुणस्थान में ७७ कर्म प्रकृतियों का वंध कहा हुवा है। उन में अप्रत्याखानी चोक (क्रोध, मान, माया, लोभ) ५ मनुष्य जाति नाम, ६ मनुष्य आनूपूर्वी नाम, ७ मनुष्य आयुष्य, ८ औदारिक शरीर नाम, ९ ओदारिक अंगोपाँग नाम, १० वृज ऋषभ नाराच संघयना कम करना। अर्थात् ६७ कर्म प्रकृतियों का वंध होता है।

उदय :- इस गुण स्थान में ८७ प्रकृतियों का उदय होता है वो इस तरह है। चोथे गुण स्थान में १०४ कर्म प्रकृतियोंका उदय हुवा है, उन में से अप्रत्याखानी चोक (१-२-३-४) ५ देवगति नाम, ६ देवानुपूर्वी नाम, ७ देव आयु, ८ नरक गति नाम, ९ आनुपूर्वी नाम; १० नरक आयु, ११ वेक्रिय शरीर नाम, १२ वेक्रिय अंगोपाँग नाम, १३ मनुष्य आनुपूर्वी नाम, १४ तिर्यंच आनूपूर्वी नाम, १५ दुर्भग नाम, १६ अनादेय नाम, १७ अयशो नाम, इस तरह १७ प्रकृतियाँ कम करने से ८७ प्रकृतियों का उदय होता है।

सत्ता : १४७ कर्म प्रकृतियों की सत्ता है क्योंकि नारकीय को यह गुण स्थान होता ही नहीं उससे उसको कम करते हुए १४७ की सत्ता है परन्तु क्षायिक सम्यकद्रष्टि से १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

६२

जय—जयपुर धर्मशांति

चुरु और स्थली में विहार करते हुए पूज्य श्री संतों के साथ फतेहपुर पहुँचे। सम्राट अकबर ने अपने राज्य और भारत की मध्यस्थता का विचार कर इसे अपनी राजधानी बनाया था। पूज्य श्री का विचरण इस प्रान्त के कुछ भागों में आज से 27 वर्ष पूर्व जब पूज्य भूधरजी के साथ वे दिल्ली पधारे थे, तब हुआ था। इसलिए जो लोग उस समय के अब भी थे, वे उनके परिपक्व ज्ञान-दर्शन चारित्र्य युक्त जीवन को और उनके व्यक्तित्व के प्रभाव को देख कर भाव विभोर हो जाते थे। कई पुरानी स्मृतियां जागती थीं। कुछ लोगों की यह शिकायत रहती थी कि संतों का इधर पदार्पण कम होता है। इसलिए यहां धर्म प्रभाव घटता जाता है। पूज्य श्री ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे इस बात का ध्यान रखेंगे कि भविष्य में इस क्षेत्र को संत-सतियों का निरन्तर लाभ मिलता रहे।*

फतेहपुर से आगरा जाने का पूज्यश्री का विचार था। किन्तु उन दिनों आसपास के गाँवों के जैन लोगो में जयपुर में जैनियों के साथ हो रहे बर्ताव की बड़ी जोरदार चर्चा चल रही थी।

---

* पूज्य श्री जयमलजी और उनके अनुयायी संत सतियों के चातुर्मासों की जो तालिकायें मिलती हैं, तदनुसार यह बात यथार्थ रही।

सुदर्शन चुप ही बैठे रहे।

रानी ने और भी पास में बैठकर कहा :—" देखो ! देवों को भी दुर्लभ ये रूप-प्यासा है। इस चन्दा से रूप को अपनी बाहों में लो और इसे अपने में खो जाने दो। आज ये यौवन की मदिरा पीकर मस्त हो रहा है....! ओ, भोले सजन! नयन खोल के देखो तो सही....!!"

फिर भी सुदर्शन चुप रहे; तब रानी ने विषयासक्त-भाव से कहा—" तुम नहीं बढ़े तो मैं ही तुम्हारे गले लग जाऊँगी — मेरे से छूटकर नहीं जा सकोगे!"

ऐसा कहकर वह और भी पास आकर विकार चेष्टायें करने लगी। तब सुदर्शन ने सोचा कि यदि इसे मैं नहीं समझाऊँगा तो ये अनर्थ करने पर तुली हुई है, सो व्यर्थ चेष्टायें करती रहेगी।

अतः सुदर्शन ने कहा—" रानी! कहा है कि संसार में पाँच मातायें हैं — राजा की रानी, गुरु की पत्नी, मित्र-पत्नी, समधन, और अपनी सगी माता। ये पाँचों पूज्या हैं और इनके साथ विषय-सुख नहीं भोगा जाता। वैसे मैं व्रत में हूँ और मुझे एक-नारी (स्वपत्नी) का व्रत भी है।"

अभया ने कहा—" सुदर्शन! ये सभी बातें छोड़ो। जननी के सिवाय कोई स्त्री माता नहीं है — और पुरुषों को तो अनेक स्त्रियाँ करने की छूट है! जब तक जीवन है, यौवन है, विषय-रस का आनन्द करना चाहिये। एक-नारी व्रत की झूठी-झूठी बातें न कर; अब मुझे और न तड़पा....!"

सुदर्शन ने उत्तर दिया :—" समुद्र मर्यादा छोड़ सकता है, सूर्य पश्चिम में उग सकता है, मेरू हिल सकता है; मगर हे रानी! मेरा व्रत टूटनेवाला नहीं है!"

अभया ने कहा :—" सुदर्शन! सीधी तरह मान जाओ; वरना तुम जानते ही हो कि बिगड़ी हुई स्त्री क्या नहीं कर सकती है?"

सेठ ने उत्तर नहीं दिया; वे ध्यान में बैठ गये। यह देखकर अभया को बहुत ही क्रोध आया। उसने ताली बजाकर सुभटों को बुलाकर कहा :—"पकड़ लो, इस पापी को! यह चोरी छुपी यहाँ कैसे घुस आया है? बाँध के ले जाओ इसे....!"

सुभट गण सेठ सुदर्शन को बाँध कर ले गये और वहीं पर एक कोटड़ी में उसे बन्ध कर दिया। अभया ने फिर अपने बाल बिखेर दिये, सिंगार मिटा दिया और अपने ही नख से मुँह पर खरोंचे पैदा कर, भयंकर रूप धारण कर बैठ गई।

राजा लौटे तो रानी का यह रूप देखकर उन्होंने पूछा :—"क्या बात हुई?"

रानी ने कहा :—"आप के जाने के बाद मुझे अकेली देख आप के नगर के लोग क्या करते हैं....!"

राजा ने पूछा :—"वह कौन है....?"

तुरन्त रानी के कहने पर सुभट गण सुदर्शन को पकड़कर ले आये। राजा को आश्चर्य हुआ। राजा ने सेठ से पूछा कि "क्या बात है?"

सुदर्शन मौन रहे। रानी बोली :—"कुकर्म करके क्या बोलेगा?"

राजा ने खुलासा माँगा; मगर सेठ चुप ही रहे। राजा ने दरबार भरा और सब के बीच न्याय करते हुए कहा :—"सुदर्शन को इस घोर अपराध के लिये शूली पर चढ़ाने का दण्ड देता हूँ!"

सुदर्शन सेठ फिर भी संयम में दृढ़ मन रखकर शूली पर चढ़ने तैयार हुए। देवेन्द्र का सिंहासन चलायमान हुआ। सुदर्शन सेठ शूली पर चढ़ने जा रहे थे। नवकार का स्मरण चालू था। उन्होंने शूली का स्पर्श किया। देखनेवालों ने आँखें फेर लीं; लेकिन उसी समय चमत्कार हुआ! शूली फट गई और उसके स्थान पर सिंहासन था — सुदर्शन उस पर विराजमान थे! गगन से पुष्प-वृष्टि हो रही थी और आकाश-वाणी हुई :— "सेठ सुदर्शन निर्दोष हैं!"
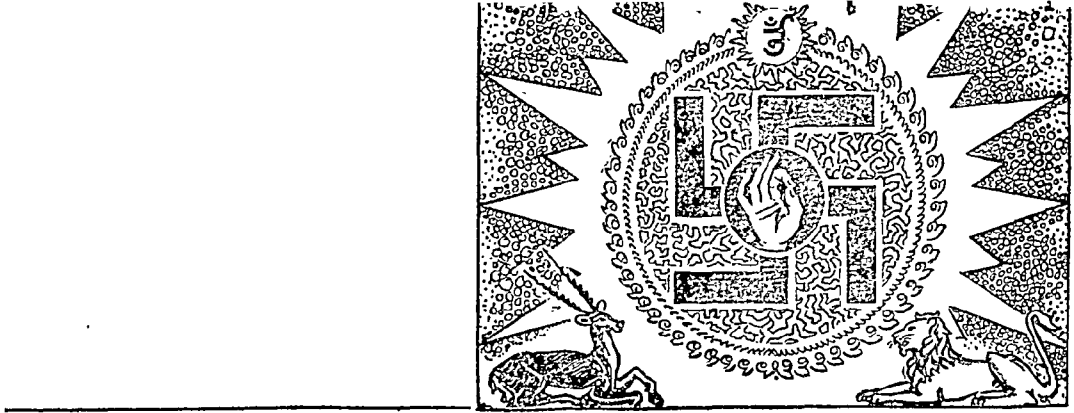
जयपुर नगर को बनाने के पीछे विद्याधर नाम के जैन का हाथ था। व्यवस्थित और साफ़-सुथरे मार्ग, एक ढंग के मकान आदि के कारण उसकी रचना राजस्थान में अनोखी सी मालूम होती थी—जयपुर नगर के शासन में और व्यापार विकास में जैन दीवानों का और व्यापारियों का बड़ा हाथ था। फलतः जैन मंदिर और स्थानक और उनका प्रभाव बढ़ता जाता था।

दिल्ली दरबार में जिन नौ राजाओं सहित युवराज-बादशाह को पूज्य श्री जयमलजी ने प्रभावित किया था उन में जयपुर नरेश सवाई जयसिंह भी थे। महाराजा सवाई जयसिंह अपने ज्ञान-विज्ञान और शास्त्र और यंत्रों के ज्ञाता होने से उन्होंने गणित के सूक्ष्म सिद्धान्तों पर आधारित मानमंदिर (सूर्य-चंद्र ग्रहों की स्थिति और काल का निर्णय करने की वेधशाला) बनाया था—इससे प्रभावित होकर दिल्ली सम्राट ने उनसे दिल्ली में भी वैसा ही मान मंदिर बनवाया। (यह आज जंतर मंतर के नाम से प्रसिद्ध है) उसी तरह का एक और मानमंदिर उज्जैन में भी बनवाया था। कहा जाता है कि राजा जयसिंह को इस में जैन ज्योतिष शास्त्रियों से बड़ी सहायता मिली थी—जैनसंत, जैन पंडित और जैनों का सर्वत्र बड़ा सम्मान होता था। जैनियों की वहाँ संख्या इतनी बड़ी थी और उनका प्रभाव अन्य लोगों पर इतना अधिक था कि जयपुर नगरी जैनपुरी कहलाती थी।

राजा जयसिंह के बाद ईश्वरसिंह राजा बने और उनके समय में भी जैनियों का वही आदर सम्मान और स्थान बना रहा। वर्तमान राजा माधवसिंह प्रथम के समय भी जैनियों का व्यापार और शासन में वही स्थान था।

कहा जाता है कि महाराजा माधवसिंह प्रथम बड़े प्रजा वत्सल थे। उनके राज्य में दीवान रतनचंदजी*, बालचंदजी आदि प्रधान पद पर थे। अजबरायजी, त्रिलोकचंदजी पटणी, महारामजी, त्रिलोकचंदजी आदि बड़े जैन श्रेष्ठि गणों का अपना प्रभाव था।

---

* दीवान रतनचंदजी माधोसिंह के समय दीवान थे और उनके बाद भी राजा पृथ्वीसिंह के समय भी दीवान रहे।

आपको अति ज्ञानी बताकर उनको भी "चूके" या दोष-युक्त बताते हों और फिर भी उनकी बातों को मानने का प्रचार करते हो उनको क्या कहना चाहिये ?

ऐसे अतिज्ञानी बननेवाले अज्ञानीगणों को आगमों में निन्हव कहा है और दया-दान का विरोध करनेवाले निन्हव से क्या कम हैं ? "

उन्होंने उस समय अपने मन के भाव बड़े ही सुंदर काव्य स्फुरणा के रूप में इस प्रकार रखे :—

> निन्हव लक्खणे ओलखो...........
> अरिहंत वचन उथापिया, लोपी गुरांरी आण ;
> निन्हव गणसुं रे निकल्यो, करतो कूड़ी जो ताण....निन्हव

निन्हव अपने आप लक्षणों से पहेचाना जाता है। पहले के निन्वों ने भी भगवान महावीर के वचनों में शंका की ; उनको अज्ञानी बताया वैसे भीखणजी भी भगवान महावीर को 'चूके' बतलाते हैं तो वह भी निन्हव से क्या कम है.... ?

> बुधवंता नरनाररे, संग कोइ कीजो मती,
> जो चाहो निस्ताररे........निन्हव
> अनुकंपा अरथे सही, वीर बचायो गोसालरे
> उलटो मारा थापवा चूका कहे धिक्काररे....निन्हव
> गुणवंता गुरु छोडिया, पंथ चलाववा काजरे
> गुरू निंदा करता थका, नुगुरा न आणे लाजरे....निन्हव
> जीव छुडावे जुगतसुं अणुकंपादिक आणरे
> तिणने पाप लागो कहे, आगमतणा अजाणरे....निन्हव*

* इस संबंध में तेरापंथ इतिहास खंड, प्रथम पृष्ठ 102 पर दिया गया दृष्टांत "बात सत्य है या असत्य" पढ़ने जैसा है जिसमें भारीमल के विरोध बताने पर भी भीखणजी भगवान महावीर को 'चूका' बताते रहे हैं—

"स्वामीजी ने अनुकंपा विषयक अपने विचार व्यक्त करते हुए यह पद्य बताया :

> छ लेस्या हूंती जद वीर में जी, हूंता आठूं इ कर्म ।
> छद्मस्थ चूका तिण समैजी मूरख थापै धर्म ॥

उन दिनों में जयपुर में जैन पंडितों का भी बड़ा प्रभाव था। उनमें पंडित टोडरमलजी दिगंबर जैन बड़े पंडित थे। उन्होंने कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की थी जिनमें रहस्यपूर्ण चिट्ठी, गोम्मटसार, जीवकांड, गोम्मटसार कर्मकांड, लब्धिसार, क्षपणासारटीका, त्रिलोकसार टीका, आत्मानुशासन टीका, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय टीका, अर्थसंद्रष्टि अधिकार, मोक्षमार्ग प्रकाश, गोम्मटसार पूजा आदि मुख्य थे। उनका जैन दर्शन का ज्ञान इतना प्रकांड था कि अन्य धर्मवाले उनसे शास्त्रार्थ करते घबराते थे।

जैनियों का प्रभाव राज्य में स्पष्ट था। जयपुर में कहा जाता है कि उन दिनों कसाई, कलाल और वेश्यायों नहीं थे। जैन संतों के समागम से जनता सब व्यसन से दूर थी।

जैनियों के उस समय अलग अलग फिरके होते हुये भी परस्पर का प्रेम और वात्सल्यपूर्ण व्यवहार बड़ा प्रशंसनीय था। साधर्मी भाई के प्रति बड़ा सहयोगपूर्ण व्यवहार होता था। शास्त्र-स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, सामायिक, सूत्रप्रवचन आदि क्रियाओं में अपूर्व विनय, श्रद्धा और भक्ति देखने को मिलते थे। जैन पंडितों के कारण और विद्वान उपलब्ध होने से जैन धर्म के पठन-पाठन का वह बड़ा केन्द्र बन रहा था।

जयपुर में उस प्रकार जैनियों का बढ़ता प्रभाव अन्य लोगों को खटकता था। उन लोगों की ओर से जैन धर्म को नीचा दिखाने के लिये बहुत से प्रयत्न चालू थे। सं. 1817 में श्यामप्रसाद तिवारी नाम का व्यक्ति अपनी वाचालता और खुशामद से राज्य का राजगुरु बना।

उन दिनों राजा माधवसिंह का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहने लगा था और कहा जाता है कि उनकी शांति के निमित्त एक रुक्के पर उचित कार्यवाही कराने के निमित्त श्याम तिवारी ने राज्य की महोर लगवा दी।

श्याम तिवारी ने अपने षडयंत्र में एक और प्रयोग किया। उसने राजाज्ञा के बहाने जैन मंदिर और धर्मस्थानकों में पूजा पाठ, शास्त्र प्रवचन आदि बंद करवाये इतना ही नहीं मंदिरों को तोड़ा-फोड़ा भी। फिर उसने चालाकी से शिवलिंग वहाँ बिठवाये और राजघराने से संबन्धित एक शिवमंदिर से लिंग हटवाकर यह कार्य जैनियों के द्वारा हुआ है ऐसा जूठी गवाहियों से सिद्ध करवाया।

उसका लक्ष्य पंडित टोडरमलजी थे जिनका बड़े बड़े पंडित सम्मान करते थे। शिवमंदिर की घटना का आरोप पंडित टोडरमलजी पर लगवाया गया और राजा एवं प्रजा जान सके कि क्या हो रहा है उसके पूर्व ही उसने पंडितजी को हाथी तले कुचलवाने का

भारीमलजी स्वामीने इसे देखकर क़हा—"इसका तीसरा पद लोगों में ऊहापोह खड़ा करनेवाला लगता है; अत: इसकी जगह कुछ और कर दें तो अच्छा रहे।"

स्वामीजो:—"लोगों में उहापोह उत्पन्न करनेवाला चाहे हो, पर बात सत्य है या असत्य?"

भारीमलजी स्वामी:—"बात तो बिलकुल सत्य है!"

स्वामीजी:–तो फिर लोगों का क्या भय…? न्याय-मार्ग पर चलनेवाले को इस भय की कोई परवाह नहीं करनी चाहिये!"

वास्तव में यह भीखणजी के अज्ञान का ऐसा परिचायक है कि सामान्य रूप से जैन तत्वों को जाननेवाले भी उसे अनुभव कर सकते हैं। उनकी पंक्ति हैं:—

'छ: लेश्या हुँती जद वीर में जी, हूँता आठूं ही कर्म छद्मस्था वस्था' में आठों कर्म की नियमा मानी गयी हैं; किन्तु ऐसे ही किसी भी एक व्यक्ति में छहों लेश्या, होने का नियमा नहीं है। छठ्ठे गुणस्थानक में छह लेश्या प्राप्त हो सकती हैं; किन्तु भगवान महावीर जब कि छद्मस्थ अवस्था में थे तब छ: लेश्या उनमें थीं ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा भी उल्लेख नहीं है कि छठ्ठे गुणस्थानक में आनेवाले प्रत्येक साधुओं को छ: लेश्या आ ही जाती हैं।

तदुपरांत यह भी विचारना है कि भगवान महावीर ने गौशालक को बचाया यह कृष्ण लेश्या आदि ३ अशुभ लेश्याओं का भाव है? या तेजो लेश्या आदि ३ शुभ लेश्याओंका भाव है। बचाने का भाव तो शुभ है? वह सकर्मक आत्मा के लिये उत्थान का कारण है था पतन का ..? यदि पतन का कारण हो तो जिनेश्वर भगवान वैसा कभी नहीं करते। वैश्यायन जिसने गोशाले पर तेजो लेश्या छोड़ी और भगवान जिन्होंने उसको बुझाई इन दोनों को समान नहीं माना जा सकता। भगवती सूत्र में अग्नि लगानेवाला महारंभी और बुझानेवाले को अल्पारंभी कहा गया है। यह पंक्ति भी विचारें:—

छद्मस्थ चूका तिन समें

छद्मस्थ अवस्था, आठों कर्म सहित, किन्तु वह जिनेश्वर भगवान की अवस्था छद्मस्थ जिन है। यह अवस्था 11 वें गुणस्थानक की यथाख्यात चारित्र की है। क्या ऐसी अवस्था में भी कोई चूक सकता है? सामान्य साधक भी जब छद्मस्थ अवस्था में नहीं चुकेगा, तब उत्कृष्ट साधक और वह भी जिन! उनके लिये एक सामान्य छद्मस्थ ऐसा कहे यह निरा अज्ञान ही प्रगट करता है। छद्मस्थ भीखणजी ही धर्म की दीवार चुक गये हैं।

भगवान महावीर ने गौशाले को बचाया यह कार्य छद्मस्थों की दृष्टि से धर्म नहीं हो सकता है और तभी भीखणजी कहते हैं:—

छद्मस्थ चूका तिन समें

यदि छद्मस्थों की दृष्टि से वह धर्म नहीं है तो पाँच चारित्रों में कौन-से चरित्र की अपेक्षा से धर्म नहीं है? यह प्रश्न है। वास्तव में लेश्या, गुणस्थानक और छद्मस्थ जिन के चारित्र का कोई विचार किये
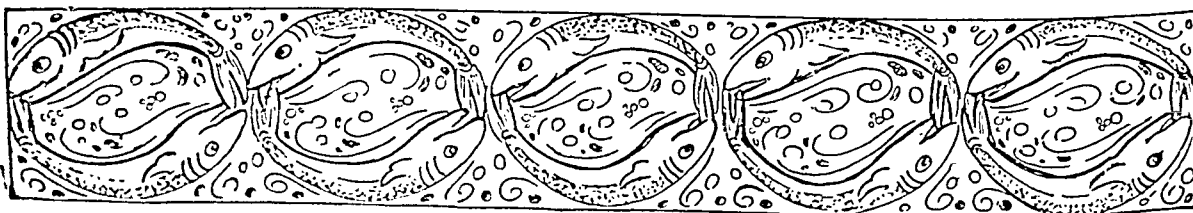
आदेश दिया। पंडितजी हाथी के पैर नीचे कुचले गये। इससे लोगों में हाहाकार फैला; किन्तु किसी को हिम्मत नहीं पड़ती थी कि राजा से कुछ कहे।*

जैनियों की ऐसी परिस्थिति थी कि उनकी ओर से राजा पर प्रभाव डाल सके ऐसा कोई महान व्यक्ति उस समय जयपुर में नहीं था।

इस समय लोगों ने सुना कि जैनाचार्य पूज्य श्री जयमलजी फतेहपुर के आसपास धर्मप्रचार कर रहे हैं तो लोग उनके पास दौड़े दौड़े गये और उन्हें जयपुर पधारने की विनती की*

सारी घटना सुनने के बाद पूज्य श्री जयमलजी ने स्वीकृति दी और संतों का विहार जयपुर की ओर हुआ। जयपुर दीवान रतनचंदजो आदि बड़े श्रावक पूज्य श्री को लिवा लाने कई गाँव सामने गये।

पूज्यश्री के प्रवचन और व्यक्तित्व से प्रभावित होकर दीवान रतनचंद जी ने उनसे विनती की "जयपुर में अपने जैनियों में स्थिरता लाने और जैन धर्म का प्रभाव फैलाने आप न केवल पधारें, बल्कि अपने चातुर्मास का लाभ भी जयपुर को देवें।"

उनके साथ जयपुर श्रीसंघ के और भी भाई बहिनों ने अपने स्वर मिलाये और पूज्यश्री ने जयपुर चातुर्मास की स्वीकृति प्रदान की। सभी लोगों में अपार हर्ष छा गया। पूज्यश्री आदि ठाणे 5 ने जयपुर नगर में बड़ी धूमधाम से प्रवेश किया। उनका प्रभावशाली चेहरा और व्यक्तित्व सबको आकर्षित करता था। कई दिनों से जैन धर्म के उत्सव या प्रसंगों के बारे में लोग सुनते न थे। स्वयं जैनियों में इतना डर बैठे गया था कि वे कुछ नहीं करते थे किन्तु पूज्य श्री को सामने लिवा लाने लोग बड़ी संख्या में सामने गये और जयजयकार के नारों के साथ पूज्य श्री जयपुर के राजमार्गों से गुजरे तब लोगों को लगा कि वापस जयपुर में जैन धर्म का उत्थान होनेवाला है।

सच्चे संतों के पदार्पण से कई घटनायें अपने आप होती हैं। पूज्य श्री के पदार्पण से जैन लोगों में शांति छाई और उनके प्रवचनों में जैन अजैन सभी आने लगे। लोगों में धर्मप्रचार बढ़ने लगा। कहा जाता है कि राजा माधवसिंह प्रथम का स्वास्थ्य ठीक होने लगा जो कि कई महीनों से ठीक नहीं था।

---

* पंडित टोडरमलजी को हाथी तले कुचलवाने का कार्य सं: 1818 में हो गया होगा। क्योंकि सं: 1819 के मागसर वदि तीज को राजा ने आदेश दिया था कि जैनों के मंदिरों को पूर्ववत कायम किया जाय। पूजा-पाठ, शास्त्र स्वाध्याय चालू किये जाय और राज्य के खर्च से उनकी मरम्मत की जाय।

पूज्यश्री ने 29 गाथा की यह ढाल बनाई और बहुत शीघ्र ही वह लोगों को कण्ठस्थ हो गयी। इसमें उन्होंने भीखणजी की बातों का स्पष्ट स्वरूप बता दिया था।*[1]

सोजत-बगडी आदि के लोगों को भीखणजी क्या बताते हैं और कैसी चालाकियाँ करते थे इसका खयाल आ गया। दया-दान विरोधी भीखणजी का विरोध दिनों दिन बढ़ता गया। अपने संतों के मार्गदर्शन के लिये पूज्यश्री जयमलजी ने तेरापंथ विषयक चर्चा का एक पत्र*[2] अलग लिखा:—

"श्री वीतरागाय नमः" वखतो फतेचंद भीखण ए नवी उठाई तिणका विवरा— आज्ञाये धर्म ए ठीक पर उपरां एकांत पाप कहे ते ठीक नहीं ते किम! एक छांदे काम भोग वांछे एक छांदे उपगार वांछे ते एकांत पाप किम थाय चतुर विचारी जोज्यो॥

अर्थात् वखतो, फतेचंद, भीखण ने नई बात उठाई है। उसका यह विवरण है। "आज्ञा में धर्म वह ठीक है।" परंतु उसके उपरांत एकांत पाप है यह उचित नहीं है सो कैसे? एक इच्छा से काम भोग की वांछा करे और एक इच्छा से उपकार करने की वांछा करे तो उपकार करना कैसे पाप हो सकता है? चतुरों को विचार करना चाहिये।

"गृहस्थ उठे विना निमित्ते खामणा पडिक्कमणो वेहेराविवा पहोंचाविवा साहमो जायण उठा वैठो करे छे सो किम? साध उठव वैठणरी आज्ञा दीये तिण कारण एकांत पाप न कहिये।"

विना छद्मस्थ भीखणजी ने 'छदमस्थ जिन' को चूका कहके अपने को भारीमल के आगे बड़ा बताने की निकृष्ट चेष्टा की है।

संवाद से स्पष्ट है वैसे भारीमलजी जैसे को भी प्रथम ठीक नहीं लगा; यह अपने आप बहुत-कुछ जैन धर्म के सिद्धान्तों को स्पष्ट करता है—फिर भी भीखणजी अपने को गुरु, शासन नायक सबसे अधिक मानते थे अतः उन्होंने उसे रखा है।

और भारीमलजी उनके शिष्य थे। उन्होंने भी शासन-नायक को 'चूका' बतलाया और वर्तमान आचार्य तक भगवन महावीर को चूका बताते हैं फिर ये कौन-से 'धर्म?' का प्रचार करते हैं यह प्रश्न है।

* 1. 'प्रथिक प्रबोध' की प्रस्तावना में…

* 2. पूज्य जयमलजी कृत तेरापंथ विषय-चर्चा के हस्त लिखित पन्ने से। यह पन्ना बहुत लंबा है और अन्य सारे तेरापंथ विषयक बोलों की चर्चा की गयी है।

पूज्य जयमल जी के साथ संतों ने चातुर्मास प्रारंभ होते ही व्रत उपवास प्रारंभ कर दिये। उस समय जयपुर में साध्वी श्री लिखमाजी, महासती वगतुजी और महासती कुशलाजी आदि महासतियों के ठाणों के चातुर्मास से बहिनों में भी धर्मध्यान का जोर रहा।

पूज्य श्री के साथ के संत कुशलजी ने एक मास के उपवास किये। अन्य संतों के भी उपवास थे। उसे देखकर अन्यान्य लोगों ने भी व्रत उपवास किये। पूज्य श्री के प्रवचनों में जादू सा होता था। जिसे सुनकर जो एक बार आता था वह हमेशा के लिये उनके पास आने लगता था। उनमें से दो व्यक्ति भाव दीक्षा की तैयारी करने लगे।

श्याम तिवारी को उनका बढ़ता प्रभाव अच्छा नहीं लगा, किन्तु पूज्य श्री के प्रभाव के आगे उसका कुछ भी नहीं चला। महाराजा माधव सिंह स्वस्थ हो गये थे और उन्होंने पूज्यश्री के बारे में सुना तो उन्होंने भी उनके प्रवचन सुनने की इच्छा प्रकट की। तिवारी ने बहुत प्रयत्न किये कि महाराजा पूज्य श्री के दर्शन, वन्दन, प्रवचन का लाभ न लें किन्तु उसका सब कुछ करा कराया काम न आया।

महाराजा माधवसिंह ने पहली बार पूज्य श्री के ओजस्वी वचनों को सुना। पूज्यश्री के प्रत्येक शब्द में ऐसा असर था कि वह विचारक आत्मा में मंथन पैदा कर देता था।

राजा माधवसिंहजी पूज्यश्री के प्रवचनों में आने लगे। वे सच्चे जैन धर्म के साथ आत्मा के धर्म को समझने लगे। कई बार वे पूज्यश्री से अनेक विषयों पर विचार विमर्श करते थे।

चातुर्मास के दिन पूरे होने आये और जिन दो व्यक्तियों ने भाव दीक्षा की तैयारियां प्रारंभ की थीं, उनकी योग्यता देखकर उन्हें दीक्षा देने का तय किया गया। दोनों दीक्षायें धूमधाम से संपन्न हुई।

पूज्यश्री का विहार होगा, यह जान कर महाराजा माधवसिंहजी और प्रजा में निराशा-सी छा गई। महाराजा ने पूज्यश्री के समक्ष अपना अभिप्राय प्रकट किया। "आपके इस चातुर्मास की स्मृति को कायम रखने के लिये मैं कोई आदर्श कार्य करूँ।"

पूज्यश्री ने फ़रमाया—"संतों की स्मृति कायम रखने के लिये जीवन में कोई स्थाई त्याग करना उपयुक्त होगा।"

महाराजा विनम्र होकर बोले—"ये तो व्यक्तिगत बात हुई, किन्तु मैं चाहता हूँ कि मेरे राज्य में कुछ ऐसा कार्य हो जिससे युग-युगान्तर तक आपके नाम को मेरी प्रजा बड़े आदर से याद किया करे।"

गृहस्थ उठता है, विना निमित्त क्षमा-याचना, प्रतिक्रमण, मुनि को दान देने, पहुँचाने, सामने जाने के लिये उठता बैठता है सो कैसे ? साधु-साध्वी गृहस्थ को उपर मुजब कर्तव्य वतावे ; उसे एकांत पाप कैसे कहा जाय ?

"तथा साध श्रावक अवसर देखिने छकाय.राखसी सो तेवीस विषय मांहिली केटली विषय पोषी ? उपगार निमत्ते रक्षा करे ?"

और साधु-साध्वी श्रावक यथावसर छकाय के जीवों की रक्षा करते हैं तो वह तेइस में किस विषय का पोषण करता है ? उपकार नियम से रक्षा करता है इसमें एकांत पाप कैसे कहा जाय ?

"भगवंते पोखली आदिकने कह्यो, संखने हेलो मां निंदो मां गरहो मां सौ क्रोध वर्ज्योंतरे अठारे पाप वर्ज्या । तथा गौतम ने महासतक रे घरे मूकी सळ (शल्य) कढाव्यो तो भगवंतनें किसो पाप लाग्यो छे ? परं उपगारी छे गोसाला उपर अनुकम्पा दया आणी शीतल लेश्या मूकी सो गोसाले भगवंत ने किसी साता उपजाइ, पिण उपगारी पुरुष था ।"

भगवान ने पोखली आदि श्रावकों को, शेख श्रावक की अवहेलना, निंदा नहीं करने को कहा । अतः क्रोध को निषेधा—अठारह पापों का निषेध किया । और गौतम स्वामी को महाशतकजी के घर भेजकर शल्य निकलवाये तो भगवंत को कौन-सा पाप लगा । वे तो परम उपकारी थे । गोशालक उपर अनुकंपा लाकर शीतल लेश्या से उसे वचाया; किन्तु गोशाले ने कौन-सी भगवान की सेवा की थी जिसके राग से प्रेरित होकर भगवान ने उसे वचाया ? उस समय भगवान वीतराग नहीं थे । फिर भी यह प्रवृत्ति वीतराग भाव में समाविष्ट हो जाती है, क्योंकि वे परम उपकारी थे ।

* * *

इस प्रकार लोगों के सामने पू. जयमलजी ने अपने स्पष्ट विचार रख दिये और भीखणजी द्वारा फैलाये गये भ्रम का स्पष्ट निराकरण किया कि उनकी वातों में और भीखणजी की फैलाई गई गलत वातों में कोई मेल नहीं है ।

इस प्रकार धर्म का स्पष्ट स्वरूप लोगों के हृदय में विठाकर, चातुर्मास पूर्ण करके पूज्यश्री ने सोजत से आगे विहार किया ।

पूज्यश्री ने फ़रमाया—"आपकी भक्तिभावना सराहनीय है। यों तो इस नगर का नाम के अनुसार जय जय कारी है ही, इसका कारण ये है कि आपकी यह नगरी धर्मपुरी के नाम से पहचानी जाती थी। सभी धर्मवाले अपने अपने धर्म का सुख-शान्ति से पालन करते थे। प्रजाजन सप्तव्यसन से दूर ही मालूम होते थे, किन्तु पिछले कुछ समय से वैसी स्थिति नहीं रह पायी है। आप स्वयं-निरीक्षण करेंगे तो आपको पता चलेगा कि यह नगर क्या से क्या हो गया है? आप अपने नगर में यथापूर्व धर्म पालन की सुव्यवस्था स्थापन कर लेंगे तो इस चातुर्मास की स्मृति लोगों को बहुत समय तक याद रहेगी।"

महाराजा माधवसिंहजी ने कहा—"जैसी आपकी इच्छा है, वैसा होगा"।

कहा जाता है कि महाराजा माधवसिंहजी ने दीवान रतनचंदजी से सारी बातें जान लीं और श्याम तिवारी की कई करतूतें उनके आगे स्पष्ट हुईं। उन्हें बड़ा दुख हुआ कि उनका नाम लेकर एक बड़े जैन पंडित को हाथी तले कुचलवा दिया गया था और जैनियों के साथ एंव उनके धर्मस्थानों के साथ अत्याचार हुए थे।*

उन्होंने पूरी जांच कर श्याम तिवारी को दोषित पाया और उसे निष्कासन किया और पूज्यश्री को विहार न करवाकर सं. 1819 की मिगसर वदी दूज एक ख़ास फ़रमान जारी करके राज्य के तेंतीस परगनों में आदेश दिया गया कि "जैन धर्म को प्राचीन और जैसा था वैसा स्थापित किया जाय और उसकी आराधना करनेवालों पर एंव उनकी माल मिलकत एंव धर्म स्थानकों की जो वस्तुएँ एंव सामग्रियाँ ले ली गयी हैं उन्हें वापस की जाँय"।

जयपुर राज्य को जैनियों में जब ये समाचार पहुँचे तब सभी के हृदय प्रसन्नता से भर गये। जयपुर नगर में उस दिन पूज्यश्री जयमलजी महाराज के जयजयकार से गगन गूंज उठा था।

ऐसे उपकारी पूज्यश्री ने जयपुर से विहार किया, तब अनेक जैन-अजैनों की आँखें आँसुओं से सजल हुई और वैसा होना स्वाभाविक भी था।

पुज्यश्री ने धर्म में दृढ़ रहने का विदाई संदेश दिया।

*

---

* बहुत से लोगों का यह विचार है कि ये घटना संवत् 1821-24 में हुई है—किन्तु श्याम तिवारी का जैनियों के ऊपर उपद्रव का प्रारंभ संवत् 1817 के अन्त में था और संवत् 1819 तक के मध्य तक रहा। उसी समय ही षड्यंत्र के द्वारा पंडित टोडरमलजी को हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया जाना अधिक युक्तिसंगत लगता है क्योंकि संवत् 1819 के मिगसरवदी दूज को राज्य का शान्ति आदेश निकला था और उसके बाद जैनियों के साथ अत्याचार बंद हुए थे। पूज्य श्री जयमलजी का उस जैनद्वेष युक्त वातावरण में चातुर्मास करना और राजा को सही ज्ञान कराकर जैन धर्म की प्राचीन प्रस्थापना करवाना अत्यन्त महत्वपूर्ण और उनकी आत्मशक्ति का परिचायक है।

६४

जय—आशकरण—संयम
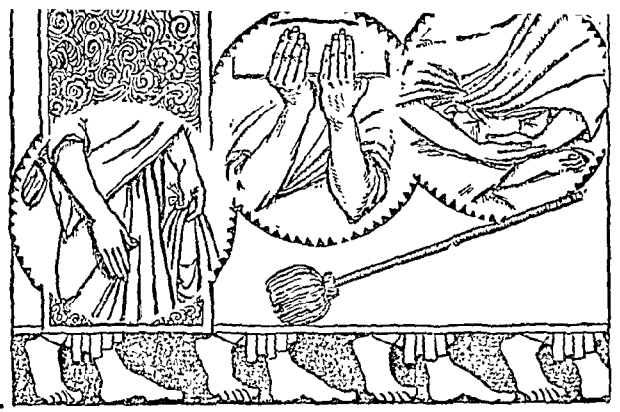
राजकीय परिस्थिति फिर बिड़ने लगी थी। मराठा और फिरंगी अपने अपने पैर फैलाते जा रहे थे। दिल्ली सल्तनत के पैर खिसक रहे थे और उसके अलग अलग सूबेदार स्वतंत्र होते जा रहे थे। मराठाओं का प्रभुत्व चरम सीमा पर पहुँचा था।

ऐसी परिस्थिति में धर्म-ज्ञान और धर्म-कर्म ही जीवन को सच्ची शांति देनेवाले थे। जीवन की अस्थिरता में अनेक वाद, मत आदि भी प्रबलता से बढ़ते जा रहे थे। उसमें सच्चा ज्ञान सिर्फ़ सूत्र आगम के प्रचार से दिया जा सकता है। पूज्यश्री भी उसी प्रकार अपने प्रवचन आदि में सूत्रों को स्पष्ट बताते थे।

पूज्यश्री आदि संत जोधपुर से विहार करके अनेक गांव विचरते हुए किशनगढ़ की ओर विहार कर रहे थे। जैन संतों के आचार के बारे में स्पष्ट दिग्दर्शन कराते हुए वे आचारांग सूत्र को देख जाने के लिए कहते थे। सूत्र और ढाल सज्झाई आदि से भरपूर उनका प्रवचन लोगों में उत्साह जगाता था।

विहार करके पूज्यश्री आदि ठाणे पाँच किशनगढ़ पहुँचे। संवत् 1821 का उनका चातुर्मास किशनगढ़ में होने से लोगों में आनंद छा गया। किशनगढ़ में आर्य बालाजी ठाणे-4 का एवं आर्या कुशलाजी आदि ठाणे-8 का भी चातुर्मास था। अतः भाइयों और बहनों में भी उत्साह छा गया था।

पूज्यश्री आचारांग सूत्र के साथ उसके उपांग सूत्र उववाई सूत्र के आधार पर बनाई समोवसरण की रचना सुना कर लोगों में धर्मजागृति फैलाते थे।

इस काल में धर्म के नाम पर मतभेद चल रहे है, ऐसा नहीं है। किन्तु भगवान महावीर ने सूयगडांग सूत्र में उस समय के तीन सो तिरसठ वादियों का 180 क्रियावादियों का 84 अक्रियावादियों का 67 अज्ञानवादियों का, और 32 विनयवादियों का उल्लेख किया है ऐसा लोगों को समझाते थे। ज्ञानी उनको समझकर सत्य किया है, यह जानकर धर्म मार्ग पर आगे बढ़ें। पहले श्रुत स्कंध में उस समय के छह दर्शन और गोशालक आदि के मत का स्पष्ट दर्शन कराते हुए मोक्ष मार्ग पर प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मण, श्रमण, निर्ग्रंथ, भिक्षु आदि

६३

जय—सोजत विहार
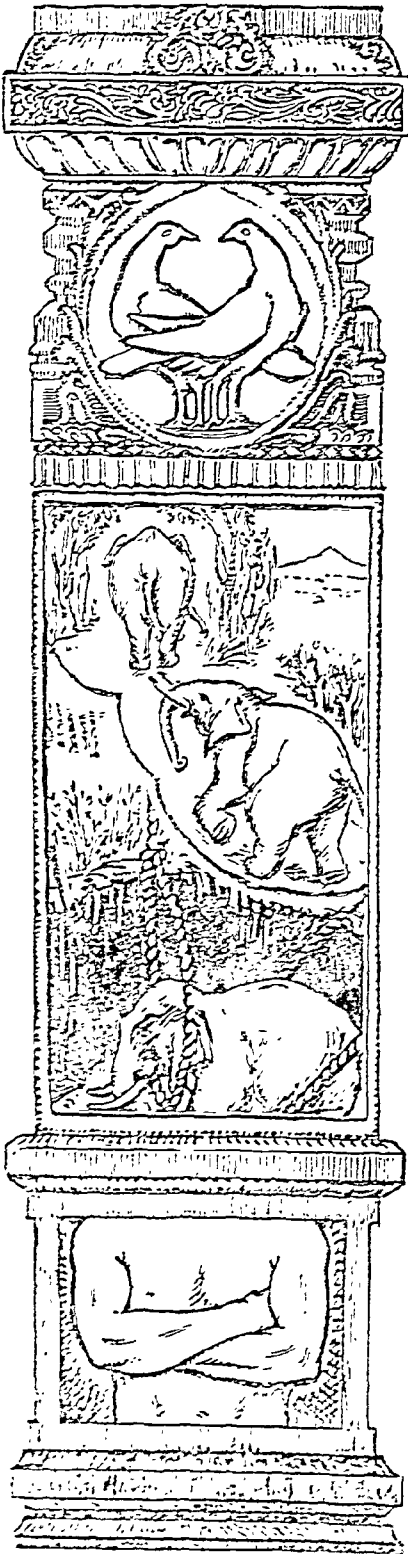
जयपुर में जैन धर्म का प्रचार और समाज में शांति कराके चातुर्मास बाद, पूज्य श्री जयमलजी आदि संतों ने जयपुर से विहार किया। कुछ संतों के अलग सिंघाड़े बनाकर उन्होंने जयपुर के आसपास के क्षेत्र में विचरण करने का आदेश दिया। महासतियोंजी के सिंघाड़े भी उस ओर धर्म-प्रचार करने में लगे थे।

जयपुर के जैन समाज के लिये जो राजाज्ञा प्राप्त हुई थी और उसके पीछे पूज्य श्री के उपदेशों का महाराजा माधवसिंह प्रथम पर कितना बड़ा महत्व था, उससे सभी परिचित हो चुके थे; अतः उनकी विदाय के समय जैनों के सभी वर्ग के लोग, बड़ी संख्या में उनके जयजयकार के नारे लगाते हुए उन्हें दूर तक पहुँचाने गये। पूज्यश्री ने धर्म-ध्यान करने और धर्म श्रद्धा पर दृढ़ रहने का संदेश दिया।

पूज्यश्री धर्म-प्रचार करते हुए चातुर्मास के पूर्व पीपाड़ मेड़ता होते हुए जोधपुर पहुँचे। वहाँ पर आचार्य रघुनाथजी विराजते थे। दोनों आचार्यों का मिलन हुआ। बीकानेर की रामकुंवर बाई ने बीकानेर पधारने की विनती की और पूज्यश्री जयमलजी ने भी उसका समर्थन किया कि आपको उस क्षेत्र में पधारना चाहिए। दीवान फतेहसिंहजी सिंघी ने भी आचार्यश्री को दूर के क्षेत्रों में धर्म-प्रचार करने का आग्रह किया। आचार्यश्री रघुनाथजी ने स्वीकृति दी।

पर भी प्रकाश डाला गया है। द्वितीय श्रुतस्कंध में क्रियावादी, अक्रियावादी और अज्ञानवादी का दिग्दर्शन कराते हुए कमल की तरह कीचड़ से संपूर्ण निर्लेप रहने का बताया गया है। आर्द्रकुमार आदि के दृष्टांतों से अन्य दर्शनों से विवाद बताते हुए जीवन में धर्म के आचार के भेद आगार, अनागार पर प्रकाश डाला गया है।

इसी प्रकार दूसरे उपांग रायपसेणिय में भगवान पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य केशी स्वामी नास्तिक राजा को भी चर्चा विचार से समझाकर किस प्रकार धर्म में स्थिर करते हैं, यह बताया गया है।*

पूज्यश्री जयमलजी का किशनगढ़ का चातुर्मास अनेकानेक लोगों में धर्म प्रभाव बढ़ानेवाला सिद्ध हुआ। महिलाओं में धर्म जागृति सविशेष हुई। मैना बाई जो दीक्षा के भाव के साथ महासतियाँ जो के साथ थी उसकी मानसिक परिपक्वता देखते हुए किशनगढ़ श्रीसंघ ने ये उत्सव अपने आंगन में बड़े उत्साह से मनाया। महासतियों में सती जेठाजी ने एक मास के, सती कृष्णाजी ने सत्रह दिन के और सती चंदाजी ने बाईस उपवास की तपस्या की जिससे अनेक और भी तपस्यायें हुईं।

चातुर्मास पूर्ण होते पूज्यश्री ने विहार किया और लोगों ने भारी हृदय से उन्हें विदाई दी।

* * *

संवत् 1822 का चातुर्मास नागौर में था। पूज्यश्री के साथ बड़े टीकमजी, संत कुशलजी, संत बछराजजी, संत शोभाचंदजी आदि ठाने 5 विराजमान थे। पूज्यश्री का तप चालू ही था। उनके साथ संत कुशलजी ने इस वर्ष भी एक मास के ऊपर उपवास प्रारंभ किये। पहली बार छत्तीस और दूसरी बार बत्तीस उपवास का तप किया। संत शोभाजी ने पहली बार पच्चीस और बाद में तीस उपवास किये। संत बछराजजी ने उनतीस दिन के उपवास किये। इस प्रकार तप और धर्म आराधना की लहर सी दौड़ गयी।

उनका प्रवचन सूत्रों से ही होता था। सूत्र ही जैन धर्म पर प्रकाश डालते हैं। अलग-अलग सूत्रों की अपनी विशेषता है। ठाणांग सूत्र में गणित की संख्या के आधार पर

---

* पूज्यश्री जयमलजी ने रायपसेणीय सूत्र के आधार पर परदेशी राजा की ढाल संवत 1817 में पूर्ण की (जयवाणी पृ. 260)
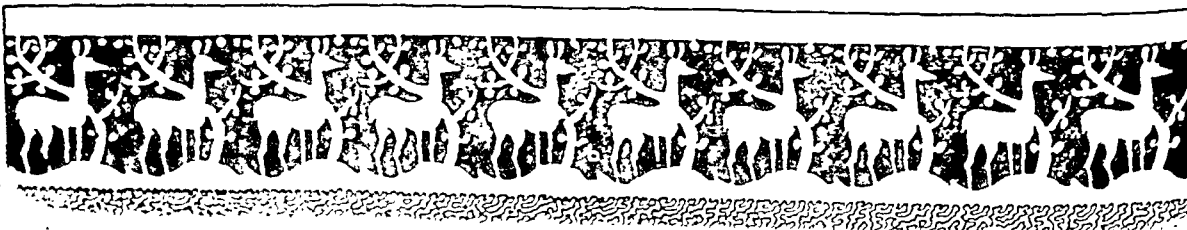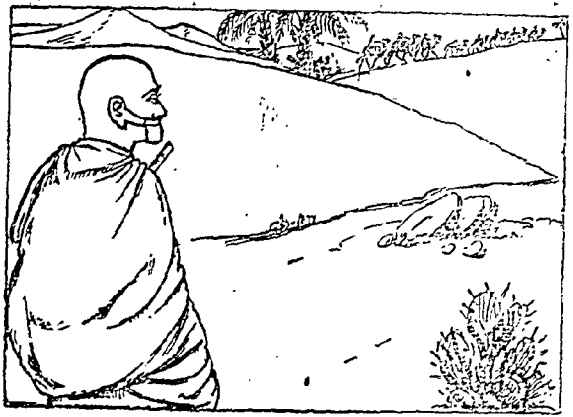
जोधपुर में दोनों आचार्यों के बीच भीखणजी को लेकर कई बातों का खुलासा हुआ। उनकी ओर से इस तरह का प्रचार किया जा रहा था कि भीखणजी को आचार्य रघुनाथजी ने पृथक् कर दिया था, फिर वे पूज्य जयमलजी से मिले और पूज्य जयमलजी उनके विचारों से सहमत हो गये थे।

पूज्यश्री जयमलजी के विहार का समय और क्षेत्र देखते हुए ये बातें जूठी गढ़ी गयी थीं। कभी जोधपुर में मुलाकात हुई ऐसा बताया जाता था, किन्तु जोधपुर से तो पूज्य श्री जयमलजी ने बीकानेर की ओर विहार किया था और उस मार्ग की कठिनता देखते हुए पूज्यश्री जयमलजी बहुत पहले नागौर पहुँच गये थे। पुनः जोधपुर के बाद सभी संत नागौर मिले थे और वहाँ पर भी भीखणजी को दंड दिया गया तब भी पूज्य श्री जयमलजी उपस्थित थे। अतः वहाँ से वापस जोधपुर जाने का पूज्यश्री जयमलजी को प्रयोजन ही न था और यदि पूज्य श्री जयमलजी जोधपुर होते तो जिस षड़्यंत्र के विरुद्ध दीवान फतेहचंदजी सिंघी के साथ के भोजक ने दुहा ललकारा उस समय पूज्यश्री जयमलजी की किसी भी रूप में उपस्थिति दीखती....साथ ही पूज्य श्री जयमलजी होते और उनका समर्थन भीखणजी को होता तो भीखणजी आदि सभी उसके साथ किसी स्थानक में होते। अतः जोधपुर में भीखणजी एवं पूज्यश्री जयमलजी के मिलन की बातें कितनी भ्रम-पूर्ण और गल्त है यह सभी को स्पष्ट हो गया।

फिर भी भीखणजी के कुछ समर्थकों की ओर से यह बात फैलाई जा रही थी कि पूज्यश्री जयमलजी और भीखणजी का मिलन बीलाड़ा के पास हुआ और पूज्यश्री ने बड़ी सहृदयता से भीखणजी से भेंट की एवं वे भीखणजी से विचारों से प्रभावित हो गये। भीखणजी को आज्ञा से बाहर किया गया वह स्पष्टतः होली चातुर्मास के आसपास का समय था। उस समय पूज्यश्री जयमलजी नागौर से बीकानेर की ओर विहार कर चुके थे।

लोगों के सामने जब ये सत्य सामने आये तो उन्होंने और भी बातें ढूंढ़ निकालीं। बीलाड़ा में हाकिम सिंघी जेठमलजी थे। उन्हीं दिनों चंपावत सरदार सबलसिंह ने हमला किया।

एक संख्यावाले, दो संख्यावाले क्या क्या पदार्थ हैं उनका विवरण दिया गया है। स्थानांग सूत्र में एक से दस तक के पदार्थों का विवरण हैं। किन्तु समावायांग सूत्र में एक से लेकर संख्यात पदार्थों में सौ, दो-सौ ढाई सौ, कोटि, कोटाकोटि पदार्थ कौन से हैं उसका वर्णन किया गया है। उसीके अनुरूप जीवाभिगम उपांग सूत्र में जीव, अढाई द्वीप चौवीश दंडक आदि का वर्णन किया गया है तो प्रज्ञापना में जीवाजीव पदार्थो के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। प्रज्ञापना के रचयिता श्री श्यामाचार्य ने 36 विभागों में जीवाजीव की गति, स्थिति, योनि, कषाय, लेश्या, कर्मबंध आदि का बड़ी सूक्ष्मता से स्पष्ट वर्णन किया है।

पूज्य श्री के सूत्रों के ज्ञान सागर से भरे प्रवचनों से नागौर चातुर्मास में लोगों के धर्म भावना और भी दृढ़ हुई ओर चातुर्मास पूर्ण होने पर बीकानेर एवं थली प्रांत के लोगों के आग्रह से उस ओर उन्होंने धर्म प्रचार के लिये विहार किया।

* * *

पूज्यश्री ने इस वार थली प्रदेश के उत्तर पूर्वी प्रदेश जो कि पंजाब से स्पर्श करते थे वहाँ तक विहार कर लोगों में धर्म प्रचार किया। वे तीन अन्य संतों के साथ बीकानेर चातुर्मास को पधारे। लोगों में उत्साह छा गया। महासती कुशलजी और सती गुमानाजी आदि अन्य सतियों का भी वहाँ चातुर्मास था। जिससे भाइयों और बहिनों में उत्साह छा गया।

लोंगों में ज्ञान-प्रचार करने के लिये और संशय मिटाके सम्यक् ज्ञान का परिचय पाने के लिये भगवती-सूत्र सुप्रसिद्ध है। इसका मूल नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति है; किन्तु भगवती सूत्र के नाम से यह प्रचलित है। विविध राजाओं, नरेंद्रों, देवों और खासकर गौतम गणधर के द्वारा पूछे गये संशयात्मक 36000 प्रश्नों को श्री गौतमस्वामीजी पूछते हैं और भगवान महावीर उनका उत्तर देते हैं। उसका विवरण इसके 49 शतकों में आता है। भगवती सूत्र का वांचन करने के पहले जैन दर्शन के नयवाद को और सारी दर्शन मीमांसा को सूयगडांग सूत्र के द्वारा जानकर, आचारांग सूत्र के द्वारा साधु आचार स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है।

ज्ञान के विशाल भंडार समान इस सूत्र में अनेकानेक दृष्टांत हैं—कथाएं हैं; *1 जीवों का वर्णन है। ऐसा कहा जाता है कि भगवती सूत्र जिसके समझ में आया उसे जैन धर्म समझ में आ गया और जो इसको स्पष्ट समझने से उलझा, वह हमेशा उलझा ही रहेगा। *2 उपांग

---

*1 भगवती सूत्र के 10 वें शतक के आधार पर उदायी राजा के चरित्र की पूज्यश्री ने बड़े सुंदर ढंग से रचना की है।

*2 श्री भीकमजी के बारे में ऐसा ही कहा जाता है कि पूरा भगवती सूत्र जाने बिना उन्होंने दया-दान निषेध प्रचार प्रारंभ किया था।

उनके साथ चार सौ सैनिक थे। जैठमलजी के पास चालीस ही लोग थे: फिर भी वे बहादुरी से लड़े और ऐसा पराक्रम दिखाया कि सर कट जाने पर भी उनका धड़ लड़ता रहा जिसे देखकर चांपावत सरदार के सैनिक भाग निकले। लोगों ने उनकी स्मृति में वहां छतरी बांधी।* वे उस समय जुझारजी कहलाये। अतः बिलाड़ा का क्षेत्र युद्ध के कारण अशांत था—वहाँ संतों का विचरण शक्य नहीं था।

पूज्यश्री जयमलजी ने कहा कि "जो जूठा होता है उसकी ओर से जूठ का प्रचार होता है। इसलिए कभी मेरा नाम लेकर कभी आचार्यश्री का नाम लेकर बातें फैलाई जाती हैं।"

आचार्यश्री रघुनाथजी की ओर से भी कई बातें स्पष्ट हुईं। एक बात और भी चलाई गयी कि आचार्यश्री रघुनाथजी ने पूज्य जयमलजी को खास संदेशा भेजा था कि "वे भीखण की बातों में न आएँ। क्योंकि आगे जाकर भीखण पूज्य जयमलजी का नाम लेकर अपनी संप्रदाय कर लेगा।"

आचार्यश्री ने कहा कि "ऐसा संदेशा पूज्य जयमलजी को भेजने का मुझे क्या काम है? वे स्वयं समझदार हैं और ऐसे ज्ञानी चरित्रवान और लम्बे संयमवाले, आगम विरुद्ध प्ररूपणा करनेवाले को समर्थन करे यह अज्ञानी और जूठे लोगों की बनाई बात है; फिर वह संदेशा जोधपुर में भेजा, इससे बढ़कर कौन सा असत्य हो सकता है जब कि पूज्य जयमलजी नागोर-बीकानेर की ओर विचरण कर रहे थे। जो स्वयं समर्थ और ज्ञानी हैं उनको मैं समझाऊँ इससे बढ़कर और क्या असत्य हो सकता है?"

जोधपुर में उस समय कई गाँवों के श्रीसंघ के लोग इकट्ठे हुए थे। भीखणजी को लेकर जितनी भ्रांतियां दोनों आचार्यों के बारे में लोगों में फैलाई गयी थीं उसका समाधान हुआ और ऐसे जूठे को कहीं स्थान नहीं मिलना चाहिये ऐसा सभी श्रीसंघों ने निश्चय किया और सभी जगह वैसा आदेश भेज दिया गया।*

---

* आज भी बिलाड़े में उनकी छतरी कायम है।

* इसके बाद भीखणजी को कहीं स्थानक में उतरने को नहीं मिला। अतः वे स्थानक 'आधा कर्मी' है और उसकी निंदा पर उतर गये—इसमें भी आगे बढ़कर उन स्थानकों में उतरनेवाले साधुओं की भी निंदा करनी शुरू की। जोधपुर के श्रीसंघ में उनका यह हाल हुआ कि भीखणजी का एक भी चातुर्मास नहीं हुआ। जहाँ बोध हुआ उस राजनगर में सिर्फ एक चातुर्मास हुआ। और जहाँ तेरापंथ के आयोजन का कुतंत्र रचा गया उस जोधपुर में एक भी चातुर्मास नहीं हुआ—यह कई बातें स्पष्ट करता हैं।

सूत्रों में हालांकि प्रज्ञापना में इसमें वर्णित विषयों का विवरण दिया गया है ; फिर भी क्रमश पाँचवें उपांग जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति में जंबुद्वीप उसके चक्रवर्ती, नवनिधान, चौदहरत्न आदि का वर्णन है।

चातुर्मास के दिन तप और धर्म आराधना में बीतने लगे। संत श्री शोभनजी ने एक बार 25 और दूसरी बार 30 उपवास किये। आर्या जसुजी ने भी 30 उपवास किये और आर्या गुमानाजी ने 17 उपवास किये। संत-सतियों के इतने लंबे उपवास से बीकानेर के राजा और प्रजा दोनों प्रभावित हुए। बीकानेर नरेश पहले से ही पूज्यश्री से प्रभावित थे। संतों के उग्र तप से उनकी जैन संतों पर श्रद्धा बढ़ी।

लोगों की बड़ी इच्छा थी कि उनका अगला चातुर्मास भी वहाँ हो ; किन्तु चातुर्मास बाद उन्होंने वहाँ से विहार किया। मगर बीकानेरवालों की इच्छा फली ; क्योंकि अगले वर्ष का चातुर्मास संत रायचंद्रजी ने वहाँ किया।

* * *

सं. 1824 के चातुर्मास के लिये पूज्यश्री अन्य पांच संतों के साथ धर्म प्रचार करते हुए मेड़ता पधारे।

प्रात: कालीन प्रार्थना में और प्रवचनों के पहले उनकी बीस विहरमानों की वंदना अनेक कंठों से गूंजती हुई भावना का वातावरण साकार करती थी।

श्री विहरमान वंदू वीसो....
सीमंधर युग मंदिर स्वामी
बाहुजी सुबाहुजी हितकामी
सुजात स्वयं प्रभु इशो
श्री विहरमान वंदू वीसो....।[1]

मेडता नगर वर्तमान राजकीय परिस्थितियों में अनेक बार युद्ध का मैदान बना, कई बार बिगड़ा और फिर बना। लोगों के अशांत जीवन के लिये पूज्यश्री जैसों की अमृत-वाणी ही शांतिदायक सिद्ध होती थी।

---

[1] जयवाणी पृ. ६७

उस समय कुछ गाँवों के श्रीसंघ ने किशनाजी म. के बारे में भीखणजी की ओर से पूज्य जयमलजी द्वारा तीन घर के बधामणां की बात का जो प्रचार किया जा रहा है वह सुनाया। दोनों आचार्यों ने इतना ही कहा :—" मिथ्यात्व का साथ न देकर किशनाजी सच्चे साधु-धर्म पर स्थिर होकर रहे और एतदर्थ पुत्रमोह भी त्याग दिया तो वह आनंद की बात है ! " उस समय दोनों आचार्यों की एक ही संप्रदाय थी।

एक प्रकार से दोनों आचार्यों के मिलन से बहुत-सी बातों का स्पष्टीकरण हो गया। जो भीखणजी के साथ चले गये थे उनमें पाँच को छोड़कर बाकी तो उनसे अलग हो गये थे या प्रारंभ से अलग थे। बाकी जो पुनः पूज्य भूधरजी की संप्रदाय में आना चाहें तो उन्हें प्रायश्चित्त देकर ले लिया जाय ऐसा भी विचार हुआ।

जोधपुर में पुनः पूज्य भूधरजी के संतों का यह मिलन एकता के मधुर वातावरण के साथ पूरा हुआ। उस समय संत कुशलचंदजी, संत रायचंदजी आदि ठाणे भी वहीं थे। संत रायचंदजी की प्रतिभा निखर रही थी। दोनों आचार्यों की दृष्टि में उनका भविष्य उन्नत था।

संतों के इस मिलन के उपलक्ष्य में उनके सहज स्वाभाविक उद्गार इन पंक्तियों में प्रगट हुए थे :—

धन....धन मोटा जिनवर....!

इसमें पूज्यों की स्तुति करते हुए अंतिम चरण जोड़ा था :—

रिख रायचंद इम विनवे, मोने मोटा गुरु मिल्या आप,
मारे ज्ञान दर्शन चारित्र वधे, सहु पूज्य तणो परताप; ....धन धन !
हरखे मांही खंतासु, कीधी गुणारी जोड........
होंस घणा दिन री हुंती पूरी छे मन की कोड ! ....धन धन !!

उनका विकास देखकर सभी संत प्रसन्न हुए थे।

आचार्यजी रघुनाथजी का चातुर्मास बीकानेर तय हुआ। उनका विहार उस ओर हुआ। सोजत के श्रीसंघ के आग्रह से पूज्यश्री जयमलजी ने पन्द्रह वर्ष बाद पुनः चातुर्मास

पूज्यश्री के साथ रहे हुए संत कुशलजी ने प्रथम वार 34 और द्वितीय वार 19 उपवास किये। संत वच्छराजजी ने एक मास के उपवास और संत गाजोजी ने 17 दिनों के उपवास किये। लोगों में भी तप का पूर आया हो वैसा तप का वातावरण छा गया।. अनेक उपवास, वेले, तेले और अठाइयाँ हुईं।

चातुर्मास समाप्ति पर पूज्यश्री का विहार नागौर की ओर हुआ। संत रायचंदजी बीकानेर से विहार कर नागौर की ओर आ रहे थे। गुरु-शिष्य का मिलन हुआ। अनेक वातों पर चर्चा विचारणा हुई।* संत रायचंदजी ने मेड़ता चातुर्मास के लिए प्रस्थान किया और पूज्यश्री ने नागौर की ओर विहार किया।

* * *

सं. 1825 का पूज्यश्री का चातुर्मास नागौर में हुआ। पूज्यश्री के सूत्रों के आधार पर प्रवचन और पद लोगों के हृदय में धर्म-भाव दृढ़ करते थे।

ज्ञाता धर्म-कथा-सूत्र के प्रथम स्कंध के 19 अध्ययनों में 19 धर्म कथाएँ हैं। इसमें अलग-अलग प्रकार से वैराग्य प्राप्त धर्म पुरुषों के जीवन चरित्र हैं। दूसरे स्कंध में प्राश्र्वनाथ प्रभु की 206 आर्याओं का जीवन है। सातवें अंग सूत्र उपासक दशांग में भगवान महावीर के दश श्रावकों के जीवन चरित्र आये हुए हैं।†

इसी प्रकार चन्द्रप्रज्ञप्ति अंग सूत्र में चन्द्र को विभिन्न गति, नक्षत्र, योग एवं पांचों संवत्सर का विस्तृत वर्णन है, तब सूर्य प्रज्ञप्ति में सूर्य संबंधी विवरण दिया गया है।

उपासक दशांग पर आधारित पूज्यश्री ने शकडालपुत्र की ढाल की रचना नागौर चातुर्मास में की। शकडाल पुत्र श्रावक को भगवान महावीर ने आजीविक गोशालक के मत से हटाकर जैन धर्म में स्थिर किया था। इस रचना के प्रारंभ के पद थे :—

वीर नमूं शासन धणी गणधर गौतम सार।
मोटी पदवी ना धणी लब्धि तणा भंडार॥

---

* पूज्य रायचंदजी के जीवन पर संशोधन चल रहा है। इन मिलनों के बारे में विशेष प्रकाश भविष्य में प्रकाशित ग्रंथों में किया जायेगा।

† जयवाणी पृ. 460. उपासकदशांग सूत्र के अनुसार 'महा-शतक जी' पर भी जोड़ पूज्यश्री जयमलजी ने बनाई है।
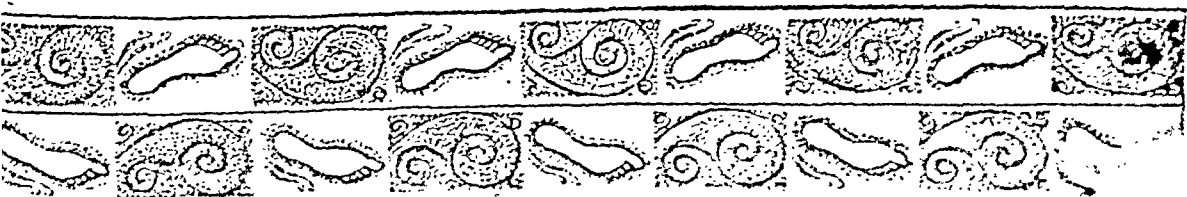
की स्वीकृति दी जिससे आनंद छा गया। संत कुशलजी का चातुर्मास सिरीयारी तय हुआ।* संत रायचंदजी का चातुर्मास फलोदी तय हुआ।

जोधपुर से सभी संतों ने अपने चातुर्मास के स्थानों के लिये विहार किया। पूज्य श्री जयमलजी आदि ठा. ४ का चातुर्मास निमित्त सोजत की ओर विहार हुआ। अन्यान्य गाँव स्पर्शते हुए संतों ने सोजत में पदार्पण किया।

सोजत श्रीसंघवालों ने बड़े आदर सन्मान के साथ और जयजयकार के नारों के साथ उनका नगर प्रवेश करवाया और पूज्य श्री ने अपने प्रवचनों से, उपदेशों से धर्म जागृति लानी शुरू की। पूज्यश्री का एकांतर तप तो चालू ही था।

सतियों का सिंघाड़ा भी चातुर्मास निमित्त था। सती जीवुजी ने एक मास के उपवास किये जिसे देख-देख अन्य लोगों ने भी उपवास किये।

सती रूपाजी ने अपनी अस्वस्थता देखकर संथारा करने की इच्छा पूज्यश्री के आगे प्रगट की। उनका दृढ़ मनो-बल देखकर पूज्यश्री ने उन्हें संथारा पच्चक्खवाया। एक के बाद एक इस तरह बत्तीस दिन में संथारा सिद्ध हुआ। सतियांजी के संथारे के समाचार आसपास के गांव में पहुँच गये थे और बहुत से पास और दूर के नगर के श्रीसंघ इस अवसर पर पहुँचे थे। उस दिन बहुतसों को उपवास था। पालखी में स्थिर बिठाये महासतीजी के देह का अंतिम संस्कार किया गया। पूज्यश्री ने कहा—"संसार इसी तरह क्षण-भंगुर है। जो धर्म आराधन करते हैं, उनका जीवन सफल है!"

पूज्यश्री के प्रवचनों में दया-दान आदि की सूक्ष्म बातों का वर्णन रहता था। जैन धर्म में जब तक स्याद्वाद की विचारधारा स्पष्ट समझो नहीं जाय वहाँ तक पात्र- अपात्र और जीव रक्षा की सूक्ष्मता का विचार नहीं हो सकता; उसे सही रूप में समझने में आना कठिन है। किन्तु जैन संतों और जैन धर्मानुयायी के लिये वह आचरण रूप में होने से उसका सीधा-सादा स्वरूप तो जैनों के सामने स्पष्ट है। तीर्थंकरों ने वर्ष भर उत्कृष्ट दान देकर भवि जीवों पर करूणा लाने अपने जीवन के माध्यम से उसे स्पष्ट किया है। फिर भी जो उनसे भी अपने

---

* भीखणजी का भी चातुर्मास वहीं था। चातुर्मास तालिकायें देखने से विश्वास होता है कि आचार्य रघुनाथजी, पूज्य जयमलजी और संत कुशलजी के जीवित रहने तक भीखणजी का जोर नहीं चलता था, न उनकी बातों का समाज पर कोई प्रभाव पड़ा था।
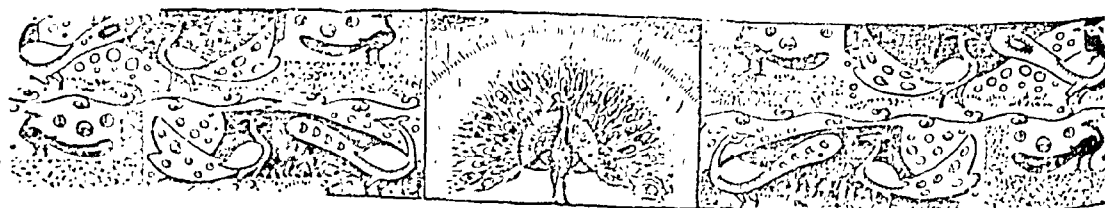
सुधर्म स्वामी का पाटवी जेहना अंतेवास ।
जंबु साम पूछा करे उपासगदशा प्रकाश ।।
कुंभकार सद्दालना भाव कह्या भगवान ।
तिण अनुसारे जोड़कर कहूँ सूणो धर ध्यान ।।

सकडाल पुत्र श्रावक की कथा आदि का रसिक वर्णन और नियति एवं पुरुषार्थ वाद के संबंध में उनका दिग्दर्शन वड़ा ही रोचक होता था जिसे लोग बड़े ध्यान से सुनते थे ।

नागौर चातुर्मास में पूज्यश्री ने ज्ञाता धर्म कथा पर आधारित तेतली पुत्र प्रधान की ढाल भी बनाई । प्रारंभ इस प्रकार था—

तेतली पुत्र प्रधानरा भाख्या भगवंत भाव ।
सूत्र ज्ञाता ने विसे ते सुणजो करि चाव ।।

इसकी धर्म कथा सुनकर लोगों के हृदय में धर्म-भावना जागृत हुई । अंत में समाप्ति पूज्यश्री ने इन पदों से की :—

संवत अठारे पच्चीस में रे नागौर कियो चौमास ।
ऋषि जयमल जोड़ करी रे सूत्र अनुसारे भास रे ।।*

पूज्यश्री के इस नागौर चातुर्मास में लोगों को उनकी और भी रचनाओं का लाभ मिला । उनके संत श्री शोभनजी ने प्रथम 37 दिन के ओर बाद 24 दिन के उपवास किये ।

आर्याओं में सती राजाजी और सती जसुजी के दो सिंघाड़े चातुर्मास में स्थिर थे । उनके साथ रही सतियों में, सती जसुजी ने पहले 29 और बाद में 14 उपवास किये । सती किशनोजी ने 30 और बाद में 31 उपवास किये । सती डाहीजी ने 15 और सती गजाजीने 10 उपवास किये ।

चातुर्मास के बीच बड़े टीकमजी का स्वास्थ्य बराबर नहीं रहा । दूसरा सावन चल रहा था । उन्होंने पूज्यश्री से कहा कि "अब शरीर की आस्था नहीं रही है—संथारा पच्छक्खा दें ।"

---

* जयवाणी पृ. 443 । ज्ञाता धर्म सूत्र के अनुसार उनकी बनाई 'मेघकुमार' और 'सती द्रौपदी' की ढालें भी पूज्यश्री की जयवाणी में संकलित हैं ।

सब ने सुदर्शन सेठ का जयजयकार बुलाया। इधर यह समाचार महल में पहुँचा। राजा दौड़ता-दौड़ता आया। उसने सुदर्शन की माफी माँगी। उधर रानी अभया ने महल के ऊपर से गिरकर आत्म-हत्या कर ली। जिस धाई माँ ने साथ दिया था वह भाग गई।

सभी ने सेठ सुदर्शन के दृढ़ व्रत-धर्म की प्रशंसा की; मगर इसके बाद सुदर्शन का आत्म-ज्ञान जागृत हो गया। जिस रूप के मोह में फँस कर ऐसा अनर्थ होता हो, उसको उन्होंने संयम-मार्ग पर अर्पण कर दिया।

* * *

कथानक पूरा करके आचार्यश्री ने कहा कि सेठ सुदर्शन के पास कौन थे ! उनका धर्म ही उनके साथ था। उसके उपर वे दृढ़ थे। उन्होंने मोह को दूर किया; इतना ही नहीं, व्रत पालन के लिये कितने बड़े लोभ को भी ठुकरा दिया।

वास्तव में तो जीव ये सारे कर्म करता रहता है, राग और मोह के कारण। राग से आसक्ति पैदा होती है और आसक्ति मोह लाती है। यह मेरा है, यह मेरा है — ऐसा झूठा राग आत्मा आलापता रहता है; किन्तु सचमुच उसका कोई नहीं होता। जो कर्म आत्मा अपने सगे-सम्बन्धी के लिये बाँधता है, उसका फल उसको ही भोगना पड़ता है। उसमें सगे-सम्बन्धी सहायक नहीं होते।

यहाँ तक कि वीतराग प्रभु का मोह भी आत्मा को केवल ज्ञान कराने में बाधक बनता है। वीरप्रभु महावीर पर गौतमस्वामी का कितना अनुराग ! मेरे प्रभु ! मेरे प्रभु !! कहते उनकी वानी थकती न थी और इसी के कारण उन्हें केवल ज्ञान नहीं होता था। उनके साथवाले और संतों को केवल ज्ञान होता देख गौतमस्वामी को मन में लगता भी था। अन्त में भगवान महावीर ने अन्त समय आया जान उन्हें देवशर्मा ब्राह्मण को समझाने भेजा। वहाँ पर प्रभु निर्वाण के समाचार सुनकर उनकी आत्मा क्षुब्ध हो उठी कि प्रभु ने अन्त समय मुझे दूर रखा ! धीरे-धीरे उनके ज्ञान-चक्षु पर से गुरु मोह का आवरण हटता गया और उन्हें केवल ज्ञान हुआ। जब उनकी यह स्थिति थी तो मोह-माया में फँस जंजाल बढ़ाते

हुए जीवों की क्या दशा होगी? उन्हें विचारना चाहिये और व्रत नियम पर स्थिर होना चाहिये। भगवान महावीर फरमाते हैं कि :—

समयं गोयम! मा पमायए।

हे गौतम! समय मात्र का प्रमाद न कर। जो पल बीत रही है उसका सदुपयोग कर ले। इसमें भी चातुर्मास में तो आप लोगों ने धर्म-जागृति की है और इसके बाद सुदर्शन सेठ की तरह अपने आप ही दृढ़ होकर व्रत नियम का पालन आपको करना है। अपने शील-व्रत पर ब्रह्मचर्य व्रत पर अडिग रहने पर, प्रलोभनों को दुत्कार देने पर, उनकी शूली सिंहासन बन गई और वे आत्मा का कल्याण कर गये।

जिनको आत्म-कल्याण करना है उनको विलम्ब नहीं करना चाहिये क्योंकि गई हुई रातें लौटकर नहीं आतीं और एक-एक दिवस मानव-जन्म का कम ही होता है। अतः हम संत लोग यही आशा करते हैं कि जो कुछ करना है, आज कर लो; कल का कोई विश्वास नहीं है। यह मानव-जन्म मिलना बहुत दुर्लभ है, उसे सार्थक कर लेना चाहिये!"

आचार्यश्री का एक-एक वाक्य जयमल के हृदय में गहरा उतरता जाता था; और उसके संस्कार जाग रहे थे। उसे लगा कि जिसकी उसे तलाश थी वह ज्ञान उसे मिल गया था।

उसने खड़े होकर कहा :—"पूज्य आचार्यश्री! आज आपका व्याख्यान सुनकर मुझमें सच्ची श्रद्धा जाग गई है और मैं अब तक क्यों आप से दूर रहा यही मुझे समझ में नहीं आता? मेरे माता, पिता, गुरु, स्वजन किसी ने यह आत्म-ज्ञान की बात मुझे नहीं बताई थी। आज आप से सच्चा ज्ञान मिलने पर मैं आप के शरण में आना चाहता हूँ; मुझे स्वीकार करो!"

सभी बैठे सज्जनों को यह सुनकर उत्साह बढ़ा। फिर जयमल ने कहा: "आपसे ज्ञान प्राप्त कर मैंने जो पहली बात स्वीकार की है वह ब्रह्मचर्य की....! आप मुझे ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा दिलावें!"

पूज्यश्री ने दो तीन दिन देखा ; किन्तु उनके स्वास्थ्य में सुधार होते नहीं देखा। अतः संत टीकमजी की इच्छा के अनुसार संथारा पच्चक्खा दिया गया।

वह दूसरे सावन बदी छः का दिन था। आसपास के गांवों में समाचार पहुँचा दिये गये। संथारा छ दिन चला और उन्होंने बड़ी समाधि के साथ देह त्याग किया। सभी लोगों ने मिलकर उनकी देह को पालखी में बिठाकर उनका अंतिम संस्कार किया।

संतों और श्रावकों के तप के साथ पूज्यश्री भी अनायास ही अपना तप लंबा कर लेते थे। और इन दिनों में वे काव्य साधना स्वतः स्फूरणा से करते जाते थे।

"अयवंता कुमार" चरित्र* की रचना उन्होंने आसोज सु. 7 को पूर्ण की ओर उसके बाद तुरन्त ही 'देवदत्त' (दुख विपाक) चरित्र को लिखना प्रारंभ किया। विपाक सूत्र के दो श्रुत स्कंध हैं उसमें पहले स्कंध में-दुःख विपाक में 10 चरित्र हैं और दूसरे सुख विपाक में भी दश चरित्र हैं।

पूज्यश्री ने इसका प्रारंभ इस प्रकार किया :—

ओंकार अरिहंत सिद्ध, आचारज सूत्रधार।
सब साध नमियां थकां बरते मंगलाचार ॥
इग्यारमा अंगने विसे दश कह्या दुख विपाक।
भवि जीवांने सांभलो चाहे पाप डर धाक ॥
नवमा अध्ययन तणो देवदत्ता नाम भाव।
ज्ञानी देव प्ररूपिया, चतुर सुणो धर चाव ॥*

इसकी समाप्ति का चरण उन्होंने लिखा :—

संवत अठारे पचवीस
कार्तिक वद तीय
नागोर रिख जयमलजी कहे ए।

नागौर के इस चातुर्मास में पूज्यश्री ने अपनी मधुरवाणी से, अनेक रचनाओं से और संत सतियों ने अपने उग्र तपों से जैन-अजैन सबको अपना भक्त बना लिया। पूज्यश्री ने चातुर्मास बाद जब विहार किया तो लोगों के दिल भर आये यह स्वाभाविक था।

* * *

---

* अप्रकाशित * जयवाणी पृ. 430
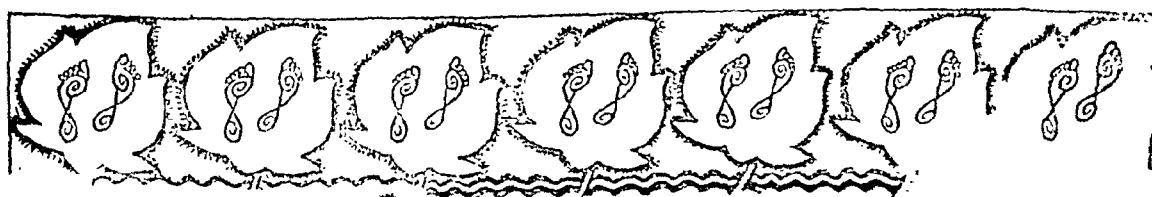
कार्तिक का महीना था। पूज्यश्री मध्यान्ह के समय कुछ जिज्ञासी पुरुषों के साथ बैठे हुए धार्मिक विषयों पर चर्चा विचारणा कर रहे थे। उस समय सामने से एक हिन्दु संत अपने अनुयायी के साथ पधारे।

आसपास बैठे हुए लोगों ने जान लिया कि ये राम-सनेही शाखा के सुप्रसिद्ध महंत रामचरणजी हैं। उन्होंने आते ही पूज्यश्री को दो हाथ जोड़ सविनय वंदन किया और उनके आगे हाथ जोड़ बैठ गये।

आपस की परिचय विधि के बाद उन्होंने पूज्यश्री के साथ ध्यान, समाधि आदि विषयों पर चर्चा विचारणा की।[1] पूज्यश्री ने उन्हें कहा—"आपके पास तो आत्म उद्धार के लिये जैन धर्म का रास्ता था! उसे आपने छोड़ दिया!"

"मैंने बाह्य रूप से भले छोडा हो; मगर अंतर से में जिनेश्वर को ही मानता हूँ।[2] और यदि भीखम वचन भंग न करता तो मैं भी इसी धर्म के दीक्षा संस्कारों से युक्त होता!" रामचरणजी ने कहा।

पूज्यश्री उन्हें सुनते रहे।

रामचरणजी* ने आगे कहा—हालांकि मैं 'राम' संप्रदाय का बना हूँ; फिर भी जैन धर्म के बारे में उसके द्वारा आत्म उन्नति की बातें जानकर आत्मा को वैसे उन्नत करना चाहता था। आपका नाम सुना था और वर्षों से मिलना चाहता था। आपने संवत् अठारह

---

1. संत लाल विचरित जय-राम संवाद के अनुसार।

2. उनके शिष्य नवलरामजी ने रामचरणजी की वाणी का संग्रह किया है। उसमें उनके उपदेश की लिखावट कई स्थानों पर "श्रीमद् वीतरागाय नमः" से प्रारंभ होती है।

* संत रामचरणजी के संबंध में उनके शिष्य नवलरामजी ने "राम अणभै वाणी" पुस्तक लिपिबद्ध की है। तदनुसार आपका जन्म सं. 1876 की माघ शुक्ला 14 शनिवार को जयपुर प्रांत के 'सोडा' गाँव में हुआ था। आप विजयवर्गीय नाम के वैश्यकुल के थे।

सं. 1808 में आप दांतड़ा पधारे। मेवाड़ के इस नगर में संतदासजी म. के शिष्य कृपारामजी महाराज के चरण की आपने शरण ली।

आप सविशेष भीलवाड़े में रहे और सं. 1828 में शाहपुरा पधारे। वहाँ के राजा रणसिंहजी थे। शाहपुरा विराजकर उन्होंने अपनी अनुभव वाणी कही जो उनके शिष्य नवलरामजी ने लिपिबद्ध की। तदनुसार :—

1. निराकार राम भजन अद्वैत ज्ञान और वैराग्य परत्व है।
   प्रारंभ श्रीमद् वीतरागाय नमः से होता है।

रामचरणजी के अंदर जैन संस्कार के कई उदाहरण उनके वचनों में मिलते हैं। जैसे वे लिखते हैं:—

अग्निसंस्कार :—पुद्गल होम होमसी किरिया।
चंदण मेवा घी संग जरिया॥

पूज्यश्री का शिष्य समुदाय बढ़ता जा रहा था। उनके अलग सिघाड़े बनकर, वे धर्म प्रचार के कार्य लग गये थे। सं. 1826 का चातुर्मास जोधपुर में था। उनके संतों में, संत रायचंदजी तीन संतों के साथ मेड़ता में, संत छोटे टीकमजी दो संतों के साथ बालोतरा में, संत प्रेमजी दो संतों के साथ तिवरी में, संत नगजी दो संतों के साथ नागौर में, संत कुशलजी आदि ठा. 2 सोजत में संत रूपचंद जी आदि ठा. 3 रोहोत में चातुर्मास कर रहे थे।

जोधपुर में आर्याजी कुशलजी आदि ठा. 5 का भी पूज्यश्री की सेवा में चातुर्मास था। सती किशनाजी ने 31 उपवास किये और बाद में 33 उपवास किये। अन्यान्य गांवों से भी उग्र तप के समाचार आ रहे थे। तिवरी में संत बच्छराजजी ने भी 30 उपवास किये थे।

पर्युषण पर्व के दिनों में विशेष रूप से अंतगड़दशांग सूत्र का वांचन होता है। भादवा सुदी पंचमी के दिन मनाये जानेवाला संवत्सरी पर्व सूत्र के अनुसार चातुर्मास प्रारंभ होने के पचासवें दिन आता है। समवायांग सूत्र में कहा है—

समणे भगवं महावीरे वासाण सवीसई राइमासे वइक्कन्ते।
सत्तरिएहिं राइदिएहिं सेसेहिं वासावासं पज्जोसवेई॥

—अर्थात् श्रमण भगवान महावीर ने चातुर्मास के एक मास और बीस दिन बाद संवत्सरी पर्व मनाया था। इसका प्रारंभ पर्युषण के आठ दिन से होता है। विशेष रूप से आत्मा को उन्नति पर लाने के लिये अंतगढ़दशांग सूत्र की कथायें पढ़ी जाती हैं। इसके आठ वर्ग के 90 अध्ययनों में उतनी ही कथायें हैं।

पूज्यश्री जयमलजी के मुख से इन कथाओं को सुनकर लोगों ने भी बहुत से व्रत उपवास किये। उन्होंने जोधपुर चातुर्मास के समय अन्यान्य काव्य रचनाओं के साथ 'संजीती की ढाल'* भी बनायी। जोधपुर में पूज्यश्री का सूत्रों का विवेचन, रात्रि में धर्मचर्या आदि का लोग विशेष लाभ लेते थे।

सूत्र अनुत्तरोववाई (अनुत्तरोपपातिक) में जिनका जन्म उत्तम है और जो एक भव करके मोक्ष जायेंगे ऐसे 33 पुरुषों की कथायें तीन वर्ग में हैं। पहले वर्ग में श्रेणिक राजा के दश पुत्र, दूसरे वर्ग में अन्य 13 पुत्र और तृतीय वर्ग में धन्ना सेठ आदि दश श्रेष्ठि पुत्रों की कथायें हैं।

* अप्रकाशित

सो बारह, तेरह और चौहद के चातुर्मास भीलवाड़े, उदयपुर और अमररायपुर किये। उस समय मैं समाधि में था। इसके बाद आपका इधर पदार्पण नहीं हुआ। किन्तु आपके संत कुशलजी, संत देवकरणजी आदि का परिचय हुआ और उनसे आपके बारे में सुनकर आपके दर्शन की भावना बनी रही। आपके पास कई बातों की जानकारी करनी थी; अतः बिना संकोच के आ गया हूँ।

पूज्य श्री ने कहा—"आप जिज्ञासु पुरुष हैं। आप जो पूछना चाहें पूछ सकते हैं।"

रामचरणजी बोले—"थोड़ी सी शंका है; उसका समाधान चाहता हूँ। अन्यथा न समझें।"

पूज्य श्री ने कहा—"जिज्ञासा, शंका, समाधान के लिए प्रश्नोत्तर होते ही हैं। विवेक सहित कुछ भी बिना संकोच पूछ सकते हैं।"

रामचरणजी ने कहा—"जितने भी अन्य संत मुनि हुए हैं उन्होंने साधना कर विरक्ति पाई, वे मुक्त हुए। किन्तु आप जैन धर्म में सीधे मोक्ष जाने का उपदेश देते हैं सो उसका क्या रहस्य है?"

पूज्य श्री न कहा—"जो नया पंथ निकालना चाहते हैं, उन्हें आत्म मंथन करने साधना करनी पड़ती है और फिर वे मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं। जहाँ गुरु परंपरा चली आ रही है वहाँ नयी साधना का प्रश्न होता नहीं है। तीर्थंकर भगवान ने साधना करके केवल ज्ञान प्राप्त किया और उनका बताया मार्ग हम जैन साधुओं का मार्ग बना हुआ है।"

इसमें पुद्गल शब्द जैन पर्यायवाची शब्द है।

उन्होंने जैन संस्कारों का प्रचार किया था और तदनुसार शीलव्रत (सपत्नी ब्रह्मचर्य) का उन्होंने गृहस्थों में प्रचार किया था। तत्संबंध में उनके देहावसान का उल्लेख का यह दोहा मिलता है:—

नर नारी कर जोड शीलव्रत बहुताँ लीनो।
रामचरण महाराज देह त्यागो जिण दीनो॥

सं. 1855 वै. शु. 5 को शाहपुरा में आप निरोभाव समाधिलीन हुए। उनके जैन धर्म के प्रति श्रद्धा के अनुरूप कई पद ध्यान देने योग्य हैं।

प्राकृत प्रशंसा:—वीतरागी उपदेश, जैन धर्म, दया पालो, धर्म लाभ आदि पर उनकी उक्तियाँ काव्य-मय हैं। इसपर स्वतंत्र विषय के रूप में विशेष प्रकाश डाला जा सकता है।

पूज्यश्री जयमलजी ने संयम लेने की तैयारी के रूप में एक साथ पांच उपांग सूत्र याद किये थे। पूज्यश्री उनके बारे में भी अक्सर लोगों को सविस्तार से समझाते थे।

निरय यानी नरक—उसकी आवलि करनेवाले जो हैं उनका वर्णन निरियावलि सूत्र में है। इसमें राजा कोणिक और विहल कुमार के युद्ध का वर्णन है।

कप्पिया (कल्पावंतसिका) में श्रेणिक राजा के कालि आदि दशपुत्रों का वर्णन है जो काल करके नरक में गये है।

पुफिया (पुष्पिका) में अपने विमान से भगवान महावीर के दर्शन करने आनेवाले दश-देव-देवी के पूर्व भवों का वर्णन है।

पुष्फ चूलिका में पार्श्वप्रभु की साध्वियां श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सुरा, रसा और गंधदेवी आदि का वर्णन है जो संयम विराधना करके देवी बनी हैं।

वन्हीदशा में भगवान नेमिनाथ ने यदु वंश के दश राजाओं को प्रतिबोध करके जैनधर्मी बनाये और वे संयम पालन करके, मृत्यु के बाद अनुत्तर विमान में गये उसका वर्णन है।

निरिया आदि वन्हीदशा तक पांचों सूत्रों को निरयावलि का भी कहा है। क्योंकि शुरू में नरक में जानेवाले दश काली आदि कुमारों का वर्णन है।

इन पांचों सूत्रों को पूज्यश्री ने एक बार ही पढ़कर संयम लेने के तुरंत बाद कंठस्थ कर लिये थे। इस बात के बारे में वे यही कहते थे कि "यह मेरे पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण ही संभव था। मुझे उस समय ऐसा लग रहा था कि किसी पिछले भव में मैं ऐसी ही संयम दशा में था और इन सूत्रों को मैं जानता हूं और यह आस्था दृढ़ होते ही मैंने पाया कि पांचों सूत्र मुझे कंठस्थ होते जा रहे हैं।"

पूज्यश्री के संयम की बातें जो जानते थे वे उसका मौन अनुमोदन करते थे और सूत्रों पर आधारित उनकी ढालें-पद आदि की संख्या हज़ारों होती जा रही थी।*

* * *

* ऐसा माना जाता है कि जो मुख्य चरित्र कथायें सूत्रों में मिलती हैं उसपर पूज्यश्री ने तदनुसार ढाल रचनायें अवश्य की हैं। प्रवचन के बदले काव्य धारा उनके कंठ से बहती थी ऐसा कह सकते हैं।
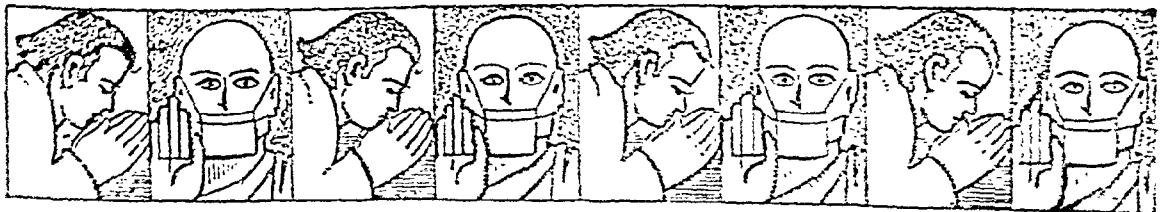
"फिर भी स्वतंत्र साधना आवश्यक नहीं है? मेरे मत से साधना करके मत प्रचार करना चाहिये।" रामचरणजी ने पूछा।

"जो नया पंथ निकालना चाहें तो वे नयी साधना कर सकते हैं। किन्तु साधना करने के बाद मत प्रचार करने के लिये साधना नहीं छोड़नी चाहिये। साधु अवस्था सतत साधना की ही अवस्था है और वह स्वयं ही आत्म विकास एवं आत्म प्रचार है। जैन साधु के लिये संयम ही साधना है। संयम वंध हुआ कि वह साधु नहीं रहता। भाषा पर भी संयम रखकर वह मित भाषी होता है या मौन व्रत का पालन करके मुनि कहलाता है। तप के द्वारा वह तपस्वी बनता है। उसके आत्मा की मुक्ति के लिये तीर्थंकर भगवान ने रास्ता बताया है, वह उसपर चलता है।" पूज्य श्री ने स्पष्ट कहा।

"सचमुच वे संत धन्य हैं जो वीतराग के मार्ग पर ही चलते हैं। मैं भी उसी मार्ग पर होता किन्तु....!" रामचरणजी कहते-कहते थक गये।

"किन्तु क्या बात है....?"

"यदि भीखण ने मेरे साथ दगा न किया, होता तो मैं भी जैन संत बनता। उसने वचन का पालन नहीं किया और मुझे "राम" को वीतराग मान कर उसकी साधना में लगना पड़ा। किन्तु सुना है कि उसका आप लोगों से भी नहीं बना और वह अलग हुआ है। क्या बात है?" रामचरणजी ने पूछा।

पूज्यश्री जयमलजी ने कहा—"आपका तो वह पक्का मित्र था। आप उसे क्या नहीं जानते....?"

रामचरणजी ने निश्वास छोड़ते कहा—"आज जब याद करता हूँ तो बचपन से ही उसकी हरकतें भीषण ही थीं ऐसा अनुभव होता है। वह पौशाला (पाठशाला) में पढ़ता था। वहाँ के गुरांसा ने उसकी हरकतों से तंग आकर उसके सिर पर मार दिया। उसका बदला लेने उसने अपनी पगड़ी के नीचे शूलें रखीं। गुरुजी ने जब उसे फिर से मारा तो वे शूलें उनको लग गयीं।"

किसी चतुर व्यक्ति ने पूछ ही लिया—"वाह महाराज! बबूल की शूलें बालों में कैसे खड़ी रह सकता हैं? और गुरुजी को शूलें लगी तो कुछ शूलें उसके सिर में भी घुस गई होंगी न?"
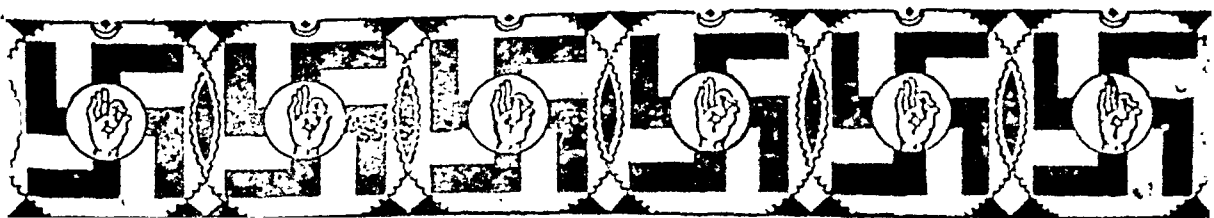
पूज्यश्री का संवत् 1827 का चातुर्मास मेड़ता में था। आर्याजी अजबाजी आदि ठा. 7 का भी वहीं चातुर्मास था। पूज्यश्री अपने प्रवचनों में सूत्रों पर आधारित नये नये पद वर्णन करते थे।

सूत्रों में प्रश्नव्याकरण ऐसा अंग सूत्र है जिसमें 108 प्रश्न, 108 अप्रश्न और 108 प्रश्नापश्न, विद्या के अतिशय एवं नागकुमार, सुवर्णकुमारों के साथ हुए दिव्य संवाद है। पहले श्रुत स्कंध के पांच अध्ययनों में क्रमशः हिंसा, असत्य, चोरी, मैथून एवं परिग्रह: इसके पाँच उत्पत्ति के कारण बताते हुए उनके फलों का अधिकार बताया गया है। दूसरे स्कंध में भी पाँच अध्ययन दया, सत्य, अदत्त ब्रह्मचर्य एवं अममत्व इन पाँचों संवर द्वार का वर्णन किया गया है।

पूज्यश्री कहते थे कि हिंसा को स्पष्ट समझते हुए उसका त्याग करके दया के पालन पर ज़ोर दिया जा सकता है—ऐसा शास्त्र कहते हैं और उसका नयवाद से संपूर्ण विश्लेषण प्रश्नव्याकरण में मिलता है।

मेड़ता चातुर्मास के समय पूज्यश्री ने अंतगड़दशांग सूत्र के आधार पर अर्जुनमाली के चरित्र की ढाल की रचना की।*

इसका प्रारंभ इस प्रकार किया था—

वर्धमान जिनवर नमूं सर्व जीव सुखदाय।
नामे दुख दो भाग टले भूख मवानी जाय।।
जंबुद्वीप भरत में मगध देश मज्झार।
राजगृही रलियामणी रिद्ध तणो विस्तार।।
अर्जुन मालाकर तणो कहस्यूं चरित्र विशेष।
एक मना थई सांभलो छोडो राग ने द्वेष।।

चातुर्मास के साथ-साथ इसकी रचना भी आगे बढ़ती जाती थी। इसके साथ-साथ संत-सतियों के उग्र तप के कारण तपाराधना भी बहुत हो रही थी।

संत बच्छराजजी ने 30 उपवास किये। सती अजबाजी ने 30 उपवास और दूसरी बार भी 31 उपवास किये। उनके साथ अन्यों ने भी उपवास बेले, तेले और अधिक उपवास किये। मेड़ता में तपाराधना बहुत ही अच्छी रही।

* जयवाणी पृ. 484

किसी ने जवाब दे दिया—"शायद बालों में गोबर-मिट्टी लगाई होगी!"

यह सुनकर सब ज़ोर से हँस पड़े। रामचरणजी ने कहा—ऐसा सुना गया कि गुरुजी ने उसकी बड़ी मरम्मत की और उसके चाचा को बुलाकर उसकी हरकतें कह सुनायीं जिससे चाचा को भी गुस्सा आया और उसने भी भला-बुरा सुनाया और मरम्मत की। गुरांसा की पाठशाला बंध हो गयी और चाचा के साथ भीषण दूकान पर बैठने लगा। क्योंकि बड़े भाई तो प्रारंभ से मां-बेटे दोनों से अलग थे। लेकिन उसकी रोज़ की हरकतों से तंग आकर चाचा ने भी उसे अलग कर दिया।*

किसी ने सवाल किया—"हमने तो सुना था कि वह सफल व्यापारी और गृहस्थी बने थे। पंच में पूछे जाते थे?"

रामचरणजी ने हँस कर कहा—"अपनी हरकतों से जब घर में ही पूछ नहीं होती थी तो गांव की तो बात ही क्या थी? परिणाम स्वरूप उसका ब्याह बहुत वर्षों तक नहीं हुआ और फिर गांव के एक भले कुम्हार के कहने से उसका ब्याह तो हुआ। किन्तु अपनी पत्नी को रूपवती न पाकर और साले को लंगड़ा देखकर भीषण को बड़ी ग्लानि सी होने लगी। वह पत्नी से अलग ही रहने लगा और साथ ही उस अंधे कुम्हार पर भी चिढ़ने लगा जिसने यह संबंध करवाया था। भला कुम्हार हमेशा सलाह दिया करता था कि भाई जैसा संबंध बना है उसे निभा लेना चाहिये। भीखणजी उसे धमकाया था कि अंधा होकर खुद को तो सम्हाल सकता नहीं है और दूसरों को उपदेश देने चला है; मैं तेरी सब ठिकाने लगा दूंगा और उसने करके दिखाया भी वैसा ही!"

"क्यों क्या बात हुई....?" किसी ने पूछा।

"उसने उस अंध कुम्हार को विश्वास में लेकर एक योजना बनायी। तदनुसार घर से गहने चुराने के बाद कुम्हार देवी आयी हो वैसा धुनना शुरू करे और किसी 'मजने' का नाम ले। भीखण उसकी साक्षी दे। किन्तु ऐन वक़्त पर भीखण ने उसकी ही हँसी उड़वाई। मगर यह मजाक उसे बहुत भारी पड़ी। अंधे कुम्हार ने चोरी की सच्ची बात प्रगट कर दी। कुछ लोगों ने तलाश की तो पता चला कि भीषण दूसरे दिन गांग में नहीं था। वह अपने

* तेरापंथ इतिहास में चाचा को शूलें लगने के षड़यंत्र का उल्लेख है।

पूज्यश्री के अन्य संत अन्यान्य क्षेत्रों में धर्म प्रचार करते थे। संत प्रेमजी किशनगढ़ थे। संत रायचंदजी जोधपुर ठा. 4 से थे। संत रूपजी तिवरी में ठा. 3 से थे। संत अजबचंदजी लाडनु ठा. 3 से थे एवं नगजी ठा. 2 से रोहोत थे।

पूज्यश्री ने अर्जुनमाली चरित्र की समाप्ति, चातुर्मास पूर्ण हुआ उस दिन की। उन्होंने अंतिम पद रचा—

'अंतगड' मांय कयो निचोडो।
तिण अनुसारे रिख जयमल जोडो ॥
अठ्ठारा सातविसा मांय।
काती सुद पूनम शुभ ठाय ॥

धर्म प्रचार करते हुए पूज्यश्री ने मेड़ता से विहार किया।

* * *

पूज्यश्री का सं. 1828 का चातुर्मास नागौर था। संत रायचंदजी का बीकानेर था। अतः जोधपुर से विहार कर बहुत से संत आकर पूज्यश्री से मिले और अलग-अलग चातुर्मास तय हुए। पूज्यश्री ठा. 4 से नागौर, संत रायचंदजी ठा. 4 से बीकानेर थे। आर्या मगाजी ठा. 6, आर्या बल्ला जी ठा. 4 और आर्या गुमाना ठा. 4 से—इस तरह 14 सतियों का चातुर्मास नागौर में था। सतियों में तपस्या की होड-सी लग गयी थी। सती प्रेमाजी ने 30 दिन, सती अजबाजी ने 21, सती चंदुजी ने 31, सती रामुजी और सती डाहीजी ने 30 दिन सती लक्ष्मीजी ने 14 इस प्रकार छोटी बड़ी बहुत-सी तपस्यायें हुईं।

पूज्यश्री का धर्म चिंतन चलता रहता था। प्रार्थना के रूप में उन्होंने एक नया पद दिया:—

श्री नवकार मंत्र जपो मन रंगे

यह पद इतना सीधा और भाव भरा था कि बहुत शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया। नागौर में पूज्यश्री ने चातुर्मास में ऐसे भाव भरे कि लोगों ने व्रत-तप के नियम लिये। बहुतसों ने चतुर्थ व्रत अंगीकार किया जिसमें श्री हंसराजजी सुराना भी मुख्य थे।

* * *

पूज्यश्री का सं. 1829 का चातुर्मास जोधपुर में था। संत रायचंदजी ठा. 6 पीपाड़ में थे। संत नगजी ठा. 2 से श्रीहरि में थे। संत गजाजी ठा. 2 से बरलु और संत देवकरणजी ठा. 3 से शाहपुर में थे। संत टीकुजी ठा. 4 से पाली में थे।
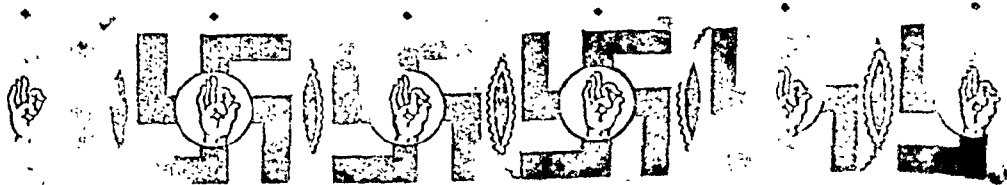
बुआ के गांव गया था। वहाँ जाकर राज सुभयटों ने तलाशी ली तो गहने वहीं पर मिले। भीषण ने नीडर होकर स्वीकार किया कि उस अन्धे कुम्हार पर से लोगों की श्रद्धा उठाने उसने यह प्रपंच किया था। लोगों को यह प्रपंच अच्छा न लगा; साथ ही उसका बुआ के घर बार-बार आना जाना भी न जंचा। लोगों में बहुत-सी बातें होने लगीं।"

किसी ने पूछा—"यही हुआ न....? जिसने सुना है कि भीखण के संयम लेने के समय कटारी खाकर मरने की धमकी दी थी।"

"हाँ! वही बुआ थी; किन्तु उसके कटारी खाकर मरने की बात आज ही सुनता हूँ! खैर, यह सारा कांड सुनकर भीषण की पत्नी को बड़ा आघात लगा और वही बेचारी घुट-घुटकर अकाल मृत्यु को प्राप्त हुई!" रामचरणजी ने कहा।

किसी ने पूछा—"बात तो ऐसी हो रही है कि दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत लिया था!"

रामचरणजी ने हँसकर उत्तर दिया—"उस समय तक तो वह जैन संतों के परिचय में भी न आया था और पत्नी से तो प्रारंभ से अलगाव-सा था—अब क्या हो सकता है, आप सोचें?"

उन्होंने आगे बात चलाई—"उन दिनों हमारा परिचय बढ़ने लगा। गाँव भर में उसकी इज्जत करनेवाला कोई न था। गुरुजी, बड़ा भाई, चाचाजी और अब तो अंधे कुम्हार की घटना के बाद अन्य लोग भी उससे कन्नी काटते थे। न जाने क्यों वह अपने दिल को खोलकर मुझसे अपनी सारी बातें करता था। मैं उसे मित्र के नाते धीरज बंधवाता था। उन दिनों में आपका (पूज्य जयमलजी) विचरण सोजत हुआ, आप चातुर्मास ठहरे और आपके जैन साधुत्व के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसने कहा कि आप बड़े सरल भद्रिक और वर्तमान में तेजस्वी व्यक्ति हैं। यदि आपके पास चलकर दीक्षा ली जाय तो जितना भी पूर्वकाल का अपयश है वह भी मिट जायेगा और नाम बढ़ेगा। मगर उसने एक शर्त रखी कि वह अकेला दीक्षित होना नहीं चाहता; अतः मैं भी साथ दीक्षा लूं! बचपन से मेरी तो साधना की ओर वृत्ति थी और मैंने हाँ भरी; किन्तु उसे स्पष्ट कह दिया कि सब से कठिन जैनों का साधुपना है। अतः उसके लिए तैयार होना पड़ेगा। हम दोनों तैयारी करने लगे। और उसने वचन दिया कि हम दोनों साथ दीक्षा लेंगे और मैं उमर में बड़ा

पूज्यश्री के प्रवचनों का असर सब पर पड़ता था और चातुर्मास के दिन बड़े धर्म ध्यान और तप त्याग में व्यतीत होते गये। संतों में संत तेजसी का स्वास्थ्य कुछ दिनों से अच्छा नहीं रहता था। अंत में कार्तिक बद तेरस को उन्होंने पूज्यश्री को कहा कि ' मुझे संथारा दिला दें ! "

पूज्यश्री ने उनकी अवस्था देखते हुए, उन्हें संथारा पच्चक्खा दिया। उनके पास वारी-बारी से संत चंद्रजी, संत प्रेमजी, संत मूलचंदजी और संत तुलसीदासजी बैठते और उन्हें स्तवन सज्झाय आदि सुनाते थे। संत तेजसी का संथारा वढ़ता गया और उनको स्वास्थ्य लाभ होने लगा। उनके संथारे का समाचार सभी ओर फैल गया था और चातुर्मास पूर्ण होने पर वहुत से संत विहार कर जोधपुर पहुँच रहे थे।

चातुर्मास पूर्ण हो गया। संत तेजसीजी बड़े धैर्य के साथ दृढ़ होकर संथारे में आगे बढ़ रहे थे।

चातुर्मास पूर्ण होने के बाद भी आठ दिन बीत गये। अन्यान्य गाँवों से अनेक संत सतियाँ एवं श्रीसंघ के लोग उनके दर्शन करने जोधपुर आने लगे। 41 वें दिन उनके स्वास्थ्य में गिरावट आयी और उन्होंने संपूर्ण चौविहार प्रारंभ किये। 5 दिन के बाद मिगसर सुदी 13 को सुख समाधि से उन्होंने काल धर्म को प्राप्त किया। इस समय आचार्य रघुनाथजी, संत रायचंदजी एवं अन्य संत और महासतियांजी के कुल 87 ठाणे जोधपुर में मिले। संतों की इतनी संख्या और आसपास के श्रीसंघ के भाइओं की सेवा का लाभ जोधपुर को मिला। संतों के मिलन के समय अनेक विषयों की चर्चा हुई और साधु संयम के संबंध में कई प्रश्नों का निराकरण भी किया गया।

संत तेजसी की देह का अंतिम संस्कार होने के दूसरे दिन सभी संत अलग-अलग क्षेत्रों में विचरण करने के लिये विहार कर गये। पूज्यश्री अपने संतों के साथ विहार करके धर्म प्रचार करने लगे।

संत रायचंदजी विहार करते-करते तिवरी पहुँचे। वहाँ पर रूपचंदजी बोथरा और गीतादेवी के सुपुत्र आशकरण ने* उनका व्याख्यान सुना। उसका उसपर असर पड़ा और उसने संयम लेने का मन में संकल्प किया।

* इस ग्रंथ का विस्तार बढ़ जाने के भय से विस्तार से संवाद आदि भविष्य में प्रकाशित ग्रंथों में करने का विचार है।

होने से मेरी दीक्षा प्रथम होने से भीषण मुझे बड़ा मानेगा। मैं साधुत्व की तैयारी में लगा। वह भी प्रयोग करने लगा।

"थोड़े दिनों बाद भीषण ने मुझे खबर दी कि आपने (पू. जयमलजी) विहार कर दिया है। फिर भी मेरा मन अस्थिर नहीं हुआ; क्योंकि मेरा मन प्रारंभ से साधना की ओर था। एतदर्थ मैंने अन्य दर्शनों का भी अध्ययन किया था और मैं जैन-दर्शन का अध्ययन करने लगा। अध्ययन के साथ जैन दर्शन के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी। वहाँ एक दिन मैंने सुना कि उसने जैन दीक्षा ले ली है और सोजत में आचार्य रघुनाथ जी ने उसे बड़ी दीक्षा भी दी है।*

"मेरा मन टूट गया। मैंने उसे सोजत जाकर बड़ा उपालंभ दिया कि 'तूने यह वचनभंग किया है।' तब भीषण ने मुझे कहा कि 'तुम भी दीक्षा ले लो।' मैं जैन साधु आचार जानता था और उसकी चालाकी जानकर मैंने गुस्से में उसे कहा कि 'इसका अर्थ यह होता है कि मुझे वचन देकर तू अब मुझसे बड़ा होकर मुझसे अपनी वन्दना करवाना चाहता है? यह श्रृगालपना और तुम्हारी गुरू एवं बड़ों के साथ की पुरानी हरकतें देखकर मुझे लगता है कि तुम अपने गुरू के साथ भी एक दिन ऐसा करोगे और मैं वहाँ से चला गया।'

"आपको उसमें शियालपना दिखता था; किन्तु उसकी माता ने तो आचार्य रघुनाथजी को कहा था कि उसके जन्म के समय उसने सपने में सिंह देखा था ऐसा उनके लोग कहते हैं?" किसी ने पूछा।

"उसके माँ ने उसके गर्भ के समय सिंह देखा था ऐसा मैंने तो कभी सुना नहीं था। न भीषण ने कभी यह बात मुझसे कही थी। हाँ, उस गांव के एक कुम्हार का गर्दभ इतना भयंकर था कि गांव में उसका नाम सिंह रख छोड़ा था, यह मैं अवश्य जानता हूँ। अब उसकी माँ ने क्या देखा होगा यह आप ही तय करें।" रामचरणजी ने कहा।

रामचरणजी ने पूज्य जयमलजी से कहा—"मैं उससे यह कहकर अलग चला गया। लेकिन मेरा मन हमेशा जैनत्व के संस्कारों से रंगा रहा है। रामसनेही संप्रदाय के

* एक पट्टावली में कच्ची दीक्षा अन्यत्र और पक्की दीक्षा पू. रघुनाथजी के पास ली ऐसा उल्लेख भी मिलता है।
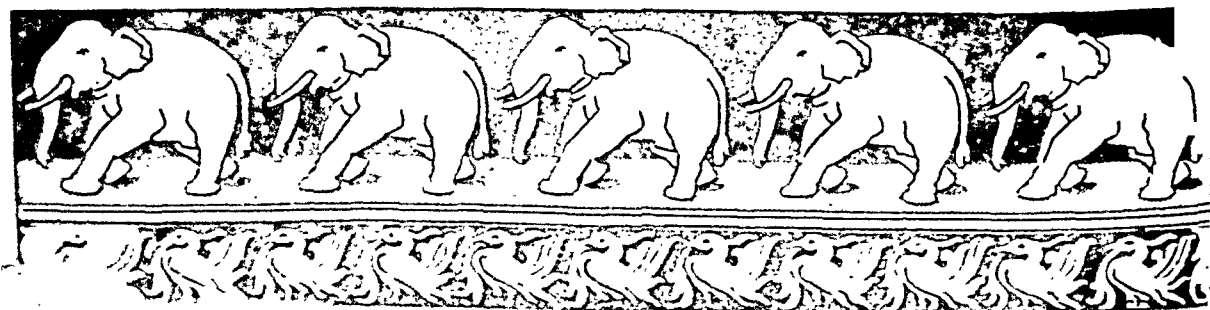
उस समय आशकरण का सगपण-संबंध ही हुआ था। उसके सगे संबंधियों ने बहुत समझाया ; किन्तु आशकरण ने तो एक ही बात पक्की कर ली कि "मैं तो दीक्षा लूँगा !"

दो मास तक समझाने पर भी आशकरण की दृढ़ता देखकर उसके माता-पिता ने उसे दीक्षा देने की सम्मति दी और संत रायचंदजी को सूचना दी की कि शुभ मुहूर्त में उसे दीक्षा दी जाय।

संत रायचंदजी ने पूज्यश्री जयमलजी को यह समाचार भिजवाये। उस समय आचार्य श्री रघुनाथजी भी पास में विराजते थे। महासती लाछांजी भी वहीं पर थीं। सभी संत इस दीक्षा निमित्त तिंवरी आये। सं. 1830 के वैशाख वद 5 के शनिवार के दिन आचार्य रघुनाथजी, पूज्य जयमलजी, संत रायचंदजी और सतियाँ श्री लाछांजी आदि संत-सतियों के सानिध्य में आशकरणजी ने दीक्षा ली।

उसी समय कोठारी श्री गीगांजी एवं छजेजी की सुपुत्री नंदुबाई ने भी आर्याश्री लाछांजी के पास दीक्षा ली।

दोनों दीक्षाओं से तिंवरी गाम धन्य हो गया। आशकरण ने जब संतवेश धारण कर लोच करवाया तब सब ने उसका जयजयकार किया—"संत आशकरण की जय !" उनमें से बहुत कम लोगों को मालूम था कि वे भविष्य के एक बड़े आचार्य की जयजयकार बुला रहे थे।

दूसरे दिन संतों के साथ संत आशकरणजी ने विहार किया। छोटे से यह संत, जिनकी उमर अभी पूरे सतरह वर्ष की भी न थी ; उनकी दृढ़ता देखकर सब को आश्चर्य हो रहा था।

पूज्यश्री जयमलजी आदि संत विहार कर जोधपुर पधारे। संत आशकरणजी की बड़ी दीक्षा 7 दिन बाद जोधपुर शहर में चतुर्विध श्रीसंघ के सान्निध्य में हुई। लोगों ने बड़े उत्साह से उसको धूमधाम से मनायी।

पूज्यश्री ने संत आशकरणजी को, संत रायचंदजी को सौंपा और कहा कि "इसे अपने योग्य बनाओ !" वास्तव में पूज्यश्री अपने योग्य शिष्य को उसका ही एक योग्य शिष्य को सौंप रहे थे यह आनेवाले इतिहास ने साक्षी दी।
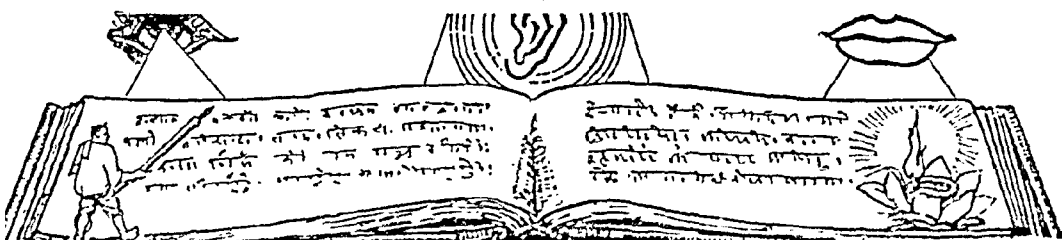
कृपारामजी से दांतड़े परिचय हुआ। जैन धर्म के अनुसार रामचंद्रजी भी मुक्ति गये हैं; सो मैंने वीतराग के रूप में राम की साधना की। हम उसे ही भगवान मानते हैं। वस्तु स्वरूप जान लेने के बाद सगुण पूजा के बदले निर्गुण पूजा-वीतराग दशा की आराधना आत्मा का लक्ष्य है। अब आप मुझे कुछ कहें कि मेरा रास्ता कहाँ तक ठीक है? क्या मैं मुक्त हो सकूंगा?"

पूज्यश्री ने कहा—"जैन शास्त्रों में पंद्रह भेदे सिद्ध होने में अन्य लिंगे सिद्ध स्पष्ट कहा है। जब जैन धर्म का योग नहीं मिलता तो अन्य लिंग में सरल आत्मा, त्याग-वैराग्य और ज्ञानोपासना से उन्नत होकर आत्मा के स्वरूप को पहचान कर सम्यक्त्व को प्राप्त करती है और ज्ञान विकास से अवधि ज्ञान प्राप्त कर जिनेश्वर देव का परिचय पाकर उन्नत होती है। केवल ज्ञानी दशा पाकर मुक्त हो सकती है। वास्तव में आत्मा का अन्तर्मुख विकास उसका लक्ष्य होना चाहिये।

रामचरणजी ने कहा—"गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता; यथार्थ का परिचय नहीं होता। यह वेद-स्मृति पुराण कह गये हैं। आपने जितनी सरलता से मुझे मार्ग बता दिया है उतनी सरलता से मैं अब तक नहीं समझा पाया था। यह पंचम आरा है और तदनुसार मैं उस अन्य लिंग की श्रेणी में तो नहीं पहुँचा हूँ; परंतु आपने मेरा रास्ता स्पष्ट कर दिया है। वास्तव में आपका नाम सुना था वैसे ही आप सरल गुरु हैं।"

पूज्यश्री ने कहा—"आप निर्गुण साधना करते सरल बने हैं। अतः यथार्थ आत्मा का परिचय जैसा जानते हैं वैसे बढ़ाते रहें। आपने तो वर्षों पूर्व भी जैन धर्म का परिचय पाया ही था। राग-द्वेष जीतने का प्रयास चालू रखें।"

रामचरणजी ने कहा—"मैंने अभी भी उसे बिसारा नहीं है। मैंने हृदय से तो आप गुरुओं की धारणा धार ली थी; किन्तु भीखण के वचन-भंग से मैं उद्विग्न सा साधुओं के साथ फिरने लगा। वहाँ अन्य साधुओं के संसर्ग में आया। उनकी स्वाद लोलुपता और पैसा जोड़ने की वृत्ति से उदासीनता आ गयी। मैंने कृपारामजी से स्पष्ट कह दिया कि यह साधुपना नहीं है और उनसे आज्ञा लेकर आत्म साधना में लग गया। मैं नाना प्रकार के
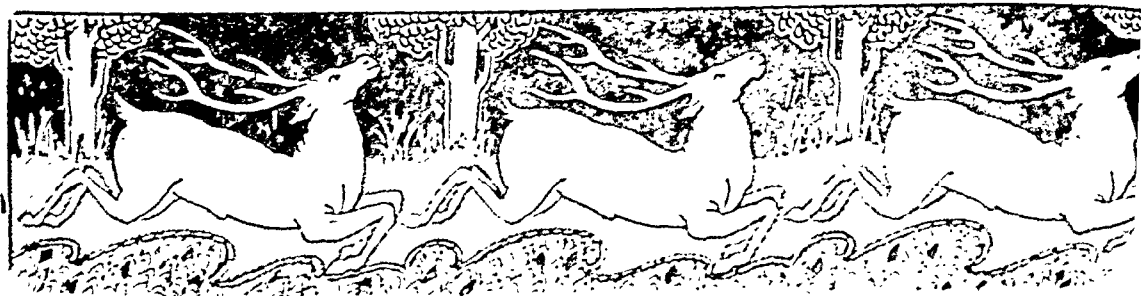
पूज्यश्री ने वहाँ से किशनगढ़ के लिये विहार किया जहाँ के श्रीसंघ की आग्रहपूर्ण बिनती को वे नहीं टाल सके।

पूज्यश्री ने अपने साथ पाँच संतों के साथ किशनगढ़ के लोगों के बड़े उत्साहपूर्व स्वागत के साथ किशनगढ़ में प्रवेश किया। नौ वर्ष के पश्चात् पूज्यश्री का इस ओर पुनः पदार्पण हो रहा था।

उनके साथ उनके सुशिष्य संत देवकरणजी, संत लिश्खमीचन्दजी, संत मायीदासजी संत गुमानचन्दजी, संत दीपचंदजो थे। संत देवकरणजी अपनी प्रखर बुद्धि और तर्कयुक्त प्रवचनों के कारण सुप्रसिद्ध थे। खास तौर से भीखणजी ने जो दया-दान विरुद्ध प्ररूपणा शुरू की थी, उसका वे शास्त्र सम्मत तर्क सहित ऐसा उत्तर देते थे कि अक्सर जहाँ संत देवकरणजी विचरते थे वहाँ भीखणजी टिकते नहीं थे। संत देवकरणजी दया-दान संबंधी बातों के संबंध में लोगों की शंकायें निर्मूल कर उन्हें सच्चे समकित धर्म में स्थिर करते थे।

पूज्यश्री के इस ओर का पदार्पण वर्षों के बाद होने से आसपास विचरण करनेवाली सतियों का उनकी सेवा में किशनगढ़ में चातुर्मास था। इनमें आर्याजी अजबाजी, सती चतुराजी, सती ललाजी, सती जसुजी आदि के सिंघाड़े २३ ठाणे से थे। पूज्यश्री के संसर्ग में रहने से संत-सतियों का कई विषयों पर विचार विमर्श होता था और उन्हें पूज्यश्री का मार्गदर्शन मिलता था।

किशनगढ़ में संतों का छोटा सा सम्मेलन हुआ हो ऐसा मालूम हो रहा था। साथ ही संत-सतियों के तपस्या के कारण तप का मेला लग गया हो ऐसा प्रतीत होता था। सती अजबाजी और सती हीराजी ने 81 उपवास का तप किया। सती चोनीजी ने 30 उपवास किये तो सती जसुजी ने 27 किया। सतियों में तपकी होड-सी लगी हो ऐसा मालूम होता था। सती जीवुजी के भाव और भी चढ़ते थे और उनके उपवास क्रमशः बढ़ते-बढ़ते 35 पहुँचे। इन तपस्याओं के कारण आसपास के श्रीसंघ के लोग उनके दर्शनार्थ बड़ी संख्या में आये। लोगों में भी काफी उपवास आदि हुए। सती कानीजी ने 15 उपवास किये। सती किशनजी और सती हीराजी ने भी अठाइयाँ की। जब सती अजबाजी ने पुनः 9 उपवास किये तब और भी बहुत सी तपस्यायें हुई।

पूज्यश्री के प्रवचनों का लाभ राजा और प्रजा दोनों ने लिया और धर्म प्रचार करके पूज्यश्री आदि संतों ने किशनगढ़ से विहार किया।

उपसर्ग सहता रहा ; किन्तु वर्धमान प्रभु का स्मरण कर मैं स्थिर रहा। इस मौन साधना से मेरा नाम बढ़ा और मेरे अनुयायी बढ़ने लगे।"

पूज्यश्री ने पूछा—"सुना है कि आपसे भीखण आके मिला था।"

"हाँ, वह आया था, लेकिन उसके संबंध में पूरी बात जानकर मैंने उससे वार्तालाप करना उचित न समझा और मैं मौन रहा। बार-बार गुरु बदलनेवाला और वचन बदलनेवाला, अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को नीचा दिखानेवाला जो हो उससे क्या कहना? जब उसने बहुत कुछ कहा तब मैंने उसे इतना ही पूछा कि आचार्य रघुनाथजी से अलग क्यों हुए? उसकी बातें सुनकर मैंने इतना ही कहा कि सरल स्वभावी गुरु आचार्य रघुनाथजी जैसों के साथ तू नहीं रह सका तो फिर कहाँ रहेगा? दया-दान के बिना कोई धर्म कैसे हो सकता है? मैंने तो आज तक किसी साधु को दया-दान का निषेध करते सुना और देखा नहीं है। सब से खेद की बात तो यह है कि जो वर्धमान स्वामी भगवान महावीर मेरे जैसे राम सनेही भक्तों को प्रेरित करते हैं उन्हें अपने आप को जैन कहके तू भला-बुरा बताता है, तो तेरा कहीं भी उद्धार न होगा। फिर मेरे यहाँ तो दया की प्रधानता है।*। मेरी ओर से कोई उत्तेजन नहीं मिलने से वह चला गया। मैं आपसे मिलना चाहता था। आज दर्शन पाकर धन्य हुआ हूँ।"

"चलो! जो हुआ सो हुआ। आप सरलता से वीतराग देव को स्मरण रखें और आत्म उन्नति करते रहें!" पूज्यश्री ने कहा।

"सुना है कि आपके बारे में ऐसा कहता है कि पूज्य जयमलजी पहले मेरा साथ देना चाहते थे ; किन्तु बाद में बदल गये!" रामचरणजी ने पूछा।

"मेरा साथ देने का प्रश्न था ही नहीं। वह मेरे साथ होना चाहता था किन्तु मैं दूर था और वह अलग चल पडा। अज्ञानी लोग अज्ञान से कुछ भी बोलते हैं ज्ञानी के लिये तो उनके अज्ञान के प्रति भी करुणा होनी चाहिये और वह हमेशा उसके प्रति रहेगी कि एक दिन उसका अज्ञान मिटे और वह सही रास्ते पर आवे।" पूज्यश्री ने कहा।

"आप संत गण किसी की निंदा में नहीं पड़ते ; लेकिन मुझसे तो रहा नहीं गया!" रामचरणजी ने कहा।

---

*रामचरणजी की अणभैवाणी में संत का वर्णन—

(प्रारंभ) इष्ट राम रमतीत आन कूं पूंठ दई है।
पग नंगे गुण दर्ज दया की मूठ गई है।

६५
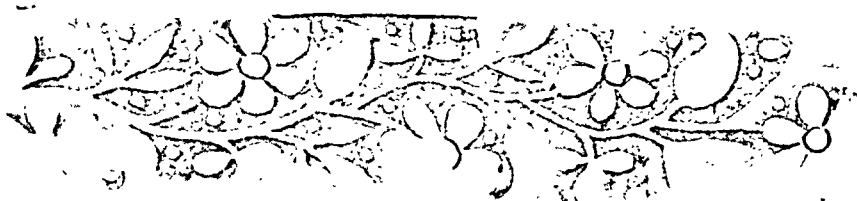
जय—शाहपुर रामचरण संवाद

लोगों के आग्रह से पूज्यश्री ने किशनगढ़ से मेवाड़ की ओर विहार किया। उनके प्रवचनों को सुनकर शाहपुर नरेश रणसिंहजी ने बिनति की—"आप मेरे शाहपुर को पवित्र करें और धर्म ध्यान का प्रचार करें तो बड़ा उपकार होगा।"

पूज्यश्री ने इस बिनति को स्वीकार कर सं. 1831 का चातुर्मास शाहपुरा में किया। उनके साथ अन्य 4 संत थे। आर्याजी सती वखतुजी ठा. 8 और सती रत्नाजी ठा. 8 के सिंघाड़े सेवा में थे।

पूज्यश्री अपने प्रवचनों में सूत्र और सिद्धांत की वातें रखते हुए लोगों में सच्चे जैन धर्म का प्रचार करते थे। लोगों के साथ शाहपुर नरेश भी पूज्यश्री के चातुर्मास का लाभ लेते थे। धर्म के संबंध में पूज्यश्री के विचार अत्यंत स्पष्ट थे। शाहपुर नरेश ने उनसे धर्म-तत्व-सार इस प्रकार समझा—

"धर्म हमेशा शाश्वत वस्तु रही है। लोग उसके संबंध अपने-अपने अलग दृष्टिकोण बना लेते हैं और अपना ही दृष्टिकोण सही अन्य का गलत ऐसा विचार करके बैठ जाते हैं तब विवाद पैदा होता है। वे अपनी दृष्टि से अन्य को देखते हैं और मैं जो मानता हूं वही सही है, बाकी गलत इसपर जिद्द करके बैठ जाते हैं और लोगों को भी भड़काते हैं।

दया-दान के बारे में भी जो धर्म का मुख्य अंग होते हुए भी लोग गलत दृष्टिकोण अपना लेते हैं और जीवों को बचाने में पाप और दान देने में हिंसा—अधर्म बताते हैं। लोग अपनी धर्म क्रियायें करने के लिये धर्म स्थानक, उपाश्रय बनाते हैं। वहां जाकर सामायिक प्रतिक्रमण स्वाध्याय आदि करते हैं तो क्या बुराई है? इन उपाश्रयों में श्रावक की आज्ञा लेकर साधु मुनि ठहरते हैं और फिर आगे विहार कर देते हैं। उन उपाश्रयों के मालिक तो बनते नहीं हैं। संत लोग इन उपाश्रयों के बंधवाने के लिये कहते नहीं हैं। किन्तु श्रावकों के धर्म ध्यान निमित्त या ज्ञानोपार्जन निमित्त बने स्थानक, उपाश्रय, ज्ञानशाला, पाठशाला में विहार करते हुए गांव में धर्म प्रचार हेतु रुकना पड़े, तो वहां श्रावक की आज्ञा लेकर ठहर सकते

"लोक समाधान के लिये कई वार कड़वा सत्य कहना पड़ता है। फिर भी निंदा-विकथा से दूर रहना ही साधक की साधना में सहायक होता है। अतः भीखणजी के बारे में उसके अज्ञान पर करुणा लाकर छोड़ देना ही उचित है।" पूज्यश्री ने कहा।

रामचरणजी, पूज्यश्री जयमल की सरलता, भद्रिकता आदि से प्रसन्न होकर उन्हें बार बार वंदना करते हुए वहाँ से गये। उन्होंने वहाँ से जाने के वाद अपने अनुयायियों में भी पूज्यश्री की प्रशंसा की।

इस संवाद के बाद भीखणजी के बारे में लोगों को बहुत सी सत्य बातें मालूम हुईं। लोग उनके बारे में उनकी दया-दान धर्म विरोधी और देव-गुरु विरोधी बातों को समझकर भीषणजी का विरोध करने लगे। पूज्यश्री की 'द्रढ़ समकिती'* ढाल की रचना से अनेकानेक पुनः सत्य श्रद्धा ग्रहण करने लगे।

यह प्रतिकार इतना वढ़ा कि शाहपुरा के पास ही माधोपुर में भीखणजी का चातुर्मास था और वे चातुर्मास वाद शाहपुरा की ओर आना चाहते थे; किन्तु उन्होंने अन्यत्र विहार कर जाने का तय किया।

पूज्यश्री जयमलजी चातुर्मास बाद विहार कर पूर पहुँचे। वहाँ अनेक लोगों ने उनका स्वागत किया। उनके आगमन के पूर्व श्री भीखणजी अन्यत्र विहार कर गये थे। इससे भीखणजी के एक भक्त को नाराज़गी हुई और उन्होंने पूज्यश्री जयमलजी को पूछा—"हमें तो भीखणजी अच्छे साधु नजर आते हैं। आप उन्हें निन्हव क्यों कहते हो?"

पूज्यश्री ने उससे कहा—"अच्छा साधु सिर्फ वेश ले लेने से नहीं बनता, तप करने मात्र से भी नहीं वनता, क्रियायें कर लेने मात्र से नहीं वनता। किन्तु सर्व प्रथम आवश्यक गुण है सत्य श्रद्धा। जिनके शासन में चलने और आत्म विकास करने की वात है उस भगवान महावीर को वह चूका वताता है जो कि संयम अवस्था में तीन ज्ञान के धारक थे और जिन्होंने केवलीपने में गौतमस्वामी से कहा है कि मैंने छद्मस्थ अवस्था में कोई भूल नहीं की। श्रमण भगवान महावीर और अन्य तीर्थंकर देवों ने दीक्षा के पूर्व संसार में अपूर्व दान देकर दान की महिमा सिद्ध की है; फिर पात्र-कुपात्र की वात लेकर उसके विरुद्ध प्ररूपणा कर दीन-दुखियों पर अनुकंपा-करुणा का विरोध करना कौन-सा धर्म है? जैन नहीं अन्य सामान्य

---

* जयवाणी पृ. 64
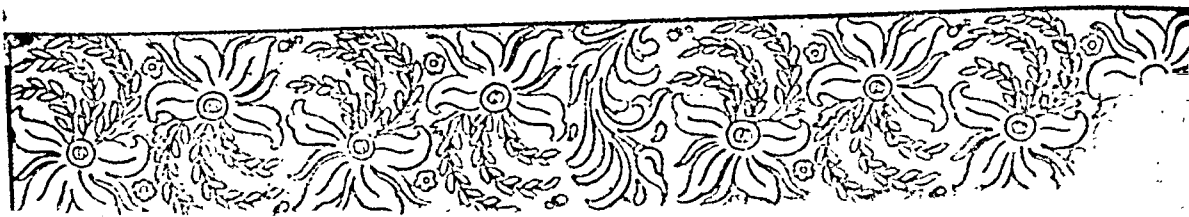
साधु श्रावकों को धर्म ध्यान का आदेश दे सकते हैं एतदर्थ लोग या जैन श्रावक सामूहिक धर्म ध्यान करने, घर गृहस्थी से अलग धर्म स्थानक, समाचार आदि अपने लिये बनवाते हैं और उसपर श्रावक संघ का आधिपत्य होता है। धर्म ध्यान, ज्ञानोपार्जन और सामूहिक मिलन के लिये श्रावकगण अपने निमित्त एतदर्थ भवन बनावें तो यह श्रावकगण की बात है। वहाँ धर्म ध्यान होता देख साधु की आत्मा प्रसन्न हो यह स्वाभाविक है। आखिर तो ये धर्म प्रचार करने ही निकले हैं। एतदर्थ साधुओं की निंदा कोई करता है तो यह योग्य नहीं है और साधुओं के लिये तो ऐसी निंदा करना साधुपने के योग्य ही नहीं है।

जैन संत और सतीगण अक्सर विहार करते रहते हैं और गोचरी के नियम के अनुसार प्रतिदिन एक घर से गोचरी भी नहीं ला सकते। साथ ही चातुर्मास में उपवास आदि और अन्यथा भी आत्मा को उन्नत करने के लिये कोई न कोई तप चालू रहता है। गोचरी में सब घर का आहार मिलता है। फिर भी अपने गलत दृष्टिकोण को सच्चा बताने उनपर छिटाकशी करना और निंदा करके अपने को बड़ा बताना यह भी साधुपना नहीं है। जैन साधुओं की भाषा समिति के विरुद्ध ये बातें हैं।

साधुओं के लिये सर्व सामान्य तीन बातें बताई गइ हैं—निर्लेपता, परिव्राजकपना और आत्म लक्ष्य। एतदर्थ साधु घर-गृहस्थी कंचन-कामिनी का त्याग करता है। उससे आगे मोह रहित होके परिव्राजकपन करता है यानी घूमता-चलता-फिरता है और सदैव आत्म-लक्ष्य को ध्यान में रखता है। इतना होते हुए भी वह किसी पर भी भार रूप न हो एतदर्थ जैन धर्म के अनुसार वह अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा अहार गोचरी के रूप में लाता है!"

पूज्यश्री के वचनों से धर्म, साधु जीवन आदि की वातों का स्पष्ट विवेचन सुन शाहपुरा नरेश और लोग बड़े प्रसन्न हुए। चातुर्मास में सतियों के उग्र तप हुए। सती चैनाजी ने ३१ उपवास किये और सती रत्नाजी ने ३० दिन (एक मास) के उपवास किये। जिससे लोगों में काफी धर्म-ध्यान हुआ।

* * *

चातुर्मास के दिन धर्म-ध्यान में बीतते जा रहे थे। सरदी की धूप जितनी जल्दी पूर्ण हो जाती है वैसे चातुर्मास के दिन बीतने आ रहे थे ऐसा लोग अनुभव कर रहे थे।

मानस भी दीन-दुखियों की सेवा करना धर्म मानता है। फिर दया प्रधान जैन धर्म जिसका प्रारंभ ही "अहिंसा से होता है* उसके विरुद्ध मरते जीव को, वह संसारी है कहकर न बचाने का उपदेश देना कौन से जैन-सूत्र में लिखा है? जैन सूत्रों में ऐसे व्यक्ति जो जैन दीक्षा लेकर विरुद्ध प्ररूपणा करता है और अपने ही देव, गुरु और धर्म को भूला-चूका या गलत बताते हैं उसे निन्हव कहा गया है!"

उस व्यक्ति के पास कोई उत्तर नहीं था। पूज्यश्री ने उसको बहुत ही स्पष्ट रूप में पूछा—"हम संत गण यहाँ रहे; क्या तुमको हमारा आचार विचार साधुपने से विपरीत लगा? क्या कभी आचार्य रघुनाथजी के आचार विचार के बारे में कोई प्रश्न उठाया गया है? ऐसे सरल पूज्य आचार्य गुरुदेव की निंदा करना यही सच्चे साधुपने का लक्षण है?"

उस व्यक्ति ने बची खुची हिम्मत बटोरकर कहा—"वे (भीखणजी) कहते हैं कि आप स्थान, शिष्य गौचरी आदि के संबंध में धर्म में प्ररूपित मार्ग के विपरीत दोष का सेवन करते हैं?"

पूज्यश्री ने कहा—"क्या तुमने धर्म-सूत्र पढ़ें हैं? या आधा ज्ञान प्राप्त करके भीखण बोलता है वैसे तुम भी रटी बातें कहते हो? इस स्थानक में हमारे चातुर्मास के पूर्व भी अन्यों के चातुर्मास हुए हैं। हम विहार करके जायेंगे फिर आप ही लोग इसका उपयोग अपने धर्म स्थानक में करेंगे जैसे चातुर्मास में भी करते थे और उसके पूर्व भी करते थे। संतगण तो कभी आते हैं और आपकी आज्ञा लेकर उतरते हैं और जाते समय भी आज्ञा लौटाकर ही जाते हैं। फिर मालिकी कब्जा का जूठा आरोप संतों पर लगाना अपने आपको श्रेष्ठ साधु बताने का दावा करनेवाला का कौन-सा अच्छा लक्षण है? मैं तो यह मानता हूँ कि उसके दया-दान विरोधी प्रचार से जैन लोग इतने विक्षुब्ध हैं कि उन्होंने जैन धर्मस्थानकों में उसे आने योग्य नहीं माना है!"

पूज्यश्री ने आगे कहा—"शिष्यों के बारे में तो ऐसी बात कही जा रही है कि जैसे रोज हम गांव भर में से पांच-पचीस को पकड़ कर आते हैं और मूंडते हैं—क्या ऐसा आप लोग रोज देख रहे हैं? मेरा तो विचार है कि किसी भी जैन संप्रदाय की साधु दीक्षा कोई सरल नहीं है कि रोज-रोज लोग टोलों के टोलों के रूप में उसे स्वीकार करते हों। उसमें भी पहले

* धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।

सभी लोगों के मुंह से "धन्य-धन्य" निकल पड़ा; लेकिन मेड़ता के अगुवे श्रावकों में कोलाहल शुरू हुआ।

आचार्यश्री भी जयमल का प्रशस्त वदन और युवान तन देखकर उस ओर आकृष्ट हुए थे। वे व्रत पच्चक्खाण दें उसके पहले मेड़ता के बाजार के व्यापारी के अगुआ खड़े हुए। उन्होंने कहा :—"महाराजश्री! इनकी श्रद्धा यहाँ हुई है वह तो ठीक है; किन्तु इनका विवाह अभी छ मास पूर्व ही हुआ है, अभी इन्होंने देखा ही क्या है? फिर इनका संबंध भी राज-घरानों से है।"

आचार्यश्री ने जयमल से कहा :—"वत्स! ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन सहज नहीं है और आवेश में आकर कुछ भी करने की अपेक्षा सब सोच विचार कर ही करना चाहिये।"

जयमल नम्र होकर बोले :—"महाराजश्री! मेरा मन तो दृढ़ हो चुका है!"

मेड़ता के अगुआ ने कहा :—"मगर इसके लिये माता पिता की और विशेष रूप से पत्नी की भी सम्मति होना आवश्यक है।"

जयमल बोले :—"मैं मेरी आत्मा के लिये स्वतंत्र हूँ। महाराज साहब का प्रवचन सुनते ही मैंने तो मन में दृढ़ संकल्प कर लिया है कि आज से संसार की सभी बड़ी स्त्रियाँ मेरे लिये माता हैं और पत्नी सहित छोटी स्त्रियाँ बहनें हैं। मैंने तो व्रत ले लिया है अब उसको तोडनेवाला नहीं हूँ।"

आचार्यश्री महाराज के मुख से भी उद्गार निकल पड़े :—"साधु....! साधु....!! साधु....!!!"

१

जय - वैराग्य
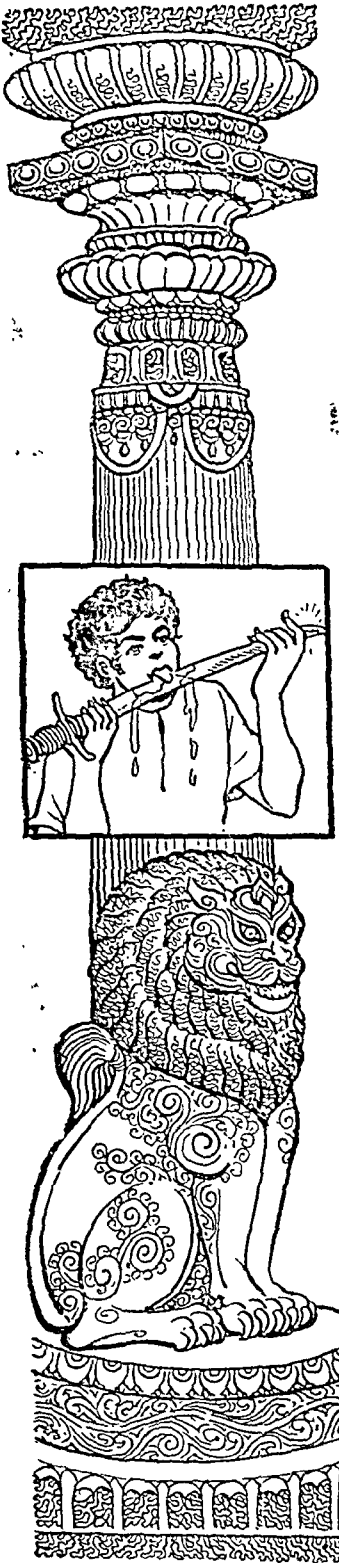
आचार्यश्री का व्याख्यान पूर्ण हुआ त्यों जयमल के भाव और भी चढ़ने लगे। आचार्यश्री से उसे आल - लगाव सा होने लगा और विचारने लगा :—"इतने दिनों तक मुझे पुण्योदय नहीं हुआ था कि आचार्यश्री के दर्शन नहीं हुए। आज ये मिल गये हैं मानों मेरा पूर्व जन्म का संस्कार मुझे मिल गया है!" उसकी आचार्यश्री पर श्रद्धा बढ़ती ही जाती थी और अब पल - पल उनके साथ बिताने की भावना प्रबल होती जाती थी।

प्रवचन पूर्ण हो गया था। मेड़ता निवासी लोग अपने घर वापस जा रहे थे। सब के मुख पर एक ही बात थी — जयमल के व्रत - नियम की! कोई कहते थे :—"क्या, आचार्यश्री के प्रवचन का प्रभाव है....?"

"लाँबिया के महेता के छोटे कुंवर का जीव भी पुण्यशाली है....! हम भी प्रति दिन सुनते हैं और क्यों भाव बढ़ते नहीं है!" दूसरे ने कहा।

तीसरे ने आँखे बनाके कहा :—"इन राज - दरबारी लोगों का भला पूछो.... हो सकता है मज़ाक में नाटक सा करके दिखाया हो!"

लोगों की अपनी - अपनी जुबान और अपनी - अपनी बात थी।

भाव-दीक्षा की तैयारी के रूप में साधु आचार के लिये अपने आप को तैयार करना पड़ता है और फिर दृढ़ मनोबल देकर उस व्यक्ति को दीक्षा दी जाती है। मेरे इतने धर्म-प्रवचनों के बाद और चालीस वर्ष से ऊपर के संयम अवस्था में 20 25 ने भी बड़ी मुश्किल से संयम लिया है। इसमें किसीको पकड़ के लाया और मूंडा कभी भी नहीं होता। हो सकता है कोई छोटी उमर के दीक्षित हुए हों उसमें भीखणवाले भी अपवाद रूप नहीं है। रहा हम लोग बहका के अन्य संप्रदायों के संतों को अपने में मिला लेते हैं यह तो भीखण ने स्वयं किया है कि अनेकों को लेकर अलग हुआ; बहुत से अयोग्यों को लेकर भी चला जो उससे भी अलग हो गये। बहुतसों को भीखण की अयोग्यता मालूम हुई और वे प्रायश्चित्त लेकर पुनः अपने गुरुओं के साथ हो गये। इसमें अयोग्य शिष्यों को साथ लेना, बहका ले जाना आदि स्वयं के दोष, भीखण अन्य संतों पर लगाकर कौन सी साधुता का लक्षण प्रकट करता है?"

सभी लोग शांति से चुपचाप सुन रहे थे। वह प्रश्नकर्ता बैठ गया। पूज्यश्री ने आगे कहा—"रहा गोचरी का प्रश्न! हम लोग पात्र भर-भरकर लाते हैं, एक ही घर को दौड़ते हैं, यह कहां तक सही है या सिर्फ़ निंदा करने के लिये भीखण कहता है, यह आप ही सोंचे। पूज्य भूधरजी और पूज्य धन्नाजी म. सा ने हम सभी संतों के आगे तप-मार्ग की विशेष प्रभावना की है। आप यह भी जानते हैं कि इन पूज्य का अनुकरण करते हुए न स्वयं आचार्य रघुनाथजी बल्कि उनके साथ हम सभी मैं, संत कुशलजी, संत जेतसीजी ने एकाध बार का ही नहीं जाव जीवन के व्रत-तप ले रखे हैं—संत सतियों के उग्र तप, लंबे तप आपके सामने हो रहे हैं; इतना ही नहीं, आत्मा की साक्षी से इतना ही कहना है कि जब अधिक संत सतियां एक स्थान पर चातुर्मास के लिये इकट्ठे रहते हैं तब उस स्थान पर गोचरी का भार न पड़े एतदर्थ संतगण स्वयं लंबे उपवासों के तप-मार्ग पर चलते हैं। एकांतर, एकासन आदि कई तप तो अनेक संतों के, जीवन की दैनिक क्रिया सी हो गयी हैं। उन संतों के लिये पात्र भरके गोचरी लाने की निंदा करना कौनसी साधुता है?"

पूज्यश्री की बातें बड़ी शांति और ध्यान से लोग सुन रहे थे। पूज्यश्री ने आगे कहा—"इस प्रकार जैन धर्म और भगवान महावीर में भी खोट निकालनेवाला, अपने देव, धर्म, गुरु और बड़े संतों के लिये निंदा करनेवाला साधुता की कौन सी कक्षा में आता है? यह स्वयं आप ज्ञानी, बुद्धिमान लोग समझ सकते हैं। सूत्र लिपिबद्ध हुए उसके पूर्व ऐसे लोग जैन धर्म से अलग मान्यता रखनेवाले जैन दीक्षा लेकर अलग हुए। वे निन्हव कहलाये। उसमें

पूज्यश्री ने संत रायचंदजी को बड़े संत कुशलचंदजी की सेवा में नागोर चातुर्मास के लिये भेजा था। जोधपुर में पूज्यश्री के प्रवचनों का ठाठ लग रहा था। संत अजबचंदजी का अपूर्व तप प्रारंभ हुआ था। उन्होंने तेले तेले के पारणे के बाद चौले चौले का पारणा और अंत में पांच पांच के पारणे का तप प्रारंभ किया। पूज्यश्री अपने चातुर्मासों की टीप लिखते थे। उन्होंने साथ के संतों को कहा—"तपस्वियों की परीक्षा के लिये समय भी आता है। इस वर्ष सं. 1836 में दो श्रावण आयेहैं ; अधिक मास आया है।"

अधिक मास और कम एवं अधिक घड़ियों की तिथियों में सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कैसे 4 और 6 को करना पड़ता है इसका निरूपण उन्होंने अलग पन्ने पर किया था। संवत्सरी का दिन इन तिथियों की घट-बढ़ के बावजूद भी अषाढ़ी पूर्णिमा से 49 या 50 वें दिन ही आता है। दो श्रावण आये तो दूसरे श्रावण में और दो भादों आये तो पहले भादों में संवत्सरी होनी चाहिये। पूज्यश्री के पास अपनी दीक्षा से अब तक आये अधिक मास की सूची थी और अपने ज्योतिष ज्ञान से उन्होंने आनेवाले वर्षों की एक सूची बनाई जो इस प्रकार थी—

अधिक मासों की विगत

1787	भाद्रपद	1820	ज्येष्ठ	1852	भाद्रपद
1790	आषाढ़	1823	चैत्र	1855	श्रावण
1793	ज्येष्ठ	1825	श्रावण	1858	ज्येष्ठ
1795	आश्विन	1828	आषाढ़	1861	चैत्र
1798	श्रावण	1831	वैशाख	1863	श्रावण
1801	आषाढ़	1833	भाद्रपद	1866	आषाढ़
1804	चैत्र	1836	श्रावण	1869	वैशाख
1806	भाद्रपद	1839	ज्येष्ठ	1871	भाद्रपद
1809	आषाढ़	1842	चैत्र	1874	श्रावण
1812	ज्येष्ठ	1844	श्रावण	1877	ज्येष्ठ
1814	आश्विन	1847	आषाढ़	1879	आश्विन
1817	श्रावण	1850	वैशाख	1880	चैत्र

शाहपुरा आदि का वातावरण देखकर अपने प्रसिद्ध वादी शिष्य संत देवकरणजी का ठा. 3 से शाहपुरा में चातुर्मास तय किया था।

संत देवकरणजी के बारे में कहा जाता था कि वे क्रिया पालन में बड़े सख्त थे। दो पछेवडी (ऊपर का वस्त्र) को छोड़कर अधिक वस्त्र नहीं रखते थे। उनका ज्ञान इतना स्पष्ट था कि पूर और माधोपुर दोनों स्थानों पर उन्होंने भीखणजी से चर्चा करने के लिये कहा—किन्तु भीखणजी वहाँ से विहार कर गये थे।

उनके एक भक्त श्रावक हीराजी ने उनके गुणगान का वर्णन करते हुए लिखा था—

पुर-माधोपुर में चर्चा ने मंडिया भीखणजी कर गया विहार।
महीनो तांई चर्चा करवा भणी, रूंस कियो छुडाई लार॥
चरचावादी देवकरणजी घणा, वुध पराक्रम शूर।
इणांने नेडा सुणियां थको तेरापंथी जाय दूर॥*

पूज्यश्री के अन्यान्य शिष्यों में संत रायचंदजी ठा. 6 से नागौर, संत नगजी ठा. 3 से जैतारण थे। वड़े संत कुशलचंदजी ठा. 4 से जोधपुर चातुर्मास थे।

सोजत में इस वार धर्म-ध्यान आदि का वड़ा ठाठ रहा। सती कुशलजी ठा. 4 छोटे कुशलाजी ठा. 3 और सती लालाजी ठा. 6 का भी वहाँ चातुर्मास था। सती कुशलाजी ने 40 दिन के उपवास किये। सती मणिजी ने धोवण की आछ के आगार के साथ एक मास का तप किया। सती किस्तुरांजी ने भी एक मास के उपवास किये। उन्हें देख लोगों ने भी वहुत से व्रत-उपवास किये।

चातुर्मास के समय पूज्यश्री जयमलजी ने, आचार्य श्री रघुनाथजी को अपनी शाहपुरा, किशनगढ़, मेवाड़, कांठा आदि प्रदेशों की परिस्थिति से परिचित कराया। आचार्य रघुनाथजी ने अपने दिल्ही चातुर्मास और वहाँ की परिस्थिति से पूज्यश्री जयमलजी को अवगत किया।

पूज्यश्री जयमलजी की सज्झाय काव्य-रचना चालु ही थी और सोजत में रोहिणी की दोढाला विजयदशमी के दिन उन्होंने पूर्ण की थी।

* श्री हीराजी कृत "स्वामी देवकरणजी रा गुण" सज्झाय (सं. 1833) हीराजी "भांभी" जाति के रदास वंश के थे। पूज्य जयमलजी के परम भक्त थे और श्रावक वने थे, शास्त्रज्ञ थे। उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ पीपाड़ भंडार में है।

पूज्यश्री के साथ सती फलाजी, चतुराजी आदि ठा. 4 और सती अखुजी आदि ठा. 5 का भी चातुर्मास था।

पूज्यश्री के प्रवचनों का लोग लाभ लेते थे और सतियों के उपवासों का असर पड़ रहा था। सती फूलाजी ने 18 उपवास किये। सती विरजुजी ने 20 उपवास और सती मैनाजी ने 15 उपवास किये।

पूज्यश्री के प्रवचनों से प्रेरित होकर वैरागी गुलाबचंद ने दीक्षा की तैयारी पूरी करके पूज्यश्री से संयम दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार किशनगढ़ का चातुर्मास सफल रहा।

पूज्यश्री ने वहाँ से शाहपुरा की ओर विहार किया। उनके अनेक शिष्यों का प्रभाव लोगों पर पड़ता था। उनमें संत आशकरणजी का नाम विशेष चमक रहा था।

सं. 1838 में उनकी छोटी साधु वंदना की सज्झाय इतनी सुप्रसिद्ध हुई कि लोग गाँव-गाँव में उसका पाठ करने लगे थे। बड़े सीधे शब्दों में यह सज्झाय थी:—

साधुजी ने वंदना नितनित कीजे
प्रथम उगमते सुर रे........
नीच गतिमां ते नवि जावे,
पामे ते ऋद्धि भरपूर रे........
—साधुजी ने वंदना नितनित कीजे

सीधे सादे शब्दों में संत पुरुषों की यह वंदना पूरी करते हुए संत आशकरणजी ने लिखा:—

सवंत अढारने वर्ष आडतीशे।
बुसी ते गाम चौमास रे....॥
मुनि आशकरण इण परे जंपे।
हुं तो उत्तम साधुजी नो दास रे॥
—साधुजी ने वंदना.........

पूज्यश्री ने वास्तव में संत आशकरणजी के बारे में जो भाव संत रायचंदजी के आगे प्रकट किये थे उसकी सार्थकता वे सिद्ध कर रहे थे।

*　*　*

अरिहंत सिद्ध की साक्षी से अपनी भूलों का स्वीकार कर बहुत से वापस जैन धर्म के संत बने। जैन धर्म स्वयं में इतना स्पष्ट है कि ऐसे निंदकों के कारण उसकी प्रतिष्ठा घटती नहीं हैं। जैन धर्म स्वयं ऐसे अज्ञानियों के प्रति भी करुणा भाव रखने के लिये कहता है। अत: हमारा तो भीखण के प्रति यही करुणा भाव है कि एक दिन उसका अज्ञान हटे और वह स्वयं अरिहंत सिद्ध की साक्षी से देव-गुरु और धर्म के प्रति जो अशातना अवहेलना कर रहा है उसकी आत्म साक्षी से निंदा करे, गृहा करे और पश्चाताप-प्रायश्चित्त करे। उसके प्रचार से सामान्य लोग अज्ञानतावश उसको मान्य कर देव-गुरु धर्म की निंदा करते हैं उससे उनको हटाने, सच्चे जैन धर्म का प्रचार ही हमें करना चाहिये, ताकि उनका अज्ञान दूर हो।"

पूज्यश्री के प्रवचन का ऐसा असर पड़ा कि अनेकानेक लोगों ने तो समकित ग्रहण किया ही—उस भाई ने भी हाथ जोड़ कर समकित ग्रहण किया और निवेदन किया—"आप जैसे संतों को इधर अधिक विचरण करना चाहिये और मेरे जैसे अनेकों का अज्ञान दूर करना चाहिये।"

पूज्यश्री ने कहा—"सच्ची श्रद्धा रखना ही श्रेयस्कर है!"

किसीने यह भी कहा—"भीखणजी तो कहते फिरते हैं कि उनको आते देख बहुत से संत चर्चा में हार जायेंगे इस भय से विहार कर देते हैं!"

पूज्यश्री ने कहा—"तुम स्वयं देख सकते हो कि कौन किसको आते देख विहार करता है।"

भीखणजी के फैलाये गये भ्रमों को दूर करते हुए पूज्यश्री ने पूर से विहार किया।

पूज्यश्री जयमलजी ने पूर से वर्षों पूर्व जिस रास्ते से मेवाड़ में सिरीयारी की घाटी पार कर पदार्पण किया था उसी रास्ते से वे वापस विहार कर रहे थे।

गांव गांव में उनके सत्य धर्म प्रवचन से लोगों को दया-दान संबंधी कई बातें स्पष्ट हो रही थीं। इस प्रकार पूज्यश्री जयमलजी का शाहपुरा एवं मेवाड़ के कांठे के प्रदेशों में विहार बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। पूज्यश्री जयमलजी विहार करते 7 ठाणों के साथ सोजत पधारे। आचार्य रघुनाथजी भी दिल्ली से विहार कर सोजत पधारे। सोजत धन्य हो गया था क्योंकि दोनों आचार्यों का सं. 1832 का चातुर्मास सोजत में था। पूज्यश्री जयमलजी ने

किशनगढ़ से पूज्यश्री का विहार मालवा की ओर हुआ। 74 वर्ष की आयु में भी उनके प्रवचनों में वह जादू था कि लोग दूर-दूर से उन्हें सुनने आते थे। अधिकतर आत्म-चिंतन में डूबी-सी उनकी मुखमुद्रा, चेहरे पर 50 वर्ष से ऊपर के अनुपम चरित्र की अलौकिक आभा, लोग उनके दर्शन से धन्य हो जाते थे।

मालवा में विचरण कर पूज्यश्री जयमलजी अपने संतों के साथ शाहपुरावालों के आग्रह से सं. 1830 के चातुर्मास के लिये पधारे। उनके साथ संत मूलचंदजी, संत उदयचंदजी और संत गुलाबचंदजी थे। वयोवृद्ध सती फत्तुजी आदि चार आर्याजी का भी चातुर्मास था। चातुर्मास के अंत में शारिरिक अशातना असह्य हो जाने पर पूज्यश्री की आज्ञा से सती फत्तुजो ने संथारा लिया और ग्यारह प्रहर में वह पूर्ण हुआ।

शाहपुरा में चार मास तक धर्म प्रचार कर पूज्यश्री ने विहार किया। लोग उन्हें दूर-दूर तक पहुँचाने आये। बहुत-सों के मुख पर यह वाक्य था—"बापजी! अब कब कृपा होगी....?

पूज्यश्री का यही वाक्य था—"सच्चे धर्म की श्रद्धा रखो; वही हमारी कृपा सिद्ध होगी!"

* * *

पूज्यश्री विहार करते हुए नागौर की ओर जा रहे थे। उन्होंने सुना था कि संत कुशलजी के स्वास्थ्य में काफी गिरावट आ गयी है। गत वर्ष संत रायचंदजी उनकी सेवा में थे फिर भी संत कुशलचंदजी की बड़ी इच्छा थी कि वे पूज्य जयमलजी के दर्शन कर सके।

वैशाख का महीना था। पूज्यश्री नागौर के पास किसी गांव में ठहरे थे। उस समय उन्होंने समाचार सुने कि उनके बड़े गुरुभाई संत जेतसी कालधर्म को प्राप्त हुए हैं। उस दिन पूज्यश्री ने अपने प्रवचनों में संत जेतसीजी के आनंदप्रिय स्वभाव, तपस्या और उन्नत चरित्र के बारे में प्रकाश डाला।

पूज्यश्री संतों के साथ नागौर पहुँचे। संत कुशलजी वहीं पर थाणापति थे। दोनों का मिलन बड़ा आत्मीय रहा। अनेक प्रकार की धर्म चर्चाएँ दोनों संतों में होती रहीं।

कभी-कभी संत कुशलचंदजी कहा करते थे—"मेरी इच्छा है कि अंतिम समय आपकी सेवा में रहूँ।"

शाहपुरा आदि का वातावरण देखकर अपने प्रसिद्ध वादी शिष्य संत देवकरणजी का ठा. ४ से शाहपुरा में चातुर्मास तय किया था।

संत देवकरणजी के बारे में कहा जाता था कि वे क्रिया पालन में बड़े सख़्त थे। दो पछेवडी (ऊपर का वस्त्र) को छोड़कर अधिक वस्त्र नहीं रखते थे। उनका ज्ञान इतना स्पष्ट था कि पूर और माधोपुर दोनों स्थानों पर उन्होंने भीखणजी से चर्चा करने के लिये कहा—किन्तु भीखणजी वहाँ से विहार कर गये थे।

उनके एक भक्त श्रावक हीराजी ने उनके गुणगान का वर्णन करते हुए लिखा था—

पुर-माधोपुर में चर्चा ने मंडिया भीखणजी कर गया विहार।
महीनो तांई चर्चा करवा भणी, रूंस कियो छुडाई लार॥
चरचावादी देवकरणजी घणा, बुध पराक्रम शूर।
इणांने नेडा सुणियां थको तेरापंथी जाय दूर॥*

पूज्यश्री के अन्यान्य शिष्यों में संत रायचंदजी ठा. ६ से नागौर, संत नगजी ठा. ३ से जैतारण थे। बड़े संत कुशलचंदजी ठा. ५ से जोधपुर चातुर्मास थे।

सोजत में इस बार धर्म-ध्यान आदि का बड़ा ठाठ रहा। सती कुशलजी ठा. ५ छोटे कुशलाजी ठा. ४ और सती लालाजी ठा. ६ का भी वहाँ चातुर्मास था। सती कुशलाजी ने ५0 दिन के उपवास किये। सती मणिजी ने धोवण की आछ के आगार के साथ एक मास का तप किया। सती किस्तुरांजी ने भी एक मास के उपवास किये। उन्हें देख लोगों ने भी बहुत से व्रत-उपवास किये।

चातुर्मास के समय पूज्यश्री जयमलजी ने, आचार्य श्री रघुनाथजी को अपनी शाहपुरा, किशनगढ़, मेवाड़, कांठा आदि प्रदेशों की परिस्थिति से परिचित कराया। आचार्य रघुनाथजी ने अपने दिल्ही चातुर्मास और वहाँ की परिस्थिति से पूज्यश्री जयमलजी को अवगत किया।

पूज्यश्री जयमलजी की सज्झाय काव्य-रचना चालु ही थी और सोजत में रोहिणी की दोढाला विजयदशमी के दिन उन्होंने पूर्ण की थी।

* श्री हीराजी कृत "स्वामी देवकरणजी रा गुण" सज्झाय (सं. 1838) हीराजी "भांभी" जाति के रदास वंश के थे। पूज्य जयमलजी के परम भक्त थे और श्रावक बने थे, शास्त्रज्ञ थे। उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ पीपाड़ भंडार में है।
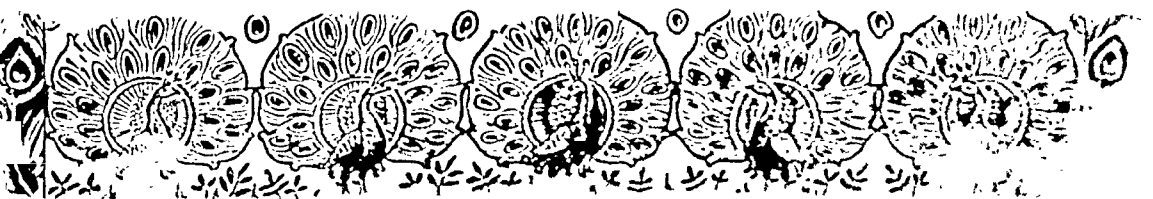
पूज्यश्री कहा करते थे—"अभी तो काफी समय निकालना है।"

फिर भी संत कुशलचंदजी की इच्छानुसार और नागौर के श्रीसंघ की विनति को मानकर उन्होंने नागौर चातुर्मास करने की स्वीकृति दे दी थी। विधि को कुछ और ही स्वीकृत था।

जेठ वद 4 को संत कुशलचंदजी को शारिरिक अवस्था का खयाल हो चला। पूज्यश्री को उन्होंने संथारा पच्चक्खवाने के लिये कहा। पूज्यश्री ने उनकी स्थिति देखकर संथारा पच्चक्खवा दिया।

संत कुशलचंदजी ने पूज्यश्री से हाथ जोड़कर कहा—"मेरे सारे शिष्य आपकी आज्ञा में रहेंगे। मेरा समाधि मरण सफल हो....आपकी ही कृपा चाहिये!"

पूज्यश्री इशारा समझ गये थे और उन्होंने संत कुशलचंदजी को धार्मिक स्तुति-स्तोत्र आदि सुनाना प्रारंभ किया। अन्य संतों ने भी यही क्रम जारी रखा। संत कुशलजी भी आत्म ध्यान में लीन होते गये।

आसपास के नगरों में यह समाचार फैल गये और लोग एवं पास में विचरते संत सतियाँ उनके दर्शन करने आने लगे।

जेठ वद छठ्ठ का दिन आया। संथारा दो दिन का हो चला था। संत कुशलजी की आत्मा श्वासोश्वास की तीव्रता के साथ स्वर्गगामी होते ही देह त्याग करके गयी। फिर भी उनके मुख मंडल पर अद्भुत शोभा-सी छोड़कर गयी थी।

पूज्यश्री ने अपने प्रवचन में संत कुशलचंदजी के गुणों का उल्लेख किया और उनके बताये मार्ग पर चलने का लोगों को कहा।

नागौरवासियों ने संत श्री कुशलचंदजी का अंतिम संस्कार बड़े जोर-शोर से किया। संत कुशलचंदजी ने विगत छः वर्ष तक नागौर रहकर अपने मधुर-स्वभाव से छोटे-बड़े सभी का हृदय जीत लिया था। बहुत दिनों तक लोग उन्हें याद करते रहे थे।

संत कुशलचंदजी के शिष्य गण अपने गुरुजी की इच्छानुसार पूज्य जयमलजी की आज्ञा में रहने लगे।
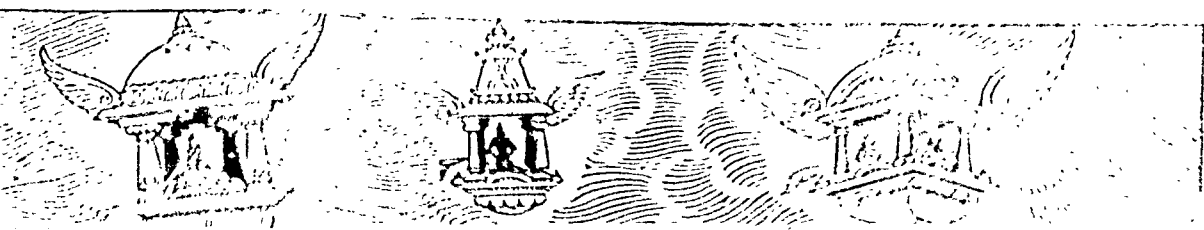
दोनों आचार्यों की परस्पर की आत्मीयता देखने वनती थी। इसमें भी पूज्यश्री जयमलजी, आचार्यश्री रघुनाथजी के गुणों की जोड़ गाते तो लोग डोल जाते थे चातुर्मास पूर्ण होने के बाद आचार्य रघुनाथजी ने बीकानेर की ओर विहार किया और पूज्यश्री जयमलजी ने पाली की ओर विहार किया।

* * *

पूज्य भूधरजी म. सा. के शिष्यों में बड़ा प्रेम था और यह बात अक्सर जब पूज्यश्री जयमलजी और प्रखर संत कुशलजी का मिलन होता था या पूज्यश्री और संत जेतशीजी मिलते थे तब स्पष्ट होता था।

संत कुशलचंदजी का गत चातुर्मास पाली में था और पूज्यश्री जयमलजी म. सा. का इस वर्ष का चातुर्मास पाली में था। दोनों बड़े संतों का मिलन वास्तव में अपूर्व था। उम्र अपना प्रभाव दोनों पर डालना चाहती थी; किन्तु दोनों उसे हटाते हुए 60 वर्ष से ऊपर की अवस्था में भी जोर शोर से धर्म प्रचार में लगे थे।

सं. 1833 का चातुर्मास पूज्यश्री ने पाली में ठा. 3 से किया। आचार्य रघुनाथजी का चातुर्मास बीकानेर था। संत कुशलजी का रिया में था। संत रायचंदजी 7 से मेड़ता थे और संत देवकरणजी बड़े संत जेतशीजी के साथ ठा. 5 से किशनगढ़ थे।

पूज्यश्री के प्रवचनों की धूम पाली में मच गयी थी। भीखणजी का भी चातुर्मास वहीं पर था। किन्तु बड़े आश्चर्य की बात थी कि लोग बड़ी संख्या में सत्य समझ कर भीखणजी का पंथ छोड़कर सच्चे जैन धर्म के उपासक बनने, पूज्य जयमलजी से सत्य ग्रहण करते थे। ऐसी खलबली मच गयी थी कि भीखणजी के प्रखर अनुयायी विजयचंदजी पटवा को गुप्त रूप से बहुत रुपये देकर उन्हें वापस तेरापंथी बनाने का लोभ ऐसा देना पड़ा कि उससे पाली भर में प्रसिद्ध हो गया कि लोग रुपयों के लोभ में तेरापंथी बन रहे हैं। बात यहां तक बढ़ गयी कि भीखणजी को स्पष्ट रूप से विजयचंद पटवा को कहना पड़ा—"रुपयों के लिये लोग तेरापंथी बने हैं; इससे अपना नाम खराब हो रहा है और इस तरह कोई तेरापंथी अवशिष्ट नहीं रहेगा!"

पूज्यश्री के सच्चे जैन धर्म प्रचार के कारण भीखणजी को वहां से तुरंत ही विहार कर देना पड़ा। पूज्यश्री जयमलजी का पाली चातुर्मास, रुपयों से बने तेरापंथी और भीखणजी का तुरंत विहार वर्षों तक लोगों को याद रहा।

* * *
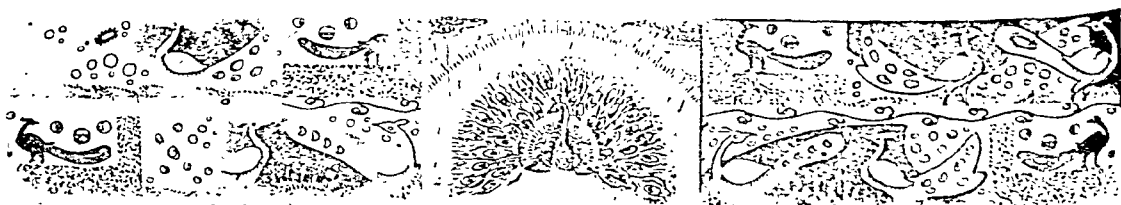
पूज्यश्री की इस उम्र में भी काया की स्थिरता, आड़े आसन लेटना नहीं, पूरी रात्रि सीधे बैठे रहना—आज भी लोगों को आश्चर्य चकित करता था। लोग उनके उपदेशों का अधिक लाभ उठाना चाहते थे। इस ज्ञान दर्शन चारित्र के पूंज से वे अपनी आत्मज्योति जलाना चाहते थे।

साधक सूरतरामजी इन्हीं में से एक थे। वे भाव दीक्षा की तैयारी करते हुए पूज्यश्री के पास दीक्षा के लिए तैयार हो रहे थे।

पूज्यश्री का सं. 1834 का चातुर्मास जोधपुर में जनता के विशेष आग्रह से हुआ। उनके साथ संत चंद्रजी, संत प्रेमजी और संत आशकरणजी थे।

आचार्यश्री रघुनाथजी और बड़े संत कुशलजी के चातुर्मास नागौर में थे। संत कुशलजी पर वृद्धावस्था की असर दीखती थी। आचार्यश्री ने यह अवस्था जानकर उन्हें नागौर में स्थिर (ठाणापति) होकर रहने के लिए स्वीकृति दे दी थी।

पूज्यश्री के अन्यान्य संतों के चातुर्मासों में संत रायचन्दजी ठा. 5 से बीकानेर, संत गजजी ठा. 2 से बगड़ी, संत नगजी ठा. 3 से छिपिये, संत अजबचंदजी ठा. 3 से तिवरी और संत देवकरणजी मांडल गढ़ में चातुर्मास निमित्त थे।

भाव दीक्षार्थी सूरतरामजी के अच्छे भाव देखकर जोधपुर श्रीसंघ ने अपने यहाँ उनका दीक्षा समारोह मनाने का आग्रह किया और पूज्यश्री ने उनकी तैयारी देखते हुए स्वीकृति दी।

पूज्यश्री अपने संतों को विशेष रूप से सूत्रों का ज्ञानाभ्यास कराते थे। उसमें भी जैन धर्म के मूल-सूत्र उत्तराध्ययन दशवैकालिक, नंदी, अनुयोगद्वार और साधु जीवन के लिए आवश्यक ज्ञान के भंडार स्वरूप छेद सूत्रों से भी अपने शिष्यों को सविशेष अवगत कराते थे।

दीक्षा की तैयारियाँ चल रही थीं कि साथ के एक संत चंदजी का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा और सावन सुदी दूज को उन्हें सायंकाल में संथारा पच्छक्खा दिया गया था। दूसरे दिन सावन सुदी 3 के प्रथम प्रहर में संथारा सीझ गया। श्रीसंघ ने उनके मृत देह को पालखी में बिठा कर जलूस निकाल कर उसका अंतिम संस्कार दिया। संतों को उस दिन उपवास रहा।

चातुर्मास पूर्ण होने पर बीकानेर के लोगों के अति आग्रह पर पूज्यश्री ने उस क्षेत्र की ओर विहार किया। वृद्ध फिर भी सशक्त आत्मावाले पूज्यश्री के दर्शन पाकर लोग धन्य हो जाते थे।

नागौर से छोटे-छोटे गाँवों को स्पर्श करके धर्म प्रचार करते हुए पूज्यश्री गोगोलाव अलाव में आकर स्थिर रहे। मुनिश्री उदयचंदजी का शारिरिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। गोगालाव में स्वास्थ्यलाभ होने के बाद उन्होंने भी विहार की स्वाकृति दी।

गोगोलाव से भगु चार कोश था। वहाँ पर पूज्यश्री सभी संतों के साथ पहुँचे। संत उदयचंदजी को यहाँ पहुँचते ही शरीर की अशातना बढ़ने लगी। आधे पहर तक स्वस्थता न आते देख उन्होंने संथारा पच्चक्ख लिया और एक पहर में वे काल-धर्म को प्राप्त हुए।

पूज्यश्री इसीको लक्ष्य करते हुए कहते थे कि "काल का क्या भरोसा है; आगे-पीछे सब को जाना है जो धर्म करते हैं; वे ही संसार सुधारते हैं!"

> एक दिवस तो आगे न पीछे, है सघलां ने जाणो रे।
> न्यात जात सगलां के विच में, काल ज लेसी ताणो रे॥
> ऐसो काल जोरावर जाणी, मन में समता आणो रे।
> एसी सीख के ऋषि जयमल, पायो न नर भव ठाणो रे॥*

पूज्यश्री गांव-गांव आत्म जागृति का संदेश देते हुए आगे बढ़ रहे थे। जब वे बीकानेर पहुँचे तो लोगों में अपार आनंद छा गया। आसपास के गाँवों से लोग आने लगे और उनके दर्शन कर धन्य होने लगे।

पूज्यश्री उन्हें आत्म श्रद्धा दृढ़ रखने का कहते थे। बिना सच्ची श्रद्धा रखे इस जीवन में मनुष्य भव पाकर भी उद्धार नहीं होता।

बीकानेर से जब पूज्यश्री ने विहार किया तो लोगों में उदासी-सी छा गयी। पूज्यश्री की 76 वर्ष की उम्र और शारीरिक अवस्था देखते हुए वे सोचते थे कि पूज्यश्री का इस ओर अब कहाँ विहार होगा?"

---

* जयवाणी-विरक्ति पद पृ. 114-15

वीकानेर से लौटते हुए पूज्यश्री संतों के साथ नागौर वापस आये। संत गुमानचंदजी (संत कुशलचंदजी के शिष्य) आदि संत उनकी सेवा में आये। अपने दीक्षा गुरु संत कुशलचंदजी की आज्ञा के अनुसार वे पूज्यश्री की आज्ञा में विचरण करते थे। नागौर में उन्होंने पूज्यश्री के सान्निध्य में वैरागी ताराचंद को दीक्षा दी।

पूज्यश्री के आदेश से संत रायचंदजी ने आचार्यश्री की सेवा में रहने जोधपुर विहार किया। वर्तमान परिस्थिति में वे आचार्यश्री से मार्गदर्शन चाहते थे। आचार्य श्री का सं. 1841 का चातुर्मास जोधपुर था।

पूज्यश्री जयमलजी का सं. 1841 का चातुर्मास नागौर हुआ। उनके साथ संत गुमानचंदजी, संत गोविन्दजी, संत लक्ष्मीचन्दजी, संत प्रेमचन्दजी और नये संत ताराचन्दजी थे। आर्याजी के ठा. 11 में, सती वलाजी ठा. 4, सती गुमानीजी ठा. 8. सती उदाजी ठा. 4 का भी चातुर्मास वहीं पर था।

सन्त रायचन्दजी जोधपुर ठा. 5 से थे। सन्त दुर्गादासजी जैतारण ठा. 4 से थे। सन्त तुलसीदासजी ठा. 2 से कालू थे। देवकरणजी ठा. 4 से शाहपुरा, नगजी ठा. 2 से वांसिया पीपलिया थे।

पूज्यश्री प्रातः प्रार्थना के वाद प्रवचन के समय थोड़ा-सा व्याख्यान देते थे। संत गुमानचंदजी अक्सर प्रातः प्रवचन करते थे। मध्यान्ह में संत गोविंदजी चौपाई-ढाल सुनाते थे। पूज्यश्री के अपूर्व शास्त्र ज्ञान से लाभ लेने के लिये संत गुमानचंदजी उनकी सेवा में रहे थे। नये संत ताराचंदजी भी साथ रहते थे। उनकी ज्ञानोपार्जन की लगन और ग्रहण करने की शक्ति से पूज्यश्री ने संत गुमानचंदजी को कहा था कि ये अवश्य शासन का नाम उज्जवल करेंगे।

चातुर्मास के दिन वीत रहे थे। संत और सतियों के उपवास चल रहे थे। सती किशनाजी ने 18 उपवास किये; सती नंदु ने 9 उपवास किये; सती रामू ने 8 उपवास किये थे।

पूज्यश्री चिंतन में मग्न रहते थे। उस अवस्था में वैठे-वैठे उन्हें लगभग यह अनुभव होने लगा था कि उनका शरीर पहले जैसा उनका साथ नहीं दे रहा था। श्रीसंघ में यह समाचार फैलने लगे। लोगों ने चिकित्सा कराने का आग्रह किया; किन्तु पूज्यश्री ने
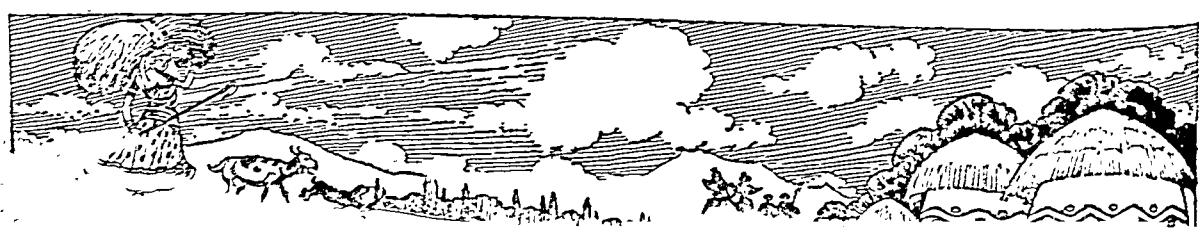
पीपाड़ के चातुर्मास के समय एक बात और सामने आयी। कुछ नये भीखण भक्तों को भीखणजी की श्रद्धा नहीं जंची और वे श्रद्धा उन्हें वापस करने गये तब भीखणजी ने उनसे कहा :—"मैं श्रद्धा नहीं दिलाता हूँ ; मैं तो डाम देता हूँ और दिये डाम कैसे वापस लिये जा सकते हैं।"

पूज्यश्री के पास लोगों ने जब यह बात कही तो उन्होंने इतना ही हँसके कहा :—"जो अपने गुरुओं को शूलें चुभाता है वह अनुयायियों को समकित कहाँ से देगा? डाम ही देगा.... यह स्वाभाविक है!"

पूज्यश्री के असरकारक प्रवचनों से अनेकों ने सत्य श्रद्धा ग्रहण की। इस प्रकार पूज्यश्री ने पीपाड़ में धर्म उपकार कर विहार किया।

कहा कि—"यह तो शरीर का पुद्गल-धर्म है और मुझे अपने आत्म-धर्म के प्रति जागृत होने के लिये सूचित करता है!"

वे तो वैसे ही एकांतर करते थे। कई बार अधिक उपवास भी कर लेते थे। 37 वर्ष से वे आडे आसन लेटते नहीं थे। शरीर के जोरों में अकडन न आ जाये, इसलिए श्रीसंघ की आज्ञा से वे सिंहासन आकृति के एक चौरंग बाजोट पर अपना आसन बिछाकर बैठते थे। पीछे एक तख्ता सहारे के लिये था उसका सहारा ले लेते थे। संतों ने और श्रावकों ने उन्हें लेटकर विश्राम ले लेने के लिये कहा; किन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ थे। उनका दृढ़ मनोबल देखकर सब को बड़ा आश्चर्य होता था।

संत गुमानचंदजी पूज्यश्री की स्थिति से सुपरिचित थे। पूज्यश्री भी उनके हृदय को जान गये हों वैसे कहते थे—"इस काया से जो ज्ञान लाभ लेना चाहो ले सकते हो; इसके लिये संकोच मत करना!"

संत गुमानचंदजी उनकी सेवा में रहकर अपना ज्ञान और भी विकसित करने लगे।

चातुर्मास में स्थिर हो गया था कि पूज्यश्री आगे विहार नहीं करेंगे और एतदर्थ नागौर श्रीसंघ के आग्रह पर उन्होंने थाणापति बनकर रहने के लिये आचार्यश्री की आज्ञा मंगवाई थी। उस उम्र में भी उनका विनय सराहनीय था।

चातुर्मास पूर्ण होने पर पूज्यश्री की सेवा में दो संत रहे और शेष ने विहार किया। संत गुमानचंदजी आदि सब की बड़ी इच्छा थी कि वे भी उनकी सेवा में रहे; किन्तु धर्मप्रचार निमित्त उन्हें विहार करने के लिये पूज्यश्री ने कहा और उन्होंने विहार किया।

* * *

पूज्यश्री ने प्रखर शिष्य संत रायचंदजी का चातुर्मास जोधपुर में था। आचार्यश्री रघुनाथजी का चातुर्मास भी जोधपुर था। पूज्यश्री के स्वास्थ्य गिरने और स्थविर वास के समाचार वे जान चुके थे।

आचार्य रघुनाथजी अपने बढ़ते हुए शिष्य समुदाय और उनके संचालन से चिंतित थे। पूज्यश्री जयमलजी के स्थविरवास की बात सुनकर भविष्य का लंबा विचार कर उन्होंने सन्त रायचन्दजी से विचार विमर्श किया।

पूज्य भूधरजी के शिष्य समुदाय में आचार्य रघुनाथजी, पूज्य जयमलजी एवं श्री कुशलजी के सन्त सतियां थे। इन सन्तों का भी शिष्य-प्रशिष्य परिवार बढ़ ही रहा था। सन्त परंपरा

६६

जय—जीवन संध्या के प्रखर रंग
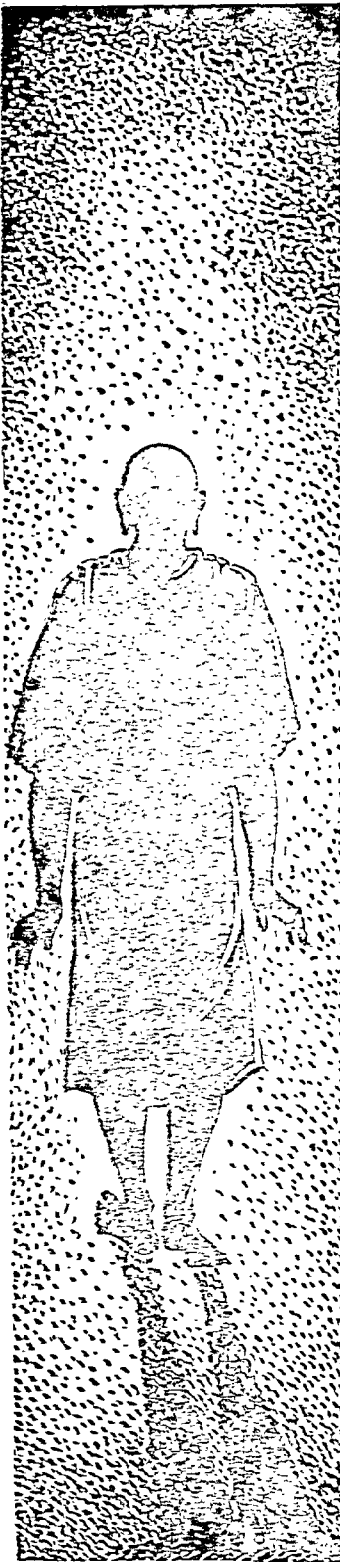
सं. 1886 में पूज्यश्री का चातुर्मास जोधपुर में 7 ठा. से था। आचार्य श्री रघुनाथजी का चातुर्मास पाली में था। उनका मिलन संत रूपचन्दजी से हुआ। भीखणजी ने जिनको अपने साथ समझा था और जो दूसरे ही चातुर्मास से ही गुजरात की ओर विचरण कर रहे थे, ये वे ही संत रूपचंदजी थे।

उन्होंने गुजरात सौराष्ट्र विचरण किया। वहाँ आगमों के सत्यों का संशोधन किया और भीखणजी की बातों को सही न पाकर वे पुनः आचार्यश्री की सेवा में पधारे थे।

उनके साथ उनके प्रखर शिष्य संत जेठमल जी थे जिन्होंने अपनी प्रखर बुद्धि से अहमदाबाद के बादशाह के साथ मूर्तिपूजक अमरविजयजी और वीरविजयजी से वाद-विवाद करके उन्हें हराया और वे "वादी मान मर्दक" कहलाये। उनका 'समकित-सार' ग्रंथ सुप्रसिद्ध है। आचार्यश्री ने संत रूपचंदजी को प्रायश्चित देकर अपने साथ ले लिया। संत जेठमलजी के प्रवचनों की पाली में धूम मच गयी। भीखणजी के विचारों में भरी अज्ञानता को उन्होंने खोलकर रख दिया। अनेक भीखण भक्त पुनः सच्ची श्रद्धा ग्रहण करने लगे।

स्वतंत्र नहीं थी। किन्तु अन्य सभी की सन्त शिष्य परंपरा थी। संत कुशलचन्द शिष्यों को पूज्य जयमलजी के साथ कर दिये थे। वैसे भी आचार्यश्री रूघनाथजी ए जयमलजी दोनों की आज्ञा मान्य थी।

अत: लंबे विचार के बाद आचार्यश्री रघुनाथजी ने चातुर्मास के अंत मे आचार्य की चादर सन्त रायचन्दजी को देते हुए कहा कि संघ व्यवस्था और शासन निमित्त यह चादर पूज्यश्री को ओढ़ानी की है और तदनुसार नागोर श्रीसंघ को मैं स भेजता हूँ। तदनुसार पूज्य जयमलजी की आज्ञा में अब से उनके और सन्त कुशलचन्द परंपरा के सन्त सती विचरण करेंगे; शेष मेरी आज्ञा में रहेंगे!"

सन्त रायचन्दजी ने बड़े विनय से कहा कि मैं पूज्यश्री को जानता हूँ और आप यह कार्य न सौंपें।

जब आचार्य रूघनाथजी ने अपनी आज्ञा कहकर पालन करने के लिये कहा तब उ विवश होकर उनकी बात माननी पड़ी।

अन्त में रायचन्दजी ने बड़े भारी मन से आचार्यश्री से विदाई ली। आचार्यश्री ने उन्हें बड़े प्रेम से कहा—"भविष्य में शासन और धर्म प्रचारनिमित्त जो करना चाहिये यहीं अब मैं कर रहा हूँ!"

सन्त रायचन्दजी विहार करते करते नागौर पहुँचना चाहते थे। जोधपुर चातुर्मास के समय उनके प्रवचनों से प्रेरित होकर पोकरण नगर के श्री आनंदरामजी लूणिया और सुन्दरदेवी का पुत्र सबलदास छोटी उम्मर होते हुए भी संयम लेने के लिये आग्रह कर रहा था। उसके मनोबल को देखते हुए सन्त श्री रायचन्दजी ने, अपने साथ के संत आशकरणजी के पास तैयार होने रखा। बालक सबलदास ने अभी 14 वर्ष भी पूरे नहीं किये थे। लेकिन उसके भाव बड़े ऊँचे थे। अत: जोधपुर विहार के बाद उसके दृढ़ आग्रह को देखकर सन्त रायचन्दजी ने बचकुला गाँव में उसको मिगसर सुद 8 को छोटी दीक्षा दी और चार मास बाद कालू में चैत्र शु. 8 को बड़ी दीक्षा दी।

आसपास के गाँवों में पूज्यश्री जयमलजी को स्वतंत्र आचार्य बनाने और तदनुसार उनके पट्ट शिष्य के रूप में रायचंदजी ही उनके उत्तराधिकारी बनेंगे ऐसा विचार लोगों में फैलने लगा।
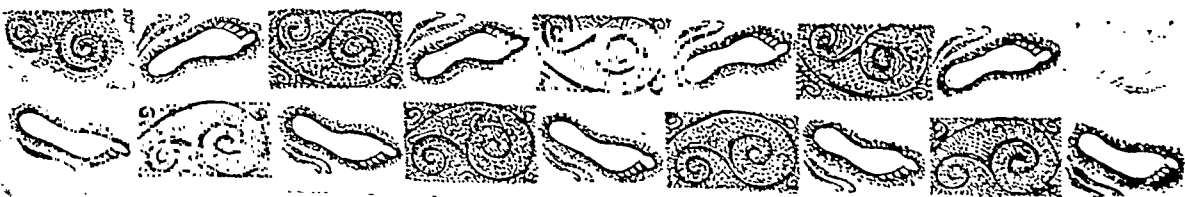
इधर स्थानक में व्याख्यान पूर्ण होते ही सूरतराम ने कहा :—"चलो, अब उठें! बाज़ार खुल गया होगा। सौदा आदि करके लाँबिया रवाना हो जायें!"

जयमल बोले :—"मैंने तो सौदा कर लिया है। जीवन का व्यापार नये ढँग से शुरू करूँगा। अब मुझे दुनियाँ का नकली माल नहीं खरीदना है।"

आशकरण से नहीं रहा गया। उसने कहा :—"जयमल! मज़ाक तो कई बार तुम बहुत बढ़िया करते हो — लेकिन आज तो तुमने सबको मात कर दिया!"

"आशकरण! यह मज़ाक नहीं है; सच है। मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत मन से ले लिया है; अब मैं दीक्षा लूँगा!" जयमल बोले।

"बड़ा आया दीक्षा लेनेवाला! अभी तो मुकलावा पर जाने के लिये दुकान की खरीदी करने आया था और अभी दीक्षा लेगा — वाह रे वाह!" आशकरण ने भी जबाब दिया।

"तुम सभी सुन लो; मेरे पर अब दूसरा रंग नही चढ़नेवाला है। तुमको खरीदी करना हो तो खरीदो! मैं तो इन पूज्य गुरुदेव के साथ ही रहूँगा — वे जहाँ होंगे वहीं मेरा मुकाम होगा। मैं दीक्षा लूँगा ही!" जयमल दृढ़ता से बोले।

सूरतराम ने समझाते हुए कहा :—"जयमल! यह समय हठ का नहीं है। तुम्हें घर का, कुटुंब का, अरे, अभी जिससे ब्याह रचाया है, उस पत्नी का भी ख्याल रखना चाहिये!"

"मैं नहीं था, तब उनका कौन ख्याल रखता था! मैं नहीं रहूँगा तब कौन ख्याल रखेगा! सभी जीव अपना-अपना ख्याल आप रखते हैं!" जयमल ने कहा।

"फिर भी मेरा कहना मान, यह समय दीक्षा लेने का नहीं है। अभी संसार में तूने देखा ही क्या है!" सूरतराम ने कहा।

"सूरतराम ! तुम तो धर्म - संन्यास की बड़ी - बड़ी बातें करते थे और सब से श्रेष्ठ इसको ही बताते थे। आज मैं दीक्षा लेने चला हूँ, तब यह सब बनावट क्यों है? तुम तो हमेशा कहा करते थे कि वह दिन धन्य होगा जब तुम मुनि बनोगे। फिर मुझे क्यों रोकते हो?" जयमल ने सचोट जवाब दिया।

सूरतराम जान गये कि जयमल पर अभी रंग चढ़ा हुआ है। थोड़ी देर तक उसके और अन्य साथियों ने इधर - उधर की बातें कहकर उनका मन बहलाना चाहा; मगर उसमें कोई परिवर्तन नहीं देखा, बल्कि उन्होंने उसके भावों को और भी चढ़ते देखा।

उन्होंने तय किया कि दो - तीन मित्र यहाँ जयमल के पास रहे और एक व्यक्ति लाँबिया जाकर समाचार दे आये। सब ने सूरतराम को ही पसंद किया। सूरतराम वहाँ से रवाना हुआ। उसने बाज़ार में जाकर दो - चार व्यापारियों की सलाह ली और तेज़ दौड़नेवाले ऊँट पर सवार होकर लाँबिया चल दिया।

इधर जयमल स्थानक में पहली बार स्पष्टता से सभी बातें समझ रहा था। कुछ लोगों को पौषध था। वे आसन व दरी पर बैठे थे। उनकी मुँहपत्ति बंधी हुई थी। महाराजश्री ने भी मुँहपत्ति बांध रखी थी। यह मुँहपत्ति क्या थी? उसका रहस्य क्या था? जयमल ने एक सज्जन से पूछा। उसका खुलासा इस प्रकार मिला।

श्वेत वस्त्र की आठ परतवाली ये मुखवस्त्रिका समभाव का सूचक है। वचन की शुद्धता एवं वायुकाय के जीवों की रक्षा के निमित्त बांधी जाती है; सामायिक के समय बांधना आवश्यक है।

सामायिक क्या है?

मानव जीवन विषम भावों से भरा है। उसमें से जीवन के आठों पहर में से कम से कम सिर्फ दो घड़ी समभाव, प्रभुस्मरण, आत्मभाव में लगना, यह सामायिक है। सामायिक होती है तब तक मुँहपत्ति बांधनी चाहिये। कम से कम दो घड़ी की एक और अधिक उसी क्रम से जितनी सामायिक हो, कर सकते हैं।

सन्त रायचन्दजी अपने शिष्यों सहित नागौर पहुँचे। पूज्यश्री जयमलजी चौरंगी बाजोठ पर दिव्य आभा धारण किये बैठे थे। वन्दना करके सन्त रायचन्दजी पूज्यश्री की पादसेवा में बैठ गये। नये शिष्यों का परिचय पूज्यश्री को करवाया। उन्होंनें जोधपुर की आचार्य की चादर की बात और आचार्यश्री की आज्ञा कह सुनाई।

पूज्यश्री ने बड़े गंभीर शब्दों में कहा—"आचार्यश्री ने अपनी उदारता और बड़प्पन का परिचय दिया—तुमने आज्ञा पालन का कार्य किया; किन्तु मेरा भी कर्तव्य है। आचार्य भूधरजी के सामने मैं प्रतिज्ञा बद्ध हुआ हूँ कि अपने जीवन काल में कभी संघ विच्छेद में सहायक नहीं होऊँगा; और न मैं चाहूँगा कि मेरे शिष्यों के रूप में तुम लोग भी ऐसे कार्यों में सहायक बनो। आचार्यश्री रूघनाथजी जब तक हैं, वे ही आचार्य रहेंगे। हम सब पूज्य आचार्य भूधरजी के अनुयायी हैं—एक हैं और एक रहेंगे!"

पूज्यश्री की वाणी सुनकर सब भावविभोर हो उठे। उनकी निस्पृहता उनकी ही थी। आचार्य रघुनाथजी ने जब यह सुना तो वे भी गद्‌गद् हो उठे और लोग पूज्यश्री का जयजयकार करने लगे।

सं. 1842 का चातुर्मास संत रायचंदजी ने पूज्यश्री की सेवा में नागौर किया। अब यह निश्चय हो चुका था कि पूज्यश्री जयमलजी नागौर में ही स्थविरवास करेंगे। उन्हें जो मार्ग-दर्शन देना होगा, वे वहीं पर से देंगे।

* * *

नागौर पूज्यश्री जयमलजी के स्थविरवास के कारण तीर्थ-क्षेत्र सा हो गया था पूज्य भूधरजी के संत सतियों का विशाल समुदाय था। प्रत्येक संत सती की यह इच्छा रहती थी कि विहार काल में शक्य हो तो उस ओर विचरण कर पूज्यश्री के दर्शन और सेवा का लाभ लिया जाय। श्रीसंघ के लोग अलग-अलग गांवों से दर्शन करते आते थे।

बढ़ती उम्र होते हुए पूज्यश्री विशेष चलते फिरते नहीं थे; फिर भी अपनी बाजोठ पर बैठे-बैठे अनेक संत-सतियों को ज्ञानाभ्यास कराते थे। अनेक जिज्ञासु लोगों को उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे। छोटे-छोटे बालकों का धर्माभ्यास उनके स्थविर वास में बढ़ने लगा था।

परिशिष्ट

१

•
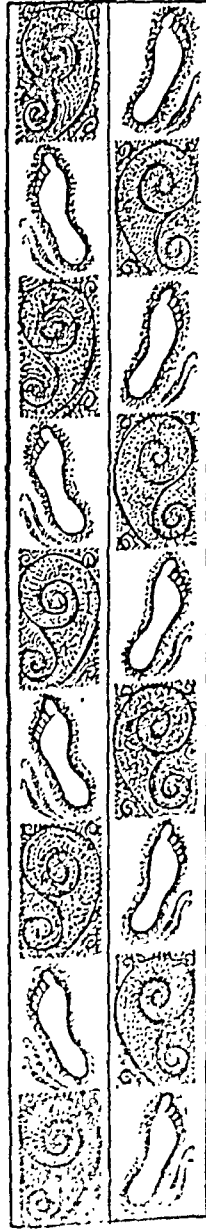
○ पट्टावली

○ पूज्य परंपरा

○ जयमल पट्टावली

•

आत्मा के ध्यान में पूज्यश्री के भाव दिनों दिन उन्नत होते जाते थे। उनके यश की कीर्ति चारों ओर फैल रही थी। जयपुर नरेश और बीकानेर नरेश जब कभी नागोर आते थे उनके दर्शन किये बिना नहीं रहते थे।

सं. 1844 में संत गुमानचंदजी और सं. 1847 में संत रायचंदजी उनकी सेवा में चातुर्मास कर चुके थे। अन्यान्य संत भी उनकी सेवा में रहकर जाते थे।

* * *

सं. 1847 में आचार्यजी रघनाथजी मेड़ता चातुर्मास के बाद विहार कर पाली पधारे। अज्ञात प्रेरणा से उन्होंने सभी संत सतियों को मिलने के लिये कहलवाया। माघ कृष्णा 9 का दिन था। आचार्य रघुनाथजी ने सभी संत सतियों को बुलाकर उनसे खमत खामणा करके संथारा ग्रहण करने का समाचार दिया।

लोगों ने उसको त्यागने के लिये बहुत कहा; किन्तु आचार्यश्री ने कहा—"समय कम है; मैं जो कहता हूँ वैसा करो। अन्य संत सतियों को समाचार दो!"

गांव-गांव में ये समाचार फैल गये और संत-सतियां श्रावक-श्राविका में बड़ी संख्या में पाली पहुँचे। संत नगजो, संत टोडरमलजी एवं महासतियां श्री रत्नकुंवरजी आदि ठा. 31 भी वहां पहुँचे।

माघ कृष्ण 11 को प्रातः आचार्यश्री ने आत्म-चिंतन में डूबने के पूर्व पूर्वाभास हुआ हो वैसा कहा—"संत रायचंदजी ठा. 5 से निबली से आ रहे हैं!" लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे संत रायचंदजी को लेने सामने गये।

पोरसी आ गयी थी। आचार्यश्री आत्म-चिंतन में डूबे थे। नवकार मंत्र का उच्चारण चालू था और हाथ जोड़ते नवकार का दिव्योच्चार करते उनकी आत्मा दिवंगत हो गयी।

पूज्यश्री जयमलजी के पास नागोर ये समाचार पहुँचे तब उन्होंने सर्व प्रथम कार्योत्सर्ग किया और उस दिन के प्रवचन में सविशेष जाकर उन्होंने आचार्यश्री के गुणों का वर्णन किया। वृद्धावस्था में भी मधुर कंठ से गूंज उठा—

सबसे अधिक संघ एकता के लियें उनकी सतत प्रेरणा और सचोट कार्यवाही ! उन्होंने हमारे पर बड़ी जवाबदारी सौंपी है कि हम सब एक होकर शासन की सेवा करें और शासन को दीपावें ! "

पूज्यश्री के दिवंगत होने के दो दिन बाद सं. 1853 की ज्येष्ठ सुद दूज को नागोर में चारों संघ ने मिलकर युवाचार्य श्रीरायचंदजी पर आचार्य पद को चादर ओढ़ाई और उनके धर्म-शासन में श्रद्धा व्यक्त की।

श्रीसंघ की राय से नये आचार्यश्री रायचंदजी ने नागोर में आषाढ़ कृष्ण पंचमी के दिन संत आशकरणजी को युवाचार्य पद दिया।

पूज्यश्री जयमलजी अपने पीछे संघ एकता, ज्ञान साधना और तप-मार्ग के उज्ज्वल चरित्र की जो परिपाटी छोड़ गये उसे याद करके आज भी भव्य आत्मा अपनी श्रद्धा के पुष्प उनपर चढ़ाये बिना रह नहीं सकती।

उनके अनेक स्तवन, अनेक चरित्र और अनेक काव्य आज भी आत्मा को छू लेते हैं, और आज भी महान संत कवि-हृदय के जीवन के चित्र आंखके आगे खड़े होते हैं तो विस्मय और विमुग्ध होकर अनायास ही निकल पड़ता है:—

धन्य जय ! भव्य जय !
जय जीवन के विराट जय ! !
तिमिर नाशक, हे प्रकाशमय !
आत्म दीप के ज्योतिर्मय जय ! !

॥ संपूर्ण ॥

पूज्य रघुपतजी दीपता रे लाल.......
तारण तिरण जहाज रे सौभागी।

उनके गुणों की पच्चीसी के अंतिम पद उनके मुख से उसी समय स्फूरने लगे थे—

जिम दीठा तिम भाखिया, अधिको ओछो इण में होय।
तो मुज मिच्छामि दोकडो, केवली साखे जोय॥
प्रथम वय संजम लियो, षट काया रा रिछपाल।
टोला में गच्छ नायक रे, नाम रहो चिर काल॥
सित्यासी में दीक्षा ग्रही, जेठ मास वीज जाण।
गुण जेहना जयमल कहे, जिनजीरा वचन प्रमाण॥

ये गुणगान सहस्रों कंठों से ऐसा गूंजा कि गुणगान पूर्ण होने पर लोग अद्भुत आनंद के वातावरण में डूब गये। पूज्यश्री ने इतना ही उपसंहार किया—"जिनके गुण गान में हम इतने आनंद विभोर हो जाते हैं—वे स्वयं कितने महान थे यह विचारना आप पर ही छोड़ता हूँ।"

* * *

पूज्य भूधरजी के सभी बड़े शिष्य और अपने गुरु-भ्राताओं के दिवंगत हो जाने पर पूज्यश्री का आत्म चिंतन और भी गहरा होता चला था। उनकी आत्मा इस संसार में किस लिये शेष है इसका मंथन चलता था। आत्मा के परिणाम विशुद्ध करने के साथ धर्म प्रचार के जितने भी अवसर आते थे उसे वे जाने नहीं देते थे।

परिणाम स्वरूप उनसे धर्म ज्ञान प्राप्त करने हमेशा समूह सा बना रहता था। संत सतियों के नये नये चेहरे उनके दर्शन करके धन्य हो जाते थे।

पूज्यश्री की सेवा में बड़े संत रहना चाहते थे ; सं. 1847 में संत गुमानजी चातुर्मास रहे थे। उन दिनों में श्रावगी गंगारामजी के दत्तक पुत्र रतनचंद चौदह वर्ष की अवस्था में साधु मार्गीय जैन धर्म के प्रति आकर्षित हुआ। उसने दीक्षा लेने के भाव प्रगट किये ; किन्तु उसकी माता गुलाव वाई की स्वीकृति न होने से वह प्रगट रूप से दीक्षा न ले सका। किन्तु उसके दीक्षा के भाव प्रवल थे। अतः संतों के विहार के वाद वड़े पिताजी से आज्ञा लेने वह जोधपुर की ओर चला। भिक्षाचरी करते करते वह मन्डोर पहुँचा। वहाँ संत

परिशिष्ट

१

•
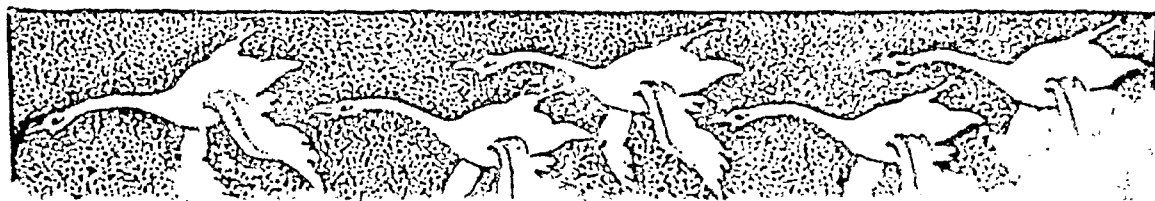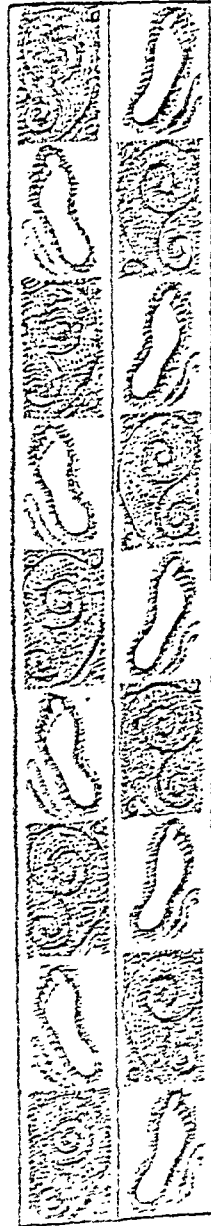
- पट्टावली
- पूज्य परंपरा
- जयमल पट्टावली

•

गुमानचंदजी के भेजे गये संत लक्ष्मीचंदजी ने उन्हें दीक्षा दी। वहाँ से दोनों जोधपुर आये। वहाँ पर संत दुर्गादासजी विराजमान थे। सारी बातें सुनकर उन्होंने कहा—"बिना आज्ञा के दीक्षा तो हो गयी है; किन्तु अब इसकी माता पीछे आयेगी। अतः अन्यत्र विहार कर जाना ठीक होगा।"

संत रतनचंदजी ने वहाँ से विहार किया। उनकी माता गुलाब बाई वहाँ जोधपुर आयी और उस दिन दरबार की सवारी निकली तो उसने दौड़कर महाराजा विजयसिंह की सवारी के फांसे को पकड़ लिया। महाराजा ने पूरी बात सुनकर दोनों संतों के नाम (गुमानचंदजी एवं रतनचंदजी) सनद लिखकर जैतारण-सोजत आदि सभी परगणों में भिजवा दी।

उस समय दोनों संत गुमानचंदजी एवं रतनचंदजी सोजत में थे और सोजत हाकिम को मालूम होने पर उसने दोनों को राज्य कर्मचारी सनद लेकर आने के पहले वहाँ से विहार कर जाने को कहा जिससे धर्म की अवहेलना न हो। अतः दोनों विहार कर सारण सिरीयारी होते हुए देव-गढ़ मेवाड़ में पहुँच गये।

माता ने सोजत आकर देखा कि वहाँ तो कोई नहीं है; अतः वह अन्य साधुओं को गालियाँ देती रहीं और "चेलों के चोर" आदि कहती हुई संत गुमानचंदजी की बदनामी करने लगी। पूज्यश्री के प्रभाव से हालांकि उसका गुस्सा शांत हुआ; किन्तु इस विषय को लेकर श्रावक वर्ग में विवाद-सा खड़ा हो गया था।

तीन वर्ष तक मेवाड़-मालवा में विचरण करने बाद संत गुमानचंदजी का चातुर्मास पाली हुआ तब रतनचंदजी की माता राजा-ज्ञा लेकर वहाँ पहुँची और व्याख्यान बांचते रतनचंदजी को पकड़ लेने हाकिम से कहा; किन्तु संत रतनचंदजी के समझाने पर सब बातें शांत हुईं।

इस बीच सं. 1848 में संत आशकरणजी चातुर्मास दरम्यान सेवा में रह चुके थे। आचार्य रुघनाथजी के बाद पूज्यश्री को अपनी शारिरिक अवस्था पर उतना विश्वास नहीं रहा था। अतः सं. 1851 में जब संत रायचंदजी नागौर पधारे तब श्रीसंघ से विचारणा कर अक्षय तृतीया वैशाख सुद 3 के दिन उन्हें बड़े समारोह के बीच युवाचार्य पद दिया। संत रायचंदजी इसके लिये सर्व प्रकार से योग्य थे। समारोह के बाद सभी ने पूज्यश्री
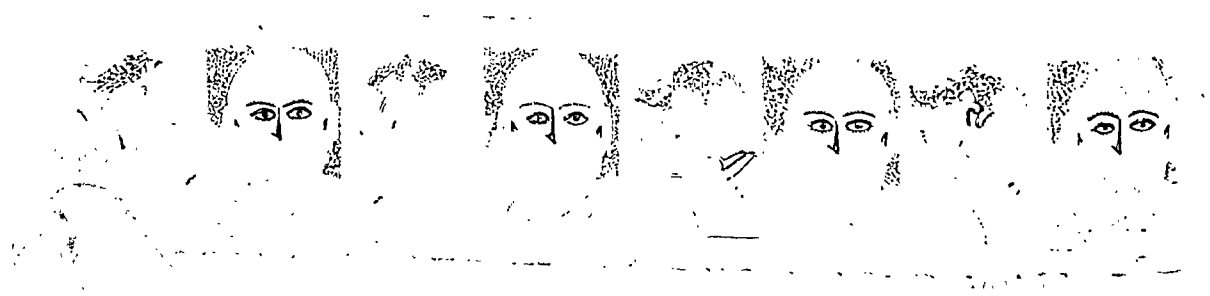
पट्टावली

ढाल - १

चौपाई

वंदूं श्रीवीरप्रभु वर्द्धमान, पामी निर्मल केवलज्ञान ।
शासननायक मुख्य प्रधान, मोनें दीजे समकित दान ॥ १

कार्तिक वद अमावस जाण, बहोत्तर वर्षां रो प्रमाण ।
जगनायक जिन जगके जाण, पावापुरी पहुंचे निर्वाण ॥ २

वर्ष बारा पाछे गौतम स्वाम, सुगति गया सार्या सब काम ।
पाटे वीरले सुधर्म स्वाम, बीस वर्ष पछि शिवपुर धाम ॥ ३

जंबूस्वामी केवल पाय, चौसठ वर्ष पछे सुगते जाय ।
प्रभव विराज्या वीरले पाट, बरस प्रमाण न लिखियो पाठ ॥ ४

श्रीशय्यंभव मनकरा तात, जेहनी जगमें अविचल बात ।
वीर थी पचोहत्तर में बरस, देवलोक गया साता सरस ॥ ५

पाट पांचमें जसोभद्र, एकसो अडताली समचंद्र ।
संभूति विजयजी वर्ष सो एक, ऊपर छप्पन ही अति एक ॥ ६

भद्रबाहुजी सातमें पाट, तेहना कीधा सूत्रना थाट ।
सितरो उपरां वर्ष सो एक, वीर निर्वाण गयां दिव लोक ॥ ७

थूलभद्र शीले अधिकाय, दोसौ पनरावर्षे स्वर्गां जाय ।
आर्य महागिरीजी मुनिराय, नव में पाटे जनसुखदाय । ८

वीरनिर्वाणथी वर्ष दोय, ऊपर अधिक पैताली जोय ।
दशमें पाट थया बलसींह, दोसौ अर्सी वर्ष अबीह ॥ ९
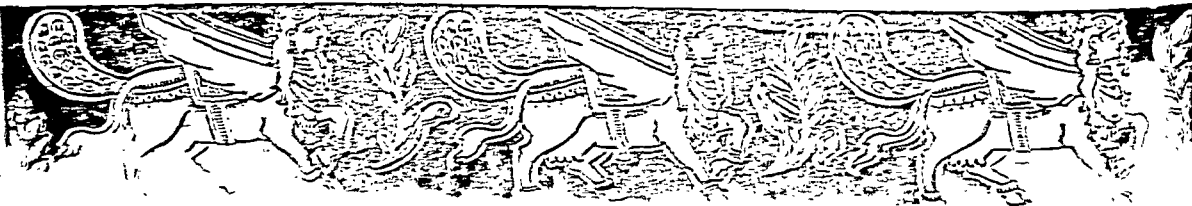
जयमलजी की जय और युवाचार्य श्री रायचंदजी की जय के नारों से घोषणा कर उन्हें सहर्ष बधा लिया। उस वर्ष युवाचार्य रायचंदजी ने चातुर्मास के पूर्व अधिक समय नागौर में बिताया। पूज्यश्री से उन्होंने बहुत-सी बातें जानीं और समझीं। एक संत या सिंघाड़े के बड़े के रूप में विचरना और था; पूज्यश्री का पूरा कार्यभार सम्हालते हुए युवाचार्य के रूप में विचरण करना और था। युवाचार्य श्री रायचंदजी म. सा. ने जिस तरह उस समय के अन्य संतों के साथ आनेवाले वर्षों में सद्व्यवहार किया यह उनकी योग्यता का प्रमाण था।

युवाचार्य बनने के बाद के वर्षों में उन्होंने पूज्यश्री पर जरा भी भार नहीं पड़ने दिया। चातुर्मास पूर्ण होने के बाद वे पूज्यश्री के दर्शन कर जाते थे और हर बार जाते समय उनका हृदय भारी हो जाता था।

उनकी स्थिति को जानते हुए पूज्यश्री उन्हें कहते थे—"रायचंदजी! तुम्हारा आत्मभाव मैं जानता हूँ। अंत समय में समीप में रहने के भाव हैं तो अवश्य पूर्ण होंगे।"

युवाचार्य रायचंदजी दो हाथ जोड़कर शीश झुकाके उनके चरणों में वंदना करके मौन भाव से प्रगट करते थे कि आपके आत्मीय की यही इच्छा है।

* * *

सं. 1853 आया।

युवाचार्य रायचंदजी जोधपुर के चातुर्मास बाद नागौर आकर पूज्यश्री के दर्शन कर बीकानेर के आसपास विचरण कर रहे थे।

फागुन सुद दशम के दिन पूज्यश्री जयमलजी को शरीर में अस्वस्थता बढ़ती दिखी। उन्हें कुछ खटका सा हुआ कि अब इस देह में आत्मा नहीं रहेगी। थाणापति काल के इन वर्षों में उत्तरोत्तर उनका आत्म चिंतन बढ़ता जा रहा था। एक के बाद एक उनके गुरु भाई दिवंगत हो चले थे; किन्तु पूज्य जयमलजी अभी संयम साधना कर रहे थे। वैसे उन्हें इस देह पर भरोसा नहीं रहा था; किन्तु उस दिन कुछ अधिक अस्वस्थता सी उन्हें मालूम हुई। उन्होंने उपवास पच्चक्ख लिया।

उन्होंने अपनी सेवा में रहे संत घासीरामजी को और अन्य श्रावकों को कहा:—"मुझे अब शरीर की स्वस्थता नहीं दीखती!"
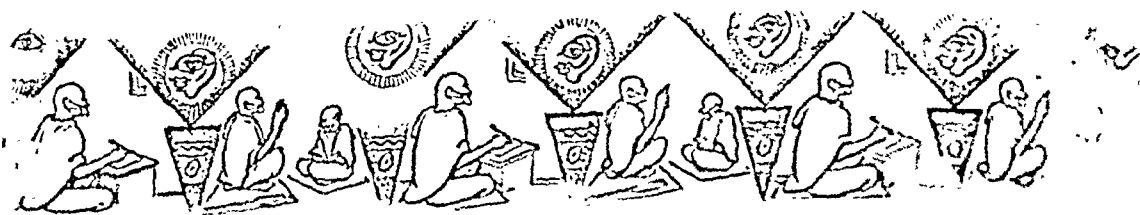
शान्ताचार्य इग्यारमें जाण, तीनसो बतीस वर्ष प्रमाण।
श्यामाचार्य (१२) युगप्रधान, पन्नवणा ना कर्ता जान।' १०

तान से बहोंतरवर्षा सीम, वीर वचन तणी साधी नाम।
तेरमे सांडिल्याचार्य जान, चारसे षट् वर्षा रो मान॥ ११

जिनधर्मसूरी साधु महंत, चारसे चौपन वर्षे तंत।
चारसे सीतर विक्रम भाण, संवत चलायो बहु गुणखाण॥ १२

आर्यसमुद्र पांचसे आठ, वर्षे थया कियो धर्म नो ठाठ।
नंदिलवर्ष पांचसे अडयाल, वीर वचनरी राखी पाल॥ १३

नागहस्ती छसै चौताल, वीर निर्वाण सुं कीधो काल।
रेवती जिनवचने परतीति, अठार सात से वर्ष लग रीती॥ १४

खंदिल सातसे सितर वर्ष, सिंहगिरि वीसमें उत्कर्ष।
आठसे अठारवर्षां ने मोन, तेहने पाट श्रीमंत गुण खाण॥ १५

श्रीमंत आठ से वर्ष अडयाल, वीरनिर्वाणथी थया दयाल।
नागार्जुन बावीसमें थाय, आठले पिचंतर वर्ष विहाय॥ १६

गोविंद आठसे सीतंतरे, भूतदिन्न नवसे बयांलीसे खरे।
लोहत्यागी गुरुगुण नहिं राण, नवसे अडताली सर्व सुजाण॥ १७

दूष्य भणी दुःकर तपकार, नवसे पिचंतरे वर्ष उदार।
श्रीदेवर्द्धि गणी सूत्रकार, नवसे असीये वर्षे सार॥ १८

सूत्र लिख्या जिन वचन उद्धार, जेहथी व्रत छे धर्मविचार।
सत्यवचन वादी सतावीस, श्रद्धा शुद्ध जिसा जगदीश॥ १९

दोहा
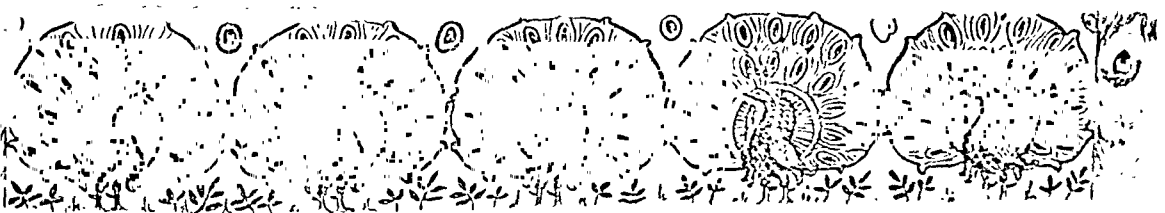
ऊपर वर्ष वीसे गयां, बारह काली थाय ।
लोक थया मिथ्यामती, पिण धर्म रह्यो ठहराय ॥ १

शुद्ध श्रद्धाने परूपणा, नवि छोडी मुनिराय ।
दुकाल तणी आपदवणी, फरसना मांहि सीदाय ॥ २

तिणां गण्यांना नाम ए, पूर्वज लिखिया लेख ।
मैं भाखूं तुम सांभलो कहूं छूं पानो देख ॥ ३

गुरु चौरासी गच्छ थया, समाचारी में फेर ।
अपणा अपणा उपाश्रया श्रावक कीधा हेर ॥ ४

करामातथी कइ किया, श्रावक कुल आचार ।
नाम धरावे श्रावगी, सो दीसे व्यवहार ॥ ५

श्रद्धा समकितनी हुस्ये, ते लहस्ये भवपार ।
दूपम आरो पांचमो, दोहिलो संजम भार ॥ ६

वर्ष प्रमाण तो एहतो, लिखियो दीसे नाहि ।
पर शासन वरते वीरनो, कह्यो सूत्र भगवती मांहि ॥ ७

साधु विना शासन नहीं, एह तो निश्चय जाण ।
छट्ठाणवदिया जिन कह्या, समाय की शुभध्यान ॥ ८

ढाल - २
(हिरण्य गर्भश राजा — इण राग में)

वीरभद्र शंकरभद्रजी जसभद्र ने वीरसेण
निर्यामसेण मुनी वले जससेण गुणसेण
हर्षसेण जयसेणजी जीवरक्षक जगमाल
भीमसेण ऋषि कर्मशी ऋषि उजमाल ॥ १ ॥

राजवैद्य ने नाड़ी देखकर कहा—बापजी ! आपकी काया तो निरोग है; आप पालना कर लें !"

पूज्यश्री ने दृढ़ स्वरों में कहा—"सब बात की एक बात है कि मैं पालना नहीं करूंगा। तीनों आहार का त्याग कर ही दिया है और मन से मैंने संथारा पच्चक्ख हो लिया है। उसे सार्थक बनाने मुझे प्रेरणा दो इतनी ही इच्छा है।"

सब के प्रयत्न निष्फल गये। रात निकल गई। प्रातः पूज्यश्री से फिर अनुनय विनय किया जायेगा ऐसा सब विचार करते थे; किन्तु पूज्यश्री की द्रढ़ता देख कोई कुछ कह न सका।

चैत्र शुक्ला पूनम थी। पूज्यश्री ने चारों संघों के बीच सब से खमत खामणा करके संथारा पच्चक्ख लिया। उनके दर्शन के लिये गांव-गांव के श्रीसंघ आने लगे। संत सतियां आके खमत खामणा करते थे। जोधपुर, सोजत, मेड़ता, बीकानेर, जयपुर, किशनगढ़ और अन्य सभी जगह से लोग अंतिम दर्शन करने आये। उनके साथ अनेक लोगों ने व्रत तप करना प्रारंभ कर दिया था। संत गजराजजी गुजरात से अपने संतों के साथ आये। वे पूज्यश्री के चरणों में पड़े। संत सूरतरामजी आये। गुजरात से संत तुलसीदासजी आये, संत बगतमलजी आदि भी आये।

पूज्यश्री सब के मस्तक पर हाथ फेर के आशिष देते थे। बाजोठ पर कोई दिव्य आकृति अपनी आत्म प्रभा लिये बैठी हो ऐसी उनकी आकृति हो रही थी। लोग उनके दर्शन पाकर धन्य हो गये हों ऐसा मानते थे।

पूज्यश्री अब चले जायेंगे ऐसे भाव आते कई संत सतियों की आंखें सजल हो जाती थीं। पूज्यश्री अपने दृढ़ आत्मभाव से उन्हें आत्मभाव में स्थिर होने के लिये कहते थे।

अनेक लोगों ने पूज्यश्री के साथ व्रत-तप प्रारंभ कर दिये थे। ऐसा मालूम हो रहा था जैसे पूज्यश्री के साथ अनेक आत्मायें अपना उद्धार करना चाहती हो।

दिन पर दिन पूज्यश्री की काया जैसे निरोग होती चली हो वैसे दिन बीतने लगे। उनकी स्वस्थता देख लोगों को आशा बँधती और वे पूज्यश्री से आग्रह करते कि वे संथारा छोड़ दें। किन्तु पूज्यश्री ने स्पष्ट समझा दिया था कि यह तो सूर्यास्त होने के पहले

बिखरनेवाली सूर्य की लाली सी बात है; अतः अन्य भाव छोड़कर धर्माराधना करना ही श्रेय है। संथारा एक मास तक चला। पूज्यश्री के परिणाम उन्नत थे।

वैशाख सुद चौदश—नरसिंह चौदश को शुक्रवार का था। संथारे का ३१ वां दिन था। प्रातःकाल से पूज्यश्री सभी को दो हाथ जोड़कर खमाते थे। उनकी सेवा में सोलह संत और अनेक सतियां थीं।

मुख पर निर्मल सौम्य भाव, निखरती ज्योतिप्रभा के ऊपर दिव्य आभा-सी विकसित हो रही थी। दोपहर के बाद आधा पहर दिन निकल चुका था। युवाचार्य रायचंदजी ने आकर वंदना की। पूज्यश्री के हाथ आशीर्वाद देने उठे। उनकी आँखों में एक चमक-सी आयी थी। वे कहना चाहते थे कि "अब तुम पर पूरा भार है—उसे बराबर सम्हालना!" उनके दो हाथ जूड़े से गये जैसे चतुर्विध संघ की क्षमा-याचना कर रहे हों।

युवाचार्य रायचंदजी नतमस्तक हो उनके पैरों के पास बैठे गये। वे चाहते थे कि पूज्यश्री के पास बैठ जितना लाभ लिया जाय उतना उपयुक्त है।

आसपास धर्म-मंगल का पाठ चल रहा था। पूज्यश्री ने दोनों हाथ जोड़े और ऊपर उठाये। फिर जुड़े हाथ अपने स्थान पर आ गये। पूज्यश्री के वदन से निकलती आभा और भी दिव्य होती गयी। दोनों हाथ जोड़े जैसे वे बैठे रहे हों और सौम्य बिखरते हों वैसे दिखते थे। उनके आत्मा के परिणाम उन्नत हो रहे थे। तन में आत्मा और रहना नहीं चाहती थी। उसने देह के बंधनों को त्याग दिया। पूज्यश्री पाट के सहारे बैठे दिखायी देते थे; किन्तु उनकी आत्मा उस देह को त्याग कर दिवंगत हो गयी थी।

युवाचार्य रायचंदजी को कुछ खटका-सा हुआ। उन्होंने पूज्यश्री की नाड़ी देखी; वह रुक गयी थी! युवाचार्य पर अनेक आँखें लगी हुई थीं। युवाचार्यजी के वदन से प्रतीत निराशा को देखकर वे सभी उदास हो गये। सभी के मन की शंका सत्य थी। पूज्यश्री कालधर्म को प्राप्त हो चुके थे। वज्राघात-सा सब अनुभव कर रहे थे। दुपहर उदास-सी बढ़ रही थी। लोगों में शोक समाचार फैलने लगा। जिस जिस ने यह समाचार सुना स्तब्ध-सा हो गया। विगत बारह वर्षों से थाणापति रहकर पूज्यश्री ने नगर के प्रत्येक नगरवासी के हृदय में अपने लिये स्थान बना लिया था।

हरिसहायजी प्रमुख शिष्य थया सुविनीत
हरिदासनी परंपरा चाले साधुनी रीत
धर्मदासजी गुजराती मालव देशे आय
बहुजन समझाया सौ चेला तस थाय ॥ ७ ॥

धन्नाजी तस शिष्य मारवाड में आय
भूधरजी शिष्य कीधा साचा सूत्र भणाय
भूधरजी ना शिष्य चार थया सुविशेष
रघुपति ने जैत्तसी जयमलजी कुशलेश ॥ ८ ॥

रघुपति शिष्य भीषम सरधा थइ विपरीत
निजपंथ चलायो तज दान दयारी रीत
हिव संवत पनरासे छासठे नगर पीपाड
तेजराजजी रा शिष्य छ थया करणी धार ॥ ९ ॥

श्रद्धा ने प्ररूपणा गुरुनी पाकी धार
संयमी थई विचर्या करणी दुःकर कार
अमीपाल नयपाल हरीपाल जीवराज
गिरिधरने हरजी ए षट साधु सकाज ॥ १० ॥

जीवराज महाऋषि तस शिष्य धनजी स्वामी
लालचंदजी दूजा ते पिण हुवा जगमें नामी
धनजी शिष्य रामजी तस शिष्य थया अमरेश
लालचंदजी तणा शिष दीपचंद सुविशेष ॥ ११ ॥
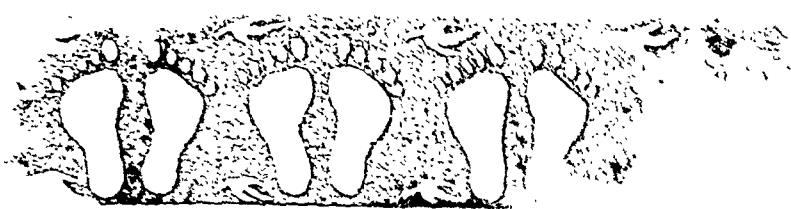
"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता !" लोग अविश्वास करके स्थानक की ओर दौड़े जा रहे थे । अपार शोक मग्न भीड़ वहाँ इकट्ठी हो रही थी ।

नगर में समाचार फैल गये । लोगों की अपार भीड़ उनकी देह के अंतिम दर्शन के लिये उमड़ पड़ी । श्रावक गणो ने उनके अंतिम संस्कार की तैयारी की । राजा की ओर से अन्तिम सम्मान दिया गया ।

जब उनके देह को पालखी में बिठाया गया तब कई फूट-फूट कर रो पड़े । कइयों की सिसकियां बंध गयीं । नागोरवासियों को कोई अपना प्रिय वृद्ध आत्म-जन गया हो वैसा हो गया । उनके दुख की सीमा न थी ।

"जयमलजी....! जय....जय........!!" इतना ही दबे हुए स्वरों में सुनाई पड़ता था जिसमें कभी हिचकियाँ और कभी रुदन का स्वर मिल जाता था ।

उनकी पालखी कंधे पर लेकर भक्त गण जलूस में बढ़ रहे थे । पालखी में स्थिर बैठे से दिखते पूज्यश्री के देह को देखकर अनेक नयनों ने सजल अश्रु की अंजलि दी । कोई अपना, सब को निराधार करके चला गया हो ऐसा शहर का वातावरण हो गया । पूज्यश्री जयमलजी म. स. के गगनभेदी नारे के साथ उनके शव का दाह-संस्कार किया गया । लोग पूज्यश्री का दाह संस्कार करके लौटे । तब छोटे से बड़े, बच्चे और स्त्रियां सभी के मुख पर उनके गुणगान ही थे । ऐसा मालूम हो रहा था कि देह से सिर्फ़ एक पूज्यश्री गये थे ; किन्तु गुणों से अनेक पू. जयमलजी वापस लौटे थे ।

सं. 1853 की नरसिंह चतुर्दशी के दिन (वैशाख सुद 14) को नागोर की संध्या में सूर्य भी पूज्यश्री के स्वर्गागमन से दुःखी होकर विलीन हो गया था ; किन्तु चन्द्रमा उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने संध्या के पहले ही निखर आया था ।

* * *

"65 वर्ष से ऊपर का दीर्घ संयम, 50 वर्ष से आड़े आसन नहीं लेटने की भीष्म साधना, प्रखर विरोधी भी जिनके शरण में शांति पाये, मोह और पद की लालसा से दूर, ज्ञान के ऐसे दीप जिन्होंने अनेक आत्म दीपों में ज्योति जलाई, सदैव कवि-हृदय और भावना के भंडार.... ।" इन्हीं शब्दों में दूसरे दिन युवाचार्य श्रीरायचंदजी ने उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए कहा :—"इन

सबसे अधिक संघ एकता के लियें उनकी सतत प्रेरणा और सचोट कार्यवाही ! उन्होंने हमारे पर बड़ी जवाबदारी सौंपी है कि हम सब एक होकर शासन की सेवा करें और शासन को दीपावें ! "

पूज्यश्री के दिवंगत होने के दो दिन बाद सं. 1853 की ज्येष्ठ सुद दूज को नागौर में चारों संघ ने मिलकर युवाचार्य श्रीरायचंदजी पर आचार्य पद की चादर ओढ़ाई और उनके धर्म-शासन में श्रद्धा व्यक्त की ।

श्रीसंघ की राय से नये आचार्यश्री रायचंदजी ने नागौर में आषाढ़ कृष्ण पंचमी के दिन संत आशकरणजी को युवाचार्य पद दिया ।

पूज्यश्री जयमलजी अपने पीछे संघ एकता, ज्ञान साधना और तप-मार्ग के उज्ज्वल चरित्र की जो परिपाटी छोड़ गये उसे याद करके आज भी भव्य आत्मा अपनी श्रद्धा के पुष्प उनपर चढ़ाये बिना रह नहीं सकती ।

उनके अनेक स्तवन, अनेक चरित्र और अनेक काव्य आज भी आत्मा को छू लेते हैं, और आज भी महान संत कवि-हृदय के जीवन के चित्र आंखके आगे खड़े होते हैं तो विस्मय और विमुग्ध होकर अनायास ही निकल पड़ता है :—

धन्य जय ! भव्य जय !
जय जीवन के विराट जय ! !
तिमिर नाशक, हे प्रकाशमय !
आत्म दीप के ज्योतिर्मय जय ! !

॥ संपूर्ण ॥

य परंपरा

मंगलाचरण

दोहरा

करूणाकर दुःखहर विभो त्रिभुवन पति जगराय
आदिनाथने सिंवरतां, भव दुःख सरवे जाय ॥ १ ॥
सन्मति देजो सरस्वती, अति हि करूं अरदास
जोड रचूं भक्ति युक्तिथी, कर जिह्वा ए वास ॥ २ ॥
रढियाळो सररवेज छे, राजनगरनुं गाम
वास वणिक वैपारिनो, आदी वरण तमाम ॥ ३ ॥
नाम घणा सुं वरणवूं, करे धर्मनां काम
भावसार जाती मझे, धर्मदास जी नाम ॥ ४ ॥
श्रद्धा साची ।।ती. जैन धरमनी टेक
प्राण थकी प्यार घणो, लोंकागच्छ है एक ॥ ५ ॥
धर्म स्थानक जावता, करता धर्म विनोद
सज्झाय लावणी गावतां, रूडो देता बोध ॥ ६ ॥
रसिक कंठ कोइल समो, घणो दूर संभळाय
गायन स्वर सुणतां थकां, आनंद अधिको थाय ॥ ७ ॥
फतहवाडी शोभे भली, फूल बाग विश्राम
अर्द्ध माइलने आंतरे, मुगल राज मुकाम ॥ ८ ॥
निशा पहर गई ते समय, धर्म स्थानक मांय
धर्मदासजी गावता, प्रीते धर्म सज्झाय ॥ ९ ॥

मुनिवर क्यों हमेशा बांधते हैं ?

क्योंकि उन्होंने आजीवन सामायिक - समभाव का व्रत धारण किया है। इसीलिये वे हित - मित - प्रिय बोलते हैं। अपने पास कुछ नहीं रखते, पैदल विहार करते हैं और घर - घर जाकर प्रासुक गोचरी लाकर करते हैं।

कुछ श्रवक क्यों मुँहपत्ति बांध के यहाँ बैठे हैं ?

उन्होंने पौषध किया है, उपवास लेकर वे एक दिन साधु अवस्था जैसे ही रहते हैं। क्योंकि आत्मा का पोषण धर्म के द्वारा किया जाता है। इसलिये इसको पौषध कहते हैं।

आठ परत का क्या अर्थ है ?

पाँच समिति और तीन गुप्ति का पूरा पालन करना चाहिये। अर्थात् आहार, विहार, भाषा, परिठापना आदि में पूरी सावधानी बरतना एवं मन, वचन, काया की प्रवृतियों को अशुभ योग में नहीं जाने देना चाहिये।

साधु और श्रावक में क्या अंतर है ?

साधु अवस्था संपूर्ण त्याग की अवस्था है। आत्मा की साधना के लिये घर - संसार, कंचन कामिनी बाधा स्वरूप हैं, उनका त्याग करके ज्ञान प्राप्ति के द्वारा आत्म - साधना में लगना चाहिये एवं तप द्वारा अपनी शक्तियां प्रगटानी चाहिये। यह साधु अवस्था में ही हो सकता है। श्रावक तो जीवन का अल्प समय ही साधक अवस्था में बिताता है। शेष तो वह घर के चक्कर में ही फँसा रहता है।
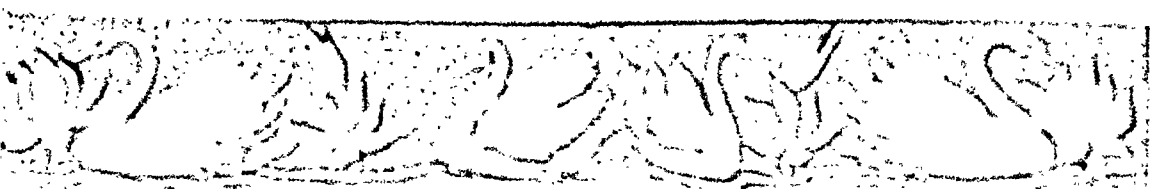
उसने आचार्यश्री के पास बैठकर विनम्र भाव से कहा :—"गुरुवर! इस असार संसार में, आपने आज मेरी आत्मा को जगा दिया है। मुझे ये सब बातें स्पष्ट सी हो रही हैं। मेरी आत्मा का उद्धार करने और धर्म पालन के योग्य बनाने के लिये, आप मुझे अपनी शरण में लें और मुझे दीक्षा दें!"

आचार्यश्री ने मधुर भाव से कहा—"देवानुप्रिय! तुम्हारा आत्म जागरण मैं समझ सकता हूँ। मगर तुम्हें दीक्षा देने में हमारे सामने भी नियम के बंधन है!"

"वे क्या हैं....?" जयमल ने पूछा।

"अपने बड़ों की, माता-पिता और ज्येष्ठ बंधु की आज्ञा लेनी चाहिये।" आचार्यश्री ने जबाब दिया।

"मेरे लिए तो आप ही बड़े हैं। आप स्वीकृति दें तो मेरा बेड़ा पार हो जायेगा।" जयमल ने अरज करते कहा।

"तुम्हारे निश्चय को कौन डिगा सकता है! जो अपने आप में दृढ़ है उसको कोई नहीं रोक सकता!"

आचार्यश्री के ये वाक्य सुनकर जयमल प्रसन्न हो उठा। उसे उस समय किसी का ख्याल नहीं था। बस, आचार्यश्री का मुखारविंद और उससे निकलती वाणी ही उस पर छा रही थी।

उसको कौन रोक सकता था?

*　　*　　*

सूरतराम का ऊँट तेज़ी से दौड़ता लाँबिया पहुँचा। वह ऊँट को सीधा महेताजी की हवेली पर ले गया। उसका चेहरा चिंता से म्लान हो गया था। वह ऊँट से उतरकर हवेली के द्वार पर पहुँचा कि रिडमल को अंदर की बैठक में बैठा पाया।

रिडमल ने उसे देखते ही, उसके होश-हवास उड़े देखकर पूछा :—"क्यों, सूरतराम! सभी कुशल तो है न? तुम कैसे जल्दी लौट आये? जयमल किधर है?"
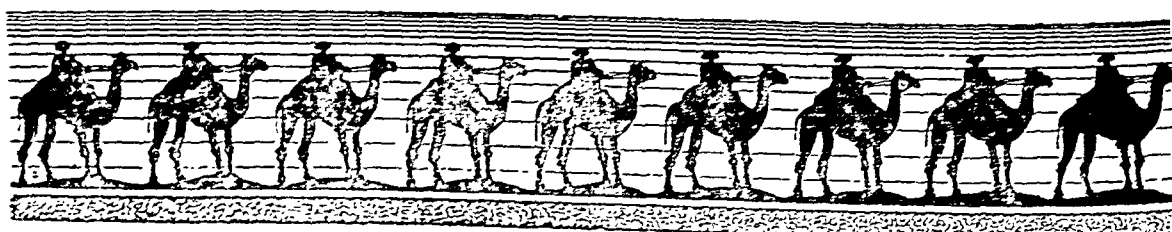
हतो बादशाह वाडिये, सुणियो रूडो साद
अचरज पाम्यो उरमां, शुं आ कोयल नाद ॥ १० ॥
करवा तजवीज तेहनी, कर्यो जल्दी पोकार
आव्या सिपाही दोडता, सो हुकुम सरकार ॥ ११ ॥

(बादशाह सिपाहिओ ने कहे छे:–)

(मधुर स्वर क्यांथी आ संभळाय-इण राग में)

कौन करत है गान मधुर स्वर कौन करत है गान
दीसे जंगल विरान मधुर स्वर कौन करत है गान ॥ टेर ॥
दूर दिशा ओ शून्य दीसतहे, तृप्त होत है कान ॥ १ ॥
पशु पक्षि भी चुपकर बैठे शान्त है सब मैदान ॥ २ ॥
सिपाहि जाओ उनकुं लाओ उनके संगीत का है जान ॥ ३ ॥
फजर जाना अभी सो रहना लेना कहना मान ॥ ४ ॥

ढाल - २

राग : त्रिताली चौपाई

थयुं प्रभात सिपाही जाग्या, आव्या सरखेजमां सात वाग्या
करी तजवीज पूछयुं त्यां नाम, घणी तपासे लाध्युं ठाम ॥ १ ॥
आव्या धर्मदासने मुकाम, कह्यो बादशाहनुं हुकम तमाम ।
राते गायन तमे करो छो, श्रोता वर्गनुं हृदय हरो छो ॥ २ ॥
तेडया छे बादशाहे तमने, करवा तजवीज मोकल्या अमने
सत्य बोल्या धर्मदास, चालो आवुं मुगलराज पास ॥ ३ ॥

मोक्ष फल सहेजे लह्युं पूछयुं नहीं मात तातजी ।
संजती राये तेवुं कर्युं जुओ सूत्रनी वातजी ॥ ११ ॥

वनमां मृगया खेलतां उपन्यो मन वैरागजी ।
जंगलमांहि दीक्षा ग्रही, राजकाजने त्यागजी ॥ १२ ॥

माता :- एक पुत्र थया पछी, लेजो संजम भारजी ।
कुलस्थिति केम चालसे, लघुवय माहे नारजी ॥ १३ ॥

जेमल :- कुंवरपणे दीक्षा ग्रही, अयवंता अणगारजी ।
थवच्या पण पुत्र विना तजी बत्रीसे नारजी ॥ १४ ॥

स्त्री (लाछांदे) :- पाणी ग्रहण तमथी कर्यू. सुख न दीठुं संसारजी ।
आरे सणगार वाला वेशमां तर छोडो न नारजी ॥ १५ ॥

दगो न देओ म्हारा नाथजी ॥ टेर ॥

दीक्षा लेवी हती पहेलीथी नोहोती परणवी नारजी ।
त्यागो नहीं म्हारा कंथजी, म्हारे कोनो आधारजी ॥ १६ ॥

जेमल :- आठे स्त्री जंम्बूतजी, परण्या तेहीजरातजी ।
धन्नो अने शालीभद्रजी त्यागी करतां वातजी ॥ १७ ॥

सुंदरी संसार छे कारमो ॥

स्त्री :- जाहेर कर्यो जंवूस्वामीए शीयळ व्रतनो छे वाधजी ।
भले परणी रहो महलमां तेनो नथी अपराधजी ॥ १८ ॥

तरुणी त्यागो नहिं कंथजी ॥

भुक्त भोगी शालिभद्रजी, अंते थया अणगारजी
संसारना सुख भोगव्या, करो मनमां विचारजी ॥ १९ ॥
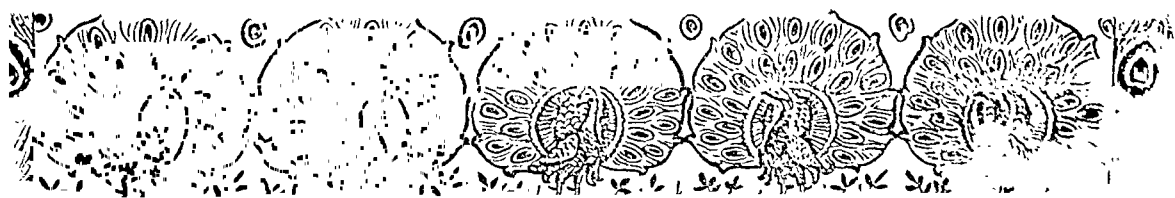
गया सिपाई साथे त्यांय, राज मुकाम वाडी मांय
कीधी सलाम सर झुकावी, केम बोलाव्यो पकडि मंगावी ॥ ४ ॥

आप्युं आसन बेसवा माट, तज्यो धर्मदासनो उचाट
रूडा रागथी गाओ छो नित्य, सुणि रीझायुं छे मम चित्त ॥ ५ ॥

नित्य एक वखत अहीं आवो, रूडा गायन नित्य सुणावो
राज हुकमनुं राख्यूं मान, कही बात ते कीध प्रमान ॥ ६ ॥

प्राते पांच दिवस त्यां आव्या, मुगल राजने बहु रिझाव्या
कर्यो विचार ए छट्ठे दिन्ने, धिक रहेवुं संसार भुवन्ने ॥ ७ ॥

आर्य क्षेत्र ने उत्तम देह वारंवार मिले नहिं तेह।
एहने सफल करवा छे हवे, नहिं तो दुःखधारो भव भवे ॥ ८ ॥

गीतिच्छंद :

क्रोड रत्नो खर्चे आयुर्दा नहि वेचाथी मलशे
वृथा नहीं गुमावूं, धर्म साहाय्यथी नरक गति टलशे ॥ १ ॥

त्रिताली चौपाई

धिक् म्लेच्छनो लेवो आश्रय, एथी भलो म्हारो उपाश्रय
वडील बंधुनी रजा लीधी, दीक्षा लेवानी मरजी कीधी ॥ १ ॥

पछी वडीलभाइए विचार्युं रहेवुं संसारमां शा सारूं।
बंने बंधुए कर्यो विचार, बीजा सोळ थया तैयार ॥ २ ॥

अष्टादश अमदावादे आव्या, सूत्र भगवती साथे लाव्या।
कीधो ढूंढक मत प्रत्यक्ष, थया धर्मदासजी अध्यक्ष ॥ ३ ॥

जैमल :- नेमनो उमंग व्यापीयो, राजुल रमाने संगजी
तोरणथी रथ फेरवी, कर्यो अनंग विरंगजी ॥ २० ॥

स्त्री :- भोग कर्म न्होतो तेहने कर्युं कपट कृष्णजी
भाभीना बोलो सांभळी हसी प्रसन्नजी ॥ २१ ॥

जैमल :- झाझी जख छोडो तमे ए स्नेह कर्मनुं छे मूलजी
धर्म करो बहन माहरा, शोभावो निज कूलजी ॥ २२ ॥
बंधन सम मुझने गणी ॥ टेर ॥

स्त्री :- संसार बेडी तोडी तमे करी थाकी पोकारजी
छत्र गयुं मुझ शीरनुं म्हारे कोनो आधारजी
संसार मांही शुं करूं ? ॥ २३ ॥

धिक धिक छे संसारने कूडी मायानी जाळजी
त्याग करी थाउं साध्वी लखाव्युं छे कपालजी
संयम लऊँ तम साथमां ॥ २४ ॥

ढाल - ११
राग लावणी
(हलाहल कल जुग चल आयो रे)

जयमलजी जगवल्लभ स्वामी रे
गेह कुटुंब परिवार तजीने थया स्वर्ग गामी ॥ टेर ॥

बावीस वर्षनी ऊमर नाहनी निजनारी साथे
दीक्षा लीधी चढते भावे लोच कियो माथे ॥ जयमल ॥ १ ॥

संवत सतरे से सित्यासी, बीज मृग सिर वदनी
मेडता गामे दीक्षा लीधी केडी शिव पदनी ॥ जयमल० ॥ २ ॥

कर्म तोडवा करी तपस्या कठण टेक लीधा
एकांतर उपवास मुनीश्वर सोल वर्ष कीधा ॥ जयमल ॥ ३ ॥

निज नारी ए दीक्षा लीधी थया संजम रसिया
साधपणुं पाली छः महीना सुरलोके वसिया ॥ जयमल ॥ ४ ॥

पांच सूत्र पोहोर एकमां कीधां मुखपाठे
बावन वर्ष न पोढ्या स्वामी निश दिन गहघाटे ॥ जयमल० ॥ ५ ॥

भण्या बहू सूत्रो ने ग्रन्थो काव्य जोड कीधी।
गुरु भूधरजी स्वर्ग सिधाव्या पूज्य पदवी लीधी ॥ जयमल० ॥ ६ ॥

अठारसे ओगण चालीसमां रहिया स्थिरवासी,
नागोर शहरना श्रावक श्राविका धर्मतणा प्यासी ॥ ७ ॥

चार वरस नागोर नगरमां विराजिया त्यागी।
अठारसे बावन फागणमां व्याधी तन जागी ॥ ८ ॥

संथारो करवा स्वामीनी थई मनमां मरजी।
मनाहि करवा सहु श्रावके आवी करी अरजी ॥ ९ ॥

अवसर जाणी एकांतरनी, टेक पूज्य लीधी।
वेला करवा नीयम धार्यो, वर्या ज्ञान ऋद्धी ॥ १० ॥

गात्र रंग बदलाया जाणी पचरव्यो संथारो।
एकमास संथारो चाल्यो लेवा भव आरो ॥ ११ ॥

चतुर्दशी शुक्ल वैशाखनी, अठारसे त्रेपन।
सात पोहोर चोविहार करीने गया स्वर्ग भुवन ॥ १२ ॥

चौसठ वरष ने पांच मासना संयमने पाली।
चपोर ढळ्यां पछी स्वर्ग पधार्या, भवनो भय टाली ॥ १३ ॥

दोहा

शिष्य सद्गुणी शोभता, रायचन्दजी गुणवान।
पूज्य स्वर्ग सिधावतां, ग्रहयूं पूज्यनुं स्थान ॥
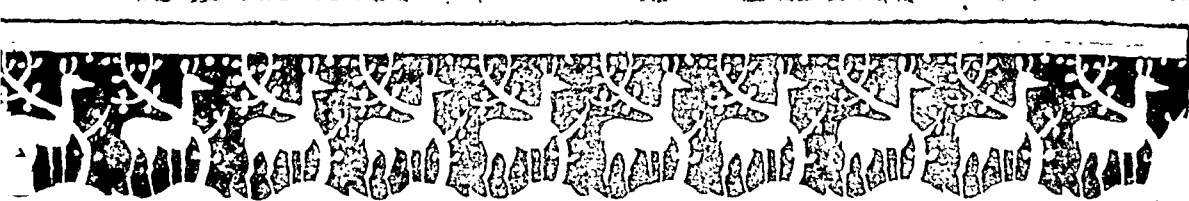
नित्य धर्म स्थानके जाय, व्याख्यान सुणवारे
सुणी धर्म शास्त्रनो सार, लाग्या झूरवारे ॥ ४ ॥

धिक् धिक् छे आ संसार, पाणी परपोटो रे
सहु स्वार्थनी मोहजाल, प्यार सहु खोटो रे ॥ ५ ॥

फर्यो लक्ष चोरासी फेर, पार न आव्यो रे
पूर्व पुण्यने योग, नर भव पाम्यो रे ॥ ६ ॥

आ अमूल्य मनुष्य अवतार, अहले जाशे रे
वहेलो लेवो संजम भार, पाप खवाशे रे ॥ ७ ॥

गृह संसार कीधो त्याग, वस्त्र एक राखे रे
एक पात्रामां ले आहार, सूत्रनी साखे रे ॥ ८ ॥

इम करतां वीत्या दिवस, गया वर्ष आठ रे
लई दीक्षा गुरुनी पास, ग्रही पूज्य पाट रे ॥ ९ ॥

एकांतर उपवास, घणा दिन कीधा रे
विचर्या मरुधर देश, घणा बोध दीधा रे ॥ १० ॥

घृत पुडी उपरांत पांच विगयत्याग खावण त्यागीरे
वलि त्यागी निद्रा नित्य थया धर्म रागी रे ॥ ११ ॥

थानापति मेडता गाम मांही वसिया रे
नव मास सुधी महाराज, वेला करिया रे ॥ १२ ॥

लावणी

करी तपस्या घणी मोटकी, रंग देहनो बदलायो
शरीरी संघटण नबला पडिया, धर्यो टेक मननो भायो ॥ १ ॥
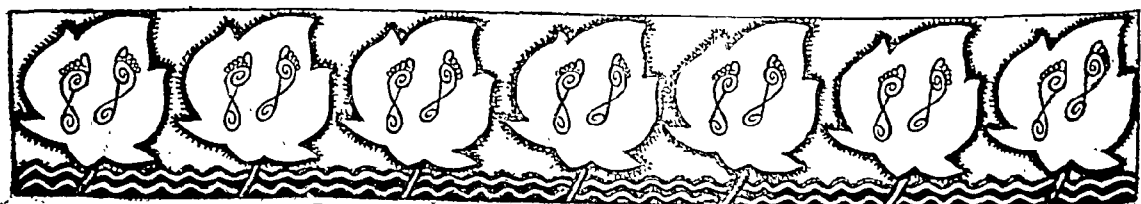
पूज्य रायचंदजीनुं वर्णन

ढाल - १२
राग त्रिताली

रायचन्दजी गुण मणिमाल, हता श्रावक ज्ञाते ओसवाल
विजयचन्दना गुणवंत सुवननंदा मातनी कुक्षिनुं रतन ॥ १ ॥

वसे जोधपुर नी मोझार, माततातनो अधिको प्यार
निज शहरमां विहाव कीधो, नोहतो लग्न तणो कोल लीधो ॥ २ ॥

ओगणीस वर्षमां सुणी विचार प्रगट्यो तनमां
पिता पुत्रने वैराग्य आव्यो, दीक्षा लेवानो विचार भाव्यो ॥ ३ ॥

नंदू माता सीखामण दीधी, सुणी बोलने वृथा कीधी
नहीं साधु थवा देवुं तुझने शुं एकली मूकीश मुझने ॥ ४ ॥

एकाएक पुत्र तूं म्हारो, चक्षु समीप रहीने ठारो
पछी दीधा परीषह झाझा, त्यागी नहीं वैराग्यनी माझा ॥ ५ ॥

माते जाण्युं विचार नहि करसे, रजा आपूं धार्युं तेनुं करसे
रजा आपी माताए मुखथी, पछी कहयुं वीचरजे सुखथी ॥ ६ ॥

एकादशी अठारसे चउद गाम पीपाड आसाढ सुद
दीक्षा उत्सवनो लाहो लीधो, सुधा संजम रसने पीधो ॥ ७ ॥

पिता पुत्र थया पछी त्यागी जोग साधनमां प्रीति लागी
रायचन्द ऋषि महाभावी, घणी धर्मनी जोडो बनावी ॥ ८ ॥

संवत अठारसे अठावन रह्या थाणापति वर्ष त्रण
दिन बेनो संथारो कीधो स्वर्गपुरीनो वासो लीधो ॥ ९ ॥

सुडतालीस वर्ष पर्यंत, पाल्युं साधपणुं महासंत
आसकरणजी तेमना शिष्य पाट विराज्या जपे जगदीश ॥ १० ॥

जोई चिकित्सा निज गुरुजीनी, शिष्य सर्व पासे आया
करो छो पारणे बेले बेले, गात्र रंग गुरु बदलाया ॥ २ ॥

पूज्य धनाजी जीवदया विचारी, अन नहीं लऊं मुज सिरे
काष्ट स्तंभजो अन आरोगे, तो हुं आहार करीश मुने ॥ ३ ॥

अनजल सर्वे त्याग करीने संथारो बे दिन कीधो
संवत सतरे चोरासीमो स्वर्गतणो रस्तो लीधो ॥ ४ ॥

पूज्य भूधरजीनुं वर्णन

ढाल - ४
राग लावणी उलटनी

तसपाटे श्रीपूज्य भूधरजी सोजत गामना रहवासी
धन धामने कुटुंब कबीलो सर्वत्यागि दीक्षा प्यासी ॥ १ ॥

कठिण टेक मनमां धारी जल विन सर्व अल्प आहारी
बहुत जातना तप आराध्या कर्यो पछीथी संथारो ॥ २ ॥

संवत सतर सितंतरमां, जगत थकी नीराशी थया
अठार चारनी विजयादशमी, स्वर्ग पुरीमां सहज गया ॥ ३ ॥

थया शिष्य त्रण धर्म धुरंधर, रघुनाथ जयमल स्वामी
लघु शिष्य श्री कुशालचंदजी, रह्या संघाडा त्रण जामी ॥ ४ ॥

जयमलजी पूज्य पदवी वरिया प्रतापवंता गुणधारी
लघुवयमां संजम पाम्या करूं विवेचन विस्तारी ॥
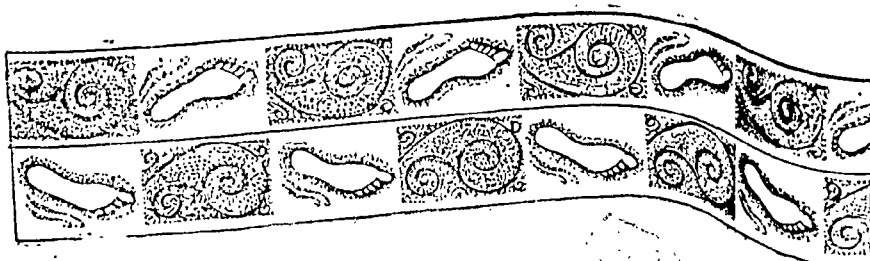
पूज्य आसकरणजीनुं वर्णन

ढाल - १२

लावणी

आसकरणजी अति वैरागी तिंवरी गांवना रहवासी
बोथरा रूपचन्दना बेटा, मात गीगांजी सुखरासी ॥ १ ॥

भणी रह्या नववर्षमां विद्या, पीताजी परलोक गया
पधारिया पुरमां रायचन्दजी, सुणी धर्म वैरागी थया ॥ २ ॥

मरजी कीधी निजमाताए, धर्म सुणी वैराग्य धर्यो
दीक्षा लेतां निज पुत्रने ना कहवानो नियम कर्यो ॥ ३ ॥

मामा दादा वृद्ध माताए द्विमास परीषह दीधा
चळ्युं नहीं किंचित मन एनु, सर्व बोध वृथा कीधा ॥ ४ ॥

घणा वर्षथी गाम तींवरी मात पुत्र बन्ने साथे
अठारसे ओगणीस वद पांचम (वैसाख) दीक्षालोच कीधी माथे ॥ ५ ॥

निज गुरुश्री स्वर्ग सिधाव्या पूज्य पाट पावन कीधा
अठारसे बहोतर जोधपूरमां मार्ग स्वर्गपुरना लीधा ॥ ६ ॥

पूज्य सबलदासजीनुं वर्णन

दोहरा

सबलदास महाराजश्री सरल स्वभावी पूज
जगत जाल सहु कापिने करी ज्ञाननी बूज ॥ १ ॥

विक्रम संवत १८ से ऊपर एकतालीस
मागसिर वद तीजने लोच कर्यो निजशीस ॥ २ ॥

आसकरणजी पूज्यना थया शिष्य गुणवान
गुरु स्वर्ग सिधाविया ग्रहयूं पूज्यनुं स्थान ॥ ३ ॥

पूज्य जयमलजीनुं वर्णन

ढाल - ५ वनजा । लावणी

गण्यो सारराहित धन्य धन्य जयमल अणगार ॥ टेर ॥

मूथा मोहनदासना पुत्र जन्मी शोभाव्यूं घरछत्र
महिमादे मातानो प्यार, धन्य धन्य जयमल अणगार ॥ १ ॥

नथी वंधायो पत्नी पाश, लग्न करीने थया छमास
नथी आणुं कर्युं एकवार, धन्य धन्य जयमल अणगार ॥ २ ॥

हतो पुत्र घणो सविवेक, पिताने जयमल प्रिय विशेष
वर्ष बावीस वय हुंशियार, धन्य धन्य जयमल अणगार ॥ ३ ॥

शहर मेडते जवा मन भाव्यो, कांई व्यापार लाभ जणाव्यो
थया जयमलजी तैयार, धन्य धन्य जयमल अणगार ॥ ४ ॥

नोकर पण साथे लीधो, प्रीते प्रवास पूरो कीधो
उतर्या मेडता द्वार, धन्य धन्य जयमल अणगार ॥ ५ ॥

गया सांभलवा व्याख्यान, भूधरजी पूज्यनी वाण
जाण्यो दुखियो आ संसार, धन्य धन्य जयमल अणगार ॥ ६ ॥

सुणी उपदेश वैराग्य आव्यो, उर बोध खरेखर भाव्यो
थया हाथ जोडी तैयार, धन्य धन्य जयमल अणगार ॥ ७ ॥

ढाल - ६

(गोपीचन्द लडका लेले फकीरी नजदे राजने राग)

जयमल :- स्वामीजी आपो शीयल व्रतनुं पच्चक्खाण जी ॥ टेर ॥
नौकर :- आ वगर विचार्युं व्रतलेतां थे राखो भान जी ,,
पूज्यजी :- लइ रजा घेरथी आवो पहोंचाडी तमे ध्यान जी ,,

शान्त स्वभावे शोभता समिति गुप्ति प्रतिपाल
उत्तम गुणथी विचरता धर्म जहाज कृपाल ॥ ४ ॥

संयम त्रेसठ वर्षनो पाळी सोजत गाम
आयुष्य बंध पूरण करी कियो स्वर्ग मुकाम ॥ ५ ॥

पूज्य हीराचन्दजीनुं वर्णन

ढाल - १४

राग: स्थूलिभद्र मुनि गुणमां सरदार जो — ए राग

गुरु भाई हीराचन्दजी अणगारजो उत्तम गुणांलकृतिना सणगारजो।
सबलदासजी पूज्यनी पाट विराजियाजो ॥ १ ॥

विरांई गामना नरसिंगजीना तनजो, गुमानमातनी कूख तणा एरत्नजो।
जतन करी उच्छेरयुं रतन सांपडयुं जो ॥ २ ॥

सुशील वडील ताराचन्दजी, दीक्षा लेवानी थई सर्वेनी मरजी जो।
मातापिता निजबंधु आव्या उपासरे जो ॥ ३ ॥

विक्रम संवत अठारसे पांसठजो, सुकल भाद्रपद संवत्सरीनी छठ जो।
आसकरणजी पासे पाली शहरमांजो ॥ ४ ॥

आसकरणजी गुरुकृपानिधानजो, सर्वेने दीधुं दीक्षानुं दानजो।
दीक्षा लेईने विचरे संयम साधता जो ॥ ५ ॥

हीराचन्दजी हीरासमा गुणवंत जो, पाले संयम समरे श्री भगवंतजो।
कवि पंडित स्वरूपे शोभताजो ॥ ६ ॥

पूज्य सबलदास गुरुभाई महाराजजो, स्वर्गवास जई कर्यो श्रीमुनिराजजो।
हीराचन्दजी पूज्यनी पाटे पधारियाजो ॥ ७ ॥

जयमल :- रजा लीधी छे म्हारा मननी अन्य रजा नहि होय
आव्या टाली जातुं छे काल, साथे न आवे कोय || स्वा० ||

नोकर :- छः मास थया लग्न थयु छे, शुं बोलो छो बात
नथी मोकल्युं पहेलुं आणुं कोप करे वेर तात || आ० ||

पूज्यश्री :- आग्रहथी बाधा न देवाये ए साधुनी रीत
आज्ञा विन नहि वरत आपीए ते जाणो रूडी रीत || लई० ||

जयमल :- विजय कुंवरे शुक्ल पक्षना व्रतनो धार्यो नेम
तेहनी नारी कृष्ण पक्षमां व्रत धार्यु तुं केम || स्वा० ||

नोकर :- परण्या पहेलां अजाण पणामां, लीधा जूदा व्रत
क्रोध पितानो थसे मुझ पर मळो मृथाजीने तर्त || आ० ||

जयमल :- अरे केम तुं आडो आवे पाडे छे अंतराय
मरजी थई छे म्हारा मननी शुं तारा थी थाय || स्वा० ||

पूज्यश्री :- रजा वगर नहि वरत आपिये वडील छे मात तात
नारीनी पण रजा मेळवी, लई शको परभात || लई० ||

नोकर :- कृपा करी माहरा ऊपर करो जवरसा महेर
मळवा चालो माहरी साथे मात तातने घेर || आ० ||

जयमल :- मुझ मननी साथे लीधो छे संयम भार रे || टेर ||
शीयल व्रत में धारी लीधू टेक लीधो मनमांय
पुर बाहर दीक्षा लीधां विन अनजल लेवूं नांय || मु० ||

नोकर :- तात आपना प्रधान राजना कोप करे मुझ शीर
वारंवार कहीने थाक्यो धरी शकूं नहीं धीर || आ० ||
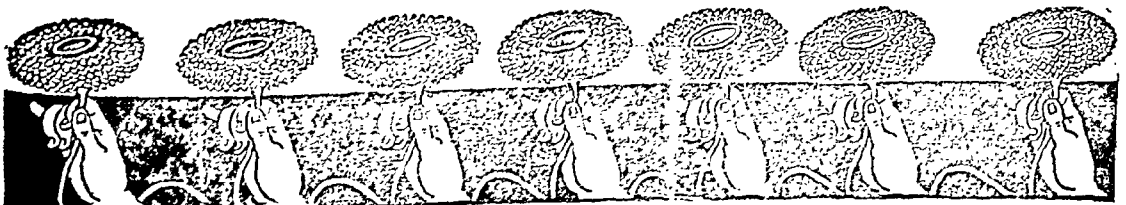
जयमल :- घर महारूं में जोयुं तपासी नायुं निर्भय ठाम
झूठा घरनो त्याग करीने थयुं सावटुं काम ॥ मु० ॥
मातपिताने मळजे जईने, कहेजे सहु वृत्तान्त
धीरपजे प्यारी माताने, करजे सहुने शान्त ॥ मु० ॥

ढाल - ७

राग : नाथ कैसे गजको फंद छुडाया ?

लीधी टेक जयमलजी ए भारी, त्यागी सुशीला बाला विचारी । टेर ॥
दिलगीर दास थयो छे अधिको, खिन्नवदन दुखकारी
मान्यु कहयुं नहिं किंचित् एवुं नांख्यो फिटकारी ॥ ली० ॥
लांबिया गामे सेठने मळवा, जावा करी तैयारी
वेठी परिश्रम आव्यो जल्दी, हृदय जखम दुखकारी ॥ ली० ॥
वृत्तांत आवीने सघळुं कीधुं, अथ थकी इति विचारी
मातपिताना दिल दुभाया, तुरत तेडावी नारी । ली० ।

ढाल - ८

राग : आसा गोड़ी

(सेठ नोकरने कहे छे)

मूकी आव्यो अविचारी अरे मूर्ख मूकी आव्यो अविचारी
पुत्र तजी मम आव्यो तूं अहियां, बुद्धि गई बळी ताहरी ॥ अरे० ॥
केवी रीते मुझ मनने वाळुं, मार्यो जखम हायकारी ॥ अरे० ॥
परिणीता तजी बाला विचारी, हिये होळी प्रगटावी ॥ अरे० ॥
दुष्टता तारी देखीने नजरे, शिक्षा करूं तने खारी ॥ अरे० ॥
समझावीने साथ केम न लाव्यो, भूल कीधी छे भारी ॥ अरे० ॥
वेगे जई वहेलो लावूं मनावी, जावानी करिये तैयारी ॥ अरे० ॥

ढाल ९

राग पीलू

(नोकर सेठने कहे छे)

चांक नथी कांई सेठजी म्हारो, समझाव्यों घणो में पुत्र तमारो ॥ १ ॥
कह्युं मान्युं नहिं किंचित् मारुं, कहे छे जगत मने लागे छे खारूं ॥ २ ॥
दीक्षा लीधां विन मेडता बाहरे, अन्नपाणी नहीं खपे छे माहरे ॥ ३ ॥
केवी रीते एने समझावी लावूं, सेठ साहब आप विचारो ॥ ४ ॥
दिलासा दिधो तो सोगन लीधा, खीज्या भाई कहे मूक लबारो ॥ ५ ॥
शोक समुद्र बूडी गयो, तो, भाई पासे पडतां न्यारो ॥ ६ ॥
आप पधारो मेडता नगरे, न उथापे बोल तमारो ॥ ७ ॥

दोहरा

सर्वे साथे संचर्या, गया मेडता गाम ।
धर्म स्थानके प्रीतथी, कियो जइने मुकाम ॥ १ ॥
नीहाळी निज पुत्रने, माता गई हरखाई ।
पूछयूं पासे बोलावीने, केम रह्यो अहीं भाई ॥ २ ॥

ढाल - १०

जननी जीवोरे गोपीचन्दजी--राग

(सेठ पुत्रने कहे छे)

केम रह्यो भाई एकलो, मोकल्यो नोकर घेरजी ।
विचार तें शो धारियो, कही बतावो पेरजी ॥ १ ॥
योग्य नहीं करवूं तुझने ॥ टेर ॥

.... जयमल पट्टावली ....

पूज्यश्री जयमलजी गुण वर्णन

छप्पय छन्द

सरस्वती समरों मात, हाथ पुस्तक सुखकारी,
हंसासन आरूढ, मूढ़ जन देत सुधारी ।
भक्तों पे आधीन, सत्य सच बात उचारे,
जो माने चित लाय, जीणां का कारज सारे ।
मैं गुण गाऊं मुनि तणा, करूं तिहारो जाप,
छप्पै कविता की चाल में, कहे सेवक परताप ॥ १ ॥

कवित्त

लांबिया प्रसिद्ध गाम, नाम मुथा मोणदास,
तास त्रिया कुख विच, आयो अवतारी सो ।
जयमल शुभ नाम, करण प्रवीण काम,
मेंमांदे माता की कूख, जाणे सिंह सारी सो ।
कुल को उद्धार करनार वार वेप धार,
परम प्रमिष्ट इष्ट, मिष्ट जिम वारी सो ।
चढ़ति कलाई चन्द्र, दीपत ललाट मान,
धरम को रागी राखे, नेम ब्रह्मचारी सो ॥ २ ॥

छप्पय छन्द

जैनधर्म का राग, सुणे ज्यो मन हुलसावे,
ज्यां ज्यां मुनिवर होय, तिहां वंदण ने जावे ।
सोले वरसा मांय ने, भण्या घणुं निशदीस,
परणाया अति प्रेमसुं वर्ष लिया इकवीस ॥ ३ ॥

दोहा

एक दिन आव्या मेड़ते, सोदो लेवण काज ।
भूधरजी गुरु भेटिया, तारण तरण जहाज ॥ ४ ॥
शील धरम अंगी कर्यो, भूधरजी गुरु पास ।
मात, तात तब आविया, बोले चित्त उदास ॥ ५ ॥

कवित्त

जयमल जग प्यारा, मेरे कुल का उजियारा,
तोने किण ही हत्यारा, ऐसी अकल आय दीनी है,
घर को ठिकाणो थारो, आदू पुराणो देख,
बराबरी सगाहू की, सुता परण लीनी है ।
साथ चाल पुत्र मेरे, बात मान विनयवान,
रस वश आराम भोग, ऐश नहीं कीनी है ।
जोग हू को काम नाम, निपट ही निराट बांको,
दुर्द्धर परीषा देख, बात नांह चीनी है ॥ ६ ॥

छप्पय छन्द

जयमलजी कहे बात, पिता की आज्ञा पाऊँ,
शहर मेड़ता बार, बांध पचो नहि जाऊं ।

सूरतराम का गला रुंध सा गया। उसने बड़ी मुश्किल से सब बातें कहकर कहा :—"वह तो वहां पर हठ करके बैठा है। हमारा तो मानता ही नहीं है।"

उसी समय महेताजी भी नीचे आ गये। उन्होंने पूरी बात सुनकर :—"मगर यह हो नहीं सकता? हमारी आज्ञा के बिना कौन है, उसको दीक्षा देनेवाला?"

और उन्होंने अंदर आवाज़ दी :—"सुनती हो....?"

महिमादेवी बाहर आई। उससे सारी बात कहकर महेताजी ने कहा :—"इधर हम बहू को लिवा लाने की तैयारी में लगे हैं और उधर उस पर यह रंग चढ़ा है।"

महिमादेवी ने कहा :—"ज़रूर किसी के बहकावे में आ गया है। मगर खड़े-खड़े रहने से और बातें करने से क्या होगा? आप जाकर उसे बुला लावें; ज़रूर पड़े तो दो-चार राज-कर्मचारी भी लेते जावें।"

सूरतराम ने कहा :—"माताजी! आप सभी साथ चलें। नहीं तो वह नहीं मानेगा।"

सूरतराम सब का एक ही उत्तर दे रहा था :—" आप स्वयं जाकर उससे बातें करेंगे और देखेंगे, तभी पता चलेगा कि माजरा कहाँ तक पहुँचा है ? "

उधर औरतों की गाड़ियों में महिमादेवी बहुत ही विचार में बैठी थी। जयमल को यह क्या सूझा ? वह तो हमेशा से समझदार रहा है; फिर उसने ऐसी इच्छा कैसे की....?

" ज़रूर किसी ने उस पर कुछ कर दिया होगा ? " महिमादेवी बोली।

" बिचारी लाछाँ पर क्या बीतेगी ? कितनी प्यारी और कितनी भोली है ? " विनयदेवी ने कहा।

" तू देखना तो सही ! मैं इन पाखंडी साधुओं का सभी भंडा फोड़ कर दूँगी ! जयमल का हाथ पकड़ते ही वह मेरे साथ चला आयेगा ! " महिमादेवी ने कहा।

" मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि देवरजी यह क्या करने पर तुले हैं ? लाछाँ रो-रोकर मर जायेगी ! " विनयदेवी बोली।

" मुझे भी उसका बहुत ही ख्याल आता है। बहू भी क्या है ? अपने लिये तो वह बेटी से भी अधिक है; रूपवती है; गुणवती है और फिर सुलक्षणी भी कैसी है ! " महिमादेवी ने कहा।

" कल तक तो देवरजी लाछाँ की बातें करते थकते न थे....! " विनयदेवी ने आश्चर्य से कहा।

" ज़रूर किसी ने भरमा दिया है। दीक्षा लेनेवालों के और ही रंग होते हैं। उसने तो कभी साधु-संतों को देखा भी नहीं और चला आज एकदम दीक्षा ही लेने....! देखें, वहाँ जाकर क्या हाल-चाल है ? " महिमादेवी ने कहा।

महेताजी के आगे यह प्रश्न था कि उनके घराने में सभी राज-कुल के कोठारी महेता ही बनते आ रहे थे। जयमल उससे कैसे अलग हो रहा था ? संसार से वैराग्य कैसे आ गया ? महिमादेवी को इस बात का गुस्सा था कि जब दीक्षा ही लेनी थी तो फिर

सो बातां री बात, मात कर आज्ञा दीजे,
पंने फागट काल, देर इणमें नहिं कीजे ।
मात पिता काका कुआ, आज्ञा दीधी उस घड़ी,
भूधरजी महाराज पास, दीक्षा की त्यारी करी ॥ ७ ॥
सतरह सौ की साल, बरस अठ्यासी जाणो,
मृगसर की वदि बीज, लियो संजम को नाणो ।
छ महिनां की देख, बोड़ परणी चिटकाई,
सात दिनां के बाद, बड़ी दीक्षा करवाई ।
बड़ बीलाणिये जाय के, दीक्षा लीनी शहर में,
सूर वीर पुन्यवान सीख्या, पडिकमणो एक पहर में ॥ ८ ॥

दोहा

पांच सूत्र पढ़िया मुनि, पट महिना के बीच ।
बावन वर्ष पोढ्या नहीं, बेठ रह्या डग मीच ॥ ९ ॥
सोले बरस लग प्रेमसूं, बरसी तप लिया धार ।
अहो करणी दुष्कर करी, श्री जयमल्ल अणगार ॥ १० ॥

मोतीदाम छन्द

मुनीश्वर सायर जेम गंभीर, महा गुणवान बड़े रणधीर,
विहार करावत गाम ही गाम, सरावत आलम जिण को नाम ।
फतेपुर, चुप हे गाम प्रवीन, कियौ धर्मध्यान हुये लवलीन,
अगाड़ी पधारे हैं जयपुर सेर, कृपा कर जीण पर कीनी है मेर ।
वीर जिन आण रहे जू कृपाल, सुणावत सूत्र आनन्द रसाल,
इण की महिमां जाणि हैं जहान, दिल्लीगढ़ मांहि कियो कल्यान ।
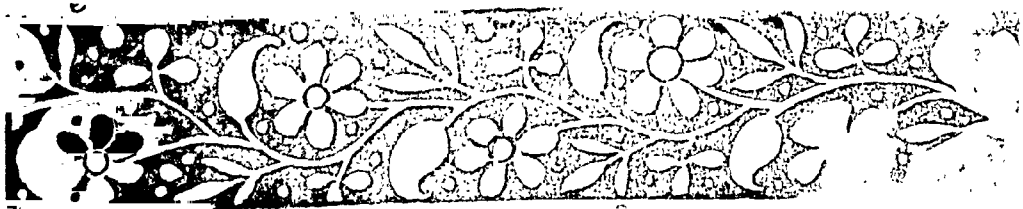
कियो उपकार अधिक ढूंढ़ाड, दिपायो नाम अतिह मेवाड,
पधारे मुनीश्वर मालवदेश, नम्या तसु पाय सु आप नरेश।
कियो उपकार अति अजमेर, पधारे हे दक्षिण बीकानेर॥
मरुधर जेसलमेर विख्यात, दिपायो देश अति गुजरात।
ऐसे मुनि पूज्य हुये परसिद्ध, मिल तसु नाम लिये नवनिद्ध॥११॥

छप्पय छन्द

देख शहर नागोर, नगीनो है सुखकारी,
टिके पूज्य तिण गाम, विचरत आया उपकारी।
मुनिवर वन्दन काज, लोक वहु मेला आवे,
सूरवीर ज्यों सिंह, होय उपदेश बतावे।
रायचन्द्र चढ़ती रती, जोधांणे रहवास,
करी सगाई बोड कै, दीक्षा ले मुनि पास॥१२॥
अठारे बावन साल, मास फागुण को जाणो,
रायचन्द महाराज, तणो कर शुंज वखाणो।
सुदि पख दशम जाण, पूज्य रे खेद वियापी,
सुद्ध देख आचार, इणानें पदवी आपी।
दे भोलावण संघनी, तप मांड्यो मुनिराय,
इग्यारे एकांतरा, विगय किये तन ताय॥१३॥

कवित्त

एक बेला मांह पूज्य, विगय हू को त्याग कीनो,
दूजे बेला मोह आप, मुखसूं कह दीनो है।

केवल चक्र धर्यो कर ऊपर, जिह्वा मांह अमिय रस भारी ।
निश्चय नाम दियो नथमल, दिपावन जैन किये अवतारी ।। 66 ।।

सूरत सुकुमाल गोपाल जी सी, सामर्थ्य हणुमंत जि सो बलकारी ।
उनके अंग अमी झरता ज्यूं, इनके वयन झरे रस भारी ।।
दस पांचइ सा पुन्यवान हुये तो, सृष्टि करे जिनमारग सारी ।
शब्द तणो घनघोर पड़े, ज्युं धरणीपति कीनी असवारी ।। 67 ।।

कबलग खोल बयान कहुं कथ, कनक परे नथराज मुनि हो ।
सुजस प्रचण्ड त्रिखण्ड थया, गजराज परे इधकात गुनी हो ।।
मानवलोक मुनीन्द्र भये, सुभ चिन्ह लसै सुरदेव धुनी हो ।
सुजस पख्यो परताप कहै, द्रोघा युग में दरसात दुनी हो ।। 68 ।।

पुन्य उदे पिपाड पख्यो, नथमाल जिसा मुनिराज पधारो ।
अमृतमुख अधिकात वसै, फरे कीऊं नहि वंछित कारज सारो ।।
शिव विश्नु शतकार करे फिर, तुरक तगायत को निस्तारो ।
क्यों नहि नाम वधे जग में, परताप कहै मुनिराज तमारो ।। 69 ।।

दोहा

स्वामीजी श्री राजमल्ल, चोखो चारित्र पाल ।
असी महावद बीजने, जोधपूर किये काल ।। 70 ।। (क)
जिनके शिष्य अति दीपतो, स्वामीश्री वगतेश ।
सेवाभावी बहुगुणी, ब्रह्मचारी सुखदेश ।। 70 ।। (ख)
जार वंश कुछ गोळिया, मालगाव दर स्यान
भाग उदय भाई वहन, स्वामि सूरजमल आतन ।। 70 ।। (ग)
उगणीसे ने वासते, अष्टमी कार्तिक क्रिश्न
मारवाड रायपुर में, दीक्षा ली मत प्रश्न ।। 70 ।। (घ)
चेलीचंपाजी लाएगी जेठांजी महाराज
सरल स्वभावी व्यावची, सारे आतम काज ।। 70 ।। (ङ)
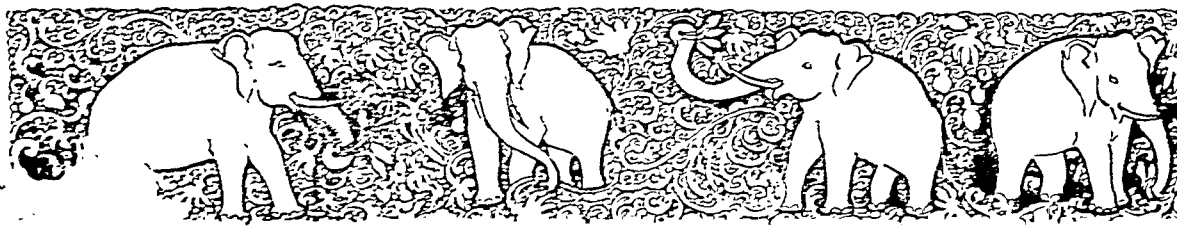
करणां संथारो गुण कर, वीनती करहै संघ,
एक स्याल मांहने, असार लोक चीनो है।
कल्पवृक्ष होय आप, कलि मांह कृपानिधि,
दिन पनरा गुरु ने, संथारो आप कीनो है।
मास को संथारो सात, पहर को चउविहार,
वैसाख सुद चउदश, वैकुंठवास लीनो है ॥ १४ ॥

[मारवाड़ में नरसिंह चउदश के, जिण दिन पूज्य जी रो स्वर्गवास रो दिन है। पाटे उपवास, पोषण, दया इण दिन जरूर करणां चाहिए।]

॥ इति पूज्यश्री जयमलजी गुणवर्णन संपूर्ण ॥

पूज्यश्री रायचन्द्रजी गुण वर्णनम्

छप्पय छन्द

पाड़ीवाल जात, न्यात जाणे सब आलम,
जोधाणे रहवास, मुलक सारा में मालम।
विजयराय सुत प्रगट, पूज्य के पाट विराजे,
घोर तपस्यावान, सिंह ज्युं वाणी गाजे।
जयमलजी जिण सारिसां, तसु पाट शोभे जती,
पूज्य तणे परताप सुं, रायचन्द्र चढ़ती रती ॥ १५ ॥

चन्द्रायण छन्द

दया तणा दातार, दीपावे पूजने,
गाम गाम कल्याण, कियो अति गूजने।
मुलक मुलक रे मांय मुनिवरां नाम है,
मध्य मरुधर के मांह, जोधाणो गाम है ॥ १६ ॥
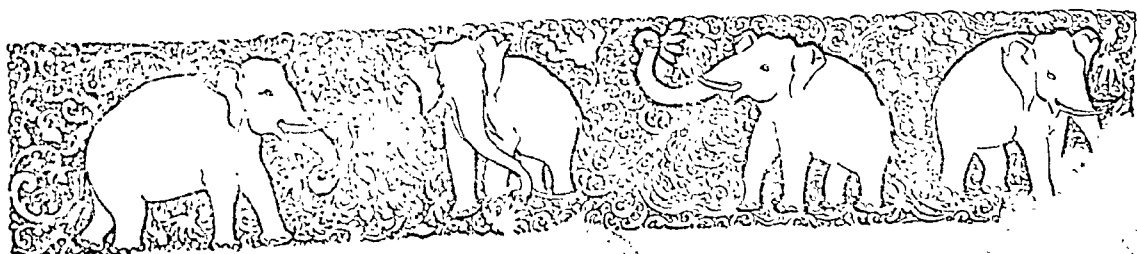
अडिल्ल छन्द

चेला कीना पांच कहू सेनान है,
आशकरणजी ज्ञान-ध्यान गुणवान है।
दीपचन्द दरियाव दया की खान है,
गहरा मुनि गुमान मुलक में नाम है॥ १७।

छप्पय छन्द

चौथा शिष्य सरदार, मुनीश्वर है उपकारी
कुलदीपक कुलकेश, छटा है ज्यांरी न्यारी।
पांचोई पुन्यवान, मुनी के चेला भारी,
आशकरण को तेज, खुलो ज्युं केशर-क्यारी।
तेज देख चलती कला, चिते एम मुनीश,
आशकरण रिश राय को, पाट कियो वगशिश॥ १८॥

[द]ोहा

आशकरण मुनिराज की, महिमा अगम अपार।
कपूरचन्द्र निज पुत्र थी, लीनो संजम भार॥ १९॥
वुधराज वुध निर्मली, पाले निर अतिचार।
दश चेला जिणके भये, सुणो नाम चित्त धार॥ २०॥
दश चेला तसु दीपता, आशकरण रिप राय।
नाम कहूं जिणरा सही, सुणियो चित्त लगाय॥ २१॥

छप्पय छन्द

सवलदास श्रीमंत, मुनि मन रूप कहावै,
हरपित हीराचन्द, निपुण नगराज जतावै।

गुण गहिरा गिरवा गुरू, पंडित सरल सुजान ।
जयमल गच्छ में दीपता, जिम दीपे दिन भान ॥
दो हजार नव साल में, आषाढी सुद तीज ।
तेरह दिन संथार कर, चावी कर दी चीज ॥
जोधाणा में जैन रो, झंडो दियो फहराय ।
दुनिया याद करे घणी, कदे नहीं भूलाय ॥
जयमल श्रमण संघको, प्रमुख चौथ दातार
अमर नाम जोधाणे कियो, कीरतिरो नहि पार ॥

सवैया

चांदमुनि चित वल्लभ लागत अक्षर सुंदर लेख ललामा ।
आगम वाचक शास्त्र सुलेखक रात रू द्योस में शुद्ध प्रणामा ॥
देश विदेश विशेष प्रसिद्ध, जानत नाम है लोक तमामा ।
अति मुनि गुरू भाई की जोड, दीपावत नाम गुरू को हँगामा ॥

दोहा

दो हजार के चार में, सुन्दर पुर नागोर ।
जीत मुनि ने सब दियो, उपाध्याय पद ओर ॥
चांदमल्ल महाराजरे, शिष्य दोयं वर्तमान ।
शुभमुनी पारस मुनी, विनयवान गुणवान ॥

सोरठा

मालव मरुधर देश, च्यांर खूंट सब देश में ।
करणूं हाल विशेष, कनीराम कल्पवृक्ष रो ॥ 72 ॥
इसके पाट विराज, दयाचंद दीपे घणा ।
महापंडित मुनिराज, ज्यांरे कंठा बोले सारदा ॥ 73 ॥

दोहा

बोयल गाम सुहावणो, जठे लियो अवतार ।
मेघराज सुत जाणिये, दयाचंद दातार ॥ 74 ॥

कपूरचंद जी पिता, साथ पोता बुधधारी ,
गुलाबचंद गुर ज्ञान, आय कर दीक्षा धारी ।
सवलदास सब में सिरे, करे तपस्या पूर,
गादी सोंपी तेहने, दिन-दिन चढ़ता नूर ॥ 22 ॥

सवैया छन्द

आसकरण श्रीपूज्य मुनि के, गुरुभाई लघु च्यार कहावे,
दीपचन्द दिल चूंप जिणांके, शिष्य मुनि जशरूप जनावे ।
कुशाल तणो शिष राव तणो, सीव सतीदास को जगत सरावे,
दीप रहे सरदार मुनि, कुशलेश तणी महिमा कथ गावे ॥ 23 ॥

कवित्त छन्द

भेद मुथा दोय भाई, माता[1] साथ दीक्षा लीनी,
मरुधर मांहि गांव, सांठीयो कहायो है ।
संवत अठारेसे ने, गुणतालो माघ मास,
सुद पक्ष एकादशी, महोच्छव मंडायो है ।
हरष है गांव ठांव, ठांव पाट पाट ताम,
मुलक तमाम नाम, सुजस सवायो है ।
प्रतापीक पुरुष रो, नाम है खुशालचन्द,
कीनो है आणदं नाम, छत्र जेम छायो है ॥ 24 ॥

दोहा

पेली गादी पूज्य की, वरणूं वात विचारा ।
पीछे ये मुनिराज की, महिमा का अधिकार ॥ 25 ॥

छप्पय छन्द

सबलदास सुकुमाल, पाट प्रकट दीपायो,
मुलकां में प्रसिद्ध, मुनि को तेज सवायो ।

1 कुशालचन्दजी स्वामी की माता का नाम "प्रेमदेवी"
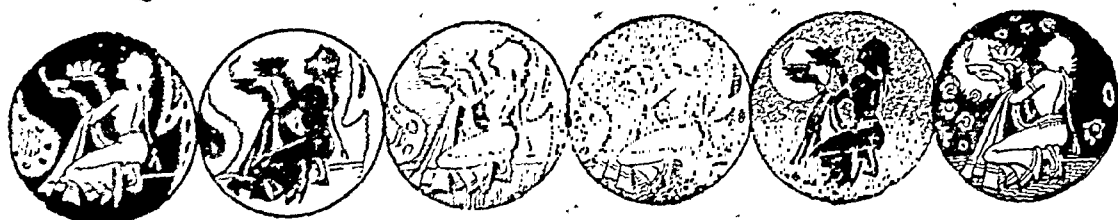
गुरु भाई लघु जाण, अंकलनो देख्यो आगर,
हीराचन्द तसु नाम, जिसी गुणमांह उजागर।
लगन देख लघु भ्रात को, मेहर करे मुनिराज,
सांमी हीराचंद को, दे पदवी जुगराज ।। 23 ।।

दे सब कूं उपदेश, दिये हीराचन्द सानी,
गादी ऊपर मेट करे, उपकार सु नानी।
देश मुलक प्रदेश, लोक वंदण ने आया,
जो मेट्या तसु पाय, हुआ जिण का मन छाया।
आय ग्राम पालासणी, करे मुनी उपकार,
दे उपदेश सुहावणो, हरख्या सब नरनार ।। 27 ।।

सवैया छन्द

सुण्यो उपदेश लग्यो मन रंग, वैराग विसेस भयो अति भारी,
नाम जिणो कस्तूर कहावत, मन में दोनुई भ्रात विचारी।
जात मुणोत बड़ो गुणवान, कहे कर जोड़ सुणो महातारी,
संजमसार जिसी नहीं चीज, इसी सुण तिनु हुये व्रतधारी ।। 28 ।।

छप्पय छन्द

हीराचन्द मुनिराय, देख अवसर को लीनो,
तसु पाट कीसतुर, चंद पदवी धर कीनो।
दिपे मरुधर देस, पूज्य की कहीं निसाणी,
सतपोड़ी मुनिराज, तणी परताप बखाणी।
पदवी वरणी पूज्य की, कर भ्रर मन में प्यास,
प्रतापी सेवक कही, सूरज मुनि चौमास ।। 29 ।।

दोहा

च्यार शिष्य है तेहना, न्यारा न्यारा नाम।
खोल कहूं सुण ज्यो सवे, श्रोता दे दे काम ।। 30 ।।
"प्रतापमल" "सीखम-सती", "मूलचंद" गुण पात्र।
"सोनराज" चौथा लघु, कर्म सूं गिणजो छात्र ।। 31 ।।

गुण गहिरा गिरवा गुरू, पंडित सरल सुजान ।
जयमल गच्छ में दीपता, जिम दीपे दिन भान ।।
दो हजार नव साल में, आषाढी सुद तीज ।
तेरह दिन संथार कर, चावी कर दी चीज ।।
जोधाणा में जैन रो, झंडो दियो फहराय ।
दुनिया याद करे घणी, कदे नहीं भूलाय ।।
जयमल श्रमण संघको, प्रमुख चौथ दातार
अमर नाम जोधाणे कियो, कीरतिरो नहि पार ।।

सवैया

चांदमुनि चित वल्लभ लागत अक्षर सुंदर लेख ललामा ।
आगम वाचक शास्त्र सुलेखक रात रू द्योस में शुद्ध प्रणामा ।।
देश विदेश विशेष प्रसिद्ध, जानत नाम है लोक तमामा ।
अति मुनि गुरू भाई की जोड, दीपावत नाम गुरू को हँगामा ।।

दोहा

दो हजार के चार में, सुन्दर पुर नागोर ।
जीत मुनि ने सब दियो, उपाध्याय पद ओर ।।
चांदमल्ल महाराजरे, शिष्य दोयं वर्तमान ।
शुभमुनी पारस मुनी, विनयवान गुणवान ।।

सोरठा

मालव मरुधर देश, च्यांर खूंट सब देश में ।
करणूं हाल विशेष, कनीराम कल्पवृक्ष रो ।। 72 ।।
इसके पाट विराज, दयाचंद दीपे घणा ।
महापंडित मुनिराज, ज्यांरे कंठा बोले सारदा ।। 73 ।।

दोहा

बोयल गाम सुहावणो, जठे लियो अवतार ।
मेघराज सुत जाणियं, दयाचंद दातार ।। 74 ।।

कवित्त

सूरत हद सोवनीसी, तेसें मन मोहनी सी
खोवनी सी दुःख, ऐसो मुख है सुकंद को
उपना भण्डारी कुल में, नक्षत्र, पुष्य घड़ी तुल में
चनण सती मात साथ, सेट्यो सो धंध को
आप हर्‌यो तिमिर सारो, दूर डारो दुख कंद को
ता दिन से खरी खरी, धरी थी मन मांय
सोभा जग छाई पाई, वणे ना वणाई काई
देख्यां दिल खुशी होत, मुनि दयाचंद को ॥ 75 ॥

पोंचवान पुरस—दरस हु को दिखायो सरस
जयमलजी महाराज नाम, जगत मांह छाजे है
ताकी समुदाय हु में, कल्पवृक्ष जेम स्वामी
नाम कनीराम लीना, भूख दूर भाजे है
पनरे की साल, मिगसर मास में नागोर मांय
ताहि के पाट दया-चन्द्र जी विराजे हैं
पंचमी ने गुरुवार, चन्द्रमा नक्षत्र सेति
गुरु की दिपाय वाणी, इन्द्र जिम गाजे है ॥ 76 ॥

पण्डित प्राचीन थाट, जमे कालिदास जेम
विक्रम जिम न्याय होत, निहायत निहृया जको
अभय कवर जैसी, बुधी फेले उण रीत
फेलहा तिम जिम ग्यांन देख, कंठ विण वाज को
आसण दृढ़ धारके, विचार के बतावे ग्यान
एते सह नाण जाण, सायदी सम्माज को
सेवक प्रताप ऐसो, आवे बरताव जदी
गरु कर धरावे दयाचन्द जी महाराज को ॥ 77 ॥

पूज्य कस्तूर चन्दजी पहुँच्या सुरपुर ठाम
ज्यांके पाट विराजिया, पूज्य श्री भीखम नाम 44 (ख)
शिष्य उन्हों के ही पता कानमल किरपाल ॥
स्वामी नाथ प्रसादते पदवी लिवो संभाल ॥ 45 (ग)
आशकरण श्रीपूज्य के, शिस्य, मनरूप सुजाण ।
हीरा गुरुभाई हुआ, सकल गुणां की खाण ॥ 46 ॥
सात शिष्य तेहने हुआ, चावा शोभाचंद ।
चौथमल्ल मति निर्मली, प्रति दिन तेज दिपंद ॥ 47 ॥
मूलचंद लारे तसु, शाख विसलपुर नाम ।
पूज्य तणी समुदाय में, जाणों गामी गाम ॥ 48 ॥
कस्तूर चंदजी श्रीपूज्य के तीजा शिष्य परिवार
मूलचंद महाराज के चांदमल्ल सुखकार ॥ 49 ॥
धनराज मुनिराज के उठी मगज की पीर ।
दोय सहस नवसाल में कर्यो काल मिगसीर ॥ 50 ॥
जगजाहिर पूज्य दीपता कान्हमल्ल महाराज ।
विचर्या मरुधर मांय ने तिरण तारणरीजहाज ॥ 51 ॥
जिनके शिष्य, अति दीपतो चैनमल्ल पुनवान ।
जोडां स्तवन चोपीयां गावत कई गान ॥ 52 ॥
कह्यो परिवार जो पूज्य को, कर कर मन में प्यास ।
परतापे सेपक कही, सूरज मुनि चौमास ॥ 53 ॥
खुशालचंद मुनिराय नो, वरणूं अंतर ज्ञान ।
मनुप जन्म लीनो मुनि, परतख देव समान ॥ 54 ॥

कवित्त

ऐसी अवतारी हू की, जाऊँ वलिहारी सारी,
सृष्टि में तमाम प्यारी, वोली वरसाई थी ।
चेला पट ताम, जिण का कहता हूँ नाम,
ज्ञानी प्रथम भगवानदास, महिमा दरसाई थी ।

दोहा

कलियुग में सतयुग तणी, आप बजाई बहार ।
भूमंडल पर प्रगटिया, जैन धर्म सिरकार ।।
बड भाई संतोक चंद, दिक्षण सतारो शहेर ।
मुनिवर ठाणे तीन सूं, जल्दी कर्यो विहार ।।
प्रतिबोध देयके, दीधो संजम भार ।
उगणीसे पैंतालिसे, शहर सतारा ज्हार ।।
अहमदनगर धूलिया, बांबोरी सुखधाम ।
तीन चौमासा कर मुनी, आप पधार्या आम ।।
मरुधर और मेवाड में मालवदेश निवाड ।
खानदेश दक्षिण विषे, कियो धर्म पहाड ।।
संतोक मुनि सुर पुर गया, बावन में पीपाड़ ।
शिष्य तीन ज्या रे हुआ, शोभा जगत अपार ।।

सवैया

दयाचंद महाराज मुनि के, शिष्य भये जग दोय उजागर,
प्रथम नाम गणेश विसेस, पढ़े नित ग्रंथ सदा गुण सागर ।
भेरुंबगस बनित क़हु सब, रीत प्रतीत जिसो रतनागर,
या बिद को प्रताप जपे, मुनिराज सदा नित बुधि के आगर ।। 73 ।।

दोहा

सूधो संजम पालके, सार्यो आत्मा काज
दूजा मुनि भीमराजजी, तपसी जी महाराज ।।
थोडा दिन तपस्या करी, चढ्यों स्वर्ग सोपान ।
जोधाणे अवसान हुया, महामुनी गुणवान ।।
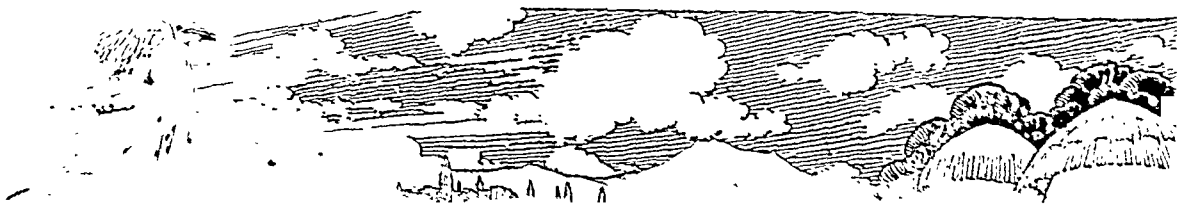
दूजा शिवदास, तीजा कनीराम कल्पवृक्ष,
चोथा हरचंद, जाकी छटा खूब छाई थी ।
मुनिजन मुकटेश, आदरमल्ल जे बुधवान,
कलियुग के माय, वाहर सत्य की बरताई थी ।। 66 ।।

दोहा

चेला मुनि भगवान के, सूरज मुनिवर नाम ।
कातिक सुद दशम लई, दीक्षा भानीराम ।। 66 ।।

छप्पय छन्द

भागरती भगवान, ज्ञानपद अविचल पामी,
ताके शिष्य मुनि सूरजमल्ल सो दीसत नामी ।
गुरुभाई को नाम, भवानीराम कहावै,
पिता नाम जसराज, जात लूंकड़ जस पावै ।
चंपाजी माता सहित, चोहिट गाम रसाल,
दीक्षा ली उगणीस सो, पांचा हुंदी साल ।। 67 ।।

मोतीदाम छन्द

सोजत गाम सदा सुखदाय, जठे मुनि जन्म लियो सुख पाय,
पिता को नाम आनंदरसाल, सोहे सुरतेश अति सुख माल,
जिणघर जन्म लियो किरपाल, कियो अति प्रेम बजायो है थाल
जिणकी कांकरिया कुल जात, उणी के रुखमादे जी है मात
दिये वर सूरज देवदयाल, जिणसूं नाम दिये सूरजमाल
हुये वर्ष आठ मांही सुरज्ञान, जठे मुनिदास आये भगवान
सुणायो है खंदकनो उपदेश, इणी घट होय वैराग प्रवेश
कहे कर जोड़ सुणो मुनिराय, मुझे वण दीक्षा का अति चाव
कहे मुनि हम सुणो मुझ स्वाल, हुये जिम सुख करो ततकाल
कहे वड मात इणी की हम, मुझे पण दीक्षा सु अति प्रेम
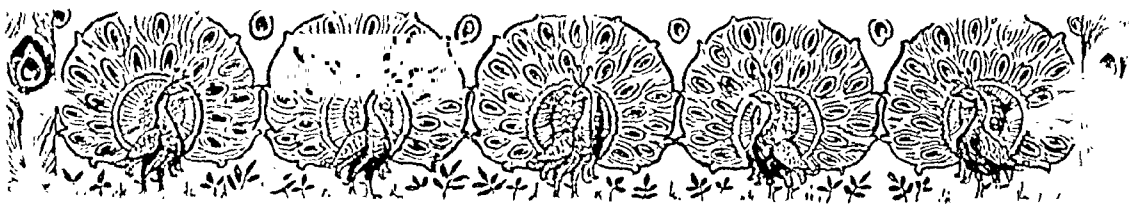
दोहा

दयाचन्द मुनिराज कै, छाजे पाट गणेश।
काव्यरस कंठा करे, कविता करे विसेस ॥ 79 ॥

हरखचंद हरखित भये, तीन शिष्य तसु नाम।
खोल कहुँ सुंणजो सहु, तीनों का ही नाम ॥ 80 ॥

वचन प्रसिद्ध दीपता परचा पूरण आज।
हरषचंद महाराजको, जाप जपो निजकाज ॥
गुण पूजीजो गोखडे, गिररी गांव मजार।
उगणीसे छत्तीसमे, किय संथारो सार ॥
कूचामनमें पोहर त्रय, वरियो अमर विमान।
दयामुनीश्वर गुणकर्या, पुर पीपाड प्रधान ॥
मुनिवर रा उपदेश सू, गिरि गांव का सेठ।
पत्नी सह संजम कियो, छोट धरी यह भेट ॥

छप्पय छन्द

शीतल जिसा समुद्र मुनी ममता सूं दूरा
रति नहीं अहंकार जैन मारग में सूरा
काम क्रोध मद लोभ मुनि शत्र अलगाडार्या
शोध चीज को सार, जैन मारग को धारया
हरख मुनिसर सारिखो, वचन सिद्ध सतवान
ताको शिष्य मुनि सेंसमल, जाको कहूँ वयान ॥ 81 ॥

सवैया

मोति ललाट, सुघाट वनयो हद, देखन थाट हियो हरखायो
परसन होय दई गुरु फूंकु, किये गुणवान हुओ मन चायो
सेस मुनीसर नाम दियो तिम, हर्ष मुनि को नाम दिपायो
क्षमावान घरे शुभ ध्यान, सरे मनवांछित काज सवायो ॥ 82 ॥
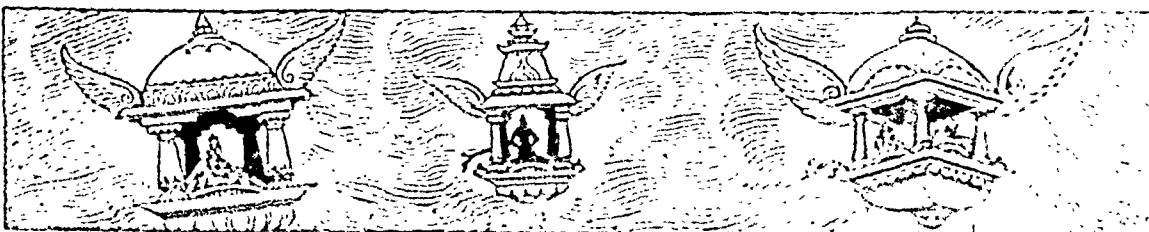
लई है दीक्षा दोनों साथ, पुत्र के साथ लई वड मात
अठारे संवत बाणवै जाण, महा सुदि एकादशि ने आण
पढियाहे सिद्धान्त अति मन चूंप, वड़ा गुणवान सरूप अनूप
गुरु की सेवा करे दिन रात, हुये परसिद्ध मुलक विख्यात ॥ 58 ॥

कवित्त

छोड़ के अधीरता गंभीरता हिये में धार
मेट्यो अज्ञान दाग खोय काल जाल ने
पद्मासन धार के विचारे सुख मजा मांह
टाल के बयालीस दोष लेवे शुद्ध आहर ने
जोगह की रीत सूं दिपायो मुनि जैन वैन
ज्ञान को पिछान राख्यो ध्यान को संभालने
रात में नदीन में परमात्मा का ध्यान जेम
मात्मा की तुला राखे आत्मा की चाल ने ॥ 59 ॥

दोहा

सूरजमुनि महाराज के, शिष्य कहावै तीन ।
जिन की सुणिये वार्ता, मुल्का में परवीन ॥ 60 ॥

छप्पय छन्द

छाईशाको शाल मुनि रींयां में आया
ओसवंश मुलतान माल सुत रूप सवाया
इण मुनिवर के पास आय कर दीक्षा धारी
मिगसर मई ने कृष्ण पक्ष तिथ पंचम जारी
मुणोत वंश चढ़ती कला ज्ञान ध्यान गुणवान
तास लघु मुनि राजमल जाको कहुँ बयान ॥ 61 ॥

दोहा

भीवराज तपसीघणो, महामुनि गुण खान ।
थोड़ा दिन तपस्या करी, चढ्यो स्वर्ग सोपान ॥ 88 ॥

तपधारी मगनेश है, तपसी मुनिवर जाण ।
जात पुरोहित थोभना, सहू को करे वखाण ॥ 84 ॥

महामुनी मगनेशजी, दीपायो जिनधर्म ।
इकराणु नागोर में, करियो तप शुभ कर्म ॥

ज्यांरे पाटे शोभता जाति प्रजापति सार ।
स्वामीनाथ रावतमल वारीवार हज़ार ॥

ज्ञानी ने ध्यानी घणा तपसी मोटा आप ।
कोड वखाण कविता तणो जपो जिनेश्वर जाप ॥

परतापे अति प्रेम सूं, कीनी जोड़ रसाल ।
हर्ष धरी भणजो सभी, होसे मंगल माल ॥ 85 ॥

कवित्त

परतख पीपाड़ पास रीया रंगभीनो शहर ।
सवती की मेरसेती, वस्ती गुलजार है ॥
विजयसिंह महाराज आय सेठ को कही थी ऐसी ।
कोड एक रुपियो हूँ की मेरे दरकार है ।
खोल के खजानो सेठ छकड़ा से छकड़ा जोड़ ।
छोटो-सो गाम कीनो मुल्क मांह जाहिर है ।
जिण ही को वासी मेरो नाम है प्रताप ॥
सेवक जात है हटील वंश जाणे नर नारी है ॥ 86 ॥

इति पट्टावली ग्रन्थ परिपूर्ण ।

★

ब्याह करने की क्या आवश्यकता थी ? वह रियाँवालों को क्या जवाब देगी ? वह लाछाँ को कैसे समझायेगी ? उसके दिल में साधुओं के प्रति गुस्सा बढ़ता ही जा रहा था ; मगर उसे विश्वास था कि दो-चार बातें करके वह जयमल को घर ले आने में सफल होगी !

गाड़ियाँ तेज़ी से मेड़ता की दूरी काटती जा रही थीं।

*   *   *

गाड़ियाँ मेड़ता पहुँचीं। मेड़तावालों को ख़बर हो गई कि लाँबिया के महेताजी पधारे हैं तो उन्होंने आकर उनका स्वागत किया और बड़े उल्लास से कुशल समाचार पूछे। इतने में रियाँ से भी गाड़ियाँ आ पहुँचीं। लाछाँदेवी भी साथ में थी ; वह उतर कर महिमादेवी के पास आकर पैरों में पड़ी। विनयदेवी ने उसे झुकते ही उठा कर बाहों में ले ली। दोनों की सिसकियाँ बंध गईं। वातावरण बहुत ही हृदय द्रावक हो गया।

सभी भारी मन के साथ स्थानक की ओर रवाना हो गये। स्थानक पहुँचते ही महिमादेवी का अभी तक का रोका हुआ वात्सल्य, क्रोध, दुःख, पूज्यश्री भूधरजी महाराज को देखकर उबल पडा। उसने गुस्से में कहा :—"तुम्हारा जाय सित्या नाश ! मेरे लाडले को बहका दिया।"

आचार्यश्री ने मधुर मुस्कान के साथ कहा :—"बाई ! सात का ही नाश क्यों कहती हो ? कर्म तो आठ होते हैं। आठ का नाश होने की आशिष दो।"

महिमादेवी ने कहा :—"मश्करी छोड़ो महाराज ! बताओ, मेरा जयमल कहाँ है ?"

आचार्यश्री ने कहा :—"बस, उसका इतना गुस्सा है ! यहीं पर है ; देखो, वह आ रहा है।"

जयमल आ रहा था। उसे देखकर आचार्यश्री ने कहा। महिमादेवी ने आगे बढ़कर जयमल का हाथ पकड़कर कहा :—"लाडले ! तुझे क्या हो गया है....? चल घर !"

"मुझे तो कुछ नहीं हुआ है; मैं तो मजे में हूँ।" जयमल ने कहा। उसने माता-पिता के चरण छुए। महेताजी आदि ने आचार्यश्री को वंदना की।

आचार्यश्री ने कहा :—"आपके पुत्र के भाव ऊँचे हैं; किन्तु मैंने कह दिया है कि बिना आज्ञा के हम दीक्षा नहीं दे सकते!"

यह कहकर आचार्यश्री अपने खण्ड की ओर गये और नित्य-क्रम में लग गये।

इधर महेताजी और अन्य परिवार के सज्जन जयमल को घेरकर बैठ गये और उन्हें समझाने लगे। महेताजी ने उसे सीधा ही कहा :—"पुत्र! घर चलो; हम सब तुझे लेने आये हैं!"

"पिताजी! मेरा घर यही है; धर्म-स्थानक ही अब मेरा घर है। यहाँ पर कितनी शांति है, कितना सुख है, कितना आनन्द है?" जयमल ने कहा।

"पुत्र यह तो धर्म स्थानक है; घर नहीं है। बिना घर के सुख, शांति और आनन्द कहाँ मिल सकते हैं। यहाँ पर कौन तेरा है? कौन तेरा ध्यान रखेगा?" महेताजी ने पूछा।

"मुझे तो यहीं शांति, आनन्द मिल रहे हैं। और मेरा ध्यान रखने के लिए तो जैसे मैं पहले अपने आप रखता था वही अब यहीं रखूँगा। पहले शारिरिक व सांसारिक बाबतों का ध्यान रखता था अब आत्मिक बाबतों का ध्यान रखूँगा।" जयमल ने कहा।

"यह तो बाद में भी हो सकता है। तूने अभी संसार में देखा ही क्या है? अभी तो तुझे गृहस्थ-धर्म का पालन करना है। अपने वंश की रक्षा करना है। राजकाज में भाग लेने का है। इसीलिये तो तुझे तैयार किया था!" महेताजी ने शांति से कहा।

"पिताजी! जीवन का कुछ भी भरोसा नहीं है। ये तो पूर्व जन्म के कर्म-फल का संयोग है जिससे हम मोह के कारण अपना मानते हैं। अब संसार में तो मुझे धर्म के

पूज्य श्री जयमलजी म. सा. के पाटानुगामी

आचार्य-परम्परा

नाम	आचार्यपद प्राप्ति-स्थान	वर्ष
1. पूज्यश्री जयमल्ल जी महाराज	जोधपुर	सं. 1805, अक्षय तृतीया
2. पूज्यश्री रायचन्द्र जी महाराज	नागोर	सं. 1853, जेठ सुदि 2
3. पूज्यश्री आशकरण जी महाराज	मेड़ता	सं. 1868, माघ सुदि 15
4. पूज्यश्री सबलदास जी महाराज	जोधपुर	सं. 1882, माघ सुदि 13
5. पूज्यश्री हीराचन्द्र जी महाराज	जोधपुर	सं. 1903, असाढ़ सुदि 6
6. पूज्यश्री कस्तूरचन्द्र जी महाराज	—	सं. 1920, फागुन सुदि 5
7. पूज्यश्री भीखमचन्द्र जी महाराज	जोधपुर	सं. 1960, भादव सुदि 15
8. पूज्यश्री कानमल जी महाराज	कुचेरा	सं. 1965, जेठ सुदि 12

शांतमूर्ति पू. स्वामी श्री चौथमलजी म. सा. के अनुगामी मुनिवृंद

जन्म-भूमि-दीक्षा

नाम	पिता का नाम	माता का नाम	जन्मभूमि	गुरु	दीक्षा संवत	दीक्षा धाम	वडी दीक्षा धाम
श्री चौथमजजी म. (स्वामीजी)	हरजी	कंवरादे	पिरोजपुरा	नथमलजी म.			
श्री चांदमलजी म.	जगमलजी	प्यारी बाई	पीपलिया	नथमलजी म.	1965 चै. सु. 15 गुरु,	रायपुर	झूंठा, मारवाड
श्री जीतमलजी म.	वचनमलजी	भीश्मी बाई	लूणसरा	नथामलजी म.	1978 मि. सु. 9 गुरु,	पीपाड़	रियाँ
श्री लालचंदजी म.	दौलतसिंहजी	मथुरा बाई	रायपुर	बख्तावरमलजी म.	1987 जे. तु. 9 गुरु,	तांदली (आकोला)	खामगांव महा.
श्री शुभचंदजी म.	दीपचंदजी	वीरजी बाई	रूपावास	चांदमलजी म.	2013 वै. व. 10 शनि,	हरसोलाव	जोधपुर (मा.)
श्री पारसमलजी म.	देवारामजी	नंदाबाई	सोजन	चांदमलजी म.	2018 जे. शु. 11 शनि	कटंगी	बालाघाट M.P.

पूज्य श्री जयमल्ल जी म. के वर्षावास

	संवत्			संवत्	
1.	1789	सोजत	28.	1816	जोधपुर
2.	1790	जालोर	29.	1817	बीकानेर
3.	1791	दिल्ली	30.	1818	जयपुर
4.	1792	मेड़ता	31.	1819	सोजत
5.	1793	जोधपुर	32.	1820	जोधपुर
6.	1794	नागौर	33.	1821	किशनगढ़
7.	1795	जोधपुर	34.	1822	नागौर
8.	1796	सोजत	35.	1823	बीकानर
9.	1797	जोधपुर	36.	1824	मेड़ता
10.	1798	मेड़ता	37.	1825	नागौर
11.	1799	किशनगढ़	38.	1826	जोधपुर
12.	1800	जयपुर	39.	1827	मेड़ता
13.	1801	जोधपुर	40.	1828	नागौर
14.	1802	मेड़ता	41.	1829	जोधपुर
15.	1803	सोजत	42.	1830	किशनगढ़
16.	1804	मेड़ता	43.	1831	शाहपुर
17.	1805	सोजत	44.	1832	सोजत
18.	1806	नागौर	45.	1833	पाली
19.	1807	मेड़ता	46.	1834	जोधपुर
20.	1808	बोड़ावड़	47.	1835	पीपाड़
21.	1809	जेतारण	48.	1836	जोधपुर
22.	1810	जोधपुर	49.	1837	पाली
23.	1811	पीपाड़	50.	1838	किशनगढ़
24.	1812	भीलवाड़ा	51.	1839	शाहपुर
25.	1813	उदयपुर	52.	1840	नागौर
26.	1814	अमर-रायपुर	53-65.	1841-53	नागौर (स्थिरवास)
27.	1815	किशनगढ़			

[संवत् 1853 वैशाख शुक्ला 14 को पूज्य जयमलजी म.सा. ने संथारा समाप्त किया तब तक तेरह वर्ष वे नागौर स्थविर वास रहे]

"हम कहाँ बाधक बन रहे हैं? हम तो इतना ही चाहते हैं कि तू अपना गृहस्थ-धर्म पाल ले, फिर जो मन में आये कर!" महेताजी ने कहा।

"पिताजी! कल की किसको ख़बर है? अरे, पल का भी भरोसा नहीं है; फिर यह संसार, यह कुटुम्ब सभी तो मोह-मिथ्या के ही रूप हैं! जो समर्थ नहीं होते, वे ही गृहस्थ-धर्म का आसरा लेते है; मेरी आत्मा जग चुकी है — मुझे आज्ञा देकर सच्चे पिता का कर्तव्य अदा करें!" जयमल ने हाथ जोड़ कर अनुनय किया।

उसके दोनों हाथ अपने हाथ में लेते हुए महेताजी ने कहा :—"मैं तो पिता का कर्तव्य अदा कर रहा हूँ! पुत्र! गृहस्थ-धर्म का पालन करके भी कितनों ने आत्मा का कल्याण किया है? आनन्द श्रावक को तो गृहस्थाश्रम में उतना ज्ञान हुआ था कि गौतम स्वामी को भी शंका हुई थी। मेरी तो इतनी इच्छा है कि तुम मेरा भार सम्हाल लो; मैं निवृत्त होकर धर्म-ध्यान कर सकूं और अपना घर सम्हालनेवाला मेरा पौत्र तैयार हो जाये तो तुम भी धर्म-मार्ग पर आगे बढ़ो!"

"पिताजी! संसार के दल-दल से मैं बाहर निकला हूँ; आप पुनः उसमें जाने को कैसे कहते हैं? और रही पुत्र-कलत्र की बात! सो यहाँ किसके यहाँ सदा ऐसा क्रम रहा है कि बाप की मृत्यु के बाद ही बेटा मरे! कई पुत्रों को बाप के पहले मरते देखा है; कई लड़के कपूत बनकर बाप की की कराई श्री-सम्पत्ति, कीर्ति मिट्टी में मिलाते हैं!" जयमल बोला।

"यह तो मैं जानता हूँ, पुत्र! किन्तु तुम तो सपूत हो। तुम जैसों पर ही माँ-बाप आश लगाते हैं; और तुम हमें छोड़ के जाओ, रुलाते जाओ — यह तो सुपुत्र का कार्य नहीं है!"

महेताजी का हृदय भर आया। उनके आसपास बैठे सभी का दिल दुःख से भर गया था। महिमादेवी की तो सिसकियाँ बँध गई थीं। विनयदेवी और लाछाँ का तो और ही हाल था।

पू. श्री जयमल जी महाराज की वंश-परम्परा

1. पूज्य श्री जयमल जी महाराज के 49 शिष्य हुए। किन्तु प्राचीन हस्तलिखित पत्रों के तितर-बितर हो जाने के कारण पूर्ण नामावली प्रस्तुत नहीं की जा सकती। कुछ नाम निम्न-लिखित हैं।

(1) श्री गोरधनजी स्वामी, (2) श्री गजो जी स्वामी, (3) श्री नरसिंहजी स्वामी, (4) श्री अजयपालजी स्वामी, (5) श्री वृजपालजी स्वामी, (6) श्री अमीचन्दजी स्वामी, (7) श्री गोविन्द जी स्वामी, (8) श्री अमरसीजी स्वामी, (9) श्री पृथ्वीचन्दजी स्वामी, (10) श्री वीरमाणजी स्वामी, (11) श्री नेणसीजी स्वामी, (12) श्री उदयजी स्वामी, (13) श्री केशवजी स्वामी, (14) श्री केशवजी स्वामी, (15) श्री टोकरसीजी स्वामी, (16) श्री रुपचन्दजी स्वामी, (17) श्री मुकनमलजी स्वामी, (18) श्री मोणजी स्वामी, (19) श्री विरदमाणजी स्वामी............

2. पूज्य श्री रायचन्दजी महाराज के शिष्य—
(1) श्री आशकरण जी स्वामी के दस शिष्य, (2) श्री दीपचन्द जी स्वामी के एक शिष्य श्री जसरूपजी स्वामी, (3) श्री गुमानचन्दजी स्वामी के एक शिष्य—श्री सतीदासजी, (4) श्री कुशालचन्द जी स्वामी के छह शिष्य, (5) श्री धनरूप जी स्वामी के एक शिष्य।

3. पूज्य श्री आशकरण जी महाराज के शिष्य—
(1) श्री सबलदासजी, (2) श्री हीराचन्दजी, (3) श्री ताराचन्दजी, (4) श्री कपूरचन्दजी (5) श्री बुधमलजी, (6) श्री नगराजजी, (7) श्री सूरत-रामजी, (8) श्री शिववगसजी, (9) श्री वच्छराजजी, (10) श्री टीकमचन्दजी।

स्वामीजी श्री कुशालचन्द जी स्वामी के शिष्य—
(1) श्री भगवानदासजी, (2) श्री कनीरामजी, (3) श्री हर्षचन्दजी, (4) श्री शिवदासजी, (5) श्री मुकनदासजी, (6)

P. 7

महेताजी बोले :—" यह तो मैं जानता हूँ कि तू किसी भी बात के लिये समर्थ हो सकेगा; किन्तु हमारा क्या होगा? मेरे बुढ़ापे का सारा आधार तो मैंने तुझ पर ही रखा था। समर्थ पुत्र क्या, पिता-माता को ऐसी असहाय हालत में छोड़कर जाते हैं? तू इतना स्वार्थी तो न बन कि अपने आत्म-कल्याण के नाम पर हमारी सेवा से दूर हो जाये।"

जयमल ने कहा :—" पिताजी! आपकी सेवा तो भाई साहब, भोजाईजी, माताजी और लाछाँ भी करेगी। मेरे रहने, न रहने से कोई अन्तर नहीं पड़ेगा! आप ऐसा न कहें। मैं आपकी भौतिक सेवा से वंचित सही, पर मेरी ज्ञानात्मा जागी है और उसके विकास से जैन शासन की सेवा मैं कर सकूँगा। आप को तो मेरे होने, न होने से विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा!"

महेताजी ने कहा :—" बेटा! तुझे क्या मालूम? मेरे तो तुम और रिडमल दो नैनों के तारे से हो! एक नैन चला गया तो मेरी क्या शोभा रहेगी?"

" मेरे दीक्षा लेने से आपकी शोभा बढ़ जायेगी, आपकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी....! सेठ सुदर्शन की कितनी प्रतिष्ठा हुई थी? आप ही कहें! क्या, आत्म-कल्याण करना मानव-जन्म का कर्तव्य नहीं है? मैंने तय कर लिया है कि मैं तो दीक्षा ही लूँगा....!" जयमल ने दृढ़ता से कहा।

महेताजी ने उसके बदन पर जो दृढ़ता देखी तो वे कुछ न कह सके; सिवा कि :—" ठीक है, तुझे हम सब को दुःखी करके जाना है तो, जैसा तेरे मन में आये वैसा कर....!"

महेताजी को ढीला होते देख महिमादेवी आगे आई। उसने जयमल का हाथ पकड़ कर पास खींचते हुए कहा :—" कैसे करेगा मन-मानी? जयमल ये ढोंग छोड़ और चल घर को!"

" माँ! ये ढोंग नहीं है, सत्य है! मैं तो संयम लेनेवाला हूँ....!" जयमल ने कहा।

श्री धनरूप जी महाराज के शिष्य—

(1) श्री मनरूपजी
|
श्री हीराचन्दजी
|
श्री सोभाचन्दजी
- श्री चौथमलजी
  |
  श्री मूलमुनिजी
- श्री नरसिंहजी

4. पूज्य श्री सबलदासजी महाराज के शिष्य—
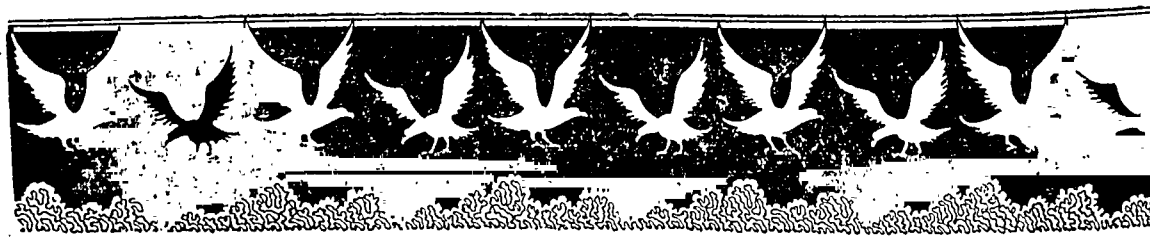
(1) श्री विरदीचन्दजी, (2) श्री पिरथीचन्दजी, (3) श्री करमचन्दजी
(4) श्री हिम्मतमलजी ।

श्री विरदीचन्दजी
|
श्री रामचन्दजी
|
श्री प्रश्नचन्दजी
- श्री मूलराजजी,
- श्री लक्ष्मणजी,
- श्री उत्तमचन्दजी,
- श्री मंगलचन्दजी
  |
  श्रीरतनमुनिजी

5. पूज्य श्री हीराचन्दजी महाराज के शिष्य—

(1) श्री कस्तूरचन्दजी, (2) श्री किशनाजी, (3) श्री कल्याणजी
(4) श्री कीरतमलजी ।

6. पूज्य श्री कस्तूरचन्द जी महाराज के शिष्य—

(1) श्री परतापमलजी के तीन शिष्य, (2) श्री मूलचन्दजी के दो शिष्य,
(3) श्री भीखमचन्दजी के दो शिष्य, (4) श्री सोवनराजजी के कोई नहीं ।

श्री परतापमल जी महाराज के शिष्य—

(1) श्री रुघलालजी, (2) श्री परमसुखजी (3) श्री गणेशमलजी ।

श्री मूलचन्द जी महाराज के शिष्य—

(1) श्री चान्दमलजी, (2) श्री घनराजजी ।

7. पूज्य श्री भीखमचन्द जी महाराज के शिष्य—

(1) श्री मनसुखजी, (2) पू. श्री कानमलजी,

श्री नगराज जी महाराज के शिष्य मुनि चैनमलजी

श्री नगराज जी के शिष्य—

(1) श्री पीरचन्दजी स्वामी, (2) श्री विनयमलजी के शिष्य श्री चन्दनमलजी, (3) श्री ताराचन्दजी महाराज के शिष्य श्री पूनमचन्दजी स्वामी, (4) श्री चुन्नीलालजी महाराज के शिष्य श्री बुधमलजी स्वामी के शिष्य नही (5) श्री बुधमलजी स्वामी के शिष्य, श्री फकीरचन्दजी, श्री फकीरचंदजी महाराज के 12 शिष्य हुए।

श्री फकीरचन्द जी महाराज के शिष्य—

(1) श्री तपस्वी सीरेमलजी, (2) श्रीनारायणदासजी, (3) श्री मूलचन्दजी, (4) श्री दौलतरामजी, (5) श्री शिवचन्दजी।

श्री शिवलाल जी महाराज के शिष्य—

(1) श्री जोरावरमलजी के तीन शिष्य, (2) श्री हजारीमलजी, श्री वृजलालजी, और श्री मिश्रीमलजी, श्री हजारीमलजी के शिष्य मुनि श्रीमांगीलालजी।

श्री कुशालचन्द जी महाराज के शिष्य—

(1) श्री भगवानदासजी, (2) श्री कनीरामजी, (3) श्री हरकचन्दजी, (4) श्री शिवदासजी, (5) श्री मुकनदासजी, (6) श्री बदरीदासजी।

श्री भगवानदासजी महाराज के शिष्य—

(1) श्री सूर्यमलजी, (2) श्री भानिराम जी।

श्री राजमल जी — श्री नथमल जी

श्री राजमल जी: श्री बख्तावरमलजी, — श्री लालचन्द जी,

श्री नथमल जी: श्री चौथमलजी, श्री चांदमलजी, श्री रूपचन्दजी, श्री जीतमलजी
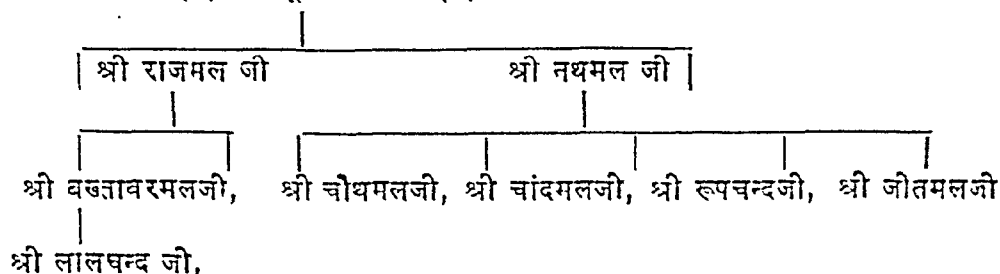
श्री चान्दमल जी महाराज के शिष्य—

(1) श्री शुभचन्द जी (2) श्री पारसमल जी

महिमादेवी की सिसकियाँ बँध गईं....वातावरण करुण हो गया। लोग नहीं समझ रहे थे कि क्या किया जाये? जयमल सभी बातों का विनय, अनुनय और प्रेम से जवाब दे रहा था। उस पर ऐसा किरमची रंग चढ़ा था कि दूसरा रंग लगता ही नहीं था। एक ओर सब को मन में होता था कि एक ही बार में इतना वैराग्य हो सकता है....? तो दूसरी ओर सब जयमल का दृढ़ रंग देखकर आश्चर्य करते थे।

माताजी की बात का कुछ प्रभाव न पड़ते देख रिडमलजी आगे आये। महिमादेवी और महेताजी तो दुःख से नत मस्तक होकर अब क्या करना चाहिये इसी विचार में दुःखी थे।

रिडमलजी को जयमल के पास जाते देख औरों ने जगह कर दी; उनके साथ उनके और भी मित्रगण आगे आये। रिडमलजी ने बड़े प्यार से कहा :—"जय! तुझे क्या हो गया है? तू तो हमारे घर में सब के मन का ध्यान रखनेवाला था। अब सभी का मन दुखाकर जा रहा है!"

"भाई साहब! मेरे आत्म कल्याण के मार्ग पर जाने के निश्चय से किसी को दुःख नहीं होना चाहिये। कष्टों के मार्ग पर तो मैं जा रहा हूँ। उस पर बढ़ने के लिये आप सब की आज्ञा और शुभाशिषों का बल रहा तो मै स्थिर रूप से बढ़ सकूँगा!" जयमल ने कहा।

"जरा अपनी दुकान का तो विचार कर। तू ही जानता है कि इस दुकान का पूरा व्यापार और खरीदी आदि की जानकारी तुझे ही है; मैं अकेला कैसे उससे निपट सकूँगा? पिताजी को तो राज-काज से अवकाश ही नहीं है!" रिडमलजी बोले।

इसी बीच महिमादेवी ने बीच में तपाक् कर कहा :—"मैं तो रिडमल से "ना" कहती रही। लो, यह व्यापार हो गया — लड़का ही हाथ से जा रहा है!"
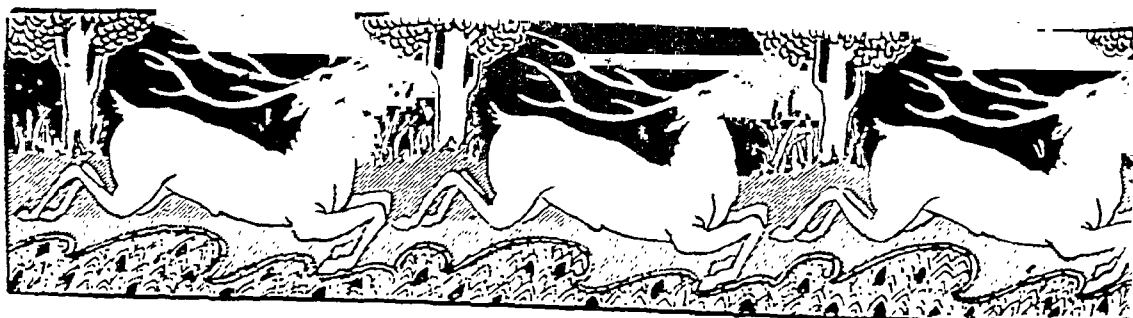
स्वामी श्री कनीरामजी के शिष्य—
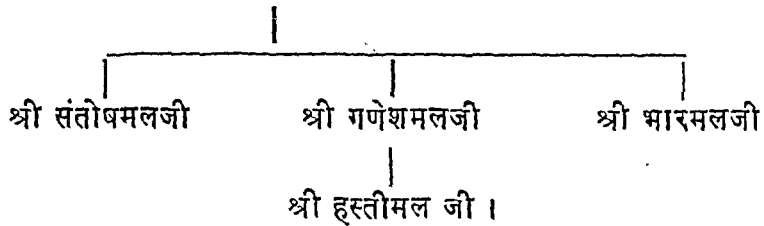
श्री हर्षचन्दजी महाराज के शिष्य—

(1) श्री सहस्रमलजी, (2) श्री भीमराजजी, (3) श्री मगनमलजी, (4) श्री छोटमलजी।

श्री मगनमलजी
|
श्री रावतमलजी महाराज
|
मुनि भैंरोमलजी

"देख जय! मैं और अधिक समय नहीं चाहता हूँ। पिताजी, माताजी का कहना कुछ लम्बा होगा; मगर मेरा कहना मान ले। महावीर स्वामी ने भी बड़े भाई की बात मान ली थी। दो वर्ष हमारे साथ रह जा और सब का मन राज़ी हो जायेगा!"

"भाई साहब, मैं महावीर प्रभु की तुलना में कहाँ से आ सकता हूँ? वे तो तीर्थंकर थे; तीन ज्ञान के धारक थे। मैं तो पामर हूँ; न जाने कितने भव के बाद आज मुझे आत्म जागृति हुई है? आप बड़े हैं, समर्थ हैं! व्यापार आदि में आप जानकार हैं, विनयवान हैं। आप भी पिताजी, माताजी को समझाइये और मुझे आज्ञा दिलवाइये!" जयमल ने उनसे कहा।

रिडमलजी और कुछ नहीं बोल सके।

विनयदेवी से नहीं रहा गया। उसने आगे बढ़कर ज़रा ऊँचे स्वर से कहा :— "देवरजी! हम सब पर तुम जुल्म कर रहे हो; मगर यह छः मास की व्याहिता अपनी स्त्री का तो ख्याल करो। वह कैसे दिन काटेगी? तुम ने तो मन कड़ा कर लिया; मगर उसको किसके सहारे छोड़कर जाओगे? बिचारी झूर-झूर कर मर जायेगी। जगत पर दया करने चले हो, तो पहले इसकी तो दया लाओ!"

उसकी बात सुनकर रियाँवालों में से कोई बोला :—"यदि छः मास में जोग लेना था, तो फिर व्याह रचाने की क्या आवश्यकता थी?"

जयमल कुछ नहीं बोले।

रियाँवालों में से दूसरे सज्जन और भी ज़ोर से बोले :—"हम तो न्याय करायेंगे? राज्य में कहकर यह दीक्षा रुकवायेंगे। ऐसा ही हर जगह चलता रहा तो व्यवहार चल चुका!"

विनयदेवी ने कहा :—"देवरजी! तुम तो कभी कठोर नहीं थे; फिर ऐसा कड़ा दिल क्यों कर लिया? अपनी व्याहिता पर तो दया करो।"
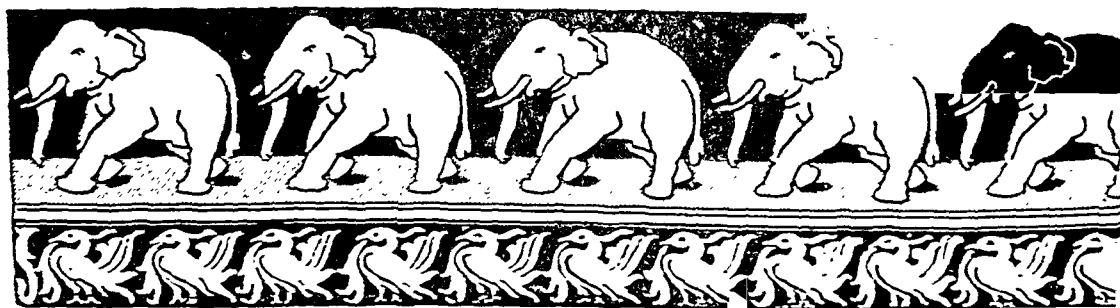
आदि मित्र-गण भी जयमल को अलग-अलग तरीकों से समझाते रहे। आशकरण ने तो हँसते-हँसते कह दिया :—"तुमने तो अच्छी दोस्ती निभाई; सब को छोड़ कर जा रहे हो!"

"मैं तो तुम सबको भी साथ चलने को कह रहा हूँ।"

"घर-घर भीख माँगने....!"

"नहीं....शिवपुर का सच्चा सुख प्राप्त करने! तुम्हीं लोग तो दीक्षा की बड़ी प्रशंसा करते थे; अब उसे भीख कैसे कहते हो? जो हट्टे-कट्टे होकर भीख माँगते हैं वे तो अपने पौरुषत्व का हनन करते हैं; उनकी भीख पौरुषघ्नी है! कुछेक को कोई नौकरी, व्यापार नहीं मिलता, अतः भीख से आजीविका चलाते हैं; वे आजीविकी भिखारी हैं। लेकिन यह तो सर्व संपद्करी भिक्षा है। यह भिक्षा देने लोग तरसते हैं; उससे अपना कल्याण होगा, ऐसा मानते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि वे उसके पात्र में थोडा सा ही डाल सकते हैं जिसे निर्ग्रंथ-साधु कहते हैं। और साधुजी घर-घर जाकर किसी एक को बोझ न बने वैसी माधुकरी लाते हैं। यह तो अनेक घरों से मिला भाव भरा प्रासाद है। जिसके प्रत्येक कवल में आत्मीयता प्रगट होती है जो साधु को छ काय के पीहर बनाने के लिये प्रेरित करता है।"

आचार्य सम्राट अमर सूरि	श्री पुष्कर मुनि
तेरापंथ और जैन शास्त्र	,,
जैनधर्म अने तेरापंथ (गुजराती)	
समकित सार	मुनि जेठमलजी
सिद्धांत सार	
अनुकंपा विचार	आचार्य जवाहरलालजी
सद्धर्म मंडनम्	,,
निन्हव वाद	मुनि धुरंधर विजयजी
भ्रमविध्वंसनम्	जयाचार्य (तेरापंथ)
आबाल वृद्ध हितशिक्षा	
प्रश्नोत्तर सार्ध शतकम्	
श्वेतांबर तेरह पंथ	पं. शंकरप्रसाद दीक्षित
सुपात्र-कुपात्र चर्चा	आचार्य गणेशीलालजी
क्या शांति देने में भी पाप हो सकता है	,,
चुरु चर्चा	,,
कलियुगकी देन	,,
भगवान बुद्ध 2500—वर्ष (विशेषांक)	(भारत सरकार)
प्राचीन भारत वर्ष भाग 1, 2, 3, 4 (गुजराती)	त्रिभुवनदास लहेरचन्द शाह
राजस्थान का इतिहास भाग 1-2	कर्नल टॉड
जोधपुर राज्य का इतिहास	गौरीशंकर ओझा
बीकानेर राज्य का इतिहास	,,
राजपुताने के जैन वीर	
ओसवाल जाति का इतिहास	
भारत वर्ष का इतिहास	
मुगल साम्राज्य का इतिहास	
मारवाडी गौरव	
मराठा जाति का उत्थान और पतन	
जैन सूत्रो इतिहास अने समीक्षा भाग 1, 2, 3 (गुजराती)	नगीनदास शेठ
दशवैकालिक सूत्र	
उत्तराध्ययन सूत्र	
नंदी सूत्र	
आचारांग सूत्र	
आचारांग सूत्र (निर्युक्ति)	
यगडांग सत्र	

थे एक बार लाँछिया वापस ले जाने में सफल हो जायें तो फिर कुछ हो सकता है। काफी देर तक चर्चा चलती रही। फिर सब इस निर्णय पर आये कि वर्तमान में तो उन्हें आज्ञा दे देनी चाहिये। अभी फौरन ही दीक्षा कहाँ आयेगी?

महेताजी ने जयमल के पास आकर कहा :—"पुत्र! जब तुमने संकल्प कर लिया है तो संयम की तैयारी करो और कुल को दीपाओ!"

जयमल के वदन पर आनन्द छा गया।

मगर सभी ने उसी समय सुना :—"मेरा क्या होगा? मुझे क्या आज्ञा है?" लोगों ने देखा कि बड़ी हिम्मत कर, लोगों की मर्यादा छोड़ कर लाछाँदेवी पूछ रही थी। सब विचार में पड़ गये। कुछेक सोचने लगे, अब व्याहिता को जयमल क्या जवाब देगा?

लाछाँदेवी ने कहा :—"स्वामी! आप ने ही कहा था कि अपना भव-भव का साथ है, आप मुझे छोड़कर कहीं नहीं जायेंगे! और अब कहाँ जा रहे हैं?"

"देवी! मैं भटक रहा था; मुझे आज एक सद्गुरू मिल गये हैं। वासना और विषय-कषाय में भटकने से उन्होंने मुझे उबारा है; मैं उनके साथ जा रहा हूँ।" जयमल ने कहा।

"ऐसा ही करना था तो छ मास पूर्व मेरा हाथ क्यों पकड़ा था? अब मुझे अनाथ करके कहाँ जा रहे हैं?" लाछाँ ने पूछा।

"देवी! इस संसार में सब अनाथ हैं; कोई किसी का नाथ नहीं है! आज के पूर्व मैं मूढ़मति था; आज मुझे सच्चा ज्ञान मिला है। जन्म, जरा, मरण के दुःख में कोई किसी का सहारा नहीं है। सच्चा नाथ तो तेरी आत्मा ही है; बाकी सभी व्यर्थ हैं। एक धर्म का शरण ही सच्चा है; बाकी किसी का शरण सत्य नहीं है!" जयमल बोले।
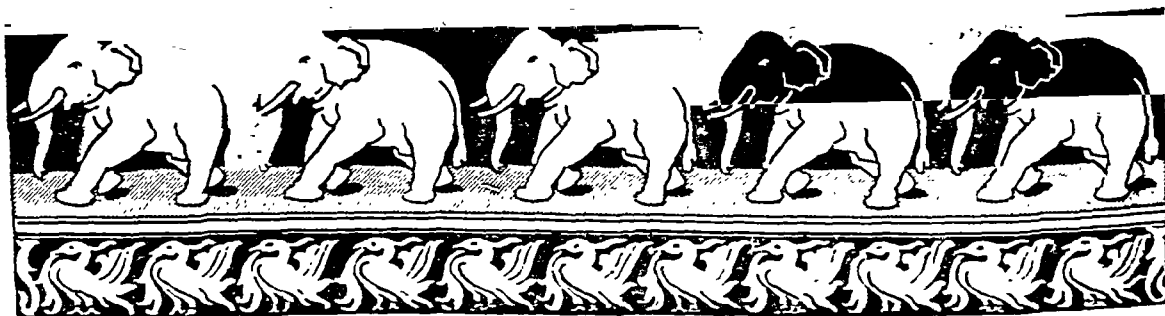
स्थानांग सूत्र	
समवायांग सूत्र	
भगवती सूत्र	
भगवती सूत्र (आराधना)	
निरियावलिका पंचक सूत्र	
उपासक दशांग सूत्र	
अनुयोगद्वार सूत्र	
अंतगड़ सूत्र	
आवश्यक सूत्र	
ज्ञाताधर्म कथा सूत्र	
रायपसेणीय सूत्र	
मंगल चतुष्क	पं. मुनि जीतमलजी
भारतीय संस्कृति का मूल रूप	पं. इन्द्रचंद्र शास्त्री
जैन सज्झाय संग्रह भा. 1, 2, 3, 4 (गुजराती)	
विविध सज्झाय माला	
षडखंडागम	पं. हीरालाल शास्त्री
गोम्मटसार-जीवकांड	आचार्य नेमिचंदजी
गोम्मटसार-कर्मकांड	"
द्रव्यसंगह	"
समयसार	आचार्य कुंदकुंद
प्रवचन सार	"
मोक्ष पाहुड	"
पंचास्तिकाय	"
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय	आचार्य अमृतचंद
अष्ट प्रकरण	आचार्य हरिभद्र सूरि
जैनसिद्धांत बोल संग्रह भाग-1 से 8	(सेठिया जैन लायब्रेरी)
प्रवचन सारोद्धार	
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला (गुजराती)	
मोक्षमार्ग प्रकाश	पं. टोडरमलजी
कर्म प्रकृति ग्रंथ	श्रीमद् देवेन्द्र सूरिजी
जैनतत्व प्रकाश	श्री अमोलख ऋषि
जैन दर्शन	डॉ. मोहनलाल महेता
जैन धर्म	पं. मुनि सुशीलकुमारजी
नवतत्वों का स्वरूप	श्री घेवरचंद-वीरपुत्र
अहिंसा तत्त्वदर्शन	उपाध्याय अमरमुनिजी
अहिंसा-विवेक	मुनि नगराजजी
अध्यातम तत्त्वावलोक	मुनि न्याय विजयजी

"नाथ, फिर विचार करो....! जल्दी से कोई निर्णय नहीं करते!"

"मैंने जल्दी नहीं की है; आज ज्ञान के जागरण में ही मेरा पूरा दिवस बीता है और मैंने पक्का निर्णय कर लिया है।

"सभी संयम लेते हैं; संसार सुख भोग कर ही। धना शालिभद्र को ले लेवें। जिस सुदर्शन सेठ की बात से वैरागी हुए हो उसकी तो पाँच-पाँच संतानें थीं। वे भी संसार-सुख भोग कर ही दीक्षित हुए थे; बिना तृप्ति के दीक्षा लेने से आगे पछताना पड़ता है!" लाछाँ ने कहा।

"जिसका आत्मा जब जागृत होता है तभी उसे संयम में जुट जाना चाहिये। जम्बूस्वामी ने लग्न की पहली रात आठों स्त्रियों को भी त्याग का बोध कराया और वे सब साथ दीक्षा लेने चले!"

"तो....स्वामी, मैं भी आपके साथ चलूँगी!" लाछाँदेवी ने कहा। उसने महेताजी की ओर देखकर कहा :—"पिता तुल्य श्वसुरजी! मुझे भी आज्ञा दे दें! मैं अपने पिया की जोगण हूँ; वैरागी बनडे की वैरागन बनकर संयम ले लूँगी!"

उसकी बात सुनकर सब विचार में पड़ गये।

महेताजी ने तब शांत भाव से कहा :—"बहू! एक तो जयमल जा रहा है, उसका घाव है। तू भी जायेगी; मेरे जले पर नमक छिड़केगी? जयमल तो तन-मन का पक्का है; वह तो सब को छोड़ रहा है—किन्तु तुम तो उसके पीछे-पीछे जा रही हो? कैसे संयम पालोगी? कैसे तप करोगी? यह तो बचपन की नादानी है!"

"पिताजी! जिसका पति दीक्षा ले उस सौभाग्यवती का श्रृङ्गार तो यही है कि पति के पीछे दीक्षा ले! मैं तो संयम लूँगी—पतिव्रता तो पति के पीछे प्राण रखनेवाली होती है; आप आज्ञा दें!"

जय - बैरागी बनडो

वातावरण शांत हो गया था। महेताजी और रिडमल एवं मेड़ता में उपस्थित सभी समझ चुके थे कि जयमल अभी किसी के रोकने से रुकनेवाला नहीं था। अत: यही उत्तम था कि उसे सहर्ष आज्ञा दे दी जाये।

महेताजी, रियाँवालों को एक ओर ले गये। उन्होंने बहुत ही अनुनय के साथ कहा :—"अब क्या करें? आप देख ही रहे हैं कि उस पर नया रंग ही चढ़ चुका है। किंतु आज्ञा कैसे दें?"

रिडमल आदि की राय हुई कि एक दिन का समय दिया जाय; मगर जयमल ने कहा :—"आप चाहें उतने दिन देख सकते हैं। मेरा तो निश्चय अटल है; इसलिये आप स्वयं चलकर गुरु महाराज को अपनी स्वीकृति दे ही देवें।"

अंत में सभी ने सलाह - विचार करके उन्हें संमति देने की स्वीकृति दी। वे सभी जयमल के साथ उठकर आचार्यश्री विराजमान थे उस कक्ष में गये। सभी वंदना करके बैठ गये।

जयमल ने वंदना करके हाथ जोड़ कर निवेदन किया :—"पूज्य गुरुदेव! सब ने स्वीकृति दे दी है। आप मुझे अपनी शरण में लेवें और भगवती दीक्षा देने की कृपा करें!"

सिवाय कोई सार नहीं दिखता है। आपका पुत्र तो बहुत बड़े साम्राज्य पर विजय पाने जा रहा है। वह है धर्म का!" जयमल ने उत्तर दिया।

"कुछ तो ख्याल कर; मैं बूढ़ा हो चला हूँ। बूढ़े माँ - बाप यही तो आशा करते हैं कि पुत्र उनकी सेवा करे! तू मेरा तो ख्याल कर!" महेताजी ने कहा।

"आप तो कितने अनुभवी हैं? संसार के व्यवहार को आप कितनी भली - भांति चलाते हैं। आपको मेरी सहायता नहीं चाहिये। हाँ, मुझे आपकी सहायता चाहिये। आप मुझे उत्साह देवें कि मैं जिस मार्ग पर जा रहा हूँ उस पर दृढ़ रह सकूँ।" जयमल बोले।

"उस पर दृढ़ होने के पहले तो संसार का पूरा अनुभव चाहिये! जो लोग अधूरी वासनाओं के साथ दीक्षा लेते हैं, वे आगे जाकर गिर जाते हैं। तू घर चल.... तेरी माता, तेरी पत्नी, तेरे भाई, भोजाई, तेरे इष्ट - मित्र, हम सभी तुझे चाहते हैं। इन सब के प्रेम को ठुकरा कर, तुझे कैसे सुख मिलेगा?" महेताजी ने पूछा।

"पिताजी! ये सारे मोह के कारण हैं। मैं इन सब को ठुकरा कर नहीं जा रहा हूँ; इन सब के साथ, सारे संसार के आत्माओं से प्रेम करने जा रहा हूँ। जो अपना संसार का संबंध है, वह क्षणिक है, मैं तो आत्मा का स्थायी संबंध बाँधने जा रहा हूँ।" जयमल ने कहा।

"तेरी ये माताजी हैं, जरा इन्हें तो देख! जयमल.... जयमल.... कहते इनका कंठ सूख रहा है! रिंडमल और उसकी बहू भी कितने तरस रहे हैं! और लक्ष्मी सी अपनी पत्नी का तो विचार कर?" महेताजी बोले!

"पिताजी! आत्म - कल्याण करने के लिये मैं जा रहा हूँ! आप सभी मेरे संबंधी हैं तो आपको मेरे इस साधक - मार्ग में सहायक बनना चाहिये; बाधक तो नहीं!" जयमल ने प्रश्न किया।
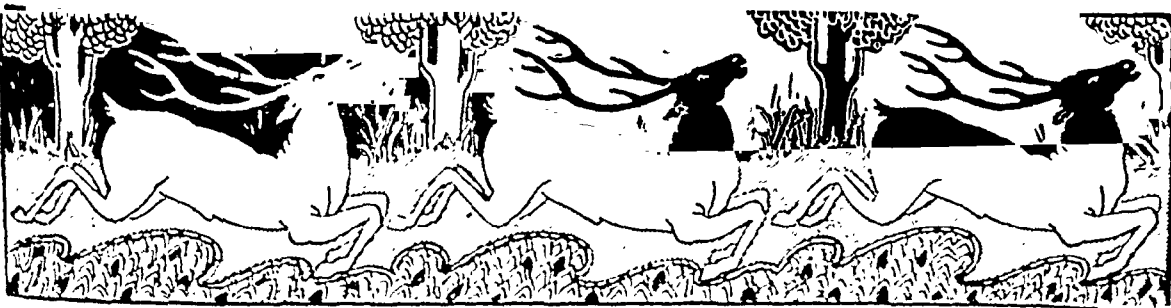
जयमल ने कहा :—"प्रतिक्रमण बड़ा है ? कितने दिन में सीख सकते हैं ?"

आचार्यश्री ने कहा :—"वैसे तो दो घड़ी में बुलाया जाता है; मगर सामान्य लगन से पढ़े तो भी समय तो लगता ही है।"

"आप मुझे सिखाइये !" जयमल बोले।

"अभी तो सायंकाल हो चला है; रात्रि होनेवाली है। रात को नहीं पढ़ाया जाता; प्रातःकाल अवसर होगा वैसा होगा।" आचार्यश्री ने कहा।

जयमल कुछ निराश तो हुए; किन्तु उन्होंने गुरुदेव को वन्दना की।

रात बीत गई। सारी रात भर उसका मंथन चलता रहा। उनका मन एक ही प्रकार करता था — संयम की। प्रातः होते ही गुरुदेव के पास पहुँच कर वन्दना करके बैठ गये और बोले : "भगवन् ! अब सिखाइये।"

आचार्यश्री ने उत्साह देखकर नवकार मन्त्र का पाठ कहा। थोड़ी देर में जयमल ने कण्ठस्थ करके आचार्यश्री को सुना दिया; फिर उन्होंने "इरिया वहियं" का पाठ कहा। जयमल ने उसे भी तत्क्षण सुना दिया।

आसपास बैठे हुए लोग उनकी बुद्धि देखकर आश्चर्य व्यक्त करने लगे। इतने में जयमल ने खड़े होकर कहा :—"कृपया जब तक प्रतिक्रमण नहीं याद कर लूँ तब तक मुझे खड़े रहने का पच्चक्खाण देवें !"

आचार्यश्री ने पहली बार कुछ आश्चर्य किया; मगर जयमल के चेहरे पर दृढ़-संकल्प देखकर उसे पढ़ाना शुरू किया। शिष्य की इतनी तीव्र लगन देखकर पूज्यश्री अन्य संतों को प्रतिलेखना आदि कार्यों में संलग्न कर जयमल को पाठ सिखाने बैठ गये। वे धीमे-धीमे शब्दोच्चार करते गये और जयमल वैसा ही उच्चारण करते गये। अन्त में पूरा का पूरा पाठ बिना अशुद्धि के सुना दिया।

आचार्यश्री जयमल की असाधारण ग्राह्य बुद्धि एवं धारणा-शक्ति से बहुत ही प्रभावित हुए। बराबर एक प्रहर बीता और जयमल ने पूरा पडिक्कमण-सूत्र कण्ठस्थ कर लिया।

महेताजी ने पुनः उसका हाथ थाम कर कहा :—"पुत्र, इतने कठोर न बनो! देखो, तुम्हारे भाई, भोजाई, मित्र सभी के दिल दुःख से भर गये हैं। तुम्हारी बहू की आँखें रो-रोकर लाल हो गई हैं। तुम्हारी माताजी बिलख रही हैं; जरा तो ख्याल करो....!"

जयमल बोले :—"पिताजी, उन्हें रोना नहीं चाहिये! कोई खराब कार्य करता हो तो पश्चाताप होना चाहिये; मैं तो संयम ले रहा हूँ, दीक्षा ले रहा हूँ....! अपने यहाँ तो जो दीक्षा लेने तैयार होता है, उसे कितनी धूम-धाम से, ब्याह से भी अधिक ठाठ-माठ से तैयार किया जाता है? श्रीकृष्ण ने अपने सभी पुत्रों को दीक्षा लेने के लिये कैसा प्रोत्साहन दिया था? राजा श्रेणिक ने भी अपने कुमारों को कितने उमंगों से दीक्षा दिलाई थीं? आप भी मुझे आज्ञा देवें।"

"जयमल! तुझे मालूम नहीं है; यह दीक्षा कोई सरल कार्य नहीं है! इसे पालना बड़ा ही कठिन है। हाथों से लोच करना, नंगे पैर पैदल चलना, घर-घर जाकर भिक्षा माँगना — मेरे बेटे ये सभी कार्य तूने कहाँ किये हैं और कैसे होंगे?" महेताजी ने भरे हुए स्वर में कहा।

"आप के आशिष होंगे, गुरुजी की छत्र छाया रहेगी तो मैं उसके योग्य बन जाऊँगा! तन के बनाव-सिंगार में क्या रखा है; आत्मा का सच्चा सिंगार तो संयम में है!" जयमल ने कहा।

"इतना ही नहीं है, यह साधु-जीवन और भी कठिन है! जहाँ अन्य फिरकेवालों का ज़ोर रहता है, वहाँ आहार, पानी तक भी नहीं मिलता। तू कैसे भूखा-प्यासा रह सकेगा?" महेताजी ने पूछा।

"मैंने साधु-जीवन बिताने का संकल्प कर लिया है। इन छोटी-मोटी आफतों से अब मुझे नहीं डरना चाहिये! पिताजी, आप जैसे वीर बहादुर का मैं पुत्र हूँ; मैं इसके लिये समर्थ हो जाऊँगा।" जयमल बोले।
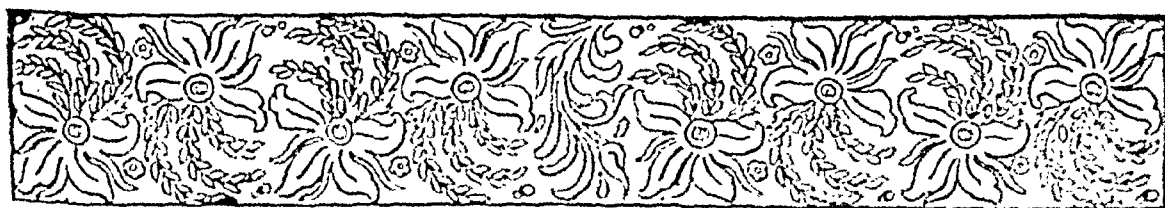
वड़भागी हैं। आपकी तो सात पीढ़ी तिर गई!" ये सुनकर उनका हृदय फूला नहीं समाता था।

आसपास के सभी गाँवों में भी ये समाचार फैल गये थे।

* * *

संवत १७८७ का मिगशर मास, वदि पक्ष, तिथि द्वितीया - दूज और बृहस्पति वार।

जैन धर्म के शासन - काल में यह महत्व का और पवित्र दिवस था। मेड़ता नगर में उत्साह का अपूर्व वातावरण था। स्थान - स्थान पर तोरण और धजा पताका फहरा रहे थे। आज वैरागी जयमल की दीक्षा होनेवाली थी।

पू० आचार्यश्री भूधरजी अपने शिष्यों के साथ गाँव के कोने में आये हुए एक विशाल बाग में पधार गये थे। उनके साथ और भी कई लोग थे। साध्वियाँ भी थीं, साधु भी थे; श्रावक थे और श्राविकायें भी थीं। चतुर्विध जैन संघ वहाँ पर इकट्ठा हो रहा था।

बाग की शोभा अद्भुत थी; और आज वह और भी रम्य लग रहा था। वहाँ पर वटवृक्ष के नीचे, खपरैल से ढँके कोठे के बीच पाट पर आचार्यश्री विराजमान थे। उनके शिष्य बैठे पढ़ रहे थे। श्रावक गण चर्चा में मग्न था।

युवक जयमल को गुरुजी ने दीक्षा की आज्ञा दे दी थी; जिससे उसका मन पुलकित हो रहा था। माता - पिता, भाई - भाभी और अन्य स्वजन, मित्र - गण भी उसकी दीक्षा महोत्सव में भाग लेने आ रहे थे। सब के मन में वड़ा ही उत्साह था। आसपास के गाँवों में जयमल की प्रखर बुद्धि की बात फैल चुकी थी और कई लोग उन्हें देखने आ रहे थे।

मध्याह्न को वैरागी का जलूस निकला। आगे - आगे नगाडे निशान और बाजे बज रहे थे। उसके पीछे पुरुष - वर्ग चल रहा था। बीच में शिविका पर जयमलजी विराजमान थे। ऐसा लग रहा था कि कोई आत्मार्थी पद्मासन लगाकर धर्म माता की गोद में न बैठा हो। उनके स्वजनों में बहुत से उनके पास बैठे थे।
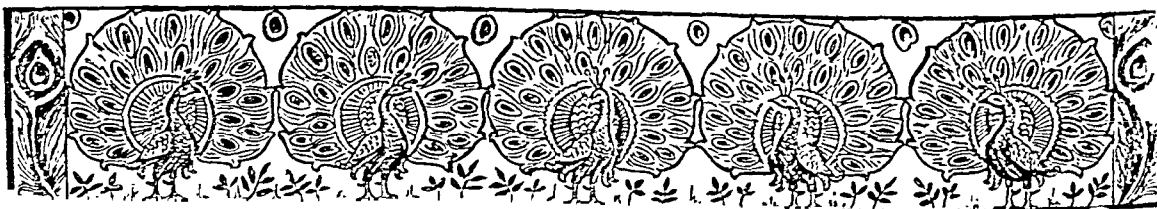
"लिया....लिया! आया बड़ा संयम लेनेवाला! चल घर....! बिंदनी को लिवा लाने की — मुकलावे की सारी तैयारियाँ हो चुकी हैं। यहाँ का व्यापार का काम निपटाते यह क्या स्वाँग रचा रहा है?" महिमादेवी ने ज़रा गुस्से में कहा।

"माँ, अब सारा संसार मेरा घर है! यहीं से मैं दीक्षा रूपी बिंदनी लेने जा रहा हूँ....आशीर्वाद दे माँ!" जयमल ने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया।

"क्या आशीर्वाद दूँ....? मेरी तो यही आशिष है कि ये सब बातें छोड़कर घर जल्दी चल। बिंदनी को लिवा ला और तुम्हारे यहाँ पलना बंधे और मेरा पोता, मुझे दादी कहे! चल पुत्र! जोग तो वे लोग लेते हैं जो दुःखी होते हैं?" महिमादेवी ने कहा।

"क्या, महावीर प्रभु दुःखी थे? जंबुस्वामी दुःखी थे? अपने से कितने ही ऋद्धि-सिद्धि-शाली थे? और दीक्षा दुःख का कारण होती तो वे क्यों दीक्षा लेते?" जयमल ने पूछा।

महिमादेवी ने जवाब दिया :—"भगवान महावीर की बात करता है तो उनके जैसा तू भी बन! उन्होंने माता का कितना ख्याल रखा था? गर्भ में थे तब हलन-चलन बंद होने से माता त्रिशला को चिंता होते देख उन्होंने तय किया कि वे माँ-बाप के जीवन काल में दीक्षा नहीं लेंगे। इतना ही नहीं, उन्होंने विवाह भी किया और उनकी पुत्री भी हुई; माँ-बाप के स्वर्गवास होने के बाद उन्होंने दीक्षा ली। जिसके गुण-गान गा रहा है, उस महावीर प्रभु की तरह हम माँ-बाप के दुःख का तो विचार कर! माँ-बाप के हृदय के टुकड़े कर तो कोई नहीं जाता!"

"प्रभु तो ज्ञान के धारक थे; मुझे तो आज ही ज्ञान मिला है। अब उस ज्ञान से वंचित न कर।" जयमल ने कहा।

"वह ज्ञान-प्राप्ति तो गृहस्थाश्रम में रहकर भी कर सकता है!"

"नहीं माँ! इस संसार के चक्र में फिरते-फिरते कभी भी ज्ञान-प्राप्ति नहीं होगी। उससे अलग होकर ही हो सकती है।" जयमल ने कहा।

जयमल के परिवारवाले ये सभी बातें सुन-सुनकर हर्षित होते थे। दूर गाँव के लोग जो जलुस के बीच में ही पहुँचे थे वे जयमल के पिताजी, माताजी और भाइजी आदि से मिलकर अपने आप को धन्य मान रहे थे।

जयमलजी प्रसन्नचित्त और स्वस्थता से अपनी शिविका में विराजमान थे।

धीमे-धीमे जलुस नगर बाहर जहाँ आचार्यश्री शिष्य मंडली सहित पधारे थे, उस बाग के नोहरे (कोठी सा मकान) पर पहुँचा। लोगों ने जोर से जयनाद किया —

जैन-धर्म की जय!

जैनाचार्य पूज्यश्री भूधरजी महाराज साहब की जय!!

वैरागी जयमलजी की जय....!!!

जलुसवाले सभी नोहरे के अंदर पहुँचे तो आचार्यश्री के पास विराजित उत्साही लोगों ने उनके स्वर में स्वर मिलाते एक स्वर में गगन गूंजता जयनाद किया :—

जिन शासन देव की जय! जैन-धर्म की जय!

जैनाचार्य पूज्यश्री भूधरजी महाराज साहब की जय!!

वैरागी जयमलजी की जय....!!!

सभी आये हुए लोग और जलुस में आये लोग अपनी-अपनी जगह बैठ गये। सभी की नज़र पूज्य महाराजश्री की ओर लगी। वे वटवृक्ष की घनी छाया में ओटे पर विराजमान थे। उनका प्रभाशाली मुख-मंडल, तेजस्वी दीर्ध-नासिका आदि से ऐसे शोभायमान हो रहे थे जैसे जिन शासन रूपी सरोवर में धर्म रूपी पद्मकमल शोभा कर रहा हो।

जयमल धीमे किन्तु स्वस्थ चरणों के साथ, अपने स्वजनों के बीच महाराजश्री के पास आये। उन्होंने वहाँ विराजित आचार्यश्री को सर्व प्रथम वंदन किया। पश्चात् वहाँ पर

"अरे, लाड़ले ! तू भी जरा तो विचार कर ! सवेरे किसलिये मेड़ता आया था ? कल मुकलावे के लिये क्या-क्या बातें कर रहा था ? और एक ही बार में तुझे वैराग्य हो गया हो, ऐसा मैं नहीं मानती ! तुझ पर जरूर किसी ने नज़र लगा दी है ! लाँबिया चलकर मैं तेरा सब इलाज़ कराऊँगी ; सब ठीक हो जायेगा !" महिमादेवी ने कहा ।

"माँ, तू ठीक कहती है ! मुझे नज़र लगी नहीं है ; किन्तु मेरी नज़र गुरुजी ने खोल दी है ! मुझे उन्होंने आत्मा का वह स्वरूप दिखाया है कि मेरा मन संसार में वापस जाने को नहीं करता....!" जयमल बोले ।

"तूने अभी व्याख्यान ही सुना है, लाड़ले ! सुननी और करनी — दो अलग वस्तु हैं ! कैसे तू पैदल चलेगा ? तेरे पैरों में छाले पड़ जायेंगे । घर-घर जाकर तुझे भिक्षा में जो टुकड़े मिलेंगे, उसे कैसे तू खा सकेगा ? सर्दी-गर्मी में यही दो वस्त्र पहिन कर कैसे तू रह सकेगा ? ये सब मैं कैसे देख सकूँगी....? नहीं लाड़ले ! हम दुनियाँ से उठ जांये, उसके बाद ही तू दीक्षा लेना....! मुझे तो तेरा यह वैराग्य ठीक नहीं लगता ! तूने संसार में देखा ही क्या है ? संसार के सुखों को भोग कर ही लोग दीक्षा लेते हैं ।" महिमादेवी ने कहा ।

"माँ ! यह जीव अनंत बार सुख भोग के आया है, कब इसकी वासना तृप्ति होनी है ? यह तो उसे बार-बार संसार का चक्कर लगवाती है । आज मुझे सच्चा ज्ञान मिला है । एक ही बार में गौतमस्वामी महावीर प्रभु के हो गये, जंबुस्वामी वैराग्य ले गये, मेघकुमार और गजसुकुमार भी दीक्षा ले गये । तू तो मेरा कल्याण चाहती है न ! अब आज्ञा दे दे । इतना अवश्य विश्वास दिलाता हूँ कि तेरा जय कभी पीछे न हटेगा और तेरा नाम उज्ज्वल करेगा !" जयमल बोले ।

"मुझे तो कुछ नहीं सूझ रहा है कि क्या करूँ ? इधर तू दीक्षा लेने की बात कर रहा है, उधर बहू को मैं क्या कहूँ ! कैसे समझाऊँ....?"

मुझे दीक्षा देकर उपकृत करें! और आपकी शरण में लें और आपकी चरण सेवा का लाभ लेने दें!"

पूज्यश्री ने जयमलजी के माता-पिता की ओर देखा।

महेताजी और उनका परिवार उठ खड़ा हुआ। उन्होंने वंदना करके कहा—पूज्यश्री! हमारी सम्मति है!" ऐसा कहकर महाराजश्री को वंदना करके वे बैठ गये।

दीक्षा विधि का आरंभ हुआ। आचार्यश्री ने पुनः नमस्कार मंत्र पढ़ा; फिर महावीर स्तुति और शाँति स्तोत्र पढ़ा। पुनः उन्होंने जयमलजी के माता-पिता की ओर देखा और पूछा:—"अब वैरागी को दीक्षा दी जा रही है। आप सब की सम्मति है न?"

सब ने सम्मति दी। इसी प्रकार आचार्यश्री ने उपस्थित चतुर्विध श्री संघ को भी पूछा:—"आप सब की भी सम्मति है न?"

श्री संघ ने सम्मति प्रदान की।

आचार्यश्री ने "इरिया-वहियं" का पाठ पढ़ा। फिर उस पर संक्षिप्त में विवेचन करते हुए कहा:—"इर्या-पथिक क्रिया हिलना, चलना, फिरना, जाना, आना आदि में सावधानी रखना, यह साधु का प्रथम कर्तव्य है। साधुओं के लिये जो आठ प्रवचन माता कही गई हैं उसमें इर्या-समिति का प्रथम स्थान है। जो जीव दिखते हैं, उनकी रक्षा वे आप कर सकते हैं, किन्तु जो जीव दुर्बल है, जिन्हें अपनी रक्षा करना आप नहीं आता उनके प्रति हमेशा सजग रहना-यतना रखना चाहिये। एतदर्थ विवेक जगा हुआ होना चाहिये कि जैसे हम जीव हैं वैसे वे भी जीव हैं। रास्ते में जाने आने से, कुचले जाने से और भी नाना प्रकार से उनकी विराधना होती है, उन्हें छूने से परिताप पहुँचता है। साधुओं के लिये तो पानी की ओसबिंदु से लेकर हरे बीज और कीड़ी-मकोड़े के जाले तक के एवं पंचेन्द्रिय सभी जीवों की विराधना की मनाई है। इसीलिये हमेशा इरिया-पथिक क्रिया के पाप दोषों की आलोचना गमनागमन के प्रत्येक क्षण करने का विधान है।"
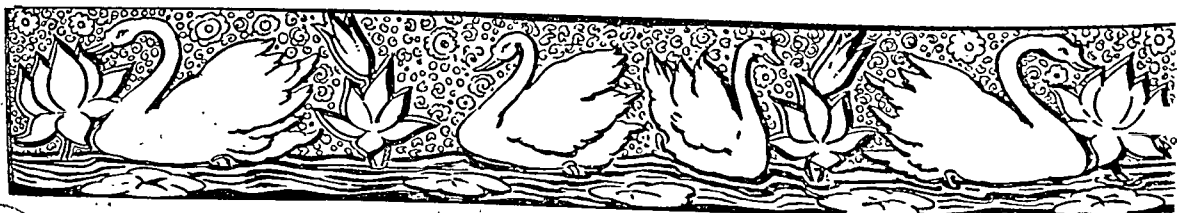
विनयदेवी ने भी बीच में कहा :—"माताजी तो नाराज़ हैं और भाई साहब को तो इतना दुःख है कि उन्होंने आपको क्यों भेजा ? वे मानते हैं कि सारा दोष उनका है ; उन्हें ज़रा भी चैन नहीं पड़ता !"

जयमल ने कहा :—"भाई साहब ! आप तो मेरे परम उपकारक हैं। कोई तो संसार बढ़ाने का व्यापार सिखाते हैं ; आप ने तो मेरे जीवन के नये अध्यात्म व्यापार को प्रारम्भ करने में निमित्त बनकर बड़ा उपकार किया है। माताजी की नाराज़गी व्यर्थ ही है ; भाई साहब ने तो मुझे सच्चे जीवन मार्ग-दर्शक के पास भेज दिया है !"

"इतना मेरा उपकार मानता है तो मेरी एक बात और भी मान ले। थोड़े दिन हम सब के साथ रह ले। अपनी दुकान भी जम जायेगी ; तूं भी साधु-मार्ग से परिचित हो जायगा। सब का मन सन्तुष्ट होगा ; फिर सब की राजी खुशी से दीक्षा ले लेना। मैं स्वयं तेरा मन देखकर दीक्षा दिला दूँगा ; मगर इस बार तो हमारे साथ वापस चल !" रिडमल ने कहा।

"अच्छे कार्य में देर क्या और अबेर क्या ? आप कल की बात कर रहे हैं ; कल का किसको भरोसा है ?" जयमल ने पूछा।

विनयदेवी ने जवाब दिया :—"तुम हमारे साथ चलो ; कल का भरोसा मैं देती हूँ ; तुम हमारे साथ थोड़ा समय रह लो। मैं, माताजी और सभी लोग तुम्हें अपने आप वोहरा (आज्ञा) देंगे; विश्वास करो !"

उदास वातावरण में थोड़ी-सी प्रसन्नता आ गई।

"भाभी ! मृत्यु किसी को नहीं मानती : और जो पल बीत रही है वह हम यों ही गँवा रहे हैं ! जिस पल से आदमी को ज्ञान हो जाये, उस समय से उसे चेतना चाहिये !" जयमल ने कहा।

महेताजी ने खड़े होकर हाथ जोड़कर स्वीकृति दी और महिमादेवी रिडमलजी एवं विनयदेवी ने भी खड़े होकर सविनय संमति प्रगट की और कहा कि "अब आप ही इनके माता-पिता आदि सब कुछ हैं; हमारा तो सब संबंध टूट चुका!"

वैरागी की परीक्षा की पहली घड़ी आ पहुँची। सभी बैठे हुए श्री संघ के लोग अपनी नज़र ऊँची करके वैरागी की ओर स्थिर करने लगे। जयमलजी को यहाँ पर सब के सन्मुख अपने गृहस्थ दशा के सूचक शिखा केशों का लोच हँसते हँसते करना था। उनमें बड़ा उत्साह था और वे एक साथ पूरी शिखा के केश का लोच कर सकते थे। किन्तु उन्होंने एक-एक करके पाँच बार में लोच किया। उनके हाथ कम्पे नहीं, उनका हृदय वेदना से न भरा, न उनकी आँखों में कोई आँसू भी आये। लोच किये हुए केश माँ-बाप ने उनकी स्मृति के रूप में अपने वस्त्र में संजो लिये।

एक साथ सहस्रों कण्ठ से जय घोष निकला :—

"बोल, वैरागी बनडे जयमलजी की जय!"

उस दिव्य-ध्वनि से गगन पुनीत हो उठा। आचार्यश्री ने अपनी पवित्र ज्ञान गंगा बहाते हुए कहा कि "एक साथ लोच न करके पाँच बार में लोच करने का विधान दो गहन अर्थों से हैं। एक तो नये वैरागी को इसका अभ्यास होता है। साथ ही वह प्रत्येक लोच के साथ एक महान पापस्थानक को जड़ से उखाड़ फेंकता है; एवं महा-व्रत धारण करने की क्षमता बढ़ाता है और एक-एक इंद्रिय को वश में रखने का संकल्प करके एक-एक आचार पालने के लिये तैयार होता है। ये पाँच महा पापस्थानक हैं — हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह। इसी का विस्तार है अठारह पापस्थानक....! इन सब को वैरागी छोड़ता है और पाँच महा-व्रत, सम्पूर्ण अहिंसा, सम्पूर्ण सत्य, सम्पूर्ण अचौर्य, सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य और सम्पूर्ण परिग्रह त्याग — उनको स्वीकार करने की ओर वैरागी बढ़ता है। किन्तु पाँचों इंद्रियाँ वश में न हो तो यह कार्य नहीं होने का! अतः वह श्रोत्रेंद्रिय से केवल जिनागम सुनता है। चक्षुरिंद्रिय से केवल धर्म-गुरु का दर्शन करता है, घ्राणेंद्रिय से सत्संग को ही सूँघता है; रसेंद्रिय से धर्म-तत्त्व का रसास्वादन करता है और स्पर्शेन्द्रिय से पाँच प्रकार के आचारों
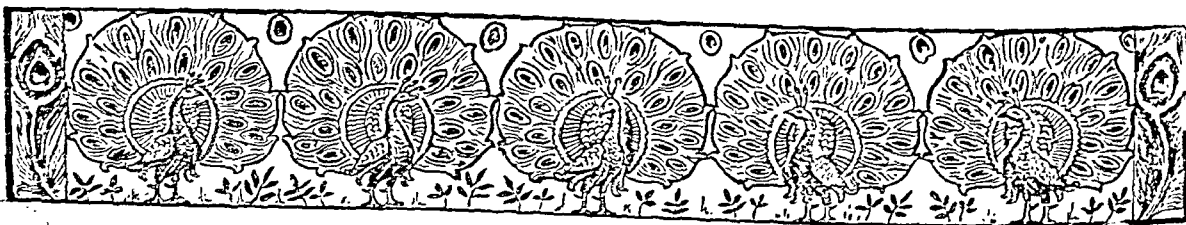
"इसकी ही तो दया खा रहा हूँ। इसे अपने बंधनों से मुक्त कर रहा हूँ। विषयों में फंसकर न जाने यह कितने कर्म बाँधती? मैं ही, इसके कर्म बंधन का भागी बनता; मैं इसे मुक्त कर रहा हूँ।" जयमल ने कहा।

"क्या, मुक्त कर रहे हो? सधवा को विधवा बना रहे हो! बेचारी झूर-झूर कर मर जायेगी — जिसका पाप तुम्हें लगेगा!" विनयदेवी ने कहा।

"भाभी जी! जिसका पति दीक्षा लेता है, वह तो हमेशा की सुहागन ही रहती है। रही सच्चे प्रेम की बात तो जिसे मेरे साथ प्रेम होगा, वह मेरे साथ दीक्षा लेने चले, मेरी कोई मनाई नहीं है!" जयमल ने कहा।

"देवरजी! मैं मज़ाक नहीं कर रही हूँ....!"

"मैं भी तो सत्य कह रहा हूँ....!"

"मुझे तो नहीं दीखता! कल तक तो तुम मुकलावा, ससुराल आदि की बातें कर रहे थे और अब यहाँ तो कुछ और ही बातें करते हो! एक दिन में ऐसे तो बदल नहीं सकते!" विनयदेवी ने कहा।

"भाभी जी! आपको मैं कैसे कहूँ....?" जयमल बोले।

"नहीं! कुछ कहना बाकी हो तो वह भी कह लो! देखो, तुम्हें कुछ कम आता हो, तो तुम्हारे भाई साहब से कहकर मैं सब कुछ तुम्हें दिला दूँगी; मगर सब को दुःखी करना छोड़ के घर वापस चलो!" विनयदेवी ने बीच में ही कहा।

"भाभी! मैंने कब कहा कि आप सबकी मेरे पर कृपा नहीं है, बस इतनी कृपा और करो कि मुझे हँसते हँसते स्वीकृति दिला दो तो मैं जीवन भर उपकृत रहूँगा!" जयमल बोले।

विनयदेवी भी निरुत्तर हो गई। सभी आपस में बैठे काना-फूसी करने लगे। लोग अलग-अलग टोलियाँ बनाकर बातें करने लगे, क्या किया जाय....! मुकलावा, [illegible]

और जिन्होंने इसे जान लिया है, और जो उस धर्म का प्रचार करते हैं वे ही गुरु हैं। इन तीनों पर श्रद्धा करना यही सत्य है, समकित है, सामायिक है।

इतना विवेचन करके आचार्यश्री ने "करेमि भंते सामाइयं" का पाठ बोलना प्रारम्भ किया और जयमलजी ने पुनरुच्चारण करके उसे बोला और इस तरह दीक्षा-मंत्र ग्रहण करके वे दीक्षित हो गये। उन्होंने आचार्यश्री और अन्य संतों का पुनः वन्दना की और तब आचार्यश्री ने उन्हें यथास्थान बिठाया और "णमोत्थुणं" के पाठ से सिद्ध और अरिहंत की स्तुति मधुर-कण्ठ से करने के लिये कहा। तदनुसार जयमलजी ने किया।

आचार्यश्री ने कहा कि "संयम मार्ग पर चलनेवालों के लिये सर्व प्रथम तो सच्चा धर्म जानना आवश्यक है, जो कि सच्चे गुरु बताते हैं। ये सच्चे गुरु संसार को त्याग करनेवाले साधुजी हैं; जिन्हें न घर है, न संसार और इसलिये उन्हें न किसी पर राग है, न किसी पर द्वेष। उन्होंने जिन देवों को सच्चा बताया है, वे हैं अरिहंत और सिद्ध। जिन्होंने राग, द्वेष को जीत लिया है, कर्मों का नाश किया है और जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र के धारक हैं; साधक के लिये वे ही आदर्श हैं!"

दीक्षित जयमलजी अपने स्थान पर बैठे-बैठे आचार्यश्री के प्रत्येक वाक्य को हृदयंगम कर रहे थे और अपने आपको धन्य समझते थे कि ऐसे आचार्य प्रवर के चरणों में रहकर जीवन निर्माण करने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था।

इधर दीक्षा प्रसंग विधिपूर्वक हो रहा था और बीच-बीच में जब थोड़ा-सा अवकाश रहता था। स्त्रियाँ मधुर-स्वरों में गीत गाती थीं। कभी गूँज उठता था :—

वैरागी बनडा··· शोभा बढ़ाईजो
जैन धर्म री···!

तो कहीं पर कभी ऐसा भी गीत गूँजता था :—

मुख वैरागी! थारो अजब वण्यो रे···
मुखपत्ति बाँधण रो लाग्यो चाव··· महाराँ गुरुसा मोह लिया रे···
मुख वैरागी···!

"पिताजी ! माई जी ! मैं किसी लोभ से दीक्षा लेने नहीं जा रहा हूँ; न मुझे कोई लालच है। आप पृथ्वी का सारा राज्य भी दे दें तो भी मैं नहीं रहनेवाला हूँ। यह जीव अनंत बार विषय-सुख और धन-माया में भटक चुका है। शायद यहाँ गुरुदेव का प्रवचन न सुनता तो मैं और भी भटकता ! लेकिन उन्होंने मुझे सच्चा मार्ग बताया है, मुक्ति का। मैंने उस पर जाने का संकल्प कर लिया है।" जयमल बोले।

"कुटुम्ब, परिवार, स्त्री, माता, पिता सभी को छोड़ कर जाने का संकल्प ठीक नहीं है; हम कैसे आज्ञा दें ?" महेताजी ने कहा।

"ये कुटुम्ब, कबीला, स्त्री, पुत्र, माता, पिता—कौन किसके हैं ? आत्मा अकेला आता है; अकेला जाता है। ये सभी स्वार्थ के रिश्ते-नाते हैं। वैसे तो सारे ही संसार के जीव न जाने किस-किस भव में तात-मात, भ्रात-पुत्र बने हैं। वैसे ही कितनी स्त्रियों के साथ भव-भव में शादी की थी; मगर कौन किसका है ? ये सभी आत्मा के धन को लूटनेवाले थे; अब आप सब मेरे सगे हैं तो मुझे आज्ञा देवें और मैं संयम ले लूं!" जयमल ने फिर कहा।

"बेटा ! इनमें से एक भी हाँ कह दे तो मैं भी स्वीकृति दे दूँ। जरा इन सब से पूछ तो....!" महेताजी ने कहा।

"मेरा तो किसी से कुछ न पूछना है और न मुझे संसार में रहना है। मैंने भोग त्याग कर योग लेने का पक्का निश्चय किया है। इसलिये मुझे आप सहर्ष स्वीकृति दे दें। जो-जो एक क्षण अव्रत में बीत रही है, वह मेरे लिये असह्य है। नाहक अब चर्चायें करने से कोई बात नहीं बनेगी। आप आज्ञा देवें तो ठीक है; वरना मुझे अब मौन है!"

उनकी इतनी कठोर वाणी सुनकर सब अवाक् हो गये। पल भर किसी को नहीं सूझा कि क्या करें ! महेताजी उठकर रियांवालों के पास गये; मेड़तावाले भी साथ हो लिये। महेताजी जान चुके थे कि जयमल का मन फिरनेवाला नहीं है। कुछेक लोग इस मन के

"धन्य है! धन्य है....!!" लोगों के मुख से निकल पड़ा।

आचार्यश्री ने जयमलजी की ओर देखा और कहा :—"एक तो पहले ज्ञान और फिर क्रिया है; इसलिये पहले ज्ञानाभ्यास सम्बन्धी नियम लेना उपयुक्त है। इसके सिवा नियम लेना सरल होता है; पालना कठिन होता है। विचार कर लो!"

"ज्ञानाभ्यास में आप जितना भी सिखाना चाहेंगे उससे भी अधिक अध्ययन कर सकूँगा और इस नियम में भी कोई रुकावट नहीं आ पायगी ऐसा आत्म विश्वास है!" जयमलजी ने सविनय कहा।

उनके अडिग निश्चय को देखकर पच्चक्खाण दिये और बड़े भाव से उन्होंने जयमलजी को पास में बिठा लिया।

लोगों में एक ही बात अनेक मुखों से चल पड़ी :—"आज चौथा आरा सजीव हो रहा है। आज महावीर प्रभु और गौतमस्वामी का मिलन सा यहाँ दृश्य उपस्थित हो गया है। जैसे महावीर प्रभु के स्पर्श से गौतमस्वामी ने ज्ञान पा लिया वैसे आचार्यश्री के प्रभाव से जयमलजी की आत्मा जगी। आज न केवल ज्ञान है, न आत्म-बल; तब इस प्रकार के नियमों का ग्रहण करना सचमुच असाधारण है!"

लोगों ने उत्साह से जयजयकार बुलाया :—

बोल, आचार्यश्री भूधरजी म० सा० की जय!

बोल, जयमलजी म० सा० की जय!

जैन धर्म की जय....!!

उस जय-नाद से मेड़ता नगरी धन्य हो गई; गगन धन्य हो गया और दशों दिशायें भी धन्य हो गईं।
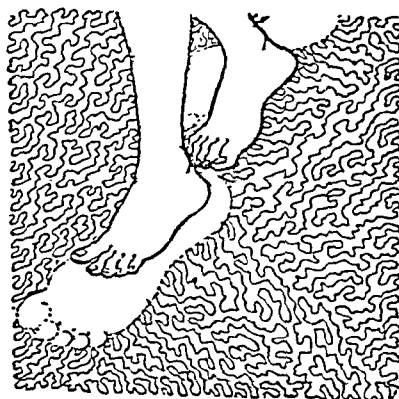
"मैं ये बड़ी-बड़ी बातें नहीं जानती; मैं तो इतना जानती हूँ कि जब पीहर गई थी तब आपने जो-जो सपने संजोवाये थे उसे कब पूरा करेंगे?"

"देवी! वे सभी इन्द्र-धनुष्य के मायावी रंग हैं। मुझे तो आत्म-ज्ञान रूपी सत्य का प्रकाश मिला है और इन्द्र-धनुष्य के रंग बिखर गये हैं। जैसे माया जाल से हिरन छूटकर स्वतन्त्र होता है उसी तरह गुरुजी ने संसार रूपी माया के बन्धन तोड़कर मुझे आत्म स्वातंत्र्य दिया है। क्या, अब फिर बन्धन में जाने को यह आत्मा चाहेगी?" जयमल बोले।

"न मेरे में इतनी बुद्धि है कि मैं आपसे वाद-विवाद करूँ; न मुझमें शक्ति है कि इन बड़ों के बीच में आप से ज्यादा देर बात कर सकूँ! बस, एक भक्ति है—आप ही मेरे स्वामी हैं; देवता हैं! मुझे छोड़कर न जाइये; इस दासी को चरण की सेवा करने का लाभ देवें!" लाछाँ ने कहा।

"देवी! यह सारी परतन्त्रता है। सभी आत्मा स्वतन्त्र है; तू न मेरी दासी है, न मैं तेरा देवता हूँ—नाथ हूँ। कर्मों की माया में फँसकर हम अपनी आत्मा को गिरा रहे हैं। जो विषय-वासना है वे आत्मा की हानि कराते हैं—ये उपर से तो सुख दिखते हैं; मगर अन्दर से दुःख ही हैं!" जयमल बोले।

"तब मैं क्या करूँ....? आप तो आत्म-साधना में लग जायेंगे; सचमुच ही पुरुष स्वार्थी होते हैं। मेरा क्या होगा....?"

"देवी! मेरी ओर से तू स्वतन्त्र है; मैं तो चाहता हूँ कि तू भी मेरे साथ चल। हम दोनों ही मुक्ति-पथ के पथिक बनें और आत्मा का कल्याण करें!" जयमल बोले।

११
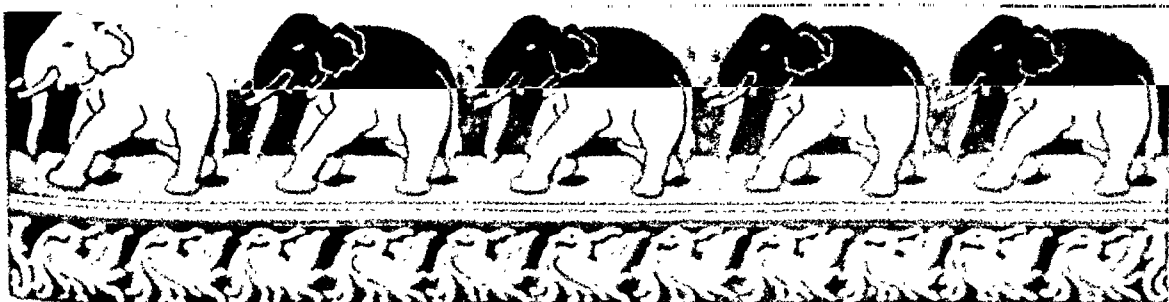
जय - त्याग

कुछ पल उत्साह का ज़ोर-शोर रहा। कोई आचार्यश्री की तो कोई वैरागी की वात कर रहा था। आचार्यश्री के चेहरे पर प्रसन्नता थी। जयमलजी भी उनके समीप प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे।

उनके आजीवन वैराग्य के वाद अव इस प्रसंग पर और भी व्रत, त्याग, पच्चक्खाण के लिये तैयार हुए। जैसे इस त्याग प्रसंग की विशेष शोभा निखरती हो वैसा जान पड़ने लगा। लोगों ने महेताजी से भी वात की और समय को समझते एवं पुत्र वैराग्य से प्रेरित होकर महेताजी त्याग करने तैयार हुए। त्यागियों में सर्व प्रथम श्री महेताजी खड़े हुए उन्होंने आचार्यश्री को वन्दना करके कहा :— "जयमलजी ने तो त्याग में दृढ़ होकर वैरागी होकर दीक्षा ले ली है; साथ ही उन्होंने हमारी आत्मा को भी जगाया है। इस अवसर पर मेरी इच्छा है "चउखंध" पच्चक्खने की!"

उसी समय महिमादेवी ने भी खड़े होकर हाथ जोड़ कर कहा :—"वापजी! जो इनको पच्चक्खाण वह मेरा भी — मुझे भी चउखंध पच्चक्खाईये!"

आचार्यश्री के मुख से "धन्य! धन्य....!!" निकलते ही सभी ने जैन धर्म की जय बोली। आचार्यश्री ने कहा :—"चउखंध का आप दोनों को पच्चक्खाण....!" कहकर उन्होंने जावजीव तक के पच्चक्खाण इस प्रकार
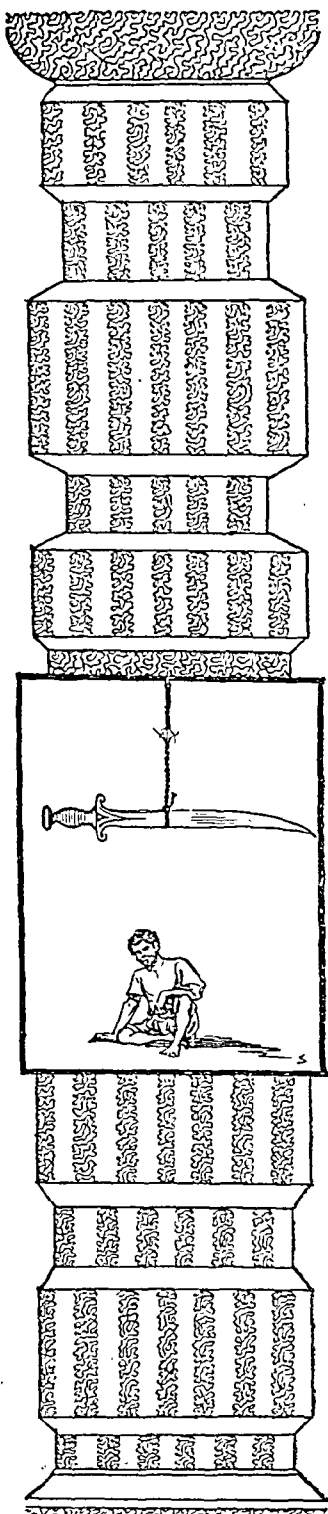
"नहीं बहू! मैं यह आज्ञा नहीं दे सकता; तुम्हें घर पर ही रहना होगा!" महेताजी ने कहा।

लक्ष्मीदेवी कुछ प्रतिवाद करे उसके पहले रियाँवालों के घर की कुछ स्त्रियाँ उसे बाहर ले गईं। इतने जनों के आगे उसका कुछ नहीं चला। वह आँसु टपकाती ही रही। हाय रे, अबला नारी....! उसका जीवन कितना पराया होता है?

उसे गाड़ी पर बिठा दिया गया। उसने अपने सम्बन्धी और रियाँ के घर की स्त्रियों से बहुत कुछ कहा :—"मुझे जाने दो! मैं उनके बिना जी नहीं सकूँगी। सीता भी राम के पीछे वन में गई थी। राजुल ने भी नेमनाथ के पीछे दीक्षा ले ली थी। मैं भी अपने नाथ के साथ दीक्षा ले लूँगी!"

मगर किसी ने एक बात न सुनी। गाड़ियाँ रियाँ की ओर चल पड़ी। लाछाँ दे की सिसकियाँ उसकी ओढ़नी में ही विलीन हो गईं। उसे रह-रहकर एक ही प्रश्न उठता था कि "जब नाथ को जाना ही था, मुझे भी कह देते; मैं भी तैयारी कर लेती, दोनों ही साथ चल देते। कभी वैराग्य का एक शब्द भी नहीं बोले और अचानक कैसे उन्होंने मोह-ममता छोड़ दी? मुझमें क्या कमी थी....? मुझमें क्या कमी थी....?"

उसे तो क्या स्वयं जयमल को भी मालूम नहीं था कि संवत् १७८७ की यह कार्तिक पूर्णिमा और मेड़ता की यह खरीदी उसके जीवन का पूरा व्यापार ही बदल देनेवाली होगी।

—और जयमल दीक्षार्थी बन गये; प्रेयार्थी श्रेयार्थी बनने चला। धर्म-इतिहास में एक नया मोड़ आनेवाला था....!

●

आचार्यश्री के वदन पर संतोष की गहरी छाप लहराई और उन्होंने उस समय की धर्म जागृति की लहर देखते हुए कहा :—

"आज हमारे लिये परम हर्ष कि बात है कि मेड़ता में ऐसा धर्म - ध्यान का, त्याग - वैराग्य का ठाठ लग गया है। एक वैरागी ने छोटी दीक्षा ली; उसके माता - पिता ने चउकंध के पच्चक्खाण लिये और उसके भाई - भाभी बारह व्रत ग्रहण करने जा रहे हैं। जिस उद्देश्य से चौमासा किया जाता है, वह आज यहाँ पर हमारे सामने हैं। चौमासे के बाद विहार करके गाँव - गाँव में हम जिस बात का प्रचार करते हैं वह है धर्म का — सत्य ज्ञान का — जिन वाणी का!

जिन वाणी क्या कहती है? वह कहती है कि सच्चा ज्ञान प्राप्त करो। यह सत्य ज्ञान है आत्मा की पहचान करना। अनेक जन्मों से, भव - भव के भ्रमण से जीव कर्मों के चक्कर में इस संसार में फिरता रहता है, पुद्‌गलों में फँसा रहता है और उसके मोह में फँस कर आत्म - ज्ञान को गँवाता रहता है। वह संसार के सुख को सुख समझता है और मृग - जल की तरह उससे प्यास बुझती नहीं है। जिस सगे स्वजन को वह अपना मानता है, सत्य तो उसके साथ कोई चलता नहीं है। उसके दुःख को वे ज़रा भी कम नहीं कर सकते; उसकी वेदना को दूर नहीं कर सकते। जिस धन - सम्पत्ति, कीर्ति को वे अपनी मानते हैं; उसके पीछे जीवन के अमूल्य क्षण गँवाते हैं; उनको एक दिन वे यहीं छोड़कर जाते हैं; नया जन्म लेते है और उस जन्म का ज्ञान - भान या पहचान भी अपवाद में किसी किसी को ही होते हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि एक बार अपने आपसे तो पूछ :—"तू कौन है? कहाँ से आया है? कहाँ जायेगा?" जब यह प्रश्न आत्मा से पूछा जाता है तो बड़ी ही विवशता उसे मालूम होती है। उसके पहले अनादि काल से वह कहाँ था? किधर था? इसका उसे कुछ भी स्मरण नहीं। संसार के बड़े - बड़े पंडित, ज्ञानी, समझदार इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाते! और न ही उनके पास जवाब है कि वे किधर जानेवाले हैं?

आचार्यश्री ने महेताजी की ओर देखा।

महेताजी ने उठकर सविनय कहा :—"हाँ, महाराजश्री! हमारी सब की स्वीकृति है। इसके सिवा अब दूसरा कोई चारा हमारे लिये नहीं रहा। इसके भाव इतने चढ़ते हैं तो फिर दीक्षा दे ही देवें!"

सभी ने आचार्य महाराजश्री की जय बोली।

आचार्यश्री ने मधुर वाणी में कहा :—"नियमानुसार उसे हमारे साथ विचरण करना पड़ेगा। फिर साधुचर्या के आवश्यक अंग समझ जाये और आवश्यक क्रियाओं का ज्ञान हो जाये तब उसे प्रथम छोटी दीक्षा [1] दी जायेगी और बाद में बड़ी दीक्षा [2] दी जायेगी।"

"जैसा आप उचित समझें, वैसा करें और प्रगट में जहाँ-जहाँ दीक्षा, प्रसंग पर हमारी उपस्थिति आवश्यक हो, हम सभी आ जायेंगे। हम तो संयम लेने में असमर्थ हैं; अब जिसके भाव ऊँचे हैं उसे क्यों अंतराय देवें?" महेताजी बोले।

"आप जैसा चाहते हैं वैसा यथाकाल सुविधानुसार होगा।" आचार्यश्री ने कहा।

"वैसे हम यहाँ पर एक दिन और ठहरेंगे। जयमल का मन फिर भी पक्का रहा तो हम चल देगें। जब छोटी दीक्षा के योग्य हो जाये तो जहाँ दीक्षा हो उसकी सूचना श्रावक संघ से मिलनी परम आवश्यक है।" महेताजी ने कहा।

वे सभी उठ खड़े हुए। उन्होंने सभी संतो को वंदना की और मंगलिक सुना। जयमल ने भी पिताजी को प्रणाम किया और सभी से विदाई लेकर पूज्य महाराजश्री के चरणों में आकर वंदना करके बैठ गये।

जयमल बोले :—"गुरुवर! छोटी दीक्षा कब तक आ सकती है?"

आचार्यश्री ने जवाब दिया :—"नियमानुसार प्रतिक्रमण (पडिक्कमण) कण्ठस्थ नहीं होता तब तक दीक्षा नहीं दी जाती।"

---

1. सामायिक चारित्र   2. छेदोपस्थापनीय चारित्र

आचार्यश्री के वदन पर संतोष की गहरी छाप लहराई और उन्होंने उस समय की धर्म जागृति की लहर देखते हुए कहा :—

"आज हमारे लिये परम हर्ष कि बात है कि मेड़ता में ऐसा धर्म - ध्यान का, त्याग - वैराग्य का ठाठ लग गया है। एक वैरागी ने छोटी दीक्षा ली; उसके माता - पिता ने चउकंध के पच्चक्खाण लिये और उसके भाई - भाभी बारह व्रत ग्रहण करने जा रहे हैं। जिस उद्देश्य से चौमासा किया जाता है, वह आज यहाँ पर हमारे सामने हैं। चौमासे के बाद विहार करके गाँव - गाँव में हम जिस बात का प्रचार करते हैं वह है धर्म का — सत्य ज्ञान का — जिन वाणी का!

जिन वाणी क्या कहती है? वह कहती है कि सच्चा ज्ञान प्राप्त करो। यह सत्य ज्ञान है आत्मा की पहचान करना। अनेक जन्मों से, भव - भव के भ्रमण से जीव कर्मों के चक्कर में इस संसार में फिरता रहता है, पुद्गलों में फँसा रहता है और उसके मोह में फँस कर आत्म - ज्ञान को गँवाता रहता है। वह संसार के सुख को सुख समझता है और मृग - जल की तरह उससे प्यास बुझती नहीं है। जिस सगे स्वजन को वह अपना मानता है, सत्य तो उसके साथ कोई चलता नहीं है। उसके दुःख को वे ज़रा भी कम नहीं कर सकते; उसकी वेदना को दूर नहीं कर सकते। जिस धन - सम्पत्ति, कीर्ति को वे अपनी मानते हैं; उसके पीछे जीवन के अमूल्य क्षण गँवाते हैं; उनको एक दिन वे यहीं छोड़कर जाते हैं; नया जन्म लेते है और उस जन्म का ज्ञान - भान या पहचान भी अपवाद में किसी किसी को ही होते हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि एक बार अपने आपसे तो पूछ :—"तू कौन है? कहाँ से आया है? कहाँ जायेगा?" जब यह प्रश्न आत्मा से पूछा जाता है तो बड़ी ही विवशता उसे मालूम होती है। उसके पहले अनादि काल से वह कहाँ था? किधर था? इसका उसे कुछ भी स्मरण नहीं। संसार के बड़े - बड़े पंडित, ज्ञानी, समझदार इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाते! और न ही उनके पास जवाब है कि वे किधर जानेवाले हैं?

आचार्यश्री की आत्मा हर्षित हो उठी। ऐसा शीघ्र - मति, प्रखर - बुद्धि एवं विलक्षण धारणावाला दीक्षार्थी उन्हें आज तक नहीं मिला था। उन्होंने निश्चय किया कि ऐसे शिष्य को तुरन्त ही दीक्षित करना चाहिये।

उन्होंने मेड़ता के श्री संघ के आगेवानों के आगे अपनी इच्छा प्रगट की और कहा :—"आज छोटी दीक्षा का कार्य निपटा लिया जाये।"

मेड़ता के आगेवानों और धर्म के ज्ञाताओं ने जब यह बात सुनी कि खड़े रहने के दृढ़ - संकल्प के साथ जयमलजी ने पूरा प्रतिक्रमण कण्ठस्थ करके सुना दिया है तो सभी मुक्त - कण्ठ से उनकी प्रशंसा करने लगे :—"धन्य है जयमलजी को! जिस प्रतिक्रमण को याद करने में बहुत दिन लग जाते हैं उसे उन्होंने एक पहर भर (तीन घण्टे) में याद कर लिया।"

उनका वैराग्य वास्तव में ही प्रबल है....!"

"उनको दीक्षा लेने से व्यर्थ ही लोग रोकते थे। ये सचमुच ही धर्म का उद्योत करेंगे। मेड़ता नगरी उनकी दीक्षा उत्सव करके धन्य हो जायेगी!"

मेड़ता में दीक्षा उत्सव की तैयारियाँ होने लगी। लाँबिया के लोक कार्यवशात् वहीं रुके हुए थे अतः श्री संघ के आगेवानों ने महेताजी आदि को भी ख़बर करा दी। लोगों ने उन्हें जाकर बधाई दी कि "उनके यहाँ ऐसा ज्ञानवंत - रत्न पैदा हुआ है।"

जब महिमादेवी को यह समाचार मिले तो उसका मन आनन्द से भर गया। किसी ने कहा :—"बाई! तेरी तो कोख धन्य हो गई कि ऐसे रत्न जिसने पैदा किये।

महिमादेवी और विनयदेवी दोनों ही आनन्द से स्थानक में पहुँची। वहाँ पर तो अपूर्व आनन्द और उत्सव का वातावरण छाया हुआ था।

महेताजी और महिमादेवी, रिड़मल और विनयदेवी के पास आ - आकर लोग बधाई देते थे। बहुत से जानना चाहते थे कि ऐसे वैरागी ज्ञानी के माता - पिता कौन हैं? भाई - भोजाई कौन हैं? और इन सब से मिलकर वे प्रसन्नता पूर्वक कहते :—"आप
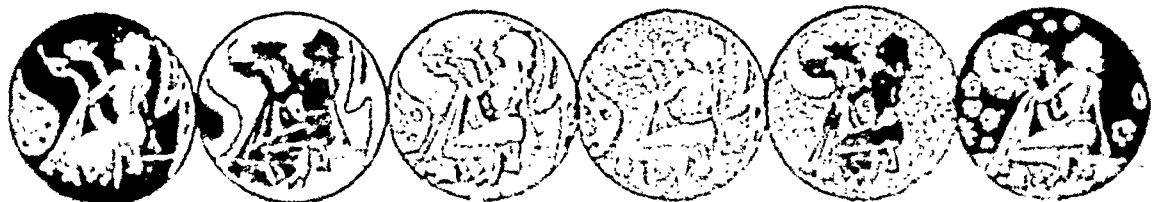
विकास करना है अतः उसे ऐसे देव ही ढूँढने हैं — जो राग-द्वेष से दूर जगत मात्र का कल्याण करने की प्रीति मात्र से लोगों का मार्ग-दर्शन करते हैं।

ऐसे देव हैं सिद्ध और अरिहंत। उन्हें सत्य मानना, सत्य का प्रथम चरण है। मनुष्य अपने स्वार्थ-वश दुनिया भर के देव मानता है तो फिर उनसे डरता फिरता है; यह असत्य है। देव तो वह है जिसके चरण में अभय है; शांति है, कल्याण है!

हमारी मातायें बात-बात में मानता करती फिरती हैं। पीर, फकीर, हनुमान, महादेव न जाने किस-किसकी मानता और दुहाई देती रहती है? सत्य तो यह है कि जो जिसके कर्म में है वह उसके फल पाये बिना नहीं रहता। उसे अज्ञान वश चमत्कार, भय, लालच के नाम किसी को भगवान नहीं बनाना चाहिये; सचमुच देव वह है जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है और उसे ही देव मानना चाहिये।

अब इस वीतराग की पहचान कौन कराता है? तो कहते हैं कि गुरु कराते हैं। ये गुरु यानी सु-साधु हैं। जैसे दुनियाँ में देव की कमी नहीं है वैसे साधुओं की कमी नहीं है; मगर साधुओं के आगे एक विशेषण है "सु" — यानी सच्चा साधु। यह कौन हो सकता है?

जो स्वार्थ-वश पेट पालने या व्यसनों के सेवन के लिये जगत के लाभ, भय, लालच से लोगों को जूठे देवों को मनवाता है वह साधु नहीं है। साधु तो वह है जिसको कोई स्वार्थ नहीं है जिसने संसार छोड़ा है, जो पैसे को छूता नहीं, जिसका घर-बार, पत्नी-पुत्र आदि नहीं है और जिसे अपने लिये खाना, वस्त्र, मकान की चिंता नहीं है; किन्तु घर-घर जाकर, गोचरी लाकर करनी है, वस्त्र ही वहरने हैं और श्रावकों की पौषधशाला या धर्म-स्थानक में ठहरना है, वही सच्चे साधु हैं। ये समाज से कम लेते हैं और आत्म-कल्याण का प्रशस्त ज्ञान का खजाना लोगों को देते हैं; लुटाते हैं। राग-द्वेष जितना जिनका लक्ष्य है। ऐसे सु-साधु ही सत्य-पथ के गुरु बन सकते हैं।

इनसे समाज को मिलता है सच्चा धर्म। ये धर्म है वीतराग द्वारा प्ररूपित दया, अहिंसा का धर्म; जिसमें आत्मा का विकास साधने के लिये उसे सभी जीवों के प्रति

लोग जयजयकार बुला रहे थे :—

बोल जिन शासन-देव की जय!

जैन धर्म की जय!

जैन धर्माचार्य पूज्य भूधरजी महाराज की जय!

वैरागी जयमलजी की जय....!!

जलूस मेड़ता के बाज़ारों और राजमार्गों में से गुज़रता हुआ उत्तर की ओर बढ़ा। लोग बड़े उत्साह के साथ में, उसमें सम्मिलित होते जाते थे। जयमल की शिविका के पीछे-पीछे नारियां मंगल-गीत गा रही थीं :—

वैरागी बनड़ा, शोभा वढ़ाइ जो
जैन धर्म री...!

तो कहीं पर यह भी गीत सुनाई पड़ रहा था :—

महावीरजी की पालखड़ी रत्नां जड़ी
रत्नां जड़ी ने हीरां जड़ी
मोत्यांरी लागी झगजोतां...

आगार (छूट) है :—"राजा, ज्ञाति (न्यात जात), देव प्रकोप, माँ-बाप व वि-काल (अकाल आदि), पथ भूलने पर, जीव रक्षा, संघ कष्ट निवारण, धर्म प्रभावना और लोक व्यवहार आदि के कारण भूल हो तो माफ है किन्तु पुनः श्रद्धा में अडिग हो जाना चाहिये।

आचार्यश्री ने रिडमलजी और विनयदेवी को फिर क्रमशः एक-एक करके बारह व्रत पच्चक्खाये। लोगों ने बड़े हर्ष के साथ जिन शासन देव की जय बुलाई।

तदनन्तर कई श्रावक खड़े हुए। उन्होंने आचार्यश्री से अलग-अलग पच्चक्खाण लिये। चतुर्थ व्रत अंगीकार करनेवाले और भी दम्पति खड़े हुए। रात्रि भोजन त्याग के भी पच्चक्खाण कइयों ने लिये। कइयों ने व्यसन त्याग के तो कइयों ने उपवास पोषध और नित्य सामायिक प्रतिक्रमण करने के पच्चक्खाण लिये।

अन्त में आचार्यश्री ने कहा :—"चौमासा तो पूर्ण हुआ और हमारा विहार नियमानुसार कल हो जाना चाहिये था; किन्तु आज जो छोटी दीक्षा हुई है उसकी भूमिका बन्ध रही थी एवं तपस्वियों का पारणा भी था। चातुर्मास के चार-चार मास आप सब ने धर्माराधना की, व्रत-नियम पाले और वीतराग की वाणी का लाभ लिया। चातुर्मास की समाप्ति जयमलजी की दीक्षा के साथ और बहुतसों के व्रत-नियमों के पच्चक्खाण के साथ हो रही है—यह परम हर्ष की बात है।

जिन शासन में लगन लगाना, जगाना और लोगों को इसमें दृढ़ करना—यही हमारा परम कर्तव्य है। इसलिये जयमलजी का वैराग्य और दीक्षा मेड़ता के चौमासे की यादगार है। यह प्रसंग भी बहुत ही उत्साह से और व्रत, पच्चक्खाण व त्याग के नियमों से और भी सुन्दर बन गया है। जयमलजी के बारे में तो आप सब ने जान लिया है; किन्तु एक बात मैं आप से कह दूँ तो उचित ही होगा कि आज जितनी लगन, वैराग्य की उत्कण्ठता इनमें है उसे देखते हुए और इनकी असाधारण धारणा शक्ति देखते हुए, यह निसंकोच कहा जा सकता है कि इसी तरह ज्ञान और चरित्र्य का विकास करते रहे तो ये जैन शासन दीपायेंगे और अनेक आत्माओं का विकास भी करायेंगे ऐसी प्रतीति होती है।
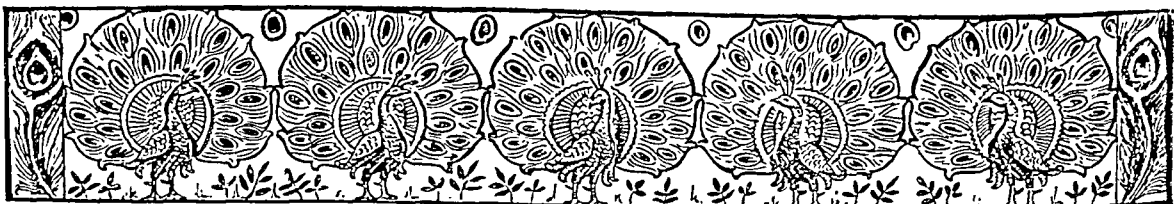
विराजित सभी साधुजी महाराज और साध्वीजी महासतियाँजी को उन्होंने झुक-झुककर विधिपूर्वक वंदना की।

पश्चात् परिवार के लोगों के बीच घिरे हुए जयमल इशानकोण की ओर गये। यहाँ पर उनका शिखाकेश के सिवा मुंडन किया गया। स्नान करके उन्होंने मुनि-वेश धारण किया। फिर एक हाथ में पात्रों की झोली और दूसरी बगल में रजोहरण को दबाये मंदगति से चलकर माताजी के पास आये। उन्होंने बड़े भाव से उनके मस्तक पर स्वस्तिक किया; उनकी चादर पर केशर की बूँदें छिटकी।

अब संपूर्ण तैयारी करके दीक्षा लेने जयमलजी माता-पिता, भाई-बन्धु की आज्ञा लेकर, उनके साथ धीरे-धीरे पूज्यश्री विराजमान थे उस ओर आगे बढ़े। जयमलजी के अंग-अंग से उमंग टपक रही थी।

वे आचार्यश्री के पास पहुँचे। पुनः उन्होंने प्रत्येक संत और महासतीजी को विधिपूर्वक तीन बार आदक्षिणा, प्रदक्षिणा करके वंदना की और आचार्यश्री के समक्ष, उनके चरणों में नज़र झुकाये, दो हाथ जोड़ कर वे खड़े हो गये।

आचायश्री ने हाथ जोड़ कर नमस्कार मंत्र पढ़ना शुरू किया; फिर उन्होंने मंगलिक पढ़ा और जयमलजी से कहा —"अब से ये ही चार, अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली का धर्म ही तुम्हारे शरण रूप हैं; मंगल रूप हैं, आधार रूप हैं।"

जयमलजी ने मस्तक झुका दिया।

उन्होंने पुनः आचार्यश्री को वंदना की और हाथ जोड़ कर विनम्रता से कहा — "हे परम उपकारक आचार्य गुरुवरजी! आप प्राणी मात्र के उपकारक हैं। संयम के साधक हैं। परम गुणी हैं, परम सौभागी हैं। जगत में भटकते हुए जीवों को आप धर्म-पथ दिखाते हैं। आप धर्म के ज्ञाता हैं, दाता हैं। आप के वचनों से मेरी आत्मा जाग चुकी है। आप

१२

जय - साधुचर्या

आचार्यश्री का प्रातःकाल विहार हुआ। श्रमण संघ की साधुचर्या का यह प्रमुख अंग है कि मुनि - गण एक ही स्थान पर न रहें और यथा शक्य अधिक से अधिक गाँवों को धर्म का लाभ कराते हुए अन्यत्र चातुर्मास करें। एक चातुर्मास के अंत से दूसरे चातुर्मास तक उनकी प्रव्रज्या चलती रहे और लोगों में जो धर्म - संस्कार भरे हैं, वे भी पुनः दृढ़ हो सकें। इस प्रकार गाँव - गाँव में धर्म - उद्योत कराते - कराते सहज ही मुनिवर लोक - जीवन से परिचित हो सकते हैं। एवं कहाँ क्या कमी है? धर्म - वृद्धि में क्या कराना है? उसका उन्हें ध्यान लग जाता है।

इसलिये चातुर्मास समाप्त होते ही सभी संत अपने - अपने आवश्यक उपकरण (पात्र, सूत्र, वस्त्र) अपने आप बाँध कर, शरीर पर अपना भार अपने आप उठा कर विहार के लिये तैयार हो जाते हैं और 'साधु तो चलता भला' की तरह वे चल देते हैं।

प्रातःकाल से ही लोगों की भीड़ महाराज साहब के दर्शन करने और उनके विदाई में गाँव की हद तक साथ देने इकट्ठी हो रही थी। चार - चार मास तक आचार्यश्री का और संतों का संग रहा था, धर्म ध्यान का रंग रहा था और अंग अंग में आध्यात्मिक ऐक्यता ऐसी जगी थी कि कोई अपने ही व्यक्ति विदेश सिधारते हो और हृदय - भावों से भरपूर हो वैसा सभी के हृदय में
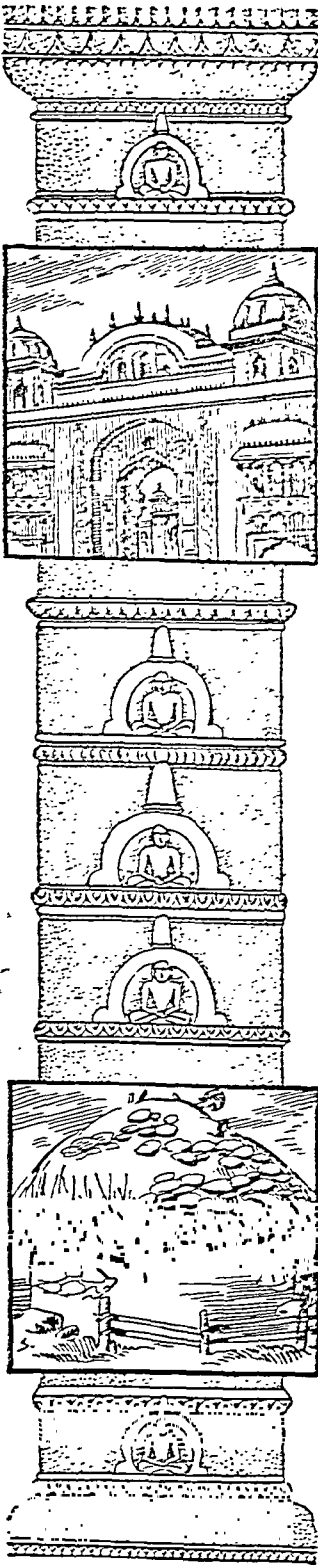
तत्पश्चात उन्होंने "तस्स उत्तरी करणेणं" का पाठ कहकर ध्यान किस प्रकार हो उसका विवरण इस प्रकार दिया —"सामान्य रूप से तो यहाँ इर्या-पथिक क्रियाओं से लगे दोष का ध्यान करके उसे छोड़ने का संकल्प करने के लिये ध्यान का विधान है। किन्तु उसके साथ ही चिंतन-मनन और एकाग्रता बढ़ाकर शरीर की आसक्ति का त्याग करने का भी विधान है। ध्यान हमें अंतमुर्ख होने के लिये प्रेरणा देता है और हमारी विवेक शक्ति को जगा कर सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिये उत्साहित करता है। ध्यान के चार प्रकार शास्त्रकारों ने बताये हैं। उसमें आर्त्त ध्यान रौद्र ध्यान अप्रशस्त हैं, और धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं। ध्यान में जब हम बुरा ही बुरा सोचते हैं, तो आत्मा के परिणाम मलीन होते हैं। गुस्सा, रोना, चिंताओं में पड़े रहना; उससे कोई सार तो नहीं निकलता और जो आत्म-बल होता है वह घटता है। अच्छे और शुभ ध्यान से आत्म-बल बढ़ता है, प्रबल होता है, और विमल होता है। ये ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान हैं। ध्यान में जब आत्म-भाव विमल हो जाता है, तब पराकाष्ठा पर पहुँचकर केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त होते हैं।"

वैरागी जयमलजी ने फिर खड़े-खड़े विधिपूर्वक "इर्या-पथिक क्रिया" का कायोत्सर्ग किया। साधक समाधि में लीन हो ऐसी भाव मुद्रा उनकी थी। कायोत्सर्ग पारने के पश्चात् आचार्यश्री ने "लोगस्स" का पाठ बोलने को कहा।

आचार्यश्री ने कहा :—"इसमें चौवीश तीर्थंकर प्रभु की स्तुति की गई है। साधक अवस्था का लक्ष्य है, आत्मा की परमदशा को प्राप्त होना। यह तभी मिल सकती है, जब हमारे सामने तीर्थंकरों का आदर्श हो। उनके गुण-गान करने से हम में भी वैसे भाव भरते हैं। प्रभु नाम स्मरण की यही महिमा है कि उसमें लीन हो जाने पर एक दिन सभी विभाव छूट जाते हैं और परमात्मा का दर्शन आत्मा में ही हो जाता है।"

तदनन्तर पुनः जयमलजी ने सभी विराजित संतों को वंदना की। जयमलजी को अब लघु दीक्षा दिये जाने की क्षण आ पहुँची। आचार्यश्री ने उच्च स्वर में महेताजी को पूछा :—"अब दीक्षा दी जाती है! आप सब की अनुमति है न?"

दर्शन होंगे?" तो कई नयन आँसू से सजल हो उठते थे। आचार्यश्री आदि को भी हृदय पर संतुलन रखना पड़ता था।

सर्व तैयारी हो गई। आचार्यश्री अपने शिष्यों के साथ खड़े हुए; उनके साथ जयमलजी भी खड़े हुए। उनको भी विहार कर जाना था। साधुचर्या का प्रथम चरण वह चढ़ रहे थे। एक तो विहार करना था और साथ ही थोड़ा बहुत जो मोह रहा हो, उसे भी हटाने का था।

अन्य सज्जनों के साथ जयमलजी के संसार पक्ष के माता-पिता, भाई, भाभी भी थे। कल तक वे सभी जयमलजी के लिये पूज्य थे। आज वे सभी उन्हें झुक-झुक कर भावभरी वंदना करते थे। जयमलजी ने दीक्षा लेकर, त्याग से अपने आपको बड़ा बना लिया था।

महेताजी और रिडमलजी के दिल में तो जयमलजी के दीक्षा लेने से गहरा-दर्द था; क्योंकि उनको ऐसा लग रहा था कि एक बड़ा सहारा छूट रहा है, विशेषतः महेताजी को तो एक आधार हट रहा है यह बात बहुत ही लग रही थी। रिडमलजी भी अपने आपको एकाकी पा रहे थे। फिर भी उन्हें संतोष था कि आज उनके परिवार में एक ने दीक्षा लेकर वंश का गौरव बढ़ाया है।

महिमादेवी का मातृहृदय नैनों से झाँक-झाँक कर बार-बार जयमलजी को निहारता था। कैसे ये विहार करेंगे? कैसे संयम पालेंगे? कहाँ जायेंगे? पिछले बाईस वर्षों से परिवार से कोई अलग नहीं हुआ था। किसी पर विपत्ति नहीं आई थी; कोई काल के ग्रस्त नहीं हुआ था। मगर आज उस परिवार का एक अंग अलग हो रहा था। तीर्थंकर की माता मरुदेवी को भी जब यह दुःख था कि उसका ऋषभ कहाँ फिरता होगा? कैसे फिरता होगा? क्या खाता होगा? कहाँ सोता होगा तो सामान्य मानवी की माता को यह मोह हो यह स्वाभाविक था। वह माँ की ममता थी जो बचपन से ही बालक के जीवन को सुरक्षित करने कितने प्रयत्न करती रहती है? कितना सहती रहती है? महिमादेवी का हृदय भर गया था किन्तु मन को कड़ा कर वह सभी देख रही थी।

को स्पर्शता है। ये पाँच आचार हैं — ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार!"

पश्चात् आचार्यश्री ने श्री संघ की ओर देखते हुए कहा :—"उनके माता-पिता स्वजनों ने संमति दे दी है; मगर आप सब की संमति ज़रूरी है। क्योंकि उनके माता-पिता आदि ने उनको वोहरा दिया है, और श्री संघ को सौंपा है और अब उनकी जवाबदारी श्री संघ पर है। इसमें भी श्रावक-श्राविकाओं पर साधुओं की जवाबदारी विशेष रूप से आती है, और इसीलिये भगवान ने आप को "अम्मा-पिया" कहा है। धर्म और साधुओं का टिकने का स्थान समाज है, धार्मिक समाज है, यानी आप की संमति ज़रूरी है। बोलो, सभी संमत हैं न?"

सभी ने एक स्वर से कहा :—"जी बापजी?"

आचार्यश्री ने फिर "करेमि भंते सामाइयं" के पाठ का भावार्थ बताते हुए कहा :—"दीक्षा संस्कारों में अपने आप को लगाये रखने की आत्म प्रतिज्ञा करना है। आज जगत में संस्कार तो हैं, किन्तु वे सभी प्रकार के स्वार्थ के हैं; लोभ के हैं। वैरागी यहाँ पर यह प्रतिज्ञा करता है कि वह सभी सावद्य योगों से — यानी पापकारी प्रवृत्तियों से दूर रहेगा। उसका प्रत्याख्यान करता है। तथा अभी तक उस से जो पाप हुए हों उनका पश्चात्ताप करता है, इनकी घृणा करता है, निंदा करता है और आत्मा को उससे हटाता है। आत्मा से जो लगे हुए हैं, यानी जिन के द्वारा पाप होता है वे योग तीन हैं :—मन, वचन और काया। साधक इन तीनों को पाप से हटाने के लिये प्रतिज्ञा करता है, और वह भी तीन करण यानी तीन प्रकार की क्रियाओं से प्रत्येक को हटाता है, यानी संपूर्ण प्रकार से वह पाप नहीं करने की प्रतिज्ञा से बद्ध होता है कि मैं मन, वचन और काया से स्वयं पाप करूँगा नहीं, दूसरों से करवाऊँगा नहीं और करते हुए को भला जानूँगा नहीं। दूसरे शब्दों में आत्मा को पाप से सभी योग और करण से दूर करता जाऊँगा यही सामायिक है, यही समकित है, यही दीक्षा मंत्र है। आत्मा को आत्म-भाव में रमण कराना और पुद्गलों से — कर्मों से दूर हटाना यही धर्म है, जिन्होंने इस धर्म का पालन करके परमात्मा पद पा लिया है, वही देव हैं

"नहीं, बापजी....! आप की छत्र छाया में दिया है....अब आप ही इसके सरछत्र हैं....!" महिमादेवी अधिक न बोल सकी।

"आप फिकर न करें! बहुत जल्दी ही सब सीख जायगा और हम सब तो है ही!" आचार्यश्री ने कहा :—"अच्छा फिर चलें!"

सब ने हाथ जोड़ लिये। महाराजश्री ने धर्म ध्यान का पुनः संदेश दिया; और उनके चरण मेड़ता से पूर्व अजमेर जानेवाली सड़क पर बढ़े। उनके पीछे-पीछे अन्य संत चलें। सब से पीछे जयमलजी चले। ऐसा मालूम हो रहा था जगत की शांति के लिये धर्म-दूत या शांति-सैनिक बढ़ते जा रहे थे।

वहीं खड़े रह जानेवालों में थे — महेताजी, महिमादेवी, रिडमल, विनयदेवी और जयमलजी के संसार पक्ष के साथी। आगे जाकर सड़क मुड़ जाती थी। जब तक सभी संत दिखाई दिये सभी खड़े रहे और वे आँखों से ओझल हुए तब तक निहारते रहे।

महिमादेवी के नयन अभी तक उस सड़क से हटे नहीं थे। आखिर रिडमल ने कहा :—"माँ! अब लौट चलें....!"

"हाँ, जयमल तो पत्थर का कलेजा करके चल दिया; मगर मैं कहाँ से दिल को पत्थर का करूँ....?" और उसके हृदय का मातृत्व भावावेग की धारा से बह चला।

"बाईजी, आप क्या करती हैं? वे तो बड़ा शुभ-कार्य करने गये हैं! ज़रा धीरज रखो और चलो....!" विनयदेवी ने उसे हाथ में थामते कहा।

"तुझे तो गर्व होना चाहिये — छाती आनन्द से भरनी चाहिये! जो सात पीढ़ी में हमारे वंश में किसी ने नहीं किया ऐसा पावन पुनीत कार्य करने की तेरे लाल ने हिम्मत की है! वह तो कुल को दीपाने चला है और तू रोती है....?" महेताजी बोले।

"मैं भी कहाँ ना कहती हूँ....? ये तो खुशी के आँसू हैं....! खुशी के....!!" महिमादेवी ने अपना हाथ छुड़ा कर, पालव से आँसू पोंछते-पोंछते कदम बढ़ाये। सभी
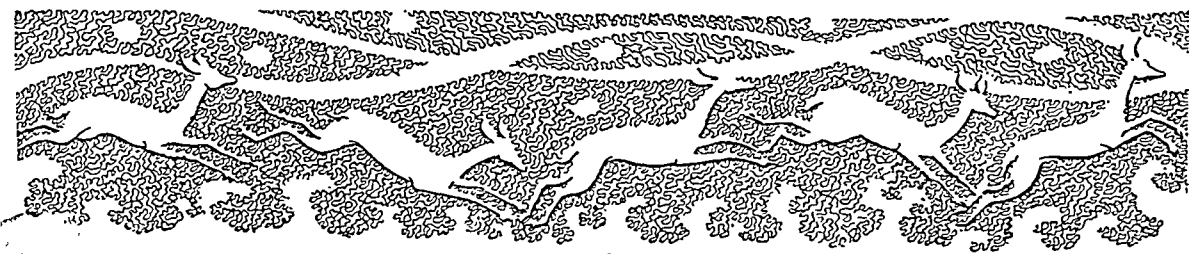
जब जयमलजी ने लोच किया तब तो आनन्द से विभोर में स्त्रियों ने गूँजाया :—

सीस वैरागी थारो अजब बण्यो रे
लोचकरण रो लाग्यो चाव...
म्हाँरा गुरुसा मोह लिया रे...
सीस वैरागी...!

इन गीतों के कारण वातावरण में नया प्रभाव आ जाता था। लोग प्रबुद्ध होकर देखते थे कि जयमलजी ने तीन करण और तीन योग से अठारह पापों का त्याग करके दीक्षा ले ली है। वे अपने आप से पूछ रहे थे कि हमारी आत्मा भी कब जगेगी?

आचार्यश्री के वदन पर प्रभा-मण्डल सुहाता था। उनके वदन पर सौम्य-भाव था। उनकी दृष्टि में अमी थी और सभी जीवों के लिये करुणा थी। आज उन्हें एक शिष्य मिला था और वे चाहते थे कि इस रत्न में ऐसे पहलू डालूँ कि उसकी प्रभा सभी दिशाओं से निकले। उनके पास विराजित उनके शिष्य भी अपने संघ में एक नया साथी आ जाने से पुलकित हो रहे थे। वे उनके प्रति अपना आत्म भाव बता रहे थे।

किन्तु जयमलजी की आत्मा कुछ विशेष चाहती थी। अतः थोड़ी देर के बाद जयमलजी अपने स्थान से खड़े हुए और दो हाथ जोड़ कर आचार्यश्री की ओर निहारते खड़े रहे। आचार्यश्री ने पूछा :—"क्या इच्छा है?"

"पूज्य गुरुदेव! आपकी आज्ञा हो तो मैं दो प्रतिज्ञायें लेना चाहता हूँ।" जयमलजी बोले।

"साधक के लिये, आत्म-कल्याण के लिये जो कुछ किया जाय वह कम है।" आचार्यश्री ने कहा।

"आपकी आज्ञा प्राप्त हो तो मैं एकांतर (एक दिन छोड़ कर एक दिन) उपवास करूँगा ताकि अपनी ज्ञान-साधना में लग सकूँ और उनमें भी दूज, पांचम, आठम, ग्यारस और चौदस —— ये पांच तिथियाँ आवे तो पांचों विगयों का (दूध, दही, घी, तेल और मिठाई) त्याग करता हूँ। आपका गुरु छत्र है तब तक ये नियम मेरे लिये अटल रहेंगे!" जयमलजी बोले।

चलते-चलते पास के एक गाँव पर सभी संत पहुँचे। यहाँ पर समाचार पहले पहुँच चुके थे। इसलिये गाँव के बाहर से ही कई लोग लिवाने आये। उन्होंने सब को वन्दना की; और सभी साथ हो लिये। गाँव में सभी लोग बड़ी कुतूहलता से उन्हें देखते रहे।

जैन साधु और इसमें भी ये मुँहपत्ति बाँधे साधु सभी के लिये प्रश्न स्वरूप बन जाते थे। लोग तरह-तरह के प्रश्न पूछते कि ये कैसे साधु हैं? न तो पैसा लेते हैं और न सीधा लेते हैं; बुलायें तो जीमने नहीं आते। न इनका मठ है और न इनकी गादी। गाँव-गाँव विचरते हैं—वह भी क्या दो-तीन दिन के लिये। घर-घर जाकर पात्र में वहर के लाते हैं और जिसके घर आज गोचरी ले आये उसके घर दूसरे दिन गोचरी नहीं लेते। सर्दी के दिन हैं—गाँव के बाहर जोगी है, वह तो धूणी लगाये बैठा है; किन्तु ये न तो आग से सेकते हैं और न कोई विशेष कम्बल आदि सर्दी से बचने के लिये लेते हैं। न कोई नशा है और न कोई फितूर, न धन का लालच, न पैसों का प्रपंच।

उनके बारे में कई बातें जान कर विशेष परिचय के लिये भी लोग आते थे। वे बड़ा आश्चर्य व्यक्त करते थे—जब ये सुनते थे कि वायुकाय के जीवों की रक्षा करने और भाषा समिति का पालन करने ये मुख-वस्त्रिका बाँधते हैं।

लोगों के बीच घिरे आचार्यश्री स्थानक के पास आये और उन्होंने आज्ञा ली:—"क्या तुम्हारी आज्ञा है?" यानी क्या, हम इस स्थान में ठहर सकते हैं?

एक व्यक्ति ने आज्ञा दी:—"जी बापजी?" अर्थात् आप इस निरवद्य[1] स्थान में ठहर सकते हैं।

फिर आचार्यश्री ने शिष्यों के साथ उस स्थान में प्रवेश किया। उन्होंने "निसिही २" कहा और संतों ने भी कहा; जयमलजी ने भी कहा। रजोहरण से रज मेल पोंछ कर द्वार के अन्दर प्रवेश कर के अन्य संतों ने पाट पर बैठे आचार्यश्री के चरणरज को पोंछी; फिर सभी ने इर्यापथिक-चलने में लगे दोषों का प्रायश्चित करने की विधि की। सभी संतों ने उनका अनुकरण किया।

---

1 पापरहित
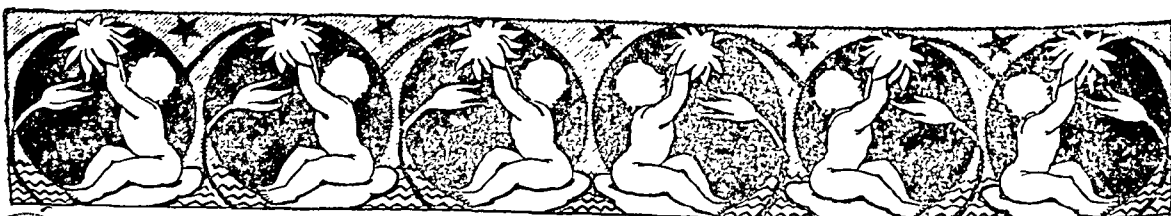
जयध्वज

खंड - २

•
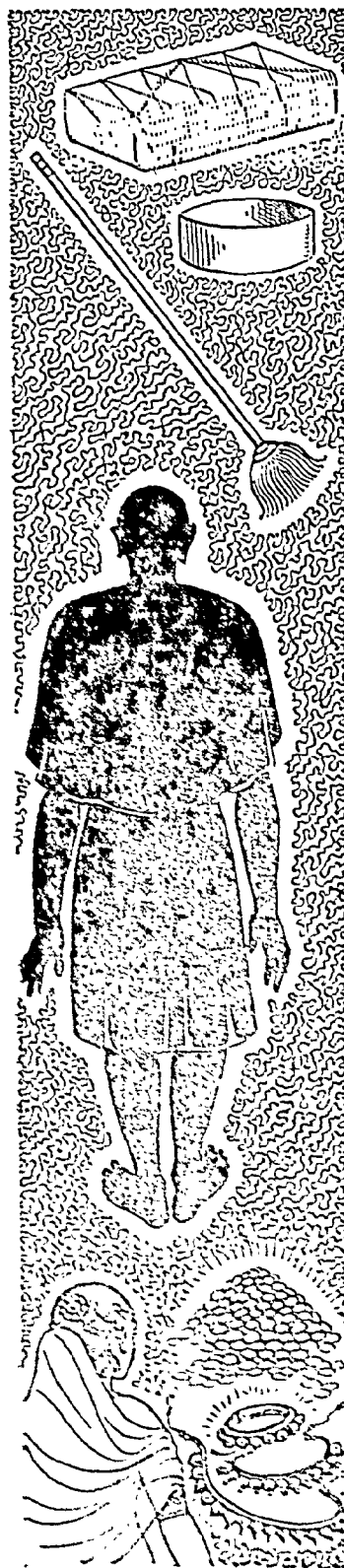
प्रवर्ज्या

साधुचर्या

•

जाऊँ!" उसके रिश्तेदार कहते हैं :—"अभी तो आपको बहुत जीना है; आपका ही हमको सहारा है.... !"

ऐसा अंतर क्यों होता है ?

कोई बड़े बुड्ढे अनुभव से आँख मटका कर कहेंगे :—"बापजी ! उसकी गाँठ में दाम होगा ?" बुड्ढे के पास पैसा होगा — यानी जिसने जोड़ रखा है उसकी आखिरी दम तक पूजा चाहना होती है। ऐसा होता होगा; किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि वह तो सब साँसारिक स्वार्थ के लिये हैं! कुछ ऐसी भी आत्मायें होती हैं जो विरल होती हैं — जो शुरू से जीवन को संस्कारित करते हैं, उनकी सिर्फ उनके सम्बन्धियों को ही नहीं, सारे विश्व को चाहना रहती है। वह अपना तन और मन तो सम्हालता रहता है; किन्तु संस्कार रूपी धन से, जीवन के अन्तिम क्षण तक पूजा जाता है। लोग उसके मुख से दो वचन सुनने तरसते हैं; उसके दर्शन को तरसते हैं और उसके आशिष मिल जाँये तो मानते हैं कि जीवन धन्य हो गया। उनके वन्दन के लिये भी लोग तरसते हैं।

तो इस पर से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा तो सभी में एक सी है; किन्तु जिसने इसको संस्कारों से भरा वह तो उन्नत होती है और जिसने इसको विषय - वासना - व्यसनों में गँवाया, वह पतित होता है। वह श्री - सम्पत्ति और स्वास्थ्य से भी मिटता है; लोगों का उसके उपर से विश्वास उठ जाता है।

तो इस प्रकार एक व्यक्ति अपने आप अच्छा बनता है और एक व्यक्ति अपने आप बुरा बनता है। जब जीव जन्म लेता है, तो उसके साथ अच्छाई, बुराई नहीं होती। उसके साथ पूर्व - जन्म के संस्कार अवश्य हो सकते हैं; किन्तु वह जो कुछ बनता है वह खुद ही बनता है। बुरे को कोई नहीं चाहता; भले को सब चाहते हैं। तो बुराईयों को छोड़कर अच्छा बनना चाहिये।

घर गन्दा हो तो उसे बुआरी लेकर साफ करते हैं, कपड़ा मैला हो तो उसे क्षारों से धोते हैं और उजला करते हैं; पात्र झूठा हो तो उसे माँझते हैं — मगर यह मानव जीवन रूपी घर गन्दा है तो कोई उसे साफ नहीं करता; प्रयत्न भी नहीं करता। यह घर

दिलाये। पहला खंध आजीवन ब्रह्मचर्य - व्रत का पालन करने का पच्चक्खान कराया। वह चतुर्थ व्रत की बाधा थी। दूसरे खंध में उन्होंने रात्रि में चारों आहार, अन्न, पानी, खाद्य (मिष्टान्न), स्वाद्य (मुखवास) आदि का पच्चक्खाण कराया। तीसरे खंध में चारों प्रकार की हरियाली — फल, फूल, पुष्प और शागभाजी का त्याग कराया और चौथे स्कन्ध में उन्होंने सभी प्रकार के सचित्त[1] पानी का — कुँए, तालाब का सचित्त, बरसाद का सचित्त, नदी का पानी और अन्य प्रकार के सभी सचित्त पानी का पच्चक्खाण दिलाया।

आचार्यश्री ने इस अवसर पर कहा :—" जयमलजी के माता - पिता का यह त्याग और पच्चक्खाण साधारण नहीं है। पुत्र संयम लेता हो उस समय मन में प्रबल भाव आता है कि हम भी कुछ करें; और इसी से इन्होंने ये त्याग किये हैं।

" चतुस्कंध — यानी चार कंधे हैं। जीव जब जाता है और मानव मृत्यु को पाता है तो उसके सगे सम्बन्धी उस शरीर को चार कंधे देकर मसाण तक पहुँचा कर उसका उत्तर - संस्कार कर आते हैं। यह तो व्यवहारिक बात हुई; किन्तु इस आत्मा को कौन कंधा देगा? इसलिये धर्मानुरागी बैरागी श्रावक इस धार्मिक चार कंधों को पहले से ही तैयार कर लेते हैं और विषय आसक्ति को हटाते हुए इन चार बातों का सहारा लेकर आत्मा का उत्तम संस्कार कर्मों की निर्जरा करते हैं। जो समयसर चेतकर उम्र होने पर अपने आप उसे स्वीकार करते हैं वे ही अपनी आत्मा का उद्धार करते हैं!"

सभी ने मिलकर जोरों से गूँजाया :—

जो बोले सो अभय…!
जैन धर्म की जय……!!

तत्पश्चात् रिडमलजी खड़े हुए और उनके साथ विनयदेवी भी खड़ी हुई। दोनों की ओर से रिडमलजी बोले :—" पूज्यवर! जाव जीवन बारह व्रतों को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा कराईये!"

---

1. सचित्त = जीव सहित

चाहिये वहरा और पात्रों में लेकर वे स्थानक पधारे। सभी पात्रों की भिक्षा आचार्यश्री को दिखाई गई और सभी भिक्षा को, एक रस करके, आचार्यश्री ने अलग अलग विभाग कर दिया और मुनि वृंद ने गोचरी आरोगी।

जयमलजी को आहार, पानी नहीं लेना था; अत: आचार्यश्री की आज्ञानुसार वे मुनिश्री नारायणदासजी के पास स्तवन स्तोत्र आदि सीखने लगे। कुछ बहुत ही कठिन और देरी से कण्ठस्थ होनेवाले स्तोत्र उन्होंने कण्ठस्थ कर लिये और नारायणदासजी मुनि गोचरी से उठे तो उन्हें सुना दिये। वे भी उनकी प्रतिभा देखकर चकित हो गये।

मुनिश्री नारायणदासजी बहुत बड़े विद्वान थे; किन्तु जयमलजी की अद्भुत स्मरण-शक्ति देखकर वे भी आश्चर्य-मुग्ध हुए बिना नहीं रहे।

वे उठ कर आचार्यश्रीजी के पास गये और हाथ जोड़ कर बोले :—"जयमलजी की स्मरण-शक्ति वास्तव में अद्भुत है!"

आचार्यश्री ने कहा :—"देवानुप्रिय! फिर आप ही उसे पढ़ाइये!"

मुनिश्री नारायणदासजी ने कहा :—"जो आज्ञा....!" उन्होंने आकर जयमलजी को और भी श्लोक आदि याद करने दिये; जयमलजी उन्हें याद करने लगे।

मध्याह्न के समय गोचरी के पश्चात् आपस में धर्म-चर्चा चली। कई विषयों पर आचार्यश्री प्रकाश डालते थे जिसे जयमलजी ध्यान से सुनते थे।

दुपहर को पुन: प्रवचन रखा गया था। इस वार रघुनाथमलजी म० सा० प्रवचन करते थे। उनके प्रवचन में चौपाई, रास, सज्झाय आदि के साथ धर्म-कथा चलती थी। धार्मिक संतों और महासतियों के जीवन चरित्र सुनकर लोगों में धर्म-श्रद्धा अधिक दृढ़ होती थी।

इस प्रवचन के अनंतर मुनिगण में स्वाध्याय पठन-पाठन चलता था जो मध्याह्न उतरने तक होता रहता था। फिर पंचमी [1] से निपटने का और गोचरी आदि का कार्य चलता था।

---

[1] शौचादि

इस लाचार और विवश परिस्थिति से आत्मा को यदि तारनेवाला है तो सच्चा ज्ञान है। वह आत्मा की पहचान कराता है और इसको ही ज्ञानी समकित कहते हैं। सच्चा ज्ञान, सच्चा दर्शन और सच्चा चारित्र्य यही आत्मा को तारनेवाले हैं।

समकित से सच्चे देव - गुरु और धर्म की पहचान होती है। जीव को यह जानना चाहिये कि सत्य क्या है? सच्चा सुख कहाँ है? जिसे वह सुख मानता है वह तो तरवार की धार पर लगा शहद है; जिस में ज़रा भी चूक की तो जीभ कटने का अंदेशा है। कई जगह तो यह सुख शक्कर जैसे दिखते हैं; किन्तु फिटकरी जैसे मुँह को बिगड़नेवाले होते हैं।

तभी ज्ञानी कहते हैं कि सच्चा सुख पाना है तो सच्चे देव की आराधना कर; उपासना कर! ये सच्चे देव कौन हैं?

सच्चे देव सम्पूर्ण ज्ञानमय हैं; तेजोमय हैं! जिन्होंने राग - द्वेष जीत लिया है और जो स्वयं तारक और दूसरों को तिरानेवाले हैं। जिनको किसी से कुछ न लेना है और न कुछ देना है — न तो इन्हें किसी के साथ पक्षपात है, न वे किसी पर अन्याय करते हैं।

प्रथम दृष्टि से जीवन के पुद्गल के सुख में लिपटे इस संसार के लोगों को यह बात अटपटी सी लगेगी। क्योंकि वे तो दुनियाँ में देखते हैं कि कितने ही देव हैं, लोग उन्हें मानते हैं; क्योंकि वे मानते हैं कि ये देव उनको धन, सम्पत्ति, पुत्र, परिवार आदि देते हैं — यानी लालच से लोग उन्हें पूजते हैं। तो कुछ देव ऐसे हैं जिन्हें लोग इसलिये पूजते हैं कि वे उनका अकल्याण कर सकते हैं, उनको दुःख में पटक सकते हैं, उन्हें दरिद्र बना सकते हैं — उन देवों की शांति के लिये लोग न जाने क्या क्या करते हैं? वे देव पैसों से, प्रसाद से, वस्त्रों से रिझते हैं; तो, और भी एक ऐसा देवों का वर्ग हैं जो रोग, महामारी, प्रलय आदि लाता है; लोग डर से उन्हें पूजते हैं!

जो देव राग सहित हैं, लोगों को खुश करने उनकी इच्छा पूरी करते हैं, उनको न मानने पर दुःख देते हैं ऐसे राग - द्वेषवाले देव, भगवान और सामान्य मानव में क्या अंतर है? जिसे सत्य पाना है, समकित पाना है उसे यही जानना है। उसे तो आत्म -

वस्त्र ही उनका ओढ़ना होता है। भयंकर सर्दी या कंपानेवाली बारिश में भी उनके पास इतने ही साधन रहते हैं।

जयमलजी के लिये ऐसे आसन पर सोने का नया अनुभव था। कल उन्हें उपवास था और यह उन्हें ऐसा सहज हो गया था कि बार-बार अन्य संतों के पूछने पर उनके चेहरे पर मुस्कान से पता लग जाता था कि उन्हें शाता है।

आचार्यश्री के "नमो अरिहंताणं" का उच्चारण सुनकर अन्य संत भी उठ बैठे। जयमलजी ने भी शय्या का त्याग किया। सभी उठकर स्तोत्र-स्तवन आदि बोल रहे थे। जयमलजी ने भी महावीर स्तवन और शांति-स्तोत्र आदि का पाठ किया।

प्रातःकाल होने में दो घड़ी बाकी रहने पर पुनः सभी संतो ने प्रतिक्रमण किया। प्रतिक्रमण करने के पहले सभी संत दीक्षानुसार अपने से बड़ों को वंदना करते हैं। जयमलजी ने भी बहुत ही भाव पूर्वक सर्व प्रथम आचार्यश्री को वंदना की।

"शाता है न....?" आचार्यश्री ने वात्सल्य भरी वाणी में पूछा।

"आपका छत्र है तो सभी शाता है!" जयमलजी ने कहा।

"ऐसे ही दृढ़ रहो....!" आचार्यश्री बोले।

जयमलजी ने क्रमशः नारायणदासजी, रघुनाथमलजी और जेतसीजी म० सा० और अन्य संतों को वन्दना की। सभी उनकी दृढ़ता से प्रसन्न थे और उनकी प्रसन्नता जयमलजी की दृढ़ता बढ़ाती थी।

प्रतिक्रमण के पश्चात् पुनः पड़िलेहना हुई। आज यहाँ से विहार करने का था; इसलिये सभी ने अपनी-अपनी संयम यात्रा का सामान बाँध कर जमा लिया था।

सूर्योदय होते ही गाँव के सुश्रावक लोग आ गये और उन्होंने आचार्यश्रीजी को गाँव में दो दिन और स्पर्शने के लिये विनति की। आचार्यश्री ने कहा कि "अब तो हमें और भी क्षेत्र स्पर्शने हैं; इसलिये विहार करना ही पड़ेगा!"

समान-भाव रखने के लिये कहा जाता है। सभी आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव जगाने के लिये, सभी जीवों के जीवन प्रति अपनी आस्था प्रगट करने के लिये अनुकम्पा दयामयी जो वीतराग वाणी है वही धर्म है।

चातुर्मास के दरम्यान उसी पर ज़ोर दिया जाता है। इसी दया, त्याग और वैराग्य के बतलाये हुए मार्ग पर जो चलते हैं वे ही सच्चे धार्मिक हैं। कम से कम यह तो सब को धारण कर लेना ही चाहिये कि वे सच्चे देव यानी अरिहंत देव, सच्चे गुरु यानी निर्ग्रंथ सु-साधु और सच्चा धर्म यानी जिनेन्द्र के द्वारा कथित दया अनुकम्पा आदि तत्त्वों से भरपूर धर्म उस पर ही श्रद्धा करेंगे....!"

सभी के कण्ठ से एक स्वर से निकला :—"हम सच्ची श्रद्धा रखेंगे और झूठे का बार-बार "तस्स मिच्छामि दुक्कडं" करते हैं!"

आचार्यश्री ने रिडमलजी की ओर देखकर कहा :—"बारह व्रतधारी श्रावक के लिये समकित पच्चक्खना ज़रूरी है; सो सर्व प्रथम उसे पचक्खिये....!"

रिडमलजी और विनयदेवी ने हाथ जोड़ लिये। आचार्यश्री ने उन्हें कहा :— "आज से आपके देव १८ दोष रहित १२ गुण सहित वीतराग अरिहंत और परमसिद्ध प्रभु हैं। कंचन और कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रतधारी षटकाय जीवों के रक्षक सत्ताईस गुणों के धारक वीतराग प्रभु की आज्ञा में विचरनेवाले साधु गुरु हैं। सर्वज्ञ भाषित दयामय, विनयमूलक अहिंसा, संयम, तप-रूप धर्म, सत्य धर्म है। इस प्रकार सत्देव, सत्गुरु और सद्धर्म की प्रतीति आप करेंगे और इनके सिवाय किसी कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को किसी भी कारणवश सत्य एवं मोक्ष का साधक नहीं मानेंगे।"

रिडमलजी और विनयदेवी ने सिर झुकाकर धारणा कर ली। तदनन्तर आचार्यश्री ने देवाराधना, गुरु-आराधना और धर्म-आराधना का विशेष स्वरूप समझाया और तदनुसार व्रत नियम पचक्खाये। आचार्यश्री ने यह भी समझाया कि इनमें भी आपके लिये [illegible]

१३

जय - बड़ी दीक्षा

जैन धर्म की दीक्षा के अनुरागी को सर्व प्रथम तो कुछ समय के लिये वैरागी बनकर संत - गुरु जन के साथ विचरण करना पड़ता है। वह साधुचर्या की प्रत्येक बात को ध्यान से देखता है, और स्वाध्याय पठन के द्वारा छोटी दीक्षा के योग्य अपने आपको बनाता है। तब सर्व प्रथम उसकी छोटी दीक्षा होती है और आजीवन तीन करण, तीन योग से सर्व प्रकार के सावद्य - जीवन व्यापारों से निवृत्त होने के लिये प्रतिज्ञा लेकर साधु संस्कारों में दीक्षित होता है। किन्तु प्रतिज्ञा बद्ध होना और पालना दो अलग बातें हैं। छोटी दीक्षा आने तक वैरागी श्रावकों के घर बारी - बारी से भोजन लेता है; किन्तु छोटी दीक्षा के बाद वह दूसरों की लाई हुई गोचरी लेता है — किन्तु उसकी लाई हुई गोचरी अन्य संत नहीं लेते हैं। वह नियमित रूप से साधु - वृंद के संग रहकर साधुचर्या का पूर्ण अभ्यास करता है और गौचरी लाने के, साधु आचार के सभी नियम जान लेता है तब उसे बड़ी - दीक्षा दी जाती है।

जयमलजी ने धीरे - धीरे साधुचर्या की बातें बहुत ही स्पष्ट रूप से समझ ली थी। उनका अध्ययन चालू ही था आचार्यश्री ने उन्हें साधुचर्या जानने के लिये दशवैकालिक - सूत्र पढ़ने के लिये कहा। जैसे - जैसे वे गाथायें पढ़ते गये और उसका अर्थ समझते गये वैसे - वैसे आगे बहुत सी बातें स्पष्ट हो गईं।

समान - भाव रखने के लिये कहा जाता है। सभी आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव जगाने के लिये, सभी जीवों के जीवन प्रति अपनी आस्था प्रगट करने के लिये अनुकम्पा दयामयी जो वीतराग वाणी है वही धर्म है।

चातुर्मास के दरम्यान उसी पर ज़ोर दिया जाता है। इसी दया, त्याग और वैराग्य के बतलाये हुए मार्ग पर जो चलते हैं वे ही सच्चे धार्मिक हैं। कम से कम यह तो सब को धारण कर लेना ही चाहिये कि वे सच्चे देव यानी अरिहंत देव, सच्चे गुरु यानी निर्ग्रंथ सु - साधु और सच्चा धर्म यानी जिनेन्द्र के द्वारा कथित दया अनुकम्पा आदि तत्त्वों से भरपूर धर्म उस पर ही श्रद्धा करेंगे....!"

सभी के कण्ठ से एक स्वर से निकला :—"हम सच्ची श्रद्धा रखेंगे और झूँठे का वार - वार "तस्स मिच्छामि दुक्कडं" करते हैं!"

आचार्यश्री ने रिडमलजी की ओर देखकर कहा :—"बारह व्रतधारी श्रावक के लिये समकित पच्चक्खना ज़रूरी है; सो सर्व प्रथम उसे पच्चक्खिये....!"

रिडमलजी और विनयदेवी ने हाथ जोड़ लिये। आचार्यश्री ने उन्हें कहा :— "आज से आपके देव १८ दोष रहित १२ गुण सहित वीतराग अरिहंत और परमसिद्ध प्रभु हैं। कंचन और कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रतधारी षडकाय जीवों के रक्षक सताईस गुणों के धारक वीतराग प्रभु की आज्ञा में विचरनेवाले साधु गुरु हैं। सर्वज्ञ भाषित दयामय, विनयमूलक अहिंसा, संयम, तप - रूप धर्म, सत्य धर्म है। इस प्रकार सत्‌देव, सत्‌गुरु और सद्‌धर्म की प्रतीति आप करेंगे और इनके सिवाय किसी कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को किसी भी कारणवश सत्य एवं मोक्ष का साधक नहीं मानेंगे।"

रिडमलजी और विनयदेवी ने सिर झुकाकर धारणा कर ली। तदनन्तर आचार्यश्री ने देवाराधना, गुरु - आराधना और धर्म - आराधना का विशेष स्वरूप समझाया और तदनुसार व्रत नियम पच्चक्खाये। आचार्यश्री ने यह भी बताया कि इसमें भी आपको निम्न: कारणों से

जब समर्थ आत्मायें संयम-मार्ग में अग्रसर होती हैं तो उनके स्नेही सज्जनों को यह लगता है कि यह हमें छोड़ कर जा रहा है। सत्य तो यह है कि वह छोटे से संकुचित और स्वार्थी संसार को छोड़ कर विशाल विश्व के कुटुम्ब का अंग बनने जाता है और तब उसके लिये मेरा-तेरा भेद मिट कर, "सभी आत्मायें मेरे जैसी" यह आत्मीयता जगती है और वह जगत कल्याण करने की ओर अग्रसर होता है।

अन्त में हम आप सभी से, चौमासे दरम्यान किसी भी कारण वश किसी का असावधानी से मन, वचन, काया को दुःख पहुँचा हो तो उसकी और श्री संघ के साथ व्यवहार में किसी को कष्ट पहुँचा हो तो उसकी क्षमा-याचना चाहते हैं — "खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे" यानी सर्व जीवों की हम क्षमा चाहते हैं; सर्व जीव क्षमा करें और धर्म-भावना दृढ़ बनाये रखें!" महाराजश्री का प्रवचन पूर्ण होते ही सभी ने जयजयकार किया।

*　　　　*　　　　*

आज मेड़ता में "साहम्मिवच्छल्ल (स्वधर्मी वात्सल्य)" जीमन था। इस दीक्षा के उपलक्ष में आये सभी जैन-समाज के अंग एक साथ बैठकर जीमनेवाले थे। मेड़तावाले तो धन्य हो गये कि वर्षों में उनके यहाँ इतना बड़ा धार्मिक उत्सव मनाया गया और आज उनके यहाँ इतने सारे लोग इस मंगल प्रसंग पर इकट्ठे हो गये हैं।

उन्होंने बड़े प्रेम से सब को मनवार कर-करके प्रेम से भोजन कराया; और वे मनवार क्यों नहीं करते? क्योंकि अतिथि, उसमें भी स्वधर्मी भाई अपने यहाँ कब आये? इसलिये आज का उत्सव बड़े उल्लास, आनन्द एवं उत्साह के बीच पूरा हुआ।

●
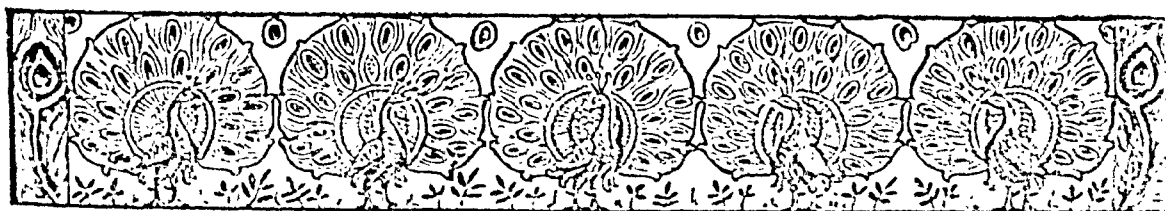
जयमलजी की लगन, ज्ञान - साधना और उत्कट क्रिया एवं तपस्वी - जीवन से एक सप्ताह में ही वे इसके लायक बने हैं और इनको बड़ी दीक्षा दी जायेगी ! "

सभी उपस्थित जन - समुदाय ने ज़ोर से जयजयकार किया ।

आचार्यश्री ने जयमलजी को कहा :—" सर्व प्रथम पहला महाव्रत ग्रहण करने का है। " उन्होंने पाठ पढ़ा :—

" पढमे महव्वए सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं । सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि । "

जयमलजी भी पाठ को दोहराते गये । " मैं प्रथम महाव्रत स्वीकार करता हूँ और सर्व प्रकार की जीव - हिंसा से निवृत्त होने का पच्चक्खाण लेता हूँ । सर्व जीव - राशि पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वाउकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय जिसमें दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पंचेंद्रिय — तिर्यंच, नारकी, मनुष्य और देवता के जीव आते हैं उनकी सर्व प्रकार से विराधना नहीं करूँगा — नहीं कराऊँगा और करने को भला नहीं जानूँगा — मन से, वचन से, काया से, जाव - जीव पर्यंत मेरे ये प्रत्याख्यान हैं ! "

आचार्यश्री ने अहिंसा महाव्रत का पच्चक्खाण दिलाकर दूसरा सत्य महाव्रत, तीसरा अचौर्य महाव्रत, चौथा सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य महाव्रत और पाँचवाँ सम्पूर्ण परिग्रह त्याग महाव्रत छट्ठे रात्रि भोजन त्याग व्रत के पच्चक्खाण भी तीन करण, तीन योग से कराये । "

आचार्यश्री ने इन महाव्रतों को पच्चक्खाने के बाद कहा :—

" आज से जयमलजी पूर्ण साधु बने हैं — इन्हें छः काय की रक्षा की बड़ी जवाबदारी दी गई है । साधु छः काय के पीहर गिने जाते हैं और इन्हें सच्चे अर्थों में अपना जीवन वैसा बनाना है । दया, अनुकम्पा, करुणा, आत्म - भाव को सूचित करते हैं । सभी जगत के जीवों के प्रति साधु - हृदय में असीम आत्म - भाव होना चाहिये । तीर्थंकर भी जगत जीवों की असीम - दया से प्रेरित होकर दीक्षा लेते हैं ; केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं और जगत जीवों को कल्याणकारी मार्ग दिखाते हैं । साधु उनके बताये मार्ग पर चलते हैं ।
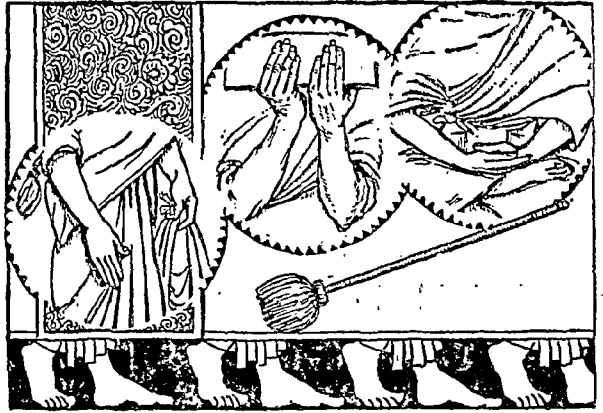
हो रहा था। सब के हृदय भावभूरि हो रहे थे। मुनिवरों के लिये भी यह आत्मीयता ऐसी बन्ध जाती है कि वे अपने आप को इस विशाल विश्व के अंग मान कर चलते हैं फ़िर भी नये धार्मिक सम्बन्ध उन्हें कुछ खींचते रहते हैं; किन्तु साधु जीवन तो बहता पानी है। उसे एक स्थान स्थिर होना नहीं कल्पता — उसे तो और भी स्थानों को स्पर्शना होता है और जो क्षणिक स्थानिक मोह रह भी जाय तो उसे हटाकर वह अन्य गंतव्य स्थान के लिये प्रस्थान करता है। मोह हो गया तो साधु-जीवन की गति रुक जाती है।

आचार्यश्री भूधरजी महाराज तो युग को परखनेवाले थे और वे जानते थे कि एक ओर धर्म के नाम पर आडम्बर का प्रचार बढ़ रहा है वहाँ दूसरी ओर, राज-काज में ऊँचे ओहदे पाने के लिये ओसवाल कुल के लोग राजाशाही धर्म की ओर यानी वैष्णव या हिन्दु धर्म की ओर झुक रहे थे। राज-काज के लोभ में कितने ही लोग वैष्णव बन चुके थे। एक तो वहाँ पर जैन-धर्म की गहराई नहीं थी; दूसरा वहाँ पर व्रत पालन की इतनी कठिनाई नहीं थी और तीसरा राज्याश्रम का प्रलोभन था। इधर मारवाड़ में रण-प्रदेश के किनारे बसे लोगों के पास पहुँच कर धर्म का उपदेश देना — उन्हें स्थिर करना बहुत ही आवश्यक था; मगर वहाँ पर बहुत कम संत पहुँच पाते थे। इसलिये पूज्य भूधरजी महाराज ने इस सूके मारवाड़ में धर्म-जल सिंचन का बृहत् और कठिनतम कार्य उठाया था। उनका प्रभाव अपूर्व था और जहाँ-जहाँ वे जाते थे वहाँ अपने मधुर वचन, प्रवचन और सुंदर-सुंदर उदाहरणों से, धार्मिक चर्चाओं से, कथानकों से लोगों को अपनी ओर खींच लेते थे। फलतः उनके व्याख्यान में जैन ही नहीं, आसपास की वसति के अजैन लोग भी आते थे।

आज विहार के समय उन लोगों की भीड़ भी देखने जैसी थी। स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बाल, जैन-अजैन सभी वन्दना कर रहे थे। सब को अपना आत्मीय बिछुड़ रहा हो वैसा दिल में दर्द था। वह कभी-कभी वाणी से फूट पड़ता था :—" बापजी! फिर कब

साधु को परिग्रह किसी भी प्रकार का नहीं रखना चाहिये। वह तो संसार से कंचन-कामिनी का त्याग करके ही निकलते हैं; किन्तु फिर भी जड़ पदार्थ साधन में जो मोह-मूर्छा होती है उससे हटना चाहिये। शास्त्रकारों ने कहा है :—

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"

जड़ पदार्थों में आसक्ति-मूर्छा ही परिग्रह है। साधु के लिये वस्त्र, पात्र, सूत्र-ग्रंथ और अन्य साधनों को सम्हाल के रखना चाहिये; किन्तु उनमें आसक्ति पैदा नहीं होनी चाहिये। यहाँ तक कि इस शरीर को भी परधर्मी जानकर उसकी आसक्ति दूर करनी चाहिये।

इन पाँच महाव्रतों के पालन करनेवालों को व्रत पालन तभी संभव है जब कि वह पाँच इंद्रियों को वश में रखे। साधु यह भली-भाँति जानता है कि एक इंद्रिय विषय से जीव अपनी मृत्यु बुलाते हैं तो पाँचों इंद्रियों के विषय विकारों से तो आत्मा के सभी गुणों का नाश होता है। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा मुरली वादन सुनकर मृग मुग्ध हो जाता है और पारधि उसका शिकार करता है। चक्षु इंद्रिय — यानी ज्योति का रूप देखकर पतंग ललचा कर उसके पास जाता है और वह जल मरता है। घ्राणेंद्रिय से अच्छी गंध सूँघता भँवरा कमल में जाता है वहाँ मस्त होकर कमल में बंध हो जाता है; वहाँ पर हाथी आता है और कमल के साथ भँवरे को भी कुचल कर नाश करता है। रसेंद्रिय के कारण मच्छ काँटे में फँसे आटे को खाने जाता है और वह मौत का शिकार होता है। और स्पर्शेन्द्रिय के विषय सुख के पीछे तो मदमस्त हाथी भी मारा जाता है। बनावटी हस्तिनी बनाकर, हाथी को शिकार के स्थान पर लाया जाता है — वह विषय भोग में अनुरक्त होकर नहीं देख पाता कि सच है या बनावट। जैसे ही आगे बढ़ता है तो उपर बिछाई घासवाले गहरे गढ़े में गिरता है। जब एक-एक इंद्रिय के विषय सुख का यह हाल है तो पाँचों इंद्रियोंवालों की तो क्या दुर्गति होती होगी? साधु जीवन में पाँचों इंद्रियों को वश में रखना आवश्यक है।
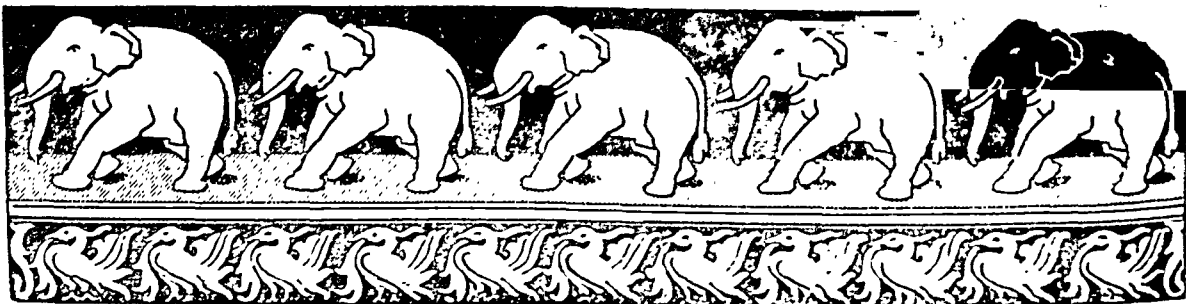
जयमलजी की ओर जब वह देखती थी तो चाहती थी कि उसकी आँखों से अपनी आँखे नहीं मिले और जयमलजी के अनजाने ही वह हर बात को कसौटी पर कस रही थी। जयमलजी के चेहरे पर प्रखर आत्मानंद झलक रहा था। इससे तो यह स्पष्ट था कि परिवारवालों से बिछड़ने का उन्हें दुःख नहीं था और हो भी कैसे? वे तो विश्व को कुटुम्ब बनाने जा रहे थे।

अपने साधु वेश में जयमलजी ऐसे दिखाई दे रहे थे जैसे कोई यात्री मुक्ति मार्ग के पथ पर बढ़नेवाला है। महिमादेवी को जयमलजी का यह रूप सुहाया; हालाँकि जयमलजी ने दीक्षा ले ली थी, फिर भी माँ का हृदय माँ का होता है! महिमादेवी भी एक माँ थी; और जब कोई गौरव से यह कहता :—"देखा! जयमलजी ने छः मास की ब्याहिता को त्याग कर दीक्षा ली है, धन्य है उसको!" तो महिमादेवी का मातृ-हृदय धन्य हो उठता था।

विहार का समय होने आया। सभी अहाते के बाहर आये। सभी ने जैन धर्म, जिन शासन और आचार्यश्री के जयनाद का घोष किया। हाथ में धर्म शासन दंड पकड़े भूधरजी और उनके पीछे-पीछे सभी शिष्य, साधु एवं जनसमुदाय चलने लगा।

गाँव की सीमा पार कर सभी सड़क के एक छोर पहुँचे और जहाँ वृक्ष फैला हुआ था उसके नीचे इकट्ठे हो गये। यहीं से गाँववालों की वापसी होनेवाली थी और महाराजश्री आगे विहार कर जानेवाले थे।

सभी रुक कर खड़े हो गये। महाराजश्री ने मंगलिक सुनाया। सभी ने हाथ जोड़ कर सुना और बाद में वंदना की। महाराजश्री सभी को "धर्म ध्यान में वृद्धि करो!" का शुभ संदेश देते रहे।

महेताजी, महिमादेवी, रिडमलजी और विनयदेवी ने भी वंदना की। अब जयमलजी उनसे अलग होनेवाले थे। सभी मौन थे; किन्तु आँखें न जाने क्या-क्या प्रश्न पूछ रही थीं?

अंत में आचार्यश्री ने मौन भंग कर के महिमादेवी से ही कहा :—"क्यों, कुछ कहना है....?"
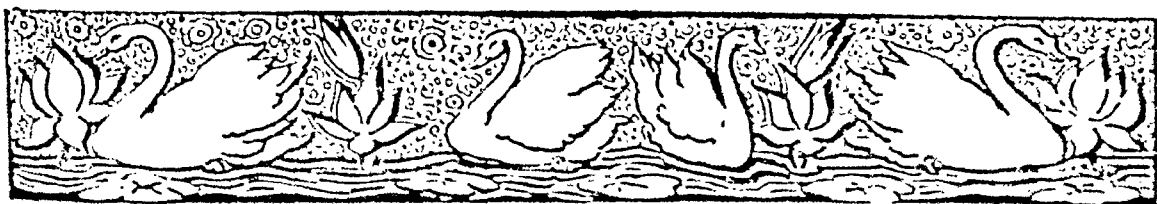
वह सम्यक् यानी सत्य शिव-सुंदर का संगम होने चाहिये। इसीलिये साधु के लिये "णाण संपन्न", "दंसण संपन्न" और "चरित्र संपन्न" होना आवश्यक है।

एतदर्थ साधु चरित्र निभाने के लिये उसे जो-जो कष्ट, दुःख या परिषह सहने पड़ते हैं उसके लिये आवश्यक गुण यह भी प्रगटाने का है वेदनीय-सम्मं अहियासणिया और वैसे ही शरीर के अंत पर मरणांतिक सम्मं अहियासणिया — यानी संलेखना करने का, पंडित मरण करने का गुण प्रगट होना चाहिये।

ये सताईस गुण प्रगटाकर साधुता को दीपाने पर ही साधु छः काय के पीहर रूप महान पदवी प्राप्त करता है, जगत में वंदनीय, पूजनीय और कीर्तनीय बनता है।

समाज ही इसके अब सच्चे माता-पिता हैं। किन्तु साधु-जीवन की विशेषतायें सुरक्षित करने के लिये शास्त्रकारों ने आठ प्रवचन मातायें बताई हैं। ये हैं पाँच समिति — इर्या समिति, भाषा समिति, ऐषणा समिति, भंड उपकरण यतना समिति और उच्चार पासवण, यानी परठने की समिति हैं। समिति को सम्=सम्यक् प्रकार से, इति=समाप्ति यानी विवेक पूर्वक क्रियायें पूर्ण करना, कह सकते हैं और इसके साथ तीन गुप्ति यानी मन, वचन और काया के व्यापारों को सुनियंत्रित करना है। जो इन माताओं के आदेशानुसार चलते हैं वैसे साधु जगत में नाम उज्ज्वल करते हैं और ऐसा ज्ञानी क्रियावान साधु जगत के दुःख समूह का नाश करते हैं।"

आचार्यश्री ने प्रवचन का उपसंहार करते हुए कहा :—"जयमलजी को ऐसा साधु बनना है। अब से इन्हें गोचरी जाने का अधिकार है और ज्ञान-क्रिया चारित्र का संपूर्ण विकास करने का भी पूर्ण अधिकार मिल चुका है। अल्प समय में जो संयम में पराक्रम दिखाया है वैसे ही पराक्रमी बनें यही आशा है। सिंह बनकर आये सिंह बनकर दीक्षा पाल कर शासन का नाम उज्ज्वल करें। एतदर्थ हमारा मार्ग-दर्शन हमेशा रहेगा।"

जयमलजी ने नत मस्तक होकर गुरु वचन शिरोधार्य किया एवं सभी संतों को वंदना करके वे अपने आसन पर बैठ गये। एक साथ अनेक कंठों से "जैन धर्म की जय!", "आचार्यश्री भूधरजी की जय!" एवं "जयमलजी मुनि की जय!!" का घोष हुआ।

साथ हो लिये। आज सभी को लग रहा था कि उनके जीवन में प्रकाश की नई किरण चमक रही है !

*   *   *

मेड़ता से सीधी सड़क छोटे-मोटे गाँवों को छूती हुई आगे बढ़ रही थी। अगहन का कृष्ण-पक्ष लग चुका था और सर्दी भी शुरू हो रही थी। खेतों में खेती लहलहा रही थी। ओस की बिन्दुयें मोती के समान चमक रही थीं और जिस पर नाच कर सूरज-किरणें नये रंग जगा रही थीं।

आचार्यश्री भूधरजी धर्म-यात्रा के लिये बढ़ते जा रहे थे। उनका तो लक्ष्य यही था कि गाँव-गाँव जाना, धर्म प्रचार करना और जिन शासन की महिमा बढ़ाना।

उनके साथ उनके शिष्य-वृंद में नारायणजी म० सा०, रघुनाथजी म० सा०, और जेतसीजी म० सा० आदि संत थे। उनके साथ नये दीक्षित जयमलजी चल रहे थे। यह एक नया धर्म परिवार उनके लिये बन गया था। सभी गुरु बन्धुओं का और स्वयं गुरु महाराज का असीम वात्सल्य उन्हें मिल रहा हो वैसा जयमलजी को थोड़े से परिचय में हो चुका था। विहार में भी पूज्यश्री बार-बार मुड़ कर जयमलजी को देखते थे। सस्नेह उनकी आँखों से प्रश्न आता था कि चलना दुष्कर तो नहीं मालूम होता है ?

जयमलजी भी अत्यन्त कृतज्ञता पूर्वक आँखों से ही उत्तर देते मालूम होते कि आपका छत्र और गुरु बन्धुओं का आत्म-भाव है तो मेरे लिये क्या कठिन है ? वैसे नव दीक्षार्थी को अभ्यास हो एतदर्थ उनका कुछ बोझ अन्य संत उठाने तैयार हुए थे; किन्तु जयमलजी ने बड़ी विनम्रता से टाल दिया था कि अपना बोझ आप उठाना चाहिये — यहीं से तो संयमी जीवन का शिक्षण प्रारंभ होता है। हालाँकि कभी भी इस तरह अपना बोझ उठाये वे पैदल नहीं चले थे; फिर भी वे थके नहीं। उनको मालूम हो रहा था कि उनके पैरों में कहीं से नया बल आ रहा है और यात्री को मंज़िल का रास्ता मिलने पर उसे थकावट नहीं लगती वैसा जयमलजी अनुभव कर रहे थे। आचार्यश्री की अमृत-भरी दृष्टि उनके लिये संजीवनी सा कार्य करती थी।

१४
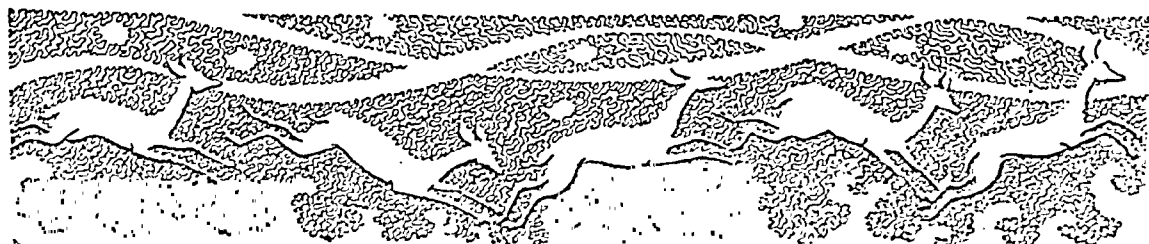
जय - क्षमाशील आचार्य

जयमलजी की प्रखर बुद्धि देखकर आचार्यश्री ने मुनिश्री नारायणदासजी को आज्ञा देकर भली भाँति कह दिया कि उनको अध्ययन वे करायें। मुनिश्री नारायणदासजी संस्कृत के पंडित थे और दीक्षा लेने के पूर्व उनका अध्ययन और पंडिताई का कार्य चलता था।

आचार्यश्री की आज्ञानुसार उन्होंने सर्व प्रथम उन्हें सरल सूत्र पढ़ाने शुरू किये। जयमलजी पहले ही दशवैकालिक सूत्र समझ चुके थे और उसके बहुत से अध्याय वे याद भी कर चुके थे। जहाँ जहाँ उनकी कुछ अशुद्धि रह जाती थी, मुनिश्री नारायणदासजी सुधारते थे और साथ - साथ व्याकरण को भी समझाते थे। गुरांसा की पाठशाला में जयमलजी को थोड़ा अध्ययन तो हो चुका था; किन्तु पं. मुनिश्री नारायणदासजी की शैली और विद्वता और थी। वे प्रत्येक गाथा का संस्कृत अर्थ और पदच्छेद भी बताते थे साथ ही काव्य के अनुसार भी उसका विश्लेषण करते थे। यह तो उनका क्रम था ही लेकिन आचार्यश्री के आदेश पर उन्होंने एक तरफ से तो सूत्र - गाथा विवेचन शुरु किया और दूसरी ओर से उन्होंने कथानको से भरपूर — जिनकी कहानियाँ जयमलजी प्रवचन और चर्चाओं में सुनते थे, उन सूत्रों को भी पढ़ाना प्रारंभ किया।
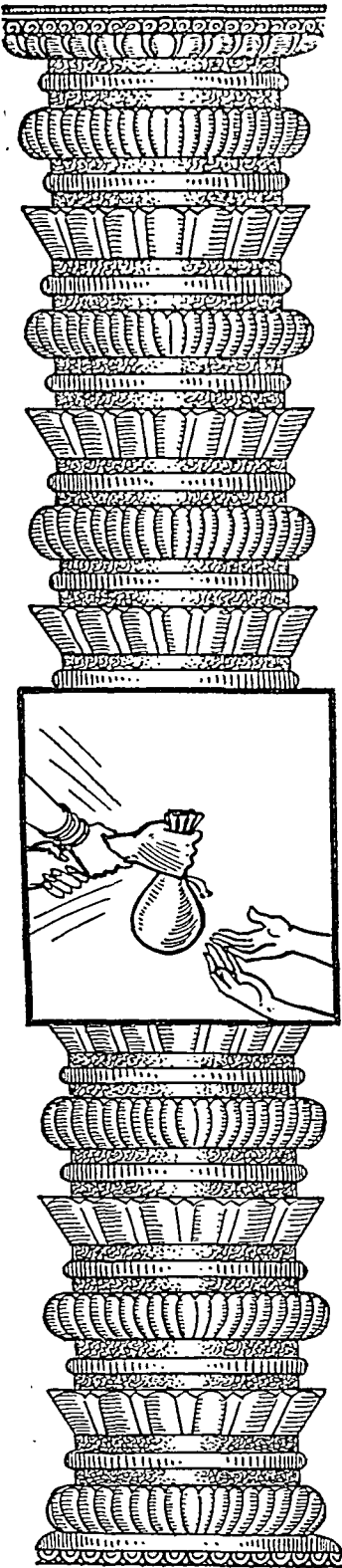
यथास्थान अपना भण्ड उपकरण (सामान) रखकर साथ के संत गाँव में पानी बहरने के लिये रवाना हुए। आचार्यश्री पाट पर विराजमान हुए और उन्होंने लोगों के आगे प्रवचन "णमो अरिहंताणं" के पाठ से शुरू किया। जयमलजी भी उनके पास पाट पर बैठे शोभायमान हो रहे थे और लोगों का ध्यान बरबस ही अपनी ओर खींच रहे थे।

प्रातःकाल के व्याख्यान में सामान्य रूप से सूत्र-वांचन और उसका विस्तृत खुलासा रहता था। विहार के बाद यदि प्रवचन का अवकाश रहा तो संत उसको चूकते नहीं थे। क्योंकि उनका तो कार्य-जीवन का ध्येय जन-जीवन को सुधारने का था। धर्म प्रचार करने का था। उसमें वे अपने जीवन आचरण से तो छाप डालते ही थे साथ ही प्रवचन से वे धर्म-उद्योत कराते रहते थे।

आचार्यश्री भूधरजी ने उत्तराध्ययन सूत्र की एक गाथा पर प्रवचन शुरू किया :—

"असंखयं जीविय मा पमायए
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं

यह जीवन असंस्कृत है, यानी संस्कारों से दूर है; प्रमाद न कर! जब वृद्धावस्था आयेगी तो तेरा कोई शरण नहीं है। उस समय जो कुछ तेरा आधार होगा वह तेरे संस्कार ही होंगे। मानव जीवन को बचपन, यौवन में नाना प्रकार के विषय-वासना व्यसनों में गँवा देने पर बुढ़ापे में कोई साथी नही रहता। सब उससे दूर रहते हैं और बुड्ढे बन जाने पर खुद का जीवन तो भार रूप होता ही है; दूसरों को भी बोझ मालूम होता है और वे चाहते रहते हैं कि "ये डोकरा जल्दी मरे और जल्दी इसे हम जला आवें!" वह दूध माँगता है तो पानी भी कोई नहीं देता और उसे लगता है कि :—

वृथा मनुज जनम गँवायो…!

मगर उसके विरुद्ध में भी एक चित्र है कि पत्नी, पुत्र-पुत्री, पुत्र-वधु, पोते सभी खड़े हैं और वृद्ध की सेवा में लगे हैं। वृद्ध कहता है कि "मैं तो नाहक तकलीफ सब को दे रहा हूँ; अब तो ये आँखे बँद हो जाये और अरिहंत का स्मरण करके मैं चला

सूत्र याद करते, धारते फिर कुछ याद नहीं होता; फिर वे याद करते। यों दिन-बीत गया, रात भी गई। जयमलजी समझ नहीं पा रहे थे कि ऐसा क्यों हो रहा है? अंत में उन्होंने तय किया कि जब तक सूत्र कंठस्थ नहीं होंगे मैं आहार, पानी नहीं लूँगा।"

एक तो उन्हें पारणा था और उस पर उन्होंने खड़े होकर एकाग्र होकर याद करने की धारणा की। प्रातः होते ही मुनिश्री नारायणदासजी उनके पास आये। पारणे की गोचरी लाने के लिये चलने को कहा। जयमलजी ने कुछ आत्म ग्लानि के साथ कहा :—"ये सूत्र मस्तिष्क में बराबर नही जमे हैं। आपने तो बहुत ही सविस्तर पढ़ाया था; मगर कुछ मुझमें त्रुटि है अतः मस्तिष्क में नहीं चढ़ रहे हैं।"

मुनिश्री नारायणदासजी के होंठ तक यह बात आकर रह गई कि :— "व्याकरण का ज्ञान हो तो शीघ्र याद हो सकते हैं। साथ ही उनको यह भी याद आया कि यह काव्य व्याकरण तर्क की जब-जब बातें आती थीं तब-तब उन्हें न जाने क्यों बेचैनी सी आती थी। और कल उन्होंने पढ़ाया तब शायद उसी बेचैनी की अवस्था में पढ़ाया हो।

उन्होंने कहा :—"आज पुनः पढ़ लेना!"

"नहीं! एक तो आपका समय नष्ट करता हूँ; पुनः एकाग्र नहीं हो पा रहा हूँ। अब तो यह निश्चय किया है कि आज एकांतर उपवास का पारणा तभी करूँगा जब ये सूत्र मुझे याद हो जायेंगे।" जयमलजी बोले।

मुनिश्री नारायणदासजी कुछ अनमने से होकर गोचरी लेने को पधारे। जयमलजी ने मन की एकाग्रता बढ़ाई और धीरे-धीरे उन्हें कप्पिया सूत्र याद हो गया....इसीतरह उन्होंने क्रमशः कप्पवंडसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वन्हिदशा सूत्र याद कर लिये। एक प्रहर बीत गया और पाँच सूत्र उन्होंने याद कर लिये थे। गोचरी लेके आने के बाद उन्होंने मुनिश्री नारायणदासजी को सुना दिये।

वहाँ पर उपस्थित सभी लोग आश्चर्य मुग्ध हो गये। आचार्यश्री ने साधुवाद दिया और जयमलजी पारणे की गोचरी के लिये गुरु-आज्ञा लेकर चल पड़े। हालाँकि उनको आहार, पानी की गोचरी मिल जाती थी; किन्तु कई बार पारणे के दिन तिथि आ जाती थी

विषय-वासना से गन्दा हो गया है; उसे संयम रूपी बुआरी से साफ करना चाहिये। यह मानव तन रूपी कपड़ा बुरे संग से गन्दा हो गया है; उसे सत्संग रूपी क्षारों से धोना चाहिये। सब से बड़ा तो यह आत्मा का पात्र है; वह व्यसनों से झूठा हो गया है। पाप रूपी अभक्ष्य से भरता जा रहा है और अधर्म आचरण रूपी जल से और भी विषाक्त हो रहा है। सामान्य पात्र को कितनी सावधानी से साफ करते हैं तो आत्मा के इस पात्र को स्वच्छ नहीं करेंगे? अवश्य करना चाहिये। उसे भोगोपभोग की मर्यादा करके साफ करना चाहिये; उसके लिये पुण्य का ही भोजन होना चाहिये और धर्म तत्त्व का जल पीकर संतोष मनाना चाहिये।

उसके लिये सर्व प्रथम विषय-वासना और व्यसनों से दूर हो जाना चाहिये। बुढ़ापा आने पर हर कदम पर, हर साँस पर लोग बोलते हैं:—"हे भगवान! हे महावीर....!" तो उसके शरण में अभी से ही क्यों न जाया जाये? संसार में चार ही शरण ऐसे हैं जो जीव को अंत तक काम आते हैं!"

महाराजश्री ने चार शरण अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म पर प्रकाश डालते हुए प्रवचन पूर्ण किया और सभी ने खड़े होकर आचार्यश्री से "चत्तारि मंगलं" के पाठ से मंगल-पाठ सुना। कई लोगों ने व्रत-पच्चक्खाण भी किये।

प्रवचन के बीच जो मुनि वृन्द प्रवचन में नहीं बैठे थे उनमें से कुछ प्रातःकाल पानी आदि बहरने बाहर पधारे थे। सामान्य रूप से तो प्रातःकाल का यह बहरना प्रवचन के पूर्व ही हो जाता था; किन्तु विहार करके आने पर आचार्यश्री ने लोगों की इच्छा को मान देकर प्रवचन किया था।

जयमलजी को तो पच्चक्खाण के अनुसार आज उपवास था। इसलिए वे अपने स्थान पर बैठ गये। अन्य मुनिवर थोड़ी देर बाद बाहर गोचरी के लिये पधारे। बाहर जाते हुए वे "आवस्सिही ३" यों बोलते थे और स्थानक में पुनः आने पर "निसिही ३" बोलते थे।

सभी को बहराने के भाव ऊँचे थे और सभी सुश्रावकों ने मुनि वृंद से प्रार्थना की कि आज उनके घर को लाभ देवें। मुनि वृंद ने चार-पाँच घरों से थोड़ा-थोड़ा जितना

किन्तु ये रंग थोड़े ही दिनों में उतरने लगा; लोगों की भीड़ कम होने लगी। लोग कभी-कभी तो उनका चलता आख्यान ही छोड़कर चले जाते थे और आरती के समय तक तो नाम मात्र के लोग रह जाते थे।

बात क्या है? पंडितजी ने जानना चाहा।

उन्होंने एक आगेवान सज्जन को पूछा :—"क्या बात है? लोग कम कैसे हो रहे हैं? क्या कोई बाहर गाँव मेला लग रहा है?"

"बाहर गाँव तो नहीं, पंडितजी गाँव में ही मेला लग रहा है। यहाँ पर एक बड़े अवधूत साधुजी हैं; लोग उनके व्याख्यान में जा रहे हैं? क्या मधुर वाणी है....! क्या उनका तप है और क्या वे प्रत्येक प्रसंग को ऐसा स्पष्ट समझाते हैं कि बस, सुननेवालों के दिल में बात उतर जाती है....!!" उसने कहा।

"अच्छा....!" पंडितजी ने साश्चर्य पूछा।

"हाँ महाराजजी! आप की अगुवानी ले रखी है; नहीं तो मेरा भी मन वहीं जाने को तरसता है!" आगेवान ने कहा।

"ऐसी क्या बात है?" पंडितजी ने फिर पूछा।

"पंडितजी महाराज! आप कई बार ऐसा कहते हैं जो सामान्य बुद्धि में नहीं उतरता। जैसे आपने दो दिन पूर्व कर्ण के बारे में कहा था कि वह तो कान से पैदा हुआ इसलिये कर्ण कहलाया था।" उसने कहा।

"निस्सन्देह....! निस्सन्देह....!! यह तो धर्म-शास्त्र में लिखा है। ये चमत्कार की बातें सामान्य लोग कहाँ से समझेंगे?" पंडितजी ने कहा।

"मगर लोगों ने थोड़े दिनों के पहले ही उनसे सुना था कि कर्ण के जन्म की बात कान से सुनने में गोपनीय (छुपाई) रखी गई; इसलिये वे कर्ण कहाये और यह बात सामान्य बुद्धि में शीघ्र उतरती है।" आगेवान ने कहा।
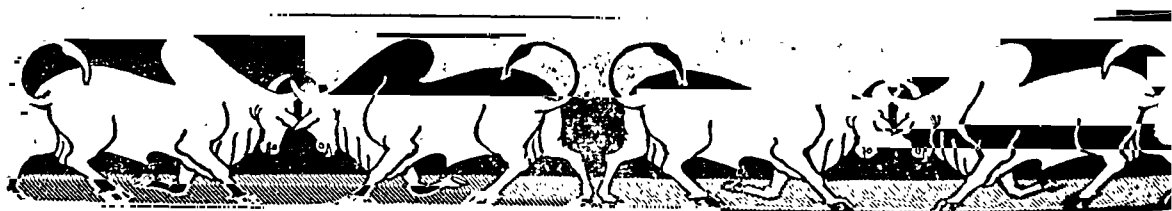
गोचरी के बाद सूर्यास्त के घड़ी भर पहले, पात्रादि शुद्ध करके प्रतिलेखन चलता था। छः काय के रक्षक अपने वस्त्र, पात्र, शास्त्र - ग्रंथ, रजोहरण, मुंहपत्ति आदि सभी को उलट - पलट कर देख लेते थे कि कोई नज़र में आये वैसे जीव - जंतु तो नहीं है जिससे उसकी विराधना से बचा जाये। जग - जीवन और जीवात्माओं के साथ आत्मभाव रखने का, उसके प्रति सजग रहना ही साधुचर्या है और उसमें पड़िलेहणा - प्रतिलेखन को साधु की पाँच समितियों में से चौथी समिति माना गया है।

शाम तक के दर्शन करनेवाले दर्शन - वंदन करके चले गये और प्रतिक्रमण करनेवाले भी आज्ञा लेकर प्रतिक्रमण करने बैठ गये कि मुनि वृंद ने भी प्रतिक्रमण शुरू किया। सभी जीवराशि को जानते, अजानते जो कष्ट लगा हो — पहुँचा हो, इसके लिये क्षमा माँगी गई और जो साधुचर्या के नियम भंग हुए, अनजान में कोई दोष लगे, उसकी आलोचना करके प्रायश्चित किया गया — यही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के पश्चात् रात्रि के एक प्रहर तक अलग - अलग मुनिवरों के पास बैठकर लोग धर्म - चर्चा करते रहे और कुछ बाल - वर्ग रघुनाथमलजी म० सा० आदि से धर्म - कथा आग्रह पूर्वक सुनता रहा। बच्चे जब कथा सुनने का आग्रह करते तो महाराजश्री भी कथा सुनाने के बाद बच्चों से पल सके वैसे नियम लेने को कहते और इस तरह उनके जीवन में संस्कार भरते।

कुछ सेवा - भावी मुनि आचार्यश्री की सेवा - वैयावच्च भी करते रहें। गुरु - गुणी की सेवा ने कितने ही आत्माओं को तार दिया है। अंत में पहर रात बीते मुनि वृन्द चार शरणों को स्वीकार करके सोये। जयमलजी के लिये साधुचर्या में लगने का यह पहला ही संपूर्ण अवसर था। उन्होंने कुछेक बातें तो दीक्षा के दिन और रात्रि में ही जान ली थी; किन्तु विशेषतः उनके इस नये जीवन का यह प्रारंभ था।

रात्रि का जब एक प्रहर बाकी रहा तो आचार्यश्री "नमो अरिहंताणं" का पाठ बोलकर अपने पाट पर बैठे हो गये। साधु - गण को सोने के लिये बिस्तर नहीं होता; किन्तु एक सफेद वस्त्र में लिपटी ऊनी या सूती चादर ही उनका बिछौना होता है और एक उत्तरीय

साधुजी ने कहा :—"मुझे शास्त्रार्थ नहीं करना है; आपको कोई शंका हो तो कहिये। ज्ञान चर्चा का विषय नहीं — समझ के साथ चरित्र गठन की आधार शिला है। वह वाक् विलास नहीं बनना चाहिये....!"

"तुम क्या शास्त्रार्थ करोगे? तुम्हें आता ही क्या है?" पंडितजी ने तपाक् से अपने पंथ के लोग जहाँ बैठे थे उनको देखकर कहा :—"अरे! तुम इस अज्ञानी का भाषण सुनने चले आये हो? कैसा भी हो, अपना धर्म ही अपनाना चाहिये, "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"। किसी के बहकावे में न आना चाहिये; उठो, चलो....!!"

मगर कोई न उठा।

पंडितजी जोर से चिल्लाये—: "अरे धर्म द्रोहियों! इसीलिये तो धर्म रसातल को जा रहा है....! क्या कलियुग है, घोर कलियुग है! क्या बैठे हो यहाँ....? अपने राम, कृष्ण, रामायण, महाभारत छोड़कर यहाँ क्या सुनने आये हो? इसके पास क्या जानकारी है, न संस्कृत जानते हैं, न शास्त्रार्थ कर सकते हैं!"

साधुजी ने विनम्रता से कहा :—"पंडितजी! शास्त्रार्थ दोनों समान बलवाले, ज्ञानवाले और चारित्र्यवालों में होता है न? यही तो शास्त्रार्थ का प्रथम आवश्यक नियम है! तो पहले आप "सभासु साधु इति सभ्यः" यानी सभा में कैसे आना, जाना, बैठना, बात करना सीखें फिर शास्त्रार्थ करेंगे?"

बैठे हुए लोग हँस पड़े। पंडितजी का गुस्सा बढ़ता ही गया। अन्त में एक उनके ही सज्जन ने कहा :—"पंडितजी! आप नाहक गुस्सा कर रहे हैं। इन साधु महाराजजी ने अपने मधुर और स्पष्ट प्रवचनों से लोगों का हृदय आपके आने के पहले ही जीत लिया है। फिर ये सच्चे अर्थ में साधु हैं। एक बार गोचरी करते हैं और दो पहर तक आतापना लेने का तप करते हैं। त्यागी हैं — न कुछ द्रव्य लेते हैं; न जोड़ते हैं — न किसी के घर खाना खाते हैं और न अपना ढिंढोरा पिटवाते हैं; तब आपको तो राजसी ठाठ-बाट चाहिये। रेशम-ज़री के वस्त्र चाहिये; राजसी भोजन होना चाहिये और राजसी सवारी होनी चाहिये। आपको आरती में बराबर द्रव्य न मिला तो आपके तेवर बदल जाते हैं।"

आचार्यश्री के समझाने-बुझाने पर लोगों ने बड़े ही आग्रह से कहा :—"फिर सुबह को दूध-कलेवा लेकर गाँव को लाभ देकर पधारें—वैसे जयमलजी का पारणा भी है।"

आचार्यश्री इस धर्म-प्रेम को नहीं टाल सके।

* * *

दिन आधा पहर चढ़ने आया तब आचार्यश्री ने विहार किया। उन्होंने जिस सज्जन से ठहरने की आज्ञा माँगी थी उसकी आज्ञा उसे वापस सम्हलाई। साधु आज्ञा लेकर ठहरते हैं और जाते समय भी उसे स्थान सौंपकर जाते हैं। इसे आज्ञा सम्हलाना कहा जाता है।

गाँव के बहुत से लोग भी आचार्यश्री के साथ हो लिये। काफी दूर तक साथ देने के बाद आचार्यश्री के मुँह से मंगल-पाठ सुनकर वे गाँव को लौटे। और आचार्यश्री शिष्य-वृंद के साथ मार्ग पर आगे बढ़ने लगे।

पूज्यश्री संतों के साथ भँवाल गाँव आये। वहाँ रात ठहरे और वहाँ से भी शीघ्र विहार कर वे रियाँ पहोंचे। वहाँ के ठाकुर कुशलसिंहजी आदि ने आकर दर्शन किये और भक्त-जनों ने भी संपूर्ण लाभ लिया। वहाँ से भी शीघ्र विहार करना था; क्योंकि बड़ी दीक्षा के लिये विखरणिया के श्री संघ के आग्रह को मान लिया गया था।

प्रातःकाल होते विहार हुआ। सूर्य जब सिर के उपर आने लगा, तभी दूर से गाँव दिखाई देने लगा। ये विखरणिया गाँव था; और सामने ही लोग समुदाय मुनिवरों को लिवा लाने आते दिखाई पड़ा।

पास आते ही जयजयकार के नाद से वातावरण गूँज उठा।

●

फटा जा रहा है ओर यह पाखंडी दो - दो पहर तक सिंकता रहता है, सिंकता है; सिंकने दे, तभी तो ढोंगी ने तपस्वी बनकर सब को भरमा दिया है — मगर अब, वह कहाँ जायेगा, उसका पाखंड उसके साथ सो जायेगा ! हाँ, यहाँ कोई तो नहीं है, बढ़िया मौका है ....!

ह....! ह....!! हा....! हा....!!

उसने अट्टहास्य किया। पास में छुपे जाट को इशारा किया। जाट ने लकड़ी की जड़ी हुई मूढ़ से कस के प्रहार किया, सिर पर....!

"मार दिया! मार दिया....!!" आवाज़ सुनकर पंडितजी ज़ोर से हँसे! "बेटे! तू भी मज़ा चख...!"

मगर वहीं खडखडाट हुई। सूके घासपात में पैरों की आहट ज़ोरों से हुई और किसी की आवाज़ आई! जाट तो भाग खड़ा हुआ लकड़ी फेंककर। पंडितजी खड़े रहे।

"वही शैतान ने मार दिया दिखता है; पकड़ो! बचके जाने न पाये....!!"

दो - तीन व्यक्ति जहाँ साधुजी मार खाकर गिरे थे, उस ओर आ निकले। पंडितजी को होश आया कि "भागो, नहीं तो दुर्गत होगी...!" जाट तो अदृश्य हो चुका था। पंडितजी दौड़कर पास की झाड़ी में छुप गये। दो व्यक्ति उन्हें ढूँढने लगे और एक गाँव में खबर कराने और हवलदार को लाने दौड़ा।

गाँव में हाहाकार मच गया।

लोग लाठियाँ लेकर दौड़ पड़े। अरे, रे....! ऐसे संत का कौन शत्रु हो सकता है? सब झाड़ी को घेर कर खड़े हो गये। यह शोरगूल और इतनी भीड़ का अनुभव करके पंडितजी की हिम्मत टूट गई। वे फुबक कर बैठे थे कि किसी ने उनके सिर के बाल पकड़ कर बाहर निकाला। सब चौंक पड़े।

"अरे, पंडितजी! यह क्या कुमति सूझी....?"

"अपना प्रभाव न जमा सके तो बच्चु संत को मारने चला; ले मझा चखाता हूँ!" एक ने ज़ोर से लाठी कस कर कमर पर लगाई।

आचार्यश्री भी अनेक प्रश्नों के द्वारा जयमलजी के ज्ञान को जाँचते थे। जयमलजी के गुरुभाई रघुनाथमलजी म० सा० भी उन्हें कई बातों पर प्रकाश डालके समझाते थे। इस थोड़े से अवकाश में आचार्यश्री जान गये थे कि जयमलजी होनहार एवं शासन दीपानेवाले हैं।

बिखरणिया संघ के आग्रह से यह निर्णय लिया गया था कि जयमलजी को बड़ी दीक्षा यहीं पर दी जाये। एक तो जयमलजी के संबंध में काफ़ी बातें लोगों में फैल चुकी थीं और सब ऐसे प्रतिभाशाली संत को देखने का लोभ संवरण नहीं कर सकते थे।

जो लोग अधिक समय निकाल कर जयमलजी का अध्ययन देखते थे उनके लिये उनकी तेजस्वी बुद्धि आनंद और आश्चर्य का कारण बनती थी। सभी का एक ही मन होता जा रहा था कि उन्हें शीघ्र बड़ी दीक्षा से दीक्षित किया जाय।

बिखरणिया जैन श्री संघ के आगेवानों ने अपना अदम्य उत्साह दिखाते आचार्यश्री को विनति की कि "जयमलजी की बड़ी दीक्षा के उत्सव को मनाने का लाभ बिखरणिया गाँव को मिले!"

आचार्यश्री सभी सोचते हुए उसे टाल न सके। बड़ी दीक्षा देने की तिथि छोटी दीक्षा के एक सप्ताह के बाद की यानी मिगसर वदी ९ निश्चित की गई। बिखरणिया श्री संघ ने जयमलजी के माता, पिता एवं परिवारवालों को और आसपास के श्री संघों को इसकी सूचना दी और आग्रह से मंगल पावन दीक्षा - प्रसंग सफल बनाने के लिये पधारने के लिये लिखा। बहुत बड़ी संख्या में लोग इस दीक्षा पर पधारे। एक तो लाँबिया के मूथा के पुत्र, फिर छः मास की व्याहिता का त्याग और उपर से ज्ञान के धारक — ऐसे जयमलजी को देखने के लिये भी आसपास के गाँव से कई लोग आये। बिखरणिया में आनन्द ही आनन्द का मेला लगा हो ऐसा वातावरण छा गया था।

*   *   *

उसी समय “ठहरो....!” कहकर ज़ोर से आवाज़ आई। लोग देख रहे थे कि वे साधु जिनको पंडितजी ने पीटा था वे शीघ्र गति से आ रहे हैं।

वास्तव में बात यह हुई थी कि साधुजी पर प्रहार हुआ है — यह सुनकर उनके साथवाले संत को लेकर श्रावक एवं भक्त-गण उस स्थान पर पहुँचे जहाँ आचार्यश्री लाठी प्रहार से बहते खून के साथ पड़े थे। उनको होश नहीं था। साथ के संत की चिकित्सा से वे घड़ी भर बाद होश में आये और सारी स्थिति समझ कर संत का आधार लेकर उठ खड़े हुए; और धीरे-धीरे गाँव की ओर चल पड़े।

गाँव में प्रवेश करते ही कुछ लोग सामने आये। उनमें से एक ने कहा :— “महाराज! उस पापी को दण्ड मिल रहा है!”

“कस-कस के कोड़े पड़ रहे हैं; कुकर्म का बराबर फल चख रहा है!” दूसरे ने कहा।

संत का दयालु हृदय यह सुन सका नहीं। उन्होंने आनेवालों से फौरन पूछा :— “नहीं, ऐसा नहीं हो सकता....! कहाँ है वह? चलो! जल्दी चलो....!” संत के चरणों में गति आई और वे जेल तक पहुँच गये।

उनको देखकर हवालदार जो उनका भक्त था, वह बाहर आया और उसने कहा :— “बापजी! आप ने क्यों कष्ट किया? मैं उसकी पूरी मरम्मत कर दूँगा....!”

“नहीं! ऐसा नहीं होगा! आप उसे छोड़ दो!” साधुजी बोले।

“बादशाह का फरमान है कि आप जैसे मुखवस्त्रिकावाले साधु को पीटनेवालों को कोड़ों की सज़ा दी जाय; मैं उसे नहीं छोड़ सकता!” हवालदार बोला।

“लेकिन अपराधी तो वह हमारा है; उसे दंड हम स्वयं देंगे।” साधुजी महाराज बोले।

“मैं उसे छोड़ नहीं सकता जब तक दिल्ही के बादशाह का सही सिक्के के साथ रुक्के से फरमान नहीं मिलता कि इसे छोड़ दिया जाय....!” हवालदार ने कहा।

उसमें सब से महान व्रत है अहिंसा। अहिंसा ही धर्म का प्राण और साधु - जीवन का आदर्श है। श्रावकों को तो गृहस्थी चलाने निमित्त कई प्रकार की छूट रखनी पड़ती है; किन्तु साधुओं को तो सम्पूर्ण हिंसा का त्याग ही होता है।

यह संसार अनेक प्रकार के जीवों से भरपूर है। कुछ जीव तो दृष्टि गोचर होते हैं; किन्तु कुछ दृष्टि गोचर नहीं होते। संसार में पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के गये कहे हैं। जिसमें मनुष्य और तिर्यंच को तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं। नारकी जीवों की जानकारी धर्म - शास्त्रों से मिलती है और देवताई जीवों का परिचय होता है एवं जानकारी भी होती है। इन सब को कष्ट न पहुँचे इसके बारे में ध्यान रखना तो फिर भी सरल है; किन्तु चतुरिन्द्रिय, त्रीयेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय, जीवों के बारे में साधु जीवन में बहुत ही उपयोग रखना पड़ता है। इसमें भी चलने फिरनेवाले त्रस जीव जो कि दो इन्द्रिय तक होते हैं उन पर भी नज़र पड़ सकती है; किन्तु एकेन्द्रिय जीव जो होते हैं उनका ध्यान रखना बहुत ही कठिन होता है। ये जीव हैं पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इसमें से प्रत्येक काय के जीवों की रक्षा करना साधु - जीवन का परम अंग है। रजोहरण इसलिये रखा जाता है कि त्रसकाय के जीवों की विराधना न हो। अचित्त पानी ही लेने का विधान इसलिये है कि जल — अपकाय के जीवों की विराधना न हो। मुखवस्त्रिका से वायुकाय के जीवों की रक्षा का सूचन है और पात्र से, अपने लिये नहीं पकाया — वनस्पति और अग्निकाय के आरम्भ - समारम्भ से बनाया हुआ नहीं; किन्तु जो भोजन तैयार है उसमें से थोड़ा - थोड़ा गोचरी के रूप में लेकर, किसी एक घर पर भार रूप न बनकर, आहार वहरना वनस्पति और वायुकाय के जीवों की रक्षा करने का आदेश है। वैसे बरसता पानी हो, सचित जल हो, वनस्पति का संसर्ग हो ऐसे कितने ही सचित द्रव्य के संसर्ग से लगा आहार जो कि प्रासुक नहीं होता वह उसे नहीं बहरना चाहिये।

इसके लिये सतत जागृति और परम विवेक एवं दैनिक गठन की आवश्यकता है। अत: छोटी दीक्षा से जब तक दीक्षार्थी इसके योग्य ज्ञान व क्रिया से नहीं बनता, बड़ी दीक्षा नहीं दी जाती। उसे उसके योग्य बनाया जाता है।
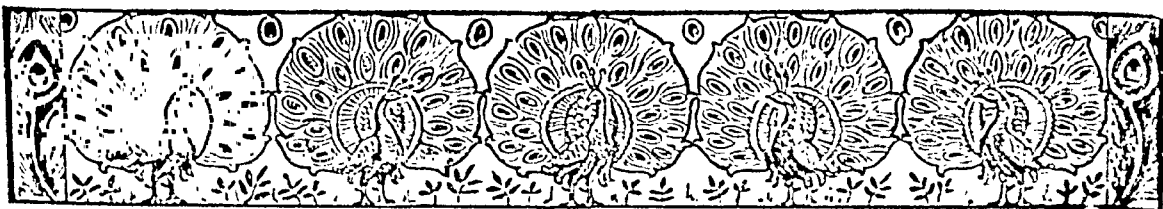
इसके लिये कई और भी बातें होनी चाहिये। सर्व प्रथम तो साधु को सत्य का उपासक होना चाहिये। उसे झूठ तो बोलने का विचार तक नहीं करना चाहिये; किन्तु जो कुछ बोलना चाहिये वह हित, मित, प्रीत कर होना चाहिये।

अहिंसा - व्रत और जीव रक्षा के निमित्त धर्म - रुचि अनगार के प्राणों का बलिदान देने की कथा सभी जानते ही हैं वैसे सत्य; किन्तु हिंसा पैदा होनेवाली बात नहीं बोलकर, साधु - व्रत दीपानेवाले और मुर्गे की प्राण - रक्षा के लिये समभाव से मरण - वेदना सहनेवाले मेतार्य मुनि की कहानी ज्वलंत है।

साधु के मुख पर बँधी मुखवस्त्रिका उसे यह भी सतत याद दिलाती है कि तुम व्रत में बँध गये हो और इस मुख से तुम्हें सत्य किन्तु प्रिय, हितकर किन्तु मीठा वचन बोलने का है।

बल देने पर उन्होंने व्रत ले रखा था। तदनुसार प्रातः क्रियाओं से निपटकर शौचादि निपटने जाते और वहाँ दोपहर तक वे प्रचंड गर्मी में सूर्य की आतापना लेते खड़े रहते। शाम को लौटते और गोचरी लेते थे। उसमें भी एकांतर तप चालु रखते थे। अतः रात्रि को उनका प्रवचन होता था। उनके पास जिन काशी के पंडितजी नारायणदासजी ने दीक्षा ली; यही अब मुनिश्री नारायणदासजी थे।

जयमलजी को पढ़ाने आचार्यश्री ने आदेश दिया था और उनके मन में हाहाकार उत्पन्न हो गया था। उनका मन अस्वस्थ हो गया। अशांत और विह्वल मन के साथ गुरुदेव आचार्यश्री भूधरजी के पास हाथ जोड़ कर खड़े हो गये।

आचार्यश्री उन्हें थोड़े समय में जान गये थे। उन्होंने पूछा :—"क्या बात है ?"

"गुरुदेव! आपकी आज्ञा का पालन....! आज मन फिर अशांत हो गया है। जिन पोथियों को काल्ह गाँव में ही छोड़ चुका हूँ....! उसे पढ़ाने की उमंग नहीं हो रही है!" मुनिश्री नारायणदासजी ने निवेदन किया।

"साधु हुए, ज्ञानी हो; फिर भी गाँठ ही बाँध रहे हो....! अभिमान की गाँठ तो छोड़ी, अब यह हीनता की गाँठ को भी छोड़ो....!" आचार्यश्री ने कहा।

"मन नहीं मानता....!"

"गाँठ छोड़ दो, सब समझ में आ जायेगा! ज्ञान खराब नहीं है, वही तो चारित्र की ज्योत जगाने का पहला साधन है! "पढमं नाणं तओ दया" ज्ञान था तभी तो तुम्हारी आत्मा जगी! उसकी ज्योत से जयमलजी का ज्ञान का भानु चमक उठेगा!" आचार्यश्री ने परम वात्सल्यमयी हँसी में कहा।

और मुनिश्री नारायणदासजी जान गये कि जो गुरु कह रहे हैं वह ठीक है। उनके जीवन में संयम ले लेने के बाद आचार्यश्री का संसर्ग होने पर भी कई प्रश्न उठते थे! वे मौन रहते थे; किन्तु मन में द्वंद चलता रहता था।

साथ ही चार कषायों का तो साधु जीवन में बिल्कुल ही त्याग होना चाहिये। क्रोध, मान, माया और लोभ तो सामान्य जीवन में भी मानव के गुणों का नाश करते हैं तो साधु जीवन उससे दूर रहे यही साधक की जागृति होनी चाहिये। क्रोध, प्रीति का नाश करता है, मान विनय की नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ तो सब का ही नाश करता है। ऐसे कषायों से तो साधु को दूर ही रहना चाहिये।

चार कषायों के त्याग के लिये विशेष मार्ग बताते हुए साधु जीवन में दो गुण प्रगटाने पर ज़ोर दिया गया है। एक है क्षमावंत बनना। साधु को तो अपकारक पर भी उपकारक बनना चाहिये। चंडकोशिक नाग ने प्रभु को डसा; किन्तु प्रभु ने तो उसका उद्धार ही किया। क्षमा से बढ़कर कोई बड़ी वीरता या साधुता जगत में नहीं हैं। "क्षमाश्रमण" साधु के लिये प्रयोग किया जानेवाला विशिष्ट शब्द है। साधुत्व की जागृति के लिये दूसरा जो गुण प्रगट करने का है वह है वैराग्यवंत बनना। वह दीक्षित तो होता है किन्तु उत्तरोत्तर उसे वैराग्य प्रबल रखकर राग का नाश करना है। क्षमा से द्वेष शांत होता है तो वैराग्य से राग का शमन होता है और वीतराग अवस्था प्राप्त होने में सहायता मिलती है।

यह अवस्था साधु जीवन में तभी आती है जब उसमें भावों की सत्यता (भाव सच्चे) करण-क्रिया की सत्यता (करण सच्चे) और सभी प्रवृतियों की सत्यता (जोग सच्चे) प्रकट होता है। उसकी करणी-कथनी और प्रवृति में एकता होती है। इससे उसके भाव निर्मल, विचार वचन शुद्ध और सारे क्रिया कर्म आत्मभाव से ओत-प्रोत बनते हैं।

अतः मन, वचन और काया के सारे व्यापार यानी विचार, वचन ओर आचरण में समभाव आना चाहिये और साधु के लिये यह आवश्यक माना गया है — जिसे मन समाधारणीया, वय समाधारणीया और काय समाधारणीया कहा गया है।

साधु की इन सब प्रवृतियों का आधार या जीवन का आदर्श तो है ज्ञान-दर्शन चारित्र की प्राप्ति। अतएव उसे वे तीनों तत्त्व प्राप्त होने चाहिये और यह भी निःशंक है कि

में देखते हैं कि चारित्र की पूजा होती है। तो क्या सत्य है?" मुनिश्री नारायणदासजी ने पूछा।

"बस, यहीं अटके हो? ज्ञान की तो सर्व प्रथम आवश्यकता है ही; लेकिन वह सभी आत्माओं में "आत्मवत् सर्व भूतेषु।" को पहचाननेवाला होना चाहिये। उसे प्रत्येक जीवात्मा में रहे आत्म तत्त्व को स्वीकार करना चाहिये और अपने समान उसके आत्म तत्त्व को स्वीकार कर उसकी जीवन जीने की इच्छा को मान देनेवाला होना चाहिये। ज्ञान में जब यह तत्त्व नहीं रहता तो वह ज्ञान परधर्मी बनता है यानी संसार के जड़ - पदार्थ भोग - विलास की ओर विकास करता है। उसे क्या खाना चाहिये; उसकी कीर्ति कैसे बढ़े यही वह सोचता है। फलतः वह जीवन - निर्माण पर पदार्थ को श्रेय मानकर होता है। यह अज्ञान है क्योंकि उसमें आत्म - ज्ञान को भुला दिया जाता है। तब आत्म - ज्ञान में आत्मा का विकास कैसे हो? उसके आधार पर जीवन - निर्माण होता है और इसी से जीव शिव - मुक्त बनता जाता है; यह चारित्र है।"

"मेरा हिसाब फिर भी हल नहीं होता। चारित्र ऊँचा या ज्ञान? — किससे प्रारम्भ करें जीवन गणित को!"

"दोनों में कोई भी प्रारम्भ हो सकता है; किन्तु सर्व प्रथम आत्मा रूपी एक तो लेना ही पड़ेगा। उसके साथ चारित्र। चला, भाव ऊँचे हुए तो दर्शन स्पष्ट हुआ और परमात्मा स्वरूप की पहचान हुई। ज्ञान से प्रकाश हुआ और श्रद्धा बढ़ी तो अपने आप चारित्र की ओर झुकाव हुआ कि परमात्म स्वरूप समझ में आने लगा। अपनी रामायण ही लो — शबरी कहाँ पढ़ी थी....? राम की श्रद्धा थी और उसके जूठे बेर खाकर रामचन्द्रजी धन्य हुए और शबरी तिर गई, क्यों? उसे अनन्त श्रद्धा थी और उसी में भाव ऊँचे होते गये। अतः यह श्रद्धा आवश्यक है!" आचार्यश्री ने कहा।

"बराबर....!"

"मगर ज्ञान भी चाहिये। एतदर्थ रावण को लो — ज्ञान में उसका कोई सानी नहीं था। शक्ति में उसे कोई मात नहीं कर सकता था; किन्तु वह "अणु - अणु में आत्मा"

दीक्षा-समारोह के उपसंहार रूप कई श्रद्धावान श्रावक लोगों ने नये-नये व्रत पच्चक्खाण लिये। कुछेक ने रात्रि भोजन त्याग तो कुछेक ने व्यसन त्याग के पच्चक्खाण लिये। अंत में आचार्यश्री ने मंगलिक सुनाया और सभी ने खड़े होकर दोनों हाथ जोड़कर सुना।

सभी दर्शन वंदन करके जाने लगे। आसपास के गाँव के आये सभी सज्जनों को मिश्री और खोपरे (सूका नारियल) की प्रभावना की गई।

आचार्यश्री के पास महेताजी, महिमादेवी, रिडमलजी और विनयदेवी एवं जयमलजी के संसार पक्ष के कई संबंधी-मित्र गण खड़े रहे। उन सब को संतोष और आनंद था।

आचार्यश्री ने मुस्कान के साथ महिमादेवी से कहा :—"उस रोज तो विनोद में ही मैं कह बैठा था कि आठ कर्मों का नाश करने को कहे; किन्तु आज तो सच ही जयमलजी अष्ट कर्मों का नाश करने चले हैं और अभी तो इनका भावि बहुत ही उज्ज्वल दीखता है।"

"बापजी! आप जैसों की उन पर छत्र छाया है। वे अनुभव प्राप्त कर शासन को दीपायें और सब का नाम उन्नत करें यही आशा है।" महिमादेवी ने कहा।

सभी लोगों ने संतों को वन्दना की। जयमलजी को वंदना करते करते सब यह अनुभव कर रहे थे कि आज उनके (जयमलजी) कारण उनके जीवन में कुछ धन्यता आ गई है।

*　　　*　　　*

विखरणिया से जब संतों ने विहार किया तो गाँववाले समझ रहे थे कि उनका गाँव पवित्र हो चुका था जहाँ पर संत पधारे और बड़ी दीक्षा हुई।

आचार्यश्री भूधरजी को आत्म संतोष था कि उन्होंने न केवल जयमलजी को दीक्षित किया है, साथ ही एक बहुत बड़े जैन परिवार जो कि करीब-करीब जैन संस्कार खो रहा था उसे जैन धर्म के संस्कार दिये हैं। और महेताजी एवं महिमादेवी को परम संतोष था कि जयमलजी ने स्वयं आत्म जागृति दिखा कर, उन सब के जीवन में धर्म के संस्कार जागृत किये थे और अब वे अपने मानव जीवन को सफल बना पायेंगे।

यों विखरणिया सब के लिये पुनीतधाम बन गया था।

●

सूर्य से बरफ पिघले वैसा पिघल जाता है। चारित्र है, तप है; किन्तु आत्म तत्त्व की पहचान नहीं तो वह भी अज्ञान है और उसमें भी गलत जोड़ लगती है। वह धूनी जला कर तपता तो है; किन्तु कितने जीव मरते हैं, उसका उसे ज्ञान नहीं रहता। सिद्धि प्राप्त करके भी वह भौतिक पदार्थों का आराधन करता है और अंत में पतन पाता है। अतः जीवन का सवाल है, उसमें आत्म-तत्त्व का एक पहले रखें — अज्ञान से भौतिकवादी 'अ' को हटावें और ज्ञान को ही जोड़ें। तप के द्वारा सांसारिक सुखों की बाकी करें और चारित्र के द्वारा उसको गुणते चलें — यही जीवन गणित है!"

"आज आप ने मुझे बहुत स्पष्ट जीवन गणित समझा दिया है!" मुनिश्री नारायणदासजी उन्हें वन्दना करके खड़े हुए। उन्हें चारित्र की विशेषता तो समझ में आई थी; किन्तु साथ ही उनमें ज्ञान की ओर हीन-भाव बढ़ता गया था। एक हद तक वे इस अवस्था में पहुँच गये थे कि वे ज्ञान हीनता की ग्रंथि में उलझते चले गये थे।

किन्तु जयमलजी के अध्यापन के प्रसंग से आचार्यश्री ने उनके मन की गाँठ खोल दी :—"साधन कोई खराब नहीं है। उसका सही उपयोग होना चाहिये। ज्ञान तो ज्योतिर्मय है, प्रकाशवान है; यदि वह शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान है — वह अज्ञान भी नहीं बनना चाहिये, अभिमान भी न बनना चाहिये। ज्ञान तो सभी वस्तु को स्पष्ट करने की पहचान बनना चाहिये।"

मुनिश्री नारायणदासजी को लगा कि आचार्यश्री ने उन्हें नई दृष्टि ही दे दी थी। उन्हें नई चेतना का अनुभव हो रहा था। उन्होंने निश्चय किया कि वे जयमलजी को अपना व्याकरण, तर्क, न्याय, काव्य का यथाशक्य ज्ञान देंगे; आचार्यश्री के आदेश का पालन करेंगे।

उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ जयमलजी को पढ़ाना शुरू किया।
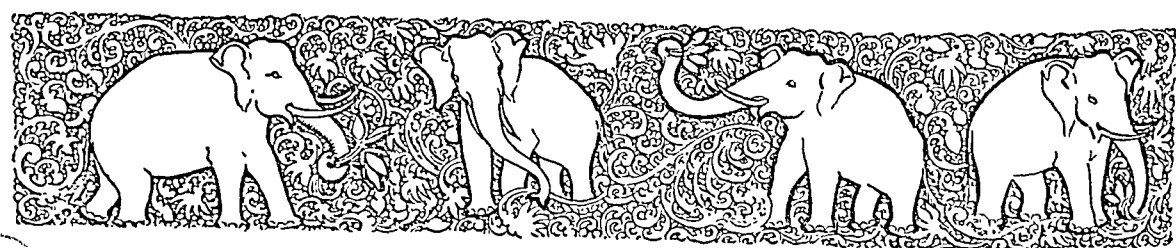
उन्होंने सर्व प्रथम जयमलजी को समझाया :—"जैनागम चार विभाग अनुयोग में बँटा है। पहला है द्रव्यानुयोग। इसमें जीव अजीव आदि छः द्रव्यों का पूरा विवेचन है। जीव का शुद्ध स्वरूप बताने के साथ इसमें अजीव का भी पूरा परिचय दिया है। समस्त जीवराशि का इसमें विस्तार से निरूपण किया गया है। जीव के शुद्ध स्वरूप को प्रगटाने के लिये हेय, ज्ञेय और उपादेय संबंधी निर्देश है। किन्तु उसे विस्तार से समझने आचरण करने का ज्ञान भी विस्तृत होना चाहिये। वह सब चरण करण अनुयोग में है। उसमें क्या जानना चाहिये, क्या छोड़ना चाहिये और क्या आचरना चाहिये और चारित्र-विकास कैसे साधा जाये एतदर्थ पूरा विवरण है। मगर हरेक बात सिद्ध करने में योग, वार, तिथि, ग्रह आदि भी अपना प्रभुत्व रखते हैं। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र से भले आध्यात्मिक संबंध न हो फिर भी सामान्य लोगों के पर्व-तिथि की गणना की सुविधा के लिये ज्योतिष-गणित अनुयोग है। धर्म के आराधक कैसे उन्नत हुए हैं और विराधक कैसे गिरे हैं इसके प्रेरक और आदर्श कथानक धर्म-कथानुयोग में है।"

यह प्राथमिक बात बताकर उन्होंने कहा अधिकतर कथानक कप्पिया आदि सूत्रों में आते हैं। उन्होंने पाँच सूत्र एक एक करके जयमलजी के सामने पढ़े और जयमलजी उनको समझते धारते गये। बीच-बीच में कई बार कोई बात नहीं समझ में आने पर जयमलजी पूछते तो मुनिश्री नारायणदासजी का यही एक उत्तर होता था कि "कई बातें संपूर्ण व्याकरण जानने के बाद ही समझ में आ सकती है।"

और ले जाकर कई बार कहते :—"जयमल! व्याकरण शब्दों का अनुशासन है; किन्तु हमारे यहाँ तो शब्द को भी प्राण कहा है। इसमें वह शक्ति है कि बड़े से बड़ा विरोधी मित्र बन जाता है। इसीलिये तीर्थंकर जहाँ उपदेश देते हैं वहाँ पर कहीं पर शत्रुता नहीं रहती। अपने आचार्यश्री की वाणी में भी वही प्रभाव है!"

जयमलजी उनसे संमत होकर कहते :—"पंडित मुनिवर! यह तो आप बिल्कुल ही सत्य कहते हैं। आचार्यश्री के वचनों में अद्भुत जादु है!"

व्याकरण का ज्ञान पूरा होने पर जयमलजी को संस्कृत का अच्छा सा ज्ञान हो चला था। उनमें संस्कृत में बोलने की योग्यता पैदा हो, एतदर्थ मुनिश्री नारायणदासजी आग्रह रखते थे कि अध्ययन के समय संस्कृत में ही बातें की जाय। धीरे-धीरे जयमलजी का बोलने का अभ्यास भी बढ़ने लगा।

मुनिश्री नारायणदासजी जयमलजी की स्मरण शक्ति और धारणा से बहुत ही प्रभावित हुए थे। अतः उन्होंने इन्द्र, जैनेंद्र, शाकटायन आदि के व्याकरणों का भी तुलनात्मक अध्ययन जयमलजी को कराया।

जब "अमर कोश" प्रारंभ हुआ तो शब्दों के अनेकानेक अर्थ और समान अर्थवाले अनेक शब्दों का भण्डार सामने आ पड़ा हो वैसे जयमलजी को लगा। किन्तु बाद में हेमचन्द्राचार्य के "अभिधान चिंतामणि" धनंजय के "पाइअलच्छी नाममाला" और हेमचन्द्राचार्य की देशी नाममाला आदि जैन कोशों का भी परिचय उन्हें अध्ययन में हुआ तो उन्हें लगा कि शब्द के विशाल महा सागर में उनकी ज्ञानात्मा स्वैर विहार कर रही है।

अपने से दीक्षा में कुछ बड़े किन्तु सरल स्वभावी और निर्दोष हास्य बहलानेवाले जेतशीजी महाराज कभी-कभी उनको इतने शब्द रटते देखकर पूछते :—"इतना सारा याद करके क्या करना है?"

"अच्छा तो बताओ कि कमल के कितने पर्यायवाची शब्द होते हैं?" जयमलजी पूछते।

"कमल, यानी बस कमल....!" यह जेतशीजी कहते तो जयमलजी हँस-हँसके उन्हें बताते :—"देखो, कमल! सरसिज, पंकज, नीरज, जलज....!"
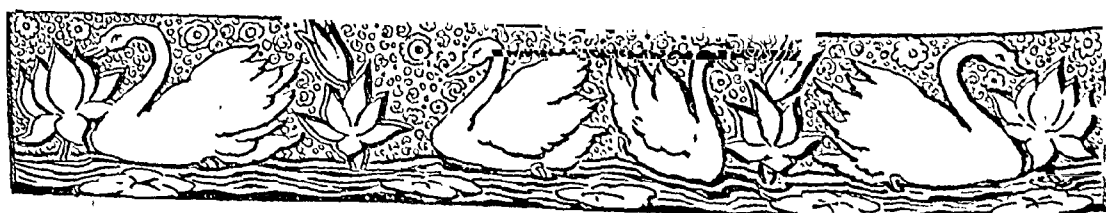
और विगय - त्याग के पच्चक्खाण होने से उन्हें गोचरी पाने में कठिनाई भी होती थी। मगर उन्होंने तो तप अपनाया था। सो वे आहार, पानी की अधिक फिकर भी नहीं करते थे। उनमें जो नया आत्म बल पैदा हो रहा था, यह उनके लिये साधना का बल था एवं अन्य सभी के लिये प्रशंसा का विषय था।

गोचरी के बाद सभी संत साथ बैठे थे कि जयमलजी ने आचार्यश्री से निवेदन किया :—" सूत्र - आगम जानने के लिये व्याकरण - काव्य जानना आवश्यक है ऐसा मुनिश्री नारायणदासजी कहते हैं। मेरी उसे पढ़ने की उत्कट अभिलाषा है।"

आचार्यश्री ने हँसकर कहा :—" तुम्हें तो वैसा गुरु सौंप दिया है। नारायणदासजी बहुत पहुँचे हुए पंडित हैं — काशी के पंडित हैं। वे सभी सिखा देंगे!"

मुनिश्री नारायणदासजी को आज्ञा तो मिल गई; किन्तु जब जयमलजी पढ़ने बैठे तो उन्होंने उस दिन टालने जैसे कहा :—" स्थाप्यं समाप्यं शनि भोमवारे।" यानी आज का दिन अच्छा नहीं है; फिर शुरू करेंगे।"

जयमलजी ने विनम्र भाव से कहा :—" जैसी गुरु की इच्छा!"

मगर मुनिश्री नारायणदासजी इन्हें दूसरे दिन भी नहीं पढ़ा सके। आचार्यश्री ने उन्हें काशी के पंडित कहकर उनके दिल में हलचल पैदा कर दी थी! हाँ, काशी के पंडित....!!

कालू गाँव में वे आये थे और लोगों की अभिरुचि देखते हुए वे महाभारत का व्याख्यान नित्य सुनाते थे। कालू गाँव लाँबिया से चार - पाँच मील दूर था। प्रारंभ के कुछ दिन तो ठाकुर जाट, गूजर लोग उनका व्याख्यान कीर्तन सुनने के लिये इकट्ठे होने लगे। पंडितजी के ठाठ और थे। बढ़िया रेशमी वस्त्र, मखमली गलीचा और उत्तम चंदन कपूर की सुगंधी, बढ़िया इत्र और बनाव सिंगार से निखरा हुआ उनका वदन....! उनके आने जाने के लिये महंत शाही डोली, छत्र, चंवर आदि....! लोग पहले - पहले पहल तो उनके ठाठ - बाट को देखकर आकर्षित हो ही गये।

इस बीच मुनिश्री नारायणदासजी म. सा. का आत्म - मंथन चलता रहता था। वड़े ही प्रेम से जयमलजी को पढ़ाते थे; किन्तु शेष समय या तो वे विचार - मग्न रहते थे या शास्त्र - पठन - पाठन में समय बिताते थे।

शास्त्र के ज्ञान की गहन बातें आचार्यश्री स्वयं समझाते थे। आचार्यश्री का परम उदार स्वभाव, सदैव हँसमुख वदन और हँसते - हँसते छोटे से वाक्यों में समझाने की शक्ति के जयमलजी कायल थे।

मुनिश्री नारायणदासजी पढ़ाते - पढ़ाते अक्सर पू. भूधरजी म. सा. की बड़ी ही भक्ति के साथ स्तुति करते थे कि "वे वास्तव में गुरु हैं! ज्ञान से, दर्शन से, चरित्र से — वे सचमुच ही गुरु हैं....!!"

जयमलजी उनकी ओर निहारते और पूछ बैठते :—"कभी अवसर मिले तो गुरुदेव की जीवनी के बारे में प्रकाश डालिये न....?"

"अवश्य....!" मुनिश्री नारायणदासजी इतना कहते और चुप हो जाते।

कभी दैनिक अध्ययन पूर्ण हो जाता और अवसर रहता तो जयमलजी पुनः दोहराते :—"आज कुछ गुरुदेव के जीवन पर प्रकाश डालेंगे....?"

मुनिश्री नारायणदासजी विचार में पड़ जाते और फिर कहते :—"जयमलजी! मुझे तो आशंका बनी रहती है कि मुझ सा छोटा सा साधु इतने बड़े गुरुदेव की जीवनी कहकर उनको कहीं अल्प तो नहीं बना देगा?"

जयमलजी कुछ प्रतिवाद नहीं करते।

ऐसा चलता रहता था और एक बार आचार्यश्री ने भी यह सुना तब उन्होंने कहा :—"नारायणदासजी! तुम भी मेरे योग्य शिष्य हो और जयमलजी भी। दोनों का मेरे प्रति पूज्य भाव है इसलिये तुम्हारा संशय निरर्थक है। बल्कि मुझे डर रहता है कि कहीं तुम मेरे पूज्य भाव के कारण मुझे इतना बढ़ा - चढ़ा न दो कि मैं उस स्थिति में भी न होऊँ!"

" मन्दमति....! मन्दमति....!! शास्त्रों की गहरी बातें कहाँ से आप समझ पायेंगे ? राजपूत तलवार चलायेंगे, बनिये व्यापार करेंगे, ये जाट खेती करेंगे और गूजर गायें, भैंसें चरायेंगे। मन्दमति! मन्दमति....!! कौन है वो ?" पंडितजी ने पूछा।

" ओसवाल जैनों के साधु हैं!"

" धूर्त....! महाधूर्त....!!"

" नहीं पंडितजी, वे तो किसी को ठगते नहीं! यहाँ तक कि न उन्हें गद्दी चाहिये — न ये सवारी, छत्री चाहिये; घर - घर जाकर भिक्षा लेते हैं — वह भी थोड़ी - थोड़ी। इतना समय हुआ, उनके बारे में लोग एक बात नहीं करते....!"

" हैं....! यही तो महान धूर्तता है....! देखो, अपने लोगों को बहका रहा है! सीधा - सादा और भोला बनकर लोगों की आँखों में धूल झोंकता है। मैं आज ही उससे निपट लेता हूँ।" पंडितजी बोले।

" पंडितजी! आपका कुछ भी नहीं चलेगा....! लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि सच्चे साधु वे ही हैं....!" आगेवान बोले।

" अनर्थ....! घोर अनर्थ....! धर्म धुरंधर.... ज्ञान पुरंदर....पंडित का यह अपमान....? धर्म रसातल को जा रहा है और क्या पंडित की आत्मा शांत बैठी रह सकती है....! मैं इसी समय....इसी क्षण उससे वाद - विवाद करके फैसला करता हूँ....!" पंडितजी, आख्यान छोड़कर उठ खड़े हुए।

खट - खट चाखड़ी बजाते अपने पीछे थोड़े से श्रोताओं के साथ वे उस साधु का व्याख्यान चलता था वहाँ पहुँचे। साधुजी महाराज सुना रहे थे :—" बिना क्रिया के ज्ञान शोभायमान नहीं होता और जो अज्ञानी होते हैं उनकी क्रियायें, बाल क्रियायें जैसी ज्ञान - हीन बन जाती हैं। समझदार लोगों को दोनों ही बातों पर सम्हलना चाहिये....!"

जैसे पंडितजी पहुँचे सभी शांत हो गये। पंडितजी ने गरमा कर कहा :— " आया है बड़ा व्याख्यानवाला....! शक्ति है तो शास्त्रार्थ कर!"

तलवार और पट्टेबाजी में उन्होंने जोधपुर नरेश के दरबार में सब को हरा कर श्रेष्ठता प्राप्त की थी। थे तो बनिये के पुत्र, किन्तु कलम के बदले तलवार चलाते थे।

आप के पराक्रमों की धाक ऐसी बैठ गई थी कि डाकु लोग उनका नाम सुनते ही भयभीत होते थे। अभी तक तो आपने कितने ही डाकुओं को मात किया था! कई कुख्यात डाकुओं को सोजत के बीच बज़ार में आपके द्वारा कोडों की सज़ा दी गई तो सभी उनका लोहा मानने लगे।

आसपास के ठाकुर और ज़मीन्दार आपकी इज़्ज़त करते थे और सोजत के उस कोटवाल को जोधपुर नरेश के जितना ही मान - मर्तबा दिया जाता था।

पास के गाँव कंटालिया पर डाकुओं ने मौका देखकर धावा बोल दिया था। और ठाकुर का संदेशा लेकर उनका आदमी मदद माँगने सोजत पहुँचा तो आप फौरन अपनी प्रिय सांढनी पर सवार होकर फौज के साथ रवाना हो गये।

उनकी पत्नी और पुत्र - पुत्रियाँ भी उनका उत्साह देखकर चकित से रह गये। युद्ध का नाम आते ही भूधर कोटवाल की बाँछें खिल जाती थीं।

उन्होंने अनुमान लगा लिया कि डाकू लोग भागेंगे तो किस रास्ते से? सामने से भी धावा बोल कर वे गढ के पीछे के रास्ते से उनके मार्ग में खड़े हो गये।

जैसा पहला डाकु नज़र में आया उन्होंने ज़ोर से ललकार के कहा :—"अरे, ओ गीदड़ कहीं के! भागना नहीं.... मर्द हो तो मैदान में रहना! यह क्या, निहत्थे लोगों पर डाका डालने चला था? आ जाओ; जिसकी माँ ने सेर सूंठ खाई हो, सो....!"

"कौन है....?"

"और कौन, तुम्हारा काल! सोजत का भूधर कोटवाल....!"

"भागो....!" डाकुओं में ज़ोर से बौखलाहट हुई और वे भागने लगे।

"कहाँ भागते हो? लो, मैं यह चूडियाँ लाया हूँ तुम्हारे लिये....!" हाथ में बेडियों की आवाज़ ज़ोर से करते भूधर कोटवाल ने सांढनी को तेज़ किया।
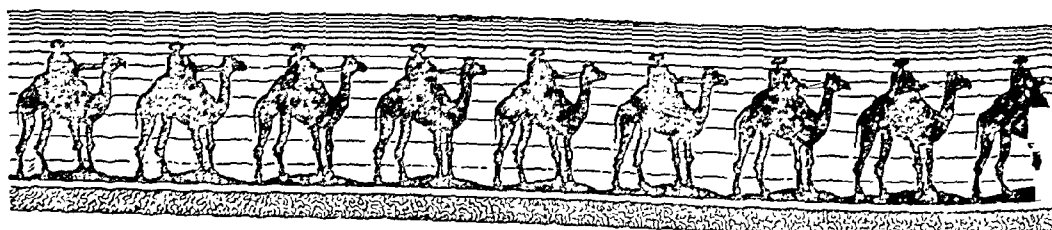
पंडितजी गुस्से में गरजे :—" तुम मूर्ख लोग, इस साधुडे के साथ मेरी तुलना करते हो? मूर्ख! महामूर्ख! परममूर्ख....!! "

" हम तो मूर्ख नहीं हैं। आप जो कुछ संस्कृत में बड़ - बड़ करते हैं और उसका गलत अर्थ बताते हैं उसके स्थान पर इनकी बातें लोग अपनी ज़बान में सुनकर सरलता से स्पष्ट समझते हैं!" उसने कहा।

" इस देहाती की गँवार बोली की तुलना देवभाषा संस्कृत से करते हो....? परम अज्ञानी!" पंडितजी ने गरज कर पूछा।

" महाराज! क्यों चिल्ला रहे हैं? हम तो यह ज्ञानते हैं, कि रस होता है वहाँ भँवरा जाता है! आप अपने आख्यान में रस पैदा करें! सब अपने आप आने शुरू हो जायेंगे!" उसने कहा।

वहाँ से किसी को उठते न देखकर पंडितजी बोले :—" शांतं पापं! शांतं पापं! हे शिवशंभु भोलानाथ! तेरे भोले लोग बहक रहे हैं, अनर्थ हो रहा है! घोर अनर्थ हो रहा है....!"

इस प्रकार कहते हुए पंडितजी खडाउ बजाते - बजाते चल दिये। उन्होंने बहुत ही प्रयत्न किये। कथा में नया रंग लाने का प्रयत्न किया; किन्तु वहाँ सुननेवालों की संख्या दिन - प्रति - दिन घटती ही चली। उनके मन में प्रतिशोध की आग भड़कने लगी।

आखिर उन्होंने वह उपाय सोच ही लिया। बस, एक ही झटके में काम समाप्त....! न रहेगा बांस, न बजेगी बाँसुरी!-शत्रु का नाश करो, यह तो शास्त्रोक्त विधान है। भीम, दुर्योधन का रक्त पीकर ही शांत हुआ था न? पंडितजी के दिमाग में वह बात जोरों से घूमने लगी। उन्होंने एक जाट को साधा और एक योजना बना ली। फिर एक दिन मध्याह्न में उनके चरण गाँव के बाहर लूणी नदी के किनारे की ओर बढ़ने लगे।

निर्जन स्थान था और पंडितजी की नज़रें जैसे शिकार ढूँढती हो वैसे फिरने लगीं। वह.... दूर एक जगह पर चुपचाप खड़ा है न, वही तो शत्रु है! लोग कहते थे कि वह वहाँ पर सूर्य की आतापना लेता है! बिल्कुल ढोंग, पाखंड! मेरा तो गर्मी के मारे सर

कँटालिया ठाकुर और उनके लोग एवं कोटवाल की फौज के लोग भी आ पहुँचे। सभी ने कोटवालजी की वीरता की प्रशंसा की; किन्तु अपनी प्रिय सांढनी की करुण और निर्मम हत्या के कारण उनका मन शांत नहीं हुआ।

उनके मान में कँटालिया ठाकुर ने जलसे का आयोजन किया था; किन्तु "मैं नहीं आ सकूँगा....!" कहला कर वे सोजत ही चले गये।

घर पहुँचते ही पत्नी ने उनका म्लान वदन देख कर पूछा :—"क्या हुआ....?"

वे कुछ नहीं बोले।

"सांढनी....?"

"वह मर गई....!"

कोटवाल की आँखों के आगे हरदम वह कटी गरदन — फिर भी खून की धारा के बीच दौड़ती सांढनी का करुण-दृश्य छा जाता था! उनका खाना, पीना, सोना सभी हराम हो गया था।

उनको राज्य, राज्य की नौकरी सभी पर तिरस्कार आ गया। उन्होंने अपना ओहदा छोड़ दिया, तलवार को भींत पर खुंटी से लटका दी, उनके चित्त में शांति नहीं थी!

वे अब धर्म स्थानकों में फिरने लगे, जोगी, जति, फकीरों की संगति करने लगे, सोजत में पोतियाबंद जतियों का बड़ा अड्डा था; उनका प्रभाव भी बहुत था।

कोटवालजी की पत्नी उनकी मानसिक शांति के लिये उनके पास ले गई। उन्होंने भी हवा का रुख पहचान कर कह दिया कि "सांढनी की आत्मा का ओछाया इन पर पड़ा है!"

भूधर कोटवाल का पोतियाबंदों के यहाँ आना जाना शुरु हुआ।

"शांति....! शांति कहाँ मिलेगी....?" इसकी खोज में चले भूधरजी ने धर्म ज्ञान और ध्यान के प्रति रुचि दिखानी शुरू की; नमस्कार मंत्र का स्मरण करते ही उन्हें अद्भुत शांति सी अनुभव होता था। वे धीरे-धीरे धर्म के प्रति अनुराग जगाते गये।
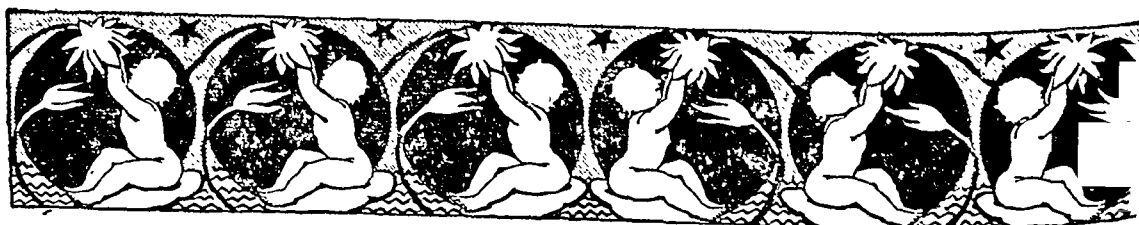
"मर गया रे....! बचाओ....! तुम्हारी गाय हूँ; तुम लोगों के पैर पड़ता हूँ....!!" वह बोला तब तक तो दो - चार और लाठियाँ बरस गईं। इतने में हवलदार आ पहुँचा। उसने कहा :—"इसे अब मुझे सौंप दो! इन मुँहपत्ति बाँधे साधुओं को कष्ट पहुँचानेवालों के लिये क्या शाही फरमान है — यह इसे मालूम नहीं! जेल में बेड़ी पहन कर जब कोड़े पड़ेंगे तो पता चल जायेगा!"

"बराबर लगाना! कितना उजला गोरा देह है और हाय राम...! क्या काली आत्मा है? कितना नीच है?" एक ने कहा।

"खा - पीकर बहुत ही मोटा दड़िया हुआ है — बराबर मुटापे की धूनाई करना!" दूसरे ने कहा।

हवलदार पंडितजी को बाँध कर गाँव में लाया तो उसके बचे - खुचे समर्थक लोग भी उसकी निंदा करने लगे। एक ने कहा :—"अरे! इतना नीच होगा ऐसा ख्याल होता तो गाँव में पग भी नहीं धरने देते...!"

"इसने तो अपने गाँव का नाम डुबाया है; अपने माथे पर कलंक लगाया है!" दूसरे ने कहा।

हवलदार पंडितजी को लेकर कोटवाल के पास ले गया और उसका न्याय कराकर उसे बेड़ी डाल कर जेल की कोटडी में ठूँस दिया। कोटवाल ने कहा :—"दिल्ही बादशाह के फरमान के अनुसार इन साधुओं को मारनेवालों को कोड़े फटकारने की सज़ा है!"

हवलदार ने कोड़ा लाकर फटकारना शुरू किया। देखनेवाले लोगों में कोई कहने लगा :—"बराबर! मेरी ओर से भी दो - तीन कोड़े और लगाना!"

कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे :—"जो जैसा करता है, वैसा यहीं फल पाता है! अधर्म करना कितना बुरा है?"

इधर पंडितजी कोड़ा पड़ते ही :—"मर गया...! मर गया...!!" चिल्ला रहे थे। लोग उनकी पिटाई का आनन्द ले रहे थे।

साधुजी ने कहा :—" तो ठीक है ! तब तक मैं अन्न. जल ग्रहण नहीं करूँगा ! "

वहाँ खड़े लोग बड़े विचार में पड़ गये । आज महाराज साहब का पारणा था । और यह पारणा नहीं हुआ तो फिर उपवास होते जायेंगे....! दिल्ही से कब फरमान आयेगा और कब उनका पारणा होगा ?

लोगों ने हवालदार पर दबाव डाला :—" यह ठीक नहीं है ! बापजी का संकल्प दृढ़ है । दिल्ही से फरमान आने में तो देर लगेगी और बापजी अनशन में ही काल धर्म को प्राप्त हो जाँये, तो उसका दोष तुमको ही लगेगा ! "

हवालदार ने कोटवाल को बुलाया और गाँववालों की जवाबदारी पर पंडितजी को छोड़ देना स्वीकार किया और साधुजी महाराज ने संतोष के साथ वहाँ से प्रस्थान किया । लोग उनकी क्षमा शीलता देखकर भाव विभोर हो गये ।

पंडित को भी जेल से छोड़ दिया गया । आत्म - ग्लानि से भरे हुए मन, कोड़ों की पीटाई से थके तन और अपयश से जर्जरित जीवन का भार उठाये हुए वह पिछले रास्ते से गाँव के बाहर झाड़ियों में पहुँचा । एक ही प्रश्न उसकी आत्मा को भेद रहा था :—

" अरे, पढ़ - लिख कर मैंने क्या किया ? काशी की पंडिताई कालू गांव में आकर दुश्मनाई से बर्बाद कर दी ! मगर क्यों ? ज्ञान के निरे अभिमान से ? जिसने मुझमें द्वेष जन्माया और मुझे विवेक शून्य करके उस क्षमाशील साधु की हत्या करने के लिये प्रेरित किया....! यह ज्ञान किस काम का....? "

वह विचारता गया वैसे - वैसे उसके दिल में उस साधु चरित्र पुरुष के लिये मान पैदा होता गया । नहीं आते तो कोड़ों की मार से मेरी चमड़ी उधड़ जाती ! मैं तो मारने चला था और वे मुझे कोड़ा पड़ रहा है सुनकर दौड़े आये ; वे सच्चे क्षमाशील हैं ! जिन्होंने अपराध का बदला उपकार से चुकाया, वे सच्चे अहिंसक हैं कि जिसने उनके साथ हिंसा का व्यवहार किया उसको उन्होंने क्षमा ही नहीं दी ; बल्कि दंड से छुड़वाया ! कितना भव्य चरित्र — करणी और कथनी का कैसा सुंदर संगम ! उनके वदन पर कितना सौम्य

बिताये थे। उनका विना आहार के इतने लम्बे काल तक रहना युक्ति संगत नहीं लगता। चारों आहार के संपूर्ण-त्याग का विधान "संथारे" समाधि-मरण के रूप में ही परिवर्तित होता है। वैसे श्री वीरप्रभु ने अपना निर्वाण काल पास आया जान तीन दिन पूर्व संथारा स्वीकार किया था; अतः "कवलाहार नहीं करने का "विधान" आहार की आसक्ति नहीं रहती" यही जँचता है।"

आचार्यश्री पुनः उन्हें ऐतिहासिक उदाहरण देकर समझाते थे :—"पहले तो सभी जैन एक थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर जैसी सम्प्रदायें नहीं थीं। जिन कल्प और स्थविर कल्प रूप में साधुचर्या थीं। जो वन में जाकर नगर से दूर रहते थे उनके लिये वैसी मर्यादा थी और ग्राम, नगर में विचरण करनेवालों के लिये वैसी मर्यादा थी। द्रव्य से भाव को और व्यवहार से निश्चय को साधने का स्पष्ट विधान था। जो जिस साधन को चाहे अपनावे, आत्म साधना होनी चाहिये यही उसका उद्देश्य है।"

उस प्रकार के उनके संचोट तर्क विधान से अनेक अग्रवाल पोरवाल-सरावगी भी उनके व्याख्यानों में आने लगे, उनके व्याख्यान अधिकतर सीधे तत्त्वों के निरूपण से भरे होते थे। जीवन उत्सर्ग पर वे सविशेष ज़ोर देते थे। उसमें ज्ञान के साथ क्रिया पर और तप पर सविशेष ध्यान देते थे; अतः उनके संतों में तप का प्रचार अधिक था।

यहाँ तक कि आतापना-तप के समय वे अपना व्याख्यान रात्रि में जब लोग इकट्ठे होते थे तभी देते थे। उनका एक ही ध्येय था जीवन को संस्कारों से भरना....!

ऐसे प्रभावशाली आचार्यजी के साथ रहने का खुद को अवसर मिला है और मुनिश्री नारायणदासजी जैसे पंडित मुनि से भाषा-व्याकरण पढ़ने का योग हुआ है यह जानकर जयमलजी अपने आपको धन्य मानते थे।

●

"आत्म ज्ञान के साधक और उपासक को कौन रोक सकता है? "स्वधर्मे निधनं श्रेयः।" बिल्कुल ही सत्य है किन्तु यह स्वधर्म आत्मा का धर्म है और इसी आत्म धर्म ने मुझे प्रेरित किया था कि क्रोध का उपाय क्रोध नहीं है, किन्तु उसे प्रेम से जीतना चाहिये!"

"आपने न मुझे केवल जीत लिया है किन्तु जिला भी दिया है! अब यह जीवन आपकी सेवा में है; शरण में है, आपको ही इस में चारित्र्य संस्कार भरना है। अब मैं गीता का आदेश स्पष्ट समझ चुका हूँ :—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

ज्ञान से ध्यान, ध्यान से चारित्र श्रेष्ठ है और कर्म-फल की आशा रखे विना निर्मल चारित्र के पालने से ही शांति मिलती है। आज तक मैंने साधु चारित्र के प्रति कभी इतना ध्यान नहीं दिया था; किन्तु आपके संसर्ग में आने से, लोहा पारस से छूकर सोना बनता है—वैसे मेरी चारित्र आत्मा जाग चुकी है। मुझे भी उसी मार्ग पर बढ़ने के लिये प्रेरणा आप दें!" पंडितजी ने कहा।

संत पुरुष ने उन्हें जैन दीक्षा और साधुचर्या के कठोर नियम आदि समझाये और कहा :—"इसको पालन करना सरल नहीं है!"

"आपका आधार पाकर मेरे लिये सभी सम्भव होगा!" पंडितजी बोले।

"फिर पूरा विचार कर लो; संयम मार्ग सरल नहीं है!"

"आप जैसे मार्ग-दर्शक हैं तो मेरा हर एक कठिनतम पथ सरलतम हो जायेगा!" पंडितजी बोले।

वे उनके पास दीक्षित हुए और उन्होंने मन में यह तय किया कि जिस तर्क-व्याकरण और ज्ञान के अभिमान से वे गुरु-घात करने पर गये थे उसे तिलांजलि देंगे।

यह साधु और कोई नहीं; किन्तु आचार्य पूज्यश्री भूधरजी स्वयं थे। उनकी उग्र तपस्या कालु गाँव में चालु थी। उनके दीक्षा गुरु धन्नाजी म. सा. के तप त्याग पर विशेष

पद्मावती देवी ने उसी समय मूसलाधार बरसात की और उसका पहाड़ियों के बीच तालाब बन गया — जिसे सभी पुष्करनी के नाम से जानने लगे। तब से इस क्षेत्र को पुण्यशाली समझकर लोग बड़ी श्रद्धा से यहाँ आने लगे और पुष्कर-तीर्थ बन गया।

इसके अलावा एक और किंवदंती के अनुसार यह स्थान ब्रह्माजी का माना जाता है। कहा जाता है कि यहाँ पर वज्रनाम नामक राक्षस रहता था। वह छोटे-छोटे बच्चों को पकड़कर खा जाता था। इससे असन्तुष्ट होकर ब्रह्मा ने अपने हाथ के कमलास्त्र को इस पर फेंका और राक्षस का काम समाप्त हो गया। जहाँ पर कमल (पुष्कर) गिरा वहीं पर पोखर बन गया और यह भी पुष्कर के तालाब के उद्गम की एक और कहानी है।

वैसे यहाँ तीन पुष्कर हैं, बड़ा ब्रह्माजी का, मध्य का विष्णु का और छोटा रुद्र-शिव का है।

सुनिश्री नारायणदासजी अपने समय के माने हुए ब्राह्मण पंडित तो थे ही, उन्होंने जयमलजी से कई बातों का विस्तार से विवरण करते समझाया कि यहाँ पहले राक्षसी वृत्तियाँ कार्य करती होंगी किन्तु ऐसे प्रकृति के सुन्दर और सुरम्य स्थल पवित्र भूमि न बने तो कैसे चले? अत: यहाँ धीरे-धीरे मंदिर बने और अपने-अपने देवों के नाम इनकी कहानियाँ भी जुड़ती गईं। पवित्र वातावरण के कारण आश्रम भी बनने लगे; साधु ठहरने लगे। पुष्कर तीर्थराज बन गया। यह भी सत्य है कि पुष्कर का तालाब भारत के पाँच महान सरोवरों में से एक है और तीर्थराज प्रयाग की तरह पुष्कर का भी गौरव हिन्दू लोग मानते हैं।

रास्ते भर का वातावरण प्रकृति प्रदत्त तीर्थ सा लगता था। यहीं से प्राचीन सरस्वती नदी का उद्गम होता है जो अरावली पर्वत के चरणों में खेलती-खेलती आगे जाकर साबरमती नदी में मिलती है।

सुनिश्री नारायणदासजी ने पुष्कर पहुँचने पर एक दिन बड़े ही आत्मीय भाव से जयमलजी से कहा :—"जयमलजी! तुम्हारा भाषा व्याकरण का ज्ञान और शब्द ज्ञान भी उच्च कक्षा का हो गया है। अब इस पवित्र वातावरण में जिसकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती
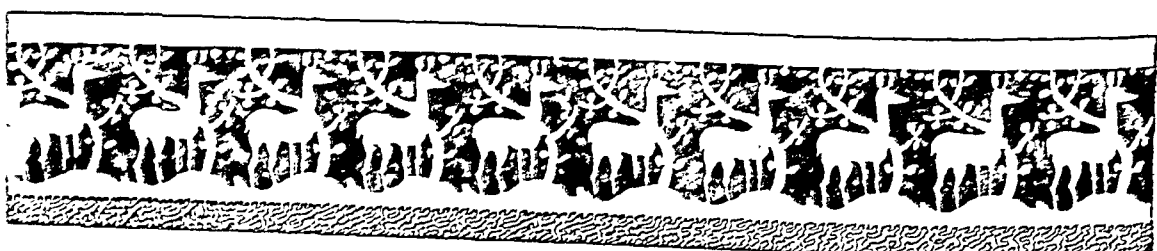
ज्ञान के समान पवित्र इस जगत में और कोई नहीं है; ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है। फिर ज्ञान कहाँ है, वह वास्तव में क्या है? व्याकरण और साहित्य क्या सच्चा ज्ञान नहीं है? क्या तर्क और वेदांत से सच्चा ज्ञान नहीं मिलता? मिलता तो है, लेकिन तर्क, वितर्क और शास्त्रार्थ करके अपने प्रतिद्वंदी को हटाकर गौरव पाने की शक्ति आती है; किन्तु कल्याण - मार्ग का बोध कहाँ होता है?

आचार्यश्री उनकी इस परिस्थिति को देखते रहे। वे जानते थे कि उनके मन में द्वंद चल रहा है, ज्ञानी हैं अपने आप हल ढूँढ लेंगे। लेकिन मुनिश्री नारायणदासजी की अस्वस्थता उनसे छिपी न रही। उन्होंने अनायास एक दिन पूछ ही लिया :—"देवानुप्रिये! क्या बात है कि अस्वस्थ दिखते हो?"

"हिसाब मिला रहा हूँ, पर नहीं मिल रहा है....!" पंडित मुनि बोले।

"गाँठ छोड़ते जाओ, सभी स्पष्ट हो जायेगा....! हिसाब तो सब का एक सा होता है — कुछ जोड़ना छोड़ देते हैं, कुछ बाकी करना छोड़ देते हैं तो कहीं गलत गुणा कर देते हैं; तब हिसाब उलझता है!" आचार्यश्री ने कहा।

"मेरा भी वही हाल है, कुछ समझ में नहीं आता!" पंडित मुनि ने कहा।

"तुम तो काशी के पढ़े पंडित, वैय्याकरण और तर्कशास्त्री हो — हो सकता है, मुझसे अधिक जानते हो! संकोच की कोई बात नहीं है, पर कहोगे तो समझ लूँगा! मन की गाँठ खोलो, संकोच न करो!" आचार्यश्री ने कहा।

"हिसाब तो छोटा है कि ज्ञान बड़ा है या चारित्र? जैसे जैसे हल ढूँढता जा रहा हूँ वैसा-वैसा हल तो नहीं मिलता और हिसाब लम्बा होता जा रहा है।" मुनिश्री नारायणदासजी बोले।

"ज़रा स्पष्ट करो तो....!" आचार्यश्री ने कहा।

"बात यह है कि स्मृति-वेद और पुराणों को पढ़ते हैं तो मालूम होता है कि ज्ञान की बड़ी महिमा है उससे पवित्र वस्तु कोई नहीं है; किन्तु व्यवहार

"अनुष्टुप" में है। उसका पद विश्लेषण, छंद रचना प्रकार समझाते और अन्वयार्थ जैसा बताया है वैसे करो तो!"

"चार चरण का यह अनुष्टुप छंद होता है। एक चरण आठ अक्षर का होता है, जिसमें सभी का पाँचवाँ ह्रस्व और छट्ठा दीर्घ होता है, साथ ही दूसरे और चौथे पद में सातवाँ अक्षर ह्रस्व होता है, शेष में दीर्घ होता है, तदनुसार :—

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं = आठ अक्षर; पंचम ल ह्रस्व और षष्ट मु दीर्घ एवं सप्तम "कि" दीर्घ

अहिंसा संजमो तवो = आठ अक्षर; य ह्रस्व और मो दीर्घ एवं सप्तम "त" ह्रस्व

देवा वि तं नमंसंति = आठ अक्षर; "न" ह्रस्व, "मं" दीर्घ एवं सं दीर्घ

जस्स धम्मे सया मणो = आठ अक्षर; "स" ह्रस्व, "या" दीर्घ एवं "म" ह्रस्व

"बहुत ही अच्छी तरह छंद विन्यास किया है अब अन्वयार्थ करो....!" मुनिश्री नारायणदासजी बोले।

"अहिंसा....संयमो....तवो....! (रूप) धम्मो उक्किट्ठं मंगलम् जस्स (अस्स) धम्मे सया मणो तं देवा वि नमंसंति....!" जयमलजी ने अन्वय किया।

"बिल्कुल ठीक....!" मुनिश्री नारायणदासजी ने कहा।

उन्होंने विशेष स्पष्ट करते हुए कहा :—"जो छंद बताये हैं वे दो प्रकार के हैं एक तो वार्णिक होते हैं यानी अक्षरों के अनुसार उनकी रचना होती है और दूसरे मात्रिक होते हैं जिसमें चरण, अक्षरों की ह्रस्व दीर्घ मात्रा की संख्या से बनते हैं। संक्षिप्त में छंदों की रचना समझने के लिये "गण" का भी उपयोग होता है। यह गण पृथक्-पृथक् रूप से ह्रस्व-दीर्घ अक्षर का संकेत करते हैं। उसके लिये एक वाक्य है :—

य मा ता रा ज भा न स ल गं।

का ज्ञान भूल गया और ज्ञान-शक्ति के मद में विलास पर उतर गया। फलतः उसकी शक्तियाँ उसे दगा दे गई ओर उसका ज्ञान का अभिमान मृत्यु के साथ ढह गया। इसीलिये कहा गया है कि "पढमं णाणं तओ दया!" लोग ज्ञान तो प्राप्त कर लेते हैं; किन्तु तदनुसार क्रिया में नहीं उतरते। उन्हें ज्ञान का अजीर्ण होता है या अभिमान हो जाता है और वे क्रियाओं से अलग हटकर सिर्फ श्लोकोच्चार करने कडकडाट और गडगडाट वाणी के विलास में ही जीवन की सफलता आंकते हैं और यह भूल जाते हैं कि "ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः" तो क्रिया-चारित्र के विना ज्ञान प्रभाव नहीं डालता। इसका कारण क्या है?" पूज्यश्री ने पूछा।

मुनिश्री नारायणदासजी ने उनकी ओर प्रश्नार्थ देखा।

पूज्यश्री ने अपने प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा :—"ज्ञान के साथ श्रद्धा होनी चाहिये। यह कहने पर कि "सत्य बोलना श्रेष्ठ है!" श्रेष्ठ नहीं बना जाता एवं सत्य कथन भी नहीं बनता; किन्तु उसे सत्य और श्रेष्ठ बनाने के लिये सत्य का आचरण ही करना पड़ता है। यह तभी हो सकता है जब कि श्रद्धा हो; किन्तु तर्क ही किया करें कि ज़ोर से "सत्य बोलना श्रेष्ठ है!" बोलने से उसकी प्राप्ति हो जाती है — यह ज्ञान केवल तोता-रटन बन जाता है। श्रद्धा के साथ ज्ञान आचरण में प्रवेश करता है तब उसे कई बातें छोड़नी पड़ती है। उसको विशेष रूप से तपाना पड़ता है और यह तप भी उतना ही आवश्यक है तो सभी अपेक्षा और स्थिति से ही यह सवाल हल होता है; किन्तु "आत्म-तत्त्व" की पहचान का प्रथम अंक "एक" तो प्रथम रूप से आवश्यक है।

"अब क्या बाकी रहा?"

"चारित्र....!"

चारित्र से चलो, तो भी ज़रूरी है; तप से चलो, तो भी और ज्ञान से और तीनों साधनों के साथ श्रद्धा तो होनी ही चाहिये — इसीलिये ज्ञान-दर्शन, चारित्र-तप के चार साधन से ही आत्म-विकास साधा जाता है। ज्ञान के साथ जड़ भौतिक बातें जुड़ती हैं, तो गलत जोड़ होती है; श्रद्धा भी गलत होती है और वह चारित्र, परम तेजस्वी आत्मा के आगे

१५

जय-गुरु आचार्य सुनामी

आचार्यश्री भूधरजी का विहार चलता रहा। उनके साथ रघुनाथजी, नारायणदासजी, जेतसीजी और जयमलजी आदि संतों का भी विहार होता रहा। विहार में जहाँ-जहाँ अधिक दिन ठहरना होता था वहाँ-वहाँ जयमलजी का अध्ययन चलता था। आचार्यश्री के इन चार शिष्यों की उम्र में मुनिश्री नारायणदासजी को छोड़कर सभी में थोड़ा-बहुत अन्तर था; किन्तु दीक्षा में अधिक अन्तर न था। दो वर्ष के अन्दर-अन्दर ये सभी दीक्षायें हुई थीं। मुनिश्री नारायणदासजी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे तो रघुनाथजी भी उग्र तपस्वी और विलक्षण बुद्धि के थे। जेतसीजी अधिक बुद्धिमान नहीं थे तो सेवा और वैयावृत्य में उनकी बराबरी कोई नहीं करता था। जयमलजी का भी अपना तप व अध्ययन दोनों बराबर चालू था। अन्य संत भी तपस्वी थे।

कालू गाँव के पास आकर पूज्यश्री ने रघुनाथजी म० सा० को कुछ संतों के साथ अलग क्षेत्र स्पर्शने की आज्ञा दी। तदनुसार वे धर्म-प्रचार करते अलग विचरण करने लगे।

जयमलजी का अध्ययन चालू था; मुनिश्री नारायणदासजी ने उन्हें व्याकरण पढ़ाना शुरू किया। व्याकरण के साथ काव्य के अन्तर्गत पिंगल ज्ञान भी देना शुरू किया। मुनिश्री नारायणदासजी अपने जमाने के माने-जाने, कथा-वाचक थे और मधुर कंठ से नाना-नाना प्रकार के श्लोक बोलते थे, तब उनकी छटा देखते ही बनती थी।

उन्होंने बड़ी लगन से जयमलजी को सर्व प्रथम सरल व्याकरण पढ़ाया, तो जयमलजी सरलता से सीख गये। जयमलजी ने बाद में मुनिश्री नारायणदासजी से जाना कि संस्कृत में कई वैयाकरण हुए किन्तु उनमें पाणिनी के व्याकरण को ही विशेष प्रसिद्धि मिली; क्योंकि उसमें गणपाठों की व्यवस्था और विविध नियमों का समाहार करके एक ही अष्टाध्यायी में लिखा है। जयमलजी ने आचार्यश्री की आज्ञा लेकर पाणिनीय व्याकरण पढ़ा।

मुनिश्री नारायणदासजी पढ़ाते समय कई-कई बार कात्यायन का मत भी बताते थे और कई बार पतंजलि के भाष्य का भी

उन्होंने लोक प्रचार के लिये कथा कहानी की ढालों का भी वर्णन किया। राजस्थान के भाट चारण लोग किस प्रकार लोक भाषा में संगीत रचते हैं और पुरानी कथायें सुनाते हैं यह भी बताया। पुष्कर के काव्य मय प्रकृति के वातावरण में जयमलजी को लगा कि उनके हृदय से काव्य स्फुरनेवाला है। फिर भी उनके हृदय में छोटा सा मंथन चल रहा था।

मुनिश्री नारायणदासजी से यह छिपा नहीं रहा। उन्हें लगा कि जयमलजी को शायद कुछ शंका है और वे मुझसे प्रगट नहीं कर रहे हैं। उन्होंने पूछ ही लिया :—
"जयमलजी! क्या काव्य की धारायें आपको उलझा रही हैं?"

"नहीं तो.... आप के इस विशद विवेचन और काव्य ज्ञान के सागर में प्रवाहों का स्पष्ट दर्शन कर लेने के बाद इस में गोते लगाते-लगाते मुझे तो काव्य दर्शन के नये-नये चमकते मोती मिल रहे हैं।"

"क्या कुछ समझाने में कमी है?"

"जिस प्रकार बरसते बादल का पानी बहता हुआ पृथ्वी का मेल धो डालता है वैसे आपने भी मेरी काव्य धरा को निर्मल बनाया है — आप में कमी पाना सूरज में प्रकाश की कमी मानना होगा!"

"फिर वत्स! यह संकोच क्यों?"

"काव्य-भागीरथी सहस्रों धाराओं में मन कैलाश से फूटना चाहती है; प्रश्न यह है कि उसका देह लालित्य देव-वाणी में हो या जन-वाणी में हो....!"

"देव-वाणी तो कैलाश पर ही विचरण करती है। इस लोकोद्धारिणी भागीरथी को जन वाणी का ही लालित्य लेना पड़ेगा! भागीरथी जैसे गाँव-गाँव, नगर-नगर, वन, उपवन सभी को स्पर्शती है, उसी प्रकार तुम्हारी काव्य-गंगा भी जन गण मन के किनारों को स्पर्शती चली जानी चाहिये!" मुनिश्री नारायणदासजी ने कहा।

"धन्य गुरुदेव! आपने संकोच हटा दिया है!" जयमलजी ने नतमस्तक होकर वंदना की।
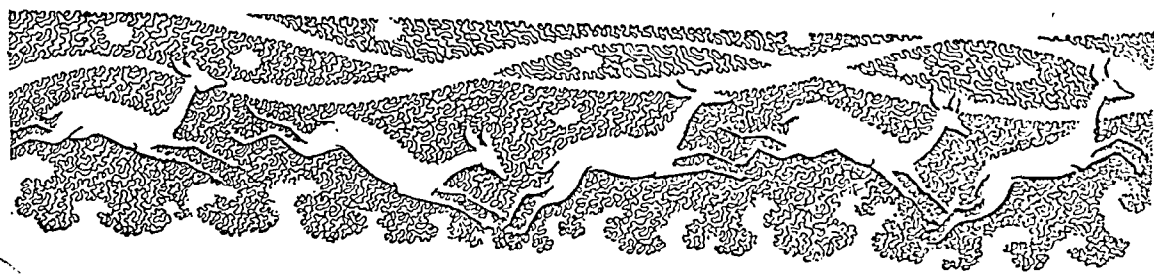
तो वे बोलते :— "तुम रह-रहके पंडित बनो, मैं तो गुरु-सेवा से ही तिर जाऊँगा।"

यों विहार बढ़ता गया वैसा-वैसा जयमलजी का साधु-भाव बढ़ता गया और सब उनको चाहने लगे। इस नये आध्यात्मिक कुटुम्ब का वातावरण हमेशा अनोखा होता था। आचार्य भूधरजी की अनुभवी और वात्सल्यमयी दृष्टि सब पर समान रहती थी।

विहार में अनेक छोटे-छोटे गाँव स्पर्श करके उन्हें पुष्कर पहुँचना था। कई बार तो बीच रास्ता विकट रहता था; फिर भी जो जगत को अभय देने चले हैं उन साधुओं को क्या डर....?

जहाँ तक शास्त्रों के अध्ययन का प्रश्न था आचार्यश्री स्वयं जयमलजी को दशवैकालिक सूत्र पढ़ाते थे और साधु की आचार संहिता की प्रत्येक बात को विस्तार से समझाते थे।

कभी ऐसा भी गाँव आ जाता था कि कुछ द्वेष वश चाहिये उतनी गोचरी भी नहीं मिलती थी। वैसे तो आचार्यश्री स्वयं तपस्वी थे, अन्य संत भी थे और जयमलजी थे। ऐसे ही समय कई बार रात को जब सभी संत समुदाय उनके पास बैठता और पुरानी घटनाओं का प्रसंग छिड़ जाता तब वे बहुत सी बातें पुराने आचार्यों की कहते थे। वे अक्सर कहा करते थे कि क्रियोद्धार करना सरल है; उसे परम्परा से निभाना बड़ा कठिन है।

विहार आनंद मय होता रहा। मेड़ता से पूर्व दक्षिण की ओर गाँवों में होते हुए पुष्कर पहुँचने की धारणा थी। यहाँ से लूणी नदी की एक शाखा का उद्गम होने से, आसपास का प्रदेश बड़ा ही मनोहर लग रहा था। रास्ता कभी-कभी छोटी-मोटी पहाड़ियों से गुज़रता था।

विहार में धर्मप्रद कहानियाँ, पुराने अनुभव आदि सुनकर जयमलजी के मन में पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धा बढ़ती थी।
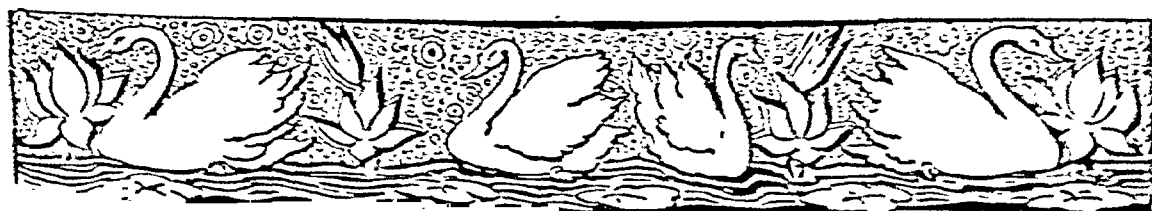
आचार्य भूधरजी का हृदय प्रसन्नता से भर गया। उन्होंने मुनिश्री नारायणदासजी को कहा :—"नारायणदासजी! कहते हैं कि सरस्वती इस पुष्कर से निकली है। आज वैसे यहाँ जयमलजी के कण्ठ से काव्य सरस्वती बहने लगी है। पुष्कर में आकर लोग स्नान करके पाप का नाश होकर पवित्र होते हैं वैसा मानते हैं। मैं विशेष तो क्या कहूँ....? लेकिन मुझे दीखता है कि जयमलजी की कविता - सरस्वती की पवित्र धारा से भक्त जन पाप धोकर, पवित्र होकर फिरेंगे ऐसा भविष्य में सोच सकता हूँ!"

"आप की पवित्र गिरा का प्रत्येक शब्द सत्य हो — यही मैं भी चाहता हूँ!" मुनिश्री नारायणदासजी बोले।

जयमलजी भाव विभोर होकर दोनों गुरुओं के चरणों में वन्दना करके बोले :— "लोहा पारस से मिलकर सोना बन जाये यही आपका पूज्य गुरुवाद चाहिये! और मैं क्या था? मुझमें पासे डाल कर जो कुछ बनाया है वह तो गुरु मुनिश्री नारायणदासजी का ही प्रयत्न है!"

"इसीलिये तो मैंने सच्चे जौहरी के पास मिट्टी में ढँका रत्न का टुकड़ा सौंप दिया था!" पूज्य भूधरजी ने कहा।

"गुरुदेव, कांच पर पासे नहीं निकलते। वह तो सच्चे रत्न पर ही निकलते हैं!" मुनिश्री नारायणदासजी ने कहा :—

"चलो; पुष्कर तीर्थ ने एक में तो काव्य रूपी तीर्थ पैदा किया है।" पू. भूधरजी ने कहा।

जयमलजी नतमस्तक होकर इतना ही विचारते रहे :—"इन गुरुओं की आशा के लायक बन सकूँ....?"

अरावली पहाड़ियों के पीछे डूबते हुए दिवाकर ने शायद यह अनुभव किया कि मैं तो पृथ्वी को प्रकाश देता हूँ; किन्तु यहाँ पर एक ऐसा जैन धर्म दिवाकर प्रगट होनेवाला है जो कि भविष्य में अनेक भव्य आत्माओं में प्रकाश भरनेवाला है।

●

"नहीं गुरुदेव! आप के जीवन के प्रत्येक क्षण से धन्यता ही टपकती है। हमारी पामरता है कि हम आपकी महानता का वर्णन नहीं कर सकते। हर पल इस आत्मा की यही गवेषणा है कि आप जैसे सुनामी गुरुदेव का शिष्य बन सकूँ....!" विनम्र-भाव से मुनिश्री नारायणदासजी कहते।

दो एक प्रसंग के बाद मुनिश्री नारायणदासजी का संकोच दूर हुआ। और एक बार उन्होंने जयमलजी के नित्य पठन के बाद अवकाश देखकर कहा :—"जयमलजी जानते हो....! आज जहाँ आचार्यश्री के हाथ में धर्म दंड है वहाँ उनके गृहस्थ काल में वीरता की बड़े दंड सी तलवार भी चमकती थी....!"

और जयमलजी ने उनके पास आचार्यश्री भूधरजी के जीवनी का प्रसंग इस प्रकार सुना....

*　　*　　*

"भागो! नहीं तो खैर नहीं है....! यह तो सोजत के कोटवाल भूधरजी की सांढनी है!" डाकूओं में खलबली मच गई और वे सर हथेली पर प्राण रखे अपने ऊँटों पे भागने लगे।

सोजत के कोटवाल भूधरजी की बड़ी धाक थी। यदि वे मैदान में आ गये तो फिर किसी की भी मजाल नहीं थी कि उनसे मुकाबिले में खड़ा रह सके।

नागौर के मूणोत कामदार माणकचंदजी के आप सुपुत्र थे। बचपन से ही कलम के साथ वे तलवार के धनी बने और उनकी वीरता की प्रशंसा सुन कर जोधपुर नरेश ने उन्हें सोजत का कोटवाल बना कर भेजा था।

बचपन में ही माँ-बाप की मृत्यु के कारण उनका साथ छुट गया था और बालक को अपनी बुद्धि एवं शक्ति के बल पर आगे बढ़ना पड़ा था। मूँछों के बल उनके हमेशा ऊँचे रहते थे और सोजत जो कि डाकुओं और चोरों के उपद्रवों के कारण कुख्यात था वह आपके आने के कारण उपद्रव रहित बन गया था।

फँसा रहता है। जब अंत समय पास में आता है तभी उसे लगता है कि हमारा जीवन वृथा ही चला गया है।

छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जीवात्माओं के जीवन में एक वृत्ति की समानता मिलती है और वह है कि जब तक वह उस योनि में रहता है उस में ही अपना अस्तित्व टिकाये रखने का प्रयत्न करता है। जब आयुष्य का बंध तूटता है तो वह दूसरी गति में योनि में प्रस्थान करता है।

वनस्पति काय को ही ले लेवें। बीज से वृक्ष होता है तो हम देखते हैं कि जब तक वृक्ष का आयुष्य पूर्ण न हो उसका जीव अपने उस वृक्ष रूप कलेवर को ही बड़ा बनाता जाता है। कई बार तो संपूर्ण तना काट देने पर भी पुनः उसमें कोंपलें आदि फूटती हैं और नई शाखायें आदि निकलती हैं और इस प्रकार वह उसी अवस्था में जीवन को टिकाये रखता है। इस पर से यह फलित होता है कि वृक्ष जैसे स्थावर जीव को भी अपना मरण पसंद नहीं है।

उसी प्रकार दो इंद्रियवाले जीवों को ले लेवें; बरसात होते ही पानी में बहुत से केंचुए (अलसिये) होते हैं। उनका यह हाल है कि उसके जितने टुकड़े करो, प्राण-शक्ति जब तक उन टुकड़ों में रहती हैं वह उसी काय को छोड़ना नहीं चाहते।

कीड़ियों को देखिये — लाखों अंडों को लेकर घूमती रहती है; अपने जीवन को टिकाये रखने का कितना प्रयत्न करती है? उसी प्रकार मधु मक्खी का भी वही हाल है और अन्य जीवात्माओं का जो कि पाँच इंद्रियों से संपूर्ण नहीं है वे भी इसी हाल में रहते हैं। उनकी एक ही गति है कि जीवन जिस अवस्था में मिला है उसे टिकाये रखना और अपनी काया में सुरक्षित रहना।

यह स्वभाविक भी है; क्योंकि उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं है और न इतनी समझदारी है कि आत्म विकास कैसे साधे? किन्तु जब जीव उस काय को छोड़ता है या उसका आयुष्य बंध समाप्त होता है तो पल भर के लिये भी आत्म उस काया में नहीं रहती। यह साफ सूचित करता है कि जीव परिवर्तन चाहता है, नवीनता चाहता है और यह भी विकास चाहने का
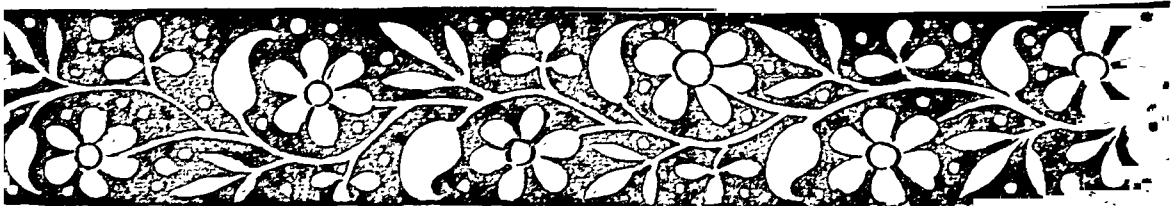
पोतियाबंद गुरांसा की नेश्राय में वे पड़े रहने लगे; किन्तु वहाँ सच्चा तप त्याग-चारित्र कहाँ था? वहाँ तो तंत्र-मंत्र की साधना में बड़प्पन था। गादी पाने की साठमारी चलती थी। जो धन नेश्राय के निमित्त आता था उसके अनेक छलछंद चलते थे। पैसों के लोभ में कच्ची उम्र के बच्चों की खरीदी होती उन्होंने देखी!

यह धर्म था या राज्य प्रपंच का दूसरा रूप था....?

उनकी आत्मा जाग उठी थी। सत्य क्या है....?—इसकी खोज में उनकी आत्मा तड़पने लगी! उन दिनों में पू. धनाजी म. सा. विहार करते-करते वहाँ पधारे। छठ्ठ छठ्ठ[1] का तप चल रहा था, चार विगय का त्याग था; अपवाद में, घृत में तली पुड़ी के सिवाय घृत का भी त्याग था।

शांति की खोज में कोटवाल भूधरजी उनके साथ हो लिये। यहाँ कोई लोभ नहीं था; कोई प्रपंच नहीं था—न कोई गादी, पैसों की मारामारी थी।

रात-रात भर पू. धनाजी बैठे-बैठे ही आत्म जागरण में बिता देते थे। उपवास और बेले पर भी उनके देह में तप का तेज फूट पड़ता था। भूधरजी को लगा कि जिस शांति की खोज में ये हैं, वह उन्हीं गुरुजी के चरणों में हैं।

उन्होंने पू. धनाजी से कहा :—"गुरु देव! अपनी शरण में जगह देवें!"

"हमारी शरण नहीं; धर्म की शरण में आओ—महावीर प्रभु के शासन की शरण में आओ! आत्म कल्याण करो....!"

भूधरजी ने दीक्षा ले ली; गुरुजी से उन्होंने तपाराधना का महामन्त्र सीखा।

आयावयाही चय सोगमल्लं
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं
एवं सुही होहिसि संपराए॥

---

1. दो दो दिन के उपवास

थी। उसने उसकी बनाई हुई मूर्ति के गले में वरमाला डाली वैसे ही छुपे वेश में पृथ्वीराज आगे बढ़ा और उसको उचक कर अपने अश्व पर बिठा कर ले गया।

अन्य राजाओं ने पीछा तो किया; किन्तु कोई उसे पहुँच नहीं पाया। संयुक्ता को पाकर पृथ्वीराज उसके रूप सौंदर्य के पीछे इतना मतवाला हो गया कि बस, वह भोग-विलास में ही डूबा रहने लगा; राजकाज में भी उसने ध्यान बराबर नही दिया। वीरता तो थी; किन्तु गर्व के कारण वह किसी का सुनता भी नहीं था। वह यही मानता था कि "मेरा क्या बिगड़नेवाला है? मैं तो जिस समय खड़ा होकर खड्ग हाथ में लूँगा विजयश्री मेरी होगी....!"

इस तरफ उसके प्रिय मित्र चंद बरदोई (चारण-बारोट) को चिंता होने लगी। उसने समाचार सुने कि जयचंद्र राजा ने अपना अपमान विस्मृत नहीं किया है। उसने गोरी बादशाह को फिर से हिंद पर चढ़ाई करने का न्योता दिया है और गोरी अपनी पुरानी हारों को याद रखकर बहुत बड़ी सेना के साथ आ रहा है और जयचंद्र की सेना उसको साथ देनेवाली है।

चंद बरदोई ही एक ऐसा था जो पृथ्वीराज को कुछ कह सकता था। उसके सामंत, सेनापति ने उसे ही राजा के पास भेज कर युद्ध के लिये तैयार होने के लिये कहलवा भेजा।

जब चंद राज-भवन में पहुँचा तो पृथ्वीराज नशे में मस्त था। उसने चंद को भेज देना चाहा; किन्तु चंद ने कहा :—"राजा! कान खोलकर सुनो; जो पृथ्वीराज, पृथ्वी का राजा था, अब मदिरा का गुलाम बन चुका है! वह होश गँवा चुका है और उसका दुश्मन गोरी सेनाओं को बढ़ाता प्रलय की तरह आ रहा है!"

पृथ्वीराज चौंका :—"तो मुझे क्यों नहीं बताया गया?"

"राजा! रूप की मदिरा में तुम सब कुछ भूल चुके हो; भोग-विलास ने तुम्हारी आँखों पर पर्दा डाला है और गर्व ने तुम्हारे कान बंध कर दिये हैं! अब भी जागो — बख्तर

आचार्यश्री ने बड़े ही मधुर स्वर में कहा :—"भगवान महावीर ने तो सभी भव्य आत्माओं को मुक्ति बताई है और पंद्रह भेदे सिद्ध भी बताये हैं। जिसमें स्त्री-लिंग भी है और इस काल में पहले तीर्थंकर से पूर्व भी मुक्ति पाने की अधिकारिणी उनकी माता मरुदेवी हैं। जब सभी भव्य आत्माओं की मुक्ति को स्वीकार्य माना है तो स्त्री-लिंग को इस से वंचित रखना, उस समय के कुछ पोथी पंडितों की मान्यता का असर है जो कहते थे कि नारी और शूद्र को पठन-पाठन और मुक्ति का अधिकार नहीं है।" वास्तव में तो जैन चतुर्विध संघ श्रावक श्राविका के साथ साधु और साध्वी को भी चार स्तम्भ रूप आधार माना गया है। रहा शरीर की क्षमता का भेद सो नवें गुणस्थान में जीव पहुँचता है तो शरीर-वेद का भेद नगण्य रह जाता है।"

दूसरी शंका रखी गई कि :—"भगवान तो दिगंबर थे तो उनके माननेवालों को भी दिगंबर होना चाहिये - यानी साधुओं के साथ ये वस्त्र-पात्र-ग्रन्थ भी परिग्रह के चिह्न ही है न?"

"तत्वार्थ सूत्र में उमास्वातिजी ने और शास्त्रकारों ने "आसक्ति भाव" को मूर्छा कहा है। यानि वस्त्र-पात्र-ग्रंथ किसी में भी साधु मोह-मूर्छा न रखे तो उसका होना, न होना; दोनों बराबर हैं। नगर धर्म का वाह्य स्वरूप बदलता जा रहा है और अब दिगंबर साधु भी वन को छोड़ कर नेश्रायों में रहने लगे हैं! जैसे स्थान का आश्रय है वैसे वस्त्र का है, आसक्ति त्याग साधुता के लिये परम आवश्यक है।"

फिर एक और बात आई :—"केवली कवलाहार नहीं करते; फिर उनकी भिक्षा गोचरी की बात कैसे बढ़ती है?"

"यहाँ पर भी आहार की आसक्ति नहीं होने का विधान है। उसमें रस नहीं तो फिर आहार करे या न करे दोनों ही बराबर है—जैसे शेष जीवन के लिये श्वासोश्वास आवश्यक है वैसे आहार भी आवश्यक है। इसके अलावा प्रथम तीर्थंकर के तो करोड़ों वर्ष का संयम केवली बनने के बाद बीता था और चरम तीर्थंकर ने ३० वर्ष तक निर्वाण के पहले
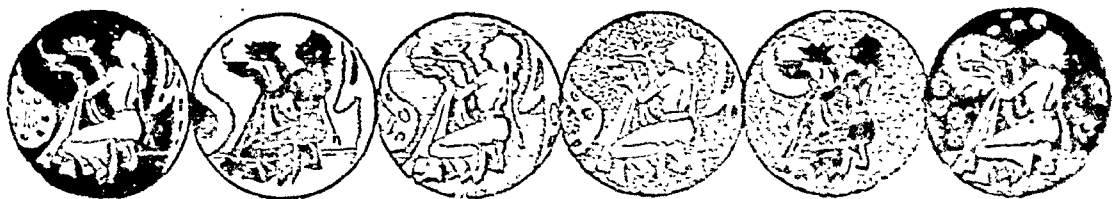
"क्यों नहीं? आपका कैदी अंधा है; फिर भी आप उसे क...
शब्द भेदी बाण चला कर दिखाये?"

"क्या कहा....? शब्द को भेदनेवाला — यानी जहाँ जो आवाज़ हो...
वहीं निशान तुम्हारा राजा मार सकता है? माशाल्ला....! हम उसे ज़रूर देखेंगे!"

गोरी बादशाह ने यह मंजूर किया कि यह करतब दिखाने के लिये ...
को पृथ्वीराज से मिलने देगा। चंद, पृथ्वीराज से मिला और उसने अपनी सा...
बताई। साथ ही योजनानुसार उसने कार्य पूर्ण होने पर अंतिम कर्तव्य बजाने के लि...
भी दी।

अफ़ग़ान बादशाह का दरबार खचाखच भरा था। चंद बारोट ने चुटकी ...
पृथ्वीराज को पहले ही बता दिया था कि बादशाह कहाँ है?

पृथ्वीराज के हाथ में धनुष्य और बाण दिये गये। चंद बारोट ने ललकारते कहा :—

"चार बांस चौवीश गज; अंगुल अष्ट प्रमाण।
इत्ते पर सुलतान है मत चूके चौहाण॥

पृथ्वीराज ने तीर खींचा; सब की आँखें उसकी ओर लगी थीं। निशान बादश...
के ताली पीटने पर छोड़ने का था। जैसे ही बादशाह की ताली बजी और गोरी बादशा...
कुछ विचार करे, उसके पहले तीर उसके सीने में लग चुका था। उधर पृथ्वीराज ने कटा...
से अपनी आत्म-हत्या करके प्राण छोड़ दिये थे।

कहते हैं कि चंद बारोट ने अजरामर नगर छोड़ते समय यह कहा था कि "अब इस नगरी में पृथ्वीराज नहीं है — उसकी वीरता नहीं रही है; फिर यह नगरी अजरामर नहीं है — किन्तु "आजमरी" है!" यही आजमरी बिगड़ते-बिगड़ते अजमेर बन गया मालूम होता है।

१६

जय - पुष्कर तीर्थ

सुरम्य अरावली पर्वत की घाटियों से घिरे हुए पुष्कर में सभी संतों ने बड़ी स्वागतार्थियों की भीड़ के साथ प्रवेश किया। भूधरजी महाराज पहले भी आचार्य धनाजी के साथ इस तरफ पधार चुके थे किन्तु जयमलजी आदि के लिये यह नया स्थान था।

जब लोगों ने सुना कि पूज्य भूधरजी शिष्य मंडली सहित पधार रहे हैं तो उनके दर्शन-प्रवचन और वंदन के लिये लोगों के टोलों के टोले आने लगे और पुष्कर तो वैसे हिंदुओं के लिये तीर्थराज माना जाता था; किन्तु आज जैनियों के लिये भी सच्चा तीर्थ सा प्रतीत होने लगा था।

प्रकृति ने अपना सौंदर्य बिखेर ही दिया था। छोटे-छोटे तालाव, कुंड और हरी-भरी घाटियाँ, बहती हुई नालों की धारायें और मंदिरों के ऊँचे कलश — सभी इस तीर्थ की शोभा बढ़ाते थे।

इसके संबंध में कई एक कहानी प्रचलित हैं। एक तो यह है कि :—

राजा उदयन चंडप्रद्योत का पीछा करता-करता यहाँ पर आया था। उसकी सेनायें थक गई थीं और बिना पानी के तरस रही थीं। आसपास ऊँची पहाड़ियाँ ही थीं और कहीं पर पानी का नाम न था।

राजा बड़ा अकुलाया छटपटाया कि क्या किया जाये? उसकी पत्नी पद्मावती मर कर देवी हुई थी। उसने राजा को वचन दिया था कि संकट के समय वह उसका ध्यान करेगा तो वह उसकी मनोवांछा पूर्ण करेगी।

राजा को यह याद आया और उसने पद्मावती का ध्यान किया। ध्यान में उसने दो दिन-रात निर्जल बिताये। अंत में पद्मावती प्रसन्न होकर प्रगट हुई।

उसने राजा से पूछा :—"क्यों मेरा स्मरण किया?"

राजा ने कहा :—"मेरी सेना बिना पानी के मर रही है सो कोई उपाय करो!"

यह तो घटाने मात्र से घटाया गया है; किन्तु वास्तव में देखा जाय तो जिनमें शक्ति होने पर भी जो धर्म-मार्ग में आगे नहीं बढ़ते और संसार की माया जोड़ने में रहते हैं उनका हाल पृथ्वीराज जैसा होता है। यह आत्मा जो अजरामरी नगरी मुक्ति का अधिकारी है वह 'जन्म, जरा, मरण' के फेरे खिलानेवाली "आजमरी" नगरी में घूमता रहता है। ज्ञानी कहते हैं कि यह मानव-तन मिला है। लक्ष चौराशी योनि में इसे ही सभी ने श्रेष्ठ माना है क्योंकि वही ज्ञान-दर्शन चारित्र का धारक, उपासक बनकर आत्म विकास साध सकता है। देवों के पास स्वर्ग है — स्वर्गीय सुख हैं; फिर भी हिन्दू-धर्म के अनुसार वे पृथ्वी पर आये और उन्होंने अमर बनने के लिये अमृत का पान किया।

यह अमृत इस काल में वास्तव में माना जाय तो मानव के पास ही है और वह है ज्ञान-दर्शन, चारित्र युक्त धर्म। धर्म के आधार पर ही आत्मा विकास साध कर मुक्ति को पाती है। गीता में भी कहा है कि "आत्मा की अन्तिम गति देवताओं के सुख नहीं है; किन्तु कर्म बन्धन से मुक्ति है।

हमें तो अनायास ही यह अवसर मिला है तो हमें इसे अपना कर आत्म विकास को साधना चाहिये। संसार के सभी जीवात्मा विकास चाहते हैं; किन्तु जब जड़ पदार्थों में आसक्ति बढ़ाई जाती है तो वह सुख आगे जाकर दुःख बनता है; परन्तु जब वह आत्म लक्षी बनता है तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र की उपासना साधके जीव शाश्वत सुखमयी अनन्त ज्ञान, दर्शन से प्रकाशित और अनन्त चारित्र के पूंज से चमकती अजरामर नगरी मुक्ति को प्राप्त होते हैं।"

* * *

आचार्यश्री महाराज के इस प्रकार प्रभावोत्पाद व्याख्यानों से अजमेर में काफी धर्म-ध्यान का ठाठ लगा। लोगों ने सच्चे धर्म के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये व्रत, तप अंगीकार किये।

वे हँसते-हँसते अपने भक्तों को मीठा उलाहना भी देते :—"हमें मानव-जीवन मिला है और श्रावकों को अहिंसा व्रत में हालाँकि त्रस जीवों की हिंसा की सकारण

मानी गयी है इस काव्य शास्त्र का तुम अध्ययन प्रारंभ करो! यहाँ का वातावरण ही अरसिक मन को रसिक बना देता है और मेरा विश्वास है कि तुम आगे जाकर महाकवि बन कर धर्म की कीर्ति बढ़ाओगे!"

"आपका मुझपर जो अनुग्रह है, कृपा है, उसके लिये मेरे पास प्रशस्ति के सिवाय कुछ भी नहीं है! काव्य की स्फुरणा तो मुझे भी हो रही है; किन्तु आप से विशेष शिक्षा पाकर मैं आगे बढ़ना चाहता हूँ!" जयमलजी ने सविनय कहा।

मुनिश्री नारायणदासजी ने उन्हें विधिवत् काव्य, उसके भेद, रस विवेचन, पिंगल ज्ञान और छंद रचना एवं रस और छंद का समन्वय करना सिखाया। वे स्पष्ट कहते थे काव्य स्फुरणा पढ़ने से नहीं होती; उसके लिये भाव आंदोलन चाहिये और यह तो पिछले पुण्यों के उदय से ही प्रगट होते हैं। वे अक्सर कालिदास का दृष्टांत देकर कहते थे कि "निरा निपट मूर्ख लकड़हारा भी पुण्योदय से संस्कृत का श्रेष्ठ कवि बन गया और मेघ-दूत से अपनी प्रियतमा का हाल जानने मेघ-दूत रचा, इस तरह शृंगार रस ने उसका नाम चमका दिया। पारधी से ऋषि बने वाल्मीकि को क्रौंच पक्षी की जोड़ी देखकर मुख से काव्य धारा बह पड़ी और रामायण की रचना हुई और शान्त रस ने भक्ति भाव उत्पन्न करके उसकी साधना को अमर बना दिया। बस, वही जगत-रक्षक, दया माता हृदय में आती है और भावावेग लाती है तब काव्य प्रारंभ होता है! उसी जगत् जीव की दया से द्रवित होकर जब तीर्थंकर कहते हैं तो वह काव्य आगम-वाणी बनता है!"

जयमलजी ने उनसे अटपटी पिंगल रचना पढ़नी शुरु की, वे उसे समझने लगे। मुनिश्री नारायणदासजी ने भी विशेष स्पष्ट करने के लिये सर्व प्रथम दशवैकालिक सूत्र की पहली ही गाथा ली :—

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥

उन्होंने कहा :—"अपनी आगमवाणी भी कई सूत्रों में काव्य में गूंथी गई और कई जगह पर वह गद्य में भी है। छंद रचना के अनुसार दशवैकालिक सूत्र की यह गाथा

अधिकतर तो यहीं के धर्म बदले हुए या बदलाये गये लोग थे; या जो जाति धर्म के अन्यायों और अत्याचारों से बने थे; या अस्पृश्यत्ता के कलंक से वहाँ चले गये थे; या शासन के ऊँचे ओहदों के कारण बन गये थे — उन लोगों के लिये अब भारत - हिंदुस्तान ही अपना मादरे वतन था और उन्होंने मक्का शरीफ की तरह अजमेर को भी शरीफ बना कर, यहीं पर अपने मज़हब की पाक इमारतें बना ली थीं। हो सकता है कि पुष्कर को तीर्थराज हिंदु मानते हैं। इसलिये मुस्लिमों ने भी उसके पास ही खुदा की बंदगी के शरीफ़ स्थान के रूप में अजमेर को चुना हो।

अब तक तो यहाँ रहनेवाले मुसलमानों के मन में यही भाव था कि वे लोग शासक हैं और दूसरे उनकी आज्ञा में रहनेवाले हैं। हालाँकि अकबर के ज़माने से कई सूफी संतों ने इन्सान की समानता और खुदा के सभी बंदों के गीत गाये थे। उन्होंने यहाँ के अध्यात्मवाद को अपनी शायरी में लिया था और कबीर जैसों की वाणी तो सभी को स्पर्शती थी; फिर भी मुसलमान अपने आप को कुछ विशेष मान कर चलते थे। लेकिन मुगल सल्तनत में गद्दी के लिए लड़ाइयाँ और मुगल सल्तनत के वारिशदारों की राजपूतों की सहायता से लड़ाइयाँ — इन सभी बातों ने मुसलमानों की आँखें भी खोल दी थीं कि वे सिर्फ एक रैयत (प्रजा) के रूप में ही है और मुस्लिम शासन होने पर भी उन्हें विशेष अधिकार नहीं है।

एक बात अवश्य थी कि जो धर्म बदल कर हल्की कोम के जुलाहे वगेरा मुस्लिम हुए थे; उनका मुस्लिम बिरादरी के रूप में स्थान बनता जा रहा था। राजपूतों की कन्याओं के मुगल बादशाहों के साथ लग्न आदि से भी हिंदू - मुस्लिम सहिष्णुता बढ़ती जा रही थी। जब स्वतन्त्र रियासतें फिर से जमने लगीं तो यहाँ के रहनेवाले लोगों ने सिर्फ इतना ही माना कि उनका शासक बदला है, उससे कोई खास फर्क पड़ा हो वैसा लोग नहीं मानते थे।

आचार्य भूधरजी पहले, संसार पक्ष में राज्याधिकारी के रूप में रह चुके थे। इसलिये उनके दर्शन करने बहुत से राज कर्मचारी भी आते थे। कई ठाकुर, जागीरदार
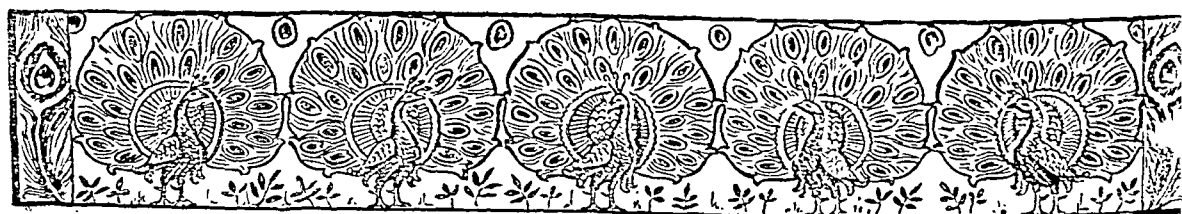
इसमें से प्रत्येक अक्षर के आगे के दो अक्षर की मात्रानुसार गण बनता है; दीर्घ के लिये ऽ और ह्रस्व के लिये । चिन्ह हैं। जैसे :—

गण नाम	क्रमशः अक्षर	मात्रा
य गण	य मा ता	। ऽ ऽ
म गण	मा ता रा	ऽ ऽ ऽ
त गण	ता रा ज	ऽ ऽ ।
र गण	रा ज भा	ऽ । ऽ
ज गण	ज भा न	। ऽ ।
भ गण	भा न स	ऽ । ।
न गण	न स ल	। । ।
स गण	स ल गं	। । ऽ

ल = लघु ; गं = गुरु

उनके सीधे - सादे दलील युक्त वचनों का असर तुरन्त ही होता था औ
अजमेर निवास के समय कई लोगों ने नित्य स्मरण, नवकार की माला, सामायि
प्रतिक्रमण पौषध करने के पच्चक्खाण लिये। आचार्यश्री एवं उनके शिष्य - मण्ड
तप आराधना देख कर बहुतसों ने एकांतर वर्षी तप प्रारम्भ किया; कईयों ने बेले
किये और कईयों ने विगय त्याग किया। इससे भी आगे बढ़कर कई श्राव
चतुर्थ (ब्रह्मचर्य) व्रत अंगीकार किये और चार खंधों के पच्चक्खाण लिये।

इस प्रकार अजमेर में आचार्यश्री के पदार्पण का पूरा लाभ वहाँ के र
लिया। जो लोग कभी धर्म का नाम नहीं लेते थे उनमें से बहुत से धार्मिक वृत्ति
गये; ऐसा उनका प्रभाव था।

* * *

अजमेर से जब आचार्यश्री का विहार हुआ तब बहुत बड़ी संख्या में जै
तो उन्हें विदाई देने आये थे; अजैन लोग भी काफी संख्या में दिख रहे थे।

साधु और सरिता दोनों के लिये चलते रहना ही जीवन है; रुक गये
रुकी और वही उनके लिये मृत्यु का संदेश है। अजमेर से दो कोश तक लोग आचा
पहुँचाने साथ आये।

आचार्यश्री का वहाँ का निवास काल लंबा रहा; फिर भी सब को
था :—"क्या, आचार्यश्री इतनी जल्दी प्रस्थान कर रहे हैं?"

मगर सारा संसार जिनका आत्मीय कुटुम्ब है उस साधु को एक जगह ट
अमुक स्थान के साथ मोह बाँधने से कैसे काम चलेगा? उसे तो ग्रामानुग्राम विचर
औरों को भी प्रति बोध देना रहता है।

अजमेर, जोधपुर, जयपुर, उदेपुर, और ऐसे रियासतों के या शासन के कें
नगर के लोगों में धर्म भावना तो वैसी रहती है; किन्तु उनको अपने जीवन - यापन
राजशाही कार्यों में ऐसे लग जाना पड़ता था कि जो वृद्ध अनुभवी होते थे। वे यहं

जब कभी वे इन छंदों को समझाते स्वरों के साथ में आलापते तो मधुर श्रुति के फलस्वरूप जयमलजी भी तन्मय हो जाते।

मुनिश्री नारायणदासजी उन्हें कहते :—"छंद, रस, स्वर मिलकर गीत बनता है; उसमें "सम्" जुड़ता है तो रागों का संगीत बनता है और वह बरबस ही हृदय को जकड़ लेता है!

इसी तरह उन्होंने जयमलजी को प्रचलित दोहा, चोपाई, छप्पय, सोरठा आदि मात्रिक छंदों का भी परिचय कराया।

उन्होंने बताया कि **दोहा** मात्रिक छंद है। पहले चरण में १३ और दूसरे में ११ वैसे ही तीसरे में १३ और चौथे में ११ मात्रा होती हैं, जैसे :—

दया सुखों की बेलडी, दया सुखों की खान
अनंत जीव मुक्ते गया दया तणा फल जान

सोरठे में उसका उल्टा होता है यानी १-३ चरणों में ११ और २-४ में १३ मात्रा होती है, जैसे :—

जब लग घट में प्राण, तुलसी दया न छांडिये

चौपाई में प्रत्येक चरण के सोलह मात्रा होती है, जैसे :—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाय पण प्रण नहि जाई॥

हरीगीतिका में २८ मात्रा होती है, जैसे :—

हे भव्य सुंदर जीव यह संसार कारागार है

"**आर्या**" का स्वरूप बताते हुए कहा कि उसका १-३ चरण १२ मात्रा का और २ चरण १८, ४ चरण १५ मात्रा का होता है, जैसे :—

चंदेसु निम्मलयरा,
आइच्चेसु अहियं पयासयरा
सागरवर गंभीरा
सिद्धासिद्धि ममं दिसंतु

अजमेर से ब्यावर (पुराना) तक का रास्ता पहाड़ियाँ और उसकी गोद में बसे छोटे-छोटे गाँव और खेतों के कारण बड़ा ही सुन्दर था। व्यापार आदि करने के लिये जाती हुई मिर्ची, बाजरा, मकाई और चने से भरी गाड़ियाँ अक्सर पास से गुज़र जाती थीं।

पहाड़ों के नीचे चलनेवाले लोग बहुत ही छोटे मालूम होते थे। आचार्य भूधरजी प्रकृति के बड़े निरीक्षक थे और कभी हँसते-हँसते कह देते :—"देखा, ये पहाड़....! मानव के गर्व को चूर-चूर करके कहते हैं कि देखो, तुम हमारे आगे कितने वामन हो? क्यों, नारायणदासजी?"

मुनिश्री नारायणदासजी इन दिनों अपने आप में ही खोये रहते थे। वे उत्तर देते :—"आप सही फ़रमाते हैं; किन्तु इतने बड़े पहाड़ भी अपने अज्ञान के कारण, वामन रूप मानव के ज्ञान के आगे नतमस्तक होता है, गुरुदेव!"

जयमलजी भी साथ हो लेते और कहते :—"शायद यह पर्वत इसलिये भी स्तब्ध होकर बैठा ही है कि "देखो, मैं इतनी विशाल काय लेकर चल-फिर नहीं सकता और यह वामन सा आदमी देखो, मुझपर चलता-दौड़ता ही जा रहा है। इतनी बड़ी काया भी क्या काम की जो अपने पर होनेवाले इस प्रकार के आवागमन को न रोक सके....!"

आचार्यश्री जयमलजी की कल्पना शक्ति को देखकर मन ही मन प्रसन्न हो जाते थे। रास्ते भर में जितने-जितने गाँव आते वहाँ बैठकर उन सब की चर्चा द्रव्य, अणु, परमाणु के सम्बन्ध में होती थी। उनके प्रवचनों में भी द्रव्य आदि का विवरण वे एक या दूसरे रूप में प्रस्तुत करते थे। वे अक्सर कहते थे कि :—"जो ज्ञान आगम ने हमें दिया है, उसे हमें आत्मसात् कर लेना चाहिये। अलग-अलग प्रकार के जीवात्मा, द्रव्यों का विवरण; ये सभी सिर्फ रटने रटाने की वस्तु नहीं है; किन्तु उसको मस्तिष्क में बिठा कर आत्मा के ज्ञान उपयोग के रूप में बना देना चाहिये। वह ज्ञान ही सचमुच आत्मा का गुरु है!"

●

आचार्य भूधरजी भी थोड़ी देर हुए उनका परिसंवाद सुन रहे थे। उन्होंने कहा :—"वीरप्रभु कह गये हैं, "न चित्ता तायए भासा...." भाषा का वाग्विलास नहीं चाहिये या पंडितों के लिये शब्दों की साठमारी नहीं चाहिये; लोक मानस को पवित्र विकास करनेवाली सीधी सादी लोक भाषा ही चाहिये!"

"आप ने मेरे मानस को निःशंक, धवल और स्वच्छ आकाश सा कर दिया है! जयमलजी ने गद्‌गद होकर कहा। दो पल शांति की मस्ती छाई रही और फिर जयमलजी ने सुन्दर स्वर में अपनी काव्य भागीरथी के प्रवाह का पहला चरण सुनाया :—

नमो सिद्ध निरंजनं नमूं श्री सत-गुरु-पाय
धन वाणी गुरु-राज की सुनतां पातक जाय

"साधु, साधु....!" मुनिश्री नारायणदासजी गद्‌गद् हो उठे।

पू० भूधरजी ने भी कहा :—"सुन्दर, सुन्दर....! मगर गुरु भक्ति से अधिक जिनेश्वर भक्ति होनी चाहिये और कहो "धन वाणी जिनराज की सुनतां पातक जाय!"

"अत्यन्त सुन्दर! इसीलिये तो कहता हूँ कि मिले तो ऐसे पहुँचे गुरु मिले!" मुनिश्री नारायणदासजी ने भूधरजी के चरण छू लिये; जयमलजी ने भी उनका अनुकरण किया।

भूधरजी ने उनको उठाते हुए हर्ष से कहा :—"और आगे सुनाओ....!"

जयमलजी बोले :—

वीर नमूं शासन धणी, सर्व हित वंछव साम।
मुक्ति नगर का दायका मंगलिक तनु नाम॥
ज्ञानों में केवल बड़ा गणधर गौतम सार।
दानों माँहि अभय बड़ा मंत्रों में नवकार॥
गुरु बड़े संसार में किया बड़ा उपकार।
ज्ञान-दीप घर में किया तिमिर हरण सुखकार॥

बाहर गाँव से भी लोग आते पू. महाराजश्री और संतों के दर्शन करते और गाँववाले उन्हें दूध-कलेवा का आग्रह करें उसके पहले वे सामायिक बाँध कर बैठ जाते। कई बैठने की तैयारी करते और दूसरे आग्रह करते तो कहते :—"पहले आत्मा का कलेवा (धर्म-ध्यान) कर लेवें - फिर शरीर का करेंगे।"

इससे स्वागतार्थियों का मन ज़रा अप्रसन्न होता; किन्तु वे भी महेमानों की धर्म प्रियता देखकर प्रसन्न होते। हमारे भारत की तो यह संस्कृति रही है :—

अतिथि देवो भवः

इसमें भी ऐसे सुपात्र संत और उनके दर्शन वंदन और प्रवचन के लिये आनेवाले ये सार्धर्मिक भाई हमारे यहाँ, कहाँ? ऐसा निर्मल वात्सल्य भाव उनमें उमड़ता था; किन्तु जब उन बंधुओं को वे सामायिक लेकर बैठ जाते, देख लेते तो उन्हें यह आत्म संतोष होता कि "धर्म क्रियाओं से यह स्थान भी पवित्र हो रहा है और सचमुच ही ऐसा दृढ़ धर्म रंग सबको लगना चाहिये।"

ब्यावर से आचार्यश्री भूधरजी का विहार सेंदरा की ओर हुआ अरावली पर्वत की पर्वत श्रेणियाँ अपने नाम के अनुसार पंक्ति बनाकर सामने आती और चली जाती। मनुष्य ने उन अगम्य पहाड़ियों पर भी पगदंडियाँ, रास्ते बना कर उनको अपने आवागमन के योग्य बना ली थीं। पहाड़ियों के बीच से गुज़रते हुए इन मुनिवरों को निहार कर मानो पहाड़ियाँ भी अपने आपको धन्य समझने लगीं।

सेंदरा एक छोटा सा गाँव है। वह मानो प्रकृति की गोद में बसा हुआ उसकी शोभा का प्रतीक है। जयमलजी के अंदर रहा हुआ उनका कवित्व उनको प्रेरणा देता रहा और इन दिनों यह देखा गया कि जयमलजी पुष्कर अजमेर और ब्यावर से ही एकांत में बैठकर कुछ चिंतन-मनन और लेखन कार्य में लीन रहते थे।

पूज्यश्री का ध्यान विशेष रूपसे जयमलजी की ओर आकर्षित होने लगा। उन्हें लगा कि अधिक से अधिक धर्म प्रचार करना बहुत ही ज़रूरी है और एतदर्थ जितने योग्य और समर्थ हों उनको जुट जाना चाहिये।

१७
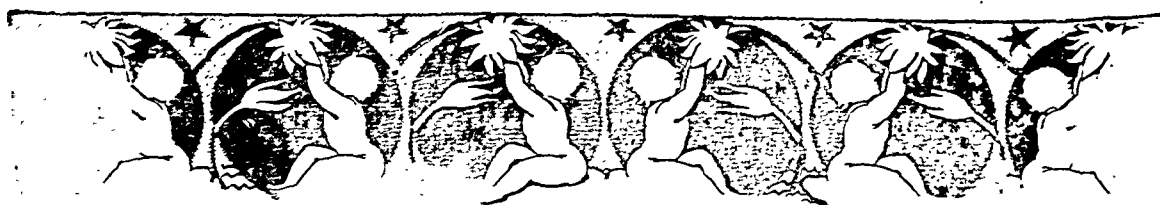
जय - अजरामर पुरी

(अजमेर)

पुष्कर में आचार्यश्री के व्याख्यानों का ठाठ रहा आत्म धर्म पर वे बड़ा ही मनोहर विश्लेषण करते थे। पुष्कर से आचार्यश्री का विहार अजमेर की ओर हुआ।

आचार्यश्री भूधरजी महाराज पहले भी अजमेर पधारे थे। तब पूज्य धनाजी म. सा. विद्यमान थे और यहीं से उन्होंने उत्कृष्ट तप और संयम रूपी साधु चर्या को अपनाई थी। भूधरजी आचार्यश्री के साथ उनके नवदीक्षित संतों में जयमलजी तो तपस्वी थे ही; मुनिश्री नारायणदासजी की प्रतिभा भी अपनी विद्वता और ज्ञान - समाधि लीनता के कारण बढ़ी हुई थी। जेतशीजी म. सा. का मधुर स्वभाव सब को अपनी ओर आत्मीयता जगाता था।

अजमेर में आचार्यश्री के आगमन से अपूर्व उत्साह छा गया था और श्रीसंघ का प्रत्येक सदस्य उसका पूरा लाभ उठाने से नहीं चूकता था। आचार्यश्री भी समयानुसार अपने व्याख्यानों, कथानकों और प्रवचनों से लोगों में धर्म भावना जागृत करते थे। स्वयं तपस्वी थे और शिष्य समुदाय भी तपस्वी था अतः उनके वक्तव्यों का और संयमपूर्ण आचरण का लोगों पर पूरा प्रभाव पड़ता था।

वे अक्सर व्याख्यानों में कहते :—

"जगत के जीवन पर द्रष्टिपात करने से यह पता चलता है कि यह सतत प्रगतिशील है। क्योंकि चेतना युक्त जीव का स्वभाव ही यही है कि गति करना। साथ ही इस गति में यह भी वृत्ति देखी गई है कि जीव की यह गति सदैव विकास चाहती है। जब यह विकास आत्म लक्षी बनता है तो वह क्रमशः कर्मों से अलिप्त होकर ऊपर आता है। जब यह विकास भौतिक पदार्थ पुद्‌गल लक्षी बनता है तो वह उसी में फँसता है और निरंतर उस में चक्कर लगाता रहता है।

अच्छे से अच्छा तैराक भी जब नदी के बीच में रहे भंवर में फँस जाता है तो वह उससे बाहर नहीं निकल पाता और मृत्यु को पाता है, उसी तरह भौतिक पदार्थ के सुख की यह भंवरी संसार सरिता में मनुष्य को अपनी ओर खींच लेती है और वह उसी में

पूज्यश्री ने अपने व्याख्यानों को तीन क्रम में बाँट रखा था। चूँकि उनका विचरण गाँव-गाँव में अधिक होता था। इसलिये जनता के जीवन की गति विधि से वे सुपरिचित थे। उनके प्रातः व्याख्यान में सुश्रावक जैन जनता और गाँव के अन्य प्रतिष्ठित लोग विशेष रहते थे। मध्याह्न का व्याख्यान रघुनाथमलजी म० सा० देते थे और तदुपरांत रात्रि को भी व्याख्यान चलता था; इसे चर्चा-विचारणा और कथानकों का भी रूप कह सकते हैं। प्रातःकाल का व्याख्यान स्वयं पू० भूधरजी म० सा० फरमाते थे और उन दिनों अक्सर जयमलजी उनके साथ पाट पर विराजमान होते थे। इसमें प्रभात मंगल पाठ, तत्त्व-ज्ञान और धर्म-प्रवचन होता था। मध्याह्न के व्याख्यान में स्त्री समुदाय अधिक रहता था। प्रातः हालाँकि अधिक से अधिक बहनें व्याख्यान का लाभ लेती थीं; फिर भी घर-गृहस्थी के कामों में कई बहिनों को उलझना पड़ता था; मगर मध्याह्न में तो सभी आ सकती थीं। उस समय उनके योग्य अच्छे चरित्र, सज्झाय, चौपाई आदि का प्रवचन होता था। रात्रि को गाँव के और भी लोग, किसान, खेत में काम करनेवाले भी आकर धर्म-चर्चा-प्रवचन में बैठ जाते थे। पूज्यश्री के व्यापक अनुभव से वे यह अनुभव करते थे—गाँवों में रात्रि के समय चर्चा, प्रवचन, कथानक चलते रहे तो जैनों के सिवाय अजैन भी इससे प्रभावित हो सकते हैं। इन व्याख्यानों में मुनिवर खुले हुए मैदान-चौगान के कोने में छत डले चबूतरे पर बैठ जाते और अपना प्रवचन देते; कई बार चर्चायें भी चलतीं और उस पर से मार्ग-दर्शन के रूप में तत्त्व-कथा आदि का निरूपण होता।

रायपुर में पदार्पण होने के बाद—सायंकाल का प्रतिक्रमण होने के पश्चात् पूज्यश्री भूधरजी ने जयमलजी से कहा :—"आज रात्रि से प्रवचन, कथानक सुनाने का शुभारम्भ करो!"

जयमलजी कुछ संकोच में पड़े तो पूज्यश्री ने कहा :—"यह संकोच स्वभाव मिट जाये इसीलिये चाहता हूँ कि यहीं से प्रारंभ हो। वैसे रात्रि प्रवचन का स्वरूप चर्चा-विचारणा का रहता है और कई बातें जो लोक मानस में रहती हैं, उसका साक्षात्कार यहीं पर होता है। कई चर्चा में, शास्त्रोक्त विधि से ज्ञान पूर्वक विस्तार से चर्ची जाती हैं जिससे ज्ञान का सही उपयोग भी होता है।"

एक लक्षण ही है। किन्तु जब वह नई काय में जन्म लेता है तो पुनः उसके विषय - सुख में ही डूब जाता है और इस प्रकार जन्म, जरा, मरण के चक्कर में वह फिरता ही रहता है।

ज्ञानी कहते हैं कि अज्ञान से अज्ञान दशा में यानी निगोद (जहाँ उत्पत्ति और विनाश या जन्म - मरण साथ ही होता है) में भी जीवात्मा विकास चाहता है और तदनुसार अपने कर्मों को हल्का करता वह क्रमशः विकासशील जीव योनियों में जन्मता है; जीवन पूर्ण होने पर मृत्यु को पाता है और नई योनि को धारण करता है।

इस प्रकार अनेक जन्मों को धारण करके वह पंचेन्द्रिय शरीर को प्राप्त होता है जिसमें भी तिर्यंच गति में उसका ज्ञान केवल इन्द्रिय सुखों की ओर ही चलता है; किन्तु यहाँ पर उसे दुःख की अनुभूति होती है। उसमें कषाय भी होते हैं और वह यह अनुभव करता है कि सुख - दुःख क्या है? राग भी वह जानता है, द्वेष भी जानता है; किन्तु उसके जीवन का लक्ष्य सिर्फ रहता है भोग विलास और उसका जीवन उसकी प्राप्ति, अप्राप्ति आदि में समाप्त हो जाता है। मगर यहाँ भी हम स्पष्ट देखते हैं कि वह जब तक जीवित रहता है तभी तक उस काया को धारण करके रहता है। मृत्यु होने पर उसकी आत्मा नया तन पाने, नई गति पाने प्रस्थान कर देती है।

यह सारी जन्म - जरा - मरण की प्रक्रिया को मानव कुछ विशेष रूप से विचार सकता है। क्योंकि वह न केवल सुख - दुःख का अनुभव करता है; मगर उसकी आत्मा इतनी विकसित होती है कि वह कार्य और कारण का भेद पाने का प्रयत्न भी करता है। तभी उसके हृदय में — मन में विचार आता है कि यह जन्म, जरा, मरण का चक्कर क्या है?" उसके पास विचार व्यक्त करने के लिये भाषा है — जानने के लिये ज्ञान का साधन है और अनुभूति के द्वारा वह श्रद्धा को प्राप्त करता है — अपने ज्ञान को स्थिर करता है, स्पष्ट दर्शन करता है और तब वह तप - संयम रूपी मार्ग से जिस जन्म, जरा, मरण के चक्कर में फँसा है उससे निकलने का प्रयत्न करता है। वह विचारता है :—

"मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ और मुझे कहाँ जाना है....?"

वह इस विचार मंथन में ज्ञानी, त्यागी, सन्तों के सत्संग में आता है और उनके द्वारा उसे यह जानने को मिलता है कि "जीवन का केवल यही उद्देश्य नहीं है कि भोग -

कोई यदि हमें उठाता है और हम गहरी नींद में हों तो, हम उसे जवाब नहीं दे सकते; न उन बातों का वैसा अनुभव भी कर सकते हैं जैसे हम जागृत अवस्था में करते हैं। उस समय हम अपने इस मानव-तन को इन चारों की शरण में सौंप देते हैं। यह मानव-तन भी संसार की चार दुर्लभ वस्तुओं में से एक है। उसे बहुत ही पुण्य से पाया जाता है और यही रहता है तो हम इस लोक के क्या, परलोक के भौतिक सुख ही नहीं—मुक्ति के आध्यात्मिक सुख भी पा सकते हैं।

ऐसे इस मानव-देह को हम इन चार शरणों के शरण में सौंप देते हैं। हम जब परदेश जाते हैं या अपने घर में धन रखना सुरक्षित नहीं समझते तब हम अपना धन किसी विश्वासपात्र नगर सेठ या सुप्रतिष्ठित मनुष्य के पास सौंप के निश्चित बन जाते हैं वैसे ही इस तन को हम चार मंगलों को सौंप कर निश्चित बन कर सोते हैं और विश्वास रखते हैं कि प्रातः जगने पर यह सुरक्षित रहेगा और नमस्कार मन्त्र के स्मरण के साथ हम अपना जीवन पुनः प्रारम्भ कर सकते हैं।

इतना ही नहीं, जीवन में भी जहाँ कहीं संत सती विराजते हैं वहाँ उनके दर्शन, प्रवचन, वन्दन के बाद हम उनसे माँगते हैं :—"बापजी, मंगलिक सुनाई दीजो!"

वैसे साधुओं के पास तो देने के लिये सिवाय ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप की आराधना करवाने के कुछ नहीं होता; किन्तु सामान्य से सामान्य आदमी भी उनसे जिस वस्तु की अपेक्षा रखता है, वह है "मंगलिक"। न उसे उस मंगल पाठ से पैसा मिलता है, न अन्य सांसारिक सुख; फिर भी बड़ी श्रद्धा से वह मानता है—मंगलिक श्रवण से उसके जीवन में धर्म का कल्याण-मार्ग प्रशस्त होता है।

मंगलिक तो आप रोज़ सुनते ही हैं :—

> चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं।
> साहू मंगलं, केवली पन्नत्तो धम्मो मंगलं॥

मंगल का इतना महत्व क्यों है? उसमें कौन-सी विशेष शक्ति रही हुई है? एक तो वह शब्द की व्याख्या के अनुसार "माम्-विघ्नान् गालयति इति मंगलं" यानी माम् अर्थात्
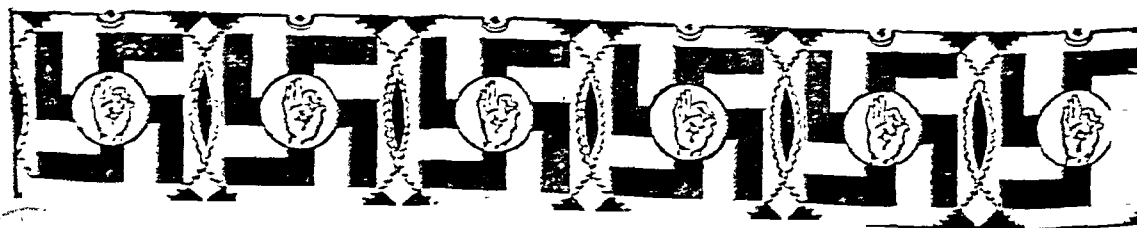
और मरण नहीं होता, जहाँ शाश्वत सुख रहता है और जहाँ कभी जरावस्था का दुःख नहीं आता।

वैसे देखा जाय तो जो जीव अज्ञानवश भोग-विलास या भौतिक पदार्थों की ओर आसक्ति बढ़ाते हैं। वे यही मानकर चलते हैं कि इसमें ही हमें शाश्वत सुख मिलनेवाला है; किन्तु एक दिन उन जड़ पदार्थों को छोड़ कर, आत्मा इस नश्वर देह का त्याग करके चल देती है; तब अन्त समय में उसे अनुभूति होती है कि जिसे वह सुख मानता था वह तो भ्रम था। सार यही है कि जो प्रबुद्ध मानव जीवात्मा है और जो अज्ञानी है — दोनों की आत्मा शाश्वत सुख, अमर पद और ऐसा दिव्य धाम चाहती है, जहाँ पर पहुँच कर आत्मा को सन्तोष हो कि वह अपने स्थान पर पहुँची है और जहाँ से लौटने का कभी काम नहीं है; किन्तु अज्ञानी उसे भौतिक सुख विलास में ढूँढता है और पुनः जन्म, जरा, मरण के चक्कर में ही फिरता रहता है तब प्रबुद्ध आत्मा क्रमशः भवों में उस चक्कर से दूर हटता जाता है और यदि उसने विशेष पराक्रम किया तो गिनती के भवों में ही वह अजरामर पुरी मोक्ष को पा लेता है।

इस अजमेर नगर को ही लेवें। कहा जाता है कि जब देवों ने पुष्कर में आसुरी शक्तियों का नाश कर आगे प्रस्थान किया तो इस स्थान की सुरम्यता देखकर यहीं पर अमरपुरी — स्वर्ग बनाने का विचार किया। उन्होंने वन-उपवन और सरोवरों से युक्त इस नगरी का नाम दिया "अजरामर" पुरी।

देवों ने यहाँ के निवासियों को यह स्थान निवास के लिये दिया और अच्छी तरह रहने के लिये कहा। इसकी भूमि का असर था कि यहाँ के निवासी बड़े ही धार्मिक और वीर वृत्ति के होते थे।

राजा पृथ्वीराज की वीरता की कहानी तो इतिहास में भी सुप्रसिद्ध है। उसने सात बार शहाबुद्दीन गोरी को हराया और विदेशी आक्रमण को दूर हटाया। कनौज के राजा जयचन्द्र ने जब उसे अपनी पुत्री संयुक्ता के स्वयंवर में उसे निमंत्रण नहीं दिया तो वह वेश छिपा कर वहाँ पहुँचा। राजकुमारी संयुक्ता उसका पराक्रम सुन कर उसको मन से वर चुकी

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अरिहंत भगवान को ही सब से प्रथम और श्रेष्ठ स्थान क्यों दिया गया है? वैसे अरिहंत किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है और गुण का द्योतक है कि जिसने अरि यानी शत्रुओं का, कर्म रूपी शत्रुओं का हंत यानी नाश किया है। आत्मा के दो प्रबल शत्रु हैं, राग और द्वेष — इनको श्री अरिहंत प्रभु ने जीत लिया है। जिसे राग-द्वेष नहीं है उसको सब पर समभाव रहता है और उसका कोई शत्रु नहीं रहता। उसकी वाणी में सभी जीवात्माओं के प्रति असीम करुणा व प्रेम भरे रहते हैं। इसीलिये अरिहंत भगवान के अनेक प्रभाव में यह भी बताया है कि वे विराजते हैं वहाँ पर शांति रहती है, सुख रहता है और सन्तोष रहता है।

कोई मामूली संत आ जाये, या कोई प्रतिष्ठित राजा, महाराज आ जावे तो भी लोग उनका लिहाज रखते हैं — बातें उथापते नहीं हैं तो अरिहंत भगवान के विराजने पर तो जीवात्मा द्वेष को, परस्पर के झगड़ों को विसार दे, यह स्वभाविक है। जब राग-द्वेष और मोह-माया छंट जाते हैं यानी कचरा जल जाता है तो जैसे स्वर्ण चमकता है वैसे अरिहंत प्रभु अपनी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आभा से चमकते हैं। ऐसे प्रभु से ही तो मुक्ति-मार्ग जाने का सच्चा उपदेश मिल सकता है। जो स्वयं रागी, द्वेषी, मोह, माया में फँसा या कषायों में फँसा हुआ है, जो खुद इन में डूबा है वह दूसरों को कैसे तार सकता है?

अरिहंत प्रभु आत्मा को कर्म से छुड़ाने का ज्ञानमय उपदेश देते हैं। यह अनन्त शक्तिशाली आत्मा कर्मपाश के कारण जन्म-जरा-मरण का दुःख पाती है। उससे छुड़ा कर सद्‌गति — मोक्ष गति को दिखानेवाले अरिहंत प्रभु हैं।

कई लोग यह भी कहेंगे कि "किसने आत्मा देखी है? कौन परलोक, स्वर्ग, नरक को जानते हैं? हम तो हमारी आँख के सामने हैं उसे मानते हैं!"

उनसे इतना ही कहना है कि "देखिये! अभी रात्रि चल रही है; अब अन्धकार ही अन्धकार है। अब यहाँ पर बैठनेवाले यदि यही मानें के संसार में सिर्फ अन्धकार है और प्रकाश नहीं है तो वे गल्ती कर बैठेंगे। प्रातःकाल होते ही प्रकाश आता है। अतः

धारण करो; वरना सिंह होकर गीदड़ की मौत मारे जाओगे! लोग कहेंगे कि अजमेर नगर लूटा जा रहा था, तब उसका राजा पृथ्वीराज कहाँ था....? संयुक्ता के आँचल में....?"

चंद बारोट की खरी-खरी बात सुन कर पृथ्वीराज की आँखें खुलीं। यदि कोई और कहता तो पृथ्वीराज उसकी गरदन ही काट लेता; किन्तु यह चंद बारोट था। उसने तो स्पष्ट ही कहा:—"राजा! लोग ताना मारेंगे कि पृथ्वीराज की वीरता संयुक्ता के अपहरण में और उसके रूप में विलीन हो गई....!"

पृथ्वीराज से नहीं रहा गया। वह उठा; उसने खड्ग, ढाल, बख्तर उठाये। अपनी बड़ी भारी तल्वार उठाई। उसने सेना फिर इकट्ठी की; किन्तु देर हो चुकी थी। जितनी तैयारी होनी चाहिये उतनी नहीं हुई थीं। उसने बहुत ही पराक्रम से युद्ध किया; लेकिन उसे महसूस हो रहा था कि उसका बल-शौर्य कहीं चला गया है। अन्त में वह पकड़ा गया। उसके हाथ-पैर और गले में भारी जंजीरें डाल दी गईं।

गोरी बादशाह तो दुश्मन था। वह तो दुश्मन को सिर्फ एक ही रूप में जानता था—वह दुश्मन रूप में। जिस पृथ्वीराज ने उसे सात बार माफ़ किया था उसको उसने माफ़ नहीं किया; उसकी आँखें फोड़ डालीं और उसे बन्दी बना कर वह काबुल ले गया। अपने लोगों को वह दिखाना चाहता था कि "देखिये! जिस शेर ने मुझे सात बार हराया था, आज आठवीं बार मैं किस हालत में पकड़ कर लाया हूँ!" वह उसको काबुल के रास्तों पर सब को दिखा कर अपनी धाक जमाना चाहता था।

पृथ्वीराज को कैदी बनाकर, जंजीरो में जकड़ कर काबुल ले जाया गया। चंद बारोट से उसकी यह हालत देखी नहीं गई। वह भी काबुल गया और उसने गोरी बादशाह से कहा:—"आप ने अपने लोगों को सिर्फ हिंदुस्तान के शेर राजा को बंदी दिखाया है लेकिन आपने उसके करतब नहीं दिखाये हैं?

"तो क्या वह इस कैदी हालत में भी करतब दिखा सकता है?" बादशाह ने पूछा।

सिद्ध बननेवाले हैं। ऐसे अनंत सिद्ध आत्मा के ऊपर छाया कर्म का छिलका, आवरण द
करके मुक्ति पहुँचे हैं और आगे भी सिद्ध होंगे। ये सिद्ध भी परम मंगलकारी हैं; उनक
ज्ञान ज्योति से अपना आत्म-दीप जल जाये तो हम भी सिद्ध हो सकते हैं!"

तीसरे मंगल के रूप में साधुजी के बारे में कहते हैं कि :—

तीजो मंगल साधुनो साधे आतम काज।
शुद्ध सम्यक्त्व श्रद्ध हे धन धन ते मुनिराज॥
अथिर जगतने जाणने छोड्यो कुटुंबने चित्त।
उत्तम मंगल साधुनो ते सुणजो इक चित्त॥

तीसरा मंगल साधुजी, संतों को कहा है; क्योंकि वे आत्म साधना करते हैं औ
शुद्ध सम्यक्त्व यानी सत्य श्रद्धा की उपासना करते हैं। इस संसार में जहाँ लोग अप
स्वार्थवश नाना प्रकार के उपद्रव मचाते हैं — सच झूठ बोलते हैं, स्त्री और सम्पत्ति के लि
लड़ते झगड़ते हैं — वहाँ सच्चे साधु इस संसार को अस्थिर जान कर कुटुम्ब और धन दोन
का ही त्याग करके आगे बढ़ते हैं।

सच्चे साधु ही मंगल माने जाते हैं; क्योंकि वे कंचन का त्याग करते हैं —
अतः उन्हें और कोई प्रकार से गठ बन्धन में बन्धना नहीं पड़ता है। जब संसार परिवार ह
नहीं है, धन का व्यापार या व्यवहार ही नहीं है तब उन्हें छल प्रपंच करने की भी क्य
आवश्यकता है? जो आत्म की जागृति में मस्त हैं, ऐसे अवधूत संत के दर्शन से नयन धन
होते हैं; वन्दन से तन धन्य होता है और प्रवचन श्रवण से जीवन धन्य होता है।

अब चतुर्थ मंगल के बारे में विचारें। वह है दयामय धर्म। जब राग-द्वेष स
रहित वीतराग प्रभु को केवल ज्ञान होता है; फिर उन्हें जीवात्माओं की कर्म कठिनाई क
स्थिति का सत्य दर्शन होता है और वे उन पर करुणा करके जो धर्म प्रवचन करते हैं यह
दयामय धर्म है जिसे चौथा मंगल कहा है।

चौथो मंगल चित्त धरो जो चाहो शिव शर्म
समकित सहित समाचरो, केवली भाषित धर्म

पृथ्वीराज इतना वीर बहादुर था; किन्तु भोग - विलास में फँसने पर जिस शत्रु को उसने सात बार हराया था, उससे उसे हारना पड़ा था और अंत में कैदी बन कर आत्म - हत्या करके उसे मरना पड़ा था।

इस घटना को जब हम आत्मा पर घटाते हैं तो हम कह सकते हैं कि वह आत्मा बड़ा ही सशक्त - पराक्रमी है और वह 'अजरामर' जैसे मुक्ति रूपी नगर में रहने का अधिकारी है। जब तक वह भोग - विलास में नहीं पड़ता वह कर्म रूपी विदेशी शत्रुओं को, राजा बन कर एक बार नहीं, अनेक बार हरा सकता है — हरा चुका भी है। उसमें वह शक्ति तो विद्यमान ही है कि वह चाहे जहाँ से भोग - विलास रूपी संयुक्ता को उठा कर ला सकता है; मगर वही आत्मा जब संयुक्ता रूपी भोग - विलास में फँस जाता है तो उसका चारित्र्य बल खतम होता है और फलतः उसकी विशाल आत्मीय सत्ता अपने आधीन लोगों पर भी नहीं चलती — यानी उसकी इंद्रियाँ और मन रूपी मन्त्री भी उसमें अश्रद्धा प्रगट करते हैं।

इस अवस्था में जब भव्य आत्माओं को पड़ा देखते हैं तो चन्द बारोट जैसे संयम मार्ग के पराक्रमी संत मुनिवर उस आत्म राजा को चेतावनी देते हैं — कर्म शत्रुओं से लड़ने के लिये उत्तेजित करते हैं; किन्तु जो आत्मा पहले इन्हीं कर्म शत्रुओं का नाश कर चुकी होती है वही आत्मा भोग - विलास रूपी संयुक्ता में फँसकर अपने आप को लड़ने में असमर्थ पाती है और मन और इंद्रियाँ रूपी सेना होने पर भी कर्म राजा शत्रु उसे परास्त कर देता है और उसे विषय कषाय की जंजीरों से जकड़ कर, उसके ज्ञान, दर्शन रूपी दो चक्षुओं को फोड़ देता है। आत्म राजा असहाय हो जाता है।

पुनः चन्द बारोट जैसे संत मुनि की प्रेरणा और समागम पाकर, वह भोग - विलास रूपी संयुक्ता से दूर रहता है; अतः वह आत्म - बल प्रगट करता है और अपने शत्रु कर्म राजा नाश करता है — किन्तु उसे अपनी असहाय दशा की लाचारी का अनुभव होने पर वह इस जीवन को समाप्त करता है — मृत्यु को पाता है और पुनः नया जन्म धारण कर अपनी अजरामर नगरी की खोज में आगे बढ़ता है।

सिद्ध बननेवाले हैं। ऐसे अनंत सिद्ध आत्मा के ऊपर छाया कर्म का छिलका, आवरण दूर करके मुक्ति पहुँचे हैं और आगे भी सिद्ध होंगे। ये सिद्ध भी परम मंगलकारी हैं; उनकी ज्ञान ज्योति से अपना आत्म-दीप जल जाये तो हम भी सिद्ध हो सकते हैं!"

तीसरे मंगल के रूप में साधुजी के बारे में कहते हैं कि :—

तीजो मंगल साधुनो साधे आतम काज।
शुद्ध सम्यक्त्व श्रद्ध हे धन धन ते मुनिराज॥
अथिर जगतने जाणने छोड्यो कुटुंबने वित्त।
उत्तम मंगल साधुनो ते सुणजो इक चित्त॥

तीसरा मंगल साधुजी, संतों को कहा है; क्योंकि वे आत्म साधना करते हैं और शुद्ध सम्यक्त्व यानी सत्य श्रद्धा की उपासना करते हैं। इस संसार में जहाँ लोग अपने स्वार्थवश नाना प्रकार के उपद्रव मचाते हैं — सच झूठ बोलते हैं, स्त्री और सम्पत्ति के लिये लड़ते झगड़ते हैं — वहाँ सच्चे साधु इस संसार को अस्थिर जान कर कुटुम्ब और धन दोनों का ही त्याग करके आगे बढ़ते हैं।

सच्चे साधु ही मंगल माने जाते हैं; क्योंकि वे कंचन का त्याग करते हैं — अतः उन्हें और कोई प्रकार से गठ बन्धन में बन्धना नहीं पड़ता है। जब संसार परिवार ही नहीं है, धन का व्यापार या व्यवहार ही नहीं है तब उन्हें छल प्रपंच करने की भी क्या आवश्यकता है? जो आत्म की जागृति में मस्त हैं, ऐसे अवधूत संत के दर्शन से नयन धन्य होते हैं; वन्दन से तन धन्य होता है और प्रवचन श्रवण से जीवन धन्य होता है।

अब चतुर्थ मंगल के बारे में विचारें। वह है दयामय धर्म। जब राग-द्वेष से रहित वीतराग प्रभु को केवल ज्ञान होता है; फिर उन्हें जीवात्माओं की कर्म कठिनाई की स्थिति का सत्य दर्शन होता है और वे उन पर करुणा करके जो धर्म प्रवचन करते हैं यही दयामय धर्म है जिसे चौथा मंगल कहा है।

चौथो मंगल चित्त धरो जो चाहो शिव शर्म
समकित सहित समाचरो, केवली भाषित धर्म

ही छूट मिली है; मगर स्थावर जीवों के बारे में भी बहुत संयम भाव से — यतना विवेक से काम लेना चाहिये।"

उनके साथ भूल से उघाड़े मुख से बातचीत करनेवालों के लिये वे हमेशा कहते :—" श्रावक हैं; साधुओं से बातें करते हैं — फिर भी दया नहीं पलती....!"

तुरन्त ही लोगों को ख्याल आता कि बापजी का इशारा किधर है और वे फौरन ही या तो अपना पघड़ी का वस्त्र मुख के आड़ा धरते, या पछेड़ी लपेट कर बात करते या रुमाल लगा देते।

आचार्यश्री उस समय की राजकीय परिस्थितियों से भी परिचित थे। दिल्ही बादशाह के शासन प्रभाव का करीब - करीब अन्त आता जा रहा था। जयपुर, जोधपुर, कोटा, अलवर, बीकानेर आदि रियासतें स्वतन्त्र होती जा रही थीं। इधर मराठे लोग प्रगति करते - करते मालवा, भोपाल होते - होते कभी - कभी दिल्ही को भी हाथ लगा आते थे। दिल्ही की हालत लावारिश रियासत जैसी थी। वहाँ का बादशाह महम्मदशाह बिल्कुल ही बेदम था।

अजमेर वैसे राजपूताना के मध्य में रहने से और अपने प्रकृतिवश सुन्दर वातावरण के कारण विदेशी सत्ताओं का शासन केंद्र बना रहा है। प्रारंभ में जब जयपुर, जोधपुर रियासतें नहीं बनी थीं तब अजमेर ही राजपूतों का केंद्र था। यहीं पर अर्णोराज नाम के राजा ने "अना सागर" तालाब बँधवाया था। पृथ्वीराज चौहान के बाद अपनी केंद्र जैसी स्थिति के कारण मुसलमान शासक इसकी ओर विशेष आकर्षित होते थे और उनके हाकिम - सूबेदार का यही मुख्य नगर रहता था। मुगल बादशाहों ने भी इसे ही अपना केंद्र माना और शाहजहाँ ने तो अना सागर तालाब पर विशाल छत्रीदार - सुन्दरीवाली पाली बना कर, पास में ही बगीचा लगवा कर उसकी शोभा बढ़ा दी थी।

धार्मिक दृष्टि से अजमेर अपने मुस्लिम शासकों के साथ अपने मजहब का भी केंद्र बनता गया था। ख्वाजाजी की दरगाह, ढाई दिन का झोंपड़ा और बड़ी मस्जिदों के गुंबज अपनी - अपनी कहानियाँ लिये हुए थे। इतना ही नहीं, बाहर के रहनेवाले मुसलमान, जिनसे

उनके अनन्य भक्त थे। स्वाभाविक था कि वे कई निजी बातें और रियासती प्रश्न भी आकर चर्चते थे। उनका तो सभी राजाओं और ठाकुरों को एक ही उपदेश रहता था :—"प्रजा का कल्याण चाहो; धर्म का प्रभाव बढ़ाओ और जहाँ तक बन सके वहाँ तक जो बात विचार विमर्श से निपटती हो उसके लिये मानव रक्त की नदियाँ न बहाओ!"

राजाओं को तो सविशेष यही कहते थे कि :—"व्यसनों के कारण ही आप लोगों के कुल का ह्रास हुआ है। सच्चा क्षत्रियत्व निर्बलों की रक्षा करने में है; इसके बदले आखेट (शिकार) खेलना, मद्यपान और माँसाहार करना एवं भोग - विलास में डूबे रहने से क्षत्रियत्व का ह्रास होता गया। जो लोग स्वामी थे उन्हें सेवक, गुलाम बनना पड़ा। अब भी चेतो और अपने क्षात्र - धर्म को दीपाओ!"

उन दिनों अजमेर जैसे शहरों में बहुत से ओसवाल कुल दीपक राज - काज के ऊँचे ओहदे पर थे। उनसे वे खींवशीजी भंडारी, भामाशाह और अन्य जैन मंत्रियों के आदर्श रख कर कहते :—"उन्होंने जैसे अपना धर्म का पालन किया और राज - काज में भी जैन धर्म की प्रभावना बढ़ाई वैसे आप सब को बढ़ानी चाहिये। इसलिये सर्व प्रथम तो आपको ही अपने आप को जैन धर्म के दृढ़ रंग में रंगना चाहिये। आप अपने स्वार्थ वश, प्रमाद वश अपने धर्म का त्याग करेंगे, नित्य नियम से मुकर जायेंगे तो फिर कौन जैन धर्म की महानता को स्वीकार करेगा?"

वे मुसलमान बादशाहों के उदाहरण देकर समझाते :—"औरंगज़ेब जैसा कट्टर मुसलमान बादशाह भी प्रातः उठ कर खुदा की बन्दगी करता था। वह दिन में पाँच बार तो नमाज़ पढ़ता था। रोज़े रखता था; हालाँकि वह दूसरों के प्रति क्रूर था; किन्तु जहाँ धर्म - पालन की बात आती थी वह उसे कभी नहीं चूकता था। कुरान शरीफ को रोज़ पढ़ता था; इतना ही नहीं, उसने भोग - विलास की सारी बातें; नाच - गान - जल्से सभी बंद करा दिये थे। अपने यहाँ ऐसे कितने भाई हैं जो नित्य सामायिक करते हैं और नमस्कार पद की माला गिनते हैं? कितने लोग धर्म - शास्त्र पढ़ते हैं? अष्टमी - पक्खी को कितने व्रत उपवास करते हैं....?
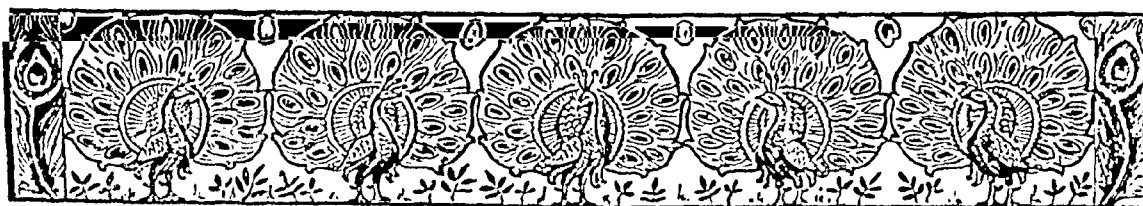
जयमलजी उनके चरण पकड़ कर बैठ गये।

वहाँ मुनिश्री नारायणदासजी आये। उन्होंने आचार्यश्री से कहा :—"चार मंगल पर जो दोहे जयमलजी ने बोले थे, वे स्वयं उनकी रचना थी!"

"साधु! साधु! मैं भी तो सुनूं....!!"

जयमलजी ने पुनः मधुर कंठ से गाकर सुनाया। आचार्यश्री ने प्रशंसा के साथ कहा :—"वास्तव में सुंदर रचना है; इसे और भी विस्तृत करो और नारायणदासजी! जयमलजी के गले में संगीत लहरी उत्पन्न कराने में आपका परिश्रम सराहनीय है! आप अपने शिष्य को सभी तरह से पूर्ण बना रहे हैं; इससे मेरी आत्मा को आज सब से अधिक संतोष हो रहा है।"

"सब आपकी ही प्रेरणा का फल है, गुरुदेव!" मुनिश्री नारायणदासजी ने कहा।

"बराबर है! हीरा मुख से ना कहे लाख हमारा मोल!" पू० भूधरजी का मुक्त हास्य वातावरण में गूँज उठा; उससे सभी आत्माओं में प्रसन्नता छा गई।

वैशाख की उजली रातों की चाँदनी के धवल प्रकाश में स्पष्ट देखा जा सकता था कि आचार्यश्री की आँखों में नई आशा की चमक आ गई थी और वे थे जयमलजी!

किन्तु जयमलजी उसके योग्य बनने के मनोमंथन में बैठे गुरु चरणों को दबाते रहे। उनकी श्रद्धा के भाजन बनने की शक्ति जुटाने के विचार में खोये-खोये कब तक गुरु चरण दबाते रहे, उसका पता ही नहीं रहा।

●
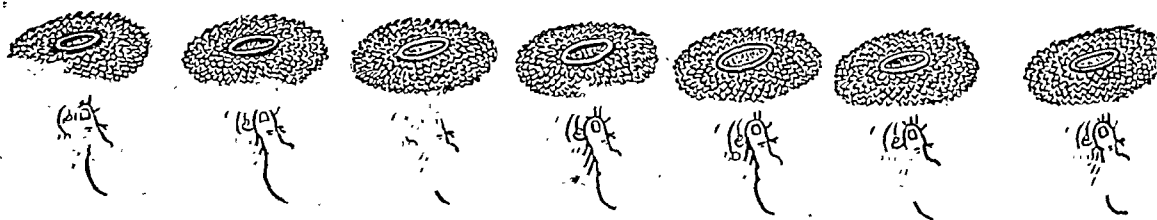
विहार में कई गाँवों में ठहरने का होता था। इन्हीं बीच जेतसिंहजी म० ने जयमलजी को एक दिन कहा :—"जयमलजी! तुम्हें पता है कि दो-चार दिन में हम सभी विहार करके सोजत * पहुँचेंगे। इस वर्ष का चोमासा वहीं होगा!"

"सो तो मुझे मालूम है!" जयमलजी बोले।

"रघुनाथजी के वैराग्य की बात बराबर नहीं जानते होगे। मेरी आँखों के आगे तो अभी सारी की सारी बातें वैसी ही प्रत्यक्ष स्पष्ट होती हैं!" जेतसिंहजी बोले।

उन्होंने रघुनाथजी के बारे में बहुत सी घटनायें इस प्रकार कह सुनाईं :—

"सोजत में शा० नथमलजी नाम के प्रसिद्ध व्यापारी रहते थे। उनकी सोमादेवी नाम की पत्नी थी। उनके यहाँ बालक रत्न का जन्म १७६६ की माघ सुद, पंचमी के शुभ-दिन हुआ। एक मात्र बालक होने से उसके जन्म का उत्सव धूम-धाम से मनाया गया और उसका नाम रखा गया रघुनाथमल।

बड़े लाड़-प्यार से रघुनाथमलजी बड़े हुए और उनकी प्रशंसा चोतरफ फैलने लगी। युवावस्था के सत्तरवें वर्ष में प्रवेश करते ही एक दिन सोजत के बड़े सेठ कुन्दनमलजी अपनी पुत्री रत्नकुंवर की सगाई करने आये! नथमलजी ने अच्छा घर व कन्या देखकर सगाई मंजूर की। विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

उन दिनों रघुनाथजी जब बाज़ार में थे उन्होंने सुना कि उनके एक अति निकट के मित्र का देहांत हो गया है। वे बहुत ही दुःखी हुए और जीवन के इस आकस्मिक अन्त को कैसे रोका जाये? और इसी प्रकार अन्त आ गया तो जीवन क्या काम का? कैसे अमर हुआ जाये उसी विचार में उनका मन खो गया; वे खिन्न हो गये।

---

* सोजत नगरी किसी समय ऐतिहासिक नगरी थी और उस रियासत की राजधानी रूप थी। पू० श्री भूधरजी, पू० रघुनाथजी, श्री सूरजमलजी आदि संतों के जन्म व दीक्षा स्थान के रूप में यह सुप्रसिद्ध है। इतना ही नहीं, वर्तमान में जो १९५३ में साधु सम्मेलन हुआ वह सोजत में ही हुआ था। अनेक संतों के पदार्पण से यह नगरी धन्य हुई है।

卐 १८

जय-मंगल प्रथम प्रवचन
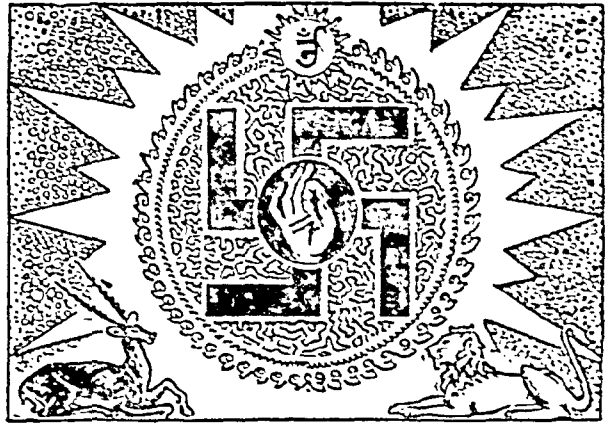
आचार्यश्री विहार करते-करते ब्यावर * (पुराना) पहुँचे। यहाँ पर यह नगर बहुत से जैन बन्धुओं की बस्ती लिये हुए था। ब्यावर व्यापार की मण्डी थी और यहाँ से मेवाड़ भी अलग रास्ता जाता था। मक्का, बाजरा, मिर्ची और चने का थोक व्यापार भी चलता था।

आचार्यश्री के पदार्पण से जनता में बड़ा उत्साह छा गया था। कर्म तो वे करते थे; किन्तु संतो के समागम से धर्म पाने के लिये लालायित रहते थे। आचार्यश्री जैसे तपस्वी और प्रभावी संतों का आगमन बड़े ही पुण्य से होता है; ऐसा भक्त लोग मानते थे। अतः वे उन्हें अधिक से अधिक दिन ठहरा कर लाभ लेना चाहते थे। इतना ही नहीं, उन्होंने आसपास के गाँवों में भी खबर कर दी थी अतः सभी जगह से लोग बड़ी संख्या में आ रहे थे।

स्थानक में जहाँ आचार्यश्री का व्याख्यान होनेवाला था, प्रातःकाल से ही लोग आ गये थे। वे जानते थे कि यहाँ तो जो पहला पहुँचा वही पहला था। उसे पाट के पास बैठकर व्याख्यान सुनने का लाभ मिलनेवाला है। यहां पर न तो पैसों की पूछ थी न प्रतिष्ठा की। कितनी बड़ी क्रांति हो गई थी कि जहां धर्म आश्रयों में, मंदिरों में पैसों की या घी की बोली अधिक बोलने में श्रीमंत ही पूछे जाते थे उसके बदले यहां धर्म करनेवाले, आगे से आगे इस प्रकार धार्मिकों की पूछ होती थी। उन्हें सर्व प्रथम आकर धर्म करने का अधिकार था। इसको रुकना, पैसा रोकनेवाला नहीं था।

रघुनाथजी बोले :—"कुछ भी हो आपजी ! मैं तो चामुंडा को अपना शीश चढ़ा कर अमर होना चाहता हूँ....!"

"ठीक है; अमर होना चाहता है तो कैसे अमर होना चाहता है? नाम से? शरीर से? या आत्मा से....? शरीर से तो कोई अमर हो जाता तो ऐसे अमर लोगों से संसार भर जाता! नाम तो किसी का अमर नहीं होता; वह तो जब तक उससे बढ़ कर कोई दूसरा ज्यादा नाम कमानेवाला पैदा नहीं होता तभी तक रहता है, फिर वह भी खतम हो जाता है! रहा, आत्मा से अमर होना; सो उसका मार्ग बहुत ही विकट है....!" पूज्यश्री ने कहा।

"तो, क्या तीन तरह से अमर हुआ जाता है....?" रघुनाथजी बोले।

"जानना हो तो समय निकालो और शंका हो, उसका यथा शक्ति समाधान प्राप्त करो!" यों पूज्यश्री उसके मन में विचार प्रेरित करके रवाना हुए।

रघुनाथजी पर पूज्यश्री के तेजस्वी वदन की छाप पड़ी और वे आचार्यश्री से मन का समाधान चाहने पूज्यश्री ठहरे थे वहाँ गये।

आचार्यश्री ने मधुर स्वर में उन्हें कहा :—"दया पालो; धर्म ध्यान करो!"

रघुनाथजी हाथ जोड़ कर उनके पास बैठ गये। आचार्यश्री ने कहा :—"वत्स! मृत्यु तो जगत में सब को आती है; चाहे सामान्य देव हो, या इन्द्र हो — मनुष्य हो, या पशु हो; जिसका जब आयुष्य पूर्ण होता है उसे अपना देह छोड़ कर जाना पड़ता ही है!"

"मगर चामुंडा माता तो देवी है; उसको अपना जीवन अर्पण करने से अमर बनते हैं!"

"जिस चामुंडा माता की तुम बात करते हो? वह तो सामान्य प्रकार की व्यंतरी देवी है; उसका भी काल पूरा होने पर उसे भी मरना पड़ता है! यह अवश्य है कि देवों का आयुष्य मनुष्य से अधिक होने के कारण वे मानव की कई पीढ़ी तक रहते हैं तो बहुत से उन्हें अमर मानते हैं; मगर उनकी भी मृत्यु तो होती ही है!" पूज्यश्री ने कहा।

अपने गुरु पूज्य धनाजी म. सा. के बाद उनपर गच्छाधिपति पद का भार आ पड़ा था। उन्होंने अधिकाधिक वर्ष तो तप आतापना आदि में विता दिये थे। वैसे उन्हें यह भी सतत विचार आता था कि "मैंने दीक्षा भी बड़ी उम्र में ली है और गच्छ का भार भी बड़ी उम्र में आया है, अब मेरे पास बहुत कम वर्ष हैं कि मैं स्वयं उसे सफलता पूर्वक वहन कर सकूँ। यह शरीर दिन प्रति दिन घिसता जा रहा है; अतः अब तो मैं ऐसे कुछ रत्न चुन लूँ जो कि आगे जाकर चारित्र-रत्न, ज्ञान-रत्न और समाज-रत्न बन सके!"

मुनिश्री नारायणदासजी भी बड़ी उम्र के थे; अतः उनकी दो आँखों की कीकी के समान रघुनाथमलजी और जयमलजी उन्हें लगे। जिसमें भी चर्चा-विचारणा, ज्ञान-धारणा, काव्य-स्फुरणा आदि से जयमलजी पर उनका विशेष ध्यान रहने लगा। वैसे आचार्यश्री के पास विगत एक वर्ष में ही अधिक शिष्य दीक्षित हुए थे; मगर क्षेत्र स्पर्शना आदि देखते हुए उन्हें लगता था कि और भी शिष्यों की आवश्यकता है।

रघुनाथजी वैसे चार वर्ष तक दीक्षा के पूर्व पू० महाराज साहब के साथ विचरण कर चुके थे और अपने ढंग से व्याख्यान देने का उनका भी प्रभावशाली प्रकार था; किन्तु पूज्यश्री की इच्छा यह भी थी कि जयमलजी को भी देखा जाये।

विहार सेंदरा से वर होते हुए रायपुर * हुआ। यह उदावत ठाकुरों का गाँव था। पूज्यश्री भूधरजी का वैसे ठाकुरों में अपना प्रभाव था। वे उन्हें अपने गुरु मानते थे और बड़े ही भक्ति भाव से उनकी सेवा में रहते थे। उनके आने पर ठाकुरों में आखेट, माँसाहार और नाच-मूजरे आदि लगना बन्द हो जाता था।

---

* सोजत से व्यावर जाते समय हरिपुर स्टेशन के पास रायपुर आज भी विद्यमान है और जैन-धर्म का वहाँ पर बड़ा प्रभाव है। इस धर्म प्रभावित पुण्य-भूमि को अनेकानेक जैन संतों को जन्म देने का, दीक्षा देने का सौभाग्य प्राप्त है। श्री वख्तावरमलजी म० सा० ने यहाँ वि० संवत् १९६२ की कार्तिक कृष्ण अष्टमी को श्रमण दीक्षा ली थी और धर्म प्रचार से क्षेत्र को जैन-धर्म उपासक बनाया। इसी परम्परा में श्री चाँदमलजी म० सा० ने वि० संवत् १९६५ में दीक्षा ली और अभी तक धर्म प्रचार कर रहे हैं। इसी ग्राम में इसी परम्परा के वर्तमान पंडित-रत्न प्रसिद्ध व्याख्याता लालचन्दजी म० सा० का जन्म हुआ है।

"अच्छा ! तुम्हारे कथनानुसार मान लें कि भगवान है और उसने दुनियाँ बनाई है तो एक बात बताओ कि भगवान तो दयालु हैं न? सब पर समान नज़र रखनेवाला है न?"

"हाँ....! हाँ....!!"

"फिर उसने एक को गरीब और दूसरे को अमीर क्यों बनाया? यह पक्षपात उसने क्यों किया? भगवान की तो सब पे समान कृपा रहनी चाहिये न? फिर भेड़ को बना कर सिंह के द्वारा उसका शिकार क्यों करवाता है?"

"नहीं-नहीं, वहाँ भगवान क्या करेगा? वह तो सब को अपनी-अपनी किस्मत से मिलता है!"

"अच्छा चलो, तो वह भगवान की शक्ति नहीं है; किस्मत से होता है। क्यों, ठीक न?" पूज्य भूधरजी ने कहा।

"हाँ बापजी! मगर एक बात अवश्य है कि यह दुनियाँ तो भगवान की बनाई हुई है!"

"तो उसकी बनाई इस दुनियाँ में कोई रोगी, कोई गरीब, कोई ऊँचा, कोई नीचा क्यों है? जब सामान्य आदमी भी घर बसाता है तो अपने द्वारा बसाये गये घर में सभी प्रसन्न रहे ऐसा प्रयत्न करता है; किन्तु इस दुनियाँ में तो कहीं धूप पड़ती है तो कहीं अंधकार ही क्यों रहता है? कहीं इतनी वर्षा होती है कि गाँव बहने लगते हैं तो कहीं अकाल के कारण गाँव उजड़ते है। सब पर समान ध्यान रखनेवाले सर्व शक्तिमान भगवान अपनी ही बनाई दुनियाँ में यह सब क्यों होने देते हैं?" आचार्यश्री ने पूछा।

तरुण रघुनाथजी के पास कहाँ जवाब था? वे हड़बड़ाये से बोले:—"यह तो सब प्रकृति की बात है?"

"चलो, तो पहले किस्मत की, अब यह सब प्रकृति की बात बताते हो — भगवान की शक्ति नहीं है....?" आचार्यश्री रघुनाथजी को उनकी बातों से ही बाँधते जा रहे थे।

"भगवान की शक्ति तो है ही, उसे कैसे नहीं माने? देखिये न, उसकी दया पर ही हम जीते हैं?" रघुनाथजी ने पूछा।

जयमलजी इतना ही विनम्र शब्दों में बोले :—"आपकी श्रद्धा के योग्य तो मैं नहीं हूँ; न मुझमें इतना ज्ञान है, अभी मेरी विद्यार्थी अवस्था ही है — फिर भी आपकी आज्ञा के अनुसार करने की चेष्टा करूँगा!"

मुनिश्री नारायणदासजी ने जो कि पास में खड़े थे उन्होंने कहा :—"ज्ञान की पहली परीक्षा उपयोग है और तुम्हारे विद्यार्थी जीवन की परीक्षा जन संपर्क है और लोक-मानस को पहचानना है!"

"आप सभी बड़ों की शुभेच्छा से इसमें सही उतरने का विनम्र प्रयास करूँगा!" जयमलजी बोले।

उन्हें यह अटपटा सा लगा कि कौन से विषय पर वे बोले? कुछ क्षण उनका मानस इस उधेड़बुन में रहा; फिर उन्होंने विचार तय किया कि आज वे "चत्तारि मंगलं" पर बोलेंगे। उन्होंने इन दिनों में "मंगलं" पर कुछ काव्य भी लिखा था।

* * *

रात्रि को प्रवचन प्रारम्भ हुआ। उन्होंने सार रूप कहा :—

संसारी जीवों के पापों का नाश करने के लिये श्री वीरप्रभु ने चार मंगल बताये हैं। जैसे प्रातः उठते ही हम सर्व प्रथम नमस्कार मंत्र का जाप जपते हैं और पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक जैन धर्मवाला रात्रि को सोते समय चार मंगल का स्मरण कर उन्हें उत्तम जान कर उनका शरण स्वीकार करके सोता है।

नींद का क्या ठिकाना....? उसमें कब क्या हो जाये इसके सम्बन्ध में कोई कुछ कह नहीं सकता। निद्रा यानी एक प्रकार से आधी मृत्यु या अचेत अवस्था ही होती है। उस समय हमारे आसपास क्या होता है? समय कैसे गुजरता है — उसका हमें कुछ भी ख्याल नहीं रहता। शास्त्रकारों ने निद्रा को दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति बताई है। यानी जिस समय निद्रा होती है उस समय मस्तिष्क-ज्ञान तो चलता है; किन्तु दर्शन — जानने की या श्रद्धा करने की आत्म प्रकृति पर आवरण छाया रहता है।

"अच्छा! तुम्हारे कथनानुसार मान लें कि भगवान है और उसने दुनियाँ बनाई है तो एक बात बताओ कि भगवान तो दयालु हैं न? सब पर समान नज़र रखनेवाला है न?"

"हाँ....! हाँ....!!"

"फिर उसने एक को गरीब और दूसरे को अमीर क्यों बनाया? यह पक्षपात उसने क्यों किया? भगवान की तो सब पे समान कृपा रहनी चाहिये न? फिर भेड़ को बना कर सिंह के द्वारा उसका शिकार क्यों करवाता है?"

"नहीं - नहीं, वहाँ भगवान क्या करेगा? वह तो सब को अपनी - अपनी किस्मत से मिलता है!"

"अच्छा चलो, तो वह भगवान की शक्ति नहीं है; किस्मत से होता है। क्यों, ठीक न?" पूज्य भूधरजी ने कहा।

"हाँ बापजी! मगर एक बात अवश्य है कि यह दुनियाँ तो भगवान की बनाई हुई है!"

"तो उसकी बनाई इस दुनियाँ में कोई रोगी, कोई गरीब, कोई ऊँचा, कोई नीचा क्यों है? जब सामान्य आदमी भी घर बसाता है तो अपने द्वारा बसाये गये घर में सभी प्रसन्न रहे ऐसा प्रयत्न करता है; किन्तु इस दुनियाँ में तो कहीं धूप पड़ती है तो कहीं अंधकार ही क्यों रहता है? कहीं इतनी वर्षा होती है कि गाँव बहने लगते हैं तो कहीं अकाल के कारण गाँव उजड़ते है। सब पर समान ध्यान रखनेवाले सर्व शक्तिमान भगवान अपनी ही बनाई दुनियाँ में यह सब क्यों होने देते हैं?" आचार्यश्री ने पूछा।

तरुण रघुनाथजी के पास कहाँ जवाब था? वे हड़बड़ाये से बोले:—"यह तो सब प्रकृति की बात है?"

"चलो, तो पहले किस्मत की, अब यह सब प्रकृति की बात बताते हो — भगवान की शक्ति नहीं है....?" आचार्यश्री रघुनाथजी को उनकी बातों से ही बाँधते जा रहे थे।

"भगवान की शक्ति तो है ही, उसे कैसे नहीं माने? देखिये न, उसकी दया पर ही हम जीते हैं?" रघुनाथजी ने पूछा।

पापों को जो गालनेवाला — खतम करनेवाला है, वह मंगल है। पाप यानी अशुभ को दूर करके शुभ करनेवाला यही मंगल है। इसीलिये दिन में भी ये श्रद्धा का विषय है और रात्रि में भी विश्वास योग्य है और शरण ग्रहण करने रूप है। यही शुभ श्रद्धा एवं शरण का जो विषय हो वही तो उत्तम होता है इसीलिये उनको उत्तम भी माना गया है। उन्होंने मधुर कंठ से गाकर कहा :—

अरिहंत सिद्ध साधु नमुं, सकल जीव सुखकार
भव्य जीव उपकार हित, भणसूं मंगल चार
प्रथम मंगल अरिहंतनो, दूजो सिद्ध मंगलीक
तीजो मंगल साधुनो, चोथो दया-धर्म ठीक

कवि कहता है कि मैं अरिहंत, सिद्ध, साधु को नमस्कार करता हूँ; क्योंकि ये सकल जीवों के लिये सुखकारी हैं। उनके दुःखों को दूर करनेवाले हैं। इसके बाद में चार मंगल कहता हूँ जिनसे भव्य जीवों का उपकार और हित होता है। ऐसे नमस्कार करने योग्य, सुख करनेवाले उपकार और हित करनेवाले चार मंगलों में सर्व प्रथम मंगल अरिहंत प्रभु का आता है। दूसरा मंगल सिद्ध प्रभु का है। तीसरा साधुजी का है और चौथा दया-धर्म का है; वह भी ठीक ही क्रम में — योग्य रूप में कहा है।

मंगल पहलो अरिहंतनो भावसूं भणो नरनार।
विघन दूरे टले ए पामिये भव जल पार॥
अरिहंत मंगल मोटको सद्‌गतिनो दातार।
विघन निवारणो ए तीन भुवन में सार॥

पहला मंगल अरिहंत भगवान हैं जिन्हें सच्चे भाव से सारे नर-नारियों को भजना चाहिये; क्योंकि यही विघ्न को दूर करनेवाला है और इससे ही संसार, सागर तिरा जाता है और मुक्ति धाम को पहुँचा जा सकता है। यही अरिहंत प्रभु का मंगल सब से बड़ा है; इतना ही नहीं, सद्‌गति को देनेवाला है — विघ्न का निवारण करनेवाला है और तीन लोक में सार रूप यही है।
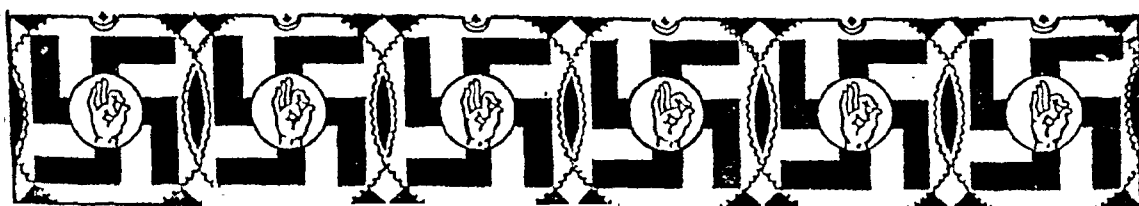
"मगर हम तो ऐसे बहुत से लोगों को देखते हैं जो परिश्रम करते रहते हैं; मगर उन्हें कुछ भी नहीं मिलता। "गरीबी में आटा गिला" वाली बात तो कई जगह देखी जाती है और दूसरी ओर देखते हैं कि कई लोगों को बिना मेहनत किये ही पैसा मिल जाता है। किसी को वसियत से, किसी को गोद जाने से, और तो और किसी को ज़मीन में गड़ा धन बहुत ही नगण्य श्रम से मिल जाता है। ऐसा क्यों होता है? समान पुरुषार्थ करने पर सब को समान फल मिलना चाहिये — मगर देखते हैं कि एक ही गुरु के पास पढ़नेवालों में, क्यों कोई तेजस्वी होता है तो कोई निरा बुद्धू ही रहता है?" पूज्यश्री भूधरजी ने प्रश्न किया।

रघुनाथजी के पास कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने झुंझला कर कहा :—"क्या, फिर हम भगवान को नहीं माने? सभी धर्मवाले तो पुकार-पुकार कर उसकी महिमा गाते हैं; यदि वह नहीं है तो क्या सत्य है?"

"सत्य ही सत्य है; उसे सत्य रूप में देखना चाहिये और सत्य की कसौटी पर खरा उतरना चाहिये!" पूज्यश्री भूधरजी बोले।

"मुझे विस्तार से समझाइये!"

"पहले यह तय करो कि तुम किसको क्या मानते हो — चामुंडा देवी को देवी मानते हो या भगवान मानते हो?"

"भगवान अलग है; देवी अलग है?"

"ठीक है तो अब भगवान, देवी और मानवी तीनों को अलग-अलग रखो और उसका सत्य स्वरूप क्या है उसे समझो। चलो, सब से पहले भगवान को ही लें!" पूज्यश्री भूधरजी बोले।

रघुनाथजी का आवेश अब तक मिट चुका था। उन्होंने कहा :—"बापजी! कल मैं फिर आऊँगा; भगवान के बारे में और भी विचार करके आऊँगा!"

जो दिखता है उतना ही मानना और शेष को नहीं मानना सरासर गल्ती होगी। बहुत से व्यक्ति अपने दादा-परदादा के बारे में नहीं जानते; अतः वे नहीं थे ऐसा तो नहीं मान सकते? इसी प्रकार आत्मा है और धर्म है, ज्ञान है, यह भी हमें मानना पड़ेगा।"

अब बहुत से ऐसा भी कहते हैं कि हम तो वस्तु का अनुभव करने पर ही उसे मानते हैं। जैसे हवा का हम अनुभव करते हैं वैसे आत्मा के बारे में कहाँ है?

यह तो बड़ी विचित्र दशा है कि जिसका हम पल-पल अनुभव करते हैं, उससे ही अनजान बन जाँये! हम शरीर को, व्यक्ति को पहचानते हैं आत्मा के अनुभव से ही। मुरदे को आत्मा नहीं कहते; अरे, आत्मा चली जाय तो बहुत शीघ्र ही उस आत्म रहित मुर्दे को जल्दी फूँक आने की बात चलती है। उस पर से आत्मा का ही अनुभव होता है।

तो इन कर्मों में बंधी आत्माओं को अपने संपूर्ण ज्ञान से छुड़वाने का दिव्य कार्य अरिहंत प्रभु करते हैं। इतना ही नहीं, वे सिद्ध हुए सिद्ध भगवान की पहचान भी करवाते हैं। बिना अरिहंत प्रभु के सिद्धजी का सही सही परिचय कोई नहीं दे सकता। इसी कारण से हालाँकि सिद्ध हो गये हैं; किन्तु मंगल के रूप में अरिहंत प्रभु को प्रथम स्थान दिया है।

अब इसके स्थान पर मंगल के रूप में सिद्ध भगवंत को लिया है:—

दूजो मंगल मन शुद्धे समरूं सिद्ध भगवंत।
आठों कर्म खपाय के कीधो भवनो अंत॥
अनंत सिद्ध आगे हुआ टालि कर्मनो छोत।
अनंत आगे होवसी मिलसी ज्योति में ज्योत॥

संपूर्ण परमात्म स्वरूप जो सिद्ध भगवान हैं। वे हमारे दूसरे मंगल के रूप में हैं। उन्हीं को शुद्ध मन से स्मरण करना चाहिये; क्योंकि वे ही आठ कर्म खपा कर भव का अंत करके मुक्ति पहुँचे हैं। प्रत्येक मानवी का यह प्रयत्न रहता है कि वह संपूर्ण बने और जब जीव किसी भी प्रकार के मोह, राग से अलग हो जाता है यानी शरीर को भी छोड़ देता है; तो पूण ज्योतिर्मयी आत्मा के रूप में प्रगट होता है। अरिहंत भगवान भी निर्वाण पद पाकर

रघुनाथजी के पास उत्तर नहीं था।

"और तो और उसके बनाये लोग तो सभी बराबर तो थे; फिर पाप-पुण्य किसने चलाये और भगवान को स्वर्ग-नर्क बनाने की क्या आवश्यकता थी?"

पूज्यश्री की बातों का कोई जवाब नहीं था। रघुनाथजी ने कहा:—"बापजी! मेरा तो दिमाग इस में काम नहीं करता? सत्य बताइये कि भगवान क्या है?"

पूज्यश्री ने कहा:—"जो जैसा है, उसे उस रूप में ही लो। जब हम भगवान की कल्पना करते हैं तो उसके साथ यह प्रपंच नहीं बैठता। यदि उसे हम रूपी मानते हैं तो वह हम जैसा ही होगा, राजा-महाराजा जैसा मान सकते हैं उसके साथ राग-द्वेष होंगे; क्योंकि वह भले को भलाई और बुरे को सज़ा करेगा। ऐसे रागी को भगवान मान नहीं सकते। उसे अरूपी, अदृश्य मानते हैं तो प्रत्येक अदृश्य वस्तु में ईश्वरत्व मानना पड़ेगा — तो ये आकाश, हवा आदि भी ईश्वर बन जायेंगे और उनकी पृथक् सृष्टि बन जायेगी और सभी की सत्ता अलग-अलग चलेगी। फिर कितने ईश्वर....? इसलिये पृथ्वी या सृष्टि की रचना के साथ ईश्वर का संबंध बैठता नहीं है।"

"तो क्या हम भगवान को नहीं मानते?"

"हम भगवान को मानते तो हैं किन्तु उसे एक आदर्श रूप में मानते हैं। उसे आत्मा की संपूर्ण चैतन्यमय दशा का प्रतीक मानते हैं। यह आत्मा कर्मों से लिप्त रहने पर अपनी पूर्ण ज्ञानमयी अवस्था में प्रगट नहीं है। भगवान उस संपूर्ण ज्ञानमयी दशा में पहुँचनेवाले और पहुँचे परमात्मा पद की स्थिति है? उस दशा तक पहुँचने के लिये बुरे कर्म से दूर होकर, अच्छे कर्म करके और अंत में सभी कर्म का नाश करके उस दशा को प्राप्त करने का प्रयत्न हमारी आत्मा को करना चाहिये!"

"तो फिर ये जगत कैसे चलता है?"

"जगत नियमित और व्यवस्थित चलता है; क्योंकि इसका कारण वस्तु का स्वभाव है; वस्तु के स्वभाव के अनुसार काम होता ही रहेगा। जो जैसा कर्म

कहते हैं कि यदि जीव शिव होना चाहता है तो उसे दयामय धर्म रूप चौथा मंगल चित्त में धारण करना चाहिये। यदि उसे सत्य श्रद्धापूर्वक आचरें तो हम भी सिद्ध, बुद्ध मुक्त हो सकते हैं। जिस धर्म में कहीं पर भी किस जीव की हिंसा का आदेश न हो तो उससे श्रेष्ठ कौनसा धर्म हो सकता है ?

केवली धर्म इस्यो कह्यो आवे भव्य ने दाय
त्रिविध त्रिविध धर्म कारणे माहणो जीव छ काय

केवली भगवान ने अपने अनन्त ज्ञान से जो धर्म की बात कही वह दिव्य और भव्य है। उन्होंने देखा कि अज्ञानी लोग नाना कारणों से जीव की हिंसा करते हैं तो उनके भी कर्म चिकने बँधते हैं। कहते हैं कि हिंसा से शत्रुता बढ़ती है और खून-खराबी होती है; किन्तु सभी पर दया-प्रेम रखने से सब को शांति होती है। अतः उन्होंने छ काय में से किसी एक को भी हनने की मनाई की है।

दया-धर्म को मंगल इसलिये माना है कि उसमें छः काय की किसी भी जीव की विराधना करने का आदेश नहीं है। इसके लिये विस्तार से अहिंसादि पांच व्रतों का विधान किया गया है।

इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि जागते या सोते कल्याण चाहनेवालों को यह मंगल आराधना करनी चाहिये; क्योंकि :—

देवगुरु अरु धर्म की ध्वजा रोपो ठीक।
मुक्ति नगर में जावतां मोटो ए मंगलीक॥
मंगल नाम चारों कह्या, भणो सुणो चितलाय।
मंगल एह आराधियां, मुक्ति पुरी में जाय॥

ये चारों मंगल इहलोक और परलोक ही नहीं; किन्तु मुक्ति के भी अनन्त सुखों को दिलानेवाले हैं।

* * *

सकता है। जैन सूत्र तो यह कहते ही हैं कि संसार की चार दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति में मनुष्य जन्म पाना सब से दुर्लभ है; हिन्दू शास्त्र भी यही कहते हैं कि अभी जो अनायास ही प्राप्त ऐसा मानव देह मिलना दुर्लभ है।

भागवत के एकादश स्कंध में कहा है :—

नृदेह माद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरु कर्ण धारम्
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं, पुमान्
भवाब्धिं न तरेत्स आत्म हा।

अभी जो अनायास से प्राप्त यह मानव-देह भविष्य में यानी जन्माँतर में प्राप्त होना दुर्लभ है। ऐसा यह मानव-देह नाव रूप है और गुरु उपदेशक के रूप में उसके खिवैया हैं। उसको सन्मार्ग पर ले जाने की जगह जो व्यक्ति संसार सागर को पार नहीं करता वह आत्म घातक है।

देव गति पाना ही श्रेष्ठ नहीं है। उसके संबंध में गीता में कहा है :—

ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति

यानी जब तक पुण्य रहता है तब तक स्वर्ग देवलोक में आत्मा रहती है; किन्तु उसे पुनः वहाँ से मृत्यु लोक में आना पड़ता है। और * स्मृति में तो यहाँ तक मिलता है कि स्वर्ग से वापस आकर जीव उतरती कक्षा कि योनि को प्राप्त होता है।

यानी इस प्रकार की देवी-देव को भी जब फिर जन्म लेना पड़ता है तो तुम उसके आगे आत्म-घात करके क्या पानेवाले हो?"

आचार्यश्री भूधरजी के प्रभावशाली वचनों से और तीन तीन दिन की चर्चा से रघुनाथजी का मन फिर गया और उन्होंने कहा :—"मुझे आप अपना शिष्य बना लें।"

---

* यावत्संपात मुषित्वा ततो हीनं हीनतरं वा विशन्ति।

कहते हैं कि यदि जीव शिव होना चाहता है तो उसे दयामय धर्म रूप चौथा मंगल चित्त में धारण करना चाहिये। यदि उसे सत्य श्रद्धापूर्वक आचरें तो हम भी सिद्ध, बुद्ध मुक्त हो सकते हैं। जिस धर्म में कहीं पर भी किस जीव की हिंसा का आदेश न हो तो उससे श्रेष्ठ कौनसा धर्म हो सकता है ?

केवली धर्म इस्यो कह्यो आवे भव्य ने दाय
त्रिविध त्रिविध धर्म कारणे माहणो जीव छ काय

केवली भगवान ने अपने अनन्त ज्ञान से जो धर्म की बात कही वह दिव्य और भव्य है। उन्होंने देखा कि अज्ञानी लोग नाना कारणों से जीव की हिंसा करते हैं तो उनके भी कर्म चिकने बँधते हैं। कहते हैं कि हिंसा से शत्रुता बढ़ती है और खून-खराबी होती है; किन्तु सभी पर दया-प्रेम रखने से सब को शांति होती है। अतः उन्होंने छ काय में से किसी एक को भी हनने की मनाई की है।

दया-धर्म को मंगल इसलिये माना है कि उसमें छः काय की किसी भी जीव की विराधना करने का आदेश नहीं है। इसके लिये विस्तार से अहिंसादि पाँच व्रतों का विधान किया गया है।

इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि जागते या सोते कल्याण चाहनेवालों को यह मंगल आराधना करनी चाहिये; क्योंकि :—

देवगुरु अरु धर्म की श्रद्धा राखो ठीक।
मुक्ति नगर में जावतां मोटो ए मंगलीक॥
मंगल नाम चारों कह्यां, भणो सुणो चितलाय।
मंगल एह आराधियां, मुक्ति सुखों में जाय॥

ये चारों मंगल इहलोक और परलोक ही नहीं; किन्तु मुक्ति के भी अनन्त सुखों को दिलानेवाले हैं।

* * *

रघुनाथजी ने जब दीक्षा ली थी तभी उन्होंने अपनी संसार पक्ष की वाग्दत्ता रत्नकुंवर को कहलवा दिया था कि उनका सम्बन्ध छूट गया है और उसका विवाह दूसरी जगह किया जा सकता है। किन्तु रत्नकुंवर के मन में तो कुछ और था। उसने तो सब से स्पष्ट कह दिया था कि "मैं अब दूसरा सम्बन्ध नहीं जोड़ूँगी और जिस प्रकार अरिष्टनेमिनाथ भगवान के पीछे राजुल ने दीक्षा ली थी वैसे मैं भी आत्म कल्याण करूंगी!"

पूरा एक वर्ष बीतने आया था और व्याख्यानों में रत्नकुंवर भी आने लगी थीं। रघुनाथजी और जयमलजी के व्याख्यानों का अच्छा प्रभाव पड़ रहा था।

एक दिन व्याख्यान के उपरांत रघुनाथजी और जयमलजी दोनों ही बैठे थे कि रत्नकुंवर और दो स्त्रियाँ दर्शन करके खड़ी हो गईं।

रघुनाथजी ने कहा :—"क्यों बाई, क्या बात है?"

एक स्त्री ने कहा :—"बापजी! इनको जानते नही; ये आपकी रतन है! आप छोड़के गये; मगर ये किसी दूसरे की नहीं हुई....!"

"वह तो संसार के पक्ष की बात थी और उसमें भी मैं तो उसे बहन बना कर छोड़ चला था। संसार की जंजाल में क्या रखा है? आत्म का कल्याण करो!" रघुनाथजी बोले।

"बापजी! आप तो मुझे दगा देकर ही चल दिये न! मुझे किसके भरोसे छोड़ कर आप गये। बचपन तो ठीक है, पियर में निकल जाता है; मगर इस युवावस्था में मुझे किसके भरोसे छोड़ गये?"

"देवी! मैं तो चामुंडा को सर देने जा रहा था। गुरुजी ने हाथ पकड़ कर अपने साथ ले लिया है। मैं स्वयं ही गुरु के भरोसे हूँ। सच तो संसार में कोई किसी का भरोसा कैसे बन सकता है जब कि वह खुद ही कर्म के चक्कर में फँसा हुआ है?"

"आप तो ठीक हैं, पुरुष हैं; मगर मुझ नारी का क्या? आप मुझे छोड़ चले, तो संसार मेरा ही कसूर देखेगा कि मेरे में चूक है — कहो, मैं क्या करूँ....?"
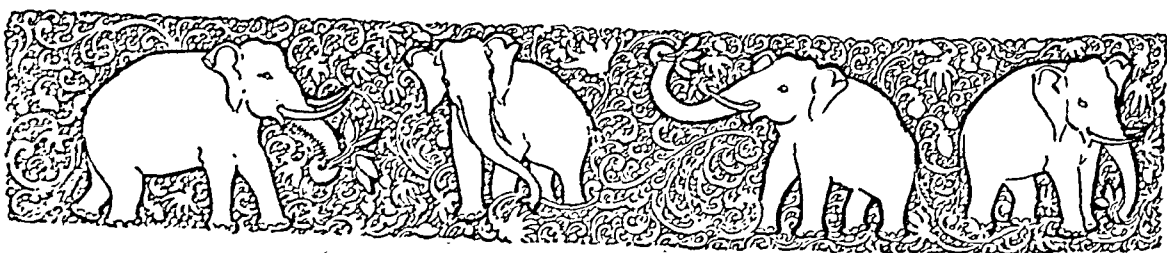
इतने में किसी ने कहा :—"बापजी! जयमुनि ने मंगलिक पर दोहे बोले; वे बड़े भाव पूर्ण और सुंदर हैं — मैं कल उनसे लिख लूँगा!"

"उनका कंठ भी बड़ा ही मधुर है!" दूसरे ने अधूरी बात को पूरी की।

आचार्यश्री जान गये कि वे अपने शिष्य संतों में मधुर कंठ से व्याख्यान देने की शक्ति — जयमलजी में है और लोगों ने उसे प्रमाण-पत्र दे दिया है।

उन्होंने उनको पुकार कर कहा :—"जयमुनि! यहाँ तो आओ....!"

जयमलजी विनम्र होकर आचार्यश्री के पास जाकर उनके चरणों के पास बैठ गये और बोले :—"फरमाइये, गुरुदेव!"

"लोग तुम्हारा प्रवचन रोज चाहते हैं और मैंने रात्रि प्रवचन के लिये स्वीकृति दे दी है।" पूज्यश्री ने कहा।

"आपकी मेरे पर कृपा है! मुझे तो अब भी सब स्वप्न सा लगता है कि मैं प्रवचन में क्या-क्या बोल गया? उसमें कोई संकलन या वस्तु निरूपण था या नहीं? चाहता तो यही था कि अपना अध्ययन पूर्ण होने पर ही कुछ बोलूँ; किन्तु आप ने आज्ञा दे ही दी तो उसके अनुसार करना पड़ा!"

"यह भी तो एक अध्ययन है। साधु जीवन के लिये प्रवचन देना भी एक आवश्यक अंग है। विशाल लोक मानस सागर में आध्यात्मिक तरंगें पैदा करना साधु जीवन का कर्तव्य है!" आचार्यश्री ने कहा।

"मुझे तो ऐसा लग रहा था कि आप ने मुझे उस सागर में अचानक कूद जाने के लिये कहा था; मैं तैर रहा था या डूब रहा था यह तो मुझे स्वयं मालूम नहीं होता था!" जयमलजी बोले।

जब रत्नकुंवरजी दीक्षा ले रही थीं और इधर पूज्यश्री के साथ पाट पर पाँच संतों को देख कर जयलमलजी के कवि-हृदय को द्रौपदी (पाँचाली) याद आ गई। वह दृश्य उनकी आँखों के आगे छाने लगा....!

पाँच पांडव दीक्षा लेने जा रहे हैं; वे द्रोपदी का विचार कर रहे हैं और द्रौपदी उनकी विचारधारा समझ जाती है। वह भी कहती है:—"मैं भी दीक्षा लूँगी....! बिना कंत की कामिनी के लिये गृहवास क्या काम का....?" सचमुच ही द्रौपदी धन्य थी....! शील धन्य था; जैसे नवकार धन्य था....!

> **शील बडों वरतां मध्ये मंत्रों में नवकार**
> **दाना मांहि वडो अभय कर दे खेवो पार...!**
> **ज्ञानां में केवल वडो ऋषियां गौतम जेम**
> **सतियां मांहि शिरोमणि जुवो पांचाली जेम...!!**

उन्हें खण्ड काव्य की रचना करनी थी। उस प्रसंग पर उन्होंने विचार किया कि उसकी चरित्र नायिका सती द्रौपदी रहेगी....!

दीक्षा-समारोह के बाद जब अवसर मिला तब रघुनाथजी की उपस्थिति में जयमलजी ने पूज्यश्री से कहा :—"इस सारी संयम मार्ग की वृद्धि की प्रेरणा रघुनाथजी ने दी थी!"

पूज्यश्री ने कहा :—"सच्ची आत्मीयता यही है कि जिन्हें संसार में हम अपने निजी मानते रहे—उन्हें वे भी आत्म कल्याण करायें। वीरप्रभु के शासन के चार तीर्थ में दो तीर्थ रूप नारी जाति ही है। मातायें कल्याणकारी भागवती दीक्षा धारण करें तो शासन का प्रभाव बढ़ता ही जायेगा। संतो का यह भी कर्तव्य है कि अधिकाधिक सतियाँ भी संयम मार्ग पर दृढ़ रहे वैसा प्रभाव डालें!"

जयमलजी को लगा कि आचार्यश्री का इशारा उनकी ओर था और उनकी भी एक पवित्र जवाबदारी बाकी थी।

१९

जय - गुरु भ्राता

रायपुर से ही जयमलजी को प्रवचन करने का अभ्यास अच्छा हो गया था। कई बार आचार्यश्री को दो - तीन दिन के उपवास रहते; उस समय मध्याह्न में भी वे व्याख्यान देने चले जाते। प्रथम तो दर्शकों से दृष्टि मिलाने में कुछ संकोच होता था; किन्तु फिर वह संकोच भी दूर हो गया और धीरे - धीरे नियमित आनेवाले श्रोता गण और नये - नये आनेवालों को वे पहचानने लगे। स्मरण शक्ति तो पहले ही प्रखर थी; अतः एक बार देखा हुआ चहेरा वे नहीं भूलते और नाम भी याद रख लेते थे।

उनका सभी को नाम लेकर "दया पालो भाईजी....!" और "धर्म - ध्यान करो!" सबको रूचि कर लगता था। जयमलजी को प्रवचन देते - देते यह अनुभव होने लगा कि अंग सूत्रों की जानकारी के बिना उनके प्रवचनों में जो शास्त्रीय प्रमाण आने चाहिये वे कम होते हैं। उन्होंने यह बात पूज्यश्री से कही। पूज्यश्री ने कहा कि "हमारा अगला चातुर्मास सोजत करने का भाव है और वहाँ पर स्थिर होकर सूत्र अभ्यास बढ़ाया जा सकेगा।"

रायपुर से सोजत जाते बीच में आते हुए गाँवों में धर्म प्रचार करते हुए सभी संतों का विहार होता रहा। सोजत में पू० भूधरजी का चातुर्मास हुए करीब पाँच वर्ष होने आये थे। वैसे सोजत पू० भूधरजी म० सा० का अपना नगर था और रघुनाथजी की भी जन्म - भूमि थी।

सोजत के पूर्व आचार्यश्री संतों के साथ विहार करते थे और इस ओर धर्म का प्रचार करते - करते रघुनाथजी आदि संत भी मिले। साधु मिलन बड़ा ही आध्यात्मिक और भक्ति भाव से पूर्ण होता है। संतों की बड़ों को वन्दना, परस्पर की सुखशाता पूछना और पुनः एक साथ इतने संतों का इकट्ठा होना बड़ा ही भाव पूर्ण दिखता था।

ऐसे संतों को वन्दना करके अपने कर्मों से छुटकारा पाने के लिये श्रावक गण भी पीछे नहीं हटते थे। बड़ा अपूर्व दृश्य था।

एक बार विनयदेवी के साथ लाछाँदेवी भी दर्शन करके खड़ी रही। विनयदेवी ने तब कहा :— "यह भी आप के पीछे-पीछे आना चाहती है!"

जयमलजी ने स्वस्थ मन से कहा :—"धर्म का मार्ग सभी के लिये खुला है; मगर संयम मार्ग कठिन है। उसके पहले उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये एवं आचरण वैसा बनाना चाहिये। अभी तक तो धर्म क्या है? यह भी मालूम नहीं होगा!"

लाछाँदे के मुँह से अचानक निकल पड़ा :—"आपने मेरा हाथ संसार में पकड़ा था। आप अच्छी तरह जानते हैं कि आपके योग्य मैं हूँ और आप जैसी मुझे बना देंगे वैसी मैं बन सकती हूँ या नहीं! उस वैराग्य मार्ग में भी मुझे बतायेंगे तो मैं अवश्य वैसी बनूँगी।"

विनयदेवी से नहीं रहा गया। उसने कहा :—"यह कोई मिठाई गले से नीचे उतारने जितनी सरल बात नहीं है। दीक्षा लेकर जयमलजी के साथ नहीं फिर सकोगी। तुझे तो अन्य बड़ी महासतियाँजी के साथ रहना पड़ेगा; उनकी सेवा करनी पड़ेगी!"

"सब कुछ करूँगी....!" लाछाँदे ने कहा।

"पहले थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करो! व्रत-तप आदि सरलता से नहीं होते। लूखी-रूखी सभी घर की गौचरी, सभी स्थानों पर रहना आदि बातों का अभ्यास बढ़ाना चाहिये!" जयमलजी ने कहा।

"जैसा आप चाहते हैं वैसा करूँगी!" लाछाँदे ने वंदना की और विनयदेवी के साथ वहाँ से लौट गई।

थोड़े दिन बाद गाड़ियों में बैठ कर महेता परिवार लाँबिया वापस पहुँचा। लाछाँदे ने मन में पक्का किया था कि अब कि बार वह भी जयमलजी जैसी साधुचर्या की ओर ही झुकेगी। उसके मन में था कि जैसे ही वह कहेगी कि मैं दीक्षा लेना चाहती हूँ वैसे ही जयमलजी उसे दीक्षा दिला देंगे; मगर उसे कहाँ मालूम था कि उसके लिये दीक्षा का मार्ग उतना सरल नहीं था।

कर्तव्य यह है कि जो कुछ गुरुदेव पूछ रहे हैं उसका सही उत्तर दूँ और यदि ये उचि समझें वैसा प्रायश्चित भी दें तो उसे ग्रहण करने तैयार रहूँ!"

उन्होंने अपने हृदय की सारी बातें पूज्यश्री के आगे स्पष्ट कह डालीं। उन्हें ख़याल था कि शायद पूज्यवर कुछ नाराज़ होंगे; मगर वहाँ तो गुरुदेव के मुख से वे विस्मय से सुनते रहे :—"साधुओं का तो कर्तव्य है ही कि वह आत्म-कल्याण के साथ पर कल्याण भी करें और भव्य जीवों को प्रतिबोधित करें। उसमें भी अपने संसारी आत्मीय जनों को संयम मार्ग पर जाने के लिये प्रेरित करना न सिर्फ कर्तव्य हैं; किन्तु ऐसे परिवार के परिवार संयम मार्ग में दीक्षित होकर समाज के आगे अच्छा आदर्श उपस्थित कर सकते हैं; किन्तु वहाँ पर शुद्ध आत्म-कल्याण की ही भावना होनी चाहिये!"

"आपके पूज्य प्रभाव से रघुनाथजी, रत्नकुंवरजी को संयम मार्ग लेने में प्रेरणा दे सके —— मैं भी वैसा प्रयत्न कर सकूँ यही आत्म भाव हैं!"

"उसमें सफलता मिले यही धर्म प्रभावना होगी! हमारा आत्म भाव तुम्हारे साथ है!" पूज्यश्री ने कहा।

पूज्यश्री के वचन सुनकर जयमलजी गद्‌गद् हो गये। उन्होंने अपना ज्ञानाभ्यास और भी तीव्र कर लिया और आत्म साधना की ओर वे अधिक से अधिक झुकते गये।

* * *

सोजत चातुर्मास पूर्ण हुआ। बहुत ही तप-आराधना, संयम-आराधना और दान-दया के साथ अधिक से अधिक जीवों को प्रति बोधित करते हुए आचार्यश्री के तत्त्वावधान में सोजत और बगड़ी दोनों में जिन शासन की महिमा बढ़ी।

अलग-अलग प्रकार से संतों के टोले बना कर पूज्यश्री ने वहाँ से मेड़ता की ओर विहार किया। सोजत में लोग बीस-बीस कोश के घेरे से व्याख्यान सुनने आते थे; पूज्यश्री के साथ रघुनाथजी और जयमलजी के व्याख्यानों से सब के दिल पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उसमें भी जयमलजी का मधुर कंठ और काव्य पाठ से लोगों का मन विशेष आकर्षित होता था।
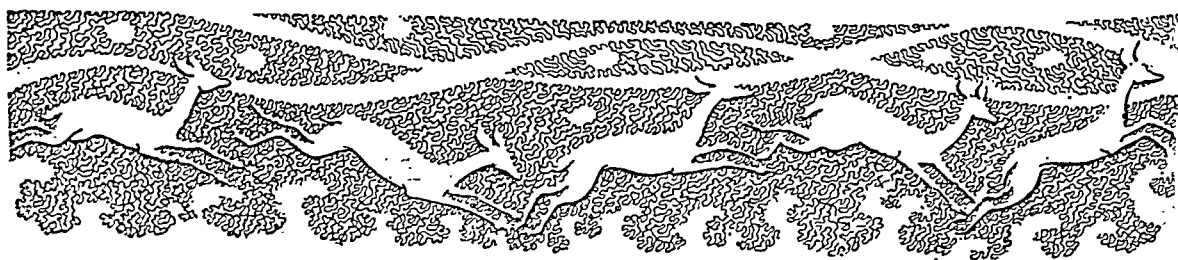
"नहीं, चामुंडा माता तो भगवान जैसी है — जो उसकी भक्ति करता है, उसको निहाल कर देती है और अप्रसन्न होती है तो उसका सत्यानाश भी करती है!" रघुनाथजी बोले।

"देवी जो कि माता कहलाती है उसके लिये तो सभी बराबर होने चाहिये न? फिर वह एक पर प्रसन्न और दूसरे पर नाराज़ क्यों होगी....?" पूज्यश्री ने पूछा।

"वह तो जो उसकी पूजा करेगा, उस पर राज़ी होगी न?"

"जब वह देवी है, समर्थ है और दूसरों को निहाल कर सकती है और जिसके लिये सब समान है उसे किसी की पूजा से प्रसन्न क्यों होना चाहिये और कोई पूजा न करे तो नाराज़ क्यों होना चाहिये? तब तो वह हमारे जैसे सामान्य मानवी जैसी है; जैसे हम किसी की पूजा से रिझते हैं, वह भी रिझती है तो उसमें देवत्व कहाँ है? फिर उसे बलिदान देने से क्या फायदा....?"

रघुनाथजी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। आचार्यश्री ने कहा :—"यहाँ तो सभी लोग भूल कर बैठते हैं! वस्तु के स्वरूप और स्वभाव को नहीं पहचानते और उससे गलत आशा लगा बैठते हैं और जब वह पूरी नहीं होती तो उसे कोसते हैं। जैसे ज़हर को अमृत समझ कर पीने से मृत्यु होती है और नादान अमृत को कोसता है कि अमृत झूठा है वैसा तुम्हारा हाल है। तुम आत्म-हत्या करके अमर बनना चाहते हो यह कैसे हो सकता है? आत्म-हत्या तो महा पाप है और उससे अमर नहीं बना जाता; बल्कि कई बार मरना ही पड़ता है!"

"भगवान ने चाहा तो सभी हो सकता है....!" रघुनाथजी आवेश में बोले।

"देवी को छोड़ कर भगवान पर आये तो चलो, उसके बारे में भी कुछ सोच लें — तुम मानते हो न कि भगवान ने ही दुनियाँ बनाई है और वही इसको चलाता है?" पूज्यश्री ने पूछा।

महिमादे महेताजी का चिरपरिचित स्वर और उसका लहका सुनकर समझ गई कि अवश्य कोई हर्ष के समाचार हैं। वैसे तो जयमलजी की दीक्षा के उपरांत महिमादे की सतत इच्छा बनी रही थी कि उनके दर्शन करने वे जाँय; किन्तु पूज्यश्री का विहार दूर अजमेर तक हो जाने से उसकी इच्छा मन में रह गई थी। सुना था कि सोजत चातुर्मास है; किन्तु घर की परिस्थितियाँ और कुछ अंश में लाछाँदे के मानसिक परिसन्ताप से वह सिर्फ एक ही बार जा सकी थीं।

महेताजी ने कहा :—"सुना है कि पूज्यश्री सभी संतों के साथ भंवाल पहुँचे हैं। गाँववालों से मिल कर सभी को लेकर लाँबिया की विनति कर आऊँ!"

महिमादे के नयनों में हर्षाश्रु छा गये। उसने कहा :—"सोजत जाने के बाद कई बार मन में आया कि गाड़ी जुतवा कर दर्शन करने जाँये; मगर वह तो हुआ ही नहीं। ये अच्छे समाचार हैं। जल्दी ही गाँव में जाकर सभी को मिला कर भंवाल चले चलो। संतों का और बादलों का क्या ठिकाना? आज यहाँ तो कल कहाँ?"

महेताजी वैसे ही अपना साफा ठीक किये बाहर गये। उन्होंने गाँववालों से बात कही और सभी भंवाल जाने के लिये राज़ी हो गये।

लाँबिया श्रीसंघ की ओर से महेताजी, रिडमलजी और सूरतराम आदि कुछ सज्जन पूज्यश्री की सेवा में विनति करने भंवाल पहुँचे। तब व्याख्यान चल रहा था और जयमलजी पूज्यश्री के पास बैठे व्याख्यान दे रहे थे।

"दयामय धर्म को शासनदेव ने चौथा मंगल कहा है। वह वास्तव में सत्य है और उसका दिग्दर्शन जैसे-जैसे होता है वैसे-वैसे वह बिल्कुल स्पष्ट होता जाता है।

सर्व प्रथम तो इसमें छः काय के जीवों की विराधना नहीं करने का आदेश दिया गया है। ऐसे दयामय धर्म के चार प्रकार कहे गये हैं दान, शीयल, तप और भाव।

इस जगत में लोग आते हैं और चले जाते हैं; जो कुछ उनके साथ होता है उसे अंत समय यहीं छोड़ कर जाना पड़ता है। यहाँ तक कि यह देह भी वे त्याग कर जाते

पूज्यश्री ने हँसके कहा :—"भगवान तो दयावान है न? मगर देखो न, तुम्हारा मित्र था उसको उसने क्यों युवावस्था में मृत्यु के मुँह दे दिया? और जब उसने ही सब को बनाया है तो क्यों न सब को अमर बना देता है? कोई बचपन में मरता है; कोई जवानी में तो कोई बुढ़ापे में मरता है। कोई रोग से तो कोई बिना रोग के मरता है। दयालु ईश्वर को यह सब कैसे सुहाता है?"

"बापजी, यह तो सब काल के कारण होता है? उम्र बढ़ती है तो उसे कौन रोक सकता है?"

"तो भगवान भी उसे रोक नहीं सकते? ये सभी काल के कारण होते हैं! ठीक है न....?" पूज्यश्री ने कहा।

रघुनाथजी के पास उत्तर न था; मगर फिर भी तर्क कर बैठे :—"बापजी, वह तो पहले से नियत होता है वैसे होता है और वह भगवान ही नियत करता है!"

यदि भगवान ही नियत करता है तो फिर सब जो कार्य करते हैं उसे करने की क्या आवश्यकता है? और दयालु भगवान को ऐसी नियत करने की आवश्यकता भी क्या है कि वह जो पुरुषार्थ करे तो उसको सफल या विफल करे। यदि पहले से ही उसने सब-कुछ नियत कर रखा हो तो फिर इतनी सारी अवस्थायें बदलने का, लोगों को श्रम कराके थका देने का प्रयत्न, क्यों करवाता है? नियत है तो वैसा हो ही जायेगा तो ईश्वर इतनी सिरपच्ची क्यों करता है?"

रघुनाथजी के पास कोई समाधान न था। वे बोले :—"नियत तो है ही; लेकिन खाना पका रहने पर भी उसे हाथ से खाने का श्रम न करें तो कैसे चल सकता है?"

पूज्यश्री भूधरजी ने कहा :—"रघुजी! तुम्हारा मतलब है, श्रम करना चाहिये?"

"हाँ, बापजी! जो मेहनत करेगा, उसको ही भगवान मदद करेगा!" रघुनाथजी बोले।

लिया हो — जैसा कि हम समझते थे; मगर इन्होंने तो अपने आप यथार्थ सिद्ध कर दिया है? एक वर्ष में तो इनकी प्रतिभा और निखर आई है। विशेष रूप से सूरतराम के मन में तीव्र मनोमंथन चल रहा था कि मैं संसार के स्वार्थों में उलझता ही रह गया और जयमलजी तो तिरने और तारने के रास्ते में कितने आगे निकल चुके हैं! मोहनदासजी और रिडमलजी बड़े ही प्रसन्न थे।

सूरतराम तो सविशेष प्रसन्न था। एक तो जयमलजी उसके बचपन के साथी थे और फिर दीक्षा लेकर एक वर्ष में इतना विकास उन्होंने कर लिया था; यह उसके लिये आत्म सन्तोष की बात थी।

कई बार वन्दना करते-करते उसके मुँह से यह बात प्रगट हो जाती थी :— "आपजी! आप तो सचमुच ही आगे निकल गये हैं!"

"इसीलिये तो तुम्हें साथ लेने वापस आया हूँ; अब भी साथ चले चलो!" जयमलजी हँसके कहते।

"तो लाँबिया आने की पक्की रही....!"

"यह तो गुरुदेव की सेवा में विनती करके जान लेवें!" जयमलजी ने कहा।

तदनुसार —

लाँबिया की ओर से पूज्यश्री की सेवा में विनती हुई कि लाँबिया में पदार्पण करके धन्य करें।" दूसरे और गाँववालों की भी विनति हुई। पूज्यश्री ने फरमाया कि यथाकाल उन्हें लाँबिया विहार करने के भाव हैं; क्योंकि पिछले वर्ष भी उनका उस गाँव में विराजना नहीं हुआ था।

लाँबियावाले उनका उपकार मानते हुए वापिस लौटे।

●

पूज्यश्री ने हँसके कहा :—"भगवान तो दयावान है न? मगर देखो न, तुम्हारा मित्र था उसको उसने क्यों युवावस्था में मृत्यु के मुँह दे दिया? और जब उसने ही सब को बनाया है तो क्यों न सब को अमर बना देता है? कोई बचपन में मरता है; कोई जवानी में तो कोई बुढ़ापे में मरता है। कोई रोग से तो कोई बिना रोग के मरता है। दयालु ईश्वर को यह सब कैसे सुहाता है?"

"बापजी, यह तो सब काल के कारण होता है? उम्र बढ़ती है तो उसे कौन रोक सकता है?"

"तो भगवान भी उसे रोक नहीं सकते? ये सभी काल के कारण होते हैं! ठीक है न....?" पूज्यश्री ने कहा।

रघुनाथजी के पास उत्तर न था; मगर फिर भी तर्क कर बैठे :—"बापजी, वह तो पहले से नियत होता है वैसे होता है और वह भगवान ही नियत करता है!"

यदि भगवान ही नियत करता है तो फिर सब जो कार्य करते हैं उसे करने की क्या आवश्यकता है? और दयालु भगवान को ऐसी नियत करने की आवश्यकता भी क्या है कि वह जो पुरुषार्थ करे तो उसको सफल या विफल करे। यदि पहले से ही उसने सब-कुछ नियत कर रखा हो तो फिर इतनी सारी अवस्थायें बदलने का, लोगों को श्रम कराके थका देने का प्रयत्न, क्यों करवाता है? नियत है तो वैसा हो ही जायेगा तो ईश्वर इतनी सिरपच्ची क्यों करता है?"

रघुनाथजी के पास कोई समाधान न था। वे बोले :—"नियत तो है ही; लेकिन खाना पका रहने पर भी उसे हाथ से खाने का श्रम न करें तो कैसे चल सकता है?"

पूज्यश्री भूधरजी ने कहा :—"रघुजी! तुम्हारा मतलब है, श्रम करना चाहिये?"

"हाँ, बापजी! जो मेहनत करेगा, उसको ही भगवान मदद करेगा!" रघुनाथजी बोले।

थे। कितने सपने संजोये वह बैठी थी! मगर मिलन के अरमान, जैसे कुठाराघात हुआ हो; वज्रपात हुआ है वैसे सब टूट पड़े....!

उसके गाँव लाँविया से ऊँटनी पर सवार आया था और परिवारवाले उसे लेकर मेड़ता पहुँचे। वहाँ स्वामी ने उसे पहचाना तक नहीं! "स्वामी! देखो तो मैं ही तुम्हारी लाछाँ हूँ — जनम - जनम की दासी....!" वह आँखों से कहना चाहती रही; मगर उसके स्वामी कैसे निर्मोही हो गये थे? अरे....! यह क्या कहने लगे:—"सभी संसार की माया है! किन्तु यह माया भी तो तुमने ही लगाई थी। मैं तो कुछ भी नहीं जानती थी; मैं तो तुम्हारा साथ निभाना चाहती थी — मुझे भी साथ ले जाते, मैं क्या नहीं समझती....!"

मगर वह कुछ कह सके या कर सके उसके पहले ही उसे बलात् गाड़ी में बिठा दिया गया। रियाँ में उसके आँसू महीनों तक न सूखे। आखिर में माता - पिता ने कह दिया कि तुम्हारा असल वर लाँविया है। यहाँ पर आने पर बाईजी महिमादे ने उसे अपने गले लगा लिया था। दोनों मिल कर देर तक फूट - फूटकर रो पड़ी थीं। भाभीजी कितनी अच्छी हैं; उन्होंने कैसा समझाया था! स्वामी ने संयम लिया तो मुनि वेश में कितने अच्छे लगते थे! क्या उनका ललाट चमकता था! और उन्होंने कितना बड़ा त्याग किया — एक दिन खाना, एक दिन उपवास करना और वह क्या कहते हैं, पाँच परवी तिथियों को बिल्कुल सूखा खाना....!

उन्हें जो कुछ करना था करते; मैं कोई थोड़े ही रोकनेवाली थी? मुझे कम से कम उनका वैरागी चहेरा तो देखने देते। माताजी, भाभीजी, ससुरजी सभी उनके उस वेश की कितनी प्रशंसा करते रहते हैं! सब उनके आड़े नहीं आये तो क्या मैं ही अकेले उनके आड़े आती? मुझे समझाते तो मैं भी उनके पीछे - पीछे संयम मार्ग में चल पड़ती....!"

इसी विचार में दिन बीत गये। अब आँसू सूख गये थे और आँखें गहराई में चली गई थीं। शरीर कुम्हलाता चला जा रहा था। उसे जीवन में कुछ भी नहीं सुहाता था।

उस बीच एक बार उसने सुना था कि उनका चातुर्मास सोजत था और सभी दर्शन करने जानेवाले। वह भी साथ गई थी।

वे वन्दना करके गये। आचार्यश्री को और लोगों को संतोष था कि उन्होंने रघुनाथजी को कैसे भी मरने के दीवानेपन से तो वापस मोड़ लिया है।

* * *

दूसरे दिन रघुनाथजी अपना सुना, सुनाया और पढ़ा हुआ भगवान संबंधी ज्ञान लेकर आचार्यश्री के पास पहुँचे और वंदना करके उन्होंने निवेदन किया। "मैं तो यही मानता हूँ कि सारे संसार को चलानेवाला भगवान है; उसकी अनंत शक्ति है?"

आचार्यश्री भूधरजी ने पूछा :—"तब यह बताओ कि जब मामूली न्याय तन्त्र चलाने पुलिस, जेल, न्यायाधीश और कार्यालय चाहिये तो भगवान का कार्यालय कहाँ है? किधर है? कितना बड़ा है?"

रघुनाथजी विचार में पड़ गये।

"रघुजी! देखो, सोजत में थाना है, वैसे उसका भी कही थाना होगा न? फिर वह तो अच्छे-बुरे सब का हाल लिखनेवाला होगा न? अरे, घर की और पल-पल की बातें लिखने और उसके अनुसार उसके फल तय करनेवाले भी बहुत होंगे न? और वे कहाँ होंगे?"

"हाँ, हाँ, ऐसा ही होना चाहिये! हाँ, हाँ, वे सभी अदृश्य ही होंगे!" रघुनाथजी अनुभव कर रहे थे कि पूज्यश्री का प्रश्न उन्हें बाँधता था।

"तो, तो भगवान की तरह वे भी उनके साथ होंगे न?"

"हाँ....!"

"मगर तुम्हारे मतानुसार तो भगवान ने दुनियाँ बनाई और सब को बनाया तो फर्ज करो कि जिस दिन से भगवान ने इस दुनियाँ को प्रारम्भ कर दी, उसी दिन से सब का भला-बूरा लिखना उसका हिसाब-किताब भी चालु हो गया होगा न? तो भगवान ने कब छंटनी की कि अमुक दुनियाँ में रहे और अमुक उसके साथ स्वर्ग में रहे? और जब स्वर्ग के सुख अनेक हैं तो क्यों पक्षपात करके उसने कुछ को ही चुनकर स्वर्ग में लिया?"

वहाँ आज उसने पुनः सुना कि :—" संत भंवाल पधारे हैं....!" उसके चेहरे पर प्रसन्नता की एक झलक आई, तो क्या उसके स्वामी भी उसमें होंगे ?

उसकी प्रश्नार्थ सूचक आँखें महिमादे की ओर फिरीं। महिमादे समझ गई विनयदे ने भी लाछाँ के वदन पर प्रसन्नता देखी। उसके प्रश्न का जवाब देते हुए कहा :—" हाँ, लाछाँ ! जयमलजी भी साथ हैं और श्वसुरजी आदि सभी उन्हें लाँवि पधारने की विनती को जानेवाले हैं। अब लाँबिया के भाग्य जगेंगे कि इतने संत पधारेंगे....!" जब गाड़ियाँ जुत कर भंवाल की ओर चली तो लाँछादे को लगा कि लाँ का भाग्य जगे या नहीं उसके भाग्य तो अवश्य ही जगेंगे !

* * *

संतों के चरण लाँबिया के मार्ग पर पड़े तो लाँबिया धन्य हो उठा। गाँव- में घर-घर से लोग रास्ते भर वन्दना करते रहे। महेताजी की हवेली पर विनयदेवी महिमादेवी ने भी बाहर निकल कर वन्दना की।

जयजयकार के नारों में पुनः जोर से जयजयकार हुआ :—

" बोल, जयमलजी म० सा० की जय....!"

उपर की मंज़िल पर खिड़की की ओर लेकर लाछाँदे आते हुए संतों को देख रही थी। सभी के श्वेत वस्त्र, अपने शास्त्र, पात्र आदि शरीर पर अपने साधन पूरे करते हुए सभी एक समान से शांति सैनिक से लग रहे थे। उसकी आँखें खोज रही थी, बदले हुए परिधान में अपने स्वामी को....! हाँ....! वही तो हैं! मुख पर मुँहपत्ति बाँधने पर, और सर पर बिखरे रूखे-सूखे बाल से चेहरा अवश्य बदला है; किन्तु उन्हें पहचाने बिना कैसे वह रह सकती थी....?

संत सभी स्थानक में पहुँचे। मंगल पाठ के साथ सभी विदाय हुए। सूरतराम और साथी जयमलजी के पास रह गये थे। सूरतराम तो भंवाल गया और तब से निरन्तर उनके साथ था। विहार में भी पैदल साथ चला था।

करेगा उसके अनुसार उसे फल मिलेगा ही। इसके लिये तो हिंदू धर्म की गीता में भी कहा हैं :—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म फल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
* अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः॥

—यानी ईश्वर इस लोक में न तो लोगों का कर्ता है; न उनके कर्म का और न उनके कर्म फल के संयोग की रचना करता है। यह तो सभी अपने-अपने स्वभाव से होता है। इतना ही नहीं; न तो वह किसी के पाप को लेता है, न किसी के पुण्य को। ज्ञान पर अज्ञान का आवरण छा जाने से लोग ऐसा कहते हैं!"

"कर्म का फल अपने आप मिलता है—यह कुछ समझ में नहीं आया....!"

"यानी जो जैसा करता है, वैसा उसे फल मिलता है। लोग दूध पीयेंगे तो उन्हें ठंडक होगी; मगर ज़हर पियेंगे तो मर जायेंगे। इसमें दूध और ज़हर दोनों आदमी के दुश्मन नहीं हैं; किन्तु उनका जैसा-जैसा स्वभाव है वैसा वे फल देते हैं। लोहा और चुंबक दोनों ज़ड़ हैं, चैतन्य रहित हैं; फिर भी स्वभाव वश दोनों मिलने पर एक दूसरे को खींचते हैं, उसी प्रकार कर्म है। जैसे कोई शराब पिया हुआ मनुष्य होश गँवा कर फिरता रहता है और आग में पड़ जाये तो आग उसे जलाती ही रहेगी वैसे जब तक कर्म है, मोह है—आत्मा को भटकना पड़ता है!" पूज्यश्री ने कहा।

"तो क्या ये चामुंडा माता आदि नहीं है?"

"वे हल्की जाति के देव हैं, उनसे भी श्रेष्ठ सुख पानेवाले देव होते हैं; किन्तु उनसे भी श्रेष्ठ मनुष्य है—क्योंकि वह कर्म-भूमि में जन्म लेकर अपने को परमात्मा बना

---

* भगवत् गीता अ० ५ श्लो० १४-१५
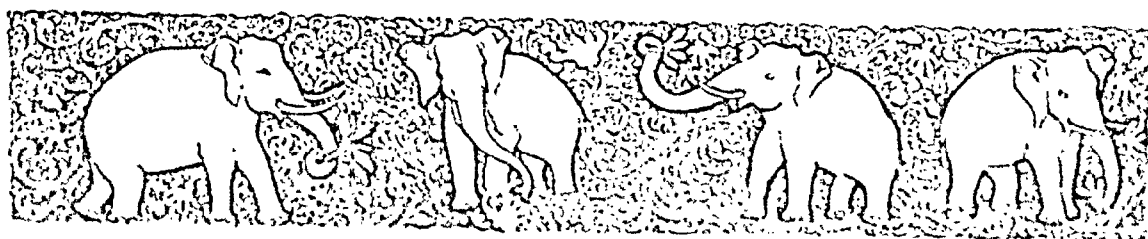
मगर उनके घरवालों की ओर से कहा गया और समझाया गया कि "अभी उनका मन अस्थिर है !" अतः पूज्यश्री उन्हें धर्म - ध्यान में स्थिर होने का आदेश देकर आगे चल पड़े ।

उनके घरवालों ने, श्वसुर पक्षवालों ने उन पर बहुत दवाव डाला ; किन्तु उन पर तो वैराग्य का चढ़ता रंग था । उन्होंने व्याह नहीं किया और धर्म - शास्त्र आदि के पठन - पाठन में मन लगाना शुरू किया । चार वर्ष बीत गये । जहाँ पूज्यश्री जाते वहाँ वे भी पहुँच जाते । अन्त में पिताजी का स्वर्गवास होने पर उन्होंने अपनी दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की और उन्होंने संवत १७८७ के ज्येष्ठ कृष्ण - २ के बुधवार के दिन पूज्यश्री के पास जोधपुर में दीक्षा ली । उस समय पू० भूधरजी का प्रभाव बहुत था और बड़ी धूमधाम से दीक्षा सम्पन्न हुई ।

वहाँ से सभी संत सूरपुरा पधारे । वहाँ पर रघुनाथजी को बड़ी दीक्षा दी गई । उस समय का पूज्यश्री का प्रवचन सुन कर जेतसिंहजी जो कि चांपावत थे और जो शिकारी थे — उनके दिल में दीक्षा के भाव उत्पन्न हुए और ज्येष्ठ कृष्ण - ९ मी को उन्होंने दीक्षा व्रत अंगीकार किया !"

यों अपने गुरु - भ्राताओं के बारे में जान कर जयमलजी बड़े प्रसन्न हुए । सोजतवालों का बड़ा ही आग्रह था कि रघुनाथजी की दीक्षा के बाद सभी संत मेड़ता के बाद का चातुर्मास सोजत करें । समय के अनुसार वहाँ पर, आने की पूज्यश्री ने संमति दर्शाई थी और तदनुसार सभी संत सोजत पधारे ।

सोजत में बड़े ही उत्साह से श्रीसंघ और अन्य लोग पूज्यश्री आदि सभी संतों को लिवाने बहुत दूर तक आये और जयजयकार के नारों से नगर में प्रवेश हुआ । पूज्यश्री के व्याख्यानों से तो सभी परिचित थे ही, उनकी इच्छा थी कि अधिक से अधिक लोगों को रघुनाथजी के प्रवचनों का लाभ मिले । एक वर्ष के दीक्षा काल में वे काफी प्रगति कर चुके थे । साथ में वे जयमलजी को भी रखते थे और दोनों की जोड़ी को देख कर लोग धन्य हो जाते थे ।
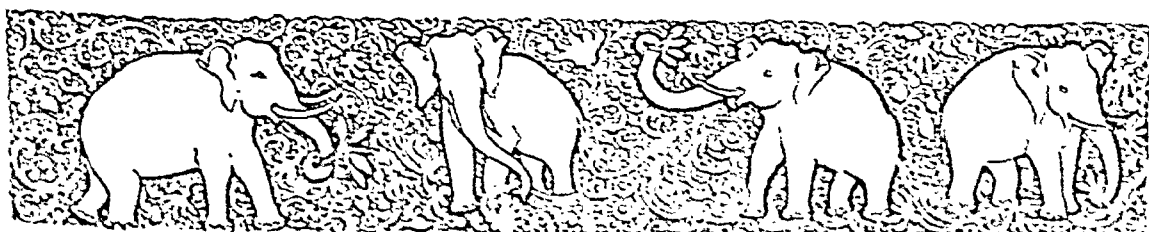
लाछाँदे की बातें दोनों नारियों को सही लगी। महिमादे ने कहा :—"कल मेरे साथ चलना....!"

लाछाँदे ने स्वीकृति सूचक मस्तक हिलाया।

* * *

रात बीतने आई। लाछाँदे के मन में विचारों का प्रचंड आंदोलन उमड़ पड़ा था; वह तय नहीं कर पाई थी कि वह कल किस वेश में दर्शन करने जायेगी ! उनसे क्या कहेगी ! कैसे कह सकेगी....!

उसकी कब आँखें लग गईं और कब वह सो गई इसका उसे ख्याल न रहा। कुछ तन्द्रासी हालत में वह एक स्वप्न देख रही थी। वह अलसाई सी लेटी है कि श्वेत वस्त्र परिधान किये कोई दिव्य आकृति उसके पास आई। वह चौंक कर खड़ी हो गई। जैसे-जैसे वह आकृति समीप आती गई, वह पहचान गई; यह तो उसके ही स्वामी जयमलजी हैं।

उसने हड़बड़ा कर वस्त्र सम्हाले घुटने टेक वन्दन करके सर झुका देना चाहा और अस्फुट शब्दों में कहा :—"स्वामी, दासी पर बड़ी देर से कृपा की....!"

अचानक दिव्य वाणी सी जयमलजी के मुख से निकली :—"देवी, संसार में कोई किसी का स्वामी नहीं; कोई किसी का दास नहीं ! मोह, माया और भोग - विलास में फँसने के कारण सभी संसारी जीवों का यह भ्रम होता है। मेरी आत्मा स्वतन्त्र है; तुम्हारी आत्मा स्वतन्त्र है !"

"प्रभु ! मुझ पामर नारी में इतनी बुद्धि कहाँ है ?"

"तुम पामर नहीं हो; तुममें भी अनन्त शक्तिशाली आत्मा रही हुई है ! देखो, भगवान महावीर की आगम - वाणी क्या कहती है ! सम्बुज्झह ! सम्बोध को प्राप्त हो, सच्चा ज्ञान प्राप्त करो; मगर उसके लिये सभी साँसारिक वासनाओं को छोड़ना पड़ेगा !"

"प्रभु ! मैं तैयार हूँ....!"

"यह केश, यह वेश छोड़ कर साध्वी वेश स्वीकार करना पड़ेगा !"

"देवी, चूक तो हर पल जो बीत रही है वही चूक रही है; उसे समझदार तो सुधार लेते हैं!"

"आप समझदार थे, आप चल दिये; मैं तो नादान थीं, अब क्या करूँ....?"

"करने को तो तुम भी ममता को छोड़ कर, समता धारण कर वीरप्रभु के शरण में चली आओ! जम्बूजी के साथ उनकी पत्नियाँ चल ही निकली थीं। शूरवीर तो संयम के मार्ग पर ही लड़ते हैं; देखो, ये जयमलजी — नव परणित नारी को छोड़ कर संयम मार्ग में चल पड़े!"

"आप पुरुषों को तो मन में आये वैसा कर सकते हैं; लेकिन जिनको छोड़ जाते हैं उन औरतों को क्या हाल होता है?" रत्नकुंवर ने कहा।

रघुनाथजी बोले :—"तुम सचमुच ही कल्याण चाहती हो तो भगवान महावीर ने तुम नारियों के लिये भी संयम मार्ग खोल रखा है। जिसे आत्म कल्याण करना है वह पीछे नहीं रह सकती। देखो! राजुल महासती, नेमनाथ भगवान के पास दुःख रोने थोड़े ही गई थी, वह भी संयम लेकर साथ निभाने चल पड़ी थीं। मेरे बिना संसार असार है तो संयम लेकर निकल चलो। बाकी बेकार बातें करके व्यर्थ ही आत्मा को क्लेश न पहुँचाओ!"

जयमलजी चुपचाप खड़े देख रहे थे कि अब क्या होगा? रत्नकुंवर भी कम नहीं थी। उसने फौरन ही कहा :—"स्वामी! आपकी आज्ञा की देर थी। बस, अब मैं किसी के रोके नहीं रुकूंगी और दीक्षा लूँगी; आपने आज मुझे सच्चा कर्तव्य मार्ग दिखा दिया है!"

वह वंदना करके अपनी सखियों के साथ गई। जयमलजी, रघुनाथजी की ओर निहारते रहे। सचमुच ही उन्होंने रत्नकुंवर को कल्याण मार्ग दिखाया था!

और रत्नकुंवर अकेली ही नहीं; किन्तु उनके साथ और ग्यारह नारियों ने और पाँच संतों ने भी भगवती दीक्षा अंगीकार की। उस समय सोजत में धर्म की गंगा में बाढ़ आई हो ऐसा उत्साह का वातावरण छा गया था। सोजत संघ की विनति पर चौमासा सोजत करने की संमति पूज्यश्री ने दे दी।
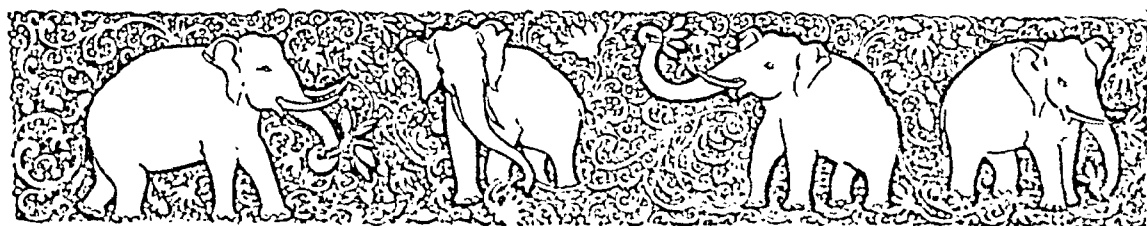
सोजत चातुर्मास में धर्म ध्यान और तप त्याग का ठाठ रहा। अधिक संत-सती हो जाने से पूज्यश्री ने संतों को दो दल में विभक्त करके कुछ ठाणों को बगड़ी चातुर्मास के लिये भेज दिये; फिर भी पूज्यश्री सहित आठ संतों का विराजना हुआ और सोजत में ऐसा मालूम पड़ रहा था कि धर्म ध्यान के कारण जैसे चौथा आरा न चलता हो ?

उसमें भी जीवराजजी म. सा. ने उग्र तपस्या की। उन्होंने १६ का थोक, १० का थोक और सात के थोक की तपस्यायें की; फलत: शरीर कृश होता गया। शरद पूनम की रात के समय ऐसा लगा कि अब उस काया का कोई भरोसा नहीं है। उन्होंने पूज्यश्री से कहा और दूसरे दिन प्रात:काल संथारा पच्चक्ख लिया। बाद उनका संथारा सीझ गया और कार्तिक वद ७ को वे कालधर्म को प्राप्त हुए।

इस चातुर्मास के समय जयमलजी की इच्छानुसार उन्होंने अंग सूत्रों का अध्ययन प्रारंभ किया था। आचारांग, सूत्रकृतांग, ठाणांग, समवायांग, भगवती सूत्र ज्ञाता धर्म कथा, उपासक दशांग आदि सूत्रों की व्याख्याएँ जैसे-जैसे उनके अध्ययन में स्पष्ट होती गई वैसे-वैसे जैन दर्शन, न्याय, आचार-विचार और सूत्र-सिद्धांत उन्हें स्पष्ट होते गये। उन्होंने सात अंग सूत्रों का अभ्यास किया।

सोजत चातुर्मास होने के समय, लांबिया में खबर होते ही महेताजी सपरिवार उनके दर्शन करने गाड़ियाँ लेकर आये; लाछाँदे भी साथ में थी। पति ने हालाँकि दीक्षा ले ली थीं उसके मन में तो वे ही पति स्वामी थे।

अभी तक उसके हृदय से वह बात नहीं भुलाई जाती थी कि मुझमें कौन सी कमी थी कि स्वामी ने मेरा त्याग कर वैराग्य धारण किया था ? उसका नारी हृदय द्वंद्व सा करता था। उसको भी ऐसा लगता था कि पूज्यश्री ने पति को बहका दिया था।

लाछाँदे ने जब जयमलजी के दर्शन किये तब कुछ रूठी सी, कुछ खिंची सी थी। नारी सुलभ लज्जा के मारे वह कुछ बोल नहीं सकी थी; मगर धीरे-धीरे व्याख्यान में बैठने करने से उसका संकोच कम होता गया।
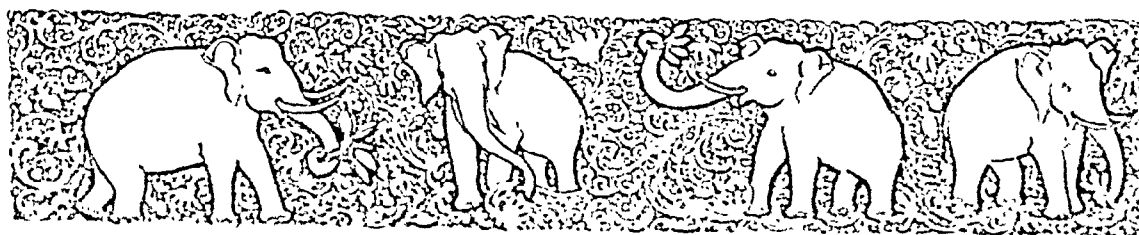
लाँबिया में जयमलजी को प्रवचन में नित्य बैठना पड़ता था और उन्होंने द्रौपदी की चौपाई और उस महान सती का चरित्र पढ़ना शुरू किया था। नारदजी की आग लगाने की विद्या का प्रसंग सुन कर सभी को आनन्द आया।

लाछाँदे ने नित्य प्रवचन में जाना शुरू किया था। नारी वर्ग में सभी उसके प्रति बड़ा आदर रखते थे; क्योंकि वह महाराजश्री की संसार पक्ष की सहधर्मिणी थी। सभी की नजरें उसकी ओर लग जाती थीं।

द्रौपदी चरित्र में जब राजा पद्मनाभ सती का हरण कर जाता है तब सती पति से दूर होने पर क्या-क्या करती है उसका वर्णन करते हुए उन्होंने कहा :—

* ज्यां लग कंत मिले नहीं हो
रहणो धर्म में लाल...
मांड्यो बेले बेले पारणो हो
लूखो अन्न पाणी मांहे घाल... सतवंती अवसर देखियो

इम आयंबिल करती थकीं हो
विचरत आतम मांय...
तपस्या मन साचवे हो
सफल दिहाडा इम जाय... सतवंती अवसर देखियो

"सती नारी को अपने शील की रक्षा करना अपने आप आता है। पति दूर हो, उनसे मिलना नहीं तो फिर यह रूप क्या? यह सिंगार क्या? शील की रक्षा उस समय तप करता है। सती द्रौपदी ने भी बेले-बेले का पारणा करना शुरू किया और उसमें भी आयंबिल के दिन सती सिर्फ रूखा-सूखा खाती....! यों आत्म भाव भी जागृत होता है और रस, स्वाद युक्त आहार पानी के त्यागने से अपने में विषय वासना पैदा नहीं होती एवं तप से शरीर कृश होने से अन्य को रूप-मोह भी पैदा नहीं होता। इतना ही नहीं, आसपास ऐसा वातावरण भी पैदा होता है जिससे अत्याचारी के साथवाले उस सती के प्रति करुणा पैदा

* जयवाणी, द्रौपदी सज्झाय ढाल १०—५-६.

इस ओर अवकाश प्राप्त होने पर जयमलजी अपनी द्रौपदी की सज्झाय खंड काव्य की रचना बढ़ाते जा रहे थे। सोजत में लोग समुदाय के परिचय में आने पर उन्हें यह बिल्कुल स्पष्ट लगा कि "लोगों तक धर्म को पहुँचाना है तो उसकी भाषा लोक भाषा होनी चाहिये!" उन्होंने भी राजस्थानी चारण भाषा को अपनाया।

कभी-कभी काव्य लिखते-लिखते उनके मन में खटका सा होता। उन्हें लगता था कि जैसे उन्हें अभी एक आत्मा के प्रति अपना आत्म-धर्म का कर्तव्य निभाने का है। उन्होंने उस आत्मा को वचन दिया था कि वे उसको कर्तव्य मार्ग पर साथ ही रखेंगे। मगर उन्होंने उसका क्या हाल होगा? उसका विचार किये बिना ही संयम ले लिया था।

कभी-कभी उनकी आँख के आगे सती रत्नकुंवरजी की दीक्षा के पूर्व की बातें आ जातीं :—"लोग तो यही मानते हैं कि हम स्त्रियों में चूक है; इसीलिये आप हमें छोड़ जाते हैं। पुरुषों का क्या....? किन्तु जिन नारियों को वे पीछे छोड़ जाते हैं उनका हाल देखने थोड़ी ही लौटते हैं?"

—और जयमलजी की आत्मा यह विचार आते ही भाव प्रवाह में बह जाती....!

उसी समय पूज्यश्री का वचन उनके कानों में गूँजता :—"सच्ची आत्मीयता यही है कि जिन्हें संसार में अपने निजी मानते रहे उन्हें भी आत्म-कल्याण करायें!"

जयमलजी को ऐसा लगता था कि पूज्यश्री ने उनको ही उद्देश्य करके कहा हो और साथ ही यह वाक्य उनके हृदय में अंकित सा हो गया था :—"चार तीर्थ में दो तीर्थ रूप नारी जाति ही है। मातायें कल्याणकारी भगवती दीक्षा धारण करें तो शासन का प्रभाव बढ़ता ही जायेगा।"

अनेक बार वे इस वाक्य पर विचार करते-करते खो जाते थे। पूज्यश्री की चकोर दृष्टि से यह बात छुपी न रही उन्होंने बड़े प्रेम से जयमलजी से इसका कारण जानना चाहा।

जयमलजी को लगा कि "शायद ऐसा विचारना साधु-धर्म से विपरीत था और पूज्यश्री को स्पष्ट नहीं कहता हूँ तो मैं गुरु विनय को भंग करता हूँ। अतः मेरा पवित्र
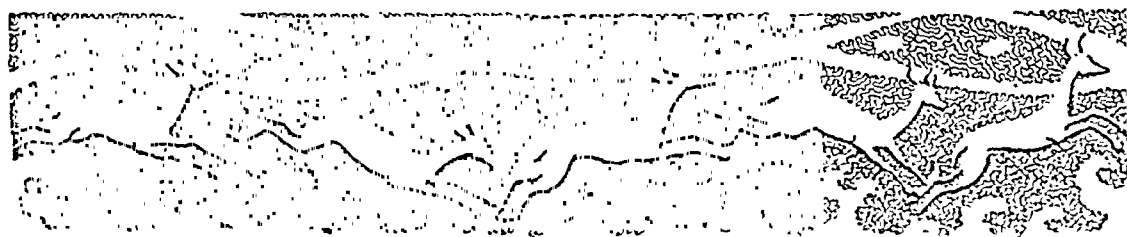
आत्मा का सह - धर्म चाहेंगे और अपने आत्मीय जनों को प्रबोधित करना भी धर्म प्रभावना है। देखो, रघुनाथजी ने तो अपनी सगाई की हुई रत्नकुंवरजी को बोध देकर दीक्षित कराया — यही तो सच्चा सह - धर्म आत्म - धर्म है !"

विनयदे कुछ न बोल सकी। लाछाँदे प्रसन्न हुई। धीरे - धीरे यह बात फैलने लगी कि लाछाँ के भाव ऊँचे हैं और महिमादे को यह चिंता हो गई कि अच्छा हो कि लाछाँ के माँ - बाप को भी सूचित किया जाय। उसने महेताजी से कहकर रियाँ समाचार भिजवाये।

* * *

प्रवचन में द्रौपदी की चौपाई चल रही थी। सभी राज - सुख भोगने पर भी पाँडव सुखी नहीं हुए और मुनि प्रवचन सुन कर पाँडवों को दीक्षा लेने के भाव जगे — तब वे द्रौपदी का विचार करने लगे; किन्तु सती शिरोमणि द्रौपदी थी — वह कहाँ पीछे रहनेवाली थी ? उसने कहा :—

* तब बलती कहे द्रौपदी
हूं तो छोडसूं संसारनो पास रे...
कंत विहूणी कामणी
मुझ भलो नहीं घर वास रे...
पांडव पांचूं वांदता मन मोह्यो रे...

— द्रौपदी ने कहा कि आप पाँच जायेंगे तो मैं पीछे संसार में किसके लिये रहूँगी ? जहाँ आप, वहीं मैं ! क्या मुझे आप कम जानते हैं ? क्या मुझमें आपको विश्वास नहीं ? अरे, मैं तो आप ही के कारण जुए में हारी गई; भरी कौरव - सभा में मैंने अपमान सहा — वन - वन में साथ रही और पद्मनाभ राजा हरण कर गया तभी मैंने शील - व्रत की रक्षा की। बिना स्वामी के घर - बार या संसार किस काम का ? मैं भी आपके पीछे दीक्षा लूँगी; संयम पालूँगी....!"

---

* जयमलजी विरचित चरित सती द्रौपदी

आचार्यश्री का विहार खोखरा तक हुआ। लोग बड़े भक्ति भाव से वहाँ तक उनके साथ गये।

खोखरा, सांडिया आदि गाँव में धर्म प्रचार करते वे चंडावल पहुँचे। वहाँ से पीपलिया होते हुए झूंठा और रायपुर तक विहार कर लिया। जहाँ वे पहुँचते वहाँ के श्रीसंघ का तो अत्यन्त आग्रह रहता ही था कि उनके गाँववालों को अधिक से अधिक लाभ मिले और आगे के गाँववालों की उससे भी अधिक विनय भरी, भाव भरी विनतियाँ होती रहती थीं। पूज्यश्री के व्याख्यानों में अधिक से अधिक जन समुदाय इकट्ठा होता था।

कालु गाँव में पुनः उनका पदार्पण हुआ। यहाँ पर लोग पूज्यश्री के साथ घटी पुरानी घटना भूल चुके थे। उन्होंने देखा कि आचार्यश्री के साथ में रहकर लोहा भी पारस बन चुका था। जयमलजी के व्याख्यानों का जादु सा असर लोगों पर पड़ता था और उन्हें वहाँ से हटने की भी इच्छा नहीं होती थी। लोगों ने अत्यन्त आग्रह करके संतों को वहाँ तीन दिन और ठहराया; उसी समय केकिंदवालों की विनती भी ज़ोरदार हुई। महाराज साहब का विहार केकिंद हुआ वहाँ पर भी धर्म प्रभावना बहुत ही असरकारक हुई।

वहाँ से भंवाल पहुँचने के पहले लाँबिया आदि गाँवों में भी पूज्यश्री के पदार्पण के बहुत शीघ्र ही समाचार फैल गये। लोग तो केकिंद से ही गाड़ी जोत कर दर्शन करने आते थे और जयमलजी के व्याख्यानों की रोचक शैली सुन कर मुग्ध होकर जाते थे।

संतों के व्याख्यानों का लाभ लेकर गाड़ियाँ लाँबिया गाँव से भी गुजरती थी। उसमें से किसी ने आकर महेताजी को समाचार दिया :—"पूज्यश्री भंवाल पहुँच गये हैं। उनके दर्शन करके लौट रहा हूँ। क्या व्याख्यानों का ठाठ है....! उसमें जयमलजी की तो क्या शैली है! क्या मधुर कंठ है! चहेरा भी उनका चारित्र्य के तेज से चमकता है! सचमुच ही उन्होंने संयम को दीपाया है....!!"

महेताजी ने बड़े ही भाव से सभी बातें सुनीं और गद्‌गद् हो गये। उनको रास्ते से विदाय कर वे अपनी हवेली पर आये और महिमादे को ऊँचे स्वर में कहा :— "सुनती हो जी....!"
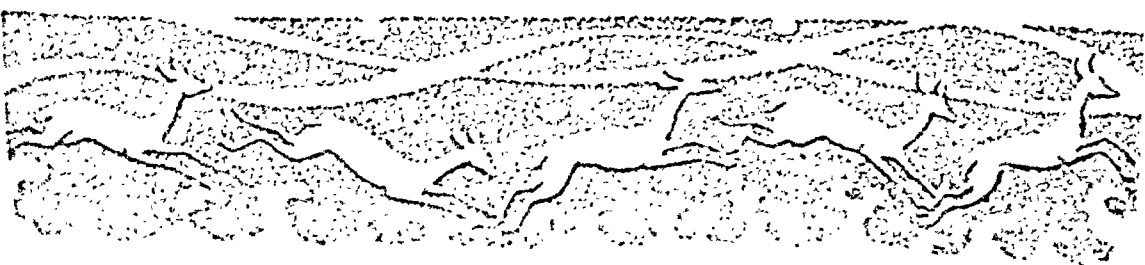
ब्राह्मीजी और सुन्दरीजी ने बाहुबलि को प्रतिबोध दिया कि साधु को अभिमान नहीं सुहाता और उनकी आत्मा का कल्याण करवाया। सती राजेमतीजी ने रथनेमि को कैसे प्रतिबोध दिया कि "तुम वमन किये हुए पदार्थ का स्वाद लेना चाहते हो ? तुम्हारे भाई नेमनाथ प्रभु ने मुझे छोड़ दिया (वमन किया) और तुम संयम-मार्ग में आगे जाने के बदले गुफा में विषय-वासना का ध्यान करते हो ! धिक्कार है तुम्हें....?" रथनेमि समझ गये और साध्वीजी से क्षमा याचना करके आत्म कल्याण किया। तीर्थंकर मल्लिनाथजी ने यह हाड माँस का शरीर कितनी दुर्गंध से भरा है — यह पुतली के द्वारा छः राजाओं को प्रतिबोध देकर निरर्थक युद्ध और हिंसा को रोका; मृगावतीजी ने चंडप्रद्योत को बोध कराया। ऐसी आदर्श सतियों का अनुकरण करके जो धर्म-मार्ग में आगे बढ़ना चाहे वे आत्म कल्याण के साथ पर कल्याण भी कर सकेंगे !"

व्याख्यान के उपरांत स्त्रियों में खलबली सी मच गई थी। सभी लाछाँदे को प्रश्नार्थ देख रही थी। पहला प्रश्न यह यह होता था कि क्या यह दीक्षा ले सकेगी ? दूसरा प्रश्न था कि यदि इसने पाल लिया तो लाँबिया धन्य हो जायेगा....!

महिमादे और विनयदे के साथ लाछाँदे ने आज सभी संतों को अत्यन्त भाव भरी वन्दना की। पूज्यश्री तक यह बात पहुँच चुकी थी। उन्होंने इतना ही कहा :—"पूरा विचार कर लो ! भाव तो बहुत ऊँचे हैं; किन्तु मार्ग कठिन है !"

"आपके प्रेरक भाव रहेंगे तो कठिन मार्ग भी सरल हो जायेगा !" लाछाँदे ने कहा। सभी वन्दना करके घर की ओर चलीं।

* * *

एक दिन समझाने-बुझाने में चला गया। रियाँ से भी लाछाँ के माँ-बाप भी आ गये थे। सभी ने उसे समझाया कि "लाछाँ, हठ न कर ! पुरुषों की और बात है — स्त्रियों की और बात है; फिर तुम्हारा यह वैराग्य भी आवेग और आवेश के कारण ही है न....?"

हैं ; फिर भी जीव आखिरी साँस तक धन जोड़ने में लगा रहता है और एक दिन उस धन को भी छोड़ के जाना पड़ता है। ज्ञानी कहते हैं कि उससे फायदा उठा लो। धन का एक ही रास्ता है, दान। जिनेश्वर भगवान ने दान को धर्म का पहला अंग कहा है और उसमें भी अभय - दान यानी जीव - रक्षा करना ; प्रतिपल सावधानी बरत कर दूसरों के जीवन को अभय देने को महत्त्वपूर्ण माना है।

धर्म का दूसरा अंग बताया है शील। व्रत का पालन करना बड़ा कठिन सा है। उसमें भी संसार के सुखों में आत्मा खो जाती है तो उसके लिये शील धर्म का आचार पालना बड़ा ही कठिन होता है। शील रक्षा के लिये तो अपने यहाँ कई - कई सती नारियों ने अपना जीवन अर्पण कर दिया है।

शील - संयम की आराधना तब तक नहीं होती जब तक तप नहीं किया जाय। संसार में सब से बड़ा तप तो आत्मा को विषय - वासना से हटाना है। तप का अर्थ स्थिर होकर दत्तचित्त से अपनी आत्मा पर लगे कर्म को हटाना है। इसीलिये बारह प्रकार के तपों को कर्म की निर्जरा करने का अचूक साधन माना है। प्रत्येक तप कोई न कोई कर्म अवश्य मिटा देता है। तप में इतनी प्रबलता होती है कि तप की उग्रता से भाव विशुद्ध होते हैं और जिससे अनेक जीव सिद्ध - बुद्ध - मुक्त हो गये हैं। इसीलिये तप को धर्म का तीसरा अंग कहा है।

धर्म का चौथा अंग है भाव। जीव जो कुछ करणी करता है उसके पहले वैसे भाव उसमें जगते हैं और पश्चात् ही वह द्रव्य कर्म के रूप में प्रगट होता है। माता मरुदेवी, भरत चक्रवर्ती, प्रसन्नजित महर्षि ऐसे अनेकों हो गये हैं जो भावों की उच्चता में पहुँच कर विशुद्ध होकर मुक्ति पहुँचे हैं।

जयमलजी ने तदनंतर पाँच महाव्रत, श्रावकाचार और अणगार धर्म पर दृष्टान्तों के साथ में पूर्ण प्रकाश डाला।

सभी उनका प्रवचन मंत्र मुग्ध होकर सुन रहे थे। लाँबिया निवासियों को आश्चर्य हो रहा था कि क्या यही वे जयमलजी हैं ? हो सकता था कि उन्होंने क्षणिक आवेश में वैराग्य

२०
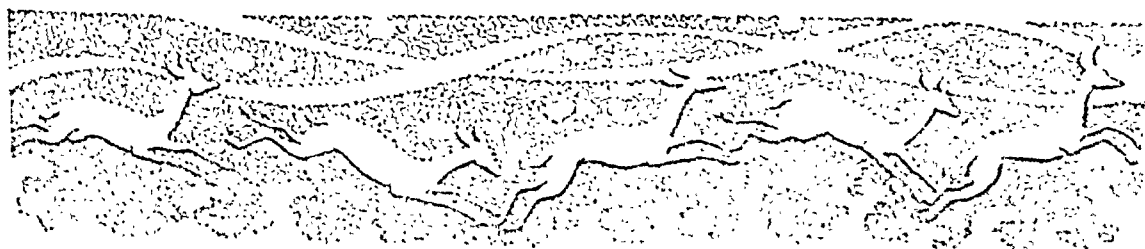
जय - सहधर्मिणी

इधर लाँबिया में महिमा देवी ने अन्दर आकर विनयदेवी से कहा :—"बड़ी बहू! तुमने सुना कि संत सभी भंवाल आ गये हैं और रिडमल के पिताजी संघवालों के साथ उनसे बिनति करने जा रहे हैं!"

विनयदेवी ने बड़े हर्ष से कहा :—"सच बाईजी!"

"हाँ!" महिमादे का वाक्य पूरा हुआ नहीं कि लाँछादे का कुमलाया वदन दिखाई दिया। एक वर्ष से उपर होने आया। उसके स्वामी दीक्षा लेकर आत्म कल्याण करने चल पड़े थे। घर में भी बहुत ही परिवर्तन हो चुके थे। जहाँ नवकार मंत्र का स्मरण मात्र होता था वहाँ सामायिक-प्रतिक्रमण, चौविहार सभी होता था। सभी आत्म कल्याण करने में लग गये थे; मगर लाछाँदे की स्थिति और थी। उसके नारी-मानस में रह-रहकर यह प्रश्न कौंध जाता था :—"स्वामी! कितना मुझे चाहते थे! अरे, जनम जनम तक साथ रहने का उन्होंने वचन दिया था; अभी मिलन के रंग हल्के भी नहीं पड़े थे और मुझे त्याग कर क्यों चल दिये? जाना था तो मुझे भी साथ ले जाना था; नहीं तो कम से कम मुझे समझाके तो जाना था — या मेरा कसूर क्या है? बताके तो जाना था!"

उसके अल्प समय के दाम्पत्य जीवन में उसने स्वामी को कभी स्वप्न में भी नाराज़ होते नहीं देखा था। उनका दिल कितना असीम प्यार का सागर सा था और वह प्यार का सागर उससे बिना कहे एकदम अलग हो गया। जीवन के रेगिस्तान के बीच उसे अकेली छोड़ कर उसके स्वामी क्यों चल दिये? उसने दमयन्ती की कहानी पढ़ी थी। नल राजा भी इसी तरह दमयन्ती को छोड़ कर गया था। वहाँ तो उसके पास कुछ बचा नहीं था; मगर यहाँ स्वामी को क्या कमी थी? घर में और ससुराल में सब उनका कितना आदर मान करते थे!

वे गौने के लिये (मुकलावा) आनेवाले थे तब उसके परिवारवालों ने क्या-क्या नहीं किया था। गहने, वस्त्र और उनको उपहार देने के लिये कितने पटारे तैयार

और ऐसे और भी अनेक गाँव से दम्पति ही नहीं, परिवारवाले भी धर्म-मार्ग प्रदान करने निकले तो लोक जीवन में धर्म की आराधना और प्रभावना बहुत ही बढ़ सकती है!"

अनेक व्रत पच्चक्खान के उपरांत जयजयकारों के नारों के साथ उत्सव समाप्त हुआ। बिखरते हुए लोगों के मुख पर एक ही बात थी :—"धन्य जयमलजी हैं! धन्य लक्ष्मीदेवी और धन्य महेताजी हैं कि उनके कुल में धर्म दीपानेवाले ऐसे नर-रत्न हुए.....!" लाँबिया में धर्म का अपूर्व वातावरण छा गया था।

* * *

लाँबिया में धर्म ध्यान का ठाठ ज़ोरों का रहा और धर्म प्रचार भी बहुत हुआ। जयमलजी के व्याख्यानों में आत्म उन्नति के उपर काफ़ी ज़ोर दिया जाता था। वे लोगों से एक बात हमेशा कहते :—"अपने आप से पूछो; अपनी आत्मा को टटोलो कि सत्य धर्म क्या है? आज धर्म का स्थान आडम्बर और पाखंडने ले लिया है। उसमें जिसका जो बाहरी ठाठ-माठ होता है उसके अनुसार लोग उसके पीछे दौड़ते हैं; किन्तु उनकी आत्मा का कल्याण तो उससे नहीं होता। अतः उनका हाल उस पतंग जैसे होता है जो ज्योति को रूप समझ उससे लिपटना चाहता हैं और अन्त में उसमें ही जलकर भस्म हो जाना चाहता है।

अन्य धर्मों की बात और है; किन्तु जो जैन-धर्म है उसमें भी हम देख रहे हैं कि लोगों को कई तरह से भरमाया जाता है। धर्म को आत्मा का विषय नहीं बनाकर आराम और परिग्रह का विषय बना दिया गया है। भोले-भाले लोगों को जीवन के भौतिक सुखों के सपने दिखा कर अपनी ओर खींचा जाता है और उन्हें डर यह रहता है कि कहीं सच्चे धर्म का प्रकाश उन्होंने देख लिया तो वे लोग बहक जायेंगे या उनकी मान्यता के बाहर चले जायेंगे; अतः उसे धर्म के नाम पर सोगन्द दिलाते हैं कि अमुक सम्प्रदाय को छोड़ कर जाने से पाप लगेगा।

इसका परिणाम और भी खराब होता जा रहा है कि लोग सच्ची श्रद्धा नहीं पाते और भौतिक पदार्थों की लालच में वे सभी जगह फिरते रहते हैं। लोग दोरा-धागा,
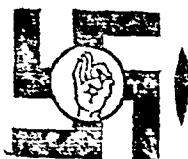
वहाँ से उसे आशा तो बन्धी कि उसे भी पति के पीछे दीक्षा लेने का अवसर तो मिल सकता है; मगर उसके लिये उसे तैयारी करनी पड़ेगी।

तैयारी कैसे होगी....? वह सोचती रहती।

खाना खाने जाती, उसे याद आता — वे घर - घर की कैसी - कैसी भिक्षा खाते होंगे? कभी याद आता — आज उन्हें उपवास होगा? वह खा नहीं पाती! कभी सोचती — आज उनको सूखा खाने का होगा? वह सूखी रोटी निगलने की कोशिश करती!

कभी सभी को धर्म ध्यान, सामायिक पोषे करते देखती — वह खुद भी कर लेती। पहले पहल तो उसे यह सभी शुष्क सा लगा। फिर विचारती कि स्वामी ने इसमें सार जान करके जीवन उसके लिये दे दिया है। मैं थोड़ा नहीं कर सकती? उसने सामायिक सीखी — प्रतिक्रमण भी सीखने लगी; मगर मन कहीं नहीं लगता था।

घर का वातावरण बिल्कुल बदल गया था। उसने अब अपनी बाईजी महिमादेवी और श्वसुर को पहले की तरह हँसके कभी बातचीत करते नहीं देखा था। भाभीजी विनयदेवी और जेठजी भी कितनी मर्यादा से उठते बैठते थे। वह मन में समझती थी कि यह सभी मुझे देखकर — मेरे कारण ही दुःखी होते हैं....!

उसने प्रसन्न रहने का प्रयत्न किया। अरे, कितनी - कितनी कोशिशें कीं; मगर तभी उसे स्वामी याद आ जाते और उसके दिल की गहराई से कोई उसे पूछने लग जाता :—" अरे पगली! जिसका स्वामी उसे छोड़ कर गया हो उसको यह प्रसन्नता क्यों? यह आनन्द क्या?

— और उसके प्रसन्न वदन पर म्लानता छा जाती। परिवारवाले समझते कि चलो, उसका मन प्रसन्नता में रमा है; मगर अगले क्षण उसका म्लान वदन निहार उनके दिल बैठ जाते!

बहुत से और दिन बीत गये। उसके स्वामी की बात उसके होते हुए कम निकलती थी; मगर उसके हृदय से उनकी छवि नहीं मिटी थी। उसे इसी तरह ज़िन्दगी बिता देने की थी।

—हे जीव, तू चेत! हे मनुष्य तू चेत कि मनुष्यभव प्राप्त करके भी तू उसे प्रमाद में मत गँवा दे। सत्य को पहचान और सच्चे भगवान से ध्यान लगा; जिससे यह भव और परभव दोनों सुधर जायेंगे।

कहा है :—

राच रहा मिथ्यामत मांही
ए रुले जीव चारुं गति मांही
भूलाने आणे ठामी
सुमरो श्री सीमंधर सामी!

—मिथ्यात्व यानी जड़-पदार्थों में फँसा जीव चार गति में रुलता (फिरता) रहा है। उसे अपने ठिकाने लाना है तो श्री सीमन्धरस्वामी अरिहंत प्रभु हैं, उनका स्मरण करो। श्री सिद्धप्रभु से लगन लगाओ।

रे जीव जिनवर सुमरिये
सुमरयां जयजयकार.........!
इण भव में सुख संपदा
पामे भवनो पार......!!

—हे जीव, तू जिनेश्वर भगवान का स्मरण कर जिससे तेरा जयजयकार होगा। संसार के भवसागर में सुख संपदा मिलेगी और उससे भी आगे जाकर भाव विशुद्ध किये तो तेरे भव का अंत आ जायेगा!"

* * *

लाँबिया से संतों का विहार मेड़ता हुआ। गत वर्ष यहीं पर पूज्यश्री का चातुर्मास था और लोग जयमलजी को नहीं भूले थे। इसमें भी उनकी संसार पक्ष की पत्नी लक्ष्मीदेवी की दीक्षा के कारण लोगों में विशेष उत्साह सा छा गया था।

महासती वालाँजी का विहार भी मेड़ता की ओर ही हुआ। साध्वीश्री लक्ष्मीदेवी के लिये हालाँकि ये जीवन-पथ नया सा था; फिर भी कभी कुछ मानसिक झुंझलाहट आ

सूरतराम ने जयमलजी को कहा :—" आप ने सचमुच ही जीवन का कल्याण कर लिया। हम तो संसार की उलझनों में ऐसे उलझते जाते हैं कि एक उलझन सुलझाते हैं तो चार और नई आ जाती हैं। हम समझते हैं कि सगे सम्बन्धी अपने काम आयेंगे; किन्तु सब अपना - अपना स्वार्थ साधने में और भी दुःख बढ़ाते हैं।

" तो संसार दुःखी मालूम होता है ? "

" हाँ बापजी ! "

" तो छोड़ो इसे ! उस समय भी कहा था, चले चलो; मगर नहीं चले और दुःख को रो रहे हो, अब भी चले चलो; सचमुच त्याग में जो सुख मिलता है — वह भोग में है ही कहाँ ? भोग तो कषायों को बढ़ाते हैं और आत्मा को नीचे गिराते हैं ! "

" सूरतराम ने कहा :—" बिल्कुल सत्य कहते हैं; किन्तु रेशम के कीड़े जैसा हमारा हाल है कि हमारी जंजाल में ही हम मरेंगे — मगर मोह से छूट न सकेंगे ! "

" देखो, प्रयत्न करो। शरीर स्वस्थ रहता है तभी तक धर्म ध्यान करने का अभ्यास हो जाये वही अच्छा है ! " जयमलजी ने कहा।

" आपकी संगति से कुछ असर आ जाये तो अच्छा है ! " सूरतराम भी वन्दना करके चला गया। रिडमल और मेहताजी पहले चले गये थे। बाहर गाँव से आये स्वधर्मी भाइयों की व्यवस्था सम्हालनी थी।

दिन निकल गया। लाँबिया के करीब - करीब सभी नर - नारी, आबाल - वृद्ध, सन्तों के दर्शन कर गये। जैन - अजैन में बहुत से जो जयमलजी को जानते थे; वे भी दर्शन करने और जयमलजी को मुनि वेश में देखने आ गये। सब गाँववाले उन्हें अपने गाँव के महाराज के नाम से बुलाने लगे।

— मगर लाँबिया में एक व्यक्ति ऐसी भी थी जो उनके दर्शन करने नहीं गई थी और वह थी लाछाँदे.....! उसके नारी सुलभ अभिमान के कारण वह यही सोचती बैठी रही

— उन महान सतियों का नाम स्मरण करके मन हर्षित होता है। उनके नामों का उल्लेख बड़े-बड़े ज्ञानी भी कर गये हैं। बहुत सी सतियाँ मुक्ति को पहुँची हैं; मगर उनमें चौसठ सतियों का नाम उल्लेखनीय है। उनके अलावा औरों के भी नाम हैं जिनकी कथायें ध्यान से सुनने जैसी हैं। तीर्थंकर प्रभु से शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने बहुत से भव्य जीवों को प्रतिबोधित किया। पहले तीर्थंकर ऋषभदेवजी के समय सती ब्राह्मीजी थीं जिन्होंने बाहुबलि को प्रतिबोध दिया और अन्तिम तीर्थंकर प्रभु महावीर के समय चन्दनबालाजी थीं जिन्होंने अनेक भव्य जीवों को धर्म प्रतिबोध दिया और मुक्ति का रास्ता बताया था और इस प्रकार जैन धर्म को दीपाया था।

अलग चौसठ सतियों पर विस्तार से उनके कथानकों से उन्होंने स्त्री-समाज को बराबर जागृत किया। उन्होंने कहा :—

इम सतियाँ रा गुण जाणी
वाचो सरधा उत्तम प्राणी
ऋषि जयमल कहे आंणो धर्म रती
समरूं मन हरषे मोटी सती...!

जयमलजी के प्रवचनों में मेड़ता के लोगों की भीड़ लगती थी। एक वर्ष में ही उन्होंने इतना अपना विकास साध लिया है ऐसा जान कर वे आश्चर्य चकित होते थे।

दूर साध्वी समुदाय के साथ साध्वीश्री लाछाँजी की ओर भी कई लोग संकेत करके कहते :—"जयमलजी स्वयं तो संयम मार्ग पर दृढ़ हुए; अपनी पत्नी को भी उस मार्ग पर दृढ़ किया है!"

साध्वीश्री लाछाँजी के मन में यह होता था कि "संसार पक्ष में ये मेरे स्वामी थे; अब यही मेरे सच्चे गुरु हैं! हम सबके विचरण करने के मार्ग भले ही अलग-अलग हैं; जब तक साथ हैं, उनके उपदेश का पूरा लाभ ले लूँ!"

दिन खा-खाकर खोया, रात सो-सोकर गँवाई और ज्ञान, ध्यान, दया विना का कलंदर ही बना रहा। ज्ञानी पुरुष तो सामायिक और नवकार को चवंदे पूर्व का सार रूप कह गये हैं परन्तु आज कई लोक ऐसी मान्यता रखते हैं कि केवल भाव शुद्ध रखो। सामायिक करने और नवकार स्मरण में क्या पड़ा है? किन्तु उनको सोचना चाहिये कि जिस समभाव से मस्तिष्क को पूर्ण आराम मिलता है और नवकार स्मरण —नम्र भाव से गुण ग्राहकता आती है; इनके बिना भाव शुद्धि कैसे रखी जा सकती है? ऐसे परम शोधक तत्त्वों को हटा कर उन्होंने अपना और पराया क्या हित किया है? संसार में सुख-क्षेम चाहते हो तो छः काय की (जीवों की) रक्षा करो।

मेड़ता से संत और सतियों के विहार के रस्ते अलग हो गये। सभी महासतियाँजी ने आकर पूज्यश्री आदि संतों को वन्दना की और पूज्यश्री ने उन्हें आत्म जागृति के साथ धर्म प्रचार करने का आदेश दिया। साध्वी लाछाँदेवी भी अपने गुरु, आचार्य, और वैराग्य-गुरु मुनिश्री जयमलजी के दर्शन करके धन्य हो गई थी। अब उनकी आत्मा में सच्ची धर्म-जागृति हो चुकी थी और उसकी झलक उनके व्यवहार में जयमलजी ने स्पष्ट देखी। उन्होंने इतना ही कहा:—"साध्वीश्री बालाँजी के साथ रहकर अपनी आत्म उन्नति करते रहो!"

"आप हमारे आत्म-उपकारी हैं। पुनः विहार करते-करते गुरु-ज्ञानी और पूज्य आचार्य के दर्शन होंगे ही। आप ने आत्मा के जिस सत्य स्वरूप सूर्य का दर्शन कराया है उसकी परम ज्योति देखकर अब जलते अंगारों में कौन प्रकाश ढूँढता फिरेगा? आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढ़ती रहूँ यही आत्म-भाव है।" साध्वीश्री लाछाँदेवी ने कहा और वन्दना करके वे वहाँ से रवाना हुईं।

सतियों को वहाँ से आसपास विहार कर पुनः मेड़ते ही चातुर्मास के लिये आना था और संतों को जालोर जाने का था। तदनुसार संतों का विहार इंदावड की ओर हुआ। यहाँ पर जैनों के कम घर थे। जो भी थे उनमें सच्चे धर्म का ज्ञान कम था। पूज्यश्री ने वहाँ पर रहकर सच्चे साधु मार्ग का उपदेश देकर लोगों में धर्म-भावना प्रगटाई।
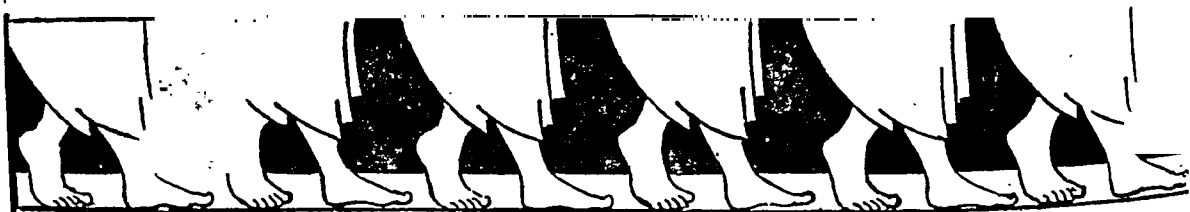
"देखो, प्रभु ! मैंने सभी गहने उतार दिये हैं ; सौभाग्य के ये चिह्न भी उतारती हूँ — यह केश तो मैंने मुंडा दिये हैं ! देखिये, अब तो मुझे योग्य समझते हैं न....? मुझे साथ ले चलेंगे न....?"

"अवश्य देवी ! उठो और देखो, तुम्हारे आगे धर्म का साम्राज्य फैला हुआ है ; उठो और आगे बढ़ो....!"

वह उठ कर खड़ी हो गई। अनन्त प्रकाश से व्याप्त दिशायें उसमें नई चेतना भर रही थीं और आनन्द से उसका दिल भर गया। उसने पीछे मुड़ कर देखा ; वे जा रहे हैं, अनोखी दिव्य मुस्कान से उसके जीवन में प्रसन्नता भरकर....!

स्वप्न टूट गया....! तन्द्रा हट गई और लाछाँदे ने देखा कि प्रातःकाल का प्रकाश खंड को प्रकाशित कर रहा है। वह उस स्वप्न पर ही विचार करती रही। उसने अपने वस्त्र सम्हाले और वह कमरे से बाहर आई। घर में कोई नहीं था ; सभी दर्शन करने चले गये। वह शायद सो रही होगी ; अतः किसी ने कष्ट देने का नहीं विचारा होगा। अन्यमनस्क होकर वह घर कार्य में मन लगाने लगी ; मगर बार - बार उसके आँख के आगे वह स्वप्न की बातें आकर खड़ी हो जाती ! वह स्थिर नहीं कर पा रही थी कि वह क्या करे....?

उसने रसोई में जो कुछ करना था किया। शायद अब बाईजी और भाभीजी आ जायें तो दर्शन करने जाना पड़ेगा। वह वस्त्र बदलने लगी और केश गूँथने लगी। दर्पण में देखा कि केश का जूडा बराबर लगा है। कितने दिनों के बाद आज बड़ी लगन से वह केश संवारने और वस्त्र ढँग से पहन रही थी।

अचानक उसकी नज़र दूर गली के कोने पर पड़ी देखा — जयमलजी पात्र लिये चले आ रहे थे। क्षण भर को उसे विचार आया कि घर पर कोई नहीं होगा, चले तो नहीं जायेंगे....?

वह शीघ्र ही नीचे उतर कर आई। उस समय तक महिमादेवी और विनयदेवी आ चुके थे। उसे कुछ हर्ष और कुछ घबराहट में देख कर पूछा :—"लाछाँ ! क्या बात है ?"

इंद्रावड से गगराणा और वहाँ से वरलु आदि - आदि गाँवों में पूज्यश्री धर्म का प्रचार करते - करते खवासपुरा गाँव में पहुँच गये। यहाँ धर्म की स्थिति बड़ी विचित्र थी। लोग अन्ध श्रद्धा में न जाने किन - किन देवों को और पीरों को मानते थे? इतना ही नहीं, धर्म के नाम पर मंदिरों में और उपाश्रयों (मंदिर से लगे हुए) में कुछ संत और ठेकेदार लोग जैन धर्म के नाम पर लोगों को उलटे ही रस्ते पर ले जाते थे। मंदिर और प्रतिमा के साथ - साथ वे अपनी महत्ता भी बढ़ाते थे। भोले - भोले लोगों को यहाँ तक बहकाया जाता था कि "प्रतिमा के पास जाने से तेले का फल मिलता है; इतने मन घी की आरती उतरवाने से अमुक स्वर्ग का सुख निश्चित है!" लोग भी उनके पीछे अन्ध श्रद्धा में भान भूल रहे थे।

आचार्य भूधरजी से यह बात छिपी न थी। उनमें भी इन गाँवों में यति,

"आपके पास धर्म प्रवचन सुनकर उसकी आत्मा धर्म करने में लगेगी!"

"उसी में कल्याण है!" जयमलजी ने पात्रों को झोली में लिया और अभय - मुद्रा में हाथ ऊँचा करके कहा :—"धर्म ध्यान करो....!"

"मंगलिक सुना दीजिये....!"

जयमलजी मंगलिक सुना कर बाहर पधारे। तीनों नारियाँ द्वार तक गईं। पुनः एक बार सभी ने वन्दन किया। लाछाँ ने देखा, उनकी दृष्टि में सभी के प्रति आत्म - भाव की करुण - धारा वह रही थी।

वह मन ही मन सोचने लगी :—"सचमुच स्वामी कितने बदल गये हैं! कितने महान हो गये हैं! अब तो उनका साथ निभाने मुझे अपने को बहुत कुछ बदलना पड़ेगा! हाँ....! वे क्या कह रहे थे? धर्म करना पड़ेगा; दर्शन, प्रवचन और वन्दन कालाभ लेना पड़ेगा....!"

बात - बात में उसे मालूम हो गया था कि प्रातःकाल बाईजी और भाभीजी दोनों उसे उठाने आई थीं; किन्तु उसे बहुत ही गहरी निद्रा में सोई देख कर वे उसे सोती छोड़ कर प्रातः दर्शन करने चली गई थीं।

"मगर मेरा स्वप्न तो सत्य हुआ....!" लाछाँदे ने अपने सपने की बात कही। विनयदे उसका वदन देखती रही। क्या, यह भी दीक्षा लेगी....? उससे उस कठोर व्रत का पालन होगा? एक प्रश्न विनयदे के मन में उठा।

"संयम पालना सरल तो नहीं है!"

"उन्होंने भी पहले कब संयम लिया था? उनको अपने गुरु से प्रेरणा मिली; मुझे भी अपने नाथ से प्रेरणा मिली है!"

"ठीक है, पहले व्रत - नियम तो पालन कर!" विनयदे ने बात टालते हुए कहा।

* * *

था और साथ ही पोतियाबन्ध जमात का भी बड़ा अड्डा था। इन्हीं संतों के इधर विचरण करने से इनका प्रभाव नगण्य सा था; फिर भी कई जगह उनका ही ज़ोर था। इतना ही नहीं, लोग उनके डर से साधु-मार्ग के संतों की दर्शन-वन्दना करना तो दूर रहा गोचरी भी नहीं वहराते थे।

साधु-मार्ग के संतों के लिये वैसे मन्दिर मार्गीय भी एक विरोधी दल के रूप में रहते थे; मगर उनमें जहाँ-जहाँ ज्ञान-मार्ग प्रशस्त होता था वहाँ पर वे लोग भी यति वर्ग की ओर पोतिया-वन्धों की गुटबन्दी का विरोध करते थे और धर्म के नाम पाखंड के विरुद्ध इस आवाज़ को दवाने की भी यथेष्ट चेष्टा करते थे। जहाँ तक इस नई चेतना का प्रश्न था उनमें से भी बहुत से इस आडम्बर को पसन्द नहीं करते थे।

जव यवन आक्रमण प्रारम्भ हो गये तव से साधु-मार्ग की परिव्राजक वृत्ति भय और डर के कारण वन्ध हो गई और नगर में ब्राह्मणवाद का स्पर्श इनको भी लग गया। जैन मन्दिर भी बनने लगे और धीरे-धीरे साधुवाद के कई अंग शिथिल होते गये। भिक्षाचरी भी नाम-मात्र की रह गई और हिन्दू महंतशाही की तरह साधु-वर्ग में भी एक वर्ग सिद्धसेन दिवाकर की तरह पालखी, सिंहासन, छत्र-चंवर आदि में मानने लग गया था। सिद्धसेन दिवाकर को तो श्री वृद्धवादी आचार्यजी ने गुरु के नाते सत्य-मार्ग वताया था; किन्तु शिथिलाचार में फँसे स्वयं इन गुरुजनों को कौन से पंथक मुनि जैसे शिष्य समझाये....?

वि० सं० १०८० में ऐसे एक विचक्षण वुद्धि के प्रखर आचार्यश्री जिनेश्वर सूरिजी ने इनको वाद-विवाद के लिये ललकारा और गुजरात के राजा दुर्लभराय के यहाँ पाटन में साधुओं के नाम से चैत्यवास करनेवाले और मन्दिर के देव द्रव्य आदि का उपयोग करनेवाले इन साधुओं के साथ श्री जिनेश्वर सूरिजी का वाद-विवाद हुआ।

हालाँकि इस शिथिलाचार की जड़ें बहुत गहरी थीं। दो-तीन शताव्दी बीत चुकी थी और जो ज्ञानी संत थे वे अन्दर समझते थे कि यह धर्म विरुद्ध हो रहा है; किन्तु उनके खिलाफ आवाज़ उठाने की शक्ति किसी ने नहीं दिखाई।
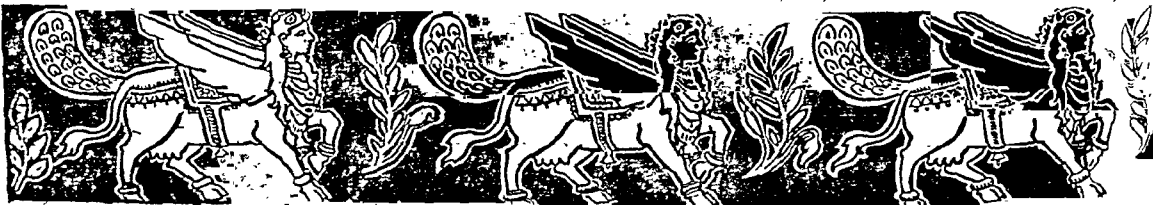
करते हैं और अत्याचारी के प्रति घृणा उनके हृदय में जन्मती है। यह सभी कारण सती के शील की रक्षा में सहायक होते हैं। द्रौपदीजी ने सभी सती स्त्रियों के लिये कितना श्रेष्ठ शील रक्षा धर्म बताया है!"

लाछाँ को कभी-कभी लगता था कि जो कुछ व्याख्यान में या चौपाई में स्त्रियों के संयम आदि के सम्बन्ध में जयमलजी फरमाते थे वह सब कुछ उसे उद्देश्य करके ही कहा जा रहा है; हालाँकि जयमलजी सार्वजनिक रूप से कहते थे — फिर भी लाछाँ को लग रहा था जैसे वे कहते हों :—"लाछाँ! तुम भी संयम मार्ग में अग्रसर हो!"

उसने भी व्रत, तप शुरू कर दिये। सुनती आज जयमलजी को उपवास है — वह भी उपवास करती; आयंबिल है तो आयंबिल करती। महिमादे से रहा नहीं गया और उसने कहा :—"लाछाँ तूने यह क्या करना शुरू किया है?"

"पति का अनुकरण करना पत्नी का धर्म है; मैं उनका अनुकरण करती हूँ!" लाछाँ प्रसन्न होकर जवाब देती।

मगर घर में सभी को उसका यह रुख अच्छा नहीं लगा और एक दिन विनयदे ने लाछाँ के साथ व्याख्यान के उपरांत शिकायत के स्वर में जयमलजी से कहा :—"बापजी! इसे समझाइये....!"

"क्या धर्म को अभी तक नहीं समझा? प्रवचनों का कुछ असर नहीं हुआ....?"

"असर तो ऐसा पड़ा है कि बस, आपको उपवास तो इसे भी उपवास; आपको आयंबिल तो इसे भी आयंबिल! इस हठ धर्मीपने से धर्म होता है? इसकी काया इसके लायक है क्या? कहती है, पत्नी का धर्म पति का अनुकरण करने में है; वह उसकी सहधर्मिणी होती है!"

"धर्म के भाव हैं तो उसे करने दो; जितना समझके किया जाय उतना ही अच्छा है!"

"हाँ, सभी अच्छा ही है न....?" विनयदे ने कुछ रोष से कहा। पूज्यश्री अपनी तीक्ष्ण-दृष्टि से देख रहे थे। वे बोले :—"संसार का सहधर्म तन का होता है; किन्तु संयम मार्ग ले लेने के बाद हम साधु तो यही

बाद सूत्र खोले गये तो उनकी सारी क्रियायें साधु - धर्म के विरुद्ध ही पाई गईं। उनको चैत्यों से भागना पड़ा; सच्चा साधुत्व अपनाये तभी उनका अस्तित्व रह सकता था। मगर शिथिलाचार के आदी उन लोगों से कहाँ कठोर संयम मार्ग का पालन होता?

उन्होंने राजा से प्रार्थना की कि :—"कैसे भी हम आपकी प्रजा हैं; हम बाहर जायेंगे तो हमारा निर्वाह भी नहीं हो सकेगा?"

राजा ने जिनेश्वर सूरिजी से पूछा :—"क्या किया जाय....?"

जिनेश्वर सूरिजी ने कहा :—"इनका ये साधु वेश नहीं रहे और गृहस्थ रूप में रहना चाहें तो गृहस्थ की तरह "पोतिया" * बाँध कर रहे!"

उन्होंने वह स्वीकृत किया। वे मंदिरों में रहने शुरू हुए और उनकी जमात "पोतिया बँध" कहलाने लगी। आगे चलकर शिथिलाचारी साधु इनको आश्रय देकर इनकी आड में मंदिरों में वही पाखंड चलाने लगे जिनके विरुद्ध आचार्य जिनेश्वर सूरि ने आवाज़ उठाई थी।

मगर शिथिलाचार को छुपाने के लिये और अपनी महत्ता बनाये रखने के लिये इन "पोतिया बँध" साधुओं (?) ने एक नई परम्परा शुरू कर दी। उन्होंने धर्म - शास्त्र की "पोथी" लिखनी शुरू की और साथ ही पूजा - पाठ देव द्रव्य व्यवस्था आदि में अपनी उपयोगिता दिखानी शुरू की। उन्होंने गृहस्थ की वेश - भूषा पहनी थीं। इसलिये वे "पोतिया बँध" थे — इसके बदले वे पोथियाँ लिखते हैं कहके "पोथियाँ बँध" से उन्होंने अपने नाम का परिचय देना शुरू किया।

इसका भी विरोध स्वयं मंदिर मार्गी आचार्यों ने आगे चलकर किया। जिनवल्लभ सूरिजी ने अभ्यास काल में अध्ययन से जाहिर किया कि चैत्यवास साधु अवस्था के विरुद्ध हैं। उन्होंने पुनः अभयदेव सूरि (मल्ली) से दीक्षा ली....!

मगर शिथिलाचार और संयम में ढीलेपन के दोष साधु समाज में बढ़ते गये और उन लोगों ने इन पोतिया बँधों को बढ़ने दिया। हालाँकि इन्होंने धर्म - दर्शन, शास्त्र - टीका,

---

* पोतिया (पोत) :— पाटण - गुजरात में यह शब्द एक लांब की धोती के लिये प्रचलित हैं; मारवाड़ में सर पे बाँधने के कपड़े को पोत (लंबा कपड़ा) कहते हैं।

व्याख्यान का रस सभी ले रहे थे। इतने में स्त्री समुदाय में लाछाँ दे खड़ी हो गई। जयमलजी ने विचारा कि कुछ उपवास आदि व्रत लेने होंगे। उन्होंने कहा :—"क्या धारणा है....?"

"मुझे भी द्रौपदी की तरह दीक्षा दिला दें — यही धारणा है!"

"धारणा पक्की है?" जयमलजी ने निर्मल मुस्कान के साथ पूछा।

"धारणा तो एक वर्ष से चल रही थी; आज वह पक्की हुई है। पाँच पाँडव तो दीक्षा लेकर चले तो सती द्रौपदी को उन्होंने पूछा और द्रौपदी ने भी संयम लिया; मगर आप तो मुझसे विना पूछे ही चल दिये। मुझसे पूछते तो मैं भी कहती कि आपके साथ चलूँगी। आपकी स्वीकृति बाकी थी; आज ना नहीं कहियेगा....!" लाछाँदे ने कहा।

कुछ लाछाँदे की हिम्मत से, कुछ उसकी ढीठता से तो कुछ अचानक यह प्रसंग आ जाने से सभी लोग आश्चर्य से चुप और स्तब्ध हो गये। सभी की आँखें जयमलजी की ओर लगी थीं कि वे क्या कहते हैं?"

"साधु तो और क्या कह सकते हैं? मन पक्का है तो कोई रोकनेवाला नहीं है। संयम मार्ग में दृढ़ होकर आत्म कल्याण जो साधना चाहे उसमें साधु जन की सदैव सम्मति ही रहेगी!" जयमलजी बोले।

"बस, आपकी सम्मति की देर थी! मेरा तो मन पहले ही पक्का था; द्रौपदी का चरित्र सुनकर और भी पक्का हो गया है!" लाछाँदे बोल कर बैठ गई।

लोगों में कोलाहल शुरू हो उसके पहले ही जयमलजी ने मधुर कण्ठ से ढाल पढ़नी शुरू की और विवेचन करते हुए कहा :—"इस प्रकार द्रौपदी सती ने पति के पीछे संयम लेकर आत्म कल्याण किया; सतियों के जीवन से यही शिक्षा मिलती है। उन्होंने न केवल अपने पतियों के जीवन में साथ दिया; किन्तु अपने आदर्श त्याग से और अंत में आत्म साधना करके भी स्त्रियों के लिये आदर्श उपस्थित किया है। भगवान ऋषभदेव के समय से देखा जा रहा है कि पुरुषों को भी प्रबोध करने में उनका बड़ा हाथ है।

उनको खड़ा देख कर व्याख्यान का विषय बदल गया और कहा गया :— "आओ, यहाँ पर तो सभी आ सकते हैं। चुपके से महावीर स्वामी का नाम लेकर कठोर संयम पालने की बात करते हैं; मगर होता कहाँ है? नहीं पल सकेगा और पालने से फायदा भी क्या? निर्वाण तो हो भी नहीं सकता? यहाँ पर तो जो चल सकता है और पल सकता है — वही होता है। आना चाहो तो तुम भी आओ....!" ऐसा कहकर एक पोतिया बँध ज़ोर से हँसने लगा।

मुनिश्री जयमलजी को लगा कि यह उपहास अब साधु - मार्ग के नाम हो रहा है; अतः बड़ी निर्भीकता के साथ वे गली के अन्दर आये और उपाश्रय में प्रवेश किया। उन्होंने जाकर सीधा प्रश्न किया :—"संयम - मार्ग का आचरण कर नहीं सकते तो उसकी अवहेलना करके कर्म क्यों बाँधते हो?"

व्याख्याता पोतिया बँध ने कहा :—"जो हो नहीं सकता उसका ढोंग क्यों करना? वह चतुर्थ आरा था; वीरप्रभु थे और मुनिपना पाला जा सकता था। अब तो पंचम आरा है, चौदह पूर्व नष्ट हुए हैं, केवल ज्ञान नष्ट हुआ है; फिर मुनिपना कैसे भगवान महावीर फरमा सकते हैं?"

मुनिश्री जयमलजी ने शांति से कहा :—"मुनिपना तो इस आरे में भी है और भगवान महावीर के शासन काल में २१००० वर्ष तक चलता रहेगा। यह अवश्य है कि २००० वर्ष तक प्रभु ने बताया वैसे धर्म आराधना में पाखंड आनेवाला था सो आ गया; किन्तु पुनः सत्य साधु-मार्ग प्रशस्त होगा ऐसा उनका विधान सत्य हुआ है और हम उसी मार्ग पर चल रहे हैं!"

"चुपके से बातें बनाने से क्या होता है? हम तो रोज़ शास्त्र पढ़ते हैं; व्याख्यान देते हैं। हमने तो किसी सूत्र में नहीं पढ़ा। तुमने कोई नया सूत्र रचा हो तो अलग बात है?" व्याख्याता ने व्यंग से कहा।

सभी हँस पड़े।

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"यदि ऐसा सूत्र विधान हम बता दें तो....!"
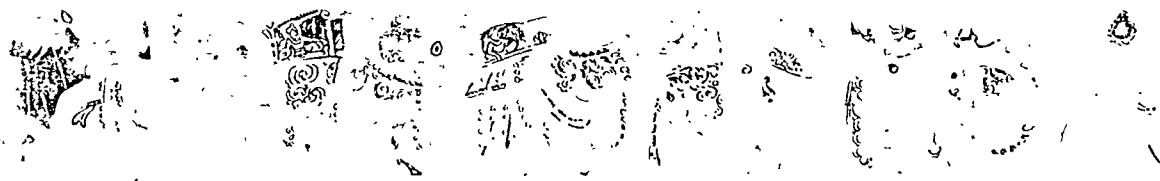
लाछाँ ने कहा :—"पहले तो आवेश भी था, आवेग भी था; किन्तु द्रौपदी का चरित्र सुना कर स्वामीजी ने मुझे अपना कर्तव्य मार्ग और धर्म मार्ग बता दिया है और मैं पूरी सूझ-बूझ और समझ के साथ दीक्षा लेने तैयार हुई हूँ!"

महिमादे ने कहा :—"जयमलजी का तो मन में सन्ताप है और तू भी दीक्षा लेगी तो हमें कितना दुःख होगा?"

"बाईजी, आप तो धर्म को जानती है, समझती है। उनकी दीक्षा एक आत्म गौरव है और मैं भी उस गौरव मार्ग का अनुकरण कर रही हूँ। मेरे यहाँ रहने से न आप लोगों को सुख, शांति है और न मुझे भी यहाँ चैन है। आज कितने दिन बीत गये? जब से मैं आई हूँ आप सब का जीवन कैसा नीरस हो गया है? मुझे भी कुछ नहीं सूझता था; मगर स्वामी ने मुझे अपना आत्म कल्याण का रस्ता बता दिया है!"

उसके माता-पिता एवं रियाँवाले कुछ सम्बन्धियों ने कुछ समझाने का प्रयत्न किया तो लाछाँदे ने एक बात में उन्हें निरुत्तर कर दिया :—"आपने तो मुझे कह दिया था कि मेरा स्थान अब लाँबिया में है; फिर आपको बोलने का हक ही कहाँ है?"

लाँबिया में रिडमलजी आदि ने दो शब्द कहे तो लाछाँ ने बड़ी विनम्रता से कहा :—"मेरे पर जिनका आधा हक्क था या मैं जिनकी अर्धांगिनी कहलाती थी, वे मुझे छोड़ कर चले गये; फिर मुझ पर किसी का हक्क नहीं रहता है और उन्होंने पुनः यह भी स्पष्ट कहा है कि मै संयम लूँ ऐसे उनके साधु भाव हैं, फिर मुझे क्यों रुकना चाहिये?"

विनयदे ने कहा :—"फिर लाछाँ! हमारा सम्बन्ध तोड़के जाओगी....?"

लाछाँदे ने कहा :—"सम्बन्ध कहाँ टूटेगा? जब तक संयम रहेगा इस घर की थी ऐसा लोक कहेंगे और यह सम्बन्ध कायम रहेगा ही। दर असल तो मुझे जिस दिन उन्होंने संयम लिया उसी दिन संयम ले लेना था; मगर थोड़े ऐसे खोटे कर्म भी बाँधे होंगे कि खुद भी परेशान होती रही और आप सभी को दुःखी कर डाला। अब भी कुछ कर्म ऐसे हैं जिसके कारण मैं संयम लेना चाहती हूँ; वहाँ भी आपको कष्ट पहुँचा रही हूँ। आपको
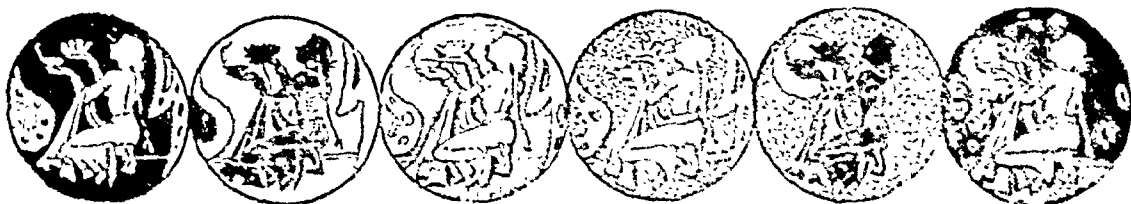
को भी रहस्य नहीं बताते — क्योंकि फिर कोई ज्ञानी आपकी क्रिया शिथिलता बतावे तो आपकी सुख साहबी कैसे चल सके ?"

"जा, जा....! निकल जा यहाँ से! अरे, देखते क्या हो ? इस नालायक को निकाल दो....!" पोतिया बँध गुस्से में उठ कर कहने लगा।

तब संघपति ने उठ कर पोतिया बँध से कहा :—"महाराज! आप या तो प्रमाण दीजिये कि इनकी बात असत्य है; नही तो आप हार चुके हैं!"

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"और तो और परंतु साधु अथवा गृहस्थ दोनों में से आप कौन हैं ? यदि अपने आप को साधु कहते हो तो यह गृहस्थी का वेश नहीं सुहाता ? परिग्रह रखना आपको नहीं कल्पता और यह गुस्सा भी नहीं अच्छा लगता। साधु पाँच समिति का पालन करते हैं; आप एक भी समिति नहीं पालते! भाषा ठीक नहीं है; आहार बना-बनाया लेते हैं — जाते-आते सवारी के ठाठ में इर्या समिति कहाँ रहती है ? यदि कहते हो कि गृहस्थ हो तो फिर साधु का स्वाँग रचाने का क्या अर्थ है....?"

पोतिया बँध चुप हो गया।

मुनिश्री जयमलजी बोले :—"आप ने पोथियाँ तो बँध कर दी हैं; अब पोतिया बध करके साधु स्वाँग रचाना छोड़ दें!"

"अरे, रे....! गन्दे और मलीन वस्त्र पहन कर यह हम से चर्चा कर रहा है; क्या, साधु का यह सच्चा वेश है ?" उसने कहा।

"क्यों ? साधु को क्या स्नान और वस्त्र की धुलाई कल्पते हैं ? हमारे वेश में क्या अखरता है ?" मुनिश्री जयमलजी ने पूछा।

"यह मुँह को क्यों बाँध रखा है ?"

"यह मुँह बाँधना नहीं है; मुखवस्त्रिका है। आप भी तो कपड़ा बाँधते ही हैं न ?"

उसकी रूप छवि और भी निखर पड़ी थी। उसको पालखी में बिठा कर मंगल वाद्यों के स्वरों और जयजयकार के नारों के बीच दीक्षा स्थान पर लाया गया।

आचार्यश्री भूधरजी अपने शिष्य जयमलजी, नारायणजी, रघुनाथजी, जेतसीजी के साथ पाट पर शोभायमान हो रहे थे। थोड़ी दूर दूसरी ओर नीचे साध्वी श्री बालाजी आदि महासतियाँ विराजमान थीं।

वैरागिनी लाछाँदे ने सभी संतों को और महासतियों को भाव भरी वन्दना की। आचार्यश्री ने सभी कुटुम्बी जनों की सम्मति से उसे दीक्षा दी। दीक्षा - क्रम करीब एक प्रहर चलता रहा और आचार्यश्री ने लाछाँदे को दीक्षा देकर साध्वी लक्ष्मीदेवी महासती के रूप में साध्वी बालाजी को सौंप दी।

आचार्यश्री ने संक्षिप्त में कहा :—"यह लाँबिया का सौभाग्य है कि यहाँ पर यह पहली जैन भगवती दीक्षा हो रही है और वह भी साध्वी लक्ष्मी की। संयम मार्ग में सभी बढ़ सकते हैं; किन्तु स्त्रियों के लिये अपनी शील की रक्षा करते हुए इस संयम मार्ग पर चलना संतों से दुष्कर है। लक्ष्मीदेवी ने बहुत ही सोच - विचार कर इस मार्ग पर कदम बढ़ाया है और दृढ़ता से इस मार्ग पर विचरण कर अपने आत्म कल्याण के साथ विशेषतः नारी समाज और सामान्यतः सभी भव्य आत्माओं का कल्याण साधने में सफल हों यही मनोकामना है। वैसे दम्पति दीक्षा लें ऐसा हमारे सामने यह दूसरा दृष्टांत है। पहला सोजत में, जहाँ रघुनाथजी के संसार पक्ष की वाग्दत्ता साध्वी रत्नकुंवरजी ने दीक्षा ली और अब लाँबिया में जयमलजी की संसार पक्ष की पत्नी लक्ष्मीदेवी ने भी इस दीक्षा को ग्रहण किया है। तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने चार तीर्थ में दो तीर्थ के रूप में नारी समाज को स्थान दिया है। साध्वी एवं श्राविका जो कि धर्म के संयम मार्ग में स्थिर हैं उनको तीर्थ यानी जिनके आधार से संसार सागर तिरा जाय ऐसा मानते हैं — तो जब कोई दीक्षा होती है तो हमारा आत्म भाव यही रहता है कि सच्चे साधुत्व को अपना कर, अपने जीवन को दीपावें और साथ ही शासन की अभिवृद्धि करते रहें। लाँबिया सौभाग्यशाली है

यानी ज्ञान प्राप्त कर आत्म तत्त्व की पहचान कर आत्म तत्त्व की उपासना करनी चाहिये। उसके स्थान पर कल्प-सूत्र का, भगवती-सूत्र का, अंग-सूत्रों की पोथियों का वरघोड़ा (जलूस) निकालना ज्ञान-आराधना नहीं, ज्ञान की विराधना है!" मुनिश्री जयमल्जी बोले।

संघपति ने पोतिया बँध को पूछा :—"इनकी चर्चा का कोई उत्तर हो तो दीजिये—नहीं तो हम इनके शिष्य हो जायेंगे!"

उसके पास कोई उत्तर हो तो वह दे न....?

मुनिश्री जयमल्जी ने कहा :—"चैत्यवासी तो बन गये; अब भगवान के ज्ञान के नाम पर भी पाखंड फैलाते हैं और लोगों के लिये "ये ग्रन्थ पूज्य हैं, छूने से भी अशातना होती है!" कह कर आप ज्ञान का सत्य प्रकाश रोक कर मिथ्यात्व फैलाते हैं। आत्मा की अनन्त शक्ति स्वरूप ज्ञान को अपनी पोथी में बँध कर, उसे निम्न: प्रकार का लौकिक देवत्व प्रदान करके सम्पूर्ण केवल ज्ञान मय परम स्वरूप की आप अवहेलना कर रहे हैं!"

संघपति ने पूछा :—"मुनिश्री जयमल्जी कहते हैं वह सत्य है....?"

पोतिया बँधों से उत्तर न मिलने पर संघपति ने उनसे कहा :—"आज से आप हमारे गुरु नहीं; हमारे संघ के पूज्य नहीं हैं। आपको आहार आदि का प्रबन्ध जब तक आप अपना प्रबन्ध न कर लें तब तक हम श्रद्धा-भाव से नहीं, किन्तु दया-भाव से करेंगे; तब तक आप अन्यत्र अपना प्रबन्ध करें। मुनिश्री जयमल्जी सच कहते हैं; न तो आप साधु हैं और नहीं श्रावक। केवल ज्ञान की अशातना के नाम पर, हमारी आँखों पर पट्टी बँधवा कर आप बहुत समय से पाखंड लीला चला चुके; वही बस है। अब हमें सच्चे धर्म का प्रकाश हुआ है!"

संघपति ने मुनिश्री जयमल्जी की ओर वन्दना करके कहा :—"महाराजश्री! आपने हमारा अज्ञान और मिथ्यात्व दोनों हटा दिये हैं। हम आपके शिष्य होना चाहते हैं!"

मुनिश्री जयमल्जी ने विनीत भाव से कहा :—"मैं भी अपने गुरुदेव का शिष्य हूँ! आप भी उन आचार्य गुरुदेव श्री भूधरजी के शिष्य बनें और सच्चे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य युक्त धर्म की आराधना करें!"

मन्त्र - तन्त्र करवाने दौड़ते हैं। वहाँ वे सफल नहीं होते तो भैरव - भोमिये और न जाने कहाँ - कहाँ भटकते हैं? वहाँ से भी फल नहीं मिला तो मातायें और देवियों के स्थानों में घूमते रहते हैं और तो और फिर वे पीर, फकीर, सांई के यहाँ भी जाते रहते हैं।

सब से विचित्र बात तो यही है कि ये मुसल्मान लोग मूर्ति को नहीं मानते और यवन देश में मूर्ति - पूजा के कारण जितना अत्याचार होता था उसको मिटाने के लिये महमंद पयगंबर ने कदम उठाया और यहाँ पर जितने भी यवन - आक्रामक आये उन्होंने गाँव - गाँव में जाकर मंदिर, मूर्ति दोनों का नाश किया।

मगर स्वार्थ और परिग्रह की माया ऐसी गजब की होती है कि जब उनमें से कुछ लोगों ने देखा कि यहाँ पर वहम, अंध - श्रद्धा बहुत है तो उन्होंने भी पीर, फकीर की कब्रों के मज़ारों के नाम पैसा बटोरना शुरू कर दिया। उन्होंने धर्म को रोज़ी का साधन बना लिया।

एक बार तो कोई उनसे पूछे कि जब भगवान के नाम पर ये पत्थर और कब्रें सभी को लाभ पहुँचाती है और आप सभी को लाभ, भगवान के नाम पर पहुँचाने का दावा करते हैं तो फिर आप खुद ही अपने लिये क्यों उन पत्थरों में और कब्रों से नहीं माँग लेते? वहाँ प्रसाद, चढ़ावा, भेंट, बक्षिसें लेकर घर चलाने की क्या ज़रूरत है?

यहीं पर सच्चे धर्मात्मा को विवेक बरतने की आवश्यकता है। धर्म आत्म कल्याण के लिये करना है तो फिर सांसारिक सुखों के पीछे उसे क्यों दौड़ना चाहिये? और यही सच्चा धर्म होता तो और सचमुच ही वे पीर, फकीर, देवी, देव दयावान और समानभाव रखनेवाले होते तो उनकी मान्यता करनेवाले सब क्यों सुखी नहीं हो जाते? मगर हम वैसा होते नहीं देखते? कई बार तो विपरीत हाल भी देखते हैं कि उल्टे उन पर श्रद्धावान लोगों का जीवन बर्बाद हो जाता है!

इसीलिये कहा है :—

जीवा चेतो रे मनुष्य जन्मारो पाय
परमाद में पडजो मती......!　　　जीवा चेतो रे...
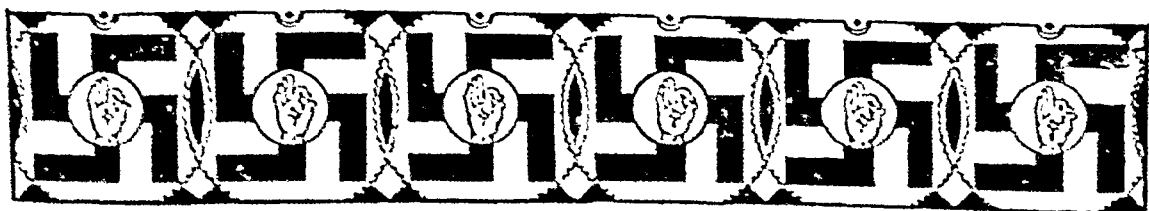
के आधार से पूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप परमात्म स्वरूप को प्रगटाया जा सकता है और यही उसकी सार्थकता है। इसलिये यह स्वस्थ रहे, तप आदि से कसा रहे यहाँ तक तो इसकी देख-भाल ठीक कही जा सकती है; किन्तु फिर उस में कुछ उपकारी भावना का आरोपण कर उसका लेपन-पूजन और नाना प्रकार के भोगोपभोग से उसकी आराधना करने पर हम साधन को ही साध्य बना देते हैं और यहीं से जड़-साधना प्रारंभ होती है और आत्मा का जो लक्ष्य रहता है, वह चूक जाता है।

इस जड़-साधना का जो परिणाम आना चाहिये वही हम सभी जगह स्पष्ट देखते हैं कि इस साधना को सही बताने के लिये सभी प्रकार के असत्य, अधर्म के विधानों को देना पड़ता है। एक मुख्य असत्य और अधर्म है जड़-साधना। उसमें व्यक्तिगत भोगोपभोग से लेकर जड़-साधनों की पूजा, प्रतिष्ठा दिलाने का समावेश होता है। साधन से साध्य प्राप्त हो सकता है; किन्तु साधन को ही साध्य मान लिया जाय तो प्रगति रुक जाती है। इस असत्य को प्रतिष्ठित करने के लिये फिर उसके नाम पर जड़-लाभों को जोड़ कर लोगों को भरमाया जाता है, बहकाया जाता है और यही अधर्म, पाखंड, भौतिकवाद को पैदा करता है।

आपको किसी से मिलना है! उसके घर की सड़क का पता भी मिल गया; मगर उसके किनारे खड़े होकर यह सोचें कि वह व्यक्ति भी मिल गया तो वह जितना बड़ा भ्रम है उससे भी कई गुना अधिक भ्रम यह जड़-साधना है। जहाँ पर भगवान के नाम को, धर्म को और ज्ञान को बेच कर जीवन-निर्वाह करने की गल्त प्रवृत्ति (आदत) पड़ गई है। भगवान महावीर ने तो समस्त जीवों को प्रतिबोध देने के लिये ज्ञान फैलाया; मगर यहाँ उसे पोथियों में बँध कर, उसे बढ़िया कपड़ों में लपेट उसकी पूजा, प्रतिष्ठा कराके लोगों के लिये हमेशा के लिये बँध कर देने का अज्ञान फैलाया जाता है। भगवान ने कहा, साधु-मार्ग और जैन शासन पंचम आरे के अन्त तक चलेगा तो ये स्वयं तो साधुता पालते नहीं; किन्तु जो पालते हैं उनको ढोंगी बताते हैं और उसे असार बता कर संयम की विराधना करते हैं। जहाँ उन्हें सचमुच ही चैतन्यमय परमात्मा का स्वरूप भव्य जीवों को अपने ज्ञान-

जाती तो उनके आगे मुनि जयमलजी एवं पूज्यश्री का आदर्श जीवन उपस्थित हो जाता और वह फिर आत्म मार्ग में विशेष स्थिर होती जाती थी। साध्वीश्री लाछाँजी को यह अनुभव होने लगा था कि उन्होंने संयम मार्ग पर हालाँकि जयमलजी का अनुकरण किया था; किन्तु इस मार्ग में बढ़ने पर उन्हें अपनी स्वतन्त्र आत्मा है और उसका विकास साधने का है यह उनको आत्म - भान हुआ। पूज्यश्री के व्याख्यानों का तो उन पर असर पड़ा ही था; किन्तु जयमलजी के इन दिनों में चल रहे आत्म - जागृति संबन्धी व्याख्यान सुन कर उन्हें यह प्रतिपल विचार आंदोलन उत्पन्न होता था जैसे कोई उन्हें कह रहा है : "उठ, हे नारी! तुझमें भी वही आत्मा है जो पुरुष में है। अरिहंत प्रभु ने पन्द्रह भेद सिद्ध में तेरी आत्मा को भी सिद्ध गति पाने की अधिकारिणी बताई है। आज तक रूप, यौवन और विषय - वासना के चक्कर में फँस कर तू स्वयं पतित हो रही थी अब संयम और तप धारण करके आत्मा को उर्ध्वगामी बना। तेरी आत्मा भी महासती चन्दनबालाजी और सती मृगावतीजी जैसे सिद्ध - बुद्ध और मुक्त हो सकती है। इसके लिये सर्व प्रथम आवश्यक है ज्ञान! तू आत्म - ज्ञान को प्राप्त कर....!"
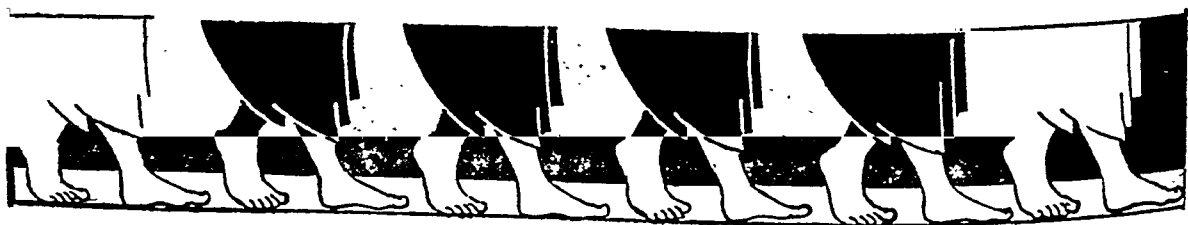
सतियों के बारे में अनेक दृष्टांत उनके चलते थे। उनका लक्ष्य यही था कि स्त्री - समाज में भी आत्म जागृति आये। उन्होंने एक बार कहा :

समरूं मन हरषे मोटी सती

नाम पण ज्ञानी कथिया
जिके मुगति गई चौसठ सतियाँ
बीजी पण सुण जो एक चित्ती
समरूं मन हरषे मोटी सती।

* * *

तीर्थंकरोनी बडी सिखणी
धुर 'ब्राह्मी' छेल्ली चँदणा भिखणी
दीपायो जेणे जैन मती
समरूं मन हरषे मोटी सती!

उनकी एक भी न चली। यहाँ तक कि उनका प्रभाव राज-काज में चलता था तो वहाँ पर भी उन्होंने प्रयत्न किये; किन्तु इन नये श्रावकों ने एक ही जवाब दिया :—"हम तो सच्चे धर्म का बोध पाकर अपने आप उनके अनुयायी बन गये हैं!"

पोतिया बँधों ने तो यहाँ तक भी बात फैला दी कि "मुनिश्री जयमलजी ने जादू टोना से उनके अनुयायियों को बहकाया है!"

किन्तु सच तो यह था कि जैन धर्म का सत्य स्वरूप समझाने में मुनिश्री जयमलजी सफल रहे थे और इसे ही मुनिश्री जयमलजी का जादू कहें तो अत्युक्ति न होगी।

मुनिश्री जयमलजी के इस धर्म जादू की बात राजा के संवाददाताओं द्वारा जोधपुर नरेश अभयसिंहजी तक भी पहुँची। उन्हें यह जान कर विशेष प्रसन्नता हुई कि मुनिश्री जयमलजी भी लाँबिया के महेता कामदार के पुत्र थे और उनकी अकाट्य तर्क शक्ति और सच्ची धर्म की समझ से अंधश्रद्धा का वातावरण हट रहा है।

जोधपुर राज्य की गद्दी को वापस दिलाने में और दिल्ली के बादशाहों से सम्बन्ध बनाये रखने में ओसवाल मन्त्रियों का प्रबल हाथ था। औरंगज़ेब के समय तो उसने जसवन्तसिंह के मृत्यु के बाद उस राज्य को पचा जाने की सोची थी और कुंवर अजीतसिंह को उसने दिल्ही में नज़र कैद किया था। जयपुर नरेश जयसिंह की मृत्यु भी शंकास्पद संयोग में हुई थी। इसलिये राजपूत लोग भड़के हुए थे। वीर दुर्गादास आदि के प्रयत्नों से कुंवर और राज्य जोधपुर की महारानी के हाथ तो आये; किन्तु औरंगज़ेब के बाद मुगल सल्तनत से इन रियासतों के अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने में, भंडारी खींवशी प्रधान का मुख्य हाथ था।

उनके बाद रत्नसिंहजी भी बड़ी कार्य कुशलता से प्रधान-पद सम्हालते थे। जब उन्होंने दरबार में पीपाड़ की यह बात सुनी तो वे मन ही मन प्रसन्न हुए।

महाराजा अभयसिंह ने पूछा :—"दीवानजी! पू० भूधरजी आदि संतों को तो मैं जानता हूँ; मगर मुनिश्री जयमलजी का प्रताप सुन कर मन बड़ा प्रसन्न हुआ है और उनके मुख से वचन अमृत पान करने की हमारी इच्छा है!"

उनके मनोभाव को प्रतिबिंबित करते हुए जयमलजी के व्याख्यानों में आत्मा के सम्बन्ध में ये पद गूँज उठते थे :—

कह भाई तें रूडी स्युं कियो ?

सतगुरु आतम साख थी
दे भव जीवांने सीख ।
सुगुरु सुदेव सुधर्मनी
थां कांय न राखी रे ठीक ॥

धर्म आराधन नहीं कियो
मनुष जनम को सार ।
नरभव पायो छे नीठ सूं
अहिले मत दीजो हार ॥

—आत्मा की साक्षी रखकर सद्गुरु की शिक्षा के अनुसार सुगुरु सुदेव सुधर्म की श्रद्धा ठीक नहीं रखी । मानव जन्म का सार धर्म-आराधना है । वह नहीं करके उसे गँवा मत देना ।

दिन गमायो रे खायने
रात गमाई सोय ।
ज्ञान ध्यान दया बाहिरो
चल्यो कलंदर होय ॥

ज्ञानी पुरुषां रे इम कह्यो
चवदे पूर्वनो सार ।
पण सामायिक उत्थापदी......
नहीं माने नवकार ॥

छह कायानी रक्षा करो
जो चाहो सुख क्षेम
काज सरे इण जीवनो
रिख जयमलजी कहे एम ॥

पू० भूधरजी ने कहा :—"आप और खींवशीजी जैसे दीवानों ने अपने-अपने ढंग से धर्म की प्रभावना बहुत की है और कर रहे हैं। धर्म आराधना व्यक्तिगत भी होती है; किन्तु आप व्यक्तिगत धर्म-साधना के साथ में राजाओं पर भी अपने धर्म की छाप डालते ही हैं और उन्हें धर्म-मार्ग की ओर आकर्षित करते हैं!"

"बापजी! सब संतों के पदार्पण का प्रभाव है!"

"आप जैसे धर्म-प्रेमी दीवानों ने उसे और भी बढ़ा दिया है। वैसे जैन-धर्म राजा-महाराजाओं का भी धर्म है। महावीर प्रभु की देशनामें तो कई राजा-महाराजा थे। उनके संतों में भी कई राजकुमार थे। प्रभु यह जानते थे कि राज्य पर धर्म का असर हो तो प्रजा में नीति-न्याय सदाचार फैलता है; इसलिये उन्होंने ग्राम-धर्म, नगर-धर्म के साथ राज-धर्म को भी बताया और सच्चे राजा के कर्तव्य का भी ज्ञान कराया है। जोधपुर के राजा-महाराजा तो उनके दीवानों के कारण आज कई पीढ़ी से, धर्म से रंग गये हैं और तभी आप जैसे दीवान को भी दर्शन करने जाने का अवकाश दे सके हैं।" पूज्यश्री ने कहा।

दीवान रत्नसिंह पूज्यश्री का समझाने का दृष्टिबिंदु जान गये और उन्होंने मन ही मन उसकी बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने कहा :—"महाराजाश्री ने सिर्फ मुझे यहाँ आने का अवकाश ही नहीं दिया है; किन्तु यहाँ की सारी बातें सुन कर आपकी सेवा में विनति करने को भेजा है कि आप सभी संत उनके जोधपुर नगर को पावन करें और श्रीसंघ की ओर से भी मैं यही अर्ज करने हाज़िर हुआ हूँ!"

पूज्यश्री ने कहा :—"यथा काल स्पर्शने के भाव के अनुसार होगा!"

दीवानजी ने कहा :—"यहाँ तो आप ने डंका बजवा दिया। जोधपुर महाराजा तक सुन कर बहुत ही प्रभावित हुए हैं और तब से वे आप के दर्शन के लिये आतुर हैं। पीपाड़ तो उनका (पोतिया बँधो) गढ़ सा था। यहाँ पर संतों ने सच्चे धर्म का जयजयकार करवा दिया है। बहुत से नये संत हैं; मुनिश्री जयमलजी इनमें कौन से हैं?"
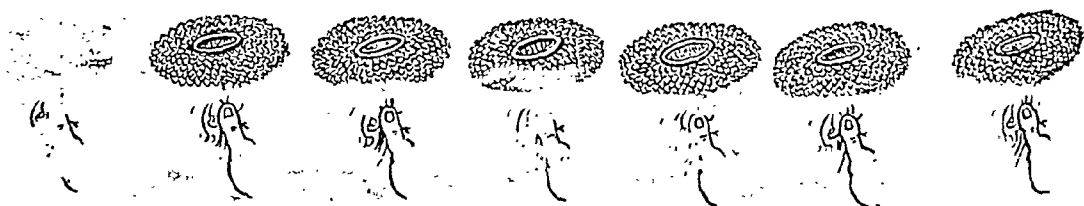
जयध्वज

खंड - ३

•

सत्य प्रसार

धर्म प्रचार

•

अब उसका पति नहीं मिलेगा। किन्तु दूसरी अपने पति के लिये तरसती थी। वह हमेशा विचारती थी कि कोई दूत मिल जाये तो उसके संग अपनी मनोव्यथा लिख कर भेजूँ! फिर भी वह इस आशा में जीवित रहती है कि इस भव में नहीं तो अगले भव में उसके पति अवश्य मिलेंगे।

इसी तरह दो प्रकार के भक्तों में से एक तो भौतिक साधनों में मशगुल होकर अपने सिद्धाँत व शासन को भूल गया है; किन्तु दूसरा भक्त कितनी भी बाधा-अडचनें आने पर भी भगवान को पाने का प्रयत्न करता हैं। वहाँ तो स्त्रियों के स्वामी को पता नहीं हैं कि उसकी पत्नियाँ क्या करती हैं? किन्तु यहाँ भगवान सीमंधर स्वामी तो सभी जानते हैं कि कौन सत्य धर्म को पालते हैं और कौन बेवफा होकर मनमाना करते हैं।

जैसे वह बेवफा स्त्री, पति क्या जानेगा करके स्वच्छंद होकर फिरती हैं वैसे ही पाखंडी लोग भौतिक स्वच्छंदता अपनाते हैं। सच्चा संयम पाल नहीं सकते तो कहते हैं कि धर्म हो नहीं सकता; अरिहंत मिल नहीं सकते — किन्तु जो सच्चे संत होते हैं, वे तो अपने मन से, भाव से अरिहंत प्रभुजी जो अभी महा विदेह क्षेत्र में विराजते हैं उन्हें वन्दना कर अपने भाव व्यक्त कर सकते हैं।

कागदियो लिख भेजूं हो संगू को नहीं...!

उसमें संत हृदय श्री सिमन्धर स्वामीजी का गुण-गान करके कहता है कि आपने राज रिद्धि छोड़ी संयम लिया है। तीन ज्ञान तो थे ही, चौथा दीक्षा लेते हुआ और आपको पाँचवा सम्पूर्ण केवल ज्ञान प्रगटा है। जिससे चोंतीश अतिशय युक्त और पैंतीश गुण के साथ आप विराजमान हैं — आप से प्रतिबोधित केवली ही दश लाख हैं; साधुओं की संख्या तो सौ करोड़ हैं। आप ज्ञान से हमारे मन की बात जान रहे हो। हम तो वर्तमान में आप को ही भाव से वन्दना करते है और कहते रहते हैं:—

ए मानव भव दुरलभ लाधो
तुम दया धर्म सुख आराधो
मुगती आवे ज्युं तुम सामी
सुमरो श्री सीमंधर स्वामी

२१
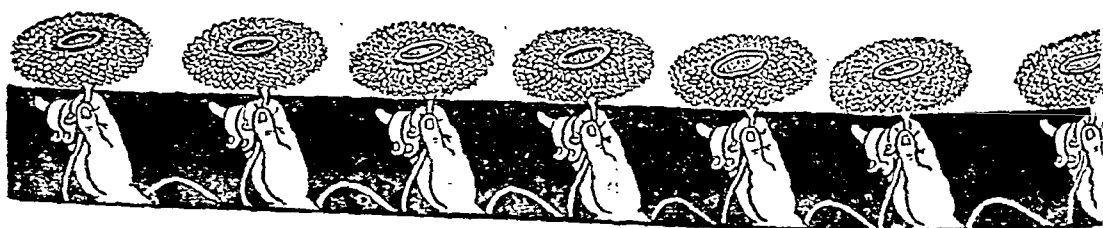
जय - सत्य धर्म माधुकरी

गुराँसा और पोतियाबन्दों का प्रभाव अत्यधिक था। आचार्यश्री के पास तो आत्मिक प्रभाव था; किन्तु वह संसार व्यवहार में उपयोगी बने एतदर्थ कुछ करना चाहिये वैसा उन्हें अनुभव होता था। अपने शिष्यों में इस दिशा में मुनिश्री नारायणदासजी विशेष उपयोगी नहीं हो सकते थे; क्योंकि वे अपनी आत्म - साधना की ओर विशेष झुके थे। मुनिश्री रघुनाथजी का व्यक्तित्व प्रभावशाली था; किन्तु वे थोड़े भावुक प्रकृति से ही चलनेवाले थे। नये सिरे से, नये विचारों द्वारा समाज में परिवर्तन करने की शक्ति उन्होंने मुनिश्री जयमलजी में देखी थी और अतः वे अक्सर उनसे अपनी विचारणा चलाते थे। मुनिश्री जयमलजी इस मत के होते जा रहे थे कि सर्व प्रथम तो जो साधु - मार्ग स्वीकार करे उन्हें दृढ़ होना चाहिये। फिर उनको माननेवाले श्रावक - वर्ग में भी सच्चे धर्म की जागृति होनी चाहिये। एतदर्थ सच्चा श्रावक - धर्म क्या है? श्रावक - वृत्ति क्या है? इस बात का सविशेष ज्ञान उन्हें कराया जाना चाहिये। सामायिक, प्रतिक्रमण और पोषहों की क्रियाओं के साथ साधु - मार्ग का सच्चा स्वरूप उनके दिलमें बिठाना चाहिये और एक बार सच्चे धर्म का ज्ञान उन्हें हो गया तो फिर वे लोग ही अन्ध श्रद्धा, चमत्कार और पाखंड को दूर करने में विशेष सहायक हो सकते हैं। क्योंकि संत तो विहार करके चले जाते हैं बाद में श्रावक समाज ही रहता है यदि वह धर्म रहस्य को जाननेवाला रहा तभी सच्चे धर्म का प्रसार हो सकता है।

संतों का विहार हरियाडाणा, रणसीगाँव से खेजडला हुआ। गाँव - गाँव में लोग बिखरे पड़े थे और कहीं - कहीं तो बिना धर्म भेद के जैन, हिन्दू, मुसलमान सभी व्याख्यानों में आते थे। यहाँ पर जो मुसलमान बने थे, वे या तो राज्य के लोभ से बने थे या उन्हें डर के कारण मुसलमान बना लिया गया था। अतः वे थे एक गाँव के एक संस्कार के। "बापजी" के व्याख्यानों में सभी आना पसन्द करते थे।

एक तरफ तो गाँवों का यह हाल था वहाँ पर नगरों में कहीं - कहीं तो विचित्र परिस्थिति थी। सोजत, पीपाड़ और राजकीय महत्व के बड़े - बड़े शहरों में यतियों को जोर

भी नहीं" और पाखंड को फैलाता है। सच्चे धर्म के जानकारों को उन्हें अपने चरित्र से धर्म का स्वरूप समझाना चाहिये!"

अत्यन्त ही विश्लेषण और प्रेम की भक्ति-धारा से युक्त यह "कागदिया" सुन कर रत्नसिंहजी गद्गद् हो गये थे और उन्होंने कहा :—"बापजी! जैसा सुना था वैसा प्रत्यक्ष जान कर मेरा तन, मन, जीवन अपने आप भाव से भर जाता है और यह शीश भक्ति-भाव से झुक जाता है; आप अवश्य भाव धरके हमारा भी "कागदिया" ध्यान में लें और जोधपुर को पावन करें!"

"जैसा पूज्य महाराज का भाव होगा वैसा होगा!" मुनिश्री जयमलजी ने इतना ही कहा। रत्नसिंहजी इनकी विनम्रता से और भी प्रभावित हुए।

जोधपुर प्रस्थान करने के पहले उन्होंने पुनः पूज्यश्री से विनति की :—"जोधपुर के राजा, प्रजा और संघ पर उपकार करने की पुनः अर्ज करता हूँ!"

आचार्यश्री ने कहा :—"यथा पुद्गल स्पर्शना होगी, वैसा होगा; वहाँ के भाव तो आपने और महाराजाश्री ने जगाये ही हैं। महाराजाश्री को धर्म-ध्यान करने के लिये कहें!"

मंगलिक सुन कर रत्नसिंहजी रवांना हुए।

* * *

पीपाड़ में आचार्यश्री का विराजना और भी हुआ। पोतिया बँध श्रावक तो उनके पक्के भक्त बन चुके थे। उनके गुराँसा भी सब प्रयत्नों से हार कर अन्त में आचार्यश्री के शरण में आये।

आचार्यश्री ने स्पष्ट शब्दों में उन्हें कह दिया :—"हम संतों को तो सभी पर समभाव ही है। आप लोगों को साधु-मार्ग की निंदा से दूर रहना चाहिये और स्वार्थ के लिये धर्म के नाम पर पाखंड नहीं चलाना चाहिये। शास्त्र लिखें, ज्ञान का प्रसार करें और छोटे-छोटे जैन बच्चों में भी धर्म-संस्कार भरें यह भी उत्तम प्रकार का श्रावक-धर्म

हरिभद्र सूरि जैसे प्रकाँड ज्ञानी आचार्यों ने भी इनके विरुद्ध वहुत ही स्पष्ट रूप से सम्बोध प्रकरण में लिखा है :—

चेइयमढाइवासं,　　पूयारंभाई　　निच्चवासित्तं
देवाइ दव्व भोगं जिणहर सालाइ करणंच
मय किच्च जिणपूया परूवणं मय धणाणं जिणदरणे
गिहिपुरओ अंगाइ पवयण कहणं धणट्ठाए।

— संयम के असिमार्ग पर जिनको चलना चाहिये ऐसे जैन साधु चैत्य और मठ में निवास करते हैं; पूजा के लिये आरती करते हैं —'मन्दिर और उपाश्रय चलाते हैं। मन्दिर के देव द्रव्य और भोग आदि का उपयोग करते हैं। *

इस सम्बन्ध में आगे भी वहुत-कुछ चित्रण इस प्रकार किया गया है :—

"ये चैत्यवासी साधु शास्त्र रहस्य नहीं बताते। ज्योतिष मुहूर्त निकलवाते हैं और फलाफल कहते हैं। रंगीन, सुगन्धित और धुले वस्त्र पहनते हैं। साध्वियों का लाया आहार करते हैं, जिसमें मिष्ठाहार, तांवुल, घी-दूध, फल और जल का भी उपयोग करते हैं। स्त्रियों का संसर्ग करते हैं; उनके आगे गाते हैं। तेल मर्दन करते हैं; मृत गुरु के स्थानकों पर पाद-पीठ वनवाते हैं। वलि देते हैं और प्रतिमायें वेचते हैं। वस्त्र, पान-जोड़ा, वाहन-शैया रखते हैं; जलसे करते हैं। पैसे देकर वालकों को चेला वनवाते हैं। मन्त्र-तन्त्र वैदक आदि करते हैं — यों वे साधु प्रतिमा का भंग कर अमर्यादित होकर स्वच्छंद वनते जाते हैं।"

पाटन के दरवार में जिनेश्वर सूरिश्वर ने जव सूत्र के आधार पर उनसे वाद-विवाद में कहा कि :—"तुम्हारा आचार साधुओं का नहीं है!"

तो उन लोगों ने हवाला देने का कहा। जिनेश्वर सूरिजी ने दशवैकालिक और आचारांग सूत्र को देखने के लिये कहा। पहले तो उन्होंने आनाकानी की; किन्तु उसके

* सम्बन्ध प्रकरण पृ. १३-१४ (जैनग्रंथ सभा, अहमदावाद)

आचार्यश्री ने तो स्पष्ट कह दिया कि "मेरी तो उम्र हो चली है; शेष आयु में साधु-मार्ग में पराक्रम करनेवाले सच्चे संत बढ़ें यही मेरी इच्छा है और इसके लिये तो आप सभी शिष्य ही आदर्श उपस्थित करें और कैसे कार्य किया जाय यह विचारें!"

नारायणदासजी ने तो विनम्र होकर कहा :—"मेरी भी आयु हो चली है; मैं तो आत्म-आराधना में ही रहना चाहता हूँ। नव दीक्षितों की ज्ञान-वृद्धि के लिये मेरा योग दे सकता हूँ!"

रघुनाथजी ने कहा :—"मेरे विचार से तो इनको अपनी श्रद्धा दिलवा देनी चाहिये; ताकि उस पर — पाखंड तरफ जाने का नाम ही नहीं लेंगे!"

आचार्यश्री ने कहा :—"शायद यहाँ के पाखंड की ओर नहीं जायेंगे तो क्या लौकिक मत-पाखंड की ओर नही जायेंगे यह कैसे मानें? कुछ और उपाय करना चाहिये!"

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"मेरे अनुभव में तो यही आता है कि यदि इन्हें सच्चा श्रावक-धर्म हम अपने उपदेशों में सुनायें और तदनुसार धर्म-क्रिया करनेवालों का श्रावक-संघ रचाते जाँये एवं उनके लिये स्तवन-स्वाध्याय, सामायिक, प्रतिक्रमण एवं अन्य नित्य नियम का कार्य-क्रम देवें तो प्रारम्भ में वही ठीक होगा!"

आचार्यश्री ने पुनः इस पर और गहरा सोच-विचार करने के लिये कहा। विशेष रूप से उन्होंने रघुनाथजी एवं मुनिश्री जयमलजी को विचारने के लिये कहा। सत्य-धर्म प्रचार के लिये यह आवश्यक था कि कुछ न कुछ व्यवस्थित कार्य किया जाय। मुनिश्री जयमलजी समझदारी के ज्ञान सहित क्रिया करनेवालों के संघ, गाँव-गाँव में बनाने के पक्ष में सविशेष थे और आचार्यश्री को उनकी बात युगानुरूप लगती थी।

* * *

पीपाड़ में लोगों पर अपने काव्य-मय प्रवचन की विशेष असर पड़ता देख, मुनिश्री जयमलजी के कवि-हृदय ने "मेला" शीर्षक एक और भाव-प्रद रचना की।

इतिहास आदि की कई पोथियाँ (नकलें) बनाने का कार्य किया ; किन्तु साथ-साथ उनका एक प्रचार और भी चलता रहा कि इस कराल काल में, पंचम आरे में भगवान महावीर का शासन नहीं चल सकता। वे अपने समर्थन में आक्रमण के समय मंदिर उपाश्रयों को टूटना ; ग्रन्थों का नाश होना आदि बातें उपस्थित करते थे। ज्योतिष, वैदक और मन्त्र-तन्त्र उनके समाज पर प्रभाव डालने के प्रबल साधन थे। कई पोतिया बँध तो इससे भी आगे बढ़कर लग्न आदि भी करते थे और उनकी स्त्रियाँ लाल बाईयाँ (जो लाल रंग का कंचुक पहनती थीं) कहलाती थीं। राजस्थान में इनका सविशेष प्रभाव था।

*   *   *

आचार्यश्री खेजडला, चिलडानी होते हुए पीपाड़ में पधारे। पीपाड़ में लोग अलग सम्प्रदायों में विभक्त थे; उनमें भी इन "पोतिया बँध" सम्प्रदाय का विशेष ज़ोर था।

इसलिये यहाँ पर सन्तों के पधारने के साथ-साथ सभी वर्गों में कुछ खलबली भी मची। कुछेक तो बड़े भाव से सन्तों के दर्शन करते थे तो कुछ मुँह फिरा कर, पीठ दिखा कर चले जाते थे। अन्य गांवों में भी फिरके थे; किन्तु खुल्लमखुल्ला ऐसा विरोध का प्रदर्शन पीपाड में ही देखने को मिला।

आचार्यश्री तो पहले से इन बातों से अवगत थे, यहां पहले चातुर्मास भी किये थे ; किन्तु अपने शिष्यों को विशेष अनुभव होने देना चाहते थे। उन्होंने मुनिश्री जयमलजी को गोचरी लाने के लिये आदेश दिया।

कोई समाचार नहीं आता है वैसे ही संसार के मेले से जानेवाला वापस कोई समाचार नहीं भेजता कि वह किधर गया और वहाँ कैसा है ?

ऐसा यह पंखी मेला लगता है, बिखरता है ; काल तो सब के पीछे पड़ा ही रहता है। संसार में जमराज और जमाई राज द्वार पर आते हैं तो खाली हाथ नहीं लौटते। जिसके घर लग्न के बाजे बजे उसे नींद आये तो हम उसे मूरख कहेंगे ; मगर यह सब जान कर भी जो मोह की नींद सोता है उसे क्या कहेंगे ? यह कच्ची माटी के घर जैसी तेरी काया है, कितना जतन तू कर सकेगा....?

किम दुःख पावे मानवी, सूतो मोहनी नींद ।
काल खडो थारे बारणे जिम तोरण आयो बींद ॥

जैसे बींदराज (जमाई) तुम्हारे तोरण (द्वार) पर खड़ा रहता है और उसे वापस नहीं निकाल सकते वैसे तेरे द्वार पर काल खड़ा है और उसके आगे तेरी एक भी नहीं चलेगी। तेरे बड़े-बड़ेरों को भी उसके साथ जाना पड़ा है ; फिर तेरी टें-टें क्या चलेगी....?

तू किसको अपना कहता है ? माता-पिता, घर-व्यापार सभी के साथ तू ममता बाँध रहा है — यह तो मूर्खता का काम है ; क्योंकि अन्त में तो तुझे सब को छोड़ कर एक दिन चले जाने का है। तेरे साथ सिर्फ चलेगी जो तेरी सत्य धर्म की कमाई है। वह जब तक रहेगी तब तक तो भव-भव में सुख पाता रहेगा वरना तुझे दुःख ही दुःख भुगतना पड़ेगा।

मगर इस संसार में आज धर्म के नाम अनेक पाखंड चल पड़े हैं। वे संसार के प्रलोभन दिखा-दिखा कर तुझे डिगायेंगे ; मगर उससे मत डिगना। कहते हैं कि :—

बट पाडा छे मोक्षना पाखंडी अनेक ।
ज्यांरा डिगाया मत डिगो धारो शुद्ध विवेक ॥

धर्म और अधर्म में विवेक रखना बहुत ही जरूरी है ; क्योंकि आज धर्म के नाम पर लोग अधर्म और पाखंड फैला रहे हैं। ज्ञानी का कहना है कि :—

कई हिंसा में धर्म कहे, कई कहे साधु नांहि ।
आपतो उलटे पंथ पड्या, नाखे अवरां ने मांहि ॥

उधर बैठे हुए संघपति ने कहा :—"ऐसी बात सत्य हुई तो हम आपके अनुयायी बन जायेंगे !"

यह देख कर पोतिया बँध व्याख्याता ने गुस्से में आकर कहा :—"अरे, जाओ.... जाओ ! देखो, हम तो रोज़ ही धर्म पोथी पढ़ते हैं और यह बड़ा हमें बतानेवाला आया। हार गये तो तुम्हारा वेश यहीं उतारना पड़ेगा....!"

मुनिश्री जयमलजी ने शांत होकर कहा :—"आप केवल मतलब की पोथी पढ़ते होंगे; वरना इतना बड़ा सत्य कैसे छुप सकता है ? अभी कौन सा सूत्र पढ़ रहे थे ?"

"भगवतीजी, भगवान महावीर ने इस में कितनी बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें कहीं हैं ?" पोतिया बँध बोले।

"तो ऐसा करें कि उसका बीसवाँ शतक निकालिये और आठवाँ उद्देश्य का पाठ पढ़िये तो....!" मुनिश्री जयमलजी ने कहा।

पोतिया बँध ने पाठ खोला और पढ़ते-पढ़ते वह रुक गया; उसका हाथ काँपने लगा — मुँह पर गुस्सा आने लगा।

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"रुक क्यों गये....?"

संघपति ने भी स्वर मिलाया :—"महाराजजी पाठ पढ़िये तो....!"

मगर वह कहाँ से पढ़ता....? मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"यह पढ़ नहीं सकते ! देखिये, वहाँ पर लिखा है, "भगवान महावीर फरमाते हैं कि हे गोतम ! यह जैन चतुर्विध (साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका) संघ रूप शासन मेरे बाद भी पाँचवें आरे के पूरे २१००० वर्ष तक चलता रहेगा....!"

संघपति ने उठ कर पोतिया बँध से पूछा :—"क्या, यह बात यथा तथ्य सत्य है ?"

"है ! मगर इस काल में वैसा साधुपना पल नहीं सकता !"

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"अपने शिथिलाचार पर पर्दा डालने के लिये जो क्रिया-पात्र साधु-संत हैं उनकी निंदा अवहेलना क्यों करते हो ? आप लोग "यथा नाम तथा गुण" से ही पोतिया बँध हो, आपने ज्ञान की पोथी अपने लिये तो बँध कर दी और समाज

"हाँ, हाँ....! मगर वह तो थूक आदि शास्त्र पर न लगे, इसलिये उसकी अवहेलना से बचने के लिये बाँधते हैं!"

"वैसे तो हाथ में भी पसीना होता है, तो हाथ में भी कपड़ा बाँधा करना!" मुनिश्री जयमलजी बोले।

सभी श्रोता हँस पड़े। संघपति ने जयमलजी से कहा :—"बापजी! इसका सही अर्थ क्या है?"

"सही उपयोग तो वायु काय के जीवों की रक्षा करना है। साधु छः काय के पीहर होते हैं; अतः उनकी प्रत्येक क्रिया से वह बात तो प्रगट होनी ही चाहिये। साथ में थूक आदि न उडे उसका विवेक भी रहता है और भाषा-समिति का पूरे-पूरा ध्यान हमेशा साधु जीवन में बना रहे एतदर्थ उसे साधु-मार्ग में अनिवार्य और आवश्यक माना गया है!" मुनिश्री जयमलजी बोले।

संघपति और सभी श्रावकों को मुनिश्री जयमलजी की ओर अधिक झुकते देख कर पोतिया बँध गुराँसा ने फिर कहा :—"भले ही, तुम लोग क्रिया-तप कर लो; किन्तु जब तक ज्ञान-आराधना नहीं करोगे सभी बाल-भाव ही माना जायेगा!"

"हम तो ज्ञान की सही आराधना क्रिया से करते हैं। वह ज्ञान क्या काम का?——जो पोथी में पड़ा रहे! उसे तो आत्मसात् करना चाहिये। आप लोग वर्ष में एक बार अपनी पोथियों की धूल झाड़ कर उसकी पूजा करते हैं, जलुस निकलवाते हैं वह तो ज्ञान-आराधना नहीं है! क्या वैसे ज्ञान लोगों को पहुँच जायेगा? फिर तो सभी उन पोथियों को नमस्कार करें और अन्य मति कहते हैं वैसे वे भी बोलें कि "हे, पोथी देवी! मेरा ज्ञान बढ़ा दे!" बस, पढ़ने-लिखने और अध्ययन की आवश्यकता ही नहीं रहेगी!"

"तो क्या, पोथी-पूजा ज्ञान-आराधना नहीं है?" एक जिज्ञासु ने पूछा।

"ज्ञान-आराधना तो ज्ञान को आत्मसात् करने से होता है। पोथी तो जड़ है; किन्तु उसमें लिखे अक्षर तो निमित्त हैं, वे कई लिपियों के कारण नाना प्रकार के हैं; किन्तु उनसे होनेवाला ज्ञान चैतन्यमय है। आत्मा को बाह्य पोथी से मतलब नहीं है; क्योंकि वह स्वयं चैतन्यमय है——चैतन्य का चैतन्य से संयोग होना चाहिये।
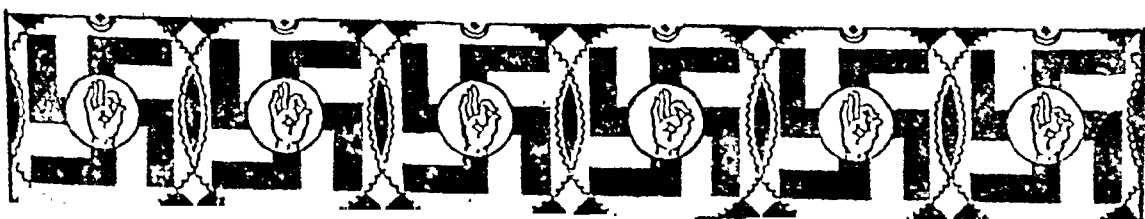
सभी पोतिया बँधी संघवाले मुनिश्री जयमलजी के साथ स्थानक में पहुँचे। पूज्यश्री ने मुनिश्री जयमलजी को आते देख पूछा :—"क्या गोचरी ले आये ?"

"गुरुदेव! आज स्थूल आहार की नहीं; धर्म के श्रद्धावानों को गोचरी में लाया हूँ! मैं तो नये श्रद्धावानों को वहरके लाया हूँ!" मुनिश्री जयमलजी बोले।

आचार्यश्री ने देखा तो मुनिश्री जयमलजी के पीछे एक बड़ा श्रावक समुदाय खड़ा था। पीपाड़ में धर्म - चर्चा की बात फैल चुकी थी; कुछ साधु मार्गीय श्रावक भी साथ - साथ आये थे।

मुनिश्री जयमलजी ने पूज्यश्री की ओर सूचित करते हुए कहा :—"ये ही मेरे गुरु हैं; अब आप इन्हें ही गुरु आचार्य मानें! पुनः एक बार विचार कर लेवें — सच्ची भावना और बुद्धि से आप को सत्य - धर्म ग्रहण करने का है!"

"हम तो निर्णय कर चुके हैं!" उन श्रावकों ने कहा। एक श्रावक ने आचार्यश्री से पूरी बात संक्षेप में कही और आचार्यश्री ने सब की ओर धर्म - भाव से देखा।

सभी लोगों ने बड़े ही भाव से उनको वन्दना की। वहाँ पर विराजित और भी संत थे। सभी संतों को वन्दना की गई और सभी स्थानक में गये।

आचार्य भूधरजी और सभी संत पाट पर विराजे। प्रातःकाल का व्याख्यान तो हो चुका था; किन्तु आज प्रसंग विशेष नये धर्म श्रद्धावानों के आग्रह से पूज्यश्री ने आत्म - धर्म का सार सा थोड़ा प्रवचन किया।

"जैन धर्म आत्मा का धर्म है और चैतन्य की उपासना, साधना और परमपद मुक्ति को पाना इसका आदर्श है। उसके लिये तो यह शरीर भी जड़ है — पुद्गल है; किन्तु साधन होने से मानव - तन को पाना परम दुर्लभ कहा गया है। इस तन को पाकर, जैन धर्मवाले कुल में भी उत्पन्न होकर, जैन धर्म के नाम पर लोग जड़ - साधना शुरू कर देते हैं और अपने अमूल्य मानव - भव को व्यर्थ ही गँवा देते हैं।

जड़ - साधन और साधना दोनों में बड़ा विवेक रखना आवश्यक है। यह मनुष्य - तन है, जड़ साधन है; किन्तु उसमें अनन्त शक्तिशाली आत्मा रहा हुआ है और इस तन

दर्शन चारित्र से कराना चाहिये वहाँ जड़-साधना में सभी को लगा कर "दर्शन" की भी विराधना करते हैं।

भगवान महावीर ने न सिर्फ इस काल में शासन-मार्ग चलेगा इतना ही कहा है; किन्तु उन्होंने तो इस पंचम काल में भी महा विदेह क्षेत्र में मोक्ष जाने की, बीस विरहमान तीर्थंकरों की बात कही है और जघन्य दो करोड़ केवली की बात भी स्पष्ट कही है। अरिहंत, केवल ज्ञान और मुक्ति तीनों त्रिकाल शाश्वत और अबाधित हैं। यह जान कर जो जिन मार्ग का आराधन करता है वह इस जन्म में तो कर्म खपाता ही है और भाव विशुद्ध हुए तो भरत क्षेत्र के बाहर महा विदेह क्षेत्र में भी जन्म पाकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो सकता है!"

सभी नये श्रावकों ने पूज्यश्री के पास सच्चे जैन-मार्ग की श्रद्धा को स्वीकार की। सभी पूज्यश्री और मुनिश्री जयमलजी आदि संतों की जयजयकार करके नित्य तीनों प्रवचन में आने का नियम धारण करके गये।

उस समय पुनः मुनिश्री जयमलजी को आचार्यश्री ने गोचरी के लिये नहीं भेजा। अन्य संत गोचरी लेने पधारे। यहाँ पर आचार्यश्री के पूछने पर मुनिश्री जयमलजी ने बड़े विनम्र भाव से पूरा प्रसंग कह सुनाया।

आचार्यश्री ने धर्म-विभोर होकर मुनिश्री जयमलजी को साधु-वाद देते हुए कहा :—"जयमलजी! आज की तुम्हारी यह सत्य धर्म की गोचरी श्रेष्ठ रही। इसी तरह सभी स्थानों पर तुम धर्म का प्रभाव बढ़ाते रहोगे ऐसे हमारे साधु-वाद तुम्हारे साथ हैं!"

मुनिश्री जयमलजी ने नतमस्तक होकर गुरु चरण पकड़ लिये। उनके मन में यही था कि "गुरुजी की भावना के अनुरूप मैं बन सकूँ....!"

पीपाड़ की यह सत्य धर्म की माधुकरी अपूर्व थी!

*　　　*　　　*

पीपाड़ में साधु-मार्ग की और संतों की एवं जैन-धर्म की जयजयकार हो गई। पोतिया बँधों ने अनेक तरीकों से अपने अनुयायियों को वापस लाने का प्रयत्न किया; मगर

व्यग्रता से कहते :—"अब हमसे रहा नहीं जायेगा ; हम स्वयं सवारी लेकर उनके दर्शन को जायेंगे....!"

इतने में खास कासिद (दूत) ने आकर समाचार दिये कि :—"संत गण बनाड पहुँच गये हैं !"

दीवान रत्नसिंहजी ने कहा :—"प्रबल भावना अपना फल प्रत्यक्ष दिखाती है !"

महाराज ने कहा :—"हम आज ही दर्शन के लिये निकलेंगे !"

राजा अभयसिंह अपने पूरे ठाठ-माठ से सवारी में निकले। कुतूहल वश लोगों का अपार समुदाय भी उनके पीछे-पीछे चला। आधे कोश तक राज-मार्ग पर लोग ही लोग दिखाई देते थे। विशेष सवारी के सिवाय कभी ऐसा ठाठ नहीं रहता था। हाथी और घोड़ों पर असवार दरबारी सजे थे तो ऊँट भी निराले ढंग से सजाये गये थे ; पैदल भी सैनिक कितने ही थे....!

बणाड के लोग भी इस प्रकार की भव्य सवारी देख कर आश्चर्य चकित हो गये। लोगों की अपार भीड़ में एक बार तो सब को ऐसा लगा कि भींस जायेंगे ; किन्तु कर्मचारीओं ने व्यवस्था सम्हाल ली।

महाराज को सभी ने झुक-झुक कर सलामी दी और महाराज अभयसिंह अपने दीवान रत्नसिंहजी के साथ जहाँ वटवृक्ष के नीचे पाटे पर संत विराजे थे वहाँ पर पहुँचे। उन्होंने दोनों हाथ जोड़ कर सर नीचा झुका कर संतों को वन्दना की। जिसको तमाम प्रजा प्रणाम करती थी वे संतों को वन्दना कर रहे थे। एक साथ ज़ोर से जयघोष गूँज उठा :—
"बोल, आचार्य भूधरजी म० सा० की जय....!"

आचार्यश्री ने अभय मुद्रा में कहा :—"दया पालो ; धर्म लाभ लो !" जोधपुर के महाराज आचार्यश्री के सन्मुख सविनय आगे बैठ गये और साथ और भी सभी शाँति से बैठ गये।

पूज्यश्री की आज्ञा से मुनिश्री जयमलजी ने अपने मधुर-कंठ से धर्म पर प्रवचन देना शुरू किया।

रत्नसिंहजी ने कहा :—"महाराजश्री जैसे चाहते हैं वैसा ही होगा। आपका संदेशा महाराजश्री की सेवा में अर्ज करवा दिया जायेगा!"

"दीवानजी! हमारी खास इच्छा है कि आप किसी के साथ संदेशा अर्ज न करवा कर स्वयं संतों की सेवा में उपस्थित होकर सविनय अर्ज करने पधारें!" महाराज ने कहा।

"महाराजा की आज्ञा सर आँखों पर! मैं अभी अपने रिसाले के साथ प्रस्थान करता हूँ!" रत्नसिंह ने कहा।

"और दीवानजी! आचार्यश्री से यह भी अर्ज करें कि यदि किसी कारण वश उनकी जोधपुर पर कृपा न हो सके तो कम से कम प्रतापी मुनिश्री जयमलजी को उपकार करने यहाँ का क्षेत्र अवश्य स्पर्शने को कहें!" महाराजा ने कहा।

"मैं आपका इरादा समझ गया हूँ; जैसा चाहते हैं वैसा ही होगा!" रत्नसिंहजी ने कहा।

दीवान रत्नसिंहजी अपने परिवार और रिसाले के साथ पीपाड़ पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने पूरी बात की छान-बीन कर ली और जो नये इस मान्यता में आये थे उनसे भी सारी बातें जान लीं। सब के मुँह से यही एक बात निकलती थी :—"आचार्यश्री तो प्रभावशाली हैं ही; मगर मुनिश्री जयमलजी भी उनके शासन को दीपानेवाले हैं—बड़े तेजस्वी और कांतियुक्त हैं....!"

रत्नसिंहजी को यह सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई और वे जहाँ संत विराजते थे वहाँ पर उपाश्रय (स्थानक) में पहुँचे। सविनय वन्दना कर सुख शाता पूछी और हाथ जोड़े खड़े रहे, विनम्र भाव से उन्होंने कहा :—"पूज्यश्री के प्रताप से पीपाड़ के पुण्य जग चुके हैं! जोधपुर में कीर्ति सुनी और पीपाड़ आने का भाव आया; मगर उसके पहले ही महाराजश्री ने आपकी सेवा में उपस्थित होने के लिये आदेश दिया और सेवक यहाँ दर्शन का लाभ लेकर धन्य हो रहा है!"

आचार्यश्री ने पास खड़े मुनिश्री जयमलजी की ओर संकेत करके बताया।

दीवानजी ने मुनिश्री जयमलजी के देदीप्यमान वदन को निहारा और सर झुका कर वन्दन करके बोले :—" वास्तव में आपने अशक्य को शक्य कर दिखाया है....?"

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—" सभी शासन-देव और गुरु महाराज का प्रताप है!"

दीवानजी समझ गये कि मुनिश्री जयमलजी पहुँचे हुए संत हैं और साथ ही अत्यन्त विनम्र है। उन्होंने कहा :—" आपका विनय आपके अनुरूप ही है!"

पुनः आचार्यश्री की ओर मुड़ कर उन्होंने कहा : " स्वयं महाराजाश्री ने विनति करवाई है और मुनिश्री जयमलजी के प्रवचन की उन्हें बड़ी उत्कण्ठा है; बहुत ही धर्म प्रभाव आपके पधारने से बढ़ेगा!"

" विनति को ध्यान में रखेंगे!"

रत्नसिंह जी भूरि-भूरि वन्दना करके गये। उनका मुकाम जितने दिन रहा उतने दिन उन्होंने तीनों समय प्रवचन सुना। जैसा उन्होंने सुना था वैसा ही मुनिश्री जयमलजी का प्रवचन, सरस-मधुर संगीत और काव्य की अनुपम शैली का पाया।

उसमें भी मुनिश्री जयमलजी ने उस समय जो प्रतीक भावात्मक " कागदिया" लिखा था उसकी तो बड़ी धूम मच गई थी और अनायास ही रतनसिंहजी को वही सुनने को भी मिला।

मुनिश्री जयमलजी कहते थे :—

" कुछ अज्ञानी लोग, दूसरों को बहकाते हैं कि इस काल में मोक्ष नहीं है; इसलिये धर्म करने से कोई फायदा नहीं है; इतना ही नहीं, वे लोग और भी गलत बात यह कहते हैं कि साधु-मार्ग का पालन हो ही नहीं सकता।

यह तो एक गाँव की दो स्त्रियों के एक पति जैसा किस्सा हुआ। जब परदेश गया तो एक स्त्री पराये पुरुष के साथ संसार चलाने लगी; क्योंकि वह मानने लगी थी कि
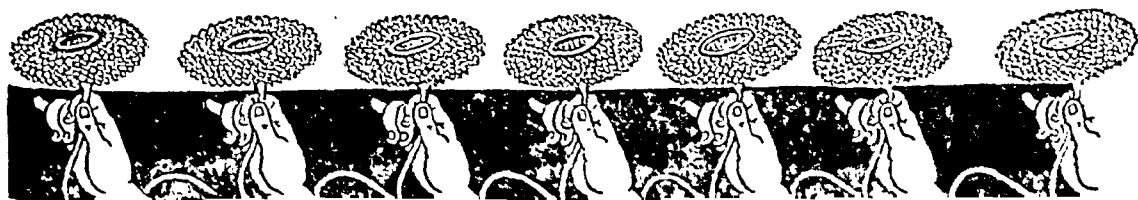
यदि वे स्वार्थ वश हिंसा के कार्यों में धर्म की प्ररूपणा बतावें तो क्या होगा ? वे स्वयं नाश मोल लेंगे साथ अन्य आत्माओं का भी सत्यानाश करा बैठेंगे।

तभी सच्चे संतों को सच्चे धर्म का — अहिंसा का नाद गाँव - गाँव में, नगर - नगर में देने का है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच कर उनको धर्म - जागृति कराने की है। क्योंकि :—

"दुर्लभ मिनख जनमारो पाय
परमादे दिन निकल्या जाय
धर्म विना जे गमावे काल
बूढा ते पण कहिये बाल

संत तो कह रहे हैं कि मानव जन्म मिला है; उसे प्रमाद में न गँवा! जो जानता है, समझता है कि काल जा रहा है और धर्म नहीं करता वह भले ही उमर देख चुका हो, उसके बाल धूप में भले पके हो, वह बालक — टाबर जैसा ही है। उनके लिये ज्ञानी सूत्रों में कह गये हैं :—

समयं गोयमं! मा पमायए।

समय बीता जा रहा है; प्रमाद न कर! क्योंकि :—

जिहां लग पांचू इंद्रिय रे पर वरी
जरा न व्यापी रे आय......!
देह मांहि रे रोग न फेलियो
तिहां लग धर्म संभाय......!! *

जब तक यह शरीर निरोग है, जरावस्था नहीं आई है, तब तक अहिंसा मय आत्म स्वतन्त्रता का धर्म है उसकी आराधना कर ले। जो आराधना करते हैं वे सुख पाते हैं; मगर स्वार्थ के नाम इसे बेच देते हैं वे दुःखी होते हैं और दुःख के चक्कर में फिरते हैं। ऐसा जान जो जीव धर्म करेगा वह उत्तरोत्तर आत्म विकास साध कर सिद्ध - बुद्ध और मुक्त होगा।"

---

* जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढइ। जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समाय रे॥
दशवैकालिक अ. ८, गा. ३६।

मगर यहाँ पर कुछ लोग ऐसे हैं जो इस बात को नहीं समझते और वे हमें कहते हैं कि हम लोग ढोंग करते हैं। उनकी स्थिति उस दूसरी स्त्री जैसी है जिसने स्वामी को छोड़ दिया हैं और अन्य मत (जड़ वाद) को पकड़ा है। हम तो कहते हैं :—

दूर दिसावर जेहनो पिउ वसेजी, ते नार सुहागण कहाय।
महा विदेह में धणी विराजियाजी, तिके निरधणिया किम थाय॥

और उसके बीच कितने ही विकट ग्राम और पंथ हैं, हम आ तो सकते नहीं — बात नहीं कर सकते; मगर भाव कागदिया रूप स्तुति तो कर सकते हैं। जानते हैं नाथ ये कुछंदी पाखंडी न जाने क्या - क्या कहते हैं; मगर हमें तो पूरी श्रद्धा है :—

कुबुद्धि कदाग्रही भरत मांही घणांजी, कांई अपछंदा अवनीत।
एक आधार प्रभु मुझ मोटको, थांरी सूतरनी परतीत॥

सूत्र - शास्त्र में वीरप्रभु कह गये हैं उसकी हमें श्रद्धा है और मिलने की बड़ी अभिलाषा है; किन्तु :—

भरत क्षेत्र में हो प्रभुजी हूं वसुं, पुखलावती में जिनराय।
कोईक दिन प्रभुजी सुं मिलवा तणी, म्हारे दीसे छै अंतराय॥

फिर भी जो भक्त है, सत्य - धर्म की श्रद्धावाला है वह तो अपने प्रभु से स्तुति करके मिलता ही है जैसे कागदिया से दो प्रेमी मिलते हैं। और भक्तात्मा कहता है :—

कोडां कोसांरो हो प्रभुजी आंतरोजी, मैं आऊं केम हजूर।
रिख जयमल करे थांसू वीनती, म्हारी वन्दना उंगते सूर॥ *

जिसे प्रभु को पाना है वह तो स्तुति करके, प्रातःकाल होते ही वन्दना करके भी उसको पा सकता है और उसका स्तुति रूपी कागदिया अरिहंत प्रभु श्री सीमंधर स्वामी इस भरत क्षेत्र में, महा विदेह क्षेत्र में विराजते अपने केवल ज्ञान के प्रभाव से जान लेते हैं।

लेकिन जिसको यह नहीं करना है, साधु - मार्ग के कंटक पथ पर नहीं चलना है, वह तो स्वयं नहीं चलता है और कहता है कि "इस काल में मुक्ति नहीं सो धर्म करना

---

* जयमलजी विरचित "कागदियो" (जयवाणी पृ. ४३ - ४४)
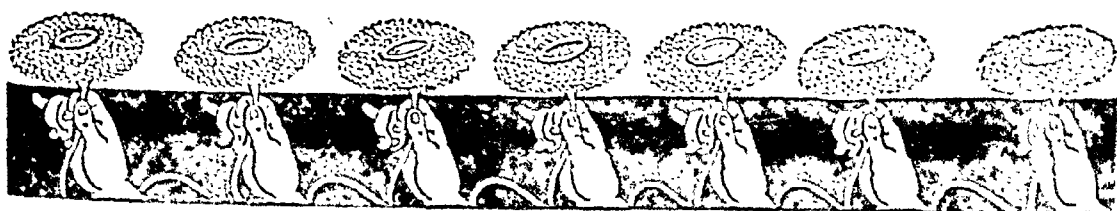
है। श्रावक-धर्म का उत्तमोत्तम प्रकार से पालन किया जा सकता है। जैन धर्म तो कहता है कि "गृहस्थ लिंग" भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकते हैं; किन्तु अपने स्थूल शरीर के निर्वाह के लिये जो ढोंग-पाखंड चलायेंगे तो वे स्वयं तो डूबेंगे, लेकिन वे उस तूटी नाव से दूसरे मुसाफिरों को भी डुबो देंगे। हमें व्यक्तिगत यति, पोतिया बँध या अन्य किसी से कोई विरोध नहीं है; किन्तु धर्म के नाम पर छः काय की हिंसा और जड़-साधना का जो पाखंड चलाते हैं, उसका विरोध है। सच्चे साधुत्व का जो विरोध किया जाता है एवं करते हैं, उसका विरोध है; क्योंकि उनके कारण दूसरे लोग भी जैन-धर्म को गलत समझते हैं और इस तरह भगवान महावीर के शासन का प्रभाव वे अपने आप मिटाते हैं!"

नारायणदासजी पास खड़े थे। उन्होंने कहा :—

धम्मस्स कारणे मूढा जो जीवे परिहिंसई।
दहिउण चन्दन तसं करई इंगाल वाणिज्जं॥ *

"आप लोगों का व्यापार तो ऐसा है कि चन्दन स्वयं बहुमूल्य है, उसका तो मूल्य नहीं करते; किन्तु आप लोग अज्ञान में उसे जला कर कोयला बना कर वेचने का क्षुद्र व्यापार करते हैं।"

पोतिया बँध गुराँसा ने पुनः पैर पड़ कर कहा :—"नहीं बापजी, अब ऐसा नहीं होगा!"

वे भी दर्शन, वन्दन, प्रवचन का लाभ लेते रहे। लेकिन जो लोग उन्हें जानते थे उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया :—"ये तो जितने दिन आप हैं उतने दिन चढ़ा रंग दिखायेंगे; फिर वही के वही हैं!"

आचार्यश्री ने कहा :—"उनकी करनी वे भुगतेंगे!"

किन्तु संतों के सामने यह प्रश्न अवश्य विचारणा के लिये आया कि उनके विहार हो जाने के बाद भी सत्य-धर्म की श्रद्धा टिकी रहे एतदर्थ कुछ किया तो जाना चाहिये।

---

* सुमति कीर्तिजी दिंगबर रचित, लोकामत निराकरण चौपाई (सं० १६२७)
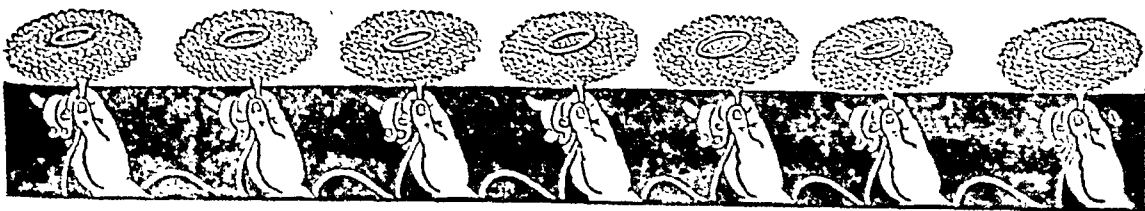
पुरुषार्थ बेकार सा हो जायेगा। जैसे शून्य के आगे से एक चला जाय तो कितने ही शून्य क्यों न चढ़ायें उसका मूल्य शून्य ही रहेगा, उसी प्रकार धर्म विना सारे पुरुषार्थ हैं।

धर्म सहित अर्थ प्राप्त करना यानी नीति-न्याय और प्रमाणिकता से आजीविका चलाना और जो अपने पास अधिक है, उसे दान-पुण्य के कार्य में लगाना। ऐसे धर्मी आत्मा के जीवन की पल-पल का मूल्य बहुत ही ऊँचा आँका गया है। जैन शास्त्रों में राजा श्रेणिक को भगवान महावीर ने धर्म सहित अर्थोपार्जन क्या है यह जानने के लिये गरीब पुणिया श्रावक के पास भेजा था। वैसे ही वेद-सूत्रों में भी एक दृष्टान्त आता है कि एक बड़े राजा को भगवान ने दर्शन देकर दक्षिण देश में एक धर्म सहित अर्थ पैदा करनेवाले किसान के पास भेजा था जिसे भगवान ने अपना सच्चा भक्त बनाया था।

धर्म सहित जिसका जीवन है, वह संयम पूर्ण है और ऐसे संयमी के जीवन का मूल्य रोज़ सौ-सौ गायों के दान से भी कई गुना अधिक ऐसा ज्ञानी कह गये हैं।

वैसे ही काम का समझना चाहिये। काम को इच्छा के रूप में ले तो धर्म सहित काम का अर्थ होता है संयम, ब्रह्मचर्य। गृहस्थों के लिये अपनी स्त्री में सन्तोष और स्त्रियों के लिये स्वपुरुष संतोष से बढ़ कर कोई काम-धर्म नहीं है। कहा जाता है कि श्रीरामचन्द्रजी ने एक पत्नी व्रत धर्म का आदर्श रखा तो वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये यानी धर्म की मर्यादा रखनेवाले पुरुषों में उत्तम ऐसा पद पाया। और दूसरी ओर रावण के अनेक पत्नियाँ होने पर भी वह परनारी में लुब्ध हुआ तो, महा ज्ञानी और महा बली होने पर भी उसका नाश हुआ।

मगर जहाँ तक अर्थ और काम का प्रश्न है उसका संबंध देह से है, आत्मा से नहीं। यदि उनको धर्म मय बना दिये जांय तो अवश्य वे भी आत्मा को परमात्मा बनाने में सहायभूत हो सकते हैं।

इस संसार में ऐसे भी लोग रहते हैं जो कि धर्म, आत्मा आदि को नहीं मानते और मानते हैं कि हाथ-पैर हिलाने से क्या फायदा? शायद उनका शरीर घिस जायेगा।

नीतिकार इन आलसी जनों के लिये कहते हैं :—

धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥

रात्रि प्रवचन में मुनिश्री जयमलजी कहा करते थे :—

"यह संसार तो मेला सा है। जैसे वार तहेवार पर मेले लगते हैं, वहाँ पर गाँव-गाँव के लोग इकट्ठे होते हैं, आनन्द प्रमोद सा मनाते हैं, जान पहचान बढ़ाते हैं, सनेह बढ़ाते हैं; किन्तु जो जितना प्रेम बढ़ाता है इतना ही उसे बिछड़ते हुए दुःख होता है। वैसा यह जग तो पंखीवाला मेला (चिड़िया रैनवसेरा) है, इससे ज्ञानी कहते हैं :—

हटवाडे मेलो जिसो जग में जाणो रे एह।
बहुली रे प्रीतज बाँधने, तोड ज जाय सनेह ॥

यह जगत हाटों (चलती फिरती दुकानों) का लगा मेला सा है। जो अधिक प्रीत बाँधता है वह इसी तरह सनेह तोड़ कर जाता है। ऐसे कितने ही चल दिये हैं, कितने ही चलनेवाले हैं —— यह जन्म-मृत्यु की राह तो सतत गतिशील है; फिर भी क्यों नहीं चेतते?

अरे, जिस कुटुम्ब के कारण जीव कर्म बाँधते हैं, उसका जब फल भुगतना पड़ता है तो उसे अकेला ही भुगतना पड़ता है; वहाँ पर उसमें कोई सहाय करने नहीं आता। यह जगत स्वार्थ की ही सगाई में मानता है और जब तक स्वार्थ रहता है सभी हेत और प्रीत दिखाते हैं और जैसे स्वार्थ पूरा हुआ नहीं कि उसको छेह-दगा देते भी देर नहीं लगती।

ज्ञानी कहते हैं, जीव यह तो तेरा स्वधाम नहीं है।

परदेशी परदेश में किणसुं करे रे सनेह।
आयाँ कागद उठ चले आँधी गिणे न मेह ॥

परदेश में जैसे आकर कोई प्रीत करे तो कैसे चल सकेगा? जब उसको बुलावा आ जायेगा, वह एक पल भी नहीं ठहर सकेगा और चाहे आँधी आ जाये या बरसात भी आ जाये उसे जाना ही पड़ेगा। हाँ, तो काल के दूत आ जाते हैं और न वे देखते हैं कि आज कोई वार है या वे यह भी देखने खड़े नहीं रहते कि अभी अवसर है कि नहीं? वे तो उसे ले ही जाते हैं। उसके सनेही सज्जन होते हैं, उससे मिलनेवाले लोग भी बहुत होते हैं; किन्तु उनके देखते-देखते जीव चल देता है।

जैसे कोई प्रियतमा का पति परदेश जाता है और वह पल-पल गिनती रहती है। उसका जीवन भी नहीं कटता है; किन्तु परदेश जानेवाले चले ही जाते हैं और उनका

यह मनुष्य भव मिला है उसको जो सार्थक करते हैं, धर्म का आचरण करते हैं वे लोग मोक्ष के सुख पाते हैं।"

* * *

आचार्यश्री ने अपना प्रवचन समाप्त किया। उनका तत्वों से भरपूर प्रवचन सब ने बड़ी ही शांति से सुना। आज की पर्षदा (परिषद) देखकर और राजा-रानियों को देखकर आचार्यश्री ने मुनिश्री जयमलजी को व्याख्यान देने का आदेश दिया।

मुनिश्री जयमलजी ने अपना प्रवचन प्रारंभ किया।

"संसार में जैसे संतान के माता-पिता होते हैं वैसे प्रजा का पिता राजा माना जाता है वैसे संसार की सारी प्रवृति का जनक धर्म ही है। संसार के जो अर्थ और काम हैं उसका पिता धर्म ही है। विवेकी जनों के लिये यह बात विचारने योग्य है कि धर्म को कैसे अर्थ, काम और मोक्ष का जनक कहा है ?

संसार में हम देखते हैं कि अलग-अलग प्रकार के जीव भटकते रहते हैं। नारकी जीवों के बारे में हम प्रत्यक्ष तो नहीं जानते; किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि वे महा दुःख पाते हैं। वैसे इस संसार में भी हम कई जीवों को — पशुओं को और मनुष्यों को भी दारुण दुःख भोगते हुए देखते हैं। जब वे जीव उनमें से कुछ धर्म आराधना करते हैं तो उसके पुण्य से उत्तरोत्तर ऋद्धि-सिद्धि और संसार के सुख भोग प्राप्त करते हैं।

आज जिनके पास ऋद्धि-सिद्धि हैं, यानी जो अर्थ के स्वामी हैं, वे उनके पिछले जन्म के सुकृत्यों का फल है और इसलिये उसके जनक के रूप में धर्म को माना है। वैसे ही जो काम भोग प्राप्त हैं, यानी अपनी वासनाओं की तृप्ति; यह सुख भोग भी अपने पिछले धर्म कार्य का परिणाम है। जिसने अच्छे कर्म किये, पुण्य किये, अंतराय हटाये उनको उनके फलस्वरूप यह सब मिलता है। किन्तु विवेकी जन के लिये ज्ञानी कहते हैं कि धर्म की आराधना सिर्फ अर्थ और काम के लिये ही नहीं है, उसमें आगे बढ़ने का है और जो सच्चे अर्थ में धर्म का पालन करते हैं, वे अपने सम्पूर्ण कर्म को क्षय कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं —

हिंसा में ये लोग धर्म बताते हैं — इतना ही नहीं, वे तो यह भी कहते हैं कि इस पंचम आरे में साधु हो भी नहीं सकते। वे स्वयं तो रास्ता भूले हैं और अपने साथ औरों को भी लेकर भटक रहे हैं।

तभी कोई पूछ सकता है कि तो इस मेले में सभी दुःख ही दुःख है तो कोई स्थायी सुख भी है या नहीं? ज्ञानी कहते हैं :—

काचो सगपण कुटुम्बनो मिल मिल विखरो जाय।
साचो मेलो धर्मनो अविचल मेलो थाय॥

जगत के कुटुम्ब का रिश्ता और मेला तो कच्चा है। वह तो मिलता है और बिखर जाता है। सच्चा मेला तो धर्म का लगा हुआ है जो कि स्थिर है और नहीं बिखरनेवाला है और यह धर्म का मेला लगानेवाले निर्ग्रंथ जैन साधु हैं; यदि सुख चाहते हो तो उनकी सेवा - उपासना करो।

थिर सुख चाहो जो, तुमे सेवो साधु निर्ग्रंथ।
पाप अठारे परिहरो, लीजो मुगतनो पंथ॥

निर्ग्रंथ साधु की सेवा करो, अठारह पापों को त्यागो और मुक्ति का पंथ ले लो; यही स्थिर सुख है। बाकी जगत का यह मेला है, बिखर जानेवाला है।

माया सहु जग कारमी, साचो श्री जिन धर्म।
रिख जयमल इम कहे, मेटो मिथ्यात मर्म॥

इस जगत की मोह - माया बहुत ही मुश्किल से छूटनेवाली है; किन्तु यदि संसार में सार कुछ है, तो जिन धर्म है; जिसको समझो और मिथ्यात्व को मिटाओ — यही इस जीव को करना है।

जो ऐसा करते हैं, वे तो इस धर्म के मेले में अपनी आत्मा की कमाई कमा कर चलते हैं और आगे का भी सच्चा मार्ग पकड़ते हैं; वरना मूर्ख तो अपने मनुष्य जन्म रूपी अपनी आत्म पराक्रम की पूंजी को गँवा कर फिर रोते रहते हैं।"

२२

जय - राज्य धर्म

पीपाड़ के बाद छोटे - मोटे गाँव में स्पर्शते हुए आचार्यश्री और मुनिश्री जयमलजी आदि संत विहार करके, धर्म - प्रचार करने जोधपुर की ओर आगे बढ़ रहे थे।

रास्ते में बुचकुला गाँव आया। वहाँ पर ठाकुर का शासन था और उनकी भी गढ़ी थी जिसमें उनका राणीवास था। मारवाड़ में ऐसे छोटे - छोटे गाँवों के ज़मीन्दार ठाकुर कहलाते थे; वे अपना गाँव, ज़मीनदारी सम्हालते थे और वार्षिक सालियाना जोधपुर नरेश को नज़राणा के रूप में देते थे। बुचकुला — यानी छोटा सा गाँव था और आसपास के गाँवों के बीच वह मंडी सा छोटा नगर था। ठाकुर बड़े ही शान - शौकत से रहते थे। उनका दायरा (महेफिल) लगता था, कसुँबा चलता था और मौज आई तो शिकार जाते थे और मौज आई तो मुजरा (नाच - गान) आदि चलता था।

वहाँ पर पहुँच कर आचार्यश्री के आदेशानुसार मुनिश्री जयमलजी म० गोचरी लेने निकले। वे अन्य घरों से गोचरी लेते - लेते गढ़ी के पास पहुँच गये। अन्दर भी कोई घर मिले तो गोचरी ले आऊँ....! इस विचार से उन्होंने अन्दर कदम बढ़ाया था कि वहाँ पर दरवाज़े पर खड़े दरवान ने लट्ठ लेकर ज़ोर से पुकारा :—"ओ बावा....! कहाँ घुसा जा रहा है? यह तो ठाकुर का राणीवास है....!"

मुनिश्री जयमलजी रुक गये....!

दरवान ने फिर उनको घूर कर बड़े ही उपहास भरे शब्दों में कहा :—"जा, यहाँ से वापस! नही तो यह डण्डा देखा है....? एक पड़ेगा तो सारी दुनियाँ गोल दिखाई देगी! देख, फिर कभी इधर आया तो तेरा हुलिया गुल कर दूँगा....! जा रहा था जैसे अपनी ससुराल को! मालूम नहीं कि फाटक पर जमादार भी बैठा है....!"

मुनिश्री जयमलजी को इसकी अज्ञानता पर दया आई और वे उसे समझाना चाहते थे कि दरवान ने फिर से कहा :—"अरे, खिसकता है या....!"

यथा शक्ति पालन करता है वह गृहस्थी होकर भी धर्मी कहलाता है। धर्म तो एक पवित्र मर्यादा है; जो उस मर्यादा में रहकर आत्मा की उन्नति करता है उसे देव और मानव दोनों ही वंदना करते हैं।

शास्त्रकार कहते हैं कि जो मनुष्य जन्म पाकर भी धर्म की मर्यादा में नहीं रहते वह निरंकुश पशु जैसा है जिसका जीवन निरर्थक नष्ट हो जाता है।

यह धर्म क्या है ?

धर्म है सभी आत्मा को समान मानो; सभी के जीवन की रक्षा करो। जो स्वयं को पसंद नहीं वह दूसरों के साथ न करो। धर्म सभी आत्मा की समानता को स्वीकार करता है यानी आत्म साम्यवाद को मानने के साथ जैसा स्वयं को पसंद नहीं वैसा दूसरों के साथ भी मत करो ऐसा आदेश देता है। इस प्रकार धर्म सभी जीवों पर प्रेम, दया, करुणा करने को कहता है। जब प्रेम प्रगट होता है फिर वहाँ द्वेष नहीं, हिंसा नहीं और भय भी नहीं रहता।

सच्चा धर्मी स्वयं असीम प्रेम धारण करने के कारण अभया निर्भय होकर फिरता है, और साथ ही उसके पास जो भी जाते हैं वे सभी निर्भयता का अनुभव करते हैं। बड़े-बड़े ख़ूंख्वार लूटेरे खूनी; महात्माओं के पास बदल जाते हैं। अर्जुनमाली का जीवन ही भगवान महावीर के पास जाने मात्र से बदल जाता है। अंगुलिमाल जैसा भयंकर हत्यारा भी गौतम बुद्ध के पास जाकर शांत हो जाता है।

ऐसा धर्म धारण करना सरल बात नहीं है। सर्व प्रथम तो उसके लिये सभी प्रकार की ममता छोड़नी पड़ती है। यह धन मेरा — यह कुटुंब मेरा! ऐसा ममत्व ही राग पैदा करता है और फिर "हाय रे, इसको ऐसा यदि होगा तो?" इस शंकाकुशंका से भय पैदा होता है। यहाँ तक कि जो धर्म को धारण करता है उसे अपने तन-शरीर की भी ममता छोड़नी पड़ती है। "हाय रे, मेरा यह शरीर" ऐसा जो शरीर का मोह पैदा करते हैं वे धर्म को पाल नहीं सकते। ज्ञानी कहते हैं कि जो तन-धन की ममता को त्याग करते हैं वे
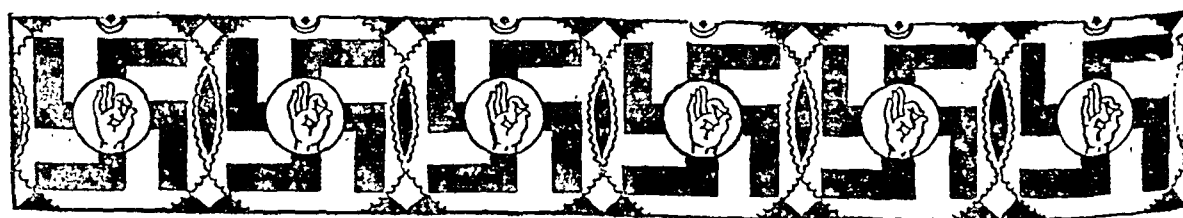
रहती थी ; किन्तु आज यह देखा जाता है कि राजा - गण अपने - अपने नशे में, व्यसनों में खोये रहते हैं । नशा - पानी, नाच - गान, शिकार - बाजी और माँसाहार इन चारों के कारण वे अपना कर्तव्य भूलते हैं ।

किसी भी बात का व्यसन होना बड़ा ही खराब है ; वह एक प्रकार की गुलामी है और जब तक वह उस वस्तु का सेवन नहीं करता, उसे चैन नहीं मिलता । कसुँबा (अफीम) के आदी होने पर जब तक उसका घूँट नहीं जाता, घुँटने दर्द करने लगते हैं, शरीर तूटने लगता है और मन नहीं लगता । यह लत ऐसी छा जाती है कि अन्य किसी काम में रुचि नहीं रहती । यदि नशा कर लेने से शरीर में चेतना बनी रहे तो भी ठीक है ; किन्तु घड़ी दो घड़ी बाद वह चढ़ कर शरीर को मदहोश और अन्त में बेहोश कर देता है और पुनः जगने पर शरीर बिल्कुल सुस्त चेतन - हीन बन जाता है । कुछ कार्य करने के लायक नहीं रहता ।

मगर एक राजा की तो और भी जवाबदारी रहती है — प्रजा का ध्यान रखना, कल्याण करना । जो स्वयं का ध्यान रख नहीं सकता वह औरों का ध्यान क्या रख सकेगा ? नशे - नशे में सोने की द्वारिका और यादव - कुल का नाश हो गया । बड़ा महाभारत हुआ । वैसा ही नाच - गान और मुजरे का है । परनारी में लुब्ध होकर रावण की सोने की लंका जल गई और उसका नाश हुआ । इतना ही नहीं ; शिकार जैसे विषय में राजा रामचन्द्र जरा से लुभाये और वन - वन को सीता के लिये फिरना पड़ा । बड़ी रामायण हुई ; लंका जीत कर तो आये ; मगर जिस सीता के लिये उन्होंने यह कष्ट किया उसको भी अपना घर रख न सके ।

शिकार तो बहुत बुरी वस्तु है । उन निरपराध प्राणियों को शौक के कारण मारना कितना भयंकर है ? किसी उपद्रवी हिंसक जानवर को भी उसमें अपनी जैसी आत्मा समझ कर नहीं मारना चाहिये ; तो बेचारे निर्दोष हिरण, खरगोश, तीतर, बटेर को गोली से भून देना कितना क्रूर है ! कोई हमें वैसे भून दें तो ? कई बार तो बिचारी हिरणी मर जाती है और
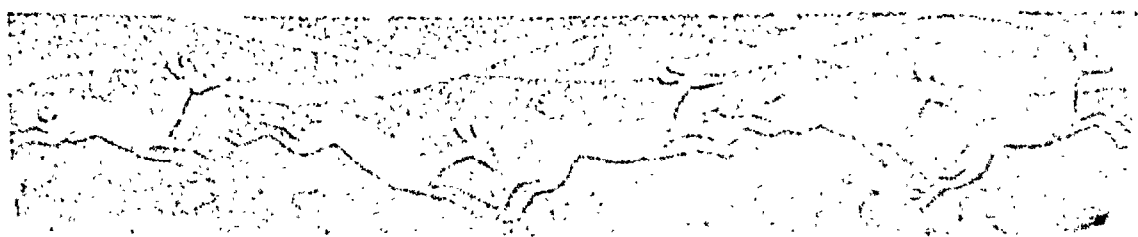
उस समय दीवान रत्नसिंहजी ने खड़े होकर वन्दना करके विनती की :—"आप देश, काल, धर्म जानते ही हैं। आपका प्रभाव सभी पर पड़ा है और आप यहाँ पर अधिक दिन विराज कर धर्म ध्यान की वृद्धि करावें!"

पूज्यश्री दीवान रत्नसिंहजी भंडारी के बारे में अच्छी तरह से परिचित थे। खींवशीजी की तरह रत्नसिंहजी का भी जोधपुर नरेश पर और दिल्ही तक प्रभाव था। वे कुशल दीवान तो थे ही; मगर अच्छे योद्धा भी थे। जोधपुर नरेश वैसे दिल्ही साम्राज्य की ओर से अजमेर व गुजरात के हाकिम (गवर्नर) बनाये जाते थे; किन्तु कर्ताधर्ता के रूप में रत्नसिंहजी ही थे।

आप जैसे दीवानों की विनति को पूज्यश्री जैसे संत कैसे टाल सकते थे?

महाराजश्री और दीवानजी के साथ और भी सज्जनों ने खड़े होकर विनती शुरू की। उधर स्त्री समाज से भी विनति शुरू हुई। सभी के मन में यही भाव था कि पूज्यश्री उनके मन के कोड़ (भाव) पूरे करें।

तब पूज्यश्री ने मधुर वचनों में कहा :—"जैसी पुद्गल स्पर्शना होगी, वैसा होगा।"

सभी बहुत ही भाव पूर्वक वंदना नमस्कार करने लगे।

●

आचार्यश्री को ठाकुर सा० की विनति और आग्रह पर और भी दो-तीन दिन ठहरना पड़ा। वुचकुला गाँव में धर्म का प्रचार भी हुआ। यहाँ से संतों का विहार वेनण होते हुए बीसलपुर हुआ।

वहाँ से छोटे-छोटे गाँव स्पर्शते हुए संत डाँगीवाड़ा पहुँचे। प्रत्येक गाँव में उनके दर्शन-वन्दन, प्रवचन के लिये अपार जन-समुदाय उमड़ पड़ता था। संतों के व्याख्यानों से नई धर्म-चेतना प्रगट होती थी। वे गाँव-गाँव में ग्राम-धर्म, बड़े नगरों में नगर-धर्म और सामान्य जन-जीवन में धर्म के संस्कारों को सींचन करने जा रहे थे। आचार्यश्री के तात्त्विक सरल भाषणों के साथ जयमलजी के गेय काव्य और संगीत की सरसता के लिये प्रवचन लोगों को बरवस अपनी ओर खींचते थे और जहाँ उन्हें दो दिन विराजने के भाव रहते वहाँ लोगों के भक्ति-भाव से उन्हें दो-तीन दिन विशेष ही ठहरना पड़ता था।

* * *

जोधपुर नरेश अभयसिंहजी को जब से दीवान रत्नसिंहजी ने आकर समाचार दिये तो वे प्रति दिन संतों के दर्शन की चाह में बिताते थे। वे अक्सर दीवानजी से पूछते :—
"क्यों, दीवानजी! गुरुदेव कहाँ तक पहुँचे हैं?"

उसमें भी उनका कहीं और दिन ठहर जाने का समाचार मिलता तो वे निराश हो जाते और कहते :—"दीवानजी! ऐसा दिखता है कि आपने हमारी ओर से सच्चे हृदय से विनति नहीं की होगी? वरना वे गाँव-गाँव विशेष क्यों ठहरते?"

दीवान रत्नसिंहजी मर्यादा के साथ कहते :—"महाराज! उनके दिल में आपकी विनति का ख्याल नहीं होता तो वे जोधपुर का मार्ग ही नहीं पकड़ते; मगर मार्ग में जनता भी उनका पूरा लाभ लेना चाहती है! आखिर तो प्रजा का लाभ, राजा का ही लाभ होता है न, अन्नदाता....?"

"दीवानजी! आप हमें शब्दों से धीरज दे सकते हैं; किन्तु हमारा दिल उनके दर्शन को कितना व्यग्र हो रहा है—यह काश हम आपको दिखा सकते!" महाराज ने
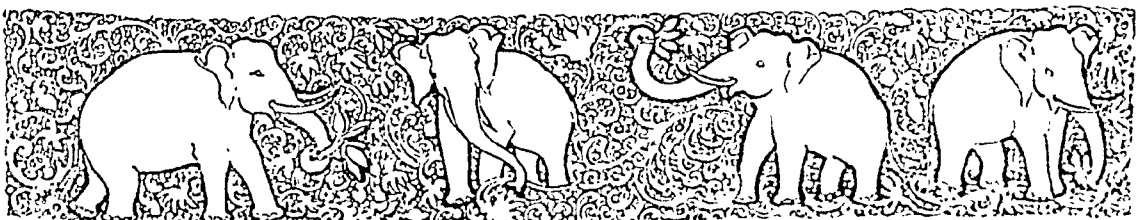
रूप से धर्म तत्त्व बिखरा पड़ा है ; उसका अध्ययन कर उनको विस्तार से लोगों को समझाया जाय तो अपने आप धर्म जागृति हो सकती है ।

मुनिश्री नारायणदासजी से उन्होंने सूत्रों के अर्थ, टीका आदि समझनी शुरू की। साथ ही उनकी काव्य आराधना भी चलती थी। अब काव्य - पद रचना उनके लिये सरल सी होती जा रही थी। जैसे - जैसे सूत्रों का गहरा अध्ययन होता जाता था वैसे - वैसे उनके व्याख्यान और भी तत्त्व से भरपूर होते जाते थे।

बालोतरे में जालोर श्रीसंघ के आगेवान लोग पूज्यश्री को विनति करने पधारे और उनके साथ देश के दीवान भी पधारे। उनकी विनति पर ध्यान देकर सभी संत जालोर पधारे।

जालोर में भी व्याख्यानों का ठाठ लग गया, वैसे श्रावकों ने भी दृढ़ धर्म अनुराग का परिचय देना शुरू किया। उस वर्ष (सं. १७८०) के चातुर्मास का समय समीप आ रहा था।

एक दिन प्रातःकाल व्याख्यान समाप्ति के पश्चात् जालोर शहर के नगर जनों ने मिलकर विनति की :—"पूज्यश्री और सभी संतों से हमारी यही विनति है कि उस वर्ष का चौमासा यहीं जालोर में करके हमारे पर और उपकार करें। यहाँ पर साधुमार्गीय संतों के चौमासे की बड़ी ज़रूरत है और आप के चौमासे से बहुत ही धर्म ध्यान होगा! आप हमारी इस विनति को अवश्य ध्यान में लेंगे।

तब करुणासागर पूज्यश्री भूधरजी ने कहा :—"पुद्गल स्पर्शना होगी वैसा होगा! बाकी आप लोगों के धर्म की दृढ़ता देखकर तो आत्मा प्रसन्न हुई है।"

सभी लोग और जोरदार विनति करके बैठ गये।

* * *

सं १७८९ का चातुर्मास जालोर में ही हुआ। जालोर भी बड़ा जिला था और वहाँ पर भी अलग - अलग ठाकुरों के राज्य थे। वहाँ से थोड़ी दूर पर भीनमाल नगर है। जहाँ कभी श्रीमाली वैश्य लोग जैन हुए थे और ओसवालों के साथ श्रीमाली भी जैन धर्म का
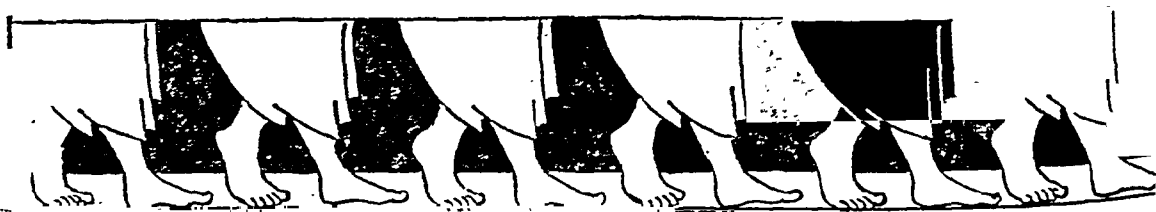
"ऐसा कहा जाता है कि संसार में जितने भी प्राणी हैं उन सब के लिये अपना - अपना धर्म है। यह संसार धर्म पर टिका हुआ है और कहते हैं कि धर्म गया तो सब कुछ गया है। धर्म ही संसार में सब को साथ में रखता है और इसी कारण संसार में विरोधी स्वभाववाले एक साथ रहते हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि :—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः

जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है और जो धर्म का नाश करता है वह अपना खुद का नाश करता है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि धर्म सभी प्राणियों का (जीवात्मा का) एक सा स्वभाव है और जब स्वभाव ही नष्ट हो जाता है तो फिर बाकी क्या बचता है? इसलिये कहा है :—

न धर्मो धार्मिकैर्विना

धर्म कभी धार्मिक - धर्म के पालन करनेवालों को छोड़ कर नहीं टिकता। धर्म सभी जीवों के लिये है; क्योंकि सभी जीवात्मा में समान रूप से चैतन्य भाव रहा हुआ है। जैसी आत्मा चींटी में है वैसी ही आत्मा मानवी में है और उस आत्मा का धर्म है स्वतन्त्रता। यह स्वतन्त्रता यानी सभी को अपनी - अपनी स्थिति में रहकर विकास साधने का है और जो आत्म - विकास की उन्नत श्रेणि में पहुँचे हैं उन्हें कम विकसित आत्माओं की उन्नति साधने में सहायता देने का है।

इसिलिये संसार में हम जिन्हें जिनेश्वर भगवान कहें या परम - पद को पा लेनेवाले कहें, ऐसी महान आत्मायें, लोक कल्याण के लिये अपना सर्वस्व जीवन समर्पण करने के लिये निकलते हैं और उनसे सत्य - धर्म का श्रवण करके, आचरण करके अनेक जीव उन्नति करते हैं।

मगर धर्म - धर्म में आजकल अन्तर पाया जाता है। जिसको एक व्यक्ति धर्म कहता है, दूसरा उसे अधर्म कहता है; फिर सत्य - धर्म क्या है? उसको नापने का या

इसलिये श्रावक कौन ? उसका धर्म क्या ? यह जानना बहुत ही आवश्यक है ? श्रावक का अर्थ होता है जो जिनेश्वर भगवान के मार्ग को सुन कर श्रद्धा करे — यानी उस मार्ग पर अगार - घर में रहता हुआ चले।

वैसे श्र — श्रु, जिन शासन में श्रद्धा रखनेवाला, सुननेवाला श्रुत केवली के वचन को माननेवाला।

व — यानी सुपात्र में धन को वपन (बीजारोपण) करनेवाला।

और क — यानी सुसाधुओं की सेवा से पुण्य कार्य करनेवाला हो वही श्रावक है।*

श्रावक का तीसरा अर्थ होता है "श्रमणोपासक" — यानी जो संत हैं उनकी वह उपासना करता है। ऐसा श्रावक जिसे तीर्थ रूप कहा जाता है उसके अन्दर उसके अनुरूप गुण भी विद्यमान होने चाहिये। सर्व प्रथम तो श्रावक को दृढ़ समकिती होना चाहिये।

यह सम्यक्त्व क्या है ? सम्यक्त्व का व्यवहार में जो स्वरूप दिखाई देता है उसके अनुसार तो जो देव के रूप में अरिहन्त और सिद्ध भगवान को मानना, गुरुओं के रूप में निग्रन्थ श्रमण - साधुओं को मानना और धर्म के रूप में केवली प्ररूपित दया - धर्म को मानना यही सम्यक्त्व है। समकिती का अर्थ होता है जो सत्य - मार्ग है, उस पर आगे चलनेवाला।

सत्य - मार्ग क्या है ? सत्य यह है कि यह आत्मा जड़ - पदार्थों में, कर्मों में फँस कर संसार में परिभ्रमण करती है ; उस आत्मा को पहचानना, उसमें रहे हुए परम ज्ञान - दर्शन के प्रकाश को पूर्ण रूप से प्रकाशित करना और एतदर्थ, आत्मा को सत्य - मार्ग पर यानी विकास मार्ग पर ले जाकर परमात्मा - पद प्राप्त करना। यही आत्मा का सत्य है और यही समकित है।

समकित का दूसरा अर्थ है सत्य पर श्रद्धा करना।

इस दृष्टि से, हालाँकि हम अरिहन्त और सिद्ध को भगवान मानते हैं ; मगर स्पष्ट रूप से जो सम्पूर्ण आत्मा है एवं जो परमात्म - पद पानेवाले हैं, केवली हैं ऐसी आत्मा को

---

* श्रद्धालुतां श्राति जिनेन्द्र शासने, धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्
करोति पुण्यानि, सुसाधुसेवना दतोऽपितं श्रावक माहुरुत्तमाः ॥

राजा क्या है ? वह गरीब और अमीर, निर्बल और बलवानों के बीच ऐसा शासन चलाता है कि दोनों भी टिके रहें और राज्य सुख-शांति से समृद्ध बने। उसको छोड़ कर वह सत्ता का अपने शोषण में उपयोग करे तो वह अपना धर्म चूकेगा। जब वह अपना धर्म निभाता है तो लोग उसकी जयजयकार बुलवाते हैं। वह जहाँ जाता है वहाँ पूजा जाता है। प्रजा उसके लिये अपना प्राण देती है।

उसी तरह प्रजा का धर्म भी यही है कि वह धर्म नीति से जीये और दूसरे लोगों के जीवन का मार्ग भी सरल बनावे। उसमें जब स्वार्थ आता है तो प्रजा का नैतिक स्तर गिरता है, उच्च-नीच भाव शुरू होते हैं और फलतः हिंसा, लड़ाई क्लेश आदि बढ़ते रहते हैं। वहाँ पर प्रजा के अन्य वर्गों को उसे समझाना चाहिये, नहीं तो राजा को अपना धर्म बजा कर समानता लानी चाहिये। यदि राजा यह चूके तो उसका राज्य, प्रजा और उसका स्वयं नाश होता है। रावण कितना बलशाली था ? कौरवों के पास क्या कमी थी ? मगर जब धर्म न रहा तो वे भी न रहे।

अपने यहाँ भी राजाओं ने यह धर्म छोड़ा तो लड़ाइयाँ चलती रहीं और अब यवन एवं फिरंगी लोग यहाँ पर अपना प्रभाव डाल रहे हैं और उन्होंने बहुत बड़ा राज्य छीन लिया था। मगर उन्होंने यह राज्य चूकि हिंसा, स्वार्थ से पाया था तो हम यह भी देखते हैं उन्हें वह राज्य मिल कर भी शांति नहीं है। मुगल बादशाहों में प्रत्येक बेटा, बाप के खिलाफ उठ खड़ा हुआ है; इतना ही नहीं, औरंगजेब जैसे ने तो अपने पिता शाहजहाँ को कैद में भी डाला था। मगर उस बादशाह को भी क्या मिला ? जो राज्य उसने जीता था वह उसके क्या काम आया ? हालाँकि वह पाँच बार नमाज पढ़ता था; किन्तु उसका राज-धर्म हिंसा पर चला तो उसके बेटे उसके विरुद्ध हुए। प्रजा विरोध में खड़ी हुई और सैनिक लोग भी पगार नहीं मिलने से गद्दार हो बैठे।

जब सामान्य प्रजा और राजा का यह हाल है कि धर्म से चूके तो सत्यानाश को पाते हैं तो धर्म जिन को सौंपा गया है या जो धर्म के संत महंत होने का दावा करते हैं

मय धर्म में भी एक बात और समझने जैसी है। वहाँ पर अहिंसा और दया का ही उल्लेख किया गया है। केवलज्ञानी सम्पूर्ण जीवों पर करुणा करके अहिंसा और दया मय धर्म का उल्लेख करते हैं; किन्तु बहुत से स्वच्छंदी, स्वार्थी लोग हो सकता है कि जहाँ वे अन्य मत का विवरण बनाते हों, उसका पूर्वापर का सम्बन्ध हटा कर, अपने मतलब के लिये "हिंसा और क्रूरता के विवरणों" को धर्म की छाप लगा के अपने पेट को पालने का अधर्म का व्यापार चलाते हैं। उनसे सावधान होने के लिये केवल भाषित धर्म होना चाहिये किन्तु वह कैसा हो? सिर्फ दया मय धर्म उस पर विश्वास करना समकित का तीसरा चरण है।

ज्ञानी कहते हैं कि व्यवहार में तो वह ठीक है किन्तु सिर्फ श्रद्धा या विश्वास करने से ही कार्य पूरा नहीं होता। निश्चय में तो उस मार्ग को जान कर "उपयोग" सहित यानी विवेक बुद्धि से चलना और कहाँ हिंसा है? कहाँ अहिंसा है? इसका उपयोग करके हिंसा को छोड़ अहिंसा को अपनाना, क्रूरता को छोड़ दया को अपनाना, वैर को तज प्रेम को अपनाना यही समकित का तीसरा चरण है, अर्थात् सत्य-मार्ग (चारित्र) पर चलना है।

आत्मा के इस सत्य-मार्ग पर श्रद्धा करना या समकित धारण कर लेना एक बात है किन्तु उसका पालन करने के लिये भी तैयारी नहीं हो तो जैसे खेत होता है उसमें खेती तो बढ़िया हो जाती है; किन्तु उसकी बाड़ न हो तो उसमें कई जंगली पशु घुस कर उसे नष्ट कर सकते हैं, रखवाली न हो तो पँखी आदि चुग भी सकते हैं और चोर उचक्के खेती को ही खतम कर सकते हैं। वैसे ही समकित के लिये भी खतरा हो सकता है। इसलिये समकिती जहाँ यह प्रतिज्ञा करता है :—

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण पणत्तं तत्तं; इअ समत्तं मए गहियं॥

—अरिहंत मेरे देव हैं, सुसाधु गुरु हैं, जिनेश्वर कथित तत्त्व दया मय धर्म है; ऐसा सत्य-सम्यक्त्व मैं स्वीकार करता हूँ, इस प्रतिज्ञा से वह यह भी प्रतिज्ञा करता है :—

(दंसण सम्मत्त) परमत्थ संथवो वा, सुदिट्ठ परमत्थ सेवणा वावि।
वावण्ण कुदंसण वज्जणा इय सम्मत्त सद्दहणा॥
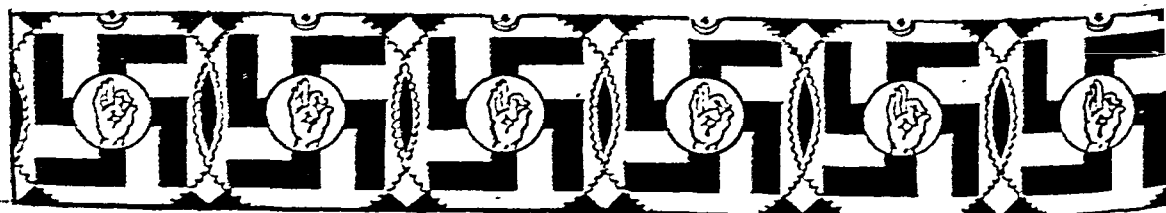
मुनिश्री जयमलजी का इतना प्रेरक और धर्म पर विवेचन युक्त प्रवचन सुन कर लोग बड़े ही हर्षित हुए। राज दरबार के लोग भी थे। वे भी "धर्म का मर्म" समझने की जो कसौटी दी गई थी उसकी सचोटता से प्रभावित हुए। सभी मुनिश्री जयमलजी की वाह-वाह करने लगे।

इस बीच दीवान रत्नसिंहजी खड़े हुए और बोले कि "जोधपुर, भूपाल महाराजाधिराज कुछ फरमायेंगे!"

सभी शांत हो गये।

महाराजा अभयसिंहजी ने वन्दना करके कहा :—"सभी संतों को मैं सर्व प्रथम वंदना करता हूँ और पूज्य आचार्य म० सा० की आज्ञा से अपने भाव प्रगट करना चाहता हूँ।

जैसा हमने सुना था वैसे प्रतापी और धर्म का सच्चा रहस्य बतानेवाले संतों के दर्शन करने से ही, हम धन्य हो चुके थे; किन्तु उनके द्वारा धर्म की जो सच्ची समझ दी गई है, वह वास्तव में सभी विचारकों को काफी नया प्रकाश देती है। यह भी हमने देखा कि उन्होंने "हमारा जैन धर्म यों कहता है ऐसा न कह कर धर्म का सत्य स्वरूप क्या होना चाहिये यही बताया, और उस पर सामान्य लोगों को भी समझ में आ सके एवं सब को ग्राह्य हो ऐसी सरल रीति से हमें सत्य धर्म का रूप दिखाया है। सचमुच ही आपके प्रवचन का हृदयगामी प्रभाव हमने तो अनुभव किया और यहाँ पर बैठे सभी के चेहरे भी इसकी गवाही दे रहे हैं। उनके प्रवचन से हमारे हृदय पवित्र हुए हैं।

इस काल में सच्चे संत नहीं मिलते और उसमें भी असरकारी प्रवक्ता संत नहीं मिलते ऐसे समय में आचार्यश्री और उनके शिष्य सचमुच ही पहुँचे हुए संत हैं और इस काल में ईश्वर के समान हैं ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा।

आप से यही विनती है कि जोधपुर अधिकाधिक दिन विराज कर नगर पर उपकार करें जिससे हमारे जैसे कई लोगों के हृदयों में धर्म का प्रभाव आप जमा सकेंगे!"

ही आत्म विकास सधवा सकते हैं ऐसा मानना तीसरे प्रकार की रखवाली है। अपनी खेती उत्तम होने पर भी अन्य के बाहर के ठाठ-माट से उस ओर जाना और अपना खेत खुला छोड़ देना जैसी यह स्थिति है। आत्म-मार्ग पर चलनेवाले को इससे बचना चाहिये।

आत्म-मार्ग पर चलनेवाले समकिती आत्मा को अपने सम्यक्त्व की रक्षा के लिये पर पाखंड (मतवालों) की प्रशंसा कभी भी नहीं करनी चाहिये। यहाँ * पाखंड के साथ 'पर' शब्द है। आत्मार्थी के लिये अपनी आत्मा को छोड़ कर अन्य सभी प्रकार के जड़-पाखंड मतों में भूल कर किसी की भी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। आत्म-धर्मी यदि इन जड़-साधनों की प्रशंसा में लगेगा तो अन्य लोग तो उल्टे ही जाना शुरू होंगे। यह समकित की चौथी रखवाली है। जैसे अपनी अच्छी खेती के बदले अन्य की बंजर भूमि की प्रशंसा करने से, लोग या तो अपनी कीमत कम करते हैं या अपने को अज्ञानी मनवाते हैं और दोनों अवस्था में नुकसान होता है वैसा समझ कर आत्म-ज्ञानी अन्य जड़-पाखंडों की कभी प्रशंसा नहीं करता।

इसी प्रकार वह भूल से भी पर-पाखंड (जड़-वाद) का संसर्ग भी नही करता। इससे भी अपने आत्म-धर्म, समकित की रखवाली में बाधा पड़ती है। जैसे अपना खेत खुला छोड़ कर अन्य के खेत में बैठने से खेती को नुकशान होगा वैसा समझ कर आत्मार्थी कभी भी समकित (आत्म धर्म) छोड़ कर अन्य जड़ मत-पाखंड का संसर्ग नहीं करता।

जो श्रावक होता है उसे इस प्रकार सर्व प्रथम अपना आत्म दर्शन स्पष्ट करना चाहिये। यानी निश्चय से वह "आत्मा" को माननेवाला आत्मार्थी होना चाहिये। "अप्पा सो परमप्पा", "आत्मा ही परमात्मा" बन सकती है का दृढ़ विश्वासी होना चाहिये।

एतदर्थ उसे आत्म-ज्ञान निर्ग्रंथ गुरुओं से प्राप्त करना चाहिये। आगम-ज्ञान तीन प्रकार का कहा है :— सूत्र आगम, अर्थ आगम और (सूत्र-अर्थ) उभय आगम।

---

* "पापं खंडयति" इति पाखंडः अर्थात् पाप का नाश करने की भावना से की जानेवाली व्रतादिक धर्म क्रिया उसको पाखंड कहते हैं। अब केवली की बताई हुई क्रिया को स्वपाखंड और मिथ्यात्वियों के द्वारा बताई हुई व्रतादिक धर्म क्रिया को परपाखंड समझना चाहिये।
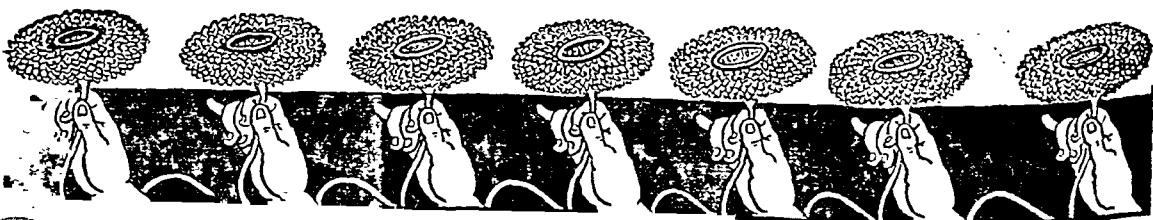
जगत में जो चाहे वह इस धर्म का पालन कर सकता हो ऐसी बात नहीं है। देवों को तो बहुत ही सुख भोग हैं। वे लोग चाहें तो भी धर्म आराधना नहीं कर सकते। नारकी के जीवों में भयंकर दुःख और कष्ट हैं। वे भी उससे उपर आकर धर्म आचरण नहीं कर सकते। तिर्यंच अज्ञानी है; उसे ज्ञान हो तो भी वह मनुष्य जितना धर्म नहीं कर सकता।

तो यह धर्म क्या है? शास्त्रकार कहते हैं कि :—

वत्थु सहाओ धम्मो

वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। हमें यह जानना है कि मनुष्य जन्म पाकर हमारा धर्म क्या है? हमारा धर्म यानी हमारे इस देह का धर्म नहीं; परन्तु हमारे शरीर में जो आत्मा रूप वस्तु रही हुई है उसका क्या धर्म है?

हम देखते हैं कि इस आत्मा का एक स्वभाव है जानना। जब तक आप में आत्मा है आप हर चीज़ क्या है उसको जानने का प्रयत्न करते हैं—यानी दूसरे शब्दों में ज्ञान-आत्मा का स्वभाव है। जब यह ज्ञान जानना शुरू करता है तो उसे मालूम होता है कि यह तन और उसके अन्दर रही हुई आत्मा दो अलग-अलग वस्तु हैं और वह उसकी पहचान शुरू करता है; यह आत्म-पहचान यानी दर्शन है। जब ज्ञान और दर्शन दोनों आ जाते हैं तब आत्मा विशेष रूप से विचार करता है, मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ मुझे जाना है? मेरा उद्देश्य क्या है? और इस तरह उसे अनुभव होता है कि वह किसी विशेष उद्देश्य से आया है? और वह है अपने आप में रहे हुए सम्पूर्ण चैतन्य स्वरूप को प्रगटाना। परमात्मा पद पाना भी इसी को कहते हैं और मोक्ष पाना भी इसी को कहते हैं। इसे चारित्र भी कहते हैं।

ज्ञानी कहते है कि धर्म से चलो। संसार में पड़े हो तो अर्थ और काम का भी पुरुषार्थ करना पड़ता है। मगर उसके बीच में ही नहीं रह जाना चाहिये—अर्थात् अर्थ और काम में नहीं फँस जाना चाहिये। वरना धर्म का जो लक्ष्य है मोक्ष पाना, उसे प्राप्त नहीं कर सकते। अर्थ और काम के पुरुषार्थ में भी धर्म-वृत्ति तो होनी चाहिये; वरना यह

जालोर से जब संतों ने विहार किया तो लोगों के दिल भाव विभोर हो गये थे। जैनों के साथ कई अजैन लोग भी संतो को दूर - तक पहुँचाने साथ हो गये थे।

जालोर से विहार कर संत लोग गाँव - गाँव में धर्म प्रचार करते हुए आगे बढ़ रहे थे। वे छोटे - मोटे गाँवों को स्पर्शते हुए भीनमाल पहुँचे। भीनमाल एक समय में जैनों का बड़ा नगर था। जैसे ओसियाँ में ओसवाल बने वैसे भीनमाल में श्रीमाल (श्रीमाली) जाति के रूप में बहुत बड़ा समुदाय जैन बना था।

समय के प्रवाह को देखते हुए पूज्यश्री श्रावकों के अपने संघ बनाने का यथा अवसर उल्लेख करते ही थे और मुनिश्री जयमलजी रात्रि चर्चा विचारणा में उसका स्पष्ट रूप समझाते थे। जिससे समझ कर साधु मार्गीय श्रावक संघ अपना संगठन मज़बूत बनाये रखे। व्रत, तप - उपवास आदि के लिये एक स्थान पर इकट्ठे हों, और जहाँ अधिक जैन बालक पढ़नेवाले मिले वहाँ पर इनकी धर्म पढ़ाई का प्रबन्ध कर बालकों में धर्म - संस्कार भरे जाँय। यहाँ पर मुनिश्री जयमलजी को हर एक गाँव में कुछ न कुछ नया अनुभव होता था। जड़ - परिग्रह में फँसा समाज जड़ - साधना के पीछे और धन पैदा करने में कितना उलझा हुआ था कि यदि धर्म - क्रियाओं के साथ अर्थ की प्राप्ति को जोड़ दिया जाय तो लोग उस ओर आसानी से झुक जाते हैं ऐसा उन्हें अनुभव हुआ था। अतः सच्चे धर्म की जागृति और भी आवश्यक थी। श्रावक संघ मज़बूत बनने से कुछ जागृति बनी रहेगी ऐसा उनका विश्वास था और सभी उनसे सहमत होते थे।

श्रावकों में दृढ़ धर्म श्रद्धा का प्रसार अच्छी तरह करते थे। पूज्यश्री को मुनिश्री जयमलजी का यह धर्म प्रचार उचित ही लगा था और वे भी इस पर ज़ोर देते थे। फलतः जहाँ जहाँ संत जाते थे वहाँ से विहार होने पर वहाँ श्रीसंघ बनता था।

यों श्रावकों में श्रद्धा फैलाते हुए संत आगे विहार करते जा रहे थे।

●
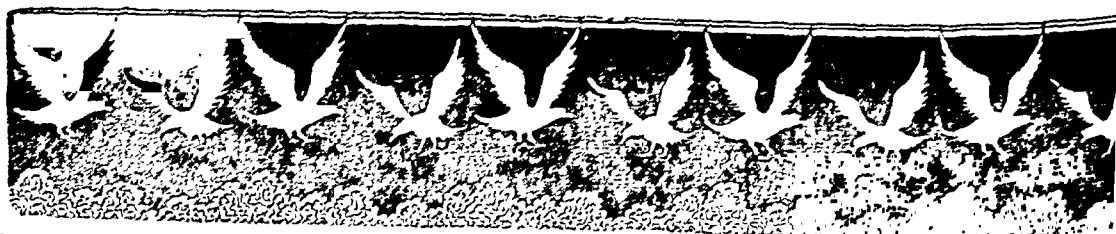
यानी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — इन चारों में से किसी एक का भी पुरुषार्थ जिस में नहीं होता उसका जन्म निरर्थक है; जैसे बकरी गले में लगे स्तन से दूध नहीं निकलता।

संसार में सभी मानवों को अपनी योग्यतानुसार चार वस्तुयें प्राप्त हैं — मन, तन, धन और वचन। इन्हें पाकर भी जो जीव धर्म से मोक्ष न प्राप्त करके बीच में लटक जावे तो वे अपना जीवन निरर्थक ही कर देते हैं।

शास्त्रकार इन चारों वस्तुओं का श्रेष्ठ उपाय भी बताते हैं :—

बुद्धेः फलं तत्वविचारणं च,
देहस्य सारं व्रत धारणं च।
अर्थस्य सारं किल पात्र-दानं,
वाचां फल प्रीति कर नराणां॥

मन में जो बुद्धि मिली है उससे चिंतक तत्वों की विचारणा करता है? जीव क्या है? अजीव क्या है? कर्म क्या है? बंधन क्या है? मुक्ति क्या है? और जब वह कर्म स्वरूप को विचार सकता है तो उसे यह अनुभव होता है कि दुर्लभ ऐसा मनुष्य देह प्राप्त करके उसके सार स्वरूप यथाशक्ति व्रत धारण करके उसको पालना चाहिये। और धीरे-धीरे जड़ संपति का मोह छोड़ना चाहिये। जो पैसा प्राप्त हुआ है उसको दान-पात्रों में देने में ही उसका सार है। जो वाचा मिली है, वचन मिले हैं, तो सब को हित कर प्रियकर हो ऐसा मधुर बोलना ही उसका सार है।

धर्म यही कहता है कि :—(१) जानो — जो जानने योग्य वस्तुएँ हैं उनको जानो और उसमें छोड़ने योग्य जो वस्तुएँ हैं उसे छोड़ो और जो आचरण करने योग्य वस्तुएँ हैं उनका आचरण करो। इन तीनों को संक्षिप्त में ज्ञेय — जानने योग्य जानना, हेय — छोड़ने योग्य छोड़ना और उपादेय — जो ग्रहण करने योग्य हैं उनको स्वीकार करना, कहा जाता है। धर्म का जहाँ विनय मूल है तो विवेक धर्म का मापदंड है और जिससे ज्ञेय, हेय और उपादेय को आप पहचान सकेंगे।

हर्षित हो उठता था और रात्रि में मुनिश्री जयमलजी के मधुर कंठ से काव्यमय उपदेश उन्हें बहुत आनन्द देता था।

सांचोर से राणीवाडा और राणीवाडा से मढ़ाल पूज्यश्री संतों के साथ विहार करते पहुँचे थे। यह गोड़वाड़ प्रदेश था। पूज्यश्री ने रात्रि के चर्चा में पिछला इतिहास बताते हुए कहा था कि "इसी प्रदेश में प्राग्वाट नाम की सम्पूर्ण जाति ने जैन धर्म स्वीकार किया था जो पोरवाड़ के नाम से आज भी विद्यमान हैं। ये छोटे-छोटे समुदाय (गोल) अपने-अपने घेरे में लगनेवाले गाँवों के समुदाय के संगठन गोल बना कर रहते थे। इसलिये उन्हें गोले-गोलवाले जिससे राजस्थानी अपभ्रंश में गोडवाडे कहे जाते हैं।

गाँव-गाँव के विहार में एक बात स्पष्ट देखी जाती थी कि सामाजिक संस्कारों के लिये तो ओसवाल, पोरवाल श्रीमाल आदि ज्ञाति संगठन थे। उनमें आपस में अपने-अपने संगठनों में रोटी-बेटी का व्यवहार चलता था; किन्तु धर्म के नाम पर कोई संघ संगठन नही था। अतः जो शिथिलाचार या जड़-पूजा का आचार था वह पुनः अपना ज़ोर दिखाता था।

पूज्यश्री अपने विशाल सामाजिक ज्ञान के साथ धार्मिक ज्ञान को जोड़ कर कहा करते थे:—

भगवान महावीर ने भविष्य-वाणी की थी।

एक वार शर्केंद्र ने उनसे पूछा:—"भगवान आपके जन्म-नक्षत्र पर महाभस्म नाम का जो ग्रह बैठा है उसका जगत पर क्या असर होगा?"

भगवान ने उत्तर दिया:—"इंद्र! यह भस्म ग्रह २००० वर्षों तक सच्चे श्रमण और साध्वी की पूजा को मन्द करेगा। २००० वर्ष के बाद यह ग्रह उतरेगा तब जैन संघ में नव चेतना आयेगी और सच्चे संत-साध्वी की पूजा होगी; उनकी महिमा बढ़ेगी!"

"अंतिम श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी थे। स्थूलिभद्रजी ने जब ज्ञान के सत्यासत्य में जिज्ञासा वश प्रयोग करके देखना चाहा तो भद्रबाहुजी ने उन्हें आगे पढ़ाने से इनकार कर दिया। वे वापस मगध चले आये और दृष्टिवाद नाम के अंग का विच्छेद हुआ। वहाँ

यानि मोक्ष प्राप्ति भी धर्म से होती है, इसलिये वह भी उसका पिता माना जाता है। मगर धर्म से प्राप्त होनेवाली पुण्य रूपी पूंजी पाकर भी जो उसे गँवा देता है उसे तो कपूत ही कहा जायेगा।

यहाँ पर एक सेठ के तीन बेटे का किस्सा याद आता है। उसके एक बेटे ने तो बाप की पूँजी को अपने व्यापार में लगाई और उसे बराबर रखी। दूसरे बेटे ने सभी प्रकार के भोग - विलास, व्यसन और कुछंद में पूँजी गँवा दी और तीसरे बेटे ने उस पूँजी को न केवल बढ़ाया किन्तु साथ ही अपने पिता का नाम भी सवाया किया। जिसने पूँजी खो दी वह तो कपूत कहलायेगा उसी तरह धर्म से पुण्य द्वारा प्राप्त भोग - विलास में जो डूब गया — धर्म को जिसने नहीं पहचाना — वह मानव जन्म रूपी पूँजी पाकर भी उसे गँवा देता है। जब उस धर्म से मानव जन्म पाकर जो मनुष्यता को लाकर कार्य करता है, दया - दान आदि करता रहता है, अर्थ का उपयोग बराबर करता है, वह तो पुन: मनुष्य जन्म पाता है, यानी वह पूत कहलाने योग्य है। मगर मनुष्य जन्म पाकर जो धर्म मार्ग में उन्नति करता है, अपने कर्म आदि खपाता है, और मोक्ष को प्राप्त करता है वह सपूत है। हमें क्या बनना है? यह हमें ही विचार करना पड़ेगा।

वैसे नीतिकारों ने इन चारों को अन्यरूप में भी कहा है। नर्क का प्रश्न है वहाँ तो दुःख ही दुःख है अतः वहाँ धर्म - अर्थ - काम का भी प्रश्न नहीं उठता। शेष तीन गति में हम तीनों को अलग - अलग रूप से देखते हैं। इस संसार में सर्व श्रेष्ठ "मनुष्य" को माना गया है। इसलिये धर्म आराधना मनुष्यत्व के साथ जोडी गई है। अर्थ यानी वैभव ऋद्धि - सिद्धि देवों से बढ़कर किसी के पास नहीं है, उसका उसके साथ संबंध जोड़ा है, यानी अर्थ दैवत्व के साथ है। भोग - विलास का संबंध तिर्यंच यानी जीव - जंतु और पशु - पक्षी से जोड़ा है और वह उनका विषय बताया गया है। यानी मनुष्य जन्म पाकर धर्म करेगा तो पुनः मनुष्यत्व पायेगा। किन्तु तप जपादि करके जीव ऋद्धि - सिद्धि की कामना करते हैं वे देव हो सकते हैं, जो तुच्छ विषय भोग में ही आत्मा को लगाये रखते हैं वे तिर्यंच बन सकते हैं। किन्तु इन सब से जो श्रेष्ठ है, वह है मोक्ष। मनुष्य के लिये ही यह बताया गया

विहार किया। जैन धर्म मालवा, मारवाड़ और गोलवाड़ से आगे सौराष्ट्र और कच्छ एवं गुजरात की ओर फैलता गया। किन्तु श्रुत ज्ञान लिपिबद्ध नहीं होने से जिन-जिन के पास था उन्होंने उसे अपने ढंग से कहा। मगर देवर्धि गणी क्षमा श्रमणजी ने आगमों को लिपिबद्ध करा कर जैन समाज पर बड़ा उपकार किया।

उनके लिपिबद्ध शास्त्रों का जैन समाज को विशेष लाभ मिले, उस समय यवन आक्रमणों का तांता सा बँधने लगा। जैन समाज के कई आगेवानों ने लिपिबद्ध आगमों की सुरक्षा के लिये नगरों में भंडार बनवाये। यवन आक्रमण, राजपूतों में परस्पर का युद्ध और अराजकता आदि अनेक ऐतिहासिक कारणों से जैन धर्म का सच्चा ज्ञान, इन शास्त्र भंडारों में बंध पड़ा रहने लगा। फलतः आपद् कालीन अपवाद के नियमों को श्रमणों ने अपना कर शिथिलाचार का आधार लिया। जड़-पूजा, व्यक्तिगत पूजा चल पड़ी। विहार और गौचरी मंद पड़ गये और प्रभु महावीर ने कहा था वैसे २००० वर्ष के उनके शासन काल में शिथिलाचार के बाद धर्म उद्धार का सूर्य लोंकाशाह के रूप में सिरोही में चमका!"

ऐतिहासिक दृष्टि से एक बात पर थोड़ा सा ध्यान देने से और भी बहुत सी बातें स्पष्ट होगी कि भगवान महावीर स्वामी के बाद करीब १५० वर्ष के अन्दर देश की शक्तियाँ फिर छिन्न-भिन्न होने लगी थीं। विदेशियों के आक्रमण के कारण देश में नई चेतना तो आई; किन्तु अशोक के समय जो एकता लाई गई वह मूलतः तो हिंसा से हुई थी। हालाँकि बाद में उसने उसके उपर धर्म का रंग चढ़ाया था। हिंसा से साधी गई एकता और विशाल भारत का साम्राज्य का शासन उसके बाद के वंशजों ने, संप्रति और खारवेल ने धर्म के आधार पर चलाया; किन्तु धीमे-धीमे धर्म राज्याश्रित होता गया। यह भी स्वाभाविक था कि राज्य का आश्रय प्राप्त होने पर धर्म का प्रचार अधिक होता था। अतः जैन, बौद्ध और शैवों में होड सी चलने लगी। इस बीच सिकंदर और सेल्युकस के हमलों के बाद यूनानी संस्कृति का भी लोगों पर असर पड़ने लगा। उनकी मंदिर-मूर्ति और शिल्प-कला का विकास होता चला।

अन्य धर्म की तरह जैन धर्म पर भी इसका प्रभाव पड़ा और साधु जीवन जो कि प्रभु महावीर स्वामी के समय नगर बाहर उद्यान उपवन में बीतता था वह नगर और गाँव के

सब के लिये अलग-अलग बताते हैं। धर्म की प्रतिष्ठा अर्थ से करवाते हैं और कई जगह तो यह भी देखा जाता है कि धर्म के नाम पर भोग-विलास, पापाचार भी वे लोग चलाते हैं। उन पर विवेकी जन बड़ी करुणा लाते हैं और कहते हैं कि न जाने इनकी क्या गति होगी?

इस तरह यह स्पष्ट देखा गया है कि व्यवहार, व्यापार और संसार सब में जिसे मुख्य स्थान मिला है वह धर्म है। यह भी सुना गया है कि लक्ष्मी के चार पुत्र है — यानी लक्ष्मी इन पुत्रों के पास जाती है। उनके बारे में कहा गया है :—

धर्म चौर, अग्नि, नृपति, लक्ष्मी के सुत चार।
जहाँ मान नहीं ज्येष्ठ को लघु करात हाकार॥

धर्म, चौर, अग्नि और नृपति यह लक्ष्मी के चार पुत्र हैं। उसमें भी सब से ज्येष्ठ धर्म है। जहाँ पर धर्म का आदर नहीं है वहाँ पर चोर आदि तीनों छोटे भाई हाहाकार कराते ही रहते हैं। जब धर्म को मान नहीं दिया जाता — यानी लक्ष्मी का व्यय धर्म कार्य में नहीं होता तो बाकी के पास रहकर भी वह लक्ष्मी सिर्फ हाहाकार ही करानेवाली होती है। चोर के पास वह अन्यों के घर की लूट से जायेगी और नाना प्रकार के व्यसनों में उसका विनाश हो जायेगा या "अग्नि" यानी विनाशकारी भोग-विलासों में जायेगी तो भी उसका नाश होगा और राजा के पास भी गई; मगर वहाँ धर्म का मान नहीं होगा तो भी वह विनाश और हाहाकार मचायेगी।

इतना ही नहीं; जगत में जो-जो वर्ण व्यवस्था है उसमें भी यदि धर्म रहता है तो वह व्यवस्था का सार है। यदि ब्राह्मण अपना ब्रह्मत्व-आत्म-धर्म को त्याग देता है और व्यसनों में, कुकर्मों में लगता है तो उसको कोई नहीं मान देगा। क्षत्रिय अपना क्षात्र-धर्म न निभाके, प्रजा के रक्षण बदले भक्षण शुरू करे तो भी अनर्थ होगा। उसी प्रकार वैश्य और शूद्र भी व्यापार और स्वच्छता न बनाये रखें और धर्म चूकें तो अच्छी व्यवस्था भी बुरी बन जाती है।

इस संसार में धर्म बिना कोई वस्तु टिकती नहीं है। वही संसार का सार है और जो-जो अपने धर्म को चूकते हैं, भूलते हैं वे पतित कहलाते हैं। मगर जो धर्म का
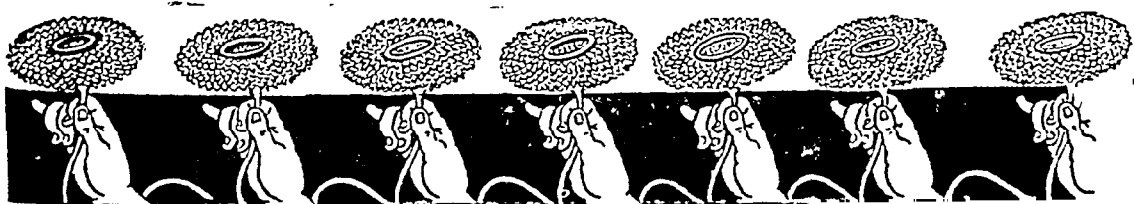
संत विहार करते - करते खेवादत, अणादरा, चित्रोट आदि स्पर्शते हुए सिरोही पधारे। सिरोही में जन्मे लोंकाशाह ने वीरप्रभु के साधु - मार्ग को प्रशस्त किया था और उनसे सत्य - धर्म का प्रकाश पाकर कई क्रिया - उद्धारक संतों ने उस मार्ग पर चल कर उसकी पुनः प्रस्थापना की थी।

इसलिये सिरोही में साधु - मार्गीय श्रमणोपासकों का संगठन अच्छा था। इस ओर बहुत वर्षों से जैनाचार्य नहीं पधारे थे। अतः श्रीसंघवालों ने बड़े उत्साह से पूज्य भूधरजी आदि संतों का स्वागत किया और जयजयकार के नारों के साथ उनका प्रवेश नगर में कराया। सभी नगरवासी ये संत कौन हैं यह जानने के लिये उत्सुकता से पूछने लगे। जब उन्हें प्रतापी पूज्यश्री एवं उनके सुशिष्यों के बारे में पता लगता था तब वे उन्हें बड़ी श्रद्धा से वन्दना, नमस्कार करते थे।

सभी संतों को धर्म स्थानक में उतारा गया और मंगलिक सुन कर सभी लोग अपने - अपने स्थानों को गये। सब संत भी धर्म प्राण लोंकाशाह की क्रियोद्धार भूमि में अपने आपको पाकर सन्तुष्ट हुए।

लोगों का व्याख्यानों में आना धीमे - धीमे बढ़ने लगा। श्रीसंघ के आगेवानों से चर्चा - विचारणा करके पूज्यश्री ने जान लिया कि "यहाँ पर प्रभावी संतों का आना - जाना कम होने से लोगों में पुनः जड़ - साधना के प्रति झुकाव बढ़ता जा रहा है। वैसे भी लोंकाशाह की जन्म - भूमि और क्रियोद्धार का नगर होने से विरोधी यहाँ पर अपना प्रभाव सभी प्रकार से जमाना चाहते थे। अतः अधिक से अधिक पूज्यश्री ने विराजने का और धर्म संस्कार दृढ़ करने का निश्चय किया। वैसे भी पूज्यश्री का स्वास्थ्य भी सतत विहार से कुछ श्रमित हो चुका था। अनायास ही दो लाभ होनेवाले थे; समाज की धर्म सुधारणा और तन को आवश्यक विश्रांति।

पूज्यश्री ने विशेष रूप से मुनिश्री जयमलजी को लोंकाशाह के संबंध में और साधु मार्गीय सच्चे धर्म पर प्रकाश डालने के लिये कहा था। अतः उन्होंने अपने प्रवचनों में धर्म प्राण लोंकाशाह के संबंध में बहुत ही सजीव चित्रण खींचना प्रारंभ किया। उनके मधुर

ही नित्य धर्म को धारण करते हैं और दुःखद कर्म को नष्ट करते हुए परम पद मोक्ष को पाते हैं।"

*   *   *

मुनिश्री जयमलजी का व्याख्यान पूर्ण हो गया। सभी मंत्र मुग्ध होकर उसे सुन रहे थे और क्षण भर को लगा कि क्यों यह अमृतमय वाणी बंद हो गई?

सभी के मन प्रफुल्लित हुए और श्रोतागण अपने आपको धन्य समझने लगे। कई लोग आपस में बातें करने लगे।

"आजकल तो पुरानी परिपाटी का सूत्र पढ़ना चलता है? उसमें चतुराई पूर्वक प्रत्येक बात को इतने खुलासे के साथ कौन कहता है?" किसी ने कहा।

"ऐसे ज्ञान के धारक मुनि महाराज है? पंडिताई होने पर भी जरा सा अभिमान नहीं है।"

"और तो और अपने-अपने आप लोगों के निमित्त गाँव-गाँव विचरण करते हैं!"

थोड़ी देर के कोलाहल के पश्चात् कई लोगों ने व्रत पचक्खाण अंगीकार किये। और बहुतसों ने अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने के लिये नियम भी लिये।

महाराजा अभयसिंह ने उठकर रानियों के साथ सभी संतों की भाव भरी वंदना की और विनयपूर्वक उन्होंने अर्ज किया।—"आप पूज्य आचार्य अपने मारवाड़ के पहुँचे हुए संत हैं। वैसा ही आपका शिष्य समुदाय है। आपने जोधपुर पदार्पण करके उसे पवित्र कर हमारे पर बड़ा उपकार किया है। और भी जितने दिन विराज सकें विराज कर हमारे तन, मन, जीवन को शुद्ध करें। आपके मधुर प्रवचनों ने सब का मन मोह लिया है। वैसे मेरा भी मन मोह लिया है और आप जितने दिन विराजेंगे मैं तो उसका लाभ लेने से नहीं चूकूँगा। इसके उपरांत भी मेरी तो अंतर की यही अभिलाषा है कि आप चातुर्मास भी यहीं करें और हमारे पापों का नाश कराने में धर्म वृद्धि करावें!"

२३
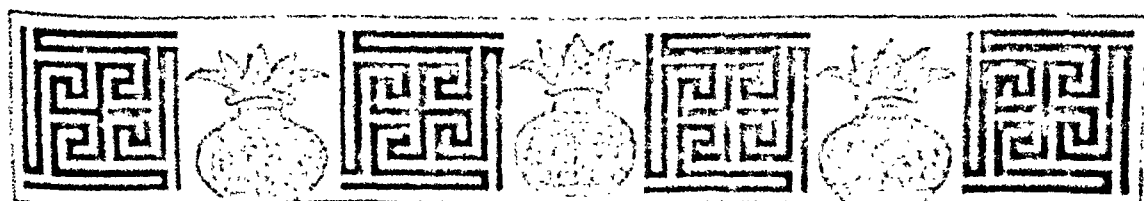
जय-श्रावक धर्म श्रद्धा
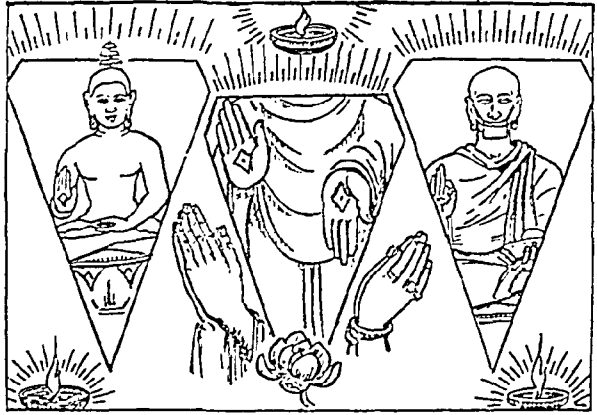
जोधपुर में धर्म ध्यान की जागृति करा कर संतों का विहार बालोतरे की ओर हुआ। जोधपुर के लोगों को अवश्य निराशा हुई कि उनके यहाँ पूज्यश्री का चातुर्मास नहीं हुआ फिर भी अधिक से अधिक समय संतों के ठहरने का लाभ जैन-अजैन सभी ने लिया। राजा और प्रजा दोनों में भी धर्म की वृद्धि हुई।

जोधपुर की विदाई बड़ी भावभीनी थी। अब ऐसे संत पुनः कब आयेंगे और कब उनके प्रवचनों का लाभ फिर मिलेगा यही सब के दिल में भाव था। मगर सूत्र कृतांग सूत्र में कहा हैं :—

> वाउरिव अप्पडिबद्धा
> भारंड पक्खी व अप्पमत्ता।
> विहग इव विप्पमुक्का
> पुक्खर पत्तं व निरुव लेवा॥

—वैसे यह वायु की तरह अप्रतिबद्ध, भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त और पक्षी की तरह उन्मुक्त विहारी और कमल के पत्ते के समान निर्लेप (अनासक्त) ये संत गाँव-गाँव में जाते हैं।

गाँव-गाँव में धर्म जागृति करते हुए संत बालोतरे पहुँचे। तीनों समय प्रवचनों का ठाट लगा हुआ था। प्रातः आचार्यश्री सूत्र पढ़ते थे, दुपहर को रघुनाथजी चौपाई-सज्झाय पढ़ते थे और रात को मुनिश्री जयमलजी का प्रवचन चलता था।

यहाँ तक कि उन्होंने वैदिक और हिंदु धर्म के रामायण, महाभारत, गीता आदि देखे; लेकिन मूर्ति पूजा - मंदिर का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता था। आगम में तो था ही नहीं। यह स्पष्ट था कि यूनानी आक्रमण के साथ मूर्ति पूजा और मंदिर भारत में आये थे। उसके पहले स्मारक के रूप में चैत्य होते थे वहाँ पर चरण - स्थापना आदि प्रचलित थे।

लोंकाशाह ने बहुत मंथन के बाद यह तय किया कि जो कुछ जैन - धर्म के नाम पर यह हो रहा है वह सब निरा पाखंड है, ढोंग है, अधर्म है। उन्होंने उसका विरोध शुरू किया और अपने प्रचार के आधार में आगम वाक्य देने शुरू किया। लोग तो पहले ही तंग आ चुके थे। उन्होंने साथ दिया। उनके समर्थक बढ़ते गये।

यहाँ पर यति समुदाय में खलबली मची। एक दिन गोचरी लेने के बहाने वे लोंकाशाह के घर पधारे। वहाँ पर आगम की दो प्रति लिपि देखकर वे जान गये और उन्होंने आगे ग्रंथ लिखवाने का कार्य बंद कर दिया। किन्तु तब तक लोंकाशाह आगम रहस्य जान चुके थे और उन्होंने उसके आधार पर अपने स्पष्ट और निर्भय मत का प्रचार करना शुरू किया। यति लोग और उनका भक्त समाज बिगड़ा और स्वाभाविक था कि लोंकाशाह ने उन्हें सहज, रूप से दो प्रश्न पूछे :—"क्या, ज्ञान प्राप्ति का अधिकार श्रावक को नहीं है? या वीरप्रभु का आगम ज्ञान भंडारों में बंध करके रखने का है?"

बड़ी खलबली मची और लोगों ने उन्हें शासन द्रोही कहा। लोंकाशाह ने ललकार के कहा : "ऐसा एक भी यति; या साधु सामने आ जांय, जो शास्त्र सम्मत आचार का पालन करता हो?"

उन्होंने स्पष्ट कहा कि "अज्ञानी जीवों की अंध श्रद्धा के साथ खिलवाड करना धर्म नहीं है; जड़ - पूजा या प्रतिमा के साथ के सब आडंबर शास्त्र सम्मत नहीं। उसमें साधु के पाँच महाव्रत खंडित होते हैं और आत्म - लक्षी श्रावकों को उससे कोई आत्मा का लाभ नहीं होता।
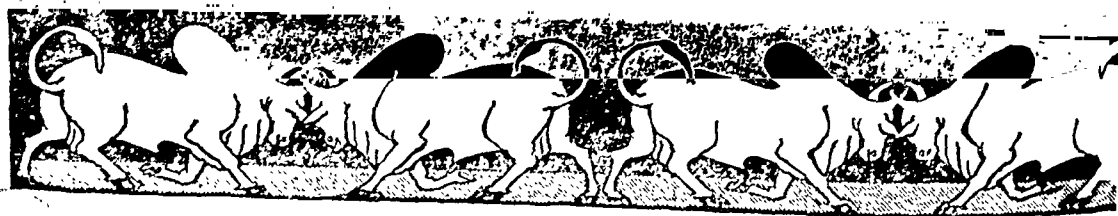
गौरव जमाये हुए थे। श्रीमाली यहाँ से कच्छ, सौराष्ट्र, गुजरात आदि में फैलते गये और उन प्राँतों के जैनों में आज भी ओसवालों के साथ श्रीमाली जैन पाये जाते हैं।

चातुर्मास का समय होता था तभी ज्ञानाराधना के साथ-साथ मुनिश्री जयमलजी की काव्य रचना एवं ग्रंथ आलेखन का कार्य भी चलता था। जालोर के उनके प्रवचनों का यही सार था कि श्रावक धर्म क्या है ? समकित क्या है ?

"**श्रावक धर्म समकित :—**" यहाँ कहते हैं सदियों पहले बहुत से श्रीमाली लोग आज के भीनमाल नगर में श्रावक बने। श्रावक का अर्थ है जैनधर्म को पालनेवाला गृहस्थ वर्ग। और प्रभु महावीर ने चार तीर्थों में श्रावक श्राविका को भी तीर्थ माना है। इतना ही नहीं श्रावक धर्म का निरूपण किया है। लोग कहते हैं कि जैन धर्म तो तो सिर्फ साधुओं का धर्म है किन्तु भगवान ने जगह-जगह सूत्रों में स्पष्ट कहा है :—

समणे भगवं महावीरे धम्मं दुविहं आइक्खई ;
तंजहा, अगार धम्मं, अणगार धम्मं च ॥

श्रमण भगवान महावीर ने धर्म को दो प्रकार का कहा है एक आगार धर्म और दूसरा अणगार धर्म।

यहाँ पर भी उन्होंने अणगार धर्म जो कि गृहस्थाश्रम से बढ़ कर सर्व प्रकार से प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन-परिग्रह, रात्रि-भोजन त्याग रूप बताया है, इसे बाद में कहा है। किन्तु सर्व प्रथम आगार धर्म के बारे में कहा है क्योंकि उन्हें जीवन व्यवहार में भी (गृहस्थों के घरों में भी) धर्म लाने का था। उन्होंने अणगार जीवन का आधार गृहस्थ जीवन बताया और जब तक वह जीवन पवित्र न बने अणगार जीवन को निभाना सरल न था ऐसा वे स्पष्ट जानते थे।

अतः उन्होंने गृहस्थों से अपने अगार (श्रावक) धर्म का पालन करने के लिये कहा। इसके पालनेवाले पुरुष-वर्ग श्रावक को और स्त्री-वर्ग श्राविका को भी धर्म तीर्थ के चार स्तम्भ में से दो स्तम्भ के रूप में बताये। यहाँ पर भी आत्मा के भाव शुद्ध होते जाँय तो वह गृहस्थ लिंग से भी मुक्ति को पाने का अधिकारी हो सकता है।
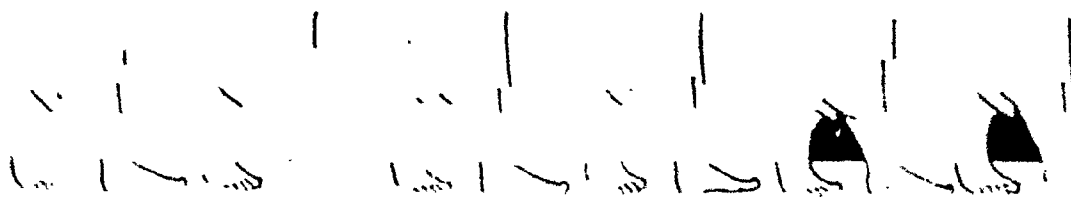
और सिर्फ महावीर भगवान ही नहीं अन्यमत के भी आद्य संस्थापक परम पुरुष ने मूर्ति-पूजा की हो वैसा उल्लेख नहीं मिलता !" लोंकाशाह ने कहा।

"तो क्या ये धर्म के विरुद्ध है ?" लखमशी भाई ने पूछा।

"यह एक जड़-साधन है। उसका आधार प्रारंभिक दशा में लेना चाहें ले सकते हैं; किन्तु यह धर्म का अंग नहीं है। जैसे मैं सुंदर अक्षरों में शास्त्र लिख लूँ मगर उसका रहस्य नहीं जानूँ और तदनुसार आचरण नहीं करूँ तो मैं शास्त्रज्ञ नहीं कहला सकता और न मेरी मुक्ति भी हो सकती है। वैसे मूर्ति की पूजा व आडंबर से एवं तीर्थ यात्रा से मोक्ष प्राप्ति होगी यह शास्त्र सम्मत मान्यता नहीं है। जैसे सूत्रों के जलुस पालखी निकालने से ज्ञान की साधना नहीं होती, जैसे गडगडाट श्लोक बोलने मात्र से उसके दर्शन (रहस्य) की साधना नहीं होती, वैसे प्रतिमा-पूजा और तीर्थ यात्रा से चारित्र की साधना नहीं होती। और फिर एक बार प्रतिमा देखने से (दर्शन) अमुक सामायिक का फल और तीर्थ यात्रा करने से अमुक मास का संयम मिल जाता हो तो कौन व्रत, उपवास, तप, त्याग का सत्य मार्ग ग्रहण करेगा ?" लोंकाशाह ने खुलासा किया।

"तो सभी कहते हैं तो क्या वे सभी अज्ञानी हैं ?" लखमशी भाई बोले।

"श्रावक लोगों को तो अज्ञान में रखा गया है; क्योंकि सूत्रों को भंडार के बाहर जीवन का प्रकाश देखने नहीं दिया जाता। और यति एवं साधु इसकी ओट में जो जीवन बिता रहे हैं, वह है शिथिलाचार। उसे छोड़ कर सत्य मार्ग पर चलने के लिये कठोर संयम और साधु आचार का पालन करना पड़ता है। अतः वे उसे छोडना नहीं चाहते ! यदि पेट भरना ही लक्ष्य होता तो साधु-अवस्था में कौन सी विशेषता रह जाती है ?" लोंकाशाह ने पूछा।

तदनंतर दोनों में मूर्ति-मंदिर और तीर्थ के बारे में चर्चा चली। लोंकाशाह ने उसके संबंध में व्यवहार और आवश्यक सूत्रों का हवाला देते हुए कहा :—"चंद्रगुप्त के पाँचवें स्वप्न का फल बताते हुए भद्रबाहु स्वामी ने कहा था कि कुछ समय बाद जिन बिंब की पूजा प्रतिष्ठा चल पड़ेगी और साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका उस अविधि पंथ पर चल पड़ेंगे

देव माना गया है। सत्य देव मानने का दूसरा अर्थ यह भी होता है कि हमें भी अपनी आत्मा पर वैसा ही विश्वास होना चाहिये कि यदि यह भी कर्म से मुक्त होती जायेगी तो यह भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकेगी। यह आत्मा पर विश्वास-श्रद्धा सम्यक्त्व में सर्व प्रथम आवश्यक है। एक वार यदि आत्मा पर श्रद्धा वैठ गयी तो वह जीव अपने विकास की खोज में अपने आप उपर उठता जाता है।

समकित का दूसरा चरण है सत्य का ज्ञान प्राप्त करना।

आत्मा जितने बड़े सत्य पर श्रद्धा रखने के लिये आवश्यक है ज्ञान और वह सत्य ज्ञान हमें केवल उन निर्ग्रंथ साधुओं से मिलता है जिन्होंने संसार को छोड़ा है, जो गृहस्थी नहीं हैं और एकान्त अपनी आत्मा का विकास साधना जिनका चारित्र है। ऐसे अनुभवी को गुरु मानना व्यवहार में समकित का दूसरा लक्षण माना है। मगर वास्तव में उन्हें गुरु मान लेने मात्र से सत्य-ज्ञान नहीं मिलता। उन ज्ञानी पुरुषों से आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना और आगे चल कर वही ज्ञान हमारी आत्मा के विकास में सहायक बने यह भी नितांत आवश्यक है। गुरु रास्ता बताते हैं; मगर समझना स्वयं को है। इसलिये आत्म विकास के मार्ग पर जो सहायक हैं; वह सत्य-सम्यक् ज्ञान ही हमारा स्वयं मार्ग दर्शक गुरु बनता है। निश्चय समकित में गुरु के रूप में ज्ञान को इसीलिये माना है।

समकित का तीसरा चरण है, जिस आत्मा पर श्रद्धा की है, जिसके बारे में ज्ञान प्राप्त किया है; उस सत्य मार्ग पर आगे बढ़ना या सम्यक् चारित्र का पालन करना है। व्यवहार में जिनेश्वर या परमात्मा-पद पानेवाले केवली अरिहंत द्वारा प्ररूपित अहिंसा मय धर्म जो दया का मार्ग है उसे ही समकित का तीसरा चरण कहा है। यहाँ पर अरिहंत और केवली द्वारा प्ररूपित ही धर्म इसलिये कहा गया है कि सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन चारित्र की आराधना के फल स्वरूप जिनको सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त है वे ही सत्य-ज्ञान को बता सकते हैं। बाकी अपूर्ण या अज्ञानी कितना भी विवेचन पूर्ण कहे वहाँ कुछ न कुछ अपूर्णता रह जाती है। स्वयं अपूर्ण है वह पूर्णता का रास्ता कहाँ बता सकता है? जैसा गन्दा पानी स्वच्छ कपड़े नहीं धो सकता वैसा इनका भी समझना चाहिये। व्यवहार में तो केवलज्ञानी-भाषित सम्पूर्ण दया

स्वाभाविक था चैत्यपूजक लोगों में इसका विरोध ज़ोरदार हुआ। किन्तु आगम के आधारों और उदाहरणों के आगे मूर्ति पूजकों का आडम्बर एवं प्रपंच सब फीका पड़ने लगा। शास्त्रार्थ और चर्चाओं में उनकी हार होने लगी।

शिथिलाचारियों के लिये यह असह्य था। उन्होंने तरह-तरह के कष्ट देने शुरू किये। कहीं-कहीं तो इन श्रमणों को गोचरी तक नहीं मिलती थी। वह ज़माना यतियों के श्री पूज्यों का था। लोंकाशाह दिल्ही गये और वहाँ श्री पूज्यों को भी सच्चा धर्म प्रबोध कराया एवं उनके बहुत से शिष्य हो गये। विरोधियों को यह क्यों सुहाने लगा....? अलवर में तीन दिन के पारणे पर उनको जो गोचरी मिली उसमें उनके प्राण चले गये।

उनकी जगाई ज्योति से सच्चे धर्म का प्रभाव एक सौ वर्ष तक चला; किन्तु फिर शिथिलाचार फैलने लगा और अलग-अलग प्रभावी क्रिया-उद्धारक संत आचार्यों के प्रभाव से यह सत्य-धर्म आज भी प्रकाशमान हो रहा है!

यतियों का ज़ोर हालाँकि ढीला पड़ गया था; किन्तु उन्होंने अपनी उपयोगिता करीब-करीब बड़े-बड़े गाँवों में बना रखी थी। वे उपदेश देते थे; वैद्यक एवं ज्योतिष भी करते थे और यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र की साधना करके लोगों को सहायक होते थे। किन्तु उनकी समाचारी साधु की नहीं होती थी और वे यहाँ तक कहते थे कि वीर शासन के अनुसार कोई भी इस पंचम काल में साधु बन कर नहीं रह सकता था। उनका एक तर्क था कि जब निर्वाण ही नहीं होता है तो वैसी क्रियायें कैसे हो सकती हैं?

मगर समय की माँग थी और क्राँति द्वारा जड़-पाखंड और अज्ञान को दूर होना ही चाहिये था। यति समाज ने अपने चमत्कारों से दिल्ही के बादशाहों को भी प्रभावित कर रखा था और छोटे-छोटे राज्यों में तो लोग इन 'बापजी' यों की धाक मानते थे। कई यति तो अपने आपको लोंकागच्छ के बता कर लोंकाशाह के नाम से फायदा उठाते थे। उनकी और लोंकाशाह द्वारा प्ररूपित समाचारी में बहुत ही अंतर था; फिर भी लोग उन्हें मानते थे। मगर लोंकाशाह से शुद्ध साधु आचार की परम्परा चलतीर ही और स्वाभाविक था
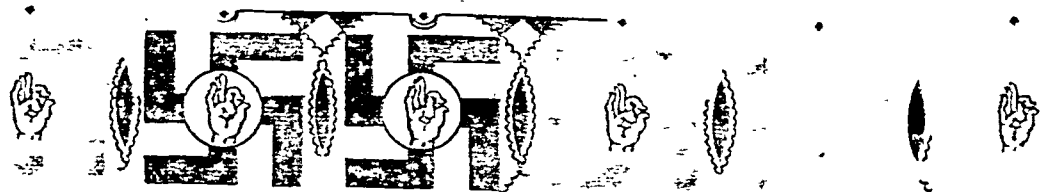
— सम्यक् दर्शन रूप इन परम तत्त्वों को जिन्होंने पाया है उनकी सेवा उपासना करूंगा तथा आत्म - धर्म (सम्यक्त्व) से भ्रष्ट और मिथ्या दृष्टियों की संगति का त्याग करूंगा — ऐसी मैं समकित की श्रद्धा स्वीकार करता हूँ ।"

इसे समकित की बाड़ कह सकते हैं ; मगर रखवाली के लिये तो और भी बातों को ध्यान में रखने का है । हालाँकि आत्म - धर्म की प्रतीति एक बार हो जाने पर जीव का भटकना कठिन होता है ; किन्तु जगत में कई बार ऐसे प्रलोभन आ जाते हैं और शंका - कुशंका में आत्मा स्वयं के अस्तित्व के बारे में भटक जाय ऐसा भी हो सकता है और वह शंका करता है कि "आत्मा है या नहीं....?" जो कुछ है वह यह शरीर है !" इस प्रकार की शंकाओं से दूर रहना समकित की पहली रखवाली है । जैसे खेती करनेवाला यह शंका करके खेती में पाक होगा या नहीं और खेती छोड़ दे तो उसे कुछ भी नहीं प्राप्त होता वैसे शंका से, समकित छोड़ कर भटकनेवाला आत्मा दुर्गति में फिरता रहता है ।

जहाँ आत्म धर्म है वहाँ पर आत्म - विकास ही साधा जा सकता है । वहाँ तप, त्याग, संयम में वृद्धि होती है और यह जड़ साधन आत्म विकास में बाधक है ऐसा समझना दूसरी रखवाली है । अन्य मतों में "देव को पूजो और पैसा पाओ !" मगर जड़ साधनों की प्राप्ति की इच्छा करते रहना और न मिलने पर आत्म धर्म छोड़ जड़ धर्म की चाहना करना यह उसी प्रकार है कि अपनी श्रेष्ठ खेती पर शंका करके दूसरी ओर दौड़ने से "न घर के रहे न घाट के....!" जैसे स्थिति पैदा होती है ।

आत्म धर्म साधना करते - करते यह संदेह करना कि क्या इस धर्म से भी कोई लाभ है ? जो नहीं करते वे तो मालामाल हैं ? इस प्रकार फल परिणाम में संदेह से दूर रहना तीसरी रखवाली है । कई बार निर्ग्रंथ साधुओं को और राज - शाही ठाठवाले महंत - गुरु आदि के बीच तुलना करने से ऐसा भी भाव पैदा होता है कि इनके पास तो पैसा धेला नहीं है ! कपड़े भी पूरे नहीं है ! तो इनको गुरु मानने से क्या फायदा ? और वे महंत तो खुश हुए तो मालामाल कर देंगे । ऐसी घृणा भावना से दूर रहना और ये आत्म धर्म निर्ग्रंथ
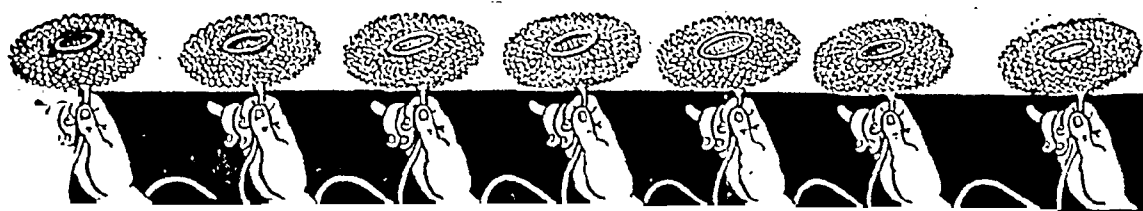
के सवारी गादी को भी धर्म विरुद्ध बताते थे। स्थानकवासी साधुओं के आज के वेश का मुख्य अंग मुँहपत्ति को दोरे से बाँधे रहना और रजोहरण रखना आदि अनेक समाचारी की बातें उनकी देन है। वे अच्छे कवि थे और उनकी बहुत सी कवितायें सज्झाई प्रचलित हो गईं थीं।

उनके कई शिष्यों में सुप्रसिद्ध धन्नाजी, लालचन्दजी, धनजी, अमरसिंहजी हुए जिन्होंने उनकी ज्योत को जलती रखी।

* * *

विहार आनन्दमय रहा।

विहार में सब से अधिक तो रसप्रद समय तब होता था जब कि आचार्यश्री धर्म के लिये बलिदान देनेवाले संतों की कहानियाँ सुनाते थे। मुनिश्री जयमलजी ने उनसे बहुत सी कहानियाँ सुनी थीं जिनमें कुछ तो उनके मन में जम चुकी थीं। लवजी ऋषिजी की एवं धर्मसिंहजी म० की कहानी ऐसी ही थी।

लवजी ऋषि की कहानी साधक जीवन की कसौटी का ज्वलंत उदाहरण था। मालवा, मेवाड़, मारवाड़ में तो जीवराजजी धर्म ज्योत जगा चुके थे; किन्तु जहाँ लोंकाशाह ने क्रांति फैलाई थी वह गुजरात का प्रदेश पुनः यतियों के प्रभाव में आ गया था।

लवजी बचपन से ही बड़े विचक्षण थे। वे अपने नाना वीरजी वोरा के यहाँ रहते थे जो कि सूरत के प्रसिद्ध बजरंगजी स्वामी को मानते थे। एक दिन उनकी माता फूलीबाई उन्हें बजरंग स्वामी के दर्शन के लिये ले गई और उनसे सामायिक प्रतिक्रमण सीखने के लिये कहा।

बालक ने कहा कि उसे वह आता है और उसने कडकडाट सभी पाठ सुनाये। उन्हें माता के मुख से पाठ सुन-सुन कर याद हो गया था। उस समय बालक की उम्र सात वर्ष की थी। बजरंगजी स्वामी पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने बालक को पढ़ाना शुरू किया। वैराग्य प्रबल होते ही उन्होंने भर यौवन में वि० सं० १६९२ में दीक्षा धारण कर ली।
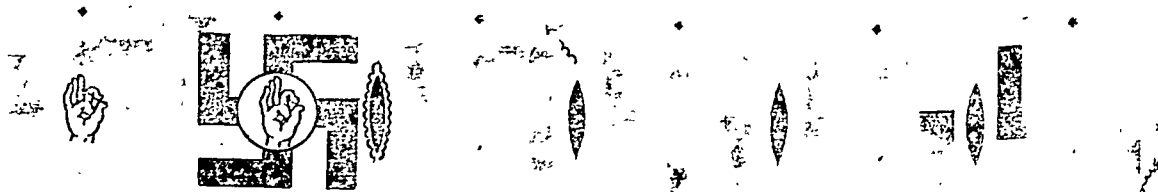
केवल सूत्र पढ़ लेना नहीं; किन्तु उसका अर्थ जानना और दोनों को हृदयंगम करना और उसे आत्म विकास में लगाना सच्ची ज्ञान साधना है। सिर्फ कडकटाड या गडगडाड श्लोकों का उच्चारण करने मात्र से तो जैसे "बादल गरजते हैं; मगर बरसते नहीं!" वाला हाल होता है। भगवान महावीर ने उनके लिये बहुत ही स्पष्ट कहा है :—

न चित्ता तायए भासा।

— सिर्फ चित्र-विचित्र भाषा बोलने से उद्धार नहीं होता है। ज्ञान तो ऐसा पवित्र जल है जो कि कठोर से कठोर आत्मा को भी द्रवित कर देता है। ज्ञान प्राप्ति के नियमों का पालन कर निर्ग्रंथ गुरु से ज्ञान संबंधी जो अतिचार (दोष) कहे गये हैं उनका निवारण करके सच्चा श्रावक ज्ञानवान बनता है और वह आगम के वचनों को प्रमाण मानता है।"

*　　　　*　　　　*

सभी संतो के प्रवचन का असर तो पडना ही था किन्तु श्रावक-धर्म के बारे में उतने विस्तार से मुनिश्री जयमलजी के प्रवचन में विवरण आने से जालोर में बहुत से जैनों ने व्रत ग्रहण किये। चतुर्थव्रत, खंध आदि के और भी अनेक व्रत पच्चक्खाण हुए।

जालोर में ही मुनिश्री जयमलजी को समाचार प्राप्त हुए कि मेडता में महासती लाछाँदे ने उग्र तप करते हुए अपने शरीर को अति कृश बना दिया था। और तप में इतनी आगे बढी कि छः मास के अल्प संयम काल में बार-बार तप करती हुई कालधर्म को प्राप्त हो गई। उस प्रकार वह अपनी आत्मोन्नति करके काल धर्म को प्राप्त हो गई।

जालोर के चौमासे के पूर्व २ दीक्षायें हुई और जालोर में सात जनों ने दीक्षा ली। इस तरह चौमासे उतरते समय १४ ठाणों का एकत्रित समुह बहुत ही प्रभावशाली लगता था। रघुनाथजी, मुनिश्री जयमलजी आदि युवान तपस्वी संतों की तपस्याओं ने भी धर्म का गौरव बढ़ाया था। मुनिश्री जयमलजी म. सा. ने कई अठाइयाँ की थीं और कुछ संतों ने एकांतर उपवास किये। इनका अनुकरण श्रावक श्राविकाओं ने किया और पूरे चातुर्मास में तप का अपूर्व मेला लगा हो वैसा ठाठ छाया रहा।

"लवजी और उसके साथियों को या तो राज्य से बाहर निकाला जाय या नज़र कैद किया जाय।"

नवाब ने पत्र मिलते ही अपने हुकम से लवजी ऋषिजी तथा उनके साथी संतों को पकड़वा कर अपने शाही महल के पास और सामने की जगह पर नज़र कैद कर लिया।

संतों ने तो अपनी कसौटी और धर्म संकट देख कर तप का आधार ले लिया। तीन दिन बीतने आये। महल की बांदियों में से कुछ कुतूहल वश उनकी दिनचर्या देख रहीं थीं। ध्यान और धर्मशास्त्र में मस्त, कभी द्रष्टि ऊपर करके भी न देखने वाले ऐसे संतों को देख कर एक बांदी को दया आई और उसने बेगम साहिबा के आगे पूरी बात स्पष्ट कही :—"ये ओलिये जैसे फकीरों को क्यों कैद कर रखा है?"

बेगम साहिबा ने भी थोड़ी देर उनकी चर्या देखी और नवाब साहब को कहा :— "बेगुनाह फकीरों और संतों को कैद करके आप क्यों उनकी बददुआ ले रहे हैं?"

नवाब ने कहा :—"बेगम! यह तो हमने अपने ज़िगरी, दोस्त वीरजी बोहरा के कहने से किया है।"

बेगम बोली :—"मेरे खाविद! यह तो सरासर ज़ुल्म हैं! आप खुद भी उन्हें देखें तो सही!"

नवाब ने भी देखा कि संत तप, ध्यान या, धर्म ग्रंथ पठन में लीन थे। आज उनके उपवास का तीसरा दिन था। उसने चौकीदार को बुला कर पूछा :—"क्या, ये लोग कुछ चमत्कार कर रहे थे या फिसाद कर रहे थे?"

चौकीदार ने कहा :—"गुस्ताखी माफ हो जहांपनाह! हमने ऐसे शांत ओलिये और नहीं देखे और तो और तीन दिन से ये बिना खाये-पीये हैं यह जान कर इस दिल को बहुत ही रंज हो रहा है।"

नवाब खुद चलकर उन संतो के पास गया और उन सब की माफी माँगते हुए कहा :—"आप जैसों को बिना वजह जो कुछ भुगतना पड़ा है उसके लिये मैं शर्मिन्दा हूँ।"

२४

जय-सत्य धर्म प्रचार

विहार के समय जहाँ विराजना होता था वहाँ पर रात्रि चर्चा के वीच आचार्य भूधरजी मुनिश्री जयमलजी के वाणी प्रभाव को स्पष्टतः देखते थे। कभी कभी वे रात्रि चर्चा में सभी संतों को वैठ कर कहते थे :—

"धर्म बहता हुआ नदी का पानी है; सूख गया तो बँधे पानी की तरह उसमें गंदापन आ जाता है। भीनमाल, ओसियाँ आदि नगरों में एक समय बड़ी धर्म जागृति हुई और सभी लोगों ने जैन धर्म स्वीकार किया था। किन्तु वे समय के साथ नहीं बहे। अपने कड़क आचार-विचार पर नहीं टिके फलतः विकृति आ गई। स्वयं वीरप्रभु ने युग को पहचान कर पार्श्वप्रभु के चतुर्याम संवर से पाँच महाव्रतों का आयोजन किया और शिथिलाचार को रोकने स्पष्ट कड़क नियम बताये। ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह दोनों को अलग-अलग किया। वस्त्र-पात्र आदि की मर्यादा और रंग निश्चित किये। उन्होंने साधु धर्म के इतने कड़े नियम बनाये फिर भी शिथिलाचार चला और वीरप्रभु के दो हज़ार वर्ष बाद लोंकाशाह ने पुनः धर्म-जागृति की। पाँच-पाँच महान क्रिया-उद्धारक संत हुए फिर भी धर्म लोगों के हृदय तक नहीं पहुँचा है। यहाँ देखना यह है कि यदि पुराने साधन और दृष्टिकोण विकृति के कारण उपयोगी सिद्ध नहीं होते तो उनसे विकृति हटा कर शुद्धि करनी चाहिये और शुद्ध आचार-विचार की ओर फिर बढ़ना चाहिये।

जैन धर्म के चार शब्द समझने जैसे हैं :— (१) द्रव्य (२) क्षेत्र (३) काल (४) भाव। उनके परिवर्तन के अनुसार शिथिलाचार हटा कर शुद्ध जैन धर्म का प्रचार नहीं हुआ तो कोई भी सार नहीं निकलता। इसलिये साधुओं को तो उसका स्पष्ट दर्शन होना ही चाहिये। वे तो उसमें छूट रख नहीं सकते; ले नहीं सकते।

भीनमाल से नाना नाना गाँव होते हुए संत लोग सांचोर में पहुँचे। लोग उनके लिये पलकें बिछाये राह निहारते स्वागत में खड़े रहते थे। धर्म-प्रवचन सुन कर उनका मन

उन्होंने यह अनुभव किया कि यदि शास्त्र ज्ञान को लिपिबद्ध नहीं किया गया तो जो भी शेष है वह भी लुप्त हो जायेगा। उनको आचार्य पद मिलने पर उन्होंने इस दिशा में प्रयत्न किया; किन्तु दक्षिण से लौटे विशाखाचार्य (भद्रबाहु के शिष्य) ने श्रीसंघ में द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव से जो परिवर्तन वस्त्र, पात्र, शास्त्र सम्बन्धी करने पड़े थे उनको मान्य नहीं किये और यहाँ तक कि पाटलिपुत्र की प्रथम जैन परिषद द्वारा लुप्त हुए जैन आगमों के व्यवस्थित रूप को भी मानने से अस्वीकार किया। किन्तु सूत्रों के लिपिबद्ध करने की आवश्यकता अगली सदी में दो और भीषण दुष्काल पड़ने से, अधिक से अधिक अनुभव की जाने लगी।

आचार्य स्कन्दिलाचार्य ने उस समय मथुरा जैन परिषद का संयोजन ही नहीं किया। उसकी व्यवस्था भी सम्हाली और सभी ने उस समय के प्रचलित ग्यारह अंग सूत्रों को मान्य किया और उन्हें लिपिबद्ध करने के महत्व पर भार डाला गया। तब तक श्रुत प्रणालि पर ही संत लोग ज्ञान प्रचार करते रहे।

पुनः वि. सं. ५०० में ऐसा भीषण दुष्काल पड़ा कि बहुत से श्रुतज्ञानी संत काल धर्म को प्राप्त हो गये। तत्पश्चात् उस समय के जैनाचार्य देवर्द्धि गणी को यह अनुभव हुआ कि यदि उस समय भी आगमों को लिपिबद्ध नहीं किया गया तो आगे यह ज्ञान लुप्त होता चला जायेगा। उन्होंने उपलब्ध सभी आगम पाठों को लिपिबद्ध किया। वल्लभीपुर (पाटण) में पुनः संत-सम्मेलन हुआ। उस समय नागार्जुन श्रुत पाठ भी प्रचलित थे। देवर्द्धि क्षमा श्रमण ने मथुरा की वाचना से विशेष सहायता ली। अतः उन्होंने वल्लभी-वाचना में विशेष मत भेद न बने एतदर्थ नागार्जुन के पाठों को भी मान्य रखा और जहां जहां अपने पाठों में उनसे अंतर आता था, "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" कह कर दोनों पाठों को स्पष्ट रखकर महत्वपूर्ण किया।"

अंदर आना शुरू हुआ। यूनानी मूर्ति मंदिर का प्रभाव पड़ा और मंदिर मूर्ति बनने शुरू हुए; साथ ही नगर में धर्म - स्थानक बँधने लगे। विक्रम संवत् के प्रारम्भ तक इसका ज़ोर बढ़ता ही गया।

उस समय धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने की होड द्वेष में बदलने लगी। और वाद - विवाद, शास्त्रार्थ द्वारा दूसरों का संपूर्ण विनाश या उन्मूलन करने की भयंकर प्रवृत्ति सभी धर्मो में चलने लगी। विजेता धर्मगुरु को राज्य का मान पान मिलना शुरू हुआ। कुछ जैन संत उस ओर चले किन्तु अन्य संत उसका परिमार्जन करते रहे।

विक्रम की पांचवीं शताब्दि से शक और हूण के हमले शुरू हुए। उस समय तक जैनी उत्तर में राजस्थान, मालवा और गुजरात में फैल चूके थे। और इन आक्रमण काल के बीच अधिक से अधिक नगर के बीच रहने की परिपाटी जड़ पकड़ती गई। शक और हूण यहीं पर बस गये किन्तु यहाँ पर छोटे - छोटे राज्यों का निर्माण और आपस का संघर्ष चलता रहा।

फिर यवन आक्रमण हुए और उस दौर में सभी धर्मवाले मंदिर और मूर्ति की ओर अधिक से अधिक झुकते गये। जैन श्रमणों की आचार संहिता में विशेष शिथिलता आ गई थी। विहार छूट गया था। अपने - अपने क्षेत्रों में अड्डे बना कर श्रमण लोग बैठ जाते थे। यहाँ तक कि भिक्षा भी पात्र भर - भर कर, मंगा कर खाते थे और जैनों के धर्मस्थानक में हिंदू महंतशाही का रूप आता जा रहा था। तप, त्याग, साधना का स्थान छल - प्रपंच और आराम ने ले लिया था। ज्ञान - दर्शन, चारित्र के बदले मंत्र - तंत्र, जंत्र का प्रचार हो रहा था। ज्ञान की पुस्तकें, आगम, शास्त्र, भंडारों में बंध कर दिये गये थे ताकि जनता उसे जान न सके।

जैसा कि भगवान महावीर ने कहा था वैसे उनके निर्वाण के २००० वर्ष तक जैन धर्म क्रमशः ह्रास की ओर जा रहा था। शिथिलाचार अंतिम हद तक बढ़ गया था। यतियों ने श्रमण (बौद्ध साधु) प्रथा का रूप धारण कर लिया था और वे मंदिर के देव द्रव्य से अमन - चैन करते थे।

*   *   *

रखी थी। आप ने वहाँ जाकर और भी प्रज्वलित की। लेकिन उनके मन में अपने संसार पक्ष के नाना वीरजी वोरा को प्रतिबोध करने की भावना उत्कट थी। वे सूरत पधारे।

उन्होंने वीरजी वोरा को प्रतिबोध किया और इस बार उनके सत्य उपदेश से प्रभावित होकर वीरजी वोरा यति परम्परा की मान्यता छोड़ कर साधु मार्गीय मान्यता में आ गये। इतना ही नहीं; उन्होंने सूरत, श्रीसंघ की ओर से प्रार्थना करा कर उनका चातुर्मास वि० सं० १७१० में कराया। यह प्रभाव लवजी ऋषि के तप, त्याग और बलिदान का था कि जिसने उन्हें कैद कराया था वही उनका भक्त बन गया था।

मगर जो आत्मा धर्म के लिये अवतरित होती हैं उनका सिर्फ क्रांति करना ही बस नहीं होता। उन्हें तो बलिदान देकर ही जाना पड़ता है। लवजी ऋषिजी का सूरत से विहार हुआ और जब वे इंदलपुर गाँव पहुँचे तो वहाँ यति वर्ग का ज़ोर था और वे जलभुन कर बैठे थे। उनके मन में यह बात पक्की बैठ गई थी कि "चाहे कुछ भी करो; किन्तु लवजी जब तक जीवित हैं, हमें कोई पूछनेवाला नहीं है।"

लवजी ऋषि को बेले का पारणा था और योजना बनाई गई। पास ही घर रंगारे का था। रंगारिन बाई ने गोचरी के लिये विनती की और पूर्व निश्चित योजनानुसार उन्हें लड्डु दो वहोराये।

लाई हुई गोचरी का लड्डु जैसा ही लवजी ऋषि ने लिया कि अन्दर रहे हुए ज़हर ने अपना कार्य शुरू कर दिया। वे जान गये कि उनसे बलिदान माँगा गया है। उन्होंने संथारा पच्चक्ख लिया और हमेशा के लिये सो गये। उनकी आत्मा अपना विकास करने के लिये इस नश्वर देह को छोड़ कर अन्यत्र चली गई!"

* * *

आचार्यश्री भूधरजी ने यह चरित्र कथा सुना कर कहा :—"सचमुच ही उनका बलिदान और तप-त्याग का मार्ग हम सब के लिये प्रेरणा बनना चाहिये।"

किसी ने कहा :— "बापजी! उन यतियों के साथ कोई कार्यवाई क्यों नहीं की गई ....!"
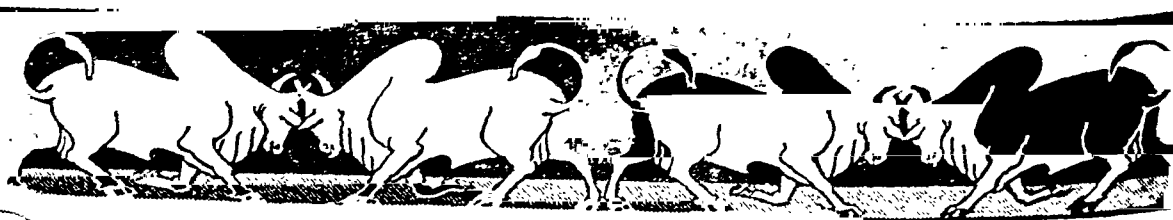
कंठ से प्रवचन का लाभ दिन प्रतिदिन अधिक से अधिक लोग लेने लगे। वे कहते थे उसका सार था :—

एक बार शकेन्द्र जब भगवान महावीर को वन्दना करने आया तब उसने प्रभु से पूछा :—"आपके जन्म नक्षत्र पर महाभस्म नाम का ग्रह बैठा है, उसका फल क्या होगा?"

प्रभु ने फरमाया :—"देवानुप्रिय! यह महा भस्म नामक ग्रह २००० वर्ष तक बना रहेगा। यह सूचित करता है कि २००० वर्षों तक सच्चे साधु और साध्वियों की पूजा मंद होगी। शिथिलाचार फैलेगा और वह सच्चे जैनत्व को प्रगट होने नहीं देगा। २००० वर्ष बाद वह ग्रह उतरेगा और फिर जैन धर्म से शिथिलाचार हटेगा और सच्चे साधु साध्वी एवं धर्म की पूजा होगी!"

भगवान महावीर ने बिल्कुल सत्य ही फरमाया था क्योंकि लोंकाशाह ने वि. सं. १५३१ में सर्व प्रथम ४५ जनों को बोध करा कर सच्चे धर्म का प्रचार किया। वीर संवत और विक्रम संवत में ४७० वर्षों का फर्क है। अतः यह भविष्य वाणी बिल्कुल सही पड़ी।

सिरोही से आठ मील दूर अणहट्टवाडा में उनका जन्म सं. १४७२* में हुआ। उस दिन कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा थी। उनके पिता का नाम हेमाशाह था जो कि दफतरी महेता थे। महेता लोग राज-काज में सभी स्थानों पर काम करते थे। उनकी माता का नाम केशरबाई था। पिता अपनी न्याय परायणता और प्रामाणिकता के कारण सब में प्रिय थे और माता धर्म परायण और पति परायण सती स्त्री थी।

जब उनकी जन्म कुंडली बनवाई गई तो ज्योतिषियों ने उसी समय उनके पिता को कह दिया था! "हेमाशाह! तुम्हारा पुत्र आगे जाकर महान बनेगा! जहाँ जायेगा वहीं ऊँचे से ऊँचा पद और सन्मान पायेगा!"

---

* इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद है; किन्तु अधिक उचित यही लगता है।
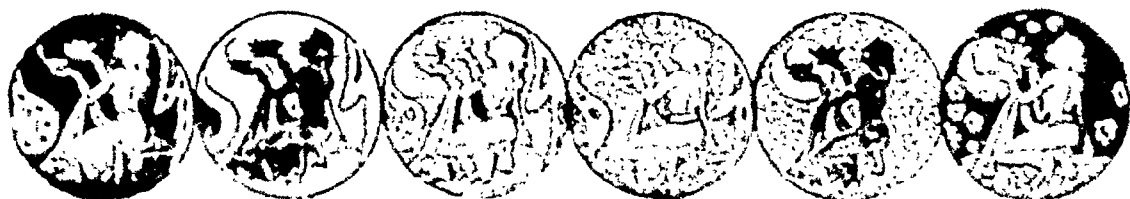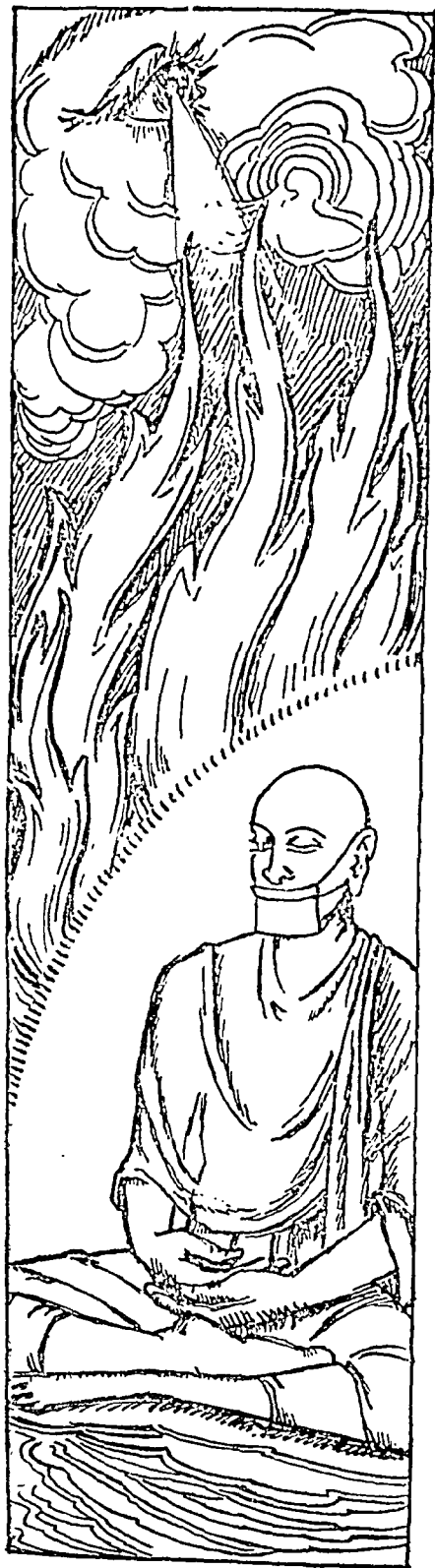
२५

जय - संत बलिदानी

विहार के साथ धर्म कथा विहार भी होता रहा। धर्मदासजी के संबंध में सभी पूज्यश्री के मुखारविंद से सुनना चाहते थे। उन्होंने जब यह कहा कि उनको तो अपने शिष्य की मर्यादा रखने आत्म - उत्सर्ग करना पड़ा तो सुनने की उत्कंठा और भी बढ़ गई।

रात्रि के समय प्रतिक्रमण करने के बाद एक बार सभी बैठे थे कि आचार्यश्री ने धर्मदासजी महाराज का जीवन चरित्र सुनाया।

अहमदाबाद के पास सरखेज नाम का गाँव है। वहाँ पर जीवन भाई नाम के पटेल रहते थे। वे भावसार जाति के थे और उनकी पत्नी का नाम हीराबाई था। उनके यहाँ वि. सं. १७०१ की चैत्र शुक्ला एकादशी को धर्मदासजी का जन्म हुआ।

पटेल - भावसार होने पर भी उनकी श्रद्धा जैन धर्म में थी और वहाँ के सुप्रसिद्ध यति तेजसिंह के यहाँ उनका जाना - आना होता था। बालक धर्मदास में भी जैन धर्म के संस्कार भरने लगे। बालक यतिजी के पास पढ़ने लगा। धर्म शास्त्र में गहरी अभिरुचि और उसके सुलक्षण

वि. सं. १७१६ में उनका अहमदाबाद में आगमन हुआ। उन्हीं दिनों उन्होंने भगवती सूत्र का २०वाँ शतक पढ़ा। जिसके ८ वें उद्देश्य में स्पष्ट रूप से यह घोषणा थी कि "भगवान महावीर का शासन काल २१००० वर्ष तक चलता रहेगा!"

शास्त्र का आधार मिलने पर उन्होंने विशेष खोज प्रारंभ की। अहमदाबाद में उस समय कानजी ऋषिजी अपने गुरु सोमजी ऋषिजी के साथ पधारे। धर्मदासजी उनका व्याख्यान सुनने गये और निरियावलिया सूत्र के तीसरे वर्ग को सुन कर उनकी आत्मा गद-गद हो उठी। उन्होंने उनसे वार्तालाप किया और दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की। किन्तु कुछ मान्यताओं में मत भेद * होने से वे उनसे दीक्षा नहीं ले सके।

उसी समय अहमदाबाद में धर्मसिंहजी महाराज भी विराजमान थे। वे शास्त्र ज्ञाता साहित्य स्रष्टा और प्रखर पंडित थे। उनकी स्मरण शक्ति अद्भुत थी। तर्क-न्याय-

---

* पूज्यश्री कानजी ऋषिजी जो कि क्रियोद्धारक आचार्यश्री लवजी ऋषिजी की सम्प्रदाय के थे उनके साथ आचार्यश्री धर्मदासजी को निम्न: बातों में मतभेद था :—

१. रस चलित भोजन लेना नहीं।
२. पान की कुंठी लेनी नहीं।
३. कच्ची ककडी लेनी नहीं।
४. कारण बिना जीमनवार में साधु को (गोचरी निमित) जाना नहीं।
५. साधु को कुसाधु कहना नहीं (बिना पूरी जानकारी के अन्य साधु की निंदा से दूर रहने का आशय)।
६. दो जनों से पाटा उठा कर लाना नहीं (पीठ-फलग आदि साधु स्वयं ले जाना-लौटाना)।
७. किंवाड़ (कपाड़-दरवाज़ा) उघाड़ (खोल) कर आहार लेना नहीं (द्वार बन्ध हो वहाँ से गोचरी नहीं लाना।)
८. किंवाड़ (कपाट) बन्द कर सोना नहीं।
९. एक घर पर दूसरी बार आहार लेने को जाना नहीं।
१०. आहार सम्बन्ध हो वहाँ वन्दन व्यवहार रखना।
११. उगते हुए (उग्गेमाणे) अंकुर में अनन्त जीव मानना।
१२. कच्ची केरी के टुकड़े (पणे) लेने नहीं।

— पूज्य कान्हजी म० के साथ चर्चा बोल से

उनके सामने चुनौती आई और वे स्वीकार कर आगे बढ़े। पाटण में पुनः संघवालों ने उपद्रव शुरू किया और वे अहमदाबाद गये। वहाँ उन्होंने जड़-साधना और शिथिलाचार के विरुद्ध स्पष्ट रूप से कहना शुरू किया।

सं. १५२८ में अणहिलपुर पाटण के संघ के बड़े नेता श्री लखमशी भाई थे। उन्होंने जब सारी बातें सुनीं तो वे लोंकाशाह को समझाने चले।

अहमदाबाद पहुँच कर प्रथम दर्शन में ही लोंकाशाह ने अपनी छाप उन पर डाली। लखमशी भाई ने औपचारिक बातों के बाद पूछा :—"ऐसा सुना है कि आप उल्टा उपदेश देकर नया पंथ चलाना चाहते हैं?"

"ऐसी बात तो नहीं है, पुराणे जिनेश्वर प्ररूपित पंथ का ही जीर्णोद्धार करना है; परन्तु मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह शास्त्र सम्मत है, और ये यति एवं चैत्यवासी साधु जिस जड़-पूजा की आड़ में पेट पालते हैं वह शास्त्र सम्मत नहीं है। मैं शिथिलाचार को चलाना नहीं चाहता।" लोंकाशाह बोले।

"तो फिर यह झगड़ा किस बात पर है? आप मूर्ति-पूजा का विरोध क्यों करते हैं?" लखमशी भाई ने पूछा।

लोंकाशाह ने कहा: "जैनागमों में कहीं पर भी जड-पूजा, मंदिर, मूर्ति आदि का उल्लेख नहीं हैं। दान, शील, तप और भाव या ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म में भी कहीं उसका उल्लेख नहीं है। साधु धर्म, श्रावक धर्म यहाँ तक कि आचार की भाव-प्रतिमा (पडिमा) का उल्लेख तो है, किन्तु जड़-प्रतिमा और उसकी पूजा का वर्णन नहीं है।"

"तो, अपनी परंपरा से आचार्य साधु तथा श्रावक-श्रविका प्रतिमा पूजन करते हैं। अनेक स्थलों पर तीर्थ हैं, तो क्या ये सभी शास्त्र सम्मत नहीं हैं! फिर चैत्य वन्दन का उल्लेख भी सूत्रों में आता है न?" लखमशी भाई ने पूछा।

"चैत्य वंदन का वर्णन ज्ञाता और रायपसेणीय सूत्र में आता है; किन्तु जैन श्रमण या जैन श्रावक नित्य प्रतिमा पूजन करते रहें या करने से मुक्ति पायें हो ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। और तो और वैदिक बौद्ध-शास्त्रों में भी कहीं मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है

धर्मसिंहजी ने उन्हें समझाया कि जैसे-जैसे संयमी जीवन में आगे बढ़ोगे कई बातें स्पष्ट हो जायेगी। अभी जो वैराग्य भावना प्रबल है तो स्वयं दीक्षित हो सकते हो।

धर्मदासजी को यह बात अधिक जंची और उन्होंने स्वयं दीक्षा लेने की बात प्रगट की। तब उनके साथ और भी व्यक्ति तैयार हो गये। बादशाह बाड़ी में उन्होंने स्वयं दीक्षा ली और अट्ठम का तप किया। तप समाप्त कर वे पारने की गोचरी के लिये पधारे। एक घर आया वह कुम्हार का था। कुम्हारिन के मन में क्या आया कि उसने पात्र में राख डाल दी। समभावी धर्मदासजी महाराज को अन्य स्थल से छाछ मिली थी उस छाछ में मिली राख से उन्होंने पारणा किया। दूसरे दिन उन्होंने यह वृतांत महान क्रियोद्धारक धर्मसिंहजी महाराज को सुनाया।

धर्मसिंहजी महाराज ने कहा :—"मुझे तो स्पष्ट उज्जवल भविष्य दिखता है! पात्र में राख जिस प्रकार फैली उसी प्रकार तुम्हारा श्रमण-परिवार चारों ओर फैल जायेगा। और हर घर में राख होती है वैसे हर गाँव तुम्हारे भक्त होंगे।" इतने बड़े आचार्य के साधुवाद पाकर धर्मदासजी अपने निर्णय पर दृढ़ हुए। वे थोड़े दिन अहमदाबाद में ठहरे और वे अपने से बड़े दोनों महान संतों का समागम नित्य करते रहे। हालांकि बहुत सी बातें समान थी; फिर भी कुछ-कुछ बातों में मान्यता भेद था। फिर भी उन्होंने दोनों बड़ी दीक्षा धारियों के प्रति पूज्य भाव ही प्रगट किया।

वहाँ से सोराष्ट्र की ओर गये और फिर उधर से मालवा-मेवाड-गुजरात-दक्षिण महाराष्ट्र आदि में भी आपने प्रचार किया। आपने जिन-जिन प्रांतों में विहार किया वहाँ क्रियोद्धारक जीवराजजी ने क्षेत्र स्पर्शना तो की थी किन्तु धर्म-बीज को बीजारोपण और क्रिया रूपी जल का सिंचन आपने किया। फलतः मारवाड़, मेवाड़, मालवा, आगरा, दिल्ही, गुजरात, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र सभी स्थान पर धर्म जागृति हुई। आपके भक्त सभी जगह हो गये। आपके ९९ शिष्य हुए। इतना बड़ा शिष्य मंडल किसी का नहीं था।

आप स्वयं संस्कृत, प्राकृत के बड़े विद्वान थे ही। आप के शिष्यों में भी बहुत से प्रकांड विद्वान थे। आपका सरल स्वभाव और निरभिमानता एवं निखालिसता सब से अधिक

और जो विधिवत् शास्त्र पंथ का वर्णन करेगा तो लोग उसकी निंदा, विरोध करेंगे।* इतना ही नहीं, जिनदास महत्तर, आचार्य हरिभद्र सूरि और जिनेश्वर सूरि ने भी चैत्यवासी और शिथिलाचार का विरोध किया और उसको अशास्त्रीय भी बताया एवं जड़-पूजा से (द्रव्य पूजा) भाव पूजा को ही श्रेष्ठ समझा है!"

इस तरह लोंकाशाह ने स्पष्टतः लखमशी भाई को जड़ और चैतन्य का भेद समझाया; एवं चित्र, लेखन इत्यादि जैसे कला हैं वैसे मूर्ति भी एक कला का ही विषय है; किन्तु वह धर्म का अंग है यह मानना नितांत भ्रामक है यह भी समझा दिया। लखमशी भाई समझाने आये थे किन्तु वे लोंकाशाह से सत्य-धर्म समझ कर चल दिये। इससे जैन समाज में खलबली मच गई।

इस घटना के बाद लोंकाशाह ने तो साधु जीवन सा अपना लिया था और सूत्रानुसार वे धर्म और क्रियाकांड बताते थे। उन दिनों सिरोही, अरहट्टवाड़ा, पाटण और सूरत के चार संघ यात्रा को निकले। वर्षा का ज़ोर होने से उन्हें अहमदाबाद रुकना पड़ा। उन्होंने वहाँ पर रहकर लोंकाशाह से चर्चा विचारणा की। चारों संघ के संघपति नागजी, दलीचन्द, मोतीचन्द और शम्भुजी एवं उनके साथ ४५ भाइओं पर ऐसा असरकारक प्रभाव पड़ा कि वे आगम सूत्र परम्परा के अनुसार सच्चे श्रमण बने। उसी समय हैदराबाद से ज्ञान मुनि पधारे। वे भी प्रभावित हुए। यों २१ नये श्रमण बने। उन्होंने अपने को धर्म बोध करानेवाले लोंकाशाह के नाम से उस संघ का नाम लोंकागच्छ रखा।

लोंकाशाह ने शेष जीवन धर्म ध्यान में और सूत्र-आगम प्रचार में बिताया। उन्होंने ३२ आगम मान्य किये और उनकी हुंडी (सूत्र-अर्थ विवेचन) लिखी। जिसे पढ़ कर अनेक लोगों को सच्चे साधु मार्ग के विषय में जानकारी मिली। यों अच्छे विद्वान और ग्रंथकार के रूप में भी उन्होंने समाज की बड़ी सेवा की।

भगवान महावीर की भविष्य वाणी तभी खरी पड़ी जब कि सं. १५३१ में साध्वियाँजी भी दीक्षित हुईं। तब तक लोंकागच्छ सम्प्रदाय में ४०० से अधिक साधु सती की संख्या पहुँच गई थी और श्रावक-श्राविकायें भी लाखों की संख्या में उनके अनुयायी बन गये थे।

---

* आवश्यक सूत्र चूर्णि
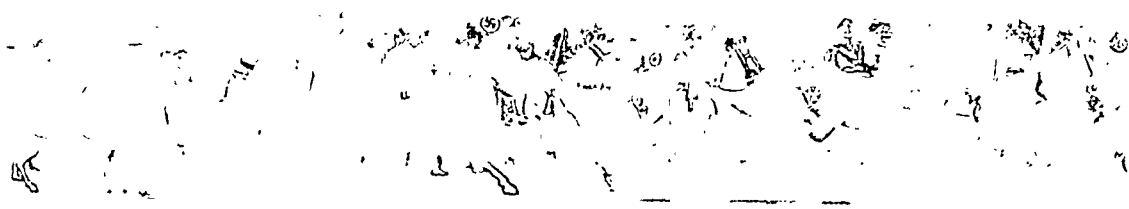
वे यथाशीघ्र धार पहुँचे। उन्होंने उस शिष्य को बहुत ही समझाया था; किन्तु उसके मन पर असर नहीं हुआ। अंत में उन्होंने आदर्श की रक्षा के लिये उस मुनि के सामने अपना आदर्श उपस्थित किया :—" तेरे साथ मेरा भी संथारा है।"

उन्होंने मूलचंदजी महाराज को बुलाकर साधु - व्यवस्था समझा दी और धार नगरी के श्रावक संघ के आगे अपनी भावना व्यक्त कर दी हालांकि विहार में अन्न - जल नहीं मिले थे और वे अन्न या जल लेकर संथारा कर सकते थे; किन्तु उत्सर्ग करने पर तुली उस दिव्य आत्मा को तो समाज के बलिदान का नया आदर्श रखना था।

उनका तन प्रदीप्त होता गया। उन्होंने सर्व जीवों को खमा लिया। लोग उनके दर्शन को आने लगे। उनके सभी शिष्यों ने यह समाचार सुने और वे भी विहार करके पहुँचने लगे। अषाढ़ के बादल बरसने शुरू हुए थे कि शुक्र पंचमी को उनकी आत्मा नश्वर देह का त्याग कर उत्सर्ग मार्ग पर चल दी। यों जिन शासन के लिये बलिदान देकर भी उन्होंने आनेवाली संत पीढ़ी के लिये नया आदर्श उपस्थित कर दिया।

* * *

" फिर क्या हुआ बापजी।" श्रोताओं में एक ने पूछा।

आचार्य भूधरजी ने रुक कर कहा :—" जैसा उन्होंने कहा था वैसे उनके पट्टशिष्य मूलचंदजी ने सभी शिष्यों को बुला कर उनकी इच्छानुसार बाईस टोलियों में बांट दिया और सभी को अपना - अपना प्रचार क्षेत्र बना कर साधु मार्ग में अधिक से अधिक व्यक्तियों को प्रभावित कर श्रमण बनाना और नही तो चरित्रवान श्रावक समाज बनाने के लिये आदेश दिया। तदनुसार अपने पूज्य आचार्य धन्नाजी म. सा. के अंतर्गत मारवाड़, थली पट्टी और मेवाड़ मेरवाड़ा आया। धन्नाजी म. सा. बहुत ही तप, त्याग में मानते थे। उन्होंने ही ज्ञान के साथ उत्कट तप सहित संयम चर्चा की बात पर ज़ोर दिया। वे स्वयं भी बड़े तपस्वी थे।"

●

राजकाज से फुरसत पाते ही भंडारीजी पूज्यश्री के व्याख्यानों में संमिलित होने लगे। आचार्यश्री का प्रवचन धारावाहिक होता था और आप संस्कृत प्राकृत के सिवाय अरबी, फारसी आदि कई भाषाओं के जानकार तो थे ही; आपने अन्य धर्मों का अच्छा ज्ञान भी प्राप्त कर लिया था। अतः तुलनात्मक ढँग से जब वे विवेचन करते थे तो उनके प्रवचन में आनेवाले जैन-अजैन यहाँ तक कि मुसलमान लोग भी आपसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे।

एक दिन भंडारीजी व्याख्यान सुन कर बादशाह की खिदमत में गये। उस दिन बादशाह अपने दौलतखाने में बहुत ही गुस्से में बैठा था। जैसे-जैसे वह सोचता जा रहा था उसकी परेशानी बढ़ती जा रही थी; सवाल मुगलिया सल्तनत की खानदानी इज़्जत का था। उसके नाम पर काला धब्बा लगनेवाला था।

दौलतखाने के खोजे (हिंजड़े) ने आकर कहा :—"जहाँपनाह! आपकी खिदमत में जोधपुर के वज़ीरे आला भंडारीजी पेश होना चाहते हैं!"

बादशाह ने कहा :—"उन्हें पेश किया जाये!"

भंडारीजी ने आते ही कुर्निश (बादशाह को झुक कर सलामी) बजा कर बादशाह की खैरियत पूछी :—"जहाँपनाह! सब खैर तो हैं?"

"खुदाताला की रहम है!" बादशाह ने फरमाया। मगर उसके चेहरे पर से भंडारीजी ताड़ गये कि ज़रूर कोई बात है और बादशाह सख्त परेशान है।

उन्होंने अदब के साथ पूछा :—"ताबेदार की बेअदबी माफ हो; लेकिन आज कुछ परेशानी सी मालूम होती हैं। क्या, बंदा उसकी वजह जानने की गुस्ताखी कर सकता है।

बादशाह ने कुछ देर सोचा-विचारा और दाढ़ी पर हाथ फिरा कर ताली बजाते आदेश दिया :—"तकलिया....!" (एकांत हो! सब चले जाँये!)

गुरु ने उनकी प्रखर बुद्धि के अनुसार आगम के सूक्ष्म तत्त्व पढ़ाने शुरू किये। विधि, अध्ययन होने पर उन्हें अनुभव हुआ कि जिसे साधु दीक्षा के नाम से स्वामीजी करते थे वह साधुत्व से बहुत दूर है। इतना ही नहीं, यति - दीक्षा में दश प्रकार के यति धर्म का अंश भी कम था। लवजी मुनि को अध्ययन चिंतन करते - करते लगा कि जो जीवन वे बिता रहे हैं वह निरा ढोंग - पाखंड है अतः वे उससे ऊंचा उठने का प्रयत्न करने लगे।

पहले तो वे जिज्ञासा भाव से गुरुजी से पूछते रहे। अंत में उन्होंने सविनय गुरुजी को कह दिया :—"हम और आप दोनों ही भगवान के बताये मार्ग पर नहीं चल रहे हैं। आगम के अनुसार यह शिथिलाचार है। इसे त्यागिये और उच्च एवं सत्य साधु मार्ग पर स्वयं चलिये, और हमें भी ले चलिये।"

गुरु पहले तो आना कानी करने लगे किंतु अंत में उन्होंने कहा : "लवजी। मैं वृद्ध हो चला हूँ। मैं उस कठिन संयम मार्ग पर चल नहीं सकता। तुम्हें जाना हो तो तुम्हें हमारी खुशी से आज्ञा है।"

गुरुजी से आज्ञा मिल जाने पर लवजी ऋषि अपने साथ दो और संत थोभन ऋषिजी और भानु ऋषिजी को लेकर जैन धर्म के सच्चे संत मार्ग पर चले। उस समय तक मारवाड़ - राजस्थान में जीवराजजी म. सा. की जागृति की बातें आ चुकी थीं। लोंकागच्छ की साधु समाचारी भी उन्हें मालूम थी। तदनुसार वे स्वयंदीक्षित होकर दीक्षित हुए।

भंडारीजी ने कुछ सोचा और कहा :—"दूसरी और कोई उसके बारे में पंडितों और मौलवियों से पूछा....!"

"हाँ, वह जाँच भी हो गई है और सभी शाहज़ादी की व भरते हैं।" बादशाह ने कहा और बड़ी ही दर्द भरी आवाज़ में क सुबह मुर्गे ने बांग दी और इधर शाहज़ादी का काम खतम....!"

भंडारीजी ने कहा :—"यदि आप मुझे किसी काबिल समझते हैं मियाद देवें; शायद मैं कोई तजवीज़ पेश कर सकूँ।"

"वज़ीर साहब! क्या, अपनी प्यारी दुख्तर के लिये मैंने को रखी होगी?"

"फिर भी आप मुझे थोड़ा सा वख़्त देकर तो देखें। हो सक सूरत निकल आवे!" खींवशीजी ने कहा।

"अच्छा, तो मैं आपके कहने पर और दो दिन ठहरता हूँ!" ब और आशा प्रगट करते हुए बोला :—"मैं चाहता हूँ कि खुदा आपको का

भंडारीजी बादशाह से थोड़ी और गपशप करके विदा हो गये। मन चिंता में पड़ गया था। उन्होंने कहीं ऐसा सुना था कि स्त्री-पुरुष के संयो भी गर्भ ठहरता है; मगर उसको प्रमाणसर कौन कह सकता था?

उन्हें याद आया कि आचार्य अमरसिंहजी वहीं विराजमान हैं। यदि का हल बता देवें तो साधु मार्गीय जैन धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाई जा सकती है।

उनकी आँखों के आगे सम्राट अकबर के समय से जैन संतों के प्रभाव हाल आ गया। हीरविजय सूरि ने अकबर को अपने प्रवचनों से इतना प्रभावित कि उसने प्रसन्न होकर अपने राज्य में अमारि (पशु हिंसा बन्ध) का पटह बजवाया थ सुना गया था उसके अनुसार रविवार, अष्टमी पक्खी, धार्मिक बड़े दिन आदि मिला व वर्ष के आधे दिन पशु हिंसा नहीं होती थी। सम्राट को देख कर दूसरे अधीनस्थ भी हिंसा बन्द करवाई थी।

बादशाह अपने महल की गोख में बैठा हुआ पीछे बहती जमना का पानी देख रहा था। भंडारीजी के आते ही उन्हें फौरन खिदमत में पेश होने का आदेश हो गया।

भंडारीजी का हंसता चहेरा देखते उन्होंने कहा :— "मेरे अज़ीज दोस्त को मसले का हल मिल गया दिखता है। बड़ी जल्दी लौट आये हैं।"

"हाँ! जहाँपनाह!"

बादशाह की नज़र एक बार जमुना के पानी को देखती हुई भंडारीजी पर लगी जैसे वह उनके दिल की गहराई से राज जानना चाहती हो।

भंडारीजी ने धीरे-धीरे उनको दोनों बातें सामने रख दीं तब बादशाह के मुंह से निकल पड़ा :—"सचमुच....!"

"यकीन कीजिये! यह हमारे बड़े पहुँचे इल्मवाले और फकीर जैसे साधु के वचन हैं। वे कभी जूठे नहीं होते।" भंडारीजी ने कहा।

बादशाह ने एक बार उनको देख कर जमुना के बहते पानी को देखते हुए कहा :—"नहीं! इतने दिनों हम नहीं ठहर सकते। हमारी बदनामी और फैलेगी।"

"जितनी फैलनी थी वह तो फैल चुकी है। यदि शाहज़ादी वाकई गुनहगार है तो बाद में भी उसे सज़ा दे सकते हैं; मगर यदि वह बेगुनाह है तो आप उसकी जान लेकर नाइन्साफी करेंगे।" भंडारीजी ने समझाते हुए कहा।

"मगर दो महीने....! बहुत लंबे होते हैं! लोगों की ज़ुबान....!" बादशाह ने रुकते हुए कहा।

भंडारीजी ने कहा :—"आप बेफिकर रहें। सब बंदोबस्त हो जायेगा।"

बादशाहने भंडारीजी के कहे अनुसार प्रबंध करवाया शाहज़ादी को अलग से रखा गया। वह बीमार है कह कर उसके पास बेगम और बहुत ही विश्वसनीय दाई के सिवाय किसी को जाने नहीं दिया गया।

पीर ने उनसे चर्चा की और उनसे प्रभावित होकर उनको श्रद्धा से मस्तक झुकाया और उसने यह वचन दिया कि "भविष्य में वह वहाँ कभी न दीखेगा और नहीं किसी को वह तंग भी करेगा।"

प्रातःकाल धर्मसिंहजी को सकुशल लौटा देख कर शिवजी यति चकित हो गये। अब उनको विश्वास हो गया कि धर्मसिंहजी की आत्मा महान है और उन्होंने उन्हें स्वतन्त्र रूप से क्रियोद्धारक के रूप में दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी।

इस प्रकार यति समाज का प्रभाव घटने से यति समाज और उनके माननेवाले वर्ग बौखला उठे। उनके कोप का भाजन लवजी ऋषि और उनके संत बने।

एक बार प्रातःकाल शौचादिसे निपट कर लवजी ऋषि और उनके तीन शिष्य लौट रहे थे। उनमें भानु ऋषिजी पीछे रह गये। उसका लाभ उठा कर यतियों के भक्त उन्हें कुटिलता से मंदिर के पीछे ले गये। वहाँ उनकी निर्मम हत्या की गई और शव को वहीं पीछे गड्ढा बना कर गाड़ दिया।

उनकी राह देखते-देखते सायंकाल होने आया। अहमदाबाद बड़ा शहर था और उसकी गली में गली और कूचे में कोई भी चकरा सकता था। भानु ऋषिजी संध्या तक न लौटे तो लोगों में खलबली मची और बहुत खोज करने पर भी उनका पता न लगा। यह अन्दाज़ जरूर हुआ कि उस मन्दिर के आगे जाते वे नहीं दिखाई दिये।

अन्त में एक सोनी की आत्मा जागी। उसने सारा वृत्तांत देखा था और उसने सब के सामने वह कह सुनाया। लवजी ऋषि के भक्त लोग प्रतिशोध लेने पर तुल गये; किन्तु शांति के प्रखर प्रचारक, संत मार्ग के प्रणेता लवजी ऋषि ने उसे "कर्म गति" बतला कर उनका गुस्सा शांत किया और कहा :—"वैर का बदला वैर नहीं है; प्रेम है। हम उनकी घृणा को प्रेम से, त्याग से जीतेंगे!"

मगर उनका शांति-मार्ग कायरता समझा गया और यतियों ने अपने ज़ुल्म और भी बढ़ाये। लवजी ऋषि के भक्तों का सामाजिक बहिष्कार कराना उन्होंने शुरू किया। कुएँ पर से उनके मटके हटा दिये गये। नाई, धोबी को उनके यहाँ जाने से रोका गया।

बादशाह ने बड़े अदब से आचार्यश्री को नमन किया। आचार्यश्री ने कहा :—
"दया पालो, रहम रखो! दिल में खुदा को और ज़िन्दगी में सच्चे मज़हब को जगह दो!"

बादशाह अदब से उनके सामने बैठा। उसने बड़े ही भाव से कहा :—"आप सचमुच ही फरिश्ते हो; आपके दीदार से अपने आपको पाक (पवित्र) करने आया हूँ! आपकी पाक तकरीर (प्रवचन) सुनने आया हूँ।"

आचार्यश्री ने कहा :—"बादशाह! न तो मैं फरिश्ता हूँ और न मुझे करिश्मे आते हैं; किन्तु दुनियाँ में सचमुच ही सब से बड़ा करिश्मा अगरचे कोई है तो वह मज़हब है; सच्चा मज़हब है। वैसे नाम के लिये दुनियाँ में बहुत से मज़हब हैं; किन्तु सच्चा मज़हब तो वह है जहाँ हर रूह (आत्मा) को रूह की पहचान हो और वह ज़िन्दगी में अपना रूहाना (आत्मीय) ताल्लुक सभी रूहों के साथ में रख सके; वही मज़हब है। इस तरह जब रूहानी इल्म बढ़ता जाता है तो इन्सान एक ऐसी हालत में पहुँचता है वहाँ रूह बिल्कुल साफ और सब कुछ जाननेवाली होती है।"

आचार्यश्री ने उसे साफ उर्दू में इस प्रकार सार रूप से कहा :—"हमारा जैन धर्म अनादि काल से है; किन्तु दो हज़ार दो सौ वर्ष पूर्व हमारे चरम तीर्थंकर महावीर ने सच्चे धर्म का प्रकाश फैलाया था। उसे सच्चे धर्म की कसौटी आत्मा की पहचान के रूप में ज्ञान से, आत्मा के विकास के रूप में दर्शन से और सभी आत्मा की जिजीविषा (जीवन की चाहना) को मान देने रूप चारित्र से रखी थी।

सभी आत्मा बराबर है और सभी जीना चाहती है; अत: किसी को मारना नहीं चाहिये क्योंकि यह हिंसा है। कोई भी धर्म नहीं कहता कि हिंसा करो। इन्सान — आदमी सभी आत्माओं से अधिक विकसित आत्मा है; अत: उसके ऊपर सब से बड़ी जवाबदारी है कि वह सच्चे आत्म-धर्म का रूप है जो दया, करुणा आदि के नाम से पहचाना जाता है।

हिंसा करने की सभी धर्म ने मनाई की है। कुरान शरीफ में भी कहा है कि "मक्का शरीफ की हद में कोई जानवर को न मारे। भूल से मारे तो भी अपने घर का

उसने श्रावकजी से भानु ऋषिजी की हत्या और दिल्ही में उनकी सुनवाई में हो रहा विलंब तक की सारी बातें सुनीं, उसे बड़ा रोष आया और बोला :—"ऐसे रहेनुमा फकीरों के साथ शैतानों सा यह वर्ताव !"

उसने फौरन ही बादशाह के आगे सारा वाकिया पेश किया और वह खुद ही शाही फरमान लेकर अहमदाबाद उन श्रावकों के साथ निकल पड़ा। उसने वहाँ जाकर मंदिर का वह स्थान खुदवाया जहाँ भानु ऋषिजी के शव को गाड़ा गया था। थोड़ी ही खुदाई पर हाड़ पिंजर का एक ढाँचा उसमें से निकला।

काजी के गुस्से का पार न रहा। उसने उस बड़ी उस मन्दिर को तोड़ने का आदेश दे दिया। यह बात लवजी ऋषिजी के कानों तक पहुँची और उन्होंने कहा :—"हमें तो जो कुछ हुआ है उसके प्रति समभाव से सहन करना है; और कर्म फल का उद्भव जान कर सभी को यही उपदेश देने का है। हम यह द्वेष बढ़ाना नहीं चाहते। हमें किसी के धर्म स्थानकों से विरोध नहीं है; किन्तु वहाँ भगवान और मूर्ति के नाम जो पाखंड अन्याय और अत्याचार चल रहे हैं उसका विरोध करना है।"

श्रावकों ने भी बात समझ ली और काजीजी को समझा कर उसका विचार बदलवा दिया। फिर वह काजी इन संतों के दर्शन करने आया और उनसे कई बातों की चर्चा करके बहुत ही प्रभावित हुआ। उसने न केवल जैन-धर्म के प्रति श्रद्धा व्यक्त की; किन्तु पार्श्वनाथ प्रभु की स्तुतियाँ भी रचीं।

अहमदाबाद में लवजी ऋषिजी का डंका बज गया। उन्होंने सच्चे जैन धर्म का प्रभाव बढ़ा दिया। उन्होंने उस समय विचार किया कि "मेरे संसार पक्ष के नाना वीरजी वोरा का प्रभाव सूरत, खंभात और यहाँ बहुत ही अधिक है। यदि उन्हें मैं सच्ची धर्म प्रभावना करा सकूँ तो जिन शासन का बड़ा ही प्रभाव बढ़ेगा।"

उन्होंने वहाँ से गुजरात, सौराष्ट्र, मारवाड़, मालवा, मेवाड़ आदि में भ्रमण करके धर्म प्रचार किया। मारवाड़, मालवा, मेवाड़ में तो जीवराजजी म० सा० ने ज्योत जला ही

महात्मा हदीस ने भी कहा है :—

अल खुल को अल इला ही
जफा अहव्बुल खल की।
इल इला ही मान अहसान
इला हुल इला ही ॥

—सभी प्राणी खुदा के परिवार के रूप में है और खुदाताला को वे ही सब से प्यारे हैं जो कि उसके बन्दों से, परिवारवालों से प्यार करते हैं।

हमारे बड़े पयगंबरों ने आदमी को ही नहीं; पालतू जानवरों को और पक्षियों को मारने और खाने की मनाई की है। इतना ही नहीं; जो जंगली और हिंसक हैं उनका भी शिकार करने की मनाई की है।

इससे भी आगे बढ़कर उन सब बातों के लिये भी मनाई की है जिससे छोटी से छोटी रूह को तकलीफ होती हो।

पेड़-पौधे बेकार नहीं काटने चाहिये। वैसे तालाब और खुले पानी के ठिकानों पर स्नान नहीं करना चाहिये। उसमें पानी के नहीं दिखनेवाले जीव तो मरते हैं; किन्तु ऐसे स्थानों में भयंकर बीमारीवाले लोग भी स्नान करने से छूत की बीमारियाँ भी लगती हैं। ऐसा भी होता है कि कभी किसी स्त्री को ऐसे पानी में स्नान करने से गर्भ सा ठहर जाता है और लोग उस पर शक सा करते हैं। कभी-कभी तो उससे उस बेचारी की जान पर भी आ पड़ती है। हमारे मज़हबी ग्रन्थों में ऐसें बहुत से किस्से आते हैं और वहाँ स्नान करने की मनाई की गई है।

इस प्रकार देखा जाये तो सभी ऊँचे विचारकों ने, मज़हबों ने एक ही बात इन्सान से कही है कि वह नेकी करे, रहम करे, खुदा को याद करे और उसके बन्दों की नेक तरक्की और नेकनामी करे; किन्तु उसको तंग न करे, जुल्म न करे और न किसी की जान ले। यही रूहानी (आत्म) धर्म है।"

"शायद नहीं की गई होगी ! क्योंकि बलिदान बदला नहीं चाहता ; फिर ये तो सभी क्षमाश्रमण थे ; शांति के संत थे ।" आचार्यश्री ने खुलासा किया ।

लोंकाशाह से जीवराजजी, लवजी ऋषिजी के साथ वे धर्मसिंहजी को भी जोडते थे । उनका कहना था कि उन्होंने साधु मार्गीय परंपरा को बनाये रखा था । लवजी ऋषि के बाद सोमजी ऋषि आचार्य बने ; किन्तु उस समय विशेष प्रभाव अहमदाबाद आदि क्षेत्रों में धर्मसिंहजी महाराज का फैलता गया ।

वे बड़े ही पंडित और ज्ञानी थे । उनकी स्मरण शक्ति बड़ी ही अद्भुत थी । एक बार एक ब्राह्मण हज़ार श्लोक का ग्रंथ लेकर उनके पास समझने आया । तत्त्वज्ञ मुनि ने ग्रंथ को देखने के लिये रखा और दूसरे दिन उन्होंने कंठस्थ सब श्लोकों का अर्थ समझा दिया । वह ब्राह्मण उनकी अद्भुत बुद्धि का चमत्कार देखकर उनका अनुयायी बन गया ।

उनके शास्त्रीय ज्ञान का बड़े-बड़े पंडित और यति भी लोहा मानते थे और दरियापीर से उनके जीवित लौटने के कारण उनको बड़े चमत्कारी भी मानते थे । उन्होंने साधुमार्गी जैन संघ को बहुत सी साहित्य की भेंट भी की । इसमें भी २७ शास्त्रों पर लिखे आपके टब्बे आज भी बहुत सी बातों का मार्ग-दर्शन कराती हैं ।

उनका व्याख्यान ओजस्वी होता था । वाद विवाद में उनका तर्क अकाट्य होता था और स्वयं यति रह चुकने के कारण यति समाज से चर्चा विचारणा करके उन्हें अपना पक्ष मनाने में सिद्ध हस्त थे । उनका विहार हालांकि सौराष्ट्र और गुजरात तक ही हुआ ; किन्तु लोंकाशाह के गढ़ जैसे अहमदाबाद में रहकर आपने यतियों का प्रभाव करीब-करीब नाम शेष कर दिया । लवजी ऋषि के बाद उन्होंने साधु मार्ग की विशेष प्रभावना की और वे जब वृद्ध होने लगे तो सत्य धर्म की ज्योति को विशेष प्रकाशित करने के लिये पूज्य धर्मदासजी महाराज हुए ।"

आचार्यश्री के मुख से इन सभी आचार्यों के तप, त्याग एवं ज्ञान-स्मृति के अद्भुत दृष्टांत सुन कर संत मुनिवर और श्रावक समुदाय प्रेरणा पाता था ।

●
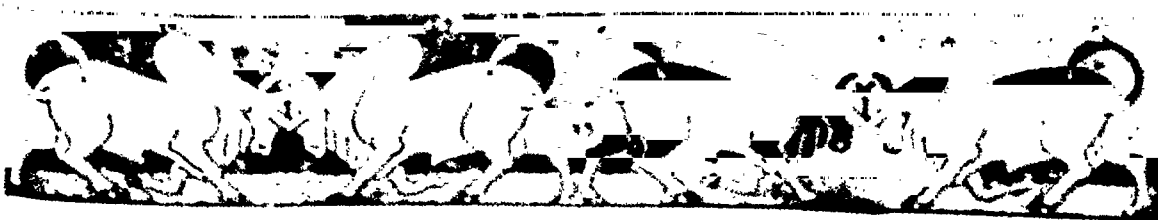
सकता है और इन्सान जो कि सब से बड़ी रूहानी ताकत है, उसे सब रूहों की भलाई के लिये रहनुमाई कर सकता है !" दीवानजी उन्हें समझाते।

"हमारी लख्ते जिगर दुख्तर को उन्होंने ही जान बक्षी है; मगर हम उनकी कोई खिदमत नहीं कर सकते इसका हमें गहरा अफसोस है। उनके कदमों में जब भी जांये; तो हमारी बंदगी ज़रूर अर्ज़ करें।" बादशाह कहते।

यों चातुर्मास बीतने आया।

खींवशी भंडारीजी के आगे तपस्वी ज्ञानी आचार्य अमरसिंहजी महाराज का स्थान रोज़ ऊँचा ही उठता गया। यदि वे संत राजस्थान में विहार करे तो? वहाँ पर यतियों की एक जमात पोतिया बंद क्रियोद्धारियों का पाखंड हट जाये और धर्म का प्रभाव बढ़े।

इन पोतियाबन्दों का बड़ा ज़बरदस्त प्रभाव था। पढ़ाते थे वैद्यक करते थे और लोगों को मन्त्र-तन्त्र-जन्त्र से अपने प्रभाव में रखते थे। स्वार्थ के लिये सच्चे साधुओं से द्वेष करते थे। लोगों को भडकाते थे कि "सच्चे साधु तो अचेलक होकर, नग्न रूप में जंगलों में रहते हैं; इस पंचम काल में नगर के बीच कोई साधु-चर्या नहीं पल सकती। इसलिये हमारा मार्ग ही सच्चा है!" वे इतना कह कर रुक जाते तो भी ठीक था; किन्तु द्वेष वश जहाँ उनका ज़ोर होता था वहाँ साधुओं का नाश करने तक के प्रयत्न करते थे।

भंडारीजी के आगे ऐसे बहुत से किस्से थे; जहाँ सच्चे साधुओं को उनके डेरों में आहार-पानी नहीं मिला था; कहीं पर तो विष मिश्रित आहार भी मिला था, कहीं पर उनके पीछे कुत्ते छोड़ दिये गये थे, कहीं-कहीं पर उन पर हिंसक आक्रमण भी किये गये थे और तो और उनकी परीक्षाओं के लिये उन्हें भूत-प्रेत की बाधा और उपद्रववाले स्थानों पर ठहरा दिया गया था। उनमें वे खरे भी उतरे थे और परिषह भी जीतते थे। साधुओं को तो स्थान पकड़ कर बैठना होता नहीं था। चातुर्मास भी अन्य स्थान पर करना पड़ता था; मगर ये पोतियाबन्ध यति-गुरुजी तो गादी जमाये गाँव-गाँव में फैल गये थे। और साधुओं के विहार करते ही वे फिर अपना प्रभाव जमाना शुरू करते थे। उनकी धार्मिक और तन्त्र-मन्त्र की शक्ति की धाक के आगे लोगों को झुकना पड़ता था।

देख कर तेजसिंहजी विचारने लगे कि यदि मुझे यह बालक मिल जाये तो मेरा उत्तराधिकारी बना लूँ।

माँ-बाप की स्वाभाविक इच्छा होती है कि बालक बड़ा हो तो उसकी शादी की जाय। किन्तु बालक पर और ही रंग छा रहा था। ज्यों-ज्यों धर्म-अभ्यास गहरा होता गया धर्मदास को लगा कि यति समाज का आचार विचार प्ररूपित जैन धर्म से बहुत दूर है। कोई और सत्य मार्ग अवश्य है और वे उसकी तलाश में रहने लगे।

चौदह वर्ष के धर्मदासजी के जीवन में जब गहरा मंथन चल रहा था तब एक दिन उनका मिलन "पात्रिया पंथ" ‡ के श्रेष्ठ महानुभाव कल्याणजी भाई से हुआ। यह पंथ कोई पच्चीसेक वर्ष से यानी वि. स. १६९० में शुरू हुआ था। इनके संस्थापक श्री प्रेमचंदजी और श्रीश्रीमालीजी थे। उनका यति कुंवरजी से मत भेद हुआ था और वे शिथिलाचार के विरुद्ध में थे। वे घर-घर जाकर भिक्षा लाने के हेतु हाथ में एक पात्र रखते थे; इसलिये पात्रिया कहलाते थे। लाल वस्त्र पहनते थे। हालांकि तप-त्याग और संयम आराधना करते थे; किन्तु यह मानते थे कि "महावीर प्रभु के शासन में सच्चा साधु कोई हो नहीं सकता। चौदह पूर्व के और बारहवें अंग के विच्छेद के साथ साधु-चर्या का भी लोप हुआ है।" उस पंथ के ये भक्त लोग अपने आप को धर्म प्रचारक श्रावक ही कहते थे।

कुछ नये ज्ञान की प्रकाश की खोज में धर्मदासजी का आकर्षण कल्याणजी भाई की ओर हुआ और उन्होंने पात्रिया-पंथ स्वीकार किया। माता-पिता को दृढ़ता देख कर स्वीकृति देनी पड़ी। दो वर्ष तक तो वे उनके साथ फिरते रहे; किन्तु उनको जो सत्य चाहिये था वह नहीं मिला था।

---

‡ उस समय प्रचलित "कडुआ मत" (शायद स्पष्टवादिता के लिये) से कुछ व्यक्ति अलग होकर बारह व्रतधारी श्रावक के रूप में विचरने लगे। इनके रजोहरण की डंडी खुली रहती थी। वेश साधु सा था और एक पात्र में भिक्षा लेते थे। अतः यह एक पात्रिया पंथ कहलाया।

आचार्यश्री विचार में पड़े।

खींवशी भंडारी ने कहा :—"आपकी बड़ी कृपा होगी राजस्थान पर....!"

वे वन्दना करके चरण स्पर्श करके वहाँ से चल दिये। उनके हृदय में आगे की एक योजना थी। पूज्यश्री का विहार हो, बड़ी-बड़ी रियासतें जो मुगलिया सल्तनत के अधीन थी वहाँ के बड़े-बड़े राजा-महाराजा उन्हें ठाठ-माठ से लिवाने आवें और महाराजश्री के परम प्रभावक व्याख्यान से जगह-जगह क्रांति हो और इन पोतियाबन्धों का प्रभाव घट जावे एवं सच्चे जैनत्व का प्रकाश फैले।

वे सीधे मुगल बादशाह बहादुरशाह के पास पहुँचे। बादशाह की कुर्निश बजाई तो बादशाह ने अपने बगल में उन्हें बिठा लिया। बादशाह ने खैरियत पूछी तो भंडारीजी ने कहा :—"जहाँपनाह! मैं अब जोधपुर वापस जा रहा हूँ। राजा साहब का फरमान भी आ चुका है!"

"आपको शाही ढँग से हम विदाई देंगे। शाही रिसाला आपको जोधपुर तक छोड़ आयेगा और कहिये क्या खिदमत की जाय?" और बादशाह को याद आया वैसा उन्होंने कहा :—"आपके बड़े मसीहे कैसे है?"

"वे भी पैदल चलकर मारवाड़ आ रहे हैं!" भंडारीजी ने कहा।

"हमारी खिदमत वे कबूल नहीं करते। उनका एहसान हम पर बड़ा है; फिर भी हम चाहते हैं कि बंदे से जो कुछ बन सके वह किया जाय!" बादशाह ने कहा।

"वैसे तो वे खिदमत कबूल नहीं करेंगे; किन्तु जहाँपनाह! एक बात करके उनकी खिदमत जैसा कर सकते हैं!" भंडारीजी बोले।

"नेक अस्त क्यों देर दुरस्त? बोलिये, देर मत कीजिये!" बादशाह ने आनन्द में कहा।

"वैसे तो उन्हें अपनी हिफाज़त के लिये कुछ नहीं चाहिये; मगर जहाँपनाह! नेकी करनेवालों के दुश्मन भी बहुत होते हैं!" भंडारीजी बोले।
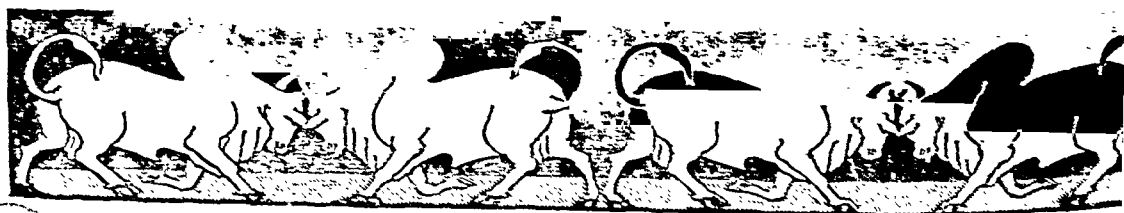
व्याकरण का उन्हें अगाध ज्ञान था। उनकी शारिरिक शक्तियाँ भी ज्ञानमय शरीर पूंज के समान थीं। दोनों हाथ से तो लिख सकते थे; दोनों पैरों से भी लिख सकते थे।

धर्मदासजी के माता - पिता और उनके प्रति गुरु तेजसिंहजी को ज्ञात हुआ कि धर्मसिंहजी महाराज से एक बार मिला जाये। धर्मदासजी को तो आत्म - जागृति चाहिये थी। वे उनसे मिले। उनसे वे प्रभावित हुए; किन्तु कुछ मान्यता में भेद पड़ता था। ‡

---

‡ पूज्यश्री धर्मसिंहजी म० सा० से निम्नः बातों में मतभेद था :—

१. पू० धर्मसिंहजी "सव्वे सूचेय असूय ठाणेसु" के स्थान पर "सव्वे सूवा ठाणेसु" मानते थे। पू० धर्मदासजी सब अशुचि स्थानों में समूर्छिम जीवोत्पति होना मानते थे।
२. सात कारण से आयुष्य का तूटना होता है (पू० धर्मसिंहजी निश्चित कारण मानते थे।
३. रजोहरण की फली के बीच में डोरा बांधना उचित नहीं।
४. पात्र पर लकड़ी का ढक्कन अकल्पनीय है।
५. एक के असूझता होने पर दूसरे से बहराना उचित नहीं।
६. भिक्षा के लिये जाते समय एक हाथ में पात्र - झोली रखना; दोनों में नहीं।
७. सामूहिक प्रतिक्रमण के समय महाव्रत चिंतन का कार्योत्सर्ग करना आवश्यक है।
८. फलों की फांक, केला, भूट्टा आदि बहराना उचित नहीं।
९. मुँहपत्ति बांधे बगैर गोचरी आदि जाना नहीं।
१०. उपवास में छाछ की आछ पीनी नहीं।
११. नदी पार करने के पाप का प्रायश्चित लेना चाहिये।
१२. पडिलेहन करने के पश्चात् इर्यावहि का उत्सर्ग करना आवश्यक है।
१३. प्रथम प्रहर का आहार चतुर्थ प्रहर में लेना नहीं।
१४. गृहस्थ जीवन में हरी (लीलोतरी) का प्रत्याख्यान साधु संयम लेकर तोड़ना उचित नहीं।
१५. बड़े साधु गोचरी गये हों तो स्थानक में छोटे साधु के पास आलोयणा करना आवश्यक नहीं।
१६. केवल ज्ञान की सत्ता जीव के पास है; ज्ञान आत्मा से उत्पन्न होता है, बाहर से आता नहीं।
१७. माता - पिता जीवित होते दीक्षा न लेने की प्रतिज्ञा गर्भ में करना भगवान महावीर की मातृ - पितृ भक्ति है।
१८. उपवास में "महत्तरागारेण" और "परिठावणिया" का आगार रख कर आहार करना उचित नहीं।
१९. श्रावक के लिये सामायिक पौषध का पच्चक्खाण छः कोटि से होता है; (पू० धर्मसिंहजी आठ कोटि से आवश्यक मानते थे)।
२०. ठंडी रोटी में एकांत रूप से जीवोत्पति नहीं होती।

— पूज्यश्री धर्मसिंहजी महाराज के साथ चर्चा बोल से।

उन्होंने वहाँ रात विताई। ज़िंद ने रात को नाना प्रकार की लीलायें दिखाई मगर इन महात्माओं पर कोई असर नहीं पड़ते देख उनसे चर्चा विचारणा की। यहाँ पर भी आचार्यश्री का अरबी फारसी का ज्ञान काम आया। ज़िंद बहुत ही प्रभावित हुआ।

उसने कहा :—"मुझे कई बातों की शंका हो गई थी; मगर मेरे साथवाले मुल्लाओं ने उसका हल नहीं दिया। मैं विरोध करने लगा तो उन्होंने मुझे मरवा दिया; तभी से मेरी रूह भटक रही है। अब आपके कहने से मेरी रूह के शक दूर हुए हैं; इसलिये यह स्थान मैं आपको सौंपता हूँ — मगर कोई दूसरा इसका कब्जा जमायेगा तो मैं उसे तंग करूँगा!"

आचार्यश्री ने कहा :—"न तो हम किसी से कोई मिल्कत, जायदाद लेते हैं और न रखते हैं। हमारी इच्छा है कि कि हमारे फिरकेवाले यहाँ मज़हबी रस्में करते रहें।"

"अच्छा, वैसा ही होगा!" ज़िंद यह कह कर चला गया। आचार्यश्री के विहार के बाद मुसलमानों में फिर उस पर कब्ज़ा लेने का प्रयत्न किया; किन्तु उनकी जान पर बन आई। दो एक मौलवी आधे मरे निकले और बोले :—"या अल्लाह! शैतान है; बड़ा शैतान है! उस बड़े जैन ओलिये की उस्तादी की सोगन्द खाई तभी ज़िंदा छोड़ा। तब तक पटक-पटक कर दम निकाल दिया!"

ज़िंद ने कइयों को यह परचा दिखा दिया था और आखिर मुसलमानों ने हार मानकर जैनों को वह जगह दे दी। ऐसे आचार्य अमरसिंहजी हैं और उनके प्रभाव के रूप में आज भी सोजत में कोट के मुहले में मस्जिद का बना स्थानक है जहाँ जैन लोग ही धार्मिक क्रियायें कर सकते हैं।

पूज्य भूधरजी ने कथानक सुना कर कहा :—"रघुनाथजी सोजत के हैं; उनसे पूछो!"

मुनिश्री रघुनाथजी विनम्रता से बोले :—"आपजी का कहना बिल्कुल सत्य है।"

ऐसे कथानकों से सब में जैन धर्म का प्रभाव बढ़ाने की उत्कंठा जागृत होती थी; विहार में जहाँ-जहाँ अवसर मिलता वहाँ-वहाँ आचार्यश्री जैनत्व का प्रकाश फैलाने से नहीं पीछे हटते थे।

●

लोकप्रिय थे। जहाँ जाते थे वहाँ अनायास ही सब का मन अपनी ओर खींच लेते थे। उनका स्वभाव बड़ा ही सौम्य था। जिससे वे चर्चा करते, यहाँ तक कि धर्मसिंहजी महाराज और कानजी ऋषि से भी वे मत भेद होते हुए भी उनके दिल को जीत लेते थे।

आचार्य पद पानेवालों में उस समय के तीनों आचार्यों में वे सब से छोटी उम्र के थे। उज्जयनी में वि. सं. १७२१ में जब श्रीसंघ ने आप को आचार्य पद की चादर ओढाई तब आपकी उम्र सिर्फ २१ वर्ष की थी। फिर भी शासन प्रचार और संघ व्यवस्था आपने इतनी कुशलता से की, आपके ३५ पंडित शिष्यों सहित ९९ शिष्य मुनि आपसे कभी अलग नहीं हुए। कहा जाता है कि आधे से अधिक भारत की भूमि आपने अपने पाद विहार से तय कर ली थी।

लवजी ऋषिजी तो विषप्रयोग से शीघ्र ही काल धर्म प्राप्त हुए थे। धर्मसिंहजी स्वामी वृद्ध हो चले थे और प्रचार अधिक नहीं कर सकते थे। वे भी १७२८ में काल धर्म प्राप्त हुए तब जिन शासन का अधिक से अधिक प्रचार आपने करीब आधी सदी तक किया। आपको जैन धर्म का प्रचार अधिक से अधिक करने की इच्छा थी। और आपके मन में अपने शिष्य-समुदाय को प्रांत-प्रांत में फैलाने की भावना थी। धार में आपने ऐसी योजना शिष्यों के सन्मुख रखी; किन्तु सभी ने आप के ही शासन में रहने की श्रद्धा व्यक्त की। फिर भी उन्होंने अपने उत्तराधिकारी के रूप में मूलचंदजी स्वामी को घोषित किया। कर्म गति विचित्र होती है। उन्हें अपना आत्म उत्सर्ग करना था, इसलिये एक घटना हो गई। धार में उनके एक शिष्य ने आमरण संथारा पच्चक्खा। फिर उसका आत्म बल पीछे हटने लगा। उस समय पूज्यश्री अन्यत्र विराजते थे। उन्हें यह समाचार मिला।

उन्होंने उग्र विहार किया और कहलवाया कि "उसे मैं आऊँ वहाँ तक रोके रखो।" उस समय पूज्यश्रीजी की उम्र होने आई थी फिर भी जिन शासन की प्रतिष्ठा बचाने उन्होंने जैसे तैसे विहार किया। रास्ते में निर्दोष आहार-पानी भी नहीं मिला।

२६ जय-संत प्रतापी

आचार्यश्री एक बार संतों के कथानकों के अंतर्गत धर्म-कथा सुनाते थे।

"हालाँकि सभी संतों के तप-त्याग का प्रभाव पड़ता ही है; किन्तु कुछ संत ऐसे भी होते हैं जिन्हें अपने धर्म का सम्पूर्ण ज्ञान होने के साथ अन्य धर्मों का और अन्य भाषाओं का भी ऐसा सुन्दर ज्ञान होता है कि वे पंडितों और ज्ञानियों की सभा में तो अपना प्रभाव डालते ही हैं; किन्तु साथ-साथ आजकल जब मुसलमान बादशाही चल पड़ी है तो मुसलमान बादशाहों पर भी अपना प्रभाव डाल सकते हैं, जिससे धर्म का और भी अधिक प्रभाव बढ़ता है।"

वैसे तो बहुत से संत हैं; किन्तु मारवाड़ राजस्थान में आकर यतियों से कष्ट सहनेवाले और संतों के लिये विहार उपद्रव रहित और सुलभ करनेवालों में पू० जीवराजजी म० की सम्प्रदाय के पूज्यश्री अमरसिंहजी म० सा० का प्रताप सभी मानते हैं!' आचार्य भूधरजी ने स्वयं आचार्य होते हुए उनकी प्रशंसा की तो सभी ने उनकी सरलता के आगे मस्तक झुका दिया।

"दिल्ही के सिंहासन पर बहादुरशाह का शासन चल रहा था। दिल्ही के बादशाहों की सल्तनत के आधीन मारवाड़, मेवाड़, मालवा यानी राजस्थान की बहुत सी रियासतें हैं। दिल्ही के बादशाह इसलिये उन रियासतों में ऐसे राजा जैसे व्यक्ति भी पसन्द करते हैं जो कि रियासत और दिल्ही का सम्बन्ध अच्छा बनाये रखे।

संवत् १७६७ में दिल्ही में आचार्यश्री अमरसिंहजी म० सा० का चातुर्मास था। जोधपुर के दीवान खींवशीजी भंडारी थे। वे बड़े ही चतुर, दक्ष और राजकाज में कुशल होने के साथ-साथ धर्म-प्रेमी थे। बादशाह दक्षिण प्रान्त का दौरा करके अजमेर होता हुआ दिल्ही लौट रहा था तो रियासतों के बारे में पूरी जानकारी करने के लिये उसमें जोधपुर दीवान खींवशीजी को भी साथ ले लिया था।

"लेकिन प्रभु ने तो अपना अंतिम वस्त्र भी दान में दे दिया था। वे न पात्र रखते थे न वस्त्र! फिर आज की यह साधु वृत्ति उनके पथ पर ही जा रही है कैसे माना जाय?" धनराजजी बोले।

आचार्यश्री ने कहा:—"गौतम गणधर और पार्श्वप्रभु के श्री केशी श्रमण के संवाद से यह स्पष्ट है कि सचेलक और अचेलक दोनों प्रकार का संयम अनादि काल से चला आ रहा है। वास्तव में वस्त्र और पात्र रहित होना ही अपरिग्रहीपना नहीं है; किन्तु उसमें मूर्छा न रखना यही अपरिग्रह है।"

आचार्य पू० धर्मदासजी ने उन्हें सविस्तार पोतियाबंद, यति मार्ग और पात्रिया मार्ग का स्पष्ट चित्र रखा और साधु मार्ग से वे कितने दूर हैं यह भी बताया। "वे इसलिये विरोध करते हैं कि सच्चा साधुपन सूर्य जैसे प्रकाशित होते ही उनकी जुगनु सी चमक चली जायेगी।"

धनराजजी ने उत्सुक भाव से कहा:—"क्या मैं भी श्रमण साधु बन सकता हूँ?"

"संयम मार्ग में सभी आ सकते हैं; जैसे दिये को घेरे से दो हाथ दूर हटा देने पर पूरे खंड में प्रकाश होता है उसी प्रकार अज्ञान और अदर्शन हटने पर आत्म धर्म का प्रकाश जीवन रूपी खंड में प्रकाशित होता है। उसी प्रकार आप भी प्रयत्न करके देख सकते हैं।" आचार्यश्री ने कहा।

धनराजजी अपने पोतिया बन्द गुरां सा० पूनमचंदजी के पास गये और उन्होंने सविनय जो कुछ हुआ था कह सुनाया। साथ यह भी निवेदन किया:—"मुझे तो उनका विधान सच मालूम होता है और मैं उनके पास सर्व कर्म नाशिनी दीक्षा लेना चाहता हूँ!"

गुरां सा० ने उन्हें बहुत तरीके से समझाया और साथ ही परिषहों का भी बहुत ही उग्रतम विवरण किया; किन्तु धनराजजी पर तो और ही रंग चढ़ा हुआ था। अंत में उन्होंने धनराजजी को अपने उपकार याद दिला कर उलहना भी दिया।

धनराजजी ने बड़े ही विनम्र भाव से कहा:— "बापजी! आप स्वयं चलकर उनसे चर्चा-विवाद करें। यदि आप उनको समझा सकें तो मैं आपकी ही शरण रहूँगा।"

फिर आसपास गहरी नज़र डाल कर उसने कहा :—"वज़ीर साहब ! क्या कहूं ? कहते हुए ज़बान नहीं चलती। आपने मेरी शाहज़ादी को देखी ही होगी; अभी उसे अठारहवाँ लगा ही है....!"

"क्या, उसका निकाह ठीक नहीं हो रहा है ?" खींवशीजी ने पूछा।

"निकाह....क्या ! हमारी तो इज्ज़त ख़ाक में मिलनेवाली है ! जब से बेगम ने कहा है कि उसे हमेल है, मैं तो मुँह दिखाने लायक नहीं रहा हूँ !" बादशाह ने कहा।

एक पल तो भंडारीजी स्तब्ध हो गये फिर उन्होंने कहा :—"आपने क्या सोचा है ?"

"सोचना-समझना-इलाज़ करना सभी नाकाम है।" बादशाह ने कहा।

"क्या शाहज़ादी से पूछा....?"

"उस कमीना से पूछा तो वह बिल्कुल कमसीनपने (भोलेपन) से कहती है कि अब्बाजान आपकी कसम मुझे कुछ मालूम नहीं.... मेरी न तो किसी से जान-पहेचान है, और मुझे इश्क क्या होता है यह भी मालूम तक नहीं ?"

"आपको किसी पर शक है ?"

"नहीं वज़ीर....! यहाँ हींजडे और बान्दियों के अलावा जनानखाने में कोई जा नहीं सकता। मैंने सब की पूरी तलाशी ली है; मगर कहीं कोई सुराग नज़र नहीं आता।"

"आप की शाहज़ादी के बारे में क्या राय है ?"

"वज़ीर साहब ! यही तो मेरी कमज़ोरी है। वह मुझे बेहद प्यारी है; बड़ी भोली है। दुनियाँ की कोई बुराई उसे छुई हो ऐसा उसके मासूम चेहरे से मालूम ही नहीं होता !" बादशाह ने कहा और एक गहरी सास के साथ कहा :—"मगर मुझे अब इस कमज़ोरी से ऊपर उठना ही पड़ेगा; इस बदनामी से तो बचना ही पड़ेगा। मैं अब अधिक सह नहीं सकता....! कल सवेरे उसका सिर उड़ा दिया जाये यही एक रास्ता है।"

परिषह देने में, पोतियावन्दों के अनुयायी पीछे नहीं रहते थे वैसे धन्नाजी म० सा० को भी परिषह दिये गये; किन्तु वे सभी समभाव से सहते थे। उनका आदर्श था कि "हमें तो तप, त्याग और संयम से अपने आपको इतना ऊँचा उठाना चाहिये कि हमारे विरोधियों का प्रचार ही दब जाये। गोचरी आदि नहीं मिली यह प्रश्न ही नहीं आना चाहिये। तप के द्वारा ऐसा उन्नत चरित्र निर्माण हो कि तपस्वी को बहराने और सुपात्र-दान का लाभ लेने की जन-गण-मन में प्रगाढ़ भावना और लालसा सतत बनी रहे!"

पोतिया बन्द श्रावक और उनके भक्तों के बारे में उनका कहना था कि "भगवान महावीर ने ऊँचे ज्ञानी और चरित्रवानों की संगति करने का, गुणी जनों से वार्ता-विनोद करने का, जो दुःखी हैं, संतप्त हैं उनसे करुणा करने का और विरोधियों से मध्यस्थ भाव रखने का कहा है। हमें तो उनसे करुणा करनी चाहिये कि अज्ञानता वश वे कैसे कर्म बाँध रहे हैं? सच्चे जैन साधुत्व के विरुद्ध में प्रचार करके ये पोतियाबन्ध श्रावक शासन को नीचा दिखा रहे हैं; फिर भी जहाँ तक हस्त लिखित आगम भंडार सम्हाल कर रखने की बात है। उन्होंने आगमों के ग्रंथों को सम्हाल के रखा। यह उनकी अच्छाई भी है जिसे पढ़कर ही लोंकाशाह सच्चे धर्म को प्रकाश में ला सके!"

ऐसे तपस्वी, समन्वयी और उदार हृदय आचार्य ने जब उस समय मारवाड़ से गुजरात में विचरण करते हुए सुना कि पंजाब, दिल्ही से आचार्य अमरसिंहजी म० सा० अजमेर, सोजत होते हुए जोधपुर पधारनेवाले हैं तो वे भी उनसे मिलने के लिये विहार करते जोधपुर पहुँचे।

इस तरह विहार करते-करते आचार्य अमरसिंहजी म० सा० भी शिष्य समुदाय के साथ जोधपुर पहुँचे।

वह बड़ा ही सुहावना दृश्य था जब कि दोनों जैनाचार्यों का मिलन जोधपुर के बाहर दरवाज़े पर हुआ। दोनों ही महान आत्मायें थीं। दोनों विनम्र और अपनी सम्प्रदाय के आचार्य थे। फिर भी मान-पद-प्रतिष्ठा छोड़ कर दोनों ही विनम्र होकर एक दूसरे के आगे झुकने गये कि दोनों ने एक दूसरों को हाथों से उठा लिया।

जब सम्राट अकबर ने उन्हें भेंट - पालखी सवारी के लिये आग्रह किया तब आपने स्पष्ट रूप से जैन साधु के रूप में, पास में कौड़ी भी न रखने का और पैदल विहार एवं भिक्षाचरी के कड़े नियम बताये। जिसने बादशाह अकबर पर अत्यन्त प्रभाव डाला था।

खींवशीजी जानते थे कि इस प्रकार प्रभाव बादशाह पर पड़ जाये तो साधु मार्गीय जैन मार्ग का कितना प्रचार हो सकता था ? आचार्य अमरसिंहजी का ज्ञान और चारित्र दोनों ही उनके पास जानेवाले को अपनी ओर आकर्षित करनेवाले थे। वे उन्ही के पास पहुँचे। आचार्यश्री अलग कक्ष में उपर की मंजिल में विराजमान थे। वहाँ पर लोगों के आना - जाना चालु ही था।

आज दूसरी बार भंडारीजी को आते देख आचार्यश्री जान गये कि कोई विशेष प्रयोजन था। भंडारीजी ने उन्हें वंदना के द्वारा जिज्ञासा पूर्ति के लिये कुछ समय की माँग की। आचार्यश्री ने उन्हें "दया पालो !" कहकर अवकाश का संकेत किया।

आचार्यश्री ने ही पूछा :—"अभी आने का कोई विशेष प्रयोजन दिखता है ?"

"हाँ, गुरुदेव ! आपसे ही एकांत में बातचीत करनी है।" भंडारीजी की बात सुन कर आचार्यश्री के पास बैठे अन्य व्यक्ति पास के अलग खंड में चले गये ; फिर बड़े धीमे स्वर में भंडारीजी ने पूरी बात सुनाई और कहा इसका कोई खुलासा हो सकता है ?"

आचार्यश्री ने उन्हें कहा :—"अपने यहाँ स्थानांग सूत्र में पांच कारण बताये गये हैं जब कि पुरुष के संयोग के बिना भी गर्भ रह सकता है !" उन्होंने वे पांच कारण विस्तार से समझाये।

"मगर उसका प्रमाण कैसे दें !" दीवानजी बोले।

पू. अमरसिंहजी म. सा. बोले—"मनुष्य से गर्भ होगा तो वह स्वस्थ शिशु जैसे हड्डी माँसवाला होगा वरना वह माँस का पिंड थोड़े ही क्षणों में अपने आप जल बुद - बुद की तरह नष्ट हो जायेगा !"

दीवानजीने और भी सवाल पूछे और संतोष जनक खुलासा पाकर वे महाराजश्री को वन्दना करके वहाँ से उठे।

अचानक खटाखट-पटापट दरवाजे ज़ोर से खड़खड़ाये। हवेली के मालिक की प्रेतात्मा प्रगट हुई और उसने आचार्यों से पूछा :—"आप किसको पूछकर यहाँ आये हो?"

आचार्यश्री जान गये कि सही माजरा क्या है? उन्होंने शांत-भाव से अपना परिचय दिया और यह भी कहा कि "उन्हें यहाँ ठहराया गया है।"

प्रेतात्मा ने विशेष परिचय जान कर कहा :—"तो आप लोगों को मुक्ति दिलाते हैं तो मुझे भी मुक्त करायें!"

"आत्मा के बन्धन का कारण राग है जो मोह पैदा कराता है; जिससे आसक्ति आती है। उसे छोड़ देने पर वह मुक्त हो सकता है। जैसे कोई मनुष्य गरम लोहे के थंभे को पकड़ कर चिल्लाता है कि थंभा मुझे जकड़े हुए हैं और जला रहा है; वैसा ही तुम्हारा हाल है!"

"सो कैसे?" प्रेतात्मा ने पूछा।

"वास्तव में तुम जिसे अपना समझ कर आसक्ति वश यहाँ भटक रहे हो उसमें कोई भी तुम्हारा अपना नहीं है। याद करो कि जब तुमने अपना मानव देह छोड़ा उस समय कौन तुम्हारे साथ चला? पत्नी, पुत्र, स्वजन में से किसने साथ दिया? जिस धन व मान को तुम अपना मानते थे उसमें से क्या कोई अभी तुम्हारे साथ है?"

"धन-दौलत-इज़्ज़त तो मेरे साथ नहीं आ सकती थी। मेरी पत्नी थी; मेरे साथ सती होना चाहती थी। वह तो मेरी थी और है, मैं नहीं चाहता कि वह दुःखी हो!"

"तो फिर तुम्हें वह क्यों नहीं अपनाती? वह तुमसे दूर क्यों रहती है?"

"ये तो विचार नहीं आया?"

"अरे, वह तो तुम्हारा सम्बन्ध पिछले जन्म तक ही मानती है। इस जन्म में तुम उसके कुछ नहीं, केवल एक प्रेत हो जिससे वह दूर ही रहना चाहती है!"

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता!"

"हकीकत को मिथ्या नहीं कर सकते। वह फिर यह हवेली छोड़ कर क्यों गई? तुम्हारा यहाँ आना उसे पसन्द होता तो वह यहीं ठहरती....!"

दो मास गर्भ स्थिति पूरी होने पर बाहर निकले मांस पिंड को सब से पहले बेगम और बादशाह ने देखा। जिन वज़ीरों और हकीमों को मालूम था उनको भी वह दिखाया गया। वह एक रस और पानी का पिंड सा था। उसके कोई अंग न थे।

सभी बड़े गौर से देखते रहे कि थोडी देरमें ही वह पिंड बुद-बुद की तरह बैठ गया और फर्श पर रक्त मिश्रीत पानी और पतली चमडी का फटा आवरण रह गया। उसमें न कोई हड्डी थी न कोई केश का टुकड़ा। सभी घटना को देखकर दांतो तले अंगुली चबाकर रह गये।

बादशाह ने भंडारीजी को गले लगा लिया और कहा :—"सचमुच आपके फकीर के इल्म की दाद देता हूँ.... यह तो करिश्मा कर दिखाया है करिश्मा!"

"सब खुदा की कुदरत है।" भंडारीजी ने कहा।

"दीवान साहब! तुम्हारे फकीर ज़रूर फरिश्ते (देव दूत) होंगे; वरना वह पेट के अन्दर का हाल कैसे बता सकते हैं?" बादशाह ने पूछा।

भंडारीजी ने जवाब दिया :—"वे बहुत ही पहुँचे हुए महात्मा हैं। कोई लोभ-लालच उनको नहीं है। रूह की हकीकत वे जानते हैं और सब की भलाई की तकरीर करते रहते हैं!"

"अच्छा! तो क्या वे यहीं हैं?"

"हाँ, जहाँपनाह! वे यहीं है!"

"तब तो हम उनके दीदार को ज़रूर चलेंगे!"

"ऐसे महात्माओं के दीदार से ज़िन्दगी पाक हो जाती है। आप कहें तब ज़रूर चलेंगे!" भंडारीजी ने कहा।

उस दिन बादशाह ने उनको बड़े ही मान पान के साथ बिदा दी। आचार्यश्री से मिल कर जो समय मुकरर किया तभी भंडारीजी बादशाह को आचार्यश्री के दर्शन कराने और प्रवचन सुनाने लाये।

भी जोधपुर नरेश अजीतसिंहजी और उनके प्रधान खींवशीजी का भी अपना महत्व रहता था। वे भी समझते थे कि राजपूत राजाओं और उनके प्रधानों की सहायता के बिना कुछ नहीं होता। मुगल सल्तन रूपी पंखी की पूर्व पांख बंगाल में भी ओसवाल थे। कहा जाता है कि ढाका-मुर्शिदा बाद में जो माणकचन्द जगतसेठ थे; उसका वहाँ पर अच्छा प्रभाव था। यह नागौर के हीराचन्दजी गेलड़ा के वंश में थे। यति के आशिष लेकर पूर्व चले थे और वहाँ जाकर मालामाल हो गये। उन्होंने बंगाल के हाकिम मुर्शिदखाँ को सलाह देकर मुर्शिदावाद आवाद करवाया था। उस समय बादशाह फर्रूखसियर ने अंग्रेज़ डॅक्टर हेमिल्टन पर प्रसन्न होकर चालीश परगने दे दिये; मगर माणकचन्दजी ने उसे बुद्धिमानी से वापस लिये। इस पर बादशाह ने माणकचन्दजी को हाकिम पद दिया। किन्तु दोस्ती न टूटे एतदर्थ माणकचन्दजी ने कहला भेजा कि "मुर्शिदखान योग्य है और मैं उनका सेवक हूँ!" यों बड़ा झगड़ा होते-होते बच गया। पश्चिम में राजस्थान, गुजरात में भी ओसवाल थे। प्रायः गुजरात पर नियन्त्रण रखने के लिये गुजरात की सुबागिरी मुसलमानों के स्थान पर जोधपुर के महाराजाओं को दी जाती थी।

सं० १७७१ में यदि फर्रूखसियर बादशाह बना तो दीवान खींवशीजी की राय से और उस समय गुजरात की सुबागिरी भी जोधपुर को उनके कारण ही प्राप्त हुई थी। मगर फर्रूखसियर ने मनमानी की और वह सैयद बन्धुओं के हाथ मारा गया। उस समय भी उनको जोधपुर के महाराजा राजसिंह का सहयोग था।

उस समय हालाँकि फर्रूखसियर ने पहले जोधपुर राज्य के साथ दगा किया था; फिर भी उसकी विनती पढ़कर खींवशीजी का दिल पसीज गया था — मगर बहुत देर हो गई थी।

आगे नये बादशाह का चुनाव करना था। जहाँदरशाह और फर्रूखसियर जिस प्रकार मारे गये थे उससे बेगम कोई भी नये शाहज़ादे को, बादशाह बनने के लिये देने को राज़ी न थी।

इधर फर्रूखसियर ने ओसवाल दीवानों के साथ नादानी से दुश्मनी मोल ले ली थी। अतः उसकी करुण मृत्यु के बाद बेगमों को समझाना बड़ा मुश्किल था। फिर भी खींवशीजी

पालतू जानवर छोड़ दे। हाजियों के लिये तो हज करते और लौटते समय तक गोश्त खाने की मनाई है।"

शाहनामा में कहा है कि :—

नीस्त झन्द खुरोने जानवर ज्यु।
यनीन अस्त दीने सर दुस्तनेकुं ॥

— कयामत के दिन जिन जानवरों को जिसने मारा है, वह उसी तरह उनसे मारे जाते हैं; दुःख पाते हैं। इसलिये दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये जैसा हम अपने साथ सहन कर सकते हैं।

जामात हजरत अलि ने कहा है :—

फला तज अल्ल बुतून।
मका बरल हय वानात ॥

— तुम अपने पेट को पशु-पक्षी की कब्र मत करो।

पारसी जरथुस्त धर्म भी कहता है :—

हुशतन नीयावेश कसकु दरेह।
न आगुस फंदा के वासद वरेहां ॥

— किसी भी छोटे-मोटे जीवों को मत मारो।

किसी शायर ने तो यहाँ तक कहा है कि :—

न साजी मका में शिखमरा तू गोर।
जे बेहरे यहायत जे बेहरे तू गूर ॥

मय खुरो मुसतफ वेसा जो आतश अंदर काबा बेजन।
साफीने बुतखाना बाश मगर मरहम आजारी न कर ॥

— तू चाहे तो भले मक्का-काबा में आग लगा दे, चाहे तो कुरान जला दे या चाहे तो शराब पी ले — तेरा दुःख वैसे हल्का कर; मगर किसी को दुःख न दे।

अवस्था बढ़ती गई वैसे उन्होंने बेले भी करने शुरू किये और पालने के बाद फिर बेला करते थे।

उनकी उम्र बढ़ती गई। सं० १७८४ के चैत्र सुद आठम आई। आचार्यश्री मेड़ता में विराजते थे। उन्होंने अपना काल-धर्म समीप जान कर अपने शिष्यों से कहा :— "वत्स! अब तो यह शरीर थक चला है; इसका भरोसा मुझे तो नहीं दिखता!"

"नहीं भंते, ऐसा न कहें! अभी तक तो आप बेले का पारणा करते हैं!" शिष्यों ने कहा।

"मगर मेरी श्रद्धा नहीं हैं और समाधि (पंडित) मरण आये तो अच्छी बात है। साधु को अन्त समय यही तो चाहिये। आज क्या तिथि है?"

"बापजी! आठम है?"

"बस, दशम के दूसरे प्रहर को यह तन नहीं देखेगा....!"

"क्या बापजी, आप तो भले चंगे हैं न? आपका पारणा होगा!"

"तुम नहीं जानते; मैं जान गया हूँ! चेतता नर सदा सुखी....!" उन्होंने दृढ़ स्वरों में कहा :—"अब तो ये थम्भा अन्न खाये तो धन्ना अन्न खाये!"

उन्होंने संथारा पच्चक्ख लिया। उनके भक्त जन यह समाचार सुन कर गाँव-गाँव से दौड़े आये। साथ के संतों ने बहुत ही प्रतिवाद किया :—"बापजी! आप ने यह क्या किया?"

"जो साधु को करना चाहिये!"

"आपका पारणा होगा....! आप तो स्वस्थ हैं?"

"हाँ, इस देह को छोड़ कर आत्मा अन्य देह में जाने का पारणा करेगी!" पू० धन्नाजी म० सा० ने कहा।

मगर आचार्यश्री को तो उनके विरोधी लोग यहाँ भी नहीं छोड़नेवाले थे। उन्होंने राज्य कर्मचारियों को भडकाया कि "यह पट्टी बन्ध बड़े साधु गुज़र गये तो तुम को उपर से सुनना पड़ेगा; यह तो आत्म-हत्या है!"
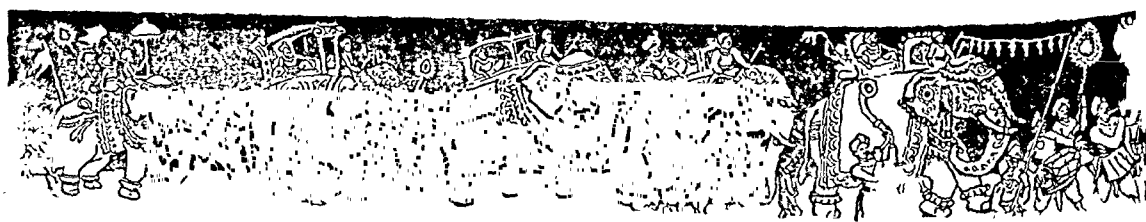
आचार्यश्री की भाषा मंजी हुई थी। अरबी फारसी और दूसरे मज़हबों की इतनी उनकी जानकारी देख कर बादशाह की तबियत बाग-बाग हो उठी। उसने सर झुका कर कहा :—"हमारे महान मरहूम जहाँपनाह अकबर कहते थे कि पहुँचे हुए औलिये बादशाहों के बादशाह होते हैं। आप भी बहुत ही पहुँचे हैं और दीवानजी फरमा रहे थे वैसे ही आप पहुँचे हुए रूहानी आत्मा है। बन्दा कोई खिदमत के लायक हो तो वह करने में अपनी बड़ी इज़्ज़त समझेगा।"

"बादशाह! हमें तो कोई खिदमत नहीं चाहिये; मगर हुकुमत के आला हो तो इतना ही चाहिये कि आपकी बादशाही में कोई बिना वजह किसी जानवर और परिंदों को मारे नहीं; शराब पीये नहीं और शयतानी फितूरों से दूर रहे!"

"बाअदब बाकोशिश आप की ख्वाहिश की तामिल कराऊँगा।" बादशाह ने घुटने टेक आचार्यश्री को वंदन किया। वह पीठ दिखाये बिना ही अदब के साथ उस कमरे से बाहर आया। बादशाह व्याख्यान सुनने आया यह जान कर कई लोग भी आये थे। वे आचार्यश्री के प्रभाव की तारीफ़ करते थे और बादशाह को झुक-झुक करके सलाम करके बिदाई दे रहे थे।

आचार्यश्री का चातुर्मास रहा तब तक और भी कई बार बादशाह उनके दर्शन करने और प्रवचन सुनने आया और उनसे बहुत ही प्रभावित हुआ था। उसने अक्सर भंडारीजी से कहा :—"दीवानजी! आपके महात्मा बहुत ही रूहानी ऊँचाई पर पहुँचे हुए हैं और मैं सब से हैरत अन्दाज तो तब होता हूँ जब कि न तो वे किसी प्रकार की भेंट, तोहफा और तो और इन्सानी खिदमत भी कबूल नहीं फरमाते!"

"आलीजहाँ! यही तो हमारे बड़े पयगंबर (तीर्थंकर) ने सच्चे मज़हब का मार्ग बताया है। वे कह गये कि जब फकीर दुनियावी ऐश कबूल करता है या कुनबापरस्ती में रहता है तो फकीर और मामूली इन्सान में फर्क ही नहीं रहता। जब फकीर उसकी थोड़ी सी भी ख्वाहिश नहीं रखता तभी तो वह रूह को ऊँचाई पर ले जाकर सच्चा खुदाई इल्म पा

"हम पर तो दोष नहीं आयेगा न? कुछ लोग कहते हैं कि यह तो आत्म-हत्या है और सरकार न रोकने के लिये हमें दोषी ठहरायेगी!"

"नहीं, आपको कोई दोष नहीं देगा। यह आत्म-हत्या नहीं है; आत्म-उत्सर्ग है। जब कोई ऊपर चढ़ता है, पर्वत पर तो ऊँचे जाते-जाते उसे बोझ कम करना चाहिये वैसे हम सभी मोह के बन्धन तोड़ते हैं।" आचार्यश्री बोले।

फिर भी कर्मचारियों के मन का समाधान न होते देख उन्होंने कहा :—"वैसे आज से मेरा बेला भी लगता था। मुझे इस देह पर श्रद्धा नहीं है; मैं पंडित समाधि ले रहा हूँ। चैत्र शुक्ल दशमी को दूसरा प्रहर चढ़ते इस नश्वर देह को त्याग कर मेरी आत्मा अन्यत्र चली जायेगी!"

आचार्यश्री के दृढ़ता के साथ कहे वचनों पर कर्मचारियों को विश्वास हुआ और वे विश्वस्त होकर वहाँ से वन्दना करके रवाना हुए।

सं० १७८४ की विजयदशमी के दिन आचार्यश्री ने कहा था वैसे उनकी आत्मा का उत्सर्ग हुआ; देह का विलय हुआ। उपस्थित जन समुदाय उनके इस पंडित-समाधि-मरण पर गद्गद् हो उठा। लोगों में यही बात यहाँ वहाँ सुनाई देने लगी :—"पहुँचे हुए आचार्य थे; मृत्यु को पहचान गये थे!"

जब उनकी पालकी निकाली गई तो मेड़तावालों ने देखा कि आचार्यश्री की आत्मा शरीर से उत्सर्ग कर गई थी फिर भी देह में ऐसी शांति थी और मुख मण्डल पर ऐसी प्रभा थी कि वे जीवित दिखते थे और बरबस ही सब क्षण भर को भूल जाते थे कि आचार्यश्री काल-धर्म प्राप्त हुए हैं। मेड़ता के लोग अब तक उस बात को याद रखते थे।

* * *

यों सारा सार सुना कर आचार्यश्री कहते थे कि :—"इन सब का मार्ग बड़ा कठिन था। एक उनको घरवालों का यानी जैन समाज के एक अंग रूप अन्य सम्प्रदाय का विरोध सहना पड़ता था। लोंकाशाह के बारे में भी कई ऐसी धारणा रखते हैं कि उन्हें उपवास के पालने में अलवर में कुछ मिलाके दे दिया मगर संयम की ज्योति तो जलती ही रही; किन्तु

भंडारीजी विचारते थे कि एक बार आचार्यश्री मारवाड़ पधारे और सच्चा साधु-मार्गीय श्रावक समाज पैदा हो तो पोतियाबन्दों की तूती बजनी बन्द हो सकती है। उन्होंने चातुर्मास उतरने के पहले आचार्यश्री को वन्दना करके कहा :—"गुरुदेव! आपका प्रभाव राजस्थान पर पड़े और वहाँ भी सच्चे धर्म का उद्योत हो एतदर्थ मैं विनति करता हूँ कि आपका विहार उस ओर हो!"

आचार्य अमरसिंहजी के पास भी इन पोतिया बन्दों की कहानियाँ आई थीं। वे जानते थे कि उन्हें भेड़ियों की माँद में जाने का निमन्त्रण दिया जा रहा है। वे पल भर सोचने लगे। उनके आगे महावीर प्रभु का खाका खींच गया। अनजान अनार्य देशों में वे विचरते रहे! लोगों ने क्या-क्या कष्ट अज्ञान में नहीं दिये? कानों में खीले ठोके....पैरों में खीर पकाई.... कुत्ते छोड़े.... गाली-गलोज और दुर्व्यवहार किया; किन्तु प्रभु न डिगे। वे सहनशीलता के मार्ग पर चले थे और अज्ञानी जीवों की परम अधम दशा का साक्षात्कार कर उनका भी उद्धार करने चले थे।

आचार्यश्री विचारने लगे : "मुझे भी वैसे ही प्रदेश में जाना है; वे लोग ज्ञानी कहलाके अज्ञानी बन रहे थे। सभ्य होकर भी विद्वेष से असभ्यता का अधम आचरण कर सकते थे। महावीर प्रभु तो अकेले थे; किन्तु मेरा शिष्य समुदाय भी है, उन पर क्या होगा?"

भंडारीजी के वाक्य ने उन्हें सचेत किया :—"क्या सोच में पड़े हो गुरुदेव? सचमुच ही आपके प्रभाव से अज्ञान अधर्म हट जायेगा!"

आचार्यश्री ने कहा :—"आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। मेरा सवाल है वहाँ तक मेरी सम्मति है और यह भी मानता हूँ कि जिन क्षेत्रों में स्पर्शना नहीं है वहाँ जाना चाहिये; किन्तु....!"

"आचार्यश्री! अनुमान होता है आप अपने शिष्यों के लिये चिंता करते हैं; किन्तु सिंह के साथ में रहकर गीदड़ भी सिंह बनता है तो ये तो सभी सिंह ही हैं। अभी मुगल बादशाह पर आप की छाप है और उसके साथ आपका राजस्थान में पधारना बहुत ही प्रभावशाली होगा!"
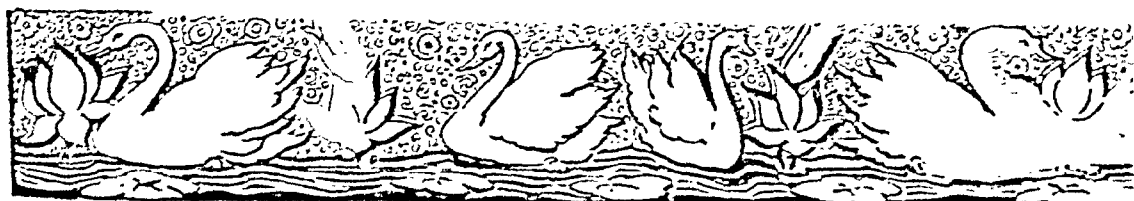
यहाँ पर संत पहुँचे और यहीं से साधु-मार्ग के सूर्य का उदय हुआ था यह विचार आते ही सब हर्षित हुए। वहाँ पर भी संतों ने धर्म-जागृति कराई।

यहीं पर पूज्यश्री के मन में विचार आया कि लोंकाशाह की तरह दिल्ली की ओर विहार कर देने से मार्ग में बहुत से नगर की स्पर्शना होगी और साथ ही धर्म-ध्यान होगा। जोधपुर सिरोही आदि नरेशों के कथन से भी और रतनसिंहजी जैसे दीवानों की बातों से भी यही सार निकलता था कि दिल्ली-क्षेत्र में धर्म-ध्यान अधिक होगा। जोधपुर, सिरोही आदि नरेशों के कथन से भी और रतनसिंहजी जैसे दीवानों की बातों से भी यही सार निकलता था कि दिल्ली-क्षेत्रों में धर्म ध्यान की बड़ी आवश्यकता है।

अरहट्टवाड़ा से एरणपुरा और वहाँ से सादड़ी की ओर विहार किया। यहाँ से संतों के दो दल हो गये। पूज्यश्री, जीवणजी और मुनिश्री जयमलजी तीनों संतों ने अजमेर की ओर विहार किया और बाकी के संतों को नारायणदासजी म० और रघुनाथमलजी म० सा० के साथ जोधपुर विहार करने का आदेश दिया गया।

अजमेर में संतों के पुनः पदार्पण से आनन्द छा गया। उसमें भी मुनिश्री जयमलजी के वक्तृत्व की निराली छाप सब पर पड़ती थी। हालाँकि पूज्यश्री साथ थे; फिर भी गुरु मुनिश्री नारायणदासजी का साथ नहीं होने से मुनिश्री जयमलजी को कई जिज्ञासायें अनुत्तर रह जाती थीं; किन्तु यही अवसर था कि वे स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक विषयों को जानने, समझने और ग्रहण करने की ओर अग्रसर हो सके। उनकी विनम्रता इतनी थी कि मुनिश्री नारायणदासजी के रहते वे प्रत्येक बात में उनका मार्ग-दर्शन चाहते थे और स्वयं मुनिश्री नारायणदासजी की भी यही इच्छा थी कि इस प्रकार आधारित होने से मुनिश्री जयमलजी का विकास स्वतन्त्र रूप से नहीं हो रहा है। अतः उन्होंने पूज्यश्री से अपने को अलग रखवाया था।

अजमेर, पुष्कर में प्रथम काव्य स्फूरणा आदि सभी अतीत की बातें मुनिश्री जयमलजी के सामने आईं। यहाँ से सन्त गण विहार करते किसनगढ़ होते हुए जयपुर आये।
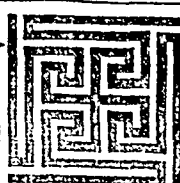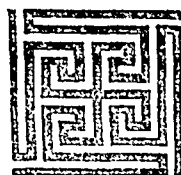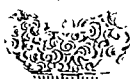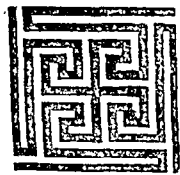
"ऐसे रहनुमा नेक महात्मा के दुश्मन! उन्हें फौरन मार देना चाहिये; सख़्त सज़ा होनी चाहिये....!" बादशाह ने आवेश में कहा।

"मैं भी यही चाहता हूँ कि आप ऐसा शाही फरमान ज़ारी करें कि इनको तंग करनेवालों को सख़्त सज़ा दी जायेगी!" भंडारीजी ने कहा।

"हम इतना ही नहीं और भी फरमान देंगे कि जहाँ - जहाँ वे जाँये वहाँ के राजा ठाकुर भी उनकी नेक इज़्जत करें!" बादशाह ने कहा और फौरन ताली बजा कर हाज़िर खोजे (हींजड़ा) को कहा :—"शाही फरमानकार को हाज़िर करो!"

उसके आते ही बादशाह ने फरमान लिखवाया कि :—"सल्तनते हिंद के मुगलिया बादशाह, बहादुर शाह का यह फरमान है कि उसकी सल्तनत में मुँह पर पट्टी बाँधे, सफेद कपडे पहने जैन संत फकीरों को जो सतायेगा तो उसे सख़्त सज़ा दी जायेगी। उस पर किसी भी तरह रियायत नहीं बक्षी जायेगी!"

बादशाह ने इस फरमान का ऐलान सभी जगह कराने का और इसका रुक्का बना कर गाँव - गाँव के काजियों पर भेज़ने का हुक्म दिया। उसने अलग रुक्के से आचार्यश्री के उपकार को स्पष्ट करके सभी रियासतों के राजाओं को भी आचार्य अमरसिंहजी के स्वागत सत्कार करने के लिये लिखा।

भंडारीजी प्रसन्न होकर बादशाह से विदा हुए। आचार्य अमरसिंहजी का बड़े ही प्रभाव पूर्वक विहार हुआ। उनके व्याख्यानों ने जैन धर्म का सत्य स्वरूप समझाया और पोतियाबन्दों के पोतिये (धोती) ढीले पड़ने लगे; फिर भी उन्होंने उनको सताने में कसर बाकी न रखी। वे साधु - चर्या की कठिनाई जानते थे। उन्हें गोचरी आदि प्राप्त करने में कठिनाईयाँ लाते। उतरने के स्थान में रुकावटें भी पैदा करते थे।

एक बार सोजत में तो उन्होंने आचार्यश्री को भटकाकर ज़िंद की मस्ज़िद में ही ठहरा दिया। बाद में उनके भक्तों को पता चला तो उन्होंने वहाँ से उठने के लिये आचार्यश्री से बहुत ही विनति की; मगर आचार्यश्री ने कहा :—"यह तो हमारे आत्म धर्म की कसौटी है।"
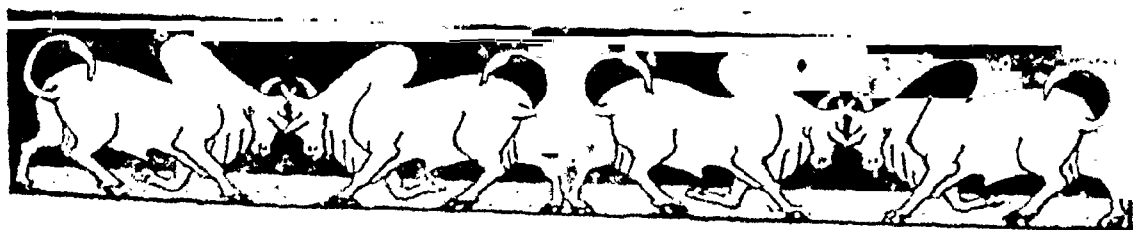
२८

जय - श्रावक गुण दर्पण

दिल्ही में पू० महाराजश्री आदि के पधारने से धर्म का अपूर्व ठाठ लग रहा था। लोग जैसे - जैसे उनके प्रवचनों की प्रशंसा सुनते थे अधिक से अधिक संख्या में व्याख्यानों में आने लगे।

एक दिन प्रात:काल व्याख्यान चल रहा था कि सभी लोगों ने देखा जोधपुर नरेश अभय-सिंहजी वहाँ पर आ रहे हैं। उनके साथ और भी छ: रियासतों के राजा भी थे। सब नतमस्तक होकर पूज्यश्री आदि संतों को वन्दना करके खड़े रहे।

पूज्यश्री ने "दया पालो; धर्म ध्यान करो!" कहा।

जोधपुर नरेश ने कहा :—"यहाँ दिल्ही आया था। सुना कि आप भी यहीं विराजमान है। आपके और मुनिश्री जयमलजी म० सा० के प्रवचनों का अमृत रस का पान जिसने किया है; वह उसे कैसे भूल सकता है? मैं दर्शन, वन्दन, प्रवचन का लाभ लेने चला। इन राजाओं ने भी साथ होने की इच्छा प्रगट की और हम सभी आपके दर्शन करके धन्य हुए हैं!"

२७

जय-संत तपस्वी

आचार्यश्री ने जब रघुनाथजी म. सा. की ओर आगे की बातें जानने का इशारा किया था तो मुनिश्री जयमलजी उनसे लाभ लेना कब चूकनेवाले थे। अभी तक की परंपरा उनके समझ में आई थी; आगे का अनुसंधान उन्होने रघुनाथजी से इस प्रकार प्राप्त किया।

अमरसिंहजी म. सा. को जोधपुर नरेश की वहाँ पर पधारने की विनती हुई थी और सोजत से डंका बजाते वे जोधपुर की ओर पधारे। इस तरफ पू. धर्मदासजी म. सा. की बाईस संप्रदायों में से प्रमुख शिष्य आचार्य धन्नाजी म. सा. भी विचरण कर रहे थे।

आपके संसार पक्ष के पिता सांचोर के कामदार वाघजी महेता थे। आपका लालन-पालन बहुत ही लाड चाव से हुआ था। आपकी सगाई भी हो चुकी थी; किन्तु आप पर वैराग्य सवार हुआ और आप आत्म-ज्ञान की खोज में यतियों के परिचय में आये।

उस समय मारवाड़ में विशेष कर सोजत-मेड़ता पट्टी में "पोतिया बंदों" का ज़ोर था। यह भी यति परंपरा की एक शाखा थी। हालाँकि उस समय सच्चा साधुत्व अपने आप में प्रकाशित हो रहा था। गुजरात, सौराष्ट्र, मारवाड़, मेवाड़, मालवा, दिल्ही, पंजाब में साधु-संत, साधुपने की दीक्षा और कठिन उग्र तप करके संयम मार्ग में पराक्रम दिखा रहे थे; फिर भी ये "पोतिया बंद" लोगों को गलत धारणा में बहका देते थे कि "सच्चा साधुपना तो भगवान महावीर के शासन काल में नहीं रहा है और इसलिये इस काल में केवल श्रावकाचार ही पाला जा सकता है।"

वे अपने मत के समर्थन में भोले लोगों को कहते थे :—"भगवान तो नग्न फिरते थे, कभी भी नगर में ठहरते नहीं थे; मगर आज ऐसी बात कैसे हो सकती है?"

चूंकि अधिकतर गाँव का जैन समाज ज्ञान-वैदक और तंत्र-मंत्र के कारण उनके प्रभाव में रहता था; वे लोग उनकी बातों का विरोध भी नहीं कर सकते थे।

विचारना ही है कि यदि मैं जिनेश्वर भगवान के मार्ग का श्रावक हूँ तो मुझ में ये गुण हैं या नहीं?"

वे गुण इस प्रकार हैं :—

१. श्रावक जो है उसमें सर्व प्रथम तो लज्जा होनी चाहिये; यानी गुप्त रूप से भी वह कुकर्म का आचरण नहीं करता। वह हमेशा सोचता है कि मैंने गुरुजन से व्रत लिये हैं, अनन्त सिद्ध ज्ञानी सब जानते हैं और मेरी आत्मा साक्षी है; अतः मुझे कभी भी मर्यादा भंग नहीं करनी चाहिये। लज्जा गुण व्रत-पालन के लिये अति आवश्यक है।

२. श्रावक का दूसरा गुण है दया करना। वह प्राणी मात्र में अपने ही समान आत्मा को मानता है और इसलिये किसी को भी दुःख नहीं पहुँचाता। दुःखी जीवों पर अनुकम्पा लाता है और उनके दुःख भी वह दूर करता है। श्रावक वह नहीं कि उसके भाई-बन्धु भूखे मरते हों और वह जलसे करता फिरे।

३. श्रावक जब दयावान होता है, दूसरों के दुःख दूर करता है तो अपने कर्तव्य बजाने के सन्तोष से हमेशा प्रसन्न चित्त रहता है। जो किसी को दुःख देता है उसके दुश्मन होते हैं और उसका आनन्द हर लिया जाता है। तब श्रावक के तो सभी मित्र होते हैं :—"मित्ती मे सव्व भूएसु" वाली भावनावाला होने से वह हमेशा आनन्द और प्रसन्न चित्त रहता है।

४. "मैं जो कुछ कार्य करता हूँ वह धर्म सहित करता हूँ। यही आगम आदेश है ऐसा श्रावक मानता है और चूँकि उससे लोकप्रियता बढ़ती है अतः वह आगम वचन में हमेशा श्रद्धा रखनेवाला होता है और विपत्ति में भी वह उस श्रद्धा से डिगता नहीं है।

५. श्रावक दूसरों के दोषों को दूर करनेवाला होता है और यदि उसके ध्यान में किसी का दोष आ भी जाये और उसे दूर नहीं कर सकता तो भी वह उसे प्रगट नहीं करता। वह अन्य के दोषों का अनुचित लाभ नहीं लेता।

६. श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार हमेशा दूसरों का भला करनेवाला होता है। इतना ही नहीं, उसे जो प्राप्त है, वह अपने कर्मों के अनुसार मिला है; अतः वह उतने में ही सन्तोष करनेवाला होता है।
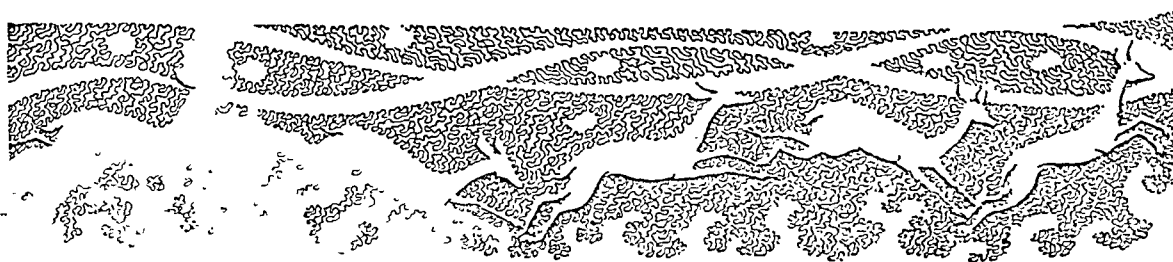
पढ़ाई पट्टी के अनुसार इन साधुओं के विरोधी थे। उन्हें ढोंगी-पाखंडी मानते थे; मगर उनका मन पोतियाबंदों के इस दलील को भी मानने के लिये तैयार नहीं था कि सिर्फ श्रावकाचार के आगे कुछ भी नहीं है।

उन दिनों में पूज्य आचार्यश्री धर्मदासजी म. सा. विहार करते-करते उनके गाँव पहुँचे। युवान जैनाचार्य का तेज फैल रहा था। भव्य चरित्र और उन्नत ब्रह्मचर्य के कारण उनकी प्रतिभा में और भी आकर्षण पैदा हो रहा था।

उनकी प्रशंसा सुनकर धनराजजी से नहीं रहा गया। वे भी उनका व्याख्यान सुनने गये। व्याख्यान के पश्चात् उनका धर्मदासजी आचार्य से वार्तालाप हुआ।

उन्होंने पूछा :—"हम भी जैन धर्म पालते हैं और आप भी पालते हैं; फिर भी हम और आप अलग क्यों हैं?"

पू. धर्मदासजी ने कहा :—"दिया तो सारे खंड को प्रकाशित करता है; किन्तु जब उसको दो हाथों के बीच ढक दिया जाता है तो सिर्फ उतने ही प्रदेश को प्रकाशित करता है; यहीं अंतर आप में और हमारे में हैं।"

"कहते हैं कि भगवान महावीर के बाद साधु संयम रूपी दीप बुझ चुका है, फिर आप किस दीप के बारे में कहते हैं!" धनराजजी ने पूछा।

"यह तो भ्रम है! भगवान महावीर के बताये मार्ग के अनुसार इस समय भी साधुता का दीप जल रहा है और ज्ञान-दर्शन चारित्र रूपी धर्म का प्रकाश फैल रहा है।" पू० धर्मदासजी आचार्यश्री ने फरमाया।

"फिर हमें क्यों बताया जा रहा है कि वह मार्ग वर्तमान में नहीं हो सकता!" धनराजजी ने पूछा।

"जिन वाणी तो यही कहती है कि प्रभु महावीर के निर्वाण के पश्चात् २१००० वर्ष तक यह शासन चलता रहेगा। ऐसा स्वयं महावीर प्रभु ने भगवती सूत्र में कहा है। अपने क्षणिक शरीर मोह और शिथिलता के कारण जो स्वयं दुर्बल बने हैं; वे अपनी दुर्बलता छिपाने के लिये दूसरों को भी भटकाते हैं और उन्हें आगे बढ़ने से रोकते हैं।"
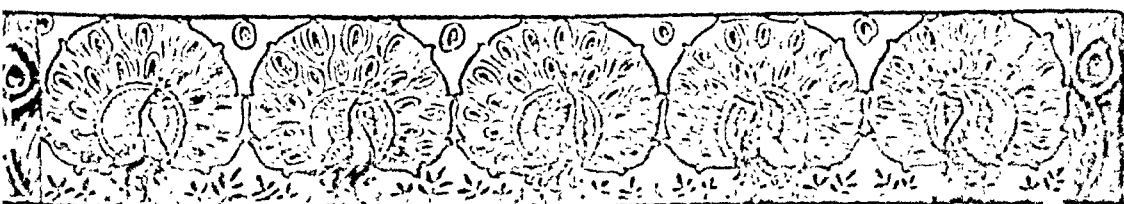
गुरां सा० ने देखा कि इस पर तो और रंग चढ़ा हुआ है तो उन्होंने कहा :—
तो उम्र होने आई है और फिर यहाँ का भंडार भी सम्हालना है; तुम चाहो तो जा
हो।"

सभी की स्वीकृति पाकर १७२७ में धनराजजी ने पूज्य आचार्य धर्मदासजी के
भगवती दीक्षा अंगीकार की। पूज्यश्री के उपदेश से वे तप-संयम की और विशेष
तप के द्वारा ही भगवान महावीर ने कर्म खपाकर केवल ज्ञान प्राप्त किया था। धनाजी
ज ने तप की नई प्रणालिका शुरू की। एकांतर तो चालु रखा ही वेले, तेले और
ा कठिन तप भी उन्होंने शुरू किये।

वे बहुत वर्षों तक गुरु महाराज धर्मदासजी के साथ विचरण करते रहे; फिर उनकी
ा ज्ञान-दर्शन चरित्र की श्रेष्ठता देखकर आचार्यश्री ने उन्हें स्वतंत्र धर्म प्रचार और
ा परिवार करने की स्वीकृति दी।

वे मालवा-मेवाड़ से गुजरात-सौराष्ट्र आदि क्षेत्रों में प्रचार करने लगे।
धर्मदासजी म. सा. के कायोत्सर्गीय बलिदान के बाद बाइस टोले बने उनमें एक टोले का
य आचार्य पद धन्नाजी म. सा. को भी प्राप्त हुआ। वे तपस्वी आचार्य के नाम से
ाप प्रसिद्धि पाकर विचरण करने लगे। उनके गुरु-बन्धु पूज्यश्री मूलचन्दजी महाराज भी
ें मारवाड़ प्रदेश में धर्म-ध्यान फैलाने के लिये छोड़, गुजरात की ओर विहार कर गये।
ोंने गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र और कच्छ आदि प्रांतों में धर्म प्रचार करना शुरू किया।
मूलचन्दजी* को धन्नाजी महाराज पर बड़ी श्रद्धा थी अतः मारवाड़ में धर्म प्रचार उन पर
निःशंक छोड़ दिया था और पू० धन्नाजी उसके लायक ही थे। आचार्यश्री की एक बात
होंने विशेष रूप से ध्यान में ली थी कि गाँव-गाँव में साधु मार्गीय संस्कारों का दीप
गट हो और सच्चे जैनत्व का प्रकाश फैले।

आचार्य धन्नाजी म. सा. बड़े ही उदारहृदय और विरोधियों को भी अपने मधुर
व्यवहार से जीतनेवाले थे। जिस प्रकार अन्य पोतियाबन्द श्रावकों में से निकले साधुओं को

* जिन्होंने पू० धर्मदासजी म० सा० के बाद उनकी इच्छानुसार २२ टोले अलग किये थे और स्वयं एक टोले के नायक बने रहे।
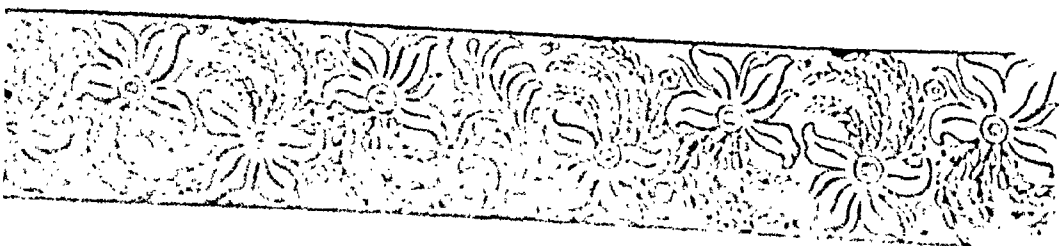
जहाँ तक गुणों का प्रश्न है सभी धर्म के बड़े-बड़े उपदेशक समान रूप से यही कहते हैं कि अच्छे बनो, महान बनो और अपने साथ दूसरों को कल्याण करो।

धर्म या मज़हब कभी लड़ाई नहीं सिखाता। लड़ाई सिर्फ स्वार्थ के कारण, लोभ के कारण होती है। हिन्दू धर्म के राजा समान धर्मवाले होकर भी लड़े; वैसे मुसलमान राजाओं ने भी आपस में लड़ाई अपने स्वार्थ के लिये की है। इस्लाम ने तो यही कहा है कि "सब इन्सान खुदा के बंदे हैं।" फिर भी अफ़घानिस्तान से महेमदशाह और अन्य बादशाह बगदाद गये और उन्होंने अपने ही धर्मवाले मुसलमानों से लड़ाई कर उनकी कत्ल किया और बचे उन्हें अपने अधीन किया।

अच्छे विचारक, संत, पहुँचे हुए कवि कभी इसको पसंद नहीं करते। गुण हमेशा गुण है; अवगुण गुण नहीं बन सकता और आत्म चिंतन जैसे-जैसे बढ़ता है; हम देखते हैं गुण का वर्णन एक सा मिलता है।

इन सभी गुणों पर से हम एक बात स्पष्ट जान सकते हैं कि सामान्य लोक व्यवहार में भी ये गुण कितने काम के हैं। सामान्य गृहस्थ में भी यह गुण कितने आवश्यक हैं इसके बारे में सभी सच्चे साधु, सच्चे ज्ञानी एक ही बात कहते हैं।

लज्जावान या मर्यादावान होना प्रत्येक के लिये आवश्यक है; बड़े लोगों के लिये लज्जा आवश्यक गुण है। संत कवि रहीम ने लज्जावान और अपने आप बड़ाई न करनेवालों को बड़ा बताते कहा है :—

बड़ा बड़ाई ना करें, बड़े न बोले बोल,
हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारा मोल।

—हीरा तो अपने आप चमकेगा; वह अपने आप बड़ाई नहीं करेगा; वह तो लज्जावान होगा।

दया के बारे में तो सभी धर्मवाले एक साथ में कह गये हैं; किन्तु संत कवि लोग भी एक स्वर में यही कहते हैं। कबीरजी कहते हैं :

जहाँ दया तहं धर्म है, जहाँ लोभ तहं पाप।
जहाँ क्रोध तहं काल है, जहाँ क्षमा तहं पाप॥
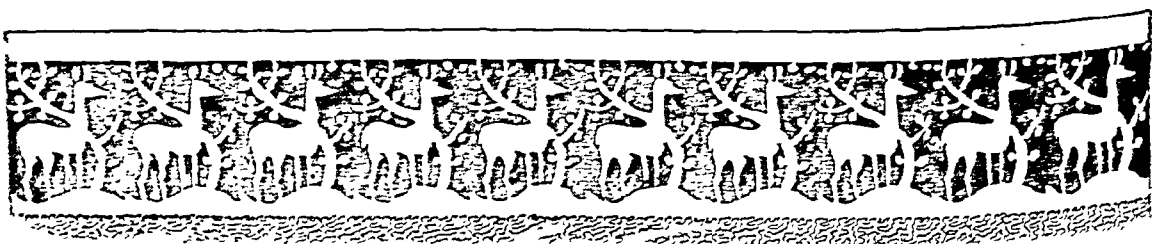
सहस्रों कंठों से नाद गूँज उठा :—

जैन धर्म की जय....!

जैन शासन देव की जय....!

महावीर प्रभु की जय....!

जैनाचार्यों की जय....!

परस्पर सुखशाता पूछते दोनों आचार्यों ने शिष्य मण्डली सहित जोधपुर नगर में प्रवेश किया। बड़ी धूमधाम के साथ उन्हें आसोप की हवेली में साथ ठहराया गया।

वहाँ पर दोनों आचार्यों ने साधु समाचारी में जो अंतर था उसके सम्बन्ध में चर्चा विचारणा करके उस अंतर को हटा दिया और बड़े ही प्रेम से साथ मिल कर गोचरी की। भविष्य के लिये भी यह तय किया कि जहाँ दोनों गच्छों के साधु मिले वहाँ साथ - साथ विचरण करें।

आसोप की हवेली दिखने को बड़ी शानदार थी और उस समय जोधपुर एवं दिल्ली के दरबारों में भंडारीजी खींवशी का ज़ोर था। अतः उनके दबदबे के अनुसार ही जैनाचार्यों के विशेष स्वागत के लिये उसे पसन्द की गई हो ऐसा बाहर से देखनेवालों को लगता था। मगर भीतर का भेद इन आचार्यों के द्वेषी और कुछ राज - नैतिक महत्तावाले लोग ही जानते थे। भंडारी खींवशीजी कारण वश उस समय जोधपुर के बाहर थे।

दरअसल यह हवेली उसके मालिक के प्रेतावास सी बन गई थी और उनके सगे - सम्बन्धियों ने यह बात बहुत ही गुप्त रखी थी ताकि हवेली बदनाम न हो। उन्होंने यह दिखाया कि जैसे अब उनका इस हवेली में मन नहीं लगता है और वे उसे छोड़ कर जा रहे हैं।

दिन बीत गया; रात आई। धर्म - चर्चा और कथा - किस्सों में प्रथम पहर बीतने आया। श्रावक जन विदाई लेकर चल दिये। उपद्रवी लोग आसपास के मकान में छिप कर देखना चाहते थे कि क्या होता है!

प्रेतात्मा को कुछ समझ में आया। वह थोड़ी देर के लिये अंतर्धान होकर वापस आया। उसने कहा :—"आप ही सत्य कह रहे हैं। वह अन्यत्र खा-पीकर आराम से सो रही है। जब मैं वहाँ गया तो उसने साफ साफ कहा कि तुम यहाँ भी आ धमके? क्या मुझे सुख से बाकी के दिन नहीं जीने दोगे?"

वह थोड़ी देर रुका और फिर उसने कहा :—"आप कोई ज्ञानी पहुँचे हुए संत मालूम होते हैं। मुझे सचमुच बताइये कि हकीकत क्या है?"

आचार्यों ने उसे धर्म बोध कराया।

प्रातःकाल विरोधी लोग यह देखने के लिये सब से प्रथम आये कि इन संतों का क्या होता है? जब उन्हें अपनी धर्म-क्रिया करते पाया तो उन्हें बड़ा अचम्भा हुआ। अक्सर तो जो वहाँ ठहरता उसकी बुरी तरह पिटाई-मरम्मत होती थी। नगर भर में धीमे-धीमे बात फैल गई और जैन-धर्म का प्रचार हुआ।

दीवान खींवशीजी जब बाहर से लौट कर आये और उन्हें जब इस प्रसंग का पता चला तो वे आकर दोनों आचार्यों के चरणों में पड़ गये और बोले :—"मेरे नगर में आपके साथ ऐसा वर्ताव हुआ इसकी मुझे शर्म है। माफ करना बापजी! अपने नगर में बुलवाकर भी आपकी सेवा में ऐसी भारी क्षति हो गई....!"

"जो कुछ हुआ वह शासन का प्रभाव बढ़ाने के लिये हुआ है; वैसे साधुओं का जीवन तो उत्सर्ग मार्ग पर ही बढ़ने का है!" आचार्यों ने कहा।

"आप वाकई में धन्य हैं, महान हैं!" खींवशीजी ने सर झुका कर कहा।

इस प्रकार दोनों आचार्यश्री कुछ समय तक कुछ प्रदेश में साथ विचरे और फिर धर्म प्रचार हेतू अलग-अलग हुए। आचार्यश्री धन्नाजी महाराज सा० ने विशेषतः तप मार्ग पर ज़ोर दिया। उनके अनुयायियों में तपस्यायें बहुत होती थीं।

इन दोनों आचार्यों को मिलाने में खींवशीजी का बड़ा हाथ था। खींवशीजी प्रभावशाली दीवान थे। दिल्ही की सल्तनत में सैयद बन्धुओं का प्रभाव बढ़ता जाता था। उस समय

ने अपनी जवाबदारी पर महम्मदशाह को गद्दी पर बिठवाया और उसके रक्षण के लिये सात राज्यों के राजपूत राजाओं ने कसम खाई।

महम्मदशाह ने गद्दी पर बैठते ही सैयद बन्धुओं में से एक हसन अली को कैद में रखा। उसे छुड़ाने खींवशीजी दिल्ही गये; मगर जयपुर के राजा जयसिंहजी ने कहा कि उसको छुड़ाना हानिकारक है। मगर जब दवाव बढ़ा तो दिल्ही दरबार के मुख्य नाहरखाँ ने उल्टा बादशाह से कहा कि "जब तक हसन जीवित है, अजीतसिंह दिल्ही नहीं आयेंगे!" फलतः हसन मारा गया।

यह खबर सुन कर जोधपुर नरेश अजीतसिंहजी नाराज हुए। सांभर में उन्होंने मौका देख कर नाहरखाँ जो वहाँ पर आया था, उसकी हत्या करवा दी। इसमें खींवशीजी का बड़ा विरोध था; मगर राजा न माने तो वे जोधपुर जाकर बैठ गये।

नाहरखाँ की मौत के कारण महम्मदशाह नाराज़ हुआ। उसने जोधपुर नरेश से गुजरात की सुबागिरी लेकर हैदर अली को और अजमेर की सुबागिरी मुज़फ्फर को दी।

पुनः जोधपुर नरेश को खींवशीजी को बुलाना पड़ा। वे अब राज-नीति से निवृत्त होकर धर्म ध्यान करना चाहते थे; मगर राज्य के बुलावे पर वे दीवान रघुनाथसिंहजी के साथ अजमेर गये। वहाँ उनके प्रयत्नों से संधि हुई।

सं० १७८२ मेड़ता में वे विद्रोही सरदारों को समझाने गये और वहाँ उनका देहाँत हो गया। इतनी राज-नीति में फँसने पर भी वे अपने नित्य नियम के पक्के थे। उनका अंत समय में पूज्यश्री भूधरजी पर जो कि मेड़ता, नागौर, जोधपुर के पास विचरण करते थे, बड़ा भक्ति-भाव था और उनके दर्शन-वन्दन-प्रवचन का लाभ लेने से वे न चूकते थे। ऐसे प्रभावशाली जैन दीवान और मन्त्रियों के कारण साधु मार्गीय जैन धर्म का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था। उसमें पूज्यश्री विशेष सक्रिय थे।

आचार्य धन्नाजी ने स्वयं चारों विगय का त्याग किया था। एकांतर उपवास भी करते थे और बहुत सी रात आप बैठे-बैठे आत्म जागरण करते बिताते थे। जैसे-जैसे

जयपुर नरेश और अन्य नगर शेठों ने शाहज़ादा को जैन दीक्षा का स्वरूप समझाया। तब वह प्रसन्नचित्त होकर बैठा। पूज्यश्री ने अपना प्रवचन प्रारंभ किया :—

यह दुनियाँ फानी है; इसमें कोई किसी का नहीं है। इसलिये इस संसार को असार कहा है। लोग कहते हैं कि संसार में धन सार है; किन्तु वह आता है, चला जाता है — वरना एक दिन लोग उसे छोड़के चले जाते हैं। लोग कहते हैं कि रूप सार है; वह जवानी में चढ़ती धूप सा खिलता है और फिर ढल जाता है। लोग कहते हैं सत्ता ही सब कुछ है; बड़े-बड़े राजा-महाराजा और बादशाहों की मज़ारों के खण्डहरों पर कोई रोनेवाला भी रहता नहीं।

तब इस असार फानी दुनिया में परवरदिगार प्रभु ने चार बातों को सब से अच्छी और बड़ी मुश्किल से मिलनेवाली बताई है :—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥

यह मनुष्य जन्म, श्रुत-ज्ञान, श्रद्धा और संयम में पराक्रम ये चारों बातें बड़ी दुर्लभ कही है। दुनियाँ में यदि कोई भी जन्म अच्छा है तो मनुष्य का है; इसलिये संत कहते हैं कि ये धन, रूप, यौवन जो फानी है उन सब का विचार छोड़ कर, आलस को दूर कर इसको अच्छे कामों में लगा दे। जो नेकी करता है वही सच्चा इन्सान है और उसका इन्सान होना भी सार्थक है।

बहुत बड़े-बड़े रत्न जगत में देखे हैं; किन्तु ऐसा नर तन जैसा कोई नहीं है "न-रतन" और कोई नहीं यह नर तन है। यह कितना प्यारा और कीमती है; इसका खयाल तो इसी से आ सकता है कि एक बार एक पहुँचे हुए महात्मा के पास एक आलसी पहुँच गया। उसने कहा :—"आपके आशिष मिल जाँय तो बेड़ा पार हो जायेगा।"

उन्होंने कहा :—"तू तो जवान है; हट्टा-कट्टा है। कुछ काम-धन्धा कर!"

"मगर मेरे पास पैसा नहीं है!"

राज्य कर्मचारी दौड़े-दौड़े स्थानक में आये; वे वन्दना करके बैठ गये। उन्होंने आचार्यश्री से सविनय कहा :—"बापजी! हमने सुना है कि आप ने अन्न-जल का त्याग किया है!"

"हाँ, संथारा पच्चक्खा है!" आचार्यश्री ने कहा।

"यह तो एक प्रकार से आत्म-हत्या हुई और वैसे राज्य की ओर से सरकारी फरमान भी है कि मुँहपत्ति बंद साधुओं को होनेवाले दुःख या मरण के लिये हम से पूछ-ताछ की जायेगी। हम आपको यह नहीं करने देंगे।" दारोगा ने कहा।

"आत्म-हत्या उसे कहते हैं जहाँ आदमी किसी दुःख से अपनी जान दे देता है और यह भी एक साथ उसकी आशा अधूरी रहती है; किन्तु यहाँ तो समझ पूर्वक-ज्ञान के साथ मृत्यु को पाना है!" आचार्यश्री बोले।

"दोनों में अन्तर क्या है? अन्त तो मरण में ही आता है; अतः वह आत्म-हत्या ही हैं। हम उसे रोकेंगे। आप संथारा नहीं कर सकते!" दारोगा बोला।

"दारोगाजी! क्या, हिन्दु शास्त्रों में नहीं आता कि योगी लोग समाधि लेकर अमर होते है; जल समाधि लेकर देह विसर्जन करते हैं न?" आचार्यश्री ने पूछा।

"हाँ....!"

"भूखे-प्यासे रहकर तप से शरीर नहीं सुकाते?"

"जी हाँ!"

"वैसा यह भी हमारे यहाँ पंडित-मरण कहा जाता है। इस देह से जब कल्याण नहीं होता और देह अपना साथ नहीं देती तो उसे छोड़ना ही पड़ता है; जो काम आये वही सच्चा साथ है। वरना बेकार का भार है और उसे छोड़ना ही पड़ता है। इसी प्रकार जब इस आत्मा को ज्ञान हो कि यह शरीर भार रूप है; अब निकम्मा है तो उसको छोड़ना ही पड़ता है। जान कर, ज्ञान पूर्वक इसे छोड़ने में दुःख नहीं होता; परम शांति मिलती है — परिणाम शुद्ध रहते हैं और गति सुधरती है — ये सभी धार्मिक क्रियायें ही हैं!"

डालने चाहिये और उससे सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और उससे सम्यग् चारित्र की प्रतिभा प्रगट होनी चाहिये।

मनुष्य जन्म मिला और ज्ञान इल्म हासिल नहीं हुआ तो क्या काम का? लोगों को झूठा ज्ञान तो बहुत मिलता है; किन्तु सच्चा ज्ञान नहीं मिलता जिससे वह रूह और खुदा आदि की पहचान कर सके। ज्ञान मिल भी जाये तो भी दर्शन सच्चे नहीं होते। यानी यही रूह एक दिन विकास साध कर सब से ऊपर उठ सकती है और इसीलिये रूहानी बातों पर पक्का विश्वास होना चाहिये। और जब ज्ञान और दर्शन दोनों पक्के हो गये तो उसके अनुसार चारित्र अपना आचरण होना चाहिये।

मगर यह कैसे प्राप्त हो सकते हैं? कहाँ से प्राप्त हो सकते हैं? तो कहते हैं कि आत्मा का हित करनेवाली तीर्थंकरों (वीतराग) की पवित्र वाणी से ही ये मिल सकते हैं। इसको सुनना बड़ा कठिन है। विषय मार्ग पर चलनेवालों के लिये तो यह वचन बाण की तरह चुभनेवाले होते हैं। जो कदम-कदम पर इन्सान का क्या कर्तव्य है? उसे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये — उस बात को बताते हैं।

इस विषय कषाय से भरे मनुष्य के जीवन को उनकी अच्छी बातें जँचती नहीं हैं और हर पल मन में तर्क-कुतर्क चला करता है कि "यह ठीक है या वह ठीक है?" और कमज़ोर मन धर्म का मार्ग छोड़ कर पुनः विषय कषायों की ओर चल जाता है? इसलिये सर्व प्रथम इस मन को संयम में लाना चाहिये और इंद्रियों को वश में करना चाहिये। एक मन को वश में कर लेने से बहुत कुछ वश में हो जाता है। इससे इच्छित सुख मिलते हैं और आत्म-विकास की सारी आशायें पूर्ण होती हैं।

मनुष्य जन्म मिला, उच्च कुल मिला, सूत्र श्रद्धा मिली; किन्तु संयम में पराक्रम नहीं हुआ तो क्या काम का? एतदर्थ धर्म मार्ग का अनुकरण करना चाहिये। धर्म-धर्म सभी के मुँह से सुना जाता है; किन्तु धर्म के ज्ञानी ने दो भेद कहे हैं :—

धम्मे दुविहे पण्णत्ते तंजहा।
सागार धम्मे चेव, अणगार धम्मे चेव॥

साधु मार्ग में वैरागी हुए संतों को भिक्षा, स्थान विहार सभी में उपसर्ग और परिषह सहने पड़ते थे। प्रारम्भ में तो लोग विरोध करते थे; किन्तु उनका सत्य उपदेश, सत्य आचरण और सत्य विचरण देख कर विरोधियों में बहुत से उनके अनुयायी बने; यों धर्म की ज्योति जलती रही!"

आचार्यश्री भूधरजी के मुख से पिछली दो सदियों के जैन इतिहास की बातें सुन कर मुनिश्री जयमलजी के मन ही मन उन प्रतापी संतों के प्रति श्रद्धा बढ़ती गई।

*　　　　*　　　　*

सिरोही में उनके प्रवचनों की गूँज सिरोही नरेश मानसिंह तक भी पहुँची। उनकी पुत्री जोधपुर की महारानी भी थी। वह इन दिनों में यहाँ आई हुई थी। उसने भी जब संतों के पदार्पण की खबर सुनी तो वह भी सिरोही नरेश के साथ दर्शन करने आई। संतों के प्रवचनों का अधिक से अधिक लोगों को लाभ मिले; एतदर्थ सिरोही नरेश ने विशाल पंडाल और अन्य सुविधाओं का प्रबन्ध किया और स्वयं नित्य प्रवचनों में आने लगा। दिन प्रति दिन लोगों की संख्या अधिक से अधिक होती चली। एक मास तक सिरोही में धर्म का मेला लगा हो वैसा आनन्द मंगल छा गया। जोधपुर की महारानी ने जोधपुर पवित्र करने की विनती की।

मुनिश्री जयमलजी म० सा० के प्रवचनों के प्रभाव से सिरोही में साधु मार्गीय जैन श्रीसंघ बना और उन्होंने सच्चे मार्ग पर चलने का एवं अपने सन्तानों को चलाने की प्रतिज्ञायें लीं। कईयों ने व्रत पच्चक्खाण लिये और धर्म ध्यान का ठाठ रहा।

*　　　　*　　　　*

धर्म प्राण लोंकाशाह की जन्म - भूमि अणहट्टवाड़ा सिरोही से आठ मील दूर थी। सिरोही में उन्होंने व्यापार चलाया और अहमदाबाद मे उन्होंने धर्म जागृति की और शिथिलाचार एवं जड - पूजा को ललकारा एवं धर्म और कला को स्पष्ट करते हुए सत्य धर्म का प्रकाश किया।

आम्र फल होय ?" काँटेवाला बबूल का वृक्ष बोनेवाले यह आशा रखे कि उस पर आम या बदाम पैदा हो तो यह कैसे हो सकता है ?"

फिर भी जो प्रभु परवरदिगार को माननेवाले हैं, जिन्हें प्रभुता से प्रेम है वे लोग प्रभु यानी परम आत्मा से प्रेम करते हैं यानी उस परमात्मा जैसी ही आत्मा सर्वत्र बसी है; सभी जीवों में वह है यह जान कर वह उन सब से प्यार करता है। जब प्रभु से प्यार करता है तो वह अपने आप ही विनय मूल धर्म का आचरण करता है। जो ऐसा नहीं करता— अपने जैसे इन्सानों से, अपनी समान रूहवाले जीवों पर रहम नहीं करता वह अपने जीवन रूपी बाग को वीरान सा बना देता है।

जब सामान्य आदमी के लिये इतना कहा गया है तो जिनके पास राज है वे धर्म का पालन नहीं करते तो उनके 'रा' में से 'आ' के जगह 'अ' हो जाता है अर्थात् 'रज'-धूल हो जाता है।

किसी पंडित ने कहा है :—

> अधिकार पदं प्राप्य नोपकारं करोति यः।
> अकारो लोप मात्रेण ककारो द्वित्वमुच्यति ॥

यानि 'अधिकार' को प्राप्त करके जो उपकार नहीं करते उनके 'अधिकार' में से 'अ' का लोप होकर 'क' दूणा हो जाता है अर्थात् उसको धिक्कार प्राप्त होता है। प्रजा या इतिहास उन राजाओं को याद करती है जो कि प्रजा का भला कर गये।

अतः जो कम पाप-कर्म बाँध कर, कर्म बन्धन को हल्का करता है वह त्याग-मार्ग का आचरण करके आत्मा के अनन्त सुखों को प्राप्त करता है।"

पूज्यश्री का प्रवचन पूर्ण हुआ। उन्होंने प्रत्येक बात को बहुत ही विस्तार से और दलील एवं उदाहरणों के साथ रखी थी। सभी लोग प्रवचन सुन कर प्रसन्न हुए; राजा-महाराजा लोगों को भी आनन्द आया। शाहज़ादा को भी सन्तोष हुआ; पर उसके मन में कुछ बातें जानने की जिज्ञासा थी। अतः उसने खड़े होकर कहा :—"बे अदबी माफ!

र भी लोगों के साथ जयपुर नरेश भी दर्शन प्रवचनों का लाभ लेने आये। सादड़ी से
हार में लगभग सभी क्षेत्रों में पूज्यश्री व्याख्यान प्रवचन का भार अधिक से अधिक
जयमलजी पर डालते थे। इससे सहज ही वे स्वतन्त्र रूप से और भी विशेष गहरा
अध्ययन और स्वतन्त्र मंथन कर पाते थे। जहाँ प्रश्न आदि पूछना होता था वे पूज्यश्री
ाधान प्राप्त कर लेते थे। प्रत्येक नगर की सामाजिक अवस्था से पूज्यश्री उन्हें भली
परिचित कराते थे। जयपुर से आगे कोटा आये। वहाँ से अलवर की तरफ
। वहाँ से वे कोटा पधारे।

यहीं पर लोंकाशाहजी ने सत्य धर्म प्रचार करके वापस लौटते अपने प्राणों को
मार्ग पर चढ़ा दिया था। धर्म प्रचार करके वहाँ से विहार आगे किया। यहाँ पर
ालों के साथ अग्रवाल भी थे। यहाँ देखा गया कि जैन धर्म प्रचार के अभाव में बहुत
ग्रवाल वैष्णव भी बन गये थे। पूज्यश्री एवं मुनिश्री जयमलजी के प्रवचनों को सुन कर
सों ने पुनः जैन धर्म की श्रद्धा ली।

अलवर, कोटा-बूंदी होते हुए संत गण का विहार मथुरा-वृन्दावन आदि के
ों में हुआ। यहाँ पर हालाँकि साधु मार्गी संतों का विचरण होता था; किन्तु वह बहुत
थोड़ा था।

पूज्यश्री की इच्छा थी कि इस ओर विचरनेवाले क्रियोद्धारक जीवराजजी म. सा.
अनुयायी संतों का समागम हो और साधुचर्या एवं समाचारी के बारे में बैठकर चर्चा-
ारणा हो; किन्तु वैसा न हो सका। वहाँ से आगरा होते हुए वे आगे बढ़े।

इस प्रान्त में विचरण करते समय मुनिश्री जयमलजी म. सा. ने देखा कि एक
र तो मुगल सल्तनत के दरबारी रंग-ढंग का लोगों पर पूरा प्रभाव था। दूसरी ओर
-श्रद्धा और जड़-पूजा अधिक प्रचलित थे। साथ में यहाँ पर कबीर, रहीम, नानक
ादि के आत्म जागरण के पद भी प्रचलित थे। तुलसी, मीरा और सूरदास के भक्ति पूर्ण
लोग बड़ी श्रद्धा से गाते थे और जहाँ तक उन पदों में आत्म-गुण जगाने का प्रश्न था,
भी में काफी समानता मिलती थी।

इस तरह विहार करते हुए पूज्यश्री दिल्ली शहर में पहुँचे।

●

——मृग, ऊंट, गधा, बन्दर, उंदर, सर्प, पक्षी और मक्खी में भी आत्मा है और आत्मार्थी उन्हें अपने समान गिनता है व उसको प्राण रहित नहीं करता।

अठारह पुराण के रचयिता वेदव्यासजी ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है :—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारं हि पुण्याय पापाय पर पीडनम्॥

——व्यासजी कहते हैं कि अठारह पुराणों का सार यही है कि परोपकार से बढ़ कर कोई पुण्य नहीं है और दूसरों को पींड़ा देने से बढ़ कर कोई दुःख नहीं है। वैसे ही सन्त कवि कबीर, तुलसी, रहीम सभी ने दया के गुण गाये हैं। शीख गुरु नानक ने तो दया के विषय पर कितने दोहे बनाये हैं। इन सब बातों से यह ज़ाहिर है कि हिंदु या शीख धर्म में माँस खाना या जीवों को मारना धर्म है ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है।

अब इस्लाम की ओर देखें। वहाँ तो खुदा को रहीम कहा है और "रहमान रहीम" यानी खुदा दयालु है ऐसा कहा है। जो सब पर रहम करता है वह खुदा कैसे इन पशु-पक्षी को मारने के लिये कह सकता है? उस खुदा का पैगाम हज़रत मुहम्मद पयगम्बर ने कुराने शरीफ में दिया है जिसकी एक आयात् सुरा अन अरा में इस प्रकार कहा :—

फलातज अल् बतूम कुम मकाबरल्ल हयवानात्

हे खुदा के बन्दों! तुम अपने पेट को पशु-पक्षियों की कब्र मत बनाओ!

उस पर से ज़ाहिर है कि उनको मार कर खाने की मनाई है। सात प्रकार के माँस खाने की तो वहाँ पर बिल्कुल मनाई है। इन माँसों में खूनवाला माँस, फाँसी से मरे का माँस, मुरदे का माँस, मूर्ति पर चढ़ाया गया माँस, हथियार से मरे का माँस, गिर कर मर जानेवाले का माँस और दूसरों के द्वारा मारा गया माँस — इस प्रकार सात तरह का माँस खाना मना है।

इतना ही नहीं सुरा उलमयाद पैरा की मंजिल आयात का क्या अर्थ होता है? जब हज करने के लिये जानेवाला मुसलमान मक्का शरीफ़ की हद में घुसता है तो उसके लिये

पूज्यश्री के सेवा में सभी राजा गण बैठ गये। उन्होंने मधुर शैली से अपना प्रवचन पूरा किया और मुनिश्री जयमलजी को व्याख्यान देने का आदेश दिया।

मुनिश्री जयमलजी ने अपने मधुर स्वर में श्रावक गुण का सार इस प्रकार कहा :—

"धर्म क्या है? इस पर कई प्रकार के वाद-विवाद चलते हैं। लोग यह भी कहते हैं कि हमारा धर्म अच्छा है; उसमें यह विशेषताएँ हैं। वास्तव में तो धर्म वही है जो जीवन को ऊपर उठाता है। मानव तन तो मिला है; लेकिन उस जीवन को संस्कारों से, गुणों से भरने का जो पवित्र कार्य करता है वही धर्म है।

प्रत्येक धर्म में गृहस्थ को, साधु को, समस्त संसार को उन्नत बनाने के कुछ लक्षण पाये जाते हैं। साधु, संत और संत कवि उसी की बात को दोहराते हैं। दया, सत्य, अहिंसा, दंभ त्याग, सेवा आदि के सम्बन्ध में तरह-तरह के उदाहरण देकर हमारे सामने स्पष्ट किया जाता है कि यही जीवन को श्रेष्ठ बनाने का मार्ग है।

जैन धर्म में भी गृहस्थ के लिये आवश्यक ऐसे २१ गुणों का वर्णन मिलता है। नाम व कुल के कारण कोई जैन नहीं बनता; अपितु श्रावक-जैन सद्गृहस्थ बनने के लिये उसे इन गुणों को अपनाने चाहिये। आश्चर्य की बात तो यह है कि इन गुणों में सार्वजनिकता है; बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय चरित्र के लक्षण हैं।

श्रावक के २१ गुण :—

कहते हैं कि समकित धारण करके और ज्ञान प्राप्त करके श्रावक अपने जीवन को विशुद्ध बनाता है तो उसमें २१ गुण प्राप्त होते हैं। प्रत्येक जैन धर्मी गृहस्थ को यह तो

कुशतन नीयादेश कसकु दरेद्द ।
न आगुस फंदा के वासद वे रहा ॥

—किसी भी छोटे बड़े जीवों को फन्दे आदि डालकर बेरहमी से नहीं मारना चाहिये ।

कवि फिरदौशी ने शाहनामे में कहा है :—

नीस्त अन्द ग्वुरो ने जानवर ज्यू ।
यतीन अस्त दीने सर दुस्तनेकु ॥

हमारा धर्म (जरथोस्ती) अच्छा है ; क्योंकि उसमें किसी भी जीव को मारने का विधान नहीं है ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि सभी धर्मवाले उसका विरोध करते हैं। फिरंगी लोग जो अभी यहाँ आये है उनके यहां भी "तू हिंसा मत कर। [1] का विधान है। खून से रंगे हुए हाथों के बारे में यह कहा है :—"जब तू अपने हाथ उठायेगा और तेरे हाथ खून से भरे होंगे तो मैं (भगवान) तेरी ओर नहीं देखूँगा - तेरी प्रार्थना नहीं सुनूंगा !" [2]

उस परसे आप समझ सकेंगे कि हिंसा करना और वह भी खाने के लिये करना। सभी मज़हबों में मना है।" मुनिश्री जयमलजी ने कहा।

शाहज़ादे ने कहा :—"यह तो समझ में आता है मगर जब आप साग-सब्जी-पानी में भी रूह बताते हैं तो उसको भी चाकु से मारना क्या पाप नहीं है ? फिर उससे कैसे बचा जाये ?"

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"साग-सब्ज़ी में भी रूह आत्मा है। किन्तु खून-गोश्त आदि नहीं है। उसको भी उपयोग में लानेसे पाप तो लगता है किन्तु सच्चा मनुष्य

1. Thou Shalt not kill.
2. And when ye Spread to forth your hands I will ficte mine eyes from your eyes, when ye make many prayer (will not) hear, because your hands are full of blood.
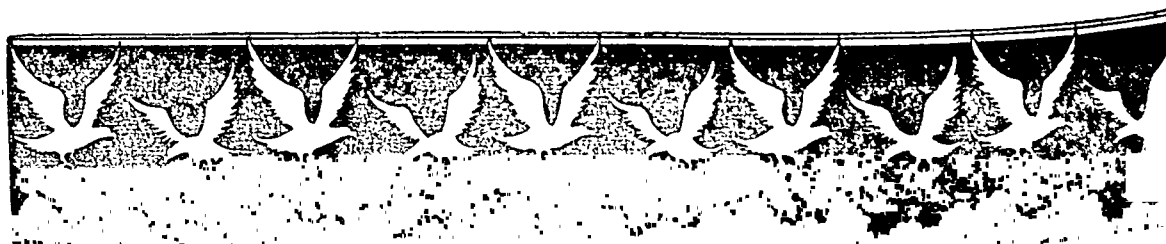
७. श्रावक की दृष्टि में सौम्य भाव रहता है। वह जिस पर दृष्टि डालता है वह अपने आपको धन्य समझता है। इतना प्रेम, शांति और क्षमा भाव उसमें भरा रहता है। वह इसलिये अच्छे और बुरे के साथ भी समदृष्टि बन सकता है। वह यह जानता है कि यह अन्तर (फर्क) बाह्य है, बाकी सब शरीरों में रही हुई आत्मा तो समान है; और कर्मों के कारण अच्छाई बुराई है। अतः वह सब पर समान करुणा भाव रखता है।

८. श्रावक गुणों का अनुरागी होता है। वह गुणों को बढ़ाता है जिससे उसका जीवन शोभायमान हो। जितने दुर्गुण होते हैं उससे वह दूर रहता है; किसी का अवगुण देखा तो भी उसे ढांकता है।

९. श्रावक हमेशा इष्ट और मिष्ट सत्य वचन बोलता है। उसके बोल बड़े मधुर और हमेशा भूले हुओं को मार्ग दिखानेवाले होते हैं। वह जानता है कि वचन की शूल बड़ी तीखी होती है; अतः वह कभी कटु या अनिष्ट वचन नहीं बोलता।

१०. श्रावक लम्बा विचार करके कार्य करनेवाला होता है। अल्प बुद्धि से वह कार्य नहीं करता। अनुभवों से वह जैसे पका फल मीठा होता है वैसे व्यवहार में बड़ा गरिष्ठ होता है।

११. श्रावक धर्म अपना लेने पर वह हमेशा शुभ मार्ग पर ही चलता है। भूल कर भी वह ऐसे जगह नहीं जाता जहाँ जाने से लोग उसके प्रति पल भर को भी शक करे। वह जानता है:—

जिहि प्रसंग दूसन लगे तजिये ताको साथ।
मदिरा मानत जगत है दूध कलारिन हाथ॥

१२. श्रावक इतनी निर्मल बुद्धि का होता है कि उसमें कहीं से भी जगत के पाप का मेल नहीं आता। उसका जीवन स्वच्छ और पवित्र होता है। वह अत्यन्त ही विनीत होता है।

१३. श्रावक के ऊपर कोई उपकार करता है तो उसको कभी नहीं भूलता। दूसरों के छोटे से उपकार को महान गिनता है और अपने महान परोपकार को भी वह छोटा ही बताता है ऐसा वह वह कृतज्ञ होता है।
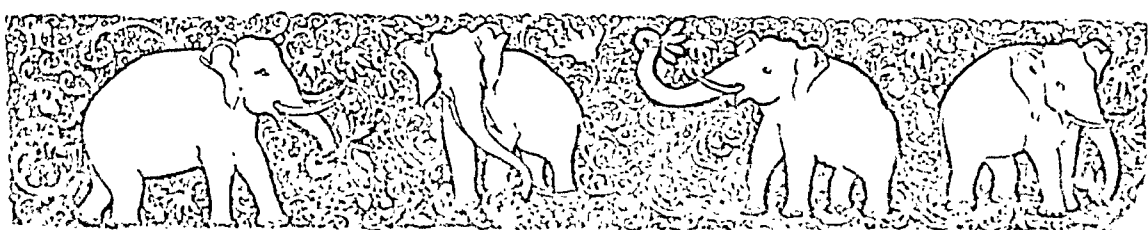
कि बिल्कुल स्थावर एकेन्द्रिय जीवों की विराधना हो और ऐसी विराधना जानपने में या अनजानपने में हुई हो तो परमात्मा को साक्षी रख कर प्रातःकाल और सायंकाल प्रायश्चित के रूप में प्रतिक्रमण नियमित करना पड़ता है।"

शाहज़ादे ने जब यह सारी बात सुनी तो उसका दिल आनन्द से भर गया। उसने कहा :—"इँशाल्ला! जैसा मैंने कल महाराजाओं से सुना वैसे ही आप बहुत बड़े इल्म रखनेवाले महात्मा हैं; इतना ही नहीं, आप जिस रूहानी इल्म के माहिर हैं उसके अनुसार अपना हर काम बारीक अन्दाज़ से, बड़ी ही सावधानी से करते हैं। आपके दीदार से मैं पाक हो गया हूँ और आप से यह सौगन्द लेना चाहता हूँ कि बेगुनाह जानवर पशु को मैं खुद नहीं मारूँगा और दीन-दुःखी के साथ न्याय करूँगा और सब पर रहम करूँगा!"

पूज्य महाराजश्री ने उसे वैसे उपयोग सहित पच्चक्खाण दिलाये। इसे देख और भी राजा महाराजाओं ने सौगंद लिये। वातावरण में उत्साह छा गया। शाहज़ादा ने पू. महाराजश्री एवं मुनिश्री जयमलजी आदि संतों को झुक झुक कर प्रदक्षिणा करके वन्दना की और अन्य राजा-महाराजाओं के साथ में उसने प्रस्थान किया।

उपस्थित लोगों को लग रहा था कि आज दिल्ली निहाल हो गई है और सच्चे अहिंसा धर्म का प्रकाश फैल रहा है। उन्होंने एक स्वर में जयजयकार किया। "बोल, श्री जैन धर्म की जय! पूज्यश्री भूधरजी म. सा. की जय! मुनिश्री जयमलजी की जय....!!"

यह उस समय के वातावरण के प्रतीक सा लगता था।

संतों से प्रमाणित ये गुण अच्छे सज्जन के हैं। संत नरसिंह का एक पद है "वैष्णाण जन" उसमें देखें तो स्पष्टतः सभी श्रावक के गुण मालूम होते हैं। *

---

* श्रावक के २१ गुण की चौपाई यहाँ पर दी गई है :—

सरस्वती चरण नमाउं शीश श्रावक गुण गाउं एकवीश ।
पहले बोले लज्जा धरे, बीजे बोले दया आदरे ॥
आनन्दकारी परसन चित्त, आगम वचन विश्वासी नित ।
ढांके सदा पराया दोष, पर उपकारी सहज सन्तोष ॥
सौम्य नजर समदृष्टि जान, अवगुण ढांकि गुण की खान ।
बोले मधुर वचन मिष्ट इष्ट, दीर्घ विचारी होय गरिष्ट ।
चले स्वयं शुभ मारग सदा, निर्मल बुद्धि बसावे हृदा ॥
कीधो गुण न विसारे कभी, धर्म दया रत दिन हो सभी ।
नहीं दीन नहीं मुख अहंकार, नहीं लोपे निजकुल आचार ॥
वन्दे समकिती अने जिन संत, समकित वमे न अंतो अंत ।
पाप कर्मनो मारग तजे, जिननी आज्ञा मनमां भजे ॥
सत्य वचन अरु न्यायी होय, पक्षपात राखे नहीं कोय ।
ये एकवीशे बोल प्रमाण, धन्य धन्य श्रावक तेहि जान ॥

इसके साथ "वैष्णव" किसको कहते हैं इसका पद भी नीचे दिया गया है। दोनों की तुलना करने पर गुणग्राही धर्मात्मा समझ सकते हैं कि आदर्श जीवन की श्रेष्ट कल्पना कितनी समान है और वैसा श्रावक तीर्थ है तो गुणवान भी तिरानेवाला है।

‡ वैष्णव जनतो तेने कहिए, जे पीर पराई जाने रे ।
पर दुःख में उपकार करे पर, दिल अभिमान न आने रे ॥
सकल लोक में गुणी को वन्दे, निंदा करे न किसी की रे ।
मन वच काया निश्चल रखे, धन धन जननी उसकी रे ॥
समदृष्टि अरु तृष्णा त्यागी, परस्त्री जिसको मात रे ।
कभी जीभ से झूठ न बोले, परधन धूल लखात रे ॥
मोह माया व्यापे नहीं, जिसको हो विरक्ति अति मन में रे ।
राम ‡ नाम में हुई मग्नता, सकल तीर्थ तम मन में रे ॥
निर्लोभी अरु कपट रहित है, काम क्रोध निवारे रे ।
कहे नरसैयो दर्शन उसके कुल चौरासी तारे रे ॥

---

‡ यहाँ वैष्णव के बदले श्रावक और 'राम' के बदले वीर रखने पर श्रावक के गुण कितने स्पष्ट प्रगट होते हैं।

पूज्यश्री ने कहा :—"अभी तो एकाध मास है!"

"नहीं बापजी! आपको स्वीकृति देनी पड़ेगी!" सभी श्रावक आग्रह पूर्वक खड़े हो गये!

पूज्यश्री इस धर्म-आग्रह को टाल नहीं सके और संवत् १७९१ का चातुर्मास दिल्ही में होना तय हुआ। चातुर्मास लगने में थोड़े दिन और थे; अतः संतगण आसपास के गाँवों को स्पर्शने, धर्म प्रचार करने लगे। शाहज़ादा और राजा-महाराजा गण भी इनको पूजते हैं इस बात का लोगों पर विशेष प्रभाव पड़ा था और जैन-अजैन सभी उनके प्रवचनों में आने लगे।

* * *

चातुर्मास प्रारम्भ होने के कुछ दिन पूर्व दिल्ही नगर में पूज्यश्री ने संतों के साथ पुनः पदार्पण किया तो लोगों ने बड़े उत्साह से उनका स्वागत किया। चातुर्मास का प्रारम्भ व्रत-तप और दान प्रभावना के बड़े ठाठ-माठ से हुआ।

पूज्य महाराजश्री और मुनिश्री जयमलजी के व्याख्यानों में लोगों की भीड़ रोज़-ब-रोज़ बढ़ने लगी। नित्य नये-नये लोगों ने नये-नये नियम लेने शुरू किये। लोगों का कहना था कि पिछले दश-पन्द्रह वर्षों में धर्म का इतना प्रभाव दिल्ही में कभी नहीं बढ़ा था।

बीच-बीच में कभी शाहज़ादा महाराज साहब के दर्शन करने आ जाते। "कर्म और आत्मा" के सम्बन्ध में वह संतों से जैसे चर्चा करके ज्ञान प्राप्त करता था वैसे-वैसे उसके लिये बहुत कुछ नया ज्ञान समझ में चढ़ता था।

उसे एक ही बात का रंज था कि ये संत उसके यहाँ से कुछ गोचरी नहीं ले सकते; क्योंकि नवाबों के महलों में तो माँसाहार चलता था और जैन साधु के लिये वह जुगुप्सनीय कुल का घर होने से त्याज्य बनता था। अतः वह जब आता तब कहता था :— "मैं आपकी कोई खिदमत नहीं कर सकता।"

तुलसीदासजी तो बहुत ही स्पष्ट कह गये हैं :

दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण ॥

फिर जो श्रावक है जिसका धर्म ही दया है वह उसे कैसे छोड़ सकता है ?

परोपकार करने के बारे में तो सभी एक मत से सम्मत है। रहीमजी कहते हैं :

जो गरीब हित करे, तें रहीम बड़ लोग।
कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥

और तुलसीदासजी भी संत परोपकारी के बारे में कहते हैं :—

तुलसी, संत, सुअंब तरू फूल फलहीं पर हेत ।
इतने ये पाहन हने उतने वे फल देत ॥

परोपकारी लोग तो हमेशा दूसरों का परोपकार ही करते हैं। आगम भगवान के उपर विश्वास रख कर संत तो चलते ही हैं लेकिन दूसरे को आदेश भी देते हैं। तुलसीदासजी कहते है :—

रे मन! सब लौं तिरस है, सरस राम (हरि) सों होई।
भली सिखावन देत है, निस दिन तुलसी तोहि ॥

जगत में अवगुण को नहीं देखना और गुण को प्रगटाना सामान्य गृहस्थ के लिये भी आवश्यक है तो जो जैन श्रावक हैं उनके लिये कितना आवश्यक होना चाहिये ? कबीरजी ने कहा है :—

बुरा जो देखन में चला बुरा न देखा कोई ।
जो दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न कोई ॥

तुलसीदासजी भी कहते हैं कि सज्जन को सज्जनता नहीं छोड़नी चाहिये तो फिर श्रावक कैसे छोड़ सकता है ? कहते हैं :—

सज्जन तजत न सुजनता, कीने हूँ अपकार।
ज्यों चंदन छेदें तऊं सुरभित करत कुठार ॥

हाथ सौंपा। करीब चार मास में वे दीक्षा लेने योग्य ज्ञान पा चुके थे एवं साधु चर्या के अभ्यस्त हो चुके थे।

मुनिश्री जयमलजी ने उन्हें दशवैकालिक सूत्र में साधुचर्या के किये गये पाँचों महा-व्रत और छट्ठे रात्रि भोजन विरमण व्रत के सम्बन्ध में स्पष्ट समझ दी थी। सूरजमलजी सेठ ने भी बड़े विनय भाव से सब बातें ग्रहण की थीं। सूरजमलजी हालाँकि उम्र में बड़े थे; किन्तु दीक्षा संयम में मुनिश्री जयमलजी बड़े थे। प्रारम्भ में तो मुनिश्री जयमलजी को कुछ संकोच होता था। उन्होंने पूज्यश्री भूधरजी से प्रगट भी किया था; क्योंकि वे अभी तक सब बड़े संतों के साथ शिष्य भाव से रह रहे थे। पूज्यश्री ने उनका खुलासा बड़ी शांति से किया था :—"साधु बड़ा संयम से, गृहस्थ बड़ा उम्मर से।"

* * *

इन्हीं दिनों एक और घटना भी घटी। प्रातःकाल के समय एक महिला आकर आँसू बहाने लगी। मुनिश्री जयमलजी ने उसे धर्म ध्यान करने के लिये कहा और विलाप का कारण पूछा।

उस स्त्री ने कहा :—"बापजी! क्या करूँ....? कुछ समझ में नहीं आता। नाथ चले गये; पुत्र था वह भी चला गया। आपके उपदेश सुन कर संसार असार लग रहा है।"

"भद्रे! धर्म सब का रक्षक है। धर्म सब का शरण है; धर्म ही सब से श्रेष्ठ है!" मुनिश्री जयमलजी ने कहा।

"क्या, मैं भी आपके पास दीक्षा लेकर रह सकती हूँ?" स्त्री ने पूछा।

"तुम चाहो तो दीक्षा ले सकती हो और तुम्हारी दीक्षा का प्रबन्ध भी हो जायेगा।" मुनिश्री जयमलजी ने कहा।

"मेरे जीवन से अब क्या लाभ होगा....?" स्त्री ने कहा।

२९

जय-दिल्ही धर्म प्रचार

दिल्ही के मुगल बादशाहों में उस समय मुहम्मद शाह गद्दी पर था। यह वहाँ के बड़े अमीरों का कठपुतला था। अमीर लोग उसे विलासिता में डुबो कर अपनी मनमानी कर रहे थे। अन्धाधुन्धी फैल रही थी। दिल्ही की सल्तनत में से बिहार, बंगाल और दक्षिण के निज़ाम अलग हो चुके थे। जाट, मराठा आदि अपना प्रभुत्व बढ़ा रहे थे। इस ओर दक्षिण में फिरंगी और अंग्रेज अपने-अपने पंजे फैला रहे थे।

मुहम्मदशाह रंगीन तबियत का था; किन्तु उसने आते ही सैयद भाइ जो कि मुगल-दरबार में, बादशाह बनानेवालों के नाम से प्रसिद्ध थे — उनका प्रभाव हटा दिया था। आगे चलकर उसने यह अनुभव किया कि राजपूत राजाओं से मेल-झोल बनाये रखने में दिल्ही के बादशाहों की शान व शौकत बनी रह सकती है। इसलिये वह इन राजा-महाराजाओं को अपने दरबार में सन्मान का स्थान देता था। जोधपुर, जयपुर के राजाओं का प्रभाव उसके दरबार में अधिक था।

आज भी दरबार लगा था। अमीर उमराव दरबारी व सामन्त राजा सभी आ गये थे; किन्तु मुहम्मदशाह की नज़र उन सात खाली तख़्तों पर जाती थीं जहाँ पर जोधपुर, जयपुर आदि सात रियासतों के महाराजा नियमित बैठते थे। हर रोज़ समय के पाबन्द इन महाराजाओं को क्या हुआ....!

थोड़ी देर में छडीदार ने आकर छडी पुकारी कि जोधपुर आदि राज्यों के राजा पधारे हैं। उन्होंने आकर बादशाह की कुर्निश बजाई और अपने-अपने तख़्त पर सभी बैठे।

मुहम्मदशाह ने शाही ढँग से पूछा :—"क्या, जोधपुर, जयपुर के राजा लोग बन्दे से नाराज़ हैं? रोज़ वख़्त के पाबन्द आज कहाँ ठहर गये थे कि इन्तज़ार में हमें काफी समय बिठाये रखा?"

महासती बालाँजी सभी सतियों की प्रगति बराबर देख रही थी। जहाँ पर सतियाँजी पहुँचती थीं वहाँ पर पूज्यश्री और मुनिश्री जयमलजी के प्रवचनों से प्रभावित सतियाँ अपने आप स्त्री-समाज में अपना आकर्षण, अपने मधुर वचन एवं योग्य उपदेश-सलाह से बना लेती थीं। मुनिश्री के प्रवचनों से उनके दिल में एक बात थी कि नारी समाज बहुत ही पिछडा हुआ है और धर्म के द्वारा नारी समाज को सुधारना अत्यंत आवश्यक है।

इसलिये सर्व प्रथम जहाँ उनका विराजना कुछ विशेष दिन होता था, गोचरी के माध्यम से प्रत्येक धर्म प्रेमी के घर जाकर स्त्रियों के बारे में पूछताछ करती, उन्हें धर्म ध्यान के लिये स्थानक आने का महत्त्व समझातीं और वहाँ धर्माभ्यास में उनकी रुचि बढ़वाती। जब उनका विहार हो जाता और दूसरे गाँवों में आगे बढ़ते, उन्हें समाचार मिलते कि वहाँ की बहिनें उनकी अनुपस्थिति में भी धर्मध्यान और धर्माभ्यास बढ़ा रही हैं तो उन्हें संतोष होता।

महासती बालांजी की तो यह विचारधारा थी कि सतियाँ को तो विहार आदि करने पड़ते हैं अतः यह प्रवृति जितनी भी हो सके फिर भी कम है। अन्य सतियों को भी उत्साह था और उनके उत्साह को देखकर और उनके प्रयत्नों के परिणाम देखकर महासती बालांजी ने संतोष प्रगट किया।

जयपुर के चातुर्मास में तो बहिनों में धर्म व आत्म जागृति बहुत हुई। पुरुष वर्ग और स्त्री वर्ग सतियाँजी की आत्म जागृति की बातें ध्यान से सुनतीं। "नारी को भी स्वतंत्र आत्मा है और भगवान महावीर ने जैन धर्म के द्वारा उनके लिये भी धर्म और मुक्ति का द्वार खोल दिया है। वे सिर्फ पुरुषों के वैभव व विलास की गुडिया तथा संपति और परिग्रह का प्रतीक नहीं है बल्कि उन्हें भी अपना आत्म विकास खुद साधना है। जीवन को सिर्फ बनाव सिंगार या वस्त्र-आभूषण के परिधान में या नाना प्रकार के भोजन-पकवान बनवाने में ही नहीं गवाना चाहिये। प्रत्येक श्रावकों को भी दश श्रावक चरित्र से बोध लेना चाहिये। श्रावकजी ने अपनी पत्नी से "मैं धर्म स्वीकार करके आया हूँ आप भी जाओ।" कहकर उन्हें भी धर्म मार्ग में आगे बढ़ा कर सच्ची सहधर्मिणी बनाया था। उन श्राविका बहिनों एवं माताओं ने भी जब-जब वे श्रावकजी धर्म परीक्षा में पीछे हटे तो उन्हें प्रबोध कराया था।
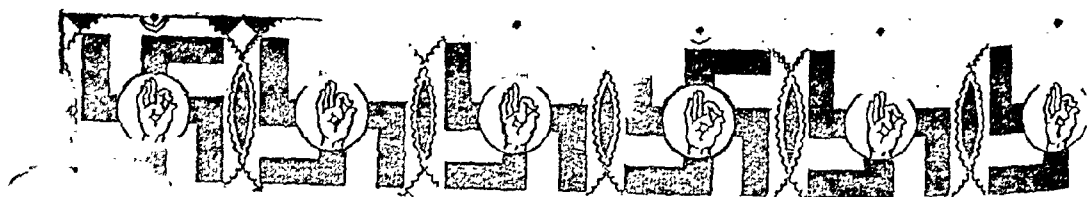
"मेरे दिगर! हम बाखुशी इजाजत देते हैं!" बादशाह ने कहा और जोधपुर, जयपुर आदि के राजाओं को भी यह कहा कि वे शाहजादा को पूज्यश्री के दर्शन कराने ले जावे।

* * *

दूसरे दिन व्याख्यान प्रारम्भ होने के समय सात देश के राजाओं के साथ दिल्ही के नवाब के शाहजादा साहब भी वहां दर्शन करने आया। उसने हालांकि कल ही सुना था कि यह न तो कौड़ी रखते हैं, न कोई इनका ठाठ-माठ है; फिर भी वह मानता था कि उनके पाट-बिछात आदि में कुछ रौनक होगी। मगर यहां पर तो अजब प्रकार की सादगी थी। रौनक थी तो उनके चेहरों पर, सन्तों के चारित्र का तेज यहां चमक रहा था और बरबस ही बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं के मस्तक उनके आगे झुक जाते थे।

शाहजादा के दो हाथ जुड गये और उसका मस्तक उनके आगे झुक गया। वह भी अन्य राजा-महाराजाओं के साथ उनका व्याख्यान सुनने बैठ गया। दिल्ही के लोगों को जानते देर न लगी कि यह शाहजादा है और पूज्यश्री के प्रभाव से ही वह यहां खिंचा आया है।

"यह शरीर तो है....?" महात्मा ने कहा। वह कुछ नहीं समझा तो महात्मा ने कहा :—"देख भाई! तेरे दो हाथ हैं न? कोई उसे एक हजार रुपये पर माँगे तो देगा?"

"हजार क्या, दश हजार देवें तो भी नहीं दूँगा!"

"अच्छा, यह पैर हैं उसे कोई दश हजार में माँगे तो....!" महात्मा ने कहा।

"क्या बाबा, आप मुझे लँगड़ा बनाना चाहते हैं? लाख देगा तो भी मैं मंजूर नहीं होउँगा!" उस आदमी ने कहा।

"यह भी बराबर है; यदि कोई कहें तुम्हें एक लाख दूँगा और कहें कि एक आँख दे दे तो....?" महात्मा ने पूछा।

"अरे बाबा! उसे मैं पूरा सूरदास बना दूँगा; मेरी आँख लेने चला है....!" उसने कहा।

तब महात्मा ने उसे कहा :—"जब लाखों की कीमतवाला यह नर तन रूपी रतन तेरे पास हैं; फिर तू क्यों पराई आश पर बैठा है?"

ज्ञानी कहते हैं कि ऐसा नर रतन तो पा लिया; किन्तु उसका मोल नहीं जानते तो, यह "हीरा जनम गँवाया" जैसा होता है। एक रत्न का टुकड़ा एक गड़रिये के हाथ लगा, वह उसे काच का टुकड़ा समझता था और खेलता रहा; वही जब जौहरी के पास गया तो उसने उसकी कीमत की।

मनुष्य को जौहरी बन कर इस मनुष्य देह रूपी रतन की कीमत आंकनी चाहिये। मनुष्य अपने तन के बनाव - सिंगार और ठाठ - माठ के लिये क्या नहीं करता? मगर मनुष्य का सच्चा सिंगार धर्म है जिसे तीन प्रकार का कहा है, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र। हीरा तो खान से निकलके आता है; किन्तु जब तक उस पर पासे नहीं डाले जाते उसकी चमक बहार नहीं आती उसी प्रकार नर तन रूपी हीरे पर धर्म के पासे

३१
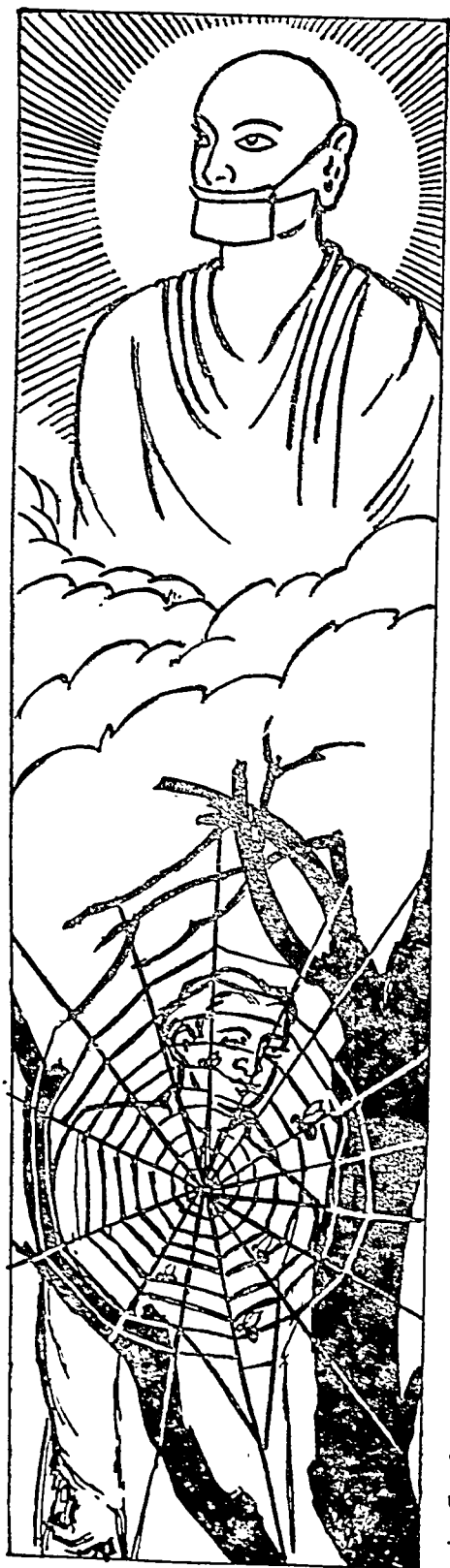
जय - उग्र विहार

दिल्ही की जनता पू. महाराज सा० और सभी संतों को भाव भरी विदाय देकर लौट चली। शाहज़ादा भी विहार के पहले आके मिल गया था। उसने पूज्यश्री और संत दिल्ही से विहार करके जा रहे हैं यह जान कर रंज प्रगट किया। उसे इस बात का भी रंज था कि उसके पिता मुगल सम्राट महम्मद शाह को वह इन संतों के दर्शन कराने न ला सका। वह कहता था "अब्बाजान! नशे में और नाच - गान में डूबे रहते हैं। वे मज़हब आदि को मानते नहीं हैं। कभी - कभी कयामत को याद कर बैठते हैं तब भी कहते हैं कि यहाँ पर मौज कर लो; फिर कब्र में पड़े रहना है और न जाने कयामत का दिन कब आयेगा?

पूज्यश्री ने उसे दया - धर्म पर बने रहने के लिये कहा। मुनिश्री जयमलजी ने भी कहा :— "राज्य या प्रजा धर्म पर ही टिक सकती है। पिताजी जो कुछ कर रहे हैं वह सही नहीं है तो तुम कल दिल्ही के बादशाह बनोगे। तुम दया - धर्म पर राज्य की नीति बनाना....।"

शाहज़ादा वंदन करके गया। पूज्यश्री ओर संतों को विहार दिल्ही से पश्चिम और उत्तर में फैले पांचाल प्रदेश की ओर हुआ। पूज्यश्री भूधरजी चर्चा

‡ पंजाब को दक्षिण - पश्चिमी प्रांत।

—एक तो धर्म है उन सन्त महात्माओं का जो आत्मा के विकास के लिये निकल पड़े हैं। वे घरबार, कंचन-कामिनी सबको छोड़ अपनी आत्मा का विकास साधते हैं और संसार में भटकते हुए लोगों का उपकार करते हैं। वे सब प्रकार से हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, मैथुन और परिग्रह का सेवन स्वयं करते नहीं हैं, दूसरों से करवाते नहीं हैं और करते हुओं को भला नहीं जानते।

दूसरा धर्म है जिनके घर-गृहस्थी है उनके लिये। यदि संसार में धर्म का नियमन उठ जाय तो संसार टिक नहीं सकता। वैसे गृहस्थ लोग अपने नियमों को नहीं पाले (अपनी मर्यादा में न रहे) तो अनर्थ हो सकता है। ऐसे गृहस्थ लोगों के लिये बारह व्रतों का धर्म बताया है। वे जीवादिक नव तत्त्वों को जानते हैं और धर्म मार्ग पर चलते हैं।

धर्म का मूल समकित बताया है यानी जो सत्य है उस पर विश्वास करो; सत्य देव, सत्य गुरु और सत्य धर्म पर विश्वास रखो और जहाँ सत्य को छोड़ कर असत्य की ओर आये, समकित छोड़ मिथ्यात्व — झूंठे की ओर आये कि पाप बढ़ने शुरू हो जाते हैं। संसार में सुख पाने का एक ही रास्ता है, चरित्र का पालन करना। इसका जो पालन करते हैं वे संसार सागर को तिर जाते हैं।

संसार के जो विषय-सुख हैं वे क्षणिक हैं—जैसे पानी में बुल-बुले उठते हैं और बैठ जाते हैं, इन्द्र-धनुष्य के रंग खिलते हैं और बिखर जाते हैं। उसी प्रकार इन क्षणिक विषय-सुखों के कारण जीती हुई बाजी हार मत जाना। संसार में जो कुछ है वह स्वार्थ निहित है और दुःख का मूल कारण है।

विषय-कषायों में डूब कर जो परम तत्त्वों की पहचान नहीं करते, सन्तों की सेवा नहीं करते, वे इन्द्रियों के विषयों में फँसे रह कर नरक के पंथ की ओर अपने आपको ले जाते हैं। अपने विषय सुखों के लिये वे अन्य जीवों को दुःख देते हैं। कई लोग अपने खानपान के लिये अन्य जीवों को मारते हैं, माँसाहार करते हैं। कई शिकार करते हैं तो बहुत से अपने यहाँ रहते नौकर-चाकर, पशु-पक्षी आदि को तंग करते हैं। बैल-घोड़े आदि से अधिक भार खिंचवाते हैं। ज्ञानी कहते हैं कि "बबूल को तरु बोयके कहाँते

"आप सही फरमाते हैं! हमारे तप-त्याग-संयम और दान भी कितने बड़े हैं। यदि इस बड़ी शक्ति को संगठित की जाय तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है।" मुनिश्री जयमलजी बोले।

पूज्यश्री ने संतोष से कहा :—"जयमल! तुम मेरे दिल की बात समझ गये। भविष्य में कभी मेल मिलाप हो और साधु मार्गीय संत सभी एक हों, समाचारी एक हो तो कितना बड़ा कार्य हो सकता है? यहाँ पर कभी-कभी जब हम सुनते हैं कि यह मारवाड के संत हैं, यह वहाँ के हैं और हमारे संत तो पंजाब के हैं तो आत्मा को क्लेश पहुँचता हैं। जहाँ संत पहुँचे वहाँ जैन संत हैं, हमारे संत हैं, सभी संत एक हैं ऐसा वातावरण पैदा करने का अवसर आये तो उसे मत चूकना!"

मुनिश्री जयमलजी कहते :—"आपके साधुवाद से मुझे यह बात हमेशा याद बनी रहे यही आशा है!"

पूज्यश्री की दृष्टि में मुनिश्री जयमलजी भविष्य की उज्ज्वल आशा के प्रतीक से बने दिखाई देते थे।

* * *

विहार के अनुभव बड़े ही असीम होते थे। कहीं पर लोग उन्हें पहचानने तक के लिये तैयार न होते थे तो कहीं पर लोग उन्हें विहार ही नहीं करने देते थे।

इस ओर मुगल सल्तनत का दोर था और यथा राजा तथा प्रजा जैसे लोगों में शराब खोरी, अय्याशी और ज़ोर जुल्म चलता था। अमल्दार लोग सल्तनत के नाम धन इकट्ठा करके पहले अपना घर भरते और बाद में थोड़ा सा दिल्ही की भेंट करते।

किन्तु कुदरत की कृपा थी; धरती फलदायिनी थी। नदियाँ पानी से भरी रहती थीं और लोग सुखी थे। ज़ोर-जुल्म की लूट के बाद भी उनके पास इतना बचता था कि अपना जीवन आनंद से बिता लेते थे।

मगर थोड़ी सी शंका मेरे दिमाग को खा रही है। आप उसका इलाज बता सकें तो मेहरबानी होगी!"

पूज्यश्री के संकेत से मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"हम सन्तों का तो यही काम है कि जिसे कुछ भी शंका हो, उसकी जिज्ञासा को सन्तोष हो वैसा उपदेश देना।"

शाहज़ादा बोला :—"महात्मन्! आप फरमाते हैं कि जानवर - जीव को मारना बड़ा पाप है तो इस जगत में कौन पाप से बचा है? हम मुसलमान तो माँस खाते ही हैं; गायें और बकरें, भेड़ों को काट कर ही पेट भरते हैं। लेकिन हिन्दुओं में भी लोग कहाँ बचे हैं? भगवान के नाम पर वे कुकुड़े, मुर्घे, सुव्वर और पाड़ों का बलिदान देते हैं। कई अच्छे धर्म के हिन्दु लोग भी माँस - मच्छी भी खाते हैं। शीख लोग तो हलाली * नहीं; किन्तु झटका ‡ माँस खाने में पाप नहीं समझते? फिर कहिये, कैसे पाप से बचा जाय?"

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"शाहज़ादे! आपने प्रश्न किया सो जो आप व्यवहार में देखते हैं उस पर से पूछते हैं। मगर प्रत्येक धर्म में, मज़हब में माँस खाना बुरा माना गया है, पाप माना गया है। यदि हिंसा ही धर्म होता तो वेद क्यों यह कहते :—

अहिंसा परमो धर्मः

— यानी हिंसा नहीं करना; जीवों को बचाना ही सब से बड़ा धर्म है। इतना ही नहीं; हिंदु धर्म के बड़े - बड़े शास्त्रों में भी यही कहा है। महाभारत में कहा है :—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सता धर्मः सनातनः॥

— सब जीवों के साथ मन, वचन, काया से प्रेम करो, उन पर अनुग्रह करो, उनको दान दो; यही धर्म सत्य और सनातन है।

"आत्मवत् सर्व भूतेषु" बहुत ही सुप्रसिद्ध वाक्य है जिसमें प्रत्येक जीव को अपने समान मानने के लिये कहा है। भागवत में भी कहा गया है कि :—

मृगोष्ट्र खर मर्कटाखु, सरीसृप खग मक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येन् स्तैरेषामन्तरं कियत्॥

---

* हलाली : यानी पशुओं को हलाल करके तैयार होनेवाला माँस।
‡ झटका : एक झटके से पशु को मार कर तैयार होनेवाला माँस।

कहा गया है :—

यह मक्का शरीफ़ बड़ा धर्म तीर्थ का स्थान है। उसकी जहां तक हद है वहाँ तक किसी भी जानवर को नहीं मारना चाहिये। यदि भूल से कोई मार डाले तो अपना पालतू जानवर वहाँ पर छोड़ देना चाहिये। यदि पालतु जानवर न हो तों चार आदमी से पूछ कर उसकी कीमत का अनाज फकीरों में बाँट दे। परवरदिगार ने इस कार्य को अपवित्र माना है।

सुरा हज की आयात ३६ में तो अल्लाह को क्या पसंद है उसमें कहा है :—
"मुझे (खुदा को) गोश्त और लहूसे तो परहेजगारी का (पाप) भय पहोंचेगा।"

इतना ही कयामत के दिन का खयाल कराकर कहा गया है।" कयामत के दिन मरे हुए सभी मनुष्य जिंदा होकर, जिस जिसने जिस जिसको मारा है अथवा दुःख दिया है, उन उनको वे वैसे ही मारेंगे और दुःख देंगे। बाद में अल्लाह गुनाहगारों को जहन्नुम (नरक) ओर नेक इन्सानों को बहिश्त (स्वर्ग) में भेजकर उचित्त न्याय करेगा!" इस पर से भी स्पष्ट है कि इस्लाम कभी दूसरों को मारने की बात नहीं करता, व वह मांस खाने की इज़ाजत नहीं देता है।

फारसी के शायरों ने भी यही बात कही है :—

न साजी मका में शिखमरा तू गोर।
जे बेहरे वहायत जे बेहरे तू यूर॥

—तेरा शरीर भगवान का पवित्र स्थान है उसे तू पशुओं या पक्षियों की कब्र मत बना। और भी कहा है :—

मय खुरो मुसतफ बेसो जो आतश अन्दर कावा बेजन।
साकीने बुतखाना बाश मगर मरहम आज़ारी न कर॥

—यानी शराब पीले, कुरान को जला दे, काबे में आग भी लगा दे; मगर तू किसी प्राणी को दुःख न दे।

पारसी लोग जो कि ज्योति की पूजा करते हैं उनके जरथोस्ती धर्म में कहा है :—"हमारा जरथोस्ती धर्म नेक है; क्योंकि इसमें पशु वध नहीं है।" एक जगह लिखा गया है :—

सरदार ने बड़े आश्चर्य से कहा—"लोगों को तो हमें देख धूजनी छूटती है, आप तो मुस्कुरा रहे हैं, क्या बात है?"

आचार्यश्री ने फरमाया:—"हम तो स्वयं निडर हैं, क्योंकि हमारी किसी से दुश्मनी नहीं है। हम तो सब को कहते हैं कि दया पालो; तुमसे भी यही कहते हैं कि दया पालो!"

सरदार ने कहा:—"इसका अर्थ?"

"सब पर प्रेम भाव रखो! हिंसा मत करो! किसी को दुःख न दो! जो तुम करोगे वही तुम्हारे साथ होगा। जो जैसा करता है वैसा भरता है। पाप तो वह सभी के लिये करता है लेकिन फल उसको अकेले को भुगतना पड़ेगा!"

"महाराज, क्या कहते है?"

"तुम यह सब कुछ जिनके लिये करते हो, वे सिर्फ अपने पेट भरने में तुम्हारे साथ रहेंगे; किन्तु जब फल भुगतना पड़ेगा तो तुम्हें अकेले भुगतना पड़ेगा। वे लोग शामिल नहीं होंगे।"

वे सभी एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। पूज्यश्री ने उन्हें विस्तार से वाल्मीकि का प्रसंग कह सुनाया कि उसने कैसे सभी घरवालों को पूछा और कैसे सब ने फल भुगतने में साथ नहीं दे सकते यह स्पष्ट कह दिया।

उन सभी डाकुओं ने सरदार के साथ अपनी लाठियाँ फेंक दीं। आचार्यश्री ने कहा:—"मानव का श्रेष्ठ जन्म पाकर, अच्छा शरीर पाकर क्यों पाप की गठरियाँ बाँधते हो?"

उन सभी ने संतों से प्रबोध पाया। पुनः उन्होंने संतों से निवेदन किया कि:—"हमारे यहाँ पधार कर भोजन आदि लेकर आगे पधारें!"

आचार्यश्री ने कहा:—"हम तुम्हारे यहाँ से पानी भी नहीं बहर सकते; क्योंकि तुम लोग माँसाहार करते हो और शराब आदि पीते हो!"
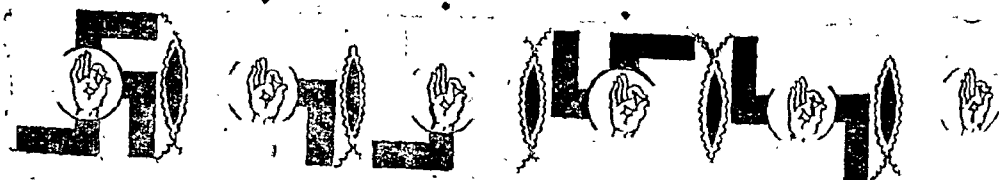
इसमें अपनी मजबूरी मानता है, और इसकी प्रशंसा नहीं करता। क्योंकि पेट को पालने के लिये अनिवार्य उतनी हिंसा उसे करनी पड़ती है। इन्सान से यह आशा की जाती है कि वह दया करे, रहम करे। रहम तभी हो सकता है जब कि आदमी दूसरों का खून बहाना छोड़ दे जिसको खून बहाने में कोई पाप-भय नहीं लगता; वह रहम नहीं कर सकता। इसलिये सभी धर्मों में खून बहाना, मारना, हिंसा करना आदि की मनाई की है।"

शाहज़ादे ने पूछा :—"एक और शंका है! आप शाग-सब्ज़ी में प्रत्येक फल-फूल में जीव बताते हैं। इतने अधिक जीवों की हिंसा के बदले यदि एक भैंसे या गाय को मारके खाने में क्या कम पाप नहीं लगता!"

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"जैसा कि पहले कहा वैसे भैंसा या बैल का तन लहू माँस का बना हुआ है। उसे खाने की आदत पड़ जाने पर हमेशा वही खाने की स्वाद लोलुपता बढ़ती है और रहम नहीं पैदा होता। इसके सिवाय यह हालाँकि उनके शरीर में दिखने को एक ही जीव है; किन्तु कृमि, जूं, लीख, गिंगोडा आदि भी अनेक जीव उसके शरीर की सप्त धातु, बहिरंग और अन्तरंग में रहे हुए हैं। अतः उसके साथ उन सब जीवों का भी घात होता है। फिर उसके शरीर का माँस तभी खाया जा सकता है जब उसे साफ किया जाय; वह अन्दर गन्दगी-मल-मूत्र छाण आदि से भरा रहता है। क्या, कभी मूत्र-छाण में पड़ी हुई किसी वस्तु को कोई सभ्य या शरीफ आदमी खायेगा? एक और भी बात है कि जीव विकास की दृष्टि से साग-सब्ज़ी में एकेन्द्रिय जीव हैं; किन्तु भैंसा या पशु पंचेन्द्रिय जीव हैं और उसके अन्तरंग वह बहिरंग में बसे जीव भी कम से कम दो-तीन इन्द्रियों के होते ही हैं। बड़े पशु को मारने में मन को बहुत कठोर और निर्दय भी बनाना पड़ता है। इस प्रकार सभी प्रकार से माँस खाना बुरा है; हिंसा करना पाप है। इसीलिये संत लोग उसका विरोध करते हैं।

गृहस्थों को तो फिर भी स्थावर जीवों की भी हिंसा अर्यादित नहीं करनी चाहिये; मगर सन्तों को हिंसा भी नहीं लगे एतदर्थ प्रासुक आहार घर-घर से लाकर गोचरी करनी चाहिये। अपने लिये मकान नहीं बनवाने चाहिये; मगर जहाँ लोग धर्म की उपासना करते हों वहाँ आज्ञा लेकर ठहरना चाहिये और प्रत्येक बात में हम सन्तों को तो विवेक रखना ही चाहिये
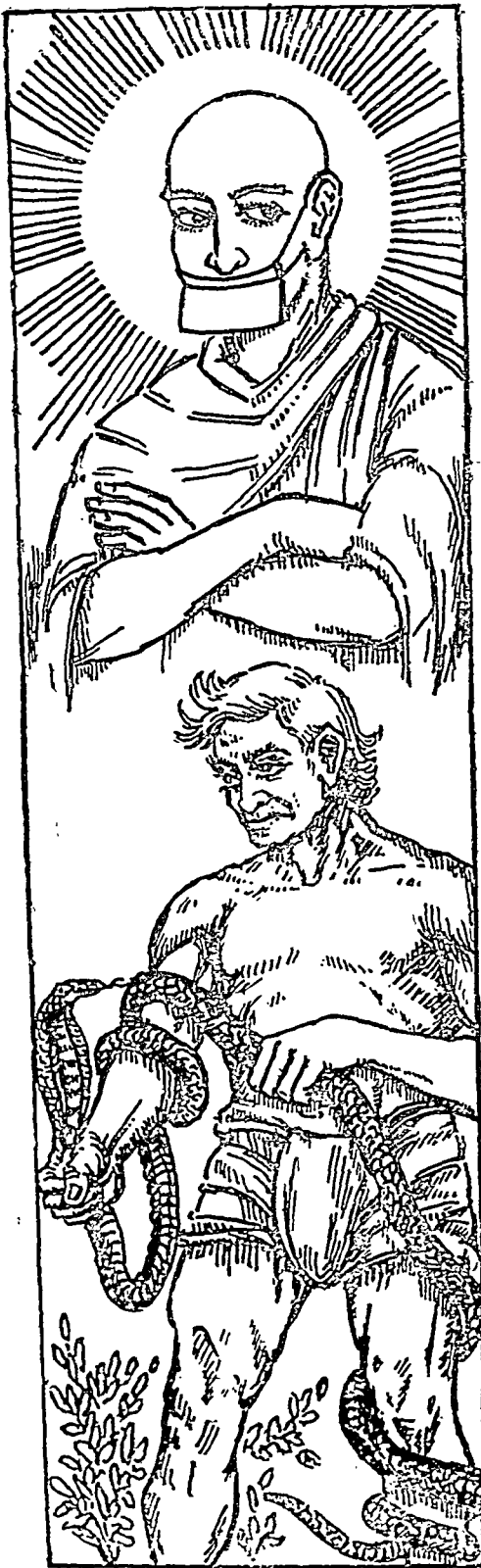
३२

जय - द्रव्य विज्ञान

मुनिश्री जयमलजी के प्रति आचार्यश्री की रुचि स्वाभाविक रूप से बढ़ रही थी। अतः मुनिश्री जयमलजी आचार्यश्री के अधिक संसर्ग में रहते थे। वैसे उनका एकांतर तप भी आचार्यश्री के साथ चलता था।

विहार करते - करते कई विषयों की विशद चर्चा होती रहती थी। आचार्यश्री प्रकृति के बड़े निरीक्षक थे और उस निरीक्षण के सार रूप जैन तत्त्व ज्ञान के अनुसार द्रव्य - विवेचन बहुत ही विशद होता था। व्याख्यान में वे सूत्रों का आधार देकर उसको समझाते, रात्रि में या अवकाश के समय शिष्यों और भक्तों में चर्चा चला कर उसको विस्तार से समझाते और विहार के दिनो में प्रत्यक्ष दर्शन प्रमाणों से वे उसकी यथार्थता का अनुभव कराते।

इस पर से द्रव्य - पर्याय - विवेचन जो मुनिश्री जयमलजी के सामने आया उसको उन्होंने बहुत ही हृदयग्राही प्रश्नोत्तरी के रूप में अपने शिष्य मुनि सूरजमलजी को पढ़ाने के निमित इस प्रकार रखा।

३०
जय-प्रथम शिष्य

चातुर्मास का समय नज़दीक आ रहा था। जोधपुर नरेश ने तो पहले दिन ही पूज्यश्री से बड़ी विनती की थी कि जोधपुर को पावन करे। उनका कहना था कि जालोर से दिल्ही का उग्र विहार करके संत पधारे। इससे तो जोधपुर होकर चुरू-फतेहपुर होकर दिल्ही पधारते तो जोधपुर को लाभ मिलता। पूज्यश्री ने तो यही कहा कि दिल्ही के आसपास पाँचाल देश में, धर्म उद्योत करके जोधपुर पधारने के भाव हैं। फिर जैसी पुद्गल स्पर्शना होगी वैसा होगा।

फिर भी जोधपुर नरेश के अति आग्रह को ध्यान में रख कर उन्होंने कहा कि "मेरा वहाँ पर पहुँचना नहीं हो सकता है; किन्तु मेरे शिष्य रघुनाथजी को जोधपुर में चौमासे के लिये मैं कहता हूँ।" इस प्रकार जोधपुर नरेश भी अपने यहाँ चातुर्मास पाकर अत्यधिक प्रसन्न हुए।

दिल्ही के श्री संघ की ओर से बड़े-बड़े श्रावकों ने और श्राविकाओं ने पूज्यश्री को व्याख्यान के बाद विनति की :—"हमारे दिल्ही के परम सौभाग्य से आप जैसे प्रभावशाली संत उग्र विहार कर दिल्ही पधारे हैं। आपकी प्रतिभा का जैसे-जैसे परिचय होता जाता है वैसे-वैसे हम सब अधिक ही अधिक आनन्दाश्चर्य का अनुभव करते हैं। राजा-महाराजाओं पर आपने पूरा प्रभाव डाला है और अभी हम सब ने देखा कि शाहज़ादा पर भी कितना बड़ा प्रभाव आपने और पं० मुनिश्री जयमलजी ने अपने प्रयत्नों से डाला है। दिल्ही शहर में यों तो कई बड़े-बड़े संतों का आगमन होता ही रहता है; किन्तु आपका अपना प्रभाव स्पष्ट है। यहाँ के जैन-अजैन लोगों में धर्म भावना जगाने आप जैसे संतों के चातुर्मास की बड़ी आवश्यकता है। अतः आप से हमारी सविनय विनती है कि इस वर्ष के चौमासे का लाभ हमें दें।

होता है वह काल-द्रव्य है। जैसे कुम्हार के चाक को घुमाने में लोह की कीली सहायक होती है उसी प्रकार काल नये को पुराना और पुराने को खपा कर नया करता रहता है। (५) इन सभी द्रव्यों को जो द्रव्य स्थान देता है वह आकाश है।

द्रव्यों को समझने के लिये क्या नियम है ?

प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप, क्षेत्र, काल, भाव ओर गुण से पहचाना जाता है।

जीव-द्रव्य की क्या पहचान है ?

द्रव्य रूप से जीव अनन्त द्रव्य है। जीवात्मा चाहे वह संसारी हो या सिद्ध चींटी में हो या हाथी में, देव में हो या मानव में, उसमें रहा हुआ जीव द्रव्य समान है; फिर भी अनन्त जीवों के हिसाब से अनन्त है। क्षेत्र से पूर्ण लोक में जीव व्याप्त हैं और पाये जाते हैं। काल से आदि और अन्त रहित हैं। भाव से उनमें वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी और शाश्वत हैं। जीव सर्व व्यापी है और अनन्त प्रदेशी है। एक जीव की अपेक्षा से असंख्यात प्रदेशी है। गुण से उपयोग गुण यानी सुख-दुख जानना है और चन्द्रमा की कला जिस प्रकार क्रमशः बढ़ती है और पूर्ण चन्द्रमा बनती है वैसे जीवात्मा क्रमशः कर्म खपाता हुआ पूर्ण आत्म स्वरूप बन सकता है।

पुद्गल की क्या पहचान है ?

द्रव्य से अनन्त द्रव्य हैं। जीव संसार में जिसमें ठहरता है वह शरीर भी पुद्गल है और दिखनेवाली वस्तुयें भी पुद्गल हैं। क्षेत्र से पूर्ण लोक में व्याप्त है। काल से आदि अन्त रहित है। भाव से रूपी दिखनेवाला है, वर्ण है, गन्ध है, रस है, स्पर्श है। अजीव है; शाश्वत है। उसका गुण है पूरना, गलना, सडना, विध्वंस होना। जैसे बादल मिलते हैं, बरसते हैं, बिखरते हैं, फिर बनते हैं और मिटते हैं।

"जो जीवन संयम लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करने के साथ औरों का भी कल्याण करता हो वह तो उपयोगी है। मगर तुम्हें इसके लिये मन दृढ़ करना पड़ेगा। एक बार मन पक्का हो जाये तो फिर उसके योग्य तैयारी करनी पड़ेगी?" मुनिश्री जयमलजी ने कहा।

"क्या आपके संघ में, मेरा कुल-गोत्र जाने बिना भी मुझे आश्रय मिल सकता हैं?" स्त्री ने पूछा।

"हाँ! भगवान महावीर ने सभी के लिये धर्म के द्वार खोल दिये हैं और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। धर्म सभी के लिये है। जो उसकी शरण में आते हैं उसे धर्म अभय देता है, सभी को संसार के दुःखों से मुक्ति-स्वतन्त्रता देता है!" मुनिश्री जयमलजी ने कहा।

वह बार बार मुनिश्री जयमलजी को वन्दना नमस्कार करने लगी। मुनिश्री जयमलजी ने संकेत से अन्दर विराजमान पूज्यश्री एवं अन्य संतों को भी वन्दना करने के लिये कहा। वह अन्दर गई। सभी संत को उसने वन्दना की और संतों ने "दया पालो! धर्म लाभ करो!" यह आशिर्वचन दिये।

उस नारी का नाम अम्बाबाई था। धर्म में श्रद्धा बढ़ने से उसका अस्थिर और दुःखी हृदय शांत हुआ। उसकी संयम लेने में स्थिरता देखने पर स्थानीय संघ ने पूज्यश्री की विचारणा के अनुसार जयपुर से आये हुए श्रीसंघ के भाईओं बहिनों के साथ उसे जयपुर महासती बालाँजी और अन्य महासतीजी के पास भेजने का निर्णय किया गया।

महासती बालाँजी के साथ अन्य सतियाँ अपने संयमी जीवन में उत्तरोत्तर प्रगति साध रही थी। ज्ञान एवं तप साधना भी उनकी चालु थी। कई गाँवों में धर्म प्रचार करती हुई महासतियाँजी जयपुर पधारी थीं। इन सभी सतियों पर पूज्य भूधरजी एवं मुनिश्री जयमलजी का प्रभाव था। इस वर्ष का चातुर्मास उनका जयपुर ही था। एवं जयपुर में होनेवाले धर्म ध्यान आदि के समाचार आने जानेवाले दर्शनार्थियों से पूज्यश्री को प्राप्त होते थे।
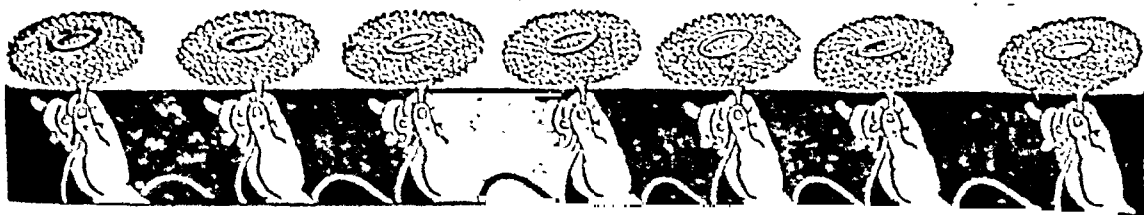
द्रव्यों में सत्ताधारक या क्रियात्मक द्रव्य कितने हैं ?

मुख्यतः जीव और पुद्गल क्रियात्मक द्रव्य हैं। जीव और पुद्गल को ही क्रियावती-शक्तिवाले द्रव्य कहे हैं। दोनों में क्षेत्र बदलने की शक्ति है अतः दोनों सत्ताधारी या सक्रिय द्रव्य हैं। उन्हें गति करने में और गति पूर्वक स्थिति करने में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय सहायक होते हैं।

द्रव्यों में दूसरी शक्ति कौन-सी होती है ?

छः द्रव्यों में क्रियात्मक शक्ति जीव और पुद्गल में होती है। छः ही द्रव्यों में निरन्तर परिणमनशीलता रहने से वे भावनात्मक शक्तिवाले भी कहे जाते हैं।

द्रव्यों में सब से बड़ा द्रव्य क्षेत्र के अनुसार कौन सा है ?

क्षेत्र के अनुसार आकाश द्रव्य ही सब से बड़ा है; क्योंकि वह सभी द्रव्यों को स्थान देता है और उसका विस्तार लोक को छोड़ कर अलोक में भी है, यों आकाश लोक-अलोक दोनों में हैं।

लोक और अलोक क्या है ?

जहाँ पर जीवादि छः द्रव्य (आकाश के साथ) विद्यमान हैं उसे लोक कहते हैं यानी वह आकाश का प्रदेश जहाँ पर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य हैं। इस लोक को छोड़ कर बाहर के अनन्त आकाश को अलोक कहते हैं या अलोकाकाश कहते हैं।

द्रव्यों में द्रव्यों की अपेक्षा से कौन बड़ा द्रव्य है ?

द्रव्य की अपेक्षा से पुद्गल परमाणु द्रव्यों की संख्या सब से बड़ी मानी गई है। जितने भी सजीव माने जाते हैं उन पुद्गल परमाणुओं से (जिसमें जीव का संयोग है) निर्जीव पुद्गल परमाणु अनन्तानन्त गुने माने जाते हैं। वैसे भी व्यवहार में जड़-पदार्थ अधिक ही दिखाई देते हैं। यों प्रदेश की अपेक्षा सर्वाधिक आकाश प्रदेश है।

वे श्रावकजी भी इसीलिये विचलित हुए थे वे अपनी पत्नी को विषयसुख का साधन नहीं मानते थे; किन्तु वे उन्हें धर्म सहित श्राविका समझते थे। स्त्री के साथ कोई दुर्व्यवहार करे तो उसका भी प्रतिकार लोग करते हैं। तब यह तो श्राविका, जैनों के चार तीर्थों में एक तीर्थ समान थी। उसके साथ यह दुर्व्यवहार हो, वे यह कैसे सह सकते थे? आज के श्राविका वर्ग को यह बात समझनी चाहिये और जिनके सहारे तिरा जाये उस तीर्थ नाम को सार्थक करना चाहिये।"

जयपुर श्रीसंघ को यह अनुभव हुआ कि उन्हें ऐसी सतियाँजी का चातुर्मास मिल कर वे धन्य हो उठे हैं। उसमें भी जब दिल्ही से आई अंबाजी का दीक्षा महोत्सव हुआ तो चातुर्मास की सफलता उसमें ही उन्हें दिखाई थी।

अंबाजी के पास से दिल्ही में पूज्यश्री के कारण धर्म जागृति की और मुनिश्री जयमलजी के प्रवचनों की प्रशंसा सुनकर सभी सतियाँ अपने में धार्मिक अनुराग भरती और कहती :—"वे सचमुच ही हमारे जीवन के पूज्य है। संयम मार्ग में भी वे हमें बराबर प्रेरणा देते हैं। अब भी ज्ञान और क्रिया के आदेशों को भेज कर हमें धर्म मार्ग में और भी प्रगति करने की प्रेरणा का संकेत करते हैं!"

अंबाजी कहतीं :—"यदि उनका धर्म-शरण में आने का आदेश नहीं प्राप्त होता तो सचमुच ही मैं विक्षिप्त सी हो जाती। तदुपरांत भी जब उन्होंने दीक्षा के लिये जयपुर जाने का सूचन किया तब भी थोड़ी देर तो मैं असमंजस में पड़ गई थी। उन्होंने उस समय भी धर्म की दृढता दिलवाई और अब आप के सान्निध्य में ऐसा लग रहा है जैसे मैं अपनी आत्मीया के पास ही हूँ।"

"तुम्हारा यह धर्म - प्रेम बढ़े, संयम में आत्म भाव रहे; किन्तु मोह किसी का भी नहीं रहना चाहिये!" बालांजी कहतीं।

"यह तो अपने जीवन के उपकारकों के प्रति कृतज्ञता पूर्वक विनय है।" महासती अंबाजी कहती। महासती बालांजी के साथ रहकर उनका भी आत्म विकास होने लगा।

* * *
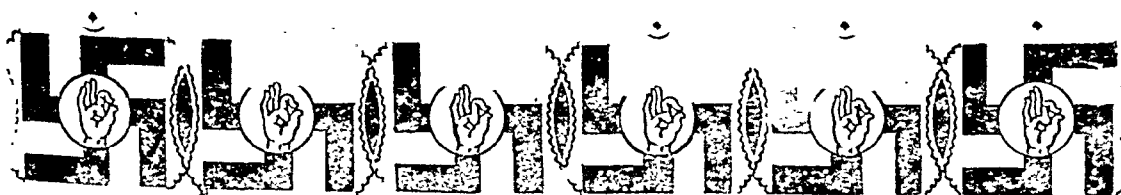
अस्तिकाय द्रव्यों के और भी भेद हैं क्या ?

उनके स्कन्ध देश और प्रदेश ऐसे भेद हैं; किन्तु पुद्गल का और भी परमाणु नाम का एक भेद है। परमाणु ही मिले हुए हालत में प्रदेश कहलाता है, अनेक प्रदेशों का अविभक्त अंश देश कहलाता है और सब देशों का सम्मिलित रूप स्कन्ध कहलाता है और वह एक द्रव्य बनता है। पुद्गल के परमाणु होने पर भी उसे अस्तिकाय इसलिये माना गया है कि उन परमाणुओं में जुड़ करके स्कन्ध बनने की शक्ति रही हुई है।

चींटी और हाथी के शरीर में रहा हुआ जीव एक समान है ?

जहाँ तक जीव, द्रव्य का प्रश्न है दोनों में जीव द्रव्य समान है; किन्तु अलग-अलग प्रदेश के कारण वे जीव अलग हैं। आत्मा-जीव की संसार में पहचान वह जिस शरीर में रहता है उससे होती है। इतना ही नहीं, पर्यायें बदलने पर घट-बढ़ होने पर आत्म तत्त्व उस प्रदेश तक फैलता है। जैसे वट वृक्ष के टेटे में अनेक बीज हैं और उस प्रत्येक बीज में जीव है। उस बीज में रहा हुआ जीव अंकुरित होकर बीज से पौधा बनता है तो उसके उस बढ़ते रूप में रहता है और जब वह विशाल प्रशाखाओंवाला घेरेदार वृक्ष बनता है तो उसमें भी जीव रहता है। जैसे सूर्य का प्रकाश जिस जिस कमरे में पहुँचता है और उतने खंड को प्रकाशित करता है, वैसा आत्मा का समझना चाहिये।

जीव का छोटे से छोटा और अधिक से अधिक रूप कितना होता है ?

बाह्य दृष्टि गोचर प्रदेश पुद्गल में भी अनेक जीवों की कल्पना की गई है; जैसे सूई की नोक जितने भाग के कंद-निगोद वगेरे में अनेक जीव माने गये हैं; उस पर से ही परमाणु पुद्गल माना गया है। बड़े से बड़े रूप में जीव को लोकाकाश जितना माना है। मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मा के प्रदेशों का बहार निकलना समुद्घात कहलाता है और कोई जीव मोक्ष जाने के पहले केवली समुद्घात करता है तब वह जीव लोकाकाश जितना बड़ा होता है।

द्रव्यों मे छोटे सा छोटा भाग किसका होता है ?

काल-द्रव्य का कालाणु और पुद्गल का परमाणु। यह कालाणु भिन्न-भिन्न रूप से लोकाकाश के एक प्रदेश के उपर रहता है। उसी आकाश के एक प्रदेश में अनन्त पुद्गल परमाणु रहते हैं। द्रव्य के छोटे से खण्ड के रूप में यह परमाणु भी गिना जाता है।

जयध्वज

खंड - ४

•

उग्र विहार

जय - जयकार

•

शरीर होने से वह कर्म विपाक या अन्य पुद्गल में ही प्रवेश, गति, स्थिति धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय की सहायता से करता है; अतः वह मुक्त नहीं कहला सकता।

ये छः द्रव्य हैं इसे कैसे माने ?

द्रव्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—"सत् द्रव्य लक्षणम्" यानी जिसका सतत रहना है; यानी जो नष्ट होते नहीं वह द्रव्य है। विश्व में ऐसे अविनाशी द्रव्य छः पाये जाते हैं; जिसमें उनके गुण, समूह के रूप में रहते हैं। यह द्रव्य के पूरे भाग में, उसकी सर्व हालत में रहता है। "सत्" का अर्थ होता है "अस्तित्व"। सत् के लक्षण के रूप में कहा गया है कि :—

उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्।

यानी उत्पाद, व्यय दोनों में जिसका ध्रुव-स्थिरपणा रहे वह सत् है। जैसे मिट्टी में घड़ा बनने पर उसकी पूर्व पर्याय मिट्टी का पिंड नष्ट होता है किन्तु घड़े में मिट्टीपना मौजूद रहता है; वही मिट्टी के पिंड में भी रहता है। प्रत्येक पर्याय का नाश होता है; किन्तु द्रव्यपन कायम रहता है। जैसे बीज, अंकुर और वृक्ष ये सभी वृक्ष के अंश हैं। बीज का नाश होकर अंकुर से वृक्ष बनना इसमें ध्रौव्य है; अतः वह द्रव्य कहलाता है।

छः द्रव्यों समान्य गुण क्या हैं ?

द्रव्यों में सामान्यतः छः गुण इस प्रकार हैं (१) अस्तित्व गुण, यानी द्रव्य की कभी उत्पत्ति नहीं होती न कभी नाश होता है; अतः ये स्वयंभू हैं। (२) वस्तु गुण, प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजन भूत क्रिया निरंतर करता रहता है। वह निष्क्रिय नहीं रहता। (३) द्रव्यत्व गुण, प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायें आप बदलता है और किसी के आधीन नहीं है। (४) प्रमेयत्व गुण, प्रत्येक द्रव्य जाना जा सकता है यानी गुप्त नहीं है। वह ज्ञान से अवश्य समझा जा सकता है। (५) अगुरुलघुत्व। हर एक द्रव्य पर्यायों से अपने ही द्रव्यत्व में रहता है। न उसकी पर्यायें अन्य द्रव्य में मिल सकती हैं, न उसमें आ सकती हैं। यानी जो स्वयं ही संपूर्ण
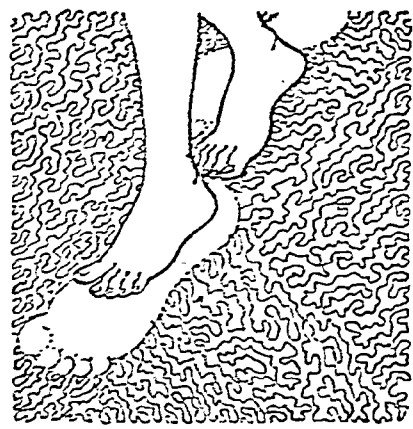
विचारणा के समय मुनिश्री जयमलजी से यह भी कहते थे :—" दिल्ली का चातुर्मास करने के दो उद्देश्य थे। एक तो यहाँ के जैन समाज से परिचित हो जांये और दूसरी इच्छा यह थी कि इधर के संतों से समागम हो। यहाँ पर अमरसिंहजी म. सा. का बहुत प्रभाव रहा है। इच्छा तो यह थी कि पंजाब की ओर चलें और उन संतों से समागम करें एवं साधु समाचारी का मिलान करें। मगर अब वह कार्यक्रम अधिक लंबा हो जायेगा। शरीर के पुद्गल भी घिसते जा रहे हैं। पक्के पान सी स्थिति है, सो राजस्थान मारवाड़ पहुँचें यही ठीक होगा।"

मुनिश्री जयमलजी बड़े विनय से कहते :—" आपका मनोबल और आत्मबल प्रखर ही है। तन भी वर्तमान में तो क्षीण नहीं मालुम पड़ता। अभी तो वर्षों तक आपको भविजनों पर उपकार करना है।"

पूज्यश्री कहते :—" वैसे तो कोई आज ही दम टूटने का व्यवहार नहीं दिखता; मगर एक बात और हो जाये तो सार्थक कार्य किये का संतोष होगा।"

" मेरे लायक हो तो अवश्य फरमायें !"

" तुम्हारे पर ही मेरी अधिक आशा है। इच्छा तो यही थी कि यहाँ पर बड़े संतों से समागम होता तो कुछ मेल मिलाप की चर्चा चलती, ऐसा भी सुना था कि बड़े प्रभावी पू. संत अमरसिंहजी है और कोटा बूंदी के आसपास कुछ वर्ष पूर्व ही हरजी ऋषि ने क्रियोद्धार करके शिथिलाचार को रोका है। यहाँ पर मिलन होता तो संघशक्ति के निर्माण में बड़ी मदद मिलती। अपना जैन समाज बिखरा - बिखरा पड़ा है। राजस्थान से लोग बंगाल और दक्षिण में बीजापुर, निजाम के राज्य तक फैलते जा रहे हैं। यहाँ भी पांचाल प्रदेश से वे पंजाब, हरियाना, लखनौ, दिल्ली तक फैल रहे हैं। अपनी संघ शक्ति मिल जाय तो कितना बड़ा काम हो सकता है !"

३३

जय - धर्म प्रेम भावना

मेड़ता में सन्तों का प्रवेश बड़ी धाम - धूम से हुआ। लोग वर्षों के बाद पुनः सन्तों का अपने यहाँ पाकर धन्य हो उठे थे। दीर्घ काल के बाद उनके आगमन से लोगों का मन हर्ष से प्रफुल्ल हो उठा था। आसपास के क्षेत्रों में समाचार पहुँचते ही लोग गाड़ियाँ आदि जुतवा कर दर्शन करने आने लगे।

लाँबिया में भी खबर पहुँच गई थी और महेताजी भी गाड़ी में बैठ कर महिमादेवी के साथ दर्शन करने आये। वन्दन - विधि के बाद पूज्यश्री ने "दया पालो!" कहकर पूछा :—"धर्म ध्यान आदि बराबर हो रहे हैं न?"

महेताजी ने कहा :—"हाँ, और इसमें विघ्न रूप जो राजकाज का कार्य है उससे मैं निवृत्त होता जा रहा हूँ।"

उनका कहने का सार इस प्रकार था कि लाँबिया में लक्ष्मीदेवी की दीक्षा के बाद महेताजी और महिमादेवी का मन अधिक से अधिक धर्म ध्यान की ओर लग रहा था। कई ऐसे भी प्रसंग आये कि उन्हें ठाकुर सा० के रात के नाच - मुज़रे के लिये मनाई करनी पड़ी।

उन्होंने स्वयं जाकर ठाकुर साहब को समझा कर निवेदन किया कि मेरे धार्मिक व्रत - पच्चक्खाणों के कारण मैं उस प्रकार के रंगराग या नाच - गान में भाग नहीं ले सकता।

ठाकुर साहब ने भी परिस्थिति समझ कर उनको उन बातों से छुट्टी दे दी; किन्तु खज़ाना सम्हालने का और सलाह सूचन का कार्य सौंपा। उसमें भी महेताजी ने कहा कि विशाल राष्ट्र धर्म के हित के अनिवार्य सलाह को छोड़ कर मैं दूसरी सलाह नहीं दे सकता। अतः धीरे - धीरे ठाकुर सा० ने उन्हें सिर्फ खज़ाना और भण्डार का ही कार्य सौंपा था।

औरंगज़ेब ज़िंदगी के अंत तक लड़ता रहा था। उसकी सेनायें खडे खेतों को रोंद कर नई विजय किया करती थीं। मगर उसके परपौते और अभी के दिल्ही बादशाह मुहम्मदशाह के समय कोई बड़ा युद्ध नही हुआ था। उसे अपने ऐशो - आराम व रंगीन जल्से और जशन से उपर आने का मौका नहीं मिलता था। उसके आसपासवाले हिन्दुस्तानी, इरानी और तुर्कानी दल अपना - अपना प्रभाव जमाने में लड़ते थे। और मुहम्मदशाह जिसने सैय्यद बंधुओं को खतम करवा दिया था, इन दलों को लड़ता देख अक्सर कहता था :—" दो मुर्गे लड़ते रहे और अपना पुलाव पकता रहे उससे बढ़कर खुदाताला की और क्या रहम हो सकती है ?"

राजा की तरह प्रजा में भी यही भावना थी। इधर मौले - मोलवी नगद दे और नगद ले वाली वातों के अनुसार मुसलमानों को जन्नत के हूर - नूर और अंगूर के सब्ज़ बाग दिखाते थे तो हिंदू धर्म गुरु पूजा चढावा - भेट आदि के नाम पर सातों स्वर्ग के सुख के सपने दिखाते थे।

जैन समाज में हालांकि इतनी खराब परिस्थिति नहीं थी फिर भी यति, गुरुजी पोतियावंद आदि अपना - अपना प्रभाव बनाये रखना चाहते थे। साधुमार्गीय संतों के लिये अपना कार्य करना बड़ा कठिन था क्योंकि उन्हें तो " कर्म के अनुसार ही जीवन बनता है " की खरी बात कहनी थी। इसमें भय और लाभ दोनों नहीं थे। उनको तो जीवन को शुद्ध और उन्नत करने के रूप में धर्म प्रचार करना था। अपने भोग - विलासों को छोड़कर आत्म साधना करना उस समय के वातावरण में सरल कार्य न था। कई स्थान पर तो धर्म स्थानक वंध ही पड़े रहते थे और कई स्थान पर " ये मारवाड के संत हैं " ऐसा भी सुनाई पड़ता था।

परंतु संतों के चरण जहाँ - जहाँ पड़ते थे वहाँ - वहाँ सच्चे धर्म की जागृति होती थी। वे लोगों में धार्मिक संस्कार तो भरते थे ही साथ - साथ सच्चे जैनत्व के संस्कार भी डालते थे।

एक वार हाँफता हुआ गांव का मुखिया किसान दौड़ता आया। उसका इकलौता पुत्र ज्वर में पीडित था। बुखार कई दिनों से उतरता ही नहीं था। वह पूज्यश्री के चरणों में गिर पड़ा और वोला :—" वापजी! उसे वचाइये....! "

अंत में गाँववालों ने सोचा कि अपने यहाँ किसी महाजन को बुलाया जाय; किन्तु आसपास के सभी गाँववालों में से कोई भी नानणा जाने के लिये तैयार नहीं था। उन्हें डर लगता था कि इन चोर-डाकुओं का क्या भरोसा? उस पर भी ये मुसलमान! अपनी बहु बेटियों की क्या सुरक्षा....?

इस ओर पूज्यश्री भूधरजी महाराज आदि संतों का विचरण होने से और मुनिश्री जयमलजी की भी कीर्ति फैलने से गाँववालों को लगा कि यदि लाँबिया पहुँचा जाये तो वहाँ के महेता मोहनदासजी अवश्य कुछ न कुछ सहायता करेंगे, किसी का भी प्रबंध करेंगे।

वे अपने पांच-सात आदमियों के साथ लाँबिया पहुँचे। वहाँ महेताजी की दहली पर बैठ कर उन्होंने सारी बात सुना कर कहा :-"आपसे बड़ी आशा लेकर आये हैं। आप ही हमारा दुःख दूर कर सकते हैं!"

महेताजी बात सुनकर विचार में पड़ गये। उन्होंने कहा :—"गाम तो बदनाम है। फिर महाजनों के वहाँ डाका डालते हो और उनसे ही दूकान आदि डालने के लिये कहते हो। कैसे विश्वास किया जाये?"

मुखी ने कहा :—"महेताजी! नानणा के बड़े पुण्य होंगे कि आप में से कोई पधारें। जैसे हैं वैसे तो हैं ही; मगर आपके स्पर्श से हम भी सुधर जायेंगे!"

"विश्वास क्या....?" महेताजी ने पूछा।

"हम सभी वचन देते हैं कि आप में से कोई भी आ जायेगा और हमें घर-गृहस्थी की वस्तुयें मिलनी शुरू होंगी तो हम चोरी लूँट-पाट छोड़ देंगे। अनाज बोने को धान मिलते ही खेती शुरू करेंगे!" मुखिया ने कहा।

"मगर एक बार खून चाटने की आदत पड़ जाती है वह कैसे छूट सकती है; फिर किसी ने चोरी आदि की तो?" मेहताजी ने कहा।

"बापजी, विश्वास करें! हमें चोरी करने की क्या ज़रूरत थी? सेनायें आती गईं, खेत रोंद कर चलती गईं, बच्चे भूखे मरने लगे; फिर क्या करते? वैसे तो जनम से

इस प्रकार अनेक अनुभवों के साथ चूरु से फतेहपुर और फतेहपुर से संत मेडता की ओर विहार कर रहे थे। श्वेत वस्त्र, चोलपट्टा, शरीर पर बंधे हुए शास्त्र, एक हाथ में पात्र और दूसरी ओर कांख में रजोहरण....बीहड़ मार्ग पर शांति के दूत चले जा रहे हों ऐसा मालूम होता था।

इतने में ज़ोर की आवाज़ आई :— "रुक जाव....!"

संतों के चरण रुके और सामने देखा तो साक्षात् काल जैसे हिंसक चहेरे नकाब व बुकानी (कपडे के पट्टे) से बँधे खड़े हैं। उनकी संख्या करीब दश की होगी। बड़े-बड़े लट्ठ लेकर पास में आ धमके। उनके सरदार जैसे व्यक्ति ने कहा :—"जो कुछ गांठ में है, वह निकाल कर रख दो!"

पूज्यश्री ने मुस्कुराकर कहा :—"हम तो साधु हैं; जैन साधु हैं!"

"इसीलिये तो कहता हूँ, गाँठ में जो बाँधा है वह ढीला कर लो। बनियों के साधु हो यही जान कर तो कहता हूँ। वे मालदार तो उनके साधु कितने मालदार होंगे?" सरदार ने हँस कर कहा।

पूज्यश्री भी ज़ोर से हँस पड़े :—"किसी ने गलत बता दिया होगा। हम धन को तो छूते भी नहीं। यह पात्र भिक्षा के हैं, ये शास्त्र पढ़ने के हैं और बाकी के ये वस्त्र हैं। और जो भी हैं सब सामने ही हैं।"

सरदार के इशारे से एक लुटेरे ने आगे बढ़कर सभी की कमर पर हाथ फिराकर देख लिया और इशारों में ही कहा :—"कुछ भी नहीं है!"

वे आपस में बातें करने लगे कि हमने तो माना था कि धनवान बनियों के गुरु हैं तो इनके पास गांठ भरी होगी; मगर यहाँ तो वास्तव में कुछ दीखता नहीं है।

आचार्यश्री ने कहा :—"हमें धन से क्या मतलब! क्या उसको खाया-पिया जाता है! वह पास रहा तो भी खुद के लिये भय का कारण बनता है; न जाने कितने लोग लूँटे जाते हैं, मारे जाते हैं!"

महिमादेवी ने कहा :—"पूरा गाँव पाप का मार्ग छोड़कर अच्छे रास्ते पर आता हो तो अवश्य कुछ करना चाहिये। रिडमल को भेजें....!"

"तुम्हें फिर पूरी हवेली में अकेला रहना पड़ेगा।" महेताजी बोले।

"आप ने मुझे क्या ऐसा समझ रखा है? आप तो रहेंगे न, फिर अकेली कैसे?" महिमादेवी ने कहा।

महेताजी ने कहा :—"फिर अवश्य कुछ रास्ता निकालेंगे!" उन्हें संतोष था कि हमेशा साथ देनेवाली उनकी धर्मपत्नी आज भी उनके साथ है।

रिडमल जब दुकान से लौटा तो महेताजी ने उसे पूरी बात बताई और कहा :—"यदि वहाँ जाने से पूरा गाँव सुधर सकता हो तो अवश्य कुछ किया जाना चाहिये!"

"आप जैसा चाहेंगे, वैसा होगा?" रिडमल बोले।

"तुमसे यही आशा थी।" महेताजी ने भी संतोष प्रगट किया। हालांकि उनमें अब हिम्मत आ गई थी; फिर भी रिडमल की सुरक्षा का प्रश्न अब भी उन्हें चिंतित कर रहा था। उसे कुछ हो गया तो विंदनी (विनयदेवी) को क्या उत्तर देंगे?

रात भर विचार कर प्रातः वे ठाकुर साहब के पास पहुँचे और उनको पूरी बात बता करके कहा :—"रिडमल के साथ अपने यहाँ से देश के नौजवान भी कुटुंब के साथ जांये तो सब बात बैठ सकती है। साथ में ऐसे दो एक गाँव में अपना सिक्का जम जाये तो लांबिया का नाम भी फैलाया जा सकता है।"

ठाकुर साहब ने स्वीकृति दे दी।

मेहताजी ने लौट कर नानणा गाँव के मुखिया को बुला कर कहा :—"मैं अपने बेटे रिडमल को भेज रहा हूँ उसके साथ यहाँ से दशेक आदमी भी और चलेंगे। मगर अब आप विश्वास दिलाओ कि आप लोग पुरानी लूट-फाट-चोरी छोड़ देंगे और साथ ही रिडमलजी आदि को कुछ भी नहीं होगा!"

सरदार को दिल में बड़ा अखरा। उसने कहा कि "मैं आज से शराब, माँस, चोरी सभी छोड़ता हूँ! मुझे इन सभी बातों के सौगन्ध आप दिलाइये बापजी!"

"फिर सोच लो! जोश-जोश में ऐसा वैराग्य आ सकता है; किन्तु इसे आजीवन पालना बड़ा कठिन है।" पूज्यश्री ने कहा।

"ऐसा जीवन क्या काम का कि जिसके घर से सच्चे संत कुछ भी न ले सकें!" सरदार बोला।

आचार्यश्री ने अपनी मर्यादा के अनुसार उससे पल सके उतनी मर्यादा में पच्चक्खाण दिये। डाकुओं का सरदार भी धन्य हो गया।

उसने अपने सभी साथियों से कहा :—"देखो, बापजी अपने गुरु हैं; अब इनका कोई बाल भी बाँका न कर पाये!"

आचार्यश्री ने उसे समझाया कि हालाँकि उसका उनके प्रति पूज्य भाव सराहनीय है; फिर भी साधु स्वयं निडर होता है और उसे लूटने लुटाने का अन्देशा नहीं होता। इस पर भी कोई परिषह उपसर्ग आ भी गये तो उन्हें स्वयं सहना चाहिये।

पूज्यश्री ने और भी समझाया कि वे लोग कभी किसी संत को तंग न करें। भोले भाव से सरदार ने जब कहा :—"उन सन्तों को कोई तंग करेगा तो उसे तंग कर डालेंगे।" तब उसके निश्छल प्रेम को देख कर संत भी हँस पड़े; मगर उन्होंने समझाया कि संत किसी की ऐसी सहायता नहीं स्वीकार करते।

इस प्रकार शील, संयम और सदाचार के रंग में अन्यान्य लोगों को रंगते, ज्ञान की ज्योति से जन-गण-मन के जीवन को आलोकित करते हुए संतों का विहार मरुधरा के रेतीले रास्तों पर हो रहा था।

●

गाडियाँ लाबियाँ से नानणा के रस्ते चलीं तो गाँव-गाँव में लोग जब यह सुनते थे कि वे नानणा जा रहे हैं तो आश्चर्य से सभी कहते थे :—"वहाँ....! चोर डाकुओं के गाँव में!"

रिडमलजी को पहले तो जरासा मन में लगता था; किन्तु धीरे-धीरे वे आदी हो गये। कई लोगों ने उनके साहस के लिये धन्यवाद भी दिये। ऐसे वे सभी नानणा पहुँचे। वहाँ के लोगों ने भगवान पधारे वैसा स्वागत किया।

साथ में लाये गये दुकानदारी के सामान से दुकान जमा ली गई। थोड़ा सा धान्य खेती के बीज के लिये अलग रखा गया। लोगों को वर्षों के बाद प्रति दिन की आवश्यक वस्तुयें मिलनी शुरू हुई।

रिडमल की गाडियाँ ब्यावर आदि की मंडियो में पहोंचतीं। वहाँ वे लांबिया के महेताजी के नाम से प्रसिद्ध होने लगे। गाडियों में आवश्यक सामान लाकर वे नानणा में बांट देते थे।

बरसात के दिन आये। वर्षों के बाद नानणा के खेत गेहुँ, बाजरा, मकाई के पाक से और ककडी-खरबूजे की बेलों आदि से हरे भरे दिखने लगे। लांबिया के दश सिपाही और गाँववालों के प्रबंध से इन खेतों को उजाड़ने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी।

वैसे एकाध व्यक्ति ने चोरी आदि की तो उसको गांववालों ने वह मरम्मत की कि फिर किसी की भी हिम्मत न हुई।

खेत कटे और गाडियाँ भर अनाज रिडमलके यहाँ सभी लाये। मुखियाने रिडमल से कहा :—"यह सारा अनाज आपका है, आप यहाँ नहीं आते तो बरसों की तरह इस वर्ष भी हमें अनाज चोरी करके खाना पड़ता, आज अपनी मेहनत का खायेंगे।"

रिडमल ने गाँववाले सभी को उनके श्रम और आवश्यकतानुसार अनाज बाँट दिया। सभी ने उसका जय-जयकार बुलाया। पंच और गाँव की बिरादरी के बीच उनके सर पर सम्मान का साफा बांधा।
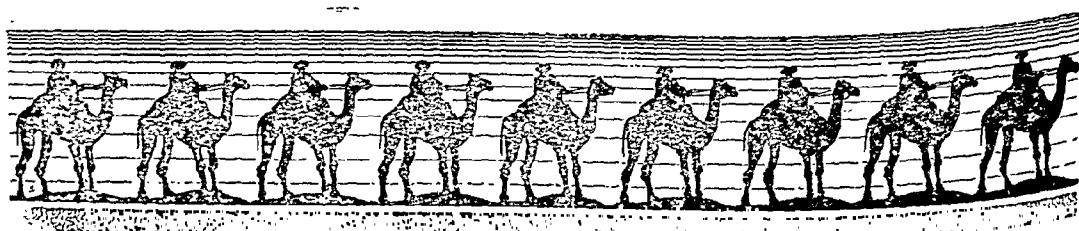
जगत के जीवन पर दृष्टि करते हुए हम किन किन मुख्य तत्त्वों को देखते हैं?

हमारे सामने जो-जो वस्तुएँ दिखाई देती हैं उसको प्रत्यक्ष रूप से हम दो तत्त्वो में बांट सकते हैं, जीव और अजीव अथवा चेतन और जड़।

इन दोनों तत्त्वों की जानकारी कैसे हो?

इनमें रहे विशेष गुण और धर्म के कारण हम उन्हें उस रूप में पृथक करके पहचान सकते हैं।

जीव की क्या पहचान है?

जिसमें जानने की शक्ति हो, जो सुख दुःख का अनुभव कर सके और जो घट बढ़ सके वह जीव है। हमारे आसपास अनंत जीवों की सृष्टि है। मानव, पशु, पक्षी, अन्य जीव, जंतु चींटी वनस्पति आदि सभी में जीव है क्यों कि उनमें सुख दुःख को अनुभव करने की शक्ति है और जो स्वयं घट-बढ़ सकती है।

अजीव जिसको कहते हैं?

जिन पदार्थों में अपने आप चेतना-ज्ञान दर्शन या सुख दुःख का अनुभव करने की शक्ति नहीं है; जो घट बढ़ नहीं सकता वह अजीव है।

जीव अजीव का भेद उदाहरण के साथ स्पष्ट करो?

एक मनुष्य है उसमें जीव है। जब वह आहार आदि ग्रहण करता है, तो उसे अपने शरीर में पचाकर उसमें से शरीर के उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण कर शेष को त्याग सकता है। उसे अच्छे खाने का आनंद मालूम होता है और बुरे खाने का दुःख भी। किन्तु उसी आदमी की मूर्ति बनाके रखी जाय तो वह उसे न खाती है, न पीती है, न उस अन्न में से शरीर की सप्त धातु बना सकती है। इसी प्रकार सजीव मनुष्य में से जब जीव चला जाता है

महेताजी ने कहा :—“ बापजी सब आपकी दया है.... ! ”

पूज्यश्री ने कहा :—“ नहीं, जो है वही बात मैं कह रहा हूँ । ”

मुनिश्री जयमलजी ने श्रद्धा से उनके चरण पकड़ लिये और बोले :—“ पूज्यश्री मुझे इस योग्य समझते हैं यह मेरा सौभाग्य है, किन्तु अभी मैं कितना योग्य हुआ हूँ यह तो मैं ही जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं इतना बोझ उठाने योग्य नहीं बना हूँ; फिर भी आधार और प्रोत्साहन देकर आप मुझे धर्म मार्ग पर बढ़ा रहे हैं। ”

पूज्यश्री ने कहा :—“ और उसकी सचाई के लिये देख सकते हैं कि ये संत सूरजमलजी इन्हीं के शिष्य हैं ! ”

महेताजी को लगा कि जब तक उनके परिवार में धर्म - अभ्युदय नहीं हुआ था, वे सच्चे धर्म से बहुत दूर थे, किन्तु आज उनके परिवार के सभी सदस्य धर्म - प्रचार और धर्म प्रभावना में लगे हुए हैं।

उन्होंने तपस्वी मुनिश्री सूरजमलजी को विधिवत वंदना की, और महिमादेवी ने भी की। सूरजमलजी को भी परिचय हुआ कि महेताजी और महिमादेवी उनके दीक्षा गुरु पू. मुनिश्री जयमलजी के संसार पक्ष के माता - पिता हैं, तो उन्हें भी आत्म भाव हुआ।

सं. १७०२ में मेड़ता में धर्म ध्यान का ठाठ लग गया। पूज्यश्री विशेष रूप से आतापना - तप आदि में लगे रहते थे। व्याख्यान का भार उन्होंने मुनिश्री जयमलजी पर छोड़ दिया था।

विहार के क्षेत्रों में जनपद और लोक जीवन के संपर्क में आने से मुनिश्री जयमलजी यह अनुभव कर रहे थे कि यदि विरोध के बीच सच्चे जैनत्व को दिपाना है तो ज्ञानयुक्त क्रियावान जैन श्रावक समाज का होना अत्यंत आवश्यक है।

अतः उनके व्याख्यानों में श्रावक धर्म, सम्यक्त्व, श्रावक गुण आदि विषयों का अच्छा विश्लेषण चलता था। सच्चा ज्ञान क्या है ? सच्चा दर्शन क्या है और सच्चा चारित्र क्या है उस पर वे अधिक से अधिक प्रकाश डालते थे।

और बीतनेवाला, चलनेवाला और आनेवाला काल भी है। जीव और पुद्गल दोनों स्वतंत्र है मगर उन दोनों की गति और स्थिति में सहायक दो और भी द्रव्य हैं जिनका अनुभव किया जा सकता है। वह है धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। इस प्रकार जीव-अजीव के द्रव्यों के हिसाब से छः भेद होते हैं जीव, पुद्गल, काल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय।

ये द्रव्य क्यों कहलाते हैं ?

द्रव्य उन पृथक् तत्त्वों या पदार्थों को कहते हैं जिनमें अपने-अपने गुण अलग सत्तारूप विद्यमान होते हैं। उसकी पर्यायें बदल सकती हैं; किन्तु द्रव्य तो मौजूद रहता है। जैसे सोने से कड़ा बना, तो कड़े में स्वर्ण मौजूद है, मिट्टी से घड़ा बना तो भी घड़े में मिट्टी रहती है। जैसे बीज से अंकूर और अंकूर से वृक्ष होता है उसमें पर्यायें बदलती है; किन्तु वृक्षपन रहता ही है। अर्थात जिसका अस्तित्व पर्यायें बदलने पर भी बना रहे वह द्रव्य है।

अन्य द्रव्यों का स्वरूप क्या है ?

जीव और अजीव का स्वरूप तो बता दिया गया है। अजीव द्रव्यों में (१) पुद्गल द्रव्य उसे कहते हैं जो इकठ्ठा होता है और पुनः अलग होता है और पुनः जुड़ता है वह पुद्गल है, जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण और स्पर्श होता है। (२) जो जीव और पुद्गलों के गमन करने में निमित्त बनता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। जैसे पक्षी को उडने में आकाश मदद रूप होता है, या मछली को गमन करने में पानी सहायक होता है वही द्रव्य धर्मास्तिकाय कहलाता है। (३) उसी प्रकार जीव और पुद्गल को स्थिर होने में जो द्रव्य सहायक होता है, वह अधर्म द्रव्य है। जैसे मुसाफिर को विश्रांति दिलाने में अपने पास ठहराये रखने में वृक्ष की छाया सहायक होती है वैसे अधर्मास्तिकाय जीव को पुद्गल को स्थिर करने में सहायक होता है। इन दोनों द्रव्यों का होना इसलिये मानना पड़ता है कि अनेक जीव हैं और अनेक पुद्गल होने पर भी दोनों स्वतंत्र सत्ताधारी द्रव्य होने से जब तक उनको मिलानेवाला कोई द्रव्य न हो तो दोनों मिल नहीं सकते और मिलकर गति नहीं कर सकते। (४) अपनी-अपनी अवस्था में स्वयं परिणमते जीवादिक द्रव्यों को परिणमन में जो सहायक
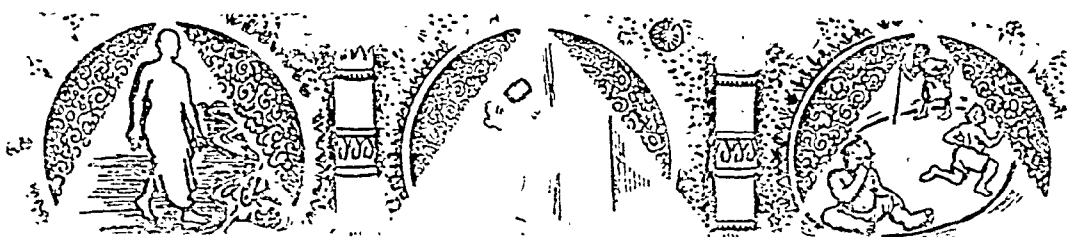
धर्म के नाम को बेचते फिरनेवाले, ढोंगी पाखंडियों के बारे में तो उनकी बातें लोगों के दिल में घर कर जाती थीं। वे कहते थे :—

नाचे कूदे मोक्ष मांग के, आरंभ करे अनेक।
जैन नहीं वो फैन है, आणो हिये विवेक॥
पाप अठारे नचि परिहरे पढे पाठ ने अर्थ।
ज्यां में ज्ञान जाणो मति, नहीं छे वे निर्ग्रंथ॥

सच्चे सद्गुरु और उनसे धर्म प्राप्त होता है मगर अवसरवादी से तो बचना ही चाहिये। वैसे वे कहते थे :—

मीठा बोले अवसर लखी, निंदे जोम जणाय।
बुद्धि हीणा मूरख कह्या, निगुरा सिद्ध न थाय॥
साधु सहुने निंदवे, आपो करे बखाण।
दोषीलो तेहीज छे, लीजो चतुर पीछाण॥

फिर सच्चे संत कौन? इसकी भी पहिचान उन्होंने इस प्रकार कराई :—

आचारी, शुद्ध आहारी, भला, सत्यवादी विनीत।
ते शुद्ध धर्मज भाखसी, जोवो सूत्र न चीत॥
रागद्वेष करें पातला, साच शील सुविनीत।
आचार्य भणावण हार की राखीजो प्रतीत॥
साधु चिंतामण रतनसा चाले दया रस चाल।
ज्यां ज्यां जतने सेविया त्यां त्यां कियो निहाल॥

इस प्रकार धर्म प्रभावना होने से, मेडता पूज्यश्री भूधरजी म. स. मुनिश्री जयमलजी म. सा. आदि संतों का चातुर्मास पाकर धन्य हो गया था।

धर्मास्तिकाय की क्या पहचान है ?

द्रव्य से एक द्रव्य है। क्षेत्र से पूर्ण लोक प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित है, भाव से वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत, सर्व व्यापी और असंख्यात प्रदेशी है। गुण से चलन गति देने का गुण है। जैसे पानी के आधार से मछली चलती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल दोनों धर्मास्तिकाय के आधार से चलते हैं।

अधर्मास्तिकाय की क्या पहचान है ?

द्रव्य से एक द्रव्य है; क्षेत्र से पूर्ण लोक में है। काल से आदि अन्त रहित, भाव से वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी अजीव, शाश्वत, सर्व व्यापी और असंख्यात प्रदेशी है। गुण से स्थिर - स्थिति देने का गुण, जैसे पथिक को वृक्ष की छाया ठहरने में मदद रूप होती है। उसी प्रकार पुद्गल और जीव को ठहरने में अधर्मास्तिकाय सहायक होता है।

आकाशास्किाय की क्या पहचान है ?

द्रव्य से एक द्रव्य है। क्षेत्र से लोकालोक प्रमाण में व्याप्त है। काल से आदि अन्त रहित है। भाव से वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत सर्व व्यापी और अनन्त प्रदेशी है। गुण से पोलण, जगह देने का गुण है। भींत में खूंटी गड़ जाती है और दूध में पतासा घुल जाता है उसी प्रकार आकाश में विकास होता है और वह पाँचों द्रव्यों को जगह देता है।

काल द्रव्य की क्या पहचान है ?

द्रव्य से अनन्त द्रव्यों पर प्रवर्तता है, क्षेत्र से अढाई द्वीप प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित है। भाव से वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी शाश्वत और अप्रदेशी है। गुर्ण से वर्तन गुण, नये को पुराना करे, पुराने को खपावे। जैसे कपड़े को कैंची कतरती है उसी प्रकार काल का गुण है।
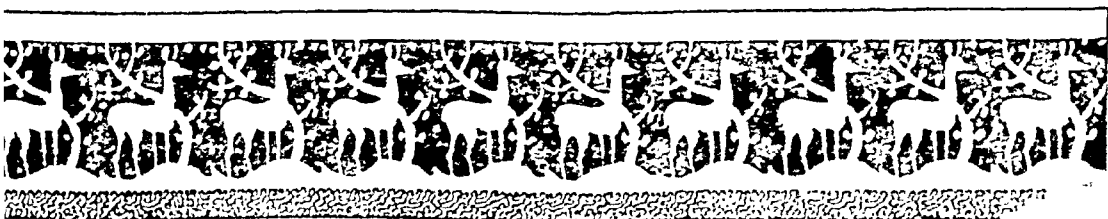
धर्म के नाम को बेचते फिरनेवाले, ढोंगी पाखंडियों के बारे में तो उनकी बातें लोगों के दिल में घर कर जाती थीं। वे कहते थे :—

नाचे कूदे मोक्ष मांग के, आरंभ करे अनेक।
जैन नहीं वो फैन है, आणो हिये विवेक॥
पाप अठारे नवि परिहरे पढे पाठ न अर्थ।
ज्यां में ज्ञान जाणो मति, नहीं छे वे निर्ग्रंथ॥

सच्चे सद्गुरु और उनसे धर्म प्राप्त होना है मगर अवसरवादी से तो बचना ही चाहिये। वैसे वे कहते थे :—

मीठा बोले अवसर लखी, निंदे जोम जणाय।
बुद्धि हीणा मूरख कह्या, निगुरा सिद्ध न थाय॥
साधु सहुने निंदवे, आपो करे वखाण।
दोषीलो तेहीज छे, लीजो चतुर पीछाण॥

फिर सच्चे संत कौन? इसकी भी पहिचान उन्होंने इस प्रकार कराई :—

आचारी, शुद्ध आहारी, भला, सत्यवादी विनीत।
ते शुद्ध धर्मज भाखसी, जोवो सूत्र न चीत॥
रागद्वेष करें पातला, साच शील सुविनीत।
आचार्य भणावण द्वार की राखीजो प्रतीत॥
साधु चिंतामण रतनसा चाले दया रस चाल।
ज्यां ज्यां जतने सेविया त्यां त्यां कियो निहाल॥

इस प्रकार धर्म प्रभावना होने से, मेडता पूज्यश्री भूधरजी म. स मुनिश्री जयमलजी म. सा. आदि संतों का चातुर्मास पाकर धन्य हो गया था।

⊛

काल के अनुसार कौन सा द्रव्य बड़ा है ?

सभी द्रव्य आदि अन्त रहित होने से काल की अपेक्षा से बड़े ही हैं; फिर भी पर्यायों के अनुसार देखा जाय तो अनादि अनन्त पर्यायोंवाले सभी द्रव्यों की पर्यायें पुद्‌गल पर्यायों से अनन्त गुणी होती हैं।

भाव के अनुसार कौन सा द्रव्य सब से बड़ा है ?

भाव के अनुसार जीव द्रव्य ही सब से बड़ा है। उसके ज्ञान गुण में केवल ज्ञान के अनुसार समस्त भावों को जानने की अनन्त शक्ति रही हुई है। क्योंकि उसके अनुसार जिन - जिन वस्तुओं के भाव जाने जाते हैं उन प्रतिछेदों की संख्या अनन्त गुणी है; साथ ही केवल ज्ञान में त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों का सम्पूर्ण स्वरूप एक साथ स्पष्ट होता है। यह जीवात्मा की शक्ति है। तदनुसार उसका स्वभाव है, जो कि सब से बड़ा है।

क्या सभी द्रव्य अरूपी हैं ?

सिर्फ पुद्‌गल को छोड़ कर शेष सभी द्रव्य जीव, धर्म, अधर्म आकाश और काल अरूपी हैं ये दिखते नहीं है; मगर जाने जा सकते हैं।

क्या सभी द्रव्य सजीव हैं ?

सिर्फ जीव सजीव है। उसको छोड़ कर सभी द्रव्य अजीव हैं। जीव ही सजीव है। जीव सजीव होने से क्रियात्मक बनता है तो उसके साथ अन्य द्रव्य क्रियात्मक होते मालूम होते हैं; मगर वास्तव में जीव की सत्ता के कारण ही ऐसा दृष्टिगोचर होता है। जीव को छोड़ कर सभी द्रव्यों में घट - बढ़ होने की शक्ति या सुख - दुःख जानने की शक्ति नहीं है जो जीव का लक्षण है।

द्रव्यों में कुछ अस्तिकाय हैं — वह क्या है ?

द्रव्यों में पाँच द्रव्य, जीव, धर्म, अधर्म और आकाश अस्तिकाय माने गये हैं। एक द्रव्य के बहु प्रदेशीपन को अस्तिकाय कहते हैं। काल के ऐसे टुकड़े या प्रदेश नहीं होते अतः वह अप्रदेशी ही माना गया है।

गुरु और शिष्य घंटों तक समाज, साहित्य और तत्त्वज्ञान की चर्चा करते बैठे रहते। मुनिश्री जेतसी म. अपनी विनोद वृत्ति नहीं चूकते थे और मज़ाक करते :—"क्या छुप-छुपके गुरु-चेले में छन रही है....मगर साधु को तो स्पष्ट होना चाहिये।"

मुनिश्री जयमलजी भी हँसके कहते :—"यहाँ तो सब स्पष्ट ही है। मगर हमारी जो छन रही है वह आपसे नहीं पचेगी।"

मुनिश्री जेतसीजी कहते :—"मगर गोचरी की भी चिंता नहीं है?"

मुनिश्री जयमलजी कहते :—"ज्ञान गोचरी तो हो रही है न?"

जेतसीजी म. सा. की विनोद वृत्ति नवदीक्षित मुनि सूरजमलजी को भी नहीं छोड़ती। उनसे अक्सर कहते :—"आपके गुरु, दादा गुरु से चर्चा कर रहे हैं।"

कभी अन्य संत उनसे पूछते :—"तो पूज्यश्री कौन हैं? वे बड़े दादा गुरु हैं।"

इस धर्म विनोद से वातावरण भी प्रसन्न हो जाता था।

* * *

संत गण का विहार अलग-अलग हो गया। मुनिश्री जेतसीजी म. सा. आदि कुछ संत पूज्यश्री के साथ हो लिए। मुनिश्री रघुनाथजी म. पूज्यश्री की आज्ञा पाकर आसपास के क्षेत्र स्पर्शने के बाद नागौर चातुर्मास के लिये विचरण करनेवाले थे। उनका विहार उस ओर हुआ।

पूज्यश्री आदि संत अजमेर ब्यावर के रास्ते पर आगे बढ़े। अजमेर में पूज्यश्री का धर्म प्रचार अधिक हुआ और ब्यावर में जब उनका पदार्पण हुआ तो लोग बहुत ही प्रसन्न हुए।

यहीं पर नानणा से गाडियों में रिडमलजी एवं अन्य जैन बंधुके साथ नानणा गांव के मुखी और अन्य लोग भी आये। दर्शन-वंदन और प्रवचन के उपरांत रिडमलजी आदि पूज्यश्री आदि संतोंके पास खडे रहे।

पूज्यश्री ने कहा :— "महेताजी से मालूम हुआ कि हमारे सुश्रावकजी अपना कर्तव्य बराबर कर रहे हैं। 'सर्व जीव को जिन शासन रसिक करना श्रावक का कर्तव्य है।' आप वह बराबर निभा रहे हैं।"

क्या एक शरीर में एक जीव रहता है ?

सामान्य रूप से एक पुद्गल पिण्ड में एक जीव रहता है और उस पर से एक शरीर में एक जीव माना जाता है यानी जीव जिस योनिका शरीर धारण करता है ; उसमें उसकी ही एक मात्र सत्ता चलती है ; किन्तु उसके बाह्य पुद्गल - कलेवर के स्कन्ध में अन्य जीव स्थान पाकर रह सकते हैं। जैसे शरीर के अंगोपांग में रहनेवाली जूं लीख या फोड़ों में पनपनेवाले कीड़े। इतना ही नहीं, पेट के भीतर की ग्रंथियों में कृमि जीव रहते हैं जो छोटे भी होते हैं और बड़े भी होते हैं ; किन्तु उनका शरीर पृथक पुद्गल पिण्ड रहता है। निगोद के जीव एक औदारिक शरीर में अनेक रह सकते हैं ; किन्तु सब जीवों का तेजस व कार्मण शरीर पृथक रहता है।

एक छोटे से भाग में (प्रदेश में) अनेक जीव कंद, साधारण वनस्पतिकाय एवं निगोद में माने हैं तो क्या वहाँ जीव बिना शरीर के भी रहते हैं ?

जीव तो वास्तव में अरूपी है ; किन्तु जब तक कर्म बन्धन करता है तब तक अशरीरी नहीं रह सकता। वह एक शरीर के पुद्गल को त्याग कर फौरन ही दूसरे पुद्गल में प्रविष्ट होता है। जिस समय जीव सभी कर्मों का नाश करता है तभी वह अशरीरी बन कर मुक्ति धाम में पहुँचता है और तब उसका पुद्गल - वर्तन (पुद्गल में जन्म लेना, शरीर वृद्धि करना, मरण पाकर छोड़ना) बन्ध होता है।

एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करते समय तो जीव अशरीरी रहता है न ? उसे मुक्त क्यों न माना जाये ?

सामान्यत: जीव को पुद्गल - वर्तन करने में एक कालाणु जितना समय लगता है। एक क्षण के असंख्य समय माने गये हैं। कालाणु कितना छोटा होता है। उसका विचार इस पर से हो सकता है कि एक मुहूर्त (४८ मिनट) में १६७७२१६ आवली मानी गई है। इस एक आवली में असंख्यात समय, कालाणु माने गये हैं। उतने अल्प समय में यद्यपि जीव औदारिक अशरीरी रहता है ; किन्तु उसके साथ उसका तेजस एवं कार्मण

संतों के पदार्पण पर शाही सवारी के साथ वे सामने लिवा लाने गये। महाराजा साहब स्वयं सवारी से उतर कर आगे बढ़े और पूज्यश्री के चरणों में झुककर वंदना की। जोधपुर निवासी भी पूज्यश्री का प्रभाव देखकर चकित हो गये।

जोधपुर नरेश ने कहा :— "आपने जोधपुर में धर्म-पुण्य बढ़ाने के लिये जो पदार्पण किया है एतदर्थ जोधपुर पर बड़ा उपकार है।"

"आपके इतने प्रबल भाव थे; अतः हमें आना ही पड़ा।" पूज्यश्री ने कहा।

जोधपुर चातुर्मास में मुख्यतः प्रवचन आदि का कार्य मुनिश्री जयमलजी पर था। उन्होंने श्रावक के व्रतों का विस्तृत खुलासा ऐसा किया कि अनेक लोगों ने श्रावक व्रत निम्नः प्रकार से लिये। जिसका व्रतसार इस प्रकार है।

श्रावक व्रत दिग्दर्शन :

श्रावक को आत्मा के, गुण के विकास के लिये बारह व्रत स्वीकार-धारण करने चाहिये। औपपातिक (उववाई) सूत्र में भगवान महावीर कहते हैं :—

आगार धम्मं दुवालसविहं आइक्खई तंजहा।
पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं॥

— आगार धर्म बारह प्रकार का कहा है। वह इस प्रकार है :– पाँच अणु व्रत, तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत। इन बारह व्रतों का पालन करनेवाला श्रावक, मूल गुण से लेकर शिक्षा व्रतों तक का पालन कर सकता है। प्रत्येक व्रत की प्रतिज्ञा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होती है और उसके अतिचारों से बचना होता है।

१. पहला स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत :

श्रावक के पहले व्रत में श्रावक को चलते फिरते त्रस जीव को बिना अपराध नहीं मारने की और स्थावर जीवों की हिंसा की भी मर्यादा करनी पड़ती है। जीव हिंसा नहीं

और ज्ञान - दर्शन चारित्र्य आदि भाव प्राणों की रक्षा करना, प्राणातिपात विरमण कहा जाता है। तदनुसार श्रावक को आत्म - उन्नति का हमेशा ध्यान रखना चाहिये।

२. स्थूल मृषा (मिथ्या) वाद विरमण व्रत :

दूसरे व्रत में श्रावक को मृषा यानी मिथ्या, असत्य ऐसे वाद का यानी झूठे वाद का स्थूल त्याग करने का है। श्रावक के लिये आत्मा ही सत्य है; परन्तु व्यवहार में सत्य बोलना ही सत्य है। असत्य बोलने से जीवन में अविश्वास पैदा होता है; इसलिये इसको शक्य हो उतना त्यागना आवश्यक है। प्रतिज्ञा इस प्रकार ली जाती है :—

द्रव्य से : लोक में निंदा हो, पंचों में अप्रतीति हो, व्यक्ति, देश या विश्व में अशांति फैले, कुल जाति धर्म को कलंक लगे ऐसे निम्न: पाँच प्रकार के झूठ की मर्यादा है :—

१. कन्या और वर सम्बन्धी झूठ बोलना।

२. गाय - बैल आदि पशु सम्बन्धी झूठ बोलना।

३. भूमि - भवन आदि सम्बन्धी झूठ बोलना।

४. किसी की धरोहर थापन सम्बन्धी झूठ बोलना।

५. झूठी गवाही देना या वैसे झूठे जाली कागज़ तैयार करना।

क्षेत्र से : मर्यादित क्षेत्र में स्थूल असत्य बोलने का और उसके बाहर सम्पूर्ण असत्य भाषण की प्रतिज्ञा है।

काल से : जीवन पर्यंत यह व्रत है।

भाव से : दो करण - तीन योग से है यानी मैं मन वचन काया से स्वयं झूठ बोलूँगा नहीं और दूसरों से नहीं बुलाने की प्रतिज्ञा है।

अतिचार :

१. आघात लगे वैसे वचन नहीं बोलना चाहिये।

२. रहस्य प्रगट नहीं करना चाहिये।

यह कह करके महेताजी ने पूज्यश्री से निवेदन किया :—"फिर भी मन में कुछ अशांति सी बनी रहती है कि राजकाज के कुछ ऐसे भी खर्चे होते हैं जिसमें परोक्ष रूप से हिंसा और व्यसनों को उत्तेजन मिलता है और वह द्रव्य मेरे हाथ से दिया जाता है !"

पूज्यश्री ने आश्वासन दिया :—"सुश्रावकों के लिये कम से कम एक करण एक योग यानी "करूं नहीं काया से" विधान है; फिर भी इस में जितना आगे बढ़ा जाये अच्छा ही है। आपकी भावना चढ़ती है तो अपने आप उस ओर कम वृत्ति होगी !"

महेताजी ने हाथ जोड़ कर वन्दन किया।

पूज्यश्री की आँखें ढूंढ रही थीं कि रिडमल नहीं है। उन्होंने हँसते हुए पूछा :— "हमारे छोटे श्रावक कहाँ हैं? उनका व्रत पालन चलता है ?"

महेताजी ने थोड़ा सा हिचकिचाके कहा :—"वह तो मैं भूल गया था। वह भी अपने रंग में पक्का है और उसे धर्म का व्यापार बढ़ाने मैंने ब्यावर के पास नानणा गाँव भेज दिया है।" और उन्होंने जो पूरा प्रसंग था वह इस प्रकार कह सुनाया।

ब्यावर के पास नानणा नाम का गाँव है। वहाँ पर अधिकतर मेर मेहरायत रावत जातिके हिन्दुओं से बदले हुए मुसलमान रहते थे। जब राज - पाट बदलने शुरू हो गये तो इन लोगों ने लूट - पाट करके आजीविका प्राप्त करना शुरू की। वहाँ कई अलग - अलग डाकूओं के दल बन गये थे। और वहाँ से किसी का जाना कठिन हो जाता था। फलस्वरूप गाँववालों को खाने - पीने की चीजें भी पाँच - सात कोश दूर से ही मिल सकती थी। इसमें भी यदि उस गाँववालों को मालूम हो गया कि ये लोग नानणा के हैं तो कोई माल भी नहीं देता था।

क्षेत्र से : मर्यादित क्षेत्र में स्थूल चोरी का त्याग और मर्यादा बाहर के क्षेत्र में संपूर्ण चोरी के त्याग की प्रतिज्ञा है।

काल से : जीवन पर्यंत यह व्रत है।

भाव से : मन वचन काया से स्वयं चोरी नहीं करना एवं दूसरों से नहीं करवाने का प्रत्याख्यान है।

अतिचार :

१. चोरी की वस्तुएँ खरीदना।
२. चोरी करने में मदद देना।
३. राज्य - राष्ट्र हित के विरुद्ध और विरोधी राज्यों से गुप्त मिलाप रख कर देश के अहित कार्य या अपराध करना।
४. झूठे नाप तोल रखना।
५. वस्तु में मेल - संमेल - मिलावट बनावट करना।

व्यवहार - निश्चय :

व्यवहार से तो विना मालिक की आज्ञा के वस्तु लेना, धूर्तता बदमाशी आदि नहीं करना, इस व्रत के योग्य नियम धारण करना, आगार का लाभ आनिवार्य आवश्यक हो तभी लेना और अतिचारों से दूर रहना स्थूल चोरी से हटना - अदत्तादान विरमण व्रत है। निश्चय से जो आत्मा से संबंधित नहीं है ऐसी बातों की इच्छा तक न करना, पुण्य से देव-सुख की आकांक्षा आदि नहीं करना निश्चय अदत्तादान विरमण है। चोरी से अनीति, अन्याय और अप्रमाणिकता फैलती है अतः श्रावक को उससे दूर ही रहना चाहिये।

४. स्वदार संतोष या स्थूल मैथुन विरमण व्रत :

चौथे व्रत में श्रावक को परस्त्री गमन का संपूर्ण त्याग करना चाहिये इतना ही अपनी स्त्री के साथ मैथुन सेवन में संतोष करके मर्यादा बांधनी चाहिये। ब्रह्मचर्य पालना, विषय वासनाओं पर संयम रखना इस व्रत का पूर्ण उद्देश्य है। शील के विना समाज में संस्कार नहीं आता और व्यभिचार फैलता है जो अनेक पापाचारों को फैला कर समाज के
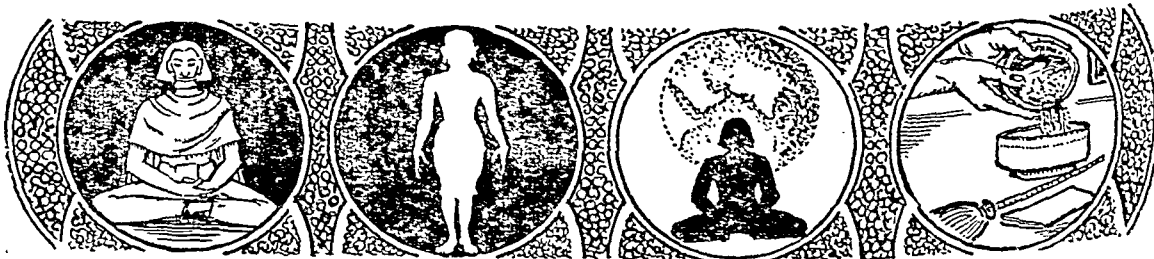
वैसे भी गृहस्थों के लिये भी ब्रह्मचर्य पालना अच्छा ही है। पाँच तिथियाँ और सप्ताह में भी ज्यादा से ज्यादा मैथुन सेवन से बचा जाय वह अच्छा है। अब्रह्मचर्य को घोर प्रमाद का स्थान कहा गया है। साधुओं को संपूर्ण ब्रह्मचर्य पालना चाहिये और श्रावकों को भी उस दिशा में प्रगति करनी चाहिये।

अन्य धर्मों में गृहस्थों के ब्रह्मचर्य पर बल नहीं दिया जाता है फलतः कई बुराइयाँ प्रगट होती हैं। अतः श्रावक श्राविका जब से चेते, उसी समय से स्वेच्छा से यह चतुर्थ व्रत अंगीकार करें तो समाज का स्वास्थ्य बना रहता है एवं धर्म - आराधना में उन्नति होती रहती है। अतः इसके योग्य नियम धारण करके व्रत का सविशेष पालन करना चाहिये।

५. स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत :

पाँचवें व्रत में श्रावक के लिये परिग्रहों की मर्यादा करना आवश्यक है। श्रावक यह जानता है कि जितना यह (जड़) परिग्रह बढ़ता है वैसे - वैसे उसकी आत्म साधना में बाधा पड़ती है क्योंकि मानव जीवन के अमूल्य क्षण उसके पीछे व्यर्थ जाते हैं और आयुष्य पूर्ण होने पर उसमें से कुछ भी साथ नहीं चलने का है। अधिक (अनावश्यक) परिग्रह एक जगह इकट्ठा होने से दूसरे उससे वंचित रहते हैं और चोरी, लूट, डाका और हिंसा आदि फैलते हैं।

इस व्रत की प्रतिज्ञा इस प्रकार होती है :—

द्रव्य से : निम्नः पाँच प्रकार के और विस्तार से नव प्रकार के जो परिग्रह कहे जाते हैं, उनको रखने की मर्यादा करने की प्रतिज्ञा है :—

१. (१) खुली जमीन - खेत, बाग बगीचे आदि।
   (२) ढंकी हुई जमीन - घर - दुकान, मकान, बाड़े आदि।
२. (३) चाँदी और चाँदी के सामान।
   (४) सोना और सोने के सामान।
३. (५) धन - पैसा - रत्न - जवाहिरात आदि।
   (६) धान्य — सभी प्रकार के अनाज।

मुखिया ने कहा :—" जिसकी कसम खानी हो, खाकर मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि आप जैसा चाहते हैं वैसा होगा।"

" और कभी किसी ने तुम्हारा भी नहीं माना और कोई हरकत की तो?"

" उसका न्याय पंच करेंगे। दो आपके, दो हमारे आदमी पंचायत में रहेंगे और अलग सरपंच के रूप में आपके बेटे रिडमलजी रहेंगे। यदि वह पंच को नहीं मानेगा तो हम उसको बिरादरी से बाहर करेंगे; हुक्का - पानी और रोटी - बेटी का व्यवहार सभी बंद करेंगे!" मुखिया ने कहा।

फिर मुखिया ने थोड़ा सा लूण (नमक) मंगा कर महेताजी के हाथ से खाया और अपने साथियों को खिला कर कहा :—" इस नमक की हमें सोगंद है!"

नमक की सोगंद उन दिनों में बड़ी महत्व की गिनी जाती थी। महेताजी को संतोष हुआ। उन्होंने तैयारियाँ कराना शुरू कर दिया। किन्तु रह - रह कर उनका मन विनयदेवी को भेजने को नहीं मानता था। रिडमल से विनयदेवी ने यह बात सुनी थी और उसने महेताजी को महिमादेवी के द्वारा कहलाया :—" स्त्री का स्थान तो पति के साथ है....जब औरों की औरतें जा रही हैं फिर मुझे क्यों रोक रहे हैं?"

महेताजी ने कहलवाया :—" वहु! तुम पराये घर की हो। रिडमल को कुछ हुआ तो हम समझ सकते हैं, तुम्हें कुछ हुआ तो तुम्हारे घरवालों को क्या जवाब देंगे?"

विनयदेवी ने कहा :—" अब मेरा तो यही घर है। विवाह के बाद स्त्री का घर पति का घर होता है! उन्हें कुछ वहाँ हो और मैं यहाँ रहूँ, यह कहाँ तक ठीक है? फिर नये - नये कामकाज में उन्हें रसोई आदि भी सम्हालना और दुकान चलाना कितना कठिन होगा? अतः मेरा उनके साथ रहना ही आवश्यक है?"

तब महेताजी मान गये!

*　　*　　*

प्रगति करते रहने की मर्यादा बांधी गई है। मर्यादा ले लेना — पच्चक्खाण कर लेना एक बात है; किन्तु उसके लायक बनने के लिए श्रावकों को विशेष बातों की ओर ध्यान देना पड़ता है। ऐसे व्रत पच्चक्खाण जिनसे श्रावक धर्म के अणुव्रत का पालन हो सके, श्रावक गुण की वृद्धि हो उन व्रतों को गुण व्रत कहा गया है। ६, ७ और ८ व्रतों में गुण-वृद्धि का मार्ग दर्शन है।

६. दिशि व्रत :

छट्टे व्रत में श्रावकों को अपने आवागमन के क्षेत्र की दिशाओं की मर्यादा करनी पड़ती है। पहले व्रत से लेकर पाँचवें व्रत तक जो छूट रखी गई है उस हद तक का आस्रव भी मर्यादित क्षेत्र के बाहर सेवन नहीं करना चाहिये। उससे उस क्षेत्र के बाहर जाकर पाँच आस्रव, हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का तो त्याग होता ही है; साथ ही मर्यादा बाँधे क्षेत्र में भी व्रत बद्ध होने से कम आस्रव सेवन की ओर जागृति बनी रहती है।

इस व्रत की प्रतिज्ञा इस प्रकार की जाती है :—

द्रव्य से : निम्न: तीन दिशा और विस्तार से छ: दिशाओं में पाँच आस्रव सेवन की मर्यादा करने की प्रतिज्ञा है :—

(१) उंची दिशा — आकाश में उपर जाना, पहाड़ों की उंचाई तक जाने की मर्यादा।

(२) नीची दिशा — नीचे पाताल लोक में, यानी जमीन के अंदर खाई-खदान या महासागर के तले की गहराई तक जाने की मर्यादा।

(३) तिरछी दिशा — यानी पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण में जाने की मर्यादा।

क्षेत्र से : संपूर्ण लोक प्रमाण उपरोक्त दिशा तक की मर्यादा है।

काल से : जीवन पर्यंत तक।

भाव से : एक करण * तीन योग से यानी स्वयं मन - वचन - काया से परिमाण की हुई दिशा में पाँच आस्रव सेवन की मर्यादा है।

* कहीं पर दो करण का भी उल्लेख प्रचलित है।
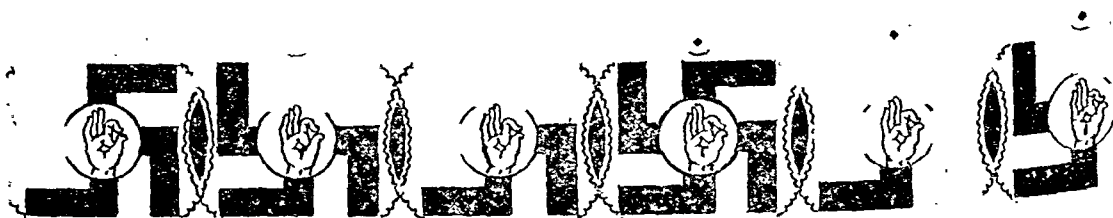
नानणा का नाम सुधरने लगा और वहाँ से जो महाजन डर के कारण गाँव छोड़ कर चले गये थे, वे भी वापस लौटे तो गाँववालों ने कह दिया कि रिडमल की आज्ञा के बिना वे उन्हें नहीं आने देंगे।

वे रिडमलजी के पास गये और रिडमलजी ने उन्हें गाँव में पुनः आने की स्वीकृति दे दी। वे उनको धन्यवाद देकर गये और अपने सामान और परिवार के साथ पुनः नानणा में बस गये।

नानणा के ये सुखद समाचार जानकर महेताजी मोहनदासजी को लगा कि उनका कार्य हालांकि एक साहस था फिर भी वह धर्म कार्य के रूप में सफल हुआ था।

नानणा गाँववालों ने अपने इस उपकार के प्रति अपना कर्तव्य बजाया। गाडियों में सामान भर कर मुखिया आदि पांच - सात व्यक्ति लांबिया गये और उनके पैर छूकर सब बात कह सुनाई। इतना ही नहीं महेताजी को भी नानणा ‡ ले गये। वहाँ का सभी तरह से विकास देख कर महेताजी प्रसन्न होकर लांबिया लौटे।

*　　　　*　　　　*

महेताजी से यह वृत्तांत सुन कर पूज्यश्री ने संतोष के साथ फरमाया :—" सचमुच ही आपने अद्भूत साहस दिखाया है। इस तरह अन्यमति गाँवों में लोगों को अपने अच्छे कार्यों से धर्म प्रभावना होती है और सुश्रावक रिडमलजी धर्म संस्कार औरों में भी डाल रहे हैं यह हर्ष की बात है।"

महेताजी और महिमादेवी ने श्रद्धा से दो हाथ जोड़ शीश झुकाये। मुनिश्री जयमलजी भी इस धर्म प्रभावना से प्रभावित हुए।

पूज्यश्री ने विशेष हर्ष की बात महेताजी को कही :—" मुनिश्री जयमलजी भी अब तैयार हो गये हैं और दिल्ही में राजा महाराजाओं के साथ शाहज़ादे पर भी प्रभाव डाल आये हैं।"

---

‡ आज भी नानणा में लाँबिया के महेताओं के परिवार हैं।
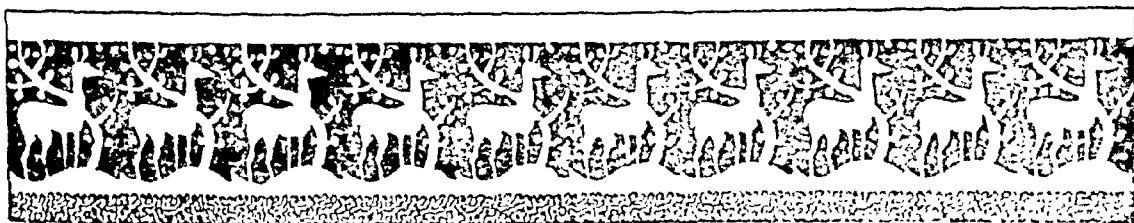
भोगोपभोग के साधनों की प्रतिज्ञा इस प्रकार की जाती है।

द्रव्य से : निम्न: — २६ भोगोपभोग के साधन की जो मर्यादा बाँधी है उसके उपरांत उपभोग परिभोग के त्यागने की प्रतिज्ञा है :— १. अंगोछा २. दतौन ३. स्नान में काम आनेवाले फल ४. मालिश के तेल ५. उबटन पीठी ६. स्नान का जल ७. वस्त्र प्रकार ८. चन्दन-इत्र विलेपन ९. फूल १०. आभूषण ११. धूप-अगर-कपूर १२. पेय-पदार्थ १३. मिष्ठान्न-पकवान १४. रंधे हुए अन्न १५. दाल और कठोल १६. विगय १७. शाग १८. मधुर फल हरे व सूके १९. भोजन-जीमण २०. पीने का पानी २१. मुखवास २२. उपवाहन जूते आदि २३. वाहन २४. शयन साधन २५. सचित्त वस्तुएँ २६. उपरोक्त २५ के सिवाय अन्य जो भी द्रव्य हैं।

क्षेत्र से : दिशि व्रत की सीमायें तक मर्यादित सेवन और उसके बाहर संपूर्ण त्याग का क्षेत्र है।

काल से : जीवन पर्यंत तक की प्रतिज्ञा है।

भाव से : स्वयं मन-वचन-काया से उपरोक्त २६ बोलों की मर्यादा के उपरांत भोग निमित्त से पदार्थों को भोगने का प्रत्याख्यान है।

अतिचार :

१. मर्यादा से अधिक सचित वस्तु का आहार करना।

२. मर्यादा से अधिक सचित से लगी अचित वस्तु का आहार करना।

३. आधा-कच्चा-पक्का यानी जिसमें सचितपना रहा हो वैसा आहार करना।

४. खराब रीत से पकाये गये आहार-भूरता आदि का आहार करना।

५. अल्प खाना और फेंकने का भाग अधिक ऐसे आहार करना।

पर्युषण आये, तपस्याओं का ठाठ रहा। मुनिश्री सूरजमलजी ने बड़ी तपस्या की। उनसे प्रेरित होकर श्रावक-श्रविकाओं में भी तपस्या का ठाठ रहा। उन्हें उसके पूर्व मेडता चातुर्मास में हुई तपस्यायें याद आ रही थीं।

चातुर्मास के दिन धर्म ध्यान आदि में बीतते चले। मेडता को चार वर्ष के बाद पुनः पूज्यश्री आदि संतों के चतुर्मास का लाभ मिला था। यहीं पर मुनिश्री जयमलजी ने दीक्षा ली थी। उस समय सब को पल भर तो लगा था कि क्षणिक भावावश में आकर दीक्षा लेने की उन्होंने तैयारी की होगी किन्तु अब की बार मुनिश्री जयमलजी के सुमधुर प्रवचन और मधुर कंठ से ढाल-सज्झाई सुनकर वे प्रभावित होते थे।

श्रावकों के लिये वे कहते थे कि हर कोई श्रावक नहीं बन सकता मगर जो एक बार दृढ़ श्रावक बने तो हजारों में धर्म-प्रभावना कर सकता है। वे कहते :—

एक लाख उनसठ सहस वीरना श्रावक कहाय।
लाख इग्यारे इगसठ सहस गोशाला ना सुणाय॥

यानी वीर प्रभूके सिर्फ एक लाख उनसठ हजार श्रावक थे और गौशला के ग्यारह लाख इकसठ हजार थे किन्तु मूल्य संख्या का नहीं गुण का होता है।

सर सर कमल न नीपजे, वन वन चंदन न होय।
घर घर संपत्ति न पाइये, जन-जन पंडित न होय॥
हीरां की हूँडी नहीं, नहीं सूरां का ग्राम।
सिंहा का टोळा नहीं, साध नहीं ठाम ठाम॥
सहु राजा न्यायी नहीं, कोई एक राखे मरजाद।
सुगंध नहीं सहू फूल में, फल फल और सवाद॥

वे कुल से अपने आप को जो जैन मानते थे उनको बड़े ही मार्मिक ढंग से कहते थे :—

समकितवंत कहिये घणा, मरम जाणे छे कोई।
कुल, रूढि झुरसी पछे, लोह वाणिया जोय॥
कुल जैनी कोडां हता, साधांने मांने न कोय।
खोड काढे वर्तमान में, समकित किणविध होय॥

क्षेत्र से : सम्पूर्ण लोक में त्याग की प्रतिज्ञा है।

काल से : जीवन पर्यंत तक यह प्रतिज्ञा है।

भाव से : स्वयं मन-वचन-काया से उपरोक्त पन्द्रह कर्मादान-रूपकी व्यापार को नहीं करने की मर्यादा है।

पन्द्रह कर्मादान, सिर्फ हिंसा, अनीति और अनाचार फैलाने में सहायक होते हैं और ये कर्मों के आने के व्यापार कहे गये हैं। उनका सम्पूर्ण त्याग करना ही श्रावक जीवन की शोभा है।

व्यवहार और निश्चय :

एक बार भोगने की वस्तुएँ जैसे भोजन आदि और बार-बार उपभोग में आने की वस्तुएँ वस्त्र आदि का परिमाण करना और कम से कम द्रव्यों से चलाना सीखना और अन्य का त्याग करना व्यवहार से उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। व्यवहार में तो आत्मा ही यह सब कुछ करती है ऐसा दिखता है; किन्तु निश्चय से कर्ता और फलदाता कर्म ही है। आत्मा ऐसे कर्मों को बार-बार ग्रहण न करे और कर्म बन्धन के कारण आत्म स्वभाव उन्नत नहीं होता। अतः वह अनावश्यक कर्मों को त्यागे यही भाव निश्चय से भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

कर्मादान तो व्यवहार से त्यागने योग्य ही हैं और निश्चय से हिंसक क्रियाओं के व्यापार को धीरे-धीरे त्यागना भी आवश्यक है।

(८) अनर्थदंड विरमण व्रत :

श्रावक को आठवें व्रत में अनर्थदंड-निरर्थक आस्रव सेवन से अलग होने के लिये प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। गृहस्थ-धर्म निभाने के लिये आवश्यक ऐसे आस्रव सेवन तो श्रावक को करना पड़ता है; किन्तु जहाँ वह निरर्थक कर्मदंड का भागी बनता है वहाँ उसे सावधानी रखनी चाहिये। इसे एक प्रकार से आत्म-हिंसा भी कही जाती है। अन्य की हिंसा के प्रति सजग श्रावक को आत्म-हिंसा का विवेक रखना चाहिये। सकारण, अर्थदंड में श्रावक

३४

जय-श्रावक व्रत दिग्दर्शन

मेड़ता में धर्म ध्यान और तप - दान के ठाठ लगा कर, अनेक जीवों में सच्चे ज्ञान की ज्योति जगा कर संतों का विहार आसपास के क्षेत्रों में होता रहा। जोधपुर नरेश अभयसिंहजी ने दिल्ही में और पुनः मेड़ता में आकर भी जोधपुर को चातुर्मास का लाभ देने की विनति की थी। वैसे तो श्री रघुनाथजी म. सा. आदि संतों ने धर्म प्रभावना कराई थी, फिर भी पूज्यश्री के चातुर्मास की चातक की तरह राह देख रहे थे। पूज्यश्री एवं संतों को मिले भी बहुत वर्ष हो चूके थे। अतः स्वाभाविक था कि संत आपस में मिलें। धर्म प्रचार के जो नये अनुभव हुए हों उनके आधार पर क्षेत्र स्पर्शना आदि का भी विचार विमर्श करने के लिये भी परस्पर संत - मिलन आवश्यक था। अतः चातुर्मास बाद संत सभी मेड़ता में मिले यह तय हुआ।

मेड़ता में नागौर और जोधपुर दोनो के श्रीसंघों की ओर से अगले चातुर्मास के लिये आग्रह किया गया था। जोधपुर नरेश का भी दिल्ही से सविशेष आग्रह जोधपुर पधारने के लिये था। पूज्यश्री ने पुद्‌गल स्पर्शना के अनुसार करने का कहा था। दीवान रतनशी भी खास आग्रह कर गये थे।

जोधपुर में मुनिश्री रघुनाथजी म. सा. ने भी विशेष धर्म प्रचार किया था और पूज्यश्री मेड़ता आये हैं तो चातुर्मास पूर्ण होते ही उन्होंने शीघ्र विहार मेड़ता की ओर किया। पूज्यश्री आदि संत गण मेड़ता के आसपास के गाँवों में होते हुए नागौर तक विचरण करके वापस मेड़ता आये। उधर जोधपुर से मुनिश्री रुघनाथजी म. आदि संत भी मेड़ता पहोंचे और संतों के मिलन से धर्म का मेला लगा हो वैसा आनंद छा गया।

मुनिश्री नारायणदासजी म. सा. ने थोड़े दिनों के सहवास से जान लिया कि मुनिश्री जयमलजी अब अपने आप विकास करते जा रहे हैं। फिर भी अति विनम्र होकर मुनिश्री जयमलजी ने अपनी नई काव्य रचनायें आदि उनके दिग्दर्शन के लिये प्रस्तुत कीं।

अतिचार :

१. काम विकार उत्पन्न करने की कथायें करना।

२. भांड - विदूषक जैसी भोंडी (अश्लील) हँसी मज़ाक करना।

३. निरर्थक बकवाद गपशप हाँकना।

४. हिंसक, शस्त्र, अधिकरण इकट्ठे करना, बनाना।

५. उपभोग - परिभोग के साधन अधिक जुटाना।

व्यवहार - निश्चय :

बिना प्रयोजन पाप कर्मों में आत्मा को नहीं लगाना यह व्यवहार में अनर्थ दंड विरमण व्रत है। जैसे कोई चुपके से वृक्ष के पत्तों को तोड़ता है, या हिंसा जगाने की बात करता है तो उससे निष्प्रयोजन ही आत्मा कर्म दंड का भागी बनती है। निश्चय से मिथ्यात्व प्रमाद अविरति, कषाय और अशुभ योग से अज्ञान के कारण जीव लिप्त रहता है, उससे उसको बचाना निश्चय से अनर्थ दंड विरमण व्रत है। अपवाद को छोड़ कर (आठ आगार) बन सके वहाँ तक धर्मज्ञ, विवेकी - विचारक श्रावक के लिये तो अनर्थदंड से बचना ही श्रेयस्कर है।

शिक्षा व्रतों का प्रयोजन :

अणुव्रत ले लेने पर और गुणव्रत धारण करके भी श्रावक जीवन, जब तक उसे नित्य - नियम के धर्माचारण के शिक्षण के ढांचे में नहीं ढलता, तब तक कहीं न कहीं कोई चूक हो जाना अवश्यंभावी है। इसलिये आत्म प्रशिक्षण के रूप में चार शिक्षा व्रतों के रूप में ९, १०, ११ और १२ व्रतों का विधान किया गया है।

(९) सामायिक व्रत :

नवमा व्रत प्रथम शिक्षा व्रत है और उसमें श्रावक से यह आशा की गई है कि वह प्रतिदिन सामायिक - समता भाव धारण करे। जीवन के चौवीस घंटे अपने व्यापार या

३४

जय-श्रावक व्रत दिग्दर्शन

मेड़ता में धर्म ध्यान और तप - दान के ठाठ लगा कर, अनेक जीवों में सच्चे ज्ञान की ज्योति जगा कर संतों का विहार आसपास के क्षेत्रों में होता रहा। जोधपुर नरेश अभयसिंहजी ने दिल्ही में और पुनः मेड़ता में आकर भी जोधपुर को चातुर्मास का लाभ देने की विनति की थी। वैसे तो श्री रघुनाथजी म. सा. आदि संतों ने धर्म प्रभावना कराई थी, फिर भी पूज्यश्री के चातुर्मास की चातक की तरह राह देख रहे थे। पूज्यश्री एवं संतों को मिले भी बहुत वर्ष हो चूके थे। अतः स्वाभाविक था कि संत आपस में मिलें। धर्म प्रचार के जो नये अनुभव हुए हों उनके आधार पर क्षेत्र स्पर्शना आदि का भी विचार विमर्श करने के लिये भी परस्पर संत - मिलन आवश्यक था। अतः चातुर्मास बाद संत सभी मेड़ता में मिले यह तय हुआ।

मेड़ता में नागौर और जोधपुर दोनो के श्रीसंघों की ओर से अगले चातुर्मास के लिये आग्रह किया गया था। जोधपुर नरेश का भी दिल्ही से सविशेष आग्रह जोधपुर पधारने के लिये था। पूज्यश्री ने पुद्‌गल स्पर्शना के अनुसार करने का कहा था। दीवान रतनशी भी खास आग्रह कर गये थे।

जोधपुर में मुनिश्री रघुनाथजी म. सा. ने भी विशेष धर्म प्रचार किया था और पूज्यश्री मेड़ता आये हैं तो चातुर्मास पूर्ण होते ही उन्होंने शीघ्र विहार मेड़ता की ओर किया। पूज्यश्री आदि संत गण मेड़ता के आसपास के गाँवों में होते हुए नागौर तक विचरण करके वापस मेड़ता आये। उधर जोधपुर से मुनिश्री रुघनाथजी म. आदि संत भी मेड़ता पहोंचे और संतों के मिलन से धर्म का मेला लगा हो वैसा आनंद छा गया।

मुनिश्री नारायणदासजी म. सा. ने थोड़े दिनों के सहवास से जान लिया कि मुनिश्री जयमलजी अब अपने आप विकास करते जा रहे हैं। फिर भी अति विनम्र होकर मुनिश्री जयमलजी ने अपनी नई काव्य रचनायें आदि उनके दिग्दर्शन के लिये प्रस्तुत कीं।

अतिचार :

(१) मन योग अशुभ प्रवर्ताया हो।
(२) वचन योग अशुभ प्रवर्ताया हो।
(३) काया योग अशुभ प्रवर्ताई हो।
(४) सामायिक की स्मृति न की हो।
(५) पूर्ण हुए विना सामायिक पाली हो।

व्यवहार और निश्चय :

मन, वचन और काया के आरम्भों को छोड़ कर, उनके ३२ दोषों को निवारण कर एकांत में नियम लेकर अरिहंत सिद्धों की स्तुति शास्त्र पठन, ध्यान, जाप आदि आराधना से समभाव रखना व्यवहार से सामायिक है और सर्व जीवों की सत्ता समान मान कर, जीवों के साथ समभाव रखना, निश्चय सामायिक है।

(१०) देसावसागिक व्रत :

दशवें व्रत में श्रावक को एक दिन रात या इसी तरह और भी दिन-रात के लिये दिशाओं की मर्यादा और भोगापभोग के साधनों की मर्यादा करनी पड़ती है। छट्ठे और सातवें व्रत में दिशा और भोगोपभोग की मर्यादा को और भी संक्षिप्त करके प्रति दिन चाहिये उतनी सीमा बांधना और उस सीमा में मर्यादित द्रव्यों का सेवन करने के लिये कहा गया है। सामान्यतः १४ नियम को धारण करना, दया करना (११, १३, १५ या अधिक सामायिक करना) आदि बातें इसमें आती है। इसमें दसवें व्रत से पौषध का समावेश होता है।

इसकी प्रतिज्ञा इस प्रकार की जाती है :—

द्रव्य से : प्रभात के प्रारंभ से (१) छः दिशाओं की जितनी मर्यादा है उसके आगे जाने का तथा दूसरों को भेजने का और पांच आस्रव सेवन का पच्चक्खाण है।

(२) भोगोपभोग में १४ द्रव्यों की धारणा के उपरांत उपभोग परिभोग का पच्चक्खाण है।

नानणा गांव के मुखिया ने रिडमलजी के बदले उत्तर दिया :— "हमें तो इनने मिनख बना दिया। चोर-लुटेरे गिने जाते थे। अनाज भी कोई नहीं देता था, आज इनके कारण अपने पसीने की रोटी मिलती है। आबरू बनी है!"

मुनिश्री जयमलजी बोले :—"अब हमेशा आबरूदार बने रहना है या....!"

"नहीं बापजी! अब कभी चोरी-डाका का नाम नहीं लेंगे....!" मुखिया ने कहा।

रिडमलजी ने हाथ जोड़ कर कहा :—"बापजी! ये तो सारे धर्म लेने आये हैं। ये चोरी-डाका तो करेंगे नहीं; साथ ही सभी व्यसन, मांस खाना भी छोड़ेंगे!"

मुखिया ने कहा :—"हाँ, बापजी! आप हमें सोगन्द दिला देवें!"

पूज्यश्री ने और मुनिश्री जयमलजी ने चोरी लूँट-पाट एवं मांसाहार आदि दुर्गुणों पर संक्षेप में मगर सचोट उन्हें समझाया और उन सभी ने पूज्यश्री के आगे हाथ जोड़े।

पूज्यश्री ने उन्हें यथा योग्य शक्ति अनुसार पालने के निमित्त उनके पच्चक्खाण दिलाये। वे सभी लोग जितने दिन रहे व्याख्यान सुनते रहे। उनके सम्बन्ध में जब श्रीसंघ के लोगों को पता चला तो सभी प्रशंसा करने लगे।

ऐसा लगता था कि उनकी अर्जुनमाली सी पापी आत्मायें, सेठ सुदर्शन जैसे रिडमलजी का स्पर्श पाकर और पूज्यश्री जैसे प्रभु महावीर स्वामी के पास आकर धर्म-मार्ग की ओर अग्रसर हो रही थीं।

नानणा गाँव के मुखिया और अन्य लोग तो पूज्यश्री आदि संतों के चरणों में बारंबार माथा टेकते थकते नहीं थे। सभी के लिये यह धर्म प्रचार आनंद का विषय था।

* * *

हरिपुर-जैतारण से पाली होते हुए संतगण जोधपुर की ओर आगे चले। उनके जोधपुर के पास पहोंचने के समाचार जोधपुर नरेश के पास पहोंच रहे थे।

करने के साथ जीवरक्षा करने पर भी ज़ोर दिया गया है। इसकी प्रतिज्ञा इस प्रकार होती है :—

द्रव्य से : त्रस जीव, बेइन्द्रिय, तीरिन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में निरपराधी को मारने का पच्चक्खाण है और स्थावर जीवों की भी हिंसा की निश्चित मर्यादा है।

क्षेत्र से : (छट्ठे व्रत में जो दिशा-मर्यादा करूँगा) उस क्षेत्र तक हिंसा न करने की प्रतिज्ञा है।

काल से : जीवन पर्यंत तक।

भाव से : उपयोग सहित दो करण, तीन योग, यानी मन, वचन, काया से हिंसा स्वयं करना नहीं और दूसरों से करवाना नहीं।

अतिचार :

१. किसी जीव को निर्दयता से गाढ़ा बन्धन बांधना।

२. निर्दयता से किसी का वध करना।

३. अंगोपांग और चमड़ी का छेद करना।

४. किसी जीव पर, मानव या पशु पर अधिक भार लादना।

५. आहार, पानी का विच्छेद कराना।

श्रावक को पहले व्रत में उपरोक्त प्रतिज्ञा के अनुसार अपने नियम बना लेने चाहिये और इन अतिचारों से दूर रहना चाहिये। आगार आदि रखें हो तो उनकी अत्यधिक आवश्यकता होने पर ही उपयोग करना चाहिये।

व्यवहार और निश्चय :

व्यवहार में तो दूसरे जीवों की आत्मा को अपने समान समझ कर, उनको दुःख न देना, उनको न मारना और और रक्षा करना अहिंसा व्रत है। किन्तु निश्चय में तो अपनी आत्मा कर्म बन्धन से दुःखी हो रही है ऐसा जान कर उसे कर्म बन्धन से छुड़ाना

३. स्त्री-पुरुष के मार्मिक भेद प्रकाशित नहीं करने चाहिये।

४. झूठा उपदेश-सलाह नहीं देनी चाहिये।

५. खोटे लेख (जाली बहीं दस्तावेज) नहीं करने चाहिये।

व्यवहार-निश्चय :

व्यवहार में तो उपरोक्त प्रकार से असत्य का त्याग करना उसके पालने के नियम धारना और अतिचार दोष से बचना चाहिये। आगार-छूट का उपयोग अनिवार्य आवश्यकता बिना नहीं करना यही स्थूल मृषावाद विरमण व्रत है। आत्मा ही सत्य है और शरीर पुद्गल है और बाह्य पुद्गलिक वस्तुएँ भी जड असत्य हैं ऐसा जान कर जीव को अजीव कहना, सूत्र सिद्धांतों के एकांत या जड साधना के योग्य अर्थ कहना — इन सब से बचना, निश्चय मृषावाद विरमण व्रत है। श्रावक को ऐसा जान कर जड संपत्ति के असत्य से दूर जाकर आत्मा रूपी सत्य की साधना करनी चाहिये।

३. स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत :

तीसरे व्रत में श्रावक को किसी की नहीं दी हुई वस्तु नहीं लेनी चाहिये; या चोरी करनी न चाहिये एवं अन्यों से भी वह कर्म नहीं करवाना चाहिये। असत्य से अविश्वास पैदा होता है तो चोरी से अनैतिकता फैलती है। उसकी प्रतिज्ञा इस प्रकार होती है :—

द्रव्य से : निम्नोक्त पांच बातें जो अदत्तादान हैं, यानी चोरी है वह स्वयं नहीं करना और अन्य से नहीं करवाने की प्रतिज्ञा है जिससे राज्य-पंच या समाज के आगे अपमानित न होना पड़े।

१. मकान में सेंध-खात लगा कर चोरी करना।

२. गाँठे खोल कर चोरी करना।

३. ताला तोड़ कर, कुंजी लगा कर खोल कर चोरी करना।

४. मार्ग में किसी को लूटना।

५. बिना मालिक की जानकारी के कोई गिरी हुई वस्तु अपनी बना लेना।

३५
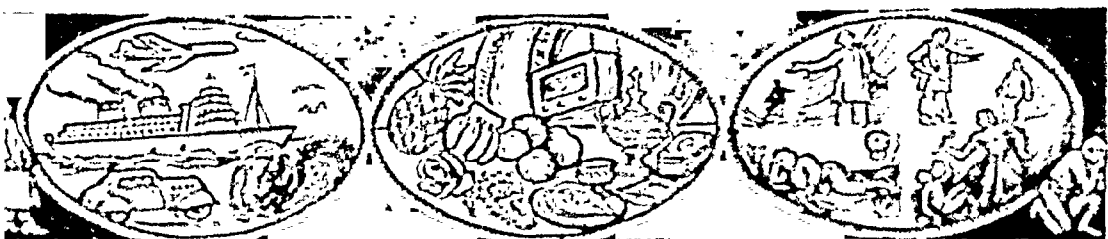
जय - सूरजमुनि कालधर्म
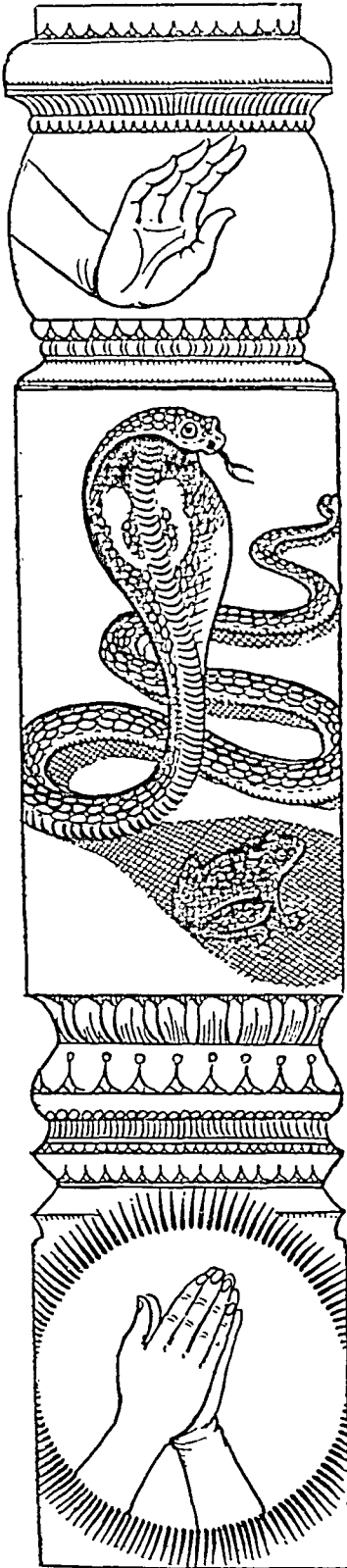
जोधपुर का चातुर्मास बहुत ही ठाठ - माठ से हुआ। कई लोगों ने व्रत पच्चक्खाण लिये। और आदि सन्तों ने चातुर्मास पूर्ण होते ही विहार अगला चातुर्मास नागौर में था। * रियाँ, पीपाड़, होते हुए नागौर जाना था। नागौर में यतियों का ज़ोर था। जब से मुनिश्री जयमलजी ने पीपा पोतियाबन्दों का मुँह बन्द कर दिया था तब से इन के पदार्पण के साथ कुमति गण चुप हो जाते थे। सन्त सभी पीपाड़ में मिले। कुछ सन्त पूज्यश्री के हो लिये। मुनिश्री जयमलजी के शिष्य सूरजमलजी म० र का उग्र तप चल रहा था; अतः तय रहा कि वे मुनि रघुनाथजी म० सा० के साथ रहें — क्योंकि उनका अग चतुर्मास पीपाड़ में होनेवाला था। यह मुनि सम्मेल धर्म - मेला हो वैसा लगता था।

संवत् १७९४ का चातुर्मास नागौर हुआ।

नागौर चातुर्मास में कुछेक सज्जन राजस्थान की सीमा के पास जैसलमर से संतों के प्रवचन - दर्शन - वन्दन का लाभ लेने आये। वहाँ पर पूज्यश्री और मुनिश्री जयमलजी म० सा० के व्याख्यानों का ठाठ देख कर उनके

---

* रियाँ (सेठोंवाली) के मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० का वैराग्य और दीक्षा का प्रकरण स्वतन्त्र है।

जीवन को बिगाड़ देता है। परस्त्री गमन या व्यभिचार को भयंकर दुर्व्यसन माना गया है। अत: श्रावक को उससे दूर ही रहना चाहिये।

इसकी प्रतिज्ञा इस प्रकार होती है :—

द्रव्य से : निम्नोक्त बातें जो कि स्वदारा सिवाय मैथुन-सेवन में आती हैं उसे निम्न: प्रकार से त्यागने की प्रतिज्ञा है :—

१. देव-देवी के संबंध में मन-वचन काया से मैथुन सेवन करना और करवाना।

२. मनुष्य और तिर्यंच के संबंध में काया से सेवन करना।

क्षेत्र से : मर्यादित क्षेत्र में नियमानुसार स्वदारा संतोष और परदारा विवर्जन और मर्यादा क्षेत्र से बाहर सर्वथा मैथुन त्याग की प्रतिज्ञा है।

काल से : जीवन पर्यंत तक प्रतिज्ञा है।

भाव से : देव-देवी संबंध में दो करण तीन योग से त्यागने की प्रतिज्ञा है।

अतिचार :

१. अल्प वय के (अवयस्क) लग्न किये वर-वधु का सेवन (मैथुन) करना।[1]

२. सगाई किये हुए समय मैथुन करना।[2]

३. स्पर्श आदि से अंग-अनंग सेवन (मैथुन) करना।

४. पराया का विवाह नाता कराना।[3]

५. काम भोग की तीव्र अभिलाषा करना।

व्यवहार और निश्चय :

व्यवहार से परिणित दंपति के लिये अपनी स्त्री और पुरुष को छोड़ अन्य से मैथुन सेवन करना व्यवहार से मैथुन विरमण व्रत है; किन्तु निश्चय से पराये जड विषय-तृष्णा का त्याग करना और ज्ञान दर्शन चरित्र रूप आत्म भाव में संतोष करना मैथुन-विरमण कहलाता है।

1. "इत्वरिक" यानी अल्प काल के लिये रखी हुई स्त्री से सेवन करना ऐसा भी अर्थ प्रचलित है।
2. जिसका परिग्रह (ब्याह) नहीं हुआ हो ऐसी स्त्री को सेवन करना ऐसा अर्थ भी प्रचलित है।
3. अन्य के विवाह के बीच स्वयं का विवाह कर लेना ऐसा भी अर्थ होता है।

आगन्तुक गण सन्तोष के साथ वहाँ से वापस लौटा। पूज्यश्री ने मुनिश्री जयमलजी को आनेवाली विपत्तियों को समझाया; मगर उनका उत्साह देख कर योग्य विचारणा करके कहने के लिये कहा।

नागौर चौमासे में पर्यूषण उतरने के बाद पीपाड़ से कुछ श्रावक आये।

वहाँ पर श्री रघुनाथजी म० सा० का चातुर्मास था। उन्हें बड़ी तपस्या चल रही थी; किन्तु साथ-साथ तपस्वी मुनिश्री सूरजमलजी म० सा० ने तप प्रारम्भ किया। २७ दिन की तपस्या ० थोक में की थी। तदुपरांत बरसात का परिषह सन्तों को २२ दिन का रहा और बाईस बाईस दिन सन्तों का लंघन रहा; अतः सेवा के लिये किसी सन्त की आवश्यकता थी। पूज्यश्री ने श्री जेतसीजी म० को पीपाड़ जाने की आज्ञा दी; तदनुसार वे विहार कर पीपाड़ पहोंचे। वहाँ सन्तों की शारीरिक स्थिति बहुत ही दुर्बल हो गई थी। मुनिश्री रघुनाथजी म० सा० का उग्र तप चल रहा था। तपस्वी सूरजमलजी म० सा० का भी शरीर तप के कारण कृश होता जा रहा था।

वैसे सूरजमलजी म० सा० ने वैसे पीपाड़ चातुर्मास के पूर्व माघ सुद १५ से पाँच वर्ष के लिये विशेष व्रत-तप-पचक्खाण इस प्रकार लिये थे:—

१. शारीरिक स्वस्थता के रहते हुए एक वर्ष में एक सौ अस्सी उपवास करना —यानी सामान्यतः एकांतर उपवास पड़ता था।

२. तेला (तीन उपवास) के उपरांत पारणा हो तो दूध का त्याग।

३. सूके नारियल की गिरी के सिवा मेवा का त्याग।

४. हरे शाक का त्याग।

५. लवंग के सिवाय मुखवास-स्वाद्य (साइमं) का त्याग।

६. मिठाई में गुड़ के उपरांत त्याग। गुड़ के लड्डुओं का भी त्याग। खांडसरी (देशी शक्कर) सकारण लेने का आगार।

४. (७) दो पद - पैर वाले नौकर - चाकर और पंखी (पक्षी)।
(८) चतुष्पद चार पैर वाले पशुओं।

५. (९) सोना चाँदी को छोड़ कर अन्य सभी धातु, राछ रचीला [1] और उपर के परिग्रहों में न आये वे सभी परिग्रह।

क्षेत्र से : समस्त लोक के द्रव्यों की की गई मर्यादा है।

काल से : जीवन पर्यंत तक यह प्रतिज्ञा है।

भाव से : स्वयं मन, वचन, काया से नियमन किये हुए परिग्रहों की मर्यादा है।

अतिचार :

(१) खेत - वस्तु (मकान) आदि की मर्यादा का उलंघन करना। [2]
(२) सोना - चांदी की मर्यादा का उलंघन करना।
(३) धन - धान्य की मर्यादा का उलंघन करना।
(४) दुपद - चौपद की मर्यादा का उलंघन करना।
(५) अन्य धातु एवं अन्य सभी परिग्रह की मर्यादा का उलंघन करना।

व्यवहार और निश्चय :

उपरोक्त प्रकार से इच्छा और आवश्यकता से अधिक परिग्रह का त्याग करना व्यवहार में परिग्रह परिमाण व्रत है और निश्चय में ज्ञानावरणीय आदि कर्म और मोह एवं कषाय को जड - पराया परिग्रह जान कर उसकी ममता को त्याग करना निश्चय परिग्रह परिमाण व्रत है। सुश्रावक धीरे - धीरे अत्यधिक अल्प परिग्रह, यानी खाने के द्रव्यों को भी नित्य परिमाण करता है और मूर्छा से दूर होता है।

अणुव्रत और गुणव्रत :

ये पाँच अणुव्रत कहलाते हैं क्योंकि साधुओं के लिये उन व्रतों में संपूर्ण त्याग करना आवश्यक होता है तब गृहस्थों के लिये क्रमशः त्याग की भूमिका बना कर अपनी

1. आधुनिक अंग्रेजी शब्द फर्नीचर
2. मर्यादा उलंघन में एक की मर्यादा कम कर अवसरानुसार दूसरे की बढ़ा देना ऐसा भी अर्थ होता है।

अतिचार :

१. ऊँची दिशा की मर्यादा का उल्लंघन करना ।

२. नीची दिशा की मर्यादा का उल्लंघन करना ।

३. तिरछी दिशा की मर्यादा का उल्लंघन करना ।

४. क्षेत्र परिमाण सुविधानुसार घटाना - बढ़ाना ।

५. सन्देह पड़ जाने पर भी आगे चलना ।

व्यवहार और निश्चय :

सभी दिशाओं के क्षेत्र में गमनागमन करना और शेष क्षेत्र में आस्रव सेवन से मुक्ति यह व्यवहार से दिशि व्रत है । निश्चय से तो जीव जो चार गति में फिरता है उसे कर्म फल जान कर शुभ कर्म करके शुभ - गति में गमन करना और अन्त में मुक्ति को जाने के लिये धर्म उद्यम करना निश्चय से दिशि व्रत हैं ।

(७ - अ) उपभोग परिभोग विधि पच्चक्खाण व्रत :

सातवाँ व्रत दो प्रकार से कहा गया है । एक में तो भोगोपभोग के २६ बोलों की मर्यादा की जाती है और दूसरे में भोगोपभोग बढ़ानेवाले कर्मों से सम्बन्ध बढ़ानेवाले धन्धे जिन्हें १५ प्रकार के कर्मादान बताये हैं उनका सम्पूर्ण त्याग करने के लिये श्रावक से कहा गया है ।

संसार के जड़ पदार्थों में लिप्त होने के कई प्रकार के साधन हैं । इस व्रत में करीब - करीब प्रत्येक दैनिक आवश्यकता की, स्नान - दंतधावन से शयन तक के सभी साधनों और अन्य द्रव्यों की मर्यादा का समावेश होता है । इस मर्यादा बन्धन से कम से कम भोगोपभोग से जीवन का निर्वाह हो यही व्रत का प्रयोजन है । गृहस्थ - जीवन में भोगोपभोग बिना नहीं चलता और एतदर्थ व्यापार - धन्धा भी करना पड़ता है ; किन्तु जीवन निर्वाह के लिये निम्नतम कर्मादानवाले धन्धे तो करने ही नहीं चाहिये ।

कामना व्यक्त की। पीपाड़ से आनेवाले सभी लोग मुनिश्री सूरजमलजी म० सा० का देह दुर्बल होते हुए भी अन्त:काल तक उनकी आत्म स्थिरता की प्रशंसा करते थे।

यों नागौर चातुर्मास पूर्ण होनेवाला था। वहाँ पर कुछ कुमति लोगों ने यह प्रचार शुरू कर दिया :—"पीपाड़ में मुनिश्री जयमलजी ने बहुत से लोगों को अपनी ओर कर लिया था; किन्तु देखिये, सत्य का हमारा प्रभाव कि उसी पीपाड़ में उनको शिष्य गँवाना पड़ा। अर्थात् मुनिश्री सूरजमलजी म० सा० काल - धर्म प्राप्त हुए।"

मुनिश्री जयमलजी ने जब कई बार यह सुना तो उन्होंने एक वाक्य में उनका मुँह बन्द कर दिया कि :—"जैनी लोग तो अहिंसक होते हैं। उसमें तो सन्त गण तो चींटी और एकेन्द्रिय जीवों की विराधना से दूर ही रहते हैं। काल - धर्म पाना मानव के कर्मों का फल है; और किसी के मारे आत्मा नहीं मरती। फिर भी उनको (यति - पोतियाबन्द) यह सन्तोष है कि उनके प्रभाव से ऐसा हुआ तो वे जैन - धर्म के लिये कलंक रूप हैं। धर्म सहित आत्मा न हिंसा करती है, न करवाती है, न करने को भला जानती है।"

इसके बाद नागौर में कुमति लोग बात करना भूल गये।

मुनिश्री जयमलजी कई बार उनसे शास्त्र - चर्चा करने तैयार थे; किन्तु वे पीपाड़ का प्रसंग जानते थे — अत: भूल कर भी चर्चा करने का साहस नहीं करते थे। लोग मुनिश्री जयमलजी म० के प्रवचनों और सुमधुर काव्यों का लाभ लेना नहीं चूकते थे। लोगों की भीड़ हमेशा बढ़ती जाती थी।

जैसलमेर से धर्म प्रेमी श्रावक गण चौमासे में भी आये और मुनिश्री जयमलजी के ओजस्वी प्रवचन सुन कर उन्हें पुन: जैसलमेर पवित्र करने के लिये आग्रह किया। मुनिश्री जैसी गुरुदेव की आज्ञा होगी वैसा होगा उतना ही कहते थे।

इस चातुर्मास के बीच अनेक जीवों ने व्रत त्याग लिये। अजैनों ने भी मद्य - माँस त्याग आदि की प्रतिज्ञायें लीं।

(७-ब) कर्मादान त्याग प्रतिज्ञा :

द्रव्य से : निम्न: पन्द्रह प्रकार के कर्मादान हिंसाकारी और कर्म वर्धक होने से उनके सम्पूर्ण त्याग की प्रतिज्ञा है :—

१. कोयला भट्टी आदि अंगारजनक व्यापार — इंगाल कर्म।

२. वन कटवाने वेचने का व्यापार — वन कर्म।

३. भाडे की चीज़ों को वनाना एवं वस्तु सडा कर वेचने का व्यापार — साडी - कर्म।

४. गाड़ी - घोड़ा आदि रख कर भाड़ा लेने का व्यापार — भाड़ी - कर्म।

५. कुआँ - खदान - तालाव आदि खुदवाने का व्यापार — फोड़ी - कर्म।

६. हाथी दाँत, गेंडा दाँत या हड्डी व रेशम केसर आदि दाँतों का व्यापार।

७. लाख, मोम, सरेश जो कि अनेक जीवों की हिंसा से वनते हैं वैसे लाख आदि का व्यांपार।

८. मादक रस, दारू, ताड़ी आदि का नशे के रस का व्यापार।

९. चमरी गाय, गेंड़ा, घोड़ा एवं दास - दासी (पुत्र - कन्या विक्रय भी इसमें आता है) आदि केश (जीवों के केश सम्बन्धी) का व्यापार।

१०. ज़हर, अफीम, संखिया आदि सभी प्रकार के विष का व्यापार।

११. यन्त्र, कल, कारखाने कोल्हु चक्की आदि चलाने का यन्त्र पीलन कर्म।

१२. वेल आदि को खसी (नपुंसक) करने का निलंछण कर्म।

१३. जंगल, गाँव, गोदाम मकान आदि में आग लगाने का दावाग्नि कर्म।

१४. तालाव आदि जलाशयों को सुखाने का कर्म सरदहतलाय परिसोसणया कर्म है।

१५. वेश्या, दुश्चरित्र स्त्री - पुरुष, शिकारी, पशु, पक्षी आदि का पोषण करना असतीजन पोषण है।

मथाणीया पहुँच कर सन्त गण रास्ते - रास्ते आगे बढ़ रहे थे। उनके पास से ऊँट सवार गुज़रते थे। कई बार ऊँट की गाड़ियाँ भी निकलती थीं। इनको रेती के रास्ते पर पैदल विहार करते देख कोई - कोई गाड़ी का मालिक कह बैठता :—“उघाड़े पग (पैर) रेती में चलते थक जायेंगे —— गाड़ी पर बैठ चलो।”

सन्त उनसे कहते :—“हमें यह कल्पता नहीं है!” यह सुन उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था। जब साधु चर्या की बातों का विशेष खुलासा सुनता तो श्रद्धा के साथ वह मस्तक झुका कर आगे बढ़ जाता था।

खीचन में ओसवालों के विशेष घर थे। मगर साधुमार्गीय जैन धर्म के प्रति विशेष जागृति नहीं थी। मुनिश्री के आगमन से लोगों ने सच्चे स्वरूप में धर्म को समझा। उन्होंने जडपूजा और चैतन्य आत्म - पूजा का अंतर समझा और बहुतसों ने तदनुसार सच्ची श्रद्धा का स्वीकार किया।

खीचन से संत गण फलौदी पहुँचे। खीचन और फलौदी के बीच थोडा सा ही अंतर है और खीचन में संतों का प्रभाव वहां पहले ही पड़ चुका था। अतः फलौदी में संतों के आगमन पर लोगों ने बड़ा उत्साह प्रगट किया।

संतों के सच्चे उपदेश आदि से लोग बहुत प्रभावित हुए। मुनिश्री जयमलजी के सुमधुर प्रवचनों में वहां के सभी प्रकार के लोग आते थे। वे समाज के अंध विश्वास और कुरीतियों पर बहुत ही मार्मिक विवेचन करते थे।

“जो जीवित है, मनुष्य है, जीव सृष्टि है, उसकी तो रक्षा दया लोग नहीं करते। रास्ते भरमें जहाँ देखो वहाँ शिला - चबूतरे आदि बने हैं और कहीं - कहीं पर तो उनको सन्तुष्ट करने जीवों का बलिदान भी दिया जाता है।

परंपरा से कई कुरूढियाँ चली आती हैं। मरनेवाला मर जाता है और उसके पीछे उसकी विधवा और लड़कों को कई बार घरबार बेच कर भी मौसर (मृत्यु भोज) करना पड़ता है। कहते हैं कि इससे मृत - आत्मा को शांति पहुँचती है। जो मर गया उसको शांति पहुँचे या
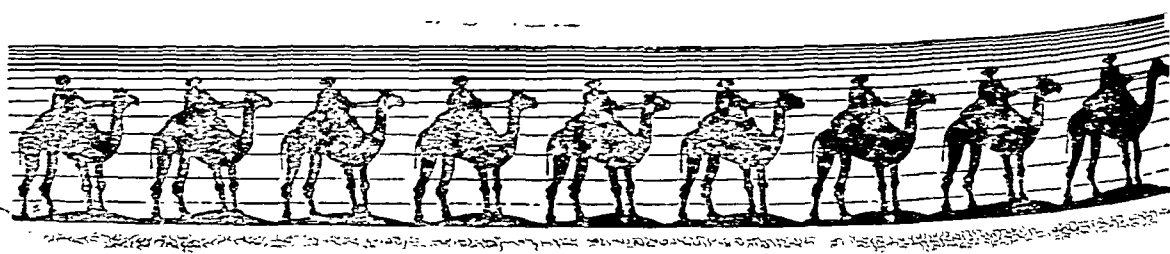
विवेक रखे; किन्तु अनर्थदंड के प्रति पूर्ण रूप से सचेत होकर उसे तो त्यागना ही चाहिये।

इसकी प्रतिज्ञा इस प्रकार होती है :—

द्रव्य से : निम्न: बातें अनर्थदंड में आती हैं; उनके सेवन करने का प्रत्याख्यान है :—

१. (अ) इष्ट वियोग और अनिष्ट योग पर चिंता-शोक-रुदन करना। आर्त ध्यान अप ध्यान है। यह अनर्थदंड है।

(ब) वैर, हिंसा, प्रति हिंसा या भयंकर शोक, हाहाकार, आत्मघात, महा आश्रव सेवन आदि में आनन्द आदि रौद्र ध्यान है। यह भी अनर्थदंड है।

२. मद्य सेवन, निद्राकारण, विकथाकारण, विषयाचरण और कषाय के कारण प्रमाद होता है और प्रमाद आलस्य के कारण अनेक जीवों की हिंसा होती है। बर्तन उघाड़े रह जाते हैं और मद्यपान, विकथा, विषय-कषाय आदि के कारण तो भयंकर त्रस हिंसा भी होती है। यह प्रमादाचरण है।

३. जिनसे जीवों की हिंसा होती हो ऐसे स्फोटक पदार्थों का प्रयोग, तलवार, बन्दूक, शस्त्र आदि इकट्ठे करना एवं दूसरों को देना यह हिंसा प्रयोग — अनर्थदंड है।

४. निरर्थक पाप कर्म का उपदेश देना पाप-कर्मोपदेश अनर्थदंड है।

क्षेत्र से : मर्यादा किये हुए क्षेत्र में उपरोक्त प्रकार से और शेष क्षेत्र में सर्व प्रकार से अनर्थदंड सेवन के त्याग की प्रतिज्ञा है।

काल से : जीवन पर्यंत तक प्रतिज्ञा है।

भाव से : दो करण, तीन योग यानी स्वयं मन-वचन-काया से अनर्थदंड सेवन करना नहीं एवं दूसरों से नहीं करवाने की प्रतिज्ञा है।

रही हैं। जो बुद्धिमान होता है जानकार मनुष्य होता है वह तो इस मृग - जल को जानता लेकिन मृग भूल से उस रेगिस्तान में आ पड़ता है और उसे जल मान कर उसके पीछे ही जाता रहता है और वह जल का भ्रम उसे दूर ही दूर खींचता जाता है। वह दौ थक जाता है — मर जाता है; उसको न जल मिलता है — न प्यास बुझती है।

ज्ञानी कहते हैं कि इसी प्रकार स्वार्थ, भय या लोभ से जब धर्म क्रिया या दे की जाती है तो वह उसी मृग जल के समान है। लोग एक नारियल या थोड़े से प्रसा मान्यता करके अपना लाभ - भला होने की इन देवों से आशा रखते हैं। ऐसा सकता है कि कुछ लौकिक देव थोड़ा बहुत चमत्कार दिखा भी दें; लेकिन इससे शाँति तो नहीं मिलती। सिकंदर ने आधी पृथ्वी पर जीत पा ली थी मगर उसने अपना खाली हाथ निकलवाया। भगवान महावीर स्वामी ऋद्धि सिद्धि के धारक थे; मगर पदार्थों में सुख होता तो वे आत्म कल्याण के मार्ग पर क्यों चलते?

तो, सच्चा सुख कहाँ है?

इस रेगिस्तान के प्रदेश में जल नहीं है ऐसा नहीं है — जैसे इस नगर में (तालाब) है वैसे जीवन के रेगिस्तान में धर्म रूपी जल से भरे देवशास्त्र - संत आदि समान हैं; जिनसे धर्म प्रवचन रूपी जलपान करके तृप्ति होती है। जिनकी उपासना शांति होती है। न उन्हें कौड़ी के लाभ की आशा है, न किसी के प्रति उनके नुकसान करने की भावना है। आत्मा को ऐसा सच्चा सुख बताने रूप देव - धर्म - पुष्करणियाँ होती हैं।

मगर लोग उससे दूर भागते हैं जैसे मृग भटकता रहता है। लोग व्य शिकार, मद्य, मांस, परस्त्री गमन, जुआ आदि में शांति खोजते हैं। उन्हें थोड़ भौतिक तृप्ति का आभास होता होगा; किन्तु निरन्तर कषायों में रमण करने उनकी आत्मा इतनी कलुषित हो जाती है कि उसके लिये तांदुल - मत्स्य जैसे नरक गति रहती है।

शारीरिक सुख भोग या निद्रा आदि में बीत जाते हैं। ऐसे तो पूरा जीवन बीत जायेगा। किन्तु आत्मा के लिये क्या किया जाता है? तो कम से कम एक घंटे के हिसाब से सिर्फ दो क्षण (मिनट) और चौवीस घंटे में ४८ क्षण (मिनट) की दो घडी तो श्रावक को सभी प्रकार के सांसारिक कार्यों से अलिप्त होकर आत्मा के विकास के लिये कुछ न कुछ करना ही चाहिये।

इस व्रत की प्रतिज्ञा इस प्रकार ली जाती है।

द्रव्य से : सर्व प्रकार की पाप क्रियाओं के सेवन के पच्चक्खाण हैं।

क्षेत्र से : सारे लोक की मर्यादा है।

काल से : कम से कम दो घडी (एक सामायिक) और अधिक से अधिक उस हिसाब से जितनी सामायिक हो वहाँ तक।

भाव से : दो करण और तीन योग से, स्वयं मन, वचन, काया से पाप क्रिया का सेवन करूँगा नहीं और अन्य से कराऊँगा नहीं। *

---

* कई लोग आठकोटि से दूसरा प्रत्याख्यान करना चाहिये ऐसा कहते हैं। इसमें पूज्यश्री धर्मसिंहजी म० सा० के अनुयायी (दरियापुरी सम्प्रदाय) और कच्छ में आठकोटि सम्प्रदाय मुख्य हैं। उनका विधान है कि जब सामायिक और पौषध लेते हैं तो अधिक से अधिक कोटि का पालन श्रावक को करना चाहिये; अतः मन और वचन से पापकारी प्रवृत्तियों को अनुमोदन नहीं करना चाहिये। वास्तव में श्रावक को अधिक से अधिक कोटि तक व्रतों का पालन करना चाहिये; किन्तु जहाँ व्रत और प्रतिज्ञा का प्रश्न है कम से कम आवश्यक सावद्य योग त्याग के रूप में छः कोटि का विधान किया गया है।
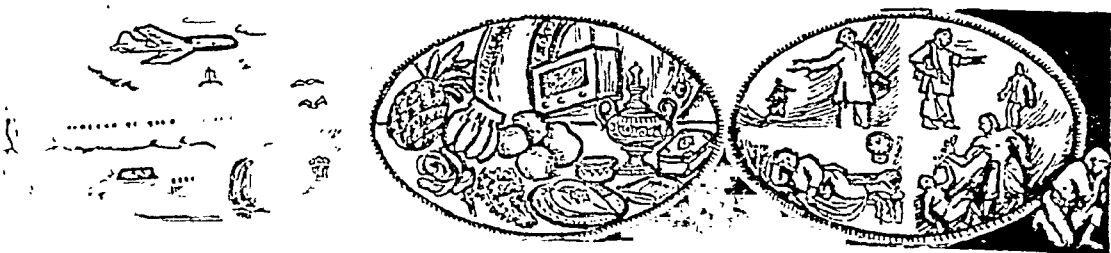
इतना ही नहीं वे संतों के ऐसे भक्त हुए कि उनका परिवार भी संतों के विहार के समय पैदल पहुँचाने गया। मुनिश्री ने उन्हें धर्म मार्ग पर स्थिर रहने के लिये कहा और उन्होंने आगे प्रस्थान किया।

* * *

मुनिश्री जयमलजी जैसलमेर संतों के साथ पहुँचे उसके पहले उनकी कीर्ति वहाँ तक पहुँच गई थी। खीचन, फलौदी पोकरण आदि नगर और रास्ता के अनेक छोटे-मोटे गाँवों में वे सच्चे धर्म का प्रचार करते हुए आगे बढ़ रहे थे। लोगों को उनसे सत्य धर्म का प्रकाश मिलता था और फिर जड़ पूजा और लौकिक देव आदि पर से उनकी श्रद्धा हट कर सच्चे वीतराग देव पर जमती थी।

वैसे संत गणों के लिये साधुचर्या का मार्ग बड़ा ही कठिन था। इस में भी एकांतरे उपवास, पाँच विगय त्याग आदि संतों के व्रत - तप के नियमों से लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ता था।

उस प्रदेश में अनेक प्रकार के झूठे प्रचार से लोगों को भरमाया जाता था और संतों के आगमन के समय लोग भडके से अलग रहते थे; किन्तु ज्यों ही संतों का पदार्पण होता, उनकी साधुचर्या लोगों के ध्यान में आती और मुनिश्री जयमलजी का स्पष्ट धर्म मार्ग का प्रवचन उनके कानों में पड़ता; लोगों की भीड़ धर्म - स्थानकों में बढ़ती जाती थी। फलतः संत जब उस गांव से विहार करते तो लोग पश्चाताप से स्वीकार करते :—"बापजी कुमति से पहले आपके प्रति अश्रद्धा रखी थीं; मगर आपके परिचय से हमारे सभी संशय मिट चुके हैं और आप की जो अशातना हो गई है उसके लिये बार - बार क्षमा चाहते हैं।"

क्षमा श्रमण संतों को तो उसके लिये कब मन में कुछ रहता था? किन्तु उन्हें सन्तोष रहता था कि चलो लोगों में सच्ची धर्म जागृति तो आई है न!

इस प्रकार के विरोध का उत्कट नमूना मुनिश्री आदि सन्तों को जैसलमेर नगर में प्रवेश करते ही मिला था। यहाँ पर विरोधी कुमतियों का ज़ोर था। इसके पूर्व सच्चे साधु मार्गीय सन्त कभी पधारे न थे। मुनिश्री जयमलजी सभी स्थानों पर सत्य धर्म का

क्षेत्र से : मर्यादा बांधी है वहाँ तक।

काल से : एक अहोरात्रि - दिन - रात तक।

भाव से : दिशा की मर्यादा मन, वचन, काया से स्वयं रखने की और रखवाने की है और भोगोपभोग की मर्यादा मन, वचन, काया से स्वयं रखने की है।

अतिचार :

(१) सीमा से बाहर किसी से वस्तु मंगवाना।

(२) नौकर से संदेशा भेजके मंगवाना।

(३) शब्द करके वस्तु मंगवाना।

(४) रूप - आकार बताकर वस्तु मंगवाना।

(५) बाहर कंकड आदि पुद्गल भेज कर वस्तु मंगवाना।

व्यवहार और निश्चय :

सीमित एक स्थान पर बैठकर धर्म ध्यान करना और परिमित द्रव्यों का सेवन करना व्यवहार से देशावकाशिक व्रत है और श्रुत ज्ञान से छः द्रव्यों में पाप को जड जान, आत्मा को ही चेतनमय जान उसका ध्यान करना निश्चय से देशावकाशिक व्रत है।

(११) प्रतिपूर्ण पौषधोपास व्रत :

ग्यारहवें व्रत में श्रवकको यथा शक्ति पौषध करने का विधान है। इस व्रत में श्रावक एक दिन - रात के लिये सर्व सांसारिक इच्छाओं का त्याग करता है और आत्म जागृति की ओर प्रवृति करता है। उसकी प्रतिज्ञा इस प्रकार होती है :—

द्रव्य से : निम्नः प्रकार की सारी सांसारिक वासनाओं का पच्चक्खाण है :—

(१) आहार - पानी खाद्य मुखवास चारों आहार का पच्चक्खाण।

(२) मैथुन सेवन का पच्चक्खाण।

(३) मणि - सुवर्ण - माला आदि आभूषणों का पच्चक्खाण।
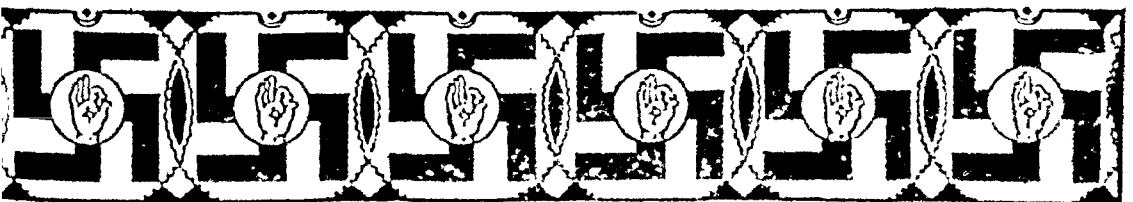
(१२) अतिथि संविभाग व्रत :

बारहवें व्रत में श्रावक को साधु मुनिवरों को सूझता आहार-पानी आदि चौदह प्रकार का दान उत्कृष्ट भाव से देने का विधान है। इस व्रत में संतों के लिये अतिथि शब्द का प्रयोग किया गया है। वास्तव में संत मुनिवर कब पधारें, विहार करें इसकी निश्चित तिथि नहीं रहती। तदुपरांत भी आहार-पानी गोचरी के लिये कब आयें यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः घर-संसार के त्यागी ऐसे परम संत-सती अपने घर पधारें और श्रावक उनको प्रासुक दान देकर धन्य हो इससे श्रेष्ठ जीवन की कौन सी घड़ी हो सकती है?

उसी प्रकार अपने यहाँ स्वधर्मी बन्धु पधारे और अपने यहाँ उनका सप्रेम अतिथि सत्कार हो सके वह भी श्रावक के लिये अहोभाग्य है; क्योंकि वैसे भी श्रावक आहार-पानी, वस्त्र आदि चौदह प्रकार के दान देता हुआ आत्मा को उन्नत करता ही रहता है। फिर संत और स्वधर्मी के आगमन पर आनन्द हो तो उसकी जीवन साधना धन्य हो जायेगी। वैसे दान आदि के उपरांत श्रावक सत्संग, संत-सेवा के लिये भी उत्सुक रहे यह भी इच्छनीय है।

इस व्रत की प्रतिज्ञा तो होती नहीं है; किन्तु भावना रहती है उसे प्रतिज्ञा रूप में इस प्रकार कह सकते हैं :—

द्रव्य से : संत-सतियों के योग मिलने पर निर्दोष प्रासुक दान देने की भावना है सो पूर्ण करें।

क्षेत्र से : सारे लोक में।

काल से : जब भी अवसर मिले।

भाव से : जो श्रद्धा है उसे पूर्ण करूं और कराऊं एवं करने को भला जानूं।

अतिचार :

१. सचित वस्तु को अचित वस्तु में डाली हो।
२. अचित वस्तु को सचित वस्तु से ढांकी हो।

गई। ‡ उन दिनों में वहाँ के भट्टी (भाटिया) नरेशों का आश्रय पाकर सब व्यवस्था पक्की कर दी गई। फिर दो - तीन वर्ष तक लगातार ग्रंथ आते रहे। दुर्लभ ग्रंथ भी सम्हाल के रखे गये। अप्राप्य ग्रंथों के लिये दीवालों में पोल रखकर स्थान बनाया गया। दो लाख से उपर ग्रंथ जैसलमेर के भंडारों में आ गये। वर्षों तक यह बात गुप्त रही किन्तु जैसे - जैसे बहार के आक्रमण बंद हुए और आक्रमणकारी - शासक बनकर (पठान - मुगल) स्थिर हुए कि जैसलमेर की ओर ज्ञान पीपासु संतों का आवागमन होता रहा। कठिन और दुर्गम परिषहों से भरा रास्ता तय करके भी जैन संत वहाँ पहोंचते रहे। विशेष पत्र दिखा कर राजाज्ञा लेकर वे ग्रंथागार से ज्ञान भंडारों को देखते - अध्ययन करते। किन्तु ऐसा भी देखा गया कि कुछ व्यक्ति ग्रंथ पढ़ने की जगह उसे गायब करने लगे तो राजाज्ञा कडक बना की गई।

मुनिश्री जयमलजी को तो राजाज्ञा प्राप्त थी। जब नागौर से चले थे तब उन्होंने सुना था कि वहाँ बड़ा स्थानकवासी लोंकागच्छीय साहित्य लोंकागच्छ के बाद यतियों ने यहाँ आकर छुपाया था। उसके पीछे ऐसी भी भावना हो सकती थी कि उसकी सुरक्षा हो, साथ - साथ ज्यों - ज्यों शिथिलाचार बढ़ता गया - वे सारे प्रमाण ग्रंथों को प्रकाश में न आने दिया जाय ऐसा भी कारण हो सकता था।

जैसलमेर के किले में कई जगह ग्रंथ पडे थे। मगर सब से बड़ा ग्रंथ भंडार वहाँ के पार्श्वनाथ मंदिर के पीछे था। राजाज्ञा होने से उन्हें मंदिर के पीछे आई अंधेरी कोटडी में ले जाया गया। वहाँ नीचे के भोंयरे (तहखाने) में जाने की सीढियां उतर कर खंड जैसी जगह में मुनिश्रों जयमलजी और संत आदि पहोंचे तो उन्होंने देखा कि अनेकानेक ग्रंथ पडे हुए हैं। ज़मीन के अंदर होने पर भी उस तहखाने में प्रकाश और हवा बराबर थे। वहाँ पर अनेकों ग्रंथ सुरक्षित पडे थे। कुछ ताड़पत्र पर थे। किसी - किसी पर अद्भुत चित्रकारी थी। कोई अच्छे कागज़ पर थे। मुनिश्री जयमलजी ने कुछ ग्रंथ खोलकर देखे।

‡ आज तो जैसलमेर के उन ज्ञान भंडारों के ग्रंथों के बारे में कई साहित्यानुशील संत गण प्रयत्न करके संशोधन कर रहे हैं मगर उस समय विशेष व्यवस्था के अनुसार राजाज्ञा के सिवाय कोई वहाँ नहीं जा सकता था।

वे इतने दृढ़ कर सकते हैं तो निर्ग्रंथों को तो सविशेष आचार पालन करके धर्म प्रभावना बढ़ानी चाहिये !"

वैसे श्रावक चूलनी पिताजी की कथा में (माता व पूज्य के प्रतिभाव) उनकी माता ने, श्रावक सूरादेवजी व श्रावक चुल्लशतकजी के प्रसंग में उनकी पत्नी ने आदर्श श्राविका बन कर उनको धर्म में स्थिर कराया और श्रावकजी ने भी विनयपूर्वक उनका उपकार मानते हुए प्रायश्चित किया। यहाँ पर श्राविकायें जिन्हें वीरप्रभु ने तीर्थ बनाया है, वे स्वयं धर्म में स्थिर रह कर अन्य को भी स्थिर करके अपना तीर्थ नाम सार्थक करती हैं।

श्रावकजी को लाभ लोभ या भय से अपने धर्म से डिगना नहीं चाहिये एवं अन्य मत की ओर झुकना नहीं चाहिये। इतना ही नहीं, अपने न्याय युक्त वचनों से अन्य मत को निरुत्तर करना चाहिये इसका आदर्श कुंडकोलिकजी श्रावक ने उपस्थित किया है। उनकी प्रशंसा स्वयं वीरप्रभु ने अपनी परिषद में की और साधु साध्वियों को सम्बोधित कर कहा :—
"हे आर्यों ! जब गृहस्थ श्रावक दृढ़ होकर अर्थ, हेतु, प्रश्नोत्तर द्वारा अन्य मति को निरुत्तर कर सकते हैं तो द्वादशांग के ज्ञाता निग्रंथ और निग्रंथियों को तो अवश्य निरुत्तर कर देना चाहिये।"

एक बार आजीविक मत से जैन मत में दृढ़ होने पर श्रावक श्री शकडालजी गोशालक को किस प्रकार निरुत्तर कर देते हैं और उसके मुँह से ही श्री वीरप्रभु के गुणगान करवाते हैं — ऐसी श्रावक की छाप पड़नी चाहिये।

भगवान महावीर इन दश आदर्श श्रावकों का जीवन उपासकदशा नामक अंग सूत्र में दिया है और सच्चे श्रावक के लिये यदि गृहस्थ वेश में भी आत्म उन्नति करें तो उसे गृहस्थ लिंगे मोक्ष का अधिकार बताया है। प्रत्येक जैन गृहस्थ को भगवान के द्वारा बताये गये श्रावक धर्म को स्वीकार कर शासन और धर्म की प्रभावना बढ़ानी चाहिये।"

●
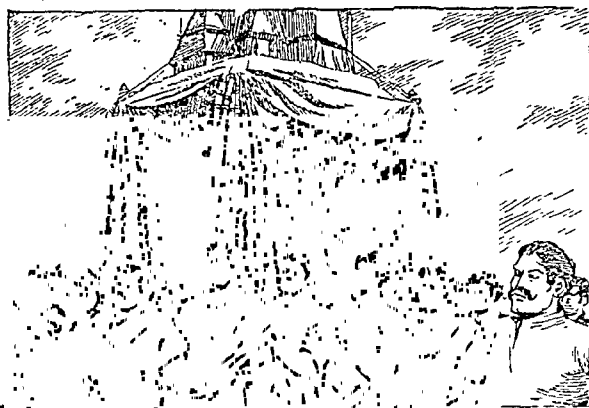
मुख से एक दिन यकायक बात निकल गई :—"आप जैसे विद्वान संत जैसलमेर की ओर पधारें तो बड़ा उपकार हो सकता है!"

जैसलमेर का क्षेत्र एक तो बहुत दूर पड़ता था और वहाँ पर अन्यमतियों का ज़ोर होने से साधुमार्गीय जैन संतों को बहुत सहन करना पड़ता था। अतः संत गण अधिक से अधिक खीचन फलौदी तक जाकर वापस लौट आते थे।

पूज्यश्री ने कहा :—"आप तो जानते ही हैं कि मेरा शरीर तो वृद्ध हो चला है और संतों को उस क्षेत्र में स्पर्शने का काम भी नहीं पड़ा है।"

"आपके संत एक बार उधर पधार जायेंगे तो संतों के विहार के लिये नया क्षेत्र खुल जायेगा और वहाँ पर भी सच्चे धर्म का नाम फैलेगा!" आगन्तुकों ने कहा।

पूज्यश्री ने जैसलमेर के बारे में पहले भी सुन रखा था। मुसलमानी आक्रामकों के आक्रमण अजमेर, सोजत, आबु से अहमदाबाद या पाटण होते हुए सौराष्ट्र, कच्छ, सिंघ की ओर होते थे। जैसलमेर बड़ा सुरक्षित स्थान था; अतः वहाँ बहुत से भंडारों में शास्त्रों को सुरक्षित रखा गया था। इसमें कुछ लोंकाशाह के समय से पहले के भी शास्त्र-ग्रन्थ थे; मगर वहाँ जाने के लिये पूज्यश्री क्या कहें?

मुनिश्री जयमलजी म० भी यह बात जानते थे। वैसे उनमें उत्साह था और अभी तो वे युवक थे। उन्हें उन ज्ञान भंडारों के बारे में जानने की इच्छा भी थी; फिर भी वे गुरु मर्यादा समझ कर चुप रहे।

आगन्तुकों ने कहा :—"बापजी ने कुछ नहीं फरमाया?"

पूज्यश्री ने कहा :—"मुझ में तो अब इतना विहार करने की शक्ति नहीं है; यदि मुनिश्री जयमलजी तैयार हुए तो उन्हें भेजने का विचार करूँगा।"

सभी की दृष्टि मुनिश्री जयमलजी म० पर पड़ी। उन्होंने कहा :—"पूज्य म० सा० की कृपा रही और पुद्गल स्पर्शना अनुकूल रही तो यथावसर देखा जायेगा।"

७. कसार के लड्डू के उपरांत सब तली हुई, धूली हुई वस्तु का त्याग।

८. तेल के अचार (अथाणे) का त्याग।

९. एक समय आहार के सिवाय त्याग; किन्तु छाछ, लवंग, सौंठ आदि सकारण लेने का आगार।

ये नियम गृहस्थ जीवन में धारे हों तो भी पालना बड़ा दुष्कर हो जाता है। उसमें भी साधु अवस्था में जहाँ एक गाँव से दूसरे गाँव विचरण करना पड़ता है; कितनी ही बाधायें, परिषह आते रहते हैं; फिर भी तपस्वी अपने देह को साधकर तप में तपा कर, आत्मा के कर्मों की निर्जरा करके आत्मोन्नति करते रहते हैं; वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

मुनिश्री जेतसीजी म० सा० हालाँकि बहुत से संतों से दीक्षा में बड़े थे; फिर भी सेवा के प्रसंग में उनसे विरल ही आगे आ सकते थे। हँस - मुख स्वभाव, मधुर बातें और बड़े ही आत्म भाव का वर्ताव ही सन्तों के शारीरिक परिषह दूर कर देते थे।

पूज्य भूधरजी म० सा० ने अपने गुरु पूज्यश्री धनाजी म० सा० की परम्परा में अपने सन्तों में प्रारम्भ से ही तप - त्याग की भावना भर रखी थी। मुनिश्री रघुनाथजी म० सा० आदि की वैसी भी उग्र तपस्या होती थी। अन्य सन्त भी एकांतर, बेले तेले आदि सामान्य रूप से करते थे; किन्तु इस बार पीपाड़ में प्रकृति भी सन्तों की परीक्षा करने बैठी हो वैसे २२ दिन तक पानी ऐसे बरसता रहा कि सन्तों को गोचरी का लाभ नहीं मिलता था।

थोड़े से छिंटे रुके के भाविक श्रावक गण सन्तों के पास आते और कहते :— "बापजी, पधारो! मेरा घर पास ही है!"

किन्तु ज्यों ही सन्त गोचरी पधारने को तैयार होते कि फिर बूँदे पड़नी शुरू होतीं। श्रावक गण निराश हो जाते। कई बार तो रात बिल्कुल सूकी जाती, प्रातः मनोहर होता; किन्तु गोचरी के समय सन्तों की कसौटी करने बरसात प्रारम्भ हो जाती।

पीपाड़ के श्रावक गण में से कुछ श्रावकों ने सन्तों के साथ अपने उपवास शुरू कर दिये। जैनों के सिवाय अन्य लोगों ने भी सन्तों की ऐसी परीक्षा होती देख दाँतों तले

उसका यही उत्तर दे सकते हैं, कि "जहाँ आत्म का स्पष्ट स्वरूप समझके सभी आत्माओं की स्वतंत्रता, समानता और सह अस्तित्व को स्वीकार किया हो और साथ ही अपनी आत्मा का विकास आदर्श रूप में माना जाता है तो वह आत्म धर्म है। किन्तु जहाँ आत्मा को शरीर से जोड कर शरीर को ही आत्मा समझ उसके भौतिक सुख साधन के छल प्रपंच में जुट जाने की बात होती हो तो वह आत्म धर्म नहीं है, वह सच्चा धर्म नहीं है।"

आत्म धर्म के नाम पर बहुत सा पाखंड व ढोंग भी संसार में चलता रहता है, और यहीं बडे ही विवेक और सतर्कता की आवश्यकता है। लोग आत्म धर्म की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं और वास्तव में जड़-शरीर के सुख के पीछे दौडते हैं। ऐसे भी बहुत से हैं जो यह कहते हैं कि "शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्" और वे गलत बात का प्रचार करते हैं कि धर्म करने का आदि साधन यह तन है और उसके साथ स्नान-शुचि पर ही जोर देकर इसे धर्म बता कर गलत मार्ग का प्रचार करते हैं।

एक साधु बाबा थे, वेदांत के पारगामी। ब्रह्म के उपर जब आत्मा की विशेषता का विवेचन करने बैठते थे तो श्रोता मुग्ध हो जाते थे। वे कहते थे कि "सारा संसार ब्रह्म है, आत्मा का अंतिम ध्येय ब्रह्म में साकार होने का है इसलिये ॐ ब्रह्म की साधना करके परब्रह्म में लीन होना यही धर्म है।"

उनकी वाणी सुन कर एक शिष्य ने उनके पास दीक्षा ली। शिष्य गुरु के बताये मार्ग पर संध्या-पूजा-साधना उपासना में लीन रहने लगा। किन्तु उसके बाबा सिर्फ उपदेश के उस्ताद थे, चारित्र में वह बहुत ही पीछे थे।

शिष्य ने एक बार देख लिया कि साधु बाबा मंदिर के एकांत में एक स्त्री के साथ दुराचार का सेवन कर रहे थे। पहले तो शिष्य को विश्वास नहीं हुआ कि उसके गुरुजी ऐसे हो सकते हैं। मगर दो चार दिन बराबर ध्यान देने पर उसे विश्वास हो गया कि उसके साधु बाबा चारित्र में गिरे हुए हैं।
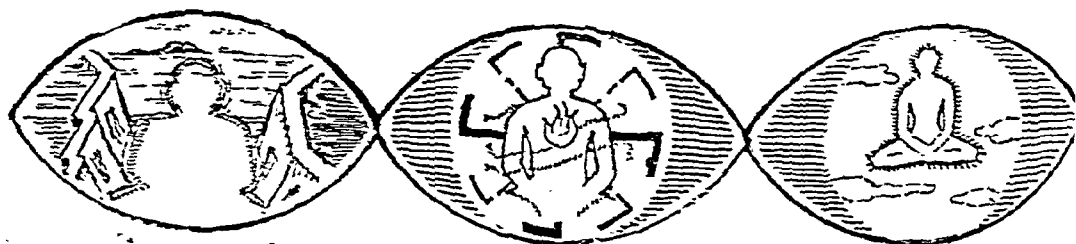
मुनिश्री सूरजमलजी ने कहा :—"मुझे तो इस देह की शाता का विश्वास हट गया है ; अब संथारा करके धर्म-ध्यान में शेष काल बीते यही भावना है !"

मुनिश्री जेतशीजी म० ने हँसते-हँसते कहा—"फिर ऐसा न हो कि आप संथारा छोड़ दो और मुनिश्री जयमलजी को नागौर से आना पड़े। जैसे भूतकाल में पूज्य धर्मदासजी* म० सा० को धारा नगरी जाकर संथारा करके आत्म बलिदान करना पड़ा था।"

मगर मुनिश्री सूरजमलजी के अति आग्रह से उन्हें सागारी संथारा पचक्खाया। अशाता बढ़ते ही जाने से उन्हें सम्पूर्ण अपच्छिम मरणांतिक संलेखना-संथारा पचक्खा दिया गया। उनके संथारे के समाचार आसपास के सभी जगह पहुँच गये। नागौर भी श्रावकों ने शीघ्रातिशीघ्र समाचार भेजे। वैसे पीपाड़ में सन्तों को हुए परिषहों के समाचार तो पहले नागौर पहुँच चुके थे। अब सभी ने संथारा के समाचार सुने।

सभी ने मुनिश्री सूरजमलजी म० सा० की दीक्षा, सरल स्वभाव, उग्र तप और परम सेवा वृत्ति की प्रशंसा की और अल्प समय में ही तप के द्वारा आत्मोन्नति करने के लिये उनकी सतत तप साधना की सराहना की। सभी संतों ने साधुवाद प्रगट किया और संथारे में अडिग रहे ऐसी आशा व्यक्त की।

एक-एक करके सात दिन व्यतीत हो गये। आसोज वद नवम आई। मुनिश्री सूरजमलजी म० सा० का कृश शरीर सविशेष दुर्बल होता जा रहा था। आज प्रातःकाल से उन्होंने सभी को खमाना शुरू कर दिया था। उन्होंने आचार्यश्री पूज्य भूधरजी और दीक्षा गुरु मुनिश्री जयमलजी के प्रति हाथ जोड़ नागौर की ओर मुँह कर क्षमा-याचना की। सभी सन्तों को और श्रीसंघ के भाइयों और बहिनों को खमाया। यों चढ़ते भावों के साथ वे काल-धर्म को प्राप्त हुए।

उनके नश्वर देह की पालखी का जलूस बहुत ही धूमधाम से निकला। पीपाड़वालों ने इस अवसर पर बड़े उदार हृदय से दया-दान किया। सन्तों के पास ये समाचार नागौर पहुँचे तो उन्होंने भी काउस्सग किया। दिवंगत आत्मा की अगले जन्म में धर्मोन्नति की

* संत बलिदानी (प्रकरण) में पूरा प्रसंग है।
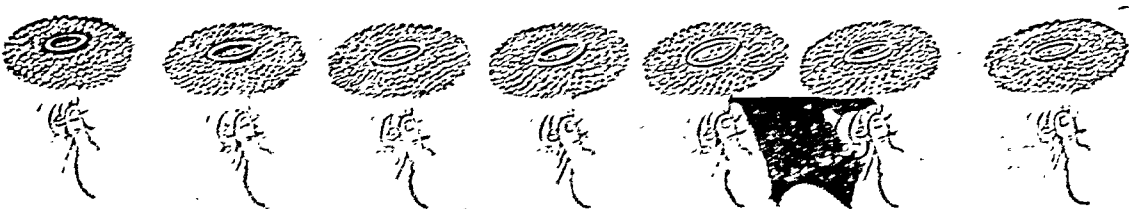
अंत में जाकर गुरु ने पापाचार बन्द करने की सोगंद भी तब शिष्य ने उसे छोड़ा।"

इस प्रसंग से मालूम हो जायेगा कि संसार में आत्म धर्म के नाम पर भी कितने पाखंड चलते हैं। सच्चा आत्म धर्म तो इन भौतिक सुखों से आत्मा को दूर हटाता है क्योंकि भौतिक सुख सच्चा सुख नहीं है, दुःख का कारण बनता है।

वैसे कुछ और भी लोग हैं, जो आत्मा को शरीर के साथ जोड़ कर शरीर की बाह्य शुद्धि में ही धर्म हो जाता है ऐसा गलत प्रचार करते हैं मगर शरीर में सब प्रकार के तामसी और राजसी भोजन भरते जाते हैं, और मानते हैं कि बाह्य स्नान किया, चंदन आदि का लेप किया या तिलक ताने तो धर्म हो जाता है। यह बिल्कुल ही जड़ साधना है।

स्नान से ही मुक्ति हो जाती हो तो मच्छ, कच्छ, बगुले आदि सभी का उद्धार हो जाना चाहिये। यह शरीर मल-मूत्र और अशुद्धि का भंडार है; उसे ऊपर से शुद्ध किया तो क्या और न किया तो क्या? वास्तव में तो उसमें जिन कारणों से अशुद्धि पैदा होती है, उस आहार-पान आदि में विवेक करना चाहिये। वैसा नहीं हो तो शरीर में गंदगी बढ़ती ही जायेगी। क्या, स्नान कर लेने मात्र से शरीर शुद्ध हो जाता हो तो पुनः दूसरे दिन स्नान करने की क्या आश्यकता है?

यह शरीर तो गंदगी का ठिकाना है। इसका आपको उदाहरण चाहिये तो यह है कि स्नान करके भी आप घर में जो आचार बनता है उसे हाथ से निकाल कर देखें? कहते हैं कि वह आचार बिगड़ जाता है। इसलिये आचार को हाथ से नहीं, बल्कि कुडछी या चम्मच से निकालने का विधान है। चन्दन आदि लगा लेने से शरीर सुगंधमयी हो जाता हो तो फिर मल-मूत्र विसर्जन करने की हाजत ही नहीं होनी चाहिये। इस पर से यह जाना जा सकता है कि ये सभी प्रकार एक या दूसरे तौरतरीकों से आत्मा को उन्नत करने के लिये नहीं किन्तु शरीर की बाह्य शुद्धि पर जोर देते हैं और विशेषता तो यह है कि इस प्रकार स्नान आदि से पवित्र हुआ पंडित ब्राह्मण पुनः किसी शूद्र की परछाई लगने पर अपवित्र होता है! सब से विचित्र बात तो यह है कि जिस गंगा

३६
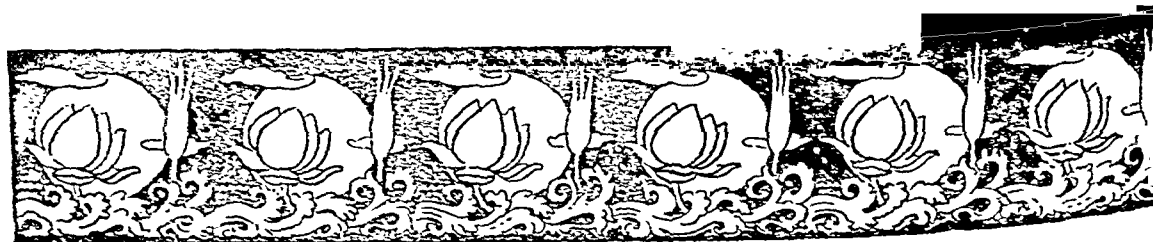
जय - जैसलमेर विजय
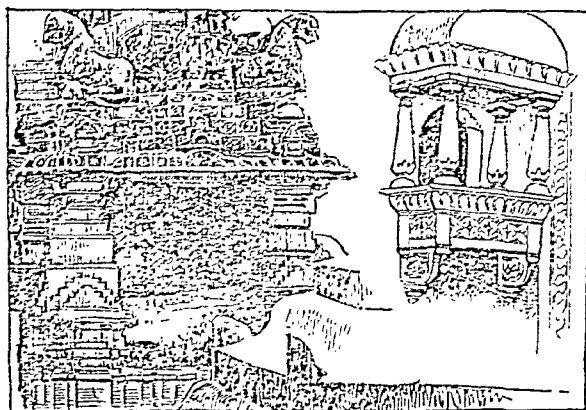
चातुर्मास पूर्ण होने तक पूज्यश्री भूधरजी ने मुनिश्री जयमलजी के दृढ़ विचार जान कर उन्हें जैसलमेर जाने की अनुमति दे दी और मुनिश्री जयमलजी आदि तीन सन्तों ने जैसलमेर की ओर प्रयाण किया। पूज्यश्री ने लाडणू की ओर विहार किया।

जैसलमेर का मार्ग बड़ा कठिन था। उस ओर सन्तों का विहार भी कम होता था। सामान्यत: गृहस्थों के लिये भी वह मार्ग डाकू - लुटेरों के भय से खाली नहीं था किन्तु खाली हाथ सन्तों के लिये भी वह सुगम नहीं था। लोग कई जगह तो ऊबड़ खाबड़ ही चल लेते थे तो कई जगह रास्ता भी बना देते थे।

तिंवरी नगरी नगर तक तो रास्ता कुछ पथरीला था। नगरों में जैन श्रद्धावाले घर भी मिल जाते थे; किन्तु अक्सर उस ओर राजपूत - जाट - गूजर लोग ही रहते थे। उनमें से बहुतसों ने इसके पूर्व कभी इन मुँहपत्ति बन्धे मुनिवरों को भी नहीं देखा था।

यह अपरिचितता थोड़े समय रहती और मुनिश्री जयमलजी अपने मधुर सम्भाषण, प्रवचन और काव्यों से लोगों में धर्म जागृति फैलाते उनमें आत्मीयता जगा देते थे। फलत: सन्तों के विहार के समय लोग बोलते थे :—"परदेशी की जैसी लगनी लगा के आप जल्दी पधार रहे हो!"

मुनिश्री जयमलजी कहते :—"आत्म भाव हैं तो सभी पास ही हैं। धर्म - ध्यान करते रहो तो हम हमेशा पास में ही हैं।"

तिंवरी से रास्ता रेती से भरा रहता था। यहाँ पर मरुधरा से आकर थर पारकर का रेगिस्तान मिलता था और दूर - दूर तक रेत ही रेत देख कर रेती का सागर हो ऐसा मालूम पड़ता था। चढ़ती धूप में तो दूर - दूर रेत में पड़ती सूरज की किरणों का प्रतिबिम्ब जल की लहरों का भ्रम पैदा करवाता था।

"यही तो मैं कहता हूँ कि तुम ये जानते हुए तीर्थयात्रा पर क्यों गये?" श्रीकृष्ण ने पूछा : "उससे मन साफ हुआ?"

"प्रभु! आपकी समझाने की रीति अनोखी है! मगर आपने हमें रोका क्यों नहीं?" पांडव बोले।

"तुम लोगों ने कहा था कि हम तो घूमने जा रहे हैं, यह कहाँ कहा था कि तुम आत्मा को शांत करने जा रहे हो?" श्रीकृष्ण बोले।

"तो अब बताइये, आत्म शांति का क्या उपाय है!"

कहते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान ने उनको समझाते हुए कहा :—

आत्मा नदी, संयम तोय पूर्णा, सत्यावहा शील-तटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरुः पांडुपुत्र! न वारिणा शुद्ध्यतिचान्तरात्माः॥

"आत्म ज्ञान रूपी नदी में संयम रूपी पानी भरा है और सत्य का प्रवाह शील का तट है। दया की जहाँ तरंगे उठती हैं, उसमें जाकर हे पांडु पुत्र! तुम अभिषेक करो!! सामान्य जल से आत्मा शुद्ध नहीं होती।"

इस पर से समझा जा सकता है कि बाह्य स्नान और तिलक चंदन लगाना आदि कभी आत्म धर्म नहीं बन सकता — ये सभी बातें, आत्म धर्म का पहला सिद्धांत "सभी आत्मायें स्वतन्त्र हैं" इसके विरुद्ध जाती हैं।

जैन धर्म चूँकि आत्म प्रधान धर्म है; इसलिये वह सर्व प्रथम सभी जीवात्माओं की स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है और उसकी स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुए कहता है :—

सव्वे जीवावि इच्छंति।
जीविउं न मरिज्जिउं॥

— सर्व आत्मा जीवन की चाह करते हैं; किसी को मरण की चाहना नहीं है। इसलिये प्राणी वध-हिंसा घोर पाप है और सच्चे साधक को उसका त्याग करना चाहिये।
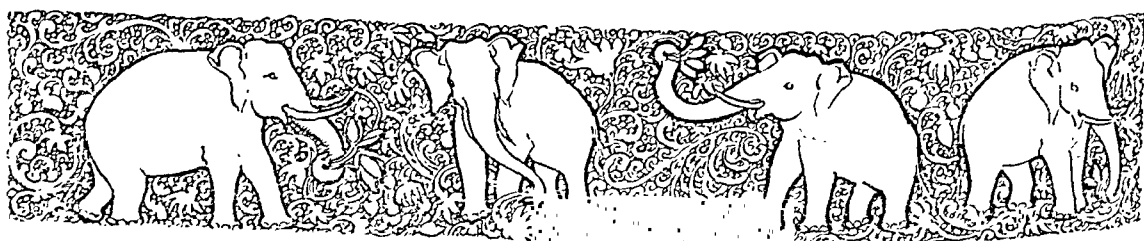
नहीं इतना तो स्पष्ट है कि कुछ लोग इस बहाने माल - मलवे उड़ाते हैं और उसके घरवाले अपने आपको लुटा - लुटा सा जानते हैं। तब मृत आत्मा को शांति कहाँ मिल सकती है ?

क्रियायें चल पड़ती हैं, रूढ़ियाँ बन जाती हैं, उसका मूल देखने जायेंगे तो गदहे पीर और बिल्ली गुसांई जैसे बहुत सी बातें सामने आयेंगी।

एव घर में नई बहु आई थी। उस समय कुछ विधि चल रही थी। मगर एक बिल्ली फिर रही थी। बिल्ली का आडा उतरना अपशकुन माना जाता है। इसलिये शांति पाठ की खास विधि पूरी होने पर सास ने बिल्ली को टोकरे के नीचे दबाके रख दी। बहु ने यह देख लिया। उसने न तो खुलासा पूछा न जाना कि वास्तव में क्या कारण था ? वर्षों बीत जाने पर जब सास न रही और वही विधि - कर्म चल रहा था कि उसने भी कहीं से बिल्ली मंगाई और शांति पाठ के बाद बिल्ली को टोकरे के नीचे रखी। उसने एक बात और जोड़ दी ओर बिल्ली को नमस्कार किया। उस घर में आगे जाकर इस प्रकार बिल्ली को गुसांई मान कर पूजने की परिपाटी चल पड़ी।

वास्तव में जीवित माँ - बाप के प्रति लोग उदास रहते हैं मगर उनके मरने के बाद श्राद्ध आदि करके लोग अपने आपको धन्य मानते हैं।

एक गाँव से दूसरे गाँव के रास्ते में अनेक पत्थर, शिला और चबूतरे गेरू - चंदन लगाये पाये जाते हैं। कहते हैं कि वे वीरों के स्तंभ हैं — हमारी सच्ची पूजा तो यही होगी कि हम भी वैसे वीर बनें, स्वयं निर्भय बनें और दूसरों को भी निर्भय बनायें। यही सच्चे धर्म का, अहिंसा - दया मय जैन धर्म का सार है।"

* * *

फलौदी से संत विहार कर पोकरण पहुँचे। वहाँ के ठाकुर देवीसिंह चंपावत थे। उन्होंने संतों का बड़ा यशोगान सुना था और वे उनके दर्शन करने पधारे। मुनिश्री जयमलजी सत्य धर्म और भ्रम के उपर लोगों को सत्य क्या है समझा रहे थे।

"यहाँ पर रास्ते चलते - चलते जब रेत ही रेत दूर - दूर तक दिखाई देती है वहाँ पर रेती पर पड़नेवाली किरणों से दूर से ऐसा भ्रम होता है कि जल की लहरें लहरा
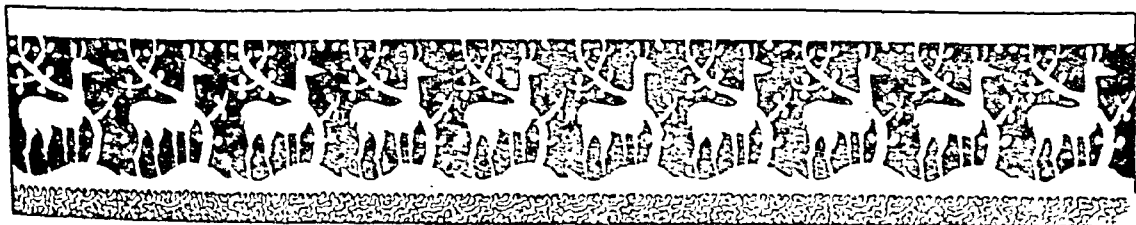
भगवान महावीर ने निरन्तर विषय कषायों में रहनेवाले जीवों के बारे में तांदुल - मत्स्य का दृष्टांत बड़े ही सुन्दर ढँग से प्रस्तुत किया है। वह चांवल के दाने जितना छोटा होता है और बड़े मच्छ की आँख के पास बैठता है। वह किसी मच्छ को शिकार करके खा नहीं सकता; किन्तु जब बड़े मच्छ के मुँह में मच्छियों को जाते और वापस निकलते देखता है तो निरन्तर विचारता रहता है कि "यह बड़ा मच्छ महा मूर्ख है! इतनी सारी मच्छियों को जाने देता है! मैं होता तो सब को सफाचट कर जाता!"

इस प्रकार मानसिक हिंसा के कारण घोर - क्रूर कर्म बाँध कर वह तांदुल - मत्स्य सातवीं नरक में पहुँचता है। जीवों का भी यही हाल है। उसमें भी बुरे कार्य करने की लत पड़ जाती है तो वह व्यसन बनता है और व्यसनों में कैसे - कैसे बड़े - बड़े धर्मात्माओं के क्या - क्या हाल हुए हैं — इसके अनेकों उदाहरण हमारे सामने हैं। सीता ने मृग के शिकार की इच्छा की और उसका अपहरण हुआ और अग्नि परीक्षा देने पर भी वह पति के साथ न रह सकीं। रावण ने परस्त्री सीता का अपहरण किया और उसकी लंका खतम हो गई। धर्मराज युधिष्ठीर ने जुआ खेला, राज्य संपत्ति, भाई - बंधु और पत्नी तक को हार बैठे, वनवास गये और महाभारत हुआ। शराब पीने के कारण यादव कुल का नाश हुआ द्वारका नगरी जल गई और श्रीकृष्ण जैसे समर्थ पुरुष भी उस विनाश को नहीं बचा सके।

यों एक - एक व्यसनों का ऐसा हाल है तो समझदार मनुष्यों को समझकर इनसे दूर ही रहना चाहिये!"

मुनिश्री के प्रवचन से ठाकुर देवीसिंहजी का मन हिल गया। उनमें शिकार आदि करने के व्यसन थे। उन्हें हुआ कि वे प्रतिज्ञा ले लें कि मैं शिकार, मद्य, माँस का त्याग करूं! मगर पहले मन नहीं माना; किन्तु मुनिश्री के प्रवचनों का रंग लगा और थोड़े ही दिनों में उन्होंने शिकार मद्य - मांस आदि व्यसनों के पच्चक्खाण लिये।

वनस्पति काय में तो जीव हैं यह वर्तमान में बहुत से वैष्णव और हिन्दू सन्त मानने लगे हैं। इतना ही नहीं, कुछ वृक्षों को पवित्र मान कर वे पूजा भी करते हैं। किसी सन्त ने तो यहाँ तक कहा है कि "वृक्ष की एक डाली काटनेवाले को भुजा काटने का दण्ड मिलेगा!"

वनस्पति काय में जो वटवृक्ष है उसके फलों से बहुत ही स्पष्ट जाना जा सकता है कि कितने छोटे से बीज कण में कितने बड़े विशाल वटवृक्ष छिपे हुए हैं। वनस्पति जीवन पर गहराई से अध्ययन करने पर हम उसकी तुलना मानव जीवन के साथ कर सकते हैं।

ये पाँचों काय के जीव स्थावर हैं। चल-फिर नहीं सकते; अतः उसमें जीव-आत्मा का होना बहुत सों को स्वीकार्य नहीं है। किन्तु स्पष्ट रूप से जब विचार-विमर्श और अनुभूति से हम स्थावर जीवों को देखते हैं तो हमें उनमें जीवन और चैतन्य का स्पन्दन स्पष्ट मालूम होगा।

इन सबों में आत्मा की प्ररूपणा सिर्फ वही धर्म कर सकता है जो आत्म-धर्मी हो और ऐसा सिर्फ एक जैन धर्म ही है। इसके आगे चलने-फिरनेवाले त्रस काय जीवों में दो इन्द्रियवाले जीव, तीन इन्द्रियवाले जीव और चार इन्द्रियवाले जीवों के बारे में भी यहाँ स्पष्ट मार्ग-दर्शन दिया गया है।

तदनन्तर पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मानव जीवन के आत्म-स्वरूप का भी विस्तार किया गया है; जो मानव की आँख के आगे प्रत्यक्ष है और देव एवं नारकी जीवों का चित्रण किया गया है जो परोक्ष में है।

इन सभी आत्माओं में मानव की आत्मा को सब से विकसित आत्मा मानी है और उस पर इसलिये यह भी बड़ी जवाबदारी डाली गई है कि वह सभी आत्माओं के जीवन के प्रति सजग रहे। निर्ग्रंथ साधुओं की और भी विशेष जवाबदारी है। इस दुनियाँ
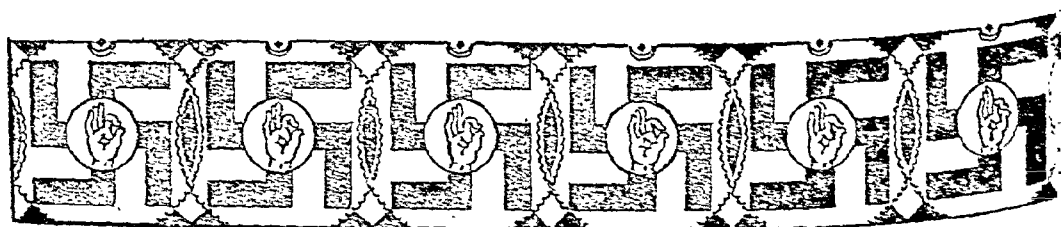
प्रचार करते थे; अतः उन्हें डर था कि यहाँ पर आ गये तो हमारी स्थिति दयनीय हो जायेगी। अतः यहाँ संत पधारे उसके पहले उन्हें कुछ ऐसा परचा दिखाया जाय कि वे उल्टे पाँव ही लौट जाँय। अतः उन्होंने एक बड़ा वीभत्स आयोजन किया।

इधर मुनिश्री जयमलजी आदि सन्तों का नगर में प्रवेश होनेवाला था; उधर नगर में विरोधी लोगों ने उनकी मूर्ति जैसी बनाई। साथ में कुछ लुच्चेलफंगे लोग गाली गलौज बोलते, बुरे दोहे ललकारते, उस, मूर्ति पर थूकते, धूल उडाते जलूस निकाल कर बाज़ार से जा रहे थे। कोई-कोई तो उससे भी संतोष न पाकर उस मूर्ति को लात से मारते, उस पर कचरा आदि डालते थे। इस प्रकार अनादर और तिरस्कार से चिल्लाते थे : " ढोंगियों की यह गति होती है।

जैसलमेर के बाज़ार में सभी यह तमाशा देख रहे थे। लोगों में से कुछ से रहा नहीं गया। वे दौडे-दौडे संतों को मिले! उन्होंने मुनिश्री जयमलजी से पूरा निवेदन किया और कहा : "आप जिस जैसलमेर में जा रहे हैं, वहाँ पर तो आपकी मूर्ति बनाके तिरस्कार दिखाया जा रहा है, अतः वहाँ न पधारें। उन्हें कोई रोकनेवाला नहीं है।"

मुनिश्री ने कहा : "ढोंगी और नकलचियों की ऐसी ही स्थिति होती है। जो वीर प्रभु के शासन की पिछौडी ओढ के भी ढोंग रचाते हैं, अपना पेट भरते हैं, परिग्रह रखते हैं और सच्चे संयम की विराधना करते हैं उनका ऐसा हाल होना ही चाहिये। मेरी प्रतिमा बना के जो कुछ कर रहे हैं उससे वे तो कर्म बांधकर आत्मा को मलिन करते हैं, मगर मेरे कर्मों की तो निर्जरा होती है। अतः मेरे उन उपकारियों के पास तो मैं अवश्य जाऊँगा ही।"

आगंतुक गण ने मुनिश्री की निर्भीकता की प्रशंसा की। जब ये बातें हो रही थीं उसी समय एक राजकर्मचारी अपने ऊंट पर वहाँ से गुज़र रहा था। यह सारी बातें सुन वह खडा हो गया था। उसके दिल में भी इन संतों के प्रति श्रद्धा जागी।

वह ऊंट पर सवार हो कर नगर में पहुँचा। वहाँ पर उसने जैसा सुना था वैसा नज़ारा देखा। उसे लगा कि उन संतों का नगर में तिरस्कार हो उस में राज्य की शोभा

३८
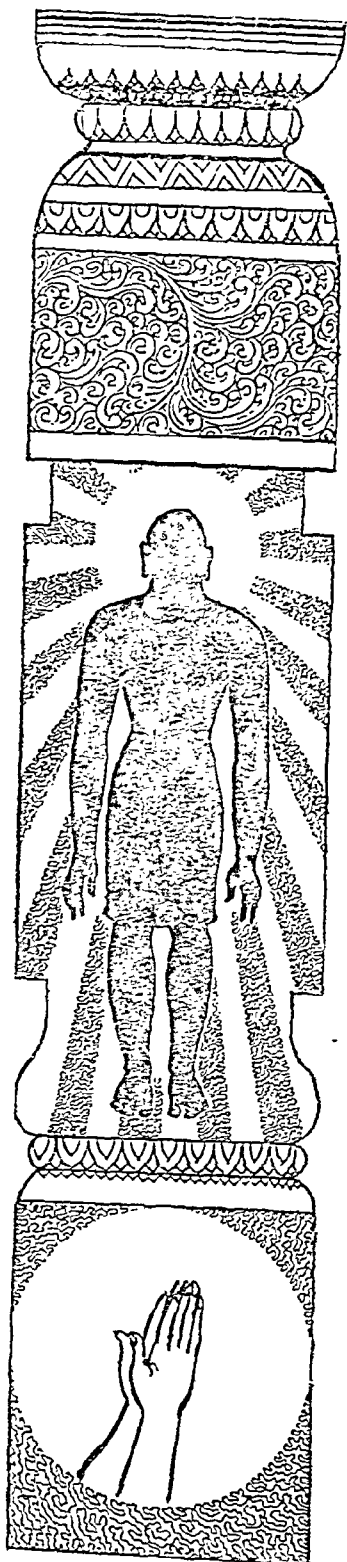
जय - कुशल दीक्षा

दिल्ही से उग्र विहार कर संत गण आदि का चातुर्मास मेड़ते हुआ और मेड़ता से बाद जोधपुर हुआ। पुनः जोधपुर हुआ। पुनः जोधपुर से विहार कर पूज्यश्री आदि संतों का रियाँ - पीपाड होते हुए नागौर चातुर्मास हुआ। वहाँ से मुनिश्री जयमलजी जैसलमेर की ओर पधारे। शास्त्र प्रमाण सहित प्रवचन, मधुर काव्य और अकाट्य तर्कों से उन्होंने जहाँ जहाँ शिथिलाचार देखा वहाँ वहाँ भी सच्चे धर्म का प्रकाश किया। अतः बहुत शीघ्र ही उनका यश फैलता चला गया था। लेकिन कुछ अज्ञानी - विरोधी हमेशा कुछ न कुछ विरोध में प्रचार करते थे। उसमें मुनिश्री जयमलजी का काव्य सृजन भी चर्चा का विषय बना था।

उस समय एक यह भी मान्यता प्रचलित हो चली थी कि साधुओं को ये ढालें - सज्झाइयाँ, आदि की रचना नहीं करनी चाहिये। कुछेक तो उसे साधु जीवन चर्या के विरुद्ध भी मानते थे और इस विषय को लेकर काफी मतभेद चल रहा था। किन्तु युग की माँग को देखते हुए लोगों को अपनी भाषा में, धर्म, तत्त्व, कथानक आदि देना आवश्यक था। सूत्रवाणी एवं आगम ज्ञान की प्राचीन भाषा से पूरे जैन समाज को वापस जैन संस्कार दिये जाँय यह असंभव सा था। लोगों को तो अपनी - अपनी भाषा में धर्म बोध प्राप्त हो तभी सरल होता था। स्वाभाविक था कि भगवान महावीर ने भी चित्र - विचित्र और उच्चारणों

"यानी.... इसका मतलब.... क्या वे जैन नहीं हैं?"

"वे भी जैन हैं, यति हैं—मगर बास्तव में दश प्रकार के बताये गये यति धर्म का पालन भी नहीं करते। मौज-शौख में रहते हैं और कोई उन्हें साधुत्व के बारे में कहता है तो कहते हैं कि सच्चा साधुत्व संभव नहीं है।" मुनिश्री ने कहा।

"अरे, आपको देखकर कौन कह सकता है कि सच्चा साधुत्व नहीं है?" नरेश ने पूछा।

"इसीलिये हम को ये ढोंगी-पाखंडी कहते रहते हैं, मगर हमें उनसे कोई द्वेष नहीं है। वे यति के रूप में भी धर्म का पालन करें तो भी समाज का कल्याण कर सकते हैं। इसके बदले सच्चे साधुओं का विरोध करने से वे खुद के कर्म ही बांधते जाते हैं।" मुनिश्री ने कहा।

मुनिश्री जयमलजी ने यह भी भगवती सूत्र का आधार देकर बताया कि "भगवान महावीर ने अपना शासन काल २१००० वर्ष चलेगा यह फरमाया है और इसके विरुद्ध इन लोगों को कहना है कि यह कलियुग है—पंचम आरा है, ऐसे नियम नहीं पाले जा सकते, और जो पालते हैं उनको ये लोग ढोंगी आदि बताते हैं।"

नरेश उनका स्पष्टिकरण सुनकर अति प्रसन्न हुए। उन्होंने इन निस्पृह साधुओं को जैसलमेर में कहीं पर भी जाने को आदेश जारी किया।

* * *

जब-जब भारत पर विदेशी आक्रमण शुरू हुए, अफघान, मुगल और तुर्क सेनायें आ आ के भारत को लुटके जाने लगी। तब सब से बड़ी समस्या यह पैदा हुई कि जैन धर्म के भव्य ज्ञान भंडार जैसे शास्त्रों को कहाँ रखा जाये?

उस समय विकट मार्ग से, भारत के रेगिस्तान के किनारे लगे इस जैसलमेर नगर की ओर कुछ जैन साधुओं का ध्यान गया। वहाँ की धरती, पत्थर ओर आबोहवाती में वर्षों तक शास्त्रों को ऐसे ही रखने की क्षमता थी, जैसे आज रखे गये हों? वहाँ पर विशाल जैन समाज के श्रीमंतों की सहायता से गुप्त भंडार बनवाये गये। उनके तहखानों में जाने के रास्ते भी गुप्त रूप से बनाये गये। उनकी जानकारी संकेतों द्वारा लिखित रूप में गुप्त रखी

उन्होंने कहा कि "ढाई घर! एक घर तो रियाँवाले सेठों का है, दूसरा बीलाड़े (बीलाड़ा) के दीवानों का है और आधे में सारा मारवाड़ है।

उस सम्बन्ध में यह किंवदन्ती भी सुप्रसिद्ध है कि मुगल बादशाह ने जोधपुर को खालसा कर दिया था और सेना आदि जुटाने के लिये एक बार जोधपुर नरेश को धन की आवश्यकता पड़ी। उन्होंने सुना था कि रियाँवाले सेठों के यहाँ विपुल सम्पत्ति है — इतना ही नहीं, जिस प्रकार के सिक्के चाहिये वैसे सिक्के उनके यहाँ गाड़ियाँ भरके हैं।

जोधपुर नरेश साँढनी पर बैठ कर रियाँ पहुँचे। नित्य नियम के अनुसार रियाँवाले सेठजी बावडी पर स्नान करने आये। स्नान करते उनकी नजर सामने बैठे तेजस्वी युवान पर गई।

उसे चिंतामग्न बैठा देख उन्होंने पूछा :— "आप कौन है? कहाँ से आपका पधारना हुआ?"

राजपूत युवान ने कहा :— "मैं बड़ा ठाकुर हूँ और किसी विशेष कारण से आया हूँ; किन्तु मुझे वह कार्य यहाँ बनते नहीं दिखता!"

यह राजपूत युवान जोधपुर नरेश स्वयं थे। उन्होंने सेठजी के बारे में सुन रखा था; किन्तु उनकी सादगी देख कर महाराजा के मन में शंका होती थी कि क्या मेरा कार्य सिद्ध होगा?"

सेठजी ने कहा :— "आप मेरे यहाँ पधारें — भोजन करें और फिर आपके आगमन का कारण कहें। ईश्वर कृपा से जो कुछ बन सकेगा आपके लिये करूँगा।"

महाराज को यह सुन कर शांति हुई और सेठजी के अति आग्रह से वे उनके मकान गये और भोजन किया।

तत्पश्चात् सेठजी के निवेदन पर उन्होंने कहा :— "मुझे....इतनी रकम चाहिये!"

सेठजी ने कहा :— "बस, इतनी बात है....! आप सिधारिये; मैं भिजवाये देता हूँ!"
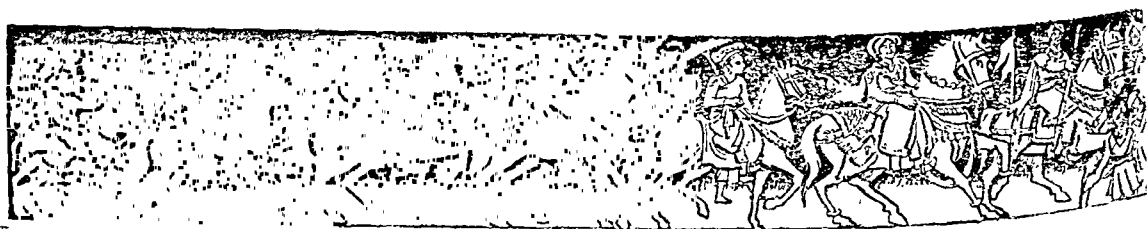
उन्होंने भंडार के द्वारपाल से पूछा :—"क्या यहाँ प्रतिदिन आ सकते हैं ?"

"आपको तो राजाज्ञा प्राप्त है, आप कभी भी आ सकते हैं। किन्तु जो कुछ पढ़ना, लिखना हो वह यहीं पर होगा। कोई ग्रंथ बाहर नहीं ले जा सकेंगे। यहाँ बहुत से ग्रंथ लुप्त हो गये तब से यह आदेश ज़ारी किया गया है।

मुनिश्री जयमलजी उसके बाद कई बार वहाँ पर आये। यहाँ पर उन्हें "चैत्य" और "चेत्य" शब्द के संबंध में अंतर को निर्देश करती हुई सूत्रों की तालिका मिली। पुरानी वीर शासन की पट्टावलियाँ भी देखी। जिन पर भविष्य में संशोधन करने का उन्होंने निर्णय किया।

यह स्वाभाविक था कि मुनिश्री का यश फैलता जा रहा था और यहाँ पर ग्रन्थ भंडार देखने मुनिश्री प्रतिदिन आते थे; अतः जिन लोगों ने विरोध करवाया था उन यतियों में से एक प्रमुख एक बार उनके रास्ते में खडे हो गये।

उन्होंने पहला ही प्रश्न किया : "आप यहाँ तो सदैव ठहरनेवाले नहीं है, फिर हमारा क्यों विरोध करते हैं ?"

मुनिश्री ने बडी ही शांति से कहा : "हमारा तो किसी से विरोध नहीं है। साधु के लिये तो सभी आत्मायें समान हैं। श्रावक श्रावक रहें, यति यतिधर्म का पालन करते रहें उसमें किसी को विरोध क्यों होगा ? किन्तु आप यह कहते रहते हैं कि इस पंचम आरे में सच्चे धर्म का पालन नहीं हो सकता, सच्चा साधुत्व नहीं हो सकता, तब सच्ची बात लोगों के आगे रखनी पडती है।"

"आपको लगता है कि सच्चा साधुत्व इस समय टिक सकता है ?"

मुनिश्री नें उत्तर दिया : "इसका उत्तर तो संत लोंकाशाह ने दे ही दिया था। पुनः शिथिलाचार चला तो अहमदाबाद में क्रियोद्धार हुआ। पूज्य लवजी ऋषि, पूज्य धर्मसिंहजी म. और पूज्य धर्मदासजी म. ने सच्चे धर्मको स्पष्ट किया - साधु मार्ग को प्रस्थापित किया। उनके ही संत साधु मार्ग का सारे भारत वर्ष में प्रचार कर रहे हैं। स्वयं से धर्म या चरित्र का पालन न होता हो तो अपने शिथिलाचार को ढांकने के लिये जो साधु हैं उसकी निंदा तो नहीं करनी चाहिये !"

कुशलदासजी के पिता लाधूरामजी चंगेरिया रियाँ के प्रतिष्ठा पात्र सेठ थे। उनकी धर्मपत्नी कानूबाई भी अपने पति का अनुसरण करनेवाली थी। दोनों के दाम्पत्य जीवन की सफलता समान कुशलदास का उनके यहाँ जन्म हुआ। बालक बड़ा होने लगा; किन्तु उसके पिताजी लाधूरामजी का स्वर्गवास हो गया। जिसका बालक के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह हमेशा उदास सा रहने लगा! उसके लिये यह आघात विशेष था।

परन्तु माता समझदार थी। उसने बालक को धीरे-धीरे समझा कर उसका मन दुकान की ओर मोड़ा और व्यवसाय में चित्त लगाया। जब तक दुकान रहती और व्यापार चलता, कुशलदास का मन उसमें लगता; किन्तु एकांत मिलते ही फिर पिताजी और साथ ही पूर्व जन्म, अगला भव, कर्म, पुण्य, पाप आदि बातें उसके मस्तिष्क में आ जातीं।

माँ से यह बात छिपी न रही और उसके मातृहृदय ने कुशलदास से पूछ लिया—"पुत्र! इस प्रकार तू कब तक उदास-उदास रहेगा?"

पुत्र ने बड़े विनय से कहा—"माँ! पिताजी की याद मुझे सताती रहती है। तू मुझे चाहती है; प्यार करती है; किन्तु कभी-कभी मैं सोचा करता हूँ कि मेरा कोई नहीं है—मैं अकेला हूँ, बिल्कुल अकेला हूँ!"

माँ ने भाव भरे शब्दों में कहा:—"क्यों पुत्र! मैं तेरी माँ नहीं हूँ....!"

माँ ने उसे आश्वासन तो दिया; किन्तु वह समझ गई कि अब पुत्र के हाथ पीले किये बिना उसका मन संसार में लगाना कठिन होगा। उसने अच्छी खानदान की कन्या की तलाश की और उसे योग्य देख कर कुशलदासजी का विवाह कर दिया।

लग्न जीवन में बन्ध जाने पर कुशलदासजी का मन घर संसार में थोड़ा सा लगा। माताजी को भी यह सन्तोष था कि चलो, पुत्र का मन संसार में लग गया है। उसके नारी हृदय के लिये यह बड़ा ही आश्वासन था।

थोड़े वर्षों के बाद आपके यहाँ पुत्र रत्न का जन्म हुआ; किन्तु पुत्र जन्म के बाद अल्प समय में आपकी पत्नी का आकस्मिक देहावसान हो गया।

३७
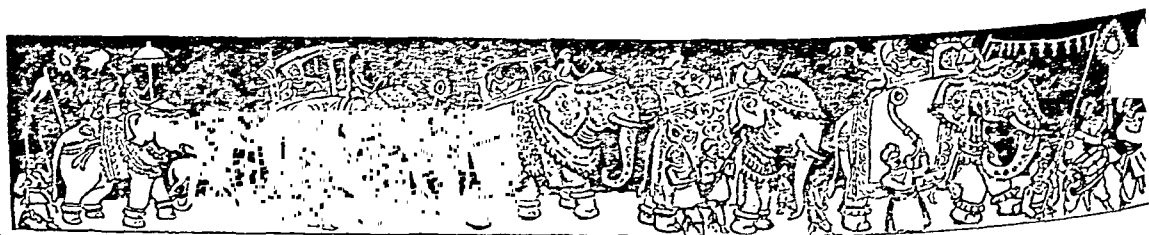
जय - आत्म स्वरूप
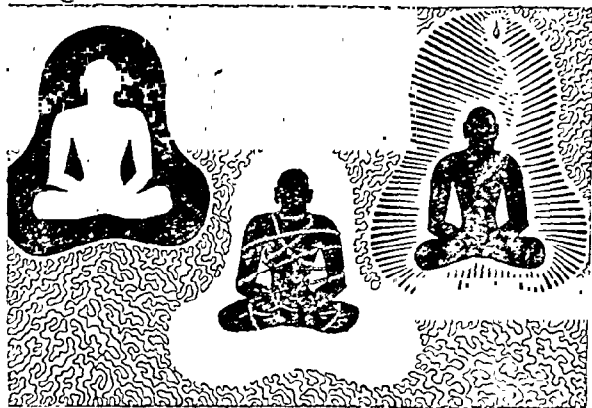
जैसलमेर में मुनिश्री जयमलजी के व्याख्यानों का ठाठ लगता था। मुनिश्री ने जैसलमेर में अपने व्याख्यानों में आत्म तत्त्व पर सुंदर निरूपण किया था जिसको सुन कर बहुत से भव्य आत्माओं में आत्म जागृति आई थी। मुनिश्री कहते थे कि "संसार में यदि कुछ अपना है तो वह आत्मा ही है, बाकी सब पराया है, आत्मा धन - पुत्र - परिवार इन सब को छोड़ कर अंतकाल आने पर अन्य गति और योनि में चली जाती है।

ज्ञानी कहते हैं कि "अपनी आत्मा को पहिचानो; उसके शुद्ध - स्वरूप का विचार करो। यह आत्मा ही सत्य है, सनातन है और शिव है। जब तक यह आत्मा तन में है तब तक ही इस तन की किंमत है उस के बाद यह निर्जीव और बिना मूल्य का हीं रह जाता है।

आत्मा को पहचानना - या उसकी जो पहचान कराता है, वही सच्चा ज्ञान है, उस पर श्रद्धा प्रगट करवाता है वही सच्चा दर्शन है और यह आत्मा अनादि काल से जिस कर्मों से लिप्त है, उन कर्मों से उसे अलिप्त करना यही सच्चा चारित्र है। इसी आत्म तत्त्व से भरपूर ज्ञान - दर्शन चारित्र ही — मोक्ष का मार्ग है, यानी आत्मा को उसके मूल स्वरूप में प्रगट करने का — परमात्मा बनाने का मार्ग है। उसका यही धर्म जैन तत्त्व ज्ञान प्रगट करता है।

अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के शासन काल में कई लोग भ्रम से यह मानते थे, कि जैन धर्म का प्रचलन अभी हुआ है। यह उनका भ्रम है, उसके पहले भी चौवीश तीर्थंकर हुए हैं और ऐसी अनंत चौवीशी भूतकाल में अगनित हो गई है और भविष्य में भी होती रहेगी। ये सभी तीर्थंकर आत्म धर्म का उपदेश देते हैं। जैसे आत्मा का स्वरूप बताते हुए यह कहा जाता है कि यह अनादि है उसी प्रकार उससे संबंधित धर्म भी अनादि है।

वेदों और पुराणों में भी भगवान महावीर के पूर्व के तीर्थंकरों का सविशेष उल्लेख मिलता है। बडे - बडे पंडित ब्राह्मण भी उस की यथार्थता स्वीकार कर जैन धर्म में दीक्षित

है ? जीवन में थोड़े से सुख की भ्रांति के बाद ऐसा वज्रपात क्यों होता है ? बापजी, मेरा मन कहीं पर नहीं लगता....!"

पूज्यश्री ने उसे आश्वासन दिया :—"संसार में ऐसा तो होता ही रहता है, जो आता है, वह जाता ही है; मगर समझदार तो जानता ही है कि संयोग के बाद वियोग है, जो जितना आयुष्य बांध कर आता है उतना भुगत कर जाता है। उसके पीछे आर्त-रुदन करने से कोई लाभ नहीं हैं, अपने प्राण दे देने से भी वे जानेवाले वापस नहीं आते यह कर्म का अटल नियम है। अत: मन को शांत कर धर्म उपासना में मन को लगाने से शांति मिलती है और जीवन गतिशील बनता है।"

"मुझे तो कुछ सूझता नहीं!"

"जब ऐसी परिस्थिति पैदा हो तो नवकार का स्मरण करो.... मन को शांति मिलेगी।" पूज्यश्री ने कहा।

कुशलदास ने पूज्यश्री भूधरजी म० की आज्ञा का पालन किया और उसके अशांत जीवन में शांति आने लगी। अब वह धर्म-ध्यान व्याख्यान श्रवण आदि में उत्साह से भाग लेने लगा। उसमें भी सन्तों में से अनायास ही मुनिश्री जयमलजी की ओर उसका आकर्षण अधिक रहने लगा।

मुनिश्री जयमलजी ने आचार्यश्री भूधरजी; मुनिश्री रघुनाथमलजी आदि के वैराग्य की कहानी बड़ी ही मार्मिक ढँग से कुशलदास को कही। उसका अच्छा असर कुशलदास पर पड़ा। विशेष रूप से मुनिश्री रघुनाथमलजी का दीक्षा के पहले मित्र की मृत्यु पर शोक और वाग्दत्ता का त्याग आदि ने कुशलदास पर गहरा प्रभाव डाला। वैसे मुनिश्री जयमलजी भी अपनी छः मास की व्याहिता को छोड़ संयम ले सके हैं—इसका भी उनके मन पर दृढ़ असर हुआ।

पूज्य भूधरजी को कुशलदास का मन किधर जा रहा है, इसका कुछ अन्दाज़ तो होने आया था; किन्तु उन्होंने कभी वह बात ही न छेड़ी।

इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म गुण धर्म है और उसका मुख्य गुण तो आत्म धर्म को प्रगटाना है। अन्य धर्मों में तो उसके संस्थापक या प्रचारक यह कहते पाये जाते हैं कि "तुम इस धर्म की उपासना करो तो तुम्हें संसार में सुख मिलेंगे।" स्त्री, पुत्र, परिवार, धन-यश और न जाने कितने-कितने प्रलोभन वे देते रहते हैं। तब जैन धर्म कहता है कि तुम जिस जड प्रसाधनों के पीछे जीवन को गंवा रहे हो, वे सभी तुम्हारे इष्ट नहीं हैं। वे ही तुम्हारे लिये दुःखदायी हैं और यह आत्मा उनके कारण कर्म बंधन में फंसकर अनंत काल तक संसार में परिभ्रमण करती है। जो धर्म आत्मा को सत्य स्वरूप में प्रगटाने के लिये न हो तो वह सच्चा धर्म नहीं बन सकता।

धारयति इति धर्मः

धर्म की यह व्याख्या ज्ञानी बता गये हैं और इसको सही ढंग में समझा जाये तो यही है कि आत्मा को संसार रूपी कीचड-दल दल से जो तारता है वही धर्म है। यह नहीं कि जो जड साधनों की प्राप्ति करावे। यदि संसार के सुखों की प्राप्ति में ही धर्म होता तो लोग उसे पाकर संतुष्ट होते और अमर होते। किन्तु देखा यह गया है कि भौतिक पदार्थों का जितना सुख बढ़ता गया है, उतना ही दुख भी बढ़ता जाता है। अगर वही उसका अंतिम लक्ष्य रहता तो आत्मा उसको छोडकर क्यों चली जाती है? साथ ही जिसको सुख मान कर चलते हैं, वे ही दुःख के कारण क्यों बनते हैं? संसार में धन-संपत्ति-शासन स्त्री आदि के लिये कितनी लडाइयाँ छिडी हैं? कितनों को अपना प्राण देना पड़ा है? उस परसे स्पष्ट होता है कि वे सुख के कारण नहीं है, और जिन धर्म या देवों की उपासना से ये मिलते हैं ऐसा जो लोग मानते हैं वे स्वयं ही अनुभव करते हैं कि हर वार वे चाहते हैं वैसा उन्हें नहीं मिलता। अतः हमें यह मानना पड़ता है कि "आत्म धर्म-प्रकाश" का जो धर्म बताता है वही सच्चा धर्म है और वह है जैन धर्म।

बहुत से यह भी कहेंगे कि "हम भी आत्मा की बात करते हैं, हमारे यहाँ, भी ब्रह्म को आत्मा का स्वरूप बनाया गया है, तो वह क्यों सच्चा नहीं है?"

कुशलदास ने कहा :—“माँ! तूने ही तो मुझे बड़ा किया। मेरी माता भी तू है और पिता भी तू है। तू तो मेरे जैसे अनेक बालकों को सम्हाल सकती है। दीक्षा के भाव मुझमें ऐसे भर गये हैं कि तू हाँ कहे या न कहे, तो भी मैंने तो यह घर छोड़ ही दिया है....!”

ऐसा कह कर वे घर छोड़ कर सामने की दहली की चबूतरी पर जाकर बैठ गये। माता ने सोचा कि पुत्र जिद् पर है, थोड़ी देर में समझ जायेगा। खाना पका कर जब उसने इधर-उधर देखा तो कुशलदास को नहीं देखा।

घर से निकल कर बाहर देखा तो दहली की चबूतरी पर वह आड़ा पड़ा था। माता ने कहा :—“चल, खाना खा ले!”

कुशलदास ने कहा :—“मैंने घर त्याग दिया है!”

माँ समझाने लगी।

“तू कैसे घर त्याग सकता है। मेरा कौन होगा?” माँ ने पूछा।

“माँ! तुझे रोटी देनेवाला पुत्र चाहिये या तेरे नाम को उज्वल करनेवाला पुत्र चाहिये?” कुशलदास ने पूछा।

माँ चुप रही। कुशलदासजी ने फिर कहा :—“माँ! तुम मेरा कल्याण चाहती हो न? फिर मुझे आशीर्वाद दो!”

दोनों का वाद-विवाद सुन लोग भी इकट्ठे हो गये। सभी ने कुशलदास की दृढ़ता देख कर कानुबाई को समझाया और कहा कि भले उसे दीक्षा दी जाये। माँ को भी पुत्र की दृढ़ प्रतिज्ञा देख कर स्वीकृति देनी पड़ी।

कुशलदासजी ने माताजी से कहा :—“आज से मैं बैरागी की तरह ही तुम्हारे यहाँ भोजन करूँगा और शेष काल धर्म स्थानक में बिताऊँगा!”

माता ने स्वीकृति दे दी।

उससे नहीं रहा गया और वह उनके पास जाकर बोला : "गुरुजी! यह क्या पापाचार चल रहा है?"

साधु बाबा ने पहले तो उसे इधर उधर की बातें कह कर टाल देना चाहा। फिर उन्होंने कहा : "बेटे! यह तो सब ब्रह्म विद्या है, तू नहीं समझेगा?"

"क्यों बाबा?"

"यह सब ब्रह्म की माया है?"

"क्या यह पापाचार ब्रह्म की माया है?"

"तू नहीं समझेगा....यह ब्रह्म मिलन!" साधु बाबा ने हँस कर कहा :—"बेटे, हम सभी तो ब्रह्म हैं?"

"हाँ, गुरुदेव....!"

"तेरा ये बाबा भी ब्रह्म है; वह नारी भी ब्रह्म है और तू भी ब्रह्म है। तो ब्रह्म को (बाबा को) ब्रह्म से (नारी से) मिलने में ब्रह्म को (शिष्य को) क्या विपत्ति हो सकती है? यह तो ब्रह्म मिलन है!" साधु बाबा हँस कर बोले।

चेले से रहा नहीं गया। जिसे गुरु माना था वह साधु ब्रह्म के नाम पर बढ़िया खाना, पीना और ऐशो आराम तो करता ही था; किन्तु अब तो भोले भाले लोगों की श्रद्धा का लाभ उठा कर दुराचार का भी सेवन करता था। उसने बाबा को बहुत समझाया; मगर जब वह नहीं माना तो उसने अपनी खड़ाऊँ निकाल कर जोर से बाबा की पीटाई शुरू की।

बाबा चिल्लाया : "अरे, ओ अनाड़ी! यह क्या कर रहा है....? गुरु की ताड़ना से बढ़कर कोई महान अपराध नहीं है!"

शिष्य ने कहा : "गुरुदेव! यह खड़ाऊँ भी ब्रह्म है। मैं भी ब्रह्म हूँ और आपका तन भी ब्रह्म है। अब ब्रह्म को (खड़ाऊँ) ब्रह्म से (गुरु) मिलने में ब्रह्म को (शिष्य) क्या विपत्ति हो सकती है?"
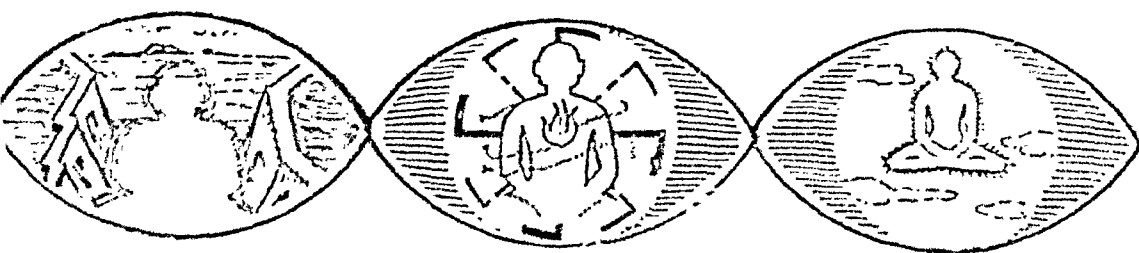
पीपाड़ में कुछ वर्षों पहले मुनिश्री जयमलजी ने पोतियाबन्धों को हरा कर अपना प्रभाव जमाया था। जैसलमेर जाकर अभी उन्होंने जो सत्य धर्म प्रचार किया था उसकी ख्याति फैल चुकी थी। यहाँ आने पर नये सन्तों को और विशेष रूप से कुशलदासजी को जानने को मिला कि कैसे मुनिश्री जयमलजी ने पाखंडियों के मुँह बन्ध कर दिये थे? दीक्षा के बाद कुशलदासजी की भक्ति मुनिश्री जयमलजी के प्रति थी ही, वह विशेष बढ़ गई और दोनों का साथ-साथ बैठना, धर्म-चर्चा करना आदि से अक्सर लोग यह भूल से मान बैठते थे कि दोनों सगे बन्धु न हों! उन दोनों में वैसा ही आत्म-भाव वर्षों तक चलता रहा।

पीपाड़ से पूज्यश्री, मुनि कुशलदासजी और अन्य सन्तों ने मेड़ता विहार किया और पूज्यश्री की आज्ञा से मुनिश्री जयमलजी ने दो सन्तों के साथ जोधपुर की ओर विहार किया।

गाँव-गाँव में मुनिश्री जयमलजी अपने मधुर प्रवचनों से लोगों का हृदय जीत लेते थे। लोग उन्हें अधिक से अधिक दिन ठहरा कर पूरा लाभ लेते थे। इतना ही नहीं, उनमें इतनी धर्म प्रभावना हो जाती थी कि कई गाँव के लोग तो दो-दो तीन-तीन गाँव तक उनके साथ रहते और धर्म-ध्यान करके जीवन को सार्थक बनाते थे।

जोधपुर होकर ही सन्त लौटे थे; फिर भी लोग उनके पदार्पण की राह देख रहे थे। जोधपुर पहुँचते ही सन्तों को लिवा लाने लोग कोश-कोश भर तक सामने आये।

जोधपुर चातुर्मास में राजा और प्रजा दोनों ने मुनिश्री के प्रवचनों का सम्पूर्ण लाभ लिया।

●
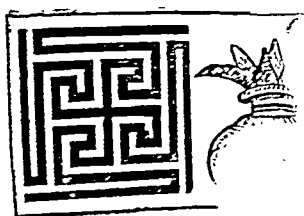
के पानी से नहाने से ब्राह्मण पवित्र होता है, उससे नहा कर शूद्र पवित्र नहीं होता; तब फिर ये बाह्य स्नान - तिलक चन्दन का क्या प्रयोजन है ?

महाभारत में इसके संबंध में एक बड़ा ही सुंदर प्रसंग आता है। जब पांडव आदि तीर्थयात्रा को निकले तो श्रीकृष्ण ने उन्हें एक तुंबडी दी और कहा कि "देखो आप जहाँ-जहाँ जाते हो वहाँ पर इसको भी स्नान कराना, यह बड़ी मह-त्व की तुंबी है। उसे सम्हाल कर वापस लाना!"

पांडवों ने अपनी अडसठ तीर्थों की यात्रा का विवरण दिया और श्रीकृष्ण की आज्ञा लेकर चल दिये। जहाँ जाते, जिस तीर्थ में स्नान करते वहाँ पर उस तुंबडी का भी अभिषेक करते, चूंकि श्रीकृष्ण ने इसे दी है; अतः उसकी बड़ी रक्षा करते थे।

बहुत समय निकल गया और पांडव यात्रा करके वापस लौटे। श्रीकृष्ण से पुनः मिल कर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी तीर्थयात्रा का विवरण बड़ी प्रसन्नता से सुनाया। साथ ही उनकी दी हुई तुंबडी भी उन्हें वापस दी और कहा : "इसे जैसी दी थी वैसी ही आपको दे रहे हैं।"

श्रीकृष्ण ने सेवक को बुला कर तुंबडी के छोटे - छोटे टुकड़े करवा कर सभी दरबारियों को बाँटने को कहा। पांडवों भी एक - एक टुकड़ा दिया और सभी को उस दैवी तुंबी का टुकडा खाने के लिये कहा।

सभी ने खाया और थू थू कर थूक दिया।

श्रीकृष्ण ने पांडवों से कहा :—"क्या, तुम लोगों ने इस तुम्बी को सभी तीर्थों में स्नान नही कराया? चंदन आदि इस पर नहीं लगाया?"

पांडव बोले : "प्रभु! हमने तो सिर्फ एक बार ही स्नान किया; किन्तु उसे तो दो - तीन बार स्नान कराया और चंदन - तिलक भी बराबर लगाते रहे।"

"फिर भी यह तुंबडी कड़वी की, कड़वी रही!" श्रीकृष्ण बोले।

"बाहर स्नान कराने से या चन्दन लेप लगाने से इसके अंदर का कड़वापन थोड़ा ही जायेगा?" पांडवों ने पूछा।

यह विधान सिर्फ जैन धर्म ही दे सकता है ; क्योंकि वह सम्पूर्ण आत्माओं के स्वातन्त्र्य को मानता है और सभी प्रकार के जीवों की हिंसा का निषेध करता है।

अन्य धर्मों को ले लेवें। वहाँ पर आत्मा के स्वातन्त्र्य का स्वीकार नहीं किया गया है। यहाँ तक कि वे मनुष्य की स्वतन्त्रता को भी मान नहीं देते ; चूँकि दूसरे हिन्दू हैं — 'अर्थात् वे काफिर हैं' यह कहकर मुसलमान बादशाह ज़जिया डालते हैं। जब कि उनके धर्म के बड़े ग्रन्थ कुरान में तो यह बताया है कि "सभी खुदा के बन्दे हैं और हर इन्सान को दूसरे इन्सान से मुहब्बत करनी चाहिये।" जब वे आदमी से मानवता का व्यवहार नहीं कर सकते तो उनसे सभी आत्माओं की स्वतन्त्रता की आशा कैसे रख सकते हैं ? अपने पवित्र दिनों में वे बेचारे बकरों की बलि देकर धर्म पालन किया मानते हैं।

तब हिन्दु लोग यूँ तो जैनों के संसर्ग में आने से जीव-हिंसा, माँसाहार को घृणित समझते हैं ; किन्तु देव-देवी के आगे बलिदान के नाम भैंसा बकरा और बहुत से मुर्गे व कुकड़ों को काटते हैं। इसके सिवाय भी जिस देश में जीव-दया की गंगा बहती है वहाँ पर भी कई हिन्दु शाकाहार मिलने पर भी माँसाहार करते हैं। राज-घरानों में आखेट एवं शिकार का शौक बढ़ता जा रहा है और वे भी माँसाहार करते हैं। धर्म और आखेट के बहाने बेचारे कितने ही जीवों को निर्जीव कर दिया जाता है। ऐसे हिन्दु धर्म से भी सच्चे आत्म-धर्म की आशा कैसे हो सकती है ?

इसके अलावा आजकल फिरंगी लोग भी आये हैं। वे भी अपना धर्म बड़ा बताते हैं ; मगर वे तो गाय आदि पशुओं में जीव ही नहीं मानते और उसे मनुष्य के खाने की वस्तु मानते हैं। उनसे भी सच्चे आत्म-धर्म का प्रकाश नहीं मिलता।

एक और धर्म है बौद्ध-धर्म ; लेकिन उसमें भी चन्द्रगुप्त मौर्य के समय अकाल पड़ने के बाद माँसाहार की ओर झुकाव हो गया है। वैसे भी बौद्ध-भिक्षु गोचरी में प्राप्त माँसाहार में बाधा नहीं मानते थे। एक ओर से तो वे जीव-दया का प्रचार करते हैं ;
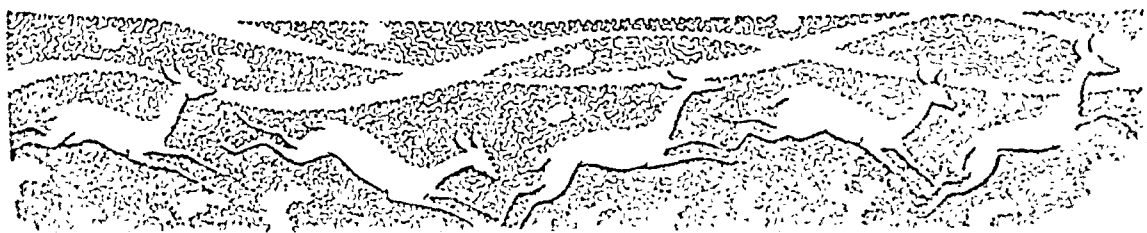
उस रूप में दिखाई नहीं देती। जो आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य से प्रकाशित होनी चाहिये उसका वह प्रकाश दिखता नहीं है। जैसे मिट्टी में मिला हुआ रत्न अपनी चमक को गँवा देता है उसी प्रकार इस जीव के उपर अज्ञान के कारण कर्म रूप रजमेल लगी है और वह सच्चे आत्म तत्त्व को प्रगट नहीं होने देती।

ज्ञानी इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि यह आत्मा की मलीनता उसके कर्मों से होती है जो वह मोह और कषाय से बाँधती है। कई लोग कहते हैं कि "ऐसा उसके करने से हुआ" यह समझना गलत है; क्योंकि इस संसार में जो कुछ होता है उसका कर्ता व भोक्ता सिर्फ आत्मा ही है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है :—

अप्पाकत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्तं अमित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

यह आत्मा ही अपने कर्मों का कर्ता है और भोक्ता है। अपने सुख-दुःख को भोगनेवाली है। यही आत्मा ही अपनी मित्र और वैरी है और यही आत्मा सुप्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति करनेवाली है। प्रति क्षण वह नये कर्म बाँधती है और पुराने कर्मों के उदय को भोगती है। अपनी अच्छी प्रवृत्ति के कारण वह अपना मित्र भी बन सकती है और खराब प्रवृत्ति के द्वारा दुश्मन भी यह अपनी ही बनती है। कोई बाहर के तत्त्व उसके कारणभूत नहीं है।

यही सोच-विचार करके जो ज्ञानी होते हैं, धर्म-क्रियायें करते हैं; फिर भी रात को सोने के पहले और प्रातःकाल उठ कर सर्व प्रथम यही विचार करते हैं :—

जो पुव्वरत्तावर रत्तकाले
संपिक्खए अप्पगमप्पएणं
किं मे कडे? किंच मे किच्चसेसं?
किं सक्कणीजं न समायरामि!

साधक अपने आप यह विचार करता है कि "अरे, यह जगत मुझे धर्मी मान रहा है और मैं भी कैसा आत्म-वंचक हूँ कि अपने आपको ऐसा मानता हूँ; मगर सचमुच
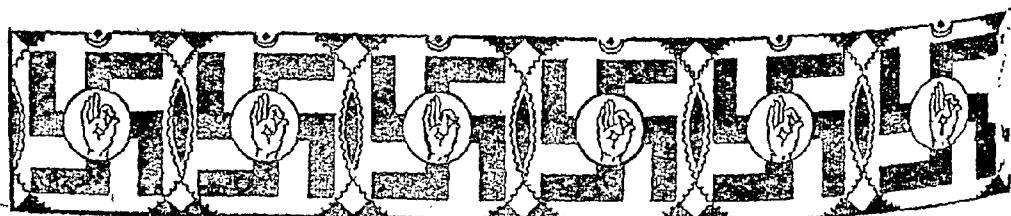
करने का गुण विद्यमान है। पानी में नमक होता है और जब वह आग(क)रों में सूखता है तो वह एक प्रकार की मिट्टी का ही रूप ग्रहण करता है। इतना ही नहीं, इस नमक में अच्छे से अच्छे पुद्गल को गला कर अपने में मिलाने की ताकत होती है। छाण, गोबर जहाँ पड़ता है, वहाँ देखा जाता है कि दो - तीन दिन में वह मिट्टी में बदल जाता है। मिट्टी में चेतन न होता तो ये प्रतिक्रियायें न होतीं। उसके बदले सूखी लकड़ी पर गोबर को रख दें। लकड़ी पर उसकी प्रतिक्रियायें नहीं होतीं। जैसे हमारे शरीर में पंच भूत हैं वे सभी उसमें मौजूद होते हैं। यहाँ तक कि दो पत्थर रगड़ने से आग भी प्रगट होती है। इसीलिये जैन धर्म ने नगण्य मिट्टी के कण में भी आत्मा को माना है और उनकी स्वतन्त्रता जाहिर की है।

अब पानी को लें। एक जल बिन्दु में कितने ही जीव जैन धर्म मानता है। लोग कहते हैं कि एक बिन्दु में ऐसे अनेक जीव कैसे हो सकते हैं? उसको समझाने के लिये हमारे यहाँ बहुत से कुशल आचार्यों ने एक बिन्दु जितने स्थान पर सो जितने अंक लिख कर उसकी यथार्थता साबित की है। पानी में जीव है इसके बारे में दो बातें प्रत्यक्ष रूप से है। एक तो पानी की बूँद को हवा में रखो। वह विजातीय जीव के संयोग से नाश को प्राप्त होती है यानी पानी उड़ जाता है। जीव नहीं होता तो इस प्रकार उसके कलेवर का हवा में मिल जाना सम्भव नहीं होता। उसी कद का लकड़ी का टुकड़ा निर्जीव होने से वैसा ही रहता है। इसके सिवाय भी कुछ पानी कीं बूँदे एक बन्द बोतल में भर कर रखी जाँय। थोड़े दिन के बाद वह पानी में कुछ विकार सा नजर आयेगा। जड़ पदार्थ इस तरह की विकृति को नहीं पा सकते।

उसी प्रकार वायु काय के जीव और अग्नि के जीवों की पहचान हो सकती है। जहाँ वायु काय के जीव स्थान पाते हैं वह सभी सजीव वस्तुओं को फूला देते हैं। अग्नि के जीव की विनाशक शक्ति तो एक ही चिन्गारी में दावानल प्रगटाने के रूप में प्रत्यक्ष देखी जाती है। स्थावर जीवों में सब से अधिक शक्ति अग्नि की है। उसकी छोटी सी चिन्गारी के जीव बढ़ते - बढ़ते बड़ी - आग के रूप में विकसित हो जाते हैं।
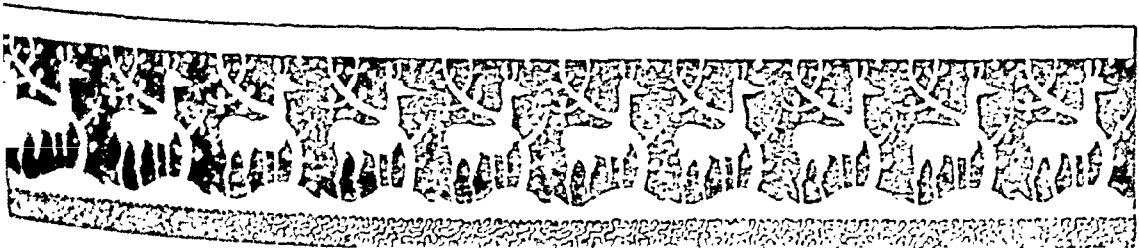
कर्म बीज हैं। इस पर से समस्त संसार के सुख-दुःख का कारण राग-द्वेष ही है, ऐसा वह मानता है।

मगर यह राग-द्वेष क्या है? वह जीव का स्वभाव नहीं है। वह कई बार यह भी चाहता है कि वह उन राग-द्वेष से बचे; किन्तु उसे अनुभव होता है कि वह राग-द्वेष से इस प्रकार जकड़ा हुआ है कि उससे मुक्ति पाने के लिये बेचैन हो उठता है; क्योंकि जो जीव चैतन्यमय है उसे ये बन्धन पसन्द नहीं होते; वह तो क्रियाशील है, उसे विकास साधना है; मगर उसे पग-पग पर रोकनेवाला यह कौन है? कुछ और है और वह उसकी आत्मा तो नहीं है — वह है कर्म; "कर्म" उसे बाँधे हुए है।

तभी ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा का "मर्म" समझ और धर्म कर-देख कहीं भ्रम में न रह जाना। आत्मा का मर्म यही है कि यह आत्मा अनन्त शक्तिवाला होने पर भी परवश क्यों हैं? उसकी परवशता को दूर करना यही धर्म है; हालाँकि वह धर्म करता है; किन्तु कई बार धर्म के नाम पर जो कुछ कार्यवाही करता है वह अधर्म की होती है — यानी बन्धनों से छूटने के बजाय वह और भी अधिक बन्धन में फंस जाता है अर्थात् धर्म के बदले भ्रम में पड़ जाता है।

जैसे कोई पराक्रमी पुरुष भी बन्धनों में जकड़े जाने पर निरुपाय हो जाता है उसी प्रकार जीव कर्म रूपी बन्धनों में फँसने पर अशक्त बन जाता है और जैसे वह शक्तिशाली जीव उस बन्धन को छोड़ने का प्रयत्न करता है; और यदि वह प्रयास सच्ची दिशा में रहा तो वह कर्म बन्धन छोड़ने में आगे बढ़ता है; नहीं तो वह कर्म बन्धन की गाँठें और भी देता रहता है और उसमें उलझता रहता है।

इसीलिये ज्ञानी कहते हैं कि तत्त्व की पहचान करो; यानी संसार में "तुम कौन हो" इसको अच्छी तरह पहचानो। वस्तु के स्वभाव को अच्छी तरह पहचानो और ज्यों-ज्यों उसे पहचानते जाते हो उस पर श्रद्धा करो।
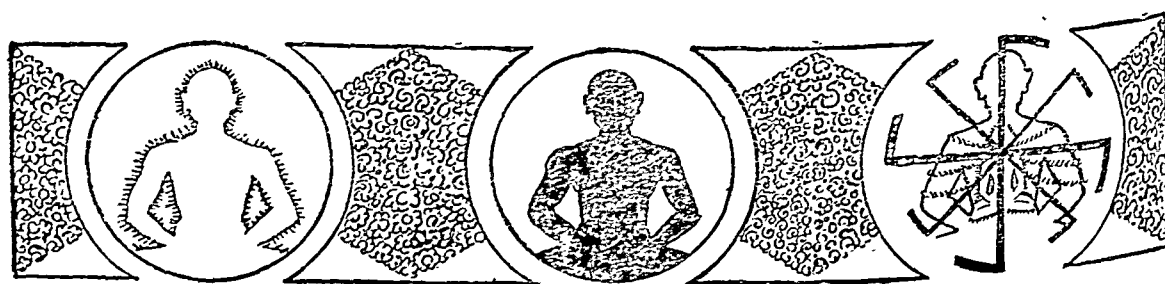
के पग-पग पर बिखरे आत्म स्वरूप को सिर्फ जैन धर्म ने ही प्रकाश दिया है और जहाँ अविवेक से कितने ही जीवों का विनाश होता है वहाँ निर्ग्रंथ के लिये कहा गया है :—

जयं चरे जयं चिट्ठे ।

वह यतना से चले और यतना से खड़ा रहे। ताकि किसी जीव की विराधना न हो। वह आहार-पानी भी लेवे तो सिर्फ निर्दोष, प्रासुक....! क्योंकि उनको ही आत्म-धर्म का प्रचार करना है। अतएव उनका ज्ञान-विवेक और आचरण अत्यन्त उन्नत होना चाहिये। जो स्वयं विवेकी नही, वे दूसरों को कैसे विवेक का ज्ञान करा सकेंगे?

भगवान महावीर के शासन-काल में यही तो प्रमुख बात है कि उन्होंने इतने विस्तार से आत्म-स्वरूप समझा कर पग-पग पर उन जीवों की रक्षा का आदेश दिया है क्योंकि जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, वह सभी में समान है। जो जीव मिट्टी के कण में है, वही जीवतत्त्व विशाल हाथी में भी है और वही मानव में है। भेद सिर्फ विकास का है; कोई बिल्कुल ही विकसित नहीं है तो कोई परमात्मा पद पाने की तैयार कर रहा है। विकसित आत्मा का कर्तव्य है कि वह पिछड़ी आत्माओं के उद्धार और विकास का रास्ता बताये। वही रास्ता सच्चा धर्म है। जो उस पर चलता है, विकास को प्राप्त होकर परमात्मा बन सकता है।

*　　　　　　*　　　　　　*

इस प्रकार आत्म-धर्म का जय-जयकार गुंजाते मुनिश्री जयमलजी म० सा० ने सन्तों के साथ जैसलमेर में धर्म जागृति करके जोधपुर की ओर विहार किया।

●
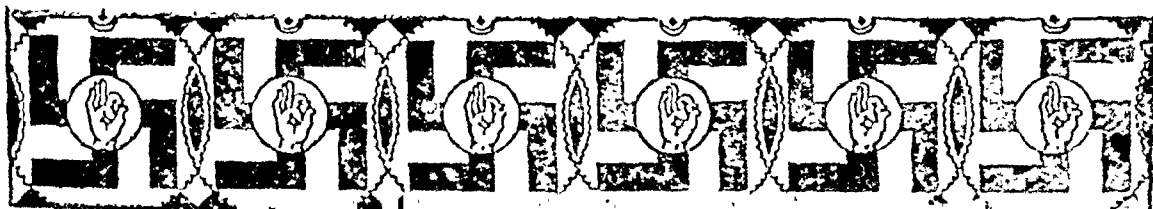
महाभारत में वर्णन आता है कि पांडव वन में गये। प्यास लगने पर अर्जुन को सब से ऊँचे वृक्ष पर चढ़ा कर तलाश करने को कहा गया कि "देखो तो सही कोई झील या तालाब दिखता है?"

अर्जुन ने चढ़कर कहा कि "हाँ, थोड़ी दूर पर ऐसा जलाशय है!"

तुरन्त ही भीम को जल लाने भेजा गया; मगर वह न लौटा। फिर अर्जुन को भेजा; वह भी न लौटा। सहदेव और नकुल भी गये और वे भी न लौटे।

अब युधिष्ठिर को विचार हुआ कि क्या बात है कि चारों में से एक भी नहीं लौटा है? वह खुद उनकी तलाश में तालाब की दिशा में गया। वहाँ पर पहुँच कर उसने देखा कि उसके चारों भाई बेहोश होकर किनारे पड़े हैं।

युधिष्ठिर ने विचार किया कि "क्या बात है? क्या यहाँ का पानी विषाक्त है? पानी विषाक्त हो तो जलाशय में रहनेवाले जलचर जीवित नहीं रह सकते और न ही इसके आसपास के वृक्षों पर रहनेवाले पक्षी भी।

उसे बहुत ही प्यास लगी थी और वह पानी पीने जैसे झुका वैसे अदृश्य वाणी हुई :—"हे युधिष्ठिर! तुम मेरे प्रश्नों के उत्तर दिये बिना जल को हाथ मत लगाना; वरना तुम्हारी भी गति तुम्हारे भाइयों जैसी होगी!"

वह एक यक्ष था। उसने युधिष्ठिर से बहुत से प्रश्न किये उसमें एक प्रश्न यह था कि "मनुष्य की सब से बड़ी मूर्खता या अज्ञान क्या है?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया :—"हे यक्ष! प्रति दिन मृत्यु होने पर इस शरीर को छोड़ कर आत्मा अन्यत्र चली जाती है — यह देख कर भी मनुष्य अपने आपको अमर मान कर, इस नश्वर देह के भोग-विलास में पड़ा रहता है; इससे बड़ा अज्ञान कोई नहीं है!"

इस पर से एक बात तो स्पष्ट होती है कि यह तन, धन, स्त्री-पुत्र, परिवार सब कुछ अपना नहीं है। यह तन बिना जीव के निर्जीव कहलाता है। इसलिये संसार
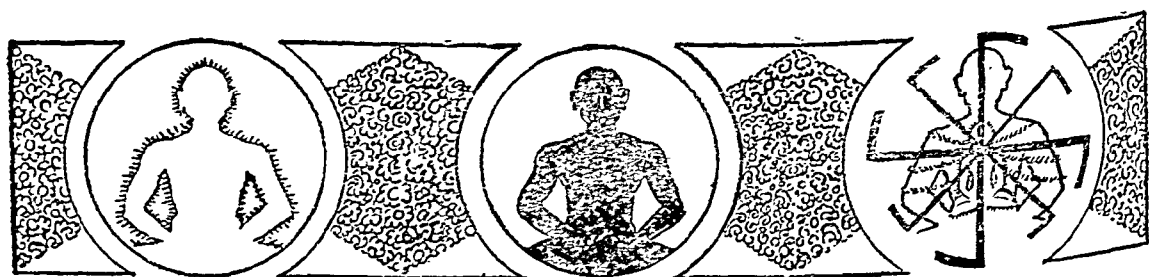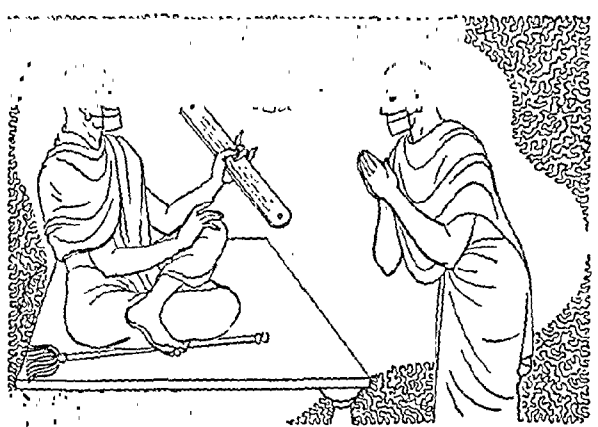
के आडम्बरों से युक्त संस्कृत को छोड़ कर, लोक मानस में धर्म संस्कार भरने के लिये जन पद की लोक भाषा प्राकृत - अर्ध मागधी को ही अपनाया था। आज भी जो भाषा प्रचलित हो उसे अपनानी चाहिये।

संतों के मारवाड़, मेवाड़, जयपुर बूंदी - कोटा - बीकानेर के क्षेत्र स्पर्शने पर और गुजरात सौराष्ट्र - महाराष्ट्र आदि में विचरण करने पर तत्कालीन लोक भाषा हमेशा सामने आती थी। गुजरात और राजस्थान की सीमायें जहाँ मिलती हैं वहाँ एक प्रकार की मिली जुली राजस्थानी (हिन्दी का पूर्व रूप) भाषा का प्रचलन दोनों प्रान्तों में थोड़े से शब्दों के हेर फेर के साथ देखा जाता था और भाट - चारणों ने यही भाषा अपना ली थी।

मुनिश्री नारायणदासजी म. के मार्ग - दर्शन में मुनिश्री जयमलजी ने अपना काव्य साहित्य इसी भाषा में रचना शुरू किया था। जहाँ पुनः सन्तों का मिलन हुआ तो नये काव्यों की भी चर्चा चली और पूज्यश्री ने उसके प्रति अपना साधुवाद प्रगट किया कि युगानुरूप लोक भाषा में धर्म का प्रचार हो....! युग की माँग को देखते हुए और धर्म प्रचार के निमित्त भी इसकी आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। अतः मुनिश्री जयमलजी की काव्य साधना भी चलती रही।

जोधपुर नरेश ने स्वयं मेड़ते में आकर विनति की थी और पीपाड़ में भी उनकी ओर से दीवान रतनशीजी ने आकर पुनः विनति की। पूज्यश्री ने भी पुद्गल स्पर्शना अनुकूल रही तो जोधपुर स्पर्शने के भाव व्यक्त किये।

सन्तों के मिलन के बाद आपस की सलाह विचारणा के बाद मुनिश्री रघुनाथमलजी आदि सन्तों का नागौर की ओर विहार हुआ और पूज्यश्री भूधरजी म० सा० ने अपने शिष्यों सहित सेठोंवाली रियाँ की ओर विहार किया।

सेठोंवाली रियाँ वहाँ के ओसवाल कुल के सेठों की समृद्धि के कारण सुप्रसिद्ध है। कहा जाता है कि जोधपुर नरेश मानसिंह से किसी ने पूछा कि मारवाड़ में कितने घर हैं तो

इससे जीव और अजीव दोनों को बांधनेवाले, संयोग करानेवाले बन्ध तत्त्व में भी स्वतन्त्र तत्त्व के बारे में अनेक वस्तुएँ सामने आती हैं और जब जीव इस बन्ध को, कर्म बन्धन को काटता है तो वह मुक्ति को पाता है तो यह मुक्ति या मोक्ष भी एक तत्त्व के रूप में सामने आता है।

आत्मार्थी मुमुक्षु अतः तत्त्व विचार करके यह जानता है कि उसका इन अजीव-कर्मों से कैसे बन्धन हुआ और कैसे-कैसे इन बन्धनों ने उसकी शक्ति का ह्रास किया है और अब वह क्या करे ताकि उन कर्म बन्धनों को काट कर वह मोक्ष को पा सके! जब तक ऐसा नहीं होता उसे संसार की गतियों में फिरना है और आत्म-शक्ति की सम्पूर्ण प्राप्ति से वंचित होना है।

जैन दर्शन में इस तत्त्व-स्वरूप विचार को विस्तार से नव विभाग में बाँटा है। शास्त्रकार कहते हैं :—

जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो णिज्जरा मोक्खो संतेए तहिया णवं॥

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव तथ्य तत्त्व हैं और इनको जानना चाहिये। इतना ही नहीं, जीवात्मा के लिये कहा गया है कि ज्ञान से उसको इन पदार्थों को जानना चाहिये, दर्शन से उस पर श्रद्धा करनी चाहिये, चारित्र्य से आते हुए कर्मों को रोकना चाहिये और तप से पहले के कर्मों को क्षय करके शुद्ध होना चाहिये एवं सर्व दुःख से रहित मोक्ष गति प्राप्त करनी चाहिये।

इसलिये सर्व प्रथम आवश्यक यह है कि इन नव तत्त्वों को भली-भाँति जान लिया जाये। उसमें जीव के बारे में तो उसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। ऐसे जीव संसार में कितने हैं?

जीवों के दो भेद संसारी और सिद्ध ऐसे कहे गये हैं। अनन्ते जीव सिद्ध में कर्म क्षय कर पहुँच गये हैं और इस संसार में रहे हुए अनन्ते जीव कर्म को क्षय कर मोक्ष में भी जायेंगे।
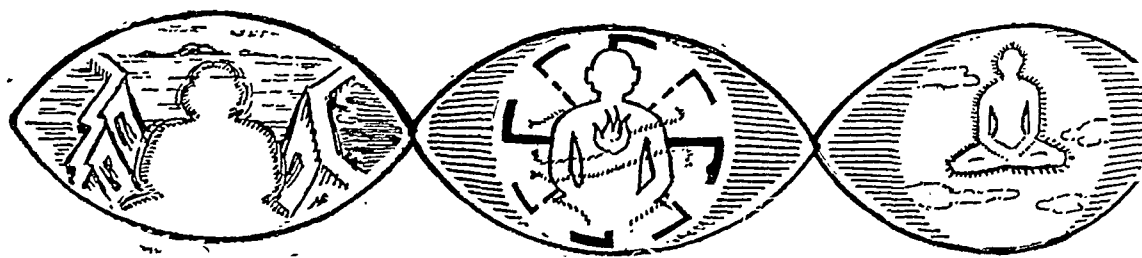
महाराज को विश्वास तो नहीं हुआ; लेकिन जब रियाँ से जोधपुर तक सिक्के भरके छकड़ों की कतार बन्ध गई तब उनके दिल का उत्साह बढ़ा। उन्होंने पुनः सेना जुटवाई और जोधपुर पर अपनी राज्य - सत्ता कायम की।

एक और तो महाराज को मन्त्री के नाते बुद्धि सलाह देनेवाले जोधपुर के दीवान भंडारीजी थे और धन सहायता रियाँ से मिली थी; अतः उन्होंने रियाँ के सेठों का बहुमान किया — वह गाँव भी उनके नाम पर कर दिया और "जोधपुर के ढाई घरों" में उनका भी एक घर गिना जाने लगा।

रियाँ के सेठो ने पूज्यश्री आदि सन्तों के पदार्पण पर बड़ा ही हर्ष व्यक्त किया और बड़ी ही भक्ति दिखाई। वहाँ पर नित्य प्रति दिन पूज्यश्री और मुनिश्री जयमलजी के व्याख्यान होते थे। जोधपुर चातुर्मास के बाद उस क्षेत्र को भी पवित्र करने की विनति की गई। जोधपुर से संत गण विहार कर पीपाड़ की ओर चले और पुनः रियाँ पहुँचे। एक बार रात्रिके समय धर्म - चर्चा चल रही थी तब एक युवक ने पूछा: "महाराज सा० ! संसार में दुःख ही दुःख भरा है, तो उससे बचने का कोई उपाय है या नहीं?"

पूज्यश्री ने कहा? "संसार के दुःखों का निवारण सांसारिक वस्तुओं से नहीं होता है। धर्म ही दुर्गति में पड़ते हुए जीवों के लिये गति रूप है, शरण रूप है और आधार रूप है। धर्म आराधना ही शांति दिला सकती है। उसकी आराधना करो।

युवक ने यह पूछा: "जो संसार में फँसे हैं वे उसमें से कैसे निकले?"

पूज्यश्री ने फरमाया: "संसार के सुख क्षणिक हैं, वहाँ तो पग - पग के ऊपर दुःख ही दुःख हैं। उस दुःख का गहरा विचार कर संसार त्याग कर उससे तिरा जा सकता है!"

युवान को पूज्यश्री की बात जंची। उसका नाम था कुशलदास - प्यार से घरवालों में माताजी उसे कुशलाजी कहकर पुकारती थी अतः लोग भी उसे कुशलाजी कहकर बुलाते थे।

प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों के वृक्ष, गुच्छ, गुल्म लता, वेल, तृण पावग, वलित काय, हरितकाय, धान्य, जल, वृक्ष, कुकुरमुत्ता आदि अनेक प्रकार के वनस्पतिकाय जीव हैं जिनकी कुल योनि दस लाख मानी गई है।

साधारण वनस्पतिकाय जीवों में सभी प्रकार के जमींकंद जैसे आलू, मूली, प्याज, लसून, गाजर, सभी प्रकार के कंद, अदरक, हल्दी, थोर और लीलनफूलन आदि का समावेश होता है। साधारण वनस्पतिकाय की जीव योनि चौदह लाख बताई गई है।

यों वनस्पतिकाय के तीन भेद सूक्ष्म, बादर प्रत्येक और बादर साधारण उनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त मिला कर छः भेद होते हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों के कुल बाईस भेद होते हैं।

इससे आगे विकसित जीवों पर दृष्टि डालते हैं तो दो इंद्रियवाले जीव चलने-फिरनेवालों में सामने आते हैं। एकेन्द्रिय जीव यानी जो स्थावर हैं उन्हें तो एक ही इंद्रिय यानी स्पर्शेन्द्रिय ही होती है; किन्तु दो इंद्रिय जीवों को रस और स्पर्श दोनों इंद्रियाँ होती हैं। इनके भेदों में हम कृमि, अलसिये (केंचुवे), कौड़ी, शंख, जोंक आदि जीवों को पाते हैं। इसके भी दो भेद हैं; पर्याप्त, और अपर्याप्त इनकी योनि दो लाख मानी गई है।

तीन इंद्रियवाले जीव इन जीवों से और भी विकसित होते हैं। उन्हें रस-स्पर्श और गन्ध की इंद्रियाँ होती हैं। उसके भी दो भेद होते हैं पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद इस प्रकार हैं :—"जमीन में पैदा होनेवाली चींटी, मकोड़े उदेई, धान्य आदि में होनेवाली इली, घुण आदि, गोवर विष्टा में पैदा होनेवाले कीडे, मानव और पशु के अंगोपांग में पैदा होनेवाली जूं, लीख, खटमल, चांचड आदि। उत्पत्ति के स्थान से इनकी दो लाख योनि मानी गई है।

चार इंद्रियवाले जीवों को रस-स्पर्श-गन्ध और देखने की इंद्रियाँ होती हैं। उनके भी दो भेद होते हैं पर्याप्त और अपर्याप्त। उनकी अनेक जाति पाई जाती हैं जैसे मक्खी, मच्छर, टिड्डि, भंवरे, पतंगे, विच्छु आदि। इनकी कुल दो लाख योनि मानी गई है।
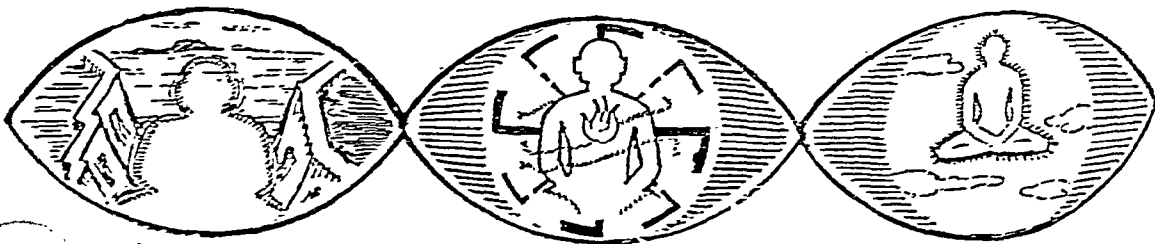
कुशलदास में पहले पितृ वियोग के कारण उसमें और भी उदासीनता आ गई। दूकान में भी उसका मन नहीं लगता था। जब देखें तब वह शून्य मनस्क बैठा रहता था।

माता धर्म सहित सुश्राविका थी। सन्तों के पदार्पण होते रहते थे। पूज्यश्री के पधारने पर उसने पुत्र से कहा :—"पूज्यश्री जैसे सन्त पधारे हैं, उनके दर्शन, वन्दन, प्रवचन का लाभ ले; धर्म के दो वचन श्रवण होने से मन हलका हो जायेगा!"

तदनुसार कुशलदास व्याख्यान में आने - जाने लगा। उसके दिल में उदासीनता तो थी ही, साथ में पूज्यश्री, मुनिश्री जयमलजी के धार्मिक प्रवचनों के कारण वैराग्य भी बढ़ना शुरू हुआ।

उसके मन में द्वंद्व जगा कि क्या करूँ....? वैराग्य यानी माता और पुत्र को छोड़के जाना था। प्रवचन सुनकर होता था कि दोनों को छोड़ कर अभी वैराग्य ले लूँ....! और घर आते ही दूध - मुँहे शिशु को देख कर होता था कि इसे किसके आधार पर छोड़ कर जाऊँ?

कानूबाई ने देखा कि कुशलदास का मन धर्म - क्रियाओं में और प्रवचनों में लगा है तो पूज्यश्री कुशलदास को समझायेंगे; इस उद्देश्य से वह उस छोटे से शिशु को लेकर कुशलदास के साथ पूज्यश्री के पास आई और शिशु को दिखा कर पूज्यश्री से बोली :— "बापजी! इसे (कुशलदास) थोड़ा समझाइये। इस बच्चे की माँ — मेरी बहू तो इस छोटे से बच्चे को छोड़ कर चली गई; किन्तु अब ये भी उदास - उदास बैठा रहेगा तो घर कैसे चलेगा!"

पूज्यश्री ने कुशलदास से प्रश्न सूचक दृष्टि से देखा।

कुशलदासजी ने इतना ही कहा :—"बापजी, मेरा मन कहीं पर भी नहीं लगता। मैंने होश में पाँव धरे ही थे कि पिताजी चले गये; फिर कुछ होश सम्भाला, ब्याह किया और हमारा संसार ठीक से चलने लगा। यह बालक भी हमारे घर पैदा हुआ; किन्तु देखिये, इसकी माता इसको, हम सभी को बेसहारा छोड़ कर चली गई....! आखिर क्यों ऐसा होता

परवाले जीव जैसे चकवा, हंस कौआ आदि। इसके अलावा समुद्री पंखी जिनके पंख ढंके हुए सन्दूक की तरह होते है जो उड़ते कम हैं, मगर दौड़ते अधिक हैं जैसे शहामृग (शुतुर मुर्ग) और वित्रत पक्षी जिनके पंख सूप सरीखे हैं।

तिर्यंच पंचेंद्रिय की चार लाख जीव योनि मानी गई हैं। इनके पाँच भेद स्थलचर चतुष्पद, स्थलचर-उरपरिसर्प और स्थलचर-भुजपरिसर्प, जलचर और खेचर हैं। इनके संज्ञी और असंज्ञी कुल दस भेद और पर्याप्त एवं अपर्याप्त मिला कर कुल २० भेद कहे गये हैं।

कुल मिला कर हम जिन तिर्यंचों को देखते हैं उनके भेद होते हैं :— पंचेंद्रिय तिर्यंच — २०, विकलेंद्रिय तिर्यंच, ६ भेद और एकेंद्रिय तिर्यंच के २२ भेद — कुल ४८ भेद होते हैं। जीवों की ८४ लाख योनि में ६२ लाख योनि में तिर्यंच के जीव उत्पन्न होते हैं। उनकी व्यापकता का विचार इस पर से आता है कि सूक्ष्म एकेंद्रिय तिर्यंच जीव चौदह राजु लोक के लोकाकाश में, खचाखच भरे हुए हैं।

संसार के जीवों की चार गतियाँ मानी गई हैं। उनमें जो जीव छल कपट करते हैं, धन-दौलत आदि जड पदार्थों में आसक्ति बढ़ाते हैं, हलके कषायों में लीन रहते हैं उन जीवों को तिर्यंच की गति प्राप्त होती है। आत्म-ज्ञान प्रगटाने की शक्ति होने पर भी जो जड़ बने रहना चाहते हैं या अज्ञान-दशा में ही पड़े रहना चाहते हैं वे जीव स्थावर एकेंद्रिय तिर्यंच की गति पाते हैं।

चार गति में सब से अधिक हिंसा करनेवाले महा परिग्रह करनेवाले, मद्यपान और माँसाहार करनेवाले जीवों के लिये नरक गति बताई गई है। ऐसी सात नरकें हैं :— घम्मा, वंसा, सीला, अंजणा, रिट्ठा, मघा और माघवती। उनके गोत्र हैं :— १. रत्नप्रभा २. शर्कराप्रभा ३. वालुकाप्रभा ४. पंकप्रभा ५. धूम्रप्रभा ६. तमःप्रभा ७. तमःतमःप्रभा। ये गोत्र इसलिये बताये गये हैं कि नरक में सूर्य, चन्द्र, तारों का प्रकाश तो पहुँच नहीं सकता; किन्तु अंधेरा ही रहता है और क्रमशः अंधेरा बढ़ता जाता है। रत्नप्रभा नरक में रत्न चमके उतना ही प्रकाश होता है तो सातवीं महातमप्रभा में घोर अंधकार ही व्याप्त है।

सन्त गण ने विहार पीपाड़ की ओर किया। कुशलदास का मन इतना लग चुका था कि करीब आधे पहर तक दिन चढ़े जहाँ तक पहुँचा जाये वहाँ तक सन्तों को पहुँचा आये। पश्चात् जहाँ सन्तों का ठहरना हो तो वह भी दर्शन-वन्दन-प्रवचन का लाभ लेना नहीं छोड़ता था। पीपाड़ में मुनिश्री रघुनाथजी म. सा. के चातुर्मास में उसके भाव और भी चढ़ते गये। सन्तों पर वर्षा के कारण परिषह पड़े उसकी कहानी सुन कर उसके दिल पर इस सन्त जीवन का गहरा प्रभाव पड़ा।

उसके दिल में भी होने लगा कि कब वह दिन आयेगा जब कि मैं भी दीक्षा लूँ? चातुर्मास के बाद पूज्यश्री का विहार पुनः रीयाँ के आसपास हुआ तो उसका मन और भी दृढ़ हो गया।

वहाँ से वे विहार कर पाली की ओर पधारे तब कुशलदास को लगा कि इस असार संसार सागर में वह अकेला है। उसकी जीवन नौका के लिये पूज्यश्री जैसे गुरु की कृपा रूपी मार्ग-दर्शन चाहिये।

माता से पुत्र की यह मानसिक अस्वस्थता छिपी नहीं थी। उसने पूछ ही लिया— "पुत्र! तूने अपनी क्या हालत बना रखी है?"

कुशलदास ने अपने मन की बात स्पष्ट कह दी:—"माँ! मैं दीक्षा लेनेवाला हूँ.....!!"

माता ने सहसा विश्वास नहीं किया। उसने पहले तो दीक्षा की कठिनाइयाँ समझाई। साधु-चारित्र के पालन में कितना सहना पड़ता है यह भी बताया।

कुशलदास फिर भी दृढ़ थे।

माता ने फिर नन्हे-मुन्ने बच्चे की दुहाई दी और पूछा कि इसको कौन सम्हालेगा? मगर कुशलदासजी पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा।

अन्त में माता ने हार कर कहा:—"पुत्र! तेरे पिता चल बसे तब यही आशा थी कि तू बड़ा होगा और मेरा बुढ़ापा आराम से कट जायेगा; मगर तू यह क्या जिद लेकर बैठा है! मैं किसके सहारे रहूँगी?"

इधर रीयाँ के श्रावक संघ ने आचार्य पूज्यश्री भूधरजी म. सा. के पास समाचार भिजवाये। वे विहार कर रीयाँ पधारे।

*　　*　　*

इधर जेसलमेर में धर्म प्रचार करते हुए मुनिश्री जयमलजी शेरगढ बॉलेसर होकर जोधपुर पधारे। जोधपुर में उनके प्रवचनों की धूम मच गई। लोगों ने अति आग्रह से उन्हें वहाँ चातुर्मास करने की विनति की। उन्होंने कहा कि पूज्यश्री आज्ञा देंगे तो मेरी स्वीकृति होगी।

पूज्यश्री पाली थे अतः लोगों ने बड़े उत्साह से वहाँ जाकर बहुत ही अनुनय विनय करके स्वीकृति प्राप्त कर ली। साथ ही पूज्यश्री के आदेश के अनुसार उन्हें रीयाँ आने का समाचार भिजवाये।

तदनुसार मुनिश्री जयमलजी भी विहार कर सन्तों के साथ रीयाँ पहुँचे। पूज्यश्री ने कुशलदासजी की मनःस्थिति बताई और साधु-दीक्षा के लिये उन्हें तैयार कराने के लिये सौंपा। थोड़े ही दिनों में कुशलजी साधु प्रतिक्रमण आदि सीख गये।

सभी तैयारी देख कर रीयाँवालों ने दीक्षा की तैयारी शुरू की। पीपाड़ व आसपास के गाँवों के श्री संघों को निमन्त्रण भेजे गये।

संवत् १७९४ के फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी के दिन कुशलजी को पूज्यश्री के हाथों बड़े ही उत्साह से दीक्षा दी गई। लोगों में धर्म-ध्यान और व्रत-तप का बड़ा आनन्द था।

विधिवत् होली पास आ रही थी और रीयाँवालों के अति आग्रह से होली तक सभी सन्त वहाँ रुके और होली के बाद फिर अलग-अलग क्षेत्रों में विचरणा हुई। पूज्यश्री सोजत आदि क्षेत्रों को पावन करके पीपाड़ पधारे। इधर मुनिश्री जयमलजी पाली आदि क्षेत्रों को पवित्र करते हुए पीपाड़ पधारे।
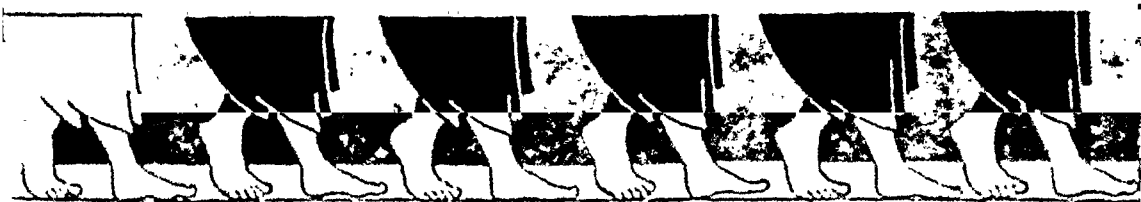
रहने की अपेक्षा से उनकी जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल की है। ३. भाव से पुद्गलों को ५ प्रकार का वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और २ प्रकार की ध्वनि से यों अनेक भेदाभेद हैं।

* * *

जीव और अजीव जिससे बन्धते हैं वे कर्म हैं।

३. उसमें पुण्य को शुभ कर्म का उदय माना जाता है। पुण्य की व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि जिससे जीव को सुख की प्राप्ति हो तथा जिस साधन से आत्मा उत्तरोत्तर पवित्र बने वह पुण्य है। पुण्य की प्रकृति शुभ होती है। पुण्य कठिनाई से, शुभ योग से बांधा जाता है और सुख से भोगा जाता है।

४. इसके विरुद्ध पाप अशुभ योग से और बड़ी सरलता से बांधा जाता है; किन्तु उसको भोगते समय बड़ा दुःख होता है और कठिनाई से छूटता है।

५. दोनों प्रकार के कर्म आत्मा से आकर मिलते हैं उसे आस्रव कहते हैं।

६. उसको रोकने का कार्य संवर करता है।

७. पुराने कर्म विपाक को तपादि से खपाना निर्जरा कहलाता है।

८. ये सभी कर्म कैसे बन्धते हैं? कैसे छूटते हैं इसका निरूपण "बन्ध" में आता है।

९. सभी कर्मों को सर्वथा क्षय होने पर आत्मा का अपने स्वरूप में लीन होना मोक्ष कहलाता है।

इस प्रकार नव तत्वों को संक्षिप्त में जान लेने के बाद स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि जब आत्मा का कर्म बन्धनों से छूटना ही लक्ष्य है और पुण्य एवं पाप दोनों ही आश्रव के भेद हैं तो फिर उन्हें अलग तत्त्व के रूप में मानने की और समझने की क्या आवश्यकता है?

सर्व प्रथम तो हम इतना ही विनम्र बुद्धि से कह सकते हैं कि तीर्थंकर भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट रूप से मोक्ष मार्ग पर प्रकाश डालते हुए तत्त्व

३९

जय - तत्त्व निरूपण

सं १७९५ का चातुर्मास जोधपुर में हुआ। मुनिश्री जयमलजी के लिये यह एक परीक्षा थी। अब तक उन्होंने सभी चातुर्मास पूज्यश्री भूधरजी के साथ किये थे। तब तक उन्हें अपने अध्ययन मनन - चिंतन - प्रवचन तक की ही चिंता रहती थी। पृथक् संघाड़ा (टोला — दो - दो या उससे अधिक सन्त) के रूप में हालाँकि वे जेसलमेर तक विहार करके आये थे और उन्होंने धर्म प्रचार किया था; फिर भी सम्पूर्ण चातुर्मास बिताना, उनके लिये नया अनुभव था।

वैसे ऐतिहासिक दृष्टि से यह वर्ष अत्यन्त महत्व पूर्ण था। प्रधान मन्त्री रत्नसिंहजी भंडारी जब दिल्ही में थे तभी उन्होंने दिल्ही सल्तनत से अपने राजा अभयसिंहजी के लिये गुजरात और अजमेर की सुबागिरी प्राप्त कर ली थी। मगर उस समय दिल्ही की सल्तनत के फरमान को बड़ी मुश्किल से मान दिया जाता था। अतः वे सं. १७८५ में अपने चाचा के लड़के भंडारी विजयराजजी के साथ गुजरात की सुबागिरी प्राप्त करने लड़ाई करने गये। उन्होंने विजय प्राप्त की और वहाँ १७८७ में उन्हें वहाँ के नायब सुबेदार * (शासक) महाराजा अभयसिंहजी ने अपनी ओर से बनाया था।

सं. १७८७ - ८८ के बाद लगातार मराठाओं के आक्रमण चालु रहे थे और अजमेर की सुबागिरी खतरे में आ जाने से महाराजा अभयसिंहजी ने १७९० में उन्हें गुजरात का सुबेदार बनाया और १७९२ में अजमेर की सुबागिरी भी सौंपी।

इस पद पर उस समय कोई भी सामान्य पुरुष नहीं रह सकता था; किन्तु रत्नसिंहजी ने वहाँ पर सुबेदार बने रह कर अपने अपूर्व शौर्य व बुद्धि का परिचय दिया था। कई बार मराठा सेनायें आईं; मगर वहाँ से अपने मुँह की खाके लोट गई थी।

* Governer

जानना चाहिये और उसे भी पाप जैसा आश्रव मान कर सिर्फ हेय समझना अज्ञान है। तब, पाप सिर्फ हेय है और त्याज्य है। वह तो छिद्रवाली नौका सा है जो मझधार में ही उसमें बैठनेवालों को डूबा देती है।

आत्मा का धर्म इस पर से हमारे आगे बहुत ही स्पष्ट है कि यह जीव कर्मों के कारण संसार में चक्कर लगा रहा है। उससे उसे छुटकारा पाना है। एतदर्थ कर्मों में पाप कर्म को उसे दूर करना है और पुराने कर्मों को क्षय करके, शुभ कर्मों के द्वारा अपनी परम दशा को प्राप्त करना है। संक्षिप्त में यही तत्त्व विचार का सार है। अलग-अलग कर्म क्या है? उसकी प्रकृति, स्थिति, प्रभाव और उस प्रभाव को दूर करने का क्या उपाय हैं? उस पर अन्तःकरण से विचार कर आत्मा को क्रमशः सरल और अल्प कर्मी बनाने का है। इसके लिये ही संयम मार्ग है। संयम दशा में व्यतीत प्रत्येक पल का मूल्य बहुत ही ऊँचा सभी धर्म प्रिय आत्मा को वह संयम मार्ग यथा शक्ति अपनाना चाहिये।"

* * *

उनका इस प्रकार जैन तत्त्व निरूपण स्पष्ट करने से जैन ही नहीं अजैन लोग भी धर्म के रहस्य को जानने लगे। मुनिश्री का कहना होता था जैन मात्र को सर्व प्रथम तत्त्व का ज्ञान होना चाहिये। जिसने आत्मा को पहचान लिया उसने सब को पहचान लिया और जिसने आत्मा को जीत लिया उसने सभी को जीत लिया है।

उनकी तपस्या और विगय त्याग भी अनेकों के व्रत-तप के लिये प्रेरक बनते थे। वैसे जोधपुर में अनेकों ने सत्य धर्म को समझा और व्रत-नियम अंगीकार किये।

जोधपुर चातुर्मास के बाद जब मिगसर वदी एकम को उन्होंने विहार किया तो उन्हें विदाय देने महाराजा अभयसिंहजी, मन्त्री रतसिंहजी भंडारी के साथ राज्य-कवि करणीदानजी भी आये थे।

जोधपुर चातुर्मास के बीच उनका मुनिश्री से सत्संग होता ही था। कवि हृदय होने से उन्होंने मुनिश्री की राजस्थानी चारण भाषा में रचित कवितायें सुनीं और उनकी काफी सराहना की।
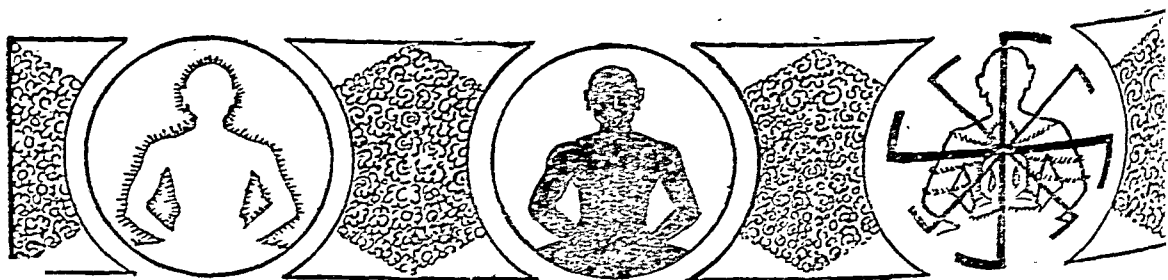
जोधपुर नरेश अभयसिंहजी और उनके मन्त्री रतनसिंहजी भंडारी, देश दीवान रावराजा रघुनाथसिंहजी तो पहले से ही उनसे प्रभावित थे और लोगों ने भी मुनिश्री की अलग प्रतिभा के दर्शन किये थे ही।

प्रारम्भ में तो कुछ नया सा अनुभव लगा; किन्तु मुनिश्री जयमलजी धीरे-धीरे सब बातों का अनुभव करके स्थिर होते गये और वैसे-वैसे उनके प्रवचनों में तत्त्वों का और भी सुन्दर निरूपण होता गया।

आचार्यश्री भूधरजी को जहाँ एक नगर में चातुर्मास में विराजना होता था वहाँ वे धर्म के एक विषय को व्याख्यानों में ले लेते और उसका विवेचन करके लोगों को दृष्टांतों और दलीलों से ऐसा समझाते थे कि उनके हृदय में वह जम जाता था। उनकी उस रीति का मुनिश्री जयमलजी ने भी अनुकरण शुरू कर दिया था।

इस बार नये तत्त्वों पर अलग-अलग प्रवचन देने का मुनिश्री ने विचार किया था। तदनुसार उन्होंने तत्त्व निरूपण ही मुख्य बताया। जब वे व्याख्यान देने पाट पर विराजमान होते उनके व्याख्यान में लोगों को बड़ी संख्या में सामायिक लेकर बैठते तो उन्हें भी सन्तोष होता था। उन्होंने अपने प्रवचनों में तत्त्व निरूपण किया।

* * *

जैन शास्त्रों में नव तत्त्व का बड़ा सजीव निरूपण इस प्रकार किया गया है :—

नाणं च दंसणं चेव, चरितं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एवं जीवस्स लक्खण ॥

भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन में ११वीं गाथा में कहा है कि :—

यह आत्मा कैसी है? वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य के साधनों से युक्त है, परम शक्तिशाली है और इन साधनों का उपयोग करना, जानना और तदनुसार कार्य करना यही जीव का लक्षण है। ऐसे लक्षणवाले जीवात्माओं की स्थिति का विचार करते हैं तो मालूम होता है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य युक्त यह आत्मा वास्तव में शास्त्रकार कहते हैं

जागृत करने के वैराग्य बत्तीशी के ये पद कितने स्पष्ट हैं :—

नव घाटी उलंघने पाम्यो नर भाव सार रे।
पूरी इंद्रिय पायने, हिव रोव्यां साटे मत हार रे॥
चतुराई हूंनर करी, जोड्या लाखां कोड रे।
पाप थारे केडे चल्या, धन गयो सहु छोड रे॥

गाढ घणो हीज राखतो झिलतो जोम ज माही रे।
पहले पहर दीठा हुंता ते छेहले दीसे नाहीं रे॥

ऐसे ऐसे भाव भरे पदों के रचयिता कवि-हृदय मुनिश्री से सत्संग करके कवि करणीदानजी को बड़ा ही आनन्द आया था और उन्होंने बड़े ही भाव से काव्य में उनके लिये विदाई के पद गाये थे।

उन्होंने कहा था :—"आप जिनेश्वर भगवान के बताये मार्ग पर चल रहे हैं इसलिये अधिक अब ठहर नहीं सकते; किन्तु हम सब पर दया-करुणा भाव रखना। पुनः जोधपुर अवश्य पधारना और हम सब में धर्म जागृति लाना।"

मुनिश्री ने फरमाया :—"आप सब का धर्म प्रेम याद ही रहेगा। आगे जैसा अवसर होगा और क्षेत्र स्पर्शना होगी तदनुसार यहाँ पर आना होगा तो आने के भाव हैं। जो धर्म के नियम धारे हैं उनमें दृढ़ हो आत्म उन्नति करें यही आशा है।"

जोधपुर के लोग संतों को बड़ी दूर तक पहुँचाने गये।

तो मुझे यह विचारना चाहिये कि क्या-क्या मैंने किया ? क्या जो मैं कर सकता था वह नहीं किया और जो आचरण मुझे करना चाहिये उसमें मैंने क्या नहीं किया ? मेरी कहाँ भूल हो गई है और मैं क्या करूं जिससे मुझे पाप न लगे....?

इस प्रकार जब सारी दुनियाँ सोती है तब सच्चा धर्मी विचार करता है। क्योंकि जो आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और वीर्य की स्वामी है उसकी यह कर्म-बन्धन सहित हालत उसे अखरती है। इस आत्मा की पराधीनता से वह कैसा बना है ?

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।

यह आत्मा वैतरणी नदी जैसी है और कूट शाल्मली (एक वृक्ष) जैसी है यानी उन दोनों जैसी दुःखदायी बनती है, यह अपने कर्म के कारण ही होता है; किन्तु इसी आत्मा का यह भी रूप है कि :—

अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं।

आत्मा कामधेनु गाय जैसी है और आत्मा ही नन्दन वन सी मन को प्रफुल्लित करनेवाली है; यानी सुख का कारण भी बनती है।

ऐसी आत्मा का वास्तविक स्वरूप कैसे प्रगट हो उस पर ज्ञानी आत्मा विचार करता है और पाता है कि जिस प्रकार तुंबडी का स्वभाव तो तैरने का है; किन्तु उस पर लेपादि करने से वह डूबती है उसी प्रकार यह आत्मा तारक है; मगर कर्म रूपी लेप लगने से वह संसार सागर में डूबती रहती है।

इसका कारण ढूँढते-ढूँढते उसे मालूम होता है :—

रागो य दोसो विय कम्मवीयं;
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाई मरणं वयंति॥

संसार में दुःख का कारण जन्म, जरा और मरण है। जन्म-मरण का कारण कर्म है, कर्म का मूल कारण मोह है और मोह का मूल कारण राग-द्वेष है। राग-द्वेष ही
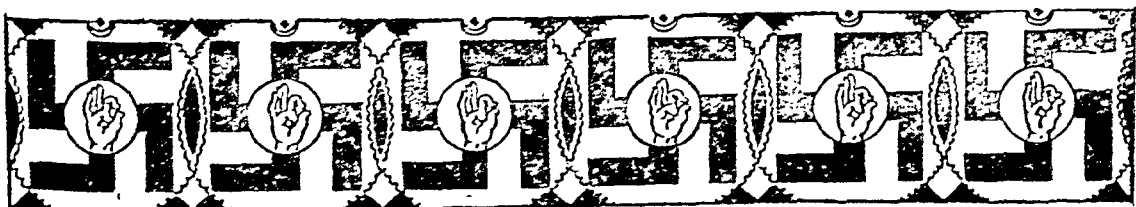
सन्तों का हालाँकि राजकारण से कोई मतलब नहीं था; मगर देश काल का असर उनके विहार आदि पर पड़ता ही है। कई बार मुनिश्री जयमलजी पूज्यश्री भूधरजी की ओर निहारते थे, शायद उनकी आँखों में यह प्रश्न होता था :—"यौवन में ही लोग अकाल वृद्ध हो जाते हैं तब यह चौराशी वर्ष के वृद्ध पूज्य गुरुदेव आज भी युवानों की तरह विहार करते रहते हैं; फिर भी कहीं स्थिर होने का नाम नहीं लेते!"

पूज्यश्री उनके मनोभावों को जान कर कह देते :—"जब तक यह मानव शरीर है उसकी पूरी सार्थकता करूँ! अब भी यह वृद्ध सा नहीं दीखता; क्योंकि मुझे जगत में जीवों को दया-अभय का मन्त्र देते हुए नया बल मिलता है!"

"बापजी! चौराशी हो गये न?" कोई पूछता।

"ऐसी तो अनेक लाखों चौराशियाँ में फिर गया हूँ। वहाँ पर नहीं थका तो अब इस चौराशी में क्या थकूँगा....?" पूज्यश्री हँसके कहते।

और यह नितांत सत्य था कि चौराशी वर्ष की उम्र में भी उनकी कठोर तप-साधना चालु ही थी। उनका जीवन वास्तव में अनेकों के लिये प्रेरणा रूप था।

किन्तु मुनिश्री जयमलजी की आत्मा उनसे बार-बार यह प्रश्न करती रहती थी कि वे अब पूज्य आचार्य और गुरुदेव की सेवा में रह जाँये। पूज्यश्री ने उन्हें स्वतन्त्र रूप से थोड़े दिन और अलग विचरण करने के लिये आदेश दिया।

पूज्यश्री के आदेशानुसार वे वहाँ से पृथक् विचरण करते हुए भाँवरी ग्राम में पधारे। वहाँ पर गाँव के लोग और ठाकुर को भी आपके आगमन से बहुत हर्ष हुआ। लोगों के अस्थिर भयभीत जीवन के लिये उन्होंने अहिंसा और सच्ची आत्म साधना का उपदेश दिया। गाँव के ठाकुर को भी आप ने प्रतिबोध कराया और कई व्यसनों का त्याग कराया।

इस तरफ पूज्यश्री गढ़ सीवाणा, मोकलसर होते हुए जालोर पधारे और वहाँ से गाँव-गाँव में धर्म प्रबोध कराते हुए सोजत के चातुर्मास की बिनति को ध्यान में रख कर वहाँ मिलना तय रहा।

तत्त्वार्थ सूत्र में श्री उमास्वातिजी ने कहा है :—

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्

तत्त्वों पर उनका यथार्थ स्वरूप जान कर श्रद्धा करना सम्यग् दर्शन है और एक वार सम्यग् दर्शन यानी सच्चाई का दर्शन और उस पर विश्वास हो जाये तो जीव आत्मा के शुद्ध स्वरूप प्रगटाने की ओर प्रयत्नशील हो जाता है और वह आत्मिक सुख को क्रमशः पाता जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन की १४वीं गाथा में भगवान महावीर कहते हैं :—

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स सम्मत्तं वियाहियं॥

आत्मा की स्वाभाविक निसर्ग रुचि के सम्बन्ध में कहा गया है कि :—"जो इन (नव) तत्त्वों को (जिनेश्वर द्वारा अनुभूत भावों को), द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से तथा भाव से, स्वयमेव अथवा जाति स्मरणादि ज्ञान द्वारा जानता है या ज्ञानी के उपदेश से जानता है उस पर श्रद्धा करता है तो वह भी सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

अब यह प्रश्न है कि ऐसे कौन-कौन से तत्त्व हैं जिनका यथार्थ स्वरूप जानना चाहिये? उस पर विचार करते-करते सर्व प्रथम जो तत्त्व हमारे सामने आता है वह है "हम" यानी "स्व"—यह स्वतत्त्व यानी आत्मा या जीव है। यह जीव एक स्वतन्त्र तत्त्व है; किन्तु भ्रम के कारण इसका जिस शरीर से संयोग हुआ है उसे वह "स्व" मान कर चलता है। यहीं तो तत्त्व का मर्म समझना है कि यह वाह्य शरीर और उसके साथ संयोग को प्राप्त आत्मा; ये दोनों अलग होने पर भी संसार के लोग इस शरीर को ही अपना समझ कर उसके पीछे ही अपनी शक्ति; आत्म-बल को खर्च कर देते हैं और अपने आपको असहाय बना देते हैं।

इधर उनके संघ में रह कर नव-दीक्षित मुनिश्री कुशलचन्दजी भी रात्रि के प्रवचन आदि करने लगे थे। वैसे दीक्षा में मुनिश्री जयमलजी बड़े थे, अनुभवी थे और ज्ञानी थे; किन्तु दोनों की उम्र करीब समान होने से और इतना मेल-मिलाप होने से, अक्सर लोग दोनों को सगे भाई मानने लग जाते थे। मुनिश्री जयमलजी भी हँस कर कह दिया करते थे :—"आखिर तो हम एक ही पूज्यश्री के धर्म परिवार के साधु भाई हैं!"

मुनिश्री कुशलचन्दजी ने मुनिश्री जयमलजी के साथ रह कर अपने ज्ञान का विकास किया और तप-पच्चक्खाण आदि से चारित्र को उज्जवल बनाने लगे। वे भी धीरे-धीरे कुशल वक्ता बन रहे थे।

* * *

सोजत चातुर्मास पूर्ण कर वहाँ से जोधपुर, पाली आदि क्षेत्रों में पूज्यश्री आदि सन्तों का विहार होता रहा। गाँव-गाँव में उनके आने से हालाँकि लोगों में शांति हो जाती थी; किन्तु उस समय सारे भारत वर्ष पर एक ओर नादिरशाह के आक्रमण ने खलबली मचा रखी थी वहाँ दूसरी ओर मरहठों की फौजें बढ़ कर दिल्ही पहुँचना चाहती थी।

सं० १७९७ में जोधपुर में चातुर्मास हुआ। इस बार पूज्यश्री ने मुनिश्री जयमलजी की बात समझ कर उन्हें अपने साथ रख लिया था। मुनिश्री जयमलजी ने पूज्यश्री से सविनय कहा था :—"आपकी यह बढ़ती उम्र और उग्र तप; साथ गुरुदेव मुनिश्री नारायणदासजी का भी तप। मेरी इच्छा है कि आप मुझे अपने साथ रख कर आप दोनों की सेवा करने का लाभ देवें!"

तदनुसार जोधपुर चातुर्मास में पूज्यश्री भूधरजी के साथ मुनिश्री जयमलजी म. सा. रहे थे और मुनिश्री कुशलचन्दजी को स्वतन्त्र चातुर्मास के लिये अजमेर भेजा था। मुनिश्री रुघनाथजी बड़ीपादू से मेड़ता तरफ विचरण कर रहे थे।

मालवा से अजमेर की ओर मरहठों की फौजें आगे बढ़ रही थीं। उन्हें रोकने दिल्ही सल्तनत ने निजाम को भेजा जिसको भोपाल के पास मरहठाओं ने पराजित किया

का मुख्य और प्रथम तत्त्व जीव दीखता है और दूसरा जो तत्त्व सामने आता है वह है अजीव।

जीव की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जिसमें उपयोग अर्थात् ज्ञान-शक्ति हो उसे जीव कहते हैं। वह सुख-दुःख, पाप-पुण्य का कर्ता और भोक्ता है। यह त्रिकाल शाश्वत है, अविनाशी है, अमर है।

इसके साथ हमने जो दूसरा तत्त्व पाया वह अजीव है। जो चैतन्य रहित है—जड़ है उसे अजीव कहते हैं। वह सुख-दुःख को नहीं जानता, न स्वयं घट-बढ़ सकता है।

यह अजीव तत्त्व है ऐसा हम कैसे मानें? या जड़ता ही उसका लक्षण है ऐसा कैसे समझा जाये? जीव तो अनन्त ज्ञानी है; किन्तु जब इस जड़-अजीव के संयोग को पाता है तो उसका ज्ञान-अज्ञान या जड़-ज्ञान बन जाता है और जैसा युधिष्ठिर ने यक्ष से कहा वैसे अपनी आँख के आगे से रोज़ मुर्दे निकलते देखने पर भी इस संसार में अनेक जीवात्मा जड़ बन कर शारीरिक या भौतिक सुख के पीछे फिरते हैं। यह "संगति-दोष" है और यह जड़-अजीव के कारण होता है। इस पर से अजीव तत्त्व है और जड़ता उसका लक्षण है यह प्रगट होता है।

संसार के ये तत्त्व जीव और अजीव उससे सारा लोक भरा हुआ है; किन्तु इन दोनों तत्त्वों को शास्त्रकारों ने अलग-अलग पदार्थ और अपनी-अपनी शक्ति एवं सत्तावाले माने हैं और जैसे एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती वैसे ये दोनों एक में मिल कर नहीं रह सकते ऐसा मानते हैं। फिर भी हम देखते हैं कि कोई ऐसा तत्त्व मौजूद है कि जो इन दोनों का संयोग कराता है; वह भी एक तत्त्व है—बन्ध। और यह बन्ध क्या है? अलग-अलग कर्म किस प्रकार लगते हैं? उनका क्या स्वरूप है? कितनी स्थिति है? और कितनी शक्ति है? यह इसका सार है।
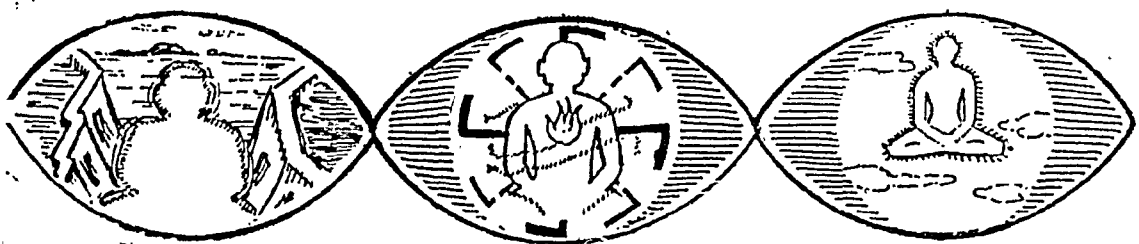
संसार में पाये जानेवाले जीव दो प्रकार के कहे गये हैं — एक तो त्रस और दूसरे स्थावर। त्रस जीव जो चल-फिर सकते हैं और स्थावर जीव चल-फिर नहीं सकते।

ऐसे स्थावर जीवों के पाँच भेद बताये गये हैं :— १. पृथ्वीकाय २. अपकाय ३. तेउकाय ४. वायुकाय ५. वनस्पतिकाय। उसमें प्रत्येक के दो-दो भेद हैं :— सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म जीव हमारी आँखों से दीखते नहीं है। बादर जीव हमें दिखाई देते हैं।

बादर पृथ्वीकाय के जीवों में सभी प्रकार की कोमल और कर्कश मिट्टी है, पाँचों वर्णवाली मिट्टी, बारीक रेत, धातुओं की मिट्टी, चट्टान की मिट्टी, समुद्री क्षार आदि तदुपरांत हडताल, हींगल, अबरक, गेरू, चन्दन आदि कई प्रकार की मिट्टीयाँ; इसके अलावा ३१ प्रकार के मणि — ये सभी पृथ्वीकाय में आते हैं। पृथ्वीकाय की सात लाख योनि है।

बादर अपकाय या जलकाय के जीवों में सभी प्रकार का पानी जैसे मेघ का पानी, समुद्र का पानी, ओस बिंदु, कुहरे का पानी, बरफ का पानी आदि जलकाय की सात लाख योनि बताई है।

बादर अग्निकाय के जीवों में सभी प्रकार की अग्नि के जीव आते हैं जैसे अंगारा, राखमिश्रित अग्नि, तप्त धातु की अग्नि, ज्वाला, लपटें, उल्कापात, बिजली आदि। अग्निकाय के जीवों की कुल सात लाख योनि बताई है।

बादर वायुकाय के जीवों में सभी प्रकार के वायुकायों के जीवों का समावेश होता है। जैसे शुद्ध वायु, रुक-रुक कर बहनेवाले उत्कलिक वायु, आंधी, घनवायु, गुंजता वायु, समुद्री तूफानी वायु, वंटोलिया (वर्तुल) वायु आदि। वायुकाय की भी सात लाख योनि है।

इन चार स्थावरों के सूक्ष्म और बादर के दो-दो और भेद होते हैं — पर्याप्त और अपर्याप्त। यों आठ भेद इन स्थावर जीवों के हुए।

बादर वनस्पतिकाय के दो भेद हैं। प्रत्येक यानी एक शरीर में एक जीव रहता हो और साधारण यानी एक शरीर में अनन्त जीव रहते हों, इनमें औदारिक शरीर एक रहता है; किन्तु तेजस और कार्मण शरीर सब के पृथक् रहता है।
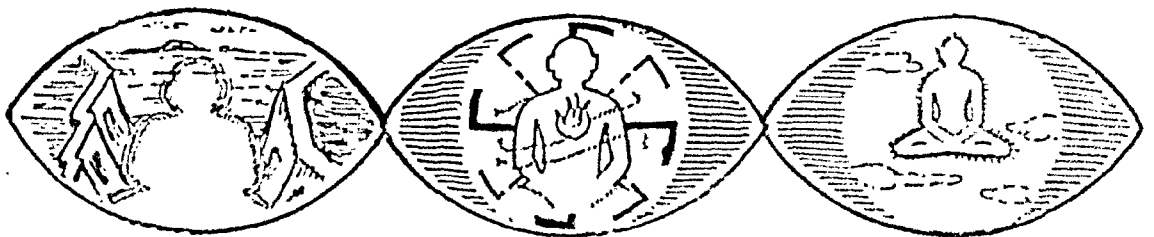
गुरु : धर्म बाह्य नाम से अनादि काल से जीव से परिचित रहा है जैसे जैन, शैव, मुसलमान। मगर उसमें वीतराग का संवर रूप धर्म जीव को अपूर्व है जिसकी आराधना उसने इसके पूर्व नहीं की थी। एक बार ज्ञान-दर्शन, चारित्र्य तीन की सम्यक् आराधना हो गई तो बहु पराक्रमी जीव उसी भव में मोक्ष जाता है; वरना पंद्रवे भव से तो अधिक करता नहीं है। मगर जिस प्रकार "अणुपुव्वेणं महा घोरं" आदि से कायर का संग्राम में धंसना दुर्लभ है उसी प्रकार इस मार्ग पर जाना कठिन है।

साथ ही जैसे रोगी को अपथ्य रुचिकर होता है उसी प्रकार जिनको कर्म रोग सबल है उनको कुगुरु, कुदेव, कुधर्म ही रुचते हैं। फिर जैसे मृग को छूने पर वह भड़कता है और जाल में निश्चय ही पड़ता है वैसे अज्ञानी सावद्य धर्म में पड़ जाता है।

सूयगडांग सूत्र के अ. १ उ. २ और ११ वीं गाथा में भी कहा है :—

धम्म पन्नवणा जा सा तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाई न संकंति अवियत्ता अकोविया॥

शिष्य : ये शास्त्र वांचते सुनते और पूछते हैं तो परमार्थ क्यों नहीं जानते?

गुरु : सूयगडांग सूत्र के अ. ३ उ. १ गाथा ११ में कहा है कि "मंदा मोहेण पाउडा" अर्थात् ये मंद मूर्ख लोग मोह से परवश हैं। अतः वे अर्थ बूझते-जानते नहीं है। वे सत्य और असत्य की विगत नहीं समझ सकते।

जैसे किसी को सर्प खाया हो तो उसे नीम कड़वा नहीं लगता, खाज जिसे हुई हो उसको खुजली मीठी लगती है और नशे में पड़ा आदमी जन्म मरण की पछाडों से डरता नहीं है उसी प्रकार जीव को कुगुरु, काम-भोग और संसार कड़वा नहीं लगता — एक-एक कर्म की स्थिति एक-एक कोडा-कोडी सागरोपम में पड़ कर फिर असंख्यात भाग बाकी रहे, तब जीव को काल, स्वभाव, नियति, पूर्व कर्म और पुरुषार्थ पाँचों समवाय का सनभाव होवे तो मिथ्या मोहनीय की, मिश्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी टलती है। वहाँ पर भी पहले उपशम समकित प्राप्त होता है और बाद में क्षयोपक्षम की प्राप्त होता है। पूर्व
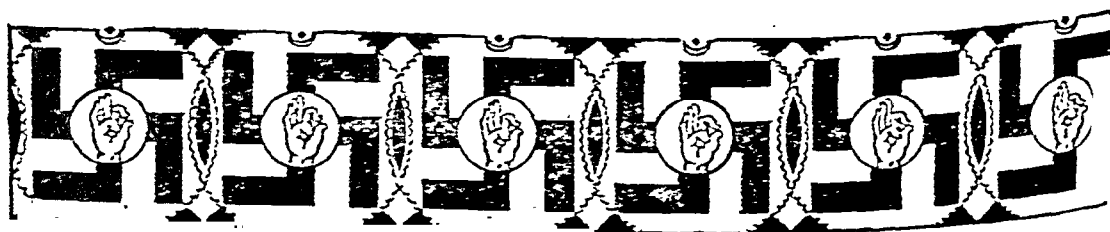
जीवों के आत्म विकास के हिसाब से सूक्ष्म से बादर जीव विकसित हैं और एकेंद्रिय से, दो इंद्रिय और उनसे क्रमशः त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय विकसित हैं; किन्तु सम्पूर्ण जीव जगत में इंद्रियों के हिसाब से पाँच इंद्रियवाले जीव विकसित माने जाते हैं।

स्थावर और दो इंद्रिय आदि विकलेन्द्रिय जीवों का समावेश गति के अनुसार तिर्यंच में किया गया है। तदनुसार उस गति के विकसित जीव पंचेंद्रिय तिर्यंच की ओर दृष्टिपात करें तो हमें उनमें भी मानव जैसे ही पाँचों इंद्रियाँ (स्पर्श, रस, गन्ध, दृष्टि और श्रवण की इंद्रियाँ) शरीर, जीभ, नाक, आँख और कान दिखती हैं; किन्तु ज्ञान विकास के हिसाब से तिर्यंच गति के जीव सब से पिछड़े हुए हैं।

इसके भेदों के बारे में जब पंचेंद्रिय तिर्यंच जीवों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें वहाँ दो प्रकार के जीव दिखाई देते हैं :— एक तो सम्मूर्छिम तिर्यंच पंचेंद्रिय और दूसरे गर्भज तिर्यंच पंचेंद्रिय। इन दोनों के भी तीन-तीन भेद हैं। जलचर, स्थलचर और खेचर।

जलचर यानी पानी में रहनेवाले जीव के भेद इस प्रकार हैं :— मछली, कछुआ, ग्राह, मगर और शंशुमार (बड़ी जाति के व्हेल मच्छ जैसे बड़े मच्छ) आदि जीव।

स्थलचर यानी पृथ्वी पर (जमीन के ऊपर) बसनेवाले जीवों के तीन भेद कहे हैं। चतुष्पद यानी जिनके चार पैर हों और उनके आधार से चलने फिरनेवाले जीव जैसे एक खुरवाले यानी घोड़े, गधे आदि, दो खुरवाले यानी गाय, बैल आदि, गंडी पदा-कोमल पदवाले जैसे ऊँट, हाथी आदि और नखपदा यानी जिनके पंजों में नाखून हों वैसे सिंह, बिल्ली, कुत्ते आदि। (२) परिसर्प की दो जाति में (अ) उरपरिसर्प जो कि छाती से रेंग कर चलते हैं यानी साप की अनेक जातियाँ, और (ब) भुजपरिसर्प की दूसरी जाती, भुजपरिसर्प यानी भुजाओं के बल से रेंगनेवाले जीव जैसे छिपकली, नेवला, चूहा की जाति, चन्दन गोह आदि।

खेचर तिर्यंच यानी पक्षी जो कि आकाश में उड़ते हैं। उनके भेदों में चर्म पंखी यानी चमड़े के पंखवाले जीव जैसे बड़ी छोटी चीमगादड़, दूसरे रोम पंखी यानी पंखोंवाले-

विहार आदि पूज्यश्री की उम्र और शारीरिक अवस्था को देखते हुए लम्बे नहीं होते थे। क्षेत्र स्पर्शना (स्थिरता) भी लम्बी होती थी; अतः गाँव - गाँव में साधु - मार्गीय समाज का ठोस संगठ्ठन हो एतदर्थ मुनिश्री जयमलजी प्रयास करते थे। उसमें उन्हें सफलता भी मिलती थी।

वैसे मुनिश्री कुशलचन्दजी को स्वतन्त्र चातुर्मास किये दो वर्ष हो गये थे और वे पूज्यश्री के दर्शन आदि के इच्छुक थे। विगत वर्ष जब पूज्यश्री मेड़ता थे तब मुनिश्री कुशलचन्दजी का किशनगढ़ में चातुर्मास था। उन्होंने अपना अच्छा प्रभाव जमाया था।

इधर मेड़ता से पूज्यश्री भूधरजी, मुनिश्री जयमलजी आदि संत विहार कर किशन गढ़ की ओर चले और मुनिश्री कुशलचन्दजी आदि ने सामने विहार किया। साधु संतों का यह मिलन भी अपूर्व धर्म उत्सव सा लगता है।

किशन गढ़ की ओर पूज्यश्री आदि सन्त दिल्ही जाते समय ७-८ वर्ष पूर्व पधारे थे। सन्तों का उस ओर पदार्पण होते देख कर किशन गढ़ की जनता विनति करने गई और अगले चातुर्मास के लिये किशन गढ़ की स्वीकृति दे दी गई।

मेड़ता से किशन गढ़ जाने का एक और भी कारण था। दिल्ही दरबार से मरहठाओं के लिये जयपुर राजा ने अजमेर की सूबागीरी प्राप्त की। जोधपुर नरेश को यह बहुत बुरा लगा और उन्होंने भंडारी सूरतरामजी एवं रूप नगर के ठाकुर के साथ सेना भेजी और पुनः अजमेर की सूबागीरी प्राप्त की। इस कारण उस प्रान्त में सैनिक हलचल बहुत रहती थी। अतः सब की सलाह के अनुसार किशन गढ़ के चातुर्मास की स्वीकृति पूज्यश्री ने दी।

तदनुसार सं० १७९९ का किशन गढ़ का चातुर्मास हुआ; किन्तु बड़ी शांति से बीता। उसके बाद वहाँ पुनः सैनिक हलचल नहीं हुई। अब पूज्यश्री की उम्र सत्यासी (८७) की हो चली थी और बेले तेले की तपस्या के उपरांत पाँच पर्वी तिथि को सभी विगय का और रस के त्याग का वे पालन करते थे। उनका मनोबल बड़ा मज़बूत था। उनकी यह धर्म जागृति देख कर दूसरे नये साधु गण प्रेरित होते थे और "चरैवेति चरैवेति" का सन्देश लेकर वे उत्साह से आगे बढ़ते थे।

नरक में जीव घोर वेदना को प्राप्त होते हैं। उनको तीन प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। एक तो स्वभाव का दुःख कि स्वभाव से वे आपस में मार-काट मचाये रहते हैं। दूसरा स्थान का दुःख है कि इन नरकों में अत्यधिक ठण्डी और अत्यधिक ताप रहता है। एक नरक से दूसरी नरक में अधिक — इस प्रकार उत्तरोत्तर नरकों में स्थान की वेदना भयंकर होती जाती है। इसके अलावा परमाधार्मिक देव भी आकर उन्हें सताते हैं।

जहाँ लोग गन्दगी में रहते हैं, लड़ते रहते हैं उनके लिये यह भी कहा जाता है कि "वे नरक सा जीवन बिताते हैं; किन्तु उससे कई गुणा अधिक दुःख नारकी जीव पाते हैं। मार-काट, हाय-तोबा, शोर-गुल आदि का भयंकर चित्र वे लोग उपस्थित करते हैं। एक बार नरक में जाने से कई कर्मों को भोगना होता है; अतः नरक का जीव पुनः नरक में नहीं उत्पन्न होता। इन सात नरक में रहनेवाले नारकी जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त मिला कर चौदह भेद होते हैं। उनकी कुल जीव-योनि चार लाख है।

नरक में यदि दुःख ही दुःख है तो स्वर्ग में सुख ही सुख है, यानी संसार के भौतिक पदार्थ या भोग-विलास जिनमें संसारी जीव सुख की कल्पना करता है वह बहुत है। जो जीव हिंसादि से छूटने के लिये व्रत-पच्चक्खाण करते हैं, जिनमें कषाय अल्प अंश में रहता है, दूसरों की देखा-देखी जो जीव पाप का त्याग करके देह-दमन, तप-त्याग आदि करते हैं उन्हें देव-गति प्राप्त होती है। देवों की चार जातियां बताई हैं:— भवन पति २५, वाणव्यंतर देव २६, ज्योतिषी १० और वैमानिक देवों के ३८ भेद हैं। इन कुल ९९ प्रकार के देवों के पर्याप्त और अपर्याप्त मिला कर कुल १९८ भेद होते हैं। इनकी कुल योनि चार लाख की मानी है। नारकी जीवों की तरह एक बार देव गति प्राप्त करके पुनः देव गति नहीं मिलती।

मरहठाओं के पेशवा बाजीराव की मृत्यु हो चुकी थी और सभी मरहठे सरदार अपने-अपने प्रान्त में पैर फैला रहे थे। अतः अब वे भोपाल, उज्जैन तक ही अपना-अपना स्वार्थ जमा रहे थे।

कुछ श्रद्धालु लोग इसे सन्तों का चमत्कार मानते थे। इनके चरण यहाँ पड़े कि इधर कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं रहा है। यहाँ पर भी पूज्यश्री भूधरजी अपने सन्तों को सावधान करते थे :—"इस प्रकार के चमत्कारों की बातें अपने साथ जोडी जाँय तब साधु को उससे निस्पृह रहना चाहिये!"

वैसे मरहठाओं के बारे में इस प्राँत में दो तरह की बातें सुनाई देती थी; एक तो वे लूट-फाट मचानेवाले थे। दूसरी यह कि जब नादिरशाह दिल्ही जीत चुका था तब बाजीराव ने यह कहा था कि : "अभी देश का सामान्य शत्रु एक है — वह है नादिरशाह उसे भगाना चाहिये!" वह स्वयं सेना लेकर भी आगरा तक पहुँचा था; किन्तु उसने सुना कि नादिरशाह दिल्ही का राज्य मुहम्मदशाह को देकर गया है। अतः वह लौट गया!" इस पर से मरहठाओं की बहादुरी का प्रमाण मिलता था।

कुछ भी हो, सन्तों के १७९९ के किशन गढ़ के चातुर्मास से लोगों में धर्म जागृति आई और आत्म बल पैदा करने की नई चेतना पैदा हुई।

* * *

पूज्यश्री की शारीरिक स्थिति उम्र बढ़ने पर भी बराबर थी और इधर अन्य भक्त समुदाय का यह आग्रह हो रहा था कि अब कहीं स्थविर-ठाणापति बन जाँये; मगर पूज्यश्री का यही आग्रह था कि जब तक विहार हो सके करते रहना। मुनिश्री जयमलजी भी इस सम्बन्ध में कहते; किन्तु पूज्यश्री तो सभी को "चरैवेति चरैवेति" का मन्त्र सुना चुप कर देते थे।

रूपनगर में मुनिश्री रघुनाथजी म० सा० का चातुर्मास पूर्ण हुआ था। सोजत में मुनिश्री कुशलचन्दजी थे। वैसे तो सन्तों का मिलन और सेवा-समागम होते ही रहते थे;
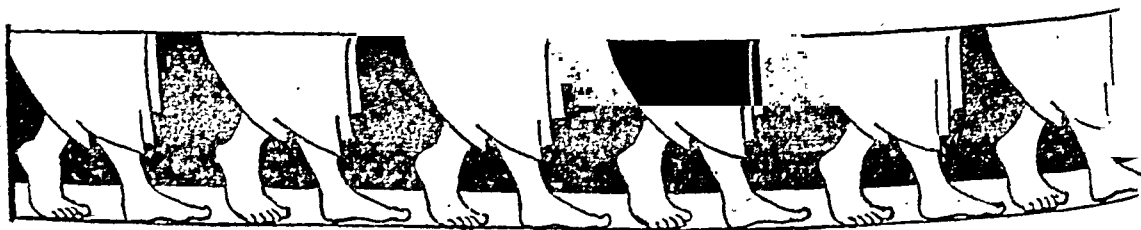
२. जीव को छोड़ कर उसके साथ लगा हुआ जो दूसरा तत्त्व है वह अजीव है — जिसका लक्षण जड़ता बताया गया है। कहा गया है कि अजीव सुख दुःख को नहीं जान सकते। अजीव का विस्तार से स्वरूप बताते हुए ज्ञानी कहते हैं कि जो कर्म हैं वह भी पुद्गल वर्गणा होने से वह भी जड़ है। वह स्वतः तो सब प्रकार की वेदना से शून्य है; किन्तु जिस प्रकार पदार्थ का स्वभाव आप कार्य करता है उस प्रकार अजीव का है। जैसे विष है, वह अलग पड़ा हुआ है तब तक उसका कोई प्रभाव नहीं दिखता; लेकिन जब जीव उसके संयोग को प्राप्त होता है तो मरण को प्राप्त होता है। उसी प्रकार इस अजीव तत्त्व की संगति में पड़ कर जीव भी आत्म-ज्ञान का घात करता है और जड़ता को अपनाता है।

अजीव के दो भेद शास्त्रकारों ने बताये हैं; एक तो रूपी है और दूसरा अरूपी है। अरूपी अजीव तत्त्व के मुख्य चार भेद बताये हैं धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और काल। इसमें काल को छोड़ कर बाकी के स्कन्ध देश और प्रदेश से ९ भेद और काल का एक भेद मिला कर १० भेद होते हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों द्रव्य लोक प्रमाण है और आकाश लोक और अलोक दोनों प्रमाण है। काल लोक प्रमाण है।

काल की दृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों द्रव्य अनादि, अनन्त और शाश्वत है। काल का भी निरन्तर प्रवाह होने से अनादि अनन्त है; किन्तु किसी व्यवहार काल, घड़ी, दिन आदि की अपेक्षा से आदि और अन्त सहित भी माना जाता है।

॥ ३ ॥ चैत्यं जीवमवाप्नोति ९ चेई भोगस्य रंभणम् १० ।
चैत्यं भोग निवृत्तिश्च ११ चेई विनय नीचकौ १२ ॥

॥ ४ ॥ चैत्यं पूर्णिमाचन्द्रःस्यात् १३ चेई गृहस्य रंभणम् १४ ।
चैत्यं गृहमव्याबाधं १५ चेई च गृहछादनम् १६ ॥

॥ ५ ॥ चैत्यं गृहस्तंभं चापि १७ चेई नाम वनस्पति १८ ।
चैत्यं पर्वताग्रे वृक्षः १९ चेई वृक्षस्यस्थूलनम् २० ॥

॥ ६ ॥ चैत्यं वृक्षसारश्च २१ चेई चतुष्कोणस्तथा २२ ।
चैत्यं विज्ञान पुरुषः २३ चेई देहश्च कथ्यते २४ ॥

॥ ७ ॥ चैत्यं गुणज्ञो ज्ञेयः २५ चेई च शिव शासनम् २६ ।
चैत्यं मस्तकं पूर्णं २७ चेई वपुर्हीनकम् २८ ॥

॥ ८ ॥ चेई अश्वमवाप्नोति २९ चेइय खर उच्यते ३० ।
चैत्यं हस्ती विज्ञेयः ३१ चेई च विमुखीं विदुः ३२ ॥

॥ ९ ॥ चैत्यं नृसिंह नाम स्यात् ३३ चेई च शिवा पुनः ३४ ।
चैत्यं रंभानामोक्तं ३५ चेई स्यान्मृदंगकम् ३६ ॥

॥ १० ॥ चैत्यं शार्दूलता प्रोक्ता ३७ चेई च इंद्रवारुणी ३८ ।
चैत्यं पुरंदर नाम ३९ चेई चैतन्यमत्तता ४० ॥

॥ ११ ॥ चैत्यं गृही नाम स्यात् ४१ चेइ शास्त्र धारणा ४२ ।
चैत्यं क्लेशहारी च ४३ चेई गांधर्वी स्त्रियः ४४ ॥

॥ १२ ॥ चैत्यं तपस्वी नारी च ४५ चेई पात्रस्य निर्णयः ४६ ।
चैत्यं शकुनादि वार्ता च ४७ चेई कुमारिका विदुः ४८ ॥

नौं बताये हैं और उन पर श्रद्धा करना उसे आत्मा की निसर्ग यानी स्वाभाविक रुचि कहा है। इस पर से पुण्य तत्त्व को अलग रूप से जानना शास्त्र विधान है। अच्छे और बुरे दोनों को समान मानने से अच्छाई की प्रतिष्ठा नहीं होती और बुराई फैलती है वैसे शुभ और अशुभ कर्म के रूप में पुण्य और पाप को जाने बिना शुभ की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

नव तत्त्वों में सभी ज्ञेय यानी जानने योग्य तो हैं और ये ज्ञान के विषय भी हैं; किन्तु उसमें विशेष रूप से ज्ञेय तीन तत्त्व हैं, जीव, अजीव और पुण्य। वैसे सभी तत्त्वों को ज्ञानकारी हो जाने पर विशेष रूप से जान कर हेय छोड़ने योग्य तीन तत्त्व है पाप आस्रव और बन्ध और इस प्रकार आत्मा के लिये उपादेय तत्त्व के रूप में मोक्ष और उसके पहले की भूमिका रूप संवर और निर्जरा है।

इस पर से पुण्य की उपयोगिता और अलग तत्त्व के रूप में आवश्यकता स्पष्ट होती है। वैसे पुण्य की तीन अवस्थायें हैं :— १. उपादेय, ज्ञेय और हेय। उपादेय यानी प्राप्त करने योग्य इसलिये है कि सिर्फ उसके कारण ही, मनुष्य भव, कर्म भूमि सुगोत्र वगैरे प्राप्त होते हैं। जब तक वह प्राप्त नहीं होता यानी कर्म भूमि में मानव तन, तब तक आत्मा चारित्र्य को पा नहीं सकता। चारित्रावस्था में यदि वह साधक अवस्था में है तो भी पुण्य ज्ञेय तो बना रहता है; क्योंकि जब तक मोक्ष नहीं मिलता यह मनुष्य भव है वहाँ तक जाने में सहायक होता है। साथ ही साधक जब कर्मों का संवर करता है और निर्जरा से खपाता है तो उसे नया भव करने की इच्छा तो नहीं रहती। इससे आगे की भूमिका है यथाख्यात चारित्र्य पाने पर और सब से अंतिम चौदहवें गुणस्थान * की प्राप्ति के बाद पुण्य की आवश्यकता नहीं रहती — उसे छोड़ना ही पड़ता है; क्योंकि उसको छोड़ कर मोक्ष गति प्राप्त करनी होती है। यहाँ पर अंतिम गुणस्थान में पहुँच कर पुण्य हेय बन जाता है। नाव की तब तक आवश्यकता रहती है जब तक किनारे न लगा जाय। संसार सागर पार करके मुक्तिधाम के किनारे पहुँचने पर इस आत्म-यात्री को पुण्य रूप की नाव की (मानव देह) आवश्यकता नहीं रहती। इस पर से स्पष्ट है कि पुण्य को अलग रूप में हमें

* गुणस्थानों के बारे में अन्यत्र पढ़ें।

॥ २३ ॥ चेई द्रव्यमवाप्नोति ८९ चेई च प्रतिमा तथा ९० ।
चेई सुभट योद्धा च ९१ चेई च द्विविधा क्षुधा ९२ ॥

॥ २४ ॥ चैत्यं पुरुष क्षुद्रश्च ९३ चैत्यं हार एव च ९४ ।
चैत्यं नरेन्द्राभरणः ९५ चेई जटा धरो नरः ९६ ॥

॥ २५ ॥ चेई च धर्म वार्तायां ९७ चेई च विकथा पुनः ९८ ।
चैत्यं चक्रपतिः सूर्यः ९९ चेई च विधि अष्टकम् १०० ॥

॥ २६ ॥ चैत्यं राज्ञी शयनस्थानं १०१ चेइ रामस्य गर्भता १०२ ।
चैत्यं श्रवणे शुभे वार्ता १०३ चेई च इंद्रजालकम् १०४ ॥

॥ २७ ॥ चैत्यं यत्यासनं प्रोक्तं १०५ चेई च पाप मेव च १०६ ।
चैत्यमुदय काले च १०७ चैत्यं च रजनी पुनः १०८ ॥

॥ २८ ॥ चैत्यं चंद्रोद्वितीयः स्यात् १०९ चेई च लोकपालके ११० ।
चैत्यं रत्नं महामूल्यं १११ चेई अन्यौषधीः पुन ११२ ॥

रत्नाकर पच्चीशी, जैसे संस्कृत के स्तवनों से और वेताल पच्चीशी एवं सिंहासन बत्रीशी जैसी लोक कथाओं के अनुकरण में अध्यात्म भाव जगानेवाली उनकी पच्चीशियाँ और बत्तीसियाँ सुन कर कविजी करणीदानजी का हृदय गद्गद् हो जाता था।

काव्य रचना की दृष्टि से उनके बहुत से पदों में शब्द, अर्थ, भाव और उपभावों का लालित्य बरबस ही मन को खींच लेता था। जैसे निद्रा के बारे में कहते :—

धनमाल घर में हुतो, राखतो हो बहू जोमने गाढ़ के।
निद्राने वश चोर ले गया, पछे दियो हो देवालो काढ के॥

इसी तरह मूरख पच्चीसी में उनके ये पद :—

दाभ अणी जल बिन्दुओ जेहवो संध्यानो वान।
अथिर ज जाणो रे थांरो आऊखो, जिम पाको पीपल पान॥
जोबन जावे रे घणो उतावलो, जिसो नदीनो वेग।
अथिर ज जाणो रे आउखो तिण में घणा रे उद्वेग॥

रात - दिन पैसा पैदा करनेवालों के लिये उनके ये पद बड़े असरकारक थे :—

ए धन मारो रे हूँ धन तणो, तूं इसडी राखे रे आस।
—अंत काल में रे थारो को नहीं तूं मत ले गले में री फांस॥
व्रत न कीधो रे भोला आखडी चरतो जावे दिन रात।
पाप उदे रे आयां बेठां घसे माखीनी परे हाथ॥

उपदेश बत्तीसी में मूरख जीवों को जागृत करनेवाला यह पद :—

चंद सूरज मुख दीसे नहीं, दीसे घोर अंधार।
नासत ने शरणो नहीं, ज्यां देखो तिहां मार॥
सिकियो तूं इण संसार में, ज्यूं भड भूंजारी भाड।
निर्ग्रंथ गुरु हेला देवे रे, अब तूं आँख उघाड॥

ही नहीं है; जहाँ 'तन' को भी पुद्गल (पर पदार्थ) बताया गया है। लिखित शास्त्रों को भी जड़ माना गया हो और उसकी सार्थकता ज्ञान प्राप्ति तक ही मानी गई हो वहाँ पर जड़-मूर्ति की उपासना, आराधना, साधना कैसे स्थान प्राप्त कर सकते हैं? तदुपरांत भी देखा गया था कि जब आत्मा का ज्ञान मार्ग प्रशस्त होता था तब जड़-मार्ग की साधना से कितने ही साधकों ने हट कर चैत्यवासियों की निरर्थकता स्पष्ट की थी।

जोधपुर चातुर्मास में अधिकतर मुनिश्री जयमलजी व्याख्यान देते थे। चारों ओर जड़वाद, अन्ध-श्रद्धा इतने अधिक फैलाये जा रहे थे कि सच्चे आत्म-धर्म के लिये व्यवस्थित संघ-शक्ति की उपयोगिता की अत्यन्त आवश्यकता मालूम होती थी। जोधपुर में दो वर्ष चौमासे होने से यहाँ पर साधु मार्गीय श्रीसंघ अपने आप में पक्का था। इस पर दीवान एवं प्रधान पद पर भंडारी परिवार के होने से बहुत से लोग इस ओर श्रद्धावान हो गये थे।

मुनिश्री पूज्यश्री की ढलती उम्र का प्रभाव देखते थे। हालाँकि उनका चलना-फिरना होता था; किन्तु अब वह पहले से व्याख्यान नहीं देते थे; आतापना नहीं करते थे। ध्यान में घण्टों मग्न हो जाते थे — तब उनके तन से ज्योति पुंज की आभा चन्द्रकला सी फैलती थी।

जब कभी रात्रि के प्रथम प्रहर से पूज्यश्री इसी प्रकार ध्यान मग्न दशा में बैठ जाते थे; तब मुनिश्री जयमलजी भी आत्म-चिंतन करते-करते बैठे रहते थे।

आधी रात के बाद जब पूज्यश्री का ध्यान टूटता तब पास में ही पालथी मार कर बैठे मुनिश्री को बैठा देख कर बोल देते :—"जयमुनि! तुम अभी सोये नहीं?"

"आप ध्यान में थे; सोचा आपके शयन के बाद में शयन करूँगा!" मुनिश्री कहते।

"खिरते पान सा यह तन है। आत्मा जाऊँ जाऊँ कर रहा है; फिर भी न जाने क्यों रुका हुआ है....!" पूज्यश्री अन्य मनस्क होकर कहते।

४०

जय - आचार्य गुरु सेवा

जोधपुर से विहार कर मुनिश्री जयमलजी आदि सन्तों ने झालामंड की ओर पदार्पण किया। जोधपुर नरेश अभयसिंहजी पर जिन्होंने अपना प्रभाव डाला है और जिनकी ख्याति चारों दिशाओं में फैली है ऐसे सन्तों का पदार्पण अपने यहाँ हुआ है यह जान कर उन्होंने (झालामंड ठाकुर) सन्तों के दर्शन, वन्दन, प्रवचन का पूरा लाभ लिया।

पूज्यश्री भूधरजी म० ने मेड़ता से विहार किया था और वे पाली के पास पहुँच रहे थे। इधर से मुनिश्री जयमलजी ने भी विहार कर पाली की ओर प्रयाण किया था। मार्ग में आते हुए सभी गाँव और नगर में धर्म - ध्यान कराते वे पाली पहुँचे।

इन दिनों में गाँव - गाँव में विहार करते - करते उन्हें एक नया अनुभव हो रहा था। सभी जगह मरहठों की लूट - फाट लड़ाई आदि की बातें चलती थीं और लोग भयभीत होते थे। उन्हें मुनिश्री सांत्वना देते थे। युद्ध के भय से पीड़ित और त्रसित मानव समाज के लिये मुनिश्री जैसे सन्तों का आगमन अभय का वातावरण बनाने में मदद रूप होता था।

पाली में पहुँच कर पूज्यश्री आदि सन्तों के दर्शन करके उनके चरण दबाते हुए मुनिश्री जयमलजी की आत्मा धन्य हो गई। गुरु मुनिश्री नारायणदासजी म० को भी वन्दना की। उसी समय नव दीक्षित मुनिश्री कुशलचन्दजी ने आकर उन्हें वन्दना की और सन्तों का यह धर्म - मिलन बड़ा ही भाव - प्रद बन गया। पाली में जितने दिन ठहरना पड़ा उतने दिनों में गुरु - शिष्य नारायणदासजी और मुनिश्री जयमलजी आपस में बैठ कर ज्ञान की गंगा और काव्य - भागीरथी के अलग - अलग प्रवाह को बहाते थे। नव - दीक्षित मुनिश्री कुशलचन्दजी का पहले से ही मुनिश्री जयमलजी के प्रति धार्मिक, अनुराग तो था ही; किन्तु इस बार पाली में उनके साथ अधिक दिन का समागम रहने से वे एक प्रकार की आत्मीयता का अनुभव करने लगे थे। अलग - अलग क्षेत्रों के अनुभव आपस में कहे - सुने जाने से सन्तों को कई बातें जानने को मिलीं।

मुनिश्री जयमलजी गोड़वाड़ प्रांत में (आबू से खारची मारवाड़ जंकशन) घूमने लगे। वहाँ अनेक ठाकुरों को उन्होंने प्रतिबोध दिया और काफी धर्म ध्यान कराया।

सं० १७९६ का चातुर्मास मुनिश्री जयमलजी का सोजत में हुआ। पूज्यश्री के साथ ही यह चातुर्मास था और अब एक बात स्पष्ट हो गई थी कि पूज्यश्री तप - आतापना आदि बराबर करते थे; किन्तु अधिकतर प्रवचन आदि देने का भार मुनिश्री जयमलजी पर आता था। सोजत में उनका यह चातुर्मास आठ वर्ष के बाद हुआ था और उनके प्रवचनों में आनेवाले लोग यह अनुभव करते थे कि आठ वर्ष पहले के मुनिश्री जयमलजी की अपेक्षा अभी के मुनिश्री के प्रवचन बहुत ही ओजस्वी हो रहे हैं। अब प्रवचनों में जहाँ आध्यात्मिकता का पुट था। वहाँ पर पुरानी रूढ़ियाँ तोड़ कर, अंध - श्रद्धा छोड़ कर सच्चे आत्म - धर्म पर अधिक बल दिया जाता था।

सोजत, नागोर एवं अन्य बड़े नगर अब भी यति, गुराँ सा और पोतियाबन्धों के बड़े ठिकाने जैसे थे। मुनिश्री के प्रवचनों से और सन्तों के उज्ज्वल चरित्र की छाप पड़ने से अब लोग यति, गुराँ सा और पोतियाबन्धों के बारे में स्पष्ट समझने लगे थे। मुनिश्री स्पष्ट कहते थे कि "उनकी भी एक तरह से उपयोगिता समाज में है यदि वे जो हैं उसी रूप में रहे। मगर जब वे सच्चे साधुत्व को अमान्य करते हैं और अपने शिथिलाचार को चलाते रहते हैं तभी समाज को सत्य बताना आवश्यक हो जाता है। वे अपने चरित्र को विशुद्ध करें तभी उनके ज्ञान की सार्थकता है; मगर उस ज्ञान को आजीविका या उदरपूर्ति का साधन बना दिया जाय तो सामान्य गृहस्थ और उनमें (यति आदि) क्या अन्तर होता है? जब कि यतियों के लिये तो संयम की दशा अवस्था अलग बताई गई है।"

सोजत और उसके बाद के चातुर्मास में मुनिश्री जयमलजी को दुगुना लाभ मिलता था। एक और वे पं० मुनिश्री नारायणदासजी के साथ बैठ कर अपनी ज्ञानाराधना करते थे तब दूसरी ओर उन्हें पूज्यश्री के सान्निध्य में रह कर उनके अनुभव, पुराने इतिहास आदि जानने का लाभ मिलता था।

४१

जय - जिन शासन

जोधपुर में धर्म - ध्यान का ठाठ लगा कर सन्तों का विहार मेड़ता की ओर हुआ। पूज्यश्री भूधरजी ने मुनिश्री जयमलजी का आंतरिक भाव जान कर उन्हें अपने साथ ही रखा। वैसे भी अब पूज्यश्री व्याख्यान आदि कम देते थे और एक व्याख्याता मुनि की भी आवश्यकता रहती ही थी। विहार का क्षेत्र भी अब मर्यादित कर दिया गया था और सभी सन्त तुरन्त मिल सकें वैसे चातुर्मास के क्षेत्र तय किये जाते थे।

अगले चातुर्मास; मेड़ता में पूज्यश्री भूधरजी एवं मुनिश्री जयमलजी; जोधपुर में मुनिश्री रघुनाथमलजी म० सा० एवं नागौर में मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० के होने निश्चित हुए थे।

तदनुसार आसपास के क्षेत्रों में विचरण करके वे मेड़ता में चातुर्मास निमित्त पहुँचे। मेड़ता में चातुर्मास, मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० की दीक्षा के बाद सं० १७९८ में हुआ था। चार वर्ष बाद, पूज्यश्री का चातुर्मास पाकर सभी धन्य हो गये।

मुनिश्री जयमलजी ने जब तक मुनिश्री नारायणदासजी म० सा० का साथ रहा, चातुर्मास के पहले जिन - शासन के सम्बन्ध में अन्य जो भी सामग्री अन्य धर्म के ग्रन्थों से मिलती थी उसकी

था। मरहठाओं ने आगे चल कर दिल्ही को जीत कर लूँटा था। मुहम्मदशाह लाहौर चला गया था।

ऐसा लगता था कि दिल्ही सल्तनत के दिन लद चुके थे। उसके बाद नादिरशाह दिल्ही आया था और किसी ने उसके मर जाने की गल्त अफवाह फैला देने से उसके सैनिकों ने लूट-फाट और हत्या-कांड चलाया था। मुहम्मदशाह की प्रार्थना पर खून-खराबी तो बन्द रही; लेकिन दो मास बाद जब नादिरशाह वापस लौटा तो अपने साथ असीम धन राशि, कोहीनूर हीरा, शाहजहाँ का तख्ते ताउस (मयूर सिंहासन) के साथ सिंघ, काबुल, पश्चिमी पंजाब का भाग अपने नाम लिखाके चला गया था।

नादिरशाह की क्रूरता के बारे में बहुत सी बातें सुनाई देती थीं वहाँ पर मुहम्मदशाह के जनानखाने की औरतों को आज़ाद करना और उनको ऐश और हवसकी पुतली न बन कर रहने को उपदेश देने के किस्से भी बाहर आये थे।

उन्हीं दिनों यह भी बात ज़ोर से चल पड़ी थी कि नादिरशाह ढाका तक जानेवाला था; किन्तु उस समय मुर्शीदाबाद के जगत सेठ फतेहचन्दजी (गेलड़ा) ने अपनी टकशाल से एक लाख के नादिरशाह के सिक्के बनवा कर भेजने से वह प्रसन्न हो गया था।

उस समय जोधपुर की स्थिति बड़ी नाजुक थी। दिल्ही की बादशाहत् नादिरशाह ने लूँटी। मुहम्मदशाह नाम का बादशाह था। उधर मरहठाओं ने भूपाल के पास लड़ाई जीत कर अपने पैर बंगाल की ओर बढ़ाने शुरू किये थे। इधर जयपुर कोटा, बुंदेलखंड के राजा लोग जोधपुर की बड़ी प्रतिष्ठा सह नहीं सकते थे। वे मरहठों को बुला कर दिल्ही का तख्त उनके हाथ में देकर अपनी-अपनी रियासतें बढ़ाना चाहते थे।

उधर मरहठा सरदार अपनी-अपनी चोथ (कर) वसूल करने के बहाने अपनी-अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। गुजरात में गायकवाड़, ग्वालियर में सिंधिया, राघोजी भोंसला, नागपुर में और मल्हार राव होल्कर इंदौर में थे। १७९७ में जब तक पेशवा बाजी राव इन मरहठा दल का सरदार रहा; सब मरहठा संगठित रहे — बाद में सब ने पैर फैलाने शुरू किये। १७९७ में उसकी मृत्यु के बाद मराठा सरदारों की मनमानी बढ़ने लग गई।
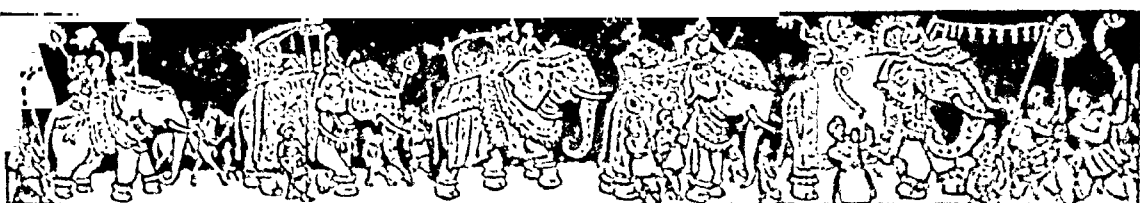
पूज्यश्री की अन्तरात्मा उन्हें साधुवाद देती।

जिन शासन के बारे में जो सामग्री मिली इसे उन्होंने उतारना प्रारम्भ किया। जिसका सार इस प्रकार रहा है।

* * *

वेदों से प्राचीन आत्म-धर्म : जैन-धर्म आत्मा का धर्म है; अतः आत्मा अनादि अनन्त होने से जैन-धर्म भी अनादि अतन्त माना गया है। इसीलिये इस चौवीशी के पूर्व भी अनन्त चौवीशी हुई हैं और आगे भी होंगी ऐसा माना गया है। इसमें भी इस चौवीशी के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के शासन काल में माता मरुदेवीजी आत्म-धर्म को प्राप्त होकर मोक्ष गई ऐसा बताते हैं। वैसी अनेक आत्मायें इसके पूर्व भी सिद्ध बुद्ध एवं मुक्त हुई हैं।

वर्त्तमान में शासन-नायक भगवान महावीर स्वामी माने जाते हैं; किन्तु उसके पूर्व से जैन-धर्म चला आ रहा है और पूर्व के चौवीश तीर्थंकरों के नाम प्राचीन वैदिक धर्म के वेद और शास्त्रों में मिलते हैं।

सर्व प्रथम मनुस्मृति में भगवान ऋषभदेव व उनके माता-पिता का उल्लेख इस प्रकार आता है :—

हिमाह्वयन्तु यहर्षं, नाभिरासीन्महात्यम्।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः॥

—अर्थात् हिम वर्ष में महात्मा नाभि को मरुदेवी से महा तेजस्वी वृषभ नामक पुत्र हुआ।

वैदिक शास्त्रों के अनुसार सातवें मनु के पुत्र नाभि या श्रद्धावान हुए। मनुस्मृति के अनुसार विमलवाहन, चक्षुस्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित तथा नाभि कुल कर हुए। नाभि कुल करके यहाँ ऋषभदेव हुए हैं। उसके कई प्रमाण, कर्म पुराण, मार्कण्डेय पुराण एवं श्री भागवत में भी मिलते हैं।

को तीर्थंकर मानते थे। कोई जमाली को केवली बताते थे। इस प्रकार कहने को जैन करोड़ों थे; मगर गौशालक और जमाली जैसे कुगुरु की प्रतीति पर चलते थे। इसमें धर्म अर्थात् "धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो" समझने जैसा है; क्योंकि "अहिंसा लक्षण युक्त धर्म को छोड़ कर हिंसादि सावद्य धर्म का सेवन करने से मोक्ष नहीं जाया जाता, उलटा संसार बढ़ता है।

शिष्य : साप तो एक बार मारता है उससे भी लोग भागते हैं और लोग उसकी निंदा करते हैं तब कुगुरू तो अनन्त बार संसार भ्रमण कराते हैं तब भी लोग उनकी निंदा क्यों नहीं करते ?

गुरु : साधु के लिये दशवैकालिक सूत्र अ. ६ गा. ८ में अट्ठारह बड़े दोष कहे गये हैं :—

वय छक्कं	काय छक्कं	अकप्पो	गिहिभायणं ।
(६)	× (६) १२	× १३	१४
पलियंक	निसज्जाय	सिणाणं	सोहवज्जणं ॥
१५	१६	१७	१८

एगो दोसो भजए साहू, सो साहू संजमे विराहगो होई।
तस्स पाए वंदणट्ठ ठाए, अनंत संसारिओ होई॥

उपर कहे गये अठारह दोषों में से एक भी दोष सेवे तो वह साधुपने से भ्रष्ट होता है। उसे धर्म गुरु जान कर वन्दना करने से वह उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) संसार में फिरता है। उसमें निरवद्य (अहिंसक) संवर से उज्जवल शुद्ध पवित्र, राग-द्वेष रहित वीतराग का धर्म अपनाये तो मोक्ष मिलता है।

शिष्य : जो अहिंसा का कल्याणकारी मार्ग है उस मार्ग को छोड़ कर सावद्य-आश्रय, अशुद्ध, मलीन धर्म का क्यों सेवन करते हैं ?
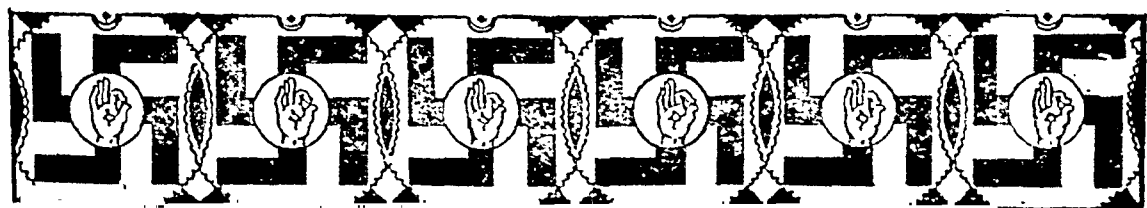
भगवान शांतिनाथ के बाद श्री नेमिनाथ भगवान का उल्लेख 'प्रभास पुराण' में इस प्रकार किया गया है :—

पद्मासनसमासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवेत्येवं नाम चक्रेस्य वामनः॥
कलिकाले महा घोरे सर्व पाप प्रणाशकः।
दर्शनात्स्पर्शनादेव कोटि यज्ञफल प्रदः॥

वामन मुनि को शिव के दर्शन हुए। उन शिव की उपमा पद्मासन विराजित श्याम-दिगम्बर नेमिनाथ भगवान से की गई है।

"प्रभास पुराण" में तो नेमिनाथ भगवान के साथ मुक्ति आदि का सम्बन्ध भी जोड़ा है :—

रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमला चले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्ति मार्गस्य कारणम्॥

यजुर्वेद में कहा है :—

त्रातारमिंद्र ऋषभं वदंति।
अमृतारमिंद्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिंद्रं
हवे शक्रमजितं
तद्वर्द्धमानं पुरुहूतमिंद्र माहुरिति स्वाहा

यों स्थान-स्थान पर वेद, पुराण, भागवत आदि में जिनका उल्लेख आता है, वे चौबीस जिनेश्वर भगवान पहले हो चुके हैं ऐसा सप्रमाण है।

भगवान आदिनाथ : भगवान ऋषभदेव ने संसार को लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के धर्म बताये। असि-मषी कृषि तीनों प्रकार के कर्म बताये। न्याय-दंड की तीन नीति बनाई :— हकार, मकार, धिक्कार; ६४ कला (स्त्री सम्बन्धी) और ७२ प्रकार की पुरुषों की कला बताई।

स्थिति में जब पल का संख्यात् भाग बाकी रहे तब अप्रत्याखान की चौकड़ी टलती है और वह श्रावक व्रत को पाता है। संख्यात सागर बाकी रहें और प्रत्याखान की चौकड़ी टलती है तो साधुपना प्राप्त करता है। जैसे साँप का विष उतरने पर नीम कड़वा लगता है, खाज मिटने पर वह बुरी लगती है वैसे मोह नशा उतरने पर जन्म-मरण की पछाड़ों से वह डरता है और उससे बचने के उपाय को ढूँढता है। तब कुगुरु, काम-भोग, संसार खारे और दुःखदायी मालूम होते हैं। खान-पान को वेदनीय रोग समझने लगता है; भोग को मोहनीय कर्म की बीमारी समझता है और उससे दूर जाता है। जैसे बुखार उतरने पर धान्य पर रुचि होती है वैसे उसे धर्म पर रुचि होती है। वह धर्म-मार्ग पर बढ़ता विचार करता है कि सूयगडांग सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में कहा है कि :—

एयं खु नाणिणो सारं जं न हिंसई किंचणं।
अहिंसं समयं चेव एतावंत वियाणिया॥

—आदि से सर्व ज्ञान का सार छ काय की रक्षा रूप दया आदि १८ धर्म रूप (पाप स्थानकों से विरमण) को सत्य मानता है। वह नवकार में १०८ गुण कहे गये उसमें पहले के बारह गुणवाले अरिहत को देव और अन्तिम सत्ताईस गुण के धारक को गुरु मानता है। ये देव, गुरु और धर्म हीन-पुण्यशाली को प्राप्त नहीं होते। हल्के कर्मवाले पुण्यवान ही इसकी पहचान करते हैं। जब जीव को चिंतामणी रत्न समान समकित रत्न की प्राप्ति हो जाती है तब उसे सन्तोष रूप परम हर्ष होता है। वह जीवन पूर्ण करके देव गति मनुष्य गति को जाता है और वहाँ से अनुक्रम से संयम की आराधना करके मोक्ष जाता है। ऐसा जान कर उत्तम प्राणी १८ पापों को कुमार्ग १८ धर्म मार्ग (पाप त्याग) को सुमार्ग जान कर इन पाँच पदों को चौदह पूर्व का सार जान कर शुभ-कार्य में आत्मा को लगावें। इति सम्पूर्णम्।" *

इस प्रकार के चर्चा विषयक टिप्पण राजस्थानी भाषा में, बारीक अक्षरों में लिख कर मुनिश्री ने पूज्यश्री को दिखाया तो उन्होंने मुनिश्री के कार्य की सराहना की।

* * *

* मूल भाषा राजस्थानी चाटणी है — यहाँ उसका अक्षरशः हिंदी रूपांतर दिया गया है।

भगवान मल्लिनाथ : स्त्री शरीर से भी मुक्ति प्राप्त की जा सकती है और इस काल में भगवान ऋषभदेव के बाद सर्व प्रथम केवल ज्ञान प्राप्त करनेवाली माता मरुदेवी थीं। जिन शासन में वह परम्परा बराबर चलती रही। इतना ही नहीं; १९ वें तीर्थंकर के रूप में मल्लिनाथ स्वामी का नाम आता है जो स्त्री शरीर से मुक्त हुई थी। उन्होंने भी चार तीर्थ की स्थापना की और वे तीर्थंकर बनीं।

भगवान नेमिनाथ : हिंसा और अहिंसा के बीच युग-युग से प्रतिस्पर्धा चली आ रही है और हर बार जब हिंसा ज़ोर पर फैली थी, धर्म रूपी चक्र को चलाने के लिये पुनः तीर्थंकर आत्म धर्म की स्थापना करते थे।

२२ वें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि और २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जीवन इन घटनाओं से ओत:प्रोत हैं। भगवान नेमनाथ जब राजुल से लग्न करने मथुरा नगरी जाते हैं और वहाँ पर भोज के निमित्त पशुओं का आर्तनाद सुनते हैं तब वे लग्न किये बिना ही लौट जाते हैं और आत्म धर्म के प्रचार के निमित्त संयम लेकर, जगत में अहिंसा का प्रचार करते हैं।

भगवान पार्श्वनाथ : भगवान पार्श्वनाथ ने उस समय के क्रियाकांडों में धर्म के नाम पर असावधानी से भी जो हिंसा चल रही थी उसका विरोध किया और कमठ तपस्वी की जलती धूनी से सांप को निकाल कर, इस प्रकार की जीव-हिंसा बन्द हो एतदर्थ प्रयत्न किया। भगवान पार्श्वनाथ तक चातुर्याम संवर (चार महाव्रतों) का पालन चला। तत्संबन्ध में स्थानांग सूत्र की वृत्ति से आचार्य अभयदेव के अनुसार चौथा मैथुन विरमण और परिग्रह विरमण महाव्रत एक बने थे। सामान्य रूप से साधु तो ब्रह्मचर्य को पालनेवाला होना ही चाहिये; अतः ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक भूमिका के अन्तर्गत आ जाने से उसको अलग महाव्रत के रूप में नहीं लिया गया।

भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम संवरवाद का बौद्ध धर्म पर भी प्रभाव पड़ा। वस्तुत: सिद्धार्थकुमार ने पार्श्वमत में दीक्षा ली थी; अतः बहुत सी बातों की अद्भुत

इस चातुर्मास दरम्यान कई वार सम्प्रदायों के विषय में चर्चा चलती थी। पूज्य भूधरजी अपने अनुभव से कहते :—" सारा संसार छोड़ने पर भी संत गण का ध्यान गोचरी में अटक जाता है तो सम्प्रदायें बनती हैं!" यह नितांत कडवा मगर नग्न सत्य था ऐसा मुनिश्री जयमलजी महसूस करते थे। जब साधु संसार त्याग कर गोचरी के रस में पड़ जाता तो कोई न कोई विरोधी बन अपनी नई सम्प्रदाय बनाता और गोचरी का दोष का सेवन करनेवाले अपनी बात के लिये अपनी सम्प्रदाय बनाते। जिन कल्पी, स्थविर कल्पी चैत्यवासी और श्रमण, तप गच्छ और खरतर गच्छ, लोंका गच्छ और यति समाज, पोतिया और पात्रिया एवं जीवराजजी, धर्मदासजी आदि की सम्प्रदायों में गोचरी प्रासुक आहार की यथार्थता के बारे में मत भेद होने से नये-नये गच्छ बने थे यह नितांत सत्य था।

पूज्यश्री भूधरजी सारी बातें सुना कर कहते :—" इसीलिये हमारे गुरु [illegible] तप-मार्ग को विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया। साधु उग्र तप करके गोचरी से [illegible] फिर यह झगड़े ही पैदा नही होंगे। इसी उद्देश्य से हमारे गुरुजी भी उग्र [illegible] हमने भी उनका अनुकरण किया है। हमारे सन्त भी इसी मार्ग पर [illegible] की इच्छा है।"

मुनिश्री जयमलजी की भी उसमें सम्मति थी। एक तो [illegible] आज्ञा [illegible] भगवान महावीर से लेकर जितने भी क्रियोद्धारक हुए, उन्होंने साधु [illegible] आहार-विहार में शिथिलता आने पर ही क्रियोद्धार किया था तब [illegible] आप कडक रहे यह उचित भी था। मुनिश्री जयमलजी एतदर्थ अपना [illegible] थे। इससे एक ओर तप हो जाता था वहाँ दूसरी ओर स्वाध्याय [illegible] अधिक मिलता था।

किशन गढ़ के चातुर्मास के समय एक बात और [illegible] के उपद्रव इस ओर कम हो गये थे।
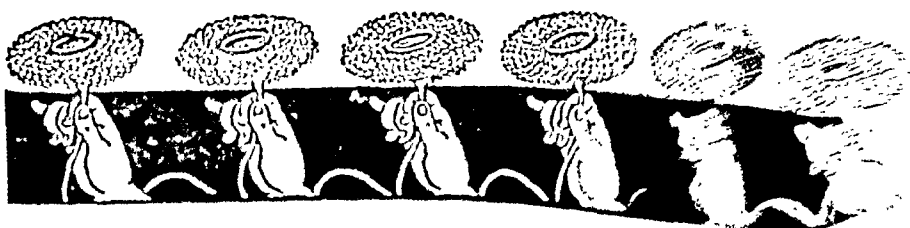
वास्तव में देखा जाय तो वर्षों तक अन्य धर्मवाले जैन धर्म व बौद्ध धर्म को एक मानते रहे; किन्तु जैन धर्म, अलग धर्म एवं दर्शन है उसका स्पष्ट उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में, पिट्टकों में स्थान-स्थान पर मिलता है और वहाँ पर महावीर भगवान को विशेष रूप से श्रद्धांजलि दी गई है।

भगवान महावीर ने जातिवाद की रूढि को करीब समाप्त ही कर डाला। उन्होंने कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते हैं ऐसा प्रचार किया। इतना ही नहीं, अपने संघ में चारों वर्ण के लोगों को लिया। स्वयं भगवान महावीर क्षत्रिय थे और अनेक मुनि (राजकुमार) भी क्षत्रिय थे। गौतम स्वामी आदि गणधर ब्राह्मण थे। धन्ना, शालिभद्र, जम्बुस्वामी आदि वैश्य थे ओर मैतार्य मुनि जैसे शूद्र भी थे।

शूद्र की मुक्ति के साथ उन्होंने स्त्री-जाति के लिये भी ज्ञान एवं मुक्ति के द्वार खोल दिये और आर्या चन्दनबाला के नेतृत्व में हजारों स्त्रियाँ साध्वी आर्या बनीं। यह भी कहा जा सकता है कि श्री गौतम बुद्ध ने भिक्षुणियाँ बनाईं; लेकिन अशोक के बाद बौद्ध भिक्षु समाज से स्त्रियों का स्थान बिल्कुल ही हटा सा दिया गया। कई बौद्ध सम्प्रदायों में भिक्षुणियाँ हैं; किन्तु उनका स्थान गौण सा है। केवल जैन धर्म ने स्त्री की आत्मा को समानता प्रदान कर उसे भी मोक्ष की अधिकारिणी बताया। आज जैन श्रीसंघ में साध्वी और श्राविका को साधु और श्रावक जितना ही गौरव पूर्ण समान स्थान है।

भगवान महावीर ने धर्म का सिंचन जनगण में करने के लिये उसे स्वाभाविक प्राकृत भाषा में कहा और कठिन संस्कृत भाषा के बदले लोक भाषा में प्रचार किया। जिसका प्रभाव यह पड़ा कि लोक जीवन धर्ममय बनना शुरू हुआ और अनेक भव्य जीव, उनके शासन में, उनके अस्तित्व के समय सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

उनके शासन में उन्होंने जाति-कुल से उपर उठ कर "मानव" की श्रेष्ठता सिद्ध की; ओर वह भी कर्मठ मानव; कर्म भूमि में पैदा होनेवाला, सतत आत्मा की उन्नति चाहनेवाला, पुराने कर्मों से लड़नेवाला ऐसा मानव ज्ञान की चरम सीमा पर पहुँच कर

किन्तु उनके साथ चातुर्मास करने की इच्छा मुनिश्री रघुनाथमलजी म० सा० को थी। इधर कुशलचन्दजी भी साथ रहना चाहते थे; अतः सं० १८०० का चातुर्मास पूज्यश्री ने रघुनाथमलजी, कुशलचन्दजी आदि सन्तों के साथ जयपुर में किया। मुनिश्री जयमलजी जोधपुर भेजे गये।

हालाँकि पूज्यश्री की सेवा छोड़ कर मुनिश्री जयमलजी को अलग जाना जंचता नहीं था और पूज्यश्री की विदाय ली तभी उनकी आँखें जैसे प्रश्न कर रही थीं :—"पुनः दर्शन कब होंगे प्रभु ?"

पूज्यश्री ने ज़रा भी विचलित हुए बिना उनके भाव को समझ कर कहा : "धर्म प्रचार करो यथा नाम सर्वत्र धर्म का जयजयकार करो ! पुद्गल स्पर्शना अभी बाकी है; फिर मिलेंगे ही !" और मुनिश्री जयमलजी को भारी हृदय से अलग होना पड़ा। उन्होंने नागौर विहार किया।

इस ओर के विहार के समय मुनिश्री जयमलजी म० सा० ने देखा कि शास्त्रों में चैत्य शब्द को मन्दिर के रूप में घटा कर अन्य गच्छवाले जड़ मन्दिर और मूर्ति पूजा को बढ़ावा दे रहे हैं। सामान्य लोग तो चैत्य और मन्दिर में फर्क न जान कर बहकावे में आ सकते थे। अतः अपनी बुद्धि से उन्होंने चैत्य शब्द का संशोधन किया और "चेइय" शब्द को भी अलग स्थान में पाया। जोधपुर जाने के पहले नागौर में विराजना हुआ और सं० १८०० चैत सुदी दशमी के दिन उन्होंने चैत्य शब्द के ५७ और चेइय शब्द के ५५ कुल मिल कर ११२ अर्थों को इस प्रकार लिपि-बद्ध किया।

— चैत्य चेइय शब्दस्य द्वादशोत्तर शतनामानि —

॥ १ ॥ चैत्यः प्रासाद विज्ञेय १ चेइय हरिरुच्यते २ ।
चैत्यं चैतन्य नाम स्यात् ३ चेइयं च सुधा स्मृता ४ ॥

॥ २ ॥ चैत्यं ज्ञानं समाख्यातं ५ चेइय मानस्य मानव ६ ।
चेइयं यतिरुत्तमःस्यात् ७ चेइय भगमुच्यते ८ ॥

१. गणधर सुधर्मास्वामी : जिन शासन की पहली पाट पर सुधर्मास्वामी बैठे। शास्त्रों में "सुधर्मास्वामी जम्बू स्वामी को कहते हैं कि "हे जम्बू! भगवान महावीर ने ऐसा फरमाया है....!" आदि का बार-बार उल्लेख आता है। तदनुसार भगवान की वाणी का आगम और १४ पूर्व के द्वारा उन्होंने जगत में प्रसार किया। ये कोलक गाँव के अग्नि वैशायन गोत्र के थे ५० वर्ष तक गृहस्थ रहे। फिर प्रभु की सेवा में ३० वर्ष रहे। १२ वर्ष के पश्चात् उन्हें केवल ज्ञान हुआ वे भगवान की पाट पर २० वर्ष रहे। १२ वर्ष पाट पर आचार्य पद रहने पर उन्हें केवल ज्ञान हुआ और ८ वर्ष तक केवली रहके १०० वर्ष की आयु में मोक्ष पहुँचे। (भगवान महावीर निर्वाण के २० वर्ष बाद।)

सुधर्मास्वामी पाट पर रहे उसके पूर्व भगवान महावीर के समय पार्श्वनाथ सम्प्रदायी सचेलक मुनिश्री केशी स्वामी और गौतम स्वामी का मिलन हुआ और अन्त में चर्चा-विचारणा के बाद दोनों पक्ष के आचार्यों ने स्वीकार किया कि पार्श्वनाथ भगवान का और भगवान महावीर स्वामी का पंथ एक है और इस काल में भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित पंच महाव्रत, वस्त्र मर्यादा आदि उपयुक्त है। हालाँकि प्रभु महावीर ने स्वयं तो अचेल (दिगम्बर) मार्ग ही अपना रखा था; किन्तु चतुर्विध संघ को दृष्टि में रखते हुए परिग्रह भाव रहित मर्यादित सचेलकपने को ही मान्य किया था। उन्होंने श्रमणावस्था के लिये जिन कल्प और स्थविर कल्प दो श्रेणियाँ रखी थीं। स्थविर कल्प की आराधना तो सामान्य साधु भी कर सकता था; किन्तु जिन कल्प (वस्त्रा भावना) की आराधना तो विशिष्ट व्यक्ति अमुक समय तक ही कर सकता था। उसके लिये शरीरादि की विशेष अपेक्षा जैसे आहारक शरीर और वृजऋषभ नाराच संहनन आदि भी आवश्यक थे। इसीलिये अंतिम केवली जम्बू स्वामी के साथ जिन दश बोलों का विच्छेद हुआ माना जाता है, उसमें "जिन कल्प" और "आहारक शरीर" का विच्छेद भी आता है।

"जिन कल्प" तो विशिष्ट श्रेणी थी; किन्तु सामान्यत: स्थविर कल्प सब के लिये था। फलत: केशी स्वामी का भगवान महावीर स्वामी के जिन शासन में मिल जाना सम्भव हुआ और वह बहुत ही महत्त्व पूर्ण है।

३. आचार्य प्रभव स्वामी :— वे विंध्याचल के जयपुर‡ नगर के राजा विंध्य के पुत्र थे इनका गोत्र कात्याय न था। पिता से अनवन होने से ४९९ साथियों को लेकर राज्य के विरुद्ध विद्रोह उन्होंने किया और पश्चात् आंतकवादी विद्रोही के रूप में धनवानों को लूँट कर गरीबों को धन बाँटने लगे।

राजगृही में डाका डालते समय जम्बू स्वामी के घर उनसे बोधित होकर सुधर्मास्वामी के पास उनके साथ दीक्षा ली। सुधर्मास्वामी को वीर निर्वाण के बाद १२ वर्ष बाद केवल ज्ञान हुआ और उनके बाद जम्बू स्वामी पाट पर विराजे। जम्बू स्वामी को २० वर्ष पश्चात् केवल ज्ञान हुआ तब प्रभव स्वामी पाट पर बैठे। ३० वर्ष तक गृहस्थाश्रम, २० वर्ष के संयम के उपरांत वे ५५ वर्ष तक पट्टधर रहे। ७५ वर्ष के संयम पालन के बाद वी० सं० ७५ में आप १०५ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर काल धर्म को प्राप्त हुए।

४. आचार्य शय्यंभव स्वामी :— राजगृही नगरी के प्रकांड वत्स गोत्री कर्मकांडी ब्राह्मण थे। आचार्य प्रभव से भेंट हुई और आप ने दीक्षा ली। दीक्षा लेते समय पत्नी गर्भवती थी। बाद में "मनक" नाम का पुत्र हुआ।

बड़े होने पर चम्पा नगरी में पुत्र की पिता से (आचार्य से) भेंट हुई और प्रभावित होकर मनक ने दीक्षा ली। मनक का आयुष्य छ मास का शेष है ऐसा जान कर, उसे साधु-आचार का ज्ञान कराने के लिये पूर्वों से संकलन कर दशवैकालिक सूत्र बनाया। साधु-आचार की संहिता सा वह सूत्र है।

२८ वर्ष तक गृहवास, ३४ वर्ष तक सामान्य दीक्षा काल और २३ वर्ष तक आचार्य पद यों ८५ वर्ष की आयु पूर्ण कर वी० सं० ९८ में कालधर्म को प्राप्त हुए।

५. आचार्य यशोभद्र : तुंगियन गोत्र के विद्वान ब्राह्मण थे। प्रचंड वेद ज्ञानी पंडित थे। आचार्य शय्यंभव से आप ने दीक्षा २२ वर्ष में ली। अंग, वंग, मगध, विदेह

‡ महाभारत में जरासंध मथुरा को आता है और कृष्ण विंध्याचल जाते हैं, तब इस जयपुर नगर का उल्लेख मिलता है।

चातुर्मास पूर्ण होते पूज्यश्री एवं सन्तों का विहार मेड़ता की ओर हुआ। मुनिश्री जयमलजी ने भी जोधपुर से पूज्यश्री आदि सन्तों के दर्शन के लिये प्रस्थान किया। सभी सन्त मिले और बाद में यह तय हुआ कि मुनिश्री रुघनाथजी मेड़ता का चातुर्मास करें और पूज्यश्री के साथ मुनिश्री जयमलजी का चातुर्मास फिर से जोधपुर में हो। मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० को भी स्वतन्त्र चातुर्मास की स्वीकृति दी गई।* जब मुनिश्री जयमलजी और मुनिश्री कुशलचन्दजी एक दूसरे से विदा हुए तब कुशलचन्दजी की आँखें जैसे कह रही थीं : "अब आप ही आप हैं?" उन्होंने जयपुर चातुर्मास के समय चर्चा आदि से अनुमान लगा लिया था कि संघ के आचार्य के रूप में मुनिश्री जयमलजी पर पूज्यश्री की पसन्दगी है।

ऐसा अनुमान औरों का भी था; क्योंकि पूज्य भूधरजी ने मुनिश्री रुघनाथजी को अपने साथ न लेकर मुनिश्री जयमलजी को साथ रखा था। मगर मुनिश्री जयमलजी की आत्मा तो इसलिये प्रसन्न थी कि उन्हें पुनः पूज्यश्री के दर्शन का लाभ मिला था और अब सेवा का अवसर भी मिलनेवाला था।

जोधपुर का दूसरा चातुर्मास सं० १८०१ में हुआ। मुनिश्री ने चैत्य और चेइय शब्द के अर्थों का लिखा पन्ना पूज्यश्री को बताया जिसको पढ़ कर वे बड़े प्रसन्न हुए।

उन्होंने अपने संघ के इतिहास को ध्यान में रखते हुए इसकी सराहना भी की। क्योंकि चैत्य और चेइय में एक का अर्थ होता है ऐसा स्थान जहाँ पर पद-अंकित (पाद-प्रतिष्ठा) हो और दूसरे का अर्थ होता है पूज्य। इसके अलावा भी इस पर से स्पष्ट हो जाता था कि जड़-पूजा, मूर्ति-पूजा, भारत के इतिहास में ग्रीक-यवनों के आवागमन के बाद प्रारम्भ हुई है और चैतन्य आत्मा की उपासना-साधना करनेवाले जैन धर्म में उसका स्थान

---

* 'रत्नवंश के आचार्य' नामक पुस्तक में १८०० का चातुर्मास जैतारण और १८०१ का खाली आता है। पू० रघुनाथमलजी म० सा० के चातुर्मास की टीप में १८०० के जयपुर चातुर्मास में साथ कुशलचन्दजी रहे ऐसा उल्लेख है।

भी दक्षिण में चले गये थे। वहाँ उन्होंने जैन धर्म का प्रचार किया। दक्षिण के लोगों पर जैन संस्कार डालने में आपका प्रमुख हाथ रहा।

भद्रबाहु स्वामी के समय बड़े-बड़े विद्वान हुए। आचार्य भद्रबाहु स्वामी स्वयं बड़े विद्वान थे। उन्होंने दशवैकालिक, आचारांग, सूत्र कृतांग, उत्तराध्ययन, सूर्य प्रज्ञप्ति, कल्क व्यवहार, कृषि भाषित, आवश्यक एवं दशाश्रुतस्कंध नामक दश ग्रन्थों की निर्युक्ति (व्याख्या) लिखी। दश कल्प और व्यवहार ग्रन्थ का आप ने निर्माण किया। आप ने स्वयं वासुदेव चरित्र आदि १० बड़े ग्रन्थों की रचना की। पर्युषण में पढ़े जानेवाला "कल्प-सूत्र" भी आपकी रचना मानी जाती है।

उनके समय अर्थ शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ "कौटिल्य अर्थ शास्त्र" चाणक्य ने बनाया। पाणिनीय ने व्याकरण की रचना की और वररुचि ने भी ग्रन्थ बनाये।

पाटलीपुत्र वाचना : चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में बारह वर्ष का दुकाल पड़ा और अधिकतर साधु कलिंग (उड़ीसा) में चले गये। दुष्काल पूर्ण होने पर वापस सभी साधु पाटलीपुत्र में आर्य स्थूलिभद्र की अध्यक्षता में मिले तो मालूम हुआ कि बारहवाँ दृष्टिवाद सूत्र किसी को याद नहीं है।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी उस समय नेपाल में महा प्राण साधना में लीन थे। संघ ने उन्हें बुलाने दो साधु भेजे; किन्तु "महा प्राण साधना" में हूँ कहकर उन्हें लौटा दिये। संघ आज्ञा के उथापने के प्रायश्चित की बात आई तो उन्होंने योग्य साधुओं को ज्ञान प्राप्ति के लिये भेजने का कहा।

श्रीसंघ ने आर्य स्थूलिभद्रजी को पाँच साधु के साथ नेपाल‡ भेजे। चार साधु तो कष्टों से वापस लौट गये। स्थूलिभद्रजी ने आठ वर्ष तक रह कर १० पूर्व का अध्ययन

---

‡ कहीं पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि ५०० साधु के साथ कर्णाटक गये। ऐसा माना जा सकता है कि चन्द्रगुप्त के समय दूसरा दुकाल पड़ा और आचार्य भद्रबाहु स्वामी कर्णाटक गये हों। इसके पूर्व वहाँ जाने का युक्ति संगत नहीं लगता।

में दोनों सम्प्रदायों में कुछ अन्तर आता है। दोनों की पाट परम्परा इस प्रकार मानी जाती है :—

दिगम्बर		श्वेताम्बर	
केवली गौतम	१२ वर्ष	(पाट पर नहीं आये)	
,, सुधर्मा	२० ,,	केवली सुधर्मास्वामी	२० वर्ष
,, जम्बू स्वामी	३८ ,,	केवली जम्बु स्वामी	४४ ,,
श्रुत केवली विष्णु	१४ ,,	प्रभव स्वामी	११ ,,
नन्दीमित्र	१६ ,,	शय्यंभव	२३ ,,
अपराजित	२५ ,,	यशोभद्र	५० ,,
गोवर्धन	१७ ,,	संभूति विजय	८ ,,
भद्रबाहु	२० ,,	भद्रबाहु	१४ ,,
	१६२ वर्ष		१७० वर्ष

दिगम्बर सम्प्रदायों ने आगे जाकर आगम अमान्य किये; अतः उनकी परम्परा भद्रबाहु के बाद भी बहुत वर्षों के बाद अलग चली हो ऐसा सम्भव है। स्पष्टतः उत्तर में दिगम्बर मत का प्रचलन तो बहुत वर्षों बाद हुआ हो ऐसा अनेक पट्टावलियों से मालूम होता है। दक्षिण में भी वर्ष के अनुसार परम्परा का संवत्वार इतिहास नहीं मिलता।

भद्रबाहु स्वामी तक श्वेतांबर और दिगम्बर ऐसे कोई भेद स्पष्ट नहीं मिलते हैं। भगवान महावीर अचेलक हो गये थे यह स्पष्ट था; फिर भी सचेलक अचेलक के भेद भी रूढ नहीं हुए थे। श्रमण संघ का विचरण नगर बहार उपवन उद्यान आदि में हुआ करता था। चातुर्मास भी वहीं बिताये जाते थे। उसमें जिन्हें जिनकल्प पसन्द होता था वे नगर बहार ही रहते थे। वन में, स्मशान में और भयंकर स्थानों पर उनके तप किये जाने के उल्लेख भी मिलते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि स्थविर कल्पवाले नगर में जाकर उनकी
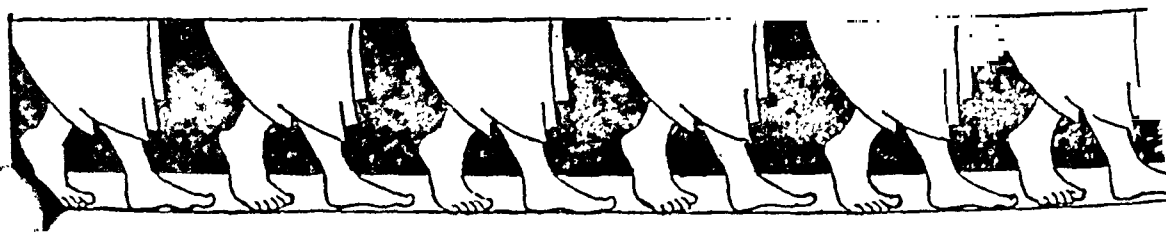
जयध्वज

खंड - ५
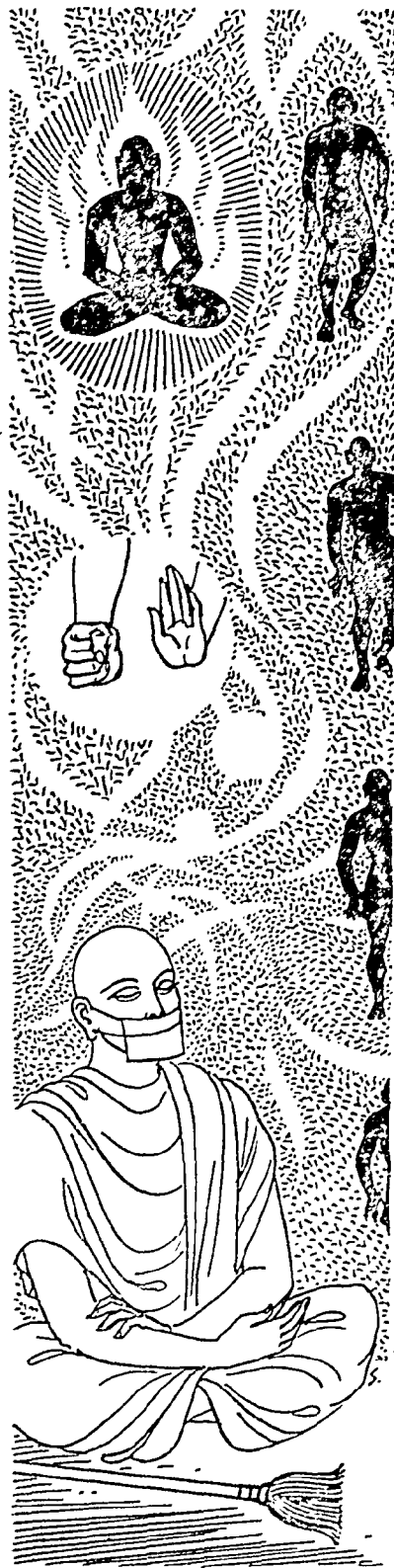
साधु धर्म संगठन

जय जिन शासन

आचार्य भद्रबाहु स्वामी को श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों ही मानते हैं; किन्तु उनके बाद अवश्य "चेल" (वस्त्र) को विवाद का विषय बनाया गया और अपना-अपना महत्व बताने के लिये सम्प्रदायों में जैन समाज बँटता गया। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने अन्तिम योग्य शिष्य आर्य स्थूलिभद्र को चार पूर्व का अर्थ नहीं कहा; अतः किसी भी श्रुत केवली के अभाव में सब ने अपने-अपने अर्थ लगाने शुरू किये हों ऐसा लगता है।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी कर्नाटक विहार करके चले गये थे और उत्तर में आर्य स्थूलिभद्र थे। आर्य स्थूलिभद्र हालाँकि उस अकाल के समय में उत्तर के श्रमण संघ की व्यवस्था सम्हाले हुए थे; फिर भी आचार्य भद्रबाहु स्वामी जीवित रहे तब तक उन्होंने अपने को उनकी आज्ञा में चलनेवाला ही मनाया। उन्होंने जैन एकता में कभी आंच नहीं आने दी।

उस समय मगध में भयंकर अकाल चालु था। आचार्य भद्रबाहु स्वामी दक्षिण पथ में चले गये थे। आहार के निमित्त बौद्ध भिक्षुओं में शिथिलाचार चल पड़ा था। उस समय संघ व्यवस्था बराबर बनाये रखना और संघ को एक सूत्रता में बांधे रखना आर्य स्थूलिभद्र की प्रतिभा एवं संघ व्यवस्था शक्ति का प्रभाव था।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी के कालधर्म प्राप्त होने के समाचार सभी ने बड़े दुःख से सुने; क्योंकि उनके बाद श्रुत केवली परम्परा मिट रही थी। फिर भी सभी ने बड़े उत्साह से आर्य स्थूलिभद्र को आचार्य पद दिया।

८. आचार्य स्थूलिभद्र : आप नवम नन्द राजा के मन्त्री शकडाल के बड़े पुत्र थे। गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। उन दिनों मगध का राज्य षडयन्त्रों से उलझा था। स्थूलिभद्र की शांति चाहनेवाली आत्मा को पाटलीपुत्र की नगरनारी (वेश्या) की पुत्री कोशा के रूप में शांति दिखी। कहते हैं कि मन्त्री शकडाल ने उन्हें तैयार होने वहाँ भेजा; किन्तु कोशा और स्थूलिभद्र का प्रेम ऐसा सुदृढ़ रहा कि वे पिता के घर बारह वर्ष तक न लौटे।

इस बीच महा पंडित वररुचि के षड़यन्त्र से अपने वंश का गौरव बढ़ाने के लिये महा मन्त्री शकडाल को अपने छोटे पुत्र श्रेयक के हाथ अपना बलिदान दिलवाना पड़ा।
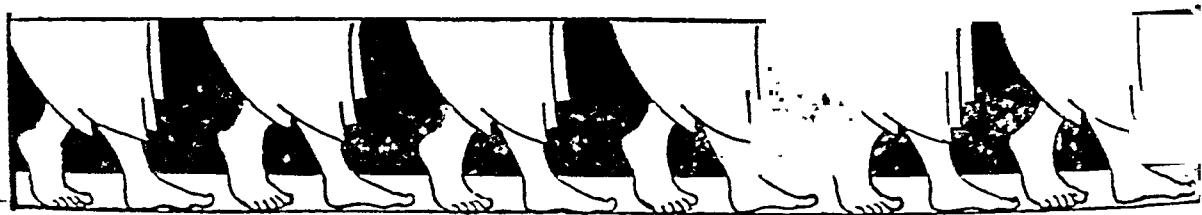
टिप्पण बनाई। पूज्यश्री से यथावकाश चातुर्मास में जिन-शासन सम्बन्धी सारी बातें जाननी शुरू की।

प्रवचन के उपरांत उनका सारा समय लेखन आदि में जाता था। तदनुसार जिन-शासन क्या है? कैसे प्रारम्भ हुआ....? आदि बहुत सी बातें उनके सामने आईं। पूज्यश्री भूधरजी अक्सर उन्हें कहते थे कि "ध्येय सभी का मोक्ष पाना है, शासन नायक महावीर स्वामी हैं; किन्तु साधन और आचार-विचार के छोटे-छोटे अन्तर के कारण इतने मतभेद हो गये हैं और प्रत्येक अपने को ही सत्य बताने के लिये ऐसे प्रयत्न करता है कि दूसरे को नितांत असत्य या धर्म विरुद्ध बताने पर उतर जाता है। सभी शुद्ध नहीं हो सकते; हां, जो आत्मायें शुद्धि की ओर जितनी आगे हैं उतनी वे आत्मायें धन्य हैं!"

भद्रबाहु स्वामी की नहीं की है। इस पर से भी भद्रबाहु स्वामी का दक्षिण जाना और स्थूलिभद्रजी का यशस्वी संघ संचालन स्पष्ट होता है।

नन्द वंश के अन्तिम राजा पर स्थूलिभद्रजी का प्रभाव था ही; चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल आदि भी आपके समकालीन थे। श्रेयंक, जिसे राक्षसमंत्री के नाम से भी कई जानते हैं — वह आपका छोटा भाई था। चन्द्रगुप्त का गुरु और कौटिल्य अर्थ-शास्त्र के रचयिता चाणक्य पर भी आपके तप-ज्ञान का प्रभाव पड़ा था।

जैन श्रीसंघ उस समय जिस परिस्थिति से गुज़र रहा था और अकाल की विषमता विचार कर आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने भी दक्षिण विहार किया था; उस समय पाटलीपुत्र में रहकर और बाद में कलिंग की ओर श्रमणों का विहार कराके आपने संघ को जो मनोबल दिया था उससे आपका प्रभाव बहुत ही बढ़ गया था। ऐसा भी माना जा सकता है कि श्रीसंघ ने उन्हें आचार्य भद्रबाहु की अनुपस्थिति में आचार्य पद देना चाहा होगा जिसे उन्होंने बड़े विनय के साथ लौटाया होगा और एक संघ में दो आचार्य न बने ऐसा उन्होंने जिन शासन एकता के लिये किया होगा — जिसका समाज पर अमिट प्रभाव पड़ा था।

वीर संवत् १७० में जब आचार्य भद्रबाहु कालधर्म को प्राप्त हुए तब श्रीसंघ ने आर्य स्थूलिभद्र को आचार्य पद दिया। उस समय की परिस्थिति बड़ी विचित्र थी। एक ओर सिकन्दर का आक्रमण और बाद में उसके सेनापति सेल्युकस का आक्रमण हो चुका था। दो-दो बार भयंकर दुकाल पड़ चुके थे और साथ ही दुकाल में जब अन्य धर्मवाले अपने मार्ग से विचलित हो चुके थे उस समय श्रमण संघ का मनोबल बनाये रखने में आचार्य स्थूलिभद्रजी को बड़े ही विवेक और दीर्घ दर्शिता से काम लेना पड़ा। नये सन्तों की व्यवस्था, साध्वियाँ-आर्याओं की व्यवस्था आदि के कारण वस्त्र, पात्र आदि के सम्बन्ध में थोड़ी बहुत छूट समयानुसार कर दी गई थी। धर्म प्रचार के निमित्त नगर की पौषधशालाओं में सन्तों को ठहरने आदि की भी स्वीकृति दी गई थी। फिर भी जिन्हें जिन कल्प में विचरना हो उनके लिये किसी प्रकार की रोक टोक न थी।

ऋग्वेद में भगवान ऋषभदेव की स्तुति इस प्रकार की गई है :—

ऋषभं भासमानानां सपत्नानां विपसाई ।
हन्तारं शत्रुणां कुधि विराजं गोपितंगवाम् ॥

मनुस्मृति में भ० ऋषभदेव को "जिन" कहकर तीन प्रकार की नीति को चलानेवाले बताये गये हैं :—

नीति त्रयाणां कर्त्तायो युगादौ प्रथमो जिनः ।

उसके साथ आरण्यक उपनिषद में कहा गया है कि :—

ऋषभ एवं भगवान् ब्रह्मा, भगवता ब्रह्मणा ।
स्वयमेवाचीर्णानि ब्रह्माणि तपसा च प्राप्तं परं पदम् ॥

——अर्थात् ऋषभदेव भगवान हैं और ब्रह्मा हैं, तप के द्वारा जिन्होंने परम पद को प्राप्त किया है ।

जिन शासन के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान के बारे में भी यजुर्वेद में ऐसा कहा गया है :—

ॐ नमो अर्हंतो ऋषभाय । ॐ ऋषभ पवित्रं, पुरुहूतम ध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसंस्तुतं वरं शत्रुं जयंतं पशुरिंद्र माहुतिरति स्वाहा ।

इतना ही नहीं; जिन शासन का प्रारम्भ ऋषभदेव से हुआ है और क्रमशः चौवीश तीर्थंकर हुए हैं। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से शांतिनाथजी, नेमिनाथजी पार्श्वनाथजी का उल्लेख भी मिलता है ।

योग वशिष्ठ के वैराग्य प्रकरण में वशिष्ठ और श्रीराम के संवाद के बीच ऐसा आता है :—

ना हं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मनः ।
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

—मैं राम नहीं हूँ; मेरी कुछ इच्छा नहीं और एक भाव व पदार्थों में मेरा मन नहीं है। मैं तो जिनदेव के समान अपनी आत्मा में शांति स्थापना करना चाहता हूँ।"

धर्म की प्रतिद्वंदिता को भी सामने रखा; किन्तु आर्य विशाखा स्वामी न माने। उन्होंने इस परिवर्तन को शिथिलाचार सेवन की जड़ और आड़ बताया।

श्रीसंघ ने केशी-गौतम संवाद का उल्लेख किया, साथ ही चतुर्विध श्रीसंघ में आर्याओं की स्थिति के बारे में स्पष्टीकरण चाहा कि जहाँ सभी भव्य आत्माओं की मुक्ति मानी गई है। पन्द्रह भेदें सिद्ध बताये गये हैं, वह कैसे शक्य होगा? आचार्य स्थूलिभद्रजी ने एकांत उत्सर्ग मार्ग पर चलनेवाले सन्तों का जिन कल्प में रहना स्वीकृत किया; किन्तु आर्य विशाखा केवल अपने मत पर बने रहे।

फलतः आर्य विशाखा स्वामी‡ ने (१) अपने सन्तों को अलग कर दिया। (२) जिन शास्त्रों का संकलन किया गया था और जिनके प्रमाण दिये गये थे उन्हें भी उन्होंने अमान्य किया। जिन कल्प और स्थविर कल्प या अचेलक और सचेलक दोनों प्रकार की जैन परम्परा साथ चलती थी उसमें भेद हो गया।

आर्य विशाखा स्वामी का उससे अधिक उल्लेख नहीं मिलता है; वे दक्षिण पुनः गये हों ऐसा अधिक शक्य है। जैन इतिहास में उन्हें विशाखाचार्य कहा जाता है; किन्तु मगध में श्रीसंघ ने आचार्य पद स्थूलिभद्रजी को दिया था; अतः उन्हें आचार्य पद देने का प्रश्न ही नहीं था—किन्तु हो सकता है कि पुनः दक्षिण में जाकर वहाँ उन्होंने अचेलकपने का प्रचार किया हो और भद्रबाहु स्वामी के बाद उन्हें दक्षिण में वापस जाने पर आचार्य बनाया हो। उत्तर में जब श्वेतांबर दिगम्बर दोनों फिरके मिलते हैं तब दक्षिण में सिर्फ दिगम्बर मत ही चला जिसका पूर्व रूप "अचेलक-पना" होना चाहिये। इतना ही नहीं, विशाखाचार्य ने पाटलीपुत्र वाचना के जैन सूत्रों को अमान्य किया था; फलतः नये स्वर से "अचेलक-पने" की सिद्धि निमित्त आगे जाकर दिगम्बर मत के ग्रन्थों की रचना आरम्भ हुई।

‡ श्रमण परम्परा में एक आचार्य होते हुए दूसरे आचार्य नहीं बन सकते। किन्तु आर्य विशाखा स्वामी का उल्लेख विशाखाचार्य के रूप में लिया जाता है। हो सकता है कि बाद के दक्षिण पथ में दिगम्बर मतानुयायियों ने उन्हें आचार्य माना हो। दक्षिण की कुछ संत वंशावली उनसे प्रारम्भ होती है।
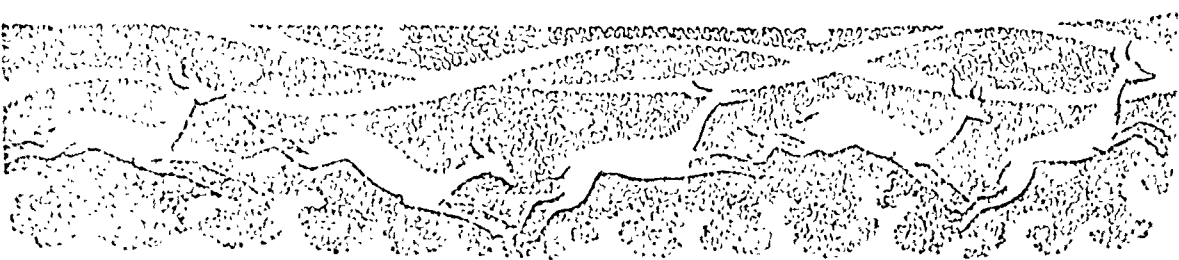
आचार्य स्थूलिभद्र के बाद आपको वी० सं० २१५ में आचार्य पद दिया गया। विशाखाचार्य तो अपने सन्तों के साथ अलग हो गये थे; किन्तु जम्बू स्वामी से लुप्त जिन कल्पी परम्परा को आचार्य महागिरि ने पुनः चालु की थी और आप तप - ध्यान एवं आत्म चिंतन में मग्न रहने लगे थे और संघ का सारा भार आर्य सुहस्ति को सौंपा था।

ऐसा उल्लेख मिलता है :—

"थूलभद्दं जाव सव्वेसिं एक संभोगी आसी। थूलभद्द जुगप्पक्षणा दो सीसा, अज्ज महागिरि, अज्ज सुहत्थिओ। अज्ज महागिरि जेठो। अज्ज सुहत्थ तस्सठि एगा थूलभद्र सामिणा। अज्ज सुहत्थिस्स जुओ गणो दिन्नो। तहापि अज्ज सुहत्थि पीतिवसेण एक्कतो विरहन्ति!" [†]

—अर्थात् स्थूलिभद्रजी के सर्व साधुओं का एक ही आहार था। स्थूलिभद्रजी के दो शिष्य थे। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति। आर्य महागिरि ज्येष्ट थे। आर्य महागिरि को योग्य जान कर गणभार उन्हें सौंप दिया गया। फिर भी प्रीतिवश आर्य महागिरि आर्य सुहस्ति के साथ विचरण करते रहे।

यहाँ पर कई पट्टावली में दोनों को गुरु - भाई माना गया है और कहीं पर गुरु - शिष्य माना गया है। साथ ही आचार्य महागिरि के बाद पट्टावली में उन्हें आचार्य भी बताया गया है।

आचार्य महागिरि और आचार्य सुहस्ति में जिन कल्प और स्थविर कल्प को लेकर मतभेद रहा हो; किन्तु दोनों साथ विचरण करते थे। ऐसा भी हो सकता है कि जिन कल्प अपनाने पर आचार्य महागिरि ने संघ व्यवस्था आचार्य सुहस्ति को सौंप दी हो।

उस समय जो नगर संस्कृति विकसित हो रही थी उसकी ओर आचार्य महागिरि की उपेक्षा रही हो और दुष्काल के बाद श्रमण संघ में, वस्त्र, पात्र और निवास स्थान के प्रति सहज छूट आ गई थी। संघ के आचार्य की उस ओर उपेक्षा देख कर जैन धर्म के प्रचार के निमित्त विशेष कार्य न हुआ हो ऐसा लगता है। फलतः चन्द्रगुप्त मौर्य, विन्दुसार

---

† निशिथ चूर्णी — हस्तलिखित प्रति पंचम उद्देश्य पृ. १८० (गोडीजी उपाश्रय बम्बई में है।

समानता जैन धर्म व बौद्ध धर्म में पाई जाती है। चार आर्य सत्य और चातुर्याम संवर मिलते हैं। इसका कारण गौतम बुद्ध पर स्पष्ट भ० पार्श्वनाथ के चातुर्याम संवर का प्रभाव रहा हो ऐसा माना जा सकता है।

भगवान महावीर : भगवान महावीर से शृंखलाबद्ध विश्व का इतिहास प्राप्त होता है और जिन शासन नायक के रूप में जैन उन्हें ही मानते हैं। भगवान ने द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव देख कर साधुता के लिये चार व्रत के बदले पाँच महा व्रत अलग-अलग स्पष्ट बतलाये और रंगीन एवं अमर्यादित वस्त्रों के स्थान पर मर्यादित वस्त्र का विधान बताया।

भगवान महावीर के समय धर्म के नाम पर हिंसा चलती थी। यज्ञों में भेड़-बकरे-पाड़े तो चढ़ाये जाते थे; किन्तु नर-बलि* भी देने से नहीं हिचकिचाते थे। अतः उन्होंने सच्चा यज्ञ, धर्म मुनि आदि की व्याख्या लोगों के आगे की और न केवल यज्ञादि की हिंसा को बन्द करवाया; किन्तु साथ ही उन्होंने अनेक ब्राह्मणों को जैन धर्म का बोध करा कर अपने शिष्य बनाये। इनमें गुरु गौतम गणधर के साथ एक ही दिन में ११ गणधरों का (४४०० व्यक्तियों का) भगवान के पास दीक्षा लेना महत्त्व का था।

उस समय दर्शन के नाम पर अनेक मत (५६५ के करीब) प्रचलित थे। जिनमें गौतम बुद्ध का मध्यम मार्ग, मंखलि पुत्र गोशालक का आजीविक मत, पूरण काश्यप व प्रकुद्ध कात्यायन का सांख्य मत, अजीत केश कम्बली संजय वेलियपुत का योग मार्ग, चार्वाक का नास्तिक वाद आदि प्रचलित थे। भगवान ने अनेकांत वाद के द्वारा उन सब मतों की स्पष्ट जानकारी बता कर उनकी अपूर्णता अकाट्य तर्कों से सिद्ध की और अपने स्याद्वाद (जैन दर्शन) को स्पष्ट किया। गोशालक मंखलि पुत्र को उनसे हार माननी पड़ी थी और बौद्ध ग्रन्थों में भगवान महावीर को "णायपुत्ते समणे भगवं महावीरे" कहकर उनकी दीर्घ तपस्या एवं ज्ञान और चारित्र को श्रद्धांजलि दी गई है।

* अमरकुमार का प्रसंग
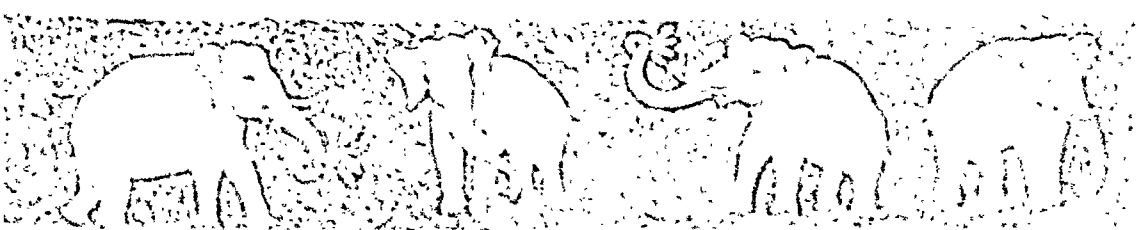
आचार्य सुहस्ति अपने समय के प्रभावशाली आचार्य थे। अशोक के बाद कुणाल अन्ध होने से उसका पुत्र सम्प्रति राजा बना। उसने आचार्य सुहस्ति के दर्शन किये तब उसे जाति स्मरण ज्ञान हुआ। तदनुसार जब बारह वर्ष का दुकाल पड़ा था; तब वह एक गरीब इक्कीश वर्ष का जवान था। उसने आचार्यश्री से दीक्षा ली थी और दुकाल के संकट कालीन समय उत्सर्ग मार्ग पर अग्रसर होते हुए काल धर्म प्राप्त किया था। वह मर कर कुणाल के पुत्र के रूप में हुआ। इस प्रकार अपने उपकारी गुरु को याद कर राजा संप्रति ने जैन धर्म स्वीकार किया और उस समय के भारतवर्ष और उसके बाहर जैन धर्म का प्रचार किया।

आचार्य सुहस्ति वी० सं० २९१ में ७६ वर्ष का संयम पाल, १०० वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर काल धर्म को प्राप्त हुए। उनके बाद कई जगह आचार्य गुणसुन्दर हुए ऐसा उल्लेख मिलता है; किन्तु पट्टावली के अनुसार आचार्य सुस्थित बने।

११. आचार्य बलिस्सह एवं आचार्य सुस्थित : नन्दी सूत्र पट्टावली में आचार्य महागिरि के बाद आर्य बलिस्सह आचार्य वी० सं० २४५ में बने ऐसा उल्लेख मिलता है। आचार्य बलिस्सह का नाम दो प्रकार से सुप्रसिद्ध है। एक तो आपके शिष्य उमास्वाति ने जैन साहित्य निर्माण में बड़ा योग दिया और दूसरा आपने जैन एकता बनाये रखने का बड़ा प्रयत्न किया और सहयोग दिया।

उसी समय पूर्व कलिंग में कुमारगिरि पर्वत पर, कलिंग नरेश खारवेल ने जो जैन श्रमण सम्मेलन बुलाया उसमें एक ओर तो पार्श्वप्रभु के अनुयायी श्रमण थे, वहाँ आचार्य बलिस्सह आदि जिन कल्पी संत और आचार्य सुस्थित के श्रमण आदि करीब ४०० सन्तों का सम्मेलन हुआ था। ऐसा लगता है कि वहाँ पर श्रमण संघ एक न हो सका और जिन कल्पी एवं स्थविर कल्पी ऐसे स्पष्ट दो भेद तो हो गये; साथ-साथ और भी अन्य गच्छ आदि बनने प्रारम्भ हुए हों। ऐसा भी हो सकता है कि पार्श्वनाथानुयायी को भी अलग गच्छ रूप में विचरण करने का बल मिला हो।

भगवान बन सकता है — यह घोषणा उन्होंने सभी वादों और धर्मों के बीच की। देव और देवी सुखों को उन्होंने गौण किया और मुक्ति के अधिकारी के रूप में मानव को सिद्ध कर, देव भी उस अवतार को लेने तरसते हैं ऐसा उन्होंने घोषित किया।

इस प्रकार भगवान महावीर ने जैन धर्म को पुनः स्थापित किया। साथ ही जैन धर्म की अहिंसा, देवत्व से भी श्रेष्ठ मुक्ति, कर्मवाद, मानव - श्रेष्ठता, आत्म - एकता आदि का ऐसा प्रभाव अन्य धर्मों पर डाला कि लोक जीवन से हिंसा, क्रूरता, भेदभाव, निष्क्रियता दूर करके उन्हें भी उन सिद्धांतों को अपनाना पड़ा।

*	*	*

कल्पसूत्र — त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि के आधार पर तीर्थंकरों के बारे में यह जानकारी कर नन्दी - सूत्र में मथुरा वाचना के बाद आचार्य देवर्द्धिगणि ने शासन की जो पट्टावली बनाई एवं जो अन्य गच्छावली प्रचलित थीं उनके आधार पर जिन शासन का सार इस प्रकार रहा ऐसा मुनिश्री जयमलजी ने जाना।

जिन शासन के मोक्षगामी पट्टधर नायक :—

गुरु गौतम गणधर : भगवान महावीर के निर्वाण के समय गौतम स्वामी को केवल ज्ञान हुआ और प्रभु महावीर के शासन की पाट पर पाँचवें गणधर सुधर्मास्वामी को बिठाया गया। हालाँकि गौतम स्वामी प्रभु के गणधरों में श्रेष्ठ थे और वे ही भगवान की आज्ञानुसार साधुओं के गण की व्यवस्था सम्हालते थे; किन्तु केवल ज्ञान होने से भगवान महावीर के बाद सुधर्मास्वामी को ही पाट पर बिठाया गया। सामान्य रूप से सूत्रों में जगह - जगह गौतम स्वामी प्रश्न करते हुए और प्रभु महावीर उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करते बताये गये हैं।

दिगम्बर मतानुसार केवली गौतम १२ वर्ष तक पाट पर रहे ऐसा माना जाता है; किन्तु नियमानुसार केवली बनने के बाद सुधर्मास्वामी को पाट पर बिठाया गया हो ऐसा प्रतीत होता है।

पर्वत पर जिन कल्पी साधुओं के लिये अनेक जैन गुफायें बनाईं। तदुपरांत खारवेल ने आचार्य महागिरि की परम्परा के आचार्य बलिस्सह, आर्य बोधिलिंग, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि दो सौ जिन कल्पी साधु और आर्य सुस्थित, आर्य सुप्रतिबद्ध, उमास्वाति तथा श्यामाचार्य आदि ३०० साधुओं को एकत्र कर जैन साहित्य का पुनरुद्धार करवाया।

खारवेल "भिक्षुराज" के नाम से भी सुप्रसिद्ध है।

१२. आचार्य स्वात्याचार्य, आचार्य सुप्रतिबद्ध :—

(१) अन्य परम्परा के अनुसार आचार्य सुहस्ति के बाद (११) आर्य सुस्थित आचार्य बने। आपका जन्म वी० सं० २८३ में हुआ। आप शंकिदी नगरी के व्याघ्रदत्त्य राज कुल के थे। ३१ वर्ष की आयु में दीक्षा आचार्य सुहस्ति से ली। १७ वर्ष संयम पालने के बाद वी० सं० २९१ में आप आचार्य बने।

आपकी तत्त्व निरूपण शैली बड़ी अच्छी थी। भुवनेश्वर के पास कुमारगिरि पर आप ने घोर तप किया था। ३८ वर्ष तक आचार्य पद पर रहने के बाद वी० सं० ३३९ में आप कुमारगिरि पर्वत पर कालधर्म को प्राप्त हुए।

(२) आचार्य बलिस्सह वी० सं० २८० में कालधर्म प्राप्त हुए और उनके बाद आर्य उमास्वाति उनकी पाट पर आये, जिन्होंने आगम वाणी के सार रूप तत्त्वार्थ सूत्र दिया। इसे श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों मान्य करते हैं। जिन कल्प और स्थविर कल्प दोनों के भेदों का समन्वय बहुत ही सरलता से उसमें आप ने किया :—

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो

—(वस्त्र, पात्र आदि में) मूर्छा - ममत्व ही परिग्रह है।

तत्त्वार्थ सूत्र के अलावा आपने 'श्रावक प्रज्ञप्ति', 'मूल प्रकरण', जम्बू द्वीप समास प्रकरण', 'क्षेत्र विचार' आदि अनेक ग्रन्थ रचे। आप वी० सं० ३३२ में कालधर्म प्राप्त हुए। कई स्थान पर स्वात्याचार्य, शांताचार्य का उल्लेख मिलता है; लेकिन ये आचार्य उमास्वामी के दूसरे नाम मालूम पड़ते हैं।

२. केवली जम्बू स्वामी : सुधर्मास्वामी के बाद उनकी पाट पर जम्बू स्वामी आये। राजगृही के ऋषभदत्त सेठ और धारिणी सेठानी के पुत्र थे। १६ वें वर्ष में नवपरिणिता आठ स्त्रियों को और घर आये प्रभव आदि ५०० से ऊपर लोगों को धर्म का ज्ञान करा कर कुल ५२७ मनुष्यों के साथ दीक्षा ली।

जम्बू स्वामी ने आगम व पूर्व ज्ञान को सुधर्मास्वामी से पूछ-पूछ कर स्थिर किया। उन्हें केवली गौतम स्वामी का १२ वर्ष तक और केवली सुधर्मास्वामी का ८ वर्ष तक लाभ मिला। सुधर्मास्वामी केवली बनने के बाद आठ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे; अतः भगवान के आगम वचन व ज्ञान का जम्बू स्वामी ने सम्पूर्ण अध्ययन एवं संकलन किया। उन्हें दीक्षा के २० वर्ष बाद केवल ज्ञान होने से बाकी का ज्ञान स्पष्ट हो गया। वे ४४ वर्ष तक केवली रहे। वे ८० वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वी० सं० ६४ में निर्वाण पद को प्राप्त हुए। उनके बाद केवल ज्ञान का विलोप हो गया।

जम्बू स्वामी के बाद केवल ज्ञान के विच्छेद के साथ निम्नः बातों का भी विच्छेद हो गया :—

१. मनः पर्याय ज्ञान २. परमावधि ज्ञान ३. पुलाक लब्धि ४. आहारक शरीर ५. कैवल्य (केवल ज्ञान-दर्शन) ६. क्षायक समकिन ७. जिन कल्पी साधुत्व ८. परिहार विशुद्ध चारित्र ९. सूक्ष्म सम्पराय चारित्र १०. यथाख्यात चारित्र

जिन शासन में चन्दनबालाजी साध्वी का, उनके मोक्ष जाने का व साध्वी संघ का उल्लेख मिलता है;[1] किन्तु साध्वी संघ की परम्परा एवं व्यवस्थित नामावली नहीं मिलती। अतः उस सम्बन्ध में व्यवस्थित उल्लेख मुश्किल है।

जिन शासन के अकेवली पट्टधर नायक :— जम्बू स्वामी के पश्चात् जितने भी शासन की पाट पर बैठे वे सभी अकेवली थे। उनमें जम्बू स्वामी के साथ दीक्षा लेनेवाले प्रभव स्वामी, जम्बू स्वामी के बाद पाट पर बैठे।

---

1 आगे जाकर कालिकाचार्यजी ने साध्वी के संयम की सुरक्षा के लिये किया धर्म युद्ध सुप्रसिद्ध है और हरिभद्र सूरि को प्रभावित करनेवाली आर्या याकिनी महत्तरा का भी उल्लेख इस संदर्भ में है।

उस अन्य परम्परा में आचार्य इन्द्रदत्त के बाद आर्यदत्त आचार्य बने। आपके दो शिष्य आर्य शांतिश्रेणिक तथा आर्य सिंहगिरि के सिवाय नया उल्लेख नहीं मिलता; किन्तु दक्षिण में आप ने प्रचार किया ऐसा उल्लेख मिलता है।

कालिकाचार्य — द्वितीय :— जैन इतिहास में शासन रक्षा के निमित्त आत्म बलिदान देनेवाले बहुत से आचार्यों का उल्लेख मिलता है; किन्तु एक आर्या-साध्वी के शील की रक्षा के हित साधु वेश को छोड़ कर अन्यायी राजा को हटाने का कार्य करनेवाले आर्य कालिक या कालिकाचार्य का जीवन अपने आप में अद्वितीय है।

वे धारा नगरी के राजा वीरसिंह के पुत्र थे। उनकी बहिन सरस्वती थी। दोनों पर वैराग्य का असर हुआ और दोनों ने दीक्षा ली। आर्या सरस्वती का रूप अनुपम था और जब विहार करते-करते वे उज्जैनी नगरी पहुँची तब वहाँ के राजा गर्दभिल्ल की उस पर नज़र पड़ी।

'कथावलीकार' ने उसके बारे में लिखा है कि वह राजा बहुत विषयांध और दुष्ट प्रकृति का एवं कामी था। उसने अपने सेवकों द्वारा साध्वी का अपहरण कराया और महल में बन्दिनी बना लिया। साध्वी ने अपने शील की रक्षा के लिये सागार अनशन कर लिया।

आर्य कालक को जब यह मालूम हुआ तो वे उज्जैनी पहुँचे। उन्होंने राजा के पास पहुँच कर समझाया कि :—"दीक्षित जैन आर्या को इस प्रकार बन्दिनी बनाना अधर्म है। इसका परिणाम ठीक नहीं होगा।"

मगर मदांध राजा नहीं माना। उसने उपहास भी किया कि तुम जैसे भिखारी साधु कर ही क्या सकता है?

आर्य कालक को बहुत बुरा लगा। राजा होकर जहाँ उसे धर्म पालन करना चाहिये वहाँ आर्याओं पर अत्याचार करने पर जो राजा तुला है, उसका नाश करना चाहिये। आर्य कालक का यह निर्णय राजा को सभी तरह से समझाने के बाद ही हुआ था।

आदि क्षेत्रों में आप ने धर्म प्रचार किया। ३६वें वर्ष में आचार्य बने। आपका नन्द वंश पर बड़ा प्रभाव था।

२२ वर्ष गृहवास, १४ वर्ष तक सामान्य साधुपना और ५० वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। वीर० सं० १४८ में ८६ वर्ष की आयु पूर्ण कर कालधर्म प्राप्त हुए।

६. आचार्य संभूति विजय : माठर गोत्र के ब्राह्मण थे। आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। अंतिम श्रुत केवली आचार्य भद्रबाहु के आप बड़े गुरु भाई थे। आपका ज्ञान विशाल था। आचार्य यशोभद्र से प्रभावित होकर आप ने दीक्षा ली थी।

आप से नन्द वंश और उस समय के सुप्रसिद्ध महामात्य शकडाल बहुत ही प्रभावित थे। इतना ही नहीं, शकडालजी के पुत्र स्थूलिभद्र एवं उनकी सातों पुत्रियों ने भी दीक्षा ली। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि साधु - साध्वी संघ की परम्परा भगवान महावीर से उस काल तक स्पष्ट चलती रही होगी।

४२ वर्ष तक आप गृहवास में रहे। ४० वर्ष तक सामान्य साधुपना और ८ वर्ष तक आप युग प्रधान आचार्य रहे। वी० सं० १५६ में आप ९० वर्ष की आयु में कालधर्म को प्राप्त हुए।

७. आचार्य भद्रबाहु अंतिम श्रुत केवली :— प्राचीन गोत्रीय ब्राह्मण थे। प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग) नगर में आपका जन्म हुआ था। ४६ वर्ष तक गृहवास में रह कर आचार्य यशोभद्र के पास आपने दीक्षा ली।

सम्राट चन्द्रगुप्त आपसे बहुत प्रभावित हुए थे। बारह वर्ष का दुकाल पड़ा उसके पूर्व चन्द्रगुप्त राजा ने सोलह सपने देखे। जिसका अर्थ आचार्यश्री भद्रबाहु से सुन कर चन्द्रगुप्त ने राज्य भार अपने पुत्र बिंदुसार को दिया और वह दक्षिण में कर्णाटक गया। वहां उसने जैन धर्म का प्रचार किया।* इतना ही नहीं, वह वहां साधु भी बना। भद्रबाहु स्वामी

* ऐसा विश्वास किया जाता है कि दक्षिण में मैसूर में श्रवण बेलगोल में चन्द्रगिरि आदि स्थान चन्द्रगुप्त के बसाए हैं।

हो उन्होंने जैन शासन की रक्षा के लिये अपवाद में जो मार्ग लिया उससे जैन धर्म की प्रभावना अवश्य बढ़ी। ‡

आर्य सिंहगिरि-सिंहाचार्य :— आचार्य दत्त के दो प्रमुख शिष्यों में आर्य शांति श्रेणिक व आर्य सिंहगिरि का उल्लेख मिलता है। परंपरागत तो वे आचार्य बने ऐसा कल्प सूत्र या नन्दी सूत्र की पट्टावली में उल्लेख नहीं है; किन्तु नागपुरी बृहद्गच्छावली में आपका उल्लेख मिलता है और जैसे अनेक गच्छ बनते गये वैसे ये भी एक गच्छ के आचार्य बनाये गये हो यह सम्भव है। आपके सुशिष्य, आर्य समित व आर्य धनगिरि हुए।

कालगणना के अनुसार नन्दी सूत्र पट्टावली के अनुसार आचार्य सांडिल्य एवं आचार्य दत्त का समय एक बैठता है; किन्तु पाटानुक्रम से आचार्य सांडिल्य के साथ कल्प सूत्र पट्टावली में आचार्य वज्रसेन स्वामी का उल्लेख आता है; मगर उनका समय विक्रम संवत् के बाद में आने से उनके विषय में कुछ लिखने से पहले यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कई स्थान पर आचार्य दिन्न (दत्त) को स्कन्दिलाचार्य माना गया है।

स्कन्दिलाचार्य या सांडिल्याचार्य : आचार्य स्कन्दिलाचार्य या उनका सांडिल्याचार्य ही दूसरा नाम है ऐसा कई मानते हैं, अपभ्रंश बन जानेवाले शब्दों की सम्भावना में स्कन्दिलाचार्य और सांडिल्याचार्य भी परस्पर के नाम हो, यह भी सम्भव है। तब इस पाट तक पुनः परम्परा मिली हो, ऐसा भी सम्भव है। वि० सं० से पूर्व जैन श्रमण परम्परा में एक बात विशेष रूप से देखी गई कि भले ही श्रमणों में श्रुत ज्ञान भेद से भिन्नता के कारण कुछ भेद भले रहे हों; किन्तु जब भी पुनः एकता का

---

‡ ऐसा कहा जाता है कि इसा मसीह जब ज्ञान की खोज में काक देश (कोकेशस) से दक्षिण पूर्व की ओर चले तो उन्हें जैन सन्त सती मिले थे। जैसे बुद्ध ने प्रथम पार्श्व संघ में दीक्षा ली थी वैसे इसु भी जिस (जैन) सम्प्रदाय में कुछ वर्ष रहे।

कुछ लोग कालिकाचार्य के "धर्म युद्ध" का प्रभाव इसाईयों के Crusade (धर्म युद्ध) और यवनों के जेहाद से भी जोड़ते हैं। इसकी सत्यता ज्ञानी ही जानते हैं। —सं०

किया; किन्तु एक बार काया परिवर्तन विद्या का प्रत्यक्ष प्रयोग करके सिंह बन कर गुफा में बैठने पर उनके दर्शनार्थ आई साध्वियाँ (संसार पक्ष की बहनें) डर गईं।

यह समाचार आचार्य भद्रबाहु स्वामी के पास पहुँचा तो उनके मन में योग्य शिष्य के शंकाशील स्वभाव के कारण ठेस पहुँची और आचार्य भद्रबाहु ने आगे पढ़ाना बन्द कर दिया। स्थूलिभद्रजी ने बहुत ही अनुनय-विनय किया तब आगे के चार पूर्व मूल तो पढ़ाये; किन्तु उसका गूढ़ार्थ आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने नहीं बताया।

स्थूलिभद्रजी मगध लौट कर आ गये।

कहते हैं कि इस प्रकार आर्य स्थूलिभद्र १० पूर्व तक अर्थ सहित पढ़े; आगे के चार पूर्व मूल ही पढ़ सके। यों चतुर्दश पूर्व ज्ञान की परम्परा लुप्त हो गई।

जब आचार्य भद्रबाहु स्वामी मगध वापस आये तो एक दिन गौचरी के लिये गये। द्वार पर बालक रोता था; और भीतर से किसी ने उत्तर नहीं दिया।

उन्हीं दिनों सम्राट चन्द्रगुप्त ने एक रात को सोलह सपने देखे। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने अपने ज्ञान से उनके अर्थ बताये और मगध में बारह वर्ष के दुकाल का प्रारंभ होगा ऐसा जान कर चन्द्रगुप्त ने दीक्षा ली। बहुत से साधु-साध्वी और नवीन दीक्षित सम्राट चन्द्रगुप्त और श्रीसंघ के साथ उन्होंने कर्नाटक की ओर विहार किया। वहाँ पर भी उन्होंने दक्षिण में जैन धर्म का प्रसार प्रारम्भ किया। आगे जाकर तालकाड प्रांत के गंग राजा गण, मान्यखेट के राष्ट्रकूट और अन्य पांड्य राजा गण जैन धर्म पर श्रद्धा करने लगे।

आचार्य भद्रबाहु ४५ वर्ष तक गृहवास में रहे। १७ वर्ष तक सामान्य संयम पाला, १४ वर्ष तक आचार्य रहे और ७६ वर्ष का आयु पूर्ण करके वीर संवत् १७० में आप कालधर्म को प्राप्त हुए। आचार्य भद्रबाहु स्वामी के साथ श्रुत केवली परम्परा नष्ट हो गई। उन्होंने जैन धर्म का व्यापक प्रचार उत्तर और दक्षिण दोनों में किया।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी को श्वेतांबर और दिगम्बर दोनों मानते हैं; किन्तु उनके अस्तित्व काल में ऐसे भेद हुए नहीं थे। उन तक की पाट परम्परा और वर्ष काल की गिनती
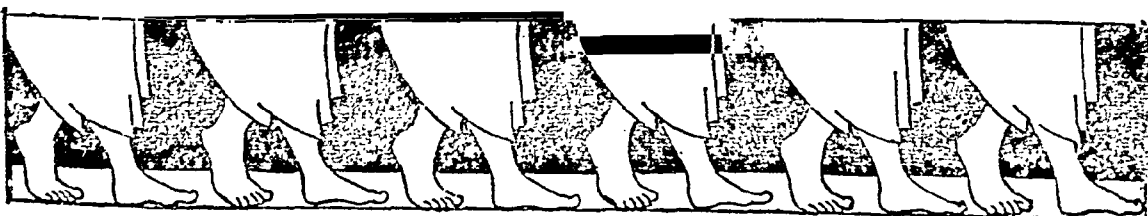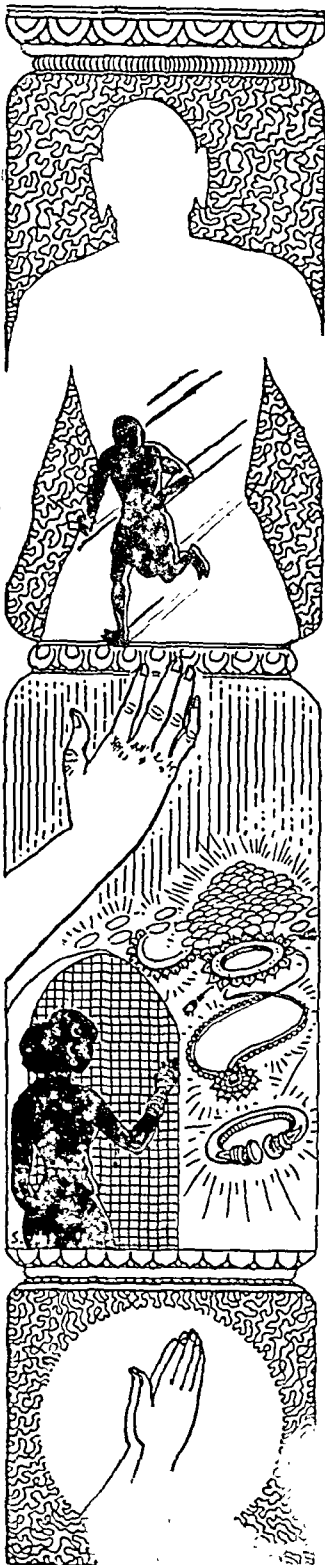
४२

जय - अनेकता में एकता

वीरात् ४७० से विक्रम संवत् प्रारंभ हुआ ऐसा माना जाता है। महा पराक्रमी वीर विक्रम के राजा ने अपनी यश कीर्ति के रूप में यह संवत् प्रारम्भ किया था। हालाँकि यही संवत् आगे चल कर भारत वर्ष में प्रसिद्ध हुआ; किन्तु इसका प्रचलन वीर संवत् जैसे ही रखा गया; वीर निर्वाण के दिन विगत वर्ष का अन्त और कार्तिक शु० १ से नये वर्ष का आरंभ। विक्रम चाहता तो कोई अलग तिथि से संवत् प्रारम्भ कर सकता था; किन्तु उसने प्रचलित जैन संवत् की गणना ही अपनाई। इस पर से यह भी सम्भव हो सकता है कि विक्रम पर भी जैन धर्म का स्पष्ट प्रभाव था।

श्वेतांबर परंपराओं में जो पट्टावलियाँ उपलब्ध होती हैं उसके अनुसार आचार्य महागिरि तक सभी मुख्य पट्टावलियाँ मिलती हैं केवल पार्श्वनाथानुयायी पार्श्वनाथ से अपनी पट्टावली अलग मिलाते हैं।

मुख्य-मुख्य पट्टावली के अनुसार आचार्यों के नाम यथा शक्य वीरात् संवत् के साथ इस प्रकार दिये जा सकते हैं:—

प्रभु महावीर — शासन नायक

गौतम गणधर — प्रथम गणधर ‡

कई पट्टावलियाँ भगवान महावीर से और कई गौतमस्वामी से [illegible] १२ वर्ष तक अव्यक्त रूप से (केवली [illegible] रहे ऐसा दिगम्बर मानते हैं।

गोचरी आदि लाते हों। जिनकल्पी श्रमण घोर तप करके आत्म शुद्धि पर अधिक ध्यान देते थे।

उस समय अचलेक शब्द का सामान्यत: अर्थ परिमित (मानोपेत) श्वेत, अल्प मूल्यता के नाते भी प्रचलित था और वह स्याद्वाद का प्रतीक भी था; किन्तु बाद में उसे विवाद का विषय बना दिया गया। आगे जाकर वह वर्तमान " दिगम्बर " अवस्था का एकांत सूचन मात्र रह गया।

श्रमण संघ में साध्वियाँ भी होने से और भद्रबाहु स्वामी के समय में भी आर्य स्थूलिभद्रजी की बहिनों ने दीक्षा स्वीकार की थी; अत: अचेलकपन उस अर्थ में (श्वेत या अल्प मूल्य) प्रचलित रहा था। दोनों प्रकार के सन्त परस्पर के समादर से रहते थे और जैन धर्म का प्रचार पूर्ण रूप से करते थे। उस समय के परस्पर समादार के प्रसंग इस प्रकार कहे जाते हैं।

जब कोई भावुक श्रावक जिनकल्पी मुनि को कहता :—" आपकी साधना ऊँची है। आपको धन्य है। स्थविरकल्पी मुनियों में क्या पड़ा है? वे जनपथ में विचरण करते हैं और प्रपंच में पड़े रहते हैं! "

इसके जवाब में वे मुनि कहते थे :—" सच्चे शासन प्रभावक तो वे ही हैं, सदुपदेश देकर स्वयं तो तरते हैं साथ सब को जहाज रूप से तारते हैं। मैं तो केवल एक तृण के समान हूँ; स्वयं ही तर रहा हूँ। वे धन्य हैं! "

इसी तरह स्थविरकल्पी को जाकर कोई कहते :—" आप ही धन्य हैं। अपनी करणी को गौण करके जनता का हित करते हैं। बाकी जिनकल्पी आत्म साधना के सिवाय क्या जनकल्याण करते हैं। वे आत्म स्वार्थी हैं! "

इस बात को सुन कर वे मुनि फरमाते :—" हम क्या हैं? बहुत ही प्रवृत्ति में पड़े हुए हैं। जिनकल्पी मुनि को धन्यवाद हैं कि वे एकांत निवृत्ति परायण होकर आत्म - साधना करते हैं। ऐसी आराधना किये बिना आत्म - कल्याण सम्भव कहाँ है? "

इन प्रसंगों से दोनों कल्पवाले श्रमणों का परस्पर के आदर स्पष्ट होता है।

सामान्य रूप से साधुमार्गीय सन्तों की जिन शासन पट्टावली में कल्प सूत्र के अनुसार आर्य स्कंदिल या आर्य कालक तक २६ पट्टधर बता कर देवर्धिक्षमागणि की २७वीं पाट आती है। यह **आर्य कालक** तीसरे हैं और आर्य कालक चौथे जिन्होंने चौथ की संवत्सरी कराई थीं जो कि देवर्धि क्षमागणि के समकालीन थे उन्हें एक मान कर २७ पाट का हिसाब बिठाया गया है। वास्तव में कल्प सूत्र स्थविरावली में संदिल, कालक के बाद आचार्य सम्पालित एवं आचार्य भद्र, आचार्य वृद्ध, आचार्य संघपालित, आचार्य श्री हस्ती, आचार्य धर्म, आचार्य सिंह, आचार्य धर्म, आचार्य नन्दिल (स्कन्दिल) आचार्य देसिगणि, आचार्य स्थिरगुप्त, आचार्य कुमार धर्म व आचार्य देवर्धि क्षमागणि इस प्रकार भी आचार्यों के नाम मिलते हैं।

नन्दी सूत्रानुसार पट्टावली में और साधुमार्गीय नन्दी सूत्रानुसार पट्टावली में; आर्य महागिरि के बाद आर्य सुहस्ति और पश्चात् आर्य बलिस्सह के स्थान पर सीधे बलिस्सह आते हैं। आचार्य सांडिल्य के बाद आचार्य समुद्र के स्थान पर बीच में आर्य जिन धर्म आते हैं। आगे आर्य समुद्र के बाद आर्य मंगु का नाम नहीं आता है और २४ वें पाट पर आर्य गोविंद का नाम आता है; जिनका शासन काल सिर्फ दो वर्ष रहा है। आचार्य नन्दिल की काल गणना में कुछ फर्क पड़ता है। ये दशपुर (मन्दसौर) की वाचना में उपस्थित थे और उसका समय वी० सं० ५९२ के आसपास माना जाता है। वि० सं० की एक परिपाटी विक्रम के जन्म से भी मानी गई है जिसमें ६० वर्ष का अन्तर आता है, तदनुसार ५४८ + ६० मान लेने से आचार्य नन्दिल का शासन वी० सं० ६०८ तक मानने से और उनके पूर्व आर्य मंगु को मानने से काल गणना का अन्तर बराबर बैठता है।

प्रचलित पट्टावली में आचार्य स्कंदिल जिनकी अध्यक्षता में सुप्रसिद्ध माथुरी वाचना हुई थी उनका समय वी० सं० ७७० माना जाता है। यह विक्रम संवत् (जन्म से मानने पर) के मेल में बिठाया गया हो यह अधिक शक्य है। तदनुसार उसमें भी ६० वर्ष बिठाने से ७७० + ६० = ८३० के अनुसार बराबर बैठता है; क्योंकि माथुरी वाचना का समय भी ८१३-३० माना जाता है। चालु पट्टावली में नन्दी सूत्रानुसार १६ वीं पाट में आचार्य

नन्द राजा को अपनी भूल महसूस हुई और उन्होंने स्थूलिभद्र को लिवा लाने के अनुचरों को भेजा ; किन्तु स्थूलिभद्र की आत्मा जाग चुकी थी और उनके चरण संयम लेने आचार्य संभूतिविजय के पास चल पड़े।

संस्कारी आत्मा दीक्षित होने पर, कोशा के जीवन को परिवर्तन करने लिये गुरु-आज्ञा लेकर प्रथम वर्ष का चातुर्मास वहाँ बिताने के लिये गई। स्थूलिभद्र को संयम मार्ग से हटाने के सारे प्रयत्न कोशा के व्यर्थ गये और अन्त में वह श्राविका बन गई। गुरु ने स्थूलिभद्र की प्रशंसा की तो सिंह की गुफा के पास चातुर्मास करनेवाले मुनि क्षुब्ध हुए। उनके मनोभाव समझ कर आचार्य ने उन्हें अगले वर्ष चातुर्मास निमित्त कोशा के वहाँ भेजा। कोशा के वहाँ जाते ही उनकी आत्मा पतन की ओर अग्रसर होनेवाली थी कि कोशा के आत्म - जागरण के उपदेश से वे सचेत हुए और प्रायश्चित कर आत्म साधना में संलग्न हो गये।

पिता की मृत्यु के बाद स्थूलिभद्रजी की यक्षा आदि सात बहिनों ने दीक्षा ली। वे दर्शन करने गईं तब स्थूलिभद्र सिंह रूप लिये बैठ गये थे। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस कारण स्थूलिभद्रजी को पूर्वों का सम्पूर्ण अध्ययन नहीं कराया।

बारह वर्ष के भयंकर दुकाल के बाद कलिंग से सभी श्रमण वापस लौटे तो पहली पाटली पुत्र की वाचना कराने में स्थूलिभद्रजी का महत्त्व का योग था। उस समय सिर्फ ११ अंगों का ही संकलन हो पाया और दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग का विच्छेद हो गया ऐसा माना जाता है। उन्होंने अपने शिष्य और यक्षा आदि साध्वियों (संसार पक्ष की बहिनें) से अनेक सूचिकायें लिखवा कर आगम साहित्य में अपना योग दिया।

आचार्य स्थूलिभद्र का बहुत बड़ा प्रभाव था। आचार्य भद्रबाहु ने जब दक्षिण की ओर विहार किया तब अनायास ही उत्तर की संघ व्यवस्था का भार आप पर आ गया जिसे आपने बिना मतभेद के बराबर सम्हाला।

"ऋषि मंडल" स्तोत्र के रचयिता धर्म घोष मुनि हैं जो कि आर्य स्थूलिभद्रजी के समकालीन थे। उन्होंने उस स्तोत्र में आर्य स्थूलिभद्रजी की जितनी प्रशंसा की है उतनी

उन्होंने अपना अलग कोटिक गच्छ चलाया। उस समय पार्श्वप्रभु के अनुयायी भी थे। वे अपने आपको उपकेश गच्छवाले बताते थे। यों भेदभाव बढ़ते-बढ़ते आगे चलकर अनेक शाखा व गच्छ बनते गये।

दुष्काल : अलग-अलग गच्छ बनने के मुख्य कारणों में तो दुष्काल पड़ना मुख्य था। साधनों के अभाव में में बारह-बारह वर्ष तक दुष्काल की परिस्थिति रहना, उस समय सन्तों का दूर सुदूर तक फैलते जाना और अभी तक आगम की "श्रुत परम्परा" ही थी अतः पाठों में जो अन्तर आता गया उस पर किसी भी कारण से जमे रहना यह अलग-अलग गच्छ परम्परा का मुख्य कारण था।

विदेशी आक्रमण : शक और हूण के आक्रमण विक्रम की दो-तीन सदी तक चालु थे। उस समय यह सम्भव है कि जैन श्रमण वर्ग जिनकल्प से अधिक से अधिक हटते गये और स्थविरकल्प की ओर झुकते गये। ग्रीक आक्रमण के साथ भारत में मूर्ति पूजा ओर मन्दिर आये। जिसका सर्व प्रथम हिंदू-वैदिक धर्म पर प्रभाव पड़ा और उसका आगे चलकर जैन धर्म पर भी पड़ा। जड़वाद की बढ़ती महिमा से सच्चे क्रियोद्धारक अलग होते गये और नये गच्छ प्रारम्भ हुए।

आगम-निगम : जैन धर्म सम्प्रदायों में सामान्यत "श्रुत आगम" परम्परा चलती रही थी। इससे विशेष रूप से "आत्म साधना" का एकांत स्वहित का मार्ग सधता था। लेकिन जैसे-जैसे धर्म ने राज्यों पर और राजाओं पर प्रभाव डालना शुरू किया, उसका आगे जाकर यह भी प्रभाव पड़ा कि जैन धर्म को उन्होंने "राज्याश्रित" कर दिया। साथ ही अब तक राजा आदि अलग-अलग पूजा-पाठ करते थे उनके पुरोहित ब्राह्मण होते थे। जब धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा तो अनेक पुरोहित जैन बने और उन्होंने "चैत्य" (मन्दिर) परिपाटी प्रारम्भ की। स्वाभाविक था कि इस प्रकार की व्यवहारिक साधना जो जैन सिद्धांत के विरुद्ध है इसका प्रचार होने लगा। उस समय ये नये बने जैन गुरुओं ने (पुरोहितों ने) भगवान आदिनाथ के समय से चली आ रही ३ जीवन कला (असि, मषि, कृषि) ६४ पुरुष कला, ७२ स्त्री कला आदि वस्तुयें जैन निगम में आती हैं और जैनों के भी तदनुसार

आचार्य स्थूलिभद्रजी के सामने दो बड़े प्रश्न थे। एक तो श्रुत परम्परा से आये सभी सूत्रों को संकलन करके भविष्य के लिये उपयोगी बनाना एवं दुष्काल के बाद संघ की परिस्थिति को सम्हालना। दोनों में वे सफल रहे ऐसा माना जा सकता है।

इस बीच आचार्य भद्रबाहु स्वामी की सेवा में रहनेवाले आर्य विशाखा स्वामी आचार्य के कालधर्म प्राप्त होने पर मगध वापस लौटे। जिस अकाल के समय आचार्य भद्रबाहु ने दक्षिण की ओर विहार किया था उस समय की परिस्थिति का थोड़ा सा परिचय कर लेना उचित होगा। उनका विहार मार्ग कठिन था और उस समय के टेढ़े-मेढ़े रास्तों से जाकर दक्षिण में पहुँचने और स्थिर होने में उन्हें अवश्य कुछ वर्ष लगे होंगे। उसके पहले दक्षिण में जैन सन्तों को जाना नहीं हुआ था और वहाँ पहुँच कर वहाँ की आबोहवा से लोगों के बीच अचेलकपने से, निर्लिप्त रहने से बड़ा प्रभाव पड़ा होगा। अत: दक्षिण में धर्म प्रचार निमित्त युग प्रवर्तक आचार्य भद्रबाहु ने और उनके साथ के सन्तों ने अचेलकपना स्वेच्छा से स्वीकार किया होगा।* वैसे आचार्य भद्रबाहु लम्बे तप और ध्यान के उत्सर्ग मार्ग पर थे। जिसका वहाँ के लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

अत: उनके सान्निध्य में रहनेवाले आर्य विशाखा स्वामी जब मगध पहुँचे और आचार्य स्थूलिभद्र से मिले तब उन्होंने श्रमण परम्परा को सचेलकपने की ओर एवं नगर की पौषधशालाओं, उपवनों, उद्यानों में फिरते देखा तो उनसे रहा नहीं गया।

आचार्य स्थूलिभद्र और उनके बीच वार्तालाप हुआ। श्रावक संघ के नेता भी साथ रहे। उन्होंने दुष्काल, विदेशी आक्रमण आदि बहुत से कारण प्रस्तुत किये। नगर के वन-उपवन में भगवान महावीर के चातुर्मासों का भी उल्लेख किया। उस समय शैव-बौद्ध

---

* दक्षिण में आज भी गर्मी इतनी पड़ती है कि वहाँ वस्त्रादि का प्रयोग उत्तर जितना जनता में नहीं है। उस काल में हो सकता है कि लम्बे विहार में वस्त्रादि की सुविधा न मिलने से और ऐच्छिक रूप से अपनाये इस अचेलकपनवाले जैन सन्तों को देख कर और उनके मानव एकता के उपदेशों से लोगों ने उन्हें पूज्य समझा और उसी परम्परा को आगे चलाई गई हो।

उन्होंने अपना अलग कोटिक गच्छ चलाया। उस समय पार्श्वप्रभु के अनुयायी भी थे। वे अपने आपको उपकेश गच्छवाले बताते थे। यों भेदभाव बढ़ते-बढ़ते आगे चलकर अनेक शाखा व गच्छ बनते गये।

दुष्काल : अलग-अलग गच्छ बनने के मुख्य कारणों में तो दुष्काल पड़ना मुख्य था। साधनों के अभाव में में बारह-बारह वर्ष तक दुष्काल की परिस्थिति रहना, उस समय सन्तों का दूर सुदूर तक फैलते जाना और अभी तक आगम की "श्रुत परम्परा" ही थी अतः पाठों में जो अन्तर आता गया उस पर किसी भी कारण से जमे रहना यह अलग-अलग गच्छ परम्परा का मुख्य कारण था।

विदेशी आक्रमण : शक और हूण के आक्रमण विक्रम की दो-तीन सदी तक चालु थे। उस समय यह सम्भव है कि जैन श्रमण वर्ग जिनकल्प से अधिक से अधिक हटते गये और स्थविरकल्प की ओर झुकते गये। ग्रीक आक्रमण के साथ भारत में मूर्ति पूजा और मन्दिर आये। जिसका सर्व प्रथम हिंदू-वैदिक धर्म पर प्रभाव पड़ा और उसका आगे चलकर जैन धर्म पर भी पड़ा। जड़वाद की बढ़ती महिमा से सच्चे क्रियोद्धारक अलग होते गये और नये गच्छ प्रारम्भ हुए।

आगम-निगम : जैन धर्म सम्प्रदायों में सामान्यत "श्रुत आगम" परम्परा चलती रही थी। इससे विशेष रूप से "आत्म साधना" का एकांत स्वहित का मार्ग सधता था। लेकिन जैसे-जैसे धर्म ने राज्यों पर और राजाओं पर प्रभाव डालना शुरू किया, उसका आगे जाकर यह भी प्रभाव पड़ा कि जैन धर्म को उन्होंने "राज्याश्रित" कर दिया। साथ ही अब तक राजा आदि अलग-अलग पूजा-पाठ करते थे उनके पुरोहित ब्राह्मण होते थे। जब धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा तो अनेक पुरोहित जैन बने और उन्होंने "चैत्य" (मन्दिर) परिपाटी प्रारम्भ की। स्वाभाविक था कि इस प्रकार की व्यवहारिक साधना जो जैन सिद्धांत के विरुद्ध है इसका प्रचार होने लगा। उस समय ये नये बने जैन गुरुओं ने (पुरोहितों ने) भगवान आदिनाथ के समय से चली आ रही ३ जीवन कला (असि, मषि, कृषि) ६४ पुरुष कला, ७२ स्त्री कला आदि वस्तुयें जैन निगम में आती हैं और जैनों के भी तदनुसार

ऐसा माना जाता है कि आर्य विशाखा के बाद भी दक्षिण के दिगम्बरों में पूर्ण आचारांग करके एक अंग का श्रुत ज्ञान रहा। बाद में शायद उन्होंने अंग-आगम ज्ञान को अमान्य किया। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थों की प्राकृत अर्ध मागधी (जन भाषा) में रचना की। आगे जाकर संस्कृत के प्रचार के साथ विशेष रूप से संस्कृत भाषा ने स्थान लिया। यह तभी शक्य था जब उस परम्परा के मूल में विशाखाचार्य का सचेलकपने का और उस समय की पाटलीपुत्र की वाचना के सूत्रों का विरोध रहा हो या सूत्रों के पाठ में फर्क रहा हो। इसका परिणाम यह तो अवश्य आया कि श्रमण संघ में से कुछ सन्त जिन कल्प की ओर झुके। यदि थोड़ी शिथिलता थी तो वह दूर हुई; किन्तु एक मत भेद सा बन गया — जो आगे जाकर जैनों की दो शाखा के रूप में बदल गया।‡

आचार्य स्थूलिभद्र ने इसके बाद भी बड़े धैर्य और संयम से संघ व्यवस्था बनाई रखी। उन्होंने जिन कल्पी और स्थविर कल्पी दोनों को साथ-साथ निभाया जिसका उल्लेख निशिथचूर्णी और कल्प सूत्र दीपिका के पाठ से सप्रमाण मिलता है कि :—

"स्थूलिभद्र के सर्व साधुओं का एक संभोग (आहार-पानी साथ करना) था। उनके दो शिष्य थे। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति। उसमें से आर्य महागिरि को योग्य जान कर गणभार सौंपा गया तथापि आचार्य महागिरि प्रीति वश आर्य सुहस्ति के साथ विचरते रहे!"

आचार्य स्थूलिभद्र का जन्म वी० सं० ११६ में हुआ था। ३० वर्ष में उन्होंने दीक्षा ली। ५४ वें वर्ष उन्हें वी० सं० १७० में आचार्य पद मिला। ५५ वर्ष तक आचार्य पद पर रह कर, ६९ वर्ष का संयम-आराधन कर वी० सं० २१५ में, वैभारगिरि पर १५ दिन का अनशन कर ९९ वर्ष की आयु में कालधर्म को प्राप्त हुए। उनके समय के चार वर्ष बाद प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान का विच्छेद हो गया।

९. आचार्य महागिरि : आप एलापत्य गोत्र के थे। आपका जन्म वी० सं० १४५ में हुआ। ३० वर्ष की आयु में आप ने वी० सं० १७५ में दीक्षा ली।

‡ आगे के प्रकरण में विशाखाचार्य से अलग दिगम्बर पट्टावली दी गई है।
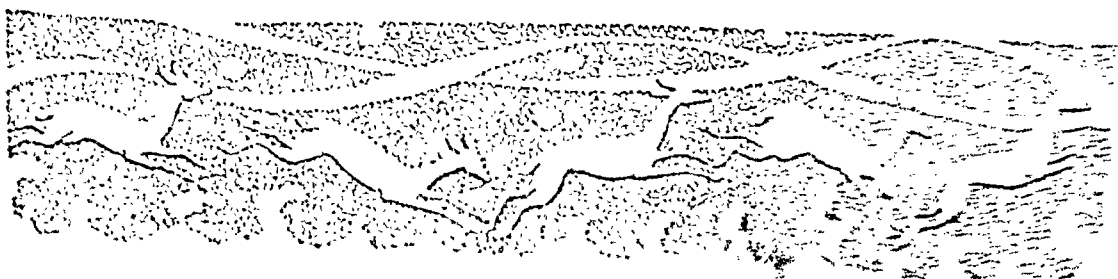
आचार्य दिन्न के पास दीक्षा ली थी। कल्प सूत्र स्थाविरावली में आपको जाति स्मरण ज्ञान का धारक कहा है।

आपके चार प्रमुख शिष्य हुए :— (१) आर्य समित (२) आर्य धनगिरि (३) आर्य वज्रस्वामी (४) आर्य अर्हद्दत्त।

आर्य समित और आर्य धनगिरि संसार पक्ष में साले-बहनोई लगते थे। आप अवन्ति देश (मालवा) के तुंबवन के रहनेवाले धनपाल श्रेष्ठि के पुत्र थे। उसी तुंबवन में धनगिरि नाम के वैश्य रहते थे। उन्हें बचपन से वैराग्य था; अतः उनके पिताजी ने धनपाल सेठ की पुत्री सुनन्दा के साथ उनका विवाह करा दिया।

आचार्य सिंह का पदार्पण होने से समित ने दीक्षा ली और उनके साथ धनगिरि ने भी दीक्षा ली। उस समय उनकी पत्नी सुनन्दा गर्भवती थी; उसे पुत्र जन्मा। बालक को जाति स्मरण ज्ञान था और उसे बचपन से ही दीक्षा लेने की भावना थी।

आर्य धनगिरि तुंबवन में विहार करते-करते पधारे। गोचरी के लिये वे अपने ही घर गये। उस समय शिशु सुनन्दा को रो-रोकर संताप दे रहा था। अतः "आप तो चले गये, इसे मुझे संताप देने छोड़ गये....!" यों कह कर उसने उसे ही वहरा दिया।

आर्य धनगिरि उसे लेकर उपाश्रय में आये। झोली भारी लगने से गुरु ने उसे देखा और उसका नाम वज्र डाला। उसे श्राविकाओं के हाथ श्रीसंघ की आज्ञानुसार सौंप दिया।

इधर राज-सभा में अपना पुत्र वापस लेने के लिये सुनन्दा ने न्याय चाहा। फैंसला यह हुआ कि बालक जिस ओर जाये उसी का हो जाये। माता ने अनेक प्रलोभन दिये; लेकिन उस ओर शिशु न गया — किन्तु आर्य धनगिरि ने रजोहरण दिया तो उसे लेकर शिशु नाचने लगा; अतः शिशु धनगिरि को सौंपा गया।

आचार्य सिंह अपने ज्ञान से जान गये कि बालक बचपन से ही ज्ञानाभ्यास करेगा; अतः पालने में उसे अंग सूत्र का अभ्यास कराया गया। तीन वर्ष की आयु में तो उनका ज्ञान विशाल हो गया। उन्हें योग्य जान कर आठ वर्ष की आयु में दीक्षा दी गई।
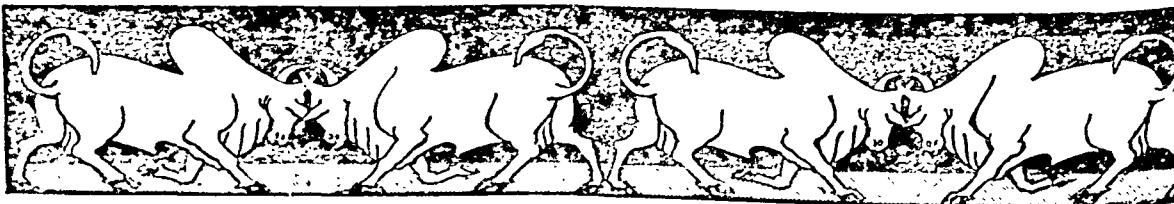
तक जैन धर्म, मगध का राज्य धर्म वना और प्रारम्भ में अशोक जैन धर्मी होने पर भी, पश्चात् जैन संघ के आचार्य की उदासीनता देख कर बौद्ध भिक्षुओं का आधार लेकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने में लगा हो।

गुरु गौतम स्वामी के समय से केशी श्रमण के पार्श्व प्रभु संघ के सन्तों का एकीकरण हो गया था; फिर भी निग्रन्थ परम्परा में जम्बु स्वामी के बाद पुनः जिन कल्प स्थविर कल्प (अचेलक, सचेलक) के प्रश्नों को देख कर उनका विचरण अलग हुआ हो। या मगध के दुकाल के समय श्रमण संघ कलिंग चला गया हो, वहाँ से वे लोग वापस न लौटे हो और उन्होंने अपना अलग प्रचार वहाँ किया हो ऐसा अधिक शक्य है।

आचार्य महागिरि के पास सिद्धार्थाचार्य और नागसेनाचार्य दशपूर्वी ने दीक्षा ली थी। आपने द्रव्यानुयोग ग्रन्थ का निर्माण किया था।

इसलिये जैन धर्म का प्रचार अधिकतर आचार्य सुहस्ति पर आ पड़ा हो ऐसा लगता है। आचार्य महागिरि ३० वर्ष गृहवास में थे। कुल ७० वर्ष का संयम पाल कर एवं ५० वर्ष तक आचार्य पद पर रह कर वी० सं० २४५ में आप १०० वर्ष की आयुष्य में कालधर्म प्राप्त हुए।

१०. आचार्य सुहस्ति : आर्य सुहस्ति वशिष्ठ गोत्र के थे। आपका जन्म वी० सं० १९१ में हुआ। २४ वर्ष तक गृहवास के वाद वी० सं० २१५ में आपने दीक्षा ली। वी० सं० २४५ में आप आचार्य बने ऐसा उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर आचार्य महागिरि की जिन कल्पी परम्परा को माननेवालों ने आचार्य वलिस्सह को आचार्य पद दिया ऐसा भी लगता है। ऐसा भी शक्य है कि आचार्य सुहस्ति के वाद वलिस्सह आये हों।

इसी समय कलिंग में खारवेल नाम का प्रतापी जैन राजा हुआ था। जिसने कुमारगिरि पर (वर्तमान भुवनेश्वर) श्रमण संघ बुलाया था जिसमें आचार्य वलिस्सह के सौ जिन कल्पी सन्त और आचार्य सुहस्थि सुप्रतिबद्ध आदि तीन सौ सन्त मिले थे।

अतः आचार्य महागिरि की ओर आचार्य सुहस्ति की परम्परा अलग हो गई हो ऐसा अधिक शक्य है।

पादलिप्त सूरि : विक्रम महाराजा ने जब शकों को हरा कर उज्जैन में विक्रम संवत् चलाया उस समय पादलिप्तसूरि का उल्लेख मिलता है। इनके पिता का नाम पुष्पचन्द्र और माता का नाम पंडिता था। बचपन में ही उन्हें गुरु के हाथों सौंपा गया। दश वर्ष में वे तैयार हो गये। उन्हें योग्य जान कर आचार्य पद दिया गया।

उस समय पाटलीपुत्र में मुरुण्ड नाम का राजा राज्य करता था। आचार्य पादलिप्त की विद्वत्ता, काव्य-रचना एवं प्रतिभा फैल रही थी; किन्तु उनकी अत्यन्त अल्प आयु से सहसा उनमें छिपी हुई अमोघ प्रभा पर किसी को विश्वास नहीं होता था।

आचार्य पाटलीपुत्र राज-सभा के बाहर पधारे। उस समय राज-सभा में अनेक विद्वान थे। राजा ने इस छोटे से आचार्य की परीक्षा के निमित्त घृत से भरी एक कटोरी सामने भेजी।

छोटे आचार्य ने पास में पड़ी बबूल की शूल को उसमें चुभो कर कटोरी वापस लौटाई। राजा ने जब यह देखा और पंडित-सभा ने भी माना कि बाल-आचार्य प्रतिभाशाली हैं; अत: उन्होंने जाकर इस बाल आचार्य का स्वागत किया।

यह एक प्रकार की बुद्धि की परीक्षा थी। राजा ने घृत से पूर्ण कटोरी भेजी जिसका आशय यह था कि "इस नगर में पंडित लोग घी से भरी कटोरी के समान ठसाठस भरे हैं; आपका समावेश कहाँ होगा?"

काँटा चुभो कर बाल आचार्य ने उत्तर भेजा :—"जैसी शूल घी की कटोरी में समाविष्ट होकर भी ऊपर है वैसे मैं आपके पंडितों में मिल कर भी अपनी प्रतिभा से ऊपर रहूँगा!"

बाल आचार्य ने, जो कि तरुणावस्था से यौवन में पदार्पण कर रहे थे अपने बाल ब्रह्मचर्य से, विद्वता से, अद्भुत वाणी से पाटलीपुत्र को मोह लिया। वहाँ की सुप्रसिद्ध नगर नारी (नायिका) प्रमोदलोचना आप पर मोहित हुई; किन्तु आपने उसे धर्म में प्रतिबोधित किया। मानखेटपुर के प्रतापी राजा कृष्ण पर भी आपका बड़ा प्रभाव पड़ा था।

प्रतापी राजा खारवेल : कलिंग के राजा खारवेल का जैन धर्म का महा पराक्रमी राजा माना गया है; किन्तु जो दो पट्टावली देवर्द्धि गण तककी मिलती हैं, उसमें उसका उल्लेख नहीं मिलता। उसने पार्श्व अनुयायी से प्रबोध पाया हो यह शक्य है; उसने कुमारगिरि (भुवनेश्वर) पर कई जैन गुफाओं का निर्माण कराया। इतना ही नहीं, मौर्य काल में नष्ट हुए अंग सप्तक के चौथाई भाग का पुनरुद्धार कराया। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार मिलता है :—

वीरात् दूसरी सदी में कांकिदी (कलिंग) में जैन धर्म का प्रचार करनेवाले महाराजा खारवेल हो गये। वे इतिहास प्रसिद्ध राजा थे। इनकी रानी भी जैन थी। अग्निमित्र, मीरेडर आदि शक हूण की भयंकर लड़ाई में इनकी विजय का उल्लेख मिलता है। उनका प्रभाव उत्तरा पथ से पण्ड्यम् देश तक दक्षिण में फैला हुआ था।

ऐसा माना जाता है कि पार्श्वापत्यिक संघ जो कि उस समय खंडित रूप से विद्यमान था। उनके भिक्षुओं के उपदेश से वह जैन बना हो; इसीलिये वीर शासन पट्टावली में हालाँकि अनेक आचार्यों के नृप - शिष्य के नाम मिलते हैं; किन्तु इसका नाम नहीं मिलता।

उड़ीसा के खण्डगिरि पर प्राप्त एक शिलालेख में ऐसा लिखा मिलता है कि :—

"खारवेल कलिंग का वहुत वड़ा प्रतापी जैन सम्राट था।"

अन्य एक शिलालेख में यह लिखा मिलता है कि :—

"खारवेल ने मौर्य काल में नष्ट हुए अंग सप्तक के चौथाई भाग का पुनरुद्धार कराया था।"

खारवेल के वारे में ऐसा उल्लेख प्राप्त है कि न वह क्षेत्र वंश की परम्परा में थे, और न वे चेरी वंश के थे। वे चेरवंश के थे जो कि वैशाली के अधिपति महाराजा चेटक के पुत्र शोभनराय की परम्परा थी और वे पार्श्व - परम्परा को मानते थे। उनकी आठवीं पीढ़ी में क्षेमराज अथवा खारवेल राजा हुआ था।

हालाँकि वे पार्श्व परम्परा को माननेवाले थे; किन्तु जब दुष्काल पड़ने पर वीर परम्परा के वहुत से साधु कांकिदी (कलिंग) चले गये तब खारवेल राजा ने कुमारगिरि

पादलिप्त सूरि : विक्रम महाराजा ने जब शकों को हरा कर उज्जैन में विक्रम संवत् चलाया उस समय पादलिप्तसूरि का उल्लेख मिलता है। इनके पिता का नाम पुष्पचन्द्र और माता का नाम पंडिता था। बचपन में ही उन्हें गुरु के हाथों सौंपा गया। दश वर्ष में वे तैयार हो गये। उन्हें योग्य जान कर आचार्य पद दिया गया।

उस समय पाटलीपुत्र में मुरुण्ड नाम का राजा राज्य करता था। आचार्य पादलिप्त की विद्वत्ता, काव्य-रचना एवं प्रतिभा फैल रही थी; किन्तु उनकी अत्यन्त अल्प आयु से सहसा उनमें छिपी हुई अमोघ प्रभा पर किसी को विश्वास नहीं होता था।

आचार्य पाटलीपुत्र राज-सभा के बाहर पधारे। उस समय राज-सभा में अनेक विद्वान थे। राजा ने इस छोटे से आचार्य की परीक्षा के निमित्त घृत से भरी एक कटोरी सामने भेजी।

छोटे आचार्य ने पास में पड़ी बबूल की शूल को उसमें चुभो कर कटोरी वापस लौटाई। राजा ने जब यह देखा और पंडित-सभा ने भी माना कि बाल-आचार्य प्रतिभाशाली हैं; अतः उन्होंने जाकर इस बाल आचार्य का स्वागत किया।

यह एक प्रकार की बुद्धि की परीक्षा थी। राजा ने घृत से पूर्ण कटोरी भेजी जिसका आशय यह था कि "इस नगर में पंडित लोग घी से भरी कटोरी के समान ठसाठस भरे हैं; आपका समावेश कहाँ होगा?"

काँटा चुभो कर बाल आचार्य ने उत्तर भेजा :—"जैसी शूल घी की कटोरी में समाविष्ट होकर भी ऊपर है वैसे मैं आपके पंडितों में मिल कर भी अपनी प्रतिभा से ऊपर रहूँगा!"

बाल आचार्य ने, जो कि तरुणावस्था से यौवन में पदार्पण कर रहे थे अपने बाल ब्रह्मचर्य से, विद्वता से, अद्भुत वाणी से पाटलीपुत्र को मोह लिया। वहाँ की सुप्रसिद्ध नगर नारी (नायिका) प्रमोदलोचना आप पर मोहित हुई; किन्तु आपने उसे धर्म में प्रतिबोधित किया। मानखेटपुर के प्रतापी राजा कृष्ण पर भी आपका बड़ा प्रभाव पड़ा था।

अन्य पट्टावली के अनुसार आचार्य सुस्थित के साथ अन्य शाखा के आचार्य सुप्रतिबद्ध का नाम भी आता है। आप आचार्य सुस्थित के सगे भाई थे और आप ने भी आचार्य सुहस्ति से दीक्षा ली थी।

पाटलीपुत्र के बाद द्वितीय आगम-वाचना जो कि कुमारगिरि पर्वत पर हुई और श्रमण सम्मेलन हुआ उसमें आप ने महत्व पूर्ण योग दिया। इस समय कई आगम का पुनरुद्धार किया गया। आप वाचनाचार्य के नाम से सुप्रसिद्ध है।

ऐसा कहा जाता है कि आचार्य सुप्रतिबद्ध बड़े प्रभावशाली थे। आपने सूरि मन्त्र का काकिंदी में करोड़ बार जाप किया। जिससे आगे जाकर आपको माननेवाले "कोटिक काकिंदी गच्छ" नाम से प्रसिद्ध हुए।

१३. आचार्य श्याम (कालकाचार्य प्रथम) आचार्य इन्द्रदत्त (इन्द्रदिन्न) :—

आचार्य स्वाति के पश्चात् इस परम्परा में आचार्य कालक बने। उनका वर्ण श्याम होने से उन्हें लोग श्यामाचार्य भी कहते थे। इन्हें निगोद व्याख्याता भी कई कहते हैं। उन्होंने धर्मकथानुयोग की रचना की थी। इसके सिवाय पन्नवणा सूत्र की पुन: रचना भी आप ने की। कई उन्हें आचार्य सुस्थित के समकालीन मानते हैं। पट्टावली के अनुसार वि० सं० ३३२ में आप आचार्य बने और वी० सं० ३७२ में कालधर्म प्राप्त हुए। कई उन्हें "गुणाकार-सूरि" भी मानते हैं।

अन्य परम्परा के अनुसार आचार्य सुस्थित कालधर्म प्राप्त हुए उसके बाद आचार्य इन्द्रदत्त आचार्य बने; लेकिन कोई स्पष्ट और विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। हो सकता है कि श्यामाचार्य की प्रतिभा के आगे इनका कुछ भी परिचय नहीं लिखा गया हो।

१४. आचार्य सांडिल्य, आचार्य दत्त (दिन्न) :—

श्यामाचार्य के बाद आर्य सांडिल्य वी० सं० ३७२ में आचार्य बने और वी० सं० ४०६ में कालधर्म को प्राप्त हुए। कई लोग आपका सम्बन्ध स्कंदिलाचार्य के रूप में बिठाते हैं; किन्तु ऐसा कम सम्भव मालूम होता है।

"तरंगावली" और "पउम चरिअं" के निर्माण से एक बात स्पष्ट होती है कि जैन धर्म के प्रचार निमित्त लोकप्रिय कथाओं को "जैन धर्म कथानुयोग" के अनुसार रूप मिलना प्रारंभ हुआ था।

सामान्य रूप से श्रमण के आगे आर्य और साध्वी के आगे आर्या का प्रयोग होता था; किन्तु कोटिक गच्छ के साथ उस शाखा के श्रमण अपने पीछे "सूरि" लगाते थे या बाद में पट्टावली में लगाया गया हो। यह परम्परा आचार्य दिन्न तक रही जिन्हें कई स्थान पर "आचार्य दिन्न सूरि" कहा गया है। पश्चात् आचार्य वज्र के बारे में वज्रस्वामी ऐसा उल्लेख मिलता है। आचार्य वज्रस्वामी के बाद पुन: सूरि लगाने की प्रथा "वज्रसेन सूरि" से चली। यों भगवान महावीर के पश्चात् "आर्य" और "सूरि" शाखा तो स्पष्टत: अलग होती गई ऐसा मान सकते हैं।

आचार्य वृद्धवादी : विक्रम संवत् के प्रारम्भ में सभी धर्मों में अपना-अपना महत्त्व बताने की और वाद-विवाद करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर राज्य में उस धर्म की स्थापना करवाने की होड सी लगी थी।

उस समय जैनों साधुओं की एक शाखा के आचार्य वृद्धवादी थे। विक्रम राजा की राज-सभा में अश्वघोष, कालिदास के साथ श्रमणक-सिद्धसेन दिवाकर * नाम के प्रकांड दर्शन शास्त्री और अध्यात्म विद्या के ज्ञाता पंडित भी थे। उनकी अभूतपूर्व बुद्धि का चमत्कार राजा और प्रजा दोनों मानते थे। वे चौदह विद्या के पारंगत माने जाते थे।

धार्मिक वाद-विवाद के उस काल में सिद्धसेन ने घोषणा की कि "जो मेरे से वाद-विवाद करके मुझे जीतेगा, उसे मैं अपना गुरु मानूँगा और मैं जीत गया तो उसे अपना शिष्य बनाऊँगा....!"

कहा जाता है कि उसने बहुत से पंडितों को हराया; तभी किसी ने आचार्य वृद्धवादी का नाम दिया। सिद्धसेन ने सुन रखा था कि जैनों के आचार्य वृद्धवादी बड़े पंडित

---

* "ज्योतिर्विदाभरण" के एक प्रकरण में विक्रम राजा की सभा के नवरत्नों में क्षपणक जिसे माना गया है वह सिद्धसेन ही थे — ऐसा इतिहासकारों का मानना है।

उन्होंने अपना साधु वेश त्याग दिया। गर्दभिल्ल राजा की क्रूरता के कारण कोई राजा उन्हें मदद देता नहीं दिखता था। उनकी आत्मा को बड़ी ठेस पहुँचती थी कि कोई भी आसपास में राजा इस धर्म - कार्य में मदद नहीं देता था।

वे सिंधु - देश पहुँचे। वहाँ पर छज्जु सामन्त गण थे। उन्होंने उनका संगठन किया। एक विशाल सेना के साथ उन्होंने उज्जैनी पर चढ़ाई की और गर्दभिल्ल को समाप्त किया ‡ एवं साध्वी आर्या सरस्वती का उद्धार किया।

उन्होंने समस्त दोषों की पुनः आलोचना की और प्रायश्चित किया एवं श्रीसंघ ने उन्हें पुनः दीक्षित किया। उन्होंने अपना प्रभाव, सिंधु, गांधार (अफगानिस्तान) ब्रह्मदेश, यवन प्रदेश आदि पर डाला। कुछ लोगों का ऐसा भी मानना है कि यह प्रचार बढ़ कर मिश्र तक भी पहुँचा था। वहाँ भी उनके सन्त - सती पहुँचे थे।

उनको आचार्य पद दिया गया हो यह सम्भव है और आचार्य महागिरि के बाद जो अलग अलग गच्छ बने उनमें से किसी एक गच्छ के वे आचार्य बनाये गये हों यह अधिक सम्भव है; पर नन्दी सूत्र या कल्प सूत्र की पट्टावली में उनका उल्लेख पाट - परम्परा में नहीं मिलता।

वाचक उमास्वाति और कालकाचार्य के सम्बन्ध में जो वीरात् संवत् प्राप्त हुए हैं तदनुसार दोनों में करीब ६० - ७० वर्ष का अन्तर देखा जाता है। यह भी शक्य हो कि कुछ तो लिपि के उतारने के भेद स्वरूप और कुछ विक्रम संवत् शासन से या मृत्यु से मानने पर भी यह अन्तर हो सकता है।

कालिकाचार्य का समय वीरात् सं० ४२० से ४५३ तक मान लेने पर उनका मिश्र तक का प्रभाव ऐतिहासिक रूप से पड़ा हो यह स्वीकार करना पड़ता है। कुछ भी

---

‡ इस सम्बन्ध में यह किंवदंति भी है कि गर्दभिल्ल राजा एक निश्चित तिथि पर रात को गर्दभ रूप धारण करता था और भोंकता था। उसकी आवाज़ जिनके कानों पर पड़ती थी वे मरण को प्राप्त होते थे। कहा जाता है कि जैसे ही उसने गर्दभ रूप धारण किया; कालिक ने तीर चला कर उसका कार्य समाप्त किया।

आचार्य ने ग्वालों को बुलाया और वाद - विवाद की बात बता कर उन्हें पंच बन कर फैंसला करने को कहा। वे मान गये।

सिद्धसेन ने लच्छेदार कडकडाट संस्कृत में कहना प्रारम्भ किया। बादल गरजते हों वैसी धारा प्रवाही संस्कृत में वे अपना पूर्व पक्ष स्थापित करने बोलता गया। अन्य सभी सन्त प्रभावित थे इस भाषा स्वामी के भाषा प्रवाह पर; किन्तु वह ग्वाला जिसने कभी संस्कृत पढ़ी तो क्या सुनी और समझी न थी, वह कुछ भी समझ न पाया।

आचार्य वृद्धवादी अनुभवी थे। उन्होंने ग्वाले समझ सके ऐसी ठेठ प्राकृत भाषा में सुमधुर कंठ से गाकर इस प्रकार कहा :—

नवि मारि अइ
नवि चोरि अइ
परदारह संगुति वारी अई
थोवा थोवुं दाई अई
तउ सग्गि ढुगुढुगु जाई अई

— किसी को मारना नहीं, चोरी करनी नहीं, परस्त्री संग करना नहीं। थोड़ा - थोड़ा (यथा शक्ति) दान करना, इससे धीरे - धीरे स्वर्ग जा सकते हैं।

ग्वाले प्रसन्न हो गये और उन्होंने आचार्य वृद्धवादी जीत गये ऐसा निर्णय दिया। सिद्धसेन ने उस हार को सरल हृदय से स्वीकार की और उसने वृद्धवादी का शिष्य बनना स्वीकार किया।

आचार्य जान चुके थे कि सिद्धसेन पर उनका पूरा प्रभाव छा गया है। उन्होंने उसे कहा कि उसका निर्णय राजा की विद्वत् सभा करेगी।

भृगृकच्छ नगर की राज - सभा में पुनः वाद - विवाद हुआ। इस बार भी आचार्य जीते। सिद्धसेन उनके शिष्य बने — श्रमण बने। दिवाकर से वे आर्य सिद्धसेन सूरि बने।

आचार्य ने उन्हें कहा :—"सिद्धसेन! अपनी विद्या का उपयोग आत्म धर्म के प्रचार में करो। तुमको जो सरस्वती का वरदान है उसका लोकहित में उपयोग करो!"

प्रयास करने का रहा तब सभी श्रमण व तत्कालीन गच्छों के आचार्यों ने उन प्रयत्नों में अपना योग दिया है।

आचार्य स्कन्दिल गौतम गौत्रीय के थे और वे कर्णाटक के थे। कई ऐसा मानते हैं कि उन्होंने मथुरा में पुनः सभी श्रमणों को आह्वान करके बुलवाया। बारह वर्ष के दीर्घ दुष्काल के पश्चात् मथुरा में सभी श्रमण मिले। पुनः एकादशांग वाणी से यह प्रथम मथुरा वाचना सफल हुई। कई स्थान पर अर्ध मागधी के साथ - साथ शौरसेनी (शूरसेन मथुरा प्रदेश) प्राकृत का भी अंश इसी कारण दिखाई पड़ता है।*

इस समय यह भी देखा गया कि जैन - धर्म के सन्त सिंधु प्रदेश, सौराष्ट्र, गुजरात, अरावली प्रदेश आदि पश्चिम प्रदेश में उतरते चले गये थे। मगध (बिहार), वैभारगिरि, कालिंदी (उड़ीसा) के साथ पश्चिम में उज्जैनी, धारा, दशपुर (मन्दसौर - मालवा) की ओर फैलता जा रहा था और दक्षिण में कर्णाटक (मैसूर) मलयगिरि (केरल) की ओर भी उसका प्रचार बढ़ता जा रहा था।

आचार्य जिन धर्म (जीतधर) : सामान्यतः १३ वीं पाट पर कल्पसूत्र पट्टावली एवं वृहद्गच्छ पट्टावली के अनुसार आचार्य दिन्न (दत्त) आये। बहुत से उन्हें सांडिल्याचार्य - स्कन्दिलाचार्य के रूप में घटाते हैं। नन्दी सूत्र के अनुसार सांडिल्याचार्य १३ वीं पाट पर आये मगर उनकी पाट गणना वी० सं० ३७२ से ४०६ की है। जब कि आचार्य दिन्न का समय वी० सं० ३७६ से ४५६ का है। उस समय नन्दी सूत्र पट्टावली के अनुसार आचार्य जिन धर्म पाट पर आये। उनकी पाट की कालगणना वी० सं० ४०६ से वी० सं० ४५४ तक की है।

●

* सुशील मुनि — जैन धर्म का इतिहास पृ. १४० [प्रथम माथुरी वाचना का उल्लेख कम मिलता है; लेकिन कहीं - कहीं पर अंग वाचना ४ के स्थान पर ५ बार हुई ऐसा उल्लेख मिलता है उसके संदर्भ में यह मानना है।]

पालकी में बैठे सिद्धसेन ने पूछा :—"भो वृद्ध! कोऽसि भूरि भार भराक्रांतः स्कन्धः किं तव बाधति!" (हे वृद्ध! क्या भारी बोझ से तेरा कन्धा दुःखता हैं?)

यह सुन कर वृद्धवादी आचार्य बोले :—"न तथा बाधते स्कन्धो यथा 'बाधति' बाधते!" (मेरा कन्धा उतना दुःख नहीं पहुँचा रहा है जितना बाधति (गलत शब्द) दुःख पहुँचा रहा है!")

वास्तव में व्याकरण की दृष्टि से "बाधति" अशुद्ध प्रयोग था और "बाधते" चाहिये था। अपनी भाषा की अशुद्धि बतानेवाला यह सामान्य सेवक कौन है यह जानने के लिये सिद्धसेन ने जब ध्यान से देखा तो अपने गुरु को वेश बदल कर खड़े पाया।

वे तुरन्त ही पालकी से उतर कर नीचे गये और गुरु के चरणों में गिर कर पश्चात्ताप के आँसू बहाने लगे।

एक राजगुरु सामान्य सेवक के चरणों में गिरे! यह देख कर सभी लोग चकित हुए। गुरु ने उन्हें उठाया। सिद्धसेन नतमस्तक होकर कहने लगे :—"गुरुवर! मेरी भूल हो गई; क्षमा करें....!"

"कौन सी भूल, इस शब्द की! इसके लिये जितना दुःख होता है उससे अधिक दुःख, श्रमण होकर तुम इस स्वागत-मान के जाल में फँस गये हो उससे मुझे हो रहा है!"

"हाँ, गुरुदेव! मैं पथ भूल गया हूँ; मुझे राह दिखायें....!" सिद्धसेन बोले।

"दिवाकर तो स्वयं प्रकाशित होकर अन्य को राह दिखाता है यही सत्य मार्ग है। अब सावधान हो गये हो तो अन्यों को सच्चे आत्म धर्म रूप जैनत्व का ज्ञान कराओ!" आचार्य प्रवर बोले।

श्रमण सिद्धसेन की ज्ञानी आत्मा पुनः चारित्र मार्ग की ओर आगे बढ़ी और उन्होंने विश्व कल्याण के निमित्त अनेक महत्व पूर्ण ग्रन्थ और साहित्य का निर्माण कर जिन शासन की प्रतिष्ठा बढ़ाई।

कल्प सूत्र के अनुसार

पट्टधर आचार्य	वी. सं. तक
१ सुधर्मास्वामी	२०
२ जम्बुस्वामी	६४
३ प्रभव	७५
४ शय्यंभव	८८
५ यशोभद्र	१४८
६ सम्भूतिविजय	१५६
७ भद्रबाहु	१७०
८ स्थूलिभद्र	२१५
९ महागिरि	२४५
१० सुहस्ति	२९१
११ सुप्रतिबुद्ध	३३९
१२ इंद्रदत्त (इन्द्रदिन्न)	३७६
१३ आर्यदत्त (दिन्न)	४५६
१४ वज्र (वयर)	५८४
१५ वज्रसेन	६२०
१६ आर्यरोह	प्राप्त नहीं है
१७ पुष्पगिरि	,,
१८ फल्गुमित्र	,,
१९ धनगिरि (धरणीधर)	,,
२० शिवभूति	,,
२१ श्री भद्रस्वामी	अप्राप्य
२२ नक्षत्र	,,
२३ रक्षित	,,
२४ नागस्वामी	,,
२५ जेहिल विष्णुस्वामी	,,
२६ संडिल	,,
२७ देवर्धिगणि	९९४

बृहद्गच्छ के अनुसार

पट्टधर आचार्य	वी. सं. तक
१ सुधर्मास्वामी	२०
२ जम्बुस्वामी	६४
३ प्रभव	७५
४ शय्यंभव	८८
५ यशोभद्र	१४८
६ सम्भूतिविजय	१५६
७ भद्रबाहु	१७०
८ स्थूलिभद्र	२१५
९ महागिरि	२४५
१० सुहस्ति	२९१
११ सुस्थित	३३९
१२ इन्द्रदिन्न	३७६
१३ आर्यदिन्न	४५६
१४ आर्यसिंह	५४८
१५ वज्रस्वामी	५८४
१६ वज्रसेन	६२०
१७ चन्द्र	६४३
१८ सामन्तभद्र	६७५
१९ वृद्धदेव	७००
२० प्रद्योतन	७४८
२१ श्रीमानदेव	७५५
२२ श्री मानतुंग	अप्राप्य
२३ वीराचार्य	७७०
२४ जयदेव	८२६
२५ देवानन्द	८४५
२६ विक्रम	८८२
२७ नरसिंह	अप्राप्य
२८ समुद्र	,,
२९ देवर्धिगणि	९९४

स्था. प्रचलित पट्टावली

पट्टधर आचार्य	वी. सं. तक
१ सुधर्मास्वामी	२०
२ जम्बुस्वामी	६४
३ प्रभवस्वामी	७५
४ शय्यंभव	९८
५ यशोभद्र	१४८
६ सम्भूतिविजय	१५६
७ भद्रबाहु	१७०
८ स्थूलिभद्र	२१५
९ महागिरि	२४५
१० बलिस्सह	२८०
११ स्वात्याचार्य	३३२
१२ श्यामाचार्य	३७२
१३ सांडिल्याचार्य	४०६
१४ जिनधर्म (जीतधर)	४५४
१५ समुद्र	५०८
१६ नन्दिलक्षपण	५४८
१७ नागहस्ति	६४४
१८ रेवती	७१८
१९ स्कन्दिल	७७०
२० सिंहगिरि	८१८
२१ श्रीमंत (हिमंत)	८४८
२२ नागार्जुन	८७५
२३ गोविंद	८७७
२४ भूत दिन्न	९२२
२५ लोहित	९४८
२६ दुष्यगणि	९७५
२७ देवर्धिगणि	९९४

नन्दी सूत्र पट्टावली

पट्टधर आचार्य	वी. सं. तक
१ सुधर्मास्वामी	२०
२ जम्बुस्वामी	६४
३ प्रभव स्वामी	७५
४ शय्यंभवस्वामी	९८
५ यशोभद्र	१४८
६ सम्भूतिविजय	१५६
७ भद्रबाहुस्वामी	१७०
८ स्थूलिभद्र	२१५
९ महागिरि	२४५
१० सुहस्ति	२८०
११ बलिस्सह	२९१
१२ स्वाति	३३२
१३ श्यामाचार्य	३७२
१४ सांडिल्य	४०६
१५ समुद्र	५०८
१६ मंगु	५४८
१७ नन्दिल, १८ नागहस्ति	६४४
१९ रेवती	७१८
२० ब्रह्मदीपकसिंह	७७०
२१ स्कन्दिलाचार्य	८१८
२२ हिमवन्त	८४८
२३ नागार्जुन	८७५
२४ भूत दिन्न	९४२
२५ लोहित	९४८
२६ दुष्यगणि	९७५
२७ देवर्धि क्षमाश्रमण	९९

अनेक राजाओं ने आप से प्रभावित होकर जैन धर्म को अपना राज्य धर्म माना। किन्तु कर्मारपुर के राजा ने तो आप को राज गुरु ही मान लिया। वहाँ वे ठाठ माठ में श्रमणाचार में शिथिल हो रहे थे कि पुनः गुरु वृद्धवादी आचार्य ने उन्हें स्थिर किया।

उस समय वैदिक दर्शनवाले तर्क के आधार से अपना पक्ष रख रहे थे। बौद्ध भी नागार्जुन के बाद तर्क प्रधान बौद्ध दर्शन को बना रहे थे; किन्तु आत्म लक्षी श्रमण परम्परा एक तरह से इस तर्क प्रधान ज्ञान प्रणालिका से अलिप्त सी थी।

जैन आचार्यों ने प्रथम तो दार्शनिक वाद-विवाद को तटस्थता से देखा; किन्तु जब जैन दर्शन के अनेकांत और स्याद्वाद पर प्रहार होने लगा; ईश्वर कर्तृत्व-अकर्तृत्व पर प्रहार होने लगा तब वाद-विवाद में तर्क से जैन दर्शन की प्रतिष्ठा कायम करने का श्रीगणेश सिद्धसेनजी ने किया।

जैन धर्म के सार रूप एक ग्रन्थ की रचना उमास्वाति कर चुके थे; किन्तु जैन-दर्शन के प्रमाण और नय को तर्क की कसौटी पर खरा उतारने का कार्य शेष था। सिद्धसेन ने उस समय के पंडितों की जानकारी के लिये "न्यायावतार" नाम के ग्रन्थ की रचना की। जिसमें उन्होंने जैन-दर्शन की श्रेष्ठता के साथ षड़-दर्शन का भी परिचय दिया। उनके पास भारतीय दर्शन, वेद, श्रुतियाँ, स्मृतियों का अगाध ज्ञान था।

उन्हें यह अनुभव हुआ कि जैन दर्शन का प्रचार करना हो तो उसे पूर्ण रूप से संस्कृत में रखा जाय। तदनुसार कहते हैं कि सर्व प्रथम उन्होंने नमस्कार मन्त्र को संस्कृत में रख कर श्रीसंघ के आगे प्रस्तुत किया।

जैन आगम और मूल सूत्रों के मूल प्रथम महामन्त्र का यह परिवर्तन सर्व प्रथम उनके गुरु को नहीं सुहाया। श्रुत ज्ञान की परंपरा में स्वेच्छाचार से परिवर्तन की परम्परा चलेगी यह उन्हें आशंका हुई। उन्होंने उसे घोर निन्दनीय समझा और संघ बाहर बारह वर्ष रहने का प्रायश्चित दिया। यह जैन श्री संघ को नहीं सुहाया। उन्होंने आचार्यश्री को उदारता दिखाने के लिये कहा; किन्तु आचार्यश्री अडिग रहे। अतः उदास मन से श्री संघ ने उन्हें संघ बाहर "बारह वर्ष" रहने का प्रायश्चित दिया।
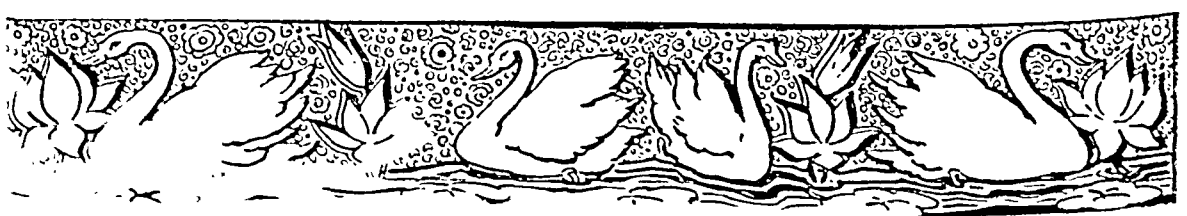
मंगु का उल्लेख नहीं है; किन्तु २३ वीं पाट पर आचार्य गोविन्द का उल्लेख करके २७ क्रम पर आचार्य देवर्धि क्षमागणि का अंक बराबर मिलाया गया है।

इतना जान लेने के बाद पाट वार एवं संवत्वार जो अलग - अलग गच्छ एवं आचार्य परम्परा है वह उपरोक्त प्रकार से चली दिखती है। दुष्काल, विदेशी आक्रमण आदि के कारण अलग - अलग गच्छ बने हों ऐसा सम्भव है। आचार्य महागिरि तक की परम्परा एक सी है। उस समय तक जिनकल्प और स्थविरकल्प के भेद होने पर भी समाचारी में अन्तर कल्प को छोड़ कर नहीं था।

जो मुख्य पट्टावलियाँ मिलती हैं उसमें नन्दी सूत्र और कल्प सूत्र की पट्टावलियों में देवर्धिगणि को २७ वें पाट पर माना गया है। कल्प सूत्र में कहीं पर २८ नाम आते हैं। वहाँ पर जेहिल व विष्णु आचार्य पृथक् बताये हैं; किन्तु प्रायः वह संयुक्त नाम माना गया है। नन्दी सूत्र की माथुरी वाचना की पट्टावली में २७ वें पाट पर देवर्धि क्षमागणि आते हैं। नागपुरीय बृहद्गच्छ पाटावली का प्रारम्भ भगवान महावीर से होता है। वहाँ पर आर्यदत्त (दिन्न) के बाद आर्य सिंहगिरि पाट पर आये वैसा उल्लेख है एवं पिछली पाटों के आचार्य में एक गिनती अधिक मालूम होती है; किन्तु ये तीनों पट्टावलियाँ जिन्हें अधिकतर श्वेतांबर जैन समाज मानता है उसके अनुसार देवर्धि क्षमागणि ने वल्लभीपुर में वीर सं० ९८० में आगम वाचना सभी गच्छों के आचार्यों के सन्मुख की और सभी ने एक होकर उन्हें अपना आचार्य माना। अतः विक्रम सं० के प्रारम्भ से करीब ५ वीं सदी तक में हालाँकि कुछ परम्परायें बिल्कुल नई चलीं; फिर भी श्रमण संघ सदा यह अनुभव तो करता रहा कि श्रमण संस्कृति यदि श्रमणों की एकता साध न सकी तो समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा? अलग - अलग गच्छों में जैन समाज बँट जायेगा और उसका स्थान गौण हो जायेगा।

गच्छ बनने के कारण :

ऐसा माना जाता है कि भगवान महावीर से आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति तक एक ही गच्छ चलता था — वह निर्ग्रंथ गच्छ कहलाता था। तत्पश्चात् आर्य सुस्थित व आर्य सुप्रतिबद्ध ने काकिंदी नगरी में "सूरि मन्त्र" का कोटिवार जाप किया तब से

पर महात्मा सिध्धर्षि [1] ने व्याख्या की। शांताचार्य एवं जिनेश्वर सूरि ने "न्यायावतार" का सटीक वार्तिक बना कर जैन तर्क शास्त्र में उनका आधार और प्रमाण स्वीकार किया है। आचार्य हरिभद्र ने उन्हें 'श्रुत केवली' कहा। प्रचण्ड तार्किक वादीदेवसूरि ने उन्हें अपने 'मार्गदर्शक' कहे और आचार्य हेमचन्द्र ने उनके आगे अपने आप को 'अनपढ़' कवि कहकर अपनी कृतियों को 'अशिक्षिता लाप कला' यानी गंवार के आलाप की कला कहा।

श्वेताम्बर आचार्यों के समान दिगम्बर आचार्यों ने भी उनकी प्रशंसा की है। आचार्य समन्तभद्र ने उनका अनुकरण किया। ऐसा माना जाता है कि सिद्धसेन ने जो वस्तु 'सूत्र' रूप में कहीं उसे 'व्याख्या' रूप में समन्तभद्र ने उसी शैली पर कही। हरिवंश पुराण के रचयिता जिनसेन सूरि, आदि वंश पुराण के रचयिता महा कवि जिनसेनाचार्य (द्वितीय) आदि ने उनके प्रति श्रद्धा एवं आदर व्यक्त किये हैं एवं अकलंक देव ने अपने ग्रन्थों में उनके वचनों को प्रमाण रूप उद्धरण उध्धृत करके उन्हें आद्य जैन तार्किक माना है।

जैन दर्शन को ब्राह्मणों ने अभी तक पंडितों की सभा में हास्य मजाक और बौद्धो के साथ नास्तिकता का विषय बनाया था; अनेकांतवाद को अनिश्चित और संदिग्धवाद के रूप में रखा था। उसके स्थान पर उसकी महानता और श्रेष्ठता सिद्धसेन के कारण सिद्ध हुई। उनके जैसा प्रकांड और प्रचन्ड वेदांती; किन्तु अपने में समर्थ, वृद्धवादी से हार गया और जिसे संघ बाहर करने पर भी उसने उस दर्शन की श्रेष्ठता की श्रद्धा को बनाये रखी, उसका जबर्दस्त प्रभाव अन्य दर्शनों पर पड़ा। सिद्धसेन ने जहाँ जैन दर्शन की श्रेष्ठता सिद्ध की वहाँ पर अन्य दर्शन का स्पष्ट रूप भी पंडित और सामान्य लोगों के आगे रखा। भारतीय षड् दर्शन का स्पष्ट परिचय इस प्रकार कराके उन्होंने भारतीय दर्शनों की भी बड़ी सेवा की है।

जैन श्रमण बनने पर आचार्य वृद्धवादी ने इनका नाम 'कुमुद चन्द्र' रखा। 'कल्याण मन्दिर स्तोत्र' की रचना उन्होंने इसी नाम से की है। ऐसी किंवदंति है कि बारह वर्ष तक संघ बाहर रहने पर जब वापस संघ में संमिलित होने की बात आई तो

---

1 इनको भी सिद्धसेन सूरि कहा गया है; अतः सिद्धसेन के नाम के कारण उनकी काल गणना में सब अपना-अपना मत देकर आग्रह रखते हों यह सम्भव है।

जैन वेद व जैन उपनिषद हैं ऐसा प्रतिपादन प्रारम्भ किया। उन्होंने यह भी तर्क प्रस्तुत किया कि "द्वादशांगी" तो हर एक तीर्थंकर के समय बदलती रहती है; किन्तु "निगम" तो सनातन सत्य हैं और विना आगम - निगम के समन्वय किये जैन धर्म का सम्पूर्ण रहस्य नहीं जाना जा सकता।

बाह्य - आडम्बर हमेशा लोक मानस को अधिक खींचता है और अधिक से अधिक जैन व अजैन इस नयेपन की ओर खींचते गये और उन्होंने नये - नये गच्छों को जन्म दिया। आडम्बर की आड में हमेशा शिथिलाचार सच्चे साधुत्व को खटकता है। फलतः नये - नये क्रियोद्धारक बनने से भी नये गच्छ बनते गये।

प्रचार - कारण : जैन धर्म का अधिक से अधिक प्रचार हो एतदर्थ समर्थ श्रमण व्यक्ति अपने - अपने गच्छ बनायें और अपने अधिक से अधिक शिष्य बना कर उनसे अधिक से अधिक धर्म प्रचार कराये इस भावना से भी अलग - अलग शाखा व गच्छ बनते गये। यह परम्परा आर्य महागिरि के बाद चल पड़ी हो ऐसा अधिक सम्भव है।

अन्य धर्म के कारण : ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि जैन - साधु संस्था में भिक्षा, परिव्राजकपन एवं विहार के नियम ऐसे थे कि वे अन्य धर्म के साधुओं की तरह "विहार" बना कर या राज्य पुरोहित पद ग्रहण करके प्रभाव डाल नहीं सकते थे। उस समय बौद्ध और वैदिक धर्म, जैन धर्म के सामने थे अतः व्यापक क्षेत्र स्पर्श कर सकें एतदर्थ भी गच्छ व शाखायें बनती गईं; किन्तु करीब - करीब उनकी "समाचारी" में उल्लेखनीय अन्तर न था।

इतना जान लेने के बाद वि० सं० के प्रारम्भ से पाट परम्परा इस प्रकार चली :—

शिष्य माना गया है। सिद्धसेन दिवाकर का कालधर्म पाना वि० सं० १८ और वीर संवत् ४८८ करीब माना जाता है।

आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय): आचार्य सिंहगिरि ने विशेष अध्ययन के लिये आर्य वज्र को दशपुर (मन्दसौर) स्थित आर्य भद्रबाहु स्वामी के पास दशपूर्व का अध्ययन करने भेजा था ऐसा उल्लेख मिलता है। तदनुसार दशपूर्व ज्ञानधारी श्रमणों में आर्य भद्रबाहु का नाम आता है जिन्हें द्वितीय भद्रबाहु भी कहा जाता है।

कई पट्टावलियों की शोध के बाद यह माना गया है कि ज्योतिष के अपूर्व ग्रन्थ "भद्रबाहु संहिता" के रचयिता प्रथम भद्रबाहु नहीं; किन्तु ये द्वितीय भद्रबाहु हैं। एक तो श्रुत केवली के रूप में ग्रन्थ लेखन, निर्माण कार्य प्रथम भद्रबाहु के समय प्रारम्भ नहीं हुआ था और साथ ही भाषा विश्लेषण के अनुसार भी उस ग्रन्थ की भाषा वि. सं. की प्रथम शताब्दि की लगती है। तदुपरांत आचार्य भद्रबाहु के कोई वराहमहिर नाम का भाई न था। किन्तु द्वितीय भद्रबाहु के वैसे भाई का होना और विक्रम की राज सभा में उसके होने का भी उल्लेख मिलता है।

दोनों भाइयों का जन्म प्रतिष्ठानपुर में हुआ था और उन्होंने आचार्य सुभद्र के पास दीक्षा ली थी। आचार्य सुभद्र ने भद्रबाहु को योग्य जान कर आचार्य बनाया तब वराहमहिर ने विरोध किया और वेश त्याग दिया। वह भद्रबाहु का विरोधी हो गया। वह जैन धर्म का भी उग्र विरोधी बन गया। उसने भी वराहमहिर संहिता लिखी थी। सिद्धसेन और कालिदास की तरह वह भी विक्रम की राज-सभा का एक रत्न था। "ज्योतिर्विद्याभरण" में इसका स्पष्ट उल्लेख है। उसके द्वारा कोई उपसर्ग न आये एतदर्थ आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने "उपसर्गहर स्तोत्र" की रचना की।

आपने वासुदेव चरित्र नाम के ग्रन्थ का निर्माण किया जिसमें वासुदेवों के कथानक है। उस समय एक तरह से कथानकों से बोध देने का नियम बन गया था और उस समय के अन्य आचार्य पादलिप्त सूरि, विमल सूरि ने भी वैसे कथा-साहित्य का निर्माण किया था।

हालाँकि उस समय स्पष्टतः दिगम्बर, श्वेताम्बर भेद नहीं हुए थे; किन्तु जिनकल्प और स्थविर कल्प के भेद थे ही। आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) या भद्रगुप्त का श्वेताम्बर परम्परा में उल्लेख सिर्फ ऊपर बताया उतना ही मिलता है; किन्तु दिगम्बर परम्परा में उनका उल्लेख पट्टावली‡ में इस प्रकार मिलता है :—

	नाम	ज्ञान की श्रेणी	शासन वर्ष	वी० सं० तक
१.	गौतम	केवली	१२	१२
२.	सुधर्म	,,	१२	२४
३.	जम्बुस्वामी	,,	३८	६२
४.	विष्णु	श्रुत केवली	१४	७६
५.	नन्दिमित्र	,,	१६	९२
६.	अपराजित	,,	२२	११४
७.	गोवर्धन	,,	१९	१३३
८.	भद्रबाहु (प्रथम)	,,	२९	१६२
९.	विशाखाचार्य	दशपूर्वधारी	१०	१७२
१०.	प्रोष्ठिल	,,	१९	१९१
११.	क्षत्रिय	,,	१७	२०८
१२.	जयसेन	,,	२१	२२९
१३.	नागसेन	,,	१८	२४७
१४.	सिद्धार्थ	,,	१७	२६४
१५.	धृतिषेण	,,	१८	२८२
१६.	विजय	,,	१३	२९५
१७.	बुद्धिलिंग	,,	२०	३१५
१८.	देव	,,	१४	३२९

‡ प्रो० हीरालाल जैन सम्पादित षट खण्डागम (प्रथम) सद्प्ररूपणा खण्ड की आचार्य परम्परा में (पृ० २१ से प्रारम्भ के) शक्य होगा तो अन्यत्र नन्दि आम्नाय के अनुसार दिगम्बर मत प्राकृत पट्टावली दी जायेगी।

आचार्य सिंहगिरि वी० सं० ५४८ में कालधर्म प्राप्त हुए।

आचार्य समुद्र और आचार्य नंदिल : नन्दी सूत्र की पाटावली के अनुसार जिनधर्म आचार्य के बाद आचार्य समुद्र वी० सं० ४२४ में १५वीं पाट पर आये। आप वी० सं० ५०८ तक पाट पर रहे। कई जगह आचार्य सुभद्र का उल्लेख भी मिलता है। उस समय की लिपि जिस प्रकार लिखी जाती थी या बाद में लिखी गई तदनुसार "सुभद्र" का "समुद्र" पाठ भेद होना भी शक्य है; क्योंकि "सुभद्र" आचार्य का उल्लेख पाटक्रम में नहीं मिलता।

पश्चात् आचार्य नंदिल वी० स० ५०८ में १६वीं पाट पर आये। आप वी० सं० ५४८ में कालधर्म प्राप्त हुए तब तक पाट पर विराजे ऐसा एक उल्लेख है।

कल्पसूत्र पट्टावली में, आचार्य दिन्न (वी. सं. ४५६) के बाद सीधा आचार्य वज्रस्वामी का उल्लेख मिलता है यानी वी. सं. ४५६ से वी. सं. ५८४ तक वे पाट पर रहे। नागपुरीय पट्टावली में आचार्य वज्र का जन्म वी. सं. ४९६ में बताया गया है। ८ वर्ष की उम्र में योग्य जान कर वी. सं ५०४ में उन्हें दीक्षा दी गई। ४४ वर्ष सामान्य दीक्षा रही और वी. सं. ५४८ में आप पाट पर आये। यह तो निश्चित ही है कि वे आचार्य सिंहगिरि के शिष्य थे और आचार्य दिन्न के बाद आचार्य सिंहगिरि की पाट पर आये, ऐसा मान लेने से कल्पसूत्र पट्टावली में जो अन्तर काल गणना का पड़ता है वह व्यवस्थित हो जाता है। एक अद्भुत साम्य की बात यह है कि आचार्य सिंहगिरि और आचार्य नंदिल दोनों वी. सं. ५४८ में कालधर्म हुए हैं ऐसा पट्टावली से लगता है।*

कुछ प्रमुख अन्य आचार्य व प्रखर श्रमण : यहाँ पर पट्टावली के अनुसार आगे बढ़ने के पहले विक्रम संवत् के प्रारम्भ काल में कुछ प्रमुख जैनाचार्य हुए उनका उल्लेख कर लेना उचित होगा।

* यह शोध का विषय है कि दोनों आचार्य विभिन्न नाम के थे या अलग। बहुत से आचार्य नंदिल को माथुरी वाचना के नंदिल वाचनाचार्य मानते हैं; किन्तु काल गणना में भारी अन्तर आता है। वज्रसेन आचार्य के समय बारह वर्ष के दुकाल पश्चात् वह हुई हो ऐसी विशेष संभावना है।
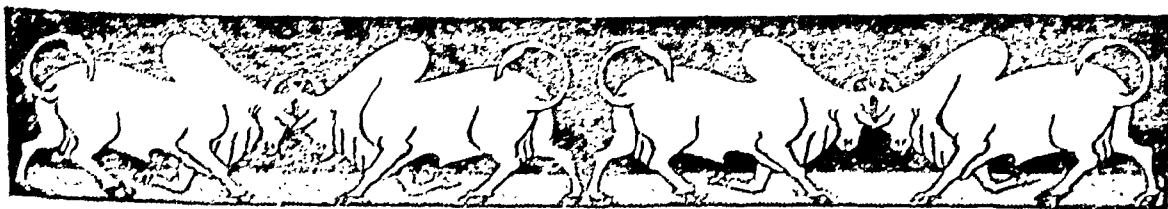
यों आचार्य भद्रबाहु जिन शासन की जिन कल्प, स्थविर कल्प दोनों को मान्य एकता की एक कड़ी रूप थे।* दिगम्बर उन्हें दश अंगधारी मानते हैं श्वेताम्बर उन्हें दश पूर्वधारी मानते हैं।

१५. आचार्य मंगु (वीरात् ५०८): एक पाटावली के अनुसार आर्य समुद्र, जीतधर आचार्य के बाद पाट पर आये और वीरात् ५०८ अर्थात् ५४ वर्ष तक उन्होंने शासन भार सम्हाला।

कई स्थान पर आचार्य समुद्र के बाद आचार्य मंगु बने ऐसा उल्लेख मिलता है। उनका समय निश्चित नहीं है; किन्तु एक पट्टावली के अनुसार आर्य समुद्र के बाद आचार्य नंदिल हुए जो वाचनाचार्य के नाम से प्रसिद्ध है और अन्य पट्टावलियों में आचार्य सिंहगिरि के बाद आचार्य वज्र हुए हैं। अन्य एक पट्टावली में आचार्य इन्द्रदीन के बाद आचार्य वज्र सीधे पाट पर आये ऐसा उल्लेख मिलता है।

इसी तरह नन्दीसूत्र पाटावली के अनुसार नन्दिल आचार्य को लिया जाय और संवत् का मिलान किया जाय और आगे जो दशपुर वाचना हुई उसकी कालगणना के अनुसार आचार्य मंगु आचार्य समुद्र के बाद हुए ऐसा मानने पर दोनों की काल गणना व्यवस्थित बैठ जाती है।

आचार्य समुद्र के बाद कई स्थान पर आर्य मंगु आचार्य बने ऐसा उल्लेख मिलता है। कई स्थान पर उन्हें 'धवलाकार' महावाचक माना गया है। आर्य मंगु का उल्लेख

---

* पं० मुनिश्री सुशीलकुमारजी उन्हें सुभद्राचार्य का शिष्य मानते हैं। (जैन धर्म इतिहास पृ० १७६) और सुभद्र आचार्य का उल्लेख केवल दिगम्बर पट्टावली में मिलता है। श्वेताम्बरों में आचार्य समुद्र का उल्लेख है।

षडखण्डागम के 'सत्प्ररूपणा' की प्रस्तावना में आचार्य परम्परा के उल्लेख में प्रो. हीरालाल जैन पृ. २३ पर यशोभद्र को भद्रबाहु द्वितीय के रूप प्राकृत पट्टावली में मानते हैं। इस पर से एक बहुत बड़े संशोधन का क्षेत्र खुलता है कि भद्रबाहु प्रथम से भद्रबाहु द्वितीय तक हालाँकि विशाखाचार्य पृथक् हो गये थे; फिर भी जिन कल्पी और स्थविर कल्पी (अपनी मान्यतानुसार) सन्तों में परस्पर समागम था और श्रुत ज्ञान मार्ग को प्रशस्त बनाने में एक होकर दोनों ने प्रयत्न किये गये।

इन्हें रुद्रदेव सूरि और श्रमणसिंह सूरि † से बहुत सी लब्धियाँ और सिद्ध विद्यायें प्राप्त हुई थीं। पैरों पर लेप लगा कर आकाश गामिनी विद्या से वे उड़ सकते थे। इसलिये एक बार वे मानखेट से उड़ कर भृगु कच्छ (भड़ौंच - गुजरात) पहुँचे थे। तदन्तर वे टंकपुर (मोरबी के पास का टंकारा) आये थे; यहीं पर नागार्जुन उनके शिष्य बने। नागार्जुन ने स्वर्ण सिद्धि प्राप्त की थी और अपने गुरु पादलिप्त की स्मृति में शत्रुजयं (शत्रुन्जा) की पहाड़ियों की तलहटी में पादलिप्तपुर (वर्तमान का पालीताणा) की स्थापना की थी।

आपने प्राकृत भाषा में (महाराष्ट्रीय शैली) "तरंगावली" नामक पुस्तक लिखी। यह कथाकोश है और अनेकानेक कथाओं से सम्पूर्ण और समृद्ध है। इसमें गद्य - पद्य दोनों का अद्भुत समन्वय किया गया है। वर्षों बाद आचार्य वीरभद्र के शिष्य नेमचन्द्र ने इसका १०० गाथा के परिमाण में संक्षिप्त किया। इसके साथ उन्होंने जैन नित्य कर्म, जैन दीक्षा, जैन प्रतिष्ठा पद्धति, शिल्प निर्माण कलिका आदि ग्रन्थ संस्कृत में लिखे। "ज्योतिष करंडक" पर आपने प्राकृत टीका भी लिखी।

उनके जीवन चरित्र से चमत्कारों को दूर रखें तो भी वे बड़े शासन प्रभावक और युग प्रधान आचार्य थे। आपका पाटलीपुत्र से अवन्ति की ओर जाना, वहाँ से दक्षिण में मानखेट जाना और वहाँ से भृगु कच्छ (गुजरात) और टंकारा (सौराष्ट्र) पहुँचना एक और दिशा की ओर संकेत करता है कि जैन धर्म विक्रम संवत् के प्रारम्भ में पश्चिम के किनारों तक यानी सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) तक फैलता जा रहा था।

विमल सूरि : वीरात् ५०० या विक्रम संवत् ३० के करीब नागिलकुल के आचार्य विजय सूरि के शिष्य विमल सूरि ने "पउम चरिअं" (पद्म - चरित्र) के रूप में जैन रामायण की प्राकृत में रचना की।

---

† श्रमणसिंह सूरि और आचार्य सिंहगिरि एक हों तो इनकी बहुत सी बातें आचार्य वज्र से मिलती प्रतीत होती हैं। आचार्य वज्र के गुरु भी आचार्य सिंह थे।

छः मास के शिशु को पात्रोंवाली झोली में डाल कर आवेश में कह दिया :—"आप चले गये; इसे क्यों छोड़ गये....?" †

आर्य धनगिरि ने उसे बहुत समझाया; किन्तु सुनन्दा ने शिशु को वापस लेने से इन्कार कर दिया। विवश होकर आर्य धनगिरि उसे उपाश्रय में लाये। झोली भारी लगने से आचार्य सिंहगिरि ने देखा और इस शिशु का नाम वज्र रखा।

इसका लालन-पालन उस समय उपस्थित श्राविकाओं ने अपने हाथों में लिया। सुनन्दा को पीछे से अनुभव हुआ कि यह मेरी भूल हुई है और पुत्र को वापस लेने राज-सभा में न्याय कराया। जहाँ माता ने बहुत सी लालचें दीं; किन्तु शिशु वज्र ने केवल मुनि का ओघा (रजोहरण) लिया और उसे पकड़ कर वह नाचने लगा। अतः राजा ने उसे सन्तों को सौंप दिया।

सन्तों की वाणी, दर्शन और श्राविकाओं के धर्ममय वात्सल्य से उनके हृदय में वैराग्य उमड़ने लगा। कहते हैं कि उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हुआ। उनके पूर्व भव के मित्र तिर्यक्जृम्भक देव को उन्होंने याद किया। उसने आपकी परीक्षा ली और परीक्षा कर उन्हें वैक्रिय लब्धि एवं आकाश गामिनी विद्या दी।

उन्हें योग्य जान कर बाल अवस्था में, ८ वर्ष की उम्र में वी० सं० ५०४ में दीक्षा दी गई। आपकी स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र थी और आप सभी सूत्र सुन कर कण्ठस्थ कर लिया कर लेते थे। यह देख कर आचार्य सिंहगिरि ने आपको दशपुर (मन्दसौर) विराजित आर्य भद्रगुप्त के पास भेजा। वहाँ उन्होंने दशपूर्व का अध्ययन किया। आपको आचार्य ने वाचनाचार्य बनाया।

आप बड़ी छोटी उम्र में वाचनाचार्य बन गये थे। बाल ब्रह्मचारी होने से आपकी तेजस्विता में और निखार आ गया था। विहार करते-करते आप पाटलीपुत्र पहोंचे। वहाँ

---

† यह प्रसंग आचार्य सिंहगिरि के समय लिखा जा चुका है; किन्तु प्रसंग की धारा प्रवाह बनी रहे एतदर्थ पुनः दिया है।

इन्हें रुद्रदेव सूरि और श्रमणसिंह सूरि[†] से बहुत सी लब्धियाँ और सिद्ध विद्यायें प्राप्त हुई थीं। पैरों पर लेप लगा कर आकाश गामिनी विद्या से वे उड़ सकते थे। इसलिये एक बार वे मानखेट से उड़ कर भृगु कच्छ (भड़ौंच - गुजरात) पहुँचे थे। तदन्तर वे टंकपुर (मोरबी के पास का टंकारा) आये थे; यहीं पर नागार्जुन उनके शिष्य बने। नागार्जुन ने स्वर्ण सिद्धि प्राप्त की थी और अपने गुरु पादलिप्त की स्मृति में शत्रुजयं (शत्रुन्जा) की पहाड़ियों की तलहटी में पादलिप्तपुर (वर्तमान का पालीताणा) की स्थापना की थी।

आपने प्राकृत भाषा में (महाराष्ट्रीय शैली) "तरंगावली" नामक पुस्तक लिखी। यह कथाकोश है और अनेकानेक कथाओं से सम्पूर्ण और समृद्ध है। इसमें गद्य - पद्य दोनों का अद्भुत समन्वय किया गया है। वर्षों बाद आचार्य वीरभद्र के शिष्य नेमचन्द्र ने इसका १०० गाथा के परिमाण में संक्षिप्त किया। इसके साथ उन्होंने जैन नित्य कर्म, जैन दीक्षा, जैन प्रतिष्ठा पद्धति, शिल्प निर्माण कलिका आदि ग्रन्थ संस्कृत में लिखे। "ज्योतिष करंडक" पर आपने प्राकृत टीका भी लिखी।

उनके जीवन चरित्र से चमत्कारों को दूर रखें तो भी वे बड़े शासन प्रभावक और युग प्रधान आचार्य थे। आपका पाटलीपुत्र से अवन्ति की ओर जाना, वहाँ से दक्षिण में मानखेट जाना और वहाँ से भृगु कच्छ (गुजरात) और टंकारा (सौराष्ट्र) पहुँचना एक और दिशा की ओर संकेत करता है कि जैन धर्म विक्रम संवत् के प्रारम्भ में पश्चिम के किनारों तक यानी सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) तक फैलता जा रहा था।

विमल सूरि : वीरात् ५०० या विक्रम संवत् ३० के करीब नागिलकुल के आचार्य विजय सूरि के शिष्य विमल सूरि ने "पउम चरिअं" (पद्म - चरित्र) के रूप में जैन रामायण की प्राकृत में रचना की।

---

† श्रमणसिंह सूरि और आचार्य सिंहगिरि एक हों तो इनकी बहुत सी बातें आचार्य वज्र से मिलती प्रतीत होती है। आचार्य व्रज के गुरु भी आचार्य सिंह थे।

आचार्य वज्रसेन, आचार्य नंदिल एवं आचार्य रक्षित :—

कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आचार्य वज्र के बाद वी० सं० ५८४ में आचार्य वज्रसेन को पाट पर आये। नन्दी सूत्र पट्टावली के अनुसार आचार्य मंगु के बाद आचार्य नंदिल पाट पर आये और आचार्य भद्रबाहु के बाद आचार्य गुप्त १५ वर्ष तक रहे; उसके बाद वी० सं० ५४८ आचार्य वज्र पाट पर विराजे — पश्चात् आचार्य रक्षित वी० सं० ५८४ में पाट पर आये। आचार्य वज्रसेन एवं आचार्य रक्षित दोनों आचार्य वज्र के शिष्य थे या अलग यह विचारणीय प्रश्न है। आचार्य वज्रसेन के समय ऐसा भयंकर अकाल पड़ा कि साधु गण ने बड़ी संख्या में संथारा पच्चक्ख के उत्सर्ग मार्ग ग्रहण किया था।

उस समय आचार्य वज्रसेन पश्चिम के तट पर सोपारक नगर में पहुँचे। वहाँ पर जिनदत्त नाम का सेठ रहता था। वह सर्व वस्तु से सम्पन्न था; किन्तु पैसा होने पर भी कहीं से उसे खाने को अनाज नहीं मिलता था।

अत: शेष अन्न की रावड़ी बना कर उसमें विष मिला कर पीने का सेठ सोच रहे थे। उस समय वज्रसेन सुरि वहाँ भिक्षा के लिये पहुँचे। पति-पत्नी में चर्चा हुई कि जो विष मिश्रित राब नहीं है उसे वहोराई जाय।

वज्रसेन आचार्य के ध्यान में यह बात आई और उन्होंने कारण पूछा। जिनदत्त सेठ ने सारी व्यथा कह सुनाई। आचार्यश्री ज्योतिष और निमित्त ज्ञान के जानकार थे। उन्होंने कहा :—"जैसे तैसे सप्ताह निकाल दो; बाद में सुकाल होगा!"

जिनदत्त सेठ ने उनकी बात पर विश्वास कर कुटुम्ब को विष पान कराना छोड़ दिया। सप्ताह के बाद उनके जहाज समुद्र से आये। उनमें अनाज था। इधर वर्षा भी हुई और उसे आचार्यश्री पर बड़ी श्रद्धा बैठी। अत: वह आचार्यश्री के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने गया और उनसे धर्मार्थ कुछ कार्य कराने के लिये कहा। उसके साथ उसके चार बेटे थे।

आचार्यश्री ने कहा :—"साधु किस बात की आशा रख सकता है? धर्म का प्रचार हो। यदि उस समय विष पान करते तो ये चार पुत्र का नाश होता न!"

हैं; अतः उन्हें हराने से मैं उनके समस्त जैन समाज को अपने में मिलाऊँगा....!" ऐसा उसने संकल्प किया।

उसने वृद्धवादी आचार्य का पता लगाया कि वे कहाँ हैं? वे उस समय भृगुकच्छ (भडोंच) में थे। सिद्धसेन शिष्य मंडली सहित वहाँ पहुँच गये। आचार्यश्री साधुचर्या के अनुसार वहाँ से विहार कर चुके थे।

ज्ञान के मद में मस्त सिद्धसेन ने मन ही मन सोचा कि "मेरा नाम सुन कर डर कर वे भाग गये हैं; मगर मैं उन्हें नहीं छोड़ूँगा!"

सिद्धसेन ने शिष्य मंडली को नगर में ठहराया और स्वयं आचार्य के पीछे चल पड़ा। पता लगाते लगाते मार्ग में आचार्य मिल गये। आचार्य एवं उनके शिष्य इस अजान पंडित युवक को देख कर आश्चर्य चकित हुए। आचार्य ने उसके आने का प्रयोजन पूछा।

सिद्धसेन पर तो वाद-विवाद का भूत सवार था। उसने कहा :—"महाराज! मुझे नहीं जानते? मैं सिद्धसेन दिवाकर हूँ! आपसे शास्त्रार्थ करने उज्जैन से भृगुकच्छ आया। मगर आप मेरा नाम सुनते ही पलायन क्यों हो रहे थे....?"

आचार्य वृद्धवादी उम्मर देख चुके थे। वे जान गये कि यह पंडित पढ़ा है; किन्तु गुणा नहीं है। उन्होंने कहा :—"अच्छा! कहाँ शास्त्रार्थ करना है?"

"यहाँ....! इसी समय! फिर, आप चल पड़े तो?"

"मगर यहाँ न्याय कौन करेगा?" आचार्य ने पूछा।

वहाँ कुछ ग्वाले भेड़-बकरियाँ चरा रहे थे। सिद्धसेन ने कहा :—"इन ग्वालों को पंच बनाया जाय!"

"अच्छा! और विवाद का परिणाम?"

"मैं हारा तो मैं और मेरे शिष्य आपके अनुयायी बनेंगे और आप हारे तो आप पूरे शिष्यों के साथ मेरे शिष्य बनेंगे!" सिद्धसेन ने कहा।

आचार्य नंदिल : नंदी सूत्र के अनुसार जो साधुमार्गीय प्रचलित पट्टावली है उसमें आचार्य समुद्र के बाद सीधा आचार्य नंदिल को लिया गया है और उनका शासन वी० सं० ५४८ में समाप्त हुआ बताते हैं; किन्तु उनके बीच आचार्य मंगु का काल बिताने पर आचार्य नंदिल का समय आगे का माना जा सकता है। उस समय वाचनाचार्य के रूप में अन्य किसी आर्य नंदिल का उल्लेख नहीं मिलता। दशपुर की वाचना का काल वी० सं० ५९२ माना गया है और उसमें आचार्य नंदिल भी थे। अतः उनका वी० सं० ५९२ तक जीवित रहना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। आचार्य नंदिल ने "दशपुर वाचना" को सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया यह निस्सन्देह है।

युग प्रधान आचार्य आर्य रक्षित : दशपुर वाचना में आगम साहित्य के प्रकांड श्रुत पंडित आर्यरक्षित सूरि भी आचार्य वज्रसेन के समकालीन थे। उनका नाम कई पट्टावलियों में नहीं आता। कहीं-कहीं पर उनकी काल गणना का विचार किये बिना नाम रूप में जोड़ दिया गया है। आपका जन्म दशपुर के रुद्रसोम पुरोहित के घर हुआ। आपकी माताजी ने एक बार आपको इक्षु वन में विराजित आचार्य तोसली के पास दृष्टिवाद नाम के अंग को अध्ययन करने भेजा। आप आचार्यश्री के प्रभावकारी उपदेश से प्रेरित होकर वहीं दीक्षित हो गये।

आपने आगम साहित्य को द्रव्य, चरण करण, गणित और धर्म कथा रूप चार अनुयोग में विभक्त कर आगम-शास्त्र, पठन-पाठन को सुलभ बनाया। आप अनुयोग द्वार-सूत्र के रचयिता माने जाते हैं।

यह सारा आगम संशोधन-विभाजन कार्य बारह वर्षीय दुकाल के बाद दशपुर में सम्पन्न हुआ। और दशपुर वाचना के समय सभी आचार्यों ने उसे स्वीकृत भी किया।

इतना ही नहीं, श्रमणों के उपकरणों के सम्बन्ध में जो विवाद चल रहा था उसे देश काल के अनुसार तय करके ये चौदह उपकरण निश्चित किये :— १. पात्र २. पात्र बन्धन ३. पात्र स्थापक ४. पात्र प्रमार्जनिका ५. पात्र पटलक ६. पात्र रजस्त्राण ७. गोच्छक

इस गणना के विवाद को छोड़ कर यह तो नितांत सत्य है कि उन्होंने जैन श्रुत साहित्य को व्यवस्थित करने में पूर्ण योग दिया है।

वालभी पट्टावली परम्परा के अन्तर्गत इस प्रकार पाठ-क्रम मिलता है :—

नाम	शासन वी० सं० तक
आचार्य धर्म	४९३
आचार्य भद्रगुप्त	५३२
आचार्य गुप्त	५४७
आचार्य वज्र	५८३
आचार्य रक्षित	५९६
आचार्य पुष्पमित्र	६१३
आचार्य वज्रसेन	६१९

तदनुसार आचार्य रक्षित एवं आचार्य वज्रसेन आचार्य वज्र के शिष्य थे ऐसा मान सकते हैं। किन्तु इस परम्परा में आचार्य वज्रसेन का शासन ६१६-६१९ का माना गया है इसकी कम सम्भावना है। अन्य एक स्थल पर आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) के शिष्य और परम्परा में बाद में आचार्य लोह को माना गया है। यह वज्र शब्द सा ही है। वहाँ पर आचार्य भद्रबाहु का शासन वी० सं० ५१२ और लोहाचार्य का शासन वी० सं० ५६५ माना गया है। सम्भव है कि लिपिबद्ध करते समय ऐसा लिख दिया गया है।

यह भी उल्लेख मिलता ही है कि आचार्य रक्षित उस समय युग प्रधान थे और अन्य पट्टावली के अनुसार आचार्य वज्रसेन भी युग प्रधान थे। उस दिशा में यह भी शक्य है कि दशपुर वाचना के पहले जो अकाल क्रमशः सात और पाँच वर्ष का पड़ा उसमें स्पष्टतः दो वर्ग हो गये थे और दोनों ने जो-जो नाम गुरु परम्परा से याद रहे या अपने क्षेत्र में जो युग प्रधान रहे उनके अनुसार नाम लिख दिये गये हों ऐसी सम्भावना है।

सिद्धसेन स्वयं हीरे थे; किन्तु आचार्य वृद्धवादी का महत्व इसलिये सविशेष है कि उन्होंने इस पर जैन दर्शन के पासे डाले और उसकी आभा को सविशेष आलोकित किया।

सिद्धसेन — दिवाकर : आचार्य वृद्धवादी ने विक्रम राजा की सभा के नवरत्न में से जिस रत्न पर जैन दर्शन के पासे डाले वे सिद्धसेन दिवाकर जाति के ब्राह्मण थे। वे उज्जैनी के थे। उज्जैनी में उस समय स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य‡ राजा थे। उनके मन्त्री (कहीं पर पुरोहित भी कहा है) देवऋषि थे; उनकी पत्नी का नाम देवसिका था। सिद्धसेन उनके पुत्र थे।

बचपन से ही सिद्धसेन प्रतिभावान थे। वेद-उपनिषद के वे अच्छे ज्ञाता हो गये। संस्कृत भाषा और काव्य रचना पर उनका अद्भुत प्रभाव था। साथ ही दर्शन और शास्त्रों के भी वे पंडित थे। राजा और प्रजा दोनों ने इनकी बुद्धि की प्रतिभा को स्वीकार किया था और वे राजा विक्रम की सभा के नवरत्नों में से एक स्वीकार कर लिये गये। ज्योतिर्विदाभरण के एक श्लोक में क्षपणक-श्रमण इनके लिये प्रयोग किया माना गया है।

शास्त्रार्थ करके सारे पंडितों को जीतने की धुन में वे जैन आचार्य वृद्धवादी से हार गये और जैन श्रमण बने। जैसे-जैसे जैन तत्त्व ज्ञान पढ़ते गये उन्हें आत्म और अध्यात्म ज्ञान के नये-नये दर्शन स्पष्ट होते गये। वे उसके प्रचार कार्य में जुट गये।

---

‡ बहुत से संशोधक सिद्धसेन को वी० सं० की सातवीं सदी में यानी विक्रम की ३२१ सदी के प्रारम्भ में हुए मानते हैं। नागपुर बृहद्गच्छ पट्टावली के आधार पर एक आचार्य वृद्धवादी नाम के आचार्य का समय वी० सं० ७०० माना गया है, उनसे वे मिलते हैं। मगर उसी पट्टावली में आचार्य समन्तभद्र हुए। उनका वी० सं० ६७५ तक काल बताया जाता है जिन पर सिद्धसेन का प्रभाव पड़ा था। अतः यह युक्तिसंगत नहीं लगता। बहुत से उनका समय विक्रम की ४-५ सदी से और समन्तभद्र का काल वि० सं० की ६-७ सदी से बिठाते हैं। प्रथम तो उस समय का कोई राजा अपने को वीर विक्रम कहकर उज्जैनी पर बैठा हो यह उपलब्ध नहीं है। वैसे दिगम्बर मत की उत्तर भारत में उत्पत्ति वी० सं० ६०९ में हुई और दिगम्बराचार्य समन्तभद्र तत्पश्चात् ही हुए। कुछ वि० सं० ६-७वीं सदी का समय समन्तभद्र के लिये बिठाते हैं जब कि वह समय दिगम्बर श्वेताम्बर के मत भेद की उग्रता का था। तब दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र, श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित हुए हों ऐसा कम शक्य है।

आचार्य मानतुंग : बृहत्गच्छ पट्टावली में आचार्य मानतुंग का शासन काल आता हैं करीब वी० सं० ७५१ के बाद का। उन्हें कवि बाण और मयूर का समकालीन मानते हैं।

आचार्य मानतुंग ने जैन धर्म को भक्ति प्रेरित अद्भुत "भक्तामर स्तोत्र" की भेट की जिसका स्मरण करते आज भी लोग आत्म विभोर हो जाते हैं। ये आशुकवि थे।

ऐसा माना जाता है कि जब जैन संघ के शासन को चुनौती आई तब आचार्य मानतुंग ने ऐसे कारागार में बन्द होना स्वीकार किया जिसके ४८ द्वार थे।

उन्होंने उपवास व्रत लिया और फिर भाव-विभोर होकर उनके कण्ठ से भक्तामर के एक-एक श्लोक निकलते गये और एक-एक द्वार खुलते गये और अन्त में वे बाहर आये तब राजा और दरबारी गण सभी आश्चर्य चकित हो गये। ‡

जिन्होंने जैन शासन को चुनौती दी थी वे भी शर्मिंदा हुए और उन्होंने जैन शासन की महत्ता का स्वीकार किया। उन्होंने इस प्रकार धर्म प्रभाव बढ़ाया।

८४ गच्छों का प्रारम्भ :

दशपुर वाचना द्वारा हालाँकि पुनः प्रयत्न किया गया कि जो श्रुत ज्ञान उपलब्ध है उसे व्यवस्थित और मान्य किया जाय। उस वाचना में, आचार्य नंदिल, आचार्य वज्रसेन और आचार्य रक्षित भी सम्मिलित थे। सूत्रों को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न करने की कल्पना भी उस समय नहीं थी। फलतः ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि जो श्रुत ज्ञान उस समय की वाचना में पुनः धारित किया गया उसको आगे के श्रमणों के कई कारणों से मान्य नहीं किया।

‡ कई जगह ऐसी भी किंवदन्ती है कि उनके हाथ-पैर में बेडी व जंजीरें भी बन्धी थीं। वे भी अन्तिम चरण के उच्चारण के साथ टूट गई थीं। चमत्कार की बातें अलग रखें, तो भी काव्य, कल्पना और साहित्य की दृष्टि से "भक्तामर" काव्य संस्कृत भाषा की महान रचना है, यह निर्विवाद है।
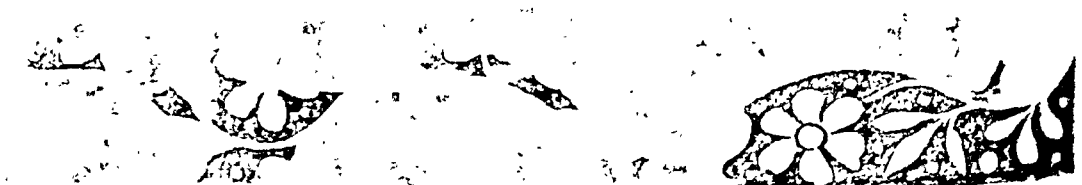
उनकी ज्ञानी आत्मा अति विकसित हो चुकी थी। वे चाहते तो विद्रोह कर सकते थे; किन्तु उन्होंने संघ-आज्ञा सिरोधार्य की और बारह वर्ष तक वे संघ-बाहर रहे। साथ में उस काल में भी उन्होंने लगातार जैन धर्म के प्रचार निमित्त साहित्य निर्माण चालू ही रखा। उन्होंने सामान्य लोग समझ सके एतदर्थ "सन्मति तर्क प्रकरण" की रचना प्राकृत में की। इसके द्वारा उन्होंने भारतीय सभी दर्शनों को अपनी-अपनी जगह अनेकांतवाद से प्रतिष्ठित कर अनेकांतवाद का मूल्य दार्शनिक जगत को दिखा कर जैन दर्शन की विश्व-विजयिनी सिद्धि को प्रगट किया।

उन्हें जैन धर्म और दर्शन पर ऐसी अटल श्रद्धा थी कि बारह वर्ष तक संघ बाहर रहने के "पारांचित्त" प्रायश्चित्त समय, वे लगातार जैन धर्म का प्रचार करते रहे। उनकी सत्य ज्ञानी आत्मा और सरल स्वभाव, दोनों के कारण बारह वर्ष तक संघ बाहिर रहकर, अनेकों को जैन दर्शन दी प्रतीति करा कर, "सन्मति तर्क प्रकरण" लिख कर उन्होंने अपनी अपूर्व आस्था का परिचय दिया। उसमें भी "द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (बत्तीश-बत्तीशी) में उनका स्वपक्ष मंडन और परपक्ष खंडन जिस बुद्धिमत्ता से किया वह विद्वानों पर अपनी सत्यता की छाप डाले बिना नहीं रहता। तार्किक गण उनकी तर्क शैली पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहते; इतना ही नहीं; कवि हृदय पर वे अपने काव्य की छाप डाल कर ही रहते हैं।

बारह वर्ष पश्चात् श्रीसंघ ने उन्हें पुनः संघ में लेकर पहले से भी अधिक सत्कार किया और श्रीसंघ भी क्यों नहीं करता? क्योंकि उन्होंने अवंति और दक्षिण पथ में जैन धर्म का प्रचार संघ बाहर रह कर भी किया था।

"सन्मति तर्क प्रकरण" की महानता प्रथम जैन धर्म शास्त्र के रूप में आगे के जैन आचार्यों ने स्वीकार की; इतना ही नहीं, उसे अभूत पूर्व भी कहा। तर्कवेत्ता अभयदेव सूरि ने उस पर पच्चीस हजार श्लोक की विस्तृत और प्रौढ़ टीका की। उनके "न्यायावतार"

आचार्य ने कहा :—"मैंने तो तुम्हें किसी राजा को प्रति बोधित करने के लिये कहा था।"

इस समय राजा वीर विक्रम के पास यह उज्जैनी गये। वहाँ पर बाहर के शिवालय में उन्होंने बड़े प्रभावक ढँग से 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' की रचना की। आशु कवि तो थे ही; शब्दों का लालित्य इनका अपना था। काव्य में इस नये वैराग्य-त्याग के रस का अद्‌भुत संयोजन देकर राजा, राज-सभा और उपस्थित नवरत्न गण मुग्ध हो गये।

राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें राज-सभा में स्थान देना चाहा; कोटि मुद्रा से सन्मान करना चाहा। सिद्धसेन ने कहा :—"आप मेरा सन्मान जिन शासन स्वीकार करके करें!"

विक्रम ने तथास्तु कहा। इस प्रकार राजा को प्रभावित करने की बात सिद्ध हो गई। उन्हें संघ में पुनः लिया गया।[1]

उन्होंने आगमों की व्याख्या 'सूत्र परिज्ञा' के रूप में शुरू की। जो ज्ञान केवल श्रुत परम्परा में आगम-वाक्य के रूप में पड़ा था, उसे लोक सहज बनाना शुरू किया। उन्होंने इतने सारे व्याख्या-ग्रन्थों का निर्माण किया कि उन्हें लोक 'ग्रन्थ-हस्ती' कहने लगे। आचारांग के 'शास्त्र परिज्ञा' अध्ययन की व्याख्या लिखने में इनका उल्लेख गन्ध हस्ती के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

आचार्य वृद्धवादी के बाद सिद्धसेन उसी शाखा में आचार्य बने होंगे ऐसी अधिक सम्भावना है; क्योंकि पट्टावली में पट्टधर आचार्य के रूप में वृद्धवादी और इनका नाम नहीं मिलता। आचार्य वृद्धवादी को अवश्य आचार्य स्कंदिल (शांडिल्य-वीरात् ४०६) का

---

[1] ऐसा माना जाता है कि पद्मावती के आग्रह से वे उज्जैनी के महाकालेश्वर मन्दिर में स्तुति करने गये और शिवलिंग कल्याण मन्दिर को सहन न कर सका। वह फट कर टुकड़े टुकड़ा हो गया। यह चमत्कार देख कर विक्रम राजा ने सिद्धसेन के चरणों में मस्तक झुकाया। इस प्रकार की कथाओं में धर्म को चमत्कारिक करने की बात सहज प्रगट होती है। इतना स्पष्ट था कि विक्रम राजा इनके कारण जैन धर्म से प्रभावित हुआ था या इन्होंने उज्जैन की पंडित सभा में विजय प्राप्त की थी।

कल्प सूत्र	बृहत्गच्छ	माथुरी - क्रम	वालभी - क्रम
आर्य भद्र	देवसूरि	नागार्जुन	ब्रह्मदीपकसिंह
आर्य नक्षत्र	मानतुंगसूरि	भूतदिन्न	नागार्जुन
आर्य रक्षित	वीरसूरि	लोहित	भूतदिन्न
नागस्वामी	देवानन्दसूरि	दुष्य गणि	कालकाचार्य
जेहिल विष्णू	विक्रमसूरि	....	....
साढिक *	नरसिंहसूरि	....	....
देवर्धि क्षमा गणि	देवर्धि क्षमा गणि	देवर्धि क्षमा श्रमण	देवर्धि क्षमा श्रमण

यहाँ पर जो प्रथम पट्टावली दी है उसे कई लोग देवर्धि क्षमागणि की गुरु-आवली बताते हैं और उसमें जेहिल एवं विष्णू को अलग बताते हैं; पश्चात् आर्य कालक, आर्य सम्पपालित, आर्य भद्र, आर्य वृद्ध, आर्य संघ पालित, आर्य हस्ती, आर्य धर्म, आर्य शांडिल्य एवं देवर्धि क्षमागणि तक क्रमशः गुरु परम्परा बताते हैं।

ऐसा मान सकते हैं कि आचार्य नागार्जुन जिनका शासन काल वी० सं० ८७५ तक रहा और जिनकी वल्लभी वाचना को पश्चिमी भारत के सभी जैन सन्तों ने माना, उनके कालधर्म प्राप्त होने पर वी० सं० ८८२ में सभी बिखरने शुरू हुए। सभी ने अपना-अपना श्रुत ज्ञान सही बताने का प्रयत्न किया। करीब सौ वर्ष पश्चात् संघ की छिन्न-भिन्न स्थिति और श्रुत ज्ञान की स्थिति में संघ एकता का महान प्रयत्न हुआ देवर्धि क्षमा गणि के नेतृत्व में हुआ। विस्मृत होनेवाली लिपिबद्ध प्रमाण भूत आगम के नये युग का प्रारम्भ वी० सं० ९८० में हुआ। यह पुरानी प्रणालिका छोड़ कर ज्ञान प्रचार के नये साधन अपनाने की नई क्रांति की दिशा थी।

●

---

* आगे पट्टावली में इनके आगे के आचार्यों के नाम दिये गये हैं। मगर कई साढिक के बाद देवर्धिगणि को मानते हैं। कई साढिक के बदले आचार्य कालक (द्वितीय) को लाके पूर्ण करते हैं।
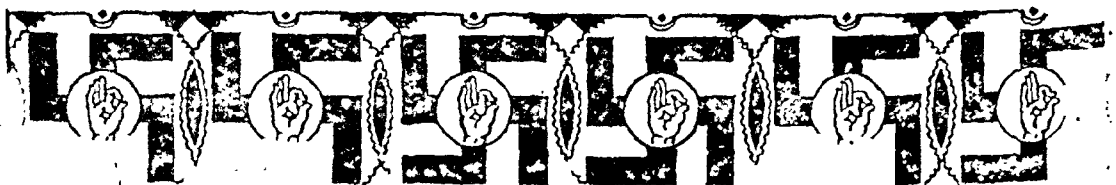
एक अन्य गिनती के अनुसार* कालकाचार्यों की गिनती में आचार्य भद्रबाहु का उल्लेख भद्रगुप्त के रूप में इस प्रकार लिया जाता है और उनकी गणना आचार्य के रूप में वी०. सं० ४९४ से ५३३ तक की जाती है :—

आचार्य का नाम	शासन वर्ष	कालधर्म वी० सं०
आचार्य स्थूलिभद्र	४५	२१५
आचार्य महागिरि	३०	२४५
आचार्य सुहस्ति	४६	१९१
आचार्य गुणसुन्दर	४४	३३५
आचार्य कालक (प्रथम)	४१	३७६
आचार्य शांडिल्य	३८	४१४
आचार्य रेवतीमित्र	३६	४५०
आचार्य मंगु	२०	४७०
आचार्य धर्म	२४	४९४
आचार्य भद्रगुप्त	३९	५३३

इसके बाद की आचार्य परम्परा इस प्रकार रखी गई है :—

आचार्य गुप्त	१५	५४८
आचार्य वज्र	३६	५८४
आचार्य रक्षित	१३	५९७

इस परम्परा में आचार्य वज्र को लिया गया है और उन्हें आचार्य गुप्त के बाद बताया गया है। कहीं पर उनको आचार्य दिन्न के बाद बताया है। वैसे आचार्य सिंहगिरि के बाद वे पाट पर आये यही अधिक शक्य है।

* श्री कल्याण विजयजी गणि की "वीर संवत् और राज गणना" एवं "स्थविर गणना तथा निर्थोगाली पइन्ना" के अनुसार।

पुनः सारे जैन श्रमण मिले यह अत्यन्त आवश्यक हो रहा था; किन्तु उत्तर के श्रमण विचरण करके दक्षिण नहीं जा सकते थे और नहीं दक्षिण-पश्चिम के श्रमण उत्तर में।

उत्तरापथ में आर्य स्कन्दिल के तत्त्वावधान में सभी सन्त मिले और उन्होंने तय किया कि युग की माँग को स्वीकारते हुए जैसे अन्य धर्मी (बौद्ध और शैव) अपने ग्रन्थों को लेख-पत्र के रूप में रखते हैं वैसे हम भी करें।

आचार्य स्कन्दिल के तत्त्वावधान में यह पुस्तकारूढ करने का महान कार्य प्रारम्भ हुआ। इसमें कितने वर्ष लगे और कितने श्रमणों का सहयोग रहा यह उपलब्ध नहीं हैं; किन्तु महान कार्य का महान श्री गणेश हुआ। यह स्कंदिली वाचना कहलाई।

इसी प्रकार पश्चिम-दक्षिण पथ में विचरण करनेवाले श्रमणों ने जब यह बात सुनी तो उन्होंने भी श्रुत आगम ज्ञान की वाचना आचार्य नागार्जुन के तत्त्वावधान में वलभी में की। इसे वलभी (सौराष्ट्र) वाचना कहा गया।

स्कन्दिली वाचना का काल वी० सं० के बाद ८०० के वाद का माना जाता है और नागार्जुन की वलभी वाचना की कालगणना उसके अनन्तर मानी जाती है। आर्य स्कन्दिल व नागार्जुन पुनः कभी नहीं मिले यह अत्यन्त स्पष्ट था और वलभी में पुनः सारा श्रमण संघ ९८० में [1] आचार्य देवर्धि क्षमा गणि के नेतृत्व में मिला उस समय दोनों वाचनायें करीब १५० वर्ष से उपर प्रचलित हो गई थीं। पाठ भेद होने पर भी वे मौलिक थीं और प्रामाणिक थीं।

किन्तु वीर निर्माण के ५०० वर्ष बाद विदेशी आक्रमण बन्द होने लगे। हूण जाति के राजा लोगों ने भी शक जाति की तरह इसी देश में स्थिर होकर वस जाने का निर्णय किया। विहार सुलभ होने लगा। अन्य धर्मों ने राज्यों पर प्रभाव डालना शुरू कर दिया था और अपने धर्म तत्त्वों के प्रतिपादन में प्राचीनता के आधार रूप अपने लेखित ग्रन्थ प्रस्तुत करते थे। जैनियों के पास दोनों प्रकार की वाचना के ग्रन्थ अपनी प्राचीनता लिये थे;

---

1 माथुरी वाचनावाले वी० सं० ९८० और वलभी वाचनावाले उसे वी० सं० ९९३ में हुई बताते हैं। तदनुसार १३ वर्ष का अन्तर बताया जाता है।

	नाम	ज्ञान की श्रेणी	शासन वर्ष	वी० सं० तक
१९.	धर्मसेन	दशपूर्वधारी	१४ (१६)	३४३ (४५)
२०.	नक्षत्र	ग्यारह अंगधारी	१८	३६१
२१.	जयपाल	,,	२०	३८१
२२.	पांडव	,,	३९	४२०
२३.	ध्रुवसेन	,,	१४	४३४
२४.	कंस	,,	३२	४६६
२५.	सुभद्र	दश, नव, आठ अंगधारी	६	४७२
२६.	यशोभद्र	,,	१८	४९०
२७.	भद्रबाहु (द्वितीय)	,,	२३	५१३
२८.	लोहाचार्य	,,	५२ (५०)	५६५
२९.	अर्हत्वलि	एक अंग (आचारांग) धारी	२८	५९३
३०.	माघनन्दि	,,	२१	६१४
३१.	धरसेन	,,	१९	६३३
३२.	पुष्पदन्त	,,	३०	६६३
३३.	भूतवलि	,,	२०	६८३

इसमें २७ वीं पाट के आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) या भद्रगुप्त हैं। तदनुसार पूर्व की काल गणना में १४ वें धर्मसेन का शासन काल १६ वर्ष अपवाद में मान लिया जाय तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के मान्य भद्रबाहु का यही ४९२ - ४९४ बैठता है। दिगम्बर मतानुसार लोहाचार्य और श्वेताम्बर मतानुसार आचार्य गुप्त के बाद आचार्य वज्र (लोह पुरुष सा) एक नाम प्रतीत होते हैं। आचार्य गुप्त के शासन काल के १५ वर्ष और आचार्य वज्र के ३६ वर्ष मिलायें जाँय तो ५१ वर्ष का शासन काल बैठता है, जो लोहाचार्य का माना गया गया है।

उस समय पुनः भयंकर अकाल पड़ा और श्रुत ज्ञानधारी शेष बड़े-बड़े आचार्यों के हृदय में हुआ कि क्या इसी तरह सारा ज्ञान अकाल के कारण उत्सर्ग मार्ग पर चलनेवाले श्रमणों के साथ समाप्त हो जायेगा ?

ऐसा कहा जाता है कि एक बार आचार्य देवर्धि कहीं से सूँठ का एक टुकड़ा दवा के लिये ले आये। कार्य हो जाने के बाद उन्होंने उसे कान पर रखा और शाम को वापस करना भूल गये। पुनः याद आया तब उन्होंने सोचा कि अब कुछ बुद्धि क्षीण होनेवाली है और जो श्रुत सूत्र आगम हैं वे सुनने सुनाने से याद नहीं रहेंगे।

अतः उन्होंने अन्य सन्तों से यह बात कही और सभी ने देश काल के अनुसार सम्मति दी कि जो श्रुत ज्ञान बिखरा पड़ा है, लिखित पाठ भी अलग-अलग हैं उनका संकलन किया जाय।

उन्होंने उत्तर पथ और दक्षिण पथ के सभी सम्प्रदायों और आचार्यों के आगे युग की इस माँग को आगे की। समय की इस माँग का सभी ने स्वागत किया और एक महान कार्य का श्रीगणेश हुआ।

उत्तर पथ और दक्षिण पथ के सभी आचार्य मिलें; अपना-अपना श्रुत ज्ञान प्रस्तुत करें और आगम ज्ञान की एकता व सुरक्षा भविष्य के लिये मार्ग-दर्शक बनी रहे एतदर्थ एक विराट जैन श्रमण सम्मेलन बुलाने की आवश्यकता थी। कार्य में अतूट धैर्य और अपार ज्ञान के प्रतिभाशील व्यक्ति की आवश्यकता थी।

उस समय अलग-अलग ५०० से उपर जैनाचार्य थे। इसे समय की माँग ही कहा जाना चाहिये कि उस समय के जैन समाज के हृदय में एक बात बड़े ज़ोर से उठी थी कि हमारा श्रुत आगम साहित्य एक सूत्र में बँधे और भविष्य के लिये सुरक्षित रहे।

श्रीसंघ ने यह कार्य उस समय के युग प्रधान आचार्य देवर्धि को सौंपा। अकाल अभी पूर्ण हुआ था और शेष सारे बचे हुए साधुओं को वलभीपुर में आ करके इस पवित्र धर्म कार्य में सहयोग देने का अनुरोध किया।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों करते हैं। दिगम्बर मतानुसार "जय धवलाकार" के रचयिता नागहस्ति हैं। नन्दीसूत्र पट्टावली के अनुसार आर्य मंगु के बाद आर्य नन्दिल आते हैं और उनके शिष्य नागहस्ति थे। इनका शासन काल वी० सं० ६४४ तक माना गया है। तदनुसार स्पष्टतः श्वेताम्बर, दिगम्बर भेदों ने ज़ोर नहीं पकड़ा था यह सम्भव है।

आचार्य मंगु को कुछ और पट्टावली में पट्टधर मान कर उनका शासन काल २० वर्ष तक अर्थात् वी० सं० ४७० का मानते हैं; यह शक्य नहीं है। आचार्य समुद्र के बाद वी० सं० ५०८ के बाद उन्हें मान लिया जाय तो आचार्य नन्दिल जो कि वाचनाचार्य के नाम से सुप्रसिद्ध हैं उनके सान्निध्य में और उस समय एक अन्य पट्टावली के अनुसार आचार्य रक्षित के साथ, आचार्य वज्रसेन की दशपुर (मन्दसौर मालवा) में जो दशपुर वाचना वी० सं० ५९२ में हुई मानी जाती है, उसकी गणना बराबर बैठती है। तदनुसार आचार्य नन्दिल का शासन काल वी० सं० ५९२ तक या उसके बाद तक रहा हो यह मान सकते हैं। वैसे इनका शासन काल वी० सं० ५०८ से ५४८ माना गया है और बाद में आचार्य नागहस्ति का शासन काल ६४४ वर्ष तक यानी ९६ वर्ष तक माना गया है। यहाँ पर उनके दीर्घ शासन काल में कहीं कुछ संशोधन आवश्यक है।

जैसे आचार्य दत्त के बाद पट्टावली के आधार पर आर्य सिंहगिरि को मान लेने से आचार्य इन्द्रदत्त के बाद वी० सं० ४५६ से आचार्य वज्र के शासन काल वी० सं० ५८४ के बीच की कड़ी जुड़ती है, वैसे आर्य मंगु को समुद्रस्वामी के बाद मानने से वी० सं० ५०८ से आचार्य नन्दिल तक के वी० सं० ५९२ के आसपास की कड़ी बैठ जाती है।

आचार्य वज्र : आचार्य वज्र का जन्म वी० सं० ४९६ में हुआ था। उनके पिता धनगिरि और मामा समित दोनों आचार्य सिंहगिरि के पास दीक्षित हुए थे। उस समय धनगिरि की पत्नी सुनन्दा गर्भवती थी और बाद में उसके यहाँ इस पुत्र रत्न का जन्म हुआ। जब वह छः मास का हुआ तो आर्य धनगिरि गोचरी के लिये पधारे तो सुनन्दा ने
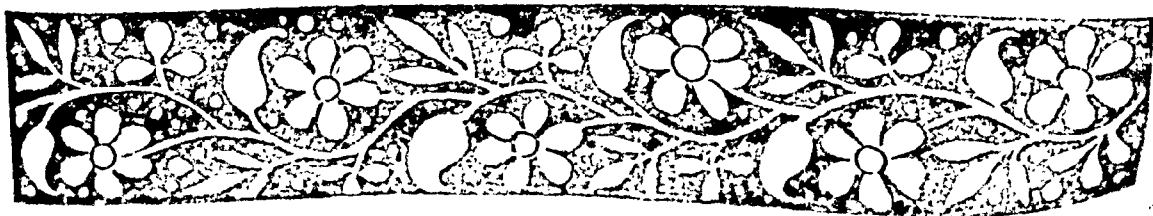
उस समय पुनः भयंकर अकाल पड़ा और श्रुत ज्ञानधारी शेष बड़े-बड़े आचार्यों के हृदय में हुआ कि क्या इसी तरह सारा ज्ञान अकाल के कारण उत्सर्ग मार्ग पर चलनेवाले श्रमणों के साथ समाप्त हो जायेगा ?

ऐसा कहा जाता है कि एक बार आचार्य देवर्षि कहीं से सूँठ का एक टुकड़ा दवा के लिये ले आये। कार्य हो जाने के बाद उन्होंने उसे कान पर रखा और ज्ञान को वापस करना भूल गये। पुनः याद आया तब उन्होंने सोचा कि अब कुछ बुद्धि क्षीण होनेवाली है और जो श्रुत सूत्र आगम हैं वे सुनने सुनाने से याद नहीं रहेंगे।

अतः उन्होंने अन्य सन्तों से यह बात कही और सभी ने देश काल के अनुसार सम्मति दी कि जो श्रुत ज्ञान बिखरा पड़ा है, लिखित पाठ भी अलग-अलग हैं उनका संकलन किया जाय।

उन्होंने उत्तर पथ और दक्षिण पथ के सभी सम्प्रदायों और आचार्यों के आगे युग की इस माँग को आगे की। समय की इस माँग का सभी ने स्वागत किया और एक महान कार्य का श्रीगणेश हुआ।

उत्तर पथ और दक्षिण पथ के सभी आचार्य मिलें; अपना-अपना श्रुत ज्ञान प्रस्तुत करें और आगम ज्ञान की एकता व सुरक्षा भविष्य के लिये मार्ग-दर्शक बनी रहे एतदर्थ एक विराट जैन श्रमण सम्मेलन बुलाने की आवश्यकता थी। कार्य में अटूट धैर्य और अपार ज्ञान के प्रतिभाशील व्यक्ति की आवश्यकता थी।

उस समय अलग-अलग ५०० से उपर जैनाचार्य थे। इसे समय की माँग ही कहा जाना चाहिये कि उस समय के जैन समाज के हृदय में एक बात बड़े ज़ोर से उठी थी कि हमारा श्रुत आगम साहित्य एक सूत्र में बँधे और भविष्य के लिये सुरक्षित रहे।

श्रीसंघ ने यह कार्य उस समय के युग प्रधान आचार्य देवर्षि को सौंपा। अकाल अभी पूर्ण हुआ था और शेष सारे बचे हुए साधुओं को वलभीपुर में आ करके इस पवित्र धर्म कार्य में सहयोग देने का अनुरोध किया।

के धननाम श्रेष्टि की पुत्री रुक्मिणि आप पर मोहित हो गई। आपको उसके पिता ने कोटि स्वर्ण मुद्रा की आशा दिखाई पर आप चलायमान नहीं हुए और उसे प्रतिबोध दिया और दीक्षा देके साध्वी बनाई।‡

वी० सं० ५४८ में आपको आचार्य पद दिया गया। उनके समय १२ वर्ष का दुकाल पड़ा। संघ को पुरी नगरी वे अपनी विद्या के बल से ले गये। वहाँ पर सुकाल रहने से संघ शांति हुई।

पुरी नगरी में वहाँ के राजा को आप ने प्रतिबोध दिया। कहते हैं कि आप ने दक्षिण में विहार किया। वहाँ पर आप ने धर्म प्रचार किया। अन्त में रथावर्त पर्वत पर अनशन करके आप वी० सं० ५८४ में कालधर्म को प्राप्त हुए।

आपके बाद कोई दशपूर्वधारी नहीं हुआ। साथ ही वज्रऋषभ नाराच संहनन का भी विच्छेद हुआ। आपके नाम से ही वज्र शाखा का प्रारम्भ हुआ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आचार्य भद्रबाहु (२) के बाद लोहाचार्य हुए ऐसा मानते हैं। नाम के अनुसार वज्र और लोहा समान से — कठोर भाव के द्योतक हैं। वहाँ पर भी एक दिगम्बर मतानुसार अंग-ज्ञान का और अन्य दिगम्बर मतानुसार ग्यारहांगी ज्ञान का विच्छेद हो गया। श्वेताम्बर परम्परा में भी दशपूर्व ज्ञान का लोप उनके साथ हुआ ऐसा माना जाता है। दोनों परम्परा में उन आचार्यों तक एक विशेष ज्ञान का उल्लेख मिलता है; किन्तु उसके बाद जो भीषण अकाल पड़ा और अनेक सन्तों ने संथारा स्वीकार किया उसके बाद मतमतांतर बढ़ गये हों ऐसा शक्य है।

---

‡ आचार्य वज्र की ये जीवन कथायें एक ओर "पाद लिप्त" सूरि से मिलती हैं जिन्हें भी आकाश गामिनी विद्या प्राप्त थी और जो बाल वय में दीक्षित हुए थे — दूसरी ओर आचार्य स्थूलिभद्र से मिलती हैं। स्थूलिभद्र भद्रबाहु के पास पढ़ते हैं वैसे वज्र भद्रगुप्त के पास — दोनों दशपूर्वधारी बने और सामान्यतः दोनों ने अपने पर अनुराग था ऐसी नारियों का धर्म से कल्याण किया।

पाठों के लिये प्रमुख माना और आचार्य कालक ने वल्भी वाचना के पाठों के लिये प्रतिनिधित्व किया।[‡]

उस समय के बड़े-बड़े सन्तों में शिवशर्मा सूरि (वि० सं० ५००) चन्द्रर्षि महत्तर, देववाचक आचार्य, आचार्य धनेश्वर, आचार्य कालक आदि थे। ५०० अलग, आचार्य थे। उन सभी ने आचार्य देवर्धि को इस वाचना का प्रधान पद दिया।

आचार्य देवर्धि ने जहाँ-जहाँ श्रुत आगम के समान पाठ थे वहाँ सामान्यतः एक पाठ स्वीकार किया और जहाँ-जहाँ पाठभेद अलग था और स्वीकार्य नहीं हो पाया वहाँ उन्होंने "नागार्जुनीय पाठ" कहके अलग पाठ दिया।

सतत और अविरत प्रयत्नों के बाद यह भगीरथ कार्य पूर्ण हुआ। इसमें सर्व प्रथम तो दोनों पाठों को सुनना, मिलाना और जो अलग हो उसे अलग टिप्पण देकर लिखवाना, बाद में उसकी प्रतिलिपि करना और उस प्रतिलिपि को भी पढ़कर स्वीकृत कराना, पश्चात् पुनः प्रथम दो वाचनाओं के संघ के लिये दो प्रतिलिपि कराना आदि सारे कार्य, अत्यन्त धैर्य, अदम्य उत्साह और केवल जिन शासन को सुदृढ़ और एक बनाये रखने के मनोबल के सिवाय अशक्य थे।

वल्भी वाचना (द्वितीय) पूर्ण हुई। उसमें उस समय के मान्य सारे श्रुत आगम को लिपिबद्ध किये गये। संघ एकता बनाये रखने के लिये जो महान कार्य हुआ उसका मूल्यांकन उस समय भी सभी ने किया होगा ही; किन्तु आज जैन समाज के मौलिक श्रुत आगम साहित्य के प्रतिनिधि के रूप में वह स्थिर है। उस समय यह कार्य नहीं होता तो मूल आगम वाणी जो प्राप्त है वह प्राप्त नहीं होती।

आचार्य देवर्धि को पहले किसी आचार्य ने क्षमागणि की उपाधि दी थी। वह अब सभी ने स्वीकृत की। सभी उन्हें आचार्य देवर्धि क्षमागणि या क्षमा श्रमण कहने लगे।

---

‡ हालाँकि माना जाता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय को स्पष्टतः अलग हुए ३०० वर्ष से उपर होने आये थे, उनका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था; नहीं उनके अस्तित्व का उल्लेख भी आता है।

"हाँ, बापजी! और मेरे कुल का नामोनिशान न रहता....!" सेठ बोले।

"तो, अब तुम्हारे कुल का नाम जिन शासन से बना रहे एतदर्थ मैं उन चारों को तुम से माँगता हूँ!" आचार्यश्री बोले।

जिनदत्त सेठ पहले तो चकराया; लेकिन आचार्यश्री ने समझाया कि उनके चार पुत्र बड़े सुप्रसिद्ध होंगे और प्रत्येक के २१ शिष्य होंगे और वे धर्म का प्रचार पूरे भारत वर्ष में करेंगे। इस पर से सेठ मान गये और उन्होंने अपने चारों पुत्र निवृत्ति, चन्द्र, नागेन्द्र और विद्याधर को आचार्यश्री को सौंप दिया। आचार्यश्री ने कहा था वैसे प्रत्येक के २१ शिष्य हुए और आगे चल कर उन्होंने अपना-अपना गच्छ बनाया।[1]

उस समय पड़े भयंकर दुकाल का चितार तो इससे प्राप्त हो सकता है कि ७८४ साधु अनशन पूर्वक कालधर्म को प्राप्त हुए। अतः धर्म प्रचार निमित्त अलग-अलग अधिक से अधिक गच्छ (टोले) बन कर विचरण करना एवं धर्म प्रचार करने के लिये आचार्य वज्रसेन ने उन्हें उचित समझा हो। लेकिन आगे चल कर इन गच्छों में एकता नहीं रहने पाई; एवं ज्ञान बिखरा बिखरा रहा।

एतदर्थ आचार्य वज्रसेन ने उस समय के सुप्रसिद्ध महा पंडित आचार्य आर्य रक्षित सूरि और वाचनाचार्य आर्य नंदिल आदि के सान्निध्य में दशपुर (मन्दसौर-मालवा) में वी० सं० ५९२ में आगम वाचना की और सभी ने कंठस्थ श्रुत ज्ञान को मान्य किया।

आचार्य वज्रसेन का जन्म वी० सं० ४९२[2] में, दीक्षा ५०१ में, आचार्य पद पर वी० सं० ५८४ में विराजे और वी० सं० ६२० में कालधर्म प्राप्त हुए।

---

1 ८४ गच्छों की उत्पत्ति वहाँ से हुई ऐसा माना जाता है।

2 आचार्य वज्रसेन को आचार्य वज्र के शिष्य रूप में दीक्षित होना बताया जाता है। यहाँ पर वी० सं० के आंकडों में अन्तर आता है; क्योंकि आचार्य वज्र वी० सं० ५०४ में दीक्षित हुए। अतः आचार्य वज्रसेन का उनके पास वी० सं० ५०१ में दीक्षा लें इसमें अवश्य कहीं चूक है। कई उनका आचार्य पद वी० सं० ६१६ मानते हैं।

इन १३ वर्षों के अन्तर का कारण यही था कि दक्षिण पथ के संघ ने (वालभी) एक युग प्रधान आर्य गुप्त का १५ वर्ष का और माना और एक युग प्रधान के शासन-काल में ४१ वर्ष के स्थान पर ३९ वर्ष ही माने। इसका माथुरी वाचनावालों को पता नहीं था। आर्य स्थूलिभद्र के बाद वे इस प्रकार पट्टावली मानते थे :—

(९) आर्य महागिरि (१०) सुहस्ती (११) कालकाचार्य (१२) रेवती मित्र (१३) आर्य समुद्र (१४) आर्य मंगु (१५) आर्य धर्म (१६) भद्रगुप्त (१७) आर्य गुप्त (१८) आर्य वज्र (१९) आर्य रक्षित (२०) पुष्प मित्र (२१) वज्रसेन (२२) नागहस्ति (२३) रेवती मित्र (२४) ब्रह्म दीपक सिंह सूरि (२५) नागार्जुन (२६) भूतदिन्न (२७) कालकाचार्य।

माथुरी वाचनावालों ने आर्य स्थूलिभद्र के बाद इस प्रकार पट्टावली में क्रम बिठाया :—

(९) आर्य महागिरि (१०) सुहस्ती (११) बलिस्सह (१२) स्वाति (१३) श्यामाचार्य (१४) शांडिल्य (१५) आर्य समुद्र (१६) आर्य मंगु (१७) नन्दिल (१८) नागहस्ति (१९) रेवती नक्षत्र (२०) ब्रह्मदीपकसिंह (२१) स्कन्दिलाचार्य (२२) हिमवन्त (२३) नागार्जुन वाचक (२४) भूतदिन्न (२४) लोहित्य (२६) दूष्यगणि (२७) देवर्धिगणि

पट्टावली के सम्बन्ध में दोनों का यह अन्तर चलता रहा और वालभी वाचना के प्रधान हालाँकि देवर्धिगणि रहे; किन्तु आगे जाकर हो सकता है कि वालभी वाचनावालों ने युग प्रधान के रूप में देवर्धिगणि के बदले कालकाचार्य को स्वीकार किया और बहुत सी पट्टावलियों में देवर्धिगणि के शासन काल के बदले कालकाचार्य का नाम आता है।

जैन समाज को प्रथम बार लिखित रूप में प्रमाणित श्रुत मौलिक आगम साहित्य मिला और वह आज तक भी यथावत् सुरक्षित है। उस महान कार्य में जिन-जिन बड़े आचार्यों ने योग दिया उन्होंने जैन समाज के लिये हमेशा का बड़ा उपकार किया। उन्हें श्रद्धा के साथ कोटिशः नमन है।

ये सात पात्र निर्योग के नाम से तय हुए और ८. रजोहरण ९. मुख वस्त्रिका १०-११-१२. कल्पत्रिक (२ सूती वस्त्र १ ऊनी) १३. चोलपट्टक १४. मात्रक (छोटा पात्र विशेष) ये सात प्रकार के उपकरण व्यवहार में लेने के लिये रखे गये। उनके अतिरिक्त दण्ड, उत्तर पट्टकादि एवं कतिपय औपग्रहिक उपकरणों को रखने की आज्ञा दी गई।

आचार्य आर्य रक्षितजी के काल में दो महत्व पूर्ण कार्य हुए। एक तो अनुयोगों में आगमों का विभाजन और दशपुर वाचना। दोनों में उनका सक्रिय सहयोग रहा था।

उनके समय ही गोष्ठामहिल ने "अबद्धिक मत" (आत्मा और कर्म का बद्ध होना कुच कंचुक न्याय है) की स्थापना करके निह्नव किया। वे मथुरा से दशपुर आये थे।

आपका जन्म वी० सं० ५२२ था। १२ वर्ष की उम्र में आप ने आचार्य तोसली पुत्र के पास दीक्षा ली। विशेष अध्ययन के लिये आप आचार्य वज्र के पास जा रहे थे कि उज्जैनी में स्थविर भद्रगुप्त के पास रहे। उनके दिवंगत होने के पश्चात् वे वज्रस्वामी के पास पहुँचे। बहुत से पट्टावलीकार ऐसा मानते हैं कि आचार्य वज्र के काल धर्म प्राप्त होने पर १३ वर्ष तक युग प्रधान रहे। ऐसा लगता है कि आचार्य वज्र ने पुनः भारत वर्ष के सारे श्रमण संघ की एकता साधी और आर्य सुहस्ति के बाद अलग-अलग बँटे हुए श्रमण वर्गों का उन्होंने एकीकरण किया होगा। सभी ने उनको मान्य किया है।

कुछ विचारकों का ख्याल है कि आर्य वज्र का जन्म वी० सं० ४८२ में मान लेने पर कई बातें अपने आप बैठती है। वरना आचार्य वज्रसेन का जन्म काल दीक्षा समय मेल नहीं खाता। आचार्य वज्र का जन्म वी० सं० ४८२ में मान सकने की शक्यता है; क्योंकि हस्तलिखित पत्रों में ८ व ९ लिखने की प्राचीन पद्धति में अन्तर कम है। अतः आचार्य वज्र का जन्म वी० सं० ४८२ दीक्षा वी० सं० ४९०, युग प्रधान वी० सं० ५३४ और काल धर्म प्राप्ति (स्वर्गवास) वी० सं० ५७० माना जा सकता है।

तदनुसार आचार्य आर्य रक्षित का जन्म वी० सं० ५०८, दीक्षा वी० सं० ५३०, युग प्रधान वी० सं० ५७० और काल धर्म प्राप्ति वी० सं० ५८३ आता है। तदनुसार दशपुर वाचना का काल वी० सं० ५८२ आता है।

जिनभद्र क्षमागणि :— आगमों के उपर ज्ञान से युक्त टीकायें लिखनेवालों में जिनका प्रथम उल्लेख होता है वे हैं जिनभद्र क्षमागणि। उनका काल वीरात् ११४५ का माना जाता है। वे भाष्यकार के नाम से सुप्रसिद्ध हैं उन्होंने विशेषावश्यक मूल और उस पर टीका लिख कर जैन साहित्य को बड़ी भेंट दी है। उन्होंने 'जीत-कल्प' सूत्र की रचना की। बृहत् संग्रहणी (४००-५०० गाथायें) बृहत् क्षेत्र समास, विशेषणवती एवं ध्यानशतक भी आपकी रचना है। आचार्य हेमचन्द्र ने आपका स्मरण उत्कृष्ट व्याख्याकार के रूप में किया है।

जैन आगमों के परम्परा से सूत्र और अर्थ के गहन भेदों को जाननेवाले आचार्य के रूप में वे सर्व मान्य रहे। साथ ही भाष्य-टीका (चूर्णि) आदि के द्वारा उन्होंने आगम ज्ञान को सिर्फ श्रद्धा के बदले बुद्धि से लाने का सफल प्रयत्न किया ताकि सामान्य लोग भी उसकी सत्यता अपनी श्रद्धा में जोड़ सके। तदनुसार उन्होंने जिन शासन में एक नये युग का प्रारम्भ किया और वे युग प्रधान कहलाने लगे।

इस आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन पर करीब पांच हजार ग्रन्थ प्रमाण सहित जो प्राकृत भाषा में गाथाबद्ध भाष्य आपने लिखा है वह ग्रन्थ जैन साहित्य की अमूल्य निधि है।

उनका उल्लेख उनके बाद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार एवं टीकाकार जैनाचार्यों ने बड़ी श्रद्धा से किया है जिसमें हरिभद्र सूरि, शीलांकाचार्य, जिनेश्वर सूरि, अभयदेव सूरि, हेमचन्द्र सूरि आदि आते हैं। उनको अनेक विशेषणों से सम्बोधित किया है जिसमें "भगवान भाष्यकार" कहके तो अनहद श्रद्धा प्रगट की है। वे तर्क प्रधान नहीं किन्तु आगम प्रधान आचार्य थे। जैन आगम मान्यता जो परम्परा से चली आ रही थी उसे अक्षरशः स्वीकार्य करके उस पर सुसंगत भाष्य उन्होंने लिखा। उस आगम मान्यता से अलग जानेवाली प्रत्येक वस्तु का उन्होंने खण्डन करके अपनी आगम मान्यता का मंडन किया है।

आर्यरक्षित का कालधर्म प्राप्त होना वी० सं० ५९७ में माना जाता है।

आचार्य नागहस्ति, आचार्य चन्द्रसूरि, आचार्य रथ

आचार्य वज्रसेन के बाद आचार्य चन्द्रसूरि आये ऐसा चन्द्र कुल पट्टावली में (नागपुरी बृहत्गच्छावली) आता है। वैसे कल्प सूत्र पट्टावली में आचार्य रथ का उल्लेख मिलता है। उसी समय आचार्य नन्दिल की पाट पर आचार्य नाग हस्ति आये ऐसा नन्दी सूत्र पट्टावली में है।

आचार्य नागहस्ति : वी० सं० ६४४ तक पाट पर रहे ऐसा उल्लेख मिलता है। तदनुसार आचार्य नन्दिल जिनका समय वी० सं० ५४८ तक माना गया है उनकी पाट पर वे आये। अन्य एक गणना के अनुसार आचार्य वज्रसेन के बाद आचार्य नागहस्ति आये और आचार्य वज्रसेन का शासन काल वी० सं० ६२० तक माना गया है। तदनुसार आचार्य नागहस्ति का शासन काल वी० सं० ६४४ तक मानने से काल गणना ठीक बैठती है। कहीं पर वे वी० सं० ६८८ तक रहे ऐसा भी उल्लेख मिलता है।

(२) **आचार्य चन्द्रसूरि :** धनदत्त सेठ के चार पुत्रों में जिन्होंने दीक्षा ली उसमें से एक आचार्य चन्द्रसूरि के रूप में आचार्य वज्रसेन के बाद पाट पर आये। ३७ वर्ष तक उनका गृहवास रहा। ७ वर्ष तक सामान्य दीक्षा पर्याय यानी उन्होंने दीक्षा वी० सं० ६१३ में ली और वी० सं० ६२० में वे आचार्य पद पर आये। २३ वर्ष तक वे युग प्रधान आचार्य रहे और ६८ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वी० सं० ६४ में वे कालधर्म को प्राप्त हुए।

आचार्य रोह : कल्प सूत्र पट्टावली के अनुसार आचार्य वज्रसेन के बाद आचार्य रोह पाट पर आये। ऐसा मान सकते हैं कि आचार्य चन्द्र जो कि पश्चिम तटवर्ती प्रदेश के थे; अतः उन्होंने उन प्रदेशों में संघ व्यवस्था सम्हाली और मध्य एवं पूर्व भारत में आचार्य वज्रसेन का शासन भार आचार्य रोह पर आ पड़ा। वे आचार्य वज्र के शिष्य और आचार्य वज्रसेन के गुरु भाई थे। इससे अधिक उल्लेख कुछ भी नहीं मिलता।

जब कि प्राकृत भाषा में सिर्फ आगम आदि लिखे पाये जाते थे तब हरिभद्र सूरि के बाद कथा - काव्य साहित्य से उसे उद्योतन सूरि ने समृद्ध की है। प्राकृत भाषा के लिये "कुवलय माला" अनुपम ग्रन्थ है।

आचार्य जिनदास महत्तर : आप ने निशीथ, नन्दी और अनुयोग द्वार सूत्र पर चूर्णी लिखी है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने आपका उल्लेख अपनी कृतियों में बड़े आदर से किया है। आपका काल वि० सं० ७३३ के करीब माना जाता है।

आचार्य हरिभद्र सूरि : भगवान महावीर के बाद विक्रम की ६ - ७ सदी में चैत्यवासीओं का ज़ोर बढ़ने लगा था। उस समय साधु आचार संहिता से शिथिलाचार को भगाने के लिये स्पष्ट आह्वान करनेवाले और सच्चा जैन श्रमण कैसा होना चाहिये उस पर स्पष्ट दिग्दर्शन करनेवाले महान साहित्यकार आचार्य हरिभद्र सूरि विक्रम की छठ्ठी शताब्दि में हुए। कई उन्हें आठवीं शताब्दि में हुए ऐसा मानते हैं।[1]

चित्रकूट के राजा जितारी थे। हरिभद्र वहाँ के रहनेवाले थे और राज्य पुरोहित का कार्य करते थे।[2] वे प्रकांड पंडित थे और ज्ञान का गर्व इतना था कि वे अपने स्कन्ध पर इस घोषणा के साथ जम्बु शाखा को धारण करते थे कि सारे जम्बु द्वीप में उन जैसा कोई नहीं है। ज्ञान में सभी को हराते कन्धे पर कुदाली, जाल और सीढ़ी धारण करके उन्होंने प्रतिज्ञा की थी :—"जिसके बोले हुए श्लोक या गाथा का अर्थ मैं नहीं समझ सकूंगा उसका मैं शिष्य बन जाऊँगा। कुदाली जाल और सीढ़ी से मतलब है कि "वादी यदि जमीन में धँस जायँ तो कुदाली से खोदके निकालूँगा; भागेगा तो जाल में फँसा लूँगा और आकाश में उड़ जायेगा तो सीढ़ी पर चढ़के नीचे उतार लूँगा।"

---

1 सामान्य प्रमाणों से उनका स्वर्गवास वि० सं० ५३० या ५८५ के आसपास माना गया है। जिन विजयजी आदि ने वर्त्तमान में ऐतिहासिक संशोधन करके उनका समय ७५७ से ८५७ तक निश्चित किया है।

2 कई चित्रकूट यानी वर्तमान में चितौड़ (मेवाड़) को मानते हैं। ऐसा माना जाता है कि मेवाड़ के खोमाण कुल के राजा के कुल में समुद्रसूरि थे। अतः यह चित्रकूट चितौड़ ही है।

आचार्य प्रवर ने कहा :—"पंडितवर्य ! आपके आगमन का प्रयोजन क्या है ?"

हरिभद्र बोले :—"हे पूज्य ! मैं क्या उत्तर दूँ ? मैं पंडित नहीं हूँ ! आपकी शिष्या, मेरी गुरुणी याकिनी महत्तरा से प्रभावित हुआ, उनके आदेश से आपके दर्शन के लिये उपस्थित हुआ हूँ !"

आचार्य जिनदत्त ने उन्हें योग्य जान कर दीक्षा दी और उनके ज्ञान पर सच्चे जैनत्व का वह रंग चढ़ाया जिससे वे उस समय चलनेवाले चैत्यवासियों के पाखंड के विरुद्ध फटकार बता सके और अनेक ग्रन्थों की रचना भी कर सके ।

एतदर्थ उन्होंने जहाँ भी बना अपने धर्म - गुरु आचार्य जिनदत्त और धर्म - माता याकिनी महत्तरा का उपकार स्मरण अवश्य किया । आवश्यक सूत्र की टीका के अन्त में इस प्रकार उन्होंने अपना उल्लेख करके दोनों के प्रति अनन्य श्रद्धा व भक्तिभाव व्यक्त किया है :—

"समाप्ता चेयं शिष्यहिता नामावश्यक टीका । कृतिः सितांबराचार्य जिनभट निगदानुसारिणो विद्याधर कुलतिलकाचार्य जिनदत्त शिष्यस्य धर्म तो याकिनी महत्तरा सूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य ।"

आचार्य हरिभद्र सूरि आगम पढ़ते गये और उनका गूढ़ रहस्य जन मानस जान सके एतदर्थ उन्होंने उनकी सरल से सरल टीका लिखना शुरू की । वे सर्व प्रथम अधिक से अधिक सूत्रों की टीका लिखनेवाले थे ।

कहा जाता है कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थों की रचना की है[1] इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में निम्न: बात सुप्रसिद्ध है ।

हंस और परमहंस नाम के उनके दो भानजे उनके पास ही दीक्षित हो गये थे । जैन शास्त्रों के अभ्यास के बाद उन्हें बौद्ध दर्शन के सर्वांगी अध्ययन की इच्छा हुई । उस

[1] यह संख्या १४००, १४१४ और १४४० भी कई स्थानों पर निर्देशित है ।

क:काकिकीकुकूकेकैकोकौकंकः

२ विष्णु:आज्ञा:प्रद्युम्न:धृतराष्ट्र:जिनेंद्र:

लिपीकृतं चन्द्रमल्लेन आर्यजी श्री सि १

रेकँवरजी तत् लिखनार्थे कल्याणमस्तु ४

नन्दी पट्टावली में आनेवाले २७ स्थविरों के नामों से वालभी - वाचना की पट्टावली में ९ नाम भिन्न प्रकार के हैं। आर्य सुहस्ति तक सभी नाम समान हैं। १५ से २१ तक के स्थविर धर्म से वज्रसेन के नाम इसमें अलग पड़ते हैं। ये सात नाम युग प्रधान स्तोत्र में से वालभी वाचना की पट्टावली में जोड़े गये हों ऐसा माना जा सकता है। अन्तिम नाम कालकाचार्य का भी नन्दी सूत्र पट्टावली से अलग पड़ता है।

इसका कारण स्पष्टतः जैन श्रमण संघ दो विभागों में बँट जाना मान सकते हैं। प्रथम दुष्काल के समय श्रमणों के अलग - अलग गच्छ (टोले) समुद्र तट एवं नदी किनारों के प्रदेश में बँट गये थे। वे पुनः विक्रम संवत् के प्रारम्भ में एक हो गये थे; किन्तु बाद में कुछ श्रमण टोले दक्षिण (पश्चिम) की ओर विचरण करने लगे। आचार्य वज्र के समय भी दुष्काल में श्रमण वृंद दक्षिण, मध्य एवं पश्चिम भारत में विचरण कर रहे थे। उत्तर भारत के श्रमण गण उनसे अलग उत्तर में विचरण कर रहे थे। तदनुसार जो उत्तर भारतीय श्रमणों की शासन (पाट) परम्परा थी, उसमें दक्षिण - पश्चिम में विचरण करनेवालों ने अपने नये पट्टधर बना कर पाट परम्परा निभाते रहे थे। इसलिये उस ओर की पाट परम्परा में अन्तर आता है।

श्रुत ज्ञान को लिपिबद्ध करने का महान कार्य देवर्धि क्षमा श्रमण के नेतृत्व में हुआ तब तक अलग पट्टावलियों से आचार्य रोह, आचार्य चन्द्रसूरि और आचार्य नागहस्ति के पश्चात् पट्टावलियों में जिन पट्टधरों का उल्लेख मिलता है वह इस प्रकार है :—

कल्प सूत्र	वृहत्गच्छ	माथुरी - क्रम	वालभी - क्रम
पुष्पगिरि	चन्द्रसूरि	रेवती	पुष्पमित्र
फाल्गुमित्र	समन्तभद्रसूरि	वृद्धदीपकसिंह	वज्रसेन
धनगिरि	वृद्धदेवसूरि	स्कंदिल	नागहस्ती
शिवभूति	प्रद्योतनसूरि	हिमवन्त	रेवतीमित्र

कहा जाता है कि उन्होंने सर्व प्रथम आचार्य गुरुजी ने समरादित्य की जो तीन गाथायें भेजी थीं उन पर "समराइच कहा" ग्रन्थ की रचना की। जिसकी सभी विद्वानों ने प्रशंसा की।

आगम-टीका के उपरांत उन्होंने दिग्नाग कृत "न्याय प्रवेश" की टीका लिख कर जैनाचार्यों को बौद्ध-दर्शन की ओर आकर्षित किया। सच्चे दर्शन-शास्त्री की तरह उन्होंने सारे दर्शन में रहे हुए तथ्य और सत्य का पूर्ण परिचय पाया। प्रत्येक वस्तु का उसके गुण धर्म से वे परिचय कराते थे। धर्म सम्प्रदाय का पक्षपात उनमें थोड़ा सी भी छुआ नहीं था। इसीलिये वे कह सके :—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्, वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

—महावीर से मेरा कोई पक्षपात नहीं है और कपिल आदि ऋषियों से मेरा द्वेष नहीं है। युक्ति युक्त वचन चाहे जिसका हो, वह स्वीकार्य है।

सम्प्रदायों से दूर थे अतः वे लिख सके :—

आसंवरो वा सेयम्बरो वा बुद्धो वा अहव अन्नोवा।
समभाव भावियप्पा लहई मुक्खं न संदेहो॥

—दिगम्बर हो या श्वेताम्बर हो, बुद्ध हो या अन्य कोई भी, जो भी हो अपनी आत्मा को समभाव से भावित करता है वही निःसन्देह मुक्ति को प्राप्त करता है।

वे सत्य और शुद्ध संयमी श्रमण जीवन के पक्ष में थे। उस समय चैत्यवासियों का ज़ोर बढ़ रहा था और धर्म के नाम पर वे मनमानी करते थे। उनका उन्होंने निर्भीक वर्णन किया है और भगवान महावीर का जो आगम ज्ञान है उसे उन्होंने सरल

॥र्द०॥ ॐ नमः सिद्धं॥ अ आ इ ई उ ऊ
ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः॥ क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ १
ब भ म य र ल व श ष स ह ळं क्षः॥ ज्ञ

[illegible] २

४३

जय-आगम ज्ञान अगाध

आक्रमण, अकाल एवं अन्य धर्मों की प्रतिस्पर्धा के बीच यह आवश्यक होता जा रहा था कि जो श्रुत ज्ञान बिखरा पड़ा है उसे संमिलित होकर लिपिबद्ध किया जाये। आत्मोत्सर्गी श्रुत ज्ञानी बड़े - बड़े आचार्यों ने शिष्य परम्पराओं से इस श्रुत ज्ञान को अखण्ड रखने का प्रयास किया था; किन्तु ये ज्ञानी शिष्यों का विचरण पूरे भारत भर में होने से और मार्ग की कठिनाईयों से परस्पर का मिलन नियमित नहीं हो पाता था।

उत्तर (पूर्व) भारतीय जैन श्रमण संघ अलग विचरता था जिसका विहार क्षेत्र आज के मध्य प्रदेश (नागपुर) बिहार, उड़ीसा, बंगाल, युक्त प्रांत, पंजाब (तक्षशीला - पेशावर) दिल्ही, मथुरा के आसपास का प्रदेश था। दक्षिण - पश्चिम भारतीय जैन श्रमण संघ आज के मध्य भारत, आन्ध्र* गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान, मालवा के प्रदेशों में विचरण करता था।

पाटलीपुत्र की वाचना के अनन्तर मथुरा की प्रथम वाचना, दशपुर की वाचना भी हो चुकी थी; तदन्तर कई श्रमण दक्षिण - पश्चिम में चले गये थे और उनका विचरण क्षेत्र वही बन गया था। अत: स्पष्टत: एक श्रमण विभाग पूर्व उत्तर में विचरण करता था और दूसरा श्रमण विभाग पश्चिम - दक्षिण में विचरण करता था। यों उत्तर पद श्रमण संघ एवं दक्षिण पद श्रमण संघ के रूप में जैन श्रमण विचरण करते थे।

दुकाल पड़ते जा रहे थे और इधर हिंद के उत्तर से पुन: विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। इस बार आनेवाली जाति हूण थी। उनके टोले के टोले आते और अत्याचार करके चले जाते‡ अत: तक्षशीला आदि प्रान्तों से भय की खबरें सारे भारत में फैलती चली जा रही थीं।

---

* जिसकी सीमा उस समय पूर्व में कहाँ नदी गोदावरी के मुहाने से और कृष्णा नदी के इस पार से पश्चिम में थाणा से ताप्ती - नर्मदा के इस ओर से प्रदेश तक थी।

‡ इन्हीं हूण लोगों के आक्रमण से बचने चीनी सम्राट ने उस समय पन्द्र सो मील लम्बी दीवार - किल्ले जैसी बनाई थी जो आज भी संसार के आश्चर्यों में आती है।

आगम टीका	धर्म समाज परिचय	न्याय दर्शन परिचय
पंच सूत्र प्रकरण टीका	धर्म संग्रहणी प्रकरण	न्याय सूत्र प्रवेश वृत्ति
प्रज्ञापना सूत्र प्रवेश	पंचाशक प्रकरण	योग बिन्दु
विंशति विंशिका प्रकरण	पंचवस्तु प्रकरण टीका	ललित विस्तार
शास्त्र वार्ता परिचय	श्रावक प्रज्ञप्ति	लोकतत्त्व निर्णय
	सम्बोध प्रकरण	षड् दर्शन समुच्चय

उनकी समरादित्य कथा आदि से उनकी साहित्यिक गरिमा सर्व व्यापी थी यह निस्सन्देह है; साथ ही वे उच्च कोटी के कवि और दर्शनकार भी थे। वे सत्यदर्शी थे और सत्याग्रही थे। सत्य को स्वीकार करनेवाले थे; अतः वे कह सके हैं :—

बन्धुर्न नः स भगवानरयोऽपि नान्ये।
साक्षान्न दृष्टतर एकतमोऽसि चैषाम्॥
श्रुत्वावचः सुचरितं च पृथग् विशेषम्।
वीरं गुणातिशयलोलतयाश्रृताः स्मः॥

महावीर भगवान मेरे बन्धु नहीं है और न अन्य (देव) हमारे शत्रु हैं। कभी किसी को साक्षात् हमने देखा नहीं है। हमने उनके वचन सुने हैं और गुणातिशय के कारण ही भगवान वीर को अपनाया है।

जैन दर्शन को स्पष्ट करनेवाले सिद्धसेन दिवाकर थे तो आगम ज्ञान जो ताड़-पत्रों की पोथियों में बन्ध किया जा रहा था; उसे सामान्य लोग समझ सके एतदर्थ टीका, वृत्ति आदि लिख कर उन्होंने स्पष्ट किया। जैन-दर्शन न्याय को सरल समझाया। इतना ही नहीं, अन्य दर्शनों को भी उन्होंने स्पष्ट कहा और योग, लोक तत्त्व, षड् दर्शन, धर्म, न्याय, समाज दर्शन आदि सारे वस्तु विषय पर उन्होंने लिखा। प्रबन्ध, काव्य, टीका और कथानक आदि सभी प्रकार के साहित्य का निर्माण संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में करके, दोनों पर अपना भाषाधिकार है यह स्पष्ट किया।

किन्तु पाठ - भेद था अतः यह और भी आवश्यक था कि दोनों पथ के जैन श्रमण इकट्ठे हों।

यह कार्य कितना कठिन और भगीरथ था; इसका विचार तो इससे हो सकता है कि दोनों वाचनाओं के सन्तों को अपने - अपने लेखित ग्रन्थ लेके वल्लभीपुर जाना था। ग्रन्थ सभी एक स्थान पर पहुँचे; फिर उनका वांचन हो; पाठांतर नोंध किया जाये, आदि सारा परिश्रम भरा कार्य था। †

वी० सं० ८८२ के बाद श्रमण संघ की समाचारी में भी अन्तर आने लगा था और भिन्न - भिन्न सैंकड़ों सम्प्रदायों को एक होने के लिये, एक आगम वाचना मनवाने के लिये बहुत ही बड़े और परम आत्म विश्वासी श्रमणवर्य की आवश्यकता थी।

उस समय वेरावल (सौराष्ट्र) में कामर्धि क्षत्रिय रहते थे। उनकी पत्नी का नाम कलावती था। कलावती की कुख से एक सुपुत्र को जन्म हुआ। पुत्र ने बड़े होकर जैन श्रमणों का परिचय पाकर प्रभावित होकर उस समय के एक बड़े जैनाचार्य लोहित्य सूरि (रोहिताचार्य) से दीक्षा ग्रहण की। कई उनको गुण के रूप में दुष्य गणि बताते हैं। श्री देवगुप्त गणि के पास उन्हें ज्ञान प्राप्त करने भेजा गया और उन्होंने एक पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया ऐसा माना जाता है। उनके ज्ञान और चारित्र से प्रभावित होकर उन्हें आचार्य पद दिया गया।

देवर्धि आचार्य ज्ञानी और पूर्ण चरित्रवान तो थे ही; किन्तु उनका शांत और क्षमा प्रधान स्वभाव अनेकों को अपनी ओर आकर्षित करता था।

---

† सामान्यतः श्रमणों के पास अपने लिखित सूत्र रहने की परिपाटी देखी गई है। मथुरा और वल्लभी वाचना के बाद लिखित आगम वहीं ग्रन्थ भण्डार में रहे या श्रमणों के पास इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। अलग - अलग रहे हों तो जिन - जिन सन्तों के पास थे उनको संदेशा पहुँचवाना, उनकी विहार की सुविधायें आदि के विचार से कार्य की विशालता का परिचय हो सकता है।

६ वर्ष की बाल्यावस्था में दीक्षा, ११ वर्ष की आयु में इनकी अलौकिक प्रतिभा देखकर जैन संघ ने इन्हें आचार्य पद दिया। इनके गुरु सिद्धसेन ‡ सूरि (द्वितीय) थे। पिता का नाम ब्रह्म और माता का नाम भट्टी था। गुरु ने इन्हें दुवांतधी गाँव में उनके माँ-बाप से माँग लिया था। उनकी शर्त थी कि उनका नाम उस बालक के साथ जोड़ा जाय अत: वे ब्रह्मभट्टी यानी बप्पभट्टी कहलाये।

एक दिन में आप अनुष्टुप के हजार श्लोक याद करने की क्षमता रखते थे। आपका शिष्य कनौज का राजा था। बंगाल के लक्ष्णावती के राजा को भी आप ने प्रतिबोध किया था चावड़ा वंश पर आपका पूर्ण प्रभाव था। ९५ वर्ष की पूर्ण आयु में आपका देहांत हो गया।

शीलंकाचार्य :— आगमों पर टीका लिखनेवाले आचार्यों में शीलंकाचार्य भी आते हैं। इनका समय वि० सं० ९२५ का माना जाता है। इनके दीक्षा गुरु मानदेव सूरि थे और कुछ इन्हें जिनभद्र क्षमागणि के शिष्य भी मानते हैं।

वि० सं० ९३६ में आपने सूत्र पर टीकायें लिखनी प्रारम्भ की और उसमें आचारांग एवं सूत्र कृतांग पर की आपकी टीकायें उपलब्ध हैं; किन्तु अन्य सूत्रों की टीकायें नष्ट हो गईं ऐसा माना जाता है।

जीव समास पर आपने महत्व पूर्ण वृत्ति लिखी। विशेष रूप से आपने महा पुरुष चारित्र के नाम से १०००० श्लोकों का बड़ा ग्रन्थ लिखा जिसमें ५४ श्रेष्ठ जैन पुरुषों का वर्णन है। इसी संख्या में ९ बढ़ा कर त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित्र का आचार्य हेमचन्द्र ने निर्माण किया।

सिद्धर्षि सूरि :— विक्रम की पहली सहस्राब्दि के अन्त में प्राकृत से संस्कृत की ओर जैनाचार्यों का झुकाव होता जा रहा था। आचार्य सिद्धर्षि सूरि ने उस काल में उसका प्रारम्भ किया ऐसा माना जाता है।

‡ सिद्धसेन सूरि और सिद्धसेन दिवाकर अलग हैं।

३

कःकाकिकीकुकूकेकैकोकौकंकः कखगघङ।चछजझञटठडढ।
विष्णुःआज्ञाःप्रद्युम्नःधृतराष्ट्रःजिनेंद्रः वढणतथदधनपफबभमयर।
लिपीकृतंचन्द्रमल्लेनआर्यजीश्रीसि १ लवशषसहळक्षज्ञः॥ लिपिकृतंमू
रेकँवरजीतल्लिखनार्थे।३ कल्याणमस्तु निचांदमलाकेनसंवत्२०१४फस॥ ८

बहुत बड़ी संख्या में अनेक आचार्य और ज्ञानी श्रमण वहाँ पर आये।[1] उत्तर पथ और दक्षिण पथ के आचार्य वहाँ पर मिले। उत्तर पथ के यानी मथुरी वाचनावालों की ओर से आचार्यश्री देवर्धि और वलभी वाचनावालों की ओर से आचार्य कालक ने इस आगम संकलन में महत्व पूर्ण योग दिया।

हालाँकि देवर्धि आचार्य पश्चिम-दक्षिण पथ में ही विचरण करनेवाले थे और परम्परा से उन्होंने नागार्जुन वाचना के अनुसार ही ज्ञान प्राप्त किया था ऐसा मान सकते हैं; फिर भी उनकी तटस्थता और ज्ञान की गरिमा देखकर उन्हें स्कन्दिलाचार्य वाचना का नेतृत्व करने के लिये कहना यह उनकी समन्वय बुद्धि के लिये ही था। ऐसा भी हो सकता है कि आचार्य देवर्धि ने उग्र विहार कर, मथुरा-वाचनावाले श्रमण संतों से परिचय साधा हो मगर ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता; फिर भी ऐसा मान सकते हैं कि जब तक इस कार्य के लिये उत्तर और दक्षिण के बड़े-बड़े आचार्य सहमत न हुए हों तब तक यह कार्य सम्भव न था और इसलिये इस श्रमण सम्मेलन की भूमिका तो पूर्व वर्षों में बन्धी होनी चाहिये और देवर्धि आचार्य ने उसमें भी महत्वपूर्ण योग दिया हो ऐसा विशेष सम्भव है।

वलभी नगर में यह कार्य प्रारम्भ हुआ। प्राचीनता और प्रामाणिकता की दृष्टि से माथुरी वाचना जो आचार्य स्कन्दिल के तत्त्वावधान में हुई थीं उसके पाठों को मुख्य आधार मान कर चला गया।[2]

यह वाचना कितने वर्षों में पूर्ण हुई और कितने आचार्यों के समक्ष पूर्ण हुई उसकी पूरा विवरण तो नहीं मिलता; किन्तु सभी ने देवर्धि गणि को माथुरी-वाचना के

---

1 इतनी बड़ी संख्या में साधु सन्तों को मिलना और श्रीसंघ के बन्धुओं का आना एवं उनकी सेवा का अनन्य लाभ उठाना, उस समय के वल्लभीपुर के श्रीसंघ की भक्ति और शक्ति को प्रगट करते हैं और एतदर्थ इस श्रमण सम्मेलन अपने आंगन बुलानेवाले वल्लभीपुर श्रीसंघ के आगे श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है।

2 आचार्य देवर्धि विहार करके मथुरा पहुँचे हों ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता; फिर भी उनका माथुरी वाचना का नेतृत्व करना और उस मुख्यतः मानना यह उनके उदार दिल की ही बात हो सकती है।

ने किया तो उसका प्रसार हरिभद्र सूरि और बाद में महा दार्शनिक अभयदेव सूरि ने किया। आचार्य अभयदेव सूरि की इस टीका का नाम "तत्त्व बोध विधायिनी" है जिसमें २५ हजार श्लोक हैं। उन्होंने सन्मति तर्क ग्रन्थ की यह टीका इस नई शैली और सुलझे ढँग से लिखी कि भविष्य के टीकाकारों को अपनी शैली तदनुरूप बिठानी पड़ी।

इसी काल में आचार्य अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि दिगम्बर जैनों ने भी दर्शन न्याय पर महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ व टीकायें लिखीं। इस तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस काल में जैन धर्म के प्रचार में योग दिया। इस काल को जैन इतिहासकार न्याय शास्त्र का विकास काल कहते हैं।

धनेश्वर सूरि एवं ११वीं सदी के अन्य जैन साहित्यकार आचार्य :— दार्शनिक अभयदेव सूरि के शिष्य के रूप में धनेश्वर सूरि आते हैं। आप संसार पक्ष में त्रिभुवनगिरि के अधिपति कर्दम भूपति थे। धारा नगरी के महाराजाधिराज मुंज पर आपका अत्यन्त प्रभाव था।

उसी समय धनपाल नाम के बड़े जैन कवि हुए। वे जैनाचार्य नहीं थे; किन्तु महाराज मुंज की सभा के पंडित रत्न थे। जैन धर्म से प्रभावित हुए महाराज मुंज के बाद राजा भोज हुए। उनके आग्रह से आप ने तिलक मंजरी की रचना की। ऋषभ पंचाशिका महावीर स्तुति आदि भी आपकी रचना है। तिलक मंजरी में जैन सिद्धांत एवं आदर्शों का अनुकरण सजीव रूप से वर्णित है।

धनपाल के भ्राता शोभन सूरि ने महेन्द्र सूरि से दीक्षा ली थी। संस्कृत भाषा में यमकयुक्त २४ तीर्थंकर की स्तुति की आपने रचना की है।

उसी समय शांति सूरि हुए जिन्होंने ७०० से अधिक श्रीमाली कुटुम्बों को जैन-धर्म की दीक्षा दी। कवि धनपाल की प्रार्थना पर आप धारा नगरी पधारे। आपने

[illegible]

बहुत बड़ी संख्या में अनेक आचार्य और ज्ञानी श्रमण वहाँ पर आये।[1] उत्तर पथ और दक्षिण पथ के आचार्य वहाँ पर मिले। उत्तर पथ के यानी मथुरी वाचनावालों की ओर से आचार्यश्री देवर्धि और वल्लभी वाचनावालों की ओर से आचार्य कालक ने इस आगम संकलन में महत्व पूर्ण योग दिया।

हालाँकि देवर्धि आचार्य पश्चिम - दक्षिण पथ में ही विचरण करनेवाले थे और परम्परा से उन्होंने नागार्जुन वाचना के अनुसार ही ज्ञान प्राप्त किया था ऐसा मान सकते हैं; फिर भी उनकी तटस्थता और ज्ञान की गरिमा देखकर उन्हें स्कन्दिलाचार्य वाचना का नेतृत्व करने के लिये कहना यह उनकी समन्वय बुद्धि के लिये ही था। ऐसा भी हो सकता है कि आचार्य देवर्धि ने उग्र विहार कर, मथुरा - वाचनावाले श्रमण संतों से परिचय साधा हो मगर ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता; फिर भी ऐसा मान सकते हैं कि जब तक इस कार्य के लिये उत्तर और दक्षिण के बड़े - बड़े आचार्य सहमत न हुए हों तब तक यह कार्य सम्भव न था और इसलिये इस श्रमण सम्मेलन की भूमिका तो पूर्व वर्षों में बन्धी होनी चाहिये और देवर्धि आचार्य ने उसमें भी महत्वपूर्ण योग दिया हो ऐसा विशेष सम्भव है।

वल्लभी नगर में यह कार्य प्रारम्भ हुआ। प्राचीनता और प्रामाणिकता की दृष्टि से माथुरी वाचना जो आचार्य स्कन्दिल के तत्त्वावधान में हुई थीं उसके पाठों को मुख्य आधार मान कर चला गया।[2]

यह वाचना कितने वर्षों में पूर्ण हुई और कितने आचार्यों के समक्ष पूर्ण हुई उसकी पूरा विवरण तो नहीं मिलता; किन्तु सभी ने देवर्धि गणि को माथुरी - वाचना के

---

1 इतनी बड़ी संख्या में साधु सन्तों को मिलना और श्रीसंघ के बन्धुओं का आना एवं उनकी सेवा का अनन्य लाभ उठाना, उस समय के वल्लभीपुर के श्रीसंघ की भक्ति और शक्ति को प्रगट करते हैं और एतदर्थ इस श्रमण सम्मेलन अपने आंगन बुलानेवाले वल्लभीपुर श्रीसंघ के आगे श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है।

2 आचार्य देवर्धि विहार करके मथुरा पहुँचे हों ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता; फिर भी उनका माथुरी वाचना का नेतृत्व करना और उस मुख्यतः मानना यह उनके उदार दिल की ही बात हो सकती है।

अपनाने का संकल्प किया। इस प्रकार आचार शुद्धता की ओर वे बढ़े और उनके पीछे अन्य जैन यति श्रमण भी चले।

उस काल में मध्य प्रदेश की बनारस नाम की नगरी में कृष्ण नाम के ब्राह्मण रहते थे। उनके दो पुत्र थे श्रीधर और श्रीपति। वे दोनों बड़े विद्वान और बुद्धि के तेजस्वी थे। उन्होंने अपना अभ्यास सम्पूर्ण किया और परिभ्रमण करने वे धारा नगरी पहुँचे।

धारा नगरी में लक्ष्मीपति नाम का बहुत धनिक जैन श्रेष्ठि रहता था। वे दोनों उनके वहाँ पहुँचे। लक्ष्मीपति ने उन्हें प्रसन्न होकर अपने यहाँ भोजन कराया। वे नियमित रूप से उसके बाद भी श्रेष्ठि के घर जाते थे, भोजन करने और अवकाश के समय उसका व्यापार देखते थे। उन दिनों लेन - देन का हिसाब दीवार पर लिखा जाता था।

अकस्मात् एक दिन श्रेष्ठि का मकान जल गया और हिसाबवाली दीवार भी नष्ट हो गई। अब हिसाब का क्या होगा इस चिंता में श्रेष्ठि उदास बैठे थे कि दोनों भाई वहाँ पहुँचे। संवेदना पूर्ण दो शब्द कहके उन्होंने सेठ से मानसिक हालत जान ली। दोनों ने सेठ को आश्वासन दिया कि उनको वह हिसाब याद है। सेठ ने उनको गद्दी पर बिठा कर वह हिसाब उनसे ऊतरवा लिया। उनकी तीव्र स्मरण शक्ति और पांडित्य पूर्ण व्यवहार से सेठ ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने यहाँ रख लिया।

दोनों बन्धु शान्त और संयमी थे। ऐसे पुरुष संयमी श्रमण बने तो शासन का कल्याण होगा ऐसा मान कर जब वर्धमान सूरि वहाँ पधारे तो दोनों को उनके दर्शन कराये। आचार्य के ब्रह्मचर्य तेज से दोनों प्रभावित हुए और दोनों ने निरन्तर उनके पास जाना - आना शुरू किया। चर्चा - विचारणा से प्रभावित होकर दोनों ने संयम ग्रहण किया। श्रीधर का नाम जिनेश्वर सूरि और श्रीपति का नाम बुद्धि सागर सूरि रखा गया। अल्पकाल में वे शास्त्रों के ज्ञाता बन गये। अतः योग्य जान कर जिनेश्वर सूरि को उन्होंने आचार्य पद दिया।

चैत्यवासियों का शिथिलाचार और मनमानी बढ़ रहे थे। उसमें भी अणहीलपुर पाटण में उनका इतना जोर था कि वे वहाँ अच्छे आचारवाले अन्य सन्तों को आने ही नहीं

कहीं कहीं ऐसा उल्लेख मिलता है कि देवर्धि गणि को आचार्य पद वी० सं० ९८० में मिला और विस्मृति का प्रसंग भी उसी वी० सं० में हुआ और वल्लभी वाचना को लिपिबद्ध करने का कार्य वी० सं० ९८७ में सम्पूर्ण हुआ।

जिन - जिन आगमों को लिपिबद्ध किया गया वे इस प्रकार थे :—

११ अंग :— आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाता धर्म कथा, उपासक दशांग, अंतकृत, अनुतरोपपातिक, प्रश्न व्याकरण और विपाक। बारहवाँ दृष्टिवाद अंग का लोप बहुत पहले हो गया था।

१२ उपांग :— अंग बाह्य बारह उपांग इस प्रकार से हैं :— औपपातिक राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, निरियावलिया, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णि दशा।

४ मूल सूत्र :— दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी सूत्र और अनुयोग द्वार

४ छेद सूत्र :— दशाश्रुत स्कन्ध, बृहत्कल्प, निशीथ और व्यवहार।

और आवश्यक (११ + १२ + ४ + ४ + १) यों कुल ३२ सूत्र लिपिबद्ध हुए। ‡

दोनों वाचनाओं में वि० सं० बिठाने के सम्बन्ध में थोड़ा अन्तर रहा। माथुरी वाचनावाले मानते थे कि वर्तमान में वी० सं० ९८० था जब कि वालभी वाचना के हिसाब से वही वर्ष वी० सं० ९९३ आता था।

---

‡ श्वेताम्बर मूर्तिपूजक ऐसा मानते हैं कि इसके साथ ये १० प्रकीर्णक भी लिपिबद्ध हुए :— १. चतुःशरण २. आतुर प्रत्याख्यान ३. महा परिज्ञा ४. संस्तारक ५. तन्दुल वैचारिक ६. चन्द्रवैद्य ७. देवेन्द्रस्तव ८. गणिविद्या ९. महा प्रत्याख्यान १०. वीरस्तव। वे चार मूल - सूत्र में जितकल्प और महानिशीथ को जोड़ते हैं। ऐसा माना जाता है कि मूल तो, पंचकल्प था, वह लुप्त हो गया और उसका स्थान जितकल्प ने लिया। जितकल्प जिनभद्रगणि का बनाया है और महानिशीथ को हरिभद्रादि आचार्यों ने तैयार किया था जो देवर्धि क्षमागणि के वाद हुए हैं। चार मूल - सूत्रों में वे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आवश्यक और पिंडिनिर्युक्ति को मानते हैं। नन्दी - सूत्र एवं अनुयोग द्वार को ये चूलिका - सूत्र गिनते हैं।

कहते हैं कि दोनों ओर से शास्त्रार्थ हुआ। आचार्य जिनेश्व
दशवैकालिक सूत्र का हवाला देते हुए उन जैन चैत्यवासी यतियों के आचार-
चुनौती दी कि उनके सारे व्यवहार गृहस्थी से हैं।‡

राजा ने चैत्यवासियों की हार मानी और इन जैन महर्षियों के ठहरने ल
प्राप्त किया। कहा जाता है उदारमना शैवाचार्य ज्ञानदेव ने अपने त्रिपुरा प्रसाद वे
की कणहट्टी नामक जगह को उनके उपाश्रय के लायक बना दी।

धार्मिक सुधार की लहर दौड़ गई जिनेश्वर सूरि ने विहार करवे
मेवाड़, मालवा, मारवाड़ में धर्म का प्रचार किया।†

उन्होंने नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि को दीक्षा दी। कठोर संयम
भी वे समर्थ साहित्यकार थे। उनके ग्रन्थों में :— १. प्रभालक्ष्य २. लील
३. षट् स्थान प्रकरण ४. पंचलिंगी प्रकरण ५. कथा कोष प्रकरण आते हैं। उन
प्रकरण की व्याख्या की ओर चैत्यवन्दन विवरण भी आप ने लिखा। उनकी ग्रन्थ
उनका मुख्य चातुर्मास और विचरण स्थान जाबालीपुर (जालौर) और आशापल्ली (
के आसपास था।

नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि :— जैनागमों पर शीलांकाचार्य (शी
ने ११ अंग सूत्रों पर टीका लिखी थीं; किन्तु उसका नाश कोई कारण से हो
माना जाता है। आचार्य अभयदेव ने इसकी पूर्ति की ओर वे नवांगी अभयदे
नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

‡ ऐसा माना जाता है कि शास्त्रार्थ के बाद राजा ने चैत्यवासी यतियों को आज्ञा दी
मार कर (पोतियाँ मार कर) गृहस्थी सी धोती पहनें।

† इनके इस "खरतर" कठिन मार्ग के कारण आगे चलकर इनके अनुयायी ख
कहलाये। खरतर = गुजराती खडतल — कठोर से मेल खाता है। कई मानते
दुर्लभराय ने उन्हें "खडतर" पद दिया।

इस सम्बन्ध में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि यह मौलिक श्रुत ज्ञान इतना अगाध था कि उसके बाद आनेवाले बड़े - बड़े आचार्यों ने उसका मार्गदर्शन देने बड़ी - बड़ी टीकायें, व्याख्यायें, टब्बे आदि लिखे और उनसे ही उनको प्रसिद्धि मिली ।

ऐसे महान आचार्य देवर्धिक्षमाश्रमणगणि वी० सं० १००० में दिवंगत हुए । उन्होंने जो बृहत्कार्य किया उसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि आनेवाले वर्षों में हालाँकि स्वार्थवश यह ज्ञान छुपाया गया, इसमें लिखित आचार संहिता के विरुद्ध भी आचार पाला गया ; किन्तु इन मूल - सूत्रों में परिवर्तन करने का किसी ने प्रयत्न नहीं किया और उनका मौलिक स्वरूप कायम हुआ ।

इन आगमों पर आनेवाले समय में बहुतसों ने टीका, टिप्पणी, व्याख्या आदि की उनमें कुछ मुख्यतः इस प्रकार है :—

धनेश्वर सूरि :— देवर्धि क्षमागणि के काल में ये आचार्य हुए ऐसा माना जाता है। पर्यूषण पर्व में पढ़े जानेवाले 'कल्प सूत्र' की वाचना वी० सं० ९८० से ९९६ मानी जाती है। उसके सम्बन्ध में कथा प्रचलित है कि "गुजरात के आनन्दपुर नगर का राजा ध्रुवसेन का लड़का बीमार पड़ा और मृत्यु को प्राप्त हुआ। उस समय राजा और प्रजा शोक से संतप्त थे तब आचार्य धनेश्वर ने कल्पसूत्र की वाचना की।

कालिकाचार्य :— देवर्धिक्षमागणि के मुख्य सहयोगी आचार्य कालक (तृतीय) थे। प्रतिष्ठानपुर नगर में एक बार आपका पधारना हुआ। ऐसा माना जाता है कि राज्याभिषेक के कारण या शालिवाहन राजा के आग्रह से आपने संवत्सरी को अपवाद रूप में पंचमी के बदले चौथ को कराई। बाद में आप ने ही कहा था :—"भद्दवय सुद पंचमीए पज्जोसवणं" अर्थात् भाद्रसुद पंचमी को पर्यूषण करना चाहिये।

पंचमी के बदले चतुर्थी के उनके अपवाद मार्ग का उनके अनुयायियों ने अन्धा अनुकरण चालु रखा, क्योंकि आचार्य कालक दूसरे वर्ष अर्थात् वीरात् ९९६ में दिवंगत हुए। मगर उनका अपवाद मार्ग आगे जाकर बहुत बड़े वाद - विवाद और मतभेद का प्रश्न बन गया।
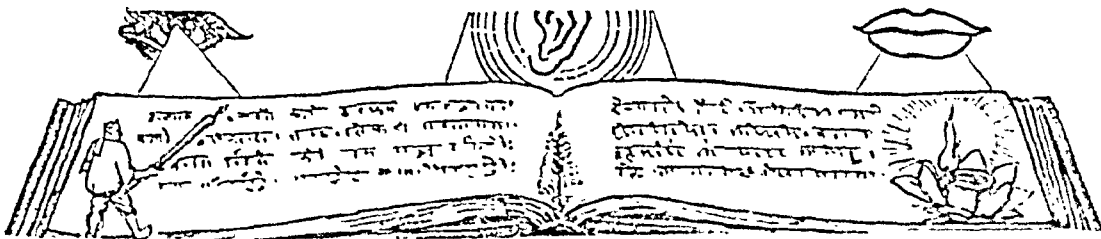
पंचग्रन्थी व्याकरण वि० सं० १००० में जाबालिपुर (जालौर) में बनाया। वे जैन समाज के आद्य वैयाकरण कहे जाते हैं।

धनेश्वर सूरि :— उसी समय जिनेश्वर सूरि के अन्य शिष्य धनेश्वर सूरि ने वि० सं० १०९५ में सुरसुन्दरी कथा प्राकृत में लिखी।

द्रोणाचार्य :— आबु के राजा भीमदेव के मामा द्रोणाचार्य भी जैन आचार्य थे। उन्होंने पिंड निर्युक्ति पर टीका रची और ओघ निर्युक्ति पर भी। अभयदेव सूरि को भी नवीन टीकायें लिखवाने में आपका सक्रिय सहयोग रहा।

जैन साहित्य की वृद्धि करनेवाले जैन संत :— अभयदेव सूरि के पश्चात् अनेक जैन सन्तों ने साहित्य सेवा की। चन्द्रप्रभ महत्तर ने विजयचन्द्र चरित्र प्राकृत भाषा में लिखा। इनके गुरुभाई जिनचन्द्र सूरि ने संवेग रंगशाला नामक ग्रन्थ लिखा।

अभयदेव सूरि के शिष्य वर्धमान आचार्य ने "मनोरमा चरित्र" लिखा। आप ने आदिनाथ चरित्र एवं धर्मरत्न करंडवृत्ति का भी सं० ११७२ में निर्माण किया।

मलधारी अभयदेव सूरि ने गुजरात के राजा सिद्धराज पर बड़ा प्रभाव डाला था। पर्युषण में "अमारि" (जीव-हिंसा बन्द) की घोषणा आपके उपदेश से राजा ने करवाई थी।

गुजरात के राजाओं पर प्रभाव डालनेवाले जिनवल्लभ सूरि भी थे। वे कर्णदेव के समय में गणि के रूप में सुप्रसिद्ध हुए थे। उन्होंने चैत्यवास त्याग कर जैन श्रमण दीक्षा ली थी। इनका "सूक्ष्मार्थ सिद्धांत विचार सार", "आगमिक वस्तु विचार सार", पिण्ड विशुद्धि प्रकरण", "पौषध विधि प्रकरण" "प्रश्नषष्टि शतक" "संघपट्टक' के सिवाय अष्टक और श्रृंगार शतक का निर्माण भी किया।

"दादा के नाम से सुप्रसिद्ध जिनदत्त सूरि अत्यन्त ही सुप्रसिद्ध हैं। उन्होंने "गणधर सार्द्ध शतक" "सन्देह दोहावली" "गणधर सप्तति" आदि ग्रन्थ लिखे।

उनकी कृतियों में १. विशेषावश्यक भाष्य मूल एवं टीका २. बृहत् संग्रहणी (३) बृहत् क्षेत्र समास (४) विशेषणवती (५) जीतकल्प सूत्र आदि मुख्य हैं।

पाट परम्परा में इतने बड़े आचार्य का बहुत कम उल्लेख मिलता है। केवल खरतरगच्छ की पट्टावली में उनके नाम का निर्देश है।

लेकिन कुछ ऐसे तथ्य पाये जाते हैं जिससे यह मानना अत्यधिक उपयुक्त लगता है कि यह संवत् शक संवत् होना चाहिये ओर ५८५ के बदले ६८५ तदनुसार १३५/६८५ में उनका स्वर्गवास वि० सं० ८२० होना चाहिये।

आचार्य सिद्धर्षि हरिभद्र सूरी को एक प्रकार से अपना गुरु मानते थे। उपमिति भव-प्रपंच कथा में उन्होंने उनका उल्लेख किया है जिसका रचना काल वि० सं० ९६२ है। यानी हरिभद्र उनसे प्राचीन थे।

कुवलयमाला के रचयिता उद्योतन सूरि ने उनका उल्लेख अपने उस ग्रन्थ में किया है। जिसका समय वि० सं० ८३५ है। तदनुसार उससे अर्वाचीन हरिभद्र नहीं थे।

नन्दी सूत्र के उपर लिखी उनकी संस्कृत टीका में उन्होंने जिनदास महत्तर की चूर्णी से वैसे के वैसे अवतरण लिये हैं। यह चूर्णी जिनदासजी ने वि० सं० ७३६ (शक संवत् ५९८) में पूर्ण की है।

तदनुसार इतने बड़े ग्रन्थ लिखने का समय भी होना चाहिये। उनके लिये एतदर्थ ६०-७० का आयुष्य मानना पड़ेगा। अर्थात् हरिभद्र सूरि का इतिहास की दृष्टि से समय वि० सं० ७५० से ८२० का होना चाहिये।

उद्योतन सूरि : आचार्य हरिभद्र सूरि को जिन्होंने अपना विद्या गुरु माना था वे उद्योतन सूरि थे। उनका पूरा नाम दाक्षिण्यांक उद्योतन सूरि है। उनका समय वि० सं० ८३४ के आसपास माना गया है। उन्होंने तत्त्वाचार्य के पास दीक्षा ली थी।

कःकाकिकीकुकूकेकैकोकौकंकः　कखगघङचछजझञटठडढणा
३ विष्णुःब्रह्माःप्रद्युम्नःधृतराष्ट्रःजिनेंद्रः　टठणतथदधनपफबभमयरा
लिपीकृतंचन्द्रमल्लेनआर्यजीश्रीसि १ लवशषसहळक्षज्ञः॥लिपिकृतंमु
रेकैंवरजीतल्लिखनार्थेउँकल्याणमस्तु　लिपिचंदमलाकेनसंवत् [illegible] ॥ ४

उन्होंने निष्पक्ष भाव से जैन धर्म के उपर जो श्रद्धा रखी थी वह जैन धर्म की सत्यता के कारण थी। अतः वे कहते थे :—

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेष मात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्व परीक्षया च त्वामेव वीर! प्रभुमाश्रिताः स्मः॥

—हे वीरप्रभु! केवल श्रद्धा या पक्षपात से, या अन्यों के प्रति द्वेष भाव से अन्यों के प्रति अनादर हैं वह बात नहीं है; किन्तु परीक्षा कर जिनके वचन स्वीकार करने योग्य हैं उनको ही हम स्वीकार करते हैं।

राजा सिद्धराज ने उन्हें एक बार पूछा कि "दुनियाँ में कौन से धर्म से मोक्ष जा सकते हैं?"

तब उन्होंने ब्राह्मण पुराण में आते शंखाख्यान का अधिकार सुनाया और धर्म की खोज के लिये जो निष्पक्ष भाव बताया उसका सिद्धराज पर अनन्य प्रभाव पड़ा।

सिद्धराज मरण तक आचार्य हेमचन्द्र को चाहता था। उसका उत्तराधिकारी कुमारपाल राजा बना। सिद्धराज उसे नहीं चाहता था; अतः उसे मरवा देने का प्रयत्न किया। परन्तु हेमचन्द्राचार्य ने उसे बचाया था; अतः सिद्धराज के बाद वह राजा बना तो आचार्य हेमचन्द्र को जैन धर्म का प्रभाव बढ़ाने का और भी मौका मिला। कुमारपाल से उन्होंने राज्य भर में "अमारि" की घोषणा करवा ली।

कहा जाता है कि कुमारपाल ने अपने उदयन मन्त्रीजी के द्वारा आचार्यश्री को बुला कर वन्दना करके कहा :—"यह राज्य आपका है; आप ही इसके स्वामी हैं; यह तन, मन और धन आपको अर्पण है।"

तब आचार्यश्री हेमचन्द्रजी ने कहा :—"राजन्! जगत में अहिंसा और जैन धर्म का पूर्ण रूप से उत्कर्ष देखने की मेरी इच्छा है; अतः तुम मेरी तीन आज्ञा का पालन करो!"

उनकी सुप्रसिद्ध कृति "कुवलय माला" है जो प्राकृत भाषा का अमूल्य काव्य ग्रन्थ है। उसकी रचना काव्य के समान सरस और मधुर है। कई इसकी तुलना बाणभट्ट की कादम्बरी से भी करते हैं।

एक दिन वे रास्ते से जा रहे थे कि उनके कानों में यह गाथा सुनाई पड़ी :—

चक्किदुगं, हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की, केसव दुचक्की केसीय चक्कीय॥

—अर्थात् अनुक्रम से दो चक्रवर्ती, पाँच वासुदेव, पाँच चक्रवर्ती, एक वासुदेव और एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव, दो चक्रवर्ती, एक वासुदेव और एक चक्रवर्ती—(इस प्रकार भरत क्षेत्र में, अवसर्पिणी काल में कुल बारह चक्रवर्ती और नव वासुदेव हुए।

गाथा बड़े मधुर लय में गाई जा रही थी। हरिभद्र तन्मय हो गये। वे उस गाथा गानेवाली साध्वी के पास गये। वे उस गाथा का अर्थ नहीं समझ रहे थे अतः उनसे पूछ कर अर्थ समझा।

वे साध्वी थीं याकिनी महत्तरा। प्रतिज्ञा के अनुसार उन्हें अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना की।

साध्वीजी ने कहा :—"भंते! यदि किसी को गुरु बनाना चाहो तो मेरे गुरु जिनदत्त आचार्य हैं उनके पास जाओ!"

साध्वीजी के आग्रह से वे आचार्य जिनदत्त सूरि के पास गये। बड़े प्रतापी, तेजस्वी शांत एवं गम्भीर मुख मुद्राधारी आचार्य को देख हरिभद्र के मुँह से निकल पड़ा :—

वपुरेव तवाचष्टे भगवन् वीतरागताम्।
नहि कोटर संस्थवानौ, तरुर्भवति शाद्वल॥

—हे भगवान! आपकी मूर्ति ही वीतरागिता को बतला रही है। यदि कोटर में आग हो तो वृक्ष कहाँ से हरा-भरा दिखेगा? यानी आपका शांत खिला हुआ तन है वैसा ही मन और हृदय है?"

विद्या और साहित्य के सारे अंगों में उनकी शक्ति अगाध थी। कई लोगों ने उन्हें ज्ञान का महासागर भी कहा है। साहित्य के प्रथम शब्द — शब्द से लेकर प्रबन्ध, काव्य, तर्क आदि सारे क्षेत्रों को आप ने विद्वता पूर्ण रीति से स्पर्शा है।

शब्दानुशासन, छन्दोनुशासन, काव्यानुशासन और लिंगानुशासन के द्वारा साहित्य क्या है? उसकी आपने व्याख्या की। सिद्ध हेमव्याकरण रचकर आपने साहित्य में व्याकरण का क्या स्थान है स्पष्ट बताया। अभिधान चिंतामणि, हेम अनेकार्थ संग्रह, देशी नाम माला एवं निघंटु कोष रचकर आपका शब्द-कोष कितना गहन है उसका परिचय दिया। प्रमाण मीमांसा, अन्य योग व्यवच्छेद नामक ग्रन्थों की रचना करके दर्शन शास्त्र के भंडार को उन्होंने अपूर्व रत्न प्रदान किये। योग शास्त्र और अध्यात्मोपनिषद् लिख कर आपने धर्म और योग का समन्वय किया। काव्य में वीतराग स्तोत्र, सप्त संधान, परिशिष्ट पर्व आदि काव्य ग्रन्थ की रचना की ओर कुमारपाल चरित्र नामक प्राकृत काव्य और द्वयाश्रय महा काव्य संस्कृत भाषा में लिखा। उनके इस महान ज्ञान को देख कर लोगों ने उनको कलिकाल सर्वज्ञ भी कहा है।

आचार्यश्री का शिष्य समुदाय भी उनके योग्य ज्ञानी शिष्यों से भरपूर था। उनके शिष्य रामचन्द्र सूरि ने केल-विलास, यदु-विलास, सत्य हरिश्चन्द्र आदि नाटक लिखें एवं अपने गुरुभाई के सहयोग से नाट्य-दर्शन लिखा। द्रव्यालंकार, कुमार विहार शतक, आदि की भी रचना की।

वि० सं० १२२९ में इस अगाध ज्ञान का तेजस्वी सूर्य अस्त हो गया। साथ ही उनके पश्चात् वाद-विवाद बढ़ता ही गया। जिस राज्याश्रय से श्री हेमचन्द्र आचार्य दूर रहे थे — जिस समन्वय को उन्होंने साधा था वह बाद में नहीं रहा।

जैन श्रमण संघ अनेकानेक सम्प्रदायों में बँटता चला गया और अनेक कारणों से जो एकता देवर्धि क्षमागणि ने लाई थी वह दो सदी तक बिखरती चली गई।

समय धार्मिक मतभेद उग्र था और दोनों जैन हैं यह बात मालूम हो तो कोई बौद्ध उन्हें न पढ़ाता। अतः गुप्त वेश में वे बौद्ध विद्या-पीठ में अध्ययन करने लगे।

विद्या-पीठ के अधिकारियों को शंका हुई और उन्होंने पता लगवाया। वे जैन हैं यह मालूम होते ही उन्हें मार डालने की योजना बनाई गई।

उन दोनों को इस बात का पता लग गया और वे वहाँ से भाग चले। कहते हैं कि उनका पीछा किया गया और हंस तो मार्ग में ही लड़ते-लड़ते मारा गया; किन्तु परमहंस किसी भी प्रकार अपने गुरु के पास चित्रकूट पहुँचे।[†]

हरिभद्र ने जब परमहंस से सारी बात सुनी तो वे क्रोध से उन्मत्त हो गये। उन्होंने बौद्धों को शास्त्रार्थ करने के लिये चुनौती दी। शास्त्रार्थ की प्रतिज्ञा थी कि जो हारेगा उसे उबलते तेल के कढ़ाह में जल कर मरना पड़ेगा।

बहुत से बौद्ध पंडित शास्त्रार्थ करने आये और हार कर उन्हें उबलते तेल के कढाहों में प्राण देने पड़े। जैन समाज को यह सुन कर क्षोभ हुआ। आचार्य जिनदत्त सूरि को भी उचित नहीं लगा और उनकी आत्म शांति के लिये समरादित्य की प्राकृत भाषा में तीन गाथायें भेजीं जिन्हें पढ़ कर उनका कोप शांत हुआ।

वे आचार्यश्री के पास आये और श्रमणाचार के विरुद्ध इस कार्यवाही के लिये उन्होंने प्रायश्चित चाहा। आचार्यश्री ने इस तेजस्विता के यथार्थ उपयोग के लिये कहा:—
"वत्स! १४४० ग्रन्थों की रचना करो!"

इस कथा में कितना सत्य है यह तो केवली ही जाने; किन्तु इसमें कोई शक नहीं है कि जितने अधिक ग्रन्थ उनके नाम से आज भी उपलब्ध हैं उतने किसी के नहीं हैं। उनका साहित्य, आगम टीका से लेकर कथा तक विस्तृत है।

---

† दिगम्बर ग्रन्थों में अकलंक-निष्कलंक की कहानी भी कुछ इससे मिलती है। निष्कलंक मारा गया और अकलंक बच निकले। दोनों का समय भी हरिभद्र सूरि का समय माना गया है।

क: का कि की कु कू के कै को कौ कं क: कखगघङ। चछजझञटठड।
२ विष्णु: आज्ञा: प्रद्युम्न: धृतराष्ट्र: जिनेंद्र: ढणतथदधनपफबभमयर।
लिपीकृतं वन्धमल्लेन आर्यजीश्री सि २ लवशषसहक्षज्ञ:॥ [illegible]
रेकंवरजीत ल्लिखनार्थे कल्याणमस्तु [illegible] ॥ ४

किया है, वह सचा नहीं है; क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष तो विरोध है।" तब शिष्य बोला :— "आप ठीक नहीं कह रहे हैं।" इस पर जमालि ने कहा —"तुम क्षमा याचना करो।"

तब वैयावृत्यकार श्रमण का पक्ष लेकर अन्य ज्ञानी स्थविरों ने कहा :—"वह ऋजु सूत्र नय की अपेक्षा से सत्य है और भगवान महावीर ने "करेमाणे कडे" डज्झमाणे दड्ढे, (कर रहा को किया, जल रहा को जला) ऐसे अनेक स्थान पर प्रयोग किया है। यह निश्चय नय से सत्य है!"

किन्तु रोगी जमालि के मन में वह नयवाद नहीं जंचा और 'प्रारम्भ किया' या 'हो रहा है' कार्य को पूर्ण हुए बिना 'हुआ' नहीं कहना चाहिये, वह असत्य है, क्योंकि 'हो रहा है' और 'हो गया' उसके बीच कई क्षणों का अन्तर है। श्रमणों ने उसे बहुत समझाया पर वह नहीं माना। उसके असत्य आग्रह के कारण अन्य अधिकांश श्रमण उसे छोड़ कर चले गये; किन्तु कुछ उसके साथी उसके साथ रहे। साध्वी प्रियदर्शना भी उसके मत को मानने लगी। उसकी शिष्यायें भी उसके साथ थीं। कहा जाता है कि जमालि अपने जीवन पर्यंत इस 'बहुरत' वाद का प्रचार करता रहा और शासन के विरोधी के रूप में पहले निह्नव के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रियदर्शना एक बार विहार करती श्रावस्ती नगरी में **श्रमणोपासक ढंक कुंभकारकी** भांडशाला में ठहरी थीं। ढंक श्रावक को प्रियदर्शना की मान्यता का परिचय था; अतः ढंक श्रावक ने अपने निंवाड़े (वर्तन पकाने का भट्ठा) से एक चिन्गारी प्रियदर्शना की संघाटी (उपर की चादर) पर फेंकी।

चादर जलते ही प्रियदर्शना ने कहा :—"श्रावकजी! यह क्या मेरी चादर जला दी?"

ढंक ने कहा :—"अभी तो चद्दर जली नहीं है; फिर भी उसे जला दी कैसे कह रही हो?"

प्रियदर्शना साध्वी समझ गई और उसने कहा :—"देवानुप्रिये! आपने आज मुझे सत्य धर्म समझा दिया!"

टीका के रूप में सामने रखा। उन्होंने "सम्बोध प्रकरण" में बहुत ही खुला वर्णन किया है :—
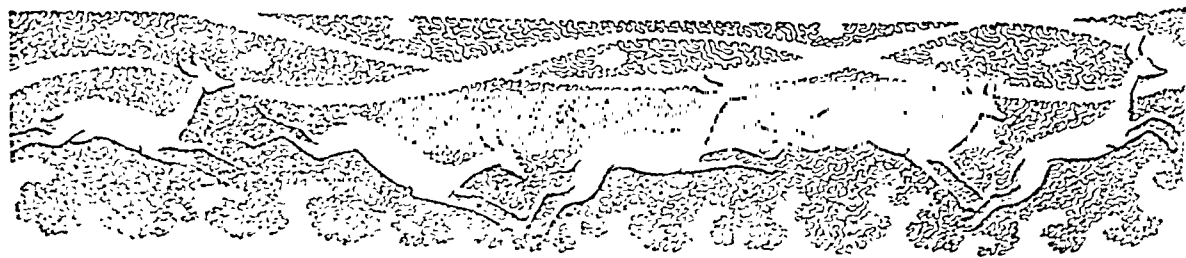
> चेइयमढाइवासं पूयारंभाई निच्चसितं
> देवाइ दव्व भोगं जिणहर सालाई करणंच।
> मय किंच जिणपूया परूवणं मय धणाणं जिण दंसणे
> गिहिपुरओ अंगाई पवचण कहण धनट्टाए॥

— आजकल संयम और त्याग मार्गी जैन साधु चैत्य और मठ में निवास करते हैं। पूजा की आरती करते हैं। जिन मन्दिर और पौषधशाला चलाते हैं। देव द्रव्य का स्वयं उपयोग करते हैं।

आगे भी उन्होंने उनके मिथ्याचार को स्पष्ट बता कर लिखा है कि वे साधु - प्रतिमा का पालन नहीं करते।

आचार्य हरिभद्र सूरि की आत्मा में जो जोश पहले था तदनुसार वे पहले राज - पुरोहित के पद से शास्त्रार्थ करने पर थे। बाद में हंस - परमहंस के किस्से में, उन्होंने बौद्धों से शास्त्रार्थ किया। किन्तु जब उन्होंने अपने समाज में संयम अवस्था की जो दुर्दशा देखी कि धर्म के बदले चैत्य - पूजा, परिग्रह आदि बढ़ते जा रहे हैं तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि ये संयम - मार्ग नहीं है। फिर भी जब श्रमण संस्था ने उनकी बात नहीं सुनी तो उन्होंने लोक - मानस को जागृत करने सच्चे आगम ज्ञान को सार्थ टीका से सरलतम बना कर लिखना आरम्भ किया। जिसमें धर्म, आगम, दर्शन के वर्गीकरण से निम्नोक्त ग्रन्थ लोकोपयोग के लिये महत्त्व के हैं :—

आगम टीका	धर्म समाज परिचय	न्याय दर्शन परिचय
आवश्यक बृहद्वृत्ति	अष्टक प्रकरण	अनेकांतवाद प्रवेश
दशवैकालिक सूत्र वृत्ति	उपदेश प्रकरण	अनेकांत जयपताका
नन्दी सूत्र लघु वृत्ति	धर्म बिंदु प्रकरण	(पक्ष वृत्ति सहित)

अनेक युक्तियों से समझाने पर भी तिष्यगुप्त नहीं माना तब आचार्य ने उसे अपने समुदाय से पृथक् कर दिया। उसके साथ उसके थोड़े शिष्य भी अलग हो गये।

तिष्यगुप्त अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हुआ विचरण करने लगा। एक वार वह आमल-कल्पा नगरी में अम्बशाल वन में ठहरा। उस नगरी में मित्रश्री नामक श्रमणोपासक रहता था। तिष्यगुप्त के मिथ्या तर्क को दूर करने के लिये उसने तिष्यगुप्त को अपने यहाँ आहार-वस्त्र आदि बहराने के लिये ले गया।

तिष्यगुप्त अपने शिष्यों के साथ वहाँ गया। मित्रश्री के द्वारा खाद्य पकवान लाये गये। उनमें से प्रत्येक पदार्थ कण मात्र या बूँद मात्र रखा। वैसे ही वस्त्र का अन्तिम धागा भी दिया।

मित्रश्री ने पश्चात् तिष्यगुप्त को शीश झुका कर अपने लोगों से कहा :—"आज हम सभी धन्य हुए हैं कि साधु महाराज को हम प्रासुक दान दे सके हैं।"

तिष्यगुप्त ने कहा :—"देवानुप्रिय! क्या हमारा विनोद-अपमान करने हमें बुलाया था?"

"भंते! क्या यह आपके सिद्धांतानुसार दान नहीं है? क्योंकि दाल की एक बूँद भी दाल है और चावल का एक दाना भी चावल है! आपकी प्रणालिका से भिक्षा दे दी गई है। अब आप चाहें तो सच्ची जिन प्रणालिका से दान दूँ!"

तिष्यगुप्त को अपनी भूल समझ में आई। उसने कहा :—"आपने मुझे सच्चा ज्ञान दिया....!"

वह पुनः अपनी भूल का प्रायश्चित करके महावीर के शासन में आ गया; किन्तु जमालि ने मरण पर्यंत अपना वाद नहीं छोड़ा।

(३) अव्यक्तवादी आषाढाचार्य-शिष्य :—"भगवान महावीर के शासन के २१४ वर्ष बाद एक वार आर्य आषाढ़ाचार्य श्वेताम्बिका नगरी में पोलासोद्यान में पधारे। उनके अनेक शिष्यों ने अगाढ़ योग किया। आचार्य आषाढ़ उस योग को करानेवाले

इतने बड़े ग्रन्थकार होने पर भी उन्होंने अपने जीवन के सम्बन्ध में कहीं पर भी महत्व पूर्ण उल्लेख नहीं दिया है। कहीं - कहीं पर अन्त में अपने धर्म, धर्म - गुरु, सम्प्रदाय, धर्म - माता और स्वयं के नाम का मात्र उल्लेख किया है।

लेकिन उनके बाद के आचार्यों ने एकमत से उनकी साहित्य प्रतिभा और ग्रन्थ निर्माण का उल्लेख किया है। कुवलय माला के कथाकार उद्यतन सूरि ने प्रारम्भ में कवि गुण गान के समय उनका उल्लेख इस प्रकार किया है :—

जो इच्छइ भव विरहं भव विरहं को न वंदए सुयणो।
समय - सय - सत्थ गुरुणो समरमियंका कहा जस्स॥

आचार्य हरिभद्र ने अपना उल्लेख "भव विरह" या "विरह" शब्द को अन्त में, कैसे भी प्रयोग करके अपने ग्रन्थों में किया है। इसीलिये उन्हें "विरहांक" कवि के रूप में साहित्यकारों ने माना है।

यह उपयुक्त ही था कि आचार्य जिनदत्त सूरि ने अपने बाद उन्हें आचार्य पद दिया। इतने विपुल ग्रन्थों की रचना करनेवाले का आयुष्य भी दीर्घ होना चाहिये और स्वर्गवास के बारे में आचार्य मेरुतुंग से उनका उल्लेख 'विचार श्रेणि' ग्रन्थ में मिलता है :—

पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झत्ति अत्थिं मिओ।
हरिभद्द सूरि सूरो भवियाणं दिसउ कल्लाणं॥

अर्थात् विक्रम संवत् ५८५ में अस्त (स्वर्गवास) हुए हरिभद्र सूरि रूपी सूर्य भव्यजनों को कल्याण करें। तदनुसार ४७० x ५८५ यानी वी० सं० १०५५ में उनका स्वर्गवास माना जाता है।

वप्पभट्टि सूरि :— मेवाड़ में जैन धर्म की पताका फहरानेवाले हरिभद्र सूरि थे जो आजकल के ग्वालियर व झूमराड़ के आसपास धर्म का प्रचार करनेवाले वप्पभट्टि सूरि का काल वि० सं० ८०० से ८९५ का माना जाता है।

एक बार वे राजगृही के गुणशिलक चैत्य में आये। वहाँ का राजा बलभद्र था। वह जैन मत का था। उसने इन अव्यक्तवादियों की प्ररूपणा सुनी थी। उसने सेवकों को बुला कर कहा कि "गुणशिलक चैत्य से साधुओं को बुला लाओ!"

राजसेवक उन्हें ले आये तब राजा ने कहा :—"इनको मरवा दो!"

तब अव्यक्तवादी बोले :—"तुम श्रावक होकर हम साधुओं को मरवाने का कैसे आदेश देते हो?"

राजा ने कहा :—"साधु हो तो परस्पर वन्दना करते हो?"

"नहीं! क्योंकि हम अव्यक्तवाद को मानते हैं!" उन आषाढाचार्य के शिष्यों ने कहा।

राजा ने कहा :—"तुम्हारे अव्यक्तवाद से ही तुम साधु हो या छल प्रपंच करनेवाली आत्मा हो यह कौन जानता है? तुम से राज्य में आपत्ति आ सकती है; अतः तुम्हारा नाश ही उचित है!"

"श्रावकवर्य! ऐसा मत कहो!"

"मैं श्रावक हूँ या नहीं, यह कैसे निश्चय से कह सकते हो? फिर मेरे अनिश्चय रूप से क्यों कुछ माँगते हो?" राजा ने पूछा।

अब अव्यक्तवादी समझे। उन्होंने राजा से कहा :—"अब हमारी समझ में आ गया है....!"

राजा ने कहा :—"आपको समझाने के लिये ही यह सब करना पड़ा है। क्षमा करना!"

राजा ने उन साधुओं को छोड़ दिया। वे बड़े लज्जित हुए और उन्होंने अब तक जो शासन विरुद्ध किया था उसकी आलोचना की। प्रायश्चित्त लेकर वे शासन में पुनः प्रविष्ट हुए।

वे गुजरात के श्रीमाल नगर के राज्य मन्त्री सुप्रभदेव के छोटे पुत्र थे। कहा जाता है कि संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि माघ इनके चचेरे भाई थे। यौवनावस्था में वे विषय-विलास के साथ जुए के व्यसनी बने। बहुत सा धन बर्बाद करने के बाद वे माताजी की प्रताडना सुन कर अर्ध रात्रि को घर छोड़ कर उपाश्रय में जा बैठे।

यहीं से उनका परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। वहाँ उनको श्रमणों का परिचय हुआ और दुर्गस्वामी के पास आपने दीक्षा ली। उन्होंने "उपमिति भव प्रपन्च कथा" नामक एक विशाल ग्रन्थ रचा जो संस्कृत साहित्य की विशिष्ट कृति है। उसकी समाप्ति के सम्बन्ध में अन्त में लिखा है कि "यह ग्रन्थ वि० सं० ९६३ * के ज्येष्ठ शुक्ला ५ गुरुवार के दिन पूर्ण हुआ। मूलत: चन्द्रकेवली चरित्र का प्राकृत से संस्कृत में सफल अनुवाद किया।"

इनके बाद **जम्बुनाग स्वामी** ने "मणियति चरित्र" ग्रन्थ एक "जिन शतक" तथा "चन्द्रदूत" काव्य की रचना की।

प्रद्युम्न सूरि :— ये वैदिक शास्त्र के प्रकांड पंडित थे। वे बड़े शास्त्रार्थी थे और उन्होंने बौद्धों एवं दिगम्बरों को शास्त्रार्थ में हराया था। सपादलक्षी और त्रिभुवन गिरि के राजाओं को उन्होंने जैन धर्म की पवित्र दीक्षा दी थी। उन्होंने अपने अनुभवों से जिस न्याय-दर्शन युग का प्रारम्भ किया। उसके प्रथम रत्न के रूप में दार्शनिक अभयदेव सूरि प्रथम थे।

महान दार्शनिक अभयदेव सूरि :— धारा नगरी में महाराज भोज के समय महीधर पति नाम के श्रेष्ठी थे। उनकी पत्नी धनदेवी थी। आपके ही सुपुत्र अभयकुमार हुए।

आप आचार्य प्रद्युम्न सूरि से प्रभावित हुए। उनसे दीक्षित हुए शिष्यों में से उनके शास्त्रार्थ के समय की तर्क पूर्ण शैली ने आप पर ऐसा प्रभाव डाला कि न्याय-दर्शन के गहनतम प्रश्न सरलता से आप समझने लगे।

सिद्धसेन दिवाकर के सन्मति तर्क ग्रन्थ (१६७ आर्य छन्द) प्राकृत में लिखा था। उस पर आपने विस्तृत टीका लिखी। जैन-न्याय-तर्क का प्रारम्भ सिद्धसेन दिवाकर

* अन्यत्र वि० सं० ९६२ का उल्लेख मिलता है।

---

३ कः का कि की कु कू के कै को कौ कं कः कखगघङ। चछजझञ टठडढण।
विष्णुः आज्ञाः ब्रह्माः धृतराष्ट्रः जिनेन्द्रः तथदधन पफबभमयर।
लिपीकृतं चन्द्रमल्लेन आर्यजी श्री सि १ लवशषसहळक्षज्ञः॥ लिपिकृतं मु
रेकँवरजी तल्लिखनार्थे ॥ कल्याणमस्तु नि चांदमल जी केन संवत् [illegible] ॥ ४

खंडरक्षक ने कहा :—"आपके सिद्धांत से आप स्वयं साधु नहीं हैं। जो थे उनका व्युच्छेद हो गया। अतः आप कोई धूर्त प्रपंची हो जिससे नगर में उपद्रव होने की आशंका है।"

अश्वमित्र आदि अपनी भूल समझ गये। उन्होंने उसकी आलोचना की ओर प्रायश्चित स्वीकार कर शासन का मार्ग लिया।

इस प्रकार चौथा निह्नव सामुच्छेदिक अश्वमित्र हुआ था।

५. **द्वि-क्रियावादी गंग** :— अश्वमित्र के करीब आठ वर्ष पश्चात् यानी भगवान महावीर के निर्वाण के ३२८ वर्ष के बाद आचार्य महागिरि के शिष्य धनगुप्त, एक बार उल्लुका तीर नगरी में अपने शिष्यों के साथ पधारे।

यह नगरी उल्लुका नदी के किनारे थी। उसके आसपास की बस्ती उल्लुका जन पद के नाम से सुप्रसिद्ध थी। नदी के दोनों तट पर दो नगर बसे हुए थे। एक का नाम 'खेट' था और दूसरे का नाम 'उल्लुका तीर' था।

आचार्य धनगुप्त पश्चिम तट पर थे और उनका शिष्य आर्य गंग नदी के पूर्व तट पर था। चातुर्मास में जब शरद् काल प्रारम्भ हुआ तब गंग आचार्य के दर्शन निमित्त चला। उसका सिर गंजा था तो धूप में जल रहा था। उल्लुका नदी पार करते हुए जल के स्पर्श से उसे शीतलता का अनुभव हुआ।

उस समय गंग के मन में एक शंका हुई :—"एक समय में एक ही क्रिया का ज्ञान होता है—शीत स्पर्श या उष्ण स्पर्श। किन्तु यह क्या? मैं एक साथ दो क्रियाओं का अनुभव कर रहा हूँ; अतः एक समय दो क्रियाओं का अनुभव होता है।"

उसने आचार्य धनगुप्त को वन्दना करके अपनी यह बात कही। आचार्य धनगुप्त ने कहा :—"गंग! एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव नहीं होता! यह भगवान का वाक्य है। समय और मन अति सूक्ष्म होता है। वे अलग होते हुए भी स्थूल बुद्धि से एक से प्रतीत होते हैं। जैसे उत्पल पत्र के शतवेध में एक साथ सारे पत्रों का वेध हुआ

उत्तराध्ययन सूत्र पर पाइय टीका रची। महाराज मुंज के विद्वान मंडल में आप सन्मानीय थे। बाद में महाराज भोज ने आपको "वादी वेताल" की पदवी देकर सन्मानित किया।

वर्धमान सूरि ने वि० सं० १०४५ में हरिभद्र सूरि कृत उपदेश पद की टीका लिखी। तदुपरांत "उपमिति भव प्रपंच कथानां सम्मुच्चय" और "उपदेश माला बृहत्वृत्ति" नाम की टीका भी लिखी ऐसा माना जाता है। वि० सं० १०७३ में कक्क (र) सूरि के शिष्य जिनचन्द्र गणि ने पाटण में नवपद लघुवृत्ति रची। आप देवगुप्त के नाम से प्रसिद्ध हुए और आपने नव तत्त्व प्रकरण भी लिखा।

जिनेश्वर सूरि और उनके शिष्य :— विक्रम की ११ वीं सदी के अन्त में चैत्यवासी और चैत्य में रहनेवाले यतियों का जीवन श्रमण परम्परा के विपरीत शास्त्रों के प्रतिकूल ही चला था। उस समय जिनेश्वर सूरि हुए। चैत्यवासियों की स्थिति उस समय करीब - करीब मठाधीशों जैसी हो चली थी। विहार गोचरी आदि के नियमों का पालन नहीं होता था। वे चैत्यों में पड़े रहते थे। वहीं भोजन करने और रात्रि निवास भी उनका वहीं होता था। उनका आचार सूत्र वर्णित निर्ग्रंथ जैन मुनि सा नहीं था। फिर भी जैन समाज पर उनका प्रभाव था।

उस समय अणहिलपुर पाटण में जैनों का प्रभुत्व था। राज - दरबार से लेकर जीवन के दैनिक कार्यों में जैनों का स्पष्ट प्रभाव था।

शास्त्रकार शांत्याचार्य, महाकवि सूराचार्य, मन्त्रवादी वीराचार्य आदि प्रभावशाली अग्रणी चैत्यवासी यतियों को, जैन समाज के धर्माचार्य जैसे सम्मान व स्थान प्राप्त थे। ये लोग जैन धर्म शास्त्र के उपरांत, ज्योतिष, मन्त्र - तन्त्र, वैद्यक आदि के जानकार थे। उनकी पाठशालाओं में जैन बालकों को सभी तरह का अभ्यास कराया जाता था।

आचार्य वर्धमान सूरि भी पहले यति ही थे; किन्तु जैन - शास्त्रों का विशेष अध्ययन करने पर उन्हें सत्य - मार्ग का प्रकाश मिला और उन्होंने विशिष्ट त्यागमय जीवन

॥ ॐ नमः सिद्धं ॥ अ आ इ ई उ ऊ　　स ह ळ क्ष ज्ञ ॥ क्र ख्र ग्र घ्र ङ्र च्र छ्र ज्र झ्र ञ्र
ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ　　ट्र ठ्र ड्र ढ्र ण्र त्र थ्र द्र ध्र न्र प्र फ्र ब्र भ्र म्र य्र
च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ　　र्र ल्र व्र श्र ष्र स्र ह्र ळ्र क्ष्र ज्ञ्र ॥ क्ख ...
ब भ म य र ल व श ष स ह ळ क्ष ज्ञ ः　　[illegible]

इस प्रकार पाँचवाँ द्वि-क्रियावादी निह्नव गंग हुआ।

६. **त्रैराशिक रोहगुप्त :—** भगवान महावीर के निर्वाण के बाद ५४४ वर्ष हुए उस समय अतिरंजिका नगरी में बलश्री नाम का राजा राज्य करता था। उस नगरी के बाहर "भूतगुहा" चैत्य था।

उस समय आचार्य श्रीगुप्त* उस राज्य में विचरण कर रहे थे। उनका एक शिष्य रोहगुप्त था। आचार्य श्रीगुप्त एक बार भूतगुहा चैत्य में विराजमान थे तब रोहगुप्त उनको वन्दना करने के लिये आसपास के नगर से जा रहा था।

रास्ते में उसे एक परिव्राजक मिला जिसका नाम पोट्टसाल था। उसने ढिंढोरा पिटवाया था कि :—"पर प्रवाद सभी शून्य हैं और एतदर्थ में किसी से शास्त्रार्थ करने तैयार हूँ!" पोट्टसाल ने अपने पेट पर लोहे का पट्टा बाँध रखा था और कहता था कि "मेरे ज्ञान से मेरा पेट न फटे एतदर्थ मैंने लोहपट्ट बांधा है। जम्बू (जामुन) वृक्ष की डाली हाथ में रख कर कहता था कि इस जम्बू द्वीप में मेरा कोई प्रतिवादी नहीं है।"

रोहगुप्त ने उसका ढिंढोरा रुकवाया और कहा कि गुरु-दर्शन करके मैं शास्त्रार्थ करूँगा। आचार्य के दर्शन कर वन्दना करके उसने सारी बात कही। आचार्य श्री गुप्त ने कहा :—"यह तुमने उचित नहीं किया। शास्त्रार्थ में हार जाने पर भी वह अपनी विद्याओं का प्रयोग करेगा; क्योंकि वह विद्या-बली है!"

"अब तो यह अपने शासन की प्रतिष्ठा का प्रश्न है।" रोहगुप्त ने कहा।

"अच्छा! मैं उन विद्याओं की प्रति-विद्यायें देता हूँ और साथ ही यह रजोहरण देता हूँ। बाद में कोइ उपद्रव हो तो इसे घुमाने से शांति हो जायेगी।" आचार्य ने रोहगुप्त को तैयार किया।

रोहगुप्त सभी प्रकार से विद्या शक्तियों से सज्ज होकर राज-सभा में गया। पोट्टसाल भी वहाँ आया और राजा के सामने दोनों का शास्त्रार्थ हुआ।

---

* आचार्य श्री गुप्त का समय वल्लभी-वाचना की एक पाटानुक्रम में १७ वीं पाट पर आता है।

देते थे। वर्धमान सूरि ने दोनों को आज्ञा दी कि अणहीलपुर पाटण जाकर जैन-धर्म का जयध्वज फहराओ। वे लोग (चैत्यवासी) वहाँ अन्य किसी को पैर नहीं धरने देते।

वे विहार करते-करते अणहीलपुर पाटण पहुँचे। शहर में प्रवेश करके ठहरने के स्थान की तलाश की; लेकिन किसी ने कोई जगह नहीं दी। गुरुजी की बात सच निकली।

अतः वे राजपुरोहित सोमेश्वर देव के घर गये और द्वार पर विशिष्ट संकेतवाले वेद मन्त्र उन्होंने पढ़े। पुरोहित ने दोनों को बुलाया और चैत्यवासियों को मनमानी करते जान कर उसने दोनों को पाठशाला में उतारा दिया। आसपास के घरों से उन्हें गोचरी दिलाई।

राजपुरोहित के घर दो नये जैन साधु आये हैं ऐसा समाचार नगर भर में फैल गया। बहुत से दर्शन करने आये और उनके गूढ़ शास्त्र ज्ञान से प्रभावित हुए।

उसी समय नगर के मुख्य चैत्यवासी आचार्यों के भेजे कितने ही लोग वहाँ पर आ पहुँचे। उन्होंने उनको "यहाँ पर रहने का अधिकार नहीं है, शीघ्र प्रस्थान करो!" आदि अनेक बातें कहीं।

राजपुरोहित ने उन्हें कह दिया :—"इसका फैसला तो दरबार में ही होगा।"

उस समय वहाँ चालुक्य वंश के राजा दुर्लभ राजा का राज्य था। अणहीलपुर पाटण में उस समय जैन यतियों का बड़ा वर्चस्व था। वे वनराज चावड़ा के समय से इस नगर में उतरने का स्थान अपने अपने अनुकूल जैन यतियों को देते थे। बाकी के लिये उनका निषेध जारी था।

उन्होंने राजा दुर्लभराय से अपने अधिकार की बात की। राज्य पुरोहित ने भी गुणवान श्रमणों का निरादर कैसे हो यह बात प्रस्तुत की। राजा दुर्लभराय ने दोनों की बातें सुनीं और कहा कि अच्छा जो श्रेष्ठ हो वे रहें।
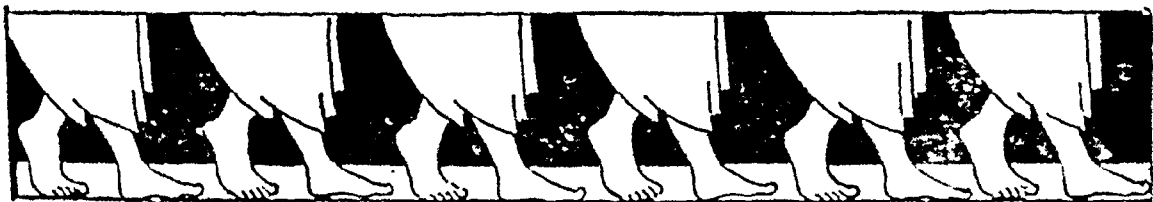
आचार्य ने "उसमें तीर्थंकरों की अशातना होती है" ऐसा कहा और बहुत समझाया मगर वह नहीं माना। अन्त में आचार्य श्रीगुप्त को राज-सभा में जाकर स्पष्ट कहना पड़ा। रोहगुप्त विवाद के लिये सामने आया।

छ मास विवाद में बीत गये। राजा ऊब गया। अन्त में आचार्य ने कहा :— "कुत्रिकापण किसी को भेज कर तीनों राशि को मंगवायें — वहाँ पर संसार के सारे द्रव्य रहते हैं।'

राज-पुरुष कुत्रिकापण गये वहाँ उन्होंने उक्त तीनों पदार्थों को माँगा। कुत्रिकापण के अधिष्ठाता देव ने 'जीव' माँगने पर सजीव पदार्थ और 'अजीव' माँगने पर निर्जीव वस्तु दी; किन्तु 'नोजीव' माँगने पर कुछ भी नहीं दिया।

राज-सभा में रोहगुप्त का पराजय हुआ। आचार्य ने उसे संघ बाहर किया और राजा ने उसे राज्य बाहर जाने का आदेश दिया।

कहा जाता है कि रोहगुप्त ने वैशेषिक दर्शन का प्रचार किया। इसे उसके गोत्र से औलुक्य दर्शन भी कहते हैं। रोहगुप्त ने छ पदार्थ माने — द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। द्रव्य नव माने — पृथ्वी, पानी, अग्नि, पवन, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। गुण उसने सत्रह माने — रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न। कर्म पांच प्रकार के माने — उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। सामान्य दो प्रकार का माना — महा सामान्य-सत्ता सामान्य और सामान्य विशेष। विशेष अनेक प्रकार के माने। समभाव को 'इह' आदि प्रकार के प्रत्यय का हेतु माना।

रोहगुप्त वापस शासन में नहीं आया। उसका निह्नव छठ्ठा हुआ।

७. अबद्धिकवादी गोष्ठामहिल :— भगवान महावीर के निर्वाण को ५८४ वर्ष हो गये तब एक बार दशपुर नगर के इक्षुधर में आचार्य आर्यरक्षितजी ‡ के दुर्बलिका पुष्पमित्र और उनके शिष्य ठहरे। उसमें विंध्य और गोष्ठामहिल भी थे।

---

‡ अन्य एक वाचनानुसार १९वीं पाट पर आपका धर्म शासन था।

मेदपाट के वडसल नगर के राजा का पुत्र सांगदेव था। आचार्य जिनेश्वर सूरि वहाँ पधारे तब उनके उपदेश से प्रभावित होकर वैराग्य उत्पन्न हुआ और आचार्य ने दीक्षा दे उनका शुभ नाम अभयदेव रखा।[1]

जिनेश्वर सूरि की परम्परा से उन्होंने भी भववाधा संहरिणी तप किया। एक बार भयंकर रोग से ग्रसित होकर वे मृत्यु के पास पहुँच गये। एक रात उन्हें स्वप्न आया कि अभी उन्हें बहुत कुछ कार्य करना बाकी है और वे दीर्घ आयुष्य पायेंगे। यह किंवदन्ती है। तदनुसार जीवन की नई श्रद्धा से उन्होंने रोग समाप्ति पर स्वस्थता आने पर नवांगों पर टीका लिखने का कार्य प्रारम्भ किया। पाटण नगर में उन्होंने यह कार्य पूरा किया ऐसा माना जाता है।

उन्होंने निम्न: आगमों पर टीका लिखी :— १. स्थानांग २. समवायांग ३. भगवती ४. ज्ञाता धर्म कथा ५. उपासक दशांग ६. अन्तकृत (अन्तगड) दशा ७. अनुतरोपपातिक ८. प्रश्न व्याकरण ९. विपाक।

इन टीकाओं की भाषा सरल, सरस, अर्थ और भाव पूर्ण है। कुल ४७००० श्लोक हैं। तदुपरांत आप ने पंचाशत टीका भी लिखी।

आपकी दीक्षा सं. १०८८ में हुई।[2] संयम ४७ वर्ष का और आप सं. ११३५ में दिवंगत हुए।

बुद्धिसागर सूरि :— जिनेश्वर सूरि के सहोदर बुद्धिसागर सूरि भी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने संस्कृत शब्दों की सिद्धि के लिये ७०० श्लोक परिमित एक

---

1 कई इनके जन्म - स्थान माँ - बाप के रूप में दार्शनिक अभयदेव सूरि के जन्म - स्थान माँ - बाप को बताते हैं और दीक्षा स्थल धारा नगरी बताते हैं। संवत् के विचार से ऐसा शक्य नहीं है; किन्तु जैनाचार्यों में तीन अभयदेव सूरि हुए। अतः बहुत सी बातें एक दूसरे के वृत्तांत में मिल गई हों यह शक्य है।

2 इसी समय आबू के सुप्रसिद्ध जैन मंदिर का निर्माण मन्त्री विमलशाह ने करवाया।
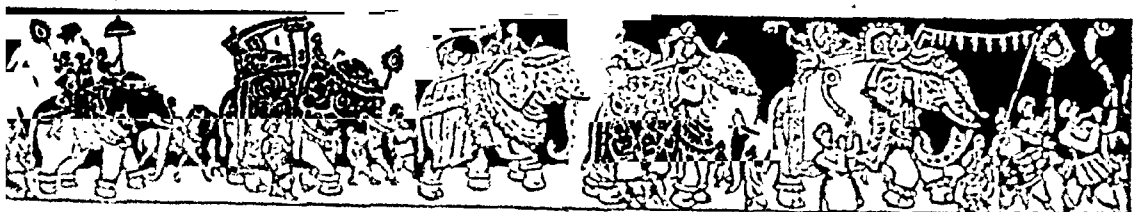
आचार्य पुष्पमित्र ने उसे बहुत समझाया पर गोष्ठामाहिल न माना। अन्य बहुश्रुत स्थविरों ने भी पुष्पमित्र के मत का समर्थन किया। तब गोष्ठामाहिल ने कहा :—"जैसा तीर्थंकरों ने कहा वैसे मैं कह रहा हूँ।"

सभी स्थविरों ने कहा :—"तीर्थंकरों ने कहा, ऐसा तीर्थंकरों का नाम लेकर क्यों मिथ्यावाद करते हो?"

पर गोष्ठामाहिल नहीं माना और श्रीसंघ इकट्ठा हुआ। श्रीसंघ के ध्यान धरने पर एक भद्रिक देवात्मा आई। संघ ने उसे महा विदेह क्षेत्र जाकर तीर्थंकर को पूछ कर आने के लिये कहा।

देवात्मा ने विशेष बल प्राप्त करने के लिये श्रीसंघ को ध्यान करने के लिये कहा। वह लौट कर आई और उसने कहा :—"गोष्ठामाहिल की बात मिथ्या है, यह निह्नव है।"

गोष्ठामाहिल ने फिर भी नहीं मानते हुए कहा :—"यह देवात्मा की क्या शक्ति है कि तीर्थंकर को पूछ कर आ सके? मैं नहीं मानता।"

तब श्रीसंघ ने गोष्ठामाहिल को पृथक् कर दिया। वह अपने मिथ्यावाद का प्रायश्चित किये बिना ही काल धर्म को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार ये सात पृथक् मतवादियों को निह्नव पूर्वाचार्यों ने माने हैं। वैसे तो भगवान महावीर के समय गोशालक भी हुआ। वह पहले अपने को महावीर का शिष्य बताता था और बाद में उसने आजीवक मत चलाया; किन्तु भगवान ने कभी उसे दीक्षा दी या संघ में लिया ऐसा नहीं हुआ था। उपरोक्त सातों ने शासन में दीक्षा ली थी, शासन का श्रमण वेश धारण कर अपने अवमत का प्रचार किया था। अतः ये निह्नव कहे जाते हैं। उनमें जमालि, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल आदि अन्तकाल तक अलग मतवाद पर डटे रहे और उन्होंने एतदर्थ कभी आलोचना कर प्रायश्चित नहीं किया। शेष चारों ने समझ कर, अपने मतवाद को मिथ्या जान कर प्रायश्चित ग्रहण किया और शासन में पुनः आ गये।

रामदेव गणि ने "षड़ नीति" और "सत्तरी" पर टिप्पणियाँ लिखीं। धनदेव के पुत्र ने वैराग्य शतक का निर्माण किया। देवचन्द्र सूरि ने "आराधना शास्त्र" "वीर चरित्र" "पार्श्वनाथ चरित्र" "कथा - रत्न कोष" आदि ग्रन्थ प्राकृत में लिखे।

विक्रम संवत् की १२वीं व १३वीं शताब्दी के बहुत से आचार्यों ने अन्यान्य जैन धर्म की सेवा की। जिसमें आगे जाकर सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र हुए जिन्होने जैन धर्म का यश बहुत फैलाया।

आचार्य हेमचन्द्र :— आपका जन्म वि० सं० ११४५ में हुआ था। माता का नाम पद्मिनी और पिता का नाम चांचिंग था। आपका नाम चंग था।

एक बार आचार्य देवचन्द्र के दर्शन कराने माता बालक चंग को ले गई। बालक के सुलक्षण जान कर आचार्य ने माँ से उसे मांग लिया। चांग के पिता को मालूम हुआ तब वह आचार्यश्री के पीछे खम्भात गया। किन्तु आचार्य के प्रभाव में बालक को पाकर उसने सन्तोष से स्वीकृति दे दी।

खम्भात में उदयन मन्त्री था। वह आचार्य देव का भक्त था। बड़े धूमधाम से चांग का दीक्षा महोत्सव मनाया गया। इनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। मुनि सोमचन्द्र विद्याभ्यास में आशातीत प्रगति करने लगे।

उनकी ज्ञान चारित्र्य संयम की निखरती प्रतिभा देखकर उन्हें युवावस्था में नागपुर नगर में आचार्य पद दिया गया।[†] और उन्हें आचार्य हेमचन्द्र सूरि का नाम दिया गया।

उनका प्रभाव गुजरात में बढ़ने लगा और वे पाटन की ओर गये जो जैन समाज का प्रमुख संस्कृति केन्द्र था। यहाँ का राजा सिद्धराज आप की विद्वता से प्रसन्न हुआ। आचार्य ने उसकी विद्वता की भी सराहना की ओर एक व्याकरण बनाया जिसका नाम "सिद्ध - हेम शब्दानुशासन" रखा गया।

---

† कई उम्र २१ वर्ष बताते हैं तो कई १७ वर्ष।
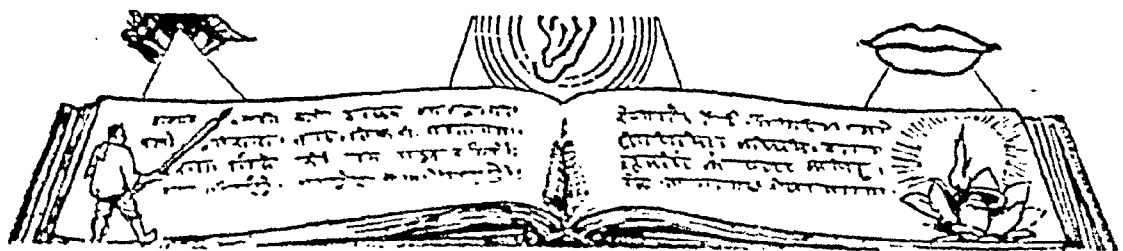
आचार्य भूधरजी इनकी सेवा, ज्ञान की लगन, उपदेश देने की सुमधुर शैली, काव्य एवं कंठ के कारण उनमें भविष्य की उज्जवल आशा देखते थे। उनकी अनुभवी आँखें भविष्य के पाट देखने का प्रयत्न करती थी और उनके आगे मुनिश्री जयमलजी जिन शासन की अभिवृद्धि करनेवाले चमकते सूर्य की तरह दिखाई देते थे।

देवर्षि क्षमागणि के बाद जो साधु समुदाय की पट्टावली चली इसका विवरण इस प्रकार आता है :—

देवर्षि क्षमागणि के महान शास्त्रोद्धार के बाद, बीस वर्ष तक तो बराबर व्यवस्था बनी रही। पुनः बारह वर्ष का अकाल पड़ा और लोकों में धर्म श्रद्धा कम होती गई। लोक मिथ्यात्वी बनते गये : किन्तु कुछ शुद्ध आचारवन्त श्रमणों ने धर्म को स्थिर करके रखा। अकाल में विहार करना, गोचरी प्राप्त करना एवं धर्मोपदेश देना आदि सारी बातें बड़ी कठिनाई से होती थीं।

गच्छ चौर्याशी तो बन ही चुके थे। समाचारी जो अब तक एक थी उसमें भी अन्तर पड़ने लगा और क्रमशः भिक्षाचार के नियम शिथिल होने लगे। साधु आचार में भी फर्क पड़ने लगा। अपने - अपने उपाश्रय और धर्म स्थानक बनने लगे। अन्ध श्रद्धा, चमत्कार और अपने - अपने फिरकेबन्दी में जन समूह को अपने - अपने ढंग से वे लोग श्रावक आचार दिखलाने लगे।

यहीं पर एक और पंथ चला जिसके श्रावक अपने को सरावगी[†] कहलाने लगे। ये श्रावक और सरावगी का नाम तो धराते थे; किन्तु इनके आचार - विचार आगम कथित श्रावक जैसे न रहे। वैसे उन्होंने आगमों को अमान्य भी किया।

भगवान महावीर स्वामी का शासन चालु रहेगा; अतः सच्चे साधु अपने साधु - मार्ग पर बराबर चलते थे और अच्छे एवं सच्चे श्रावक भी थे। किन्तु पट्टावलीकार के अनुसार इस पंचम आरे में धर्म ध्यान और सच्चा संयम पालन बड़ा दुर्लभ सा होता गया।

---

† श्रावगी :— दिगम्बर जैन श्रावक के लिये प्रयुक्त शब्द, अपभ्रंश होते सरावगी बन गया।
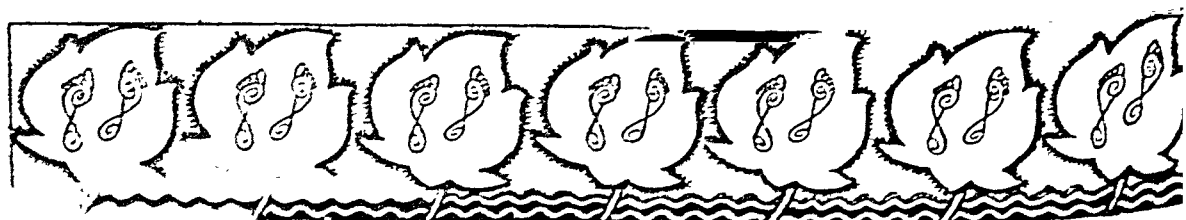
राजा ने उनसे ये आज्ञायें सुनीं :—

१. आपके राज्य में प्राणी मात्र के वध का निषेध करके सर्व जीवों को अभयदान दो।

२. प्रजा की अधोगति के कारण जुआ, मांसाहार, मद्यपान, शिकार जैसे सप्त व्यसनों का त्याग कराओ।

३. प्रभु महावीर के पवित्र धर्म का पालन करके उस सत्य धर्म का प्रचार करो।

कहा जाता है कि राजा कुमारपाल ने उनके आगे शीश झुका के कहा :— "भगवन्! मैं आपकी सारी आज्ञाओं का पालन कराऊँगा!"

इस पर कुछ पंडितों ने कहा कि यदि बकरे की बलि देवी को नहीं दी जायेगी तो देवी अप्रसन्न होगी। हेमचन्द्र आचार्य ने युक्ति निकाली :—"बकरे को देवी के पास रख दिया जाय और देवी खुद स्वयं इच्छा करेगी तो उसे खा लेगी!" रात भर बाद बकरा देवी के मन्दिर से जीवित निकला; अतः विद्वेषी पछताने लगे।

ऐसा ही एक और प्रसंग आया। कुछ लोगों ने आचार्यश्री से कहा :— "आप समभाव का उपदेश देते हैं; मगर शिव मन्दिर में कभी नहीं जाते!"

आचार्यश्री शिव मन्दिर पधारे और वहाँ उन्होंने प्रार्थना की :—

भव बीजांकुर जनना रागाद्याः क्षयमुपगता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनो वा नमस्तस्मै॥

—यानी संसार रूपी बीज के अंकुर को उत्पन्न करनेवाले रागादि दोष जिनके नष्ट हो गये हों वे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो, हरि हो, जिन हो—उनको मेरा नमस्कार है!

आचार्यश्री की इस प्रकार की निष्पक्ष भाव की प्रार्थना सुन कर सभी दंग हो गये। इस प्रकार ज्ञान-चारित्र्य और संयम के विविध तेज से देदीप्यमान आचार्य हेमचन्द्रजी का प्रभाव गुजरात और आसपास के प्रदेशों में फैलता गया और साथ-साथ जैन धर्म का प्रभाव बढ़ता गया। गुजरात और आसपास के प्रदेश में हिंसा घटती गई।

६. चातुर्मास के सिवाय भी पाटका व्यवहार किया जा सकता है।
७. दंड नहीं रखा जाना चाहिये।
८. पुस्तकें रखी जा सकती हैं।
९. सात्विकता और शुद्धि का ध्यान रखते हुए प्रत्येक कुल में गोचरी की जा सकती है।
१०. श्रावक भी गोचरी कर सकता है।
११. श्रावक दान नहीं ले सकता।
१२. उपवास प्रत्याख्यान में छाछ-पानी की आछ प्रासुक ले सकते हैं।
१३. विना उपवास के भी पौषध किया जा सकता है।
१४. तिथि-पर्व के विना भी उपवास किया जा सकता है।
१५. एक साथ उपवास पच्चक्खे जा सकते हैं।
१६. कल्याणकों को तिथि में नहीं गिनना चाहिये।
१७. जिस दिन गोरस लिया जाय उस दिन कठोल (द्विदल धान्य) का प्रयोग नहीं होना चाहिये।
१८. स्थापनाचार्य की स्थापना अनावश्यक है।
१९. धोवनपानी में दो घड़ी के अनन्तर जीवोत्पत्ति सम्भव है।
२०. अपात्र को धर्म बुद्धि से दान देने से हिंसा होती है। (अनुकम्पा से गरीब को देना एकांत पाप का कारण नहीं है।)

इन्हीं के मार्ग पर चल कर जीवराजजी म० सा० ने क्रियोद्धार किया।† उनके शिष्य धनजी म० सा० हुए। उनके एक शिष्य लालचन्दजी म० भी यशनामी हुए। उनके शिष्य अमरसिंहजी म० सा० जैन धर्म का प्रचार दिल्ही तक करके आये हैं।

बाद में गुजरात में क्रियोद्धारक लवजी म० सा० हुए।† उनके शिष्य सोमजी, कानजी, ताराचन्दजी और जोगराजजी हुए। इनमें कई सन्त पू० ताराचन्दजी म० सा०

† आगे कथा दी गई है।

४४

जय - गुरु प्रस्थान

शासन नायक भगवान महावीर का शासन देवर्धि क्षमागणि तक तो पाट परम्परा में थोड़े से अन्तर के साथ और विक्रम संवत् के बाद उत्तर पथ और दक्षिण पथ के आचार्यों की परम्परा में व्यवस्थित चला। संत अलग - अलग विचरते रहे और पुनः मिलते रहे। वाचनायें होती रहीं और एकता सधती रही। सब से एकता का महान प्रयास देवर्धि क्षमागणि के समय हुआ।

सप्त निह्नव : विरोध और परपाखंड भगवान महावीर के समय भी सत्य धर्म के विरुद्ध चलता था; किन्तु उनमें स्वयं भगवान के शासन में दीक्षित होकर अपनी अलग विचारधारा जिन्होंने चलाई और भगवान के वचन में अविश्वास किया वे अलग मतवादी निह्नव कहे गये।

बहु समयवादी जमालि : उन सातों में सर्व प्रथम नाम भगवान महावीर के संसार पक्ष के जमाई जमालि का आता है। क्षत्रिय पुत्र जमालि ने ५०० क्षत्रिय पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। उसके साथ उसकी पत्नी प्रियदर्शना (भगवान महावीर की संसार पक्ष की पुत्री) ने भी एक हजार नारियों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी।

भगवान महावीर के धर्म शासन के १४वें वर्ष का अन्तिम समय चल रहा था। उस समय जमालि अपने शिष्यों के साथ "तिन्दुकोद्यान कोष्टक चैत्य" में ठहरा हुआ था। तप आदि के कारण अस्वस्थता चल रही थी और ज्वर आया था। प्रतिक्रमणादि करके शीघ्र शयन की इच्छा से उसने एक शिष्य को संस्तारक करने का आदेश दिया। कुछ क्षण बाद उसने पूछा :—"क्या शैय्या संस्तारक हो गया ?"

"भंते हो गया !" उस शिष्य ने कहा।

जमालि ने सोचा :—"भगवान महावीर ने 'किये जानेवाले काम के लिये कर लिये गये' का जो 'करे माणे कडे' का सिद्धान्त प्रसिवाहित किया है; वह योग्य नहीं है।" उसने शिष्य से कहा :—"भगवान महावीर ने 'करे माणे कडे' का जो सिद्धान्त स्थिर

६. चातुर्मास के सिवाय भी पाटका व्यवहार किया जा सकता है।

७. दंड नहीं रखा जाना चाहिये।

८. पुस्तकें रखी जा सकती हैं।

९. सात्विकता और शुद्धि का ध्यान रखते हुए प्रत्येक कुल में गोचरी की जा सकती है।

१०. श्रावक भी गोचरी कर सकता है।

११. श्रावक दान नहीं ले सकता।

१२. उपवास प्रत्याख्यान में छाछ - पानी की आछ प्रासुक ले सकते हैं।

१३. बिना उपवास के भी पौषध किया जा सकता है।

१४. तिथि - पर्व के बिना भी उपवास किया जा सकता है।

१५. एक साथ उपवास पच्चक्खे जा सकते हैं।

१६. कल्याणकों को तिथि में नहीं गिनना चाहिये।

१७. जिस दिन गोरस लिया जाय उस दिन कठोल (द्विदल धान्य) का प्रयोग नहीं होना चाहिये।

१८. स्थापनाचार्य की स्थापना अनावश्यक है।

१९. धोवनपानी में दो घड़ी के अनन्तर जीवोत्पत्ति सम्भव है।

२०. अपात्र को धर्म बुद्धि से दान देने से हिंसा होती है। (अनुकम्पा से गरीब को देना एकांत पाप का कारण नहीं है।)

इन्हीं के मार्ग पर चल कर जीवराजजी म० सा० ने क्रियोद्धार किया।† उनके शिष्य धनजी म० सा० हुए। उनके एक शिष्य लालचन्दजी म० भी यशनामी हुए। उनके शिष्य अमरसिंहजी म० सा० जैन धर्म का प्रचार दिल्ही तक करके आये हैं।

बाद में गुजरात में क्रियोद्धारक लवजी म० सा० हुए।† उनके शिष्य सोमजी, कानजी, ताराचन्दजी और जोगराजजी हुए। इनमें कई सन्त पू० ताराचन्दजी म० सा०

---

† आगे कथा दी गई है।

वह पुन: अपनी हजार साध्वियों के साथ भगवान महावीर के श्रीसंघ में सम्मिलित हो गई; किन्तु जमालि ने अपने नूतन सिद्धांत का त्याग नहीं किया।

२. जीव प्रदेशवादी तिष्यगुप्त : भगवान महावीर के शासन काल के १६ वें वर्ष में हुआ था। उस समय एकदा राजगृही नगरी में चौदह पूर्वधारी वसु आचार्य गुणशीलक चैत्य में ठहरे हुए थे। उनके तिष्यगुप्त नाम का शिष्य था। वह आत्मा के (जीव) प्रदेश के सम्बन्ध में अन्य शिष्यों को पढ़ा रहा था।

प्रश्न : "हे पूज्य! एक आत्म प्रदेश को जीव कह सकते हैं?"

उत्तर : "नहीं, ऐसा नहीं होता।"

प्रश्न : "दो आत्म प्रदेश, तीन आत्म प्रदेशों को जीव कहा जा सकता है?"

उत्तर : "नहीं!"

प्रश्न : "क्या संख्यात जीव प्रदेश और असंख्यात जीव प्रदेश जीव कहा जा सकता है?"

उत्तर : "नहीं! जब तक सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में से एक भी प्रदेश कम हो तब तक वह जीव नहीं कहा जाता; क्योंकि जीव का अर्थ होता है प्रति पूर्ण लोकाकाश प्रदेश तुल्य जीव।"

यह व्याख्या करते करते तिष्यगुप्त के मन में शंका हुई :—"जब एक दो आदि प्रदेश हीन जीव 'जीव' नहीं है और तदनुसार एक प्रदेश हीन आत्म प्रदेश पिण्ड भी जीव नाम नहीं है एवं अन्तिम प्रदेश ही जीव माना जाता है तब अन्तिम प्रदेश को जीव क्यों नहीं माना जाय? क्योंकि वही प्रदेश जीव भाव से पूर्ण है?"

तिष्यगुप्त ने गुरु से यह बात कही। आचार्य वसु ने कहा :—"ऐसा मानने से जीव का अभाव मानना पड़ेगा; क्योंकि उस मत से अन्तिम जीव प्रदेश भी अजीव ठहरता है अथवा प्रथम आदि प्रत्येक प्रदेश को जीव मानना पड़ेगा। क्योंकि प्रत्येक समय में वही आत्म प्रदेश अन्तिम नहीं भी रह सकता है और प्रथम आदि के आत्म प्रदेश सदैव वैसे नहीं रहकर अन्तिम भी हो सकते हैं। अत: किसी एक प्रदेश को आत्मा मान कर चलना अनवस्था है।"
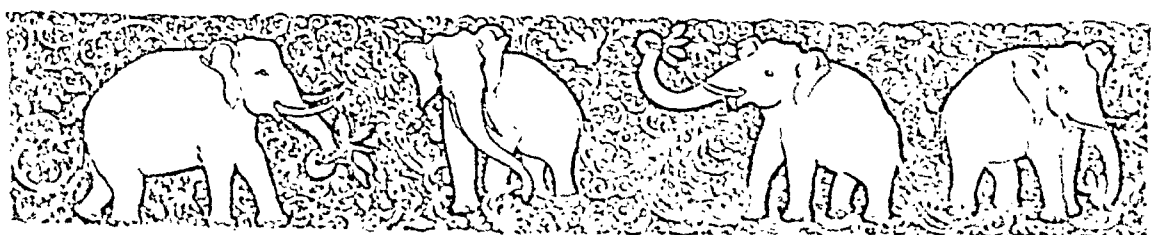
सोजत चातुर्मास उतरते पूज्यश्री ने कहा :—"मुनिश्री जयमलजी! अब ऐसा समय आ गया है कि सभी सन्तों को बुला कर आगे की संघ की व्यवस्था स्पष्ट कर दूँ ताकि अपने संघ में —— शासन में एकता बनी रहे।"

"आप उसकी चिंता न करें। आपके सभी शिष्य आपकी भावना को बनाये रखने का पूरा प्रयत्न करेंगे।" मुनिश्री जयमलजी ने कहा।

चातुर्मास समाप्ति बड़े आनन्द और तप के ठाठ-बाठ से पूर्ण हुई। आसपास और दूर के श्रावक गण दर्शन करने आते थे उनके साथ सन्तों को मिलने की इच्छा और तदनुसार विहार आदि का कार्य-क्रम बता दिया जाता था।

मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० का चातुर्मास जैतारण था। वे वहाँ से विहार कर पूज्यश्री और मुनिश्री जयमलजी आदि ठाणों से मिले। वन्दना-व्यवहार और सुखशाता पृच्छा की।

उनके आगे भी पूज्यश्री ने अपने बाद की संघ-व्यवस्था आदि की विचारणा करनी चाही। मुनिश्री कुशलचन्दजी के ध्यान में था कि अपने बाद संघ-व्यवस्था के लिये पूज्यश्री का भाव मुनिश्री जयमलजी पर था; अतः उन्होंने यही कहा :—"आप निश्चित रहे! जैसा आप सोचते हैं वैसा ही होगा। आपके बाद की संघ की व्यवस्था बराबर बनी रहेगी। एकता में कभी बाधा नहीं आयेगी।"

पूज्यश्री की उम्मर होते देख आसपास के श्रीसंघ विनति करने आये थे। जोधपुरवालों का विशेष आग्रह था। इधर पूज्यश्री के भाव मुनिश्री नारायणदासजी, मुनिश्री रूघनाथजी म० सा० आदि से मिलने के थे।

मुनिश्री रूघनाथजी जयपुर में धर्म प्रभावना बढ़ा कर विहार कर चुके थे। मुनिश्री नारायणदासजी आदि सन्त भी विहार कर रहे थे। सोजत के बाद मेड़ता पहुँचने के पहले सभी सन्तों का मिलन हुआ। यह तय किया गया कि मेड़ता में ही सभी का चातुर्मास हो और वहीं पर आगे की व्यवस्था का विचार कर लिया जाय।

थे। एक रात को उनको हृदय का दर्द हुआ और वे काल धर्म को प्राप्त होकर सौधर्म देवलोक में गये।

आचार्य के योगी शिष्यों को इसका पता नहीं था। आचार्य के जीव ने देव रूप धारण कर शिष्यों को सम्पूर्ण योग कराने निमित्त आचार्य के मृत कलेवर में प्रवेश किया एवं अपने प्रभाव से साधुओं के जो योग कार्य शेष थे वे पूरे करवाये।

तब तक शिष्य उस आचार्य को जीवित आचार्य ही समझ कर वन्दना व्यवहार करते रहे थे। योग कार्य पूर्ण होने पर आचार्य के कलेवर में रहे देव के जीव ने कहा—"हे श्रमण वर्ग! आपका योग कार्य पूरा करने के लिये मैंने आचार्य के कलेवर को धारण किया था। मैं तो कुछ दिन पूर्व काल धर्म को प्राप्त होकर सौधर्म देव लोक में देव हुआ हूँ। आप से जो वन्दना आदि कराई अतः आप से क्षमा माँगता हूँ!"

ऐसा कहकर देव का जीव चला गया और आचार्य का कलेवर पड़ा रहा। शिष्यों ने श्रीसंघ को आचार्य के कालधर्म प्राप्त होने के समाचार दिये और श्रीसंघ ने उनकी अन्तिम क्रिया योग्य संस्कारों से पूर्ण की।

आषाढाचार्य के शिष्यों में अब एक शंका पैदा हुई :—"कौन जानता था कि वह साधु था या देव था? हमने इतने समय तक असंयत को वन्दन किया था। कौन जाने वह कब काल धर्म को प्राप्त हुआ था? इसी तरह अन्य भी कोई साधु दिखाई दे रहा है वह वास्तव में साधु है या कोई देव, शरीर को धारण किये फिर रहा है! अन्दर में कौन क्या है? ऐसे निश्चय बिना असंयत को संयत कहना मिथ्यात्व है!" इत्यादि अनेक शंकाओं के साथ उन्होंने अन्यान्य साधुओं के साथ वन्दना-व्यवहार छोड़ दिया।

प्राज्ञ स्थविरों ने उन्हें समझाया :—"एक देव के आके कहने से सारे साधुओं के साथ वन्दनादि व्यवहार बन्द करना कहाँ तक उचित है? देव आकर अपने को देव कहता है उसे तुम मानते हो तब साधु अपने को साधु कहे उसे क्यों नहीं मानते?"

बहुत समझाने पर भी योगवादी साधुओं ने नहीं माना। वे अव्यक्तवाद की प्ररूपणा करते अलग विचरण करने लगे।
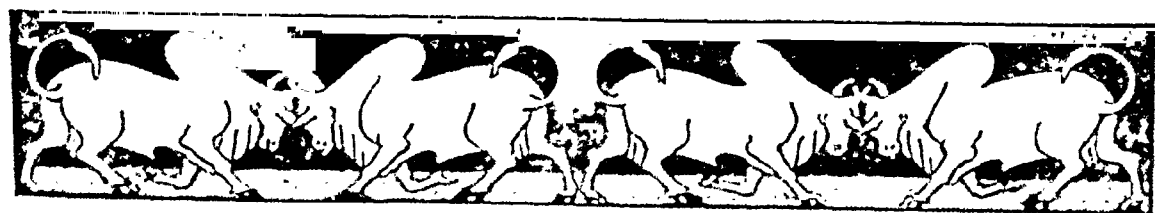
कुछ क्षण और बीते। वेदना बढ़ती ही गई। मुनिश्री नारायणदासजी ने कहा :— " जयमुनि ! अब विलम्ब व्यर्थ में जायेगा।"

बड़े भारी हृदय से मन को पक्का करके मुनिश्री जयमलजी ने पूज्यश्री से उनकी इच्छा कही। पूज्यश्री समझ चुके थे कि होना था सो होनेवाला है; अतः उन्होंने अन्तिम समय सुधारने के लिये संथारा पच्चक्खा दिया।

वेदना बढ़ती गई। मुनिश्री नारायणदासजी ने पूज्यश्री आदि सभी सन्तों से हाथ जोड़ पुनः खमत खामणा किये और चिंतन में पड़े हो वैसे बैठ गये।

सभी ने देखा एक झटका सा आया और मुनिश्री की गरदन उपर की ओर उठती गई, शरीर में ज़ोर की कम्पन हुई और वह भी बन्द हो गई। ऐसा मालूम हो रहा था कि आत्मा उर्ध्व गामी होकर आँखों से अन्यत्र चली गई है। मुनिश्री जयमलजी के हाथ उनके ठण्डे पैर को छूके लौट पड़े।

सभी सन्तों ने चतुर्विंशति स्तव किया। इस तरह सन्त के जाने से सभी को आघात लगा। मुनिश्री जयमलजी म० को सविशेष वेदना हुई। जिन गुरु से उन्होंने ज्ञान सीखा था वे अपना आत्म कल्याण करके चले गये थे। उनकी बहुत सी बातें उनके मस्तिष्क में चक्कर लगा रही थीं। उनका मन यह नहीं मान रहा था कि ऐसी कालधर्म की बात हुई है; किन्तु आँखें स्पष्ट देख रही थीं। हृदय स्पष्ट कह रहा था :—" गुरु की ज्ञान आत्मा सदैव साथ रहेगी!"

" जयमुनि....!" पूज्यश्री ने उनकी आत्मा को झंकारते हुए कहा :—" कालधर्म सब के साथ लगा है, स्वस्थ बनो। मुनिश्री नारायणदासजी का शरीर गया है; किन्तु उनका ज्ञान - दर्शन चरित्र तो रहा है, उसे प्रशस्त करो।"

मुनिश्री जयमलजी को लगा कि पूज्यश्री स्पष्ट कह रहे हैं।

मुनिश्री नारायणदासजी कालधर्म को प्राप्त हुए हैं ये समाचार फलवर्धी और मेड़ता तक पहुँच गये और वहाँ के श्रीसंघ के लोग आ पहुँचे। आसपास के गाँवों में भी खबर फैल गई और वहाँ से भी लोग आये।
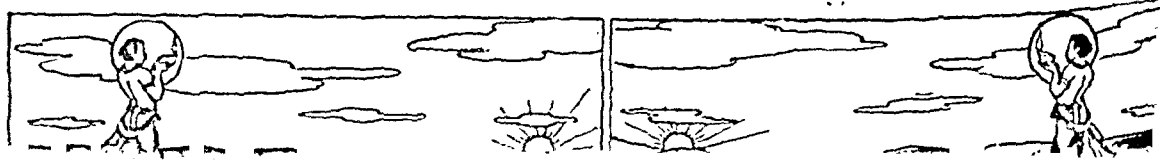
४. **सामुच्छेदिक अश्व मित्र** :— भगवान महावीर के शासन के २२० वर्ष बाद एक बार मिथिला नगरी के लक्ष्मीधर चैत्य में महागिरि आचार्य† के शिष्य कौडिन्य ठहरे हुए थे। उनका शिष्य अश्वमित्र था। वह आत्म प्रवाद के सम्बन्ध में पढ़ रहा था।

उसमें यह विवरण आता था :—"अभी जो नरक के जीव हैं वह कालान्तर में व्युच्छिन्न हो जावेंगे। इसी प्रकार असुर आदि जीव एवं वैमानिक पर्यंत जीवों का जानना। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय आदि समयों में उत्पन्न होनेवालों का भी व्युच्छेद होगा।"

यह पढ़ते अश्वमित्र को शंका हुई :—"अभी उत्पन्न होनेवालों का व्युच्छेद हो जायेगा तो शुभ-अशुभ कर्मों को भोग कैसे होगा? क्योंकि उत्पाद के बाद तो सब का विनाश हो ही जायेगा!"

उसने यह बात आचार्य कौडिन्य के आगे रखी। आचार्य ने कहा :—"यह सारी बात अपेक्षा से — नय से हैं। काल पर्यायों का नाश नहीं होता। अतः उस सूत्र को अन्य नयों के साथ विचार करना चाहिये कि द्रव्य तो अनन्त धर्मात्मक होता है। अनेक पर्यायों से युक्त होता है, वह शाश्वत है; उसका विनाश नहीं होता। उसके काल पर्यायों के नाश होने से उसका नाश नहीं होता।"

अश्वमित्र को बहुत समझाने पर भी वह नहीं माना तो गुरु कौडिन्य ने उसे पृथक् कर दिया। अश्वमित्र सामुच्छेद वाद का प्रचार करता अलग विचरण करने लगा। उसका भी शिष्य समुदाय हो गया।

एक बार वह कांपिल्यपुर गया। वहाँ के शुल्कपाल खंडरक्षक थे। वे श्रावक थे। उन्होंने इन सामुच्छेदिकों को बुलाया और उनको मार डालने का आदेश दिया।

तब वे बोले :—"हमने तो सुना था कि आप खंडरक्षक श्रावक हैं और आप हमें — साधुओं को मरवाने का आदेश दिलवा रहे हैं!"

---

† आर्य महागिरि शासन की ९वीं पाट पर थे।
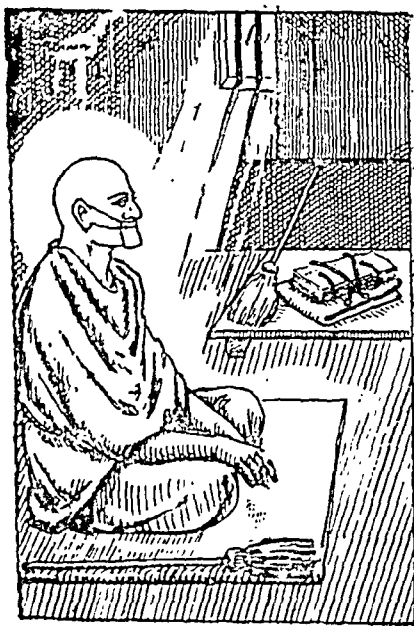
४५

जय - पूज्य विदाय और

सभी सन्त मेड़ता पहुँचे।

मेड़ता इन सन्तों की चिरपरिचित नगरी थी। यहीं पर मुनिश्री जयमलजी ने संयम धारण किया था। आज उसे १६ वर्ष बीत चुके थे और उसमें काफी अन्तर आ पड़ा था।

एक वर्ष पहले पूज्यश्री ने चातुर्मास किया था और इस बार भी पूज्यश्री पधारे थे। उम्मर का स्पष्ट प्रभाव दिखता था। अधिकतर पूज्यश्री मौन समाधि में लीन रहते थे। तप चल ही रहा था। पाँच - पाँच के उपवास के बाद भी उनकी वह काया साथ दे रही थी यह लोगों को आश्चर्य था।

एक और पंडित मुनिश्री नारायणदासजी कालधर्म प्राप्त हुए उसका विदाय - दुःख सभी को था। वहाँ पर पुनः १६ वर्ष बाद आचार्यश्री अपने प्रमुख शिष्यों के साथ चातुर्मास को पधारे हैं यह सुखद वार्ता थी। मुनिश्री रघुनाथमलजी का पूज्यश्री के साथ १६ वर्षों बाद मेड़ता में पहला चातुर्मास था। वैसे मुनिश्री जयमलजी भी उनके साथ मेड़ता पुनः एक साथ चातुर्मास निमित्त ठहरे नहीं थे।

चातुर्मास में व्याख्यान, चरित्र कथा और अन्य सारा भार आचार्यश्री ने इन दोनों पर छोड़ रखा था। दोनों के प्रवचन होते थे और लोग बड़े चाव से सुनते थे। मुनिश्री जयमलजी की शैली में और भी निखार आ गया था और लोग उसे सविशेष मुग्ध होकर सुनते थे। उनकी चौपाइयाँ और सुमधुर पद लोग गाया करते थे। मुनिश्री रघुनाथमलजी भी अपनी मधुर शैली से लोगों को धर्म तत्त्व सरल शैली से समझाते थे। आपस का उनका प्रेम - भाव ऐसा था जैसे एक घर के ही दो भाई न हों।

ऐसा प्रतीत होता है; किन्तु प्रत्येक के बीच कई आवलिका (क्षण का एक भाग) बीतती है उसी प्रकार प्रत्येक क्रिया के अनुभव में कई आवलिकाओं का अन्तर रहता है। अतः तेरी यह विचारणा असत्य है।"

आर्य गंग के न समझने पर आचार्य धनगुप्त ने उसे श्रमण संघ से पृथक् कर दिया। गंग अपनी द्वि-क्रियावाद की प्ररूपणा करता विचरण करने लगा।

एक बार विचरण करता वह राज-गृही के मणिनाग चैत्य के पास ठहरा। उस स्थान पर 'महातपोतीर प्रभव' नाम का झरणा बहता था और मणिनाग जाति के नागदेवता के निवास से वह मणिनाग कहलाता था।

गंग ने परिषद में अपना द्वि-क्रियावाद का आलापना प्रारम्भ किया। तब मणिनाग ने प्रगट होकर कहा :—"तुम अपने आपको जिन शासन के साधु बताते हो। जहाँ श्रमण ठहरते हैं वहाँ ठहरते हो और पुनः शासन नायक भगवान महावीर के विरुद्ध प्ररूपणा करते हो!"

"मैंने तो जैसा अनुभव किया वैसा कहा है!" गंग ने कहा।

मणिनाग ने कहा :—"क्या! तू समय की आवलिका में होनेवाले अनुभव को कह सकता है? मेरे मन में और अन्यों के मन में क्या हो रहा है, बता सकता है?"

गंग चुप रहा।

"एक साथ जब दो बात की धारणा नहीं हो सकती तो क्या अनुभव हो सकता है? क्या तू वर्धमान स्वामी से बढ़ करके हो गया है? ऐसा हुआ है तो उन्होंने जैसे उपसर्ग सहे वैसे मैं देता हूँ वह सहने के लिये तैयार हो!" मणिनाग ने कहा।

गंग ने एक भयंकर दिव्य नाग को बढ़ते देखा। उसे सत्य का अनुभव हुआ और प्राणों के भय से उसने मणिनाग से कहा :—"हमारा अपराध हुआ कि हमने शासन के विरुद्ध में प्ररूपणा की। अतः अभी जाकर मैं गुरु से प्रायश्चित करूंगा।" उसने अपने दोषों की आलोचना की और प्रायश्चित लिया।

यह तो सामान्य क्रम हो चला था कि वे पूज्यश्री के पास बैठे पैर दबाते रहे और रात्रि का द्वितीय प्रहर.... तृतीय प्रहर बीत जाता।

पूज्यश्री जगते तब मुनिश्री से कह बैठते :—" जग रहे हो, जयमुनि ! "

" सेवा का लाभ ले रहा हूँ ! " मुनिश्री जयमलजी कहते।

" जागते रहो, जो जागता है वह प्राप्त करता है। भगवान महावीर भी कह गये हैं कि जागो, क्यों नहीं जागते ? क्यों नहीं समझते हो ! "

" आचार्य देव ! सभी समझता हूँ, इसीलिए तो जग रहा हूँ....! " जयमुनि कहते।

" जयमुनि ! भगवान महावीर बराबर ही कह गये हैं कि जागो ! क्यों नहीं समझते हो ? सद्बोधि पाना वास्तव में दुर्लभ है। जैसे गई रात लौट कर नहीं आयेगी वैसा मनुष्य जीवन भी लौट कर नहीं आयेगा। मेरे लिये भी वही है ! " आचार्यश्री कहते।

" अभी तो इस सेवक को आप की सेवा का लम्बा लाभ मिलेगा इसमें कोई शक नहीं है। ' मुनिश्री जयमलजी कहते।

आचार्यश्री कहते :—" इस शरीर के लिये जैसी तुम्हारी श्रद्धा है वैसी मेरी नहीं रही है। मैं बहुत शीघ्र चाहता हूँ कि अपना शासन भार सौंप कर निवृत्त हो जाऊँ ! "

" अभी क्या जल्दी है ? " जयमुनि कहते।

फिर आचार्यश्री के आशीर्वाद पाके शेष रात्रि शयन को लौटते। अक्सर ऐसा होता कि कुछ आशंका सी उन्हें होती और वे शेष रात्रि भी अपने विचारों में जागते बिता देते।

इस बात का पूज्यश्री को भी आश्चर्य होता था कि यों रातें भी बैठ कर बिताने पर भी मुनिश्री जयमलजी के स्वास्थ्य पर विपरीत असर नहीं पड़ता था।

आचार्यश्री ध्यान में मुनिश्री रघुनाथमलजी भी थे। साध्वी रत्नकुंवर भी थी और विगत सोलह वर्षों में उनके पास दीक्षायें भी बहुत सी हुई थीं। इधर संघ व्यवस्था सम्हालने की शक्ति उन्हें मुनिश्री जयमलजी में दिखी थी। तप मार्ग भी उनका प्रशस्त था। यहाँ के

रोहगुप्त ने कहा :—"अपना पूर्व पक्ष सिद्ध करो।"

परिव्राजक ने सोचा कि इनको इनके सिद्धान्तों की प्ररूपणा कर, मान्य कराकर हराऊँ। उसने कहा :—"संसार में राशि दो हैं—जीव राशि और अजीव राशि। अर्थात् संसार की सारी वस्तुयें जीव और अजीव में आ जाती है।"

रोहगुप्त ने सोचा कि "इसका स्वीकार करता हूँ तो हार जाता हूँ और प्रतिवाद करता हूँ तो अपने सिद्धान्त की अवहेलना करता हूँ। युद्ध और आपद् काल में युक्ति-प्रयुक्ति चल सकती है; अतः मुझे युक्ति से कार्य करना चाहिये।"

रोहगुप्त ने कहा :—"राशि दो नहीं, तीन होती हैं। जीव राशि, अजीव राशि और नोजीव राशि। जीव में शरीरधारी सारे जीवित प्राणी आ जाते हैं। अजीव में घर-मकान आदि जड़ आते हैं और नोजीव में तत्काल मूल शरीर से अलग पड़ी वस्तुयें आती हैं जैसे छिपकली की कटी पूँछ। जिस प्रकार दंड का आदि, मध्य और अन्त होता है उसी प्रकार सर्व पदार्थ, जीव, नोजीव और अजीव में बँटे हुए हैं।"

रोहगुप्त के इस तर्क का कोई प्रतिवाद पोट्टसाल के पास नहीं था; अतः गुस्से में आकर उसने अपनी सारी विद्यायें रोहगुप्त पर छोड़ीं। रोहगुप्त ने भी प्रति विद्यायें छोड़ीं। जब कोई वश नहीं चला तो पोट्टसाल ने अपनी गर्दभी विद्या उस पर छोड़ी। रोहगुप्त ने रजोहरण से उसे रोकी। पोट्टसाल को अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी।

रोहगुप्त विजयी होकर आचार्य श्री गुप्त के पास गया। अपनी युक्ति प्रतियुक्तियों के द्वारा कैसे पोट्टसाल को हराया उसका विवरण दिया। आचार्य ने कहा :—"वादी को हराने के लिये तुमने त्रिराशि की युक्ति का प्रयोग किया ऐसा तुम्हें सभा से उठते स्पष्ट कहना चाहिये था; क्योंकि हमारे धर्म सिद्धान्त में तीन राशियां नहीं हैं। अब भी जाकर राज-सभा में ऐसा करके आ जाओ।"

रोहगुप्त ने कहा :—"मैंने तो जो था वह कहा, उसमें कौन सा दोष लगता है?"

हंसोजी कोठारी और श्री जेताजी ने दीक्षा ग्रहण की। पूज्यश्री के आशीर्वाद के साथ उनको मुनिश्री रघुनाथमलजी ने दीक्षा संस्कार कराये।

उग्र तप सभी सन्तों के चालु ही थे। पूज्यश्री को पाँच-पाँच का उपवास चालु था। मुनिश्री रघनाथमलजी ने पन्द्र-पन्द्र के दो तप किये। मुनिश्री जयमलजी ने भी १७ थोक किये। नाथूजी म० ने दीर्घ तप किया। मुनिश्री जेतसीजी म० ने तीन-तीन बार अठाईयाँ की। उनके तप का प्रभाव समाज पर पड़ा और समाज में भी कई अठाईयाँ और बड़े-बड़े तप हुए।

श्रमण विंध्य आठवें कर्म प्रवाद पूर्व का स्वरूप वर्णन अन्य श्रमणों को समझा रहे थे :—"कुछ कर्म जीवों से बद्ध मात्र होते हैं; किन्तु कालांतर में वे कर्म जीव प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। कुछ विशेष और स्पष्ट रूप से बद्ध होता है, वह विशेष कालांतर बाद अलग होते हैं; किन्तु कुछ कर्म स्पष्ट बद्ध और निकाचित होते हैं जो जीव के साथ मिल से जाते हैं और अपना फल दिखाते हैं।"

यह सुन कर गोष्ठामाहिल ने कहा :—"इस प्रकार की व्याख्या का अर्थ होता है कि कर्म से जीव कभी मुक्त नहीं होगा। इसको इस प्रकार कहना चाहिये कि जैसे कंचुकी पुरुष का कंचुक से स्पर्श बना रहता है; मगर वह उसे चिपका रहता नहीं है वैसे कर्म भी जीव से स्पर्शित हैं; किन्तु बद्ध नहीं है!"

विंध्य ने कहा :—"गुरु ने ऐसा नहीं कहा।"

"गुरुजी से तुम पूछ आओ; मगर असत्य मत कहो।" गोष्ठामहिल ने कहा।

विंध्य, गुरु दुर्बलिका पुष्यमित्र के पास गया और अपनी बात कही। पुष्यमित्र ने कहा :—"जैसा मैंने कहा वैसा तुमने समझा है।" इस पर गोष्ठामहिल की जब बात कही तब गुरु ने कहा :—"वह मिथ्यावाद का प्रचार कर रहा है। आयुष्य कर्म इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है कि उसके हटने से वियोग-मरण होता है!"

विंध्य ने आकर वैसा गोष्ठामहिल को कहा। गोष्ठामहिल ने सोचा कि अभी चुप रहना अच्छा है। कर्म प्रवाद का नवम पूर्व चल रहा था और श्रमण के प्रत्याख्यान का विषय चल रहा था। प्राणातिपात का त्याग करता हूँ!"

गोष्ठामाहिल ने कहा :—"इस प्रकार प्रत्याख्यान की सीमा [illegible] अंकित नहीं है। प्रत्याख्यान काल मर्यादा के बिना होने चाहिये। काल मर्यादा युक्त प्रत्याख्यान आशंसा दोष युक्त होने से अच्छा नहीं है।"

विंध्य ने कहा :—"यह कहना यथार्थ नहीं है।" आगे जाकर नवम पूर्व पूर्ण हो गया और गोष्ठामाहिल ने पुष्पमित्र को जाकर आवेश में कहा :—"आचार्य आर्यरक्षितजी ने कुछ और कहा है और आप कुछ और कहते हो।"

मुनिश्री जयमलजी या किसी को बुलाया न था। तप के पारणे का दिन होने से उनकी सुख समाधि को कोई भंग करना नहीं चाहता था।

प्रात:काल का सूर्य आज कुछ नई बात होनेवाली हो ऐसा दीख रहा था। पूज्यश्री के पारणे के लिये अन्य सन्त गोचरी आदि बहोरा कर लाये थे।

पूज्यश्री ने जग कर नित्य नियमानुसार पडिलेहना आदि की। वीर थूई का पाठ किया। पारना करने पधारे; किन्तु वहाँ बैठ कर उन्होंने कहा :—"आज मुझे इच्छा नहीं हो रही है।" वे यों कह कर वापस पाट पर आकर बैठ गये।

उनको सहारा दिये मुनि गण ने उन्हें पाट पर बिठाया। अचानक उन्होंने पुकारा :—"जयमुनि! मुझे यह क्या हो रहा है? शायद अब मैं जा रहा हूँ। शीघ्र संथारा पच्चक्खा दो!"

यह सुन और भी सन्त इकट्ठे हो गये। आचार्यश्री के शरीर में कम्पन बढ़ता जा रहा था। आचार्यश्री ने पुन: एक बार कहा :—"मैं संथारा कर रहा हूँ।"

उन्होंने "अहभंते अपच्छिम मारणंतिय" का पाठ बोलना शुरू किया। सभी को खमाया, हाथ जोड़ कर क्षमा याचना की।

उपस्थित सन्तों के हृदय भर आये। उन्होंने भी सजल नैनों से दो हाथ जोड़ उन्हें खमाया। लोगों को खबर मिल गई। दर्शन करनेवालों की भीड़ बढ़ती चली।

एक बार पुन: आचार्यश्री के हाथ दृढ़ खड़े हुए। उनके वदन पर एक नई आभा सी आई, वह बढ़ती ही चली। जैसे दीप बुझने के पहले और भी प्रकाशमान होता है वैसी यह चमक थी। शरीर पर आभा वैसी ही थी; किन्तु आत्मा उर्ध्वगामी होते देह छोड़ कर चली गई। आँखों की पलकें अनन्त ध्यान में लीन बैठे हों वैसी बन्द हो गई। दोनों हाथ भी ध्यानावस्था से जुड़ गये। लोग देखते रहे—पूछते रहे—क्या हुआ? क्या हुआ....? आचार्यश्री की आत्मा काया का पिंजरा छोड़ कर चली गई थी!

सभी सन्त और श्रावक गण आचार्यश्री के देह को निहारते ही रहे। मृत्यु के उपरांत भी उनके मुख पर दिव्य आभा अभी भी विराजित थी। ऐसा प्रतीत होता था कि वे
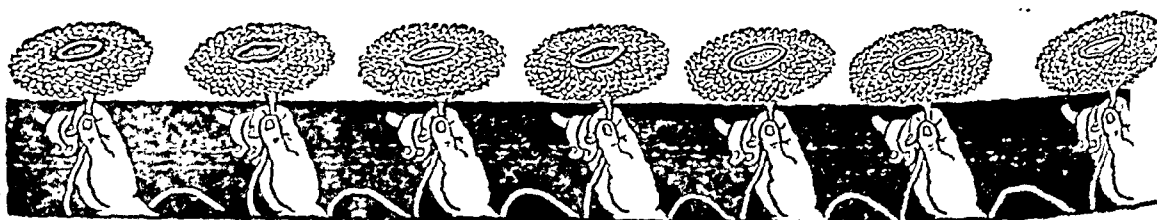
गोशालक तो जिन शासन में नहीं था; अतः उसको शासन विरुद्ध प्ररूपणा कहनेवाला निह्नव नहीं माना गया। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के बारे में वालभी वाचना में कुछ उल्लेख नहीं मिलता। उनके कौन से सन्त वहाँ सम्मिलित हुए या उनकी क्या मान्यता उस समय थीं उसका भी विवरण नहीं मिलता। सचेलक और अचेलक का उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु स्पष्टतः अनेक गच्छ एवं सम्प्रदायों का विवरण मिलने पर श्रुत आगम ज्ञान को मूल स्वरूप में रखने का जो विराट प्रयास हुआ, उसमें उनका सहयोग या अन्य रूप में उल्लेख नहीं मिलता है।*

* * *

उपरोक्त प्रकार से पाट परम्परा और आचार्यों के बारे में मुनिश्री जयमलजी ने अधिक से अधिक ज्ञान संचय किया। क्रिया में शिथिलता आने पर जिन-जिन आचार्यों ने उसे दूर करने के प्रयत्न किये, जिन-जिन आचार्यों ने शासन की शोभा बढ़ाने तप, त्याग और साहित्य सर्जन करके प्रयत्न किये और जिन्होंने प्राणों का उत्सर्ग भी किया उनकी भव्य कथायें मुनिश्री जयमलजी के कल्पनाशील मस्तिष्क में जम सी गईं और उनको काव्य रूप प्रदान करने उनका कवि हृदय लालायित रहता था।

पूज्यश्री भूधरजी म० सा की काया ढलते सूर्य सी थी यह वह स्पष्ट देख रहे थे; अतः उनसे जितना अधिक ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया जा सके, उतना उन्होंने प्रयत्न किया। कई बार रात-रात भर वे सेवा वैयावृत्य करते वैसे बैठे रहते थे।

---

* ऐसा मान सकते हैं कि उस समय जो दिगम्बर पंथ अलग चला उसे किस रूप में श्रीसंघ स्वीकार करे यह एक प्रश्न था। क्योंकि उनके जो वाह्य आचार-विचार थे वे गोशालक के आजीविकों से थे। बौद्ध सूत्र मज्झमनिकाय में आजीविकों का आचार-विचार इस प्रकार बताया गया है :—

"ये सर्व वस्त्रों का त्याग करते हैं (अचेलकपन)। सारे शिष्टाचारों से दूर रहते हैं और आहार अपने हाथों में ही चाटते हैं।" लेकिन श्रमण अचेलकों के बारे में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। जब दिगम्बर मत ने जिनकल्प से अलग ही बात कही तब उसे देवर्धिगणि तक सर्वत्र मान्यता मिली हो ऐसा कम सम्भव है।

आनेवाले लोगों में पूज्यश्री के गुणों की बातें होती तो कभी उनके जीवन के प्रेरक प्रसंगों को लोग याद करते थे। उनकी वृद्धावस्था में जवानों का जोश और अन्त में भी न किसी को विशेष सेवा चाकरी का कष्ट देना आदि सारी बातें छिड़ जाती थीं। सभी अनायास ही कह देते थे कि वे बड़े पुण्यात्मा थे।

सन्तों को उपवास था। किसी का मन नहीं लग रहा था। बहुत बड़ा सहारा चला गया हो ऐसा सभी के मन में था। लाई हुई गोचरी परठ दी गई।

दोपहर के बाद आचार्यश्री की पालकी उठा ली गई। जैन धर्म के जयजयकार के नारे लगाये गये। श्रावकों के बड़े उत्साह से सारे मार्ग पर सिक्कों का उछोह* किया। वातावरण में विजयदशमी के दिन अनोखा उत्साह भर गया था। पंडित मरण भी कल्याण महोत्सव था न?

शाम हो गई। सन्तों ने पडिलेहना कर ली। प्रतिक्रमण किया। अन्यमनस्क से सारी क्रियायें हो रही थीं। मुनिश्री जयमलजी एक कोने में थम्भे के सहारे बैठे रहे।

पहला प्रहर बीत गया। सन्तों ने शयन की तैयारी की। मुनिश्री जयमलजी आसन लगाये थम्भे के सहारे बैठे ही रहे। उनकी दृष्टि में अभी तक पूज्य आचार्यश्री की तस्वीर छाई थी। स्थूल देह से वे दूर हो गये थे; किन्तु आत्म-भाव से वे उनके पास हैं ऐसा उन्हें लग रहा था। उन्हें ऐसा लग रहा था कि अभी तक वे आचार्यश्री की सेवा पूरी भी कर न पाये थे। फिर आचार्यश्री क्यों चले गये....?

आचार्यश्री के प्रथम प्रवचन से आखरी बात उनके सामने स्मृति पट पर अंकित होने लगीं। अभी कितनी बातें उनसे जाननी थीं, पूछनी थीं और समझनी थीं और वे चल दिये....!

जयमुनि उसी तरह विचारों में खोये बैठे रहे। रात का द्वितीय प्रहर बीत गया; मगर वे बैठे ही रहे। तीसरा प्रहर बीत गया, चौथा बीतने आया; मगर वे बैठे ही रहे।

---

* उछालना

वीरप्रभु की पाट पर (२८) वीरप्रभु (२९) शंकरप्रभु (३०) जसभद्र (३१) वीरसेन (३२) निर्यामसेन (३३) जससेण (३४) हर्षसेन (३५) जयसेन (३६) जगमाल (३७) भीमसेन (३८) कर्मशी ऋषी (३९) उजमाल ऋषि और (४०) राजऋषि क्रमशः हुए। उन्होंने शासन का कार्यभार बड़ी कठिनाई से चलाया। कठिन काल में अनेक संकटों के बीच, अपने गुण, धैर्य और शासन चलाने की क्षमता से उन्होंने बराबर संयम भार निभाया।

पश्चात् पाट पर इस प्रकार आचार्य वर विराजे :—

(४१) देवसेन (४२) शंकरसेन (४३) लक्ष्मी लाभ (४४) रामऋषि (४५) पद्मऋषि (४६) हरिशर्म (४७) कुशलप्रभ (४८) उमणऋषि (४९) जयसेन (५०) विजयऋषि (५१) देवचन्द्र (५२) सूरसेन (५३) महासिंहजी (५४) महासेनजी (५५) जयराज (५६) गजसेन (५७) मित्रसेन (५८) विजयसिंह (५९) शिवराज (६०) लालजी (६१) ज्ञानजी (६२) भूताऋषि (६३) जीवऋषि

इस प्रकार शासन कार्य चलता रहा। संवत् १५३१ में लोंकाशाह ने धर्म-क्रांति की और जैन उपाश्रयों में एवं धर्म स्थानकों में जो शिथिलाचार चलता था उसे दूर किया। बहुत से सच्ची श्रद्धावाले उनके मार्ग पर अग्रसर हुए।‡

इस समय के शिथिलाचार को देखते हुए उन्होंने साधु-जीवन और धर्म-चर्या के निमित्त निम्नः समाचारी प्रस्तुत की :—

१. उपधान तप किये विना भी शास्त्र-अभ्यास कराया जा सकता है।

२. जिन प्रतिमा की धर्म-दृष्टि से पूजा करना ४५ आगमों में नहीं है।

३. मूल सूत्र, ४५ आगम और मूल शास्त्र, समस्त टीकाओं के सिवाय अन्य आगम एवं टीका सर्वथा अमान्य है।

४. विद्या का प्रयोग निषिद्ध है।

५. पौषध प्रतिक्रमण स्वतन्त्र रीति से करना।

---

‡ इस विषय में आगे आ चुका है।
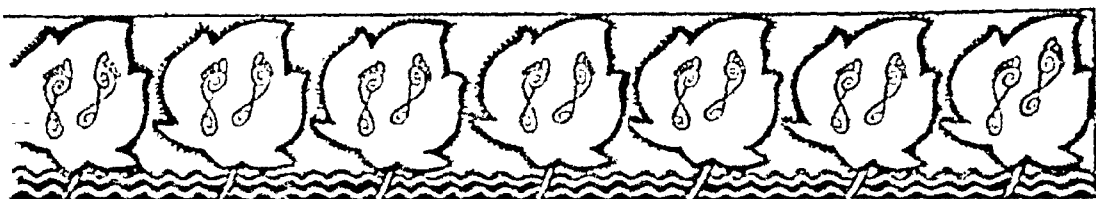
सुननेवाले सभी इस भीष्म प्रतिज्ञा को सुन कर स्तब्ध हो गये। वे मुनिश्री को जानते थे कि ये जो प्रतिज्ञा लेते हैं, उसे निभाते हैं। इसी मेड़ता गाँव में १६ वर्ष पूर्व उन्होंने निर्णय किया था कि दीक्षा लूँगा और उन्होंने घर-बार, परिवार, छ मास की व्याहिता पत्नी सभी को छोड़ संयम ले लिया था; किन्तु यह बड़ी कठोर प्रतिज्ञा थी।

सब की दृष्टि मुनिश्री जयमलजी पर थी।

उन्होंने पुनः दृढ़ता से कहा :—"मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मैं आजीवन पोढ़ूँगा नहीं! लेटकर सोऊँगा नहीं।"

सभी ने उनकी प्रतिज्ञा की गम्भीरता समझी और एक स्वर में उनकी जयजयकार बुलाई :—"बोल मुनिश्री जयमलजी म० सा० की जय!"

उनकी जयकार सच्ची थी जिसकी साक्षी उस दिन की रात और उसके बाद की आनेवाली उनके जीवन की हर रात ने दी, जब मुनिश्री जयमलजी थम्भे या दीवार के सहारे आसन पर पलांथी मार कर रात की रात बैठे बैठे बिता देते थे।

उन्हें कई बार आचार्यश्री के उनके जीवन काल में कहे गये शब्द कान में गूँजते सुनाई पड़ते :—"जयमुनि! शासन की सेवा....मेरी सेवा है....! शासन की शोभा बढ़ाओ....!"

रात के अन्धेरे में भी मुनिश्री जयमलजी के चेहरे पर उस दृढ़ संकल्प की रेखायें स्पष्ट देखी जा सकती थीं।

●

यह चातुर्मास सात वर्ष पश्चात् हो रहा था। यही पूज्यश्री भूधरजी म० सा० की संसार पक्ष की कर्म भूमि थीं। यहीं पर उन्हें वैराग्य हुआ था और पू० धनाजी म० सा० के पास सच्चे साधु धर्म की दीक्षा ली थी।

उनकी काया वृद्ध हो चली थी; किन्तु उनका तप और भी उग्र होता जाता था। विहार के समय तो तप चालु रहता ही था; किन्तु स्थिरता के समय कभी-कभी तीन-तीन, चार-चार के उपवास के पारणा का नियम भी ले लेते थे। तप के कारण उनके मुख पर दिव्य आभा सी प्रगट होती थी।

कभी-कभी रात्रि के समय अन्धकार में भी उनके मुख मंडल पर आभा का गोल चन्द्र स्पष्ट दिखाई देता था। मुनिश्री जयमलजी पर व्याख्यान आदि का पूरा भार होते हुए भी वे उनके पैर दबाने बड़ी रात तक वैसे ही बैठे रहते थे।

रात्रि का पिछला प्रहर आता। पू० भूधरजी म० सा० जागते और देखते कि बिल्कुल सीधे-साधे बैठे मुनिश्री जयमलजी अब भी उनके पैर दबा रहे हैं।

पूज्यश्री कहते :—"जयमुनि! क्या अभी तक पलकें नहीं लगीं?"

मुनिश्री जयमलजी तभी कुछ सचेत से होकर बोलते :—"मैं जग रहा हूँ यही मुझे पता नही है। आपके पैर दबाते आपके मुखारविंद को देखता था। एक दिव्य आभा का गोलाकार देखते हुए आँखें प्रसन्न हुई। बस, मुझे आभा ही आभा दिखाई दी। मुझे उससे न जाने क्या प्रेरणा व चेतन मिलते रहे, मैं उसे देखता ही रहा। मेरे हाथ पैरों पर फिरते रहे और मैं स्थिर वहीं देखता रहा, मैं एक नये आनन्द में खो गया। अभी आप ने जगाया तब मैं जगा....!"

"तप के कारण कई बार ऐसा तेजपुंज प्रगट होता है।" पूज्यश्री कहते।

"मुझे उसके पास ही रहने का सौभाग्य प्रदान करें।" मुनिश्री कहते।

"जयमुनि! जैसी भावना शुद्ध होगी वैसी फलेगी!" पूज्यश्री कहते।

मेड़ता में उन्हें चारित्र्य गुरु पूज्यश्री भूधरजी म० सा० मिले और ज्ञान गुरु मुनिश्री नारायणदासजी म० सा० मिले और इस बार वे दोनों यहीं पर इस संसार से चल बसे थे।

उनकी अनेक स्मृतियाँ उनके दिल दिमाग पर अभी जमी हुई थीं। मुनिश्री जयमलजी ने सभी सन्तों के साथ नगर के बाहर आकर, एक बार मेड़ता पर दृष्टि डाली।

लोग हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। बड़े सन्तों ने मंगलिक सुनाया और सन्तों के चरण जोधपुर की ओर बढ़ते चले।

जोधपुर से मुनिश्री कुशलचन्दजी ने आसपास के क्षेत्रों में विचरण किया और समाचार मिल जाने से वे इन सन्तों के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

मुनिश्री कुशलचन्दजी ने भी पूज्यश्री के पंडित मरण पर व्रत त्याग किये थे। मुनिश्री जयमलजी के नहीं पोढने की प्रतिज्ञा से उन्हें विस्मय तो हुआ; किन्तु वे उनके दृढ़ मनोबल को जानते थे। वैसे भी उन्हें मुनिश्री जयमलजी पर पहले से अनुराग था और उनकी कई धारणाओं में एक यह भी थी कि अब शासन व्यवस्था का भार उन पर डाला जायेगा। किन्तु जब उन्होंने सुना कि शासन के उत्तराधिकारी की कोई घोषणा किये बिना पूज्यश्री कालधर्म को प्राप्त हो चुके हैं और मेड़ता में भी श्रीसंघ ने कोई कार्यवाही नहीं की है तब वे भी विचार में पड़ गये।

जोधपुर में हालाँकि सभी सन्त बारी-बारी से आकर चातुर्मास करते थे; फिर भी यहाँ पर मुनिश्री जयमलजी का स्पष्ट प्रभाव था। उन्होंने यहाँ पर यह भी सुना था कि शासन का भार मुनिश्री जयमलजी पर आयेगा और वे उसे सम्हाल सकेंगे। फिर भी कोई निर्णय कैसे लिया जाये यह प्रश्न था।

मेड़ता से विहार कर सभी संत जोधपुर पहुँचे। जोधपुर श्रीसंघ ने उन सब का भव्य स्वागत किया। इस बार पूज्यश्री नहीं थे यह सभी अनुभव कर रहे थे। जोधपुर के महाराजा अभयसिंह, देश दीवान भंडारीजी आदि भी सन्तों की सेवा में उपस्थित हुए।

यह चातुर्मास सात वर्ष पश्चात् हो रहा था। यही पूज्यश्री भूधरजी म० सा० की संसार पक्ष की कर्म भूमि थीं। यहीं पर उन्हें वैराग्य हुआ था और पू० धनाजी म० सा० के पास सच्चे साधु धर्म की दीक्षा ली थी।

उनकी काया वृद्ध हो चली थी; किन्तु उनका तप और भी उग्र होता जाता था। विहार के समय तो तप चालु रहता ही था; किन्तु स्थिरता के समय कभी-कभी तीन-तीन, चार-चार के उपवास के पारणा का नियम भी ले लेते थे। तप के कारण उनके मुख पर दिव्य आभा सी प्रगट होती थी।

कभी-कभी रात्रि के समय अन्धकार में भी उनके मुख मंडल पर आभा का गोल चन्द्र स्पष्ट दिखाई देता था। मुनिश्री जयमलजी पर व्याख्यान आदि का पूरा भार होते हुए भी वे उनके पैर दबाने बड़ी रात तक वैसे ही बैठे रहते थे।

रात्रि का पिछला प्रहर आता। पू० भूधरजी म० सा० जागते और देखते कि बिल्कुल सीधे-साधे बैठे मुनिश्री जयमलजी अब भी उनके पैर दबा रहे हैं।

पूज्यश्री कहते :—"जयमुनि! क्या अभी तक पलकें नहीं लगीं?"

मुनिश्री जयमलजी तभी कुछ सचेत से होकर बोलते :—"मैं जग रहा हूँ यही मुझे पता नही है। आपके पैर दबाते आपके मुखारविंद को देखता था। एक दिव्य आभा का गोलाकार देखते हुए आँखें प्रसन्न हुई। बस, मुझे आभा ही आभा दिखाई दी। मुझे उससे न जाने क्या प्रेरणा व चेतन मिलते रहे, मैं उसे देखता ही रहा। मेरे हाथ पैरों पर फिरते रहे और मैं स्थिर वहीं देखता रहा, मैं एक नये आनन्द में खो गया। अभी आप ने जगाया तब मैं जगा....!"

"तप के कारण कई बार ऐसा तेजपुंज प्रगट होता है।" पूज्यश्री कहते।

"मुझे उसके पास ही रहने का सौभाग्य प्रदान करें।" मुनिश्री कहते।

"जयमुनि! जैसी भावना शुद्ध होगी वैसी फलेगी!" पूज्यश्री कहते।

आवागमन जो रुका हुआ है उसे मुनिश्री जयमलजी जैसे ही प्रारम्भ कर सकते हैं। वे पहले भी जेसलमेर तक जाकर सच्चे जैन धर्म का प्रचार करके आये थे।

रामकुंवर बाई ने कहा :—"मेरी हार्दिक इच्छा है कि आपके प्रवचनों का लाभ अधिक से अधिक लूँ; किन्तु मुझे शीघ्र सासरे वापस जाना है। अब आप बीकानेर क्षेत्र को पावन करें तो बड़ा उपकार होगा। आप जैसे सन्तों के पधारने से बीकानेर में धर्म-ध्यान होगा और सच्चे जैन धर्म का जयजयकार होगा।"

"बाई, अभी तो यहाँ के क्षेत्र ही बाकी हैं। उधर भी सन्त आदि तो आते होंगे न?"

"अब तो वह क्षेत्र बन्द सा हो गया है। वहाँ पर यतियों ने अपना ऐसा प्रभाव जमा रखा है कि जब तक आप जैसे प्रभावशाली सन्त नहीं पधारें, तब तक उनका प्रभाव दूर करना बड़ा कठिन है और सन्तों का इस मार्ग से विचरण होना बन्द सा हो गया है।" रामकुंवर बाई बोली।

मुनिश्री ने कहा :—"बीकानेर का मार्ग तो विशेष कठिनाइयों से भरा है।"

"बापजी! मुक्ति का मार्ग आप ने लिया। उससे तो कोई कठिन नहीं होगा?" बाई ने कहा।

"मेरा तो मैं सम्हाल सकता हूँ; मगर साथ के सन्तों का विचार भी करना पड़ता है न?" मुनिश्री ने कहा।

"आप स्वयं ज्ञानी हैं, ध्यानी हैं और अभिमान आपको छुआ तक नहीं है। अधिक बिनती करनी हो तो और करूँ कि आपके शिष्य भी पक्के हैं। जैसे तैसों को आप शिष्य बनाते भी नहीं। अब विहार कर, मुझ पर उपकार करने बीकानेर अवश्य पधारें!" रामकंवर बाई बोली।

"हम हैं यहाँ तक लाभ ले लो; एक के लिये वहाँ तक विहार कराने की क्यों भावना है?" जयमुनि ने पूछा।

पूज्यश्री का तप चालू ही था। उनके साथ-साथ अन्य सन्तों का तप भी चालु था। पं० मुनिश्री नारायणदासजी म० की। छः-छः उपवास की तपस्या चालु थी। विहार लम्बा नहीं होता था; किन्तु विहार चलता ही रहता था।

मार्ग में फलवर्धी ‡ नाम का गाँव आया। वहाँ बारह जनों ने प्रत्याख्यान किया। रूपचन्दजी, हीरजी मुनि आदि सेवा कर ही रहे थे। विहार सिर्फ चार कोश का ही था।

दो कोश सुख समाधि पूर्वक विहार होता रहा; किन्तु बाद में मुनिश्री नारायणदासजी म० सा० को लगा उनका गला सूख रहा है, पैर लड़खड़ा रहे हैं और एक अजीब सी हलचल काया में हो रही है।

उन्होंने मुनिश्री जयमलजी को ठहरने के लिये कहा। सभी सन्त रुक गये। मुनिश्री जयमलजी ने मुनिश्री नारायणदासजी के बदन पर दृष्टि डाली। उन्हें कुछ अजीब सा परिवर्तन दिखाई देने लगा।

पूज्यश्री से निवेदन किया गया और पास के एक वृक्ष की छाया में उन्हें बिठा दिया गया। शीघ्र ही सन्तों को मेड़ता और फलवर्धी प्रासुक पानी के लिये भेजा गया।

आषाढ़ सुदी सातम थी। बरसात की पहली धार हो चुकी थी। आसपास खड्डों में पानी बहुत था। जाती आती गाड़ियों में भी पानी था; किन्तु जैन साधु की चर्या के नियमानुसार वह वर्जित था।

मुनिश्री नारायणदासजी की तबियत बिगड़ती जा रही थी। मुनिश्री जयमलजी बड़े चिंतित थे। पूज्यश्री समता भाव रखने के लिये प्रेरणा देते थे। अन्य सन्तों की नज़र मेड़ता के रास्ते पर लगी थी; मगर दो कोश जाना और आना उसमें समय लगना ही था।

मुनिश्री नारायणदासजी ने हाथ जोड़ लिये। मन्द स्वरों में मुनिश्री जयमलजी से कहा :—"गुरुदेव से कहो कि संथारा पच्चक्खा दे। अब इस काया की स्थिरता नहीं है।"

मुनिश्री जयमलजी का हृदय भर आया। वे बोले :—"जरा ठहरें। पानी अभी आता ही होगा।"

---

‡ आज का पार्श्वनाथ फलौदी।

आवागमन जो रुका हुआ है उसे मुनिश्री जयमलजी जैसे ही प्रारम्भ कर सकते हैं। वे पहले भी जेसलमेर तक जाकर सच्चे जैन धर्म का प्रचार करके आये थे।

रामकुंवर बाई ने कहा :—"मेरी हार्दिक इच्छा है कि आपके प्रवचनों का लाभ अधिक से अधिक लूँ; किन्तु मुझे शीघ्र सासरे वापस जाना है। अब आप बीकानेर क्षेत्र को पावन करें तो बड़ा उपकार होगा। आप जैसे सन्तों के पधारने से बीकानेर में धर्म-ध्यान होगा और सच्चे जैन धर्म का जयजयकार होगा।"

"बाई, अभी तो यहाँ के क्षेत्र ही बाकी हैं। उधर भी सन्त आदि तो आते होंगे न?"

"अब तो वह क्षेत्र बन्द सा हो गया है। वहाँ पर यतियों ने अपना ऐसा प्रभाव जमा रखा है कि जब तक आप जैसे प्रभावशाली सन्त नहीं पधारें, तब तक उनका प्रभाव दूर करना बड़ा कठिन है और सन्तों का इस मार्ग से विचरण होना बन्द सा हो गया है।" रामकुंवर बाई बोली।

मुनिश्री ने कहा :—"बीकानेर का मार्ग तो विशेष कठिनाइयों से भरा है।"

"बापजी! मुक्ति का मार्ग आप ने लिया। उससे तो कोई कठिन नहीं होगा?" बाई ने कहा।

"मेरा तो मैं सम्हाल सकता हूँ; मगर साथ के सन्तों का विचार भी करना पड़ता है न?" मुनिश्री ने कहा।

"आप स्वयं ज्ञानी हैं, ध्यानी हैं और अभिमान आपको छुआ तक नहीं है। अधिक विनती करनी हो तो और करूँ कि आपके शिष्य भी पक्के हैं। जैसे तैसों को आप शिष्य बनाते भी नहीं। अब विहार कर, मुझ पर उपकार करने बीकानेर अवश्य पधारें!" रामकंवर बाई बोली।

"हम हैं यहाँ तक लाभ ले लो; एक के लिये वहाँ तक विहार कराने की क्यों भावना है?" जयमुनि ने पूछा।
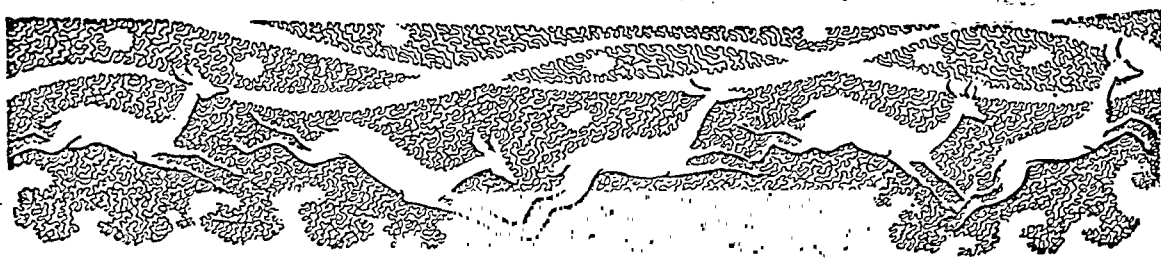
अन्तिम संस्कार फलवर्धी में होना चाहिये; क्योंकि मेड़ता तो आगे के विहार की भूमिका थी। पंडित आत्माओं का पंडित मरण भी एक कल्याणकारी उत्सव है, जिसका लाभ अनायास ही फलवर्धी ग्राम को मिला।

पालकी का सामान लाया गया। मुनिश्री नारायणदासजी के मृत शरीर को उसमें बिठाया गया और लोग जैन धर्म की जयजयकार के नारे लगाते हुए उनकी पालकी उठाने की होड़ करते हुए फलवर्धी गाँव की ओर चल पड़े।

सभी सन्तों का मन भारी हो चला था; किन्तु मुनिश्री जयमलजी का हृदय अपने गुरु मुनिश्री नारायणदासजी के प्रस्थान से विशेष भारी हो चला था।

अचानक आचार्यश्री भूधरजी का हाथ उनके कन्धों पर पड़ा। वे सम्हले, स्वस्थ हुए। आचार्यश्री के नैनों से अपूर्व करुणा व प्रेरणा का स्रोत बह रहा था। उनके नैनों की भाषा में कोई भी यह बात पढ़ सकता था :—

साधु तो चलता भला...

—और मुक्त आत्मा बनने के लिये निरन्तर, न जाने कितने जन्म जन्मांतर, जीवन-मरण के रास्तों पर चलना ही है न?

मुनिश्री जयमलजी को लग रहा था गुरु के बिना विकट कर्मों की इन राहों पर कैसे चला जायेगा? लेकिन आचार्यश्री ने अपना हाथ उनके कन्धों पर रख के मानों अज्ञात रूप से यह व्यक्त किया था कि "जयमुनि! तुम्हें मेरा भी भार सम्हालना है। ऐसे प्रसंगों से विक्षुब्ध होओगे तो उसे कैसे उठा पाओगे?

अज्ञात प्रेरणा बल उनमें कहाँ से आ गया? वे स्वस्थ हो गये और पूज्यश्री को सहारा दिये मेड़ता तक धीरे धीरे चरण बढ़ाते चले। फलवर्धी और मेड़ता प्रासुक पानी के लिये भेजे गये सन्त भी आ पहुँचे थे।

सभी सन्तों का एक साथ मेड़ता विहार हुआ।

●
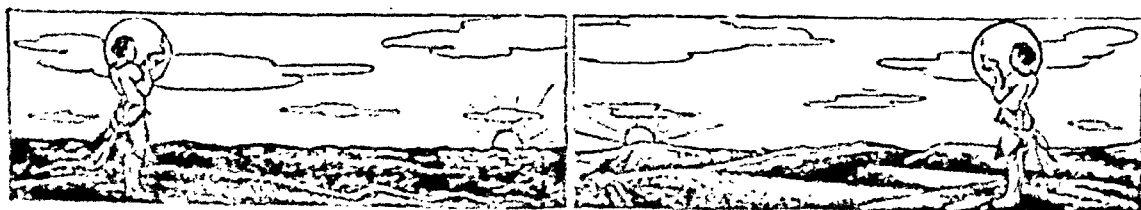
भीष्म प्रतिज्ञा
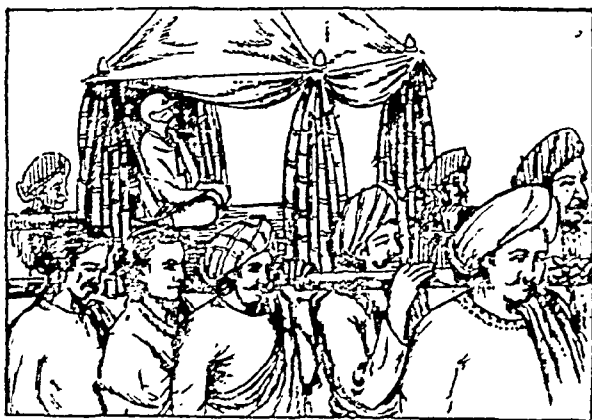
किसी प्रश्न पर मुनिश्री रघुनाथमलजी कुछ कहते तो मुनिश्री जयमलजी उन्हें ही आगे करते थे कि आप बड़े हैं। तब कभी-कभी वहाँ के प्रश्नों पर मुनिश्री रघुनाथजी जयमुनि को आगे करके कहते कि यहाँ का क्षेत्र आपका जाना पहचाना है; अतः आप ही इस बात को निपटा लें।

इस प्रकार सारी बातों का निराकरण दोनों सन्त निपटा लेते थे। पूज्यश्री के पास वे दैनिक बातें पहुँचती न थी। दर्शनार्थी भी उनके दर्शन दूर से कर लेते थे। मंगलिक सुनाना आदि भी ये सन्त निपटा लेते थे।

दोनों का ऐसा परस्पर का भाव सभी को आश्चर्य चकित करता था। इस बार मेड़ता में दोनों सन्तों के साथ पूज्यश्री के पदार्पण से लोगों में कई तरह की अटकलबाजियाँ होती रहीं।

मेड़तावाले विगत वर्षों के अनुभव से यह जान चुके थे कि पूज्यश्री का जयमुनि पर विशेष भाव है। इधर कई लोगों को अनुभव हो रहा था कि मुनिश्री रघुनाथमलजी दीक्षा में बड़े हैं और उनका भी प्रभाव है अतः उन्हें भी भार सौंपा जा सकता है।

मुनिश्री जयमलजी को इन सारी बातों से विशेष रस नहीं था। उनको पं० मुनिश्री नारायणदासजी म० सा० की सेवा करने की इच्छा मन में रह गई थी और अब उनका एक ध्येय था कि पूज्यश्री की अन्त तक सेवा करते रहना।

मुनिश्री नारायणदासजी म० सा० उनकी आँखों के आगे, हाथ में काया छोड़ चले गये थे। पीपल के पके पान का क्या भरोसा? टिका तब तक टिका, वरना मामूली सी हवा के झोंके में कब वह खिसके गिर जायेगा कौन कह सकता था!

मुनिश्री जयमलजी के हृदय में यह बात बहुत ही पक्की जम गई थी। कंजुस के धन की तरह पूज्यश्री की सेवाओं के क्षण वे अन्य को देना पसन्द नहीं करते थे।

पथ पर लाकर छोड़ देता है। इसीलिये ज्ञानी पल-पल कहते हैं कि "जागो....! क्यों नहीं जागते! क्यों सच्चे ज्ञान को प्राप्त नहीं करते!"

उनके सुमधुर प्रवचनों का लोगों पर अच्छा पसर पड़ता था; साथ ही कुछ आत्म जागृति के चाहकों पर विशेष पड़ता था। सुश्रावक खेमचन्दजी और पृथ्वीराजजी पर अनोखा वैराग्य रंग चढ़ा था। वैसे तो पिछले दो-तीन वर्षों से उन्हें भगवती दीक्षा ग्रहण करने के भाव थे और साधु सन्तों के परिचय में आये ही थे; किन्तु मुनिश्री के जोधपुर के चातुर्मासों में उनका भाव और भी दृढ़ बना था और वे प्रारम्भ की तैयारियाँ कर रहे थे। अब पूर्ण रूप से दीक्षा के लिये तैयार हो गये थे।

उनके परिवारवालों की ओर श्रीसंघ की आज्ञा से मुनिश्री जयमलजी ने खेमचन्दजी और पृथ्वीराजजी को दीक्षा दी। दीक्षा-महोत्सव बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। बाहर गाँव से आये श्रीसंघ का गांगाणी गाँववालों ने बड़े प्रेम से स्वागत किया। कुछ दिन धर्म-ध्यान, तप-त्याग का महोत्सव चलता रहा।

सन्तों को तो और भी क्षेत्र स्पर्श करने थे। अन्यान्य लोगों को धर्म मार्ग पर अग्रसर करना था। इसलिये उन्होंने नवदीक्षित सभी सन्तों के साथ वहाँ से विहार किया।

* * *

मुनिश्री जयमलजी के व्याख्यानों का यह प्रभाव था कि उनको जैन-अजैन सभी सुनते आते थे। राजपूत, जाट, दरोगा माली आदि "खमा बापजी" करते उनके प्रवचनों से मुग्ध होते थे। उनका सभी के साथ उत्तम आत्मीय व्यवहार था; हमेशा अपने मधुर वचनों से सामनेवालों के हृदय वे जीत लेते थे।

अनेक गाँवों को स्पर्शते हुए सन्त गण बडलू नगर में ‡ पहुँचे। लोग पहले से उनके आगमन की राह देखते थे। इस बार वे सविशेष ठहरेंगे यह उनके लिये हर्ष का विषय था और इसलिये वे बड़े उत्साह में थे। सन्तों का प्रभाव जैन-अजैन सभी पर था इसकी प्रत्यक्ष प्रमाण यहाँ पर मिलनेवाला था।

‡ आज का भोपालगढ़

लोग उन्हें चाहते भी थे। उस ओर सोजत आदि के आसपास मुनिश्री रघुनाथमलजी की जन्म-भूमि रहने से, उनका प्रभाव था; किन्तु वहाँ मुनिश्री जयमलजी का भी अपना प्रभाव था। सन्तों में भी मुनिश्री कुशलचन्दजी आदि का रूख मुनिश्री जयमलजी पर था।

इन सारी बातों के बीच आचार्यश्री को निर्णय लेना था और मेड़ता का यह चातुर्मास कुछ निर्णयात्मक सिद्ध होगा ऐसा लोगों का भी विश्वास था।

आचार्यश्री हृदय में भली भाँति जानते थे कि ऐसा कोई भी निर्णय इस वार दिया गया तो हो सकता है कि आगे संघ एकता में बाधा आये। यह आशंका ही थी; किन्तु सच भी हो सकती थी।

उस समय समाज के वातावरण को देखते हुए, राजकीय वातावरण को देखते हुए उन्हें ऐसा भी लगता था कि पूज्य धर्मदासजी ने जैसा किया वैसे विस्तृत क्षेत्र में धर्म प्रचार होता चले तो भले ही अलग-अलग क्षेत्रों में उनके शिष्य फैलते चले जाँये और सच्चे धर्म का प्रचार करें।

पूज्य भूधरजी के सन्तों का विचरण मारवाड़ तक ही था। मेड़ता, नागौर, जोधपुर, सोजत और अब ब्यावर, अजमेर, रूप नगर, किशनगढ़, जयपुर तक विहार होता जाता था।

फिर भी काफी क्षेत्र व्यापक रूप से बाकी थे। जोधपुर से उपर खींचन, फलौदी, बीकानेर, मेवाड़ और मेरवाड़ा, मालवा एवं पूर्व उत्तर में बूँदी, कोटा, आगरा तक सन्त फैलते चले जाँय यह भी आवश्यक था।

पूज्यश्री इसी विचारणा में ही थे। दोनों सन्त साथ थे, पास थे। इस समय कोई ऐसा निर्णय न लिया जाय; किन्तु शरीर की सुखाकारी देखते हुए चातुर्मास के बाद ही कुछ निर्णय करना यह शायद उनके मन में रहा होगा।

* * *

पर्युषण के दिन बहुत ही ठाठ-बाठ और धर्म-ध्यान में बीत गये। पर्युषण के प्रारम्भ में ही श्रावण वद ९ को तीन दीक्षायें धूम-धाम से हुई। श्री मगनमलजी दफतरी,

आकर्षित कर लेते थे और कई लोग मन ही मन यह अनुभव करने लगते थे कि "वह दिन कब आयेगा जब मैं भी आत्म संयम के मार्ग पर अग्रसर बनूं!"

* * *

नागौर में लोग उनके जयजयकार के नारे लगाते उनके स्वागत में सामने गये। नागौर के जनता ने बड़े भक्ति-भाव से उनको वन्दना आदि की। मुनिराज का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और ऐसे प्रभावी सन्त को सामने खड़े देख कर लोगों के तन मन अपने आप श्रद्धा से झुक जाते थे।

उनका व्याख्यान प्रति दिन होने लगा। सुमधुर कण्ठ, भाव भरे गीत, प्रवचन में विषय दिग्दर्शन आदि ऐसे सुन्दर होते थे कि लोग मन्त्र मुग्ध होकर उनको सुनते थे। शांत होकर लोग सुनके आत्म शांति का अनुभव करते थे।

उनके साथ मुनिश्री कुशलचन्दजी का भी प्रवचन होता जा और वे अपनी शैली से लोगो पर प्रभाव डालते थे।

नागौर में उस समय दीवान फतेहसिंहजी सिंघवी थे। जिनकी बहन राम कुंवर बाई ने जोधपुर में महाराजश्री से बीकानेर क्षेत्र पावन करने की बिनति की थी।

राजस्थान में लम्बे समय से जोधपुर, जयपुर, मेवाड़ आदि के महाराज, अपना-अपना प्रभाव बढ़ाने में लगे हुए थे। जोधपुर के राज-वंश के लोग ही नागौर पर भी राज्य करते थे।

उस समय महाराज बख्तसिंहजी का नागौर में राज्य था। वे बड़े उदार और समझदार थे।

नागौर के महाराजा बख्तसिंह जोधपुर नरेश अभयसिंह के भाई थे। वे भी पूर्व नरेश अजीतसिंह के पुत्र थे। अजीतसिंह के ८४ रानियाँ थीं। जिनमें बड़े दो पुत्र अभयसिंह और बख्तसिंह थे। अजीतसिंह महाराजा ने अपने समय में राजस्थान मारवाड़ को स्वतन्त्र कराने के बड़े प्रयत्न किये और फलस्वरूप उन्हें अजमेर से गुजरात और उसके उत्तर में फैले मारवाड़ की सत्ता प्राप्त हुई; किन्तु वे बहुत से राजाओं की नाराजगी के कारण
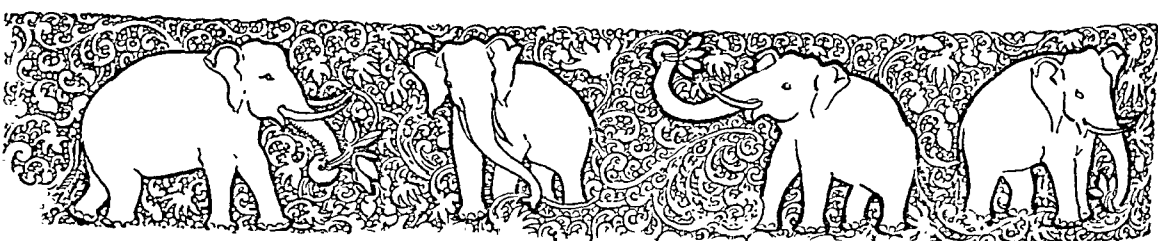
"आपकी आत्मा जैसा चाहती है, वैसा ही होगा।" मुनिश्री जयमलजी ने कहा।

तब से वे सचेत हो गये और व्याख्यान प्रवचन आदि का भार अन्य सन्तों को देकर, अधिक से अधिक समय, पूज्यश्री के पास विताने लगे।

अधिकतर पूज्यश्री की पलकें बन्द ही रहती थीं। खुलती थीं तो मुनिश्री जयमलजी को पास में पाकर आश्वस्त हो जाती थीं। कभी कभी साधु समाज पर चर्चा चलती। वे बड़े ही मन्द स्वरों में कहते :—"जयमुनि! अपने ही सारे सन्तों में जो थोड़े-थोड़े मतभेद हैं, वे दूर हो जायें तो शासन की शोभा बढ़ाने का बड़ा कार्य हो जायेगा।"

"आप ठीक फरमा रहे हैं।"

"थोड़े-थोड़े मतभेद बैठकर निपटा सकते हैं; आहार-विहार के नियम एक से बना सकते हैं। किन्तु उसके बदले थोड़ी-थोड़ी मामूली सी बातों के लिये एक दूसरे पर लांछन लगाते फिरना ठीक नहीं है। और हाँ, भले ये कुछ लोग चौपाई-ढाल का विरोध करें; किन्तु जब तक ज्ञान-मार्ग अपनी भाषा में प्रशस्त नहीं होगा, सच्चे धर्म से लोग वंचित ही रहेंगे।" आचार्यश्री कहते।

जयमुनि उन्हें अधिक बोलने में श्रम पड़ते देख आराम करने को कहते। आचार्यश्री भी उसे टालते नहीं। फिर भी इन दिनों संघ-एकता की बात पर वे सविशेष जोर दे रहे थे और कई बार कह देते थे :—"तुम में ममत्व कम है। तुम एकता कराने के लायक हो। समझे हुए समर्थ हो तो समय आने पर सच्चे बन कर दिखाना।"

"आपकी मुझ पर श्रद्धा है वैसा बनने का प्रयत्न करूँगा। आपकी ही प्रेरणा मेरा मार्ग-दर्शन करती रहेगी।" मुनिश्री जयमलजी कहते।

यों सप्ताह बीतने आया।

विजयदशमी का दिन था, शुक्रवार था। बेले के उपवास का पारणा था। पूज्यश्री प्रति दिन जैसी ध्यान-मग्न मुद्रा में बैठे थे। आज पूरी रात में उन्होंने जग कर

राज सैनिक यह जान गये कि बख्तसिंह ने राजा की हत्या की है और वे 'पकड़ो.... पकड़ो....!' कहते-कहते उनका पीछा करने लगे। उस समय तक बख्तसिंह किले की दीवार पर चढ़ चुका था और उसने वहाँ से कहा :—"मैंने यह स्वयं अपनी इच्छा से नहीं किया है; मगर युवराज अभयसिंह के आदेश से किया है।"

उसने ऐसा कहकर वह आदेश-पत्र फेंक दिया। वहाँ से वह तेज़ गति से अश्व पर सवार होकर रवाना हो गया।

अजीतसिंह का अग्नि-संस्कार किया गया और उनके साथ अनेक रानियाँ सती हुईं। उस समय कहा जाता है कि किसी रानी ने शाप दिया :—"तेरी मौत तेरे अपनी भूमि में न होगी!"

बड़ा ही शोक का वातावरण था; किन्तु थोड़े दिनों बाद युवराज अभयसिंह गद्दी पर बैठा। अजीतसिंह का एक पुत्र और भी था जिसका नाम आनन्दसिंह था। इडर के राजा ने उसे अपनी गोद लिया था। अन्य राजकुमारों में बख्तसिंह प्रभावशाली था। उसे नागौर का राज्य दिया गया और साथ में जालोर परगना भी दिया गया। उनकी अपकीर्ति‡ तो बहुत फैली; किन्तु उन्होंने अपनी न्याय्य परायणता और प्रजा हित के बहुत से कार्य कर न्यायी राजा का सन्मान प्राप्त किया।

साथ ही बीकानेर के सुप्रसिद्ध युद्ध के समय उन्होंने जो दूरदर्शिता दिखाई थी जिसके कारण उनका यशोगान सर्वत्र फैल गया था।

बीकानेर में यद्यपि वर्षों से मारवाड़ के राठौर वंश की ही एक शाखा (बीकाजी के वंशज) के राजा स्वतन्त्र राज्य करते थे; किन्तु वे मारवाड़ के अधीन माने जाते थे। उन दिनों राज्य स्वतन्त्र था फिर भी मारवाड़ नरेश अभयसिंह ने कोई कारण लेकर बीकानेर

---

‡ चारणों ने उनके बारे में जो दोहा जोड़ा वह इस प्रकार है :—

"बख्त बख्त बायरा क्यों मारा अजमाल।
हिंदुयानी को सेवरा तुर्कानी का शाल॥"

(अजीतसिंह को अजयमल के अनुसार यहाँ अजमाल कहा गया है।)
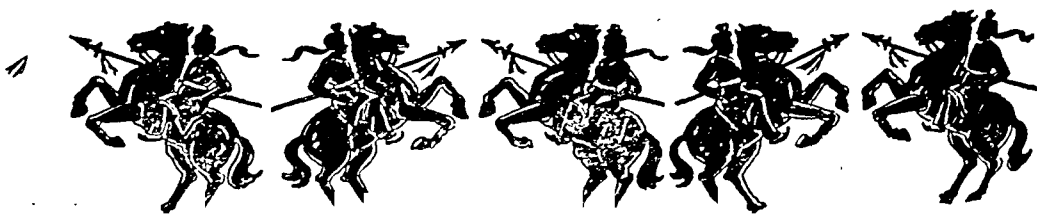
नित्य से अपने ध्यान में बैठे हैं। वे अब नहीं रहे हैं ऐसा लोगों के मन मानने से इन्कार कर रहे थे।

किन्तु श्वासोश्वास बन्द हो गया था, नाड़ी की धड़कन रुक गई थी। जीवन स्तंभित हो गया हो वैसे सभी स्तब्ध हो गये थे। वैद्यों ने आकर अपने मुँह हिला दिये।

लोगों के हृदय विदाय के दुःख से भर गये थे; फिर भी पंडित मरण शोक का विषय नहीं है। पंडित मरण प्राप्त आत्मायें मृत्युंजयी होती हैं और महाकाल को भेंटनेवाली आत्मा के विदाई का तो कल्याण उत्सव मनाया जाना चाहिये। मेड़ता में आज प्रखर जैनाचार्य भूधरजी के मृत्यु महोत्सव का कल्याणकारी उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाने की श्रीसंघ ने पूरी तैयारियाँ कर ली थीं।

लोगों के आगे उनके जीवन की घटनायें अति स्पष्ट रूप से सामने थीं। उनका जन्म वि० सं० १७१२ में हुआ। सोजत के कोटवाल रहे। वि० सं० १७७७ में उन्होंने दीक्षा ली। २७ वर्ष साधु अवस्था में रहकर उन्होंने अनेक भवि जीवों को सद्बोध देकर सद्गति की ओर लगाया। उनका दूर - दूर तक का विहार, वृद्धावस्था में भी युवानों से बढ़ कर तप, त्याग और चेतना युक्त चारित्र्य सभी के लिए प्रेरणा रूप थे। शिष्य मंडल में उस समय की सभी सम्प्रदायों (२२ टोलों में) से उनका शिष्य परिवार बड़ा ज्ञानी, तपस्वी और प्रभावशाली था। नागौर, मेड़ता, सोजत, जालोर, जयपुर आदि तक उनके श्रद्धालु भक्त फैले हुए थे। जैनों के सिवाय अनेक अजैनों को भी उनके प्रति श्रद्धा थी और उन्होंने उनसे व्रत प्रत्याख्यान लिये थे। दिल्ही दरबार और राजस्थान की नव रियासतों के राजाओं पर आप प्रभाव डाल चुके थे।

उनकी मृत्यु का समाचार बिजली के वेग से फैल गया। आसपास के और थोड़े दूर के लोग मध्याह्न तक आते रहे। उनके नश्वर देह को देखकर उन्हें भ्रम हो जाता था कि वे तो ध्यान में हैं, किन्तु आसपास के सभी लोग उन्हें बताते कि वे तो प्रातःकाल ही आधा प्रहर भर दिन चढ़ने के बाद कालधर्म को प्राप्त हो गये हैं।
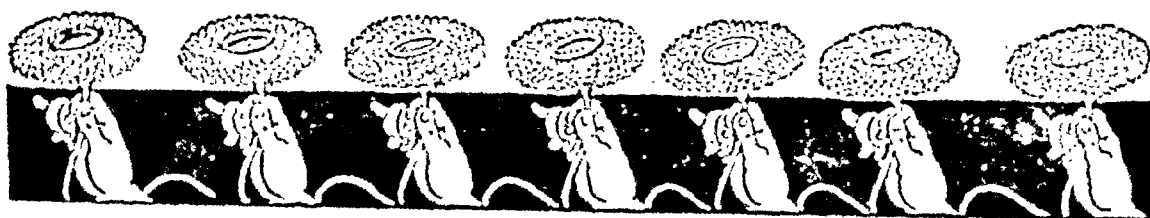
लेकिन उस समय जो बीकानेर का दूत राज-सभा में उपस्थित था उसने अपने सम्बन्धों के कारण जयसिंह राजा के समक्ष जाकर निवेदन किया :—"महाराज! बीकानेर के राजा भी स्वतन्त्र राजा हैं; वे जोधपुर के कभी आधीन नहीं हैं। इस प्रकार अभयसिंह छोटे राजाओं को आपके होते हुए खतम करें यह अन्याय है और आपके होते हुए तो वह नहीं होना चाहिये।"

राजा जयसिंह को वह बात जँची और उन्होंने पत्र जोधपुर नरेश को लिखा :— "हम सभी प्रबल परिवार के अधिकारी हैं; अतः बीकानेर राजा को क्षमा कर बीकानेर का आक्रमण दूर करें।"

इसको लिखने के बाद उन्होंने पात्र भर कसूंबे का सेवन किया। चतुर दूत ने उस नशे में उनसे दो पंक्ति और लिखवा ली :—"नहीं तो मेरा नाम जयसिंह है.... यह स्मरण रखिये....!"

इस पत्र लेकर साँढनी पर शीघ्र सवार हुआ। बाद में अन्य सामन्तों को मालूम हुआ तो उन्होंने राजा जयसिंह को इसके दुष्परिणाम बताये और दूत को लौटाने दूसरे दूत भेजे गये; मगर वह सफल न हुआ।

अभयसिंह ने पत्र पढ़ा और क्रोध में उसने उत्तर भेजा :—"हमें आज्ञा देनेवाले तथा हमारे सेवक के साथ हमारे विवाद में हस्तक्षेप करने का आपको क्या अधिकार है? यदि आपका नाम जयसिंह है तो मेरा नाम भी अभयसिंह है....!"

इसी बीच इकट्ठे हुए सभी सामन्तों में वृद्ध दीपसिंह ने जयपुर नरेश को कहा :—"आपके इस कार्य से हम सभी को बहुत सहन करना पड़ेगा।"

थोड़े समय बाद वह पत्र भी आ गया। उसे पढ़ कर वृद्ध दीपसिंह ने कहा :— "जो होना है वह होकर रहेगा। अब अपने मित्रों और सामन्तों को इकट्ठा करें।"

जयपुर नरेश के निमन्त्रण पर सभी कछवाह सामन्त, (जयपुर राज्य के) बूँदीराज के हाड़ा, करौली के यादव, शाहपुरा के सिसोदिया, खीची और जाटों की करीब एक लाख की सेना जयपुर नगर के बाहर इकट्ठी हुई।

प्रातः उठनेवाले सन्तों ने कहा :—" जयमुनि ! थोड़े से आड़े लेट जाओ ; यों कब तक बैठे रहोगे ? "

मुनिश्री जयमलजी ने उत्तर नहीं दिया ।

किसी ने कहा :—" जानेवाले चले गये । क्या उनके पीछे जिन्दगी भर बैठे रहोगे ? "

मुनिश्री जयमलजी फिर भी स्थान से विचलित नहीं हुए । उनकी मुख - मुद्रा, उस पर छाई अलग सी आभा और आँखों में अपूर्व चमक देख कर उनसे किसी ने और बात नहीं की ।

मुनिश्री जयमलजी बैठे ही रहे ; विचारते - विचारते कि आचार्यश्री पूरी सेवा का लाभ दिये बिना कैसे चल दिये ?

दिन चढ़ने आया । सभी ने पालना करने के लिये उनसे कहा । मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—" गुरुदेव की स्मृति में कुछ व्रत पच्चक्खाण, नियम धारण करने के भाव हैं । सो धारण कर लूं न ? "

सभी सन्तों ने सम्मति दी ।

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—" पूज्यश्री की तिथि सुद दशम के दिन चार धार विगय का त्याग । धृत का त्याग सिर्फ सीरे को छोड़ कर एक वर्ष के लिये । चार धार विगय का त्याग फागण सुदी पूनम तक । कारण विशेष से लम्बे मार्ग में आगार, मेला संमेलन में ध्यान रखने पर भी हो जावे तो आगार ! "

इस प्रकार पच्चक्खाण ग्रहण किया । जेतशीजी म०, रूपचन्दजी म० टीकुजी म० आदि अन्य सन्तों ने भी अपनी - अपनी शक्ति के अनुसार पच्चक्खाण लिये । किसी ने कहा कि :—" रात - रात भर बैठे रहने का पच्चक्खाण तो नहीं लिया है न ? "

मुनिश्री जयमलजी की मुद्रा गम्भीर हो गई । उन्होंने कहा :—" पूज्यश्री की सेवा करने में मेरी कुछ कमी रह गई थी सो पूरी न करने पाया । अतः अब से जिन्दगी भर में कभी लेट कर सोऊँगा नहीं । अखण्ड रात बैठ कर ही बिताऊँगा । "

तो बख्तसिंह ने देखा कि कुल ५ हजार ही सेना साथ है; फिर भी बख्तसिंह ने अपूर्व साहस का परिचय दिया।

गगवाना के पास आमेर (जयपुर) की सेना आगे बढ़ी और बख्तसिंह ने आदेश दिया :—"चलो, टूट पड़ो!"

बख्तसिंह की राठोर सेना ने बड़ा भयंकर संहार किया; किन्तु जयपुर की सेना संख्या में बड़ी थी। बख्तसिंह आगे ही आगे संहार करके बढ़ते जाते थे।

एक बार बख्तसिंह ने पीछे मुड़ कर देखा तो केवल ६० सैनिक बचे थे। नागौर के श्रेष्ठ सामन्त गजसिंह पुरोपति ने कहा :—"थोड़े पीछे गहन वन है, वहाँ चलें।"

"आगे क्या है?" बख्तसिंह ने पूछा।

सामने आमेरपति की पताका देख कर बख्तसिंह समझ गये कि जयपुर नरेश वहाँ पर स्वयं थे। साठ सैनिकों के साथ उन्होंने उस तेज़ी से धावा किया कि जयपुर नरेश की सेना अपने प्राण बचाने भाग निकली।

जयपुर की सेनाओं ने गुजरात की फतेह के समय सम्वत् १७८७ में बख्तसिंह को सरबुलन्द की सेना पर तूटते देखा था। जयसिंह महाराजा आदि ने, सेना के साथ भाग कर उत्तर में आये कुंडाला नामक ग्राम में आश्रय लिया। महाराज जयसिंह ने उस समय कहा :—"हमने सत्रह युद्ध किये हैं; मगर किसी युद्ध में तलवार के बल पर जीतते किसी को इस प्रकार नहीं देखा है।"

बख्तसिंह की बहादुरी का उल्लेख जोधपुर के भाट चारणों ने तो किया; किन्तु जयपुर के चारणों ने भी उनके पराक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भागती हुई सेना पर जब बख्तसिंह तीसरी बार हमला करने गये तब कविवर करणीदानजी ने उन्हें रोक दिया। विजय के उल्लास में बख्तसिंह साथी के साथ वापस लौटे। जयपुर की सेनायें जयपुर भाग गईं।

वापस आते समय जब युद्ध-भूमि में अपने ही साथी — कुटुम्बी जनों की लाशें जैसे-जैसे नज़र आती गईं उनका दिल दुःख से भर गया। वे वहीं लाशों के बीच बैठ कर

४६
जय-शासन अभिवृद्धि
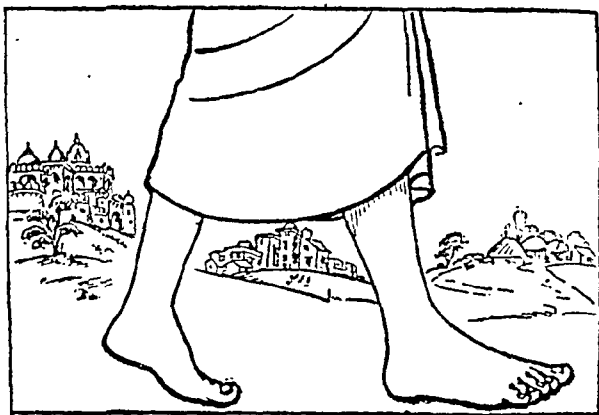
मेड़ता चातुर्मास का शेषकाल धर्म ध्यान में और कुछ उदासीनता में बीता। पूज्यश्री के चले जाने के बाद भी दैनिक गतिविधि वैसी ही चलती थी।

मुनिश्री जयमलजी का विशेष समय चिंतन, मनन आदि में बीतता था। उनके प्रवचनों में अब सविशेष आध्यात्मिकता का पूट रहता था। प्रवचनों में अक्सर अपने उपकारी पूज्य आचार्य भूधरजी के प्रेरक जीवन प्रसंगों का हृदय स्पर्शी वर्णन करते तब श्रोताओं के दिल और आँखें भर आते थे।

वे पुनः सम्हलके समझाते थे कि बड़े लोगों की पवित्र स्मृति यही होती है कि हम उनके बताये हुए मार्गों पर चलें। संघ एकता पर वे सविशेष जोर देते थे।

उनके प्रवचनों का यह असर पड़ा कि पूज्यश्री के बाद किस पर संघ का भार डाला जाये यह विवाद खड़ा नहीं हुआ। न किसी ने उस विषय को छेड़ा भी। मेड़तावालों की अपनी इच्छा थी, फिर भी उन्होंने मुनिश्री के इस सम्बन्ध में विचार जान कर कोई शीघ्रता नहीं की।

उधर सन्तों में सभी ने दीक्षा के अनुसार वन्दन व्यवहार प्रारम्भ कर दिया था। मुनिश्री रुघनाथजी और मुनिश्री जयमलजी से भी दीक्षा में बड़े सन्त थे; अतः आज्ञा एवं वन्दन का व्यवहार वैसे चलता था। सलाह विचारणा के लिये यथावसर जो जिसके पास जाता वह उसी तरह सलाह देता।

चातुर्मास के बाद यह तय हुआ कि यहां से सभी सन्त जोधपुर विहार करें। वहां पर मुनिश्री कुशलचन्दजी का चातुर्मास था। पूज्यश्री के प्रमुख शिष्यों में वे भी थे। अतः आगे की विचारणा के लिये वहीं पर सभी का मिलन हो यह सभी को उपयुक्त लगा।

मेड़तावालों ने भारी हृदय से सन्तों को विदाय दी। सन्तों को भी मेड़ता छोड़ते हुए पूज्यश्री की याद आई। मुनिश्री जयमलजी का हृदय सविशेष भावों से भर गया। इसी

राजकाज की बातों में उन्होंने कई बार अपने मन का दर्द अपने मन्त्री फतेहचन्दजी सिंघी के आगे रखा था और जब उनके द्वारा मालूम हुआ कि नागौर में परम प्रभावशाली मुनिश्री जयमलजी अपने शिष्यों के सहित पधारे हैं तो वे भी दर्शन करने जाने के लिये बड़े लालायित होने लगे।

दीवान फतेहचन्दजी के द्वारा उन्हें मालूम हुआ कि वहाँ तो हर कोई जा सकता है। जोधपुर नरेश भी उनके पास आते जाते हैं तो वे भी बड़ी श्रद्धा के साथ उनके दर्शन करने तैयार हुए।

दीवान फतेहचन्दजी सिंघी राजस्थान के ओसवाल कुटुम्बों के उन चतुर एवं दक्ष दीवानों में से थे, जिन पर राज्य की राजा और प्रजा दोनों को पूरा विश्वास होता है। वे मुनिश्री के व्याख्यानों में नित्य आते थे।

महाराज बख्तसिंह समय के जानकार थे। जोधपुर नरेश अभयसिंह के स्वास्थ्य के समाचार कुछ ठीक नहीं आ रहे थे।

इधर भंडारियों का जोधपुर राज्य में महत्व पहले जैसे नहीं था। जोधपुर-जयपुर के झगड़े के कारण भंडारियों पर जब एक बार जुल्म गुजारा गया था तब से भंडारी लोग हालाँकि ऊँचे ओहदों पर तो रहते थे; किन्तु उन्हें पहले जैसे स्वामी प्रति विश्वास नहीं बैठता था।

महाराज अभयसिंह ने दो एक वर्ष पर ऐसी बात कही भी थी और भंडारी रतनसिंहजी बीकानेर की चढ़ाई के समय लड़ते-लड़ते मारे भी गये थे। फिर भी उन्होंने भंडारियों को ही अपने राज्य का तन्त्र सौंप रखा था और भंडारी गिरधरदासजी दीवान थे।

महाराज बख्तसिंहजी की बड़ी इच्छा थी कि जोधपुर के वे महाराज बनें। लेकिन महाराजा अभयसिंह के होते हुए ऐसा होना नामुमकिन था।

बख्तसिंहजी ने इन सन्तों के समागम के प्रभाव की बात सुन रखी थी; अतः समय निकाल कर उन्होंने मुनि महाराज के दर्शन करने की बात रखी तो दीवान फतेसिंहजी बड़े प्रसन्न हुए थे।
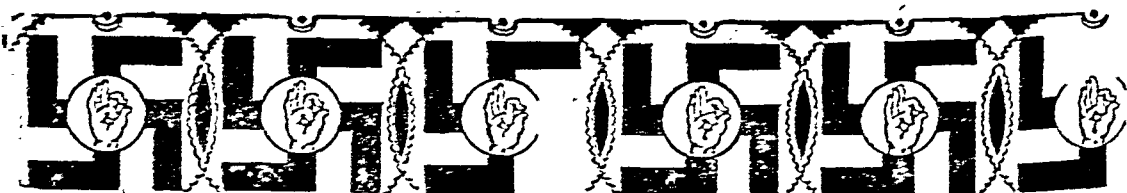
यहाँ पर सन्तों का परस्पर का मिलन ऐसा रहा कि कभी पूज्य पदवी की बात नहीं छिड़ी। अवकाश मिलने पर जब बातें होतीं तो पूज्यश्री भूधरजी के पंडित मरण की, उनके जीवन चरित्र की और अन्य बातों की।

इस बीच मुनिश्री रघुनाथमलजी और अन्य सन्तों के बीच कभी - कभी संघ - व्यवस्था की बात छिड़ जाती थी। इधर कई बार मुनिश्री जयमलजी एवं मुनिश्री कुशलचन्दजी के बीच कई बार देर तक चर्चा विचारणा होती रहती थी।

यहाँ पर मेड़ता में और आसपास के प्रदेशों के श्रीसंघों में मुनिश्री जयमलजी का नाम विशेष रूप से था; फिर भी वे स्वतः इस विषय की चर्चा नहीं करते थे। श्रीसंघों में प्रमुख जोधपुर, मेड़ता, नागौर, सोजत के श्रीसंघ थे। आपस में मिल कर सारे श्रीसंघ इस विषय की निर्णय करें ऐसी सब की राय बनती चली थी।

उन दिनों मुनिश्री जयमलजी का सुमधुर व्याख्यान नित्य प्रति दिन एक श्राविका सुनती थी। जोधपुर के पहले के चातुर्मासों में उसे सन्तों ने देखा नहीं था; अतः जब वह सविनय वन्दना कर, व्याख्यान बाद खड़ी हुई तब मुनिश्री ने उसे धर्म - ध्यान करने के लिये कहा।

बाई ने कहा :—"आप जैसे सन्त मिल जायें तो मेरा क्या, हमारे पूरे नगर को भी सविशेष धर्म - ध्यान का लाभ मिले।"

मुनिश्री जयमलजी ने सहज - भाव से पूछा :—"बाई, दया पालो! आप कहाँ की हैं?"

"मेरा पीहर तो यहीं का है; मगर सासरा बीकानेर है।" बाई ने बताया।

इस बाई का नाम राम कुंवर बाई था। नागौर के दीवान सिंघी फतेहसिंहजी की यह बहिन थी। इसका विवाह बीकानेर हुआ था और उनके बेटे बीकानेर राज - दरबार में कार्य करते थे। मुनिश्री जयमलजी का व्याख्यान सुन इसे भावना हुई कि यदि ये सन्त बीकानेर पधारें तो वहाँ साधु मार्गीय जैन धर्म की प्रभावना बढ़ सकती है। उसने आसपास के सभी लोगों से पूछताछ करके यह निर्णय किया था कि बीकानेर क्षेत्र में सधे साधुओं का

मुनिश्री की जयमलजी की जीवनी जाननेवाले यह भी कहते थे कि "मुनिश्री ने तो दिल्ही में सात-सात महाराजाओं को और स्वयं शाहजादे साहब पर अपना प्रभाव डाला था और दिल्ही में अहिंसा धर्म का प्रचार किया था।"

लोगों के मन में यह निशंक जम गया था कि मुनिश्री जयमलजी शासन की शोभा में अभिवृद्धि करनेवाले हैं। जैन-अजैन, राजा-प्रजा सभी पर उनका प्रभाव है।

महाराज बख्तसिंहजी अपने दरबारी लोगों के साथ महाराज सा० के व्याख्यान में पहुँचे। उनके लिये रास्ता करते हुए दीवान फतेसिंहजी आगे चल रहे थे।

सामने पाट पर मुनिश्री जयमलजी, पास में मुनिश्री कुशलचन्दजी और उनके आसपास नीचे की पाटों पर नवदीक्षित सन्त विराजमान थे। मुनिश्री के मुख-मण्डल पर तप एवं चारित्र का प्रकाश निखर रहा था। उस सौम्य मूर्ति को देखते स्वतः सभी का मस्तक झुक जाता था।

महाराजा बख्तसिंहजी ने पंचांग झुका कर मुनिश्री एवं अन्य सन्तों को वन्दना की और उनकी पाट के पास बैठ गये। मुनिश्री ने उनके आगे धर्म की विशद व्याख्या की।

यह जीवन अस्थिर है — क्षण भंगुर है — कब, कौन, कहाँ चला जायेगा इसका पता नहीं है। जिस धन, यौवन पर मानव गर्व करता है वह सपने से है और काया की माया तो बादल आये और बिखर गये, वैसी है। इसमें क्या ललचाना है? सरिता का जल जैसे स्थिर नहीं वैसे, ये सभी अस्थिर हैं। ये राज्य, धन, वैभव सभी अस्थिर हैं। इस जगत में जो स्थिर वस्तु है, वह है धर्म। वही सब को सुख-शांति और स्थिरता देता है।

धर्म वही है जो जगत में सभी को सत्य-कर्म करने का रास्ता बताता है। सभी धर्म मानव को अच्छे कर्म करने और अपनी उन्नति करने को कहते हैं। कोई भी धर्म जीवन की अवनति हो ऐसा नहीं कहता। उन सब का सार यही है कि जो तुम्हें भला लगता हो, वही सब को लगता है। इसलिये सब के साथ भलाई करो। सच्ची भलाई वही है कि जो खुद को भला लगे वैसा दूसरे के साथ किया जाये। यह तभी हो सकता है कि जब हम अपने जीवन को उन भले कर्मों से जोड़ दें। हमारा जीवन वैसा नहीं होगा तो

अहिंसा का स्वरूप तभी सोच सकते हैं जब हम अपनी अपेक्षा का विचार किया जाय। अहिंसा का स्वरूप तभी सोच सकते हैं जब हम अपनी अपेक्षा से अन्यों के सुख-दुःख का विचार करना सीखें। जैन धर्म की इस अपेक्षा की विचारणा को अनेकांतवाद भी कहा गया है। अच्छे राजा को, गाँव के मुखिया को तो उन सारे दुर्गुणों से दूर रहना चाहिये जिससे जीवन स्वयं दूषित हो और अन्यों को उससे खतरा पैदा हो। मानव जब तक इनका त्याग नहीं कर लेता तब तक वह अपने विकास को आंशिक रूप से भी नहीं साध सकता। उसके साधन, उसके विकास में बाधक से बनते हैं, वह उनका दुरुपयोग करता है। मानव को जो पद या स्थान मिला है उसकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती। राजा को नरेश कहा गया है। नरों में ईश यानी ईश्वर जैसा श्रेष्ठ माना गया है; किन्तु उन नर-ईश्वरों में भी यदि व्यसन जैसे दुर्गुण रहे तो वे नरेश कैसे कहे जाँयें? शरीर में एक भी फोड़ा हो तो भी शरीर मलीन माना जायेगा वैसे नरेशों में एक भी दुर्गुण होगा तो उनका जीवन लांछनमय कहलायेगा। 'परस्त्री' त्याग जब उन्हें होगा तो उनका पारिवारिक जीवन सानन्द रहेगा; साथ ही प्रजा भी उनसे सुरक्षित रहेगी कि हमारी बहु-बेटी के शील पर कोई आँच नहीं आ पायेगी। शिकार नहीं करने से तो राजा अपने राज्य के केवल मनुष्यों को अभयदान नहीं देता; किन्तु साथ ही उसकी पशु प्रजा भी निर्भीक होकर विचरण कर सकती है। शिकार करके मांसाहार करने की आदत बनने से, जब शिकार नहीं होता तब निर्दोष पशुओं को कत्ल करने की प्रवृत्ति चलती है। अच्छे राजा के लिये इन सारे व्यसनों से दूर होना बहुत ही आवश्यक है।

मुनिश्री के उपदेशों से प्रभावित होकर एक बार महाराजा बख्तसिंहजी ने गद्गद् होकर कहा :—"आज से मैं शिकार और परस्त्री दोनों व्यसनों का त्याग करता हूँ।"

मुनिश्री ने उन्हें प्रत्याख्यान कराये और लोगों ने जयजयकार किया। महाराजा के साथ दरबारियों ने और अन्यान्य लोगों ने भी व्रत-पच्चक्खाण लिये। बहुतसों ने मद्यपान और मांसाहार के त्याग किये।

"बापजी ! मैं तो यहीं पर आपके प्रवचन सुन कर ऐसी प्रभावित हुई कि मुझे लगा कि मेरे नगर के और भी भविजनों को इसका लाभ मिले। अनेक भविजनों के भाग्य खुलेंगे साथ - साथ बीकानेर विचरण करने के लिये साधु - सन्तों का मार्ग भी खुलेगा।" बाई ने कहा।

"बाई ! तुमने बहुत बड़ी आशा रखी है। वह पूर्ण हो सकेगी या नहीं, वीतराग ही जानते हैं।" मुनिश्री जयमलजी ने कहा।

"मैंने आपकी शक्ति देखी है। आपके विहार, प्रचार और परिषह सहने की बातें भी जानी हैं। आप तपस्वी और ज्ञानी चरित्रात्मा हैं, जिनके पग - पग पर रिद्धि - सिद्धि बसी हुई है। आप चाहेंगे तो बीकानेर का क्षेत्र सच्चे साधुओं के लिये हमेशा के लिये प्रशस्त हो जायेगा। आप मेरी विनती मन पर लेंगे तो मेरी भावना फलेगी।" बाई ने कहा।

मुनिश्री जयमलजी पुनः विचार में पड़े।

बाई ने कहा :—"बापजी ! श्रीसंघ की ओर से मेरी हृदय पूर्वक विनती है कि आपके मार्ग प्रशस्त करने पर बीकानेर का बड़ा क्षेत्र धर्म के सच्चे रंग में रंग जायेगा।"

मुनिश्री जयमलजी के हृदय में बाई की बातें असर कर गईं। पूज्यश्री का यही आदेश था कि जो क्षेत्र सच्चे साधु मार्गीय धर्म से वंचित हैं। उसे खोलने चाहिये और शायद वह बाई उनकी आशाओं के निमित्त रूप में आई हो।

उन्होंने कहा :—"आपकी विनति ध्यान में रखी है; किन्तु जैसी पुद्गल स्पर्शना होगी और सर्वज्ञ जानते हैं वैसा प्रयत्न होगा।"

बाई ने कहा :—"मैं जानती हूँ कि आपके पास बड़े - बड़े राजा, महाराजा और श्रीसंघपतियों की विनतियाँ पड़ी रहती हैं; किन्तु इसे विशेष ध्यान रखकर बीकानेर को पावन करें !"

"अच्छा ! धर्म ध्यान करो !" कहकर मुनिश्री ने मंगलिक सुनाया। बाई और भी झुक - झुक के वन्दना करके गई।
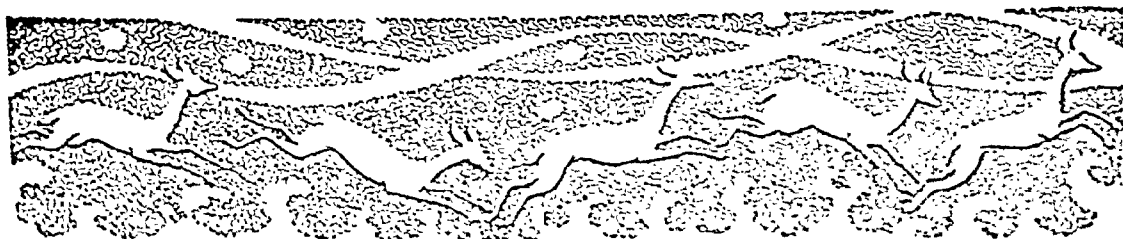
"अच्छा ! तब आप जानते ही हैं कि शास्त्रार्थ दोनों समान कक्षावाले व्यक्तियों में होता है।"

"हाँ....!"

"तब सर्व प्रथम मेरी और आपकी कक्षायें कहाँ समान हैं? मैं साधु हूँ — आप यति हैं!" जयमुनि ने कहा।

"साधुत्व का निरा दंभ भरते हो — ढोंग करके लोगों को भरमाते हो; मगर इस काल में साधुत्व कहाँ है?" यति ने कहा।

"यह दलील तो पुरानी हो चुकी है। लोंकाशाह और अन्यान्य क्रियोद्धारकों ने सच्चे साधुत्व के मार्ग को प्रशस्त किया है और हम उनके मार्ग पर चल रहे हैं।" मुनिश्री जयमलजी ने सूत्रों में से भगवान महावीर के कथनों को अपनी बात की पुष्टि की।

यतिजी चुप हो गये।

पुनः मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"यदि आप कहते हैं कि आपका मार्ग भगवान महावीर का है तो कहिये उनके साधुपने की कौनसी बात का आप पालन करते हैं?"

सभी लोग ध्यान से सुनने लगे। तब तक दोनों ओर के काफी लोग इकट्ठे हो गये थे। मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"भगवान महावीर चातुर्मास को छोड़ विहार करते थे। आप भी करते हैं क्या? नहीं करते हैं तो क्यों? फिर आप उनके अनुयायी कैसे हैं?"

यति चुप रहे। मुनिश्री ने कहा :—"तो विहार में आप उनके रास्ते पर नहीं चल रहे हैं। अच्छा, अब आहार में आये। उनके सन्त गोचरी करते थे; घर-घर जाकर प्रासुक गोचरी लाते थे — आप क्या उन नियमों का पालन करते हैं? आपके वहीं भोजन पकता है या पात्रे एक ही घर से भरके ले आते हैं; फिर आप उनके अनुयायी कैसे हैं?"

यति के पास कोई उत्तर नहीं था।

मुनिश्री जयमलजी ने पूछा :—"अब आचार की ओर आयें। भगवान सभी का त्याग करके निकल पड़े थे — क्या उन्होंने अपने नाम के मठ, मिल्कत, दौलत कहीं जमा
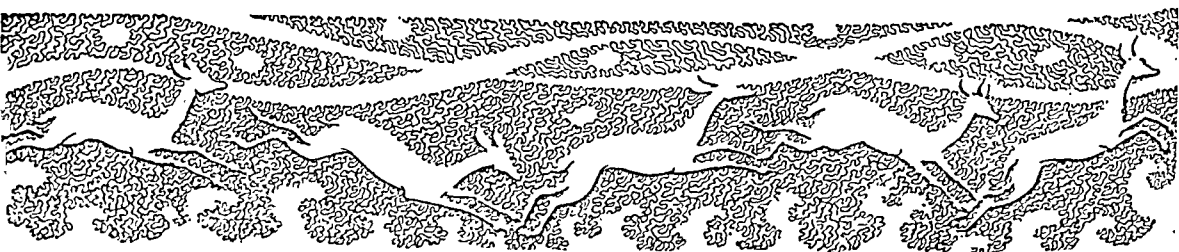
जीवन से प्रेरणा व बल मिले हैं तभी तो मैं इस व्रत को निभा पा रहा हूँ।" मुनिश्री जयमलजी कहते।

....और वास्तव में बैठे-बैठे उनकी आँखें रात्रि के अन्धेरे के पर्दे के पीछे कोई अज्ञात शक्तिदायी प्रेरणा पाती हों, वैसे उनकी आँखों में नई सी चमक आ जाती थी।

मुनिश्री जयमलजी आदि सन्त ग्रामानुग्राम विहार कर, धर्म-प्रचार करते हुए लोगों की आत्मा को जगाते आगे बढ़ते थे। उनके त्याग और नहीं पोढ़ने की प्रतिज्ञा से लोग विशेष प्रभावित होते जाते थे।

सन्त गण गांगाणी गाँव में पहुँचे।

वहाँ के सदर बाज़ार में उनका ठहरना हुआ। वहाँ पर नियमित रूप से मुनिश्री के प्रवचन अध्यात्म पर होने लगे। आत्मा क्या है? उसका विकास कैसे हो सकता है? जीव संसार में कैसे भटक रहा है?—आदि सारे विषय प्रवचन में वे विस्तार से समझाते थे।

आत्मा अनन्त शक्तिशाली है, स्वयं सम्पूर्ण परमात्मा बनकर अनेकों को तार सकता है। लेकिन जब तक उसे मोह और कषाय घेरे हुए हैं तब तक वह प्रगति नहीं कर सकता। उसे जो सिद्धि प्राप्त करनी है वह संयम से ही हो सकती है। क्रोधादि दुर्गुण आत्मा के मूल स्वभाव को मलिन करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। आत्मा जब तक तप-त्याग संयम से इसे मिटा नहीं देती तब तक स्वयं प्रकाशमान बन नहीं सकती और अन्यों को भी मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती। इन्द्रियाँ और उसके विषय एवं सुख-भोगों को मानव समझता है कि मैं भोग रहा हूँ; किन्तु वास्तव में वह उसका दास बनता जा रहा है। तभी बड़े-बड़े सन्त कहते हैं कि बुढ़ापा आ जाता है, इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं उसके पहले धर्म का आचरण करो।

जागृत आत्मा को हर पल जागते रहना चाहिये। आत्म-जागृति के मंथन के लिये आनेवाला एक क्षण उपयोगी हो सकता है और हमेशा के लिये जीवन को उन्नति के

बड़े धूमधाम से तीन नई दीक्षाओं का उत्सव मनाया गया। महाराजा बख्तसिंह, दीवान फतेसिंहजी और अन्य दरबारियों ने भी इसमें भाग लेकर इसका महत्त्व बढ़ाया।

आये हुए बाहर गाँव के श्रीसंघों के साथ नागौर श्रीसंघ के हृदय में यह भावना जम गई थी कि मुनिश्री जयमलजी की शक्ति और प्रभाव अनोखे हैं। दो-तीन मास में उनके हाथों सात-सात दीक्षायें होना, यह भी शासन अभिवृद्धि का शुभ लक्षण था। उन सब के मन में था कि मुनिश्री जयमलजी ही शासन भार सम्हालने योग्य हैं। लोगों के ये प्रत्याघात मुनिश्री कुशलचन्दजी अच्छी तरह समझ रहे थे। उनकी आंतरिक इच्छा भी यही थी।

नागौर से अब बीकानेर की ओर विहार करने का था। महाराजा बख्तसिंहजी को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने इसके लिये अपनी शंकायें सामने रखीं।

मार्ग कठिन था। वहाँ अन्य सम्प्रदायों का ज़ोर था और बीकानेर भी यतियों का अड्डा सा था जिसमें कोई साधु जा नहीं सकता था। उसकी मुनिश्री को चिंता नहीं थी — न होनी चाहिये। पर एक और बड़ा प्रश्न था कि "बीकानेर और जोधपुर के बीच अभी कुछ वर्ष पूर्व ही युद्ध हुआ था और उस युद्ध में भंडारी रत्नसिंहजी काम आ गये थे। अतः दोनों देशों की सीमायें खतरों से खाली न थीं। हो सकता है कि इस देश के लोगों को उधर जाने भी न दिया जाय।"

मुनिश्री ने कहा :—"ऐसी छोटे-मोटे राज्यों की आपस की लड़ाई चलती ही रहती है। पूज्य भूधरजी ने ऐसे समय में विहार बन्द नहीं किये थे। जाधपुर, जयपुर की लड़ाई भी चली थी। गुजरात में लड़ाइयाँ चली थीं। अजमेर के पास भी दश-बार वर्ष पूर्व लड़ाई हुई थी। अजमेर के पास लड़ाई चली थी तब कुशल मुनि वहीं पास में किशनगढ़ में थे। अब तो लड़ाई बन्द है और रामकुंवर बाई की गाड़ी बीकानेर जायेगी तो हम साधुओं को कौन रोक सकेगा?"

महाराजा ने फिर भी सावधानी रखने का सुझाव दिया। मुनिश्री कुशलचन्दजी आदि सन्तों के साथ विचारणा करके यह निर्णय हुआ कि नवदीक्षित सन्तों के साथ

४७

जय - बीकानेर विहार

नागौर से मुनिश्री जयमलजी आदि सन्तों के चरण बीकानेर के मार्ग की ओर चल पड़े। इस रास्ते से लोगों का आना - जाना होता था; किन्तु सन्तों के लिये यह मार्ग परिषहों से भरपूर था। रास्ते में दूर - दूर तक कोई गाँव बसा दीखता नहीं था। इन गाँवों में धर्म प्रेमी श्रावकों का मिलना भी उससे अधिक कठिन था और निर्जन मार्ग में चोर उचके और धाडायती का सदैव खतरा बना रहता था। साधुमार्गीय सन्त इस मार्ग से जाते आते न थे।

फिर भी बीकानेर ओसवाल जैनों का व्यापार का बड़ा केन्द्र था। जैन यतियों का वह महत्व का अड्डा सा था और जगह - जगह उनके उपाश्रय बने थे। राजकाज से लेकर सामान्य लोगों पर उनका प्रभाव बड़ा था। लोग वे जैसा कहें वैसा करने के लिये तैयार भी रहते थे। जैन धर्म के नाम पर, साधुत्व की आड़ में ये जैन यति वर्ग सभी प्रकार का पाखंड चलाया करते थे।

लोग उन्हें "बापजी" कहते थे। उन बापजियों में बहुत से अच्छे ज्योतिषविद् थे। बहुत से अच्छे तन्त्र - मन्त्र जाननेवाले थे और बहुत से वैद्यक भी जानते थे। इन बापजी की पाठशालाओं में जैन समाज के बच्चे सभी तरह का शिक्षण पाते

भी बने। उन्हें किसी भी कारण से अपनी पुत्री का विवाह मुगल सम्राट से करना पड़ा; अतः राजाओं में नाराज़गी बढ़ गई।

इससे मुगल दरबार में सैयद बन्धुओं को उनका बढ़ता प्रभाव खटकने लगा; साथ-साथ अन्य राजा गण भी उनसे डाह करने लगे और एक बात का प्रचार किया गया कि राज़पूतों की अब शक्ति बढ़ रही है उस समय उन्होंने अपनी कन्या मुगल सम्राट को देकर काफी निंदनीय कार्य किया है।

हालाँकि यह तो बहाना था; किन्तु जिस समय जोधपुर के युवराज अभयसिंह दिल्ही में आये उस समय सैयद बन्धुओं ने यह धमकी दी कि अगर अजीतसिंह को न खत्म किया गया तो वे मारवाड़ को तहस-नहस कर देंगे। यदि अजीतसिंह का नाश किया गया तो अभयसिंह को मारवाड़ के सिंहासन के साथ गुजरात का हाकिम (सुबेदार) भी बनायेंगे।

अभयसिंह के पास कोई विकल्प न था; अतः उसने अपने भाई राजा बख्तसिंह को यह समाचार भेजा और साथ यह भी कहा :—"यदि इस कार्य में मदद दोगे तो '१६५ नगर तुम्हें और मिलेंगे और झालोर परगना भी मिलेगा।"

राजकीय चालबाजी ऐसी होती है कि राजा अजीतसिंह के अन्य बहुत से पुत्र होने से बख्तसिंह को लगा कि राजा अजीतसिंह का नाश करना उचित है। एक ओर से सैयद बन्धु और मुगल सेना का डर था; दूसरी ओर राज्य लोभ था। वह महाराजा के साथ रहने लगा।

किन्तु यह कार्य हो उसके पहले ऐसी बहुत सी अफवाहें फैलने लगीं कि महाराजा अजीतसिंह की हत्या होनेवाली है। रानियों ने उन्हें सचेत किया; मगर महाराजा ने कहा :—"वह मेरा पुत्र है, चाहे तो मैं दो चाँटे भी धर कर उसे ठीक कर दूँगा।"

एक रात को मौका देख कर जब अजीतसिंह आराम से सो रहे थे तब बख्तसिंह ने तलवार लेकर उनकी हत्या कर दी। जब उनका खून बह कर पास में सोई हुई रानी को स्पर्श हुआ तब उसने जग कर यह घृणित कर्म देखा और शोरगुल हुआ।
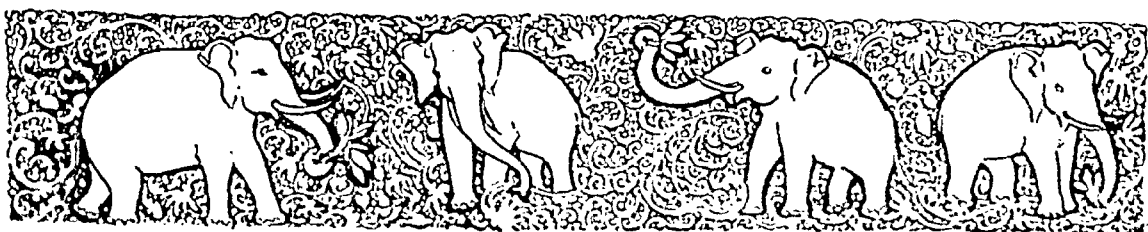
वीकानेर के वसाने में दो ओसवाल व्यक्तियों का प्रमुख हाथ रहा है। पहले जो २७ मुहल्ले वसाये गये उनमें से वेदलाला लाखनसीजी ने १४ मुहल्ले वसाये। वाकी श्री वच्छराजजी महेता द्वारा वसाये गये। वेदलाला लाखनसीजी ने इसके साथ नये वीकानेर राज्य की उन्नति में अपूर्व मदद दी और उनके ही परिवारवाले आगे भी वीकानेर राज्य के दीवान पद पर रहे। ये महेता थे और वेद महेता कहे जाते थे।

वच्छराजजी महेता सुप्रसिद्ध जैन मन्त्री तेजपाल के वंशज थे। तेजपाल के पुत्र विल्हा थे। उनके पुत्र कडुआशा थे। वे पहले मेवाड़ के थे; वाद में अणहीलपुर पाटण चले गये थे। वहाँ से वे वापस मेवाड़ आये। वहाँ के राणा ने सन्मान किया। उस समय मांडवगढ़ का सुलतान मेवाड़ पर चढ़ आया तव कडुआशा ने अपनी वुद्धि से उसे वापस किया। इससे राणा ने प्रसन्न होकर उन्हें मन्त्री-पद दिया। वहुत वर्षों वाद वे अणहीलपुर पाटण आये। वहाँ भी उन्हें मन्त्री-पद दिया गया।

कडुआशा के पुत्र मेराजी, उनके पुत्र मांडणजी हुए। वे वहाँ से वीरमपुर (वीरमगाम) सौराष्ट्र गये। वहाँ उन्हें उदाजी नाम के पुत्र हुए। उदाजी के नरपाल और नागदेव नाम के दो पुत्र हुए। उनमें नागदेव के जैसलजी और वीरमजी पुत्र हुए।

इन जैसलजी के तीन पुत्र हुए — वच्छराजजी, देवराजजी और हंसराजजी। वाप-दादाओं के मुँह पूर्वजों की वात सुन कर वच्छराजजी अपने भाईयों के साथ मंडोवर (जोधपुर) गये। वहाँ पर राव राजा रणमलजी रहते थे। रणमलजी ने वच्छराजजी की वुद्धि शक्ति का परिचय पाकर उन्हें अपना मन्त्री वनाया।

राव रणमलजी और मेवाड़ के राणा कुम्भाजी का अच्छा सम्वन्ध था; किन्तु किसी कारणवश राणा कुम्भा और रणमलजी के पुत्र जोधाजी में अनवन हो गई। इसे दूर करने वच्छराजजी के साथ राव रणमलजी आये। पहले तो उनका अच्छा स्वागत राणा ने किया; किन्तु वाद में राव रणमलजी को धोखे से मरवा दिया। वच्छराजजी तव अपनी चतुराई से वहाँ से निकल कर मंडोवर पहुँचे।

राज्य को घेर लिया था। उस समय यों तो सारे राजा दिल्ही मुगल सल्तनत के अन्दर माने जाते थे; किन्तु क्षीण होनेवाली सल्तनत की ताकत की परवाह किये विना अभयसिंह ने आक्रमण कर दिया था। यह एक प्रकार से राजपूत राजाओं के बीच हुए समझौते का भंग था। उस समय जोधपुर, जयपुर, बीकानेर, उदयपुर, बूंदी, कोटा, किशनगढ़, नागौर आदि के राजा का परस्पर का सम्बन्ध था और कुछ वर्ष पूर्व नागौर, जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के राजाओं के बीच यह सन्धि भी हुई थी कि वे आपस में कन्याओं का व्यवहार करेंगे; परस्पर शत्रुता नहीं करेंगे और यवनों को अपनी कन्या नहीं देंगे।

किन्तु जोधपुर नरेश ने परवाह किये विना बीकानेर को घेर लिया था। उस समय कुछ कारणों से नाराज़ होकर चारण कवि करणीदानजी नागौर के राजा बख्तसिंह के यहाँ रहते थे।

बख्तसिंह की इच्छा थी कि वे स्वतन्त्र राजा के रूप में रहे और बीकानेर पर अभयसिंह के आक्रमण से उन्हें महसूस हुआ कि ऐसा मौका मिल रहा है। कवि करणीदानजी की सलाह से उन्होंने जयपुर नरेश को पत्र लिखा कि "इस प्रकार बीकानेर पर आक्रमण कर जोधपुर नरेश अभयसिंह ने आप की शक्ति को अस्वीकार किया है; क्योंकि सामान्य रूप से आप ही बीकानेर के रक्षक माने जाते हैं!"

जयपुर नरेश सवाई जयसिंह उस समय वृद्ध हो चले थे और उन्हें हद बाहर कसूँबा (एक प्रकार का अफीम का केसर में घुंटा हुआ पानी) सेवन करने की आदत पड़ गई थी। यह पत्र उन्हें मिला साथ-साथ जयपुर नरेश के श्रेष्ठ दूत के पास भी यह समाचार भेजे गये।

पत्र के विषय में सर्व प्रथम सामन्तों ने ही विचार किया; क्योंकि जयपुर नरेश की यह आज्ञा थी कि जब वे कसूँबे का सेवन करते हों उस समय उनके सन्मुख कोई भी राजकीय वार्ता प्रस्तुत न की जाय। क्योंकि अफीम के नशे में वे उचित निर्णय न कर सकेंगे।

सामन्तों ने निर्णय किया कि "जोधपुर नरेश और बीकानेर नरेश दोनों एक ही वंश के हैं; अतः उनके मामलों में जयपुर को दखल न देनी चाहिये।"

वे खड़े हुए। उन्होंने दरबार में नज़र डाली। इनके काका कांधलजी भी उनके साथ खड़े हुए। उनके भाई बींदाजी भी खड़े हुए। रूपाजी, मांडणजी, मंडलाजी, नाथूजी, भाई जोगायतजी, सांखला नापांजी, पडिहार बेलाजी आदि बड़े राव भी खड़े हुए। अन्य व्यापारी साहूकारों में मन्त्री बच्छराजजी, वेदलाला लाखनजी, कोठारी चौथमलजी, राठी सालाजी भी साथ हो गये। पुरोहित वीकमसीजी आदि उनके साथ रवाना हुए।

जोधपुर से रवाना होकर वे शाम को मंडोवर पहुँचे। वहाँ गोरे भेरूंजी का दर्शन करके बीकाजी बोले :—"महाराज! हम जा रहे हैं। अब दर्शन आप के हुक्म से ही होगा।"

कहते हैं कि उन्हें सुबह उठते समय भैरव की मूर्ति देहली में मिली। इसे शुभ शुकन समझ कर बीकाजी उसे साथ लेकर रवाना हो गये। वहाँ से काऊनी नामक स्थान पर गये। वहाँ के जमींदारों को वश करके अपना शासन जमाया। वहीं तालाब के किनारे एक सुन्दर स्थान देख कर भैरव की मूर्ति को स्थापित की और वे सभी वहाँ रहने लगे। उस स्थान का नाम कोड़मदेसर* प्रसिद्ध हुआ। यहाँ पर भी राज-महल बने।

लेकिन बीकाजी का मन वहाँ से आगे की ओर चला। उन्होंने राती घाटी (लाल घाटी) स्थान पर नया नगर बनाया; वहीं बीकानेर है।

बच्छराजजी पर बीकाजी की बड़ी कृपा थी और उनके नाम से उन्होंने 'बच्छासर' गाँव भी बसने दिया। बच्छराजजी बुद्धि के धनी थे। एक बार बीकाजी ने उनसे शक्कर मँगवाई; उन्होंने नमक भेज दिया — मगर बात को बड़ी खूबी से मोड़ दिया कि :—"अनजान लोग आपकी जान कुछ मिला कर न लेते; इसलिये मैंने नमक भेजा ताकि खाते ही आप थूंक दें। दासी नई थी; अतः मुझे यह शक हुआ था।"

बच्छराजजी तो महेता थे; किन्तु उनके बाद बच्छावत गौत्र उन्हीं के नाम से चला। उनके पुत्र करमशी बीकाजी के पुत्र लूणकरणजी के समय मन्त्री हुए। राजा, मन्त्री-पद वंश-परम्परा से चलता रहा और बच्छावत कर्मचन्द राव कल्याणसिंह के समय

* आज भी बीकानेर के राजकुमारों का मुंडन संस्कार यहीं पर होता है।

अभयसिंह से बदला लेने और बीकानेर का उद्धार करने जयपुर नरेश ने विशाल सेना के साथ मारवाड़ की ओर प्रस्थान किया और मारवाड़ की सीमा में गगवाना नाम के गाँव के बाहर ठहरे। इधर अभयसिंह ने भी बीकानेर के आक्रमण को छोड़ कर जयसिंह से लड़ने प्रस्थान किया।

परिस्थिति बड़ी पेचीदा हो गई थी। बख्तसिंह ने यह नहीं सोचा था कि उसके कारण इतना बड़ा संग्राम होगा। जयपुर नरेश की सेना का वर्णन सुन कर उसे लगा कि वह मारवाड़ को जीत सकती है।

उसके सिर पर पहले से ही पितृहत्या का कलंक चढ़ा हुआ था। अब भविष्य में यह बात बाहर आई तो लोग उसे देश - द्रोही भी कहेंगे। इसलिये बख्तसिंह ने अभयसिंह के सन्मुख आगे जाकर सविनय निवेदन किया :—"आप बीकानेर पर ही रहें; मैं नागौर के सामन्तों को लेकर रण - क्षेत्र में इस भगतिये † को उचित दण्ड दूँगा।"

अभयसिंह को गुप्तचरों से सारी बातें तो मालूम हो गई थीं; फिर भी अपने षड़यन्त्र में खुद ही जा रहा है यह सोच कर उसने बख्तसिंह को स्वीकृति दे दी।

बख्तसिंह ने आकर ढिंढोरा पिटवाया और सामन्तों की सेना के साथ नागौर के दिल्ही जानेवाले रास्ते के द्वार पर आने को कहा। जैसे ही सामन्त आने लगे वैसे दो भरे हुए पित्तल के हाँडों से उन्हें भर - भर कर कसूंबा पिलाया गया और कुमकुम के थापे लगाये गये।

करीब आठ हजार सैनिक आये। उन सब को एक बाजरे के खेत के बाहर खड़े कर कहा :—"हम खेत चलते हैं।"

बख्तसिंह ने अपने घोड़े को सब के पहले चलाया। इस प्रकार खेत से गुज़रने का अर्थ होता था कि मरते दम तक युद्ध - क्षेत्र नहीं छोड़ेंगे। जब सभी खेत से आगे आये

† राजा जयसिंह अत्यन्त धार्मिक और साधु प्रकृति के होने से लोग उन्हें भगत कहते थे। भगतिया भगत — भक्त का अपभ्रंश है।

दीवान कर्मचन्द का राव राजा और उसके राज्य पर इतना बड़ा उपकार था कि वह उससे सीधी रीति से अपना वैर नहीं ले सकते थे। इस बीच कर्मचन्द ने अपनी प्रौढ़ अवस्था में मेड़ता जाकर धर्म ध्यान करने का उचित समझा और वे वहाँ गये। अतः राव राजा रायसिंह की मन में रह गई; किन्तु अकबर बादशाह ने उन्हें फिर राजा रायसिंहजी के द्वारा बुलवाया और दिल्ही में ही ठहरवाया। कहते हैं कि अकबर बादशाह ने अपने पुत्र जहाँगीर के मूल-नक्षत्र में पैदा होने के कारण सभी धर्मों के अनुसार शांति करवाई थी। तदनुसार जैन धर्म की रीति से शांति करने का कार्य कर्मचन्द पर आया।

जब अन्तिम अवस्था आई तब दिल्ही में राजा रायसिंह उनके प्रति संवेदना और सांत्वना प्रगट करने गये। तब उनका हृदय भर आया था। उनके जाने के बाद अनुभवी कर्मचन्द ने अपने पुत्रों से कहा :—"पुत्रों! ये मगर के आँसू हैं। कभी भूल कर बीकानेर मत जाना।"

इधर राजा रायसिंह ने कर्मचन्द की मृत्यु के बाद अपने पुत्रों से कहा :— "कर्मचन्द तो मर गया; मगर उसके वंश का नाम न रहना चाहिये!"

सूरसिंह ने इस बात को स्वीकार किया।

राजा रायसिंह के बाद बीकानेर के राजा दलपतसिंह बने; किन्तु दिल्ही बादशाह जहाँगीर से नाराज़ होने पर उन्हें गद्दी से हटना पड़ा और सूरसिंह सं० १६७० में बीकानेर के राजा बने।

इस बहाने जब बादशाह से वे मिलने गये तब वापस लौटते कर्मचन्द के दोनों पुत्र भाग्यचन्द और लक्ष्मीचन्द को तसल्ली देकर साथ लेते आये। दोनों को मन्त्री-पद दिया और छः मास तक इन पर ऐसी कृपा बताई कि वे पुरानी बातें भूल गये। स्वयं राजा सूरसिंह इनकी हवेली पर गये तब लाख रुपये का चौतरा बना कर इन दोनों ने उनको विराजित किया।

शोक करने लगे। जिस वीर को कुछ क्षण पूर्व वीरता से लड़ता देखा था उसे दारूण दुःख से विलखते देख सभी का हृदय भर आया। अजीब सा दृश्य था। हज़ारों की लाशों के बीच पचास वीर गण शोक-मुद्रा में बैठे थे।

बहुत समय तक बख्तसिंह वहाँ बैठे रहे और पश्चात् महाराज अभयसिंह अपनी सेना के साथ आये और उन्हें उठाते हुए बोले :—"आज की पूरी विजय तुम्हारे अकेले बाहुबलों का परिणाम है; उसके आनन्द के बदले शोक मनाना कहाँ तक उचित है?"

उससे प्रेरित होकर बख्तसिंह ने कहा :—"आप चाहें तो मैं भागे हुए जयसिंह को आमेर जयपुर जाकर पकड़ कर ले आऊँ....!"

अभयसिंह ने उन्हें गले से लगा लिया।

वह समय वापस नहीं आया। मेवाड़ के महाराणा ने बीच में पड़ कर जयपुर और जोधपुर के राजा के बीच मित्रता करवा दी। जयपुर नरेश को भले हार का कलंक लगा; किन्तु उनका जो उद्देश्य था वह सफल हुआ और बीकानेर का राजा का उद्धार हुआ।

इस प्रकार बख्तसिंह की जो पहली इच्छा थी कि भाई-भाई, अपने-अपने प्रान्त को शांति से शासन करे वह सफल हुई। महाराज अभयसिंह जोधपुर चले गये। नागौर में बख्तसिंह शासन करने लगे और बीकानेर में भी महाराजा को शांति मिली।

* * *

नागौर महाराजा बख्तसिंह ने उसके बाद जितने भी सामन्त काम आये थे उन सब को बड़ा पुरस्कार आदि दिया; फिर भी कभी-कभी उनके मन में अचानक पुरानी बातें याद आ जाती थीं।

खून से सना पिताजी का कटा हुआ सर....! गगवाना के पास लाशों से भरा वह रण-मैदान और वे मन ही मन बड़े अशान्त हो जाते थे—बेचैन हो जाते थे।

उसके बाद हालाँकि जोधपुर से कभी कोई बात की चिंता न रही; फिर भी बख्तसिंह को आत्म शांति नहीं मिलती थी।
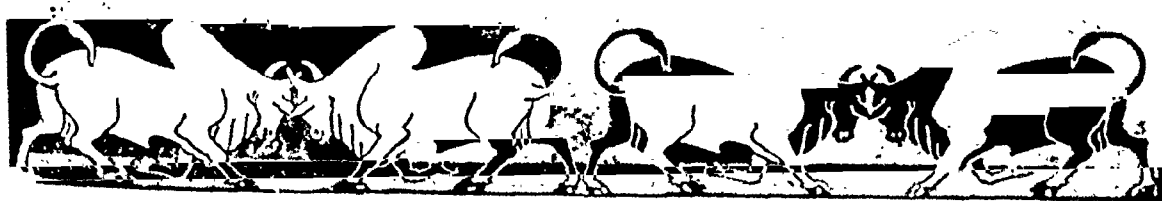
मौका मिला कल से, बल से या छल से अपना राज्य विस्तार प्रारम्भ किया। फलस्वरूप इन रियासतों के बीच युद्ध होते रहते थे।

सं० १८०४ में बीकानेर के राजा गजसिंह थे। वंश परम्परा से वे जोधपुर के वंश के थे; फिर भी जोधपुर और बीकानेर के बीच दो-एक वर्ष पूर्व कुछ नगरों के लिये युद्ध हुआ और उसमें रतनशीजी भंडारी काम आये थे। नागौर में बख्तसिंहजी राजा थे। वे भी जोधपुर के वंशज थे और उन्हें भी यह आशा थी कि वे एक दिन नागौर सहित विशाल जोधपुर राज्य के मालिक बने।

इन राजाओं की अपनी राज्य बढ़ाने की नीति के कारण सर्वत्र जीवन में एक प्रकार की अशांति सी फैली दिखाई देती थी। इस समय अनेक राजाओं और ठाकुरों पर अपना प्रभाव जमानेवाले इन सन्तों के सामने कई समस्यायें खड़ी हो जाती थीं। सर्व प्रथम तो विहार की समस्या थी कि वह शांति से हो सकेगा या नहीं? दूसरी समस्या थी कि कहीं उनके मुँह से ऐसे वाक्य न निकल जांये जिसमें परस्पर का वैर न बढ़ जाये। भाषा-समिति तो थी; किन्तु कई बार सन्त गण उसका विवेक चूक जाते थे तब विरोध पैदा हो जाता था। साथ ही फिर "यह हमारा प्रांत, यह तुम्हारा प्रांत" की भावनायें रूढ़िगत होती चली जाती थीं। साधु तो जगत में सब का कल्याण करने चला है और उसे ये बातें छूनी भी नहीं चाहिये ऐसा मुनिश्री जयमलजी मानते थे और एतदर्थ वे विरोधियों के बीच भी अपना आदर-मान बढ़ा पाते थे।

* * *

नागौर से ही थोड़ी दूरी से विहार के रास्ते बालु से भरे प्रारम्भ हुए। प्रातःकाल होने से अभी शीतलता वातावरण में थी। यह नये क्षेत्र का रास्ता था। इस रास्ते पर इसके पूर्व साधु मार्गीय कोई सन्त ने विचरण किया हो ऐसा नहीं मालूम पड़ता था। तीन कोस पर ही भदाणा गाँव था वहाँ जैनों के घर होने पर भी सन्त गण यहाँ क्यों विहार नहीं करते थे....? मुनिश्री जयमलजी के मन में यह विचारणा चल रही थी।

बख्तसिंहजी सं० १७८९ में इस नागौर के सिंहासन पर बैठे थे तब उन्होंने फतेसिंहजी दीवान के पिताजी सरूपमलजी को दीवान बनाया था और सं० १७९२ में जब आपका स्वर्गवास हुआ तब फतेसिंहजी को आप ने दीवान पद दिया था। तभी से आप दीवान पद पर थे और नागौर राज्य की उन्नति के लिये अवसर आने पर आप तलवार उठाने में भी हिचकिचाते नहीं थे।

आपके पूर्वज सिंधी रायमलजी जोधपुर के दीवान थे और महाराजा गजसिंह के समय सं० १६८१ में जब जालौर के पास विहारी मुसलमानों से युद्ध करने का मौका आया तो आपने न केवल उन्हें हराया; बल्कि जालौर प्रान्त जोधपुर को दिला दिया था। आपके पुत्र जीतमलजी जोधपुर के सर सेनापति थे और युद्ध में काम आये थे। जीतमलजी के पुत्र आनन्दमलजी और उनके पुत्र सरूपमलजी थे।

बख्तसिंहजी ने इस सिंघी परिवार को पहिचाना था जब उन्हें नागौर का राज्य सिंहासन मिला तब उन्होंने सरूपमलजी को दीवान बनाया और उनके बाद फतेसिंहजी को वही पद दिया था।

*　　　　*　　　　*

नागौर के श्रीसंघ में आज आनन्द की लहर आ गई थी। महाराज बख्तसिंहजी मुनिश्री के दर्शन करने आ रहे हैं यह जान कर सब के हृदय प्रसन्न हो चुके थे। नागौर के बाजारों को सजाया गया और महाराजा बख्तसिंह की सवारी की सभी प्रतीक्षा करने लगे।

महाराजा की सवारी सामने आई कि लोगों ने जयजयकार बुलाया। लोगों में तरह - तरह की बातें चल पड़ी थीं। कोई कहते थे कि :—"क्या सन्तों का प्रभाव है कि राजा - महाराजा भी उनके दर्शन प्रवचन को आते हैं।"

कोई कहता :—"महाराजा साहब की भी अपने धर्म के प्रति कैसी श्रद्धा है कि वे स्वयं सन्तों के दर्शन करने पधारते हैं।"
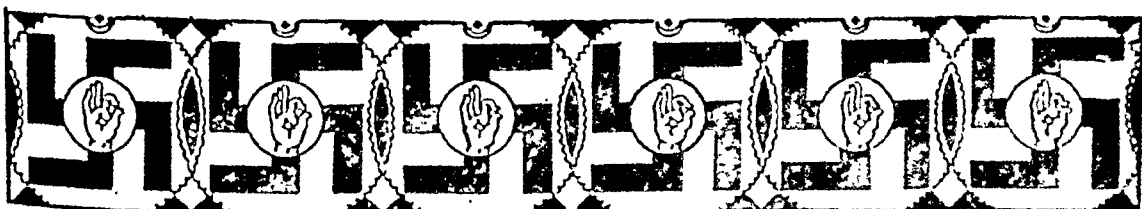
तभी किसी ने कहा :—" आजकल तो बहुत से वेश बना कर भेद लेने आते हैं। मुँह पर पट्टी बाँध कर अपना चेहरा छुपाते हैं। मुझे तो ये चोर या भेदिये मालूम पड़ते हैं। अपने जैन नहीं दिखते।"

उसके यह कहने के साथ बाज़ार में सभी ने अपने घरों के दरवाज़े बन्द कर दिये और सन्त गण आश्चर्य से देखते खड़े रह गये। जैन सन्त होते हुए भी जैनों के द्वार उनके लिये बन्द हो जांये — इस पर से बीकानेर क्षेत्र की ओर सच्चे सन्तों का विहार वास्तव में कितना दुर्गम है उसका प्रत्यक्ष अनुभव सन्त गण कर रहे थे।

मुनिश्री जयमलजी ने वहाँ बाज़ार में खड़े रहना उचित न समझा। सन्तों के साथ वे आगे चलने लगे। उन्हें एक आदमी मिला। मुनिश्री को देख कर उसने पूछा :— "आप कौन हैं? इस गाँव में कैसे आना हुआ है?"

"हम जैन सन्त हैं। बीकानेर जाना है; यहाँ पर ठहरना है। कहीं कोई जगह मिलेगी कि नहीं?" मुनिश्री ने कहा।

उसने पास ही अपने घर की देहली एवं पोल दिखलाई। नोहरे जैसे उस मकान की परशाला में मुनिश्री उसकी आज्ञा लेकर उतर गये। गाँव में खबर हो गई और लोग वहाँ अचम्भे से आये। उनके लिये ऐसे सन्तों के दर्शन पहली बार ही हो रहे थे। उनका पहनावा, मुँहपत्ति, वस्त्र - पात्र, ओघा आदि सभी वस्तुयें उनके लिये आश्चर्य सी थी।

लोग हाथ जोड़ते, राम - राम करते बैठ जाते थे। कोई अधिक भेद जानूँगा ऐसा मान कर इनके वस्त्र - पात्र के गट्ठर को ध्यान से देखता। मुनिश्री सब को "धर्म ध्यान करो!" सुनाते थे।

"यह आप लोगों ने मुँह पर पट्टा क्यों बाँध रखा है?" किसी ने पूछा। "क्या धाडायतियों ने सभी के मुँह पर चोट पहुँचाई है — सो पट्टा बाँध रखा है....?"

मधुर वचन से मुनिश्री ने कहा :—" जीवों की रक्षा करने के लिये इसे बाँध रखते हैं!"

कोई हमारा विश्वास नहीं करेगा। व्यक्ति को समाज में रहना है एतदर्थ जिस-जिस समूह में वह रहता है एतदर्थ तदनुरूप उसको ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म आदि निभाने पड़ते हैं। राजा को अच्छी तरह राज्य धर्म निभाना है तो प्रजा को भी प्रजा धर्म पालना है। कहावत है कि यथा राजा तथा प्रजा। एथदर्थ राजा को सब से पहले अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिये — उसे स्वयं एक आदर्श व्यक्ति बनना चाहिये। जब तक वैसा नहीं बनता तो वह खुद का भला नहीं कर सकता और न अपने साथवालों का। राजा रावण बहुत पंडित था, ज्ञानी था; किन्तु वह परस्त्री आसक्त हुआ। परिणाम में उसका, उसके राज्य का विनाश हुआ। धर्मराज युधिष्ठिर को जुगार के मोह में हस्तिनापुर का राज्य गँवाना पड़ा, भाई और पत्नी को दाँव में लगाना पड़ा और हार कर वनवास भोगना पड़ा। शिकार के शोख के पीछे राजा राम को सीता गँवानी पड़ी और कितने कष्ट उठाने पड़े? शराब के कारण समर्थ श्रीकृष्ण भी यादवों का विनाश नहीं रोक सके। इसलिये राजाओं को तो इन सारी बातों से — व्यसनों से दूर रह कर अपने राज्य में कैसे सुख-शांति आये, प्रजा कैसे शांति से जिये यह विचार करना चाहिये। इसीलिये राजा जितना आदर्श होगा, उसकी प्रजा उतनी अच्छी होगी।"

मुनिश्री का प्रवचन सुन कर महाराजा बख्तसिंह बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने खड़े होकर कहा कि "जैसे आपका यश सुना था वैसे ही आप हैं और आपका प्रवचन है। मैं प्रति दिन इसका लाभ लेना चाहता हूँ और आप अधिक से अधिक दिन बिरामान होकर मुझे और मेरी प्रजा को लाभ दें।"

मुनिश्री ने कहा :—"चातुर्मास के सिवाय तो हम अधिक से अधिक २९ दिन से विशेष ठहर नहीं सकते। आगे और भी क्षेत्र में विहार कर धर्म जागृति करनी पड़ती है।"

महाराजा ने बहुत हार्दिक भाव से विनती की। साधु मर्यादा के अनुसार जितना विशेष हो सकेगा — वैसा ठहरने का भाव है ऐसा मुनिश्री ने फरमाया।

मुनिश्री के प्रवचनों में तप, त्याग और अहिंसा, संयम पर खुल कर विवेचन होता था। धर्म में अहिंसा का पालन तभी होता है जब दूसरों की अपेक्षा का विचार किया जाय।

फिर उन्होंने सन्तों को आदेश दिया :—"गाँव में चले जाओ और निर्दोष आहार-पानी ले आओ। यहाँ पर कुछ मिले तो ठीक है; नहीं तो सन्तों के लिये तप-मार्ग है ही। मार्ग में कोई कुछ भी कहे; गाली भी दे देवें तो भी सहन कर लेना—यही महावीर प्रभु का शासन है।"

अन्य सन्त मुनिश्री जयमलजी की आज्ञा लेकर पात्रों की झोली बनाये गाँव में चल दिये। साधुचर्या के अनुसार धरती पर नजर किये वे रास्ते पर जाने लगे।

लोगों के लिये तो तमाशा सा हो गया था। उनके पीछे कुछ लोग हो लिये। किसी ने पूछा :—"महाराज! धरती क्यों देख रहे हो?"

सन्त कुछ नहीं बोले।

दूसरे ने कहा :—"कुछ गुम हो गया है क्या?"

किसी ने मज़ाक करते हुए कहा :—"इनके पास है क्या, सो गुम हो जायेगा....?"

सन्त सब शांति से सुनते बाज़ार तक गये। वहाँ पर बनियों के—जैनों के जो घर थे वे तो पहले ही बन्ध हो चुके थे। झरोखे से कुछ औरतें अवश्य उन्हें झांकती थी।

सन्त ज़मीन देखते आगे चले।

किसी ने कहा :—"इनकी नज़र ऊपर उठती ही नहीं है।"

"मेरा मानो ये कोई भेदिये हैं; किसी के पैरों के निशान देख रहे हैं।" किसी ने और दिमाग लड़ाके कहा।

"ये तो ठग हैं ठग....!"

"हमें तो घर भग जाना चाहिये।" ऐसा कह कर बहुतसों ने घर की राह पकड़ ली। जैनियों के घर होने पर भी जब वे ही सन्तों की गोचरी के बारे में रस नहीं ले रहे थे तब अन्य कैसे लेते? सन्त सभी जगह घूम आये। कहीं पर द्वार बन्ध थे तो कहीं पर निर्दोष आहार न था। प्रासुक सचित पानी भी कहीं पर न था।

नागौर में लोगों पर उनका प्रभाव बढ़ रहा था। वैसे नागौर यतियों का अड्डा था और इनका प्रभाव कम होने से वे उनसे ईर्ष्या करने लगे। महाराजा बख्तसिंहजी ने प्रवचन सुन कर मुनिश्री जयमलजी से व्यसन त्याग के प्रत्याख्यान लिये इससे उनकी ईर्ष्या द्वेष में बदल गई।

एक दिन मुनिश्री आदि सारे सन्त गोचरी करने के उपरांत बैठे थे कि उनके पास एक यति अपने शिष्यों के साथ आया और उसने कहा :—"लोगों को भरमाया करते हो; क्योंकि वे भोले हैं। मगर एक बार हम से शास्त्रार्थ कर लो तो हम जाने।"

मुनिश्री जयमलजी मृदु मुस्कान से कहा :—"आईये, धर्म-ध्यान कीजिये। क्या खड़े-खड़े ही शास्त्रार्थ करना है।"

यति अपने शिष्यों के साथ सामने बैठे।

मुनिश्री ने फिर धीरे से कहा :—"हमें यहाँ आये तो बहुत दिन हो गये हैं। आप तो यहीं रहते हैं न....! कोई शंका समाधान करना हो तो पहले पधारते!"

यति कुछ झेंपा। फिर सम्हल कर उसने कहा :—"अब भी कौन-सा विलम्ब हुआ है? तुम्हारे सर पर जो यश का भूत चढ़ा हुआ है उसे अभी उतार दूँगा।"

मुनिश्री ने कहा :—"मन्त्र-तन्त्र, दोरा, धागा आप करते ही हैं; मगर वह औरों के काम आयेगा। मेरे पर तो कोई भूत नहीं चढ़ा है; फिर भी आप उसे देखते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। शासन की सेवा का भूत अवश्य सवार है; किन्तु उसे उतारने की आवश्यकता नहीं!"

यति ने कहा :—"हाँ, मीठी-मीठी बातों में सब को अपना बना लेना — वह तो सरल है — मुझे हरा दो तो मैं जानूँ!"

"हराना आदि तो मैं नहीं जानता; किन्तु धर्म प्रचार अवश्य मुझसे जो बन पड़ता है, मैं करता हूँ।" मुनिश्री जयमलजी ने शांति से कहा।

"मैं तो शास्त्रार्थ करने आया हूँ शास्त्रार्थ; नहीं कर सकते तो कह दो कि मैं हार गया।" यति ने सगर्व कहा।

"ये तो साधु-जीवन की परीक्षायें हैं। इसमें किसी का कोई कसूर नहीं है। सभी अपने कर्मों के कारण ही भुगतना पड़ता है।" मुनिश्री ने कहा।

प्रात:काल जब सन्तों ने भदाणे से विहार करना चाहा तो पूरे गाँववालों ने मिल कर खूब विनती की। उनके अत्याग्रह से सन्तों ने पालना वहाँ किया। बीकानेर से लौटते समय वहाँ पर विशेष ठहरने का योग रहा तो ठहरेंगे ऐसा आश्वासन देकर उन्होंने वहाँ से विहार किया।

* * *

दूर-दूर तक बालू का मार्ग इस प्रदेश में दीखता था। शीतकाल था; अतः विहार करने में कोई विशेष कष्ट नहीं हो रहा था। निर्जन और एकांत बीहड़ मार्ग हृदयों में नये-नये भाव पैदा कर रहा था। अनजान मार्ग भी जाने पहचाने बनते जा रहे थे और अब इस मार्ग से और भी सन्त आयेंगे जायेंगे तो सच्चे साधु-मार्ग कितना प्रशस्त होगा इस विचार स मुनिश्री जयमलजी का मन प्रफुल्ल हो रहा था।

बीकानेर यतियों का अड्डा सा बन गया था। पंजाब से अमृतसर, लाहौर की ओर से कुछ सन्त कभी वहाँ आते भी थे; किन्तु उनका उतना प्रभाव नहीं पड़ा था और यतियों का प्रभाव वैसा ही कायम था। पंजाब और दिल्ही की ओर विचरण करनेवाले सन्त कम थे और बीकानेर उनके लिये एक तरफ भी रह जाता था।

इसीलिये मुनिश्री जयमलजी ने इस नये क्षेत्र को खोलने के संकल्प से परिषह सहते हुए आगे कदम बढ़ाया था। इन दृढ़ कदमों को रोकने की शक्ति भूख-प्यास, ठण्ड़ी-गरमी या निवास के उपसर्गों में न थी। उनके लिये तो यह बातें बड़ी अल्प सी थीं।

दूर से कुछ ऊँट पर चढ़े सवार सामने आते दिखाई दिये। वे पास आते गये वैसे उनके चेहरे और भाव स्पष्ट होते गये।

पास आते ही उनके सरदार ने ज़ोर से कहा :—"ठहरो!"

मुनिश्री जयमलजी आदि सन्त रुक गये।
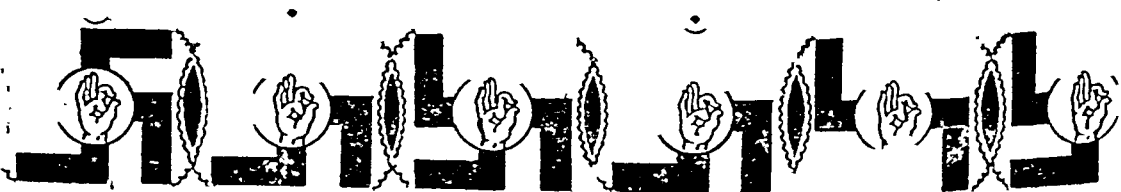
कर रखी थी कि आप अपने आश्रमों, मठों के मालिक बन फिरते हैं; फिर आप उनके अनुयायी कैसे हैं ?"

यति के पास इसका उत्तर नहीं था। फिर भी उसने कहा :—"यह तो सारे परिवर्तन देश, काल, क्षेत्र भाव के अनुसार हुए हैं। हम भी लोंकाशाह को मानते हैं। लोंकागच्छीय कहलाते हैं।"

मुनिश्री जयमलजी ने संक्षिप्त में जैन शासन का इतिहास और शास्त्रों के अवतरण बताये और लोंकाशाह के पथ का दिग्दर्शन किया। उनका कहना था कि साधु, साधु हैं और यति, यति हैं। यति जीवन की अपनी उपयोगिता अपने ढँग से समाज में है और वे उस तरह से अपने स्थान पर, यानी यति बन कर रहें। जब वे यति पद की श्रेष्ठता को सिद्ध करने साधुपने की अवहेलना करते हैं तभी विरोध जगता है।

मुनिश्री जयमलजी की विद्वता, विनम्रता, सौजन्यता और अकाट्य तर्कों से यति को अपनी हार माननी पड़ी। वे मुनिश्री को वन्दना करके जाने लगे तब मुनिश्री ने हँसके कहा :—"चलिये, इस प्रसंग के उपलक्ष में आपके पास भंडार में जो शास्त्र पड़े हैं उन्हें तो देखने देंगे न! लीजिये, इस प्रकार आपकी उपयोगिता का सभी स्वीकार करेंगे!"

यति को लगा कि बात-बात में, हँस-हँस कर अपनी बात कह जाना और अपना कार्य करवा लेना इसमें मुनिश्री जयमलजी बड़े दक्ष हैं। उन्होंने मुनिश्री की इस बुद्धि की प्रशंसा की और यह भी कहा :—"आप में शासन को दीपाने के सारे गुण विद्यमान हैं। आप कभी भी पधार कर भंडार देख सकते हैं।"

मुनिश्री ने भी अवकाश निकाल कर भंडार के ग्रन्थों को देखा और भविष्य में उपयोग करने की अपनी इच्छा व्यक्त की।

नागौर में इस प्रकार सभी पर मुनिश्री जयमलजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। लोगों में आत्म जागृति अच्छी सी आई थी और वहाँ पर तीन नये वैरागियों ने दीक्षा लेने का संकल्प किया, यह उनके नागौर के लोगों पर पड़े प्रभाव की सिद्धि सी थी।
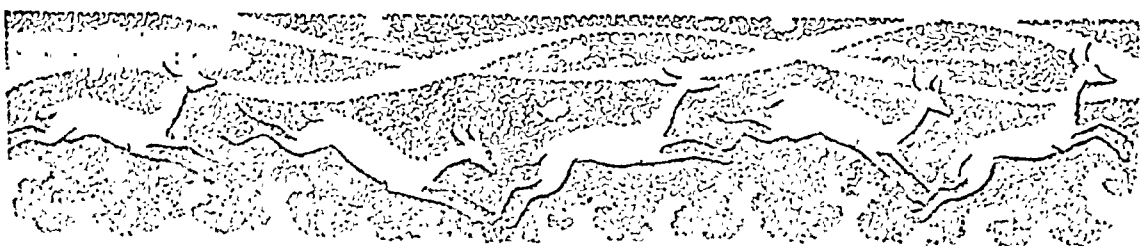
उस समय कोई भी साथ नहीं चलेगा। संसार में सब स्वार्थ के सगे हैं। कल से तुम उनको खिलाना - पिलाना छोड़ दो —— सब तुम्हारे दुश्मन बन जायेंगे। इसलिये रोज़ी - रोटी कमानी भी है तो अच्छे मार्ग से भी प्राप्त की जा सकती है। खेती - बाड़ी, मज़दूरी आदि कोई भी धन्धा नीति से किया जा सकता है।" मुनिश्री कहते गये। उस धाडायती के सूके हृदयों के रेगिस्तान में किसी ने अमृत की वर्षा की हो ऐसा प्रतीत हुआ।

उसके क्रूर चेहरे पर से क्रूरता हटती गई। उसकी आँखें भर आईं। वह ऊँट से नीचे उतरा। अपनी पघड़ी उतार कर सन्तों के चरण में डाल कर बोला :—"हाँ, बापजी! जानता हूँ कि मरूँगा तो नरक में भी मुझे कोई जगह नहीं मिलेगी; लेकिन क्या करूँ....?"

उसने अपनी आपबीती सुनाई कि कैसे उसके गाँव के ज़मीन्दार ने उसके खेत हड़प लिये — उसको पिटवाया; उसके बाल - बच्चों और पत्नी को तड़पाया और बाकी था सो उसके घर को आग लगा दी और कैसे उसे बर्बाद किया गया? वह बदला लेने धाडायती बना था।

मुनिश्री ने उसे शांति से समझाया कि "अपना जीवन बर्बाद हुआ यानी इसका बदला सब से तो नहीं लिया जाता। पहले तो बदला लेने से बदला चुक नहीं जाता; फिर जिनसे लेना है उससे ले लिया है तो रास्ते में चलनेवालों को लूँटना - मारना यह कहाँ तक उचित है? अब तो सिर्फ पाप की गठरी ही सिर पर भारी हो रही है। मृत्यु के बाद आत्मा का यह भार उठाने में न घरवाले काम आयेंगे न साथी काम आयेंगे!"

मुनिश्री ने उसे ऐसे हृदय स्पर्शी ढंग से समझाया तो वह बोला कि "बापजी! आगे ज़िन्दगी अच्छे कार्य में बीते ऐसे आप मुझे आशिष दें!"

"हम तो सभी से यही चाहते हैं।" मुनिश्री ने कहा।

धाडायती सरदार फिर मुनि के पैरों पड़ा और वहाँ से रवाना हुआ। सन्तों ने अपने वस्त्र - पात्र और शास्त्र सम्हाले। शैतान से फिर इन्सान बनने की भावना के साथ धाडायती दूर - दूर तक जाके क्षितिज में विलीन से हो गये।
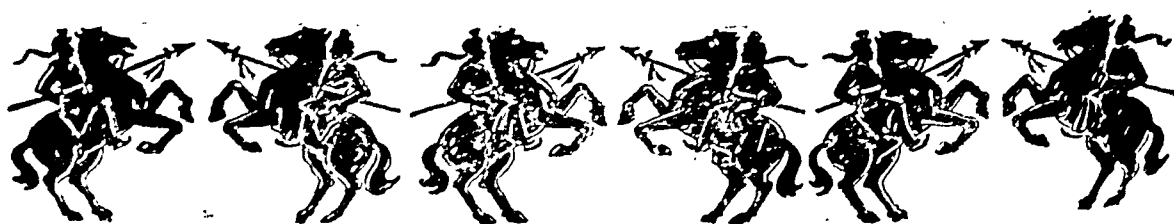
कुशल मुनि नागौर में ही ठहर जाँये और कुछ तप - मार्ग के विशेष प्रभावक सन्तों के साथ मुनिश्री जयमलजी बीकानेर की ओर विहार करें।

अगले दिन प्रातःकाल विहार होनेवाला था। सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं। बाहर गाँव के श्रीसंघ के लोगों में बहुत से मुनिश्री के साथ ही नागौर से विदाई लेनेवाले थे। नागौरवालों के हृदय में अपार श्रद्धा व भक्ति मुनिश्री जयमलजी के लिये ही थी।

हजारों की संख्या में लोग उन्हें विदाई देने आये। उन्हें मालूम था कि मुनिश्री जयमलजी यहाँ से उस अनजान प्रदेशों की ओर धर्म प्रचार करने जा रहे थे जहाँ इस मार्ग से जाने की वर्त्तमान में साधु मार्गीय किसी सन्त की हिम्मत नहीं हुई थी। उन्होंने यह भी सुन रखा था कि उस कठिन मार्ग में आहार - विहार सभी प्रकार के परिषह (कष्ट) के साथ प्राणों का खतरा भी सहने को था। उस मार्ग पर अडिग होकर मुनिश्री जानेवाले थे।

माँगलिक सुना कर अन्य सन्तों और लोगों से विदाई लेकर मुनिश्री जयमलजी अपने सन्त साथियों के साथ मार्ग पर आगे बढ़े। इधर लोगों के मन तरह - तरह की कुशंकाओं से भरे खिन्न हो रहे थे; उधर बड़ी दृढ़ता के साथ मुनिश्री जयमलजी के चरण नये प्रदेश में सत्य धर्म प्रचार करने आगे बढ़ रहे थे।

●

1.95 A

पूरी विनती की। मुनिश्री ने अपने कल्प की मर्यादा बताते हुए उन्हें हरीमा तक रुकने के लिये कहा। सो वे वहाँ गये। हरीमा में धर्म जागृति अच्छी हुई और सन्तों ने वहाँ से विहार किया। हरीमा से थोड़े दूर तक गाँव से परिचित लोग चले। फिर वे वापस लौट गये।

* * *

कंठी (कांठा - किनारा) और थली का कहानेवाला प्रदेश प्रारम्भ हुआ। थर-पाकर के रण का (रेगिस्तान) एक किनारा यहाँ पर छुआ था ; अतः उसे कंठी - कांठा का प्रदेश कहा जाता है — साथ ही रेगिस्तान यहाँ तक आके रुक गया था इसलिये उसे स्थिर स्थल कहा जाता है जिसका अपभ्रंश थली नाम से हो गया था।

रेती के लम्बे - लम्बे सागर जैसे उज्जड़ प्रदेश ; फिर कहीं पर गाँव, ऊपर जलता हुआ सूरज और नीचे जलती बालू, आकाश और धरती दोनों ही जल - जल के मानव की परीक्षा ले रहे हों ऐसा दीखता था। रेती के ये विशाल सागर से फैले प्रदेश दूर - दूर तक जाकर, धरती - गगन एक हो जाते हों वैसे दीखते थे।

कभी - कभी धरती - गगन मिलते हों उस लकीर से कोई साया बहार निकलता हो तब विचित्र सा लगता था। पास आने पर वह कोई ऊँटवाला निकलता। प्रारम्भ में तो यह सब विचित्र मालूम हो रहा था ; किन्तु बाद में सन्तों के लिये ये दृश्य पुराने से हो गये। कई बार ऊँटों की बनजार लम्बी सी निकलती।

सन्तों के पास से गुज़रते समय बनजारे लोग कहते :—"कहाँ तक पैदल चलोगे, बैठ जाओ ऊँट पर। बालू में पैर बलेंगे (जलेंगे)।"

"हम तो जैन साधु हैं, पैदल ही जाना हमारा धर्म है !"

"बापजी ! आपके बहुत से गुरांसा (यति) तो इन पर जाते हैं !" कोई बनजारा पूछ बैठता।

"हम साधुओं के लिये पैदल ही चलना है।" मुनिश्री जयमलजी कहते।

"बापजी ! रास्ता भयानक है ; माल - बाल सम्हाल कर ले जाना....!

थे। उनके अपने उपाश्रय और अपने मंदिर थे। इनकी अपनी - अपनी रीतियाँ थीं और अपने - अपने वर्ग थे।

ऐसा माना जाता है कि शहंशाह अकबर के दरबार में आचार्य हीरविजयसूरी ने अपना प्रभाव जमाया तब वहाँ से कुछ सन्त गण पंजाब के रास्ते से बीकानेर आये थे। उन दिनों सन्त परम्परा से बहुत से श्रमण यति परम्परा की ओर अधिक झुक जाते थे। वैसे बहुत से आगे के विहार के परिषह से भी वहाँ ठहर गये हों ऐसा भी शक्य है।

*   *   *

राव जोधाजी ने सं० १५१५ में जोधपुर बसाया था। उस समय कई जैन ओसवाल कुटुम्बों ने, उनकी वफादारी के साथ सेवायें कीं और वे राज्य में दीवान, सेनापति आदि जैसे ऊँचे ओहदों पर कायम रहें। समय आने पर इन ओसवाल जैनों ने तलवारें हाथ में लीं और युद्ध में भाग लिया; सेनाओं का संचालन भी किया एवं अनेकों जगह वीरता दिखाकर विजयश्री पाई। इसके उपलक्ष में उन्हें बहुत से गाँव और बड़ी - बड़ी जागीरें इनाम में मिलीं जिन पर वे एक राव - राजा की तरह अपना अधिकार रखते थे।

राव जोधाजी के बड़े पुत्र राजकुमार बीकाजी थे। राजकुमार बीकाजी अपने सारे अधिकारों को छोड़ कर एक नये राज्य की स्थापना के उद्देश्य से उत्तर की ओर चल पड़े। उस समय नागौर तक छोटे - छोटे राज्य स्थापित हो चुके थे; अतः रेगिस्तान के एक छोर पर एक पहाड़ी जहाँ कुछ हरियाली सी दिखाई दी। वहाँ उन्होंने एक नया नगर बसाना प्रारम्भ किया।

यह नगर बीकानेर था।

उनके साथ नगर बसाने में कई ओसवाल कुटुम्बों ने मदद की। जिसमें वेदलाला लाखनसी (लालसी) का प्रमुख हाथ था। रेगिस्तान के उज्जड़ रास्ते से उस समय कुटुम्बी जनों को लाकर वहाँ बस जाने के लिये मन में जंचाना, ही बहुत बड़ी बात थी।

के उत्सर्ग का अवसर आया है वह जान कर वे हर्षित होते थे। परिचित होने पर गाँववालों को बड़ा अखरता था कि उनके गाँव में आकर सन्तों को उपवास करना पड़ा है।

मुनिश्री जयमलजी ने तो पूज्यश्री की स्मृति में विगय त्याग और एकांतर उपवास भी चालू रखा था। उन्हें कई बार उनके पच्चक्खाण के अनुरूप आहार की जोगवाई नहीं होने से एक के बदले दो-दो उपवास भी करने पड़ते थे; किन्तु उनके हृदय में पूज्यश्री के वचन अतूट श्रद्धा भरते थे कि "जिन क्षेत्रों में सन्तों का आवागमन न हो वहाँ साधु मार्ग को प्रशस्त करो!"

मुनिश्री के मधुर वचन से लोग आकर्षित होते थे और वे जब मुनिश्री के रात्रि को सीधे-सीधे बैठना, आड़ा लेटना नहीं, विगय का त्याग आदि बातें सुनते थे तो बड़ा ही आश्चर्य करते थे और उनके मुँह से अनायास ही निकल जाता था कि "हम ने ऐसे सन्त पहली बार ही देखे हैं।"

* * *

मुनिश्री और सन्त गण विहार करते-करते बीकानेर से चार कोश दूर रहे। उनके चरणों में गति सी आई और वे गति से चलने लगे। किले के बाहर गांगा दरवाज़े का मार्ग आया।

"जाओ! यहीं से लौट जाओ.... नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं है।" एक जोरदार आवाज़ के साथ हाथ में लाठी ताने बहुत से लोग उनका मार्ग रोक कर खड़े हो गये।

मुनिश्री के आगमन का समाचार नागौर के यतियों द्वारा बीकानेर दहुँच गया था और उन्होंने अपने खास आदमी रख कर मुनिश्री कहाँ-कहाँ पहुँचते थे उसका ध्यान रखवाया था।

बीकानेर यतियों का बड़ा केन्द्र था।† वहाँ पर वे किसी भी सम्प्रदायों के सन्तों का चलने नहीं देते थे। साधु मार्गीय सन्त बहुत कम उधर जाते थे; किन्तु इनके प्रभाव

---

† आज भी अनेक स्थान इन यतियों के—गुरांसा के वहाँ हैं।

रणमलजी की मृत्यु के समाचार लेकर वच्छराजजी मंडोवर पहुँचे और उनकी गद्दी पर रणमलजी के सुपुत्र जोधाजी बैठे। उन्होंने अपने मन्त्री के रूप में वच्छराजजी को नियुक्त किया। साथ ही गद्दी पर बैठते ही उन्होंने घोषणा की कि वे मेवाड़ से बदला लेकर रहेंगे। जोधाजी ने अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण पालन किया और राणा के देश को उजाड़ के रख दिया। राणा कुम्भा को उनके वश होना पड़ा।

जोधाजी की दो पत्नियाँ थीं। नवरंगदे और जसमादे। नवरंगदे जंगलु देश के सांखलों की पुत्री थी। जसमादे हाड़ा वंश की थी। नवरंगदे के पुत्र बीकाजी और बींदोजी थे। जसमादे के नींबाजी, सुजाजी और सातलजी नाम के पुत्र थे। सभी राजकुमारों में बीकाजी बचपन से ही चतुर एवं बुद्धिशाली थे। उनके बल, पराक्रम, बुद्धि एवं तेजस्विता की सभी प्रशंसा करते थे। हाड़ी राणी का अपना प्रभाव जोधाजी पर था। वह जानती थी कि यदि बीकाजी युवराज बन गया तो मेरा प्रभाव कुछ भी नहीं रहेगा। उसने युक्ति प्रयुक्तियों से जोधाजी के मन को वश में कर लिया और उनके कान भर दिये।

एक बार दरबार लगा हुआ था; बीकाजी अपने चाचा कांधलजी के पास बैठे थे। कुछ बात छिड़ गई और बात इस विषय पर आ गई कि सच्चा राजपूत वह है जो अपने बल पर अपना राज्य कायम करें।

बीकाजी ने भी कहा :—"अपने बल पर ही खड़े रहना गौरव की बात है।"

जोधाजी ने उस समय ताना मारा कि :—"बात तो सब करते हैं; मगर करके कोई नहीं दिखाते। हम ने चाहा तो जोधपुर खड़ा किया — उसकी शान बढ़ाई।"

"मैं आपका ही पुत्र हूँ; आप के चरणों पर ही चलूँगा।" बीकाजी ने कहा।

"हाँ, मैं भी तुम्हें तभी सच्चा मानूँगा जब कि तुम अपनी भूजाओं से पृथ्वी के स्वामी बन कर दिखाओगे।' जोधाजी बोले।

बीकाजी के मन में वह बात लग गई।

उन्होंने कहा :—"आपका पुत्र हूँ; करके दिखाकर ही रहूँगा....!"

मुनिश्री ने पूछा :—"मगर हमें भीतर न जाने देने का कोई कारण तो होगा?"

एक यति जैसा पुरुष आगे आया। उसने गुस्से में तमक कर कहा :—"तुम जहाँ जाते हो वहाँ हमारे क्षेत्र छीन लेते हो? पीपाड़ में वही किया, नागौर में भी वही किया। यहाँ पर भी हमको उठाने आये हो?"

"जो स्वयं स्थिर हो जाता है उसे कौन उठा कर फेंक सकता है! तुम स्वयं धर्म के ठिकाने पर स्थिर नहीं हो और सच्चे सन्तों को धर्म की स्थिरता लाने नहीं देते; जो स्थिर नहीं होता उसे काल का प्रवाह बहा कर ले जाता है!" मुनिश्री ने कहा।

"ज्यादा बकवास मत करो; वरना अभी तुम्हें उस काल के प्रवाह में धकेल दूँगा!" उसने कहा।

मुनिश्री को फिर भी शांत-भाव से खड़े देख कर उसने फिर कहा :—"यहाँ से सीधे चले जाओ! ये बीकानेर यतियों का क्षेत्र है यहाँ तुम्हारा एक पैर भी अन्दर नहीं आ सकेगा; बाहर से चले जाओ वरना खैर नहीं रहेगी, खैर!"

मुनिश्री ने कहा :—"आखिर यह तूफ़ान करने की आज्ञा किसने दी है?"

"किसी ने भी—तुम्हें उससे क्या? तुम अन्दर आ नहीं सकते, सो अन्दर आ नहीं सकोगे, समझे....!" उसने कहा और सभी ने लठ्ठियाँ पछाड़ कर कहा :—"हाँ, हाँ....! टाँगे टूट जायेगी तब समझ में आयेगा!"

"क्या यह आदेश राजा ने दिया है?" मुनिश्री ने पूछा।

"नहीं, बीकानेर के यतियों का ही आदेश यहाँ चलता है!" उसने कहा।

मुनिश्री ने परिस्थिति को विषम जान कर विवाद बढ़ाना उचित नहीं समझा। उन्होंने विचार किया कि इन किरायेदार लोगों से विरोध करना व्यर्थ था। वैसे भी धर्म, शांति और समाधान सिखाता है—उसके प्रचारक होकर उन्हें अपने आगमन के साथ इस झगड़े को बढ़ने नहीं देना चाहिये।
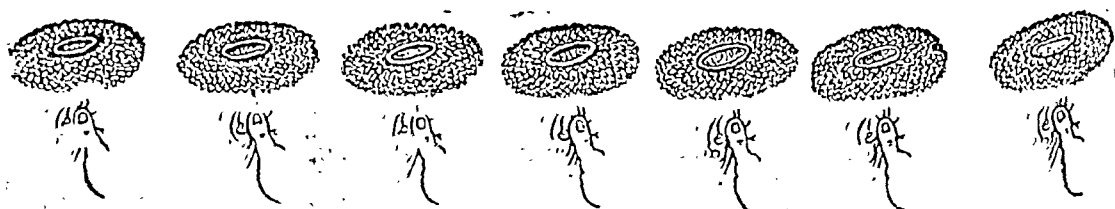
दीवान रहे। राव कल्याणसिंह की वर्षों से इच्छा थी कि "मैं किसी तरह जोधपुर के गोखड़े पर बैठ जाऊँ।"

बच्छावत कर्मचन्द का दिल्ही के शहन्शाह अकबर के दरबार में अच्छा प्रभाव था। जब वे बादशाह की सेवा में रावजी की विनती लेकर पहुँचे, तब अकबर शतरंज खेल रहा था और उसकी चाल रुकी हुई थी; जो चाल चलता उसमें मार खाता। दीवान कर्मचन्द ने उस समय बादशाह को वह चाल बताई कि वह विजयी हुआ। बादशाह प्रसन्न हुआ तो दीवान कर्मचन्द ने राव कल्याणसिंह के लिये जोधपुर के गोखड़े वर बैठने का परवाना माँग लिया।

रावजी प्रसन्न होने पर उन्होंने अपने धर्म और समाज के लिये निम्न: बातें रावजी से माँगी :—

१. चार मास चौमासे में कुम्हारा तेली तम्बोली सभी अगता पालें।

२. वैश्यों से माल-कर न लिया जाय।

३. भेड़ के व्यापार का चौथाई कर न लिया जाय।

राव कल्याणसिंह के बाद राव रायसिंह बीकानेर के राजा हुए। कर्मचन्द तब भी मन्त्री रहे और उस समय उन्होंने बीकानेर का डंका चोमेर बजवाया। सोजत तक को बीकानेर राज्य के आधीन किया। सिंध प्रदेश का भाग बीकानेर में मिलाया। हरफा की लड़ाई में बलुचियों को हराया। कुंवर रामसिंह के साथ दिल्ही पर आक्रमण करनेवाले मिर्जा इब्राहिम को हराया। अकबर बादशाह की मदद के लिये गुजरात पर चढ़ाई की और मिर्जा महम्मद हुसेन को हराया। सम्राट अकबर ने उसका बड़ा सन्मान किया।

लेकिन उनका बढ़ता हुआ सन्मान राजा रायसिंह सह न सके। वे उनसे बदला लेना चाहते थे। इसका एक कारण तो यह था कि वे उनके छोटे-पुत्र दलपतसिंह को राज्य पर बिठाना चाहते थे। दूसरा कारण यह था कि सम्राट अकबर शतरंज खेलता तो कर्मचन्द पास बैठते थे और रायसिंह खड़े रहते थे।

४८

जय - बीकानेर क्षेत्र विजय
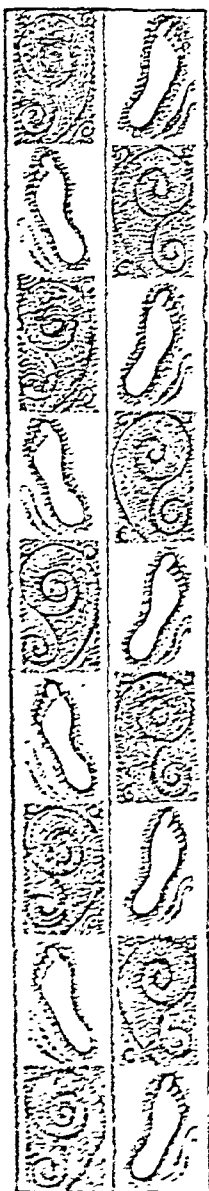
मुनिश्री जयमलजी आदि सन्त तालाब के किनारे की छतरी पर विराजित हुए। आसपास सभी कुम्हार के ही घर थे। वे जैन-धर्म और सच्चे साधु से परिचित नहीं थे; मगर उनमें से बहुतसों को इन सन्तों के प्रति अच्छी भावना थी।

मुनिश्री की आज्ञा लेकर सन्त सूझता आहार-पानी लेने गये। बर्तन पकाते समय जो राख का पानी जम कर रह जाता है, वह पानी मिला; कहीं पर आटा मिला। कुछ सन्तों ने उसे मिला कर गोचरी आदि की। अन्य सन्तों ने उपवास किये।

क्षुधा का परिषह था ही, रात को ठण्डी रातें होने से खुली छतरी में ठण्ड का परिषह भी था। सभी मुनिवर शांति से सहते थे। अनजान क्षेत्रों में जाकर धर्म प्रचार करनेवाले भगवान महावीर ने अनार्य देश में क्या-क्या परिषह और उपसर्ग नहीं सहे थे? उन पर कई जगह कुत्ते छोड़ गये थे; कई जगह लोगों ने उनको ध्यान से विचलित करने पैरों के बीच लकड़ियाँ जला कर खीर पकाने का उपक्रम किया था — मगर संयम मार्ग पर चलनेवाले सन्तों का तो यही आदर्श है कि वे शांति से परिषह जीतें!

"ये अपने आप को राजा से भी बढ़ कर मानते हैं।" ऐसा कह सरदारों को उसकाकर, राजा सूरसिंह ने ५०० से अधिक राजपूतों को उनका नाश करने भेजा। दोनों वीर थे — खूब लड़े और वीर-गति पहुँचे।

इस बीच एक सेवक करणी माता के मन्दिर में इनकी एक गर्भवती स्त्री को ले गया। करणी माता के वरदान के कारण स्त्री बच कर निकल गई और बीकानेर राज्य को इसने पार किया। इसे जो पुत्र हुआ वह भाणजी हुआ। यह परिवार घूमता फिरता मेड़ता पहुँचा। वहाँ से वह अजमेर गया और वहाँ से मेवाड़ के बासा (ग्राम) में पहुँचा। भाण के पुत्र जीवराज, उनके पुत्र लालचन्द और प्रपौत्र पृथ्वीराज हुए। धीरे-धीरे उनकी और भी पहुँच होती गई और अपने बल बुद्धि से उन्होंने राज-दरबार में स्थान प्राप्त किया।[1]

कर्मचन्द्र के पुत्रों के साथ जैसा बर्ताव किया गया उससे ओसवाल कुटुम्ब नाराज़ हुए और बीकानेर का राज्य-तन्त्र पुनः टूटता चला गया। उनके राज्य के कई नगर शहर जोधपुर, नागौर आदि के महाराजाओं ने ले लिये। अन्त में बीकानेर के राजाओं ने यह अनुभव किया कि इन ओसवाल मुखियों के बिना राजकाज चलना कठिन है तो उन्होंने बेदलाला लाखनशी के परिवारवाले महेता ठाकुरशी की शरण ली और उसके बाद इसी बेदलाला (महेता) परिवारवाले राज-दरबार में थे। मुगल बादशाहों से वे अपने स्वामी के लिये बड़ी कृपा दिलवाते रहे।

औरंगज़ेब की सख्त नीति के कारण राजस्थान के इन राज्यों ने अपना-अपना स्वतन्त्र संगठन करना शुरू किया। उसके बाद जब भारत में अंग्रेजों ने अपने पैर फैलाने शुरू किये, जब मरहटों ने दिल्ही तक दौड़ लगाई और मुगल सल्तनत के पैर हिलने लगे तब उनके अधीन इन राजाओं ने अपने राज्य बढ़ाने के प्रयत्न किये। फलतः मालवा-मेवाड़, मांडवगढ़ आदि में मरहटों और देशी राज्यों के बीच लड़ाइयाँ होती रहीं और यहाँ राजस्थान में जोधपुर, नागौर, जालोर, बीकानेर, जयपुर, किशनगढ़ आदि राज्यों ने जहाँ

[1] मेवाड़ के इतिहास में इनका महत्व का स्थान है। मेवाड़ नरेश अरिसिंह के समय दीवान अगरचन्दजी इस परिवार से हुए।
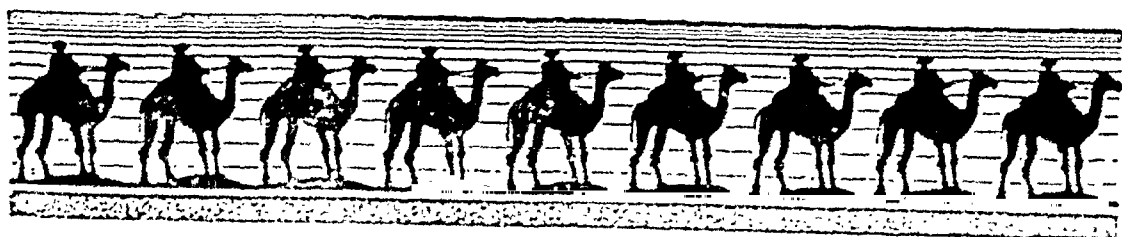
कई उत्साही लोग रामकुंवर बाई का पता लगाने गये; मगर उन दिनों में इस तरह किसी का पता लगना कहाँ सरल था? रेती में सूई ढूँढने जैसा यह कार्य था। अतः वे वापस लौट कर आ गये।

आठ दिन बीत गये। मुनिश्री जयमलजी को वैसे ही तप चल रहा था। इस अवस्था में उन्हें अनायास ही उपवास करने को मिल गया इसे संयम मार्ग की साधना समझ उन्होंने उपवास चालु रखे।

उनके वचन का यह असर था कि जो एक बार सुनता था वह पुनः आता और अपने साथ-साथ औरों को भी लाता। इस तरह बीकानेर के बाहर तालाब की छतरी पर लोगों की भीड़ इन्हें सुनने के लिये होने लगी। उनके प्रवचन धर्म कथानक सुन कर बहुत से लोगों ने कई बुरी आदतें छोड़ीं। लोगों में धर्म सिंचन होने लगा।

लोगों में यह बात फैलने लगी कि "मारवाड़ के कोई साधु आये हैं — क्या व्याख्यान देते हैं! क्या अच्छी-अच्छी बातें करते हैं कि उनको सुनते-सुनते वहाँ से उठने का जी नहीं करता!"

सभी प्रकार के परिषह होने पर भी कभी कोई सन्त के चेहरे पर जरा सी चिंता या अन्य कोई भाव कभी नहीं आये। उनके गुरु मुनिश्री जयमलजी की दृढ़ता और अपूर्व मनोबल से वे भी प्रेरित होते थे।

जब अवकाश होता था मुनिश्री जयमलजी जिज्ञासु सन्तों को सूत्र का पठन-पाठन कराते; उसके गहन अर्थ समझाते। इस प्रकार यह समय ज्ञान विकास में हो रहा है यह उनके लिये आनन्द की बात थी।

* * *

आठ दिन निकल गये।

नववें दिन सभी सन्त अपने-अपने कार्य में व्यस्त थे। मुनिश्री जयमलजी भी चिंतन मनन करते ध्यान में बैठे हुए थे।

सूर्य थोड़ा सा सर पर चल आया। लम्बे-लम्बे खेतों के बीच से जानेवाले उस राह के आसपास भी उज्जड़ प्रदेश था। दो-एक कोस तक थोड़ी सी हरियाली दिखाई दी। बाद में झाड़ियाँ और रेती के छोटे-छोटे, ऊँचे-ऊँचे बन गये टीलों के बीच से सड़क जा रही थी। कभी पास से कोई गाड़ी, तो कोई ऊँट निकल जाता था।

तीन कोस के करीब रास्ता पार होने पर दूर से ऊँचे-ऊँचे मकान दिखाई देने लगे और उनसे सटे झोंपड़े.... सामान्यतः गाँवों के बाहर के पेड़ों की हरियाली भी गाँव को घेरे हुई थी। सन्तों के दिलों में उत्साह भरा और उनके चरण, गति से भदाणे की ओर बढ़ गये।

मुनिश्री जयमलजी को यह जान कर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि दिगम्बर सरावगी जैन आकर यहाँ बस गये हैं। उन जैन लोगों को भी उन्हें देख बड़ा अचम्बा हुआ; मगर उनके स्वागत के लिये कोई बाहर नहीं आया।

मुनिश्री भदाणे के बाजार में पहुँचे। वहाँ आकर लोगों से कोई ओसवाल बसती हो तो उसके बारे में पूछताछ की। फलस्वरूप गाँव के अन्य लोग उन्हें सरावगियों के मकान पर ले गये। वे मुनिश्री को देख कर आश्चर्य चकित खड़े हो गये। उनके लिये ये बिल्कुल नये थे।

उनमें से किसी ने आकर पूछा :—"आप कौन हैं?"

"हम जैन सन्त हैं।"

"जैन! हम भी जैन हैं—सरावगी हैं; किन्तु हमारे साधु तो ऐसे नहीं होते!" उसने कहा।

मुनिश्री जयमलजी ने शांति से थोड़े शब्दों में श्वेतांबर और दिगम्बर का भेद उसके आगे रखा। स्वयं साधु मार्गीय सन्त हैं और बीकानेर जा रहे हैं ऐसा अपना और अन्य सन्तों का परिचय दिया।

तभी किसी ने कहा :—"ये मुँह पर पट्टी क्यों लगाई है?"

"ये हमारे साधु वेश का अंग है।"

रामकुंवर बाई ने पर्दे को उठाया और छत्री की ओर देखा। सामने सन्त जयमलजी और अन्य ठाणे विराजमान थे।

मुनिश्री को हालाँकि उपवास था; फिर भी उनकी मुख-मुद्रा अति स्वस्थ थी। उनके वदन से अपूर्व शांति झलक रही थी।

रामकुंवर बाई रथ से नीचे उतरी। उसका हृदय आश्चर्य और आनन्द से छलक रहा था। उसने कहा :—"तुम ने सच ही कहा था। ये तो मेरे पूज्य गुरुदेव जयमलजी ही हैं। चलो, हम उनके पास चलें।"

दासियों के साथ वह उनकी ओर आगे बढ़ी। उसकी आँखें उनको निहारती रहीं। हाँ, यही तो मुनिश्री जयमलजी म० सा० हैं जिनको बीकानेर आने की विनती करके आई थी। उसे कभी पुनः विचार भी नहीं आया होगा कि उसके जैसी सामान्य स्त्री विनती पर इतने महान सन्त यहाँ पधारेंगे....!

मगर यह सत्य था कि वे यहाँ पर आ गये थे; उसके सामने ही थे। उसने साथ की दासियों को कहा :—"ऐ री! खड़ी क्यों हो....! म० सा० के आगमन की वधाई के गीत गाओ! आज धन्य घड़ी, धन्य भाग्य हैं कि समता के सागर, क्षमा के भंडार, ज्ञान गुणों से भरपूर ऐसे हमारे पूज्यश्री पधारे हैं। चलो, चलो री सखी! हम पूज्य के चरणों में शीश नमाके धन्य होवें!"

दासियाँ और अन्य बाईयों ने रामकुंवर बाई के साथ मंगल-गीत गाये और वे सब पूज्यश्री के पास आईं। रामकुंवर बाई पास में आकर 'मत्थेणं वन्दामि' करके बड़े भाव से वन्दना करने लग गई; साथ की औरतें भी वन्दना करने लग गईं।

मुनिश्री जयमलजी और अन्य सन्त इन्हें वन्दना करते देख स्वस्थ हुए। मुनिश्री ने कहा :—"दया पालो! धर्म ध्यान करो!!"

रामकुंवर बाई और अन्य स्त्रियाँ मुनिश्री को सर झुका-झुका कर बड़े भाव से वन्दना कर रही थीं। जैसे भक्ति का सागर उमड़ पड़ा हो वैसे उनके हृदय भाव-विभोर होकर हिलोरें लेने लगे।
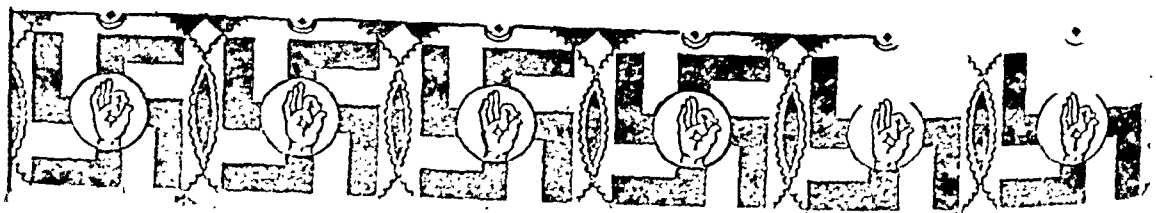
लोग कुछ समझे नहीं। मुनिश्री ने उन्हें संक्षेप में सार सुनाया और कहा :— "इसके साथ यह हमें याद दिलाती है कि हमें हमेशा सच बोलना है — कभी भी झूठ नहीं बोलना है।"

लोगों को यह बात अधिक समझ में आई। किसी ने पूछा :—"सत्य बोलना है तो बिना पट्टी बाँधे भी बोल सकते हैं।"

"हाँ....! इसमें सिर्फ सच बोलना इतना ही नहीं है, किसी को दुःख न पहुँचे ऐसा ही बोलना हमारा नियम है।" मुनिश्री ने कहा।

लोगों की जिज्ञासा के लिये उन्होंने और भी खुलासा किया :—"यह हमारी चपरास - चिह्न है। जैसे कोई कमर पर, कोई सीने पर, कोई बाजु पर तो कोई सिर पर अपने मालिक की चपरास लगाते हैं, वैसे हमारी पहचान के लिये हम मुँह पर लगाते हैं।"

कुछ लोगों को ओघा (रजोहरण) जरा विचित्र सा लगा। उन्होंने पूछा :— "ये क्या है, लकड़ी के नीचे गाय के पूँछ सा लगा रखा है?"

"इसे रजोहरण कहते हैं। चलते हैं तो पूंज के चलते हैं और ज़मीन पूंजके बैठते हैं। रात में पैर के नीचे कोई जीव न आ जाये इसलिये इससे पूंज कर पैर धरते हैं। कोई कीड़ी - मकोड़ी पैर के नीचे न आ जायें!" मुनिश्री ने कहा।

"वाह - वाह....! तो तुम चींटी की भी रक्षा करते हो?" लोगों ने आश्चर्य से पूछा।

"हाँ! जीव - दया करना, करवाना और करने को भला जानना हमारा धर्म है!" मुनिश्री ने कहा।

थोड़ी देर में मुनियों ने अपने पात्र निकाले — पोंछे और झोली में डाले। लोगों ने पूछा :—"ये क्या हैं?"

"ये हमारे पात्र हैं; इनमें हम घर - घर जाकर गोचरी लाते हैं और बाकी की गठरियों में हमारे शास्त्र हैं, जो हम पढ़ते हैं।" मुनिश्री ने कहा।
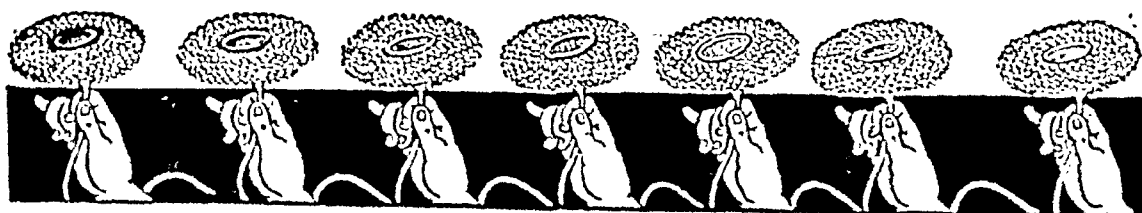
किसी ने पूछा :—" हम तो अपनी बात कहने आये हैं। क्या बाईजी बड़े घर की हैं!"

दासी ने कहा :—" दीवान साहब की माताजी हैं!"

लोगों ने कहा :—" ये इनके ही सन्त हैं?"

दासी ने कहा :—" हाँ....! तो क्या तुम्हारे हैं?"

किसी ने जवाब दिया :—" सन्त तो हमारे न थे; मगर आठ दिन से अच्छी-अच्छी बातें कहकर धर्म का क्या ठाठ लगाया है कि हम सब उनके हो गये हैं!"

" आठ दिन हो गये?"

" हाँ....! और बड़े सन्तों को तो आठ दिन से उपवास भी है। बड़े सीधे सन्त हैं। हम पूछते रहते हैं कि आपके लिये क्या भोजन बनाया जाय; मगर कुछ स्वयं कहते नहीं हैं और हम जानते नहीं कि उनको सीधे में क्या चाहिये? करीब-करीब सभी भूखे ही रहते हैं; मगर क्या बात है कि चेहरे पर एक रेखा भी नहीं बदली!"

" आठ दिन से उपवास हैं!"

" हाँ....बाईजी!"

" ये नगर में क्यों नहीं पधारते?"

" पधारे कैसे : जब गांगा दरवाज़े से बाहर थे तभी दो सौ के करीब जति लोगों के लोगों ने चेतावनी दी कि नगर में पैर धरा तो खून-खराबी हो जायेगी! बापजी तो बड़े सीधे-साधु हैं। वे कहते हैं कि जहाँ सन्त जाँये वहाँ खून-खराबी हो तो सन्तों का वहाँ जाना क्या काम काम का? वे दरवाज़े से लौटके वहाँ आये तो हमने उन्हें छतरी में ठहराया है। हमारा तो कल्याण हो रहा है। अच्छी-अच्छी बातों की शिक्षा देते हैं। अब तुम लोग भी यदि इन्हें यहाँ से रवाना करने की कोई चाल चलने जाओगे तो खबरदार रहना। हमारे होते हुए ऐसा नहीं होगा।" उसमें से क़िसी ने कहा।

" सुना बाईजी....!" दासी ने रामकुंवर से कहा।
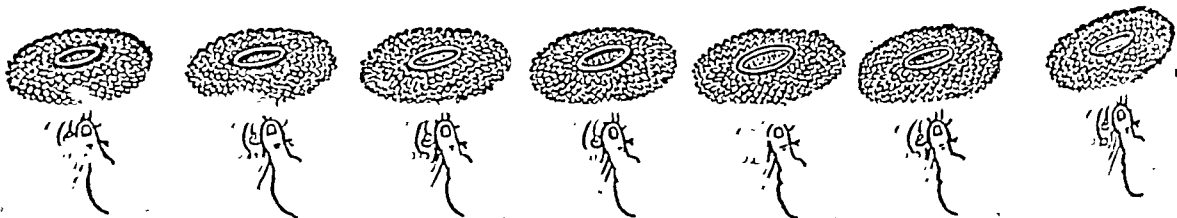
सन्तों ने वापस आकर मुनिश्री जयमलजी को सारी बातें कह सुनाईं। यह परिस्थिति देख कर सभी सन्तों ने चौविहार उपवास पच्चक्ख लिया। सभी सन्त स्वाध्याय—मनन चिंतन में लग गये।

दोपहर के बाद गाँव के कुछ और लोग भी आये। लोगों को मालूम हुआ कि सन्तों ने उपवास कर लिये हैं तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उन सरावगियों से जाकर कहा कि "तुम्हारे सन्त, तुम्हारे होते हुए उपवास कर रहे हैं।"

उन जैनों को पश्चाताप हुआ और वे सन्तों के पास आये। उन्होंने कहा :—"वर्षों से हमें सन्तों का परिचय प्राप्त नहीं है। हमारे सन्त दिगम्बर होते हैं और कोई एक घर में जाकर दोनों हाथों से बत्तीश कव्वल अन्न एक बार ले लेते हैं। उन्हें भी यहाँ पदार्पण करते देखा नहीं है। यति गण तो आप जैसे वस्त्र पहनते हैं और वे तो रसोई आदि का आदेश दिये चले जाते हैं। हम ने सोचा कि आप भी वैसा करेंगे।"

मुनिश्री जयमलजी उनकी बात समझ गये। उन्होंने कहा :—"सन्तों को तो सभी स्थिति के लिये तैयार रहना चाहिये।" ऐसा कह कर साधु - मार्ग की आहार समिति का वर्णन उनके आगे किया। सुननेवाले सभी लोग साधु - मार्ग की कठिनता समझ कर आश्चर्य करने लगे। लोगों के मुँह से यह भी सुना कि इस प्रदेश में अभी अन्धाधून्धी चलती है। कभी सैनिक आ जाते हैं तो कभी चेहरा ढाँके धाडायती (लुटेरे) आ जाते हैं। वे मनमानी करते हैं; अतः लोग अपने - अपने मकानों के दरवाज़े बन्द करके बैठ जाते हैं।

उनकी बातें सुन कर मुनिश्री जयमलजी के दिल में आया कि राज्य का लोभ कितना खराब है। उससे प्रजा का जीवन कितना अशांत, शंकित और अस्थिर हो जाता है।

रात को भी बहुत से लोग आये और मुनिश्री के मधुर कण्ठ से पद सुन कर, उनका उपदेश सुन कर बड़े प्रसन्न हुए।

किसी ने कहा :—"बापजी! हम तो आपको चोर समझे थे और आप क्या निकले! हमें आप माफ करें कि हमारे गाँव में आकर आपको ऐसा कष्ट उठाना पड़ा!"

पूछने पर नौकरानियों ने यह बताया कि आज रथ पर बगीचे जाकर, आने के बाद से ऊपर हैं, फिर नीचे नहीं पधारी हैं।

वास्तव में दीवान की कोठी के भीतर ऊँची हवेली पर रामकुंवर बाई लौट कर आने पर खिन्न मन होकर एक पलंग पर लेट गई थीं। सन्तों के साथ यतियों के द्वारा जो कुछ व्यवहार हुआ था उसका ख्याल आते ही उसका हृदय दुःख से भर जाता था।

कभी उसे आत्म-ग्लानि भी होती थी कि :—"अरे! मैं कैसी अभागिन हूँ कि जिनके दर्शन को मैं तरसती थी, वे पूज्य महाराजश्री नौ-नौ दिन से यहाँ आये हैं और मैं उनके दर्शन भी न कर पाई....!"

यतियों द्वारा उनके बीकानेर प्रवेश में बाधा का खयाल आते उसके हृदय में होता :—"ऐसी भी क्या मज़बूरी है कि मेरे पुत्र दीवान हैं और उनकी माता के गुरु पधारे हैं जिन्हें कुछ लोग मनमानी करके अन्दर नहीं आने देते! आज ही पुत्रों से कह कर ऐसे राज्य की नौकरी छोड़ने को कहूँगी! वे भोजन करने आये तब उनसे कहूँगी!"

भोजन का स्मरण होते उसे विचार आया कि :—"मैं कैसी पापिनी हूँ कि आज नौ-नौ दिन से मेरे गुरु विना आहार पानी के उपवास कर रहे हैं और मैं अपना पेट भरती रही....!"

उसके हृदय का दर्द इतना बढ़ जाता था कि उसके मुख से सिसकियाँ निकल जातीं। उसकी आँखों में आँसू भर आते और हिचकियाँ बंधने लग जातीं।

यों ही शोक सागर में डूबी वह कितने समय तक पड़ी रही उसका उसे ख्याल न रहा। अचानक उसे ख्याल आया कि कोई बुला रहा है :—"माताजी....!"

वह तन्द्रा से जगी; सामने जयचन्द्र, विजयचन्द्र दोनों खड़े थे। उसके चेहरे पर आँसू की धारायें अभी मिटी न थीं। उसका साड़ी का पालव भीगा था; वह चेहरा पोंछ कर वह स्वस्थ हुई—मगर आँखें बता रही थीं कि वह कब से रो-रोकर लाल हो गई हैं।

"जो कुछ माल - असबाब इन गाठों में बाँधा है उसे दे दो; वरना सब के सब इस रेती में कहाँ गड़ गये थे उसे कोई ढूँढ भी नहीं पायेगा।" उस धोड़ायती सरदार ने कहा। उसके चेहरे पर जो कुछ बोल रहा है उसे करके दिखाने की क्षमता थी और अनेकों को उसने मौत के घाट उतार दिया हो वह साफ झलक रहा था।

चार - पाँच डाकू आगे बढ़े। बाकी बन्दूक ताने खड़े हो गये। उन्होंने मुनिश्री की तलाशी ली। पात्र - वस्त्र की बांधी गठरियाँ भी छोड़ीं। कहीं पर न सोना मिला; न चांदी मिली — न कोई सिक्के। यहाँ तक कि रास्ते में पीने का पानी भी अन्य मुसाफिरों के पास निकलता है, वह भी नहीं था।

एक धाडायती ने कहा :—"उनकी गाँठ में कुछ होगा।"

उन सब ने सन्तों की कमर की तलाशी ली; वहाँ पर भी कुछ न निकला। एक धाड़ायती की नज़र उनके ओघों पर गई। उसकी डण्डी खोल कर पूरी छानबिन की; मगर वहाँ कुछ भी न था।

मुनिश्री जयमलजी के सौम्य चेहरे पर हास्य फूट रहा था। धाडायती सरदार के चेहरे पर जितनी क्रूरता बढ़ रही थी उतनी इनके चेहरे पर सौम्यता और शांति बिखर रही थी।

धाडायती सरदार के चेहरे पर झलाहट सी आ गई। उसने कहा :—"तुम कौन हो? जादूगर हो....! पिशाच हो....! तुम जैसों को पहले नहीं देखा है — मगर और जिनको देखा उनके पास कुछ न कुछ निकला है। तुम क्या करते हो?"

मुनिश्री ने शांति से कहा :—"हम जैन सन्त हैं। जो लोग इन्सान होकर भी शैतान सा कार्य करते हैं और अत्याचार फैलाते हैं उन्हें हम इन्सान बनाने का रास्ता बताते हैं।"

"रास्ता खुद जानते हो?"

"जानते हैं कि ये सारी दुनिया की धन माया, जब जायेंगे तब काम न आयेगी। मरेंगे उस दिन अकेले मरेंगे, उस समय अपने पापाचार का फल स्वयं को भोगना पड़ेगा।
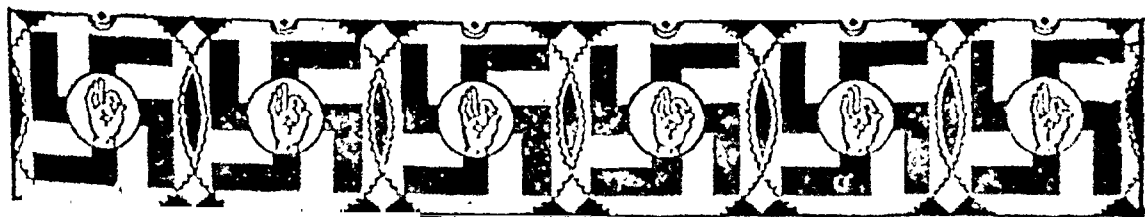
"जीमन....।" इतना ही बोलते पुनः रामकुंवर बाई का गला रूँध गया; हिचकियाँ सी बन्ध गई। वह चुप हो गई। दोनों पुत्र अत्यन्त दुःखी होकर विचारने लगे कि माताजी को क्या हो गया है?"

जयचन्द्र ने बड़े आर्द्र स्वर में कहा :—"माँ! कुछ तो बोलो! किससे तुम्हारी नाराज़गी है या किसने तुम्हारी मर्जी के बिना कुछ किया है। तुम हमारा जीवन हो, प्राण हो, सर्वस्व हो। हमेशा मीठे वचन बोल कर हमें कितना आनन्द देती हो। तुम्हें रोते देख तुम्हारे बिना क्या हम खा सकेंगे?"

रामकुंवर बाई ने कहा :—"बेटे! तुम खाना खा लो; मुझे आज भोजन नहीं भायेगा। न जाने क्यों खाने की बात सुन मेरा हृदय टूटा जाता है!"

"माँ! किसी ने तुम्हारा दिल दुःखाया है। बोलो, वह कौन है? हम उससे माफी मँगवायेंगे उससे सारा रिश्ता नाता तोड़ डालेंगे।"

"बेटे, तुम्हारे होते हुए मेरा दिल कौन दुःखायेगा? कौन मेरी बात टालता है? मगर आज तो अपने दुःख का कारण मैं ही हूँ!" रामकुंवर बाई का गला भर आया और बोली :—"तुम दोनों भी बोलते हो वह भी मुझे सुहाता नहीं है....!"

दोनों पुत्रों ने हाथ जोड़ कर कहा :—"माताजी! तुम्हें हमारी सोगन्द है कि तुम्हें क्या दुःख है यह बता दो! तुम बताओगी उस बात का निराकरण करके ही हम भोजन करेंगे वरना हम भी खाना नहीं खायेंगे! तुम्हारे दुःख की बात सुने बिना यहाँ से हम कभी नहीं उठेंगे!"

उनकी आँखों में भी आँसू भर आये। कुछ क्षण तीनों के नेत्रों के आँसू की त्रिवेणी वहने से करुणा का अपूर्व वातावरण छा गया।

न पुत्र हिले, न माता वहाँ से उठी।

कुछ क्षण यों ही बीत गये। पुत्रों की दृढ़ता और मातृभक्ति के आगे रामकुंवर का हृदय हल्का पड़ा। वह स्महलके बैठ गई। उसने कहा :—"बेटों! तुम जैसे पुत्र किस माता के होंगे? तुम्हारी बहुएँ जैसी सुशील स्त्री-रत्न कहाँ मिलेगी? मेरा बोल उठाने खड़े

इधर भदाणे गाँव की ओर से कुछ लोग सांढनी पर सवार होकर आ पहुँचे। वे बड़े घबराये से थे। उनमें से किसी ने कहा :—"यहाँ का मशहूर धाडायती इस रास्ते पर धाड़ (डाका) डालने छिपा हुआ है। यह जान कर हम गाँववाले आये। हमारे गाँव में आपको भूखों रहना पड़ा और गाँव के बाहर आप लूटे गये यह दुनिया जाने तो हमारे पर फिटकार ही बरसायेगी!"

मुनिश्री ने कहा :—"यही तो सन्त जीवन की परीक्षा है।"

आगे के रास्ते पर वे धाडायती भले आदमी बन कर ऊँट पर अभी गये थे। अन्य सन्तों ने सारी बात कही तो सभी दिंग रह गये।

सन्तों ने कह दिया कि "हमारी रक्षा हमारा धर्म करेगा....!" मुनिश्री ने कहा। फिर भी गाँववालों को साथ ही जाना था; अतः वे भी थोड़े दूर साथ हो गये। जब चार कोस के पास डेह गाँव दूर से दिखाई दिये तो वे भक्ति से वन्दना करके लौट चले। मुनिश्री और सन्त गण शेष विहार डेह ग्राम में पहुँचे। यहाँ पर जैनों के घर थे; लेकिन वे अन्य सम्प्रदाय के थे।

जैसे पहले हुआ था वैसे पहले पहल तो लोग कम आये; लेकिन जैसे-जैसे परिचय बढ़ता गया। अधिक संख्या में लोगों ने आना शुरू किया।

उनके प्रवचन आदि से तो लोग प्रभावित होते ही थे; किन्तु जब वे इस विकट मार्ग से सन्त अपनी कठिन साधुचर्या का पालन करते हुए कैसे यहाँ तक पहुँचे हैं यह सुनते तो उनके सिर अपने आप श्रद्धा से झुक जाते थे।

डेह ग्राम में नये भक्तों की श्रद्धा और विनती के कारण मुनिश्री कुछ दिन ठहरे और कई लोगों ने उनसे सच्चे देव-गुरु और धर्म की श्रद्धा स्वीकार की। वहाँ धर्म-ध्यान का प्रचार कर उन्होंने विहार किया।

डेह से आगे के गाँव हरीमा तक विहार सुगम ही रहा। मुनिश्री के साथ डेह के श्रावक थे। मुनिश्री उन्हें अपनी मर्यादा बताते हुए वैसा नहीं करने को कहा था; किन्तु श्रावकों पर भी नया रंग चढ़ा हुआ था। उन्होंने भी सेवा करने का लाभ दिया जाय वैसी

आज मैं दर्शन करने गई तब मुझे सब पता चला। हम से तो वे कुम्हार लोग अच्छे हैं कि उनके सन्त न होते हुए भी जैसी बनती है वैसी अपने सन्तों की सेवा तो कर रहे हैं।" रामकुंवर बाई ने सत्य बात कही।

यह सुन कर दोनों भाइयों को सच्ची बात समझ में आई। सन्तों को नगर बाहर ठहरना पड़ा और इस तरह नगर में भी न आने दिया गया।

उन्होंने भी दुःख से कहा :—"माताजी! तुम ठीक कहती हो। हमारे नगर में ही हमारे सन्तों की यह हालत हो इससे बढ़ कर हमारे लिये क्या दुःख की बात हो सकती है? तुम्हें क्या कि किसी को भी भोजन तो क्या कुछ भी न सुहायेगा?"

"मैं तो गुरुदेव से विनती करके आई हूँ कि जब तक तुम दोनों दर्शन करने नहीं जाओगे, वे वहीं ठहरें! उन गुरुदेवों को इतना परिषह पड़ते देख मैंने तो यह भी तय किया है कि जब तक वे आकर मेरे हाथ से अन्न-जल नहीं लेंगे तब तक मुझे अन्न-जल का त्याग है। मैंने तब तक १८ सागारी संथारा* पच्चक्ख लिया है, समझो!" रामकुंवर बाई ने कहा।

"माताजी! धीरज रखो! हम अभी जाकर इसका कुछ न कुछ उपाय करते हैं; तब तक हम भी अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे!" यों कह कर दोनों भाई माता को शीश नमा कर वहाँ से रवाना हुए।

* * *

राज-महल में राजा गजसिंह ने दरबार का परिधान उतारा था और कुछ बातें महल के कर्मचारियों से कर वे भोजन के लिये जानेवाले थे।

अचानक उनके राज-महल में लगा न्याय का घण्टा बजने लगा। राजा ने इसलिये इसे लगा रखा था कि दरबार के बाद भी यदि किसी को तुरन्त न्याय चाहिये तो राजा उसके लिये कभी भी तैयार है। उन्होंने ऊपर की गोख से देखा तो नीचे दीवान बन्धु खड़े थे।

---

* आहार, शरीर, उपाधि पच्चक्खूं पाप अठार।
जाव नियम बोसरामि, पूरण हुआ लेऊं पार॥
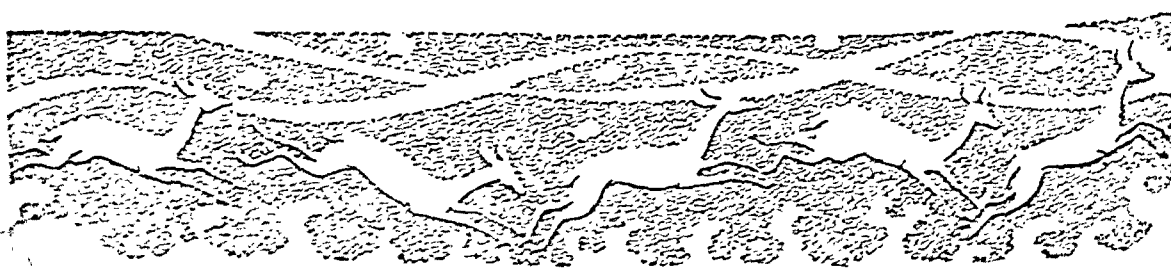
" क्यों....?"

"अब बीकानेर में महाराजा गजसिंह का राज्य नहीं चलता। किसी और का चलता है और हम उसकी नौकरी नहीं करते; फिर ये पद, ये मुद्रा और वे कूंचियाँ रखने से क्या लाभ?" विजयचन्द्र ने कहा।

राव राजा गजसिंह विचार में पड़ गये। इन दिनों मारवाड़ और राजस्थान के राज्य-रजवाड़े अपनी-अपनी सीमायें बढ़ाने आपस में लड़ते थे। बीकानेर के ऊपर भी कई लोगों की नज़र थी। तो क्या कोई गुप्त वेश से बीकानेर में आ गये हैं या उनके विरुद्ध विद्रोह की बात है? राजा गजसिंह ने पूछा :—"दीवानजी! क्या देश पर कोई खतरा आ गया है? खतरा आ गया तो भी इस प्रकार महोर-मुद्रा और कूंचियाँ देने से क्या फायदा? आप को तो हमारे साथ रहना चाहिये। कहिये क्या बात है?"

बीकानेर में अब तो तीन सौ साठ राजा * हो गये हैं। किस किसका मानें?"

"तीन सौ साठ?" राजा ने पूछा और कहा :—"पूरी बात तो सुनाओ....! क्या बात है?"

जयचन्द्र, विजयचन्द्र ने यतियों की हो रही मनमानी की घटना पूरी सुनाई कि "किस प्रकार माताजी की विनती पर पूज्य जयमलजी विहार कर बीकानेर आये! मगर आज नौ-नौ दिन होने आये उनको यतियों ने शहर के बाहर ही रोक रखा है और माताजी को मालूम होने पर, जब तक उन्हें नगर में नहीं लाये जाँय और अन्न-जल उनके यहाँ से न बहोरायें तब तक उन्होंने अन्न-जल का त्याग किया है।"

राजा गजसिंह को भी उनकी बातें सुन कर दुःख हुआ। उनके राज्य में कोई सन्त आये और उनकी इस प्रकार की हालत हो।

उन्होंने कहा :—"दीवानजी! पूज्य जयमलजी म० आपके तो धर्म-गुरु हैं; मगर मुझे तो यही बड़ा खेद है कि मेरे राज्य में सन्तों के विचरण में इतनी मनमानी लोग

* ऐसा कहा जाता है कि उस समय बीकानेर में तीन सौ साठ यतियों के उपाश्रय थे।

को वे नष्ट नहीं कर पाये थे। अन्य सम्प्रदायवाले भी इनसे दब कर ही चलते थे। इन यतियों का इतना प्रभाव था कि वे चाहें उस धर्म प्रचारक को आने देते थे अन्यथा उसे दरवाज़े के बाहर से ही चले जाना पड़ता था।

उन दिनों नगर के चारों ओर किला बना रहता था और बड़े-बड़े दरवाज़ों से ही कोई नगर में आ सकता था। गांगा दरवाज़े के बाहर थोड़ी दूर आने-जाने के मार्ग पर कई लोग लट्ठियाँ ताने खड़े थे। कई लोगों ने इन्हें देखा; मगर उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। सन्तों के आते ही उन्होंने आवाज़ लगाई और उनका रास्ता रोक लिया।

सन्त भी खड़े हो गये।

उनमें से किसी ने कहा :—"आप यहीं से लौट जाँय।"

"क्यों....?" मुनिश्री ने पूछा।

"यह बीकानेर है — बीकानेर!" किसी ने व्यंग से कहा।

"हम यहीं तो सच्चे धर्म के प्रचार के लिये आये हैं।" मुनिश्री ने कहा।

"सो और जगह जाकर कर लो। इस बीकानेर के दरवाज़े देख कर ही लौट जाओ....! यहाँ तो पहले ही यति महाराजों ने हम सब में बहुत धर्म प्रचार कर दिया है; आपकी और आवश्यकता नहीं है!" किसी ने कहा।

मुनिश्री ने कहा :—"यहाँ आवश्यकता है ऐसा हम से जोधपुर में कहा गया; तभी तो नागौर से विकट और कठिन मार्ग पार करके यहाँ आये हैं।"

"आ गये तो बीकानेर का दरवाज़ा देख ही लिया न; उसे सुनाओ या हमें सुनाओ — दोनों एक ही बात है!" एक और ने कहा।

"ऐसा तो सुना है कि कई लोग अधर्म का आचरण करते-करते जड़-सूके लकड़े से दिल के हो जाते हैं। उनमें भी चैतन्य लाने का हम प्रयत्न करते हैं।" मुनिश्री ने कहा और उन्होंने आगे कदम बढ़ाया।

"जो आगे बढ़ा उसका स्वागत लाठियों से होगा।" किसी ने तड़क कर कहा। सैंकड़ों लाठियाँ सध गईं।

कोटवाल को आदेश मिल गया कि वे सारे यतियों को चेतावनी दे दे कि बेकार की कोई शरारत न करें; वरना सभी हवालात में बिठा दिये जायेंगे। बड़े-बड़े यतियों के ठिकानों पर राज-कर्मचारियों का पहरा सा लगा दिया गया।

कई यति भक्त उनसे पूछते :—"यह क्या बात है? बापजी....!"

तब वे "अरिहन्त! अरिहन्त....!!" करके अन्दर बैठ गये और कई यति-उपाश्रयों में मन्त्र-तन्त्र आदि के जापे जपने प्रारम्भ हो गये; मगर उनके हृदय में भी एक ऐसी छाप पड़ गई कि यह साधु जयमल कौन है? उसे देखें तो सही; जिसका प्रभाव बीकानेर में आने के पूर्व ही राजा पर छा गया है।

दोनों दीवान बन्धु विशाल जैन-अजैन लोगों के साथ तालाब के किनारे उस छतरी के पास पहुँचे जहाँ मुनिश्री जयमलजी विराजमान थे।

दूर से इतनी बड़ी भीड़ को आते देख छतरी के आसपास रहनेवाले कुम्हार लोग इकट्ठे हो गये। वे मुनिश्री के नये भक्त बने थे और राजाशाही परिधान धारण किये इतने लोगों को आते देख उन्हें आशंका हुई कि "कहीं पुनः सन्तों पर कोई आपत्ति तो नहीं आयेगी न?"

कानों कान बात फैल गई और सब ने तय किया कि यदि ऐसी कोई आशंका हो तो वे आगे जाकर सामना करेंगे। वे सभी जोर से जयजयकार करते आगे बढ़े :— "जयमलजी म० सा० की जय!"

दोनों ओर के दल आमने सामने हो गये। कुम्हारों के सरदार ने आगे बढ़ कर कहा :—"इतना करके आपका दिल नहीं भरा कि अब इन्हें छतरी से भी उठाने आये हो? मगर हम ऐसा हरगिज़ नहीं होने देंगे। खबरदार! किसी ने बुरी भावना से एक भी कदम आगे बढ़ाया तो....!"

दीवान बन्धु और विशाल जन-समुदाय रुक गया। उन्होंने सब को रोका और वे दोनों ही आगे बढ़े।

उन्होंने कहा :—" नगर में राजा का शासन चलता है। यदि महाराजा का आदेश वैसा मिलेगा तो बीकानेर में आये बिना हम लौट जायेंगे। अभी शांति बनाये रखने हम नगर के बाहर ही कहीं ठहर जायेंगे!"

मुनिश्री सन्तों के साथ वहाँ से लौट चले। सच्चे धर्म के प्रचार को रोकने के लिये कैसे - कैसे हिंसक और अधार्मिक कार्य किये जा सकते हैं उसका उनको परिचय मिला। भगवान महावीर ने जैन धर्म को विश्व का धर्म बनाया था; समाज जीवों के कल्याण के लिये बनाया था और अपने सारे सन्तों को और शासन के अधिकारी आचार्यों को आदेश दिया था कि "चरैवेति, चरैवेति" चलते रहो। चलते रहो और धर्म का प्रचार करते रहो; किन्तु यहाँ पर सत्य धर्म के प्रचार करनेवाले सन्तों के लिये, कहलानेवाले वेशधारियों ने इसे "मेरा क्षेत्र" कह कर उनके प्रवेश में बाधा उपस्थित की थी। लेकिन बाधा और विघ्नों से डरनेवाले और हटनेवाले ये नहीं थे। उसे हटा कर सच्चे साधु - मार्ग को प्रकाशित करने के लिये ही इन्होंने संयम - व्रत लिया था।

थोड़ी दूरी पर तालाब दिखाई दिया। वहाँ पर बाग - सा था और कोई छतरी दिखाई दी। यहाँ पर बीकानेर के राजा लोगों की स्मृति में छतरियाँ बनी हुई थीं। सभी सन्त वहाँ चल दिये और वहाँ पर रहे एक कुम्हार की आज्ञा लेकर ठहर गये।

शीतकाल के प्रातःकाल में कुहरा - सा था, उससे दिन में भी अन्धेरा सा लगता था। सूर्य कुछ मन्द दीखता था। मुनिश्री ने देखा कि वह कुहरा हट रहा है और उस प्रकाश में बीकानेर का किला — उससे ऊपर उठते हुए मकान और उससे भी ऊपर लाल पहाड़ी पर राज - महल चमक रहा था और ऊपर उठता चमकता सूर्य मानों हँसते हुए मुनिश्री को सत्य समझा रहा था :—" आपको भी इसी तरह बीकानेर में चमकना है; सत्य - धर्म का प्रकाश फैलाने का है....!"

"मगर आप जैसे उपकारी सन्तों का इतना परिचय क्या हुआ है कि हम आत्मीयता का अनुभव कर रहे हैं।" दोनों भाइयों ने कहा।

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"मगर यह परिचय पक्का तो नहीं हुआ; उसके लिये तो....!"

"आप जो कहेंगे सो करेंगे!" दोनों भाइयों के साथ अनेकों स्वरों में वह वात गूँज उठी।

"हमारी आत्मीयता तो केवल सच्चे जैन धर्म से है और उस पर सच्ची श्रद्धा रखनेवाले ही हमारे आत्मीय बन सकते हैं।" मुनिश्री ने कहा।

ऐसा कह कर सच्ची श्रद्धा यानी सत्य वस्तु पर विश्वास रखना इस विषय में उन्होंने विवेचन किया। "जगत में सत्य क्या है? सच्चे देव, जिनेश्वर देव हैं। आत्म-कल्याण करने के साथ-साथ जगत का कल्याण करते हैं। वे सच्चे गुरु हैं। आत्म-साधना कठिन है, उसकी मर्यादा में रह कर जन कल्याण करना और भी कठिन है। लोग अपने क्षुद्र स्वार्थों में, घर-संसार में, पुत्र-पत्नी आदि में ही अपना जीवन का ध्येय सम्पूर्ण मान लेते हैं; किन्तु जीवन में कर्म बन्धन के कारण निरन्तर दुःख पानेवाले संसारी जीवों के प्रति एक मात्र करुणा की कल्याण कामना से विरले ही निकल पड़ते हैं। उनका मार्ग सरल नहीं होता। भोगों में पड़े हुए लोगों को त्याग की ओर लाना बड़ा कठिन है।

भगवान ऋषभदेव को धर्म की संस्थापना करने में कितने कष्ट सहने पड़े! अन्यान्य बाईस तीर्थंकरों को उनको स्थायी करने में कितना त्याग करना पड़ा। लोग कालवाहन के साथ वक्र-टेढ़ी बुद्धिवाले और फिर जिसे पकड़ा उसे पकड़ा ऐसी जड़ बुद्धिवाले हो गये। उस समय अनेकों वादों के बीच प्रभु वर्धमान महावीर स्वामी को कितना कष्ट सहना पड़ा; किन्तु उनमें न राग था और न द्वेष था; अतः वे वीतराग कहलाये। ऐसे वीतरागों को देव मानना — राग-द्वेष रूपी जिनके शत्रुओं का नाश हुआ है उस अरिहन्त को देव मानना वह प्रथम सत्य है।

मुनिश्री जयमलजी आदि सन्त इसी परम्परा के थे और वे सब शांति से सहते थे। पहले दो-तीन दिन लोग इनके वेश आदि से भड़क कर अलग रहे; किन्तु जैसा अन्य गाँवों में होता था वैसे यहाँ भी धीरे-धीरे लोग आसपास की बस्ती से आने लगे।

मुनिश्री की वाणी में आकर्षण तो था ही। अच्छे-अच्छे दृष्टांतों और पद्यों के साथ वे उन्हें धर्म की बातें समझाते। लोगों के दिल पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता था।

कभी कोई पूछ बैठता :—"बापजी! नगर में तो सब कोई जा सकता है; फिर आप क्यों नहीं जाते?"

मुनिश्री जयमलजी कहते :—"हमें जिसने आने के लिये कहा था, उसकी राह देख रहे हैं!'

कभी और प्रसंग छिड़ जाता तो मुनिश्री के धर्म-प्रेमी बने ये नये चेले — कुम्हार आदि बड़े जोश में आ जाते और कहते :—"आप चलो बापजी! हम लोग साथ हैं; जो कोई आपको रोकेंगे उसको ठीक कर देंगे!"

मुनिश्री जयमलजी इन भोले लोगों की बातें सुनते और हँस कर कहते :—"हम जायेंगे तभी, जब नगर में जाने की आज्ञा मिल जायेगी। वहाँ जायें और फिर लोगों में आपस में मन मुटाव हो उससे तो यहीं बैठना अच्छा है!"

लोगों को कुछ सन्तों से यह पता चला कि बीकानेर में जोधपुर की कोई रामकुंवर बाई है और बाई ने वहाँ विनति की थी; अतः महाराज रेतीले रास्ते से यहाँ पधारे हैं।"

उसी समय राज-मार्ग से एक रथ निकल उधर से जा रहा था। उसके चारों ओर पर्दे लगे हुए थे। दासियाँ किनारे पर बैठी बाहर झांक रही थीं।

अन्दर से आवाज़ आई :—"क्या बगीचा आ गया?"

दासी में से किसी ने कहा :—"यह तो तालाब आया है और वह छतरी है राजाजी की....!"

इतने में उस दासी ने चमक कर कहा :—"अरे! यहाँ कोई सन्त दिखाई देते हैं; ठहरो तो....!"

रथ रुका और एक दासी ने ध्यान से सन्तों को देख कर कहा :—"बाईजी सा०! ये तो जाने पहचाने सन्त हैं! कहीं उनको देखा है....! हाँ याद आया....! अरे! ये तो जोधपुर में दर्शन किये थे वे मुनिश्री जयमलजी हैं! आपके साथ उनसे मांगलिक भी सुना था। देखो न बाईजी सा०! आपकी विनति सुन कर वे यहाँ पधारे हैं—हमारे धन्य भाग्य हैं। अब उनकी सेवा करने का लाभ मिलेगा।"

यह रथ रामकुंवर बाई का था। आज फिरने के लिये वे रथ में निकली थीं। उस समय ओसवाल कुटुम्बों की नारियाँ बड़े पर्दे में जाती थीं। रथ के पर्दे में बैठ जब दासी से उसने यह बात सुनी तो उसकी आत्मा यह सुन कर आनन्द विभोर हो गई कि मुनिश्री जयमलजी यहाँ पधारे हैं।

फिर उसके मन में आया कि दासियाँ कहीं मज़ाक तो नहीं करतीं। उसने कहा :—"क्यों मज़ाक करती हो? मेरा ऐसा कहाँ भाग्य कि गुरुदेव यहाँ आयें! उनको तो बड़े-बड़े राजा महाराजा विनती करते हैं और वे दिल्ही, जोधपुर, अजमेर, जयपुर आदि जगहों पर विचरण करनेवाले थे। वे यहाँ कैसे आ सकते हैं? क्यों झूठ बोलती हो? मेरा नहीं तो पाप का डर तो रखो!"

"मुझे तो वे ही दीखते हैं; मैं क्यों झूठ बोलूँ? आप ही पर्दा उठा कर देख लीजिये; फिर मालूम हो जायेगा कि मैं मज़ाक करती हूँ या सत्य बोलती हूँ!" दासी ने कहा।

रामकुंवर वाई ने सोचा कि स्वामीजी शायद कल शाम को पधारे होंगे ; अतः उसने निवेदन किया :—"वापजी ! नगर में पधारो ! आपके दर्शन कहाँ हम सव को होने थे ? आप ने वड़ों - वड़ों की विनती के वदले मुझ जैसी सामान्य स्त्री की विनती स्वीकार कर वड़ा उपकार किया है ; अव नगर पर उपकार करें ! जल्दी आप पधारें !"

मुनिश्री ने कहा :—"नगर में पधार कर क्या करना है ? अव तो वापिस जाना है ; विहार करना है !"

रामकुंवर वाई वोली :—"हम नगरवालों के पुण्य में कोई अन्तराय होगी कि आप हमें दर्शन और सेवा का लाभ दिये विना ही वापस जाने की वात कर रहे हैं।"

"हमारे आने से किसी को पीड़ा होती हो किसी को जीव दुःखता हो तो हमें वहाँ क्यों जाना चाहिये ?" मुनिश्री जयमलजी ने कहा ।

"वापजी ! आप भी क्या कहते हैं ? आप जैसे दयालु के पधारने से किसी का जीव दुःखे यह वात मैं तो समझ नहीं सकती। मैंने तो आपको पधारने का और वीकानेर क्षेत्र में सच्चे साधु - धर्म को फैलाने का कहा था ; मगर आप वाहर से ही चले जायेंगे तो कैसे होगा ?" रामकुंवर वाई ने पूछा।

मुनिश्री ने कहा :—"हमारी अभिलाषा थी कि किसी प्रकार हमारे आने का समाचार आपको मिल जाये। आज वह पूरी हो गई है और आपको सन्तों के दर्शन करने का लाभ भी मिल गया है। अव नागौर वापस जायेंगे !"

"मैंने तो जोधपुर में भी दर्शन प्रवचन का लाभ लिया था ; मगर हमारे शहर पर उपकार करना ही होगा !" ऐसा कह कर उसने सन्तों को वारम्वार वन्दना की।

सव सन्तों को वन्दना कर रामकुंवर वाई और साथ की स्त्रियाँ वापस लौटने लगीं। उन्हें दर्शन करने आते देख वहुत से आसपास के कुम्हार आदि जाति के लोग इकट्ठे हो गये।

एक दासी ने उन्हें इकट्ठा होते देख पूछ लिया :—"क्यों, क्या वात है ? यों पर्देवाली औरतों के पास आना क्या ठीक है ?"

दीवान बन्धुओं से पूरी बातें सुन कर नरेश गजसिंहजी मुनिश्री राज-महल में ठहरे थे वहाँ आये। उनकी शांत और प्रभावशाली मुद्रा देख कर वे अत्यन्त चकित हुए। उन्होंने मुनिश्री आदि सन्तों को वन्दन किया।

पुनः हाथ जोड़ कर महाराज ने निवेदन किया :—" आप जैसे महात्माओं को मेरे नगर में आकर, नगर बाहर इस तरह ठहरना पड़ा इसका मुझे दुःख है; मगर वास्तव में आप धन्य हैं। आपकी दिनचर्या और सहनशीलता धन्य है। वास्तव में आप जैसे सन्त ही समाज का कल्याण कर सकते हैं जो विरोधियों के मन को क्लेश पहुँचाना नहीं चाहते!"

मुनिश्री ने फरमाया :—" वीतराग महावीर प्रभु के शासन की यही विशेषता है कि उन्होंने अनेक विरोधियों को प्रेम से जीता है। अनेकानेक सन्तों ने सहिष्णुता, आत्म-साधना और जन कल्याण के अप्रतिम आदर्श उपस्थित किये हैं। हमारा तो यही संयम मार्ग है कि कष्टों को सहें। इसके लिये आप को जो लग रहा है वह आपकी आत्मीयता है, उसे धर्म-प्रेम से टिकाये रखें। आप के धर्म-प्रेमी दीवान-बन्धु के साथ आप भी लाभ लेते रहें।"

महाराज ने कहा :—" इसी भावना से आपको महल पावन करने की विनती की थी जिसे स्वीकार कर आप ने बड़ा अनुग्रह किया है।"

वे भाव पूर्ण वन्दना करके वहाँ से लौट चले।" इससे उपस्थित जन-समुदाय पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

* * *

मुनिश्री के प्रवचन प्रारम्भ हो गये। उनकी मधुर शैली, सुन्दर पद और शास्त्रों के आधार से लोगों के हृदय में उनकी सत्य-धर्म की बातें जमने लगीं। सच्चे देवगुरु और धर्म का स्वरूप उन्होंने इतना सचोट समझाया कि अनेक लोगों ने समकित को स्वीकार किया। साथ ही बहुत से लोगों ने तप-त्याग भी आरम्भ कर दिये। उनके उपदेशों का ऐसा प्रभाव पड़ते देख सभी लोक समझ गये कि यह सारा प्रताप सच्चे एवं शुद्ध सन्तों का ही है।

"हाँ....! मैंने सब सुना लिया है। हाय रे! मैं कैसी अभागिन हूँ कि बड़ी विनती करके आई थी और मेरे नगर में आने पर मेरे गुरुदेवों को आज आठ-आठ दिन से नगर बाहर ही उपवास करना पड़ रहा है....!" उसका दिल भर आया। वह रथ से उतरी और बड़े भारी हृदय से मुनिश्री के पास जा वन्दना करके बोली :—"गुरुदेव! मैंने सारी बात सुन ली है। आप नागौर वापस पधारना क्यों कह रहे हैं? यह भी जान लिया है। आप नागौर पधारना चाहें तो भी कम से कम आपके दोनों शिष्य, मेरे दोनों बेटे— जयचन्द्र, विजयचन्द्र आपके दर्शन करने आयें तब तक यहीं विराजें—इतनी कृपा अवश्य करें....!"

वह अधिक बोल न सकी; उसने मुँह फिरा लिया। उसकी हिचकियाँ सुनाई पड़ती थीं। वह अन्यमनस्क सी होकर लौट चली। आगे क्या हुआ? कुछ खयाल सा न रहा; वह रथ के पास गई—वह रथ में बैठी। उसने भी मन में संकल्प किया कि जब तक उसके गुरुदेव पालना नहीं कर लेंगे तब तक वह भी अन्न-जल नहीं लेगी।

रथ पर पर्दा गिर गया और वह वापस बीकानेर नगर की ओर दौड़ने लगा।

*		*		*

बीकानेर नरेश गजसिंह का दरबार मध्याह्न को पूरा हुआ। उनके दीवान जयचन्द्र और विजयचन्द्र दोनों महाराज को प्रणाम कर अपने घर लौटने लगे।

दोनों भाई के सुन्दर और सशक्त तन के साथ संस्कारी मन था। वे राजकाज का कार्य इतनी लगन से करते थे जिससे महाराना तो प्रसन्न थे ही, साथ अन्य दरबारी लोग भी उन्हें उतना ही चाहते थे।

जैसे वे राजकाज में प्रवीण थे वैसे उनमें धार्मिक संस्कार भी भरे थे। माता को वे बहुत चाहते थे और उनका नियम था कि जब वे खाना खाते तो माता भी साथ में रहती थी।

हर रोज़ जैसे उन्होंने जीमने के लिये रसोई में प्रवेश किया तो हमेशा जिस माता के दर्शन होते थे वह आज दिखाई न दी।
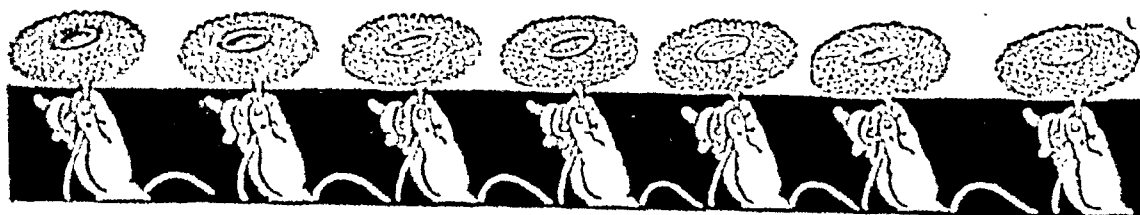
"यह न भूलना चाहिये कि एक दिन सब को ही यह शरीर छोड़ कर जाने का है; साथ ही सारा धन, माल, असबाब यहीं धरा रह जाने का है इसलिये जो भी क्षण मिले उसमें संयम की आराधना करनी चाहिये। बीती हुई रातें लौट कर नहीं आतीं और पेड़ से गिरती हुई पत्ती वापस नहीं चिपकती उसी तरह जो समय बीत रहा है वह वापस नहीं आने का है; अतः आत्म स्वरूप का विचार करना चाहिये।

"यही आत्मा परमात्म रूप बन सकती है फिर क्यों यह उतनी विवश है कि उसे हर बात के लिये दूसरों का आधार रखना पड़ता है? उसे घिरे हुये ये कर्म क्या हैं? उसका विचार करो कि उन बन्धे हुए कर्मों को भोगे बिना भगवान महावीर की भी मुक्ति नहीं हुई थीं। फिर राग-द्वेष वश होकर जीव क्यों नये कर्म बांध रहा है? क्यों किसी जीव को क्लेश पहुँचा रहा है?

"सभी कर्म तो भारी हैं; किन्तु उसमें जीव हिंसा करना सब से बड़ा पाप है। भगवान महावीर ने भी "पाणि वहं घोरं"—प्राणी के वध को घोर कर्म बताया है और हर संयमी निर्ग्रंथ को और मुमुक्षुओं को उसे त्याग करने को कहा है।

"धर्म की उपासना करने के लिये आत्म स्वीकृति चाहिये। सर्व प्रथम हमारी स्वतन्त्र आत्मा है यह हमें जानना चाहिये—हमारी आत्मा जैसी ही औरों की भी स्वतन्त्र आत्मा है। हमें जैसे जीवन पसन्द है, वैसा उन्हें भी पसन्द है अतः उनकी हिंसा न करके उनके जीवन में सहायक बनना चाहिये—यही किसी भी धर्म की नींव है।"

उनके उपदेशों से आकृष्ट होकर महाराज गजसिंह रोज उनके प्रवचन सुनने का समय निकाल कर व्याख्यान में उपस्थित होने लगे थे। राजा महाराजाओं से प्रवचन होने पर मुनिश्री विशेष रूप से व्यसन त्याग पर प्रवचन देते थे। उनका यह मानना था कि यदि राजा आदर्श है तो उसकी प्रजा भी आदर्श बनेगी :—

यथा राजा तथा प्रजा

"माताजी क्या बात है? हम से कोई भूल हो गई कि आज नीचे नहीं आई हो ?" दोनों पुत्रों ने बड़े दुःख के साथ निवेदन किया।

रामकुंवर बाई ने कुछ जवाब न दिया। उसने नज़र भर उठा कर ऊपर देखा। उसका चेहरा अनन्त व्यथाओं से भरा हुआ था। माता की करुण - दशा दोनों पुत्र न देख सके।

जयचन्द्र आगे बढ़ कर बोला :—"इतने वर्षों में हमने तुम्हें कभी रोते नहीं देखा है। ज़रूर कुछ बात हुई हैं और तुमने शोक - मग्न होकर, आँसू बहाना शुरू कर दिया है!"

"नहीं, कोई बात नही हुई है....!" रामकुंवर बाई की फिर हिचकियाँ बन्ध गई। जिस माता से रोज़ आनन्द और प्यार मिलता था उसकी ये हालत देख कर दोनों पुत्रों का दिल भी भर गया।

विजयचन्द्र ने कहा :—"माता! हमारी ओर से कोई ऐसी भूल हो गई हो तो बताओ न....! यूं दुःखी मत हो! माता तुम्हीं तो हमारे लिये सब कुछ हो....!"

"मेरे लाड़ले! तुम्हारी कोई भूल नहीं है। यह तो मेरे कर्मों का दोष है; सो मुझे रोना पड़ रहा है!" रामकुंवर बड़े कष्ट से बोली।

"नहीं, तुम अवश्य हम से कुछ छिपाती हो, वरना रोज़ साथ जीमती हो — जिमाती हो; मगर आज हम से नाराज़ हो गई, तभी तो यहाँ आकर रोती हो।" जयचन्द्र ने कहा।

"नहीं, तुम से कुछ छुपाना नहीं है। तुम दोनों खा लो!" रामकुंवर बोली।

"तुम यहाँ पर रोती रहो और हम खाना खा लें; ऐसा नहीं हो सकता, माताजी!"

"ज़िद्द मत करो! मेरी कसम है; तुम जाके आज अकेले खा लो!"

"ऐसा कैसे हो सकता है, माताजी! तुम तो जानती हो कि हमारा नियम तुम्हारे साथ भोजन करने का है, तो अब कृपा करके नीचे चलो और जीमने की तैयारी करो!" विजयचन्द्र ने कहा।

पैर रहती हैं। मेरी कितनी सेवा करती हैं? मुझे घर का कोई दुःख तुम सब के होते कैसे हो सकता है? तुम्हारा प्रेम, घर की औरतों का विनय आज अपने समाज में क्या? सभी घरों में आदर के साथ बताया जाता है। मेरा दुःख तो कुछ और है....!"

रामकुंवर बाई कुछ देर रुकी। दीवान बन्धु भी आश्वसत हुए कि माताजी को घर की किसी बात से दुःख नहीं हुआ है।

पुनः रामकुंवर ने कहा :—"बेटों! मैं कुछ दिन पहले जोधपुर गई थी। जिस दिन मैं जोधपुर से वापस बीकानेर आ रही थी, उस समय वहाँ मेरे गुरुदेव मुनिश्री जयमलजी पधारे हुए थे। उनका प्रवचन सुन कर मेरे मन में आया कि वे यदि बीकानेर पावन करें तो अनेक भव्य जीवों का उध्धार हो जायेगा और सच्चे जैन धर्म का जयजयकार होगा। मैंने मांगलिक सुना और सच्चे हृदय से विनती की कि बापजी बीकानेर पधारो तो बड़ा उपकार होगा।"

"तुम ठीक कहती हो। वह तो अच्छा ही है!"

"वे बड़ों-बड़ों की विनतियाँ छोड़, मेरी विनती सुन कर यहाँ पधार गये हैं!"

"यह तो और भी अच्छा है! चलो, भोजन कर लो; हम अभी उन्हें सामने जाकर बुला लाते हैं!" पुत्रों ने कहा।

रामकुंवर बाई का गला भर आया। टूटक-टूटक शब्दों में उसने कहा :—"मैं कैसे भोजन करूँ? मेरे कारण वे यहाँ पधारे; मगर आज नौ-नौ दिन हुए उपवास किये, तालाब की छतरी पर ठहरे हुए हैं। उनकी सेवा का लाभ तो न मिला और उन्हें मेरे कारण परिषह सहने पड़े।" रामकुंवर बाई का स्वर भारी हो गया।

"वहाँ क्यों ठहरे हैं, बीकानेर आ जाते?" पुत्रों ने पूछा।

"कैसे आते? यहाँ तो यतियों का राज चलता है। उनको गांगा दरवाज़ा बाहर ही लाठीवाले लोगों से कहला दिया कि उनके आने से खून-खराबी हो जायेगी; अतः वे लौट कर छतरी पर जाकर बैठ गये! मुझ अभागन पर कृपा भाव था; अतः वे ठहरे थे और

"आपके नगर में सन्तों के पदार्पण के लिये द्वार खुले रहें तो यथा अवसर सन्तों को तो क्षेत्रों में विचरना ही है!" मुनिश्री ने कहा।

"आप ने पधार कर सच्ची साधुता का परिचय दिया है और बीकानेर आपका हो गया है, हम आपके हो गये हैं, हम पर कृपा रखना आपका भी कर्तव्य है!" महाराज ने कहा।

"भक्तों के आग्रह को कौन टाल सकता है? मगर जैन साधु-मार्ग के अनुसार अन्यान्य क्षेत्रों में विचरण करना साधु के लिये आवश्यक है; अतः विहार करना ही पड़ता है। धर्म की प्राप्ति बड़ी मुश्किल से होती है और उसको सम्हालके रखना आपका कार्य है।" मुनिश्री ने कहा।

महाराजा वन्दन करके वहाँ से गये।

मुनिश्री और अन्य सन्तों ने महल के द्वार से प्रस्थान किया। लोगों की अपार भीड़ के कारण राज-मार्ग पर मानव समुदाय लहरा रहा हो ऐसा मालूम पड़ता था। जयजयकार के नारों से वातावरण गूँज रहा था। गीत-भजन आदि लोग गाते चले जा रहे थे। राज-मार्ग से सभी गांगा द्वार के पास आये। इसी द्वार पर करीब एक मास पूर्व एक बार सन्तों को वापस लौटना पड़ा था और पुनः नगर में लोगों के समुदाय ने उन्हें प्रवेश कराया था; मगर आज जब सन्त विहार कर रहे थे तो ऐसा मालूम होता था कि बीकानेर नगर ही खाली हो रहा है।

जैसे जैसे सन्त आगे बढ़ रहे थे बीकानेर पीछे जा रहा था। थोड़े आगे जाकर पुनः उस छतरी के पास आकर सभी रुके। कुम्हार लोगों को भी मालूम हो गया था; अतः वे भी दौड़े-दौड़े आये।

सभी ने वन्दना करके बार बार विनति की कि "बीकानेर का चातुर्मास करें!"

मुनिश्री ने कहा :—"क्षेत्र खुल गया है तो पुद्गल स्पर्शना हो सकती है।"

अन्त में एक वृक्ष के नीचे बैठ मुनिश्री ने सब को सन्देश दिया :—"सन्तों की सच्ची स्मृति तो उनसे जो धर्म संस्कार मिले हैं उन्हें विकसित करते रहना है। सन्त

जयचन्द्र, विजयचन्द्र को हालाँकि राज - महल में जाने का पूर्ण अधिकार था ; किन्तु वे प्रजा के लिये बने सारे नियमों का पालन अपने लिये करना पसन्द करते थे ; अतः उन्होंने आकर न्याय का घण्टा बजाया था ।

राजा ने उनको इशारा कर ऊपर आने का आदेश दिया और वे स्वयं वस्त्र आदि ठीक कर अपने मन्त्रणा - खण्ड में बैठ गये । पहरेदार को सूचना दे दी कि दीवान आये तो उन्हें अन्दर दाखिल किया जाय ।

जयचन्द्र - विजयचन्द्र ने प्रवेश होते ही राजा को तसलीम (मुजरा) की और अदब के साथ खड़े रहे । राजा ने उनके चेहरे देखते ही जान लिया कि अवश्य कुछ अनिच्छनीय घटना हो गई है ; वरना इनके चेहरे पर रोष, क्रोध और उदासी एक साथ नहीं दीखती ।

राजा ने पूछा :—" आपका फौरन से कैसे आना हुआ ? आप इतने दिलगीर क्यों हो रहे हैं ।"

दोनों भाईयों का दिल भर आया । वे कुछ न बोल सके । उन्होंने आँखों के कोने से आँसू पोंछे और बिना बोले सर झुकाये खड़े हो गये ।

राजा ने दीवान बन्धुओं को कभी इस मुद्रा में न देखा था ; अतः उसने बड़े ही आश्वासन के साथ कहा :—" दुःख का उपाय तो कहने से होता है । आप तो समझदार हैं । हमें पूरी बात पहले से सुनाओ कि सुन कर मैं उसके लिये यथा योग्य कर पाऊँ ! "

" महाराज ! अब से आपका कार्य हम से नहीं हो सकेगा । आप ने हमें जो पद और मुद्रा दी है उसे वापस ले लें और दीवान - पद से अलग करें ! " जयचन्द्र ने कहा ।

" आप ने पूरी बात तो नहीं की....! " राजा ने पूछा ।

" कहने से भी क्या फायदा....? सुनके आप नाराज़ हो जायेंगे ? " जयचन्द्र ने कहा ।

"आपके नगर में सन्तों के पदार्पण के लिये द्वार खुले रहें तो यथा अवसर सन्तों को तो क्षेत्रों में विचरना ही है!" मुनिश्री ने कहा।

"आप ने पधार कर सच्ची साधुता का परिचय दिया है और बीकानेर आपका हो गया है, हम आपके हो गये हैं, हम पर कृपा रखना आपका भी कर्तव्य है!" महाराज ने कहा।

"भक्तों के आग्रह को कौन टाल सकता है? मगर जैन साधु-मार्ग के अनुसार अन्यान्य क्षेत्रों में विचरण करना साधु के लिये आवश्यक है; अतः विहार करना ही पड़ता हैं। धर्म की प्राप्ति बड़ी मुश्किल से होती है और उसको सम्हालके रखना आपका कार्य है।" मुनिश्री ने कहा।

महाराजा वन्दन करके वहाँ से गये।

मुनिश्री और अन्य सन्तों ने महल के द्वार से प्रस्थान किया। लोगों की अपार भीड़ के कारण राज-मार्ग पर मानव समुदाय लहरा रहा हो ऐसा मालूम पड़ता था। जयजयकार के नारों से वातावरण गूँज रहा था। गीत-भजन आदि लोग गाते चले जा रहे थे। राज-मार्ग से सभी गांगा द्वार के पास आये। इसी द्वार पर करीब एक मास पूर्व एक बार सन्तों को वापस लौटना पड़ा था और पुनः नगर में लोगों के समुदाय ने उन्हें प्रवेश कराया था; मगर आज जब सन्त विहार कर रहे थे तो ऐसा मालूम होता था कि बीकानेर नगर ही खाली हो रहा है।

जैसे जैसे सन्त आगे बढ़ रहे थे बीकानेर पीछे जा रहा था। थोड़े आगे जाकर पुनः उस छतरी के पास आकर सभी रुके। कुम्हार लोगों को भी मालूम हो गया था; अतः वे भी दौड़े-दौड़े आये।

सभी ने वन्दना करके बार बार विनति की कि "बीकानेर का चातुर्मास करें!"

मुनिश्री ने कहा :—"क्षेत्र खुल गया है तो पुद्गल स्पर्शना हो सकती है।"

अन्त में एक वृक्ष के नीचे बैठ मुनिश्री ने सब को सन्देश दिया :—"सन्तों की सच्ची स्मृति तो उनसे जो धर्म संस्कार मिले हैं उन्हें विकसित करते रहना है। सन्त

चला रहे हैं और सच्चे सन्तों को कष्ट उठाना पड़ रहा है और आज नौ-नौ दिन से यह हो रहा है; फिर भी हम सब अन्धेरे में हैं?"

राजा गजसिंह ने बड़े ही दुःख से कहा। उन्होंने दीवान बन्धु को आदेश दिया :—"आप दीवान हैं! आप के धर्म-गुरु आये हैं तो बड़ी धाम-धूम से लिवा लाइये। हुक्म आप का चलता है; फिर आप स्वयं ही यतियों को रोक लेते। तो भी हम उसे ठीक समझते।"

"ऐसा न हो कि हम लोगों ने आपके दिये हुए अधिकारों का दुरुपयोग किया है, ऐसा लोग बाद में आप से फरियाद करें।" जयचन्द्र ने कहा।

राजा गजसिंह ने कहा :—"जाओ, मेरा आदेश है कि इन्हें राजा शाही शान-गाजे-बाजे के साथ सवारी में नगर में प्रवेश कराओ। सन्त तो समाज के होते हैं — ऐसे उपकारी को पूरे आदर के साथ लिवा लावें!"

"महाराज! ये सन्त ऐसे गाजे-बाजे के आडम्बर से दूर रहते हैं; बड़ी सादगी से आते हैं; सब को धर्म करने का आदेश देते हैं; कोई सवारी आदि का उपयोग ये नहीं करते। पैदल ही चलते हैं!" दीवान बन्धुओं ने कहा।

"तब तो फौरन ही ऐसे सीधे और सादे सन्तों के चरण-कमल से बीकानेर को पावन कराओ!" महाराजा ने आदेश दिया।

दोनों भाई महाराज को प्रणाम करके वापस लौटे।

* * *

बीकानेर के सदर बाजार में हलचल सी मच गई। दीवान बन्धुओं की सूचना पाकर अनेक जैन-अजैन मुनिश्री जयमलजी को लिवा लाने के लिये इकट्ठे होकर, दीवान भाइयों के साथ जाने लगे।

नगर भर में यह बात शीघ्र फैल गई कि नागौर से विहार कर, कठिन-मार्ग से जैन-सन्त जयमलजी आये हैं और नगर के बाहर राजा की छतरी में हैं। उन्हें आये नौ दिन हो गये हैं: मगर यतियों का जुल्म देखो कि उन्हें आने न दिया।
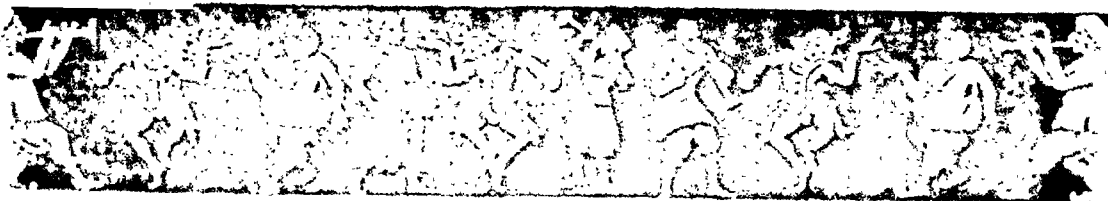
लोगों को धर्म-ध्यान में दृढ़ रहने का पुनः एक बार सूचित कर उन्होंने मंगलिक सुनाया और "धर्म ध्यान करो, दया पालो!" के आदेश के साथ उन्होंने वहाँ से विहार किया; पीछे भारी हृदय लिये बीकानेरवासी अपनी जगह को लौट चले।

* * *

वापिस लौटने का रास्ता वैसा ही था और मुनिश्री ने अन्दाज़ लगा लिया था कि नागौर से करीब बीकानेर इस रास्ते से २५-३० कोश ही पड़ता था और सब से छोटा यही रास्ता था; मगर वर्षों से सच्चे सन्त इस ओर जाने का साहस नहीं करते थे। एक बार थोड़ा सा परिश्रम तो करना पड़ा था; मगर अब हमेशा के लिये यह क्षेत्र सच्चे सन्तों के आवागमन के लिये सुगम बन जायेगा।

मुनिश्री और अन्य सन्तों को इस बात का सविशेष सन्तोष था कि हालाँकि उन्हें परिषह सहने पड़े थे; मगर उससे एक ऐसे क्षेत्र में सच्चे जैन धर्म की जागृति हुई है जहाँ पर जागृति कराने के लिये, जाने का कोई साहस न करता था। वह जागृति भी हमेशा के लिये हो गई थी।

रास्ते अब चिरपरिचित से लग रहे थे। एक मास के पहले जब ऐसे रास्तों से सन्त चले थे तब वे अनजान थे, सुमसान थे; मगर अब ये रास्ते उनके चरण कमल का स्पर्श पाकर स्वयं परिचित होकर धन्य हो उठे हों ऐसा लगता था। सच्चे सन्तों के चरण जहाँ चले वह क्षेत्र धर्म एवं पुण्य का बनना चाहिये वह बात चरितार्थ हो रही थी।

बीकानेर से बहुत दूर तक भी सन्तों के साथ कई कुम्हार युवक साथ चलते रहे। सन्तों ने उनकी इच्छा देख कर साथ चलने दिया, मगर अन्त में उन्होंने कहा :—"हमारी सच्ची सेवा तो इसी में है कि जो कुछ हम से अच्छी बातें सीखी हैं उस पर पक्के रहो और दूसरों से भी उन बातों को ग्रहण करवाओ!"

वे कुम्हार युवक अपनी धर्म श्रद्धा पर दृढ़ रहने का अपना संकल्प प्रगट कर, वन्दना करके वापस लौट गये।
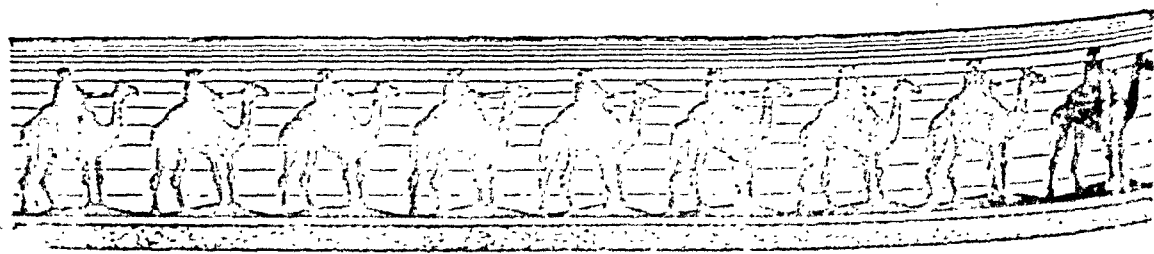
रेगिस्तान में भटकता ही फिरे। पत्थरों के टीले होते हैं वे वहीं के वहीं जमे रहते हैं। चाहे ववन्डर आये, आंधी चले — सब उनको छूकर निकल जाते हैं, वे वैसे ही अडिग बन रहते हैं। आप इनमें से कौन-से बनोगे?"

"पत्थर के टीले से.... स्थिर....!"

"फिर हम हमेशा तुम्हारे साथ ही रहेंगे?" मुनिश्री कहते।

"सो कैसे?" वे युवक पूछते।

"सत्य धर्म की उपासना में देव तो अरिहन्त जिनेश्वर भगवान आयेंगे ही और गुरु में तो तुम्हें हमें सन्तों का ही स्मरण कर श्रद्धा रखनी पड़ेगी न....?"

"हाँ, हाँ....!"

"मगर याद कैसे रखोगे?" मुनिश्रीं पूछते।

जब उनके पास कोई उत्तर न रहता तो मुनिश्री कहते :—"हमारा स्मरण तो हमारे बताये हुए धर्म का आचरण करके ही होगा।"

"जी, बापजी....!"

वे युवक भी वन्दना करके वापस लौटे। आत्मा का ऐसा है कि जब तक उसके आगे कोई वस्तु स्पष्ट न हो वह अपरिचित सी रहती है; मगर एक बार जान ली गई तब फिर सभी वस्तुएँ जानी पहचानी सी लगती है।

जाते समय गाँवों में मुनिश्री थोड़ा सा ठहरते थे; मगर लौटते समय गाँवों को मुनिश्री ने विशेष लाभ दिया। जिससे वहाँ धर्म जागृति हो और भविष्य में अन्य सन्तों के लिये भी मार्ग प्रशस्त हो।

पुनरागमन का रास्ता पहले से थोड़ा दूर और अलग था।

बीकानेर में जब उनके प्रवचनों का ठाठ लगता था तब वहाँ आसपास के गाँव के बहुत से लोग आते थे और उन्हें अपने-अपने गाँव पधारने की विनती करते थे।
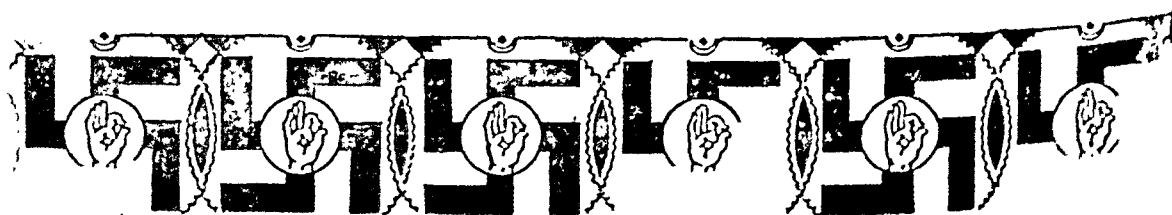
उन लोगों की यही शिकायत रहती थी कि :—"इधर सन्तों का आवागमन चालु नहीं रहा तो ये क्षेत्र वैसे ही उज्जड़ से रहेंगे।"

मुनिश्री उन्हें कहते :—"आप लोगों की श्रद्धा स्थिर है और रहेगी। आपकी आत्माओं पर जो धर्म का रंग चढ़ा है वह पक्का ही है।"

यह बात सही थी और नोखामण्डी में पक्की धर्म श्रद्धा स्थिर हो गई थी।

नोखा से ककुमगु और अलाय होते हुए सन्त गोगोलाव पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने सत्य जैन धर्म का प्रकाश किया और अनेक लोग धर्म की श्रद्धा में स्थिर हुए।

वैसे इस क्षेत्र में अन्य सम्प्रदायों और यतियों का ज़ोर था; किन्तु मुनिश्री के ज्ञान दर्शन और चारित्र की प्रतिभा के आगे वे भी उन्हें सन्मान ही देते थे।

गोगोलाव से नागौर पास होने पर भी डेह और भदाणे के लोग वहाँ पहले पहुँचे और वे इस बार मुनिश्री को साग्रह अपने यहाँ आने की विनती करने लगे। हालाँकि रास्ता कुछ फिर कर जाना था; फिर भी पुनः डेह और भदाणा को लाभ देने का कार्य-क्रम रहा।

वापस लौटते गाँव-गाँव में मुनिश्री ने अपने साधुत्व की उच्च चर्या से, प्रवचन से और सच्चे मार्ग-दर्शन से अनेक लोगों का धर्म बोध कराया था। फलस्वरूप रास्ते के सारे गाँवों में सच्चे जैन धर्म की ज्योति प्रकाशित हुई। उस क्षेत्र में काफी धर्म प्रचार हुआ।

सन्त डेह पहुँचे। जिन्होंने उनसे सच्चे धर्म की श्रद्धा अंगीकार की थी उनके साथ और भी बहुत से नये श्रावक बने। उनके बीकानेर क्षेत्र के परिषहों की बात आगे-आगे पहुँच जाती थी और लोग उनसे उनके सम्बन्ध में पूछते।

मुनिश्री कहते :—"जाने क्षेत्रों में तो सभी धर्म प्रचार करते हैं। सन्तों की विशेषता तो यही है कि वे नये-नये क्षेत्रों में मानव जाति में धर्म का प्रचार करें; क्योंकि सत्य-धर्म पालन करने की क्षमता सब से अधिक मानव जाति में है और मानव ही धर्म पर दृढ़ रह कर आत्मा का विकास कर सकता है।"

उन लोगों की यही शिकायत रहती थी कि :—" इधर सन्तों का आवागमन चालु नहीं रहा तो ये क्षेत्र वैसे ही उज्जड़ से रहेंगे।"

मुनिश्री उन्हें कहते :—" आप लोगों की श्रद्धा स्थिर है और रहेगी। आपकी आत्माओं पर जो धर्म का रंग चढ़ा है वह पक्का ही है।"

यह वात सही थी और नोखामण्डी में पक्की धर्म श्रद्धा स्थिर हो गई थी।

नोखा से ककुभगु और अलाय होते हुए सन्त गोगोलाव पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने सत्य जैन धर्म का प्रकाश किया और अनेक लोग धर्म की श्रद्धा में स्थिर हुए।

वैसे इस क्षेत्र में अन्य सम्प्रदायों और यतियों का ज़ोर था; किन्तु मुनिश्री के ज्ञान दर्शन और चारित्र की प्रतिभा के आगे वे भी उन्हें सन्मान ही देते थे।

गोगोलाव से नागौर पास होने पर भी डेह और भदाणे के लोग वहाँ पहले पहुँचे और वे इस वार मुनिश्री को साग्रह अपने यहाँ आने की विनती करने लगे। हालाँकि रास्ता कुछ फिर कर जाना था; फिर भी पुनः डेह और भदाणा को लाभ देने का कार्य-क्रम रहा।

वापस लौटते गाँव-गाँव में मुनिश्री ने अपने साधुत्व की उच्च चर्या से, प्रवचन से और सच्चे मार्ग-दर्शन से अनेक लोगों का धर्म वोध कराया था। फलस्वरूप रास्ते के सारे गाँवों में सच्चे जैन धर्म की ज्योति प्रकाशित हुई। उस क्षेत्र में काफी धर्म प्रचार हुआ।

सन्त डेह पहुँचे। जिन्होंने उनसे सच्चे धर्म की श्रद्धा अंगीकार की थी उनके साथ और भी बहुत से नये श्रावक वने। उनके बीकानेर क्षेत्र के परिषहों की वात आगे-आगे पहुँच जाती थी और लोग उनसे उनके सम्वन्ध में पूछते।

मुनिश्री कहते :—" जाने क्षेत्रों में तो सभी धर्म प्रचार करते हैं। सन्तों की विशेषता तो यही है कि वे नये-नये क्षेत्रों में मानव जाति में धर्म का प्रचार करें; क्योंकि सत्य-धर्म पालन करने की क्षमता सव से अधिक मानव जाति में है और मानव ही धर्म पर दृढ़ रह कर आत्मा का विकास कर सकता है।"

रामकुंवर बाई ने कहा :—"सचमुच तुम दोनों को, अपने पुत्रों की ऐसी मातृ-भक्ति, धर्म-भक्ति और शासन सेवा देख, मैं अपने को धन्य समझती हूँ!"

पुत्र भी कहाँ चूकनेवाले थे। उन्होंने कहा :—"जिसने हमें जन्म दिया उस हमारी माँ से बढ़ कर और कौन पवित्र होगा!"

माँ-पुत्रों के इस स्नेह-पूर्ण वार्तालाप से वातावरण और भी प्रफुल्लित हो गया। भोजन के उपरांत दोनों पुत्रों ने राज-महल जाने की आज्ञा माँ से ली; क्योंकि उनका विचार था कि महाराजा गजसिंह से सन्तों का मिलन हो। यह सुन रामकुंवर बाई और भी प्रसन्न हुई।

* * *
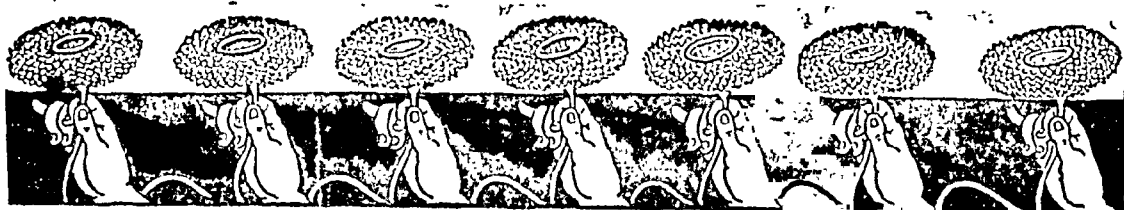
मुनिश्री ने उत्तर दिया :—"वैसे संसार को त्याग कर संयम मार्ग पर चलना जितना कठिन और मुश्किल है उतना बीकानेर का रास्ता नहीं है। उसकी विषमता और भयंकरता का ऐसा विवरण दिया जाता है कि उसे सुन कर कोई वहाँ जाने की हिम्मत नहीं करते थे; मगर रास्ते में बनजारे, वेपारी आदि का आवागमन चालु ही है और अब सच्चे सन्तों के लिये भी वह मार्ग सरल सा हो गया है।"

वास्तव में ऐसा ही होता है कि जब तक एक बार चला न जाये तब तक रास्ता भयंकर और बीहड़ सा लगता है; मगर रोज़ जाने आनेवालों के लिये तो सरल सा ही होता है।

मुनिश्री को पुनः नागौर आये देख महाराज बख्तावरसिंह उनके दर्शन करने पधारे और उनके प्रवचन का उन्होंने फिर से लाभ लिया। मुनिश्री के प्रवचनों का लाभ अन्य लोगों ने भी अच्छी तरह लिया।

यों आनन्द के साथ धर्म ध्यान के ठाठ-बाट के साथ नागौर में दिन बीत रहे थे कि एक दिन अचानक जोधपुर से श्रीसंघ के कुछ श्रावक लोग आये। उनके साथ नागौर के भी लोग थे। वन्दना करके मुनिश्री के पास वे बैठ गये। उनके चेहरे पर कुछ उलझन सी छाई थी।

"दया पालो!" कहकर महाराजश्री ने उनकी ओर प्रश्न सूचक नज़र से देखा।

थोड़ी देर सभी चुप रहे। कुछ कहना तो चाहते थे; मगर कौन कहे? अन्त में एक ने कहा :—"मुनिवर्य! आपने सुना होगा कि सोजत में चैत्र शुक्ल पंचमी को पूज्य पदवी दान का समारोह मनाया गया और वहाँ के लोगों ने मुनिश्री रघुनाथमलजी म० को आचार्य पद दे दिया है।"

वह आगे न बोल सका। मुनिश्री ने बड़ी शांति से सुना। पास में श्री कुशलचन्दजी म० थे वे भी सुन कर चकित हो गये।

"मगर हम से सोजतवालों ने पूछा तक भी नहीं हैं; यों चारों गाँव के, जोधपुर, मेड़ता, नागौर और सोजत के संघों की एक राय हुए बिना उन्हें आचार्य पद दे देना यह मनमानी है।" नागौरवाले श्रीसंघ के भाइयों में से किसी ने कहा।

यतियों ने उनके आगमन के साथ ही अपनी तन्त्र-मन्त्र विद्यायें आजमानी शुरू कीं; किन्तु उनको लेने के देने पड़ गये। सामान्य लोगों पर जो विद्या चल सकती थी वे ऐसे त्यागी चारित्र्यवान सन्तों का क्या कर सकती थीं! अतः हाल यह होता था कि वे शक्तियां वापस लौट कर उनको ही कष्ट देती थीं। यह बात पहले तो नहीं; किन्तु बाद में प्रगट होने लगी।

इसका एक परिणाम यह आया कि उन यति भक्तों में भी मुनिश्री जयमलजी के संयमबल एवं तपबल के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी।

बहुत से यतियों ने उनसे चर्चा करनी चाही ताकि उन्हें शास्त्रार्थ करके हरा दिया जा सके; मगर मुनिश्री जयमलजी की प्रखर बुद्धि के आगे उनका एक भी तर्क नहीं ठहर सकता था। बीकानेर के यतियों को यह अनुभव हो चुका था कि मुनिश्री जयमलजी का बढ़ता प्रभाव रोकने की उनमें कोई शक्ति नहीं है।

मुनिश्री ने भी अपने प्रवचनों में कभी यतियों की निंदा या उनके द्वारा नौ दिन बीकानेर बाहर रहने का उल्लेख नहीं किया। उनके प्रवचनों में तो यह गूंजता था :—"यह तो शासन का मार्ग है। अनेक आत्मायें अपने प्राणों को इस मार्ग पर उत्सर्ग कर चुकी हैं तो हमें इन परिषहों को हँसते-हँसते सहना चाहिये।

"साधु संयम लेता है; सांसारिक सारी बातों को त्याग कर आत्म कल्याण करने के लिये वह आगे बढ़ता है। उसे लोक जीवन में जो विषमता आई है उसे दूर करनी है। यदि वह इन बातों की परवाह करेगा तो संसार के आगे क्या आदर्श उपस्थित कर सकेगा?

"जब घर छोड़ा, परिवार छोड़ा, धन्धा छोड़ा, फिर 'यह मेरा—यह तेरा' सच्चा साधु नहीं करता। उसके लिये तो समस्त आत्मायें 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' से अपनी आत्मा के समान होती हैं।

"धन उपार्जन करना था तो घर में बैठ व्यापार ही करते। फिर जिन शासन का वेश क्यों धारण करके बैठना चाहिये। परिग्रह त्याग करके निकले और उपाश्रय-मठ की गद्दी आदि की ममता बन्ध गई तो फिर संसारी और वैरागी में अन्तर क्या रहा?
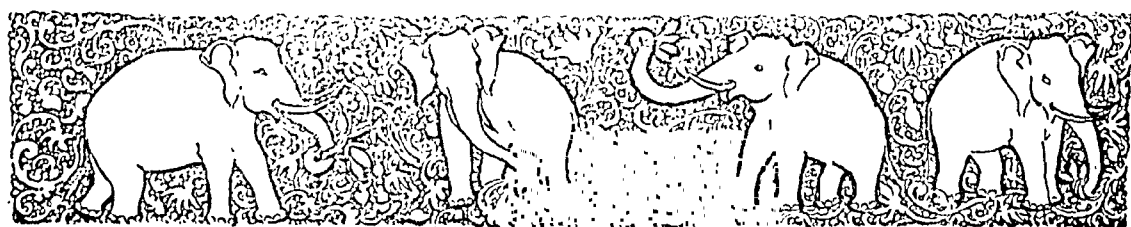
यही सुझाव है कि अभी शांति रखें और जोधपुर में सभी विचार कर जो कुछ भी करें, एक मन से करें।" मुनिश्री ने स्पष्ट कहा।

जोधपुर के आये भाई और नागौर के संघवाले भाई वन्दना कर उठ कर चल दिये। धीरे धीरे यह समाचार फैल गया कि "रघुनाथजी ने अपने आप आचार्य पद ले लिया है, सोजतवालों ने उन्हें पाट पर हम से विना पूछे विठा दिया है। इसका विरोध होना चाहिये।"

उस रात को मुनिश्री जयमलजी और मुनिश्री कुशलचन्दजी दोनों बड़ी देर तक वात कर रहे थे। यह निर्णय मुनिश्री कुशलचन्दजी को भी पसन्द नहीं आया था। उनका स्पष्ट विचार यह था कि पूज्यश्री अपने उत्तराधिकारी के रूप में मुनिश्री जयमलजी को ही चाहते थे। चारों गाँव के श्रीसंघ में अधिकांश लोग भी मुनिश्री जयमलजी को चाहते थे; मगर सोजत में जाकर ऐसा प्रसंग हो गया। मुनिश्री कुशलचन्दजी को भी यह उचित नहीं लगा कि आचार्यश्री भूधरजी यदि रघुनाथमलजी को उत्तराधिकारी घोषित करते तो उनके कालधर्म प्राप्त होने के वाद अधिक से अधिक चातुर्मास समाप्ति तक रघुनाथजी आचार्य वन जाते; मगर यह स्पष्ट था कि आचार्यश्री ने ऐसा कोई फरमान नहीं प्रगट किया था। अतः आगे जो कोई "आचार्य पद" विधि होने की हो तो, वह चारों गाँव के वड़े श्रीसंघ और संघ के चारों विभाग की राय से ही होनी चाहिये।

मुनिश्री जयमलजी के विचार इस विषय में अति स्पष्ट थे। उनका तो इतना ही कहना था कि "मुझको लेकर संघ में विवाद न वढ़ना चाहिये। आचार्यश्री मुझे योग्य समझते तो वे अवश्य मेरा नाम जाहिर करते। जैन संघ और शासन के विनय का आदर्श तो यही है कि दीक्षा में जो वड़ा, वह वड़ा ही है और इस दृष्टि से मैं मुनिश्री रघुनाथजी के प्रति कोई ऐसी वात नहीं कहना चाहता जिससे जैन संयम मार्ग के इस विनय में भंग हो।"

किन्तु मुनिश्री कुशलचन्दजी का मन नहीं मानता था। उनका कहना था कि "सव को पूछ कर करते!"

मुनिश्री के प्रवचनों का महाराजा पर भी ऐसा प्रभाव पड़ा है ऐसा जान कर लोग आश्चर्य करने लगे। उनके प्रवचनों में हज़ारों की संख्या में लोग खिंचे हुए चले आने लगे। वे उनके प्रवचनों में केवल सारगर्भित सुन्दर बातें ही पाते थे।

शास्त्रों की बातें सुन कर, उनकी सत्यता का प्रमाण जान कर; धर्म-प्रेमी लोग प्रभावित होते थे तो दृष्टांत आदि सुन कर सामान्य जन समुदाय प्रसन्न होता था।
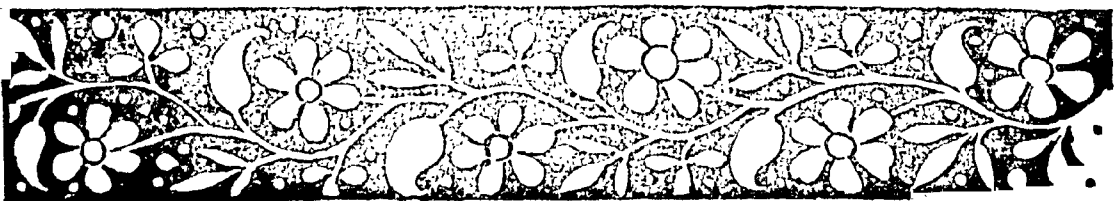
भद्र प्रकृति के होने से उन्हें यह विचार न आया कि इस प्रश्न के पीछे, भविष्य में कोई विवाद खड़ा होगा।

मगर आचार्य पद महोत्सव के बाद ही विवाद शुरू हो गया। नागौर, जोधपुर, मेड़ता के श्री संघों ने विरोध किया कि उनसे पूछा न गया और ऐसी अवस्था में अन्य बड़े सन्तों की सलाह लेनी चाहिये वह भी न ली गई थी। यह विरोध इतना उग्र हो चला था कि जब मुनिश्री रघुनाथमलजी पूज्य आचार्य पद ग्रहण कर जोधपुर पहुँचे तो वहाँ के लोगों में से बहुतसों ने स्पष्टतः उन्हें आचार्य मानने से इनकार कर दिया। इधर मुनिश्री जयमलजी और मुनिश्री कुशलचन्दजी भी सन्तों के साथ जोधपुर आ रहे थे; अतः वातावरण में और भी उग्रता आ गई थी।

मुनिश्री जयमलजी और मुनिश्री कुशलचन्दजी विहार करके वैशाखी दूज को सुरपुरा पहुँचे। रास्ते भर में उन्होंने पाया कि वातावरण विषम हो रहा है और यह उनकी साधु आत्मा के प्रतिकूल था। उनका तो हमेशा यही कहना था कि सन्त जहाँ पहुँचे वहाँ विवाद - विरोध शांत हो जाना चाहिये; मगर अब जो कुछ हो रहा था वह उसके विपरीत सा दीखता था।

सुरपुरा जोधपुर से दो कोश की दूरी पर था। मुनिश्री वहाँ पहुँचे कि जोधपुर की जनता उनके दर्शन करने वहाँ उमड़ पड़ी। दर्शन - वन्दन करके सभी बैठ गये और विहार के कुशल क्षेम के उपरांत सभी शान्ति से बैठे।

पश्चात् जोधपुर श्री संघ के बड़े लोगों ने उठ कर मुनिश्री जयमलजी म० सा० को निवेदन किया :—"हम लोगों पर उपकार करने आप जोधपुर पधार रहे हैं यह आपकी हमारी पर बड़ी कृपा है। आपके दर्शन आदि कर हम सचमुच ही धन्य हुए हैं और आपके द्वारा बीकानेर जैसे क्षेत्र में भी धर्म - ध्यान का मार्ग प्रशस्त हुआ है और सच्चे साधुमार्गीय जैन सन्तों के लिये वहाँ का क्षेत्र खुला है यह जान कर हमें बड़ा हर्ष हुआ है। आप ने वहाँ जाकर जो परिषह सहे, आठ - आठ दिन तक उपवास किये; फिर भी न डिगे और अन्त में बीकानेर में जो सच्चे जैन धर्म का डंका बजवाया; यह जान कर हमारे हृदय गद्गद्

४९

जय - आदर्श विनय
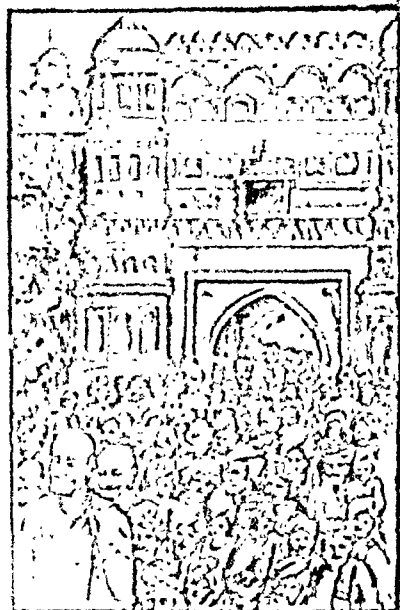
दूसरे दिन प्रातःकाल से राज-महल में जहाँ सन्त विराजे थे लोगों की भीड़ बढ़ने लगी। सभी को ज्ञात हो गया था कि आज मुनिश्री विहार करनेवाले थे।

एक मास से मुनिश्री ने सच्चे जैन धर्म का लोगों में सिंचन किया था और बहुत अधिक संख्या में लोगों ने सच्चे जैन धर्म को अपनाया था।* मुनिश्री के प्रवचन आदि से सभी पर दृढ़ता का रंग चढ़ा था और उसे स्थिर करने के लिये बहुतसों ने नित्य नियम एवं व्रत-त्याग के पच्चक्खाण किये थे।

प्रातःकाल प्रतिक्रमण पड़िलेहना आदि से निपट कर सभी सन्तों ने अपने शास्त्र-पात्र, वस्त्र और रजोहरण आदि सम्हाले। सन्तों का तो आदर्श होता है कि अपना बोझ आप उठा कर चलना जिसे अपने शरीर पर इस तरह बांध के वे चलते थे जैसे कहीं शांति के दूत चलते हों वैसा मालूम पड़ता था।

मुनिश्री और सन्तों को यह सन्तोष था कि उनका बीकानेर आना सफल हुआ कि यहाँ का बहुत बड़ा समुदाय जो सच्चा साधुमार्गीय जैन धर्म जानता नहीं था उससे उनका परिचय हुआ और इतना ही नहीं यह नया श्रावक संघ इतना सुदृढ़ हुआ कि इस क्षेत्र में हमेशा के लिये सच्चे जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार हो गया। साथ ही सच्चे साधुमार्गीय जैन सन्तों के लिये बीकानेर का क्षेत्र खुल गया।

विहार का समय हो गया। बीकानेर नरेश आये। उन्होंने हाथ जोड़ वन्दना करके कहा :—"अब पुनः कब दर्शन देंगे!"

---

* समकित ग्रहण करना।

उन्होंने बड़ी शांति और मधुर वाणी से कहा :—"आप जोधपुर श्री संघ के बड़े श्रावक हैं। आपको मेरे प्रति जो भक्ति है वह भी आपकी सभी सच्चे सन्तों के प्रति उत्कट श्रद्धा को प्रकट करती है; किन्तु इसे पक्षपात के रूप में आप बढ़ायेंगे तो यह जिन शासन के विरुद्ध में होगा। जिन शासन की रीति-नीति से आप सुपरिचित हैं। उसके साधु-विनय को भी आप अच्छी तरह जानते हैं। पूज्यश्री भूधरजी म० सा० के बाद हम सभी सन्तों में मुनि रघुनाथजी दीक्षा-संयम में बड़े हैं, हम छोटे हैं और जिन शासन के विनय से छोटे ही रहेंगे। हम दोनों ही एक ही साधुमार्गी जैन सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं। इसलिये वे आचार्य हो गये और लोगों ने मान लिया सो ठीक ही है। इसमें बुराई क्या है? इसलिये आप लोगों को ऐसे वचन शोभा नहीं देते। मेरे प्रति आपकी भक्ति और श्रद्धा का अर्थ यह तो नहीं कि जो बड़े हैं, वे छोटे हो जाँय? विवेक रखना श्रावकों का आवश्यक गुण है। जैन धर्म की शोभा विनय है तो कर्तव्य पालन और आचरण का आधार विवेक है। फिर आप लोगों के हृदय में मेरी श्रद्धा के कारण विनय का उल्लंघन न होना चाहिये; साथ ही मेरे प्रति भक्ति के कारण बड़े सन्तों के प्रति अविवेक की भावना भी न होनी चाहिये—न ही आपको वह शोभा देती है।"

फिर भी कुछ और खड़े हुए और उन्होंने कहा :—"आप जो फरमा रहे हैं वह बिल्कुल ठीक है और सामान्य परिस्थिति में जिन शासन का जो विनय-विवेक है उसे हम समझ भी सकते हैं; किन्तु यह तो पूज्य आचार्य पद और संघ-शासन भार की योग्यता वहन करने की क्षमता का प्रश्न है। अतः हम आपको ही आचार्य पद के योग्य मानते हैं और आप उसे निभाने के योग्य भी हैं। अतः आप को छोड़ कर हम किसी और को आचार्य नहीं मानना चाहते।"

मुनिश्री ने उन्हें समझाते हुए कहा :—"उनमें क्या कमी है जो आप आचार्य मानना नहीं चाहते? हम एक ही गुरु के शिष्य हैं और हम सभी एक हैं। ज्ञान-संयम में वे हम सब से बड़े हैं। वे आचार्य बने और हम से न पूछा एवं आप की भी सहानुभूति प्राप्त न की तो वह अब हो जायेगा। मगर मैं क्लेश फैलाना नहीं चाहता; न मेरे लिये

यह सुन कर कुछ वृद्ध और पुराने अनुभवी श्रावक खड़े हो गये। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा के साथ कहा :—"पूज्यश्री! आप ने जो कुछ कहा यह बड़े महाराजश्री को ध्यान में लाकर कहा। मगर आप ने हम श्री संघवालों की अर्जी पर ध्यान नहीं दिया है। आप को पद का मोह नहीं है यह सभी जान चुके हैं; मगर यहाँ पर तो "स्वयं आचार्य बनने की" जो प्रणालिका चल पड़ी है उसका विरोध है।"

कुछ लोगों ने कहा :—"अधिक श्री संघों की श्रद्धा भरी दृष्टि में आप ही आचार्य पद के योग्य हैं और उनकी उपेक्षा करना भी उचित नहीं है।"

बहुत से लोगों ने समर्थन करते कहा :—"हम आप को ही आचार्य के रूप में चाहते हैं।"

मुनिश्री ने तब गम्भीर स्वर में कहा :—"जहाँ सन्त हों वहाँ शांति होती है। जहाँ सन्त हों वहाँ समाधान होता है, जहाँ सन्त हो वहाँ सभी श्री संघ एक ही भाव से श्रद्धा भक्ति रखते हैं। आप क्या यही सन्तों से आशा नहीं रखते?"

सब शांति से उन्हें सुनने लगे।

मुनिश्री ने आगे कहा :—"रघुनाथजी मेरे बड़े गुरु भाई हैं। घर में भी आप बड़ों का मान रखते हैं तो हम कैसे उनकी उपेक्षा कर सकते हैं। वे आचार्य बने हैं तो सभी उनकी ही आज्ञा मानें। मैं नहीं चाहता कि आचार्य पद के लिये सोजत व अन्य गाँवों के श्री संघ एवं जोधपुर के व अन्य श्री संघ आपस में तनातनी करें। मुझे यदि आप मानते हैं तो उन्हें ही पूज्य मानें और खींचातानी न करें यही मेरा आपको आदेश है। आप मेरा आदेश नहीं मानेंगे तब फिर आप से मेरा सम्बन्ध नहीं रहेगा और मैं जोधपुर फरसने का नाम भी नहीं लूँगा।"

यह सुन कर सभी स्तब्ध से हो गये। वे तो उन्हें पूज्य बनाने के लिये बड़ी आशा से आये थे; मगर मुनिश्री ने तो ऐसा दृढ़ निर्णय दे दिया था कि वे वहाँ पधारेंगे ही नहीं। वे बड़े उदास हो गये। उनके मन में निराशा की लहर दौड़ गई। सभी लोग
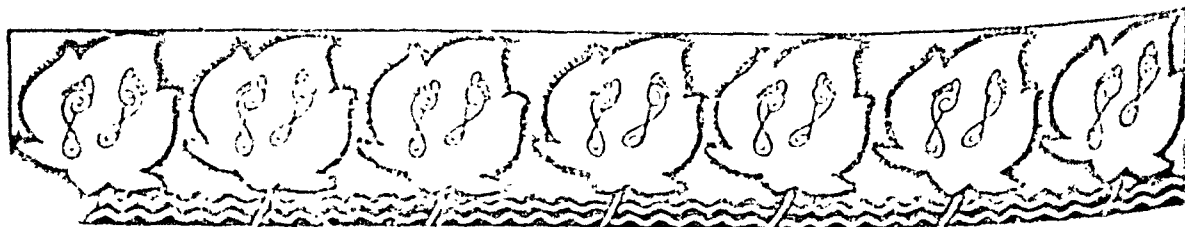
यही सन्देश देकर चलते रहते हैं। हम भी चल रहे हैं, समय भी चल रहा है, संसार चल रहा है—कोई किसी के लिये ठहरता नहीं है। आया उसे जाना है और जानेवाले के साथ सचमुच ही प्रेम-भाव है, आदर है तो वे जो अच्छी बातें बता जाते हैं उनका पालन करना चाहिये।

"जीवन में आसक्ति ही मोह पैदा करती है; किन्तु जब यह आसक्ति सच्चे धर्म पर लगती है तो उससे आत्मा का उद्धार होता है। संसार में सब कुछ न कुछ संग्रह करते हैं। जहाँ कचड़ा इकट्ठा होता है वहाँ हम देखते हैं कि गन्दगी ही बढ़ती जाती है और उसके अनुसार दुर्गंध, कीटाणु आदि बढ़ते हैं। संसार की वासनायें वैसी हैं; अतः उनसे दूर रहना चाहिये। मगर कचड़ा आदि भी उपयोग में लाया जाय — जैसे खेत में खाद आदि के लिये प्रयुक्त हो तो उससे बढ़िया खेती हो सकती है। वैसे वासनामय संसार में दुर्गंध से भरे देह का सदुपयोग धर्माचरण में किया जाय तो जीवन में उत्तम गुणों की खेती अच्छी तरह हो सकती है। इसलिये निंदा स्तुति से दूर रह कर जो सच्चा निर्ग्रंथ धर्म है, जहाँ सभी आत्मायें समान मानी गई हैं और उनकी उन्नति के लिये आदर्श प्रशस्त किया गया है उसको अच्छी तरह समझ कर, हृदय में अच्छी तरह स्थापित करना चाहिये ताकि सच्चे देव गुरु और धर्म के सत्य-मार्ग पर जीवन अग्रसर हो। आप सभी उन बातों पर दृढ़ रहेंगे ऐसी आशा है।

रखे जाते थे उसको मिटाना सा होता था। स्वयं आचार्य बनने की प्रणालिका ठीक नहीं थी तो एक आचार्य बने, उसके विरोध में एक और सम्प्रदाय खड़ी करना भी भविष्य के लिये विघटन पैदा करनेवाली बात थी। इसके भी अपने बुरे परिणाम आ सकते थे। उनकी इच्छा इस तरह विघटन की प्रवृति को कभी उत्तेजित करने की न थी। पूज्यश्री भूधरजी संघ एकता में जितना मानते थे, उनके प्रिय शिष्य के रूप में ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये जिससे अन्य लोगों को कहने का मौका मिले। पूज्यश्री के शब्द अब भी उनके कानों में गूँजते थे :--"जयमुनि! ऐसा अवसर आये तो शासन की एकता के लिये सब कुछ कर छूटना तुम वैसा करोगे ऐसा मुझे विश्वास है।" और वही नितांत सत्य था।

मुनिश्री का विचार द्वंद चल रहा था। आँखें नीची किये वे सोचे जा रहे थे और बड़ी आशा लगाये श्रावक वृंद उनके विचार युक्त वदन को देख रहा था।

मुनिश्री ने अपना सिर ऊँचा उठा कर श्रावकों को देखा और मुनिश्री कुशलचन्दजी से इतना बोले :—"जब एक आचार्य बिना आचार्य जाहिर किये कालधर्म प्राप्त हो तो विचार विमर्श करना चाहिये यह बात मैं मानता हूँ। विचार - विमर्श श्रावक - श्राविका और साधु - साध्वियों के बीच होना चाहिये यह भी आवश्यक है। जो श्रावक - श्राविका उन्हें मानते थे उन्होंने उन्हें आचार्य पद दे दिया; वह ठीक ही किया। मुझे माननेवाले श्रावक-श्राविकाओं को मेरा निर्णय मान्य होना चाहिये बराबर है न....!

सभी ने स्वीकारात्मक रूप से हाँ कहा।

मुनिश्री जयमलजी ने बड़े सुलझे ढँग से कहा :—"यदि मुझसे पूछते तो मैं उन्हीं को पूज्य बनाने की बात करता और वैसा ही हुआ है फिर हम सब को इतना क्यों लगना चाहिये? यह तो सीधी सी बात है कि अनेक समान सन्त हों तो भी आचार्य पद के लिये तो दीक्षा में बड़े ही योग्य गिने जाते हैं, यही जिन शासन है और मैं उससे विपरीत कैसे जा सकता हूँ।"

अगले गाँव तक सन्तों के आने के समाचार पहुँच गये थे और जैन-अजैन सभी मुनिश्री के स्वागतार्थ सामने आये। उन लोगों में सच्चे धर्म की जागृति की लहर दौड़ गई थी जिसे देख कर सन्त-आत्मा प्रसन्न होती थी।

मुनिश्री अक्सर एक उदाहरण देते थे :—"राजस्थान और इसमें भी थली के प्रदेश में कुएँ बहुत ही गहरे खोदने पड़ते हैं; मगर एक बार गहराई में उतर कर जब पानी मिलता है तो उसका स्रोत अखूट ही रहता है; वह कभी बन्ध नहीं होता। वैसा ही रेगिस्तान के इन प्रदेशों के लोगों का है। उनमें संस्कार का सींचन करने को काफी गहराई में उतर कर परिश्रम करना पड़ता है; मगर एक बार उनमें धर्म का स्रोत फूट पड़ा तो वह बन्ध नहीं होगा।" उनकी यह बात भविष्य में इतनी सच सिद्ध हुई कि बीकानेर राज्य में साधुमार्गीय जैन धर्म का प्रचार बराबर बना रहा।

लोगों में तो धर्म प्रचार होता ही था; किन्तु सविशेष के युवानों में ऐसा आकर्षण उनका रहता था कि वे सब काम-काज से निवृत्त होकर उनका संग छोड़ना नहीं चाहते थे।

श्रावकों से तो मैं ऐसी आशा नहीं करता। मुझे तो ऐसा लगता है कि आप श्रावकों में कोई वहम आ गया है और आप हम दोनों को अलग मान रहे हैं और हमारे बीच नाहक सन्देह का वातावरण पैदा कर रहे हैं; अतः जब तक आप वहाँ पूर्ण शांति रखेंगे ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता और मेरा मन आश्वस्त नहीं होता तब तक मैं जोधपुर में पैर नहीं धरूँगा।"

उनका निर्णय पक्का होता था और वे दृढ़ मनोबल के थे ऐसा सभी जानते थे; अतः श्रावकों ने कहा :—"आपके समझाने से हम जिन शासन का आदर्श विनय समझ गये हैं। हमने जो हठ या दुराग्रह किया सो हमारी भूल हुई है; आप उसे क्षमा कर दें और अपने चरण-कमल से हमारे नगर को पावन करें।"

मुनिश्री ने फिर कहा :—"एक बार और सोच लें।"

श्रावकों ने कहा :—"हमने विचार कर लिया है। आप कहते हैं वैसे आचार्य रघुनाथजी रहेंगे। अब आप पधार कर शांति बढ़ायें!"

मुनिश्री ने कहा :—"आप के आश्वासन पर ही मेरा विहार होगा और कल का दिवस जिन शासन में यादगार बनके रह जाये ऐसा आप को करके दिखाना होगा।"

"आप जैसा चाहते हैं, वैसा ही होगा; मगर आप पधारें और विराजित पूज्य आचार्यश्री के दर्शन करें ऐसी हमारी बारंबार विनती है।" श्रावकों ने कहा।

मुनिश्री जयमलजी ने स्वीकृति दे दी। सभी के निराश मन में आशा की लहर दौड़ गई। सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए और बड़ी भक्ति से उनको बारंबार वन्दना-नमस्कार कर, बारंबार विनती करने लगे। जब उन्हें पक्का हो गया कि मुनिश्री जोधपुर पधारेंगे तभी वे विदा हुए।
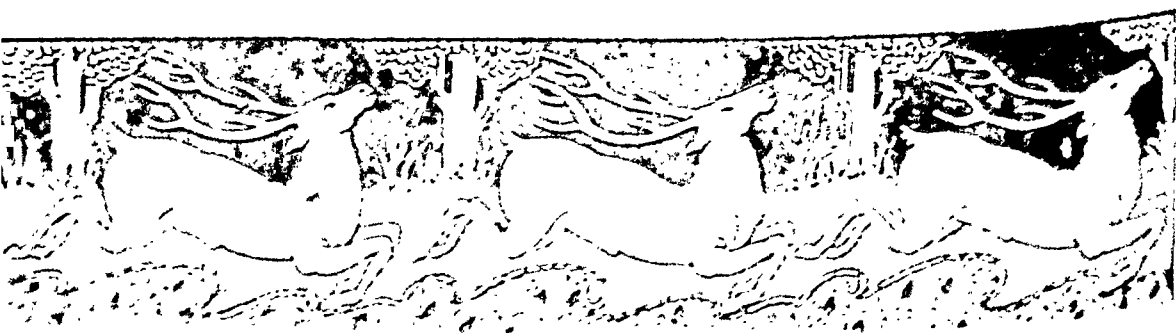
उन गाँवों में उदरामसर, देशनोक आदि थे ; अतः सन्तों ने विहार किया और वे उदरामसर आये। वहाँ पर भी लोगों का वही हाल था कि जितना समय बचता था, मिलता था ; वे सन्तों की सेवा में बिताते थे।

मुनिश्री जयमलजी में कुछ ऐसी आकर्षण शक्ति थी कि एक बार उनसे मिलकर सभी उनके हो जाते थे। यह उनकी आत्मीयता थी।

वे तो सभी को स्पष्ट कहते थे कि :—"धर्म तो जो आचरण करे उसका है। भगवान महावीर के वे सारे अनुयायी हैं जो उनके आदर्शों पर चलते हैं। चाहे फिर वह किसी भी जाति का क्यों न हो! किसी भी वर्ण का क्यों न हो! जैनों का इतिहास यह बोलता है कि इसमें चारों वर्ण के लोग आये। ब्राह्मण क्या, क्षत्रिय क्या, वैश्य क्या, शुद्र क्या! सभी ने इसे अपनाया और सभी जैन बने....!"

उनका यह सन्देश और धर्म की सचोट बातें सुन कर कई अन्यान्य लोग भी जैनत्व को स्वीकार करने लगे।

देशनोक से लोग पहले ही उदरामसर विनती करने पहुँच गये थे और उन्होंने बड़ी भाव भरी विनती की। मुनिश्री उदरामसर से विहार कर देशनोक पहुँचे।

यहां पर अक्सर वे ही ओसवाल कुटुम्ब बसे हुए थे जो जोधपुर से बीकानेर चले थे और बीकानेर राज्य की सेवाओं के उपलक्ष में जिन्हें जागीरें और गांव मिले थे। देशनोक भी ऐसा ही बड़ा मण्डी-व्यापार का क्षेत्र था।

यहां पर भी उन्होंने अनेकों को सच्चे साधु मार्गीय जैन धर्म की श्रद्धा पर दृढ़ किया। सन्तों के प्रभाव की महिमा सुगन्ध की तरह आगे-आगे ही पहुँच जाती थी और लोग उनके आगमन की राह देखते थे।

लोगों का अनोखा ठाठ था। मुनिश्री को बड़ी श्रद्धा और भक्ति से लोगों ने [illegible] ठहरने का आग्रह किया। यहाँ पर भी धर्म-ध्यान का ठाठ रहा और सन्तों महात्माओं से अनेक उपकार बने।
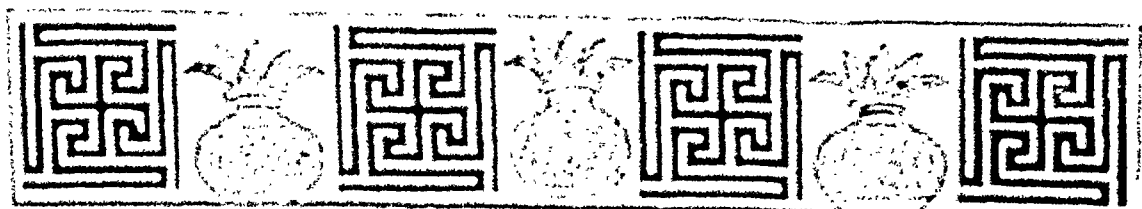
बीकानेर के लोगों की श्रद्धा की बात का उदाहरण देकर वे गाँववालों को दृढ़-धर्मी बनने पर ज़ोर देते।

वहाँ से विहार कर सन्त पुनः भदाणे आये। इस बार सभी ने सन्तों का पूरा ख़याल रखा और अधिक से अधिक लाभ लिया। भदाणा के लोग तो अपने हृदय का दर्द एक ही बात में रोते थे कि "हमने आप जैसे सन्तों के लिये भी दरवाज़े बन्द कर दिये थे।"

मुनिश्री उनसे हँस कर कहते :—"चलो, यह तो अच्छा ही हुआ है कि अब आप लोगों के घर के द्वार सच्चे साधुओं के लिये और आत्मा के द्वार सच्चे धर्म के लिये हमेशा के लिये खुल गये हैं।"

भदाणे के लोग मुनिश्री को पहुँचाने नागौर तक आये तो वहाँ के लोगों के आनन्द एवं आश्चर्य का पार न रहा।

* * *

मुनिश्री रघुनाथजी के दिल में मुनिश्री जयमलजी के इस त्याग के लिये प्रशंसा के उच्चतम भाव भर गये। आचार्य बनने के लिये प्रत्येक सन्त की मनीषा होती है। तदुपरांत जिस सन्त के द्वारा कष्टदायक क्षेत्रों को स्पर्शना हुई हो, संयम साधना के लिये जिनका जीवन हमेशा अग्रसर रहकर अन्यों का आदर्श बना हो ऐसे सन्त, आचार्य बनने की अभिलाषा रखें वह सहज ही है। शासन के नेतृत्व को सम्हालना बड़ा गौरव है, यह सभी जानते हैं। फिर भी मुनिश्री जयमलजी जैसे विरल ही होते हैं जो संघ एकता के लिये, जिन शासन की शोभा बढ़ानेवाली उस पद-लालसा को त्याग देते हैं। मुनिश्री रघुनाथजी ने बड़ी श्रद्धा के साथ अनुभव किया कि आचार्य पद के मोह का त्याग मुनिश्री जयमलजी के संयमी जीवन की ज्वलन्त घटना थी जिसने अनायास ही उनको समाज की दृष्टि में और भी बढ़ा दिया था। वे समाज के और भी श्रद्धा के भाजन बने। जिन-जिन लोगों ने सुरपुरा की घटना सुनी उन्होंने मुनिश्री जयमलजी की बड़ी श्रद्धा से प्रशंसा ही की कि "इस काल में ऐसा पद-मोह का त्याग अपवाद ही है।"

वे सन्त अपने सन्त परिवार के साथ पधार रहे थे।

मुनिश्री के आगमन का समाचार सुन कर लोगों को अपार आनन्द हुआ और वे जोधपुर के बाहर से ही उन्हें लिवा लाने बड़ी संख्या में बड़े उत्साह से पहुँचे। जोधपुर नरेश को भी यह समाचार मिला तो वे भी प्रसन्न हुए। राज-दरबार के प्रमुख कर्मचारी गण भी अगुवानी में गये।

जयजयकार और मंगल गीतों से अक्षय तृतीया का प्रातःकाल गूँज उठा। इस बार मुनिश्री जयमलजी के साथ उनके नव-दीक्षित सात शिष्य भी थे। नये-नये सन्तों को लोग आपस में पहचान कर रहे थे। विशाल जलूस के आगे सन्त गण चल रहे थे।

जब सभी स्थानक से थोड़े दूर रहे तो लोगों ने देखा पूज्यश्री रघुनाथजी स्थानक से निकल कर सन्मुख आ रहे थे। सभी आनन्द और आश्चर्य से यह अपूर्व घटना देख कर विस्मित से हो रहे थे।

बीकानेर के लोगों की श्रद्धा की बात का उदाहरण देकर वे गाँववालों को दृढ़-धर्मी बनने पर ज़ोर देते।

वहाँ से विहार कर सन्त पुनः भदाणे आये। इस बार सभी ने सन्तों का पूरा ख्याल रखा और अधिक से अधिक लाभ लिया। भदाणा के लोग तो अपने हृदय का दर्द एक ही बात में रोते थे कि "हमने आप जैसे सन्तों के लिये भी दरवाज़े बन्ध कर दियें थे।"

मुनिश्री उनसे हँस कर कहते :—"चलो, यह तो अच्छा ही हुआ है कि अब आप लोगों के घर के द्वार सच्चे साधुओं के लिये और आत्मा के द्वार सच्चे धर्म के लिये हमेशा के लिये खुल गये हैं।"

भदाणे के लोग मुनिश्री को पहुँचाने नागौर तक आये तो वहाँ के लोगों के आनन्द एवं आश्चर्य का पार न रहा।

*　　　　*　　　　*

सन्तों का पुनः मिलन हुआ। छोटे सन्तों ने बड़ों को वन्दना और वैयावृत्य की। नागौर के श्रावक गण भी इकट्ठे हुए। सभी उनसे बीकानेर के अनुभव सुनना चाहते थे। मुनिश्री ने बीकानेर क्षेत्र के अनुभव और सच्चे जैन धर्म का मार्ग जिस प्रकार प्रशस्त हुआ उसका विवरण कह सुनाया। बीकानेर के बाहर आठ-आठ दिन तक उनको उपवास करने पड़े आदि सारे अनुभव सुन कर सभी चकित हुए।

नागौर में हर्ष का पारावार न रहा। विरोधी लोगों को यह जान कर थोड़ा सा क्लेश हुआ कि मुनिश्री जयमलजी बीकानेर जाकर अनेकों को सच्ची श्रद्धा दिलाके आये हैं और पूरे मार्ग में अन्यान्य लोग भी उनके भक्त बन चुके हैं एवं बीकानेर के विहार का मार्ग खुल गया है।

मुनिश्री से किसी ने पूछा :—"बीकानेर का मार्ग तो सुना है कि बहुत बीहड़ और भयंकर है। फिर आप वहाँ तक कैसे पहुँचे?"
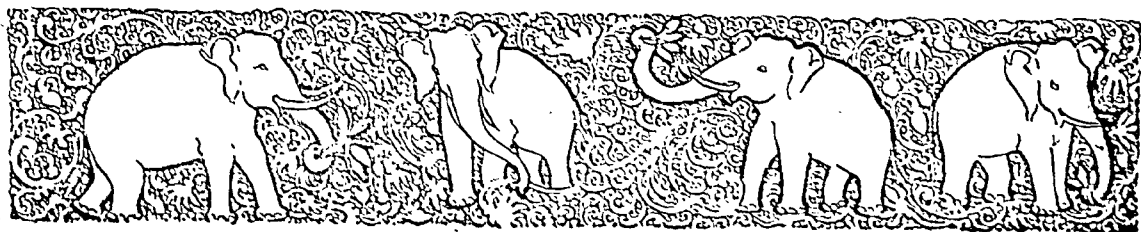
में नीचे बैठे मुनिश्री जयमलजी को बड़े आग्रह से बुला कर पाट पर अपने बराबर बिठाया। इर्यापथिक आदि क्रिया करके दोनों सन्त स्थिर बैठे। श्रावक - श्राविकाओं ने वन्दना की और वे सभी अपने स्थान पर बैठ गये।

सर्वत्र शांति छा गई।

पूज्यश्री रघुनाथजी ने मुनिश्री को प्रासंगिक कहने के लिये कहा। उन्होंने उनको वन्दना करके नवकार - मन्त्र के उच्चारण के साथ बड़े मधुर स्वर में निम्नः पद्य गाने प्रारम्भ किये :—

अरिहन्त सिद्ध ने आयरिया रे लाल,
उवज्झाया साधु सुद्ध रे सौभागी।
गुणवन्ता रा गुण कियां रे लाल,
वाधे अधिक बुद्ध रे सौभागी॥

उनके साथ सहस्रों कण्ठों ने उसको दोहराया। वातावरण में गुण - गान कीर्तन का अपूर्व भाव छा गया और प्रति - घोष हुआ :—

अरिहन्त सिद्ध ने आयरिया रे लाल,
उवज्झाया साधु सुद्ध रे सौभागी....।
गुणवन्तारा गुण कियां रे लाल,
वाधे अधिक बुद्ध रे सौभागी....॥

मुनिश्री जयमलजी ने आगे पूज्य रघुनाथजी को वन्दना करते हुए पद उच्चारा :—

पूज्य रघुपतिजी दीपता रे लाल,
तारण तरण जहाज रे सौभागी।

आचार्य पद जितना बड़ा धर्म शासन का कार्य हो फिर भी सब को न पूछना यह वास्तव में अखरनेवाली बात थी। जोधपुर के भाइयों में से एक ने कहा :—"आप बीकानेर गये थे, कुशलचन्दजी स्वामी यहाँ थे; आपकी राह देखते, सब से पूछते; क्या यह उचित न था?"

उचित तो वही होता है! सभी के दिल का प्रश्न जोधपुर के भाई कर रहे थे। मुनिश्री की आँखें उनके मनोभाव जानने का प्रयत्न कर रही थीं।

नागौर के बन्धुओं ने कहा :—"यह तो सरासर अन्याय है, हम खुलम खुला विरोध करेंगे। जोधपुर के लोग हमारे साथ हैं; हम यह मनमानी न होने देंगे।"

जोधपुर के भाइयों ने कहा :—"हम तो आप को ही योग्य मानते हैं और आप को आचार्य बनायेंगे!"

मुनिश्री ने कहा :—"आप ऐसा नहीं करेंगे। मैं मुनिश्री रघुनाथजी से मिलूँगा, तब तक आप कुछ भी नहीं करेंगे। हम तो दूर-दूर के लोगों को एक बनने का उपदेश देते हैं; मगर अवसर आने पर इस तरह आप हमारे लिये लड़ाई-झगड़ा शुरू कर देंगे तो हमारी बात को कौन मानेगा?"

"सुना है, मुनिश्री रघुनाथमलजी ने सोजत से जोधपुर के लिये विहार कर दिया है और वे वहाँ के श्रावकों को समझाने को पधारनेवाले हैं।" किसी ने कहा।

"तो हमारा भी विहार यहाँ से जोधपुर की ओर हो यही अच्छा है।" मुनिश्री ने कहा।

"मगर जोधपुर में लोग न मानेंगे। उनका पूरा झुकाव आपकी ओर है।" जोधपुर के भाई ने कहा।

"जो कुछ भी हो; मगर मेरी इच्छा नहीं है कि मुनिश्री रघुनाथजी से मिले बिना मैं कुछ कहूँ। हमारे पूज्य आचार्य और गुरुदेव भूधरजी म० सा० हमेशा संघ एकता बनाये रखने में मानते थे। हम भी गाँव-गाँव में यही प्रचार करते रहते हैं; फिर हमें ही लोग समस्या को सुलझाने के स्थान पर उलझाते रहे यह कहाँ से अच्छा लगेगा? मेरा तो

"उनके दर्शन से भक्त कवि-हृदय में जो भाव उठते हैं वे ही अभी गाथाओं के रूप में आपके सामने आये और आप सभी ने भी भाव विभोर होकर उसे गाकर गुँजाया।

"जो गुणवन्त होते हैं उनके गुण हम गाते तो हैं; मगर मानव की बोली कभी भी उसे पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सकती। जोधपुर नगर में हम सभी सन्तों का बार बार आना हुआ है। तीन वर्ष पूर्व मेरा चातुर्मास था, उसके बाद पूज्य रघुनाथजी का और गत वर्ष ही छोटे किन्तु बड़े पंडित से कुशलचन्दजी का चातुर्मास हुआ था। पुनः अभी तीन मास पूर्व हम तीनों का जोधपुर में मिलन हुआ और यह जोधपुर संघ का अहोभाग्य है कि आज पुनः हम सब का यहीं मिलन हो रहा है। उसमें भी पूज्यश्री रघुनाथजी म० सा० के गुणों के बारे में मैं क्या कह सकता हूँ? उनमें क्या-क्या विशेषतायें हैं, इसका आप लोगों को परिचय है उससे अधिक हम सन्त गण जानते हैं। फिर भी मैं इतना ही कहूँगा कि उन्होंने हमारे पर जो उपकार किया है इसका वर्णन शब्दों से कभी नहीं होगा। हमारे पूज्य भूधरजी म० सा० के सन्त सतियों की आत्मायें उन्हें साधुवाद दे उतना कम है।

ऐसे आचार्य यहाँ पर शोभायमान हो रहे हैं जो स्वयं तो आत्मा को तारनेवाले हैं ही, अनेकों को तिरानेवालों जहाज के समान हैं। आप अपने हृदय से पूछेंगे तो वास्तव में आप भी मेरी बात से सहमत होंगे और मैं आप को उनके उपकार के बारे में कहूँगा तो आप सब को भी उनके प्रति श्रद्धा भक्ति भाव अनेक गुणा बढ़ जायेगा।

आज आप जैसे समयज्ञ संत बहुत कम हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वे अपने आप आचार्य बन गये। वे अवसरवादी हैं और उन्होंने इसका लाभ ले लिया है। यह सुन कर मेरी आत्मा को कितना क्लेश पहुँचा है यह कह नहीं सकता। मगर वे लोग हकीकत जानते नहीं। सच तो यह है कि उन्होंने आचार्य बन कर पूज्य भूधरजी म० सा० की सम्प्रदाय के सन्त सतियों पर बड़ा उपकार किया है। उन्होंने सामुदायिक रूप से सभी

समाज के पास आई कि विना आचार्य के विचरने से साधु समुदाय को संयम - छेद का प्रायश्चित लेना पड़ेगा। हालाँकि समय कम था; किन्तु हम सन्तों को, संयम छेद के प्रायश्चित से बचाने, उसने ऐसी परिस्थिति में जो बड़े हों, ज्ञानी हों — ऐसे रघुनाथजी से आचार्य पद स्वीकार करने के लिये कहा और समय की अवधि बहुत कम है यह देख उन्होंने स्वीकृति दी। सोजत संघ ने जो बड़ा कार्य किया उसका मूल्यांकन बहुत ही ऊँचा है। इसके लिये तैयारियाँ करना, अन्यान्य श्री संघों को निमन्त्रण देना आदि अत्यन्त व्यस्तता के साथ उन्होंने इस धर्म - कार्य को अति विवेक पूर्ण ढँग से सम्पन्न किया।

सचमुच यह हम सब पर ऐसा उपकार हुआ है कि उसका विचार आते ही हमारे मस्तक स्वयं आचार्यश्री के आगे झुक जाते हैं। कहते हैं कि चौथे आरे में भविजनों का कल्याण करने, उन्हें बोध देने, संयम में स्थिर करने भगवान ने स्वयं गौतम स्वामी को कई स्थानों पर भेजा था। आज प्रत्यक्ष में आप भी हम लघु मुनियों को दूर - दूर के क्षेत्रों में भेज कर वही आदर्श उपस्थित करते हैं।

इतना ही नहीं, हम सभी सन्तों पर आपका कितना प्रेम भाव है कि बड़े आचार्य होते हुए भी आप हमें लेने सामने आये। यहाँ पर बड़े प्रेम भाव से अपने पास पाट पर आपने बिठाया। आप के इस प्रेम को मैं कैसे भूल सकता हूँ और मेरे हृदय से यह भाव अपने आप फूट निकलते हैं :—

बुद्धि जिणांरी निर्मली रे लाल,
घणां साधांने निभाय रे सौभागी।

जिनके हृदय में जरा भी छल - कपट नहीं है और हम सन्तों के संयम निभाव का ही एक मात्र आपका लक्ष्य बना रहता है। आचार्य होते हुए भी हम पर जो गुरु भ्रातृत्व भाव है वह आप सब ने प्रत्यक्ष देख लिया है।

इस आचार्य पद के विषय को लेकर स्थानीय लोगों में कुछ शंकायें थीं। मगर सोजत संघ का यह कार्य कितना सामयिक और सन्तों के लिये कितना लाभ पूर्ण रहा यह आप अच्छी तरह जान गये होंगे। उसने अच्छे संघ का आदर्श उपस्थित किया है एवं
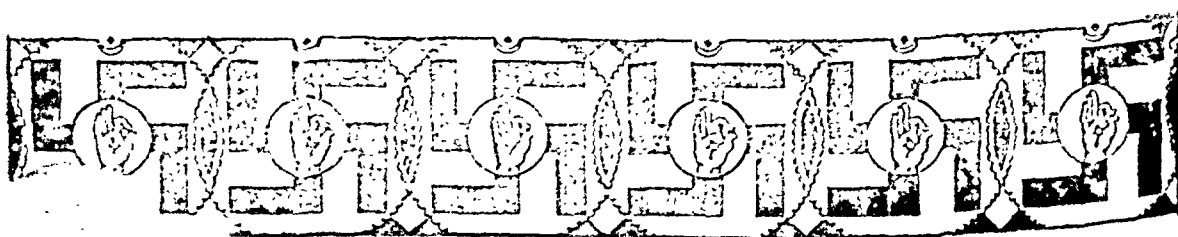
हुए हैं। परम श्रद्धा से आप के आगे अपने आप हम नतमस्तक हो जाते हैं। सच्चे सन्तों का यही प्रभाव होता है।"

मुनिश्री ने सब को "दया पालो" कहा और वे बैठ गये। फिर उनमें से एक ने निवेदक किया :—"लेकिन हमारे मन में एक बात चिंता और दुःख घोल रही है। आप यहीं विराजमान थे तब तक न कभी पूज्य पद की चर्चा विचारणा हुई। नागौर तक आप शासन का प्रभाव बढ़ाते रहे; मगर वह बात न चली। बीकानेर जैसे क्षेत्र में जहाँ सन्तों का पदार्पण भी नहीं होता था वहाँ आप दृढ़ मन करके गये। मगर बाद में श्री रघुनाथजी म० सा० ने सोजत जाकर अपने आप आचार्य पद ग्रहण कर लिया। इससे हम लोगों में बड़ा असन्तोष सा हो गया है। कई स्थानों के श्री संघों ने तो इसका खुल्लमखुल्ला विरोध किया है। आपके बीकानेर जाने के बाद, आपको बिना सूचना दिये और सभी श्री संघों की सलाह स्वीकृति लिये बिना उनका आचार्य बन जाना कुछ भेद रखता है।"

दूसरे ने कहा :—"भेद क्या रखता है? रघुनाथजी म० सा० जान गये होंगे कि चारों गाँव के बड़े संघ मिलेंगे तो शायद कुछ और हो। यदि उन्होंने यह मनमानी की तो हम उनका साथ नहीं देंगे। हम आपको — पूज्य जयमलजी म० सा० को आचार्य बनाना चाहते हैं। हमारी विनती को आप मान्य करेंगे ऐसी आशा है। हम सभी आप के ही साथ हैं। हमारे साथ और भी लोग आपको ही मानेंगे।"

मुनिश्री जयमलजी अब तक शांति से सारी बातें सुन रहे थे। शासन का विनय, विवेक और अब तक संघ एकता का उन्होंने विचार किया। पूज्य भूधरजी के शिष्यों का अब तक गुण-गान होता था, अब वे ही अलग-अलग हो जायेंगे तो शासन का प्रचार कैसे होगा? आज साधुमार्गी संतों को अपना मार्ग प्रशस्त करना कितना कठिन है? फिर ये विवाद बढ़ाना जिन शासन की शोभा को बढ़ानेवाला नहीं है। इससे उसका प्रभाव अवश्य घटेगा।
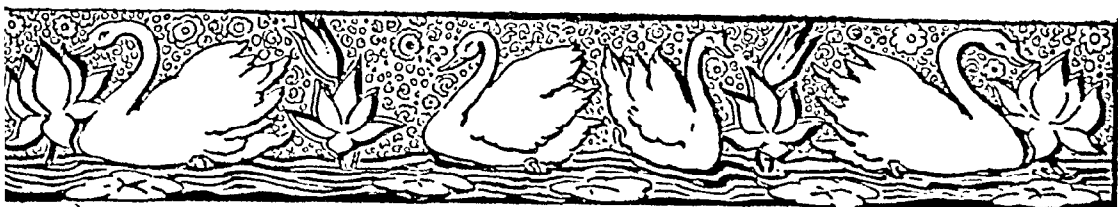
पूज्य रघुनाथजी ने लोगों के सामने देख कर कहा :—"जो करना चाहिये वही कर रहा हूँ।"

"मगर यह तो आचार्य पद की चादर है; आपको ओढ़ाई गई है....!"

"तुम नहीं थे तब मैंने ओढ़ ली थी; मगर इसका भार कितना बड़ा है, इसका मुझे पूरा ख्याल है और उस भार को तुम्हें भी उठाना पड़ेगा।" पूज्यश्री रघुनाथजी ने कहा।

"मगर यह किस के आदेश से?" मुनिश्री ने पूछा।

"अपने परम गुरुदेव आचार्य भूधरजी म० सा० के आदेश से!"

"सो कैसे?"

"उनका ही आदेश है न कि एकता बनाये रखो।" पूज्यश्री ने कहा :—तुम ने अपना कार्य किया; मैं अपना कर्तव्य निभा रहा हूँ!"

"मगर आचार्य तो एक होते हैं!" मुनिश्री जयमलजी बोले।

"नहीं, आचार्य भूधरजी के बाद हम दोनों ही आचार्य हैं; मैं बड़ा आचार्य और तुम छोटे आचार्य!" पूज्य रघुनाथजी ने कहा।

"ऐसा आज तक कहीं हुआ है?"

"सच्चे धर्म शासन के प्रचार निमित्त ऐसा होता ही रहा है। क्षेत्र विस्तार के साथ अनेक गच्छ बने हैं। पूज्य धर्मदासजी ने २२ टोलों को अलग-अलग बनाये तो यहाँ सिर्फ दो आचार्य की बात है और अब यह नई बात होकर ही रहेगी। आचार्य भूधरजी म० सा० के विस्तृत साधु समुदाय में जिनके निकट जो पूज्य रहेंगे उनसे आज्ञा प्राप्त करने का आदेश मैं देता हूँ।" पूज्य रघुनाथजी ने कहा।

उन्होंने लोगों को भी यह आदेश सुना कर कहा :—"यह मेरा आदेश है कि मुनिश्री जयमलजी भी छोटे आचार्य हैं और जो सन्त-सतियाँ जिनके निकट हों, वे उनसे आज्ञा प्राप्त कर विचरण करें। इससे एक तो व्यवस्था सुचारु रूप से चलेगी, साथ ही ज्ञान,
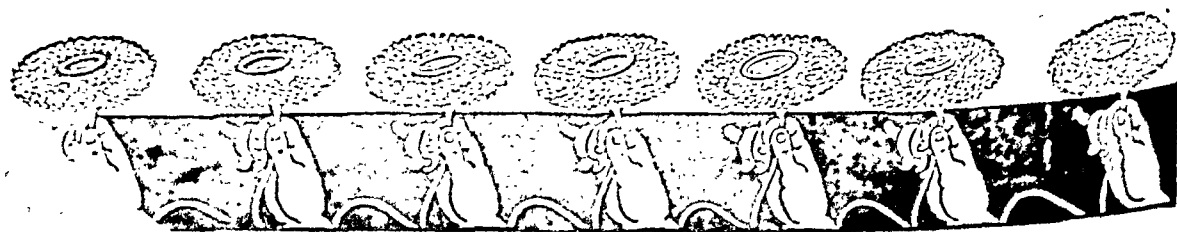
जब से आप ने दीक्षा ली तब से हमारा स्नेह - भाव वैसा ही बना रहा है और हम एक हैं, अलग नहीं है — यह उन्होंने सभी को कहा ; वह सत्य है और उसे बतलाने के लिये ही मैंने अपनी आचार्य पद की आधी चादर उन पर डाली है जिसके लिये वे सर्वथा योग्य हैं ।

दृढ़ निश्चय, चारित्र की ऊँचाई और अन्यान्य कुमतियों के तर्कों को काट कर, उन्हें भी अपना बना लेना आप की ऐसी विशेषता है कि उससे ही सत्य - धर्म का प्रचार हो सका है ।

सत्य - धर्म के प्रचार के लिये साधु - मार्गीय सन्तों के लिये जो क्षेत्र, बन्द से थे वहाँ पर आप साहस करके गये। पूज्य भूधरजी म० सा० के साथ दिल्ही में खूब धर्म प्रचार किया और आचार्यश्री की आज्ञा लेकर वे फलौदी से जेसलमेर तक गये । वहाँ सच्चे जैन धर्म का प्रचार किया । अभी - अभी बीकानेर का क्षेत्र सच्चे सन्तों के लिये खुलवा करके आये हैं। वहाँ उन्हें कैसे - कैसे परिषह सहने पड़े उसका जब वर्णन सुनते हैं तो लोग अपने आप उनके प्रति श्रद्धा से मस्तक झुकाते हैं तो वह यथार्थ ही है ।

हम लोग अलग - अलग विचरते रहे हैं; मगर जब पुनः मिलते हैं तो हमारा सन्त - मिलन अध्यात्म का मेला सा होता है और उसमें मुनिश्री जयमलजी के प्रति अनायास ही सारे सन्त आकर्षित होते हैं। उनसे ज्ञान प्राप्त करते हैं, सूत्र पढ़ते हैं और उनके नये - नये पद उतारने का अन्य सन्त गण हमेशा लोभ नहीं छोड़ते ।

आचार्य पद की चादर ओढ़ कर मैं चाहता था कि उसका भार बँटानेवाले मुनिश्री जयमलजी से जल्दी मिलन हो तो ठीक है । वे बीकानेर के क्षेत्र में सच्चे जैन धर्म को फैलाने गये थे और उनकी वापसी की कोई जानकारी नहीं थी । अतः उनसे मिलने के लिये मैं जोधपुर चला । उनके भी भाव थे । वे बीकानेर से नागौर और वहाँ से जोधपुर चले । वे यहाँ आये और संघ में जो विवाद था उसको ऐसे ढँग से समझा के हल किया है कि मेरी आत्मा ने मुझे प्रेरित किया कि जिसने हम सब को एक बना दिया उसे मैं अपनी चादर ओढ़ा दूँ और मैंने अपने साथ वह चादर उन्हें भी ओढ़ा दी है । अब इस चादर को हम
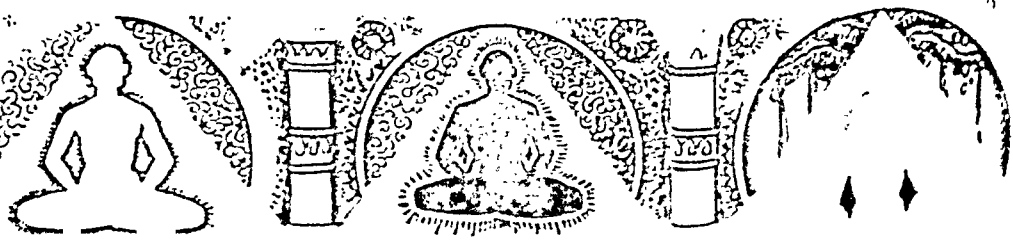
कभी पूज्यश्री का, कभी खड़े हुए श्रावकों का मुँह देखने लगे। क्या करना और क्या न करना इसकी विचार भी न कर सके। गहरे दुःख सभी पर छा गये।

मुनिश्री के चेहरे पर दृढ़ता थी।

श्रावक गण इससे चिंतित हो रहा था। कुछ श्रावक मुनिश्री के आगे हाथ जोड़ कर खड़े हो गये और विनती कर उन्हें समझाने लगे और कम से कम जोधपुर पधारने का आग्रह करने लगे। कुछ लोग उठ कर मुनिश्री कुशलचन्दजी से अलग जाकर मिले और उन्होंने उन्हें पूरी बात समझाई जिसका सार यही था कि "पूज्यश्री भूधरजी युवाचार्य पद दे जाते तब तो कोई बात न थी। ऐसी अवस्था में यदि सकल संघ के समस्त श्री संघों से बिना पूछे आचार्य पद एक नगर का श्री संघ दे दे और कोई स्वयं आचार्य बन जाये यह तो कतई उचित नहीं माना जा सकेगा। यह परम्परा आगे जाकर विषमता और विघटन ला सकती है।"

मुनिश्री कुशलचन्दजी वहाँ से उठ कर मुनिश्री जयमलजी के पास आये और श्रावकों की बात उनके आगे रख कर समझाते हुये कहने लगे :—"आपकी संघ-एकता, जिन शासन शोभा आदि की बातें आप की उदारता के योग्य ही हैं। सब उसी में मानते हैं और उसके लिये आप संमत भी हैं कि श्री संघ में एकता बनी रहनी चाहिये। किन्तु ऐसी परिस्थिति में श्री संघों को पूछना चाहिये; क्योंकि अन्त में तो सकल संघ ही सब से ऊपर है। अन्यों से भी सलाह, विचार-विमर्श होना चाहिये। इस प्रश्न पर भी आप को ध्यान देना चाहिये। ऐसा इन श्रावकों का नम्र निवेदन है।"
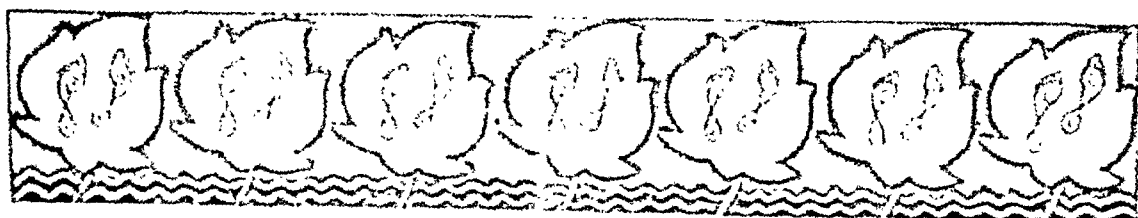
पूज्यश्री जयमलजी ने आचार्यश्री को कहा :—"मैं तो आपकी कृपा से उस क्षेत्र में, रेगिस्तान में लोगों के दिल में धर्म का बीजारोपण करके आया हूँ। अब उस धर्म-रूपी बीज को आप जैसे बड़े आचार्य पधार कर सिंचन करें। बीकानेर के लोगों की बड़ी भावना है कि इस वर्ष वहाँ कोई न कोई बड़े सन्त का चातुर्मास हो और आपके पधारने से और चातुर्मास करने से तो धर्म के झंडे गड़ जायेंगे।"

आचार्यश्री रघुनाथजी म० सा० ने कहा :—"अभी तो यहीं जोधपुर में सभी को स्थिर करना है; अवसर होगा वैसा फरसेंगे। पहले तो दूर चले गये थे और पीछे क्या हो गया? और तुम आ गये तो कैसी बातें सुलझ गईं? अतः तुम्हें तो थोड़े दिन साथ ही रहना है। साथ-साथ पूरी व्यवस्था बिठानी है।"

पूज्यश्री जयमलजी ने उनके हाथ अपने हाथ में ले सर झुका कर कहा :—"बड़े लोग अपने गुण आप नहीं कहते। वे तो स्वयं प्रगट होते हैं और जोधपुर नगर के लोग आप की सहृदयता, उदारता और गुरु-भ्रातृ-प्रेम कैसे भूल सकेंगे?"

पूज्यश्री जयमलजी की बात नितांत सत्य थी। जोधपुर का यह सन्त-मिलन अपूर्व था, समाज का संगठन अभूत पूर्व था और एक बने हुये आचार्य द्वारा अन्य को चादर ओढ़ाने का और उन्हें भी आचार्य जाहिर करने का उनका गुरु-भ्रातृ-प्रेम अनुपम था।

संं० १८०५ की जोधपुर की वह अक्षय तृतीया जैन समाज के इतिहास के लिये स्वर्ण अक्षर से लिखा जानेवाला एक यादगार अध्याय बन गई थी....!
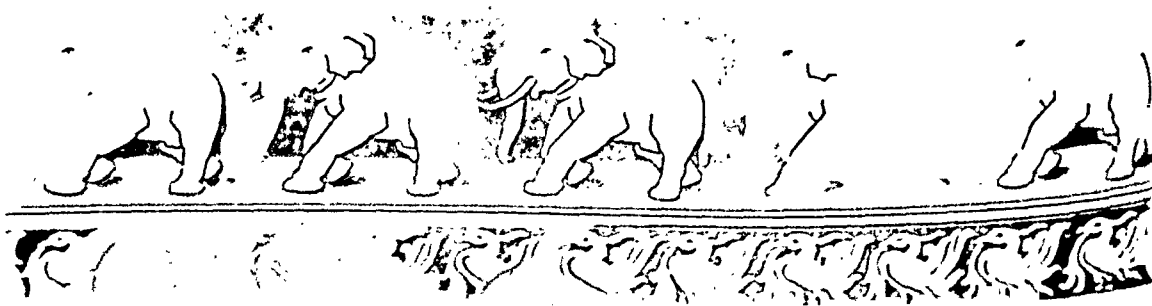
लोग धीरे-धीरे उनकी विचारधारा समझने लगे थे। मुनिश्री की वही विश्वास उनकी आँखों में था। उन्होंने श्रावकों से कहा :—"आप को भी इस सीधे विषय को पहाड़ सा बना कर क्यों खड़ा करना चाहिये! मैं उन्हें बड़ा मानता हूँ; श्रद्धा से वन्दना करता हूँ और वे बड़े ही रहेंगे। मेरा तो यही कहना है कि आपकी मुझ पर अनन्य भक्ति और श्रद्धा वास्तव में है तो आप भी मेरी तरह उन्हें आचार्य मानें और संघ-एकता बनाये रखें!"

जोधपुर श्री संघ के लोगों को लगा कि मुनिश्री जयमलजी का हृदय वास्तव में विशाल और उदार है और उसमें जिन शासन की एकता की प्रवल भावना भरी हुई है।

उन्होंने विनती की :—"फिर, आप जोधपुर अवश्य पधारें।"

"अभी नहीं।"

"आप नये आचार्यश्री के दर्शन के लिये तो पधारें।"

"दर्शन अन्यत्र भी हो जायेंगे। इस वातावरण में मेरे जोधपुर फरसने के भाव नहीं हैं।" मुनिश्री ने दृढ़ स्वरों में कहा।

जोधपुर के श्रावक-संघ के लोग तब शंकित हो भयभीत हुए कि वास्तव में सन्त नहीं पधारें तो उनके श्री संघ का क्या मान रहेगा? उनके दिल में ऐसा भय सा छा गया कि शायद इस क्लेश बढ़ाने की बात कह कर उन्होंने मुनिश्री जयमलजी की आत्मा को ठेस पहुँचाई है। उन्होंने खड़े होकर कहा :—"ऐसा कैसे हो सकता है? आप की हम श्रावकों पर कृपा और दया क्या इससे खत्म हो जायेगी? आप को जोधपुर पधार कर हम पर कृपा करनी होगी। आप जैसा कहेंगे वैसा हम करेंगे। हम चाहते हैं कि आप हमारे नगर को अवश्य पधारें; आप जैसा चाहेंगे, वैसा होगा।"

फिर भी मुनिश्री ने दृढ़ता पूर्वक कहा :—"आचार्य हैं, वे आचार्य रहेंगे। उनक-किसी भी प्रकार से मर्यादा भंग करना आप के लिये उचित नहीं और मेरे भक्त कहलानेवाले

८१

जय - नव चेतना

जब राष्ट्र में अस्थिरता रहती है तो उसका लोक-जीवन पर प्रभाव पड़ता ही है। लोक-जीवन अस्थिर बन जाता है। विक्रम की उन्नीसवीं सदी का प्रारम्भ कुछ ऐसा ही था।

मुगल सल्तनत कमज़ोर होती जा रही थी। मराठे लोग विशेष बलवान हो रहे थे। अंग्रेज भी अपने पैर जमा कर सर ऊँचा कर रहे थे। इन मौकों का फायदा उठा कर कुछ रियासतें अपना प्रभुत्व बढ़ा रही थीं। उनके आपसी झगड़े और भोग-विलास में वे मुगल सल्तनत का अनुकरण करते थे।

राजस्थान के जोधपुर, जयपुर, उदयपुर के राज्यों में कौटुंबिक कारणों से झगड़े चल रहे थे। बीकानेर के प्रश्न को लेकर जयपुर, जोधपुर के राज्य आमने-सामने आ गये थे। उसमें नागौर के राना ने अपना महत्व पूर्ण कार्य किया था। जयपुर ने मराठाओं की मदद मांगी थी। मराठे इसका पूरा लाभ उठा रहे थे।

अब तक राजस्थान की रियासतों का नियन्त्रण दिल्ली की मुगल सल्तनत का था; किन्तु अब सभी शक्ति के अनुसार उससे अलग-अलग हटते जा रहे थे और मराठाओं के बीच नियन्त्रण बँटता

लोगों के जाने के बाद जब मुनिश्री कुशलचन्दजी ने मुनिश्री जयमलजी को देखा तो उन आँखों में प्रशंसा की पूर्ण झलक दिखाई देती थी। मुनिश्री कुशलचन्दजी ने उनका मधुर व्याख्यान सुना था। उनसे सूत्र-ज्ञान की गहराईयाँ समझी थीं; किन्तु आज उस महान आत्मा के अपूर्व त्याग और जिन शासन के लिये बहुत बड़े सन्मान के पद का बलिदान दे देने की अनोखी तत्परता देख वे गद्गद् हो गये।

उनकी आँखें शायद पूछ रही थी :—"क्या जो हो रहा है सो ठीक है।"

मुनिश्री की आँखों में यह स्पष्ट भाव था :—"जो पूछ कर होनेवाला था, वही हो चुका तो फिर गुरु-भ्राताओं के बीच पहाड़ सी ऊँची दीवारें क्यों? इसके कारण आपस के व्यवहार में मधुरता कम नहीं होनी चाहिये।"

मुनिश्री कुशलचन्दजी उनके पास बैठ गये और इतना ही बोल सके :—"सचमुच आप धन्य हैं!"

उनका यह उद्गार अनेकों हृदयों में भी छा गया था और जोधपुर के श्रावक मुनिश्री की साधु संगठन के लिये महान से महान पद की इच्छा से भी निर्लेपता देख, अपने हृदय में यह भाव भर उनके प्रति अनन्य श्रद्धा भरके लौट रहे थे।

पूज्य जीवराजजी म० सा० के सन्त, पंजाब, दरियापार (जमतापार) की ओर प्रचार करते थे। पूज्य लवजी ऋषि के सन्त (पू० कानजी ऋषि की परम्परा) मराठावाड़ा और मध्य भारत की ओर विचरण करते थे। पूज्य धर्मसिंहजी म० सा० के सन्त मुख्यतः अहमदाबाद गुजरात के इस क्षेत्र में विचरण करते थे जिसे दरिया-पीर * का क्षेत्र कहा जाता था। जिसमें अहमदाबाद, घोघा, राणपुर, तलाजा, खम्भात, भरूच, वेरावल, पाटण (सोमनाथ) दीव महुआ आदि आता था।

पूज्य धर्मदासजी म० सा० ने जिन बाईस स्रोतों (टोलों) को अलग धर्म-धारा में बहाया था उनमें पूज्य मूलचन्दजी म० सा० गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ की ओर चले गये थे। उन क्षेत्रों में उन्होंने लोक जागृति लाने का प्रयास किया था। पूज्यश्री मूलचन्दजी स्वामी ने ४९ वर्ष संयम पालन किया और सं० १८०२ में अहमदाबाद में आप कालधर्म को प्राप्त हुए। गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ में आपने बड़ा धर्म प्रचार किया। इसका अन्दाज इससे लग सकता है कि आपके परिवार में करीब २०० साधु साध्वियाँ थीं।

पूज्य धर्मदासजी म० सा० के एक और प्रमुख शिष्य पू० रामचन्द्रजी मालवा में उतर गये थे। वहाँ पर उन्होंने अपने संयम जीवन से धर्म जागृति की थी। पूज्य धर्मदासजी

---

* प्रचलित कथानकों के अनुसार पू० धर्मसिंहजी म० का दरिया-पीर के स्थानक में मुसलमान पीर की रूह से संवाद होना माना जाता है; किन्तु वर्तमान में ऐसा ऐतिहासिक अनुसंधान मिला है कि दरिया-पीर के नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति मोखडाजी गोहिल थे। इनके दादा सेजकजी मारवाड़ के राठौड़ों से अनबन होने से गुजरात की ओर चले आये थे। उनके पुत्र राणजी (रणजी) ने राणपुर बसाया। उनके पुत्र मोखडाजी ने दिल्ही के बादशाह अल्लाउद्दीन, खुसरू खाँ, ग्यासुद्दीन और महम्मद तुघलक के विरुद्ध विद्रोह किया। उसने राणपुर के बदले पीरम को राजधानी बनाई। सन् १३०९-४७ तक उसने चार बादशाहों से युद्ध किया। पीरम में रह कर उसने बगदाद, बसरा, कच्छ, भृगुकच्छ, मलबार, लंका, नगर पट्टणम् तक के जाने आनेवाले जहाजों से कर वसूल किया और वह दरिया-वीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महम्मद तुघलक की एक लाख की सेना को उसने थका दिया। आखिर प्रजा पर त्रास बरसते देख, वह तुघलक सेना पर टूट पड़ा। चार बार शाही फौजें पीछे हटीं, पांचवीं बार घिर गया। तब लड़ते-लड़ते शीश घोघा गढ़ के खजुरी चोतरे में पड़ा; किन्तु धड़ लड़ता लड़ता सात कोश तक दूर जाकर खदरपुर में पड़ा। मुस्लिम सेना अचम्भे से देखने रही और भागने लगी। उसके स्मारक और स्थानक सभी जगह बनने लगे। दरिया-पीर के नाम से वह मुस्लिम हिन्दु दोनों की श्रद्धा का आधार बना।
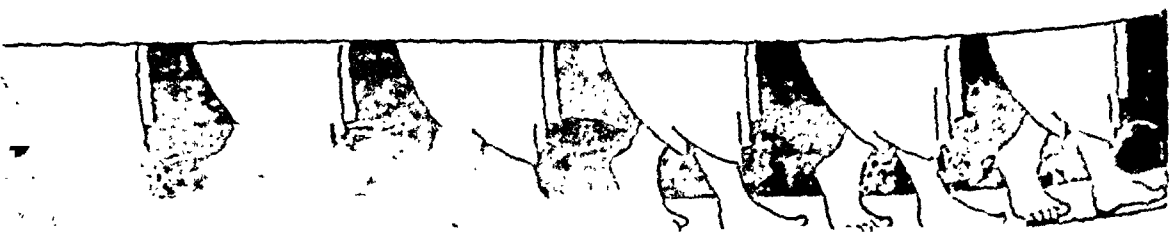
दिन ही प्रथम तीर्थंकर द्वारा हुई और वे आदिनाथ कहलाये। सुरपुरा से मुनिश्री जयमलजी, मुनिश्री कुशलचन्दजी और साथ के अन्य सन्तों ने विहार किया। मुनिश्री जयमलजी हालाँकि कल की बातों से काफी आश्वस्त हुए थे फिर भी निरर्थक कोई विवाद न खड़ा हो उसकी थोड़ी सी आशंका उनके मन में कभी-कभी उठती थी।

यद्यपि मुनिश्री जयमलजी के मन में पूज्य या आचार्य बनने की कभी महत्त्वाकांक्षा न थी फिर भी आचार्य और पूज्य का पद बड़ा होता है और जब समाज का बड़ा वर्ग उसे देने को तैयार हो तब भी उसे अस्वीकार करना, ऐसे कम उदाहरण देखे जाते हैं।

मनुष्य का मन और रुचि एक से नहीं होते और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वह मत-भेद भी करता है। ऐसी ही परिस्थिति जोधपुर के जैन समाज की थी। हालाँकि दो वर्ष पूर्व ही रघुनाथजी म० सा० ने वहाँ चातुर्मास किया था और उस समय उनका अच्छा प्रभाव था; फिर भी आचार्य पद के विषय को लेकर अधिक लोग मुनिश्री जयमलजी को भी चाहते थे। मगर उनको स्पष्ट उत्तर मुनिश्री जयमलजी ने दे दिया था और वे लौट चले।

उन लोगों के साथ कुछ ऐसे भी श्रावक थे जिनकी रघुनाथजी म० के प्रति भक्ति सविशेष थी। उन्होंने जो कुछ वार्तालाप सुना उससे उनका मुनिश्री जयमलजी के प्रति सन्मान भाव सविशेष बढ़ गया। उन्हें लगा कि मुनिश्री जयमलजी का जो प्रभाव फैल रहा है उसके पीछे उनके उदार चरित्र का कितना बड़ा बल है!

उन्होंने लौट कर पूज्यश्री रघुनाथजी म० सा० को सारा वृत्तांत कह सुनाया तो उसे सुन कर वे भी भाव-विभोर हो गये। मुनिश्री जयमलजी के प्रति उनका वैसे ही प्रेम-भाव तो था ही; वह एक प्रकार की अनन्य आत्मीयता में बदल गया। उन्हें भी आचार्य भूधरजी की संघ-एकता और साधु-धर्म की उदारता की सारी बातें याद आईं।

उनका बढ़ता प्रभाव देख कर कुछ विद्वेषी लोगों ने उस समय उज्जैन के सिंधिया महाराज के पास शिकायत की :—" महाराज ! जैन साधु शंकर भगवान और गंगा-माता का अपमान करते हैं ! "

कहते हैं कि क्रोध में आकर सिंधिया के महाराजा ने पूज्य रामचन्द्रजी को बुला कर खुलासा पूछा । पूज्यश्री रामचन्द्रजी ने कहा :—" हम महादेव की सदैव उपासना करते हैं । हमारे विश्वास से महादेव ऐसे हैं जो सभी पर समान भाव रखते हैं । न किसी से राग करते हैं, न द्वेष ; न किसी से शत्रुता और न किसी से मित्रता । उन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों को नाश कर दिया है ।

कहा है :—

रागद्वेषो महामल्लै दुर्जितो ये न निर्जितो ।
महादेव तु तं मन्ये, शेषा वै नामधारकाः ॥

ऐसे महादेव सच्चे अर्थ में जो हैं उनकी हम स्तुति करते हैं ।

गंगाजी को तो लोग माता कहते हैं ; किन्तु वे तो उसका अपमान करते हैं । उसमें नहाते हैं, मल-मूत्र त्यागते हैं । अपनी गन्दगी उसके पानी से धोकर अपने को पवित्र मानते हैं ; किन्तु हम उसे सच्चे शब्दों में माता का गौरव प्रदान करते हैं । हमारे पैर की धूलि भी उसमें नहीं गिरने देते और गिर भी जाये उसका प्रायश्चित लेते हैं । अब कहिये कौन शंकर और गंगा का सच्चा भक्त हैं ? "

उनके इस सचोट उत्तर से सिंधिया बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उनका बड़ा सन्मान किया । साथ ही बहुत से लोग जैनी बने । उनका भी शिष्य परिवार बड़ा हुआ और धर्म प्रचार करते वे संवत् १८०३ में कालधर्म को प्राप्त हुए ।

मरुधरा मारवाड़ में मुख्यतः धन्नाजी म० सा० की परम्परा के पूज्य भूधरजी के सन्त मुनिश्री रघुनाथजी, मुनिश्री जेतसीजी, मुनिश्री जयमलजी, मुनिश्री कुशलजी आदि का प्रभाव व्यापक होता जा रहा था । इसके सिवाय भी पूज्य धर्मदासजी म० सा० के अन्य सन्त अन्यान्य क्षेत्रों में धर्म प्रचार करने में क्रियात्मक थे ।
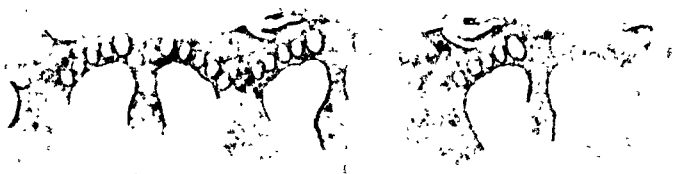
पूज्य रघुनाथजी को सामने आते देख कर मुनिश्री जयमलजी स्वयं तेज़ी से आगे बढ़े और पास आकर उन्होंने "मत्थेणं वंदामि" किया। पूज्य रघुनाथजी ने उन्हें उठा लिया।

दोनों सन्तों का अपूर्व मिलन हुआ और मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"आपका मेरे प्रति कितना उत्कट प्रेम-भाव है कि आप सामने आये; किन्तु शासन का विनय तो यही है कि छोटे-बड़ों के सामने जाते हैं। आपका मुझ पर कितना अनुग्रह है कि आप स्वयं पधारें। आपकी बड़ी कृपा है।"

पूज्यश्री रघुनाथजी म० सा० ने कहा :—"जो जिसके योग्य होता है उसे ही वैसा मिलता है।"

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"नहीं, यह आपका मुझ पर बड़ा अनुग्रह है। मैं तो आप के सामने वय में, दीक्षा में, ज्ञान में और संयम सब में छोटा हूँ; मगर यह आपके उदार हृदय की महानता है कि आप ने अपना आत्म-भाव मुझ पर बरसाया है।"

पूज्यश्री रघुनाथजी ने उनके कन्धे पर हाथ थपथपाते कहा :—"तुम भले अपने आपको बाह्य व्यवहार से छोटा कहो; किन्तु वास्तव में तुम अन्तरंग से कितने बड़े हो उसे कौन नहीं जानता?"

दोनों का यह अपूर्व मिलन देख कर लोगों में आनन्द छा गया। हर्ष के उत्साह में सहस्रों कण्ठों से जय-घोष गूँज उठा। मुनिश्री जयमलजी के कन्धे पर हाथ रख कर पूज्यश्री रघुनाथजी स्थानक के अन्दर साथ-साथ गये। ऐसा लग रहा था जैसे वे अपना भार उनके (मुनिश्री जयमलजी) कन्धों पर डालना चाहते थे। उनका बड़े प्रेम से साथ-साथ चलना इतना सुहाना था कि दोनो एक हैं ऐसा प्रतीत होता था।

स्थानक में पहुँच कर जिन शासन विनय के अनुसार सन्तों का वन्दना व्यवहार हुआ। नये सन्तों का परिचय हुआ। पल भर में वातावरण में वह सौजन्यता और मधुरता आ गई कि सभी के मन प्रसन्नता से भर गये। पूज्य रघुनाथजी पाट पर विराजे और बाजू

के अनुरूप पूज्यश्री जयमलजी पूज्यश्री रघुनाथजी को कहा करते थे :—"वहाँ के लोगों में धर्म श्रद्धा पक्की करने, उन लोगों की इच्छा है कि कोई बड़े सन्त का चौमासा बीकानेर में हो। यदि आप वहाँ चातुर्मास करें तो बड़ा उपकार होगा।

पूज्य रघुनाथजी म० सा० ने कहा :—"यथा अवसर भविष्य में देखा जायेगा और पुद्गल स्पर्शना के अनुसार होगा।"

जोधपुर नगर को सन्तों का अपूर्व लाभ मिलता रहा। जोधपुर नरेश अभयसिंहजी थे। वे भी लोगों के साथ पूज्यश्री के दर्शन करने आने लगे। उनका सन्तों से पुराना परिचय भी था। महाराजा अभयसिंहजी भी प्रवचनों का लाभ लेने लगे।

बीकानेर के युद्ध के बाद, गगवाने में जिस प्रकार विजय मिली थी और मेवाड़ के राणा द्वारा जयपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि के बीच समाधान करवाया था; अतः महाराजा अभयसिंहजी आत्म शांति से रहते थे। वे अब इस उम्र में जो जीवन शांति चाहते थे वह उन्हें इन सन्तों के प्रवचनों में मिलती थी। बहुत से ऐसा मानते थे कि वे अब कुछ सुस्त और आलसी होते जा रहे थे; किन्तु वास्तव में बात यह थी कि सतत युद्ध और क्लेश आदि से जीवन में विरक्तता सी आ जाती है और आत्मा ऐसी शांति की तलाश में रहती है जिससे जीवन का शेष काल शांति से गुज़रे।

भाट चारण अभी तक भी महाराजा अभयसिंह ने जिस प्रकार गुजरात के सुबेदार सरबुलन्दखाँ को हराके बन्दी बनाया था उसके गुणगान की गाथायें गाते थे। इसी पराक्रम से प्रेरित होकर सं० १७८६ में सिरोही के राजा ने अपने बन्धु मानसिंह की राज-कन्या के साथ उनका विवाह कराया था। एक वर्ष बाद सिरोही रानी से जो पुत्र हुआ वह युवराज रामसिंह अभी अठारह वर्ष का हो गया था।

उनके बढ़ते पराक्रम की ईर्ष्या जयपुर आदि राज्यों के राजा करते थे। कहा जाता था कि उनका वार ऐसा जोरदार होता था कि भयंकर भैंसे की गरदन एक प्रहार में फट जाती थी। इस बात को लेकर सं० १७८७ के एक अच्छे दिन जयपुर नरेश ने अपने खजांची कृपाराम के द्वारा एक चाल चली। सम्राट मुहम्मदशाह शतरंज खेलता था।

हजारों कण्ठों में प्रतिघोष गूँज उठा :—

पूज्य रघुपतिजी दीपता रे लाल,
तारण तरण जहाज रे सौभागी।

आगे मधुर - कण्ठ से मुनिश्री ने कहा :—

चौथा आरानी वानगी रे लाल,
परतिख दीखे आज रे सौभागी।

उनके साथ लोग भी उसे दुहराते गाते गये। आगे - आगे ये पद उनके मुख से निकले :—

सित्यासिये दीक्षा ग्रही रे लाल,
घणां लाड़ने कोड़ रे सौभागी।
श्री भूधरजी गुरु कने रे लाल,
छत्ती सगाई छोड़ रे लाल ॥
घणा ग्रन्थ मूंडे किया रे लाल,
थोड़ा वर्षां माय रे सौभागी।
बुद्धि जिणांरी निर्मली रे लाल,
घणां साधां ने निभाय रे सौभागी ॥ †

फिर मुनिवर ने अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया :—

"आज अक्षय तृतीया का दिन है। जैनों के लिये बड़े ही आनन्द और उत्साह का दिन है और हम सन्तों के लिये भी अपूर्व आनन्द का दिन है कि हम आचार्य पूज्यश्री रघुनाथजी म० सा० के दर्शन कर रहे हैं।

---

† पूज्यश्री जयमलजी ने इस प्रसंग पर पूज्य रघुनाथजी के गुण गान की यह ढाल उस समय प्रारम्भ की और अन्त की २५ वीं गाथा जब आचार्य रघुनाथजी कालधर्म प्राप्त हुए तब रची। कहा जाता है कि आगे जब - जब दोनों का मिलन हुआ आचार्य जयमलजी के मुख से आगे की गाथायें स्फुरित होती रहती थीं।
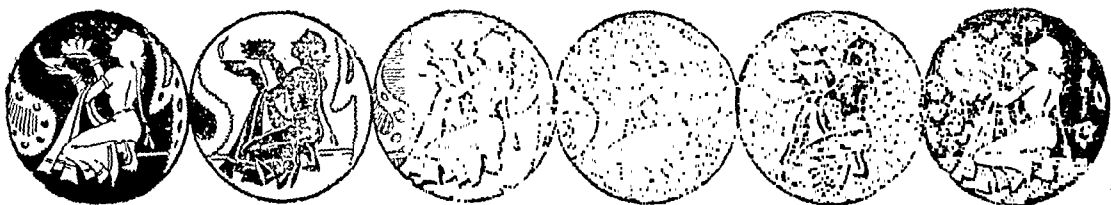
इस दोहे के बारे में कहा जाता था कि एक बार महाराजा अभयसिंह और महाराजा जयसिंह दोनों पुष्कर गये थे; वहाँ पर दरबार सा लगा था। उन्होंने करणीदानजी से कहा :—" कोई नया दोहा सुनाओ!"

कवि की इच्छा न थी; फिर भी बहुत ज़ोर डाले जाने पर उन्होंने कहा :—

जोधपुर आमेरिया दोनों थाप उथाप।
कूरम मारयो दीकरो, कम ध्वज मार्यो बाप ॥

जोधपुर के राजा और जयपुर के राजा दोनों ही वंश में स्थापना उथापके (उलटके) बने हैं। कूर्मा (कुश्य वंश से कूरमा) के जयसिंह ने अपने बेटे को मारा और कमध्वज (कान्य कुब्ज-कन्नौज के राठौड़ वंशज) के अभयसिंह ने अपने बाप की हत्या करवाई।

इसे सुन कर सभी आश्चर्य से चकित हो गये और यह दोहा राजस्थान में प्रचलित हो गया। यह हकीकत थी।

अपनी उत्तर अवस्था में जब महाराजा अभयसिंह को वह पद याद आता था तब वे बेचैन हो जाते थे और उसे भूलाने कसूंबे के — अफीम के नशे में पड़े रहते थे। उसके बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता था।

फिर भी जैन सन्तों का पदार्पण होता था तो वे बड़े प्रसन्न होते थे। पूज्यश्री जयमलजी का नाम वे सुनते थे तो उनकी आत्मा में आनन्द सा छा जाता था। दिल्ली से लेकर अब तक वे पूज्यश्री जयमलजी के प्रवचनों का कितनी बार लाभ ले चुके थे।

इस बार भी वे प्रवचनों को सुनने आने लगे और प्रवचन बाद बड़ी भक्ति से कहते :—" बापजी! आप के वचन से आत्मा बड़ी प्रसन्न होती है, उसे शांति मिलती है। आप जो कहते हैं वही जीवन में सत्य है।"

जोधपुर नरेश के साथ अनेक दरबारी लोग भी पूज्यश्री जयमलजी आदि सन्तों के प्रवचनों से अपनी आत्मा को धर्म कर्म में अग्रसर करते थे।

सन्त सतियों के संयम-क्षय को बचा लिया है और हमारा संयम वैसा ही कायम रहने दिया है। इतने बड़े उपकारी सन्तों के बारे में तो बस, मैं इतना ही कह सकता हूँ :—

गुणवन्तारा गुण कियां रे लाल,
वाधे अधिकी बुद्ध रे सौभागी।

पूज्य आचार्यश्री महाराज को दिवंगत हुए; छ मास हो रहे थे। सन्तों ने आपस में जिन शासन के विनय से बन्दना-व्यवहार चालु ही रखा था; मेड़ता में रहे, जोधपुर मिले — किन्तु बड़े होते हुए कभी पूज्यश्री ने आचार्य पद के लिये बात न निकाली। मगर साधु-संस्था के लिये नियम है कि कारणवश बिना आचार्य के सन्त-सती छ मास तक विचरे तो अलग बात है; किन्तु उसके बाद जितने दिन सन्त-सती बिना आचार्य के विचरे तो उनको उतने दिन की संयम-दीक्षा का छेद होता है। इस प्रकार हमारे संयम में छेद पड़ते देख आप ने आचार्य पद ग्रहण करना स्वीकार किया और हम सब को अनाथ से सनाथ बना डाला। हम सभी सन्त सतियों को दीक्षा-छेद सम्बन्ध में जो प्रायश्चित लेना पड़ता उससे उन्होंने हमें बचा लिया है। अब आप कहिये, यह हम पर, संघ पर उनका कितना बड़ा उपकार है!

कई लोग यह बात कहते हैं कि दूसरों से पूछते! वास्तव में तो ऐसी अवस्था में संयम में बड़े होने के नाते हमें ही उनसे पूछना चाहिये था कि आप आचार्य बनें और मुझसे कोई पूछते तो मैं इतना ही कहता कि उन्हें ही आचार्य बनाया जाय। हमने आप से कभी नहीं पूछा। इसका आप ने कभी दिल में कुछ नहीं लिया। यहाँ जोधपुर में भी तो वह बात हो सकती थी। हम सभी सन्त तो मौजूद थे; फिर भी हम ने उनसे कुछ सलाह न ली। वास्तव में हम सभी को शास्त्र-विधान विस्मरित सा हो गया था और हम अलग-अलग विचरण करने लगे।

आचार्यश्री स्वयं सोजत की ओर विचरण कर रहे थे, कुशलचन्दजी नागौर के पास थे और मैं बीकानेर था। यों दूर-दूर तक विचरने के कारण सन्त समुदाय का मिलन नियत समय पर होना प्रतीत नहीं हो सका। यह बात उस समय सोजत के विवेक शील

नागौर श्री संघ की विनती को याद कर मुनिश्री कुशलचन्दजी का चातुर्मास नागौर स्वीकृत हुआ। इस प्रकार जोधपुर में अपार आनन्द छा गया।

बीकानेर की ओर जो धर्म जागृति हुई थी उसे विशेष स्थिर करने पूज्यश्री रघुनाथजी ने बीकानेर की ओर विहार किया। उन्हें वापस जोधपुर शीघ्र आना था; अतः वे बीकानेर तक तो जा नहीं पाये; किन्तु नागौर के ऊपर थोड़े से बीकानेर राज्य क्षेत्र में विचरण कर आये और वहाँ उन्होंने सच्चे जैन धर्म की जो चेतना देखी तो वे बड़े प्रभावित हुए। वहाँ के लोगों ने भी आपकी पूर्ण भक्ति-भाव से बड़ी सेवा की।

* * *

पूज्यश्री जयमलजी आदि सन्तों का विहार पाली होते हुए सोजत की ओर हुआ। मार्ग में छोटे-बड़े गाँवों में लोग एक नई श्रद्धा से पूज्यश्री के दर्शन करने आते थे और उनकी संघ एकता के प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे।

आचार्य-एकता के प्रश्न पर जहाँ पूज्य भूधरजी के सन्तों में एकता आई वहाँ उनके अनुयायियों में नई स्थिरता आई थी और उससे समाज में नई चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। समाज में एक होकर नये-नये कार्य सम्पन्न होने लगे थे।

नई चेतना के प्राथमिक कार्य के रूप में प्रत्येक गाँव में धर्म-पाठशाला एवं स्थानक होना चाहिये जहाँ सभी बैठ कर एक साथ धर्म-क्रिया कर सकें और बच्चों को धार्मिक ज्ञान मिल सके; साथ-साथ उन्हें व्यवहारिक ज्ञान भी दिया जा सके। प्रेरणा पाकर लोगों ने पाठशालायें स्थापित कीं।

लोगों ने एक होकर धर्म-ध्यान करने के लिये पौषध शालायें प्रारम्भ कीं। वहाँ पर वे सामायिक करते थे, प्रतिक्रमण करते थे और पौषध आदि भी करते थे। आगे चल कर ये पौषध शालायें उनके धर्म स्थानक के रूप में बदल गईं और ऐसे स्थानकों में सन्त गणों का भी ठहरना होता था।

सन्तों का इसके बाँधने करने के पीछे कोई संकेत रहता न था और श्रावक वर्ग अपनी सुविधा के लिये उसे बंधवाता था। यह नई धर्म जागृति नई चेतना के अनुरूप थी।

आचार्यश्री वास्तव में कितने बड़े उदार दिल आचार्य हैं और आप ने कितना बड़ा उपकार किया है यह सभी के दिल में स्पष्ट हो गया होगा। यहाँ के श्री संघ ने भी अपनी विनम्रता का परिचय दिया और शांति प्रसार का कार्य सुलभ कर दिया और पूज्य भूधरजी जिस संघ एकता को चाहते थे उसे बनाये रखी। यह भी यहाँ की विशेषता है कि इतने सारे सन्तों के साथ आचार्यश्री का लाभ यहाँ मिल रहा है।

हालाँकि सोजत श्री संघ ने आचार्यश्री का उत्सव मनाया है, लेकिन जोधपुर श्री संघ ही धन्यवाद के पात्र है कि यहाँ पर सभी एक होकर उसकी सम्मति दे रहे हैं। इससे बढ़ कर हर्ष और आनन्द आज के इस अक्षय तृतीया दिन, और क्या हो सकता है?"

पूज्य रघुनाथजी मुनिश्री जयमलजी के एक-एक शब्दों को ध्यान से सुन रहे थे। जोधपुर में जो विवाद खड़ा हुआ था उसके लिये सुरपुरा में मुनिश्री जयमलजी ने जो कुछ किया वह कितना महान था यह वे समझ चुके थे और अब उनके इस वक्तव्य की कितनी उपयोगिता है यह उनसे छिपी न थी। वे जो थे उससे कई गुना अधिक ऊँचा स्थान मुनिश्री जयमलजी ने उन्हें दिया था। उनकी सरल आत्मा मुनिश्री जयमलजी के प्रति आत्म-विभोर हो गई। वे गद्‌गद्‌ हो गये।

पूज्य आचार्य की चादर ओढ़ने के लिये उन्होंने लम्बी की और लोग देखें कि क्या हो रहा है उसके पहले उन्होंने मुनिश्री जयमलजी को ओढ़ा दी और उनके कन्धे पर अपना हाथ रख दिया। फिर लोगों की ओर देखने लगे।

एक आचार्य की चादर दो शिष्यों पर पड़ी थी।

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"आप यह क्या कर रहे हैं?"

अचानक उनके मुख से यह बात सुन कर लोगों का ध्यान गया; देखा कि एक चादर दोनों सन्तों पर पड़ी हुई थी। आपस में कानाफूसी हुई और लोग जान गये कि आचार्य पद की चादर पूज्य रघुनाथजी ने मुनिश्री जयमलजी म० सा० को अपने साथ ओढ़ा दी है।
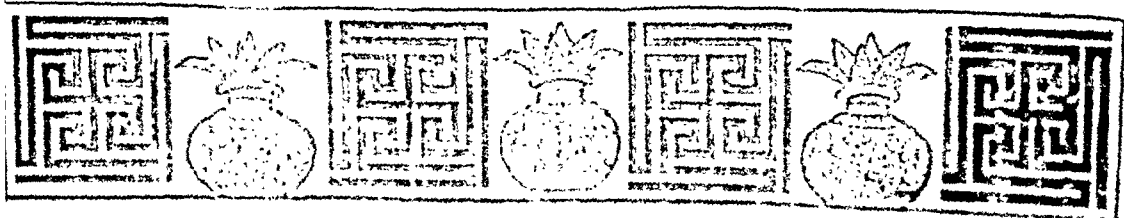
दर्शन, चारित्र की वृद्धि के हेतु आवश्यक कार्य के लिये आज्ञा प्राप्त करने में विलम्ब भी नहीं होगा।"

मुनिश्री जयमलजी ने कहा :—"वास्तव में आप ही आचार्य हैं; मैं तो आप को ही मानता हूँ और मान कर चलूँगा। आप मुझ पर जो भार डाल रहे हैं उसे आप की आज्ञानुसार यथा शक्य उठाऊँगा अर्थात् अपने नज़दीक विचरण करनेवाले सन्त-सतियों को यथावसर योग्य राय दे सकूँगा।"

"बराबर है।"

पूज्यश्री रुघनाथजी ने उपस्थित जनता को कहा :—"आज अक्षय तृतीया का पवित्र दिवस है और इसे जोधपुर के लिये विशेष यादगार बनाने के लिये मैं घोषणा करता हूँ कि मुनिश्री जयमलजी भी आचार्य पद को प्राप्त हुये हैं। अपने संघ में आप की आज्ञा भी मान्य होगी।"

लोगों में आश्चर्य, आनन्द और हर्ष की लहर सी दौड़ गई। उत्साह के आवेश को वे न रोक सके और बड़े ज़ोरों से सब ने जय-घोष किया :—

बोल, बड़े पूज्य आचार्यश्री रघुनाथजी म० सा० की जय....!

बोल, छोटे पूज्य आचार्यश्री जयमलजी म० सा० की जय....!!

कुछ क्षण तक जय-घोष होता रहा; फिर पूज्य रघुनाथजी म० सा० ने अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया :—

"आज का यह शुभ-दिन हमेशा के लिये यादगार बना रहेगा। मुनिश्री जयमलजी पर मैंने जो छोटे आचार्य का भार डाला है, उसके लिये बराबर योग्य हैं और आगे भी अपनी जवाबदारी बराबर निभायेंगे और मेरा भार मेरे साथ बराबर उठायेंगे ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

उनकी मधुर वाणी वास्तव में वैरी के दिल को भी जीत लेती है और उनकी ओर इतने अधिक लोग आकर्षित होते हैं ऐसा उनके वचनों का प्रभाव है।
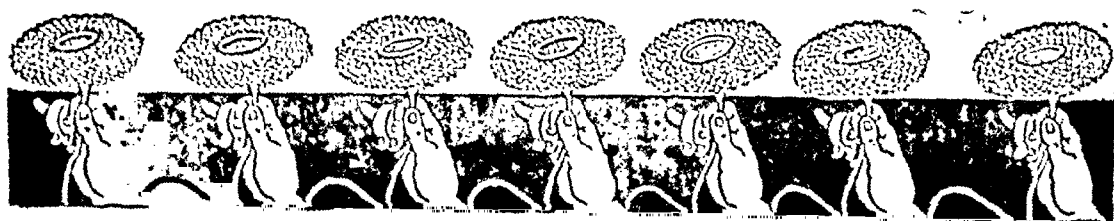
इसमें भी जो स्त्यानगृद्ध-थिणद्धी निद्रा है, जिसमें जीव सुप्त अवस्था में ही कार्य कर डालता है उसे तो अत्यन्त बलशाली कहा है। वैसे नींद में कर्म करने का—यानी थिणद्धी निद्रा का उदय होता है तब वज्रऋषभ नाराच संहननवाले जीव में आधे वासुदेव जितना बल आ जाता है। उस समय जीव की मृत्यु हो और आयुष्य कर्म का बन्ध बांधे तो नरक गति मिलती है। नींद में जो लोग कार्य करते हैं उनको उस समय कोई रोक नहीं सकता और कई बार तो लोग यह भी धारणा कर बैठते हैं कि उसमें भूत-प्रेत आ गया है।

शास्त्रों में श्रीराणी माता के पूसनन्दी का उल्लेख मिलता है जिसे सोते-सोते कार्य करने की आदत पड़ गई थी। एक बार ऐसा हुआ कि सोते-सोते वह उठा और उसने अपनी सास को निद्रा में ही मार डाला। इसे तो निद्रा में कर्म करने की प्रवृत्ति पड़ गई थी जिससे यह कुकर्म हुआ और उधर सास को निद्रा ऐसी आई थी कि उसने अपने प्राण गँवाये। निद्रा का कैसा बड़ा प्रभाव है?

निंद की शक्ति के बारे में वे अक्सर बड़े मज़ाकिये ढँग से वे कहते थे:—"जिन्होंने संसार त्याग, घर-पत्नी, सन्तान-परिवार, परिग्रह सभी छोड़ा; किन्तु वे निद्रा को छोड़ न सके इसीलिये शास्त्र ने इसे वैरन कही है।"

इस पर उनके ये पद्य बड़े मार्मिक होते थे:—

खाय पीय सुई रहे, अन्न पाणी हो मनगम लाध के,
उत्तराध्ययन में सत्तर मे, श्री जिन जी हो कह्यो पापी साध के।
तज संसार ने नीकल्या आदरियो है जिन मारग जोग के,
इणहिज निद्रा ने वशे सुपना में सेवे काम भोग के॥

अभी उठूँगा, अभी उठूँगा, अब तो रात बहुत है ऐसा विचार कर लोग सोते रहते हैं और उनका प्रतिक्रमण छूट जाता है।

बराबर सम्हाल के इसका आदर्श बनाये रखें। इसमें आप श्रावक भी हमें समय समय पर सहयोग देंगे ऐसी अपेक्षा है।"

लोगों में सन्तों के इस प्रेम - भाव को देख कर अत्यन्त हर्ष छा गया। उनके भ्रातृ - प्रेम, गुरु - प्रेम, सौजन्य, विवेक, त्याग आदि की सभी प्रशंसा करने लगे। एक अनोखा सा दृश्य था कि आचार्य की चादर ओढ़ कर पूज्य रघुनाथजी और पूज्य जयमलजी पाट पर विराजमान थे। वहाँ उपस्थित लोगों में बहुत से गले से गले मिल रहे थे। एक तरह से स्थानीय समाज में जो मतभेद बढ़नेवाला था, वह शांत हो गया था जैसे उबलते दूध में किसी ने दो बूँद ठण्डे पानी के छींटे देकर उसे शांत कर दिया हो और दूध उफन के ढुलने के बजाय पात्र में ही बैठ गया था।

इसका प्रारंभिक श्रेय यदि पूज्यश्री जयमलजी को जाता था तो लोक मानस को समझ कर अत्यन्त उदारता दिखा के वातावरण को शांत और शुद्ध बनाने का श्रेय पूज्य रघुनाथजी को जाता था और दोनों ने एक गुरु - भ्रातृत्व का अनुपम आदर्श रखा था। समर्थ आत्माओं का सच्चा सामर्थ्य ऐसे अवसरों पर ही प्रगट होता है।

लोगों ने बड़े उत्साह से पुनः जय - घोष किया :—

"बोल, पूज्यश्री रघुनाथमलजी म० सा० की जय....!"

"बोल, पूज्यश्री जयमलजी म० सा० की जय....!!"

आचार्यश्री ने पूज्य जयमलजी को बीकानेर क्षेत्र के विहार में जो - जो परिषह हुए उसके बारे में और वहाँ के श्री संघ के, धर्म प्रेम के बारे में पूछा।

पूज्यश्री जयमलजी ने आचार्यश्री रघुनाथजी को संक्षिप्त में विहार का वर्णन कर बताया कि "किस प्रकार डेह, भदाणा, उदरामसर, देशनोक, नोखा, गोगोलाव और अन्य गाँवों में सच्चे साधु धर्म की श्रद्धा बढ़ी है, मार्ग में भी अन्य लोग किस प्रकार साधु चर्या की बातें जानने लगे हैं और बीकानेर में दीवान बन्धु के साथ कितना बड़ा श्रावक समुदाय श्रद्धा में स्थिर हुआ है। बीकानेर नरेश भी किस प्रकार धर्म से प्रभावित हुए हैं?"

आत्म चेतना और धर्म करणी पर उनके प्रवचनों से लोगों में चेतना आ गई थी और फिर भी कभी-कभी कोई प्रवचनों में नींद लेते पाये जाते तो वे चूटकी लेना नहीं चुकते। वे कहते :—"क्यों श्रावकजी! नींद आ रही है?"

"नहीं, बापजी!" नींद से चमकते श्रावकजी बोलते। उन्हें खुला झूठ बोलते देख श्रोता गण हँस पड़ते और पूज्यश्री कहते :—"आपका ध्यान तो न था; किन्तु आज ऐसी ही एक पद्य रचना हुई है :—

साधु श्रावक ने हेलो दियो उँघालु ने कहे तूं उठ के।
कहे मोने तो उँघ आई नहीं, आतो बोले उघाडा झूठ के॥

सोजत के श्रीसंघ ने नींद उड़ाने हेतु उनके चेतना पूरक प्रवचन सुने और बड़ी धर्म जागृति हुई। पर्युषण के दिनों में इससे धर्म ध्यान का बड़ा ठाठ लग गया। अनेक अठाई, बेले, तेले, चौले आदि तपस्यायें हुईं। लोगों में पूज्यश्री के प्रवचन रूपी बरसात से तप रूपी जल से आत्म शुद्धि विशेष हुई।

पर्युषण के बाद भी उनकी चेतना के प्रवचन चालु रहे। वे कहते थे कि :—"आत्मा को टटोलो। उससे पूछा :—

कह भाई रूडो तें सूं कियो....! *

सतगुरु आगम साख थी,
दे भव जीवां ने सीख।
सुगुरु, सुदेव, सुधर्मनी,
थां कांय न राखी ठीक॥ कह भाई....!

---

* आत्मिक (शीखामण) छत्तीसी, जयवाणी पृ० १६२-६७
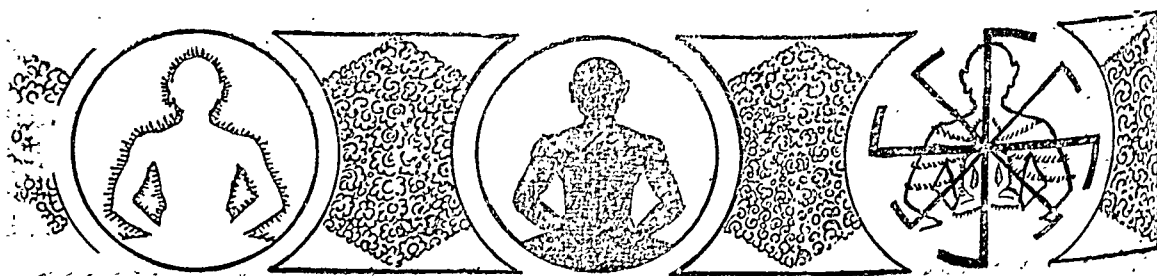
जयध्वज

खंड - ६

•
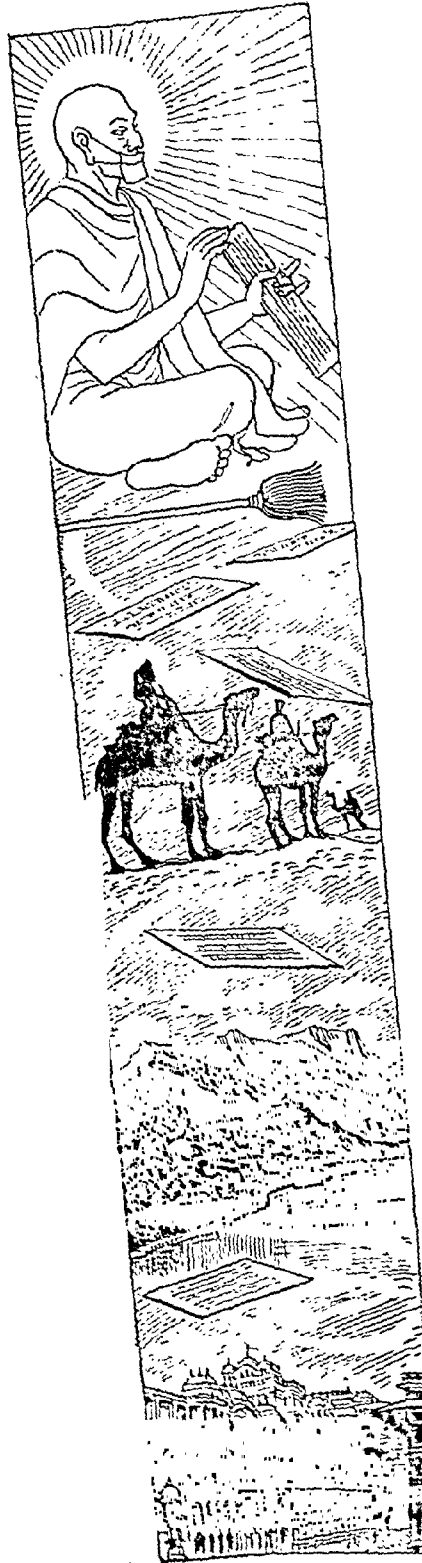
उनका परिचय पापों से रहता है और उनके हजुर में हिंसा ही हाज़िर रहती है। ललनाओं से उनकी लगन लगी रहती है, नाच - गान मूजरा और वेश्याओं में वे व्यस्त रहते हैं। उनके हृदय में 'दया' का नाम नहीं रहना।

सामान्य बातें ऐसी रहती है जिसमें ध्यान रखा जाय तो भी जीव - हिंसा कम होती हैं। फूल न तोड़ना, पानी छान कर पीना, किन्तु लोग इस ओर भी ध्यान नहीं देते और :—

बाग बगीचा में जाय ने,
तोड्या फल फूल पान।
अनन्त काय भक्षण किया,
अलगण नीर सिनान॥ कह भाई....!

भांग तिजारा ने काढने,
ढोल्या अलगण नीर।
पाणी ने फुहारां तणी,
नहीं जाणी रे पर - पीर॥ कह भाई....!

अलगण — बिना छाना पानी कितनी हिंसा का भागी बनाता है उस पर ज्ञानी विचार करे तो भी अनेक जीवों की रक्षा हो सकती है, उसमें भी कपड़े का विवेक रखा जाय तो भी कितनी हिंसा रुकती है? कहा है :—

पतले गरणे छाणतां,
जिवडां वां में जाय।
कदाच जो लारे रहे,
तों पेशे चिपटी रे मांय॥
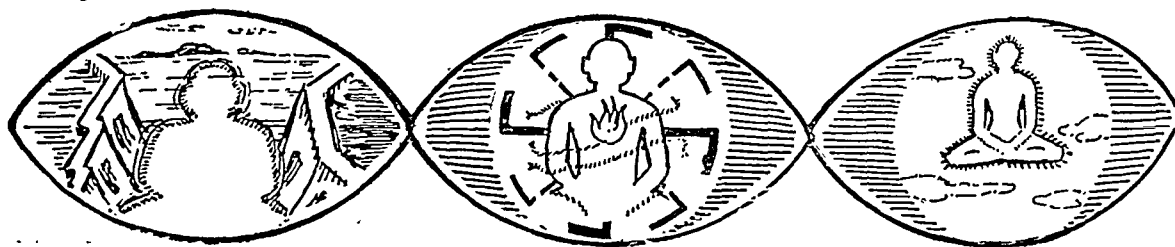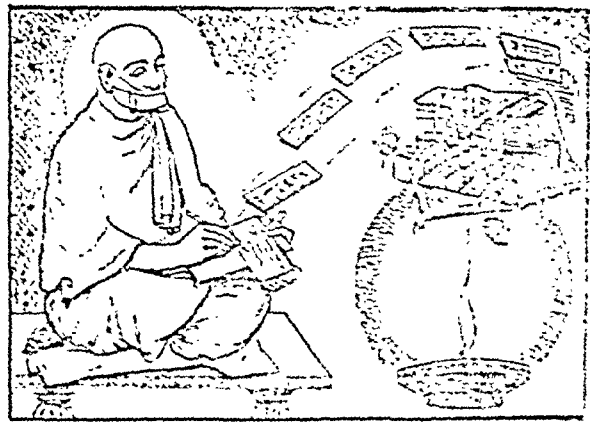
जा रहा था। मुगल सल्तनत षड़यन्त्र, शराब और सुन्दरी के बीच फँसी हुई थी। फलतः पूर्व में बंगाल, दक्षिण में निजाम, मध्य में राजस्थान, पश्चिम में गुजरात के नियुक्त हाकिम स्थानीय राजा-महाराजाओं और ठाकुरों से मिल कर अपना अलग राज्य बना रहे थे। इसका लाभ मराठे ले रहे थे।

मराठाओं का प्रभुत्व बढ़ता ही जा रहा था। विशेष रूप से इन्दौर के होल्कर और ग्वालियर के सिंधिया की शक्ति बढ़ रही थी। उन्हीं दिनों में दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गई। उसका लड़का अहमदशाह होल्कर और सिंधिया की मदद से गद्दी पर बैठा। अहमदशाह को मराठा की सहायता से गद्दी पर बिठानेवाला अयोध्या का नवाब सफदरजंग था, जिसे उसने वज़ीर बनाया। मुगल दरबार में राजपूतों का महत्व घट रहा था; क्योंकि वे आपस की लड़ाइयों में उलझे हुए थे। वे भी मराठाओं की सहायता माँग रहे थे।

जीवा चेतो रे, परखो देव गुरु ने धर्म,
मेटो माया भरम री ॥ जीवा चेतो रे....!

सन्त तो यही उपदेश देते हैं कि जीवों! चेतो! सच्चे देव गुरु और धर्म की परीक्षा करो और माया एवं भ्रम को मिटाओ! मनुष्य जन्म पाकर प्रमाद में न गँवाओ। कब जरा और रोग आकर घेर लेंगे, पता नहीं चलेगा। यह जीव तो शरीर का मेहमान है; मेहमान तो थोड़े दिन रुक कर चला जाता है, चेतो!

जीवा चेतो रे, वासो वसियो आय,
जीव वटाउ पावणो। †

जीवा चेतो रे, चट दे जीव चल जाय,
साथ न हुए केहनो ॥

जब यह चला जायेगा तो सगे सम्बन्धी कोई साथ नहीं चलते। जिस धन को संचित किया है वह भी नहीं चलता। बन्धु-बांधव, पुत्र कलत्र कोई भी नहीं चलता, सिर्फ साथ चलता है धर्म।

जीवा चेतो रे, आथ न आवे साथ,
नारी संपदा गहरी। जीवा चेतो रे....!
जीवा चेतो रे, सगली पाछे रहि जाय,
छाड जाणी निज देहरी ॥ जीवा चेतो रे....!

अभी चेतना है उतना चेता जा सकता है। इस काया-माया का कोई भरोसा नहीं है। क्योंकि :—

जीवा चेतो रे, अल्प आऊखो जाण,
तन धन जोवन अथिर छे। जीवा चेतो रे....!

† मेहमान
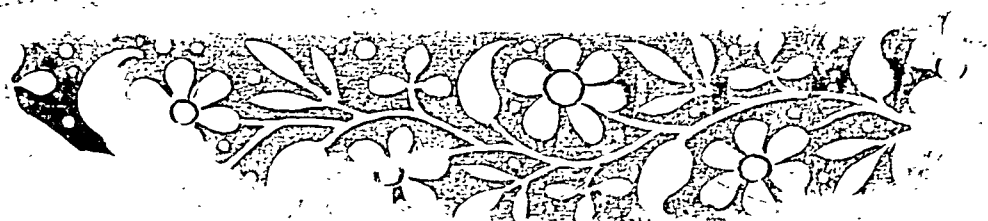
के ये विद्वान शिष्य धारा नगरी में पहले गोसांईजी के शिष्य थे। उनसे वे संस्कृत भाषा के प्रकांड पारंगत पंडित बने।

एक बार पूज्य धर्मदासजी म० सा० का व्याख्यान आप ने सुना और आप गोसांईजी की हवेली (मठ) छोड़ कर उपाश्रय में बैठ गये। गोसांई को मालूम पड़ा तब उन्होंने उपाश्रय में आकर पू० धर्मदासजी म० सा० को कहा :—"मेरा राम जैन दीक्षा लेना चाहेगा तो मैं उसमें बाधक न बनूँगा।"

रामचन्द्र ने यह सुना और वह गोसांईजी के पास पहुँचे और उनके पैरों में पड़े। राम का हाथ पकड़ कर गोसांईजी उन्हें मठ में वापस ले आये।

दो एक दिन बाद रामचन्द्र ने फिर आज्ञा मांगी। गोसांईजी ने पहले मठ की अपार सम्पत्ति, राज्य कृपा आदि की सारी बातें कहीं; किन्तु रामचन्द्र का मन अब और कहीं था। गोसांईजी ने फिर जैन दीक्षा की कठिनाईयाँ बताईं; फिर भी रामचन्द्र अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। अनेक प्रकार से मनाने पर भी रामचन्द्र को दृढ़ देख कर स्वयं गोसांईजी ने पूज्य धर्मदासजी के पास दीक्षा लेने की स्वीकृति दे दी।

दीक्षित होने पर उन्होंने मालवा, मध्य प्रदेश आदि में धर्म का काफी प्रचार किया। पूज्य धर्मदासजी ने बाईस टोले अलग बनाये तो पू० रामचन्द्रजी का विचरण क्षेत्र मालवा बना था। संस्कृत में आप पारंगत थे ही, दीक्षा के बाद अर्धमागधी एवं प्राकृत भाषा के पंडित बने।

संवत् १७८८ में आप उज्जैन पधारे। उस समय पेशवा के सिंधिया सरकार की माताजी को कुछ दुर्बोध संस्कृत श्लोक का अर्थ आप ने बताया। इससे प्रसन्न होकर महाराणी कुछ भेंट देने लगी तो आप ने जैन साधुओं का आचार विचार बता कर कहा कि वे कुछ भी नहीं लेते। फिर भी महाराणी ने अत्यन्त आग्रह किया तो उन्होंने कैदियों को मुक्त कराने की इच्छा प्रगट की। इससे कैदी मुक्त हुए और जैन धर्म की बड़ी प्रभावना हुई।
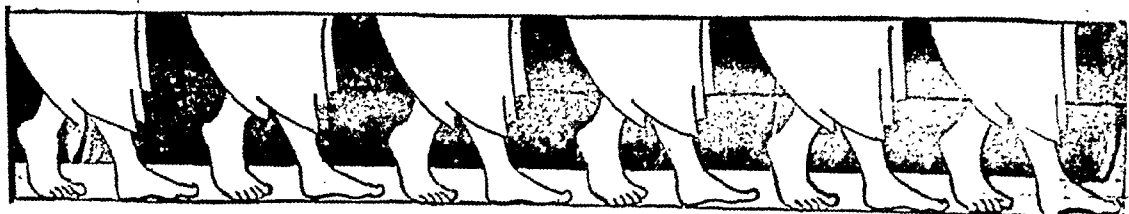
उनके जीवन बोध देनेवाले काव्यों से अनेक आत्मार्थी लोग अपनी जीवन दिशा बदल चुके थे। युवान लोग बड़ी तन्मयता से उनके सत्संग में अपना समय बिता कर सार ग्रहण कर जीवन सुधारने लग गये थे। यही उनकी रचनाओं की प्रत्यक्ष सफलता थी।

सोजत का चातुर्मास पूर्ण हुआ और विहार का दिन आया उस समय सभी के हृदय से यह बात प्रगट हो रही थी कि "आपका चातुर्मास पाकर हम धन्य हो गये हैं।"

उन्हें विदाय देने जो लोग इकट्ठे हुए थे उसमें अनेकों नये श्रद्धावान श्रावक थे और सविशेष युवान वर्ग था। इन पर धर्म का रंग चढ़ना पूज्यश्री जयमलजी का ही प्रभाव था।

पूज्यश्री ने विदाय सन्देश में इतना ही कहा :—"श्रावकों को सच्ची श्रद्धा स्थिर रखनी चाहिये। जिन शासन का विनय रख कर हमेशां सच्चे सन्तों के प्रति जैसी भक्ति रखते हैं वैसी ही बनायें रखें और धर्म के आधार से आत्मा की उन्नति करते रहें। हमारे विहार के बाद आपके जो पौषधशाला और स्थानक हैं, वे भी धर्म ध्यान से ऐसे ही भरे होने चाहिये जैसे चातुर्मास में भरते थे।"

सन्तों ने मंगलिक सुना कर वहाँ से विहार किया। लोगों ने अनुभव किया कि ऐसे सन्त पुनः पुनः पधार कर नई चेतना लाते रहें तो अनेक जीवों का कल्याण हो सकता है।

पूज्यश्री का भी यही एक मात्र आदर्श था।

●

उनके प्रवचनों का प्रारम्भ कोई न कोई मधुर प्रार्थना पद से होता। मधुर कण्ठ से जब वे प्रारम्भ करते :—

रे जीव! जिनवर सुमरिये,
सुमरयां जय - जयकार।
इण भव में सुख सम्पदा,
पामे, भव भवनो पार॥ रे जीव....

उनके साथ अनेकों कण्ठ से वह पद गुंजारित हो उठता :—

रे जीव जिनवर सुमरिये....

वे पुनः आगे पद उच्चारते :—

ऋषभ अजीत सम्भव नमुं,
अभिनन्दन अभिराम।
सुमति पद्म सुपासजी,
पहुँचा शिवपुर ठाम॥ रे जीव....

चौवीश तीर्थंकरों की स्तुति के अन्त में बड़ी श्रद्धा से वे उपसंहार करके पद उच्चारण करते :—

ए चउसीवी जिणवर तणा,
ध्यावे हितकर नाम।
रिख जयमल इम विनवे,
पामे अविचल धाम॥ रे जीव....

उनका यह चउवीसी स्तवन बड़ा ही सुप्रसिद्ध होता चला गया। जगह - जगह गाँव - गाँव में छोटे - बड़े सभी के मुँह से यही स्तवन सुना जाता था :—

रे जीव जिनवर सुमरिये....!
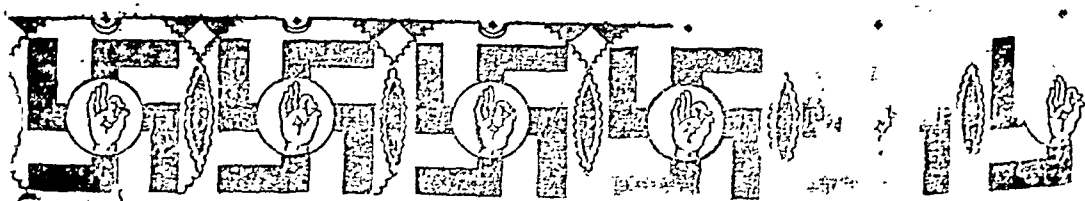
कृपाराम उनको शतरंज के दाव पेंच बताता था। कृपाराम ने अभयसिंह के प्रहार की प्रशंसा की। मुहम्मदशाह को यकीन न हुआ और उसने आँखों से देखने के लिये एक आयोजन किया।

जयपुर राजा जयसिंह ने वहाँ चाल चली। एक अति भयंकर भैंसे को शराब पिला कर तैयार किया। क्रीड़ा के आंगण में आते ही महाराजा अभयसिंह जान गये कि माज़रा क्या है? उन्होंने पल भर बाहर जाकर कसूंबा के दो प्याले पी लिये। फिर वे मैदान में उतर गये।

आँखों से अंगारे बरसाता हुआ भैंसा प्रलय की तरह अभयसिंह की ओर लपका। लोगों में भय सा छा गया कि महाराजा अब गये। बहुतसों ने आँखें बन्द कर लीं और बहुतसों के मुख से चीख निकली। लेकिन जो साँस रोक कर देख रहे थे उन्होंने गजब सा नज़ारा देखा। प्रलय की बिजली से महाराजा अभयसिंह ने दो हाथ से भैंसे के शिंग पकड़ लिये और उसे झटका देकर पीछे हटाते गये।

अभयसिंह जान गये थे कि यह किसकी चाल है; अतः उन्होंने भैंसे को जयपुर नरेश के पास तक धकेल दिया। वे घबरा गये। क्या होता है, यह लोग जाने उसके पहले उन्होंने तलवार का ज़ोरदार प्रहार किया। भैंस का सिर उनके हाथ में था और धड़ उछल कर जयपुर नरेश के आसन के पास जाकर गिरा था।

आश्चर्य से सभी स्तब्ध हो गये। वाह-वाह से आंगन गूँज उठा।

इसके बाद कभी किसी ने उनके साहस और बल-पराक्रम की परीक्षा लेने का इरादा नहीं किया ऐसा कहा जाता है। मारवाड़ और राजस्थान में उनकी धाकसी छा गई।

ऐसे पराक्रमी होने पर भी कभी कभी उनको अपने जीवन की एक कलंकित घटना याद आ जाती थी। उन्हें कविवर करणीदानजी का पुष्कर तीर्थ में कहा दोहा कभी कभी याद आता था और वे बेचैन हो उठते थे।
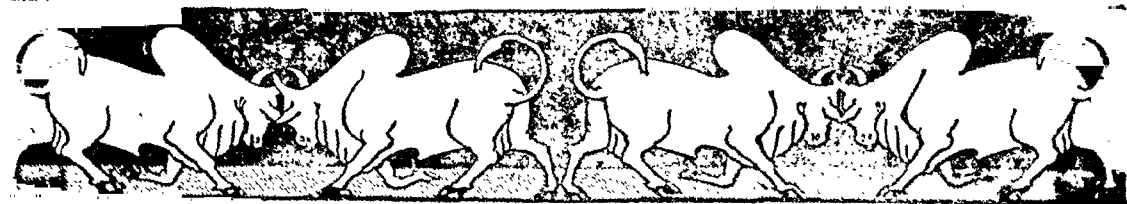
लोग कहते हैं कि मोक्ष के दरवाज़े बन्द हो गये हैं; मगर वे कहते कि यह निरा झूठ है। जो तुम प्रयत्न करो तो वे क्यों न खुलेंगे? मगर लोग प्रयत्न तो करते नहीं और मोक्ष पहुँच जाना चाहें यह कैसे हो सकता है?

उसके लिये उसके लायक दया - दान - तप आदि का उद्यम होना चाहिये। वे उन लोगों के लिये कहते :—

मोक्ष तणा जो सुख चाहो,
तो तपस्या करी, ल्योनी लाहो।
पांचुई इंद्रिय दामी,
सुमरो श्री सीमन्धर सामी॥

वे कहते थे :—"मनुष्य जन्म मिला है और सच्चे सच्चे दया - धर्म की आराधना करो, मुक्ति सामने ही मिलेगी।"

ए मानव भव दुरलभ लाधो,
तुम दया धर्म सुध आराधो।
मुगती आवे ज्युं तुम सामी,
सुमरो श्री सीमन्धर सामी॥

सीमन्धर स्वामी कोई जैसे तैसे नही है; उनका बड़ा प्रभाव है। उनका नाम सुमरन करने से ही कितना फायदा होता है? एक बार उनका नाम सुमरन कर; फिर तू स्वयं ही बोलेगा :—

तुम नामे दुःख दोहग टले,
तुम नामे मुगती सुख मिले।
टल जाय नरक तणी धामी,
सुमरो श्री सीमन्धर सामी॥

जोधपुर नगर में इस आनन्द मंगल की चरम सीमा जैसे जोधपुर श्री संघ ने विनती की :—"हमारे यहाँ पर शासन एकता का इतना बड़ा कार्य सम्पन्न हुआ है और अब हम पर विशेष उपकार करने के लिये पूज्य आचार्य श्री रघुनाथजी म० सा० से जोधपुर चातुर्मास करने की हमारी विनती है। उसे पूज्य आचार्य प्रवर स्वीकृत करें !"

आचार्य रघुनाथजी ने कहा :—"इसका निर्णय तो मुनिश्री जयमलजी करेंगे !"

पूज्य जयमलजी ने कहा :—"आप बड़े आचार्य हैं और आप के इस अधिकार का भार मैं उठा नही सकता। बाकी जोधपुर श्री संघ की विनती है और मेरी भी राय है कि आप को जोधपुर श्री संघ पर यह कृपा करनी चाहिये।"

पूज्य रघुनाथजी ने स्वीकृति दी तब जोधपुर श्री संघ में आनन्द छा गया। उन दिनो जोधपुर में सोजत और नागौर के श्री संघ भी आये हुए थे। उन्होंने दोनों पूज्यों और विशाल सन्त समुदाय के दर्शन किये। उनकी ओर से भी अपने-अपने नगर के लिये चौमासे की विनती की गई।

पूज्य रघुनाथजी के निर्देश से श्री संघवाले पूज्यश्री जयमलजी के पास गये तब उन्होंने कहा :—"मेरे लिये आचार्यश्री जैसी आज्ञा देंगे वैसा आदेश मैं मानूँगा।"

सोजत के श्री संघवालों का अधिक आग्रह था और वे पूज्यश्री रघुनाथजी के पास गये। पूज्यश्री रघुनाथजी ने कहा :—"मैंने तो उन्हें अपने बराबर का पद दिया है। वे स्वीकृति दे सकते हैं।

सोजत श्री संघवाले पूज्य जयमलजी के पास आये तो उन्होंने स्पष्ट कहा :—"अलग-अलग सन्त मेरे पास विचरण करते हों तो उन्हें मैं आप के आदेशानुसार, आज्ञा-निर्देश करता रहूँगा; किन्तु साथ हैं तो केवल बड़ों की आज्ञा चलती है — यही हमारा शासन विनय है।"

अन्त में पूज्यश्री रघुनाथजी ने पूज्यश्री जयमलजी के सोजत चातुर्मास के लिये स्वीकृति दी और सोजत श्री संघ में आनन्द छा गया।

भाव-विभोर होकर पूज्यश्री से निवेदन करते :—"न जाने आप के पद्यों में क्या माधुर्य है कि उसे सुनते परम शांति, स्थिरता और आनन्द आनन्द सा लगता है।"

पूज्यश्री उन्हें सुनाते :—"यह तो उन बड़ों का प्रताप है कि जिनका स्मरण करने से तीनों प्रकार के कष्ट-नष्ट होते हैं। इसीलिये उन्हें इष्ट कहा गया है। ऐसे परम इष्ट-परमेष्ठि का स्मरण करना चाहिये।"

मेड़ता से सन्तों का विहार नागौर की ओर हुआ। उधर नागौर चौमासा पूर्ण करके मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० आदि सन्त निमाज की ओर पधार रहे थे। मार्ग में सन्तों का परस्पर मिलन हुआ। पू० मुनिश्री जयमलजी और मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० आपस का प्रेम भाव उत्तम था। उनका ऐसा व्यवहार देख कर अनजाने में बहुत से यह कह बैठते थे कि "दोनों सगे भाई तो नहीं हैं?"

"इस धर्म के कारण सगे से अधिक आत्मीय दोनों हैं!" ऐसा बहुत से खुलासा करते। मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० भी पूज्य जयमलजी से उनकी नई नई रचना सुनते और सुन कर गद्‌गद्‌ हो जाते।

सन्त-मिलन बाद पूज्यश्री जयमलजी नागौर की ओर आगे बढ़ गये। नागौर पहुँचने पर बहुत बड़ी संख्या में लोग सामने आये और भक्ति-भाव से वे उन्होंने पूज्यश्री का नगर प्रवेश कराया।

लोगों को अभी विगत वर्ष ही मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० का चातुर्मास प्राप्त हुआ था। उसके पूर्व बीकानेर जाते समय और लौटते समय लोगों ने उनका लाभ लिया था और यहीं पर नई दीक्षायें हुई थीं; किन्तु आचार्य के नाते नागौर प्रवेश करने का उनका पहला ही अवसर था; अतः लोग बड़े उत्साह में थे।

पूज्यश्री ने आगमन का समाचार महाराजा बख्तसिंह को मिला। वे अपने मन्त्री और दरबारी के साथ दर्शन करने आये। उन्होंने मन्त्रीजी से और अन्य लोगों से जोधपुर के आचार्य प्रसंग की बात सुन रखी थी; अतः उन्होंने वन्दना करके कहा :—"बापजी!

पूज्यश्री जयमलजी के उपदेशों में धर्म जागृति की नई प्रेरणा रहती थी। एकता का आदर्श उन्होंने रखा ही था; अतः संगठन के लिये उनकी बातों का असर बहुत पड़ता था।

संवत् १८०५ की साल के चातुर्मास के लिये पूज्यश्री जयमलजी आदि चार सन्त जब सोजत पहुँचे तो वहाँ के श्री संघ ने सामने जाकर बड़ी धूमधाम और मंगल गीतों से उनका स्वागत किया।

पूज्यश्री की जयजयकार और मंगल गीतों के साथ उनका पदार्पण सोजत में हुआ। सोचत श्रीसंघ की दृष्टि में पूज्यश्री जयमलजी जो पहले थे उससे कई गुने अधिक ऊँचे हो गये थे। आचार्य पद के लिये विवाद जिस तरह जोधपुर में सुलझा था और पूज्यश्री जयमलजी ने इसमें जो दृढ़-निर्णय लिया था इससे सोजत श्रीसंघ का मान बना रहा।

अतः चातुर्मास प्रारम्भ होते ही सोजत के श्रीसंघ ने पुनः एक आयोजन किया। उन्होंने पहले पूज्यश्री रघुनाथजी को आचार्य पद यहाँ दिया था; मगर जोधपुर में पूज्यश्री रघुनाथजी ने स्वयं पूज्य जयमलजी को आचार्य की चादर ओढ़ाई थी; अतः अपने कर्तव्य की पवित्रता और सम्पूर्णता के रूप में सोजत संघ ने पुनः आचार्य पद समारम्भ का आयोजन किया।

लोगों ने बड़ी श्रद्धा के साथ छोटे आचार्य के रूप में उनकी घोषणा की। सोजत के श्रीसंघ ने उनके प्रति भी वैसी ही अपनी श्रद्धा प्रगट की। साथ-साथ उन्होंने पूज्यश्री जयमलजी ने संघ-एकता के लिये क्या किया वह भी अन्य सभी को बताया जिसे जान कर श्रीसंघ के लोग बड़े प्रभावित हुए।

पूज्यश्री जयमलजी ने श्रीसंघ की श्रद्धा भक्ति की बड़ी सराहना की और साथ ही सोजत शहर की जनता की प्रशंसा की कि जहाँ से दो-दो बड़े समर्थ आचार्य हुए— पूज्य भूधरजी और पूज्य रघुनाथजी। पूज्यश्री जयमलजी ने कहा कि "मैं दोनों आचार्यों का उपकार कभी भी भूल नहीं सकता। पूज्य भूधरजी कितने भद्रिक थे उसके कई दृष्टांत

हमारे बाल तो धूप में पके हैं; फिर भी उन्होंने धर्म नहीं सीखा तो क्या फायदा हुआ? वे बड़े मधुर - कण्ठ से उन्हें गाकर यह उलाहना देते :—

बूढ़ा तिके पण कहिये बाल....!

क्योंकि वे कहते थे कि :—

दुर्लभ मिनख जमारो पाय,
परमादे दिन निकल्या जाय।
धर्म बिना जे गमावे काल।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥ *

दुर्लभ मानव देह पाकर प्रमाद में जो दिन निकाल रहे हैं और धर्म के बिना काल को बिता रहे है उन्हें क्या वृद्ध - अनुभवी कहेंगे? वे भी तो छोटे बच्चे के समान ही हैं। आँखें कमज़ोर हो गई है, मुँह ढीला हो गया है; फिर भी अभी खाऊँ - खाऊँ कर रहा है। कहा भी है :—

सूसं नहीं कोई व्रत आंखडी,
ढीलो मुख नहीं मेले घड़ी।
खाणा साहमो रहयो निहाल।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥

सच्चे देवगुरु और धर्म को वह नहीं जानता और सच्चे - झूठे सभी को एक ही पलडे में बिठा कर सब को बराबर कहता फिरता है। इनकी हालत तो फटे हुए सरोवर जैसी है जिसमें कभी सच्चे धर्म का जल टिकता नहीं है। जिनमें सत्य - सम्यक्त्व की श्रद्धा उत्कृष्ट नहीं होती वे क्या छ काय के जीवों की रक्षा आदि की बातें कह सकेंगे। सच्चे व्रतों का वे कैसे पालन कर सकेंगे।

---

* बाल प्रतिबोध चौतीशी — जयवाणी पृ० १५६.

अनेकानेक उदाहरण देकर वे कहते थे :—"जागो....! चेतो ! वरना यह निद्रा आपका सब कुछ अपहरण कर लेगी !"

निद्रा... निद्रा... निद्रा... प्रचला,
प्रचला प्रचला थिणद्धि जाण के।
पांचूं निद्रा पावणी,
ले जावे दुर्गति मांही ताण के ॥

—ज्ञानियों ने पाँच प्रकार की निद्रा बताई है। कोई सोते हैं तो आवाज होने पर जागते हैं—वह निद्रा है। कोई बुलाने जगाने पर जागते हैं—वह निद्रा-निद्रा है। कोई बैठे-बैठे सोते हैं—वह प्रचला है। कोई चलते-चलते सोते हैं—वह प्रचला-प्रचला है। कोई सोते-सोते अनेक कार्य कर देते हैं—वह स्त्यानगृद्ध निद्रा है; मगर उन्हें पता नहीं चलता। सामान्य निद्रा में भी लोगों के घर चोरी हो जाती है तो खड़े-खड़े रह कर और चलते-चलते भी जो निद्रा लेते हैं और निद्रा में कार्य करते हैं उनका क्या हाल होता होगा?

शास्त्रों में एक चौदह पूर्वधारी श्रमण का उल्लेख मिलता है जो नित्य जैसे केवली उपदेश देते हों वैसे उपदेश देते थे। उनके उपदेश से हजारों लोग तिर गये थे; मगर कहते हैं कि इस निद्रा के कारण वे धीरे-धीरे ऐसे शिथिल होते गये कि अन्त में मर कर वे नरक और निगोद की गति को प्राप्त हुए।

सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि निद्रा तो सुख का का कारण है; फिर भी उसकी गिनती पाप-कर्म में की गई है। ऐसा भी संसार में कहा जाता है कि जो सुखी होता है उसे अच्छी नींद आती है तब उसे अशुभ क्यों माना गया है?

ज्ञानी कहते हैं कि जीव को मनुष्य देह इसलिये मिली है कि वह ज्ञान-दर्शन, चारित्र आदि आत्म-गुणों को प्राप्त करें। इसमें एक समय भी निष्फल जाता है तो वह प्रमाद वश आत्म घात करता है! फिर निद्रा में कोई हिसाब लगा ले कि वह कितना समय गँवाता रहता है? इसीलिये निद्रा को पाप-कर्म में गिना गया है।
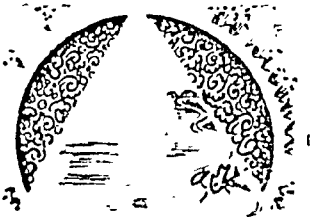
जाणे उठी अगन की जाल ।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥

अक्षर भेद न जाणे मूढ़,
चाल रहयो छे कुल की रूढ़ ।

ठोठ भट्टारक ठंठण पाल ।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥

यह स्पष्ट था कि नागौर में पूज्यश्री बन कर आचार्य जयमलजी म० के चातुर्मास में सत्य-धर्म का वह ठाठ लगा हुआ था कि वहाँ के यति-भट्टारक गण बहुत ईर्ष्या करने लगे थे। कहते हैं कि उन्होंने लोगों को कई प्रकार की करामात करके पूज्यश्री का प्रभाव घटाने का आह्वान किया था; किन्तु उनका कुछ भी न चला। पूज्यश्री के प्रवचन की ओर उनके पीछे रहे सच्चे चरित्र की करामात थी कि लोग अधिक से अधिक संख्या में उनके वन्दन-दर्शन-प्रवचन का लाभ लेने लगे साथ ही वे सच्चे धर्म को पहचानने लगे।

पर्युषण पर्व के दिन आये। बड़े उत्साह से लोगों ने उपवास, बेला, तेला, अठाइयाँ और इससे भी ऊपर उपवास किये; किन्तु जो लोग बड़ी-बड़ी बातें बनाते थे किन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं किया उनको पूज्यश्री का मीठा उलाहना मिल ही जाता था :—

आया पजूषण भादव मास,
छती शक्ति न करे उपवास।

चित्त दियो घृत रोटा दाल ।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥

न सुणे कदे साध री बाण,
लागी रहे घर री ले ताण ।

बेठा झूठी करे झिकाल ।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥

मुझे निद्रा नहीं आती — यों बहुत से दुःखी होते हैं और निद्रा में सोनेवाले को सभी सुखी मानते हैं; मगर यह तो जब अपने वश में जीव को कर लेती है तो कभी परदेश जानेवाले को कभी अपना गला कटवाना पड़ता है, तो कभी धनवान का दीवाला निकाल देती है।

परदेशां जाय मानवी, आवत जावत हो वही रह्यो वाट के,
इण हिज निद्रा ने वश पासी-गरहो जावे गलो काट के।

धन माल घर में हुतो, राखतो हो बहु जोमने गाढ़ के,
निद्रा ने वश चोर ले गया पछे दियो हो देवालो काढ़ के॥

निद्रा के आगे बड़े-बड़े जोरावरी युवानों का ज़ोर नहीं चलता और इस विषय में उदाहरण देकर लोगों को बड़ी हँसी-मजाक में वे कहते थे :—"एक बड़ा जुवान-जोध-योद्धा सा आदमी था। वह गाँव-गाँव फिरता था और सब से दंगल लड़ता था। ताल ठोक के जब वह अखाड़े में उतरता था उससे कोई जूझ सकता न था। एक दो पल में ही वह प्रतिस्पर्धी को ऐसा पछाड़ देता था कि वह चारों कौने चित पड़ जाता था।

मगर अन्त में उसकी हार कैसे हुई यह भी जानने जैसी बात है कि उसके शत्रुओं ने मौका देखा और जब वह सो रहा था तब उन्होंने उसको खत्म कर दिया। निद्रा ने उसे इतना परवश कर दिया कि बड़ों-बड़ों को हरानेवाला भी हार खा गया।"

पूज्यश्री दिन के प्रवचन के अनुरूप, रात्रि में सीधे बैठे-बैठे उसे काव्य के बन्धन में, मोती सा गुंथ लेते थे कि :—

ए तो जोध जवान था एहवा, जिणसे ती हो नहीं सकता जूंज के।
निद्रा में सूतां थकां कर दीधां ही ज्यां ने खाड़ा बूज के॥

*　　　*　　　*

किण ही सुं डरता नहीं ए तो हुताजोरावरी जोध के।
मारी ने गाड दिया ज्यांरी, हाडकियाँ सकियाँ नहिं सोध के॥

और बंधवा रहा है। वह समकितधारी नहीं; किन्तु मिथ्यात्व में रहनेवाला है। इसीलिये तो तुम्हें स्पष्ट कहना है कि :

ऋषि जयमल भाषे एम,
दया धरम सुं कर तुं प्रेम।
छोडो तुमे संसार की जाल।
बूढा तिके पण कहिये बाल॥

उनके साथ अनेकों मुखों से यह पद गुँजाता :—

बूढा तिके पण कहिये बाल।

दीवाली के दिन पास आ रहे थे।

पूज्यश्री ने धर्म प्रेमी सज्जनों के लिये दीवाली का नया स्वरूप बताते कुछ भावात्मक पद रचके सुनाये जिसे सुन कर धर्म प्रेमी बन्धु आत्म विभोर हो गये।

दिवाली रो दिन बड़ो, जादा मत करो पाप,
निद्रा विकथा परिहरो, करो जिनजी रो जाप....

धन नरेश आती है और लोग अपने घर में धन लाते हैं तब आत्मार्थी के लिये तो यही होना चाहिये :—

दिवाली दिन जाणने, धन पूजे घर मांय,
इम तूं धर्म ने पूज ले, ज्यो अमरापुर में जाय॥

दिवाली आते ही लोग खाजा, पकवान, मिठाई आदि बनाते हैं। तब धर्मात्मा के लिये भी वैसी धार्मिक मिठाईयाँ भी अनेक हैं। वैसे :—

क्षमा रूप खाजा करो, वैराग्य घृतज पूर।
उपशम मोचण घालने, मदवो मोती चूर॥
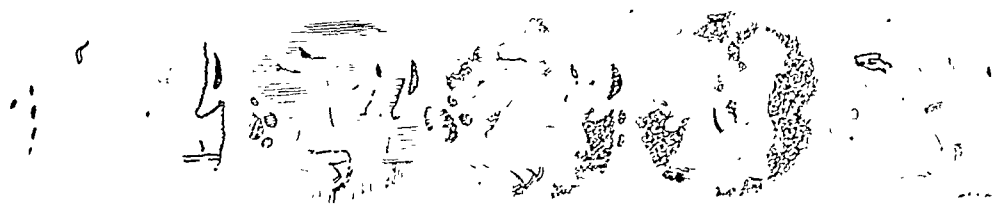
मनुष्य जन्म पाकर भी उसे हार दिया तो क्या फायदा....? शास्त्रकार तो पुकार-पुकार कर कह रहे हैं :—

पाछली रयणज ऊठ ने,
न कियो जिनजी रो जाप।
काम मांहे कलियो रह्यो,
बहुला संच्या रे पाप॥ कह भाई....!

पाप करने में न आगे देखा न पीछे; बस, पाप करते ही चला। ऐसा ही सोचने में रह गया कि जीवन तो मौज शोख के लिये है! इंद्रियों के विषय-सुख के पीछे जीव कितना भटकता है?

कहते हैं कि :—

पांचू मेली रे मोकली,
छहुं री खबर न कांई।
सातां सेती रे लग रहयो,
पडियो आठ मद मांई॥

जवानी है, जोश है, पैसा है, बस, पाँचों इंद्रियों को छूट दे दी और छः काय के आरम्भ-समारम्भ में लग कर कभी उनका ख्याल न रखा कि मैं कितनी हिंसा कर रहा हूँ। विषय-सुख जब बढ़ते हैं तो व्यसन सा लग जाता है और एक के बाद एक सातों व्यसन में जीव फँस जाता है। उसको उसकी लगन लगी रहती है। उसे उनका आठों प्रकार का मद-अभिमान चढ़ता है और वह सोचता है कि बस, मैं ही मैं हूँ।

पापासूं परिचय घणो,
'हवो' रहे रे हजुर।
ललै लिव लागी रही,
'ददो' दिल सूं दूर॥ कह भाई....!
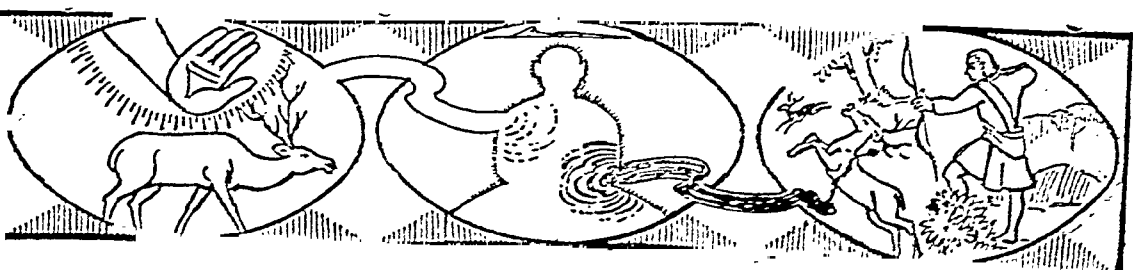
मंदिर, मूर्ति, धूप, दीप आदि और ही हैं। सामान्य और व्यवहारिक वस्तुयें, उनकी तुलना कैसे कर सकती हैं? वह जानता है कि :—

काया रूप करो देहरो, ज्ञान रूपी जिन देव।
जश महिमा शंख झाल री, करो सेवा नित मेव॥

धीरज मन करो धूपणों, तप अगरज खेव।
श्रद्धा पुष्प चढायने, इम पूजो जिन देव॥

जिनदेव की सच्ची पूजा के लिये धर्मरूपी ही दीप आदि जलने चाहिये अतएव मुमुक्षु यह मानता है कि :—

दया रूपी दिवलो करो, संवेग रूपणी वाट।
समगत ज्योत उजवाल ले, मिथ्या अंधारो जाय फाट॥

संवर रूपी करो ढांकणो, ज्ञान रूपियो तेल।
आठूं ही कर्म परजाल ने दोरे अंधारो ठेल॥

पूज्यश्री ने इस प्रकार जो जड पूजा में माननेवाले थे उनकी श्रद्धा सच्चे आत्म धर्म पर स्थिर की। उनकी ये उपमायें और सत्य दीवाली मनाने की बातों आत्म प्रतीक जान कर और तदनुसार आचरण कर लोग धन्य हुए।

क्या सुंदर कल्पना पूज्यश्री के कवि हृदय से साकार होकर पद्य रूप में प्रगट होती थी। बाहिर के मंदिर-देहरे की, हे आत्मा! तुझे क्या आवश्यकता है! मनुष्य जन्म से श्रेष्ठ कोई जन्म नहीं है और मानव देह से बढ़कर कौन सा सच्चा मंदिर हो सकता है? उसमें सच्चे देव की मूर्ति तो तेरी आत्मा है - जो अनन्त ज्ञानी परमात्मा की प्रति मूर्ति भी है, सच्चे ज्ञान से जो प्रकाशित है। उसकी ही रोज पूजा - सेवा करनी चाहिये। धूप दानी आदि का पात्र स्वयं तेरे मन का धीरज है, उसमें तप रूपी अगर का धूप फैल रहा है और अब तुझे अपनी श्रद्धा के पुष्प ही चढा कर सच्चे रूप से जिनदेव की पूजा करनी है।

इन हिंसादि कर्मों के साथ हांसी, मश्करी, आर्त रौद्र ध्यान में जीव रचा - पचा रहा। चुगली - गाली आदि में मस्त रहा। न साधु बना, न श्रावक बना; किन्तु उनके भी अवर्णवाद गाये।

पाप सेती रे प्रीतडी,
धर्मी सेती रे द्वेष।
रात दिवस पचतो रहे,
दशा आई रे देख रे....॥ कह भाई....!

चौदह पूर्व का एक ही सार है कि छ काय की रक्षा करो, समता भाव पालो और नवकार पर पूर्ण श्रद्धा रखो। जो ऐसा नहीं करते वे जैन नहीं हैं। वे धर्म का पालन बराबर नहीं करते और अपना मनुष्य जन्म वृथा गँवाते हैं।

ज्ञानी पुरुषां इम कहयो,
च्चवद पूरबनो सार।
सामायिक उत्थायने,
नहीं माने नवकार ॥ कह भाई...!

छह कायनी रक्षा करो,
जो चाहो सुख क्षेम।
काज सरे इण जीवनो;
रिख जयमल कहे ऐम ॥ कह भाई....!

पूज्यश्री जयमलजी के मानव चेतना और धर्म संस्कार के निमित्त उद्बोधन भरे प्रवचनों से लोगों में बड़ी जागृति आई। उनके साथ अनेक कण्ठों से उनकी चेतना पूर्ण चेतावनी गूँज उठती थी :—

जीवा चेतो रे, दे मुनिवर उपदेश,
राखो सरधा धरम री। जीवा चेतो रे....!
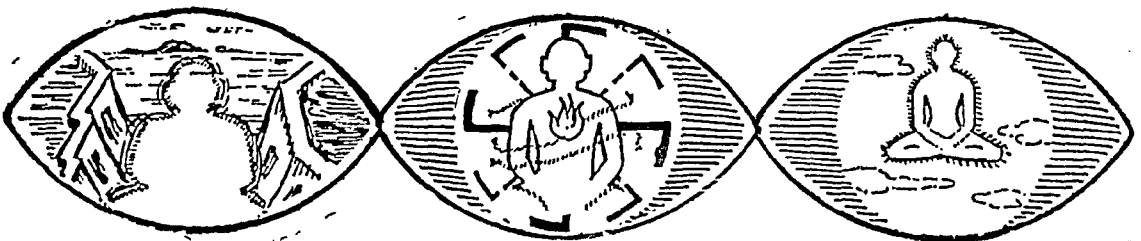
परब दीवाली जाण ने सारी - पासा मत कूट ।
धर्म ध्यान करो भलो, ओ तूं नफो ले लूंट ॥

अंग उपांग ग्रन्थ छेद में, जीव दया परधान ।
ऋषि जयमल इम कहे, ऐसी दिवाली तूं मान ॥

यों पूज्यश्री जयमलजी म० सा० के उपदेश से जो लोग व्रत उपवास नहीं करते थे वे भी व्रत उपवास करने लगे। नागौर में धर्म ध्यान की जो लहर चली और लोग जिस प्रकार उत्साह दिखा रहे थे उसे देख कर कई लोग ऐसा कहते थे कि "आज तो चौथे आरा की बातें प्रत्यक्ष हो रही हैं।"

कोई कहता कि "भगवान महावीर के समोसरण† सा ठाठ लगता था। उसे पूज्यश्री जयमलजी कहते :—"भगवान महावीर का समोसरण कहते हो मगर वह है, क्या यह भी जानते हो?"

लोग जब उनकी ओर देखते तब पूज्यश्री कहते कि उसका अधिकार उववाई-सूत्र में चला है। लोगों की बड़ी उत्सुकता की पूर्ति के लिये उन्होंने वीरप्रभु के समोसरण पर अपना प्रवचन रखा। साथ ही उसको काव्य रूप में भी जोड़ा।‡

पूज्यश्री फरमाते थे :—"उववाई सूत्र में भगवान महावीर स्वामी के समोसरण का अधिकार चला है। यदि उसकी प्रत्येक बात को भेद - प्रभेद के साथ स्पष्ट समझ ली जाये तो लोगों में अपनी धर्म जागृति बढ़े और तदनुसार सच्चे जैन धर्म का प्रचार हो। आज लोग अपनी - अपनी यथा शक्ति, भक्ति, धर्म - ध्यान, दया - दान आदि करते हैं; किन्तु धन्य हैं, वे चम्पा नगरी के श्रावक, वे राजा और वे प्रजा जन, जिनकी तुलना हम अपने से कर ही नहीं सकते। कहाँ श्रमण भगवान महावीर, कहाँ चम्पा नगरी के श्रावक? मगर शास्त्रकार यह भी कहते हैं कि यदि वैसा धर्म - पुरुषार्थ किया जाय तो आप सभी भी उन

† समोसरण (प्राकृत), समवसरण (संस्कृत)।
‡ पूज्यश्री जयमलजी के हस्तलिखित प्रतिलिपि के आधार से।
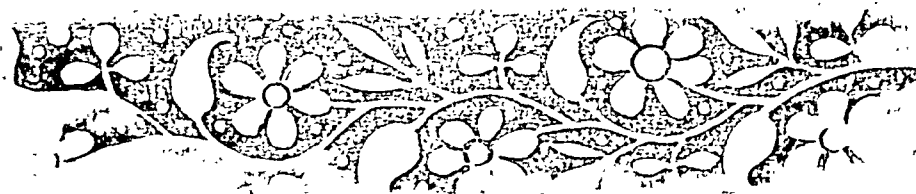
जीवा चेतो रे, पालो जिनवर आण,
पछतावो नहीं हुवे पछे ॥ जीवा चेतो रे....!

*　　　　*　　　　*

जीवा चेतो रे, इत्यादि उपदेश,
जाव शब्द में जाण जो। जीवा चेतो रे....!

जीवा चेतो रे, रिख जयमल कहे रेस,
दया भाव दिल आण जो ॥ जीवा चेतो रे....!

अनन्त वार, सागरोपम का आयुष्य मिला; फिर भी अच्छे सन्तों का परिचय नहीं हुआ और जीवन वृथा गया। अब मनुष्य जन्म पाकर, सन्तों का परिचय मिल कर सच्चे धर्म का आराधन करना चाहिये।

सोजत के लोगों को पूज्यश्री जयमलजी के नई चेतना के प्रेरणाप्रद पद्य सुनने का सर्व प्रथम लाभ मिला। पूज्य भूधरजी के कालधर्म पर उनकी भीष्म प्रतिज्ञा के स्वरूप वे दीवार से सट कर सीधे बैठ जाते और देर तक उनकी आत्मा का मंथन चलता रहता था। साथ ही उनका तप भी चालु ही था; अतः उनकी काव्य साधना विकसित होती जा रही थी। सीधे-सादे अपनी ही भाषा में काव्य की ये अनुपम रचनायें लोगों की आत्मा को स्पर्श करके उनमें नई चेतना भरती थी और उनकी श्रद्धा और भी अधिक स्थिर होती जाती थी।

पूज्यश्री का यही कहना था :—"एक वार सच्ची श्रद्धा आत्मा में जगी तो धर्म का उदय अपने आप होता है।"

उनके पद्य उस श्रद्धा को जगाने में सचोट उपाय से सिद्ध हो रहे थे जिससे उन्हें नये-नये पद्य बनाने की प्रेरणा मिलती रहती थी। उनका रात-रात भर बिना लेटे बैठे रहना, बैठे-बैठे चिंतन करना और उसके फलस्वरूप काव्यों का सर्जन गहरे आत्म-चिंतन के साथ जीवन का अनुभव और उसको दिग्दर्शन करानेवाले बोध के साथ सम्पूर्ण रहता था।

श्रावक लोग चौथ, छट्ठ, अट्ठम आदि तप करते हैं; किन्तु देखिये, तप कितने प्रकार के होते हैं :—

चौथ, छट्ठादि तप करे रे, जाव छमासी सार रे...।
कनकावली, रतनावली, भीखु पडिमा धार रे ॥
जवमद्य, व्रजमद्य, तप करे रे, साधु पडिमा मोय रे।
गुण, रयण, संवत्सर वलिय, सिंहक्रीड महालघु दोय रे ॥
सर्वतोभद्र लतावली रे, तप आयंबिल वर्धमान रे।
सोले दिननां तपत्रिहुं रे, मुक्तावली अभिधान रे ॥

कई सन्त वेला, तेला, चौला से लेकर छः मास तक के उपवास का उग्र तप करते थे। कई कनकावली, रत्नावली तप करते थे तो कोई बारह प्रकार की भिक्षु प्रतिमा को धारण करते थे। जवमद्य — जव जैसे बीच में विशेष और प्रथम अन्त में कम और व्रज जैसा भी तप करते थे। गुणरयण, संवत्सर, महासिंह क्रीडित और लघुसिंह क्रीडित तप करते थे। बहुत से सर्वतोभद्र, लतावली आदि बारह प्रकार के तप करते थे तो कोई आयंबिल आदि करते थे। ऐसे तपस्वी सन्त थे।

तप के साथ-साथ उनका ज्ञानाभ्यास भी चलता था। कोई सूत्र पढ़ते थे, कोई सूत्र पढ़ाते थे, कोई सूत्र कंठस्थ करते थे। उनका अर्थ और भेद समझते थे।

कोई धर्म-कथा कह कर समझाते थे। सन्तों के पास यह था कि जिसकी जैसी कोई इच्छा हो वैसा उसे प्राप्त हो जाता था जैसे कुत्रिकापण (कुंतियावणी) की दुकान में ग्राहक को सभी वस्तु प्राप्त होती है।

कथा कहीं हेत जुगत सु, दीपावे धर्म वाट रे।
आयो ग्राहक न जाण दे, ज्यों कुंतियावन‡ हाट रे ॥

‡ आजकल के सर्व वस्तु भंडार (Departmental Stores) जहाँ प्रत्येक वस्तु मिल सकती है।

५२

जय - अनन्त चौवीशी जिन नमुं
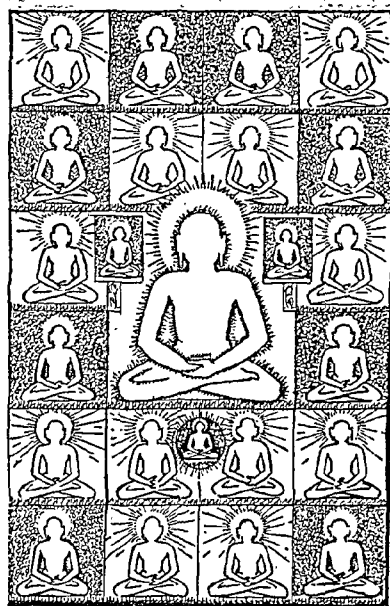
पूज्यश्री आदि सन्तों का विहार वहाँ से मेड़ता की ओर हुआ। मेड़तावाले सोजत आये थे। वहाँ चातुर्मास न होने से उन्हें मन में खटकता था; अतः सोजत में उन्होंने आकर बहुत ही भाव भरी विनती की और सन्तों के चरण भी गाँव - गाँव स्पर्श करते हुए मेड़ता की ओर बढ़ने लगे।

गाँव - गाँव में लोगों के दिल दिमाग में कुछ अस्थिरता सी चली आ रही थी। सन्त जहाँ पहुँचते वहाँ पर पुनः स्थिरता आ जाती और लोग एक होकर नई - नई प्रवृतियाँ करके आत्म - कल्याण करते।

पूज्यश्री के प्रवचनों को वे कभी चुकना पसन्द न करते थे। बड़ी धीरज और शांति से वें उनके प्रवचन और उपदेशी पद सज्झायों का तन्मय होकर सुनते। सोजत में उनकी रची हुई सज्झायें लोगों में बड़ी प्रचलित हो रही थी। लोग उनसे और भी नई - नई सज्झायें सुनना चाहते थे।

रात्रि को आड़े आसन न बैठके वे सीधे दीवार से सट कर बैठ जाते और उनके मस्तिष्क में काव्य के भाव उभरते जाते। लोक जीवन का अवलोकन वे बड़ी सूक्ष्मता से करते और उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है वैसा "असंखयं जीविय पमायए!" लोगों का असंस्कृत जीवन जान कर, वे उसको संस्कारयुक्त बनाने के उपाय खोजते, शास्त्रों का ज्ञान उस पर लगाते और जो निराकरण सामने आता उसे मधुर पदों के रस में लोगों के सामने रखते जिसकी सभी केवल प्रशंसा ही नहीं करते थे, बहुत से उत्साही लोग उसे उतार के अपने पास रखने में होड सी लगाते थे।

३ पर सिद्धांतों में जो सम्यग्वाद है उसको कहके उसमें जो मिथ्यावाद है उसके दोष बताना।

४ पर समय में जो मिथ्यावाद है उसे कहके सम्यग्वाद में स्थापन करना।

संवेगिनी के ४ प्रकार :—

१ इहलोक संवेगिनी :	मनुष्यादि जीवन का असारपणा बता कर वैराग्य उत्पन्न करना।
२ पर लोक ,, :	देवादिका असारपणा बताकर वैराग्य उत्पन्न करना।
३ आत्म शरीर ,, :	अपना शरीर अशुचिमय रोगमय बता कर वैराग्य उत्पन्न करना।
४ पर शरीर ,, :	रूपवन्त शरीरों की अशुचिता बता कर वैराग्य उत्पन्न करना।

निर्वेदिनी के ४ प्रकार :—

१ इह लोगे दुच्चिण्णा कम्मा इह लोगे दुह फल विवागा :—
इस लोक में चोरी आदि के फल इसी लोक में मिलते हैं यह कहके मुमुक्षा बढ़ाना।

२ इह लोगे दुच्चिण्णाकम्मा पर लोगे दुह फल विवागा :—
इस लोक के पापों को परलोक नरकादि में भोगते हैं, यह कहके मुमुक्षा बढ़ाना।

३ परलोगे दुच्चिण्णाकम्मा इह लोगे दुह फल विवागा :—
पिछले जन्म में किये हुये पापों का फल इस जन्म में भोगते हैं, यह कहके मुमुक्षा बढ़ाना।

४ पर लोगे दुच्चिण्णाकम्मा पर लोगे दुह फल विवागा :—
पिछले जन्म में किया अगले जन्म में भोगते हैं, यह कहके मुमुक्षा बढ़ाना।

लोगों को उनके पद सुनने, गाने और याद करने में बड़ा आनन्द आता था। छोटे-छोटे शब्दों में भावों के मोती वे पिरोकर काव्य-माला बनाते थे और लोग उसे सुन कर प्रसन्न हो जाते थे। सामान्य शब्दों से भाव-विभोर करने में उनकी काव्य शक्ति अपूर्व थी।

वर्तमान काल में विराजते, महाविदेह क्षेत्र रहे हुए सीमन्धर स्वामी की स्तवन भी ऐसे ही सीधी पंक्ति से प्रारम्भ होता था :—

सुमरो श्री सीमंधर स्वामी....!

गाँव-गाँव में आगे बढ़ते-बढ़ते वे पदों को जोड़ते जाते और स्तवन बनता जाता। लोग कभी इसको मानते, कभी उसको मानते, कभी कोई देव पूजते तो कभी कोई देव, कभी किसी को गुरु मानते तो कभी किसी को। वे कहते :—"एक मन से स्थिर-चित्त से सीमन्धर स्वामी (अरिहन्त) का भजन करो; मोक्ष के द्वार तुम्हारे लिये खुल जायेंगे।"

बहुत से लोग और यति पंथी कहा करते हैं कि इस युग में तो मोक्ष नहीं है उनके लिये वे कहते ;—

एक मना हुई सुद्ध भजे,
कारा ने कलिया दूर तजे।
हुए मोक्ष तणा झड कामी,
सुमरो श्री सीमन्धर सामी॥

राच रच्या मिथ्यामति मांही,
ऐ जीव रूले चारूँ गति मांही।
भूला ने आगे ठामी,
सुमरो श्री सीमन्धर स्वामी॥
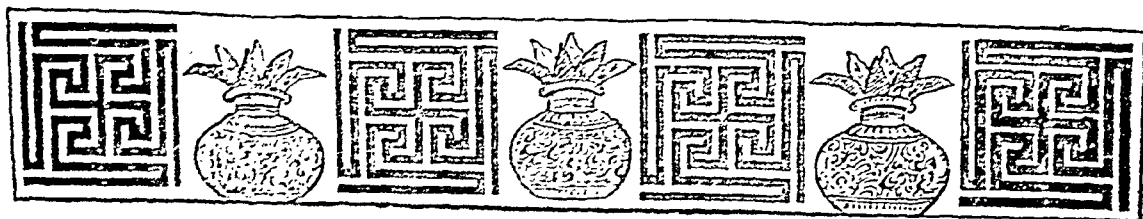
ऐसे सन्तों के साथ जब भगवान महावीर पधारते हों तो उनके दर्शन, वन्दन, प्रवचन का लाभ लेने से कौन चुकेगा ? प्रजा को तो ध्यान में रहता ही है; किन्तु राजा को भी ध्यान में रहे एतदर्थ मगध राज कोणिक ने प्रतिहारी को हमेशा कह रखा था कि जब कभी भगवान पधारनेवाले हों उस समय उनको सूचना दे दी जाय।

प्रतिहारी को यह विदित हुआ कि भगवान महावीर चम्पा नगरी में पधारनेवाले हैं तो वह दौड़ता - दौड़ता राज - महल जाता है और उन्हें वन्दन कर दो हाथ जोड़ कहता है :—"अन्नदाता ! शुभ समाचार ! भगवान महावीर स्वामी चम्पापुरी नगरी को पावन करने पधार रहे हैं।"

महाराज कोणिक प्रसन्न हो उठते हैं और प्रतिहारी को एक लाख आठ हज़ार मुद्रा उपहार - बधाई के रूप में देते हैं। भगवान के पदार्पण के समाचार सुन कर जो राजा इतनी बड़ी भेंट सेवक को देता है उसके हृदय में प्रभु महावीर के प्रति कैसी भक्ति होगी ? आजकल तो मामूली दान देकर भी लोग कितनी बढ़ाइयां हांकते हैं और भी न जाने क्या - क्या शर्तें आदि लगाते हैं; किन्तु कोणिक राजा का दृष्टांत कितना बड़ा है ?

इसके उपर भी राजा यह कहते हैं :—

चम्पा नगर जिन पांगरे रे, खबर देई जे तास रे।
कोणिक कहे सेवक भणी, पूरसे थारी आस रे॥

—और यह भी बात उतनी ही सही है कि प्रतिहारी ने प्रभु के पदार्पण के समाचार दिये तो कोणिक राजा ने उसे एक लाख आठ हज़ार मुद्रायें दी और प्रभु जब नगर बाहर विराज गये तब वह समाचार सुन, राजा कोणिक ने साढ़े बारह लाख मुद्रायें उसे दीं। यहाँ रकम बड़ी चीज़ नहीं है; किन्तु भाव बड़े हैं कि सन्तों के प्रभु सहित पदार्पण से राजा कोणिक को इतना हर्ष होता है कि वे राज्य का खज़ाना भी लुटाने उत्साहित हो जाते हैं।

श्री सीमन्धर भगवान का इतना बड़ा प्रताप है, प्रत्यक्ष है। एक बार उनमें मन लगा कर देख और उनके गुण अपने आप प्रगट हो जायेंगे। पूज्यश्री कहते :—"हम सन्त लोग तो इतना ही कह सकते हैं :—

रिख जयमल विनती एम कहे,
कोई थांरी सरघा मांही रहे।

भवभवनी टल जाय स्वामी।
सुमरो श्री सीमन्धर सामी॥

इस प्रकार प्रार्थनायें स्तवन आदि में वे ऐसे भाव भर देते थे कि लोग अनायास ही उनके प्रति आकर्षित होते थे। गाँव-गाँव में इससे लोग बड़े ही उत्साहित होकर उनके प्रवचनों का खूब लाभ लेते थे।

सोजत से विहार करके पूज्यश्री सन्तों के साथ मेड़ता पधारे। मेड़ता नगरीवालों ने पूज्यश्री के सन्त जीवन के उत्तरोत्तर विकास को देखा था और जोधपुर से सारी घटना सुन कर उन्हें आनन्द हुआ कि "जयमलजी जैसे सुयोग्य मुनिवर्य को भी समान आचार्य पद दिया गया है जिसके अनुरूप ही उनका व्यक्तित्व और विकास है।"

हालाँकि लोग बड़े उत्साह से उनको पूज्य मानते थे; फिर भी पूज्यश्री जयमलजी म० कभी कहीं लोगों की असावधानी से पूज्य रघुनाथजी म० सा० के प्रति अविनय न हो जाये इसका पूरा ध्यान रखते थे। उनके इस व्यवहार से लोगों के दिल में उनके प्रति श्रद्धा बढ़ती जाती थी कि पूज्यश्री जयमलजी कितने उच्च महात्मा हैं जिनको पद का कोई मोह नहीं है।

पूज्यश्री ने इस बार लोगों में यह अनुभव किया कि राज कारण में कुछ खटपटें बढ़ रही हैं और हो सकता है कि कोई न होनेवाली घटना घटे। लेकिन जब लोग उनके पास आते थे, तो उनकी चौपाइयां, सज्झायें और स्तवन सुन कर मुग्ध हो जाते थे। वे बड़े

राजा की सवारी समोसरण के बाहर आती है। राजा भी अपने पाँच चिह्न धारण किये रहते हैं। माथे पर मुगट है, हाथ में शस्त्र है, पैर में जूते हैं; साथ में छत्र और चंवर भी है। जैसे ही राजा प्रभु महावीर को दूर से देखते हैं वह धन्य हो जाते हैं। हाथी की अंबाड़ी से नीचे उतर कर आते हैं। यह भगवान का ही अतिशय है कि उनके पास आनेवाले का हृदय शुद्ध हो जाता है। राजा कोणिक का भी हृदय शुद्ध हो जाता है और मान-आडम्बर सभी छोड़के अपने पाँचों राज्य-चिह्न[‡] बाहर छोड़ कर वे अन्दर जाते हैं।

अतिशय देखी जिनन्दना, छत्र चामर तज दूर रे।
हस्ती सेती उतरी, तजि कपटने कूड रे॥
मान आडम्बर छांटने, आयो भगवन्त तीर ने।
पांच अभिगमे सांचरी रे, वांद्या श्री महावीर ने॥

साथ ही राजा कोणिक जो ५ प्रकार के अभिगम हैं उनका पालन करते हैं :— १. सचित का त्याग २. अकल्पनीय अचित का भी त्याग ३. एक साटिका उतरासन से चला करना ४. वन्दनीय जन दिखते ही हाथ जोड़ना ५. मन एकाग्र करके सेवा करना। इस प्रकार वे प्रभु महावीर को वन्दना करके बैठते हैं।

भगवान महावीर ने लोगों की श्रद्धा और प्ररूपणा के लिये 'जगत में क्या है?' 'जगत में क्या नहीं है?' और 'जगत में दोनों का सम्बन्ध क्या है?' आदि बातों पर विवेचन पूर्ण रूप से ऐसा प्रवचन किया कि लोग मुग्ध होकर सुनते ही रहे। वे वहाँ से हिले नहीं, हटे नहीं ऐसी उनकी परिस्थिति हो गई। कहते हैं कि :—

जिनवाणी सुण्यां पछी, अवर न आवे दाय।
एक बार भेटा हुआ, भूख भंवारी जाय।

‡ (१) सर से मुगट उतार कर (२) पैर से जूते उतार कर (३) शस्त्र कमर आदि से हटा कर (४) छत्र दूर रख कर (५) चांवर अलग रख कर — यों पांचों राज्य-चिह्न तज कर राजा भगवान महावीर के समीप जाते थे।
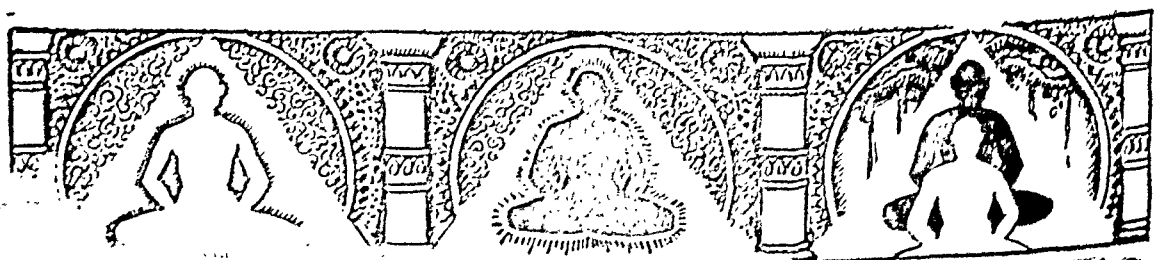
आप जैसे नाम के जयमल हैं वैसे आप कार्य में भी हैं। आप जैसे आचार्यों के दर्शन करके मेरी अशांत आत्मा को बड़ी शांति मिलती है। कभी-कभी जीवन में विचारता हूँ कि मैं कितना बड़ा पापी हूँ; मैंने क्या अच्छा कार्य किया है और आगे मेरा क्या होगा? मगर आप के पास आकर ऐसा लगता है कि सच्चे हृदय से पश्चात्ताप कर लूँ!"

पूज्यश्री उन्हें समझाते :—"सच्चे हृदय से, पश्चात्ताप में आत्म शुद्धि होती रहे ऐसे धर्म कार्य करवाने चाहिये। राजा कोणिक जिस प्रकार धर्म कार्य करके आत्म शांति प्राप्त करता था, उसी प्रकार आप भी धर्म प्रचार करावें।"

महाराजा बख्तसिंह कहते :—"कहिये, आप के आचार्य पद के रूप में मेरे नगर के प्रथम चौमासे के उपलक्ष्य में क्या करूँ? कहिये, उतना खज़ाना खाली कर दूँ। लोगों के सुख के लिये तालाब-बावड़ी आदि बँधवा दूँ!"

"लौकिक कार्य तो राजा के योग्य आप करेंगे ही; किन्तु मेरी यह इच्छा है कि जैसे आप ने मृगया-शिकार का प्रत्याख्यान लेकर अपने राज्य के पशुओं को अभय दिया वैसे हमारे चातुर्मास के उपलक्ष्य में आठम-पक्खी और पर्युषण के आठ दिन सम्पूर्ण राज्य में 'अ-मारी' (जीव-हिंसा) क़ा पडह बनवायें!" पूज्यश्री ने कहा।

महाराजा बख्तसिंह ने कहा : जैसी आप की इच्छा है वैसा ही होगा।"

नागौर निवासी लोग पूज्यश्री के पदार्पण के उपलक्ष्य में राज्य की ओर से यह घोषणा सुन कर बड़े प्रसन्न हुए। वे ऐसे आचार्य को अपने नगर में पाकर धन्य हो उठे।

आसपास के गाँवों में समाचार फैल गये और नौखा, गोगोलाव, भदाणा, डेह आदि गाँवों से भी बड़ी संख्या में लोग प्रवचनों का लाभ लेने लगे।

जो लोग इसमें कभी प्रमाद करते थे उनके लिये उन्होंने बहुत ही उपदेशात्मक ढंग से एक चौतीशी बनाई। हालाँकि उसमें उपदेश तो वृद्धों को देने का था; किन्तु उसका नाम उन्होंने बाल प्रतिबोध चौतीशी रखा। जो वृद्ध हो गये हैं और कहते हैं कि

कहते हैं कि वीरप्रभु का प्रवचन व्यर्थ नहीं जाता। उससे कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है और इसी उपलक्ष में कहा जाता है कि :—

हरखी बारह परखदा, सांभली वीरनी वाण रे।
वले विशेषे चेतिया, ते सुणजो अहिनाण रे।

बारह प्रकार की जीवों की परिषद : ४ जाति के देव :— भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषि, वैमानिक। चार जाति की देवियाँ, २ मनुष्य मनुष्यणी २ तिर्यंच तिर्यंचनी एवं कुल १२ प्रकार की परिषद वीर की वाणी सुन कर हर्षित हो रही है। सुन कर बहुत सारे नर नारी चेत गये और उन्होंने क्या क्या किया यह भी कहते हैं।

कई भवि आत्मा उनकी वाणी सुन संसार को असार मान कर संयम - दीक्षा लेने तैयार होते हैं और अन्यों को भी प्रेरित करते हैं। बहुत से अणगार तो नहीं बन सकते; किन्तु वे संसार में रह कर धर्म पालन करना चाहते हैं उनके लिये श्रावक धर्म है; अतः वे श्रावक के व्रतों को स्वीकार करते हैं। अनेक लोग छोटे - मोटे व्रत पच्चक्खाण लेते हैं और अपने को धन्य समझते हैं। कई जिज्ञासु लोग व्याख्यान उठने के बाद भी अपनी जिज्ञासा का सन्तोष करने प्रश्नोत्तर पूछते हैं।"

इस प्रकार पर्युषण के बाद उववाई सूत्र के आधार पर पूज्यश्री जयमलजी ने वीर समोसरण की सज्झाय रच कर और उसमें आनेवाली प्रत्येक बात का रस पूर्वक विवेचन ऐसा किया कि लोगों ने चौमासे के बाद भी उन्हें वहाँ थोड़े दिन और रुकने के लिये कहा।

वे तो कहा करते थे :—" मैं अपनी ओर से जोड़ के कुछ नया नहीं कह रहा हूँ। उववाई सूत्र में जो अधिकार चला है, तदनुसार मैं कहता हूँ।

मैं तो इ जिन अनुसारे भाखियो, ऐ तो सूत्र उववाई जोई रे।
कोई अधिक ओछो जे कहयो, तो मिच्छामि दुकडं होई रे।

बहुत से लोग पूज्यश्री के पास कुछ चमत्कार आदि कर दिखाने के लिये आते थे और अन्यान्य के उदाहरण देते थे उनके लिये पूज्यश्री कहते थे :—

जाणपणो नही किणी बात को,
खाली मोह करे करामात को।
घर में वह रह्या चीखलवाल।
बूढा तिके पण कहिये बाल॥

*　　　*　　　*

जे कोई देवे न्याय री सीख,
बलती देवे अपूठी झींख।
मुखथी बोले माठी गाल।
बूढा तिके पण कहिये बाल॥

जो लोग वृद्ध हो चले थे ऊपर से तो धर्म ध्यान करते थे; किन्तु वास्तव में उनके हृदय में धर्म का स्पर्श भी नही हुआ था। उनके लिये पूज्यश्री कहते :—

लांबी माला झाली हाथ,
विच विच करे पराई बात।
जाणे अरथ तणी घटमाल।
बूढा तिके पण कहिये बाल॥

यह स्वाभाविक था कि जब पूज्यश्री का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और अन्यमति लोग आने लगे तब उनके गुरु भट्टारक लोग थे उनको बुरा लगने लगा।

पूज्यश्री ने उनके लिये स्पष्ट कहा :—

नजर पडे कोई धर्मी भेप,
तब मूरख ने जागे द्वेष।
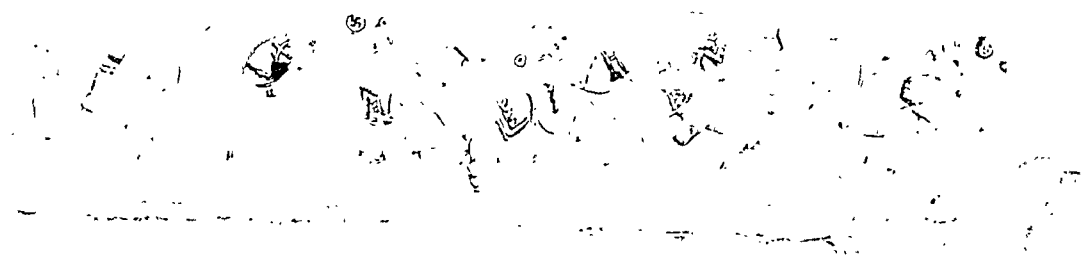
पूज्य भूधरजी म. सा. की संप्रदाय के अनुयायी संत और सतियों के लिये साधु समाचारी के नियम बनाये गये और संयम पर दृढ रहने के लिये सभी को आह्वान किया गया।

उस समय पूज्यश्री जयमलजी के नवीन पद और सज्झाय सुनकर लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और लोग उनसे ऐसे नये नये पद्य सुनने लालायित होने लगे। अंत में मेड़ता श्री संघवालों ने बिनति की कि "मेड़ता में इस वर्ष किसी न किसी पूज्य का चातुर्मास स्वीकृत करें।"

पूज्यश्री रघुनाथजी ने लोगों के भाव देख कर पूज्यश्री जयमलजी म० सा० को वहाँ चातुर्मास करने की स्वीकृति दी जिससे लोगों में अपार हर्ष छा गया।

इसी मेडता में उन्हें वैराग्य हुआ था, यहीं पर आज से तीन वर्ष पूर्व पूज्यश्री भूधरजी म० सा० कालधर्म प्राप्त हुए थे उसी मेडता में वे आचार्य के रूप में अपना प्रथम चातुर्मास कर रहे थे।

उन दिनों न जाने क्यों लोगों में सांप्रदायिकता का और स्वरूप निखर रहा था। संतों को लेकर श्रावक गण परस्पर में "ये हमारे पूज्य—वो तुम्हारे पूज्य" आदि विवाद बढ़ा रहे थे। कुछ पूज्यश्री जयमलजी म. की प्रशंसा करते करते दूसरों को कुछ कम दिखाने का प्रयत्न करते थे। पूज्यश्री उनकी इस प्रवृति को संघ के प्रेम भाव और एकता के विरुद्ध बताते थे।

वे स्पष्ट लोगों को कहते थे कि "आप लोगों को संतों और संतों के बीच फर्क नहीं डालना चाहिये। इस से विषमता बढ़ती है। भगवान महावीर ने नवकार मंत्र में नमो लोए सव्व साहुणं कहके सभी संतों को नमस्कार करने का कहा है।"

लेकिन लोक स्वभाव कुछ ऐसा होता था कि वे संतों की तुलना किये बिना नहीं रहते थे। जिस से कुछ कुछ लोगों के मन में नाहक का तनाव सा पैदा हो जाता था। पूज्यश्री बडे प्रेम से—शांति से, और पद बनाकर उन्हें समझाते और उन्हें पूज्यश्री के आगे नतमस्तक होकर स्वीकार करना पडता कि हाँ उनकी इस तरह की प्रशंसा के साथ वे अत्यधिक भावावेश में अन्य की निंदा करते हैं वह उपयुक्त नहीं है।
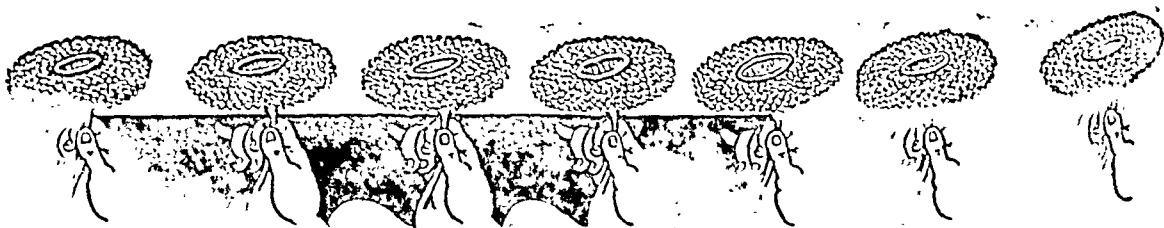
चीतारे नहीं चवदे नेम,
परनारी सुं राखे प्रेम ।
चोरी करे ने विसनरी* चाल ।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥

सावज काम थकी नहीं डरे,
जरे चोरासी मांही फिरे ।
बांधे मूरख पाप री पाल ।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥

ऐसे सज्जनों को, वृद्धों को पूज्यश्री हमेशा चेतावनी देते थे कि अब थोड़ा ही जीना है। कुछ धर्म ध्यान कर लो वरना मानव जीवन व्यर्थ जायेगा। पूज्यश्री फरमाते :—

थोडा दिन रो जीवणो जाण,
अब तो मन में शंका आण ।
वय पाकी हिव पाप ने टाल ।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥

बूढो हुओ तोहि नायो ठाम,
क्यूं कर सुधरसी थारो काम ।
तो ही देतो रहयो मुखथी गाल ।
बूढा तिके पण कहिये बाल ॥

उनको प्रतिबोधित करते थे कि "अब क्या आगे दौड़ रहा है, सिर्फ पाप करने के लिये न? क्यों व्यर्थ में अब भी मेरे-तेरे के झगड़े करके फँस रहे हो? देखो! इन लड़ाइयों में धर्म नहीं है। यदि किसी ने कहा है तो वह मूर्ख बड़ा भारी कर्म बांधता है

---

* व्यसन

तक धर्म ध्यान करने का अर्थ तो संतों को अच्छा लगाने के लिये है; किन्तु वास्तव में धर्म ध्यान तो अपने आत्म कल्याण के लिये ही किया जाता है और यही सत्य है!"

लोगो में अलग-अलग धर्म ध्यान करने के स्थान पर सामूहिक रूप से करने पर वे विशेष रूप से ज़ोर देते थे। फलतः श्रावकों में अपूर्व उत्साह आ जाता था और वे अपने धर्म-ध्यान एवं धार्मिक क्रियायें करने के लिये ऐसा अलग-विशाल भवन खरीदते या बनवाते थे। यति और मंदिरों के उपाश्रय के सामने ये जैन धर्म स्थानक धर्म जागृति के रूप में गाँव-गाँव में बनने लग गये थे।

मेडता के चातुर्मास में पूज्यश्री ने अपनी उदारता और संतों के प्रति श्रद्धा भाव रखने के आदेश से अपना प्रभाव जमाया था और मेडता के श्रावकों ने यह अनुभव किया कि जिस आचार्य पद पर उन्हें प्रतिष्ठित किया गया है, वह पूज्यश्री रूघनाथजी म. सा. का क्षणिक आवेग न था किन्तु वास्तव में वे उसके योग्य थे।

अतः लोग उनके व्याख्यानों में पहले से भी अधिक आने लगे थे। उनके पास जाकर वे अपनी सभी प्रकार की शंकाओं का समाधान पाते थे। बहुत से उनकी तरह रात-रात भर सीधे बैठने का निश्चय करके बैठते, किन्तु रात बीतने पर वे लोग निद्रा के आधीन हो सो जाते थे और पूज्यश्री प्रातःकाल हँस कर मज़ाक में कहते :—

नींदलडी वैरण हुय रही।

पूज्यश्री के नित्य-क्रम में बैठे-बैठे रात-रात भर चिंतन करते रहना क्रम सा बन चला था। एकांत शांति, चिंतन और भावों की ऊँचाई पर पहुँच कर जो कुछ वे सोचते, उसे काव्य के रूप में वे गूंथ लिया करते थे।

पूज्यश्री के शिष्य गण जब दूसरे दिन उनको नये-नये पद लिखते देखते तब बडा आश्चर्य करते थे — लोगों को भी आश्चर्य होता था किन्तु उनको क्या मालूम था कि बडे पुण्य प्रताप से ही कभी कभी धर्म प्रचार के लिये विरल ही आत्मा को ऐसी काव्य शक्ति प्राप्त होती है।
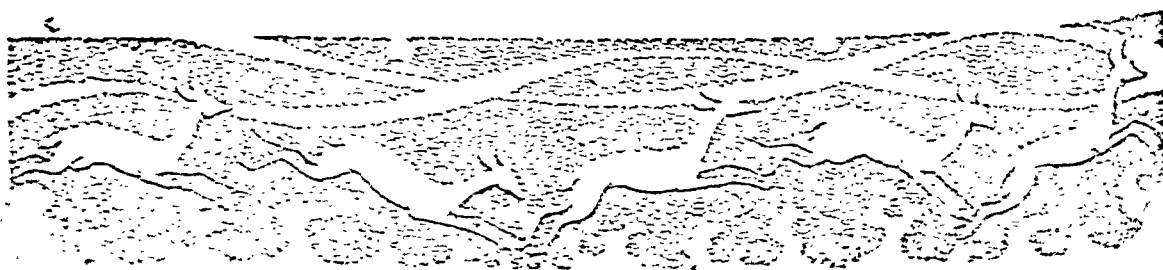
धन तेरश के बाद रूप चौदश आती है। लोग स्नान आदि करते हैं, नये कपड़े पहनते हैं, सिंगार करते हैं; धार्मिक आत्मा के लिये भी तो कुछ रूप निखारना है, तिलक लगाना है, वह क्यों न इस प्रकार हो :—

राखे रूप चवदश दिने, गहणा कपडांरी चूंप।
ज्यां चूंप राख धर्म सूं, दीपे अधिको रूप॥

परव दिवाली जाणने, तिलक काढे सार।
ए जैन धर्म तिलक समो, आदरयां खेवो पार॥

दिवाली के दिन में लोग मकान आदि को रंग रोगान करवाते हैं, सजाते हैं। आत्मार्थी को भी सच्ची दिवाली मनाने के लिये यही तो शुभ अवसर है फिर वह क्यों न उसके अनुरूप अपने आप समझ कर रंग-रोगान नहीं करेगा? ज्ञानी कहते हैं :—

काया रूपी हवेलियां, तपस्या करने रेल।
हंस वरत कर मांडणो, विनय भाव भर वेल॥

पर्व दिवाली जाणने, उजवाले हवेली हाट।
इम तूं व्रत उज्वाल ले, वन्धे पुनांरो ठाठ॥

और दीवाली के दिन लोग लेखनी लेकर वही पूजन करते है। उसे देख कर मुमुक्षु को भी उत्साह आता है। वह सच्चे रूप से पूजन करता है। मगर किसका? ज्ञानी कहते हैं :—

पर्व दिवाली ने पूजे, वही लेखन ने दोत।
ज्यों तूं धर्म ने पूज ले, दीपे अधिको जोत॥

दीवाली के दिन लोग मंदिर जाते हैं, वाह्य जड़-पूजा करते हैं। मगर जो सच्चा आत्मार्थी होता है वह मानता है कि इससे आत्म-कल्याण नहीं होता। उसके लिये

महा अतुल बली नर, शूर वीर ने
तीरथ प्रवर्तावी पहुँचा, भव जल

*   *

सीमन्धर प्रमुख जघन्य तीर्थंकर वी
छे अढी द्वीपमां जयवन्ता जगदीश

केवल दोय कोडी, उत्कृष्टा नव कोडी
मुनि दोय सहस कोडी, उत्कृष्टा नव सहस कोडी ।

*   *   *

चौवीश जिननां, सगला ही गणधार ।
चौदेसे ने बावन, ते प्रणमूं सुखकार ॥

जिन शासन नायक, धन्य श्री वीर जिनन्द ।
गौतमादिक गणधर वर्तायो आनन्द ॥

*   *   *

श्री भरतेश्वरना हुआ, पटोधर आठ ।
आदित्य जसादिक, पहुँच्या शिवपुर वाट ॥

श्री जिन अंतरना हुआ, पाट असंख ।
मुनि मुक्ति पहुँच्या टालि कर्मनो वंक ॥

*   *   *

आराधक हुई ने, कीधो खेवो पार ।
हुआ मोटा मुनिवर, नाम लियां निस्तार ॥

*   *   *

क्यों बाह्य दीप ढूंढता है? दया-करुणा का भाव-दीप जला! और उत्कट आत्म भाव रूपी संवेग की बाट तैयार कर! जिसको जलाने से समकित रूपी ज्योत जलेगी और मिथ्यात्व रूपी अंधकार मिट जायेगा।

तुझे डर लगता है कि यह दया-दीप बुझ जायेगा? मगर तु पापकर्म से निवृत होने की प्रबल भावना रूप संवर भाव का ढंकन कर ले। उसमें ज्ञान रूपी तेल डाल दे। देख! ये आठों कर्म जिसने तेरी आत्मा के उपर अज्ञान का आवरण ढंक दिया है, जल जायेंगे और मिथ्यात्व रूपी अंधेरा दूर होकर समकित-सच्चे देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा रूपी ज्योति जलेगी।

पूज्यश्री कहते थे यह दिवाली लोग क्यों मनाते हैं? क्योंकि आज के ही शुभ दिन प्रभु महावीर मोक्ष पहुँचे और गौतम स्वामी को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था।

दिवाली दिन आवियो, राखो धर्म सुं सीर।
गौतम केवल पामिया, मुगत गया महावीर ॥

तिण कारण मांगलिक दिन, मोटा साहनो न्हाल।
आरम्भ समारम्भ छोडने, निरमल शील ज़ पाल ॥

बार बार मानुष जनम, पामसी नहीं रे गिंवार।
डोरा डंडा राखडी, जंत्र तंत्र निवार ॥

काया हाट उजवाल रे, ज्ञान वस्तु मांहे सार।
भवि जीव ग्राहक विणजे ने, नफो पर उपकार ॥

ऐसे मंगल दिन लोग इधर-उधर के कार्यों में फँस कर गँवा देते हैं। उसके बदले सन्त लोग तो आत्मार्थी धर्म प्रेमी सज्जनों को यही आदेश देते हैं कि :—

ध्यान सज्झाय तवन गुणो, गुणो बोलने चाल।
ओ दिन छे देवां तणो, तू देवालो मत घाल ॥
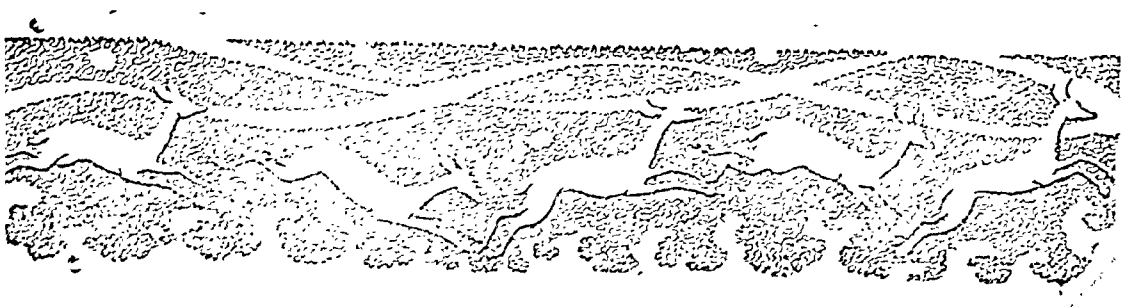
श्रावक जैसे बन सकते हैं। शासन नायक भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार करके समोवसरण का वर्णन मैं करता हूँ।"

पूज्यश्री ने अपने मधुर कण्ठ से आगे प्रारम्भ करते :—

वर्धमान शासन धणी, शिवसुख दायक साम।
शुद्ध मन ध्यायां थकां, पहुँचे अविचल ठाम॥

सूत्र उववाइमां कह्यो, समोसरण अधिकार।
ते सुणजो एकण मने, ज्यों उपजे बुद्ध सार॥

भगवान महावीर स्वामी देशानुदेश, ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए चम्पा नगरी पधार रहे हैं। वे भगवान महावीर स्वामी कैसे हैं? जिनके चौदह हजार साधुजी हैं और छत्रीश हजार आर्याजी हैं। उन सब पर प्रभुजी की आण (शासन) चलती है।

सहसा चौदह साधजी, आर्या छत्तीश हजार।
तीण ने आण मनावतां, शासन रा सरदार॥

भगवान महावीर स्वामी के साथ बहुत से ज्ञानी चारित्र के युक्त तपस्वी सन्त और सतियाँ हैं; किन्तु उनमें सर्व श्रेष्ठ उनके पट्टधर शिष्य गणधर नायक गौतम स्वामीजी हैं। उन सर्व मुनियों के साथ-साथ सब से आगे गुरु गौतमजी हैं।

तेना मुंढां आगल रे, गौतम जिसा वजीर रे।
मोटी करणी रां धणी, सूरा पूरा ने धीर रे॥

इन सन्तों में बहुत से एक पक्ष की दीक्षावाले हैं, बहुत से मास की दीक्षावाले हैं, बहुत से वर्ष की दीक्षावाले हैं और बहुतसों को अनेक वर्षों की दीक्षा भी है। इन सारे सन्तों में अनेक तपस्वी हैं। वे जात-जात के और भांति-भांति के तप करते हैं।

सफदरजंग को बूरा लगा कि उस से बिना पूछे लाहौर - मुल्तान अब्दाली को दे दिये गये हैं। उसने बादशाह के हुजूर में नाराज़गी प्रगट की। परिणाम स्वरूप दरबारी अमीरों की सलाह से बादशाह ने सफदरजंग को वज़ीर पद से हटाकर खान-खाना को वज़ीर बनाया और दक्षिण के सुबेदार के पुत्र मीर शहाबुद्दीन को गाज़ीउद्दीन (सर सेनापति) बनाया। सफदरजंग ने चिढ कर सूरजमल जाट की मदद से दिल्ही पर घेरा डाला। छ मास बाद तंग आकर वह लखनउ वापस चला गया।

नये गाज़ीउद्दीन ने सिंधिया और होल्कर को सहायता पर बुलाया। सूरजमल जाट को दबाने उसके किले पर घेरा डाला। उसमें होल्कर का लड़का मारा गया। होल्कर ने सूरजमल के सिर काटने की प्रतिज्ञा की; किन्तु चतुर सूरजमल ने सिंधिया की शरण ली और ३० लाख रुपया देकर होल्कर को राजी कर लिया।

दिल्ही आने पर पता लगा कि सूरजमल जाट को बादशाह की भीतरी मदद थी अतः गाज़ीउद्दीन ने होल्कर की मदद से उसे गद्दी से उतार कर मुगल खानदान के एक अन्य शाहज़ादे को आलमगीर (शाह आलम) के नाम से बादशाह बनाया। उसने गाज़ीउद्दीन को वज़ीर बनाया।

दिल्ही, पंजाब, मुल्तान, अयोध्या, आगरा, भरतपुर, कोटा बूंदी, जयपुर और राजस्थान की रियासतों में छुटपुट और व्यापक युद्ध चल ही रहे थे। मालवा और मध्य प्रदेश पर मराठाओं सेना की पदचाप गूंजती ही रहती थी। अतः इन क्षेत्रों में विचरण करनेवाले जैन संतों का आगमन अजमेर पार कर राजस्थान के दक्षिण पश्चिम में होने लगा।

पूज्यश्री जयमलजी को जालोर श्रीसंघ ने चौमासे के लिये बड़ी भावभरी विनती की किन्तु उन्होंने आगे विहार किया और वहाँ पर अपने लघुगुरुभ्राता संत श्री कुशलचन्दजी का चातुर्मास नक्की करवाया।

संवत १८०८ का पूज्यश्री का चातुर्मास बोडावढ में हुआ। पूज्यश्री रघुनाथजी म. सा. का चातुर्मास जैतारण और संत श्री कुशलचन्दजी म. सा. का चातुर्मास जालोर तय रहा।

संवेगणी, निर्वेदणी रे, आक्षेपणी विक्षेपणी जाण रे ।
प्रभावक आठे भला रे, दीपावे थिर आण रे ॥

जो धर्म-कथायें चलती थीं उनके जो प्रकार थे उसका विस्तार इस प्रकार से बता सकते हैं :—

धर्म-कथा ४ प्रकार :—

१ आक्षेपिणी : श्रोताओं को मोह से हटा के तत्त्व के प्रति आकर्षित करे ।

२ विक्षेपिणी : कुमार्ग में से सन्मार्ग की ओर श्रोताओं को ले जाना । (परमार्ग अवगुण और स्वमार्ग गुण बताना)

३ संवेगिनी : वैराग्य उत्पन्न करानेवाली (अशुभ कर्म के विपाक बता कर) ।

४ निर्वेदिनी : इह परलोक के पुण्य-पाप के फल बता कर मोक्ष-मार्ग की रुचि बढ़ाना ।

आक्षेपिणी के ४ प्रकार :—

१ आचार आक्षेपिणी : लोच आदि आचार की महिमा बता कर व आचारांगादि के वाचन से ।

२ व्यवहार ,, प्रायश्चितादि का महत्त्व बता कर व्यवहारादि वाचन द्वारा ।

३ प्रज्ञप्ति ,, संशयवालों को मधुर वचनों से समझाना ।

४ दृष्टिवाद ,, अपेक्षा द्वारा नयों के कथन से सूक्ष्म तत्वों का कथन ।

विक्षेपिणी के ४ प्रकार :—

१ स्वसमय के गुणों को कह कर पर समय के दोषों को कहना ।

२ पर सिद्धांत के दोषों को बता कर स्वसिद्धांत की स्थापना करना ।
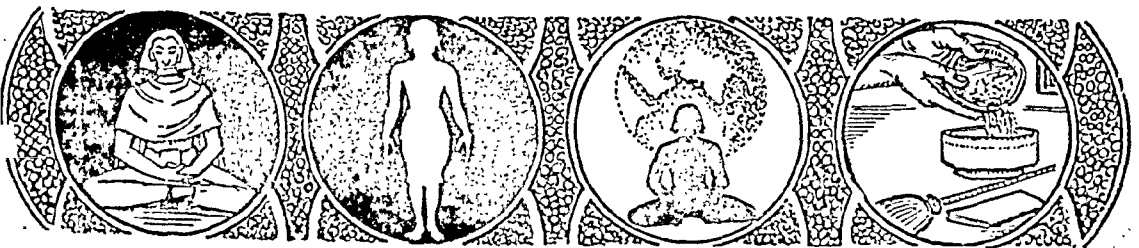
उन्होंने अपनी धाई माता को जोधपुर तिलक का सामान लेकर भेजी। रजवाडे के कायदे के अनुसार धाई माता ही इन अवसरों पर सामंतों के दूत के रूप में तिलक निकालती थी। उसे भी वही राज-सन्मान प्राप्त होता था।

दरबार लगा हुआ था। नागौर की धाई माता ने आगे बढ़ कर युवक राजा रामसिंह का तिलक करना चाहा। फौरन ही राजा रामसिंह ने मुँह फिरा कर कहा:— "किसकी ओर से आई हो?"

"नागौर के बख्तावर सिंहजी महाराज ने भेजी है!"

"क्या उन्हें आने का समय नहीं मिला?"

"महाराज, बडे महाराज की मृत्यु से अस्वस्थ हैं।"

"फिर भी उन्हें राजतिलक का नियम मालूम होना चाहिये। मैं जानता हूँ कि इन्हें मेरे प्रति भाव नहीं है। वे समझते हैं कि मैं इक बंदर हूँ इसलिये तुम जैसी डायन सी सूरतवाली डोकरी को तिलक निकाल ने भेजा है! जाओ— उनसे कहदो कि स्वयं आकर तिलक निकालें।"

धाई माता अपना मुँह लिये लौट गई।

सामन्तों में आपस में बात हुई। वे महाराजा बख्तसिंह का पराक्रम जानते थे और इस तरह अपमानित होने से वे क्या न कर बैठेंगे इसकी उन्हें आशंका होने लगी।

उन सामन्तों में सब से पुराने आसोप के कुम्पावत सरदार कुन्नीरामजी थे। उन्होंने उनको सलाह दी:—"महाराजा! आपको इस तरह उनका अपमान नहीं करना चाहिये?"

महाराजा रामसिंह पर सत्ता की खुमारी सवार थी। उसने झट से कह दिया:— "आप अपनी औकात में रहे। आप जैसे बूढ़े बन्दरों की सलाह मुझे नहीं चाहिये।"

सामन्त कुन्नीरामजी खड़े हो गये और उन्होंने कहा:—"महाराज! हम जानते हैं कि आप किन की औकातों पर गद्दी बैठे हैं। मुझे भले बन्दर कहा; मगर जब यह बन्दर नाचेगा तो आप देखेंगे कि क्या होगा!"

उनकी कथाओं में सर्व प्रकार की बातें आ जाती थीं। इतना ही नहीं; सर्व प्रकार की धर्मचर्या और आठों प्रभावना से वे भवि आत्मा को धर्म में स्थिर कर देते थे।

इन सन्तों का ऐसा प्रभाव था; क्योंकि जो वे कहते थे वे अनुभव से कहते थे और उन्होंने संयम इस प्रतीति के साथ लिया था :—

फल किंपाकज सारखा रे, जाणी विषय सुख भोग रे।
डाभ अने जल आऊखो, जाणने लीधो जोग रे॥

—संसार के विषय सुख किंपाक फल सरीखे, मोह के नशे में आत्म-घात करानेवाले हैं और आयुष्य जल में उठते बूंद बूंद के समान और कुश के अग्र भाग पर रहे हुए पानी के बूँद के समान क्षणिक है यही जान कर उन्होंने संयम लिया है।

सँपणी जिम इ संपदा, जोबण नदीनो वेग रे।
इम जाणी तज निसर्या, बांधी तपनी तेग रे॥

—सम्पत्ति तो सर्पणी-नागिन सरीखी है और यौवन नदी का वेग जैसा है जो अनर्थ पैदा करता है। यों जान कर वे तप रूपी तलवार बाँध कर निकले हैं और कर्म रूपी शत्रु का नाश कर रहे हैं।

अलग-अलग प्रकार के तप के द्वारा वे इस शरीर में जो कचरा भरा पड़ा है उसे निकालते हैं और शरीर का भी कश निकालते हैं।

पांच विगय वली सुखडी, खाटा मीठा रस रे।
एक एक मुनि त्यागन करी, काढी देहीनो कस रे॥

*   *   *

ऐ बारे भेद तपस्या तणारे, भांति भांति करे भाव रे।
सूत्र उववाईमां कह्यां रे, तारण तरण नाव रे।

ठाकुर ने इतना ही कहा :—"महाराज! यह राज्य आपने विना पराक्रम के पाया है। आपके पिताजी की तरह आपको वड़ी समझदारी वर्तनी चाहिये। मारवाड़ राज्य जिन थंभों पर खड़ा है उन्हें तोड़ने न चाहिये।"

कहा जाता है कि युवक महाराजा रामसिंह ने उनसे ऐसा कहा कि आप जैसे वहुत से सिर हिलाया करते हैं और सोचते हैं कि रथ उनके आधार से चलता है।

आहोया ठाकुर उससे नाराज़ होकर चले गये। इस के वाद जव राजा रामसिंह को युद्ध करने के लिये आतुर देखा उस समय दरवार में जाकर आहवा ठाकुर ने वहुत समझाया किन्तु न माने। फिर महल में जाकर वहुत कहा तव उनकी कोई वात न सुन कर राजा रामसिंह ने क्रोध से कहा :—"आप जैसों का कुत्सित मुख जितना कम देखूँ उतना अच्छा है।"

उन्हें स्पष्ट खयाल आ गया कि राजा रामसिंह उन्हें क्या कहना चाहते हैं। उन्होंने अपनी ढाल उतारकर पलटकर रख दी और कहा :—"जैसे यह ढाल वेकार होकर उलट गई है उसी प्रकार वख्तसिंहजी भी सारे पराक्रमियों की ढालें उलटने में समर्थ हैं। आप उनसे वैर बांधकर उसका फल भूगतेंगे।"

यों कहकर उन्होंने भी राज्य का त्याग किया।

चम्पावत और कंपावत ठाकुर सरदार वहाँ से वख्तावरसिंहजी के पास नागौर गये।

यह समाचार रामसिंह को मिलने से उन्होंने पुनः दूत भेज कर कहा :—"आप जोधपुर राज्य के आधीन हैं और आप राज्य के विरूद्ध ऐसी वातें कर रहे हैं। अतः आप फौरन आकर हमारा दिया झालोर जिला लौटा देवें।"

वख्तावरसिंह ने फिर भी विनम्रता से उत्तर भेजा :—"आप स्वयं आकर उसे ले जायें। आप यहाँ आयेंगे तो आपका स्वागत जल से भरे कलश लेकर करूंगा। उस अभिषेक के लिये आप अवश्य आयेंगे।"

इस उत्तर का स्पष्ट अर्थ था कि अव आमने सामने लड़कर इस विषय का फैसला कर लिया जाय। रामसिंहने सभी ठाकुरों और सामंतों को तैयार होने के लिये कहा।

लोगों के मानस में अलग-अलग भाव हैं। कोई बड़ी श्रद्धा से जा रहे हैं; कोई उत्साह से जा रहे हैं। उनके मन में कुछ ऐसी भावनायें हैं :—

बहुला लोक इसडी कहे रे, नाम लिया निस्तार रे।
सूत्र अर्थ ग्रह्यां थको रे, परभव सुख विस्तार रे॥

लोग मानते हैं कि प्रभु का नाम लेने से बेड़ा पार होता है और सूत्र अर्थ आदि बराबर कर लिये तो अगले भव भी आनन्द प्राप्त होता है।

कुछ लोग दर्शन करने चाहिये करके जा रहे हैं तो कोई ऐसा मानते हैं कि कुल की रीति है तब जा रहे हैं। कुछ लोग पिता-दादा की परम्परा निभाने जा रहे हैं तो बहुत से कौतुक वश भी जा रहे हैं।

लोगों में बड़ा उत्साह सा है। आपस में एक दूसरे को :—"चलो, चलो....! भगवान महावीर पधारे हैं, उनके पास चलो....! कहीं देर न हो जाये उनके पास चलो....!" ऐसा कह रहे हैं और जनरव से बड़ा शोर सा मच गया है।

चलो उठो रे सितावसुं रे, रखे अवेलो थाय रे।
नर नारी उछावसुं रे, टोले टोले जाय रे॥

नर नारी ने अति घणो रे, भगवन वन्दन कोड रे।
शब्द सोर बहुला होवे रे, चाल्या दोडा दोड रे।

भगवान महावीर पूर्णभद्र चैत्य में विराजमान हैं, उनके दर्शन करने लोग जा रहे हैं। छोटे-बड़े सभी, सेठ, सेनापति, गाथापति आदि सभी उसमें संमिलित है।

राजा कोणिक भी तैयार होते हैं और वे अपनी सवारी में निकलते हैं। हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल आदि के साथ राजा कोणिक दर्शन करने जा रहे हैं। उनको देखके और भी लोग जा रहे हैं।

राजा रामसिंह को वहाँ से भागना पड़ा और वे जयपुर की ओर गये। वहाँ के राजा माधोसिंह (सवाई जयपुर के पुत्र) उनके ससुर लगते थे। रामसिंह उनके द्वारा मराठाओं की मदद लेना चाहते थे।

महाराजा बख्तसिंह ने मेडता में विजय पाकर जोधपुर प्रस्थान किया। उनकी वर्षों की एक मुराद बर आई थी और राजा रामसिंह ने अपने अविचारी - अविवेकी कार्य से उनका मार्ग खोल दिया था।

वे जिन-जिन नगरों से गये सभी नगरों में उनका स्वागत हुआ। सब नगरों के द्वार खुले थे और उनको कसूंबा पिलाया गया एवं जय माला पहनाई गई।

जोधपुर में भी वे एक विजेता के नाते, राजदरबार में पहुँच गये। जहाँ पर अब तक वे एक ठाकुर की हैसियत से आते थे वहाँ पर उन्होंने राजा के रूप में प्रवेश किया।

बगड़ी के जेतावत सामन्त, प्रत्येक राज्याभिषेक के समय तिलक करते थे; उन्होंने ही आगे बढ़कर बख्तसिंह के मस्तक पर राजतिलक किया। महाराज के दीवान फतेहसिंहजी सिंघी ने भी अपना पराक्रम दिखाया था। उन्होंने भी राजतिलक किया और महाराजा बख्तसिंह ने उन्हें अपना दीवान बनाया। उन्होंने इसके सिवाय जो भी जो पद पर थे उन्हें उन्हीं पदों पर रखा। सामन्तों और ठाकुरों को भी वही मान दिया।

महाराजा बख्तसिंह जान गये थे कि रामसिंह क्या करेगा? तदनुसार उन्होंने तीन वर्ष में अपने सामंतों को इकट्ठा किया। इधर लोगों में बीच कल्याणकारी कार्य करके उन्होंने लोक प्रियता पाई थी। जोधपुर में बना बख्तावर सागर - पानी की समस्या के हल के समान उन्होंने बंधवाया।

मेडता के युद्ध में बहुत से लोग काम आये थे। महाराजा बख्तसिंह ने उनमें से बहुतसों के घर जाकर, सांत्वना दी और उनके वारिशों को सहायता पहुँचाई।

पुनः मारवाड में खबर फैलनी शुरू हुई कि रामसिंह माधोजी सिंधिया के साथ मिलकर जोधपुर जीतने आ रहा है। राजा रामसिंह के बनाम महाराजा बख्तसिंह ने अपने

— जिनेश्वर भगवान की वाणी सुनने के बाद औरों की वाणी सुनने की इच्छा नहीं होती। एक बार उनकी वाणी सुन कर जीवन में वह परिवर्तन आता है कि भव भव की बचन सुनने की भूख मिट जाती है।

भगवान जो प्रवचन देते हैं वह सब के लिये समान होता है। उसमें सभी आत्माओं को समान सम्बोधन रहता है। राजा हो या प्रजा, गरीब हो धनवान, सभी को ऐसा लगता है कि यह प्रवचन मेरे लिये हो रहा है।

सघलांने कहे सारखी, क्या राजा क्या रंक।
जिन भेट्यां थालां रहे, तो कर्मांनो वंक॥

सब को जिनेश्वर भगवान समान उपदेश देते हैं। क्या राजा हुआ और क्या रंक हुआ। जो जिनेश्वर भगवान से भेंट करके भी खाली रह जांये उन्हें कर्म अभागी ही समझने चाहिये कि ये उनके कर्मों का कसूर है।

भगवान के वचन का प्रभाव चार-चार कोश के घेरे में पड़ता है। लोगों की परिषद चार कोश के घेरे में बैठी है और ऐसा मालुम हो रहा है कि कर्म रूपी शत्रु-दल को काटने के लिये वीरप्रभु ने तलवार चलाई हो ऐसा प्रतीत होता है।

सघला वाणी सांभले, चार कोश ने घेर।
जाण करम दल काटवा, वाही छे शमशेर।

तीर्थंकरों के अतिशयों में एक अतिशय वह भी है कि चारों दिशा में बैठी परिषद को उनको मुख अपनी ओर ही मालूम पड़ता है और उनकी धीर गम्भीर वाणी में इतना सुघोष होता है कि दूर-दूर तक सभी को स्पष्ट सुनाई देता है।

मुख दीसे चारों कानी भला, बीच बैठा महावीरोजी।
भादरवाना मेह तणा, गरजे वाणी गम्भीरोजी॥

राजा रामसिंह को वहाँ से भागना पड़ा और वे जयपुर की ओर गये। वहाँ के राजा माधोसिंह (सवाई जयपुर के पुत्र) उनके ससुर लगते थे। रामसिंह उनके द्वारा मराठाओं की मदद लेना चाहते थे।

महाराजा वख्तसिंह ने मेडता में विजय पाकर जोधपुर प्रस्थान किया। उनकी वर्षों की एक मुराद बर आई थी और राजा रामसिंह ने अपने अविचारी - अविवेकी कार्य से उनका मार्ग खोल दिया था।

वे जिन-जिन नगरों से गये सभी नगरों में उनका स्वागत हुआ। सब नगरों के द्वार खुले थे और उनको कसूंबा पिलाया गया एवं जय माला पहनाई गई।

जोधपुर में भी वे एक विजेता के नाते, राजदरबार में पहुँच गये। जहाँ पर अब तक वे एक ठाकुर की हैसियत से आते थे वहाँ पर उन्होंने राजा के रूप में प्रवेश किया।

बगड़ी के जेतावत सामन्त, प्रत्येक राज्याभिषेक के समय तिलक करते थे; उन्होंने ही आगे बढ़कर वख्तसिंह के मस्तक पर राजतिलक किया। महाराज के दीवान फतेहसिंहजी सिंघी ने भी अपना पराक्रम दिखाया था। उन्होंने भी राजतिलक किया और महाराजा वख्तसिंह ने उन्हें अपना दीवान बनाया। उन्होंने इसके सिवाय जो भी जो पद पर थे उन्हें उन्हीं पदों पर रखा। सामन्तों और ठाकुरों को भी वही मान दिया।

महाराजा वख्तसिंह जान गये थे कि रामसिंह क्या करेगा? तदनुसार उन्होंने तीन वर्ष में अपने सामंतों को इकट्ठा किया। इधर लोगों में बीच कल्याणकारी कार्य करके उन्होंने लोक प्रियता पाई थी। जोधपुर में बना वख्तावर सागर - पानी की समस्या के हल के समान उन्होंने बंधवाया।

मेडता के युद्ध में बहुत से लोग काम आये थे। महाराजा वख्तसिंह ने उनमें से बहुतसों के घर जाकर, सांत्वना दी और उनके वारिशों को सहायता पहुँचाई।

पुनः मारवाड में खबर फैलनी शुरू हुई कि रामसिंह माधोजी सिंधिया के साथ मिलकर जोधपुर जीतने आ रहा है। राजा रामसिंह के बनाम महाराजा वख्तसिंह ने अपने

अठारे से छडोत्तरे मिगसर, सुद बीज गुरुवार ए[†]।
नागौर कहयो रिख जयमल, समोसरण अधिकार ए ॥

— लोगों के प्रेम भाव और भक्ति भाव के कारण पूज्यश्री थोड़े दिन और नागौर विराजे; किन्तु वाद में जब उन्होंने विहार किया तो लोग उन्हें दूर दूर तक पहुँचाने तो गये किन्तु उनके जाने के वाद भी वे उनके वहुत से पद नित्य स्वाध्याय (सज्झाय) के रूप में सामायिक प्रार्थना के समय गाते रहे थे।

*   *   *

नागौर से सन्तों का विहार मेड़ता हुआ।

आचार्य पद सम्हालने के वाद उनका व्यक्तित्व और भी खिल उठा था। पूज्यश्री रघुनाथजी म० सा० का चातुर्मास सोजत था। आगे सारे सन्तों के मिलन का एक कार्यक्रम वनाया गया। मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० का चातुर्मास नीमाझ था; अतः सभी सन्तों का मिलन मेड़ता हो ऐसा तय हुआ। जहाँ तक सोजत और जोधपुर का प्रश्न था वहाँ के श्री संघों के मन का समाधान हो चुका था और वहाँ की संघ एकता बराबर स्थिर हो चुकी थी। पूज्यश्री रघुनाथजी और पूज्य जयमलजी के पास मेड़ता के श्रावक संघ वहाँ पधारने के लिये आग्रह भरीं विनति करने आये थे।

अतः उनकी इच्छा को मान देकर दोनों पूज्य और इस प्रसंग पर अनेक सतियाँजी भी मेडता के संत-मिलन के लिये विहार कर वहाँ पधार गई थीं। जिसमें महासती वालांजी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय था।

मेडता में जब दोनों पूज्य विराजे तो ऐसा मालूम हो रहा था कि दो-दो सूर्य आज पृथ्वी पर शोभायमान हो रहे थे। उनके साथ संत और सतियों के पदार्पण से और भी उत्साह बढ़ गया था।

---

† सम्वत् १८०६ के मिगसर सुद २ गुरुवार के दिन नागौर में ऋषि जयमलजी ने समोसरण का यह अधिकार (पूर्ण) कहा।
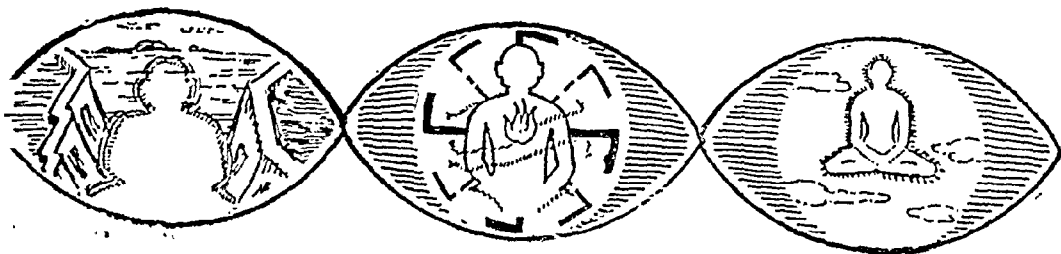
उन्हीं दिनों रामसिंह मेडता से भागकर आया और उसने मराठाओं से मदद लेनी चाही। महाराजा बख्तसिंह के अवसान के बाद में खयाल यह था कि शायद रामसिंह पुनः जोधपुर की गद्दी पर बैठे, उसके लिये कुछ सामन्त मान भी जाँय किन्तु वैसा नहीं हुआ। बख्तसिंह के साथ आये सभी सामंत मारवाड में मराठाओं की लूट के विरुद्ध में थे और उन्होंने वीर बख्तसिंह के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि रूप उनके पुत्र विजयसिंह को मारौठ नगर में गद्दी पर बिठाया। वहाँ से वे मेडता आये।

उस समय दिल्ही की सत्ता यद्यपि लुप्त हो चुकी थी फिर भी नवीन राजा विजयसिंह ने दिल्ही सम्राट को अभिषेक के समाचार भेजे जिसकी स्वीकृति मिल गई। अन्य राज्यों ने भी उसे मान्यता दी। बीकानेर, कृष्णगढ और रूपनगर के राजा मेडता आये और उन्होंने भी विजयसिंह का नये राजा के रूप में सत्कार किया। मेडता में और भी सामंत आये। उन्होंने भी विजयसिंह का राजा के रूप में स्वागत और सन्मान किया।

नये महाराजा विजयसिंह ने जोधपुर के लिये प्रस्थान किया। लोगों ने नये राजा का उचित स्वागत सन्मान किया। जोधपुर पहुँच कर राजा विजयसिंह ने सब से पहले अपने पिताजी का पुनित श्रद्ध का कार्य निपटाया। यह बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ। इस श्राद्ध कार्य में बहुतसा धन खर्च कर, उन्होंने ब्राह्मण, कवि, भाट चारण और गरीबों को सहायता की और उनके नाम का यश फैलने लगा।

लेकिन लोग जानते थे, सामंत गण मानते थे और राजा विजयसिंह भी समझते थे कि उन्हें शांति से बैठ ने को समय नहीं है। रामसिंह अपनी गद्दी पाने पुनः मराठाओं से बातचीत कर रहा था और मारवाड पर मराठा - विपत्ति के बादल मंडरा रहे थे।

* * *

ऐसी देश की परिस्थिति में जनमानस अस्थिर हो यह स्वाभाविक था। जोधपुर मेडता अजमेर के आसपास के प्रदेश युद्ध के मैदान से बने हुए थे।

एक प्रकार से देखा जाय तो राजस्थान में, सविशेष मारवाड में सं. १८०१ में सं. १८०९ तक करीब - करीब युद्ध का वातावरण चलता रहा था। बीकानेर का युद्ध,

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि कई लोग ऐसी भी बातें सामने लाते: " वे लोग अपनी निंदा आदि करते हैं। '

पूज्यश्री कहते : " यदि तुम सच्चे हो तो ये निंदा आदि तुम्हारा कुछ भी बिगाड नहीं सकती, मगर निंदा के बदले निंदा करोगे तो फिर तुममें और उनमें कोई अंतर न रह जायेगा !"

उनका तो लोगों का आध्यात्मिक बल बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान रहता था। उनके मधुर कंठ से गाई जानेवाली प्रार्थना लोगों को आनंद से भर देती थी। वे सभी बड़े प्रेम भाव से एक स्वर में गाते :—

रे जीव ! जिनवर सुमरिये . . . !

सुमरयां जय जयकार ।

इण भव में सुख संपदा ।
पामे भवनो पार ॥

ऋषभ अजीत संभव नमुं,
अभिनंदन अभिराम ।

सुमति पदम सुपास जी ;
पहुँचा शिवपुर धाम ॥

इस प्रकार पूज्यश्री ने मेडता में रहकर लोगों की धार्मिक अस्थिरता को दूर की। सभी स्थिर होकर धर्मध्यान करने लगे। अक्सर लोगों के सामने यह प्रश्न आकर खडा रहता था कि संत विराजते हैं तब तक तो ठीक, बाद में क्या होगा ?

पूज्यश्री उन्हें यही बताते थे कि :—" आपके बने हुए इन धर्मस्थानकों में सामायिक-प्रतिक्रमण आदि धर्म ध्यान और नित्य स्तवन - स्वाध्याय आदि होने चाहिये। संत हैं तब

की प्रजा युद्ध - खर्च के निमित्त कंगाल होती जा रही थी। उन दिनों में गौचरी आदि की कठिनाई एक प्रश्न सा था।

इसलिये श्रावको में जैसे "हमारे संत" "तुम्हारे संत" आदि सांप्रदायिकता आ रही थी वैसे क्षेत्रों के बारे में भी "हमारे संतों का क्षेत्र" और "तुम्हारे संतों का क्षेत्र" आदि पैदा हो रहा था।

जहाँ आहार - विहार के बारे में सांप्रदायिकता बढनी शुरू होती है वहाँ स्वाभाविक था कि जो पौषधशालायें या धर्म स्थानक लोगों ने अपने धर्म ध्यान के लिये खरीदे, या बनवाये थे उनमें भी मत भेद प्रारंभ हो रहा था।

छोटी - छोटी मत - भेद की बातें बड़ी बन के लोगों के मत - भेद को बढ़ा रही थी। उस समय युद्ध का जो वातावरण था उसमें इस मत - भेद का पलना स्वाभाविक था। अतः छोटी - छोटी बातों को लेकर श्रावक गण जब संतों के आगे बातें करते तब बहुत से बड़े संत तो इसका समाधान कर लेते थे, बहुत से संत मध्यस्थ भाव रखते थे किन्तु कुछ संत उसका प्रतिकार करते थे। फलतः अन्य संप्रदाय के संतों के बारे में वे कुछ कहते थे और परिणाम स्वरूप सांप्रदायिकता का मतभेद बढ़ता जाता था।

गोचरी लेते समय जो सुझता वहोराये वह साधु को लेना चाहिये। लड़ाई के कारण कई बार ऐसा भी होता था कि शाम को भोजन नहीं पकता था। संतों को दोनों समय की गोचरी एक साथ लानी पड़ती थी। कई संतों का ऐसा विचार था कि सुबह की गोचरी शाम तक बासी हो जाती है और उसे उपयोग में नहीं लेनी चाहिये। कई इसके आगे यह भी भय दिखाते थे कि यह परंपरा चली तो बासी - गोचरी ले लेने की प्रथा चल पड़ेगी। युद्ध काल में कहीं - कहीं ऐसे किस्से सुनने में भी आये थे।

कई बार ऐसा भी होता था कि संतगण शाम को गोचरी को गये। कहीं पर कोई श्रावक के यहाँ बासी ही भोजन रहता था। संत यदि बासी भोजन आदि के बारे में पूछताछ करते तो उन श्रावकों को बूरा लगता था। ऐसा भी कई बार सुनने में आता था कि "हम तो सूखा खाते हैं मगर संतों को गरमगरम ताजी गोचरी चाहिये।"

मेडता से सन्तों का विहार जालोर की ओर हुआ । संवत १७९० में उनका वहाँ चातुर्मास हुआ था और वीच में कभी उस ओर विचरण तो हुआ था, किन्तु वहां गये वर्षों हो गये थे ।

जालोर आदि क्षेत्रों में विचरण करते करते उन्हें कुछ आभास सा हुआ कि यहाँ पर साधुमार्गीय संप्रदायों के वीच कुछ कुछ खींचातानी है किन्तु उनके स्वभाव के अनुसार वे सभी को अपनी और आकर्षित कर लेते थे । उनका यही कहना रहता था कि "हम आये उसके पूर्व जैसी एकता थी वैसी बनी रहनी चाहिये । यदि एकता न हो तो भी सन्तों का कार्य एकता लानेका है । जहाँ धर्म सभी आत्माओं को समान मानने को कहता है वहाँ सन्तों के उपदेश से आपस के क्लेश-द्वेष दूर ही हो जाने चाहिये यही धर्म उपदेश है ।"

जालोर के लोगों ने इस वार उनका लाभ विशेष रूप से लिया । फल स्वरूप वहाँ स्थिरवास विशेष रहा और जैन साहित्य के लिये एक सर्व मान्य अनमोल काव्य रचना वहाँ संपूर्ण हुई ।

यह थी वड़ी साधु वन्दना । *

इसमें उन्होंने शास्त्रों में आये चौवीश तीर्थंकर, वीश विरहमान, सोलह सती और चौवीश तीर्थंकरों के गणधर सन्त-सती सभी को वंदना की और साधु नामावली इस प्रकार प्रस्तुत की कि उसको सुनकर लोग मुग्ध हो गये ।

*　　*　　*

उसके कुछ पद इस प्रकार थे :—

नमूं अनन्त चौवीशी, ऋषभादिक महावीर ।
आरज क्षेत्रमां घाली, धर्मनी शीर ॥

* पूज्यश्री जयमलजी के अन्यान्य वहुत से काव्य-सज्झाय आज भी प्रचलित हैं । उनमें यह वड़ी साधु वन्दना करीव-करीव वड़े-वड़े सभी सज्झाय-ग्रन्थों में पाई जाती है ।

थीं। साथ-साथ लोगों को समझाने के लिये जम्बुद्वीप, अढ़ाई द्वीप, लोक रचना आदि के चित्र बनाने की प्रवृत्ति भी थी। इसकी एक और दिशा यह भी थी कि नरक आदि के चित्र भी बनाये जाते थे और उसमें यक्षिणि देवी, नारकी स्त्री आदि के चित्र भी बनते थे। यूं पूतलियाँ बनाना भी प्रचलित था। संतों में इसे "चित्राम्-पूतली" बनाना के नाम से प्रवृति प्रसिद्ध थी।

सांप्रदायिकता बढ़ती है तो कुछ ममत्व बढ़ता है और परिणाम स्वरूप कहीं कोई प्रवृत्ति अपवाद रूप पाई गई तो अन्यत्र उसे व्यापक रूप से चलाई गई। युद्ध काल में कई बार ऐसा होता था कि बहुत से लोग लड़ाई में काम आ जाते थे और धर्म ध्यान के निमित्त रात्रि प्रवचन दिया जाता था तब पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी आती थीं। तब अन्यत्र ऐसा भी देखा जाता था कि कई बार रात्रि प्रवचनों में सिर्फ स्त्रियाँ ही रह जाती थीं। ऐसा भी देखा गया था कि घर-घर जाकर धार्मिक पाठ, सामायिक-प्रतिक्रमण के अक्षर पद सीखाने के लिये, कुछ संप्रदायों के संतों का कई घरों में जाना आना प्रचलित था।

इनमें से कुछ बातें कुछ संप्रदायों में प्रचलित थीं और कुछ अन्य संप्रदायों में प्रचलित थीं। परिणाम स्वरूप एक दूसरे की निंदा-विकथा का प्रचार अपने-अपने श्रावकों के माध्यम से होता था। उपाश्रयों और पौषध शालाओं में सांप्रदायिकता फैल रही थीं।

पूज्य जयमलजी इन सारी चर्चाओं से दूर रहना पसंद करते थे फिर भी जब कोई किसी विषय पर उनका मंतव्य मांगना चाहे तो उन्हें देना पड़ता था। उनका सामान्य रूप से यही विचार था कि संतों की बातें, संतों को मिलकर निपटा लेनी चाहिये। बाकी द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के अनुसार संतों को शास्त्र निहित मान्य आचार विचार पालने चाहिये।

नई चेतना के अनुरूप, लोगों में जागृति लाने के लिये सूत्र-सिद्धांत की बातें लोकभाषा में प्रचलित हो ऐसा मानते थे। सज्झायें आदि शास्त्रों के अनुसार ही होनी चाहिये ऐसा भी वे मानते थे। उनका कहना था कि ज्ञान के तीन भेदों में (१) सूत्र आगम, (२) अर्थ आगम (३) और उभय आगम स्पष्ट कहा गया है तब उसके अविरुद्ध न हों, और सही अर्थ बतानेवाली सज्झायें ढालें आदि बनाने में कोई विरोध न होना चाहिये।
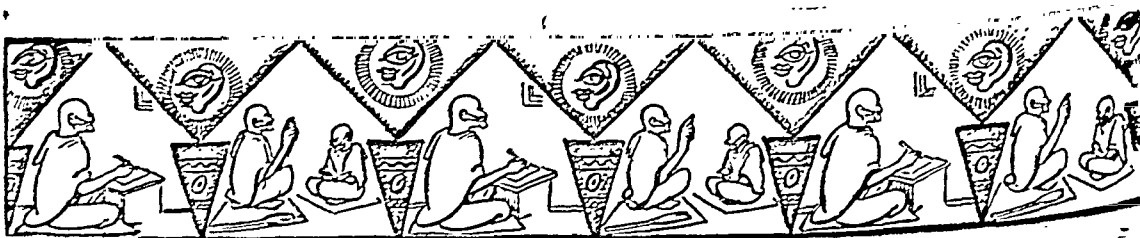
चौवीशे जिनना मुनिवर, संख्या अठावीस लाख ।
उपर सहस्र अडतालीश, सूत्र परम्परा भाख ॥

कोई उत्तम वांचो, मोढे जयणा राख ।
उघाडे मुखे बोल्या, पाप लागे विपाक ॥

*　　*　　*

चौवीशे जिननी, सर्व साधवी सार ।
अडतालीश लाख ने, आठ से सीतेर धार ॥

*　　*　　*

इन यतियों सतियोंना लीजे नित प्रति नाम ।
शुद्ध मनथी ध्याओ, एह तिरणनो ठाम ॥

इण यतियों सतियों सु, राखो उज्जवल भाव ।
इम कहे ऋषि जयमल, एह तिरणनो दाव ॥

*　　*　　*

संवत् अढारने वर्ष, सातो सिरदार ।
शहेर झालोर मांहे, एह कह्यो अधिकार ॥

भव जीवा हेते कियो, मुनि गुण सार ।
गुण मान जपतां, पामे भवनो पार । ‡

उनकी यह बड़ी साधु वंदना क्या थी? उसकें सारे पदों में शास्त्रों में जिन-जिन साधुओंका—सतियों का अधिकार चला था उसको पूरी तालिका और उसका सार था ।

---

‡ जयवाणी में यह अन्तिम दोहा नहीं है; किन्तु अन्य प्रचलित सज्झायों में है ।

इस प्रकार जहाँ ऐसा आहार वहरना निषेध है तो उसे काम में लेना ही क्यों चाहिये ? बहुत से ऐसा कहते हैं कि हम सुगंध और दुर्गंध से जान लेते हैं। किन्तु जो सड़ा-गला धान हो और उसका तत्काल अहार बना तब उसकी पहिचान सुगंध या दुर्गंध से कैसे हो सकती है ? यह भी प्रश्न था।

इस संदर्भ में एक गाथा, आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुत स्कंध, अध्ययन ९ की १३ वीं गाथा कही जाती थी कि :—

अवि सुइयं वा सुक्कं वा सीयं पिण्डं पुराण कुमासं।
अदु बुक्कसं पुलागं वा लध्धे पिण्डे अलध्धेए दविए ॥

अर्थात द्रव्यादिक को गीला करना, भीजोना, सुकाये हुए शाग (सूकवनी), सूके पदार्थ - जैसे खाखरे आदि, शीत पिंड अर्थात ठंडा रस चलित अहार जिस में लाळ (र) आदि न हो, पुराना यानी बहुत दिन के पुराने धान (जिस में जीवोत्पत्ति संभव है) और कुल्माष यानी उडद चना आदि असार धान का आहार मिले अथवा योग्य आहार न मिले तब भी समभाव को रखनेवाले भगवान महावीर थे।

इस विषय में आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुत स्कन्ध के प्रथम अध्ययन के अष्टम उद्देश्य का भी हवाला दिया जाता था कि :—

"से भिक्खू वा जाव समाणे आमडांग वा पूई पिण्णांग वा, महुंवा मज्जं वा, सप्पिंवा, खोलंवा, पुराणगंवा, एहय पाणा अणुप्पसुत्तां, एहय पाणा जाता, एहय पाणा संवुडडा, एहय पाणा अवुक्कंता, एहय पाणा परिणया, णो विद्धद्या, णो पडिगेहज्जा।

अर्थात् :—भिक्षु लोग, कभी काम में लाने के निमित्त जो वस्तुएँ लें उस समय यह ध्यान में रखें कि जब उसका रूपांतर होता है तब वह जीवोत्पति सहित है या नहीं। रूपांतर के बाद कई बार जीव च्यव जाते हैं और वे वस्तुएँ औषध आदि के काम में आ सकती हैं ?

इस में पाण का अर्थात बेइंद्रिय प्राणी - जीव कहा गया है।

५३

जय - साधु संमेलन

पूर्व - भूमिका

सम्वत १८०६-७ भारतीय इतिहास और विशेषत: राजस्थान की रियासतों के लिये अत्यंत उथल - पुथल लिये हुई थी। राजा शाहु के अवसान के बाद मराठा सरदार अपना - अपना विस्तार फैला रहे थे। अहमद शाह अब्दाली भारत पर आक्रमण करने आ रहा था।

होल्कर और सिंधिया ताकतवर हो रहे थे और दिल्ही की सल्तनत को वे खुल्लमखुला सहायता कर रहे थे। दोआब के नवाब कायमखां के लड़के अहमदखां ने रूहेलों से मिल कर अपनी राजधानी फर्रूखाबाद पर कब्जा जमाया था। उस युद्ध में वज़ीर सफदरजंग का सुबेदार नवलराय मारा गया था। वज़ीर सफदरजंग ने भरतपुर के जाट सरदार सूरजमल की सहायता की; किन्तु वहाँ उसे हारना पड़ा। उसने जयअप्पा सिंधिया और मलहार राव होल्कर की सहायता से रूहेलों से युद्ध जारी रखा। नौका का पुल बना कर रूहेलों को हराया गया। इस से मराठाओं को दोआब (जमनापार) का बड़ा प्रांत बदले में मिला। इसके साथ मराठाओं ने बादशाह से पेशवा के नाम फरमान लिखवाकर मुल्तान, पंजाब, राजपूताना और रूहेलखंड की चौथ की वसूली प्राप्त की।

किन्तु दिल्ही में वज़ीर के विरूद्ध षडयंत्र चलने लगे। अब्दाली दिल्ही तक आक्रमण ले आया था। वज़ीर रूहेलों के साथ उलझा हुआ था अत: बादशाह अहमदशाह को लाहौर और मुल्तान के जिल्ले देकर उससे संधि करनी पड़ी। दरबारी लोगों ने बादशाह को भड़काया कि वज़ीर इस समय अपना इलाका बढ़ाने में लगा हुआ है जब कि अब्दाली के आक्रमण के विरूद्ध कोई लड़ाई लड़नेवाला नहीं है।

ऐसा भी देखा जाता था कि इस प्रकार का सूका - सूका अहार कई बार पांचों विगय के त्याग के दिन आ जाता था। जब चर्चा उग्र हो चली तो "बासी के त्याग" के संदर्भ में ऐसे खाखरे आदि ग्रहण करने वालों ने यह भी प्रश्न उठाया कि "लड्डू पेंडे आदि बासी क्यों खाये जाते हैं ? ' जिलेबी के आथे को लेकर भी विवाद चल पड़ा था। दंल पडे हुए धान्य के भोजन का भी प्रश्न था।

सामान्यत: ऐसा भी कहा जाता था कि वर्षों से जो गोचरी के नियम चले आ रहे हैं उसके अनुसार संत गोचरी लाते थे। किन्तु विरोध चला तो अन्य संतों ने ऐसा भी कहा कि "४२ दोष टाल के अहार पानी लेना चाहिये। उसमें "संकिए" शब्द है। तदनुसार अन्य साधु या श्रावकों को शंका हो वैसा अहार न लेना चाहिये ? बहुत से संतों को तो ऐसे आहार में "जीव" हैं ऐसी श्रद्धा है। अन्यों को शंका है तो संतों को ऐसा आहार क्यों लेना चाहिये ?"

विवाद की एक ऐसी अवस्था आ पहुँची थी कि संतों को कई बार लाई गई पूरी की पूरी गोचरी परठ देनी पड़ती थी। उसका असर विपरीत पड़ता था। उस युद्ध-काल के समय जब कि अनाज आदि कई गांवों में मिलना कठिन था, वहाँ वहराया हुआ भोजन परठा देखा जाता तो लोगों को बातें करने को मौका मिलता ही था। फिर गरम ताजे आहार के बारे में संत गोचरी के समय पूछते थे तो भी लोगों का मुँह बन्द नहीं होता था और कहते थे कि "लो, संतों को गरम - गरम आहार चाहिये। अब तो वे आंधण से निकले गरम - गरम आहार भी चाहेंगे।"

यों उस समय संतों में परस्पर मत भेद बढ़ता जा रहा था। संतों का विहार का क्षेत्र उस समय भारत में चलती लड़ाइयों के कारण बदलता भी जा रहा था। मारवाड में मुख्यतः पूज्य धर्मदासजी म. सा. के प्रमुख शिष्य भूधरजी म. सा. के संतों का विचरण होता था। दिल्ही आग्रा के आस पास पूज्य जीवराजजी म. सा. के सन्तों का विचरण हो रहा था। किन्तु वहाँ पर मराठाओं की ओर जाटों की लड़ाई के कारण बहुत से संत राजस्थान की ओर चले थे। पू. श्री जीवराजजी म. सा. के संतों के भी साधु चार - पांच संप्रदायों में विभक्त

पूज्यश्री आदि संतों के मेडता छोड़ने के बाद मारवाड—राजस्थान में एक प्रकार से राजकीय अशांति ने आंतर्विग्रह का रूप धारण कर लिया। हालांकि मारवाड-बीकानेर के युद्ध के बाद, गगवाना में नागौर के महाराजा बख्तसिंह ने जो असीम पराक्रम दिखला कर जयपुर की लाख की सेना को केवल पांच हजार सैनिकों के बल पर भगा दिया था और जोधपुर एवं नागौर के महाराजा अभयसिंह एवं बख्तसिंह दोनों ने शांति पकड़ भी ली थी। फिर भी वातावरण अस्थिर सा था।

महाराजा अभयसिंहजी के बारे में कहा जाता था कि वे अन्तिम दिनों में काफी उदास रहते थे ओर उनका कसूंबे का सेवन बढ़ता जा रहा था। उनका स्वर्गवास सं. १८०७ में हो गया। उनकी गद्दी पर युवराज रामसिंह जो कि सिरोही राणी से पैदा हुए थे और अभी वीश वर्ष के ही थे, वे आये।

नया नया राज्य था, यौवन था और फिर उनके आसपास ऐसे लोग इकट्ठे हो गये जिससे राजा रामसिंह का चरित्र जैसा होना चाहिये वैसा नहीं रहा। उस समय अपने पिताजी के प्रभुत्व से पाया जोधपुर का प्रभाव शाली राज्य उनके लिये अपनी सत्ता चलाने का एवं मौजशोख का साधन बन गया।

प्रणालिका के अनुसार जब नये राजाओं का तिलक होता था। उस समय सभी प्रांतों और परगणों के महाराज एवं ठाकुरों को आकर राजतिलक करने की रश्म अदा करनी पडती थी।

नागौर के महाराजा हालांकि स्वंतत्र से थे फिर भी वे अपने को जोधपुर के आधीन मानते थे। इसलिये महाराजा बख्तसिंह को भी जोधपुर जाना था और सर्व प्रथम नये राजा को तिलक निकालना था।

महाराजा अभयसिंहजी की मृत्पु से इनके हृदय को भारी आघात पहुँचा था और वे अस्वस्थ से हो गये थे। कुछ उनके मन में यह भी बात थी कि अब स्वतंत्र क्यों न हुआ जाये? कोई भी कारण हुआ हो, और वे स्वयं जा न सके।

५. ढाल स्तवन की जोड नहीं करनी।

६. प्रतिक्रमण में पक्खी, चौमासी, संवत्सरी में चार लोगस्स का काउस्सग करना।

७. सय्यातर का आहार पाणी आदि राइय प्रतिक्रमण किये बाद टालना और विहार करे उस दिन लेना नहीं।

८. देवसिय का प्रायश्चित उपवास, पक्खी का १ उपवास, चौमासी का बेला और संवत्सरी का तेला लेना। जिस में नित्य के प्रायश्चित में दो विगय रोज टालना और पांच विगय लगाना नहीं। यदि लग जाय तो अगले दिन उपवास करना।

९. एक मास में चार उपवास करना - रोग - पीडा (गिला) की बात और। यह नियम बारह वर्ष के उपर के बालक और ५० वर्ष के वृद्ध के लिये है।

१०. पांच पदों की वंदना में जघन्य दो करोड केवली और उत्कृष्ट नव करोड केवली वह पहले पद में (वंदना) कहना।[‡]

११. गृहस्थी के घर दिन में दो बार वहराने जाना नहीं।

१२. गृहस्थी के घर में स्त्री, पशु, पंडग, (नपुंसक) कच्चा पाणी एवं अनाज खुला पड़ा हुआ हो तो इन स्थानों पर दो रात से उपर रहना नहीं।

१३. जो कच्चा पानी पिये उसे शास्त्र - प्रतिक्रमण सीखाना नहीं।

१४. आठ वर्ष से कम और ६० वर्ष से उपर हो उसे दीक्षा नही देनी।

१५. काना, लूला, पगला बड़ीएबवाला, गुन्हगार और रात अंधा (रात को नहीं देखनेवाला) को दीक्षा देनी नहीं।

१६. शक्ति हो तब तक आर्याजी के पास से आहार पानी लेना नहीं।

१७. पक्खी प्रतिक्रमण की विधि अलग लिखी है, उसे देखकर तदनुसार करना।

---

‡ आज भी गुजराती प्रतिक्रमण में केवली की वंदना तीसरे पद में की जाती है।
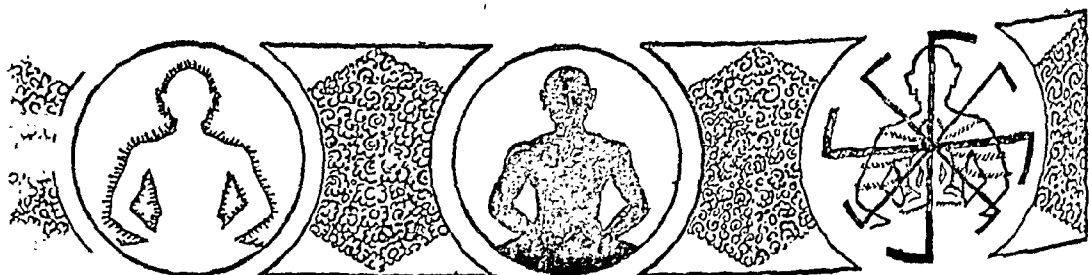
वे उठकर चल दिये। कुन्नीरामजी की शकल कुछ विचित्र थी किन्तु राजा रामसिंह ने इतना ही कह कर शांति न ली। उनके जाने के वाद भी मज़ाक उड़ाया :—"ये वूढे डोकरे वंदर गये वही ठीक हुआ।"

महाराजा रामसिंह का क्रोध फिर भी कम न हुआ और उन्होंने दूत भेजकर नागौर संदेश कहलवाया :—"आपको भेंट दिया गया जालौर परगणा वापस लौटायें क्योंकि आप जोधपुर की सत्ता नहीं मानते।"

नये राजा के पुराने भंडारी मंत्रियोंने सलाह दी कि ऐसा नहीं करना चाहिये किन्तु उनके आसपास के और जो जीहजुरिये थे उन्होंने राजा का ही पक्ष लिया कि वे जो कुछ कर रहे हैं वही ठीक है।

महाराजा वख्तसिंह ने विनम्र उत्तर भेजा कि "शीघ्र ही मैं महाराजा की सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।"

इस पर गर्व में आकर मंडोर के वागों में एक प्रसंग हो गया। महाराजा रामसिंह टहल रहे थे तव उनके साथ आहोया (पोकरण) के ठाकुर कुशलसिंहजी चांपावत थे। अपने घमंड में महाराजा रामसिंह ने उन्हें "गुरजीगंडक" (घृणित कुत्ता) ऐसा कहना शुरू किया था। ठाकुर कुशलसिंह ने यह सुन भी रखा था।

मंडोर के वाग में टहलते-टहलते एक वार राजा रामसिंह ने ठाकुर कुशलसिंह को चंपाका वृक्ष वता कर पूछा :—यह किसका वृक्ष है।"

ठाकुर कुशलसिंह ने कहा :—"यह चंपा का वृक्ष है और जैसे इसकी महक वाग में फैल रही है उसी तरह हमारे वंश के कारण मारवाड की ख्याति फैली हुई है।"

विना सोचे विचारे राजा रामसिंह ने उसे तलवार लेकर काट डाला ओर कहा :—"मंडोर (मारवाड-जोधपुर) का राज्य अपने आप ख्यात हुआ है—आप जैसे हों न हों तो क्या फर्क पडता है जैसे इस वृक्ष के कट जाने से मंडोर के वाग की शोभा में क्या कमी दिखाई देती है?"

चंपावत ठाकुर आ रहे हैं यह समाचार सुनकर वख्तसिंहजी सामने लेने गये। उन्हें साम ने आया देख कुशलसिंहजी जो कि उस समय मूंधवाड (मूंधियाड) में थे उन्होंने बड़ी भक्ति से कहा :—"अब हमारे सरदार आप हैं।"

वख्तसिंहजी ने भी कहा :—"आप अपने में ओर हमारे में कोई फर्क न गिनें। जब तक बाजरे की रोटी का टुकडा भी मिलेगा हम बांट कर खायेंगे।"

दोनों ओर से युद्ध की तैय्यारियाँ शुरू हुई। मेड़ता विभाग के सारे ठाकुर :—रिया, बुरसु, मिथरी, खोलर, भदावत, कुचामन, अलनिवास जुरूक आदि के सामन्त अपने मालिक जोधपुर नरेश की ओर से लड़ने आये।

सर्व प्रथम खेरली नामक स्थान पर युद्ध हुआ। बाद में मेडता के पास समतल क्षेत्र लूनावास नाम के स्थान पर दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ।

युद्ध के प्रारंभ से रामसिंह को अपशुकुन से हुए। राजा के तंबु पर कौआ बैठा था। राजा की रानी, राजा भोज की पुत्री भी साथ थी। उसने कौआ उडाने के लिये बंदूक दाग दी। राजा रामसिंह ने गुस्से में आकर राणी को निष्काषन दिया। फलत: राणी ने भी उन्हें शाप सा दिया :—"जिस तरह तुम मुझे हरा रहे हो, उसी तरह विजय तुम्हारे हाथ से चली जायेगी।"

दूसरा प्रसंग यह कहा जाता है कि मेडता के अजमेर द्वार के बाहर खुले मैदान में, जहाँ युद्ध हो रहा था वहाँ माताजी के मंदिर के स्थान पर दादू संन्यासी कृष्णदास बेठे थे।

जब युद्ध प्रारंभ हुआ तब लोगों ने उनको वहाँ से हट जाने को कहा किन्तु वे न हटे। उन्होंने इतना ही कहा :—"चाहे कुछ भी हो मेरा आयुष्य बाकी है। भगवान बचानेवाला है तब मैं कैसे मरूँगा; मगर आप चाहो तो यहाँ युद्ध न करो! परिणाम अच्छा न आयेगा।"

यह आश्चर्य की बात है कि पूरे युद्ध में बहुत से मारे गये, घायल हुए, रामसिंह को हारना पड़ा, मगर संन्यासी कृष्णदास का बाल भी बांका न हुआ और वे बराबर घायल सैनिकों को पानी पाते रहे।

१५. बडे, संत गोचरी गये हों तब छोटे सतों के आगे आलोयणा करना आवश्यक नहीं है।

१६. ज्ञान की सत्ता जीव के पास है। तदनुसार केवल ज्ञान की सत्ता भी जीव के अंदर ही है। वह बाहर से नहीं आता।

१७. भगवान महावीर ने गर्भ में, माता-पिता की ह्याती में दीक्षा न लेने की प्रतिज्ञा की यह उनकी मातृ भक्ति है।

१८. उपवास में महत्तरागारेण (अपने से बडों की आज्ञा का आगार) और परिट्ठावणिया आगार रख कर आहार करना नहीं।

१९. श्रावक के लिये सामायिक-पौषध में छः कोटि का पच्चख्खाण होता है। आठ कोटिका नहीं†।

२०. ठंडी रोटी में एकांत रूप से जीवोत्पत्ति नहीं होती।

हालांकि ये सारी बातें चर्चा मत भेद का विषय थीं फिर भी उन दिनों में इन पूज्य क्रियोद्धारकों के व्यवहार में अंतर आया नहीं था और परस्पर की निंदा-विकथा प्रचलित न थी। आज इन बातों को लेकर करीब ९०-१०० वर्ष बाद जो मतभेद चल रहा था ओर परस्पर में जो छिंटाकशी हो रही थी वह किसी भी समझदार जैन के लिये शोभास्पद न थी। उसके निवारण के लिये कोई ठोस कार्यवाही नहीं हुई थी — होनी चाहिये ऐसा सभी अनुभव कर रहे थे।

यह साधु संमेलन की पूर्व भूमिका ी।

† पूज्य धर्मसिहजी म. मानते थे कि सामायिक पौषध की विशुद्धि के लिये श्रावक वर्ग में वह आठ कोटि से होनी चाहिये। उनकी इस मान्यता में पूज्य धर्मदासजी म. के शिष्य पूज्य मूलचन्द म. सा. की परंपरा में आठ कोटि पक्ष भी पृथक् हुआ। वर्तमान में दरियापुरी संप्रदाय, कच्छ आठ कोटि मोटी पक्ष और कच्छ आठ कोटि नानी पक्ष उसे मानते हैं।
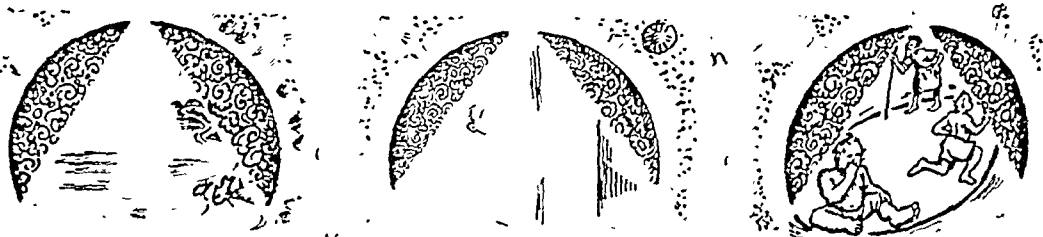
इस संमेलन में मुख्यत: दो क्रियोद्धारकों के संत थे ऐसा माना जाता है। वे थे पूज्यश्री जीवराजजी म. सा. की संप्रदायवाले और पूज्यश्री लवजी ऋषिजी म. सा. के परिवार वाले जो कानजी ऋषि की सम्प्रदाय से प्रसिद्ध थे।

ऐसा माना जाता है कि उन दिनों पूज्यश्री अमरसिंहजी म. सा. अपनी वृद्धावस्था में पुनः मारवाड में विचरण कर रहे थे। उन्हें संतों के मतभेद और उसको लेकर श्रावक वर्ग में जो छिंटाकशी हो रही थी उसे सुन कर दुःख हुआ।

उन्होंने प्रयत्न करके अलग - अलग संप्रदायों के प्रमुख संतों को मिलन के लिये एक योजना बनाई। उसमें सारे प्रचलित मतभेदों का निराकरण करना और शास्त्र संमत निर्णय लेना यह भी सुझाव था।

संतों के विचरण को ध्यान में रखकर "पचेउर" को साधु संमेलन के लिये चुना गया। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी संत वर्तमान मतभेद के निराकरण के लिये सहृदय से प्रयत्नशील थे और बहुत ही अल्प समय का अवकाश होने पर भी वे "पचेउर" में मिले।

जिन - जिन संप्रदायों के संत - सतियाँ वहाँ मिले उनका विवरण उस प्रकार था :-

१. पूज्यश्री जीवराजजी म. सा. के परिवार में पूज्यश्री लालचन्द म. सा. के परिवारवाले पूज्यश्री अमरसिंहजी म; श्री दीपचन्दजी म. श्री कानजी म., और आचार्य बोहथाजी, भगांजी और बीरांजी महासतियां।

२. पूज्यश्री जीवराजजी म. सा. के परिवार में, पूज्य परसरामजी म. के परिवारवाले पूज्य खेतशीजी म., श्री खींवशीजी म. आदि संत, और आर्या केसरजी आदि महासतियाँ।

३. पूज्य कानजी ऋषिजी म. सा. के परिवार में पूज्यश्री ताराचन्दजी म. श्री जोगराजजी म., श्री मीठाजी म. श्री तिलोलचन्दजी म. आदि संत और आर्या राधाजी आदि महासतियाँ।

ईश्वरीसिंह का राज्य तीन साल निर्विघ्न चला। मगर वे सामंतों में अप्रिय होते गये। दो साल और बीतने पर के सतलज के पार अफ़घानों से लड़ने गये। वहाँ सेनापति के मर जाने के बाद वे भागकर आये। अत: उनकी रानी भी बड़ी अप्रसन्न हुई और प्रजा भी। सामंतगण भी उनसे नाराज रहने लगे।

ईश्वरीसिंह का दुर्भाग्य समझना चाहिये कि मेवाड के राणा जगतसिंह ने माधौसिंह का पक्ष लेकर कहलवाया कि "मेरे मानजे माधौसिंह का आमेर—जयपुर के राज्य पर हक है अत: उसे सोंप दें।"

ईश्वरीसिंह ने देखा कि राणा जब बात पर तुला है और उसने अपने साथ बूंदी कोटा के राज्यों को भी मिला लिया है तब उसने ग्वालियर के मराठा सरदार अप्पाजी सिंधिया की सहायता ली, जो उस समय अपना राज्य बढ़ाने लगा था।

अप्पाजी सिंधिया की मराठी सेना और जयपुर की सेना के आगे कोटा-बूंदी और मेवाड की सेनायें टिक न सकीं और जगतसिंह को भागना पड़ा।

ईश्वरीसिंह ने बदला लेने कोटा-बूंदी पर आक्रमण किया। अप्पाजी सिंधिया ने साथ दिया। इस से सिंधिया को बड़ा लाभ मिला। उसने कई नगर अपने में मिला लिये और दोनों राज्यों से कर दिलाना स्वीकार किया।

राणा जगतसिंह ने इस हार को नहीं स्वीकारी और अन्य नये मराठे सरदार मल्हारराव होल्कर से संधि की कि यदि उसने ईश्वरीसिंह को हरा दिया और जयपुर की गद्दी पर माधोसिंह को बिठा दिया तो उसे ६६ लाख रुपये देगा।

मल्हारराव होल्कर उसके लिये तैयार हो गया। ईश्वरीसिंह ने जब यह समाचार सुना तो उसके सुनते ही उसे अपनी विजय असंभवसी लगी और विषपान करके उसने अपने प्राण त्याग दिये।

माधौसिंह को निर्विघ्न राज्य मिला। राणा जगतसिंह ने होल्कर को अपने वचन के अनुसार ६६ लाख रुपये दिये। कहते हैं कि इस के लिये माधौसिंह को ओर भी राज्य त्यागना पड़ा। रामपुरा भानपुरा की ८४ लाख की उपज का प्रदेश भी उसे देना पड़ा।

२. विना पूछे इन चारों संप्रदायों के बाहिर किसी ने एक भी प्रकार का संविभाग किया तो उसे संप्रदाय से पृथक किया जायेगा।

पूज्य भूधरजी म. सा. के परिवारवाले जब तक पूज्य लालचन्दजी म. सा. के परिवारवालों से संविभाग न करें तब तक कोई उनसे एक भी प्रकार का संविभाग करना नहीं।†

३. अपनी जोड़ आदि करनी नहीं।

४. वखताजी के संत एवं सतियों के साथ संविभाग करना नहीं।

५. चित्राम पूतली करना नहीं।

६. आहार पानी गृहस्थ के आगे परठने नही।

७. स्थानक में रात के समय स्त्रियाँ अकेली बैठी हुई हों तब कथा करनी नहीं।

८. रोगान में रंग एवं रातवासी रखने की प्रस्थापना करनी नहीं।

९. रस चलित अहार लेना नहीं।

१०. आर्याजी के स्थानक में वृद्ध एवं संथारा विना संत को बैठना नहीं।

११. इन चारों सम्प्रदाय के सन्त-सतियों का अवर्णवाद कोई बोले तो उसे मानना नहीं; किन्तु जब मिले उस समय पूछ खुलासा कर लेना।

इन चारों सम्प्रदाय के मर्यादा बोलों को जो माने नहीं ऐसे छोटे-बड़े कोई भी हो उनसे एक भी प्रकार का संविभाग करना नहीं।

इस मर्यादाओं के बोलों के पत्रक पर पूज्यश्री जोगराजजी म० सा० ने सही (दस्तखत) की ओर करवाई। इन बोलों की मर्यादा पालन करने का सब ने स्वीकार किया और उसमें कोई भेद नहीं करेंगे ऐसे केवली की साक्षी से सभी प्रतिज्ञा बद्ध हुए।

---

† वैसे पूज्य धन्नाजी और पूज्य अमरसिंहजी म० सा० के मिलन की ओर संविभाग की बात बड़ी सुप्रसिद्ध थी। फिर दोनों परिवारवालों के संविभाग न करने की बात, शायद दोनों सम्प्रदायों का परस्पर मिलन हो एतदर्थ नैतिक दबाव ही माना जा सकता है।

पश्चात गगराणा का युद्ध और बाद में मेडता का युद्ध इस प्रकार लोगों ने सतत युद्ध होते हुए देखे थे।

१८०७ में मेडता की लड़ाई की भीषणता का खयाल आते ही मेडता वाले अब भी चोंक उठते थे। उस ओर संतों का विहार और चौमासे होना कठिन सा था।

इस लिये संतों के चातुर्मास सं. १८०८ में मारवाड के दक्षिण पश्चिम प्रांतों में हुए। पूज्य जयमलजी का चातुर्मास बोडावद, पूज्य रूघनाथजी का चातुर्मास जैतारण और संतश्री कुशलचन्द्रजी म. का चातुर्मास जालोर हुआ।

वहां पर धर्म जागृति कर संतो का विचरण सोजत के आसपास होता रहा। सोजत में सभी संतों का मिलन भी हुआ। उन दिनों जो युद्ध हो रहा था और भविष्य में जो होनेवाला था उसकी बहुत सी बातें संतों के पास आती थीं। वे लोगों को अपना कर्तव्य बजाने और धर्म श्रद्धा दृढ रखने का उपदेश देते थे।

सं. १८०९ में पूज्यश्री जयमलजी ने, मुनिश्री टीकमजी, मुनिश्री नथमलजी आदि चार संतों के साथ जैतारण चातुर्मास किया। पूज्यश्री रूघनाथजी का चातुर्मास सोजत था, और संत कुशलचन्दजी म. सा. का चातुर्मास नीमाज था।

उन दिनों की अस्थिर राजकीय परिस्थिति का एक परिणाम यह आया था कि कभी श्रावकों के घरों में शाम को भोजन नहीं पकता था। युद्ध आदि होने के कारण, धान्य आदि के खेतों को नुकशान पहुँचता था और अनाज धीरे-धीरे महँगा होता जाता था।

ओसवाल जाति के प्रमुख लोग भी इन युद्धों से न बच सके थे। क्योंकि वे बडे-बडे पदों पर थे। मंत्री, दीवान सेनापति, हाकिम आदि पदों पर रहने से उनमें से बहुतसों को युद्ध में भाग लेना पड़ा था।

हालांकि संतों का विहार तो सर्वत्र होना चाहिये, फिर भी बहुत सी संप्रदायों के अपने क्षेत्र बन गये थे। युद्ध काल होने के समय अन्य संप्रदायों के संत इन क्षेत्रों में विचरण करने लगे थे। युद्ध या गृह युद्धों का एक खराब परिणाम स्पष्ट था कि कई राज्यों

"राजा को स्वयं अपने जीवन चरित्र से लोगों पर छाप डालनी चाहिये। व्यसनों से हट कर उसे अपना जीवन चारित्र युक्त बनाना चाहिये। बने वहाँ तक हिंसक लड़ाइयों से बचना चाहिये। प्रजा के सुख सन्तोष का पूरा ख्याल रखना चाहिये। प्रजा को खाने को भोजन, पहिनने को वस्त्र और रहने का निवास मिले और उनका जीवन सुख-शांति में बीते ऐसा जिस राज्य में हो वह हमेशा उन्नत और समृद्ध होता है।"

"देश के ऊपर जब विपत्ति के बादल मंडराते हो[†] उस समय यही प्रजा अपने देश के लिये सब कुछ अर्पण करने के लिये तैयार रहती है।"

राजा विजयसिंह भी अपने पिता बख्तावर सिंहजी की तरह पूज्य जयमलजी और जैन सन्तों से प्रभावित थे। उन्होंने पूज्यश्री के उपदेशों से प्रेरित होकर राज्य भर में "मद्य-मांस" बन्ध करवाया और उसके पालन में विशेष अंकुश बनाये।

पूज्यश्री जयमलजी ने लोगों के आगे देश-जाति धर्म के लिये अपना कर्तव्य बताया और भामाशाह, विमलशाह, खीवशीजी भंडारी आदि अनेकों के उदाहरण प्रस्तुत किये। जोधपुर का चातुर्मास इस प्रकार राजा-प्रजा दोनों के उत्साह एवं आनन्द के साथ सम्पूर्ण हुआ।

जोधपुर चातुर्मास की सफल समाप्ति के रूप में अनेकों ने व्रत पचक्खाण लिये; किन्तु श्री गोवरधनजी[‡] ने चढ़ते भावों से दीक्षा ली और चारों ओर धर्म जागृति की लहर दौड़ गई। अन्यों ने भी यथा शक्ति व्रत निमम स्वीकार किये।

चातुर्मास के बाद पूज्यश्री ने सन्तों के साथ विहार किया। लोग दूर-दूर तक पहुँचाने साथ आये। पूर्व विचारणा के अनुसार पूज्य भूधरजी म० सा० के परिवारवाले

[†] हालाँकि राजा विजयसिंह को गद्दी पर सभी ने बिठाया था फिर भी हारा हुआ राजा रामसिंह मराठाओं की मदद से पुनः गद्दी लेना चाहता था।

[‡] मुनिश्री गोवरधनजी पू० जयमलजी के उच्च कोटि के सन्तों में थे। बहुत शीघ्र ही उन्होंने शास्त्र-पठन पाठन कर लिया था। उनको स्वतन्त्र चातुर्मास करने की अनुमति सं० १८१३ से ही मिल गई थी। आप के द्वारा ही पू० जयमलजी के पट्टधर पू० रायचन्दजी म० दीक्षित हुए थे।

पानी का प्रश्न और भी जटिल था।

धोवन के पानी को लेकर भी विवाद चल पड़ा था। कई मानते थे कि उसमें कुछ समय बीतने पर जीव पैदा होते हैं। तो कोई ऐसा भी कहता था कि पानी घरों से नित्य नहीं वहरना चाहिये।

लोगों के हित के लिये सज्झायें-ढालें स्तवन उनकी भाषा में रचने का नया मौडसा आया था। उसके वाद अच्छे स्तवन लिखने का भी प्रचलन था। एतदर्थ सुन्दर अक्षरो में एकाक्षरी, पंचाक्षरी रीति से लेखन कार्य होता था। सूत्र आदि भी उतने उपलब्ध न थे जितने संतों के प्रमाण से होने चाहिये। फलतः उसका लेखन कार्य भी चलता था। इनको सुरक्षित रखने पूठ्ठे बनाने के लिये कई वस्तुओं का प्रयोग होता था। कुछ संत रोज वहरना, रोज वापस दे आना ऐसा करते थे। कुछ संत पूरा कार्य हो जाने के बाद बचता उसे वापस दे आते थे। इस प्रकार के लेखन कार्य में श्याही का प्रयोग होता था जिसके सचित अचित के वारे में विवाद चलता था। पूठ्ठे आदि तैयार करने लेई-लाख आदि का प्रयोग होता था। उसमें जीवोत्पत्ति आदि विषय को लेकर चर्चा चल पड़ी थी।

सज्झाय आदि बनाना, ढालें जोड़ना उसका भी विरोध हो चला था। एक मत ऐसा भी था जो कि सूत्र का हवाला देता था :—"**अभिण्ण दस पुव्विणा रइयं से त्तं सम्मसुयं तेण परं भिन्नेसु भयणा** ‡" अर्थात दश पूर्व तक जो पढ़ा हो उसके द्वारा रचित हो वही सम्यक श्रुत है। उससे कम की रचना सच भी हो सकती है, झूठ भी हो सकती है। अतः इस प्रकार मिश्रभाषा वोलने से महामोहनीय कर्मका वंधन होता है फिर भरी सभाओं में प्रवचनों में इसका प्रयोग न होना चाहिये।

ऐसा भी देखा गया था कि जहाँ कुछ संतों में काव्य रचनाकी प्रवृति थी, वहाँ पर अन्यों में सुंदर-सुंदर शास्त्र-लेखन, रंगविरंगे पूठ्ठे बनाना आदि प्रवृतियां भी प्रचलित

---

‡ यह पाठ वास्तव में गलत है। मूल पाठ इस प्रकार है :—
अभिण्ण दस पुव्विस्स समसुयं तेण परं भिन्नेसु भयणा।
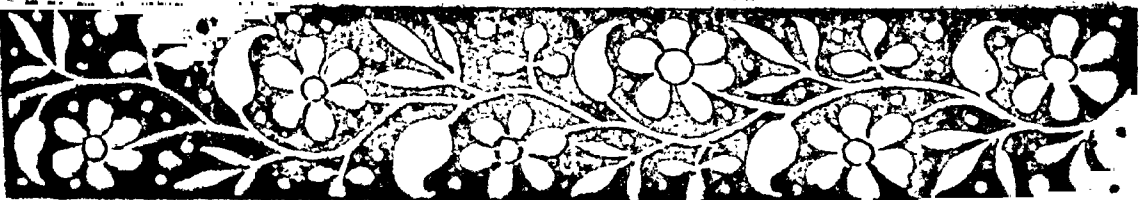
वैर पुराणो नहि हुए जीवो हिये विचार ।
काचर ने खंधक तणो भविक सुणो विस्तार ॥

क्षमा कियां सुख उपजे क्रोध कियां दुःख होय ।
क्षमा करी खंधक ऋषि मुगति गयो शुद्ध होय ॥

इस संसार में जीव मोह के कारण, बचपन, यौवन और वृद्धावस्था में, तीनों वय में ऐसे कर्म बाँधता है कि उसे भोगे बिना उसकी मुक्ति नहीं होती। उसका वैर चलता ही रहता है।

शास्त्रकारों ने स्कन्द ऋषि और काचर के जीव का मोह-वश जो वैर बन्धन हुआ उसका बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। धन्य है क्षमावीर खंधक ऋषिजी जिन्होंने अपूर्व क्षमा की और वे मुक्ति में गये। क्षमा करने से सुख होता हैं, क्रोध करने से दुःख होता है और जो क्षमा करते हैं वे भव सागर पार कर जाते है।

नमूं वीर शासन धणीजी गणधर गौतम साम ।
कथा अनुसारे गांवसूजी खंधकना गुण ग्राम ॥

त्वचा उतारी देहनीजी राख्या समताजी भाव ।
जिन धर्म कीधां दीपतोजी मोटा अटलक राव ॥‡

श्रावस्ति नगरी में कनकहेतु राजा और मलयासुन्दरी राणी राज्य करते थे जिनके स्कन्धक नाम के कुंवर थे। एकदा विजयसेन मुनिवर अपने सन्तों के साथ विचरण करते श्रावस्ति नगरी पधारे। नर-नारी उनको वन्दन करने चले। स्कन्धक कुंवर भी उपदेश सुनने परिषद में जा बैठा। आगार-अनगार धर्म बताते हुए मुनिश्री ने कहा कि जो मुक्ति की उम्मीद करते हैं उन्हें समकित धारण करना चाहिये। यह जीवन कितना अस्थिर है? कहते हैं कि :—

डाभ अणि जल बिंदुओजी, पाको पीपल-पान ।
अथिर तन-धन आउखोजी, तजो कपट ने मान ॥

‡ चरित स्कन्धक ऋषि — जयवाणी पृ० २९९ से ३१२

रस चलित आहार उस समय की एक बड़ी चर्चा का विषय बन गया था। वासी रोटी, कूहया (कोहित)* अन्न आदि के बारे में अलग-अलग मंतव्य संतों के थे। सामान्यतः कूहया भोजन में दो इंद्रिय जीवों की उत्पत्ति का प्रारंभ माना जाता है। शास्त्रों में जब पांचों रसों का अपरस होता हो तब भी जीव माना है तो कूहया भोजन में जीव उत्पत्ति माननी चाहिये ऐसा उनका मानना था। वे शास्त्र का उदाहरण देते थे :—

पुणरवि जिढिंभदिएण साइयस्स अमणुण्ण पाववगइ किं ते अरस, निरस, सीय, लुक्ख निअप्प पाण भोयणाई दोषिण वावन्न कूहिय, पूइय, अमणुण्ण विणट्ठ बहुसुयं दुब्भिगंध-वाई तित्त कडुय कसाय अंबिल रसलिंद निरसाई अन्नेसुय एवमाइएसु रसेसु अमणुण्ण पावएसुण तेसु समणेण रूसियव्वं जाव चरेज्ज धम्मं।

अर्थात :—जिस में प्यास और भूख शमन करने की शक्ति नहींवत है अथवा जिस में कुछ प्राणी (जीव) उत्पन्न हो गये हैं अथवा जीवों के द्वारा खा लिया गया हो, कुथ्यसा जो हो गया है, जिस में रस-चलना हो गई है, ऐसा आहार मिलने पर साधु-नाराज़ न हो किन्तु शांति से उसे अस्वीकार करके कह दे कि इस वस्तु से भूख-प्यास नहीं मिटती अतः लेना कल्पता नहीं है। इसके साथ वे दशवैकालिक सूत्र का भी हवाला देते थे :—

थोव मासायणठाए हत्थगम्मि दलाहिमे। मा मे अच्चंबिल पूयं नालं तिन्हं विणित्तए। दितियं पडियाइक्खे न मे कप्पई तारिसं।

—दश वैकालिक अ. ५. उ. १ गा. ७८

अर्थात :—चखने के लिये थोडासा पानी मुझे हाथ पर डालो। अधिक खट्टा दुर्गंधवाला, प्यास को मिटाने के लिये पर्याप्त नहीं है। वह पानी यदि उसी प्रकार का हो तो बहरानेवाले को कहे कि मुझे ऐसा पानी नहीं चाहिये।

---

* कोह्या : वह भोजन सामग्री जो वासी होकर चिकनी होना शुरू होती है। रोटी शाक-दाल में तन्तु सी, लार सी देखने में आती है और मिष्टान्न पकवानों में लीलन-सफेदी आ जाती है। कई वार ऐसे भोजन में कुछ मन्द सडी सी गन्ध भी आती है। यह अवस्था सडने-वासने के प्रारम्भ की है।

कारण इस संसार में कहाँ कहाँ जीव न गया और उसने कौन-कौन से दुःख न सहे? फिर भी जीव ऐसा आदी हो गया है कि वह उसमें ही उलझता जाता है। सन्त गण आते हैं और उपदेश देते हैं कि अब तो चेतो! अब तो दया करो!! अब तो धर्म करो!!

सन्तों की वाणी का सभी पर असर पड़ता है; किन्तु स्कन्धक कुंवर पर अनोखी असर हुई। उसने मुनिवर्य से कहा:—"मैं आप के प्रवचनों से प्रभावित हुआ हूँ और माता-पिता की आज्ञा लेकर आपसे संयम लूं ऐसे मेरे भाव हुए हैं।"

स्कन्धक कुंवर ने जब माता को जाकर अपने भाव कहे तो वह पहले मूर्छित हो गई। फिर सचेत होने पर रानी ने कहा:—"पुत्र! संयम पालना सरल नहीं है। पाँच महाव्रतों का पालन तीन करण तीन योग से करना पड़ता है; रात्रि भोजन का त्याग करना पड़ता है। लोग क्या-क्या कहते हैं? क्या क्या परिषह सहने पड़ते हैं?"

कहा भी है कि:—

सुवेण, कुवेण लोकना, खमणा परीसा भार।
राज कुंवर (तुं) सुकुमाल छे, करवी न देहनी सार॥
कोई कहे पूज पधारिया, देवे आदर मान।
कोई कहे मोडा क्यूं आवियो, बोले कड़वी बान॥
ए परीसा सहणा दोहिला, कहुं छूं बारम्बार।
सुख भोगव संसारना पछे, लीजो संजम भार॥

पिता माता ने बहुत समझाया; किन्तु स्कन्धक कुंवर अडिग रहा तो अन्त में माता-पिता ने उसे आज्ञा दी और कहा:—

सिंहनी परे व्रत आदरी, पालो सिंहज जेमो रे।
करणी कीजे रे जाया निर्मली, लीजे शिवपुर खेमो रे॥

सिंह की तरह व्रत पालन करना और संयम का निर्मल पालन कर मुक्ति को पाना। इस प्रकार उपदेश दे उन्होंने स्कन्धक कुंवर को आज्ञा दी। स्कन्धक कुंवर ने संयम लिया और सूत्र-अर्थ समझ कर सच्चे रूप से चारित्र का पालन करने लगे।

ऐसा भी मंतव्य था कि कभी कूह्य (वासी) अहार ले सकते हैं किन्तु लार वाली रोटी आदि नहीं लेनी चाहिये। वासी रोटी लेने वाले, कूह्य लेनेवाले का अवर्णवाद बोलते थे और कूहय लेने वाले वासी लेने वाले का बोलते थे।

इस संदर्भ में भी शास्त्रों का हवाला दिया जाता था। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ८ की गाथा १२ इस प्रकार कही जाती थी कि :—

पंताणि चेव सेवेज्जा सीयं पिंडं पुराण कुम्मासं
दुकुवुक्कसं पुलागं जवणठाए निसेवए मंथु।

सन्त गृहस्थों के वाकी वचा हुआ ठंडा आहार उदड़-चना आदि के छिलके-थूली-भूसी आदि खाते हैं। क्योंकि संतोंको शरीर का निर्वाह करना ही है।

किन्तु यहाँ भी रस चलित आहार लेने का विधान नहीं है। इस संदर्भ में परस्पर अपना-अपना मत सिद्ध करने के लिये अपना-मंतव्य लोग देते थे। लार आदि प्रत्यक्ष में रोटी के दो टुकडे करें तव चीकनासा तन्तु होता था। लेकिन उसे वेइंद्रिय जीव श्रेणि में माना गया है। कई वार ऐसा भी देखा गया था कि इस तरह की वासी रोटियों में इन लारों से लटें आदि वनती थी यानी उसकी अंडज अवस्था, वह चीकना तंतु होना चाहिये ऐसा वहुतसों का मंतव्य था। वहुत से विरोध के रूप में उसमें कौनसा जीव है, कैसे है उसका विवाद करते थे।

रस चलित अहार नहीं लेना इस संवंध में द्रव्यों के वारे में भी चर्चा चलती थी। द्रव्य दो प्रकार के हैं :—विनाशी और अविनाशी। विनाशी द्रव्य यानी रंधा पका हुआ धान जैसे दूध, सीरा, लापसी लड्डू-जिलेवी आदि उसमें रसचलित हो जाने पर, उसे ग्रहण नहीं करना चहिये। अविनाशी द्रव्य के रूप में गुड़, खांड, सक्कर आदि हैं जिन में वहुत काल वीतने पर रसचलित होता है। ऐसे पुराने द्रव्यों को संतों को नहीं लेने चाहिये ऐसा भी मंतव्य प्रचलित था।

वह स्कन्धक मुनि को साधु वेश में न पहचान सका। उसने अपने अनुचरों को आज्ञा दी कि "इस वेशधारी साधु का पता लगाओ और मसाण में जाकर इसकी चमड़ी उतार लो।"

अनुचर गये और मुनि को पकड़ कर मसाण ले गये। वे भी इस सुकुमार मुनि को देख कर पसीज गये; किन्तु उन्होंने मुनि को कहा :—"हम राजा के आदेश के आगे लाचार हैं। आप की चमड़ी उतारने का आदेश दिया है।"

मुनि स्कन्धक ऋषि ने समता भाव धारण कर लिया। उन्होंने अपना परिचय नहीं दिया। संसार के सम्बन्ध बता कर वे संयम के परिषहों से हटना नहीं चाहते थे। उन्होंने चारों आहार का प्रत्याख्यान कर दिया।

संसार की गति कितनी विचित्र है कि कहाँ मुनि स्कन्धक को गोचरी करने का समय था और कहाँ उनकी चमड़ी उतारने का क्रम प्रारम्भ हुआ। चमड़ी उतरती चली; मगर सन्त स्कन्धक की समता भी तीव्र होती गई। उनके भाव विशुद्ध होते गये और केवल ज्ञान हुआ। वे कर्म को क्षय कर मुक्ति पहुँचे।

शास्त्रकारों ने उनकी इस परिषह सहने की शक्ति और अपूर्व क्षमा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कहा भी है :—

सह्यो परीषो थोड़ी वार।
कर्मारो कियो अपहार॥
सुकोमल साध, अविचल सुखमां मिल रह्यां ए....
'ऋषि जयमल' कहे इम वाय।
प्रणामूं ते ऋषि ना पाय॥
सुकोमल साध, सासता सुख पाया मुगति गया ए....

स्कन्धक ऋषि का जीव मोक्ष चला गया और कुन्ती नगरी में हाहाकार फैल गया कि "अरे, राजा ने बिना गुन्हे के अणगार को ऐसे मरवा दिया है।"
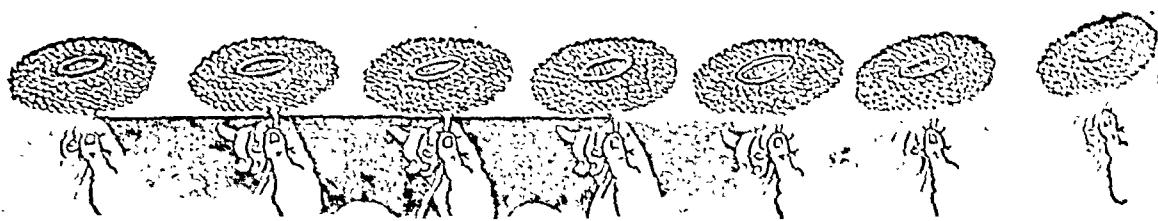
मुनिवर्य से वचन सुन कर राजा - रानी और पांच सौ सुभटों को प्रतिबोध मिला और उन्होंने भी संयम लेकर आत्म - कल्याण किया।"

लाडणूं में यह ढाल पूज्यश्री जयमलजी ने पूर्ण की और अनेक लोगों ने उनसे व्रत नियम लिये। ढाल की पूर्णाहूति करते हुए पूज्यश्री जयमलजी ने लिखा :—

कर्म खपाई मुगते गया,
वधारी हो जुग धर्म की सोय।
अजर अमर सुख सासता,
ऐसी करणी हो कीजो सहु कोय॥
अठारे सो इग्यारोतडे,
चैत मासे हो सुद सातम जोय।
लाडणूं रिख जयमल कहे,
विपरीत रो मिच्छामि दुक्कडं मोय॥ †

पूज्यश्री जयमलजी के साधु सम्मेलन के प्रयत्न चालु थे। उन्होंने अन्यान्य सम्प्रदायों के सन्तों से मिलन भी शासन विनय से किया और फलस्वरूप मेड़ता में एक वर्ष बाद सं० १८११ की वैशाख वदी १० को दूसरा साधु सम्मेलन हुआ। इसमें निम्नः सम्प्रदायों ने भाग लिया :—

१. पू० लालचन्दजी म० सा० के परिवारवाले, पू० अमरसिंहजी, श्री स्वामीदासजी म० सा०, श्री दीपचन्दजी म० सा०, श्री बोथाजी म० सा० तथा श्री तुलसीदासजी म० सा० आदि सन्त और आर्याजी भागाजी, वीराजी आदि महासतियांजी।

† एक अन्य हस्तलिखित पत्रक में ऐसा उल्लेख मिलता है कि लाडणूं में पू० जयमलजी ने ढालें जोडीं। उसे सुन कर पू० अमरसिंहजी म० ने उसे कटवाया और संविभाग तोड़ा; किन्तु फिर सं० १८०८ में वापस जोड़ा। यह सं० १८११ होनी चाहिये; क्योंकि लाडणूं में "स्कन्धक मुनि चरित" की पूर्णाहूति के उल्लेख में वही संवत् है। संविभाग तो १८१० के सम्मेलन में शर्तिया जोड़ने का था; अतः यह युक्ति-संगत नहीं लगता। किन्तु इससे एक बात स्पष्ट होती है कि पू० जयमलजी और पू० अमरसिंहजी दूसरे साधु सम्मेलन के पूर्व मिले थे।

१८. चौमासा उतरे बाद दो मास के पूर्व उसी गाँव में वापस जाना नहीं। कभी जाना पड़े तो एक-दो रात से अधिक ठहरना नहीं।

१९. साधुओं के एक विस्तर पर दो व्यक्ति सोने नहीं।

वैसे पू० धर्मदासजी म. सा. के संतों के भी अपने नियम बने थे। लवजी ऋषि से यानी पूज्यश्री कानजी ऋषि से उनकी चर्चा चली थी और कुछ बोलों का मत भेद रहा था।

कहते हैं कि पूज्यश्री धर्मदासजी म. सा. ने पू. कानजी ऋषि से निम्न: बोल मानने को कहे थे :—

१. जीव के पास ज्ञान की सत्ता है।

२. उगते हुए में अनंता जीव हैं।

३. रसया जीव हैं।

४. पान की पट्टी लेनी नहीं।

५. कच्ची ककडी के टुकडे (पने) लेने नहीं।

६. घरों के प्रत्याख्यान पालने।

७. दोनों हाथों में झोली रखनी नहीं।

८. पांच अणुव्रत की चर्चा मान्य करनी।

९. आहार-पानी के संभोग विना वंदना करनी नहीं।

१०. साधु को कुसाधु न कहना।

११. कारण विना एक दिन में दो बार गौचरी न जाना।

१२. कच्ची केरी के टुंकडे लेने नहीं।

१३. कारण विना जीमणवार में जाना नहीं।

पीछे सम्यक् ज्ञान का आधार है। साथ ही अन्य सन्तों को भी वे इस ज्ञान को दे रहे हैं। बहुत से सन्त उनसे जोड़ बनाना सीखते थे।

इसके पूर्व उन्होंने ऐसा सुना था कि पूज्य जयमलजी बस, रात-दिन कविता बनाने में लगे रहते हैं; किन्तु उन्होंने समीप में यह पाया कि उनका जीवन तप मय है—साधना मय है। अखंड रात्रि वे आडे लेटे बिना बैठे रह सकते हैं। वैयावच्च करने में भी वे पीछे नहीं हटते थे और कई बार देर तक वे पूज्य अमरसिंहजी म० सा० की चरण सेवा में बैठे रहते थे।

पूज्यश्री अमरसिंहजी कभी कुछ कहते तो वे अति विनम्र होकर इतना ही कहते :—"आप जैसे दादा-गुरु सरीखे पूज्य वयोवृद्ध सन्त की सेवा का लाभ सिर्फ पुण्यशाली को प्राप्त होता है। मैं इसे अपने अच्छे कर्म का उदय मानता हूँ।"

उनकी यह विनम्रता देख कर पूज्यश्री अमरसिंहजी म० सा० का हृदय आत्म-विभोर हो जाता और उनके मुँह से अनायास ही निकल जाता :—"जयमल! तुम सचमुच ही जय लेकर आये हो। तुम्हारी आत्म शक्ति का शासन विकास में बराबर उपयोग करो!"

"आपकी श्रद्धा के अनुरूप बन सकूं!" यही पू० जयमलजी का उत्तर रहता था।

सन्तों के साथ रहने से गोचरी आदि में जो थोड़ा बहुत मत-भेद था उसका हार्द समझ में आने लगा, एवं अन्य बहुत सी बातें, पुराने मर्यादाओं के बोल आदि स्पष्ट होते गये और यह तथ्य समझ में आया कि द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के अनुसार चलने का जिनेश्वर भगवान श्री महावीर का आदेश कितना व्यवहारिक और यथार्थ है।

* * *

सम्वत् १८११ के चातुर्मास के लिये पूज्य जयमलजी ने पीपाड़ की ओर एवं पूज्य रुघनाथजी ने जोधपुर की ओर विहार किया। मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० का [illegible] (मेवाड़) में चौमासा था।

हालांकि पू. धर्मसिंहजी म. सा. के संत मारवाड में विचरण नहीं करते थे, फिर भी पूज्य धर्मदासजी और पूज्य लविजी ऋषि की श्रद्धा के बोल में यह अंतर पडता था। निम्न: बोलों की पूज्य धर्मसिंहजी की मान्यता न थी :—

१. संमूर्छिम जीव १४ अशुचि स्थात में होता है। (पूज्य धर्मसिंहजी सर्व स्थानों में मानते थे।
२. स्थानांग सूत्र के अनुसार सात कारणों से आयुष्य टूटता है। न कि सिर्फ निश्चिय कर्म बंध से।
३. रजोहरण की फली के बीच में डोरा बांधना उचित्त नहीं है।
४. पात्र के उपर लकडी के ढक्कन रखना अकल्पनीय है।
५. एक असूझता हो वहाँ घरके दूसरे से बहराना उचित्त नहीं है।
६. भिक्षा के समय दोनों हाथों में झोली नहीं रखनी चाहिये।
७. सामूहिक प्रतिक्रमण के समय महाव्रत (अतिचार) का चिंतन काउस्सग आवश्यक है।
८. फल की फांके या पूरे भूट्टे आदि बहराना नहीं।
९. मुंहपत्ति बांधे बगैर गौचरी आदि को जाना नहीं।
१०. उपवास में छाश की आछ पीनी नहीं।
११. नदी आदि के कच्चे जल को पार करने में दोष लगे तो प्रायश्चित लेना आवश्यक है।
१२. पड़िलेहन के बाद इर्यावहिक कार्योत्सर्ग करना आवश्यक है।
१३. प्रथम प्रहर का आहार चौथे प्रहर काम में लेना नहीं चाहिये।
१४. गृहस्थ जीवन में हरी का त्याग हो तो संयम लेकर नहीं छोड़ने चाहिये।

पीछे सम्यक् ज्ञान का आधार है। साथ ही अन्य सन्तों को भी वे इस ज्ञान को दे रहे हैं। बहुत से सन्त उनसे जोड़ें बनाना सीखते थे।

इसके पूर्व उन्होंने ऐसा सुना था कि पूज्य जयमलजी बस, रात-दिन कविता बनाने में लगे रहते हैं; किन्तु उन्होंने समीप में यह पाया कि उनका जीवन तप मय है— साधना मय है। अखंड रात्रि वे आडे लेटे बिना बैठे रह सकते हैं। वैयावच्च करने में भी वे पीछे नहीं हटते थे और कई बार देर तक वे पूज्य अमरसिंहजी म० सा० की चरण सेवा में बैठे रहते थे।

पूज्यश्री अमरसिंहजी कभी कुछ कहते तो वे अति विनम्र होकर इतना ही कहते :—"आप जैसे दादा-गुरु सरीखे पूज्य वयोवृद्ध सन्त की सेवा का लाभ सिर्फ पुण्यशाली को प्राप्त होता है। मैं इसे अपने अच्छे कर्म का उदय मानता हूँ।"

उनकी यह विनम्रता देख कर पूज्यश्री अमरसिंहजी म० सा० का हृदय आत्म-विभोर हो जाता और उनके मुँह से अनायास ही निकल जाता :—"जयमल! तुम सचमुच ही जय लेकर आये हो। तुम्हारी आत्म शक्ति का शासन विकास में बराबर उपयोग करो!"

"आपकी श्रद्धा के अनुरूप बन सकूं!" यही पू० जयमलजी का उत्तर रहता था।

सन्तों के साथ रहने से गोचरी आदि में जो थोड़ा बहुत मत-भेद था उसका हार्द समझ में आने लगा, एवं अन्य बहुत सी बातें, पुराने मर्यादाओं के बोल आदि स्पष्ट होते गये और यह तथ्य समझ में आया कि द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के अनुसार चलने का जिनेश्वर भगवान श्री महावीर का आदेश कितना व्यवहारिक और यथार्थ है।

* * *

सम्वत् १८११ के चातुर्मास के लिये पूज्य जयमलजी ने पीपाड़ की ओर एवं पूज्य रुघनाथजी ने जोधपुर की ओर विहार किया। मुनिश्री कुशलचन्दजी म० सा० का सिरियारी (मेवाड़) में चौमासा था।

५३-अ

जय-साधु संमेलन

समाचारी के निर्णय
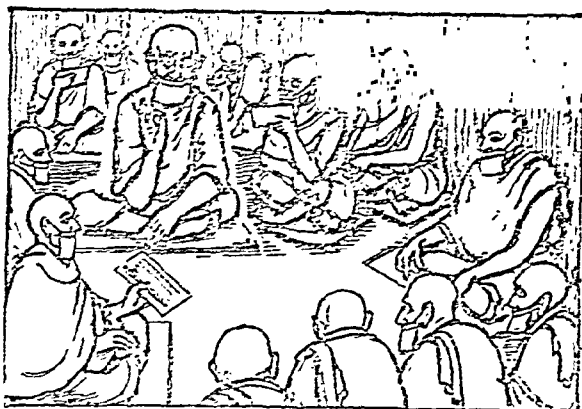
मारवाड-राजस्थान की ओर अभी तक पूज्य श्री धन्नाजी म. सा. के पूज्य भूधरजी म. सा. के संतों का विचरण सविशेष था। किन्तु देश की लडाई के वातावरण में बहुत से संत पंजाब, दिल्ही, आगरा, भरतपुर, बूंदी; कोटा-मालवा से राजस्थान की ओर आ रहे थे। उनके साथ वहाँ के श्रावक और भक्त वर्ग भी आता था और उनके मुँह से युद्ध की भीषणता का वर्णन सुन कर सभी के दिल काँप उठते थे।

संवत १८१० में मरुधर के संतों के चातुर्मास इस प्रकार तय हुए। पूज्य रूघनाथजी म. सा. का चौमासा मेडता, पूज्यश्री जयमलजी म. सा. का चौमासा जोधपुर और पं० श्री कुशलचन्दजी म. सा. का चौमासा जयतारण हुआ।

जयतारण से पूज्यश्री जयमलजी आदि संतों का विहार जोधपुर की ओर हुआ था। पूज्यजी रूघनाथजी का विहार सोजत से मेडता की ओर हुआ था और पं० श्री कुशलचन्दजी म. सा. का विहार निमाज से जयतारण की ओर हुआ था।

यथाशक्य सभी संतों का मिलन एक बार पहले हुआ था। उस समय देश की परिस्थिति के साथ सामाजिक परिस्थिति का भी विचार विमर्श हुआ। लोगों के अस्थिर जीवन को स्थिर और शांत करने, उपदेशी सज्झायें, स्तवन और ढाल आदि की उपयोगिता स्वीकारी गई थी। यह शास्त्राधार पर हो वह आवश्यक माना गया था। किन्तु कुछ अन्य संप्रदायों में उसका विरोध भी चल रहा था।

चातुर्मास के पूर्व ऐसा सुना गया कि "पचेवर" में[1] बडे-बडे संतों का साधु-संमेलन कई विषयों को लेकर हो गया था। यह संमेलन सं. १८१० के वैशाख सुद ५ को हुआ था।

---

1 "पचेवर" पञ्चवरा या पञ्चवरा का अपभ्रंश मालूम होता है।

वड़े - वड़े सन्तों के द्वारा और दो क्रियोद्धारकों के परिवारवालों द्वारा साधु समाचारी और आहार - पानी के मत - भेद मिटा के एकता आई यह बड़े आनन्द की बात थी। इस साधु सम्मेलन की वातें धीरे - धीरे सभी जगह प्रकाश में आने लगीं।

पूज्य भूधरजी म० सा० के सन्तों से मिलन की संविभाग की इच्छा तो रखी गई थी; किन्तु सक्रिय सहयोग क्यों नहीं लिया गया और पू० लालचन्दजी म० के परिवारवालों से संविभाग की शर्त क्यों रखी गई यह सारी बातें चर्चाजनक थीं। चातुर्मास के दिन नजदीक होने से चौमासे के बाद इन प्रश्नों पर विचार किया जाय इस आशय से पूज्य भूधरजी म० सा० के सन्तों ने चर्चा विचारणा न चलाई।

मगर चातुर्मास के बीच सन्देश आपस में चलते रहे। पूज्यश्री जयमलजी को तो वैसे भी पूज्यश्री भूधरजी म० से पूज्य अमरसिंहजी म० सा० के प्रभाव की वातें मालूम थीं। उनकी सम्प्रदाय से अपनी सम्प्रदाय का संविभाग बन्ध होने के पीछे क्या कोई विशेष कारण था? क्योंकि पूज्य धन्नाजी और पूज्य अमरसिंहजी का मिलन वर्षों पूर्व हुआ था और दोनों का संविभाग चालु ही था। अब बन्ध करने के पीछे क्या वात थी? पूज्य जयमलजी को पूज्य भूधरजी म० सा० के ये शब्द अब भी याद आते थे कि "हमारे सन्तों के बीच जो छोटे छोटे मतभेद हैं उन्हें हम आपस में बैठ कर सुलझा लें और एक हो जाँय तो सच्चे जैन - धर्म और वीर शासन की कितनी बड़ी सेवा हो सकती है!"

उन्होंने अपने प्रयत्न चालु ही रखे और चौमासे के बाद पुनः बड़ी - बड़ी सम्प्रदायों के बड़े - बड़े सन्त मिले एतदर्थ प्रयास किये गये।

सं० १८१० का जोधपुर का चातुर्मास बड़े उत्साह से हुआ। पूज्यश्री जयमलजी के साथ मुनिश्री केशवजी, अजयमलजी, टीकमजी, नथमलजी आदि थे। लोग उनके प्रवचनों का लाभ लेने लगे।

नये महाराजा विजयसिंह और दीवान फतेहसिंहजी सिंघी आपके प्रवचनों में आने लगे। उन्होंने महाराजा को समय और स्थिति के अनुसार राज्य - धर्म बताया।
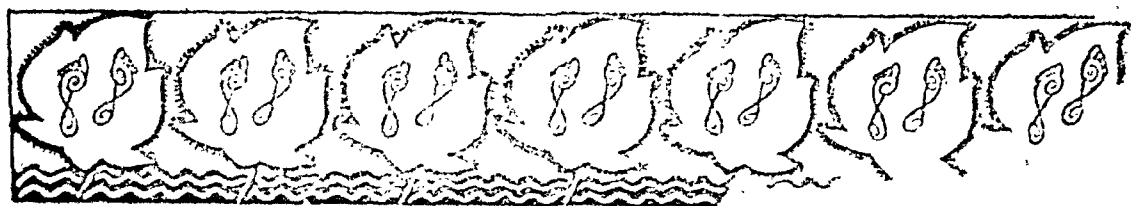
सभी वड़े सन्त मिले। पू० रघुनाथजी, श्री जेतशीजी म०, पू० जयमलजी एवं श्री कुशलचन्दजी म० आदि ने मिल कर आपस में उस सन्त सम्मेलन के निर्णयों पर चर्चा विचरणा की।

वास्तव में पूज्य धर्मदासजी म० सा० के परिवारवाले मरुधरा के सन्तों को अलग रखा गया था। पू० धर्मदासजी म० सा० के वोलों के अनुसार, उनके परिवारवाले वासी रोटी में एकांत जीवोत्पति नहीं मानते थे। वासी और कुछ गोचरी खाकर कर्म-निर्जरा करनेवाले वहुत से सन्तों के दृष्टांत शास्त्रों में मिलते थे। फिर भी संघ एकता वनाये रखने और जैन श्रमण की समाचारी समान हो एतदर्थ सभी तैयार थे। मरुधरा के सन्तों में ढाल सज्झाय आदि की रचनायें करना प्रचलित था। फिर भी संघ एकता के निमित्त उसे छोड़ना पड़े तो स्वीकृति देनी चाहिये ऐसा पूज्य जयमलजी मानते थे।

पूज्य भूधरजी म० सा० के परिवारवाले सन्तों में यह तय हुआ कि सभी साधु-मार्गीय जैन श्रमणों का आहार-पानी आदि संविभाग होना चाहिये और शासन के विनयानुसार वन्दन वहेवार आत्म भाव से होना चाहिये। एतदर्थ आवश्यक समय और स्थान पर पू० लालचन्दजी म० सा० के परिवारवाले पूज्यश्री अमरसिंहजी म० सा० से मिला जाय यह निर्णय लिया गया।

वहाँ से सभी सन्तों का विचरण अलग-अलग क्षेत्रों में होने लगा। पूज्य जयमलजी का विहार लाडणू की ओर हुआ। उस समय की राजकीय परिस्थिति में परस्पर में कभी वैर-भाव वन्ध जाता है तो उसका कैसा फल भुगतना पड़ता है, उस पर उन्होंने कुछ रचना प्रारम्भ की।

जैनागमों में राजा-महाराजा के परस्पर के वैर और उसके निराकरण के कई चरित्र थे। इसमें स्कन्ध ऋषि का जीवन-चरित्र ऐसा सचोट था कि पूज्यश्री जयमलजी ने उसे चरित्र-काव्य के रूप में रचना आरम्भ किया :—

मोह तणे वश मानवी हासो कितोल कराय।
कर्म कठण वांधे जीवडो तीनू वय रे मांय॥

पेहडे† सुतने बांधवाजी, पेहडे स्वजन परिवार ।
धनने कुटुम्ब पेहडेजी, न पेहडे धर्म सार ॥

आयो छे जीव एकलोजी, जासी एकाजी एक ।
भोले को मती भूलजोजी, कुटुम्ब कवीलो देख ॥

संसार की अस्थिरता बताते हुए मुनिवर ने कहा कि जीव चारों गति में भटक रहा है। उसकी स्थिति धर्म बिना सुधरी नहीं है। इसीलिये सच्चे गुरु उपदेश देते हैं कि भव्य जीव धर्म का पालन करो। इस काया का क्या भरोसा है? रात का सपना है।

कहा भी है :—

चतुर नर चेतो... अवसर एह ।
जी हो, काया माया कारमी ॥
जी हो, जैसो सुपनो रेण ॥

जी हो, विणसन्ता देर लागे नहीं,
जी हो, मानो संत गुरु वेण ॥
चतुर नर चेतो, अवसर एह....

जी हो, धनधान घर हाटनी,
जी हो, म करो ममता कोय ।
जी हो, काया सुखां रे कारणे,
जी हो, हीरा जनम मति खाय ॥
चतुर नर चेतो अवसर एह....

धन, धान्य, घर, हाट इन सब की ममता मत करो। कच्चे सुखों के कारण हीरा जनम को मत गँवाओ! संसार के इन सगपणों (सम्बन्ध) को स्वार्थ के समझो। इनके

† पेहडना — चले जाना (छोड़ जाना)
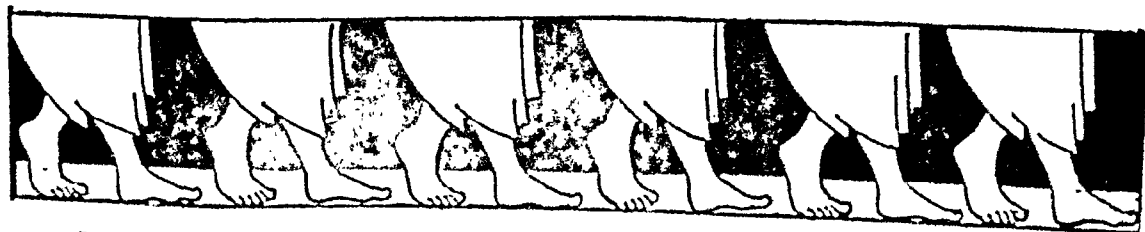
जो पांच सौ सुभट रक्षा को चले थे वे लोग भी मुनि गोचरी लेकर वापस न आये तो वे ढूँढने निकले। उन्होंने यह बात सुनी और वे राजा के पास आये। उनके कहने पर राजा को मालूम हुआ कि उसने कैसा अजघन्य कृत्य किया है? उसने अपनी रानी के भाई को — अपने साले को मरवा दिया है। वह भी उसकी संयम अवस्था में?

रानी को यह समाचार मिलते ही और उसके आगे लोही भरे सन्त के वस्त्र (मुखपत्ति) आये * तो बहन ने आक्रंद किया कि हम इस पाप से कब छूटेंगे? रानी ने तय किया अब इस संसार में रहने का सार नहीं है और वह भी स्कन्धक ऋषि की तरह आत्म-कल्याण करेगी। राजा ने भी यही निश्चय किया और पांच सौ सुभटों ने भी अब कौन सा मुँह लेकर जायेंगे इस विचार से उन्होंने भी दीक्षा लेने का निर्णय किया।

राजा बड़े मुनिवरों को वन्दना करने गये और उनसे पूछा :—"भन्ते! बिना बड़ा गुन्हा हुए मेरे मन में मुनि के प्रति इतना कषाय कैसे आया और मैंने क्यों उनको मरवाया?"

मुनिवर ने कहा :—"राजन्! यह पूर्वभव के कर्म उदय का संयोग था। तुम पिछले एक जन्म में काचरे के जीव के रूप में थे। स्कन्धक का जीव चतुर मानवी के रूप में था जो इस प्रकार फलों एवं शाक के छिलके छिलता था कि लोग उसकी चतुराई की प्रशंसा करते थे।

एक बार उसने उस काचरे का छिलका पूरा का पूरा उतारा और बीच का गिरा पूरा ले लिया और उस पर अपने मन में फूला न समाया। वही कर्म के कारण स्कन्धक के जीव को इस भव में सज़ा भुगतनी पड़ी।"

---

* कहीं कथाओं में ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक विशाल पंखी स्कन्धक ऋषि के मृत कलेवर को मांस का पिंड समझ कर ले गया। भार के कारण वह उसे वहन न कर सका और पिंड को उसने नीचे छोड़ दिया जो रानी के पास महल की छत पर गिरा। जिसे देख कर रानी का हृदय शोक सन्ताप से फटने लगा और वह मूर्छित हो गई।

पूज्यश्री जयमलजी ने विनम्र भाव से इतना ही कहा :—"आप जैसे बड़े सन्तों के प्रभाव एवं प्रताप से ही ऐसा हो सका है। एक ओर आप हमारे दादा-गुरु पूज्य धन्नाजी के बराबर हैं और संयम पाल रहे हैं। आपके ज्ञान, दर्शन और चारित्र हम सब के लिये अनुकरण करने योग्य हैं। आप ने जैन धर्म का जो प्रचार किया है उसको याद करके मस्तक आप के आगे अपने आप झुक जाते हैं। इधर हमारे आचार्य और गुरु भाई रुघनाथजी म० सा० भी सरल स्वभावी और प्रभावी हैं। संविभाग करने की बात मैंने चलाई तो उन्होंने स्वीकृति दे दी और आज करीब-करीब सभी सन्त एक समाचारी में आ गये हैं। अन्य जो सम्प्रदायें छूट गई हैं उन्हें भी समझा कर मिलाने का प्रयत्न किया जाये तो श्रेष्ठ होगा।"

पूज्य अमरसिंहजी ने कहा :—"हम तो पके पान की तरह हैं। यह सारा भार आप लोगों पर है। हम ने तो मार्ग बता दिया है। दो साधु सम्मेलनों से समाचारी में समानता आई है, वैसी और भी आये यही हमारी आशा है।"

पूज्य जयमलजी ने कहा :—"आप की आशा के अनुरूप बन सकें यही आपके आशिष चाहिये।"

पूज्य अमरसिंहजी के दोनों हाथ आशिष देते हुए ऊपर उठे और पूज्य जयमलजी ने श्रद्धा के साथ उनके आगे अपना मस्तक झुका लिया।

मेड़तावालों में जब इस सम्मेलन की सफलता के समाचार फैले तो सभी ने एक स्वर में "जय श्रमण एकता!" के नारे लगाये और पूज्यों के जयजयकार के नाद गुंजाये।